कल्याण

VOL. 18

1914

G. K. V. LIB.
HARIDWAR

110356

२९-१२-१९४३

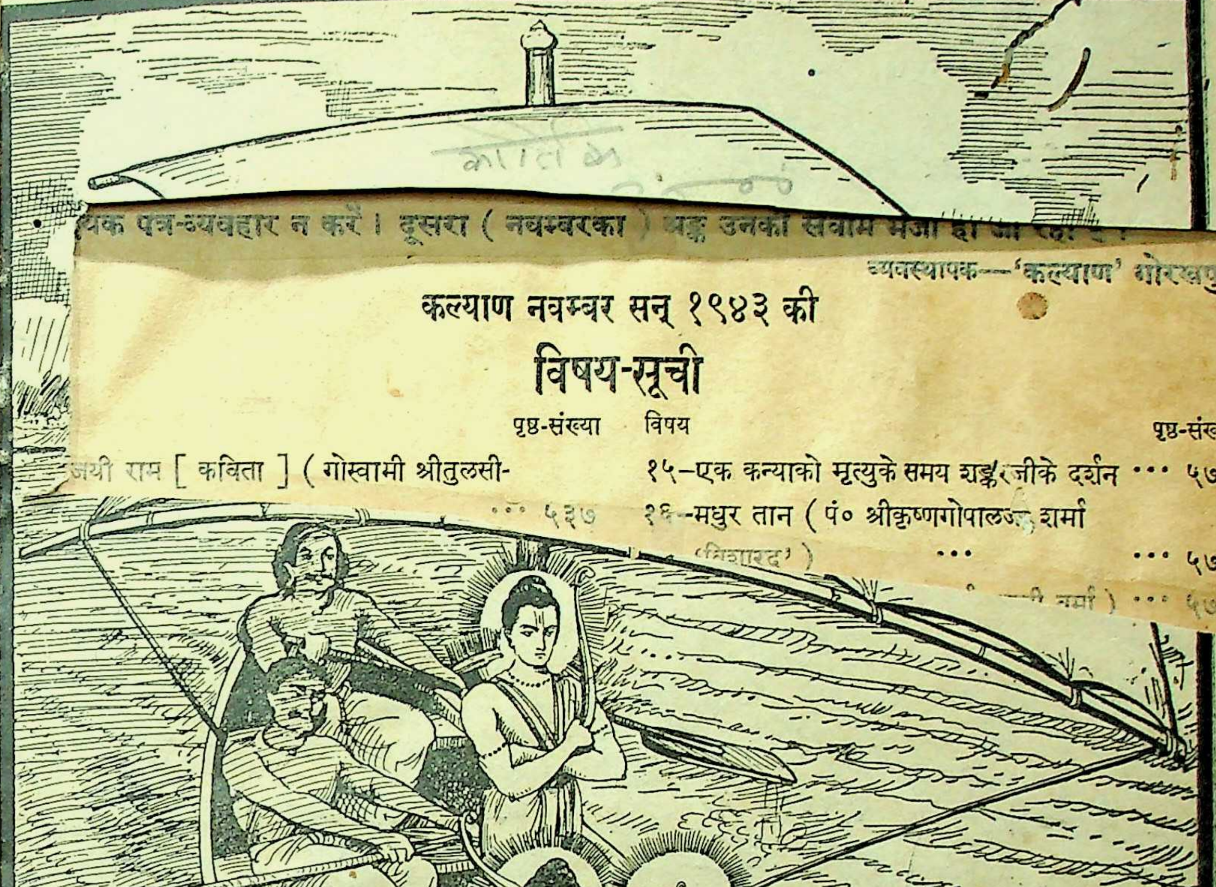

यक पत्र-व्यवहार न करें। दूसरा (नवम्बरका) अङ्क उनकी सेवामें भेजा जा रहा है।

व्यवस्थापक—'कल्याण' गोरखपुर

कल्याण नवम्बर सन् १९४३ की

विषय-सूची

	पृष्ठ-संख्या	विषय	पृष्ठ-संख्या
जयी राम [कविता] (गोस्वामी श्रीतुलसी-	... ५३७	१५–एक कन्याकी मृत्युके समय शङ्करजीके दर्शन	... ५७४
		१६–मधुर तान (पं० श्रीकृष्णगोपालजी शर्मा 'विशारद') ...	... ५७५
		नी शर्मा)	... ५७५

वर्ष १८

अङ्क २

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ आगारा ॥

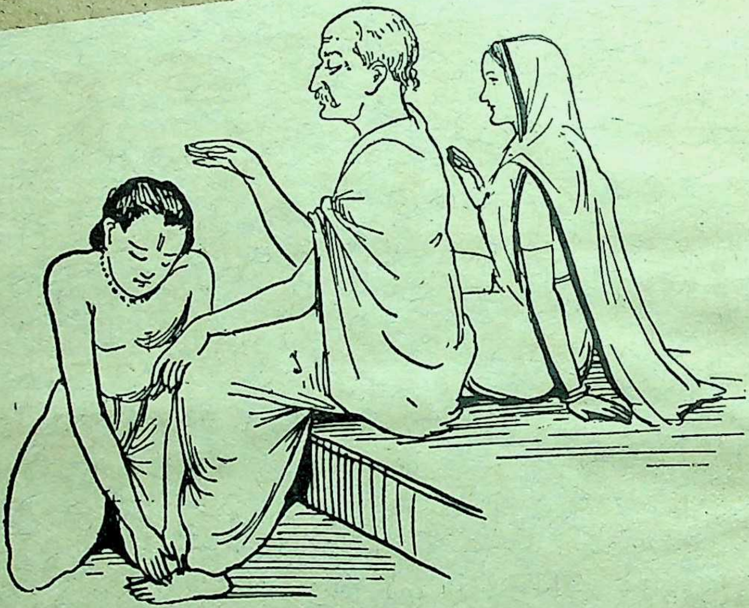

मातृदेवो भव पितृदेवो भव

वार्षिक मूल्य
भारतमें ५≡)
विदेशमें ७||=)
(शिलिङ्ग ११½)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें
विदेशमें
(८ पैंस

Edited by H. P. Poddar and C. L. Goswami, M. A., Shastri,
Printed and Published by Ghanshyamdas Jalan at the Gita Press, Gorakhpur, U. P. (India)

110356

सजिल्द सं० वाल्मीकीय रामायणाङ्क

—जैसे-जैसे तैयार होते जा रहे हैं, ग्राहकोंकी सेवामें भेजे जा रहे हैं। पर पूर्व सूचनानुसार समस्त सजिल्द अङ्क भेजे जानेमें अभी करीब १॥ मासका समय और लगेगा।

ग्राहकोंकी सेवामें सविनय प्रार्थना है कि वे सजिल्द विशेषाङ्ककी धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करें और अनावश्यक पत्र-व्यवहार न करें। दूसरा (नवम्बरका) अङ्क उनकी सेवामें भेजा ही जा रहा है।

व्यवस्थापक—'कल्याण' गोरखपुर

कल्याण नवम्बर सन् १९४३ की

विषय-सूची

विषय — पृष्ठ-संख्या
१–विजयी राम [कविता] (गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी) ··· ··· ५३७
२–संत-वाणी (एक महात्माका प्रसाद) ··· ५३८
३–ब्रह्मज्ञानीकी दृष्टि (स्वामी श्रीकृष्णानन्दजी महाराज) ··· ··· ५४०
४–एक संतकी झोलीसे (प्रेषिका–बहिन गुरुप्यारी) ५४३
५–नाम-साधन (प्रेषक—श्रीएस्० एस्०, आजगाँवकर, बी० ए०, एल्-एल्० बी०) ··· ५४४
६–जगदम्बे ! [कविता] (श्रीरामसहायजी शर्मा 'मराल') ··· ५४६
७–सामयिक चेतावनी (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ५४७
८–किशनगढ़में सती ··· ··· ५५५
९–मानव (श्रीनारायणजी वियोगी) ··· ५५७
१०–आध्यात्मिक उन्नतिका आधार (पं० श्रीरामजी उपाध्याय, एम० ए०, साहित्यरत्न) ··· ५६०
११–कामके पत्र ··· ··· ५६२
१२–विषयासक्तिका मूल—विषय-चिन्तन (श्रीविश्वबन्धुजी सत्यार्थी) ··· ५६८
१३–एकान्त-साधना (श्रीपार्वतीनन्दनजी शर्मा) ··· ५६९
१४–शुभाशुभकी परख (श्रीअरिन्दम बी० ए०) ··· ५७०
१५–एक कन्याको मृत्युके समय शङ्करजीके दर्शन ··· ५७४
१६–मधुर तान (पं० श्रीकृष्णगोपालजी शर्मा 'विशारद') ··· ··· ५७५
१७–हमारा कल्याण (श्रीपरिपूर्णानन्दजी शर्मा) ··· ५७६
१८–पगली [कहानी] (पं० श्रीकृष्णानन्दजी अग्निहोत्री) ··· ··· ५७९
१९–भक्तकी साधना [गद्य-काव्य] (श्रीछैलविहारीजी गुप्त 'छैल') ··· ··· ५८२
२०–लङ्कायुद्ध और राजनीति (डा० श्रीहरिहरनाथजी हुक्कू, एम्० ए०, डी० लिट्०) ··· ५८४
२१–पथिक (श्रीसत्यप्रकाशजी किरण) ··· ५८६
२२–क्या ईश्वर-साक्षात्कार भी एक वैज्ञानिक सत्य नहीं ! (पं० श्रीधर्मदेवजी शास्त्री, दर्शनकेसरी, पञ्चतीर्थ) ५८८
२३–जीवनकी प्रयोगशाला (पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल) ··· ··· ५९१
२४–अमर-तराना [कविता] ('अलख-निरंजन') ५९३
२५–'वनस्पति' की बला (श्रीमुरलीधरजी दिनोदिया, बी० ए०, एल्-एल्० बी०) ··· ५९४
२६–बाल-प्रश्नोत्तरी (श्रीहनुमानप्रसादजी गोयल, बी० ए०, एल्-एल्० बी०) ··· ५९६

कल्याण-कल्पतरुका

श्रीकृष्ण-लीला-नंबर भाग २

कागजकी कमीके कारण अंग्रेजी कल्पतरुका प्रकाशन एक सालतक स्थगित रहा। जनवरी १९४२के विशेषाङ्क श्रीकृष्ण-लीला-नंबर भाग १ में श्रीमद्भागवतका दशमस्कन्ध पूर्वार्ध दिया गया था। अब जनवरी १९४४में इसके दसवें वर्षके विशेषाङ्कके रूपमें उत्तरार्धकी लीलाएँ निकलनेवाली हैं। केवल विशेषाङ्कका मूल्य २॥), पूरे सालका ४॥), सजिल्दके लिये प्रति जिल्द ॥।-) अधिक।

व्यवस्थापक—कल्याण-कल्पतरु, गोरखपुर

श्रीहरिः

गत वर्षमें प्रकाशित बीस नयी पुस्तकें—

(ता० २० अक्टूबर सन् १९४३ से घटे हुए दाम)

१	**श्रीरामचरितमानस**–टीकासहित, मोटा अक्षर, ८ तिरंगे सुन्दर चित्र, सजिल्द	५)
२	**मानस-रहस्य**–श्रीतुलसीकृत रामायणपर श्रीजयरामदासजी 'दीन' के कुछ निबन्ध	१।)
३	**मानस-शङ्का-समाधान**–श्रीतुलसीकृत रामायण-सम्बन्धी शङ्काओंके उत्तर	॥)
४	**तत्त्व-चिन्तामणि भाग ५**–गुटका, सचित्र, पृष्ठ-संख्या ६३२, मूल्य ।≈), सजिल्द	॥)
५	**नित्यकर्मप्रयोग**–सन्ध्या-तर्पण-होम आदि विधि एवं मन्त्रानुवादसहित	।-)
६	**श्रीमद्भगवद्गीता**–अंग्रेजी भाषानुवादसहित, सचित्र, मूल्य ।), सजिल्द	।=)
७	**महाभारतके कुछ आदर्श पात्र**–कल्याण वर्ष १७ अंक १२ से	।)
८	**विष्णुसहस्रनामस्तोत्र**–हिन्दी-अनुवादसहित, सचित्र, मूल्य ≈), सजिल्द	≡)
९	**सुन्दरकाण्ड (मूल)** श्रीरामचरितमानसान्तर्गत–पृष्ठ ६४	-)
१०	**भगवत्तत्त्व**–लेखक—साधु रामसुखदासजी	-)
११	**गीताका तात्त्विक विवेचन**– (तत्त्व-चिन्तामणि भाग ४ से)	-)
१२	**संत-महिमा**– (,, ,, ४ से)	-)
१३	**परलोक और पुनर्जन्म**– (,, ,, ५ से)	)॥।
१४	**श्रीमद्भगवद्गीता**–केवल मूलमात्र	)॥
१५	**अवतारका सिद्धान्त**– (तत्त्व-चिन्तामणि भाग ४ से)	)॥
१६	**भगवान्‌की दया**– (,, ,, ४ से)	)॥
१७	**शोकनाशके उपाय**– (,, ,, ५ से)	)॥
१८	**विनय-पत्रिकाके पंद्रह पद**–रामायणकी शिशु और प्रथमा परीक्षाके लिये	)॥
१९	**कल्याण-प्राप्तिकी कई युक्तियाँ**– (,, ,, ४ से)	)।
२०	**श्रीमद्भगवद्गीताका प्रभाव**– (,, ,, ४ से)	)।

अन्य पुस्तकोंकी जानकारीके लिये सूचीपत्र मँगवाइये ।

पता—**गीताप्रेस, गोरखपुर**

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी

कल्याण

रामाय रामभद्राय रामचन्द्राय वेधसे ।
रघुनाथाय नाथाय सीतायाः पतये नमः ॥

वर्ष १८ } गोरखपुर, नवम्बर १९४३, सौर कार्तिक २००० { संख्या २
पूर्ण संख्या २०६

विजयी राम

राजत राम काम-सत-सुंदर ।
रिपु रन जीति अनुज सँग सोभित, फेरत चाप-बिसिख बनरुह-कर ॥ १ ॥
स्याम सरीर रुचिर श्रम-सीकर, सोनित-कन बिच बीच मनोहर ।
जनु खद्योत-निकर, हरिहित-गन, भ्राजत मरकत-सैल-सिखरपर ॥ २ ॥
घायल बीर बिराजत चहुँ दिसि, हरषित सकल रिच्छ अरु बनचर ।
कुसुमित किंसुक-तरु-समूह महँ, तरुन तमाल बिसाल बिटप बर ॥ ३ ॥
राजिव-नयन बिलोकि कृपा करि, किए अभय मुनि-नाग, बिबुध-नर ।
तुलसिदास यह रूप अनूपम हिय-सरोज बसि दुसह बिपतिहर ॥ ४ ॥

—गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी

संत-वाणी

(एक महात्माका प्रसाद)

(१)

१–ऐसा कोई भी कार्य मत करो, जिसको प्रकाशित नहीं कर सकते ।

२–जिसकी आवश्यकता है, उसका अभाव स्वीकार न करो ।

३–अपनी आवश्यकतासे भिन्न किसी प्रकारका संग्रह न करो ।

४–स्वीकृतिको सत्ता मत समझो, क्योंकि वह अस्वीकृतिसे मिट जाती है ।

५–सत्ता वही है, जिसका किसी प्रकार त्याग नहीं हो सकता ।

६–त्याग करनेवालेका त्याग अवश्य कर दो ।

७–एकनिष्ठता सफलताकी सर्वोत्कृष्ट कुंजी है ।

(२)

साधारण प्राणी साधनको जीवनका अङ्ग बनाते हैं और विचारशील पुरुष जीवनको साधन बनाते हैं । गहराईसे देखिये, वर्तमान जीवन वास्तविक नित्य जीवनका एकमात्र साधन है । परन्तु जब प्राणी प्रमादवश, वर्तमान जीवनको ही, जीवन मान लेता है, तब अनेक साधनोंसे जीवनको सुशोभित करनेका उसी प्रकार प्रयत्न करता है, जिस प्रकार विषयी अपनेको शरीर समझकर अनेक अलंकारोंसे शरीरको सुशोभित करनेका प्रयत्न करता है । जैसे प्रत्येक अलंकार सर्वदा शरीरसे भिन्न रहता है वैसे ही प्रत्येक साधन जीवनसे सदा भिन्न रहता है । जो वस्तु जीवनसे भिन्न रहती है वह जीवनको परिवर्तन नहीं कर पाती, बल्कि जीवनका एक श्रृङ्गारमात्र रहती है । श्रृङ्गारकी आवश्यकता उसको होती है जिसको अपनी सुन्दरतापर विश्वास नहीं होता । अतः जीवनको साधन बनाना अनिवार्य है ।

जबतक जीवन साधन नहीं हो पाता, तबतक वियुक्त होनेवाली वस्तुओंकी आवश्यकता होती है; क्योंकि स्वयं सुन्दर होनेपर अलंकारोंकी आवश्यकता नहीं रहती । पूर्ण अपनत्वका भाव सर्वोत्तम सुन्दरता है, जिसको देख प्रेमपात्र स्वयं मोहित हो जाते हैं ।

(३)

जब प्रेमी वह कर डालता है जो करना चाहिये, तब प्रेमपात्र क्या वह नहीं कर सकते जो उनको करना चाहिये ?

प्रेमी तथा प्रेमपात्रमें केवल यही अन्तर है कि प्रेमी बेचारा कभी प्रमादवश कर्त्तव्यसे कदाचित् वञ्चित भी हो जावे, परन्तु प्रेमपात्र तो सर्वदा वही करते हैं जो करना चाहिये । जिन प्रेमियोंको प्रेमपात्रके कर्त्तव्यका विशेष ध्यान रहता है, उन बेचारोंने वास्तवमें प्रेमपात्रकी महिमाको समझ नहीं पाया अथवा यों कहो कि उन प्रेमियोंका अभी पूर्ण अपनत्व नहीं हुआ । अपनत्व हो जानेपर कहने-सुननेकी बात शेष नहीं रहती अर्थात् उनके प्रभावको जान लेनेपर कुछ भी कहना शेष नहीं रहता ।

अपनी दृष्टिसे सचाईके साथ यह देखना चाहिये कि हम जो कुछ कर सकते हैं; उसे कर दिया या नहीं— यदि कर दिया तो कुछ भी करना शेष नहीं है । यदि नहीं किया तो फिर कृपाके अधिकारी नहीं हैं ।

बिना कृपा किये कृपासिन्धु किसी प्रकार नहीं रह सकते । हाँ, यह अवश्य है कि कृपासिन्धुकी कृपाका अनुभव कृपापात्रको होता है । जो प्रेमी अपनी सारी

शक्ति लगाकर क्रियाको भावमें विलीन कर शिशुकी भाँति प्रेमपात्रकी कृपाकी प्रतीक्षा करता है वह प्रेमपात्रका पवित्र प्रेम अवश्य पाता है। यह निस्सन्देह सत्य है।

(४)

इन नेत्रोंको अनन्त सौन्दर्य क्यों नहीं दिखायी देता? इसलिये कि ये सीमित सौन्दर्यको देखनेसे सन्तुष्ट हो जाते हैं।

इस मनको अनन्त रस क्यों नहीं मिलता? इसलिये कि यह सीमित रससे सन्तुष्ट हो जाता है।

इस बुद्धिको अनन्त ज्ञान क्यों नहीं मिलता? इसलिये कि यह सीमित ज्ञानसे सन्तुष्ट हो जाती है।

इस अहंताको अनन्त जीवन क्यों नहीं मिलता? इसलिये कि यह सीमित जीवनसे सन्तुष्ट हो जाती है।

जिस प्रकार बच्चेको माँ उतना ही खिलाती है जितनी बच्चेको भूख होती है, हमारी माँ जो अनन्त ऐश्वर्य-माधुर्यसम्पन्न है, हमको अनन्त रसका आस्वादन इसीलिये नहीं करा पाती कि हमने अपनी भूख कम कर दी है। माँ करुणा करके निरन्तर धाराप्रवाह हमारे सीमित रसोंको छिन्न-भिन्न करती रहती है अर्थात् हमको अनन्त रसके लिये सीमित रसोंके त्यागका पाठ पढ़ाती रहती है।

× × ×

जिस प्रकार भाषामें अर्थ दिखायी देता है, उसी प्रकार प्रेमीको सर्वत्र प्रेमपात्र दिखायी देता है—अर्थसे तदाकार होनेपर ज्ञाताकी सत्ता भिन्न नहीं रहती, उसी प्रकार प्रेमपात्रसे तदाकार होनेपर प्रेमीकी सत्ता भिन्न नहीं रहती, क्योंकि ज्ञाता और अर्थकी तथा प्रेमी और प्रेमपात्रकी जातीय एकता है।

(५)

जब प्राणी गुणोंका उपभोग करने लगता है तब गुणोंका विकास रुक जाता है, क्योंकि वह उपभोगकालमें उपार्जन नहीं कर सकता—यद्यपि अनित्य जीवनमें उपभोगके लिये कोई भी स्थान नहीं है, क्योंकि प्राणीकी स्वाभाविक आवश्यकता नित्य जीवन है—परन्तु बेचारा प्रमादवश उपार्जन करनेकी शक्तियोंको उपभोगमें लगा देता है। गुण तबतक मालूम होते हैं जबतक गुण गुणीका जीवन नहीं होते, क्योंकि जिसकी एकता अहंतासे हो जाती है वह प्रतीत नहीं होती। जब जीवनमें पूर्ण निर्दोषता आ जाती है, तब दोषकी उत्पत्ति नहीं होती और गुण प्रतीत नहीं होते। किसी बुराईका न करना कोई विशेषता नहीं है—विशेषता तो यह है कि बुराई उत्पन्न ही न हो। सङ्कल्पके बलसे बुराई रोक देना बुराई करनेकी अपेक्षा श्रेष्ठ अवश्य है, किन्तु निर्दोषता आनेपर तो रोकनेका प्रश्न ही शेष नहीं रहता, क्योंकि फिर बुराई उत्पन्न ही नहीं होती।

(६)

जो विभक्त नहीं है वही भक्त है—भक्त तो निरन्तर सद्भावपूर्वक प्रेमपात्रका होकर ही रहता है—जब भक्त सब प्रकारसे उनका हो जाता है, तब भक्तकी सत्ता भक्ति बनकर अनन्त ऐश्वर्य-माधुर्यसम्पन्न भगवान्का रसास्वादन करती है।

भक्तिसे भिन्न भक्तकी कुछ भी सत्ता शेष नहीं रहती—भक्तिके आते ही निर्वासना स्वाभाविक आ जाती है—निर्वासना होते ही निर्वैरता, निर्भयता, समता, मुदिता आदि अनेक अलौकिक रसोंसे युक्त जीवन हो जाता है। अपनी मानी हुई सीमित शक्तियोंको उसी प्रकार समर्पण कर देना चाहिये; जिस प्रकार मिट्टी अपने आपको कुम्हारके समर्पण कर देती है, क्योंकि ऐसा करनेपर ही प्राणी भक्त हो सकता है।

ब्रह्मज्ञानीकी दृष्टि

(लेखक—स्वामी श्रीकृष्णानन्दजी महाराज)

नित्यानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्त्तिं
विश्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम् ।
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतं
भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तं नमामि ॥

ब्रह्मज्ञानीकी दृष्टिसे यह प्रतीयमान विश्वप्रपञ्च कैसा भासता है ? उसको इन्द्रियोंसे इस जगत्का अनुभव कैसा होता है ? इस संसारके पदार्थोंके विषयमें उसकी आन्तर भावना कैसी होती है ? एवं सामान्य जनोंको इससे विपरीत दृष्टिगोचर क्यों होता है ?—इन बातोंका विचार इस छोटे-से निबन्धमें किया जायगा । वास्तवमें तो ब्रह्मज्ञानी महापुरुषोंकी दृष्टि, भावना या आचरणका सम्यक् विवेचन स्थूल वाणीद्वारा या लेखनीद्वारा प्रकाशित करना असम्भव-सा है । यदि टूटी-फूटी भाषामें समझानेकी कोशिश की जाय, तो भी ब्रह्मज्ञानीकी अन्तरस्थ भावना और क्रियाके रहस्यको व्यवहारमें रचे-पचे मनुष्य कदापि समझ नहीं सकेंगे । फिर भी कोई-कोई विवेकी मुमुक्षु पुरुष किसी अंशमें इससे लाभ उठा सकते हैं; अतएव इस निबन्धसे यदि किसी अधिकारीको ब्रह्मज्ञानीकी दृष्टिके सम्बन्धमें कुछ बोध हो जाय, तो मेरा प्रयत्न सफल हो जायगा ।

मैं यह स्वीकार करता हूँ कि ब्रह्मज्ञानीकी दृष्टिकी मीमांसा करनेकी न तो मुझमें योग्यता है और न मुझे अधिकार है; तथापि शास्त्र, पूज्य सद्गुरुदेव और ज्ञानी महात्माओंके कृपा-प्रसादसे उसकी दृष्टिके विषयमें जो कुछ बोध मुझे मिला है, उसे पाठकोंकी सेवामें निवेदन करता हूँ ।

संसारासक्त मनुष्योंको यह संसार जैसा भासता है, वैसा ब्रह्मज्ञानीको नहीं भासता । अपि तु इससे विपरीत यह समस्त विश्व उसे सर्वदा ब्रह्मरूपसे अनुभवमें आता रहता है । ऐसा शास्त्र और अनुभवी महापुरुषोंका कथन है । उन्हें संसारकी ब्रह्मरूपसे प्रतीति होनेमें कारण यह है कि वस्तुतः ब्रह्मरूप अधिष्ठानमें अधिष्ठानके अज्ञानसे ही संसार भासता है । अज्ञान और अज्ञानके कार्य अहंता-ममता, विषमता, राग-द्वेष, स्वार्थ, भय आदि संस्कार—ये सब ब्रह्मज्ञानीके अन्तःकरणसे निर्मूल हो जाते हैं; इसलिये उनका ज्ञान, विचार, वाणी और बर्ताव—सभी व्यावहारिक मनुष्योंकी अपेक्षा विलक्षण, विशुद्ध और दिव्य हो जाते हैं ।

ब्रह्मज्ञानीकी दृष्टिसे देवमूर्ति, सूर्य, अग्नि, गङ्गाजी आदि पवित्र नदियाँ और पुण्य तीर्थस्थान ही नहीं, किन्तु संसारके समस्त पदार्थ सच्चिदानन्द ब्रह्मरूप ही भासते हैं । अर्थात् उसे सभी पदार्थ अपने विवर्त्तोपादान-कारण अधिष्ठान ब्रह्मरूप ही प्रतीत होते हैं, क्योंकि वह प्राणिमात्रमें अपने आत्माको और अपने आत्मस्वरूपमें प्राणिमात्रको अभिन्नरूपसे देखता है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ (गीता ६।२९)

ब्रह्मज्ञानी हिंसक पशु या पापी-दुराचारीके प्रति भी द्वेष नहीं करता । किसीको आप्तजन, मित्र या सम्बन्धी मानकर उसमें राग नहीं रखता । न किसी पदार्थकी चाह करता है और न किसीके लिये शोक करता है । वह मिट्टी-पत्थर-सुवर्णादि द्रव्योंमें तथा शीत-उष्ण, सुख-दुःख, लाभ-हानि, मान-अपमान, कीर्त्ति-अपकीर्त्ति, निन्दा-स्तुति और प्रिय-अप्रिय आदि समस्त भावोंमें सर्वत्र, सर्वदा और सर्वथा समभाव ही रखता है ।

ब्रह्मज्ञानीकी दृष्टिमें व्यावहारिक भोक्ता-भोग्यरूप नामरूपात्मक जगत् मिथ्या है । अतः उसको प्रिय पदार्थ और प्रिय सुहृदोंकी प्राप्तिसे अथवा प्रतिकूल पदार्थ या प्रतिकूल परिस्थितिकी निवृत्तिसे हर्ष नहीं होता एवं प्रीतिपात्र और अनुकूल विषयोंके वियोग या विनाशसे तथा प्रतिकूल और अप्रिय पदार्थकी प्राप्तिसे विषाद भी नहीं होता । वह तो नित्य-निरन्तर अपने विशुद्ध अन्तःकरणकी अन्तर्मुख-वृत्तिद्वारा स्व-स्वरूपमें ही निमग्न रहता है तथा सिरपर विपत्तियोंकी वर्षा होनेपर भी स्व-स्वरूपसे विचलित नहीं होता ।

ब्रह्मज्ञानी जाग्रत्-अवस्थामें प्रतीत होनेवाले नाम, रूप और क्रियामय सकल संसारको स्वप्न, मनोराज्य, इन्द्रजाल अथवा भ्रान्तिकल्पित पदार्थके समान मिथ्या समझता है । अतः उसके मनमें जगत्के पदार्थोंके प्रति आसक्ति नहीं होती । उसकी भावना और वर्त्तावमें स्वार्थ, राग-द्वेष, ईर्ष्या, दुष्ट विचार या अन्य किसी भी प्रकारके दोषका लेश भी नहीं रहता तथा उसके अन्तरमें पूर्णता, प्रसन्नता, शान्ति और तत्त्वदृष्टि नित्य-निरन्तर बनी ही रहती हैं ।

ब्रह्मज्ञानीका व्यवहार स्वार्थ, राग-द्वेष और अहङ्कार-

110356

रहित होनेके कारण केवल संसारके हितके लिये ही होता है। ऐसे महापुरुषोंका आचरण संसारमें अधिकारी जनोंके लिये प्रमाणस्वरूप माना जाता है। उनके प्रत्येक विचार और कार्यद्वारा जनताको अत्यन्त लाभ पहुँचता है। ब्रह्मज्ञानी अपने अन्तरात्माको ब्रह्मरूपसे अनुभव करता है। अविद्या, काम, कर्म और सुख-दुःखरूप कर्मफलोंसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता। इसके विपरीत आत्मबोध न होनेके कारण संसारासक्त अज्ञानी जीव अपनेको तुच्छ, अज्ञानी, पापी या शरीररूप मान बैठते हैं तथा इस मायामय प्रपञ्चको सत्य मानकर राग-द्वेष करते रहते हैं। इससे उन्हें अनेकों जन्मोंतक दुःख भोगने पड़ते हैं। ज्ञानीको सद्वस्तुका यथार्थ बोध होता है; अतः उसको संसारका स्वरूप जैसा भासता है, अज्ञानी जनोंको उससे सर्वथा विपरीत जान पड़ता है। इस सम्बन्धमें वराहोपनिषद्में कहा है—

सर्वगं सच्चिदानन्दं ज्ञानचक्षुर्निरीक्षते।
अज्ञानचक्षुर्नेक्षेत भास्वतं भानुमन्धवत्॥ (२।१८)
अज्ञस्य दुःखौघमयं ज्ञस्यानन्दमयं जगत्।
अन्धं भुवनमन्धस्य प्रकाशं तु सुचक्षुषाम्॥ (२।२२)

'सच्चिदानन्दस्वरूप सर्वव्यापक ब्रह्मका ब्रह्मज्ञानी ज्ञान-चक्षुद्वारा निरीक्षण करते हैं। परन्तु जैसे अंधा मनुष्य मध्याह्नकालमें प्रकाशित सूर्यको नहीं देख सकता, वैसे ही अज्ञानी जीव परमप्रकाशमय परमात्माके दर्शन नहीं कर सकते। जैसे अंधे मनुष्यको विश्वमें सर्वत्र अन्धकार-ही-अन्धकार भासता है और स्वस्थ नेत्रवालोंको संसार प्रकाशयुक्त प्रतीत होता है, वैसे ही जगत् देह और मायिक पदार्थोंमें अहंता-ममता करनेवाले अज्ञानी जीवोंको दुःखमय और तत्त्ववेत्ताओंको आनन्दमय प्रतीत होता है।'

इस कथनसे यह शङ्का होती है कि एक ही वस्तु एकको एक प्रकारकी और दूसरोंको दूसरे प्रकारकी कैसे दीख सकती है? जो वस्तु एक मनुष्यको सिंह जान पड़ती है, वही दूसरोंको घोड़ा, गधा या बैलके रूपमें कैसे दीख सकती है?

यह शङ्का केवल स्थूल दृष्टिसे है; परन्तु जब शास्त्रोक्त पद्धतिसे भ्रम-ज्ञान और यथार्थ ज्ञानका युक्तिपूर्वक विचार किया जाता है, तब इस शङ्काका निराकरण हो जाता है। अतएव पूज्य आचार्योंने युक्तिपूर्वक अनेक दृष्टान्तोंद्वारा इस शङ्काका समाधान किया है। वही समाधान संक्षेपसे यहाँ बतलाया जाता है।

भ्रम निरुपाधिक और सोपाधिक—दो प्रकारका है। निरुपाधिक भ्रमके रज्जु-सर्प, शुक्ति-रजत आदि अनेक दृष्टान्त शास्त्रकारोंने दिये हैं। जैसे किसी मनुष्यको मन्द प्रकाश और दूरता आदि दोषोंसे ऐसा भ्रम हो जाता है कि अमुक स्थानमें एक सर्प पड़ा है; किन्तु पीछे जब वही समीप जाकर ध्यानपूर्वक देखता है, तब उसे पता लगता है कि यह तो रस्सी है, सर्प नहीं है। इस प्रकार रज्जुका यथार्थ ज्ञान होनेपर पहले भ्रमसे प्रतीत होनेवाले सर्प और उसके ज्ञानका बाध (मिथ्यात्वनिश्चय) हो जाता है। ऐसे दृष्टान्तोंसे यह मानना पड़ता है कि कल्पित सर्पके स्थानमें कोई अधिष्ठान वस्तु (रज्जु) है, जिसमें कल्पित (सर्प) की प्रतीति हुई थी। उसके अज्ञानसे ही उसमें भ्रम भासता था। इसी तरह यह संसाररूप भ्रम भी किसी अधिष्ठानमें उस अधिष्ठानके अज्ञानसे भास रहा है और जैसे अधिष्ठानके ज्ञानसे सर्पका बाध हो जाता है, वैसे ही संसाररूप भ्रम भी अधिष्ठान-ब्रह्मके ज्ञानसे बाधित हो जाता है। व्यवहारमें जबतक भ्रमजनित सर्पके अधिष्ठान रज्जुका बोध नहीं होता, तबतक सर्पकी सत्यता निवृत्त नहीं होती। इसी प्रकार जबतक विश्वप्रपञ्चके अधिष्ठानरूप ब्रह्मका यथार्थ बोध नहीं होता, तबतक संसारकी सत्यताकी भी निवृत्ति नहीं होती।

दूसरा भ्रम सोपाधिक कहलाता है। इस विषयमें शास्त्रकारोंने जपा-कुसुमके सम्बन्धसे दीखनेवाली स्फटिककी लालिमा, कामला-दोषसे भासनेवाली शङ्खकी पीतिमा, तिमिरादि नेत्रदोषसे भासनेवाली चन्द्रमाकी अनेकता और ऊसर भूमिमें प्रतीत होनेवाले मृगजल आदिके दृष्टान्त दिये हैं। जैसे किसीने सफेद कागजपर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीका चित्र बनाया हो और उसपर लाल रंगका बटरपेपर (पारदर्शक कागज) लपेट दिया हो, तो उसे देखनेसे ऐसा भान होगा कि वह चित्र लाल कागजपर बनाया गया है; परन्तु जब उपाधिरूप ऊपरका लाल कागज हटा दिया जाता है, तब वही चित्र साफ-साफ सफेद कागजपर दीखने लगता है। इस दृष्टान्तमें पहिले और पीछे जो चित्र प्रतीत हुए हैं, वे दोनों हैं एक ही। किन्तु पहले लाल कागजरूप उपाधिके कारण वह लाल दीखता था और अब उपाधिको हटानेपर वह अपने असली रूपमें दीख पड़ता है। ऐसे ही अविद्यारूप आवरणसे ब्रह्म नाम-रूपात्मक जगद्रूपसे भासता है और जब तत्त्वज्ञानसे अज्ञानरूप आवरण नष्ट हो जाता है, तब ब्रह्मज्ञानीकी दृष्टिमें नाम-रूपात्मक संसार तो बाधित हो जाता है और अस्ति-भाति-प्रियरूप शुद्धब्रह्म दृष्टिगोचर होने लगता है। गीतामें कहा है—

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥
(५ । १६)

ऊसर भूमिमें सूर्यकी किरणोंके सम्बन्धसे मिथ्या जलका भान होता है । फिर भी मृगजलके यथार्थ स्वरूपको जाननेवाले उसको सरिता या सरोवरके जलके समान जलरूप नहीं मानते । वे उसे भ्रान्तिमात्र ही निश्चित करते हैं । ठीक उसी प्रकार विश्वके वास्तविक स्वरूप ब्रह्मतत्त्वको जाननेवाले इस विश्व-प्रपञ्चको मायिक रूपसे नहीं देखते; किन्तु सच्चिदानन्द ब्रह्मरूपसे ही देखते हैं ।

मेस्मराइज़ करनेवाले अपने संकल्पसे वशीभूत किये व्यक्तियोंको अपने सङ्कल्पके अनुसार लकड़ीमें ही साँप, नेवला, हाथी, घोड़ा, सिंह आदि कोई भी प्राणी या पदार्थ दिखा देते हैं । मध्यरात्रिके समय मध्याह्नकालका और मध्याह्नकालमें मध्यरात्रिका अनुभव करा देते हैं । भयंकर शीतकालमें भयंकर उष्णताका भान कराकर देहपर धारण किये हुए वस्त्रोंको पसीनेमें भिगो डालते हैं और उष्णकालमें शीतका अनुभव कराकर उसे थर-थर कँपा देते हैं । इस प्रकार उनकी अनेकों विपरीत क्रियाएँ और विपरीत प्रतीतियाँ प्रत्यक्ष देखी जाती हैं । वैसे ही मायाके आवरणसे जीवोंको मिथ्या-प्रपञ्च सत्य भासता है और अविद्यावश आत्मा अनात्म-देहादिरूपसे प्रतीत होता है; किन्तु जिस प्रकार मेस्मराइज़ करनेवालेके सङ्कल्पसे मुक्त हो जानेपर वही पुरुष इस संसारका पूर्ववत् अनुभव करने लगता है, वैसे ही जब जीव अविद्यारूप बन्धनसे मुक्त हो जाता है तब वह सर्वत्र केवल ब्रह्मका ही साक्षात्कार करने लगता है ।

सामान्य जनोंकी दृष्टिमें दिन और रात्रिका परिवर्त्तन सूर्यके परिभ्रमणसे होता है; किन्तु शास्त्रज्ञोंके सिद्धान्तके अनुसार इसका कारण पृथ्वीका अक्षभ्रमण है । अज्ञानी मनुष्य सूर्यको छोटी-सी थालीके समान गोल और चार-पाँच हजार मीलकी दूरीपर समझता है और विद्वान् उसे पृथ्वीसे तेरह लाखगुना बड़ा तथा पृथ्वीसे प्रायः साढ़े नौ करोड़ मीलकी दूरीपर मानता है । इस प्रकार जब शास्त्रबोधके बिना व्यावहारिक सत्यका भी निर्णय नहीं हो सकता, तब अज्ञानीजन बिना शास्त्रबोधके और बिना योगाभ्यासके पारमार्थिक सत्यका अनुभव किस प्रकार कर सकते हैं । अतएव ज्ञानी और अज्ञानीकी दृष्टिमें बड़ा भारी भेद रहता है ।

भावना-भेदसे वस्तुके स्वरूपमें भेद, परिवर्तन या विपरीतता भासती है । जैसे शालग्राममें नास्तिक और विधर्मीजनोंको तो पत्थर भासता है, किन्तु आस्तिकोंको साक्षात् विष्णुभगवान्‌की प्रतीति होती है और इस भगवद्भावनासे ही भक्तोंका उद्धार होता है । इस विषयके अनेकों उदाहरण मिलते हैं तथा इतिहास भी इस बातकी साक्षी दे रहा है ।

श्रुतिने कहा है—

भाववृत्त्या हि भावत्वं शून्यवृत्त्या हि शून्यता ।
ब्रह्मवृत्त्या हि पूर्णत्वं तया पूर्णत्वमभ्यसेत् ॥
(तेजोबिन्दु उ० अ० ८१)

'यह संसार भाववृत्तिसे भावरूप, शून्यवृत्तिसे शून्यरूप और ब्रह्माकार वृत्तिसे पूर्ण ब्रह्मरूप भासने लगता है, इसलिये ब्रह्म-चिन्तनको परिपक्व करनेके लिये पूर्णत्वकी भावनाका अभ्यास करना चाहिये ।' अभ्यासके द्वारा एक बार ब्रह्म-साक्षात्कार हो जानेपर यह संसार सर्वत्र, सर्वदा और सर्वथा ब्रह्मरूप ही अनुभव होने लगता है तथा इसके नाम-रूपात्मक अंशकी सत्यताका सर्वथा बाध हो जाता है । इसीसे छान्दोग्य-श्रुतिमें कहा है—

स एवाधस्तात् स उपरिष्टात् स पश्चात् स पुरस्तात स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदं सर्वमिति । (अ० ७।२५।१)

'वह ब्रह्म ही नीचे-ऊपर, पीछे-आगे, दाहिनी ओर तथा बायीं ओर है । किं बहुना, वही सर्वरूपसे प्रतीत हो रहा है ।'

एवं बृहदारण्यक-श्रुति भी कहती है—

"तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणां तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्चेति । तदिदमप्येतर्हि य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति । तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते । आत्मा ह्येषां स भवति ।" (१ । १०)

"देवोंमें जिस-जिसने उस ब्रह्मको जाना, वही ब्रह्म 'हो गया । इसी प्रकार ऋषियोंमें और मनुष्योंमें जिसने उस ब्रह्मका साक्षात्कार किया, वही ब्रह्मरूप हो गया । उस ब्रह्मको जानकर वामदेव ऋषिने अपना अनुभव प्रकट किया कि 'मैं ही मनु था और मैं ही सूर्य होकर ब्रह्माण्डको प्रकाशित कर रहा हूँ ।' इस समयमें भी जो मनुष्य इस ब्रह्मको अपने आत्मासे अभिन्न जान लेता है, वह भी सर्वरूप हो

जाता है। अर्थात् वह सबको अपने आत्मरूपसे अनुभव कर लेता है। उसके इस सर्वभावको निवृत्त करनेमें देवता भी समर्थ नहीं होते, क्योंकि वह उन सबका आत्मा ही हो जाता है।"

इस प्रकार सहस्रशः श्रुतियाँ, स्मृतियाँ, श्रीमद्भागवत आदि पुराण, महाभारत और योगवासिष्ठ आदि इतिहास तथा आचार्योंके लिखे हुए अनेकों प्रकरण-ग्रन्थ उस ब्रह्मतत्त्वके निरूपणमें परम प्रमाण हैं। इनके सिवा वर्तमान कालके संतजनोंकी प्राकृत वाणियाँ भी इस विषयको प्रमाणित करती हैं। लेखवृद्धिके भयसे उनका प्रदर्शन यहाँ नहीं किया जाता।

ब्रह्मदृष्टि होनेपर सर्वत्र आनन्द-ही-आनन्द अनुभव होता है। जीव अपनी महिमामें मस्त हो जाता है। नेत्रोंसे अस्खलित प्रेमाश्रुका प्रवाह बहने लगता है। मन ब्रह्मामृतका पान करनेमें संलग्न हो जाता है। इस ब्रह्मानन्दका वर्णन करनेमें वाणी समर्थ नहीं है; उसे इस विषयमें मौन धारण करना पड़ता है। पहले जो वासनाएँ दुःख देनेके लिये उछल-कूद मचा रही थीं, वे भी अब आत्मसूर्यके प्रकाशसे शान्त हो गयीं, मनका अविद्यान्धकार दूर हो गया एवं समस्त सञ्चित कर्म भी जलकर भस्म हो गये। सर्वत्र एकमात्र आनन्दका ही साम्राज्य स्थापित हो गया। आज इसकी सब इन्द्रियाँ कृतकृत्य हो गयीं, सारा जीवन धन्य हो गया और इसके लिये सम्पूर्ण प्रपञ्च परमानन्दमय परब्रह्मका ही लीलाधाम बन गया। इसी स्थितिका पूज्यपाद आचार्य शङ्कर निम्नाङ्कित शब्दोंमें वर्णन करते हैं—

सम्पूर्णं जगदेव नन्दनवनं सर्वेऽपि कल्पद्रुमाः
गाङ्गं वारि समस्तवारिनिवहः पुण्याः समस्ताः क्रियाः।
वाचः प्राकृतसंस्कृताः श्रुतिशिरो वाराणसी मेदिनी
सर्वावस्थितिरस्य वस्तुविषया दृष्टे परे ब्रह्मणि॥

एक संतकी झोलीसे

(प्रेषिका—बहिन गुरुप्यारी)

१. व्यर्थ प्रलापमें अपनी शक्तिका ह्रास न करो। निर्जनतामें प्रभुका चिन्तन करो। संसारकी विघ्न-बाधाओंसे घबराओ मत। मौन रहकर शक्तिका सञ्चय करो। कामनाको अपनेसे दूर भगा दो।

२. नर-शरीर ही प्रभुका मन्दिर है। उन्हें उसीमें खोजो।

३. न कुछ माँगो न कुछ खोजो। उस दयालु प्रभुके प्रति सब कुछ समर्पित कर दो। सदा यही कहो—'प्रभो! जैसी तेरी इच्छा।'

४. किसीकी बुराई देखना बंद कर दो। बुरे विचार व्यभिचारसे भी बढ़कर हैं।

५. मनपर अधिकार करो, इन्द्रियोंसे सम्बन्ध-विच्छेद कर दो। यही योग है। इसके बाद सभी पदार्थ तुम्हारे पास स्वयं आ जायँगे। जबतक अंदरके गुरुका पता न पाओ, बाहरी शिक्षाका कुछ भी महत्त्व नहीं।

६. ईश्वर-दर्शनके लिये मनोधारणा ही उत्तम उपाय है।

७. गङ्गा-तटपर रहकर पानीके लिये कूआँ खोदना कैसी मूर्खता है! हीरोंकी खानके निकट आकर काँचकी मालाके लिये प्रयत्न करना कैसी विडम्बना है! निज-शरीर-स्थित प्रभुके निकटतम रहकर दूर देशोंमें उसे ढूँढ़ना कैसी नासमझी है!

८. दुःख और सुखको भूल जाओ, हानि-लाभका विचार न करो, दिन-रात उस प्रभुका ही चिन्तन करो। एक पल भी व्यर्थ न गँवाओ।

९. ईश्वरके विषयमें तर्क करना ईश्वरको अपनेसे दूर भगाना है।

१०. मुक्ति और बन्धन दोनोंसे परे होनेपर प्रभुका दर्शन हो सकता है।

११. जीवनके प्रति प्रेम सभी बुराइयोंका हेतु है।

नाम-साधन

[हिमालय-निवासी श्रीमत्परमहंस श्रीरामानन्दजी महाराजके उपदेश]

(प्रेषक—श्रीएस्० एस्०, आजगाँवकर, बी० ए०, एल्-एल्० बी०)

इस जगत्में दो बातोंका ज्ञान होना आवश्यक है—(१) अन्तिम साध्यका और (२) उसे प्राप्त कर लेनेके साधनका। साधन भी ऐसा ही हो कि जिसमें किसी प्रकारका अनिश्चय न हो। भगवत्प्राप्तिके अनेक साधन हैं। इनमें कौन-सा साधन सुलभ है, यह पूछा जाय तो इसका उत्तर यहीं होगा कि वह साधन भगवन्नाम है। मुखसे नाम लेनेमें अन्य किसी चीजकी आवश्यकता नहीं होती; इसलिये उठते-बैठते, लेते-देते, कोई भी काम करते मुखसे नाम-जप और अन्तःकरणसे भगवान्का ध्यान—ये दो काम बराबर किये जा सकते हैं। इस प्रकारका अभ्यास नित्य नियमपूर्वक करनेसे भगवन्नाममें परम प्रेम उत्पन्न होता है। जिस कर्मसे भगवान् प्रसन्न होते हैं, वही तो सत्कर्म है और उसीसे भव-बन्धन कटता है। कारण, उस परा भक्तिसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह सब कर्म-बन्धनोंको काटनेवाला होता है। इसलिये पराभक्तिस्वरूप ईश्वर-स्मरणके समान दूसरा कोई सुलभ साधन इस कलियुगमें नहीं है। बस, सद्वासना, परा निष्ठा, शुद्ध अन्तःकरण, वैराग्य और सतत भगवान्का चिन्तन करनेकी सद्बुद्धिके साथ नाम-स्मरण किया जाय। रुचि, उत्साह और आस्थाके साथ सतत ईश्वर-स्मरण करनेसे मन-वाणी पवित्र होते हैं, भगवन्नामकी रुचि कभी घटती नहीं। नाम-प्रेमसे नामी वशमें होता है। प्रेमसहित भक्तिमें इतना आकर्षण है।

नाम-स्मरण ही ईश्वर-स्मरण है। नामका प्रभाव नामीसे भी बढ़कर है। नामका उच्चारण होते ही उसमेंसे विश्वके अंदर छिपे रहनेवाले सर्वव्यापक वासुदेव भक्तोंके हृदयमें स्पष्टरूपसे प्रकट हो जाते हैं। इन्हींको परब्रह्म, परमेश्वर या परमात्मा कहते हैं। नामोच्चारणसे जो अन्तर्ध्वनि निकलती है, वही अनाहत नाद है। परब्रह्मकी अपेक्षा शब्दब्रह्म, नादब्रह्म अथवा नामब्रह्म अधिक सरस है। यह सरसता निर्मल प्रेमी अन्तःकरणवाले अनन्य भक्तोंके भजनानन्दमें अनुभूत होती है। ऐसे भक्तोंके हृदयसे उठनेवाले नाम-स्मरणसे कम्प, स्वेद, रोमाञ्च, स्फुरण, प्रेमाश्रु आदि अष्ट सात्त्विक भाव प्रकट हुआ करते हैं। इसीलिये प्रेम-निरत भक्त बड़े प्रेमसे भगवान्को सात्त्विक और भावुक भक्तोंकी प्रेम-भक्तिका भूखा भिखारी कहा करते हैं। अतएव भगवन्नामको, जो विश्रामका धाम और प्रेमका निधान है, सदा सुखमें, दुःखमें, उद्वेग-चिन्ता-विषादमें, पश्चात्तापमें, वैभव और अधिकारमें, लड़कपन-जवानी-बुढ़ापा आदि सब अवस्थाओंमें और सब कामोंको करते हुए बराबर लेते रहना चाहिये। नामके प्रतापसे वाल्मीकि, अजामिल और अहल्या आदि पावन होकर तर गये। एक ही नामका आश्रय लेकर अनायास ही नर नरकसे तरकर नारायण बन सकता है। पर ऐसा होता है इस दुर्लभ नरदेहको पाकर भगवान्की भक्ति करनेसे। तभी पीठ पीछे रहनेवाले पृष्ठपोषक भगवान् भक्तके सहायक होते हैं। ऐसे ही पुण्यश्लोक पुण्यशरीरधारी मनुष्यको धन्य समझना चाहिये।

नाम शब्द है; इसके दो स्वरूप हैं, एक ध्वनि और दूसरा वर्ण। नाम-स्मरण करते हुए पहले ईश्वरवाचक शब्दका उच्चारण वैखरी वाणीसे होता है और तब उससे ईश्वरका बोध होता है अर्थात् ईश्वर चर्मचक्षुओंके सामने या अन्तश्चक्षुओंके सामने मूर्तिमान् होकर आ जाता है। इस प्रकार नाम-स्मरणसे ईश्वर-दर्शन होता ही है। अतः भगवान्की अनन्य शरण ग्रहण कर

गुरुमुखसे प्राप्त मन्त्रदीक्षाके अनुसार निरन्तर उनका नाम लेते रहना चाहिये । आठों पहर नाम रटनेसे नामका उत्कट प्रभाव अनुभूत होता है । यह श्रद्धा और दृढ निश्चयकी बात है, इसे लक्ष्यमें रखना चाहिये और इसी प्रकार भगवद्भजन या नाम-स्मरणको चालू रखना चाहिये । इस काममें जरा-सी भी ढिलाई या लापरवाही करना अच्छा नहीं है । अब प्रश्न यह रहा कि नाम-स्मरण कबतक करते रहना चाहिये । इसका उत्तर यही है कि इस शरीरसे प्राणोंके निकलनेका समय जब आ जाय और जब नाम-स्मरण करना असम्भव हो जाय, तभी नाम लेना छोड़ा जा सकता है । तबतक उत्साह और आनन्दके साथ नाम लेते रहो । अखण्ड भजनमें लवलीन होनेपर भजन कब रुकता है, यह तो कहा ही नहीं जा सकता । 'कर्ममें काल और कालमें कर्म अभिन्नरूपसे रहते हैं (Time in Action and Action in Time are indivisible)—यही सिद्धान्त भजनमें अनुभूत होता है ।

नाम-स्मरणमें जब समय बीतने लगता है, तब विषय-चिन्तनमें समयका बीतना कम होता जाता है । विषयोंका त्याग, ब्रह्मचर्यका पालन, ज्ञान और वैराग्यमें स्थिति इत्यादि सात्त्विक गुणोंसे युक्त होकर नाम-स्मरण करते-करते बाहर नामका उच्चारण और अंदर गुरूपदिष्ट इष्टदेवताका ध्यान होने लगता है । यही ध्यान ध्याता भक्तको ध्येयस्वरूप बना डालता है । इसी ध्यानसे भगवत्स्वरूपका ज्ञान होता है । नाम और नामीकी अभेद-स्थिति ही ज्ञान है । यही मूलशक्ति है और यही पराभक्ति है । इसीको प्रबोधशक्ति कहते हैं । नाम-रहस्य, राम-रहस्य अथवा अजपा-रहस्य जिसे कहते हैं, वह यही है । नादानुसन्धानसे मन और प्राणका लय होता है । भक्तके हृदयमें भगवान्के प्रति प्रीति, रति और अनुराग जाग उठते हैं और प्रेमभावके उमड़ आनेसे विषयोंके प्रति विराग दृढ़ हो जाता है । इस प्रकार चलनेवाला नाम ही रूप धारण करता है और वह रूप ही अपने नामको 'शिवो भूत्वा शिवं यजेत्' के अनुसार जपता है । तब जप करनेवाले ध्याताको, अपने इष्टदेवताके साथ तादात्म्य, तदाकारता और सामरस्य हो जानेके कारण नाम-जपके लिये अभ्यासका कोई पृथक् प्रयास नहीं करना पड़ता । इष्टदेवताके द्वारा ही सहज-स्फूर्त्त नाम-स्मरण होता रहता है । यह स्वयं-स्फूर्त्त स्फुरद्रूप-वृत्ति ही नाम-स्मरणकी सहज स्थिति या परम गति है । इसीको मूल प्रकृति, शिवशक्ति, आदिमाया, परमा विद्या, चेतनकला, जगज्ज्योति, ज्ञप्ति आदि अनेकों नामोंसे पुकारते हैं । अनन्त नामोंसे जानी जानेवाली यह नाम-स्मरण-भक्ति अनन्त नामी या अनामी नाम-रूपयुक्त भगवान्की स्वात्मप्रतीतिकी प्रकट पहचान है । नामकी ध्वनि या घोष निजबोधरूप अन्तरात्माका स्फुरणरूप उन्मेष है । भगवान्का साक्षात्कार अनिर्वचनीय अवश्य है; पर भगवन्नाम, अन्य शब्द जैसे अपना अभिप्राय व्यक्त कर व्यर्थ हो जाते हैं, उस प्रकार व्यर्थ नहीं है । जो शब्द भगवान्के प्रत्यक्ष दर्शन करा देता है, वह व्यर्थ कैसे हो सकता है । नाममें भगवान् रहते हैं; इसीलिये नाम भगवान्से भी श्रेष्ठ है । विशुद्ध लक्ष्यांश वाच्यांशके अंदर ही मौजूद है, इसीसे निःशब्द परब्रह्म शब्दब्रह्मरूप सगुण नाममें व्यक्त हुआ करता है । भगवान् अलक्ष्य हैं, पर उनका नाम प्रत्यक्ष लक्ष्यार्थकी साकार घनानन्दमूर्ति है । इसीसे तो नामके द्वारा अपने आपको तथा दूसरोंको ईश्वर-दर्शन कराया जा सकता है । इसी प्रबोध-शक्तिका आश्रय कर संत-महात्माओंने नामके प्रतापसे गुप्त नामीको प्रकट कर दिया । नामको मिथ्या कहनेवाला भला, नामीको कैसे पा सकता है ? अन्तर्निष्ठ ध्यान ही सम्यग् यथार्थ ज्ञान है । इस ध्यानमें भक्ति-प्रेम-सुख है और इसी देहमें दिन-रात उसे अनुभव किया जा सकता है । नामका यह नकद फल

है । संक्षेपमें नामस्मरण-भक्ति आदिशक्ति, महाशक्ति जगज्जननीके साक्षाद्दर्शन करा देती है ।

सबसे श्रेष्ठ साधन नाम-जप ही है और इसीलिये श्रीज्ञानेश्वर महाराज-जैसे ज्ञान और योगके मुकुटमणि यह बतलाते हैं कि 'नामसे बढ़कर और कोई साधन है ही नहीं ।' भक्ति, नाम और प्रेमके त्रिवेणी-संगममें अवभृथ-स्नान करके भक्त ईश्वररूप बन जाता है । ध्यान, नाद, रस और आनन्द—इस चतुर्विध लययोगका फल उसे नाम-जप और नाम-ध्यानसे प्राप्त हो जाता है । स्वानन्द-दान करनेकी सामर्थ्य नामस्मरण-भक्तिमें है । यह भक्ति त्रिविध है । पहली है कीर्तन-भक्ति । इसमें अकेले ही बैठकर नाम-स्मरण करना होता है । तुकाराम महाराज कहते हैं—'अपने स्थानमें ही बैठकर एकचित्त हो जाय और प्रेमसे अनन्तको आलिङ्गन करे ।' दूसरी हरिकथाभक्ति है । इसमें सूर, तुलसी, कबीर, मीराबाई-जैसे किसी संतके पद गाकर कीर्त्तन करना होता है । तुकाराम महाराज कहते हैं—'इस जगत्में गायनमें जो शक्ति है, वह अद्भुत है ।' तीसरी भक्ति है——नाम-संकीर्त्तन-भक्ति । इसमें सबको मिलकर नामसंकीर्त्तन करना होता है । इसमें स्मरण-भक्तिके साथ कीर्त्तन-भक्तिका सम्मिलन होता है; इसीलिये तुकाराम महाराज कहते हैं—'कीर्तन बड़ा अच्छा है, इससे शरीर हरिरूप हो जाता है ।' भक्ति-भावसे सुस्वर संगीत-भजन करना बहुजन समाजको षड्गुणैश्वर्यसम्पन्न श्रीजगन्मोहनकी ओर खींच ले जाना है । यह नादब्रह्मका प्रभाव है । शुक-जैसे ब्रह्मवेत्ता योगी ब्रह्मानन्दमें निमग्न होना छोड़ नाम-स्मरणमें रमा करते हैं, भजन-प्रेमके रंगमें मस्त हो जाते और झूमते रहते हैं । सत्संगसे ही अभङ्ग प्रेमभाव उत्पन्न होता है और उससे चञ्चल मन भक्ति-प्रेम-सुखमें विलीन हो जाता है । तुकाराम महाराज कहते हैं—'सुखमें विभोर, प्रेममें मस्त घूमता-झूमता मैं निश्चय ही उसमें बिल्कुल घुल गया ।' नामके अक्षर और वर्ण अक्षय, अजर और अमर होनेके साथ ही अनमोल कहे जाते हैं । प्रेम-रस भक्तिभावसे भी श्रेष्ठ है । रोम-रोममें जब भक्ति समा जायगी, तब देहकी सुध खो जायगी । अखण्ड नाम-स्मरण और ध्यानसे विश्वकी जीवन-कला माता श्रीजगदम्बा दुर्गा भवानी हृदयमें आ विराजेंगी । भक्त-वत्सला, दीनदयालु जगन्माताके हृदयानन्दसे प्रेम-कल्लोल उठने लगेंगे और उनकी कृपा-वृष्टिसे भक्तकी देह तुष्टि-पुष्टि-सम्पन्न चैतन्यविग्रह हो जायगी । रसनाके द्वारा इस अभिराम नाम-सुधाका अखण्ड स्राव होता रहे तो चैतन्यकी हृदयश्री और त्रिलोककी शोभा जगज्जननीका हृदय भला, कैसे द्रवित न होगा । पर यह कब होगा ? जब नामके अखण्ड और उन्मुक्त उच्चारण और नाम-दर्शनमें सच्चा प्रेम होगा, तब ही प्राणोंके प्यारे, ब्रह्माण्डके जीव और देवोंके अधिदेवके रूपसे जो सुगुणान्वित त्रिगुणातीत सगुणरूप है, वह साकार नाम बनेगा । यह सुगम रहस्य आगम-निगमोक्त यम-नियम, ब्रह्मचर्य-पालन, सात्त्विक आहार, शुद्ध आचार-विचार तथा सद्गुरूपदिष्ट मन्त्र-जपका अखण्ड अभ्यास करनेसे प्राप्त होता है—यही मुझे निश्चयपूर्वक बतलाना है ।

* * *

जगदम्बे !

साध आमरण दे पपीहाका पिपासा-व्रत ; कामी, कवि, चोरको सँजोने सुवरण दे ।
पञ्चीकृत पञ्चभूतद्वारा नग्न पुत्तलीको शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध-आभरण दे ॥
आँखोंमें 'मराल' की विनत-लोचना-सी खड़ी , लज्जा-द्रौपदीका चीर होने न हरण दे ।
दात्री जगदम्बे ! दे शरण शरणागतको , देना नहीं चाहती शरण, तो मरण दे ॥

—रामसहाय शर्मा 'मराल'

सामयिक चेतावनी

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

बहुत गई थोरी रही, नारायन ! अब चेत ।
काल चिरैया चुग रही निसिदिन आयू खेत ॥
काल करै सो आज कर, आज करै सो अब ।
पलमें परलै होयगी, बहुरि करैगो कब ॥
कबिरा नौबत आपनी दिन दस लेहु बजाय ।
यह पुर पट्टन यह गली बहुरि न देखौ आय ॥
चलती चाकी देख कै दिया कबीरा रोय ।
दो पाटन बिच आय कै साबित बचा न कोय ॥
दो बातन कूँ याद रख, जो चाहै कल्यान ।
नारायन एक मौतको, दूजे श्रीभगवान ॥

भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा है—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥

'तू सुखरहित और क्षणभङ्गुर इस मनुष्य-शरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही भजन कर ।'

यह मनुष्य-जीवन क्षणभङ्गुर और दुःखरूप है । आज जिसे हम भला-चंगा और मोटा-ताजा देखते हैं, कल ही हम उसके बारेमें सुनते हैं कि अचानक उसके हृदयकी गति बंद हो गयी और उसकी जीवन-लीला समाप्त हो गयी । हम जीवनमें अनेक प्रकारके मनसूबे बाँधते हैं, जमीन-आसमानको एक करनेकी चेष्टा करते हैं; परन्तु मृत्युका निर्दय हाथ सहसा आकर हमारे मनके महलोंको ढहा देता है और हमारी सारी स्कीमें यों ही पड़ी रह जाती हैं । जीवनकी अपेक्षा मृत्यु ही अधिक निश्चित है । हम कितने दिन जीयेंगे, यह कोई नहीं बता सकता, परन्तु हमारी मृत्यु निश्चित है । जो जन्मा है, वह मरेगा अवश्य । किसी कविने कहा है—

नौ द्वारेका पिंजरा, तामें पंछी पौन ।
रहनेको आचरज है, गए अचंभा कौन ॥

श्वास आया-आया, न आया । इसका कौन भरोसा है । जरा-सा बुखार आया, न्यूमोनिया हो गया, चलते बने । जरा-सा फोड़ा हुआ, उसमें जहर पैदा हो गया और वह जहर सारे शरीरमें फैलकर हमारी मृत्युका कारण बन गया । बच्चोंसे लेकर बुड्ढोंतकका यही हाल है । बुड्ढे तो फिर भी रोगके आक्रमणको कुछ दिन सहते हुए देखे जाते हैं । आजकलके नौजवानोंकी तो यह हालत है कि दस दिन मियादी बुखार आया कि समाप्त । आये दिन ऐसी मौतें देखने और सुननेमें आती हैं, जिन्हें देख और सुनकर रोंगटे खड़े हो जाते हैं, दिल दहल उठता है । किसीका छः ही महीने पहले विवाह हुआ था, तो कोई अपने बुड्ढे माता-पिताका इकलौता लाल था, उनकी आँखोंका तारा था, उनके जीवनका एकमात्र सहारा था । फिर आजकल तो मृत्यु और भी सुलभ हो गयी है । कहीं बाढ़ आयी और गाँव-के-गाँव एक साथ बह गये । लोग सोये-के-सोये रह गये । एक भूकम्प आया और उससे नगर-का-नगर ध्वंस हो गया । शहरमें हैजा फैला, प्रतिदिन सैकड़ों आदमियोंका सफाया होने लगा । इधर रण-चण्डी भयानक रूप धारण कर लाखों मनुष्योंका संहार कर रही है । बंगालमें प्रतिदिन हजारों नर-नारी भूखकी ज्वालासे तड़प-तड़पकर मर रहे हैं, जिसपर हम इतना नाज करते हैं, इतने इतराते हैं, जिसके बलपर हम किसीको कुछ नहीं समझते, पीढ़ियोंका प्रबन्ध करते हैं, हमारे उस जीवनका यह हाल है । फिर भी हम चेतते नहीं, क्षणिक विषय-सुखोंके पीछे इस अमूल्य जीवनको, जिसे शास्त्रोंने देवदुर्लभ बताया है, व्यर्थ नष्ट कर रहे हैं । हमारा एक-एक श्वास इतना अमोल है कि उसे हम लाख रुपया देकर भी खरीद नहीं सकते । अमूल्य निधिको हम आलस्य-प्रमाद, मौज-शौक, ऐश-

आराम और भोग-विलासमें गँवा रहे हैं। मानो हीरेको कौड़ियोंके मोल बेच रहे हैं। इससे बढ़कर हमारी मूर्खता क्या होगी ?

यह जीवन केवल अनित्य और क्षणभङ्गुर ही नहीं है, दुःखरूप भी है। हम जिधर दृष्टि दौड़ाते हैं, उधर हमें दुःख-ही-दुःख नज़र आता है। बचपनसे लेकर मृत्युपर्यन्त दुःखका ही एकच्छत्र साम्राज्य है। जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधिने हमें चारों ओरसे जकड़ रखा है, जन्ममें दुःख, मृत्युमें दुःख, जरामें दुःख और व्याधि तो दुःखरूप है ही। जन्मते ही, बल्कि यों कहिये कि माताके गर्भमें आते ही इस जीवको दुःख चारों ओरसे आ घेरते हैं। माताके उदरमें जबतक यह जीव रहता है तबतक घोर कष्टका अनुभव करता रहता है। वह चारों ओर मांस-मज्जा, रुधिर-कफ और मल-मूत्र आदि दूषित एवं दुर्गन्धयुक्त पदार्थोंसे घिरा रहता है। हिल-डुल सकता नहीं। ऊपर टाँगें और नीचे सिर किये सिकुड़ा हुआ पड़ा रहता है। सुखपूर्वक साँस भी नहीं ले पाता। नाना प्रकारके कृमि और कीटाणु उसकी कोमल त्वचाको नोचते रहते हैं। माता यदि भूलसे कोई क्षारयुक्त अथवा दाहक पदार्थ खा लेती है तो उससे गर्भस्थ शिशुकी त्वचा जलने लगती है। वह चुपचाप इन सारे कष्टोंको सहता रहता है। उस समय उसकी कोई कुछ भी सहायता नहीं कर सकता। फिर उसे पूर्वजन्मोंकी स्मृति जाग्रत् होकर अलग सताने लगती है। इस प्रकार वह अत्यन्त दुखी होकर अपने गर्भ-जीवनको व्यतीत करता है। गर्भसे बाहर निकलते समय भी उसे घोर यन्त्रणा होती है, वह चेतनाशून्य हो जाता है। उस समय कई बालक तो उस कष्टको न सह सकनेके कारण प्राण त्याग देते हैं। मृत्युके समयका दुःख भी हम सब लोग बराबर देखते ही हैं। उस समय मनुष्यकी कैसी असहाय अवस्था हो जाती है ? उसके रोम-रोमसे नैराश्य टपकने लगता है। वह कैसे कष्टसे प्राण त्यागता है। जिन घर-जमीन, स्त्री-पुत्र, धन-दौलतको उसने बड़ी ममतासे पाला-पोसा था, अपने जीवनसे भी बढ़कर समझा था और जिनकी रक्षाके लिये उसने नाना प्रकारके कष्ट सहे थे, लोक-परलोककी भी परवा नहीं की थी, जिनके पीछे उसने न जाने कितनोंका जी दुखाया था, कितनोंका हक मारा था, कितनोंसे वैर बाँधा था, कितनोंसे मुकद्दमेबाजी की थी—उन्हें सहसा बाध्य होकर त्यागनेमें उसे कितने महान् कष्टका अनुभव होता है—इसे मरनेवाला ही जानता है। हम सबने अपने पूर्वजन्मोंमें इस कष्टका अनुभव किया है और इस जीवनका अन्त होनेपर हममेंसे अधिकांशको फिर करना होगा। बुढ़ापेके दुःख भी हमसे छिपे नहीं हैं। वृद्धावस्थामें मनुष्यकी सारी इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं, दृष्टि मन्द हो जाती है, कानोंसे ठीक तरह सुनायी नहीं देता, चमड़ी सिकुड़ जाती है, दाँत जवाब दे देते हैं, बिना सहारेके चलना कठिन हो जाता है, घरके लोग अनादर करने लगते हैं, बुद्धि भी सठिया जाती है और नाना प्रकारकी चिन्ताएँ आ घेरती हैं। व्याधिका तो किसी-न-किसी रूपमें थोड़ा-बहुत हम सभीको अनुभव है। हमारे शास्त्रकारोंने इस शरीरको व्याधियोंका घर ही बताया है—'शरीरं व्याधिमन्दिरम्।' भगवदवतारों और कारक पुरुषोंको छोड़कर सभीको न्यूनाधिक रूपमें व्याधियोंका शिकार होना पड़ता है। बड़े-बड़े महात्माओं और लोकोपकारी व्यक्तियोंका भी व्याधियोंसे पिण्ड नहीं छूटता। स्वस्थ-से-स्वस्थ और बलवान्-से-बलवान् मनुष्यको भी इनके आगे सिर झुकाना पड़ता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जीवनमें चारों ओर दुःखका ही बोलबाला है। जिसे हम सुख कहते हैं वह भी दुःख-मिश्रित, परिणाममें

दुःखदायी और वास्तवमें दुःखरूप ही है ।* वियोग तो सबके साथ लगा ही हुआ है । जिस वस्तुके समागमसे हमें सुखकी अनुभूति होती है, वही वियोग होनेपर दुःखका कारण बन जाती है । स्त्री-पुत्र, धन-मान, पद-प्रतिष्ठा, ऐश-आराम–सबका यही हाल है । एक धनको ही ले लीजिये । धनके उपार्जनमें कष्ट होता है, उसकी रक्षा करनेमें कष्ट उठाना पड़ता है, उसके बढ़ानेमें भी कष्टोंका सामना करना पड़ता है, उसे अनिच्छापूर्वक त्यागनेमें–खर्च करनेमें भी कष्ट होता है और उसके नाश होनेमें–चले जानेमें तो कष्ट होता ही है । यदि राजा उसे छीन ले–दण्ड अथवा करके रूपमें ले ले, चोर चुरा ले जायँ, अग्नि जला दे, पानी बहा ले जाय अथवा उसे सुरक्षित दशामें छोड़कर हमींको इस संसारसे विदा होना पड़े–प्रत्येक स्थितिमें हमें महान् दुःख होगा ।

अब प्रश्न यह होता है कि इस दुःखसे बचनेका उपाय क्या है ? शास्त्र कहते हैं कि स्वेच्छापूर्वक विषयोंके त्यागमें ही सुख है । भोग-बुद्धिसे विषयोंका संग्रह दुःखका मूल है । हमने भ्रमसे विषयोंमें सुख मान रखा है । वास्तवमें जिसके पास जितना अधिक विषयोंका संग्रह है, वह उतना ही दुखी है और जो जितना अपरिग्रही है, वह उतना ही सुखी है । धनकी तीन गतियाँ मानी गयी हैं—दान, भोग और नाश । हमारे शास्त्रोंने दानको ही सर्वोत्तम गति माना है, यही धनका सर्वश्रेष्ठ सत्य उपयोग है । धनकी रक्षाका भी सर्वोत्तम उपाय दान ही है । वही धन सुरक्षित है, जिसे हम दूसरोंकी सेवामें, भगवान्‌की सेवामें लगा देते हैं । धनका नाश एक-न-एक दिन अवश्यम्भावी है–चाहे उसे हम भोगोंके निमित्त खर्च करके नष्ट कर दें, चाहे उसे दूसरे हड़प जायँ, सरकार करके रूपमें ले ले अथवा हम ही उसे छोड़कर संसारसे चल बसें । हर हालतमें हमारा उससे वियोग होगा ही । उसे अक्षय बनानेका–स्थायी बनानेका एकमात्र उपाय उसे भगवान्‌की सेवामें—जनता-जनार्दनकी सेवामें अथवा दरिद्र-नारायणकी सेवामें लगाना ही है । सच्ची बात तो यह है कि हमारा सारा धन भगवान्‌का है । लक्ष्मीदेवी–जो धनकी अधिष्ठात्री देवी हैं–उनकी अर्द्धाङ्गिनी हैं, चरण-सेविका हैं, उन्हें सबसे अधिक सुख भगवान्‌के चरण-प्रान्तमें ही मिलता है । इसीलिये वे भगवान्‌के चरणोंको छोड़कर अन्यत्र नहीं जाना चाहतीं, उन्हींसे सर्वदा लिपटी रहती हैं । ऐसी दशामें प्रत्येक लक्ष्मीपात्रका कर्तव्य है कि वह उन्हें माता समझकर भगवान्‌के चरणोंमें ही नियुक्त कर दे और उनके प्रसादरूपमें ही विषयोंका शरीर-निर्वाह मात्रकी दृष्टिसे सेवन करे । भगवान्‌की वस्तुका भगवान्‌की सेवामें विनियोग न करके जो उसे केवल अपने काममें लेता है, वह तो अपराधी है, दण्डका पात्र है–'स स्तेनो दण्डमर्हति ।' पञ्च महायज्ञका भी अभिप्राय यही है । भगवान्‌ने भी गीतामें कहा है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥
(३ । १३)

'यज्ञसे बचे हुए अन्नको खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापोंसे

---

* महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

'परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्ति-
विरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ।'

(१) प्रत्येक सुखका परिणाम दुःखदायी होता है । (२) इसके अतिरिक्त प्रत्येक सुखमें तारतम्य तो होता ही है । ऐसी दशामें थोड़े सुखवालेको दूसरेका अधिक सुख देखकर स्वाभाविक ही ईर्ष्या होती है और ईर्ष्या दुःखरूप ही है । (३) इतना ही नहीं, जो सुख प्राप्त होकर नष्ट हो जाता है, उसकी स्मृति बड़ी दुःखदायिनी होती है–उसे याद कर-करके मनुष्य बड़ा दुखी हो जाता है । (४) फिर कोई भी सुख दुःखसे रहित नहीं होता, प्रत्येकमें दुःखका मिश्रण अवश्य होता है । पाँचवीं बात यह है कि सुखी मनुष्य भी सात्त्विक, राजस एवं तामस वृत्तियोंके संघर्षसे दुखी रहता है । इन पाँच कारणोंसे विवेकी पुरुष सब कुछ दुःखमय ही देखते हैं ।

मुक्त हो जाते हैं। और जो पापीलोग अपना शरीर पोषण करनेके लिये ही अन्न पकाते हैं वे तो पापको ही खाते हैं।' आगे चलकर ऐसे लोगोंको भगवान्‌ने अघायु—पापजीवी कहा है और उनका संसारमें जीना व्यर्थ बताया है—'अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति।' श्रुति भगवती भी कहती है—'केवलाघो भवति केवलादी'

परन्तु यदि ऐसा न हो सके—हम सब कुछ भगवान्‌का न समझ सकें तो फिर कम-से-कम अपनी आयका—अपनी सम्पत्तिका षष्ठांश तो अवश्य ही भगवान्‌की सेवामें—धर्मकार्योंमें लगायें। यह हमारे किये ही हो सकता है। धर्मको शास्त्रोंने पङ्गु बताया है—वह हमारे चलाये ही चल सकता है। राजाकी तरह वह हमसे बलपूर्वक कर वसूल नहीं करता। हमें चाहिये कि जिस प्रकार हम भोगोंके निमित्त धनको पानीकी तरह बहाते हैं, ब्याह-शादियोंमें तथा अन्य सामाजिक कार्योंमें अनाप-शनाप खर्च करते हैं, कीर्तिके लिये अथवा उपाधि आदिके रूपमें सरकारकी प्रसन्नता प्राप्त करनेके लिये बड़ी-बड़ी रकमें चंदेके रूपमें देते हैं तथा सरकारी अफसरोंको बड़ी-बड़ी पार्टियाँ देते हैं, उसी प्रकार अपनी आयका अथवा सम्पत्तिका कम-से-कम षष्ठांश लोकोपकारके कार्योंमें लगायें, अपने कारबारके कई विभागोंमेंसे एक विभागको अथवा एक ही विभाग हो तो उसके एक हिस्सेको लोकसेवक ट्रस्टके रूपमें परिवर्तित कर दें, ताकि उसकी सारी-की-सारी आय लोकोपकारके कार्योंमें खर्च की जा सके और उसपर हमारा निजी स्वत्व बिल्कुल न रहे। कहना न होगा कि उपर्युक्त कार्योंके निमित्त धनव्यय करनेमें सरकार भी हमें प्रोत्साहन देती है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि धार्मिक एवं लोकोपकारके कोषोंपर सरकारकी ओरसे 'इनकम-टैक्स' आदि किसी प्रकारका कर नहीं लिया जाता। आजकल 'इनकम-टैक्स' आदि करसे बचनेके लिये हमारे बहुत-से व्यापारी भाई झूठ-कपटका आश्रय लेते देखे जाते हैं। इस प्रकार अन्यायसे लाखों रुपयोंकी जो बचत की जाती है, वैसा न करके लोकोपकारार्थ ट्रस्ट बनाकर उस धनको लोकोपकारमें ही खर्च करें। अपने निजी कार्यमें कतई नहीं। इस प्रकार लोकोपकारके कार्योंमें जो कुछ व्यय किया जायगा, वह अक्षय हो जायगा। हम भोग-बुद्धिसे जो कुछ बटोरते हैं वह तो हमारे मरनेके बाद यहीं पड़ा रह जायगा, उसमेंसे एक पाई भी हमारे साथ नहीं जा सकेगी, एक सूईपर भी हमारा अधिकार नहीं रह जायगा। किन्तु धर्मके नामपर हम जो कुछ भी खर्च करेंगे, वह परलोकमें भी हमें प्राप्त होगा। यदि हम किसी फलकी कामनासे ऐसा करेंगे तो मरनेके बाद हमें स्वर्गादि लोकोंकी प्राप्ति होगी—जहाँके सुख यहाँके सुखोंकी अपेक्षा कई गुने अधिक हैं। और यदि भगवत्सेवाकी भावनासे—भगवदर्थ अथवा भगवदर्पण-बुद्धिसे हम लोकोपकारी कार्योंमें धनव्यय करेंगे तो वही हमारे कल्याणका परम साधन बन जायगा—हम जन्म-मृत्युके बन्धनसे सदाके लिये छूटकर भगवान्‌के परमधाममें चले जायँगे, जहाँ अक्षय सुखका निवास है और दुःखका लेश भी नहीं है। भगवान्‌ने गीतामें भी कहा है—'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।' धर्मके निमित्त जो कुछ व्यय किया जाता है, उसकी बीमा हो जाती है—उसे चोर चुरा नहीं सकते, डाकू लूट नहीं सकते, राजा छीन नहीं सकता और अन्यायी हड़प नहीं सकता। परन्तु हम अज्ञानी जीव चोरी, डाका, राजदण्ड, अग्नि आदिका उपद्रव—सब कुछ सह लेते हैं, परन्तु स्वेच्छासे धर्मका दण्ड स्वीकार नहीं करते। किसीने कहा है—

अगिन पलीता राजदँड, चोर मूँस धन खाय।
इतना तो दँड नर सहै, हरिदँड सहा न जाय॥

दानके लिये यों तो अनेकों मार्ग हैं; परन्तु इस समय सबसे अधिक आवश्यकता हमारे इस देशमें भूखोंको अन्न, वस्त्रहीनोंको वस्त्र तथा रोगियोंको औषध

देनेकी, जिज्ञासुओं और विद्यार्थियोंको गीता-रामायण आदि सद्ग्रन्थोंके वितरणद्वारा सहायता करनेकी तथा चारा आदिके द्वारा गौओंकी रक्षा करनेकी है। आज देशके कई भागोंमें अन्नका बड़ा भारी कष्ट दिखायी दे रहा है। बंगालमें तो अन्नके बिना हाहाकार मचा हुआ है, प्रतिदिन हजारोंकी संख्यामें हमारे नेत्रोंके सामने हमारे ही-जैसे हमारे बहिन-भाई और बच्चे भूखके मारे बेमौत मर रहे हैं। सियार और कुत्ते उन्हें जीते-जी नोचते सुने जाते हैं और वे उनसे अपनी रक्षा नहीं कर पाते। भूखकी भयानक यन्त्रणासे बचनेके लिये लोग फाँसी लगाकर तथा रेलकी पटरियोंपर लेटकर प्राण देते देखे-सुने जाते हैं। माताएँ अपने बच्चोंको त्याग देती हैं। कई जगह लोग भूखसे पीड़ित होकर अपनी वयस्क कन्याओंको बेच रहे हैं। कलकत्ते आदि नगरोंमें लोग सड़कोंपर पड़े कराहते नजर आते हैं। निर्बलताके कारण वे विशेष हिल-डुल भी नहीं सकते। यह करुण दृश्य देखकर पत्थरका हृदय भी पसीज जाता है। हमारी माता और बहिनोंके पास लज्जा ढकनेके लिये वस्त्र भी नहीं है और भूखसे निर्बल नर-नारी नाना प्रकारके रोगोंके शिकार हो रहे हैं। इस समय हमारे धनी भाइयोंका सबसे बड़ा कर्तव्य है खुले हाथों अपने उन गरीब भाइयोंकी सहायता करना, उन्हें मौतके मुँहसे बचाना, अन्नहीनोंके लिये अन्नकी, वस्त्रहीनोंके लिये वस्त्रकी तथा रोगियोंके लिये औषधकी व्यवस्था करना तथा जो लोग दान न लेना चाहें उनके लिये सस्ते अनाजकी दूकानें खोलना।

गोजातिपर भी इस समय हमारे देशमें बड़ा संकट है। प्रतिदिन हजारोंकी संख्यामें हमारे देशकी दूध देनेवाली जवान गायें, बछिया तथा बैल हमारे ही सामने कटते हैं और हम अपनी आँखों यह सब देखकर भी इसका कुछ भी प्रतिकार नहीं कर रहे हैं। जितनी गायें कटनेसे बच जाती हैं, वे भी चारे आदिके अभावसे मर रही हैं। हमारा कर्तव्य है कि हम उनके लिये चारे आदिकी समुचित व्यवस्था करें और इस प्रकार उनके बढ़ते हुए ह्रासको रोकनेकी चेष्टा करें। गो-धन हमारा सबसे बड़ा धन है—उससे हमारा धर्म-कर्म सब कुछ चलता है तथा हमारे शरीरोंका पोषण होता है। गाय और बैलोंके बिना हमारा जीवन ही कठिन हो जायगा। ऐसी दशामें प्रत्येक हिंदूका—नहीं-नहीं, प्रत्येक भारतवासीका यह कर्तव्य हो जाता है कि वह गौओंकी रक्षाके लिये तन-मन-धनसे भी कटिबद्ध हो जाय। प्रत्येक भारतीय गृहस्थको चाहिये कि वह कष्ट सहकर भी कम-से-कम एक गौ अपने घरमें अवश्य रखे। जिस समय भारतमें गौओंकी अधिकता थी, उस समय हमारा यह भारतवर्ष सुख-समृद्धिसे पूर्ण था। यहाँ दूध-दहीकी नदियाँ-सी बहती थीं, जिस मक्खन और घीके आज हमलोगोंको दर्शन दुर्लभ हो रहे हैं, उसे भगवान् श्रीकृष्ण तो बाल्यावस्थामें बंदरोंको लुटाते थे। अकेले नन्दबाबाके यहाँ नौ लाख गायें थीं और एक-एक राजा लाख-लाख गायोंका दान कर देते थे। आज हमारे गो-धनका जो भयंकर ह्रास दृष्टिगोचर हो रहा है, वह हमारे ही प्रमादका दुष्परिणाम है। हमें चाहिये कि अब भी चेतें और अपने इस लुटते हुए धनको बचानेकी चेष्टा करें।

प्राचीन समयमें लोग गोरक्षाके लिये बड़े-बड़े कष्ट सहनेके लिये तैयार रहते थे, गौके प्राण बचानेके लिये अपने प्राणोंकी भी आहुति देनेमें नहीं हिचकते थे। महाराज दिलीपकी गो-भक्ति और अर्जुनके गोरक्षा-व्रत इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। राजा दिलीप चक्रवर्ती सम्राट् थे। गुरु वसिष्ठकी आज्ञासे उन्होंने उनकी गौ नन्दिनीकी सेवाका भार अपने ऊपर ले लिया। इतने बड़े सम्राट् होनेपर भी उन्हें गो-सेवा करनेमें लज्जा नहीं आयी। वे स्वयं उसे चरानेके लिये जंगलमें ले जाते और इष्टदेवीकी भाँति उसकी सेवामें दत्तचित्त रहते। वे उसके बैठनेपर बैठते, खड़े होनेपर स्वयं खड़े हो जाते, उसके भरपेट चर लेनेपर ही स्वयं

अपनी बुभुक्षा शान्त करते और उसको जल पिलाकर ही स्वयं जल ग्रहण करते। एक दिन राजाने नन्दिनीको चरनेके लिये छोड़ दिया और स्वयं वहाँसे कुछ दूर जा बैठे। इतनेमें ही राजाको गौके डकारनेका शब्द सुनायी दिया। राजाने आँख उठाकर गौके चिल्लानेका कारण जानना चाहा। उन्होंने देखा, एक भयंकर सिंह गौपर झपट रहा है और वह उससे भयभीत होकर चिल्ला रही है। राजाने तुरंत अपना धनुष उठाया और उसपर बाणका संधान करके उसे सिंहपर छोड़ दिया। परन्तु सिंहपर राजाके बाणका कुछ भी असर नहीं हुआ। उन्होंने जितने बाण सिंहपर छोड़े, वे सब-के-सब खाली गये। जब राजाने देखा कि और किसी उपायसे गौकी रक्षा होनी कठिन है, तब वे स्वयं जाकर सिंहके सामने पड़ गये और उससे कहने लगे कि 'तू इस गायको छोड़ दे और इसके बदलेमें मेरे मांससे अपनी भूख शान्त कर ले।' वह सिंह और कोई नहीं था, नन्दिनीकी माया थी। राजाकी परीक्षाके लिये ही उसने यह माया रची थी। राजाके इस अनुपम त्यागको देखकर नन्दिनी प्रसन्न हो गयी। थोड़ी देरके बाद राजाने देखा कि कहीं कुछ नहीं है, अकेली नन्दिनी मौजसे घास चर रही है।

अर्जुनके गोरक्षा-व्रतकी बात भी प्रसिद्ध ही है। देवी द्रौपदीके सम्बन्धमें देवर्षि नारदके उपदेशसे पाण्डवोंमें परस्पर यह तय हो गया था कि द्रौपदी पारी-पारीसे पाँचों भाइयोंके पास रहेंगी और जिस समय वे एक भाईके पास एकान्तमें होंगी उस समय कोई दूसरा भाई यदि उनके कमरेमें चला जायगा तो उसे बारह वर्षतक ब्रह्मचर्यपूर्वक वनमें रहना होगा। एक समयकी बात है, कुछ लुटेरे एक ब्राह्मणकी गौको चुराकर लिये जा रहे थे। ब्राह्मणने आकर अर्जुनके सामने पुकार की। अर्जुनके धनुष-बाण उस समय महाराज युधिष्ठिरके कमरेमें थे, जो उस समय देवी द्रौपदीके साथ एकान्तमें थे। अर्जुन धर्म-संकटमें पड़ गये। यदि वे शस्त्र लेने युधिष्ठिरके कमरेमें जाते हैं तो नियम भङ्ग होता है; जिसके दण्डस्वरूप उन्हें बारह वर्षका वनवास भोगना पड़ता है; और यदि वे अपने धनुष-बाण नहीं लाते तो ब्राह्मणकी गौकी रक्षा नहीं हो सकती। अन्तमें उन्होंने दोनों पक्षोंके बलाबलका विचार करके यही निश्चय किया कि नियम-भङ्गके लिये कठोर-से-कठोर दण्ड भोगकर भी मुझे गौकी रक्षा हर हालतमें करनी चाहिये। यह निश्चय करके वे चुपचाप महाराज युधिष्ठिरके कमरेमें चले गये और अपने धनुष-बाणको ले आये। ब्राह्मणकी गौको डाकुओंके हाथसे छुड़ाकर ब्राह्मणके सुपुर्द कर दिया और फिर सीधे महाराज युधिष्ठिरके पास आकर उनसे नियमभङ्गके दण्डरूपमें बारह वर्षतक वनमें रहनेकी आज्ञा माँगी। आज्ञा ही नहीं माँगी, युधिष्ठिरके समझानेपर भी न रुके और वनवासके लिये चल दिये और इस प्रकार अपने लिये कठोर दण्ड स्वीकार करके भी अपने गोरक्षाव्रतको निबाहा। जिन दिनों हम भारतवासी गौ-माताके लिये इस प्रकार प्राण देने और घोर-से-घोर कष्ट उठानेके लिये तैयार रहते थे, उन्हीं दिनों हम अपनेको सच्चा गोरक्षक कह सकते थे। आजकल तो हमलोग गोरक्षाका खाली दम भरते हैं।

गो-रक्षाके लिये यह आवश्यक है कि हमलोग गौओंके प्रति अपने कर्तव्यको समझें, उनके लिये चारा सुगमतासे मिल सके—इसके लिये अधिक-से-अधिक गोचरभूमि छुड़वानेका प्रयत्न करें, खासकर दूधवाली जवान गौएँ, बच्छी और बैल कसाइयोंके हाथोंमें तथा बूचड़खानोंमें न जाने पावें—इसके लिये प्राण-पणसे चेष्टा करें, गौओंके पालन-पोषण तथा आरामका अधिक-से-अधिक ध्यान रखें, बूढ़ी तथा ठाठ गायोंकी तथा बछड़ोंकी रक्षाका भी समुचित प्रबन्ध करें तथा

गौओंकी नस्ल सुधारनेके लिये अच्छे-अच्छे साँड़ोंकी व्यवस्था करें। इन सब कामोंके लिये पुष्कल द्रव्यके साथ-साथ उत्साह एवं लगनकी आवश्यकता है। धनकी सहायता तो हमारे धनी भाइयोंको विशेषरूपसे करनी चाहिये। वैश्योंके लिये तो गो-रक्षा एक मुख्य व्यवसाय और धर्म माना गया है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।

'खेती, गो-पालन तथा व्यापार—ये वैश्यके स्वाभाविक धर्म हैं। कालके विपर्ययसे खेती और गो-पालन—इन दो कर्मोंको वैश्य-जातिने एक प्रकारसे छोड़ ही रखा है, व्यापार ही उनकी जीविकाका प्रधान साधन रह गया है। धार्मिक दृष्टिसे हमारे वैश्य भाइयोंको चाहिये कि व्यापारकी भाँति वे इन दो व्यवसायोंको भी अपनायें, जिससे इनकी भी उन्नति हो। हमारे नगरोंमें लोगोंको शुद्ध दूध तथा गव्य पदार्थ सुगमतासे मिल सकें, इसके लिये डेरी फार्मोंका बृहद्‌रूपमें आयोजन करें। धार्मिक दृष्टिके साथ-साथ व्यवसायकी दृष्टिसे भी जब हम गो-पालनके कार्यको हाथमें लेंगे, तभी गौओंकी रक्षा और वृद्धि सम्भव है। गोधन तो हमारी प्रधान सम्पत्ति रही है। पूर्वकालमें धनवानोंकी हैसियत गौओंकी संख्यासे ही आँकी जाती थी। जिसके पास जितनी अधिक गौएँ होती थीं, वह उतना ही सम्पन्न माना जाता था। हमारे यहाँ भूमि और गौ—ये दो ही उत्पादनके प्रधान साधन माने गये हैं। भूमि और गौका परस्पर बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध भी है। गौओंका पालन-पोषण बिना भूमिके नहीं हो सकता। गोचर-भूमियोंकी कमी इस समय गो-जातिके ह्रासका एक प्रधान कारण बन रही है। इसी प्रकार गौओंकी सहायताके बिना भूमि उपजाऊ नहीं हो सकती। आधुनिक विज्ञानके युगमें भी गोबरसे बढ़कर और किसी खादका आविष्कार अबतक नहीं हो सका है। भूमिको जोतने तथा बराबर करनेके लिये भी बैल ही अधिक उपयोगमें आते हैं। संस्कृतमें भूमिका एक नाम 'गौ' भी है; क्योंकि पृथ्वी जब-जब अत्याचारोंके भारसे पीड़ित होती है, तब-तब वह गौका रूप धारण कर ब्रह्माजीके सामने अपना दुखड़ा रोती है। इस प्रकार खेती और गो-पालनका परस्पर अविच्छेद्य सम्बन्ध है और एकको दूसरेकी सहायताकी बहुत अधिक आवश्यकता है। वैश्य भाइयोंसे प्रार्थना है कि वे इन दोनों व्यवसायोंको भी अपने हाथमें लेकर इन्हें समुन्नत बनावें।

सारांश यह है कि वर्तमान समय लोक-सेवाके लिये अत्यन्त उपयोगी है। हमारे धनिक-समाजको चाहिये कि इस सुनहरे अवसरसे लाभ उठाकर अपनी सम्पत्तिका सेवाके कार्योंमें अधिक-से-अधिक उपयोग करें। धनकी सार्थकता इसीमें है कि उसका जनता-जनार्दनकी सेवामें उपयोग किया जाय। यह मौका यदि हाथसे चला गया तो फिर सिवा पछतानेके और कुछ भी हाथ नहीं लगेगा। धनके साथ-साथ जीवनका भी कोई भरोसा नहीं है। आज है और कल नहीं। आज यदि हम चल बसे तो फिर यह धन हमारे किस काम आयेगा। इसलिये जीवन रहते इसे सत्कार्योंमें लगा देना चाहिये। कहते हैं—'तुरत दान महापुण्य।' यही बात सभी उत्तम कार्योंके सम्बन्धमें लागू समझनी चाहिये। किसी भी अच्छे कामको कलके लिये नहीं छोड़ना चाहिये, तुरंत कर ही डालना चाहिये। इसीलिये किसी कविने कहा है—

काल करै सो आज कर, आज करै सो अब।
पलमें परलै होयगी, बहुरि करैगो कब॥

हमें कुछ ऐसे धनियोंका पता है, जिन्होंने परोपकारके लिये बड़ी-बड़ी स्कीमें सोच रखी थीं; परन्तु इच्छा रहते भी वे अपनी उन स्कीमोंको पूरा नहीं कर पाये। वे अचानक मृत्युके गालमें चले गये।

मृत्युपर किसीका वश नहीं चलता । वह किसीकी प्रतीक्षा नहीं करती । इसलिये शरीरमें जबतक श्वास है, तभीतक हमें इसका लाभ उठा लेना चाहिये । मरनेके बाद फिर हम कुछ नहीं कर सकेंगे । वर्तमान जीवनमें हम जो कुछ कमा लेंगे, वही आगे हमारे काम आयेगा । यदि जीवनभर हम पाप बटोरनेमें ही लगे रहे एवं न्याय-अन्याय, झूठ-कपट, चोरी और बेईमानीसे अर्थ-संग्रह करनेमें तथा इच्छानुसार भोग भोगनेमें ही हमने अपने कर्तव्यकी इतिश्री कर दी तो हमारा यह मनुष्य-जीवन व्यर्थ ही नहीं जायगा, आगेके लिये हम बहुत बड़े दुःखका सामान तैयार कर जायँगे ।

जो बात व्यक्तिके लिये है, वही समष्टिके लिये भी समझनी चाहिये । आज जगत्‌में चारों ओर जो हाहाकार मचा हुआ है, उसका कारण क्या है ? पाप ही दुःखका मूल है और धर्म सुखकी जड़ है । हम आज दुःखके बाह्य कारणोंका अनुसन्धान करके उन्हींके दूर करनेमें लगे हुए हैं । इसीसे हमारे दुःख कम होनेके बदले बढ़ते ही जा रहे हैं । जबतक व्याधिका निदान ठीक नहीं होगा, तबतक हम चाहे कितना ही उपचार क्यों न करें उसमें हमें सफलता नहीं मिल सकती । व्याधिका नाश करनेके लिये हमें उसके मूलका नाश करना होगा । आज जगत् जिस व्याधिसे ग्रस्त है, उसका मूल पापोंकी वृद्धि है । जबतक पापोंकी बाढ़ नहीं रुकेगी, तबतक हम कदापि व्याधिमुक्त नहीं हो सकते । अतः यदि हम अपनेको तथा संसारको सुखी देखना चाहते हैं तो हमें यथाशक्ति पापोंसे बचकर धर्म-सञ्चय करना चाहिये । तभी हम और हमारे आस-पासके लोग सुखी रह सकेंगे । भगवान् व्यासने डंकेकी चोट कहा है—

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे ।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते ॥

'मैं दोनों भुजाएँ उठा चिल्ला-चिल्लाकर कहता हूँ, पर मेरी बात कोई नहीं सुनता । भाइयो ! धर्मसे ही धन और सुखकी प्राप्ति होती है; फिर क्यों नहीं धर्मका सेवन करते ?' परन्तु हम इन त्रिकालदर्शी महर्षियोंकी हितभरी वाणीको सुनकर भी अनसुनी कर देते हैं । हम चाहते तो हैं सुख, पर चलते हैं दुःखके रास्ते । चाहते हैं दुःखसे छूटना, पर दुःखके हेतु पापको गले लगाये हुए हैं । महर्षि व्यास यही कहते हैं—

पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः ।
न पापफलमिच्छन्ति पापं कुर्वन्ति यत्नतः ॥

यह मनुष्य-देह हमें बड़े पुण्योंसे मिला है । इतना ही नहीं, भारतवर्ष-जैसा देश, हिंदू-धर्म-जैसा धर्म और कलियुग-जैसा युग—हमें प्राप्त हुआ है । महात्माओंने कलियुगको सभी युगोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ बताया है । अन्य युगोंकी अपेक्षा इसमें कल्याण बहुत सुगमतासे हो सकता है । गोसाईं तुलसीदासजीने कहा है—

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास ।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास ॥

ऐसे अपूर्व संयोगको पाकर भी यदि हम सच्चे सुखसे वञ्चित रहे, अनित्य विषय-सुखोंमें ही रमा किये और पाप बटोरनेमें ही यदि हमने अपना अमूल्य जीवन खो दिया तो फिर हमसे बढ़कर मूर्ख और कृतघ्न कौन होगा ? गोस्वामी तुलसीदासजीने ऐसे लोगोंको आत्महत्यारा कहा है, वे कहते हैं—

जो न तरइ भवसागर नर समाज अस पाइ ।
सो कृतनिंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ ॥

सच्चा सुख केवल परमात्मामें है । इसलिये जो सच्चा सुख चाहते हैं, उन्हें अन्य सब ओरसे मुँह मोड़कर एकमात्र परमात्माकी ही शरण लेनी चाहिये—

उन्हींमें मन लगाकर उन्हींकी भक्ति, उन्हींकी सेवा करनी चाहिये । फिर हमारे लिये सर्वत्र कल्याण-ही-कल्याण है । जो लोग परमात्मासे विमुख रहकर विषयोंमें ही मन लगाये रहते हैं, उन अज्ञानी जीवोंके लिये क्या कहा जाय । उनकी दशा तो उस अबोध विधवा बालिकाकी-सी है, जिसे पति-वियोगके दुःखका कुछ भी अनुभव नहीं होता । वह तो सदाकी भाँति खाने-पीने और खेलनेमें मस्त रहती है । उसे पता नहीं रहता कि आगे चलकर उसे जीवनमें कैसे-कैसे कष्टोंका सामना करना पड़ेगा, कैसी-कैसी विपत्तियाँ झेलनी होंगी । उसके माता-पिता, सगे-सम्बन्धी एवं अड़ोसी-पड़ोसी उसकी दशापर तरस खाते हैं, रोते-कलपते हैं और उसके भावी कष्टोंका स्मरण करके विसूरते हैं । परन्तु वह भोली-भोली बालिका उनके इस प्रकार रोने-धोनेका कारण नहीं समझ पाती । इसी प्रकार भगवद्विमुख जीवोंको देखकर संत-महात्मा उनकी दशापर तरस खाते हैं और उन्हें आनेवाली विपत्तिकी सूचना देते हैं; परन्तु फिर भी वे अज्ञानी जीव चेतते नहीं । अपने राग-रंग-भोग-विलासमें ही भूले रहते हैं । हमें चाहिये कि उन महात्मा पुरुषोंकी चेतावनीपर ध्यान देकर समय रहते-रहते चेत जायँ; नहीं तो फिर हमारी वही दशा होगी ।

का बरषा सब कृषी सुखानें । समय चुकें पुनि का पछितानें ॥

* * *

किशनगढ़में सती

किशनगढ़ राज्यमें देवीपुरा नामक एक स्थान है । गत आश्विन शुक्लपक्षमें वहाँ एक राजपूत महिला सती हो गयीं । भारतवर्षकी देवियोंमें आज भी सतीत्वका बल वर्तमान है, बीच-बीचमें इसके विलक्षण प्रमाण मिलते रहते हैं । यह भी उनमेंसे एक है । इस घटनाके सम्बन्धमें बहुत अधिक बातें सुनी जाती हैं, परन्तु भलीभाँति जाँच करनेपर अतिशयोक्तिसे रहित जितनी बातें मिलीं, उतनी ही संक्षेपमें यहाँ लिखी जाती हैं—

देवीपुरामें नारायणसिंह नामक एक राठौड़ राजपूत रहते थे । इनकी पत्नीका नाम हेमकुमारी था और वह प्रसिद्ध चौहान-वंशमें जन्मी हुई थी । किशनगढ़ राज-परिवारके महाराजा सूरतसिंहजीकी बुआकी लड़की थी । नारायणसिंहको बुखार हुआ और वह आगे चलकर न्यूमोनियाके रूपमें परिणत हो गया । इस समय नारायणसिंहकी अवस्था ३० वर्ष और हेमकुमारीकी २४ वर्षकी थी । नारायणसिंहको यह निश्चय हो गया कि इस बीमारीसे मैं बचूँगा नहीं । नारायणसिंहके पिता कुछ कड़े स्वभावके आदमी बतलाये जाते हैं और कहा जाता है कि वे पुत्रवधू हेमकुमारीको अक्सर डाँटा करते थे । नारायणसिंहने मृत्युसे लगभग सात दिन पहले अपनी पत्नी हेमकुमारीसे कहा कि 'देखो, इस बार मैं बच नहीं सकूँगा । मुझे इतना ही दुःख है कि मेरे पीछेसे पिताजीके द्वारा तुम्हें शायद कुछ कष्ट पहुँचेगा ।' इसपर हेमकुमारीने कहा, 'मुझे कष्ट क्यों पहुँचेगा । मैं तो सती होकर आपके साथ चली जाऊँगी ?' नारायणसिंहने पूछा—'क्या तुम यह ठीक कहती हो ?' हेमकुमारी बोली—'ठीक—बिल्कुल ठीक ।' इसपर नारायणसिंहको सन्तोष हो गया । हेमकुमारी प्रसन्नचित्तसे पतिकी सेवामें संलग्न रहने लगी । उसने छः दिन पहलेसे स्वाभाविक खाना-पीना छोड़ दिया । पति जो कुछ दूध-जल वगैरह लेते, वही वह भी लेती । जब नारायणसिंहकी मृत्यु हो गयी, तब हेमकुमारीने अपनी कोठरीमें जाकर विवाहके कपड़े पहने, सिरमें सिन्दूर लगाया और घरवालोंसे सती होनेकी बात कही । ससुरने बहुत समझाया-बुझाया और कहा—'सती होना बहुत कठिन है । जब शरीर जलने लगेगा—कष्ट होगा तब उठकर भागोगी और बदनाम होओगी ।' हेमकुमारीने कहा—'मैं माताजी (श्रीकरणीजी) की सेविका हूँ ।

माताजीने मुझको सत दे दिया है । आपलोग ज़रा भी शङ्का-सन्देह न करें । मैं अवश्य-अवश्य सती होऊँगी ।' हेमकुमारीका ऐसा निश्चय देखकर घरवालोंने कोठरीके किंवाड़ बंद करके बाहर ताला लगा दिया । इधर लाशको ले जानेकी तैयारी होने लगी । हेमकुमारीने किंवाड़ खोलनेके लिये बहुत अनुनय-विनय की, परन्तु किसीने किंवाड़ नहीं खोले । तब (कुछ लोगोंका कहना है कि किंवाड़ अपने-आप खुल गये । परन्तु जाँच करनेपर पता लगा कि) देवीने शाप देनेकी धमकी दी । इसपर उसके देवरने किंवाड़ खोल दिये । उसने गोबर, गोमूत्र और कच्चा दूध लानेको कहा । घरवाले बोले——'इस समय ये चीज़ें कहाँ मिलेंगी ?' हेमकुमारीने बताया, 'अमुक नालीके पास गौ खड़ी है वहाँसे ले आओ ।' लोग गये । सचमुच वहाँ गौ खड़ी थी । अनायास ही वहाँ गोबर, गोमूत्र और कच्चा दूध मिल गया । हज़ारों आदमी एकत्र हो गये । उस समय हेमकुमारीके श्वशुरने अपनी पुत्रवधूसे अपने पिछले बर्तावके लिये क्षमा माँगी । इसपर हेमकुमारीने कहा——'पिताजी ! आपका कोई दोष नहीं है । आप तो निमित्तमात्र थे । मुझे यदि कोई कष्ट हुआ तो वह मेरे ही पूर्वकृत कर्मोंका फल था । आप ज़रा भी विचार न करें । मेरे मनमें कोई भी दुर्भावना नहीं है । भगवान् आपका मङ्गल करें । हाँ, मेरी इतनी प्रार्थना है कि अब जीवनकाल बहुत थोड़ा रह गया है । आप क्रोधादि दोषोंको छोड़कर भगवान्का भजन करें ।'

हेमकुमारीने अपने देवरको भी बहुत-सी उपदेशप्रद बातें कहीं । इसके बाद नारायणसिंहकी रथी उठी । हजारोंकी भीड़ साथ थी । देवी हेमकुमारी नारियल उछालती और 'भज गोविन्दम्, भज गोविन्दम्' की घोषणा करती हुई चली । उस समय उसके चेहरेपर अपूर्व ज्योति छिटक रही थी । साँवला रंग बदलकर सोनेका-सा हो गया था । विशाल आँखोंकी पलकें पड़नी बंद हो गयी थीं । उत्साह, आनन्द और तेज मानो मूर्तिमान् होकर हेमकुमारीके शरीरमें प्रकट हो रहे थे । जनता जय-ध्वनि कर रही थी । रथी श्मशानपर पहुँची । चिता बनायी गयी । सती अपने पतिके मस्तकको गोदमें रखकर चितापर विराजमान हो गयी । कहते हैं कि कुछ देरमें स्वयं ही अग्नि प्रकट हो गयी । पता नहीं, यह कहाँतक सत्य है, परन्तु अग्नि देनेका सबूत कोई नहीं मिला । अग्नि प्रकट होते ही तुरंत भभक उठी । उस समय हेमकुमारीका मुखमण्डल प्रसन्नता और प्रकाशसे पूर्ण हो रहा था । जबतक अग्नि वक्षःस्थलसे ऊपरतक नहीं पहुँच गयी और अग्निकी लपटोंसे मुखमण्डल नहीं ढक गया, तबतक सती बड़ी शान्तिके साथ बात करती रही और भगवान्का नाम लेती रही । यों तो वरदान पानेवालोंकी संख्या बहुत अधिक बतलायी जाती है; परन्तु जाँच करनेपर इतना पता अवश्य लगा कि सतीके वरदानसे तीन अंधोंको आँखें मिल गयीं, एककी कोढ़ मिट गयी और प्रेतबाधा, हिस्टीरिया आदि मानस-रोगोंके तो कई रोगी अच्छे हो गये । विलक्षणता यह थी कि सती अन्ततक अत्यन्त शान्त और हँसमुख रही और उसके वदनके कपड़ोंने ख़ाक हो जानेपर भी उसकी लाजको ढँके रक्खा । एक विलक्षण बात और हुई । एक चितकबरा साँप चिताके पासहीके पेड़पर चढ़कर एक डालीपर चिताकी ओर मुँह करके बैठ गया और बारह दिनतक उसी प्रकार उसी ढंगसे बैठा रहा । बारहवें दिन वह पेड़से उतरकर कहीं चला गया । श्मशानपर मेला लग गया । हज़ारों नर-नारी रोज पहुँचते, नारियल चढ़ाते और सतीकी वन्दना करते । इससे चिताकी आग बहुत दिनोंतक जलती रही । अब भी लोग वहाँ जाते हैं और कहा जाता है कि वहाँ जाकर सतीकी वन्दना करनेवालोंकी मनःकामना पूर्ण होती है ।

बोलो, सतीमाताकी जय ।

मानव

(लेखक—श्रीनारायणजी वियोगी)

“मानव ! क्या देख रहे हो !”

“सुखमय संसार !”

“सुखमय संसार ! भूलते हो, प्राणी ! मायावी जगत्में सुख कहाँ !”

“क्यों नहीं, बाबा ! सुखमय स्वर्गको त्याग कर महालक्ष्मी यहीं तो क्रीडा कर रही है । ऋद्धियाँ-सिद्धियाँ यहीं तो पहरा दे रही हैं । सुन्दर अप्सराएँ यहीं तो नृत्य कर रही हैं । यहाँ—यहाँ सभी तो सुख हैं, बाबा !”

“क्षणिक सुख चञ्चल चपलाकी भाँति मानवको चकाचौंध कर प्रकृतिमें लय हो जाते हैं, युवराज ! लीलाधरका कालचक्र चलता रहता है ।”

“और फिर !”

“फिर विनाश होता है ! प्रलय होता है !! परिवर्तन होता है !!!”

“बाबा ! बाबा !!···” युवराजका स्वप्न-संसार छूट चुका था । भयभीत कुमारने अपने चारों ओर देखा—बाबा नहीं थे । हाँ ! केवल व्योम-पटलसे झाँक-झाँककर तारिकाएँ हँस रही थीं ! संसार सो रहा था ।

... ...

अरुणोदयकी स्वर्ण-मूर्ति माता जाह्नवीकी निर्मल गोदमें खेलने लगी । विहग-वृन्दने मङ्गलाचरण गाना प्रारम्भ कर दिया । कोमल लताएँ परस्पर आलिङ्गन करके नाचने लगीं । वृक्षोंने प्रसन्न होकर तालियाँ बजा दीं । ‘महाराज चन्द्रकेतु आज दक्षिणापथके संग्राममें विजयी हुए’—कहता हुआ पवन शीघ्रतासे आगे बढ़ा । सुसज्जित काञ्चन-नगरीके मनोहर प्रासादोंमें विजय-दुन्दुभियाँ एक साथ बज उठीं । वसुन्धराकी बिखरी छटाको देखकर युवराज चिन्तित हो जाता था, परन्तु कमलिनी हँस देती थी······ ।

“हाँ, जानता हूँ, सखे ! लेकिन···”

“लेकिन तुम—तुम पिताकी विजयपर उदासीन क्यों हो, युवराज !”

“विजय ! असंख्य निर्दोष प्राणियोंके उष्ण शोणितका तिलक,—विजय ! बिलखती हुई सतियोंके लूटे हुए सुहागकी घन-राशि,—विजय !! असहाय-अनाथ-शिशुओंके बहते हुए आँसुओंसे गूँथी हुई माला,—विजय !!! क्या एक विजयी नहीं प्राप्त करता, कुमार !”

“पागल हुए हो, युवराज ! विजयी जीवन कितना सुखमय है ! नर-मेध यज्ञ मानवको वैभव-जगत्का इन्द्र बना देता है, और फिर······”

“फिर, विनाश होता है ! प्रलय होता है !! परिवर्तन होता है !!!”—कहकर युवराजने दीर्घ साँस ली । “महाराज चन्द्रकेतुकी जै···” जन-समुदायके मुखसे एक साथ निस्सरित शब्द-ध्वनि काञ्चन-नगरीके जगमगाते भवनोंमें गूँजकर अनन्तमें लीन हो गयी । दिगन्त चौंक पड़ा ।

... ...

मानव-जीवन एक विषम पहेली है । कहीं चन्द्र-ज्योत्स्नासे जगमगाती हुई प्रकृतिमें विलासी मानव रास-लीला खेल रहा है तो कहीं प्रगाढ़ अन्धकारसे पूर्ण रजनीमें भटकता हुआ दुखी मानव दाने-दानेके लिये अंधेकी भाँति ठोकरें खा रहा है । सुख और दुःख—नटवरके दो खिलौने हैं, जो कर्म-बन्धनमें बँधे हुए मानव-जीवनके साथ खेलते रहते हैं । होनी नैतिक क्रमसे ताल मिलाती है और तब मानव-सृष्टि उसीके अनुसार नाचने लगती है । यही महाप्रभुकी भुलावनी माया है !

... ...

“नहीं शशि ! यों ही···”

“स्वभाव-परिवर्तन अपना महत्त्व रखता है; मैं न मानूँगी, युवराज ! भावी महाराज कर्त्तव्य-पथसे विचलित क्यों ? नाथ ! आज तुम्हें क्या हो गया है !”

“कुछ नहीं, शशि ! जीवन-पथपर चलनेवाले पथिकको दो मार्ग मिलते हैं । कौन गन्तव्य है—पथिक यही विचार करता है ।”

“निष्कण्टक सुखमय शान्त सरल मार्ग उपयोगी पथ होगा, युवराज ! इसमें चिन्ता कैसी !”

“नश्वर जगत्की लिप्सा चिन्ताका ही प्रतिबिम्ब है,

शशि ! त्याग शान्ति-प्राप्तिका प्रथम सोपान है । अन्तस्तलकी दो विकृत कल्पनाएँ—त्याग और लिप्सा—मानवको उन्मत्त कर देती हैं । मानव-जीवनकी वास्तविक विजय और पराजय इन्हींके साथ हैं ।”

“नहीं समझी, प्रिय !”

“मैं भी तो नहीं समझता हूँ, शशि ! जगन्नियन्ताकी कुछ ऐसी ही माया है । अब विश्राम करो न, शशि !”—सुगन्धित वायुका एक झोंका आया । देखते-ही-देखते चेतन संसार जडवत् हो गया । सुन्दरी निशा अब भी जग रही थी ।

... ...

दयानिधे ! जिसपर आपकी असीम कृपा होती है, उसे दुःखका अमोघ दान देते हो । संसृतिकी यही गूढ़ता है । कौन जानता है कि रजःकणोंसे निर्मित सृष्टि एक दिन फिर रजःकण होकर ही रहेगी । कौन जानता है कि महाप्रलयका भीषण झंझावात रँगीले ब्रह्माण्डको चूर-चूर कर डालेगा । कौन जानता है कि कब, कहाँ और कैसे, क्या होगा । प्रकृति तो खेलवाड़ करती है, पर मानव रो देता है । कौन जाने—क्यों ?

... ...

“राम-नाम सत्य है, सत्यसे ही मुक्ति है···”—कहता हुआ जन-समुदाय आगे बढ़ा । निस्तब्ध प्रकृतिने करवट बदली । विजयी शरीर, जिसने अभी-अभी नर-संहार कर सबको बंदी बनाया था, आज स्वयं जा रहा है—पराजित बंदी होकर । मानव-शरीर, जिसने अपने यौवन-कालमें प्रजाको अपनी क्रोधाग्निमें भस्म कर डाला था, आज स्वयं जा रहा है—चितामें भस्म होनेके लिये । नर-पुंगव शरीर, जो राजसिंहासनपर आरूढ़ होकर सबका न्याय किया करता था, आज स्वयं जा रहा है—अपना न्याय कराने । बिलखती हुई सन्ध्या शवके पीछे-पीछे आ रही थी ।

व्यथित रजनी चुपचाप वहाँ खड़ी-खड़ी कुछ विचार कर रही थी । पागल पयोद बड़बड़ाता हुआ इधर-उधर टहल रहा था । विक्षुब्ध विद्युत् रह-रहकर सृष्टिकी क्षण-भङ्गुरताका अनुपम दृश्य दिखला रही थी । परन्तु वहाँ—वहाँ मिथ्यावादी संसारकी सारी चिन्ताको यहीं छोड़कर एक चिता जल रही थी । प्रज्वलित अग्नि-शिखाएँ लपक-लपककर मृतकके यश-अपयशकी व्याख्या करती हुई एकके-बाद-एक अन्तरिक्षमें क्षीण हो रही थीं । प्रचण्ड उष्णतासे तिलमिलाता हुआ उनका प्रतिबिम्ब प्रवाहित सरिता-माताकी शान्तिदायिनी शीतल गोदमें छिपनेके लिये छटपटा रहा था । करुणा और बीभत्सताका परस्पर मिलाप हो रहा था । परन्तु वहाँ—वहाँ एक चिता जल रही थी ।

... ...

“प्रिय !”

“प्रिय न कहो, शशि ! यहाँकी प्रियता तो क्षणिक है न ।”

“क्षण-क्षणके मिलनेपर ही तो मानव-जीवन एक परिमित सूत्र बनता है, नाथ !—जो भाग्य और कर्मको दृढ़तासे कसकर जगत्-पिताकी रचनामें घुमाया करता है । प्रकृति सहकारिणी बनकर रक्षा करती है; तभी मानव विजयी अथवा पराजित होता है, युवराज !”

“कर्म-बन्धन ही घोर नरक है, शशि ! और इससे छुटकारा पाना मुक्ति है, सुख है, शान्ति है ।”

“स्वर्ग और नरक विरागियोंकी विचार-धाराकी क्षणिक लहरें हैं, युवराज !—जो अन्तस्तलके अगाध-सागरमें क्रमशः उठ-उठकर विस्तृत अन्तरिक्षमें विलीन हो जाती हैं । संसार सुख और सुन्दरताका एक मनोहर पुञ्ज है, जहाँ यौवन-कालीन विकसित रंग-बिरंगी पुष्प-कलियाँ उन्मादी मानव-भ्रमरको अपनी ओर आकर्षित करती हैं और···”

“और क्षणिक सुख प्राप्त कर यही मतवाली कुसुम-कलिकाएँ सूखकर मिट्टीमें मिल जाती हैं, शशि !”

“परन्तु यौवन-कालमें झूमती हुई कुसुम-कलीका फिर···”

“हाँ ! हाँ !! फिर—विनाश होता है ! प्रलय होता है !! परिवर्तन होता है !!!—”मयङ्ककी झिलमिल आभामें शशिके कोमल कपोलोंपर अश्रु-बिन्दु चमक उठे । परिश्रान्त अनिल भी सिसकियाँ भरने लगा । चिन्तित युवराज शान्त था ।

× × ×

आकाश-मण्डलमें भटकता हुआ दुःखित श्यामघन कभी-कभी दो आँसू डाल देता था । वृद्धा वसुमती-माता उन्हें तुरंत पोंछ देती थी । प्रौढ़ा रात्रि-योगिनी ससैन्य तमोमय साम्राज्यकी रक्षा कर रही थी । संतरी हिंसक-पशु बीच-बीचमें चिल्ला उठते थे—‘सावधान !···’ वेगवती सरिता सस्वर

संगीत गा रही थी । क्षणिक प्रकाश करनेवाले खद्योत कुछ कहकर प्रगाढ़ अन्धकारके अनन्त अङ्कमें छिप जाते थे, मानो वे नैसर्गिक आवागमनका नाटक खेल रहे हों । चिन्तित युवराज ध्यानसे देख रहा था ।

दीपकके उज्ज्वल प्रकाशमें युवराजने देखा—महाप्रभुकी सम्पूर्ण सुन्दरता सब ओरसे सिमटकर वसुन्धराकी शशिके रूपमें शय्यापर अचेतन पड़ी हुई थी, जिसका प्रतिविम्ब नीलाम्बरमें स्वर्गका शशि बनकर हँस रहा था । प्रकृति कामान्ध होकर झूम रही थी । लिप्साने अपनी ओर घसीटते हुए पूछा—‘कौन ?’ मानवी अमर ज्ञानने तुरंत उत्तर दिया—‘मिट्टीका पुतला !’ मदान्ध अपनेपनने पूछा—‘तो फिर ?’ त्यागकी सद्भावनाने मुसकराकर कहा—‘फिर, विनाश होता है ! प्रलय होता है !! परिवर्तन होता है !!!’ अस्थिर युवराज घबराकर दौड़ा, परन्तु अज्ञानकी ठोकर खाकर वहीं गिर पड़ा । मायाने पर्दा डाल दिया ।

मानव-मस्तिष्कमें एक तूफ़ान आया । अन्तस्तलकी दो विकृत कल्पनाएँ—त्याग और लिप्सा एक साथ उदित हुईं । एक भगवत्‌की विभिन्न विभूतियोंसे विरक्त कर भव-सागरसे पार उतारती है तो दूसरी काम, क्रोध, मद, लोभकी भ्रान्तिमयी भँवरमें डालकर सदैव नाच नचाया करती है । ‘किसमें सुख है ? किसमें दुःख है ?’—अन्तरात्मामें विचारोंका द्वन्द्व-युद्ध होने लगा । मूर्च्छित युवराजने धीरे-धीरे आँखें खोलीं । विरागी भावनाकी विजय हुई । युवराजने एक बार फिर देखा—उसका जीवनसुख बिखरी हुई मणियोंकी भाँति प्रियतमा शशिके रूपमें सम्पूर्ण सुन्दरताके साथ अब भी पड़ा हुआ था । युवराजने अपनी ओर देखकर एक बार फिर देखा—फिर देखा—फिर देखा—और चल पड़ा—अनन्तकी खोजमें ।

× × ×

‘‘कल्याण हो, युवराज !’’

‘‘युवराज न कहो, बाबा ! यह एक काँटोंका मुकुट है, जिसे पहनकर मानव जगदाधारकी वास्तविकताको भूल जाता है ।’’

‘‘तब तुम कौन हो ?’’

‘‘जगत्-पिताकी महान् सृष्टिका एक तुच्छ जीव—मानव’’

‘‘पागल ! मानव रचनाका सर्वोत्तम प्राणी है, युवराज ! शुद्ध आत्माकी पवित्र उपकारी भावनाओंके द्वारा वह ब्रह्माण्डका भी प्रभु बन जाता है ।’’

‘‘मानता हूँ, स्वामी ! आज्ञा दीजिये ।’’

‘‘परोपकारकी सद्भावनासे शुभ-कृत्य करते हुए मानव-जातिमें धर्मका प्रचार करो । महाशक्ति तुम्हारी सहायता करेगी ।’’—कहकर बाबा अन्तर्धान हो गये । प्राचीन मठसे निकलकर ऊषाने देखा—वैरागी मानव उसी ओर चला जा रहा था ।

बाजीगरका अनोखा जादू चराचरपर कैसा प्रभाव डालता है, कौन जाने । विलासी मानव, जो कोमल पुष्पासनसे कभी पृथ्वीपर न उतरा था, आज कण्टकाकीर्ण-बीहड़ वनमें नंगे पैरों जा रहा है । युवा मानव, जो स्वर्गमयी काञ्चन-नगरीके वैभवका कुबेर बननेवाला था, आज एक भिखमंगे विरागीके वेषमें जा रहा है । मतवाला मानव, जो दूसरोंके दुःखपर व्यङ्ग्यपूर्ण हँसी हँस दिया करता था, आज स्वयं विडम्बनाओंसे दुखी होकर जा रहा है—अनन्त सुखकी खोजमें । फिर भी प्रचण्ड मार्तण्ड क्रोधित होकर अग्नि बरसा रहा था ।

× × ×

‘‘माता, भिक्षा दो ।’’

‘‘बाबा ! कठिन तपकी कण्टकित डालपर यौवनकालीन विकसित कोमल कुसुम कैसा ?’’

‘‘भाग्य-विधाताकी यही विभूति है, माता !’’

‘‘कौन ? युवराज !’’

‘‘हाँ, माता !’’—महात्मा युवराजने मातृ-ऋणसे उऋण होनेके लिये नेत्र-कोषकी सञ्चित मणियाँ निकालकर माताके श्रीचरणोंपर समर्पित कर दीं । माताने भी भिखारी पुत्रको अश्रु-विन्दुओंसे अञ्जलि भरकर वात्सल्य-प्रेमकी अपूर्व भिक्षा दी । इधर राजमाता तपस्वी-युवराजके मस्तकपर शुभ-कामनाकी रोली लगाकर उसे सदैवके लिये विदा कर रही थी, उधर प्रकृति माता, संन्यासी दिनेशके उत्तुङ्ग ललाटपर लाल टीका लगाकर एक परिमित कालके लिये अस्ताचलकी ओर भेज रही थी । प्रकृति-पुरुषका कैसा सम्मिश्रण था ! पक्षी एक साथ गा उठे—

चुन-चुन कञ्चन-महल बनाया,
　　लोग कहैं घर मेरा रे ।
ना घर तेरा ना घर मेरा,
　　चिड़िया रैन-बसेरा रे ॥

× × ×

आध्यात्मिक उन्नतिका आधार

(लेखक—पं० श्रीरामजी उपाध्याय, एम्० ए०, साहित्यरत्न)

संसारमें कदाचित् ही कोई पुरुष होगा जो सुख न चाहता हो। ऐसा होनेपर भी हममेंसे इने-गिने ही व्यक्ति ऐसे मिलेंगे, जिनको वास्तवमें सुखी कहा जा सके। सभी लोग अधिक-से-अधिक परिश्रम करते हैं, किन्तु प्रायः पचास प्रतिशत जनसंख्याके सम्मुख प्रातः और सायङ्कालके भोजनकी समस्या गम्भीररूपसे खड़ी रहती है, पारस्परिक वैर-विरोधका तो कुछ पूछना ही नहीं। कोई किसीका विश्वास नहीं करता। पुत्रका माता-पिताके प्रति, भृत्यका स्वामीके प्रति, स्त्रीका पुरुषके प्रति उपेक्षाका भाव है। मानव-समाज घृणाके रोगसे बुरी तरह पीड़ित है। सर्वत्र दुःखका ही प्रसार है। कहीं शान्ति देखनेको नहीं मिलती। सौजन्य, सहानुभूति, त्याग और सत्यका दर्शन भी दुर्लभ है। मानव-मस्तिष्ककी जितनी भी बुराइयाँ कोई देखना चाहे, अपनेमें ही देख ले; अथवा घरसे बाहर निकलकर भी सर्वत्र देख सकेगा।

अब प्रश्न यह उठता है कि हमारी ऐसी दुर्दशा क्यों है? क्या हम इन बुराइयोंके प्रेमी हैं? क्या हम जानते नहीं कि इस भयंकर परिस्थितिसे संसारको किस प्रकार मुक्त किया जा सकता है? इसमें कोई सन्देह नहीं कि हम अपनी दुर्दशासे पूर्णतया परिचित हैं और उससे मुक्त होना चाहते हैं। इससे मुक्त होनेके उपायोंसे भी हम अनभिज्ञ नहीं हैं। दर्शन और उपनिषद्-ग्रन्थोंमें सर्वत्र इसके उपायोंका ही उल्लेख मिलता है; किन्तु ऐसा होनेपर भी हम उस कूएँके मेढककी तरह आचरण करते हैं, जो कभी किसीके पात्रमें पड़कर बाहर तो चला आता है किन्तु बाहरके प्रकाशको मूर्खतावश दुःखमय जानकर पुनः उसी कूएँमें कूद जाता है। हमें सभी अच्छे साधन ज्ञात हैं; किन्तु उनका उपयोग हम इसलिये नहीं करते कि हमें विश्वास नहीं है कि ये साधन वास्तवमें हमारे परम कल्याणके लिये हैं।

हममेंसे कुछ लोग दर्शन-शास्त्रके प्रकाण्ड पण्डित हैं, किन्तु उनका भी आचरण साधारण मनुष्योंकी तरह ही है। वे धन और विषय-वासनाओंमें लिप्त हैं। यदि कोई उनसे बातचीत करे तो वे गीता, उपनिषद् और पुराणोंके श्लोक धड़ाधड़ कहते जायँगे। उनका ज्ञान यदि उनके आचरणपर तनिक भी प्रभाव डालता तो वे महापुरुष हो जाते; किन्तु लज्जाकी बात तो यही है कि सन्मार्ग जानते हुए भी उसपर आजकलके वाचनिक ज्ञानी चलते नहीं। यही दशा साधारण जनोंकी भी है। हम अपने सद्ज्ञानके आधारपर आचरण करनेसे डरते हैं। परिणाम यह होता है कि ऊँचे उठनेके बदले हम प्रतिदिन गिरते जा रहे हैं। हमें विश्वास नहीं होता कि हमारे सद्ग्रन्थोंमें जिन मार्गोंका आदेश किया गया है, वे वास्तवमें हमें सुख दे सकते हैं। संसारके महापुरुषोंमें भी हमारा वैसा ही अविश्वास है। कृष्ण और रामकी शिक्षाओं और आदर्शोंपर चलनेवाला हममेंसे कदाचित् ही कोई हो। आज भी हम राम और कृष्णकी पूजा करते हैं, किसी महान् संन्यासीके सामने नतमस्तक हो जाते हैं और उसका आदर करते हैं। किन्तु उसका आदर हम तभीतक करते हैं जबतक उसके सामने रहते हैं; उसकी नजरसे हटते ही फिर पहलेकी ही भाँति गिर जाते हैं। ऐसी दशामें मनुष्यको क्षणिक श्रद्धा न करके शाश्वत श्रद्धा करते हुए अपना जीवन महापुरुषोंके जीवनके समान ही बनानेकी चेष्टा करनी चाहिये, यही मनुष्यत्वका प्रथम लक्षण है। ऊँचा उठनेके लिये महापुरुषोंमें शाश्वत श्रद्धा रखना पहली सीढ़ीपर चढ़ जाना है; इसके पश्चात् तो इस मार्गसे पीछे हटनेको जी ही न चाहेगा।

हम सभी लोग कहते हैं कि हम मनुष्य हैं, हिंदू

हैं, ब्राह्मण या क्षत्रिय आदि हैं; किन्तु वास्तवमें हममें कोई गुण नहीं, जिसके आधारपर हम अपनेको मनुष्य भी कह सकें। व्यर्थके लिये ही हम अपनेको हिंदू और ब्राह्मण आदि नामोंसे पुकारते हैं। किसी भी धर्मका अनुयायी होनेके पहले अपनेको मनुष्य बना लेना आवश्यक है। मनुष्यताके आधार सत्य और सहानुभूति हैं। यदि किसीमें सत्य और सहानुभूति हो तो वह अवश्य ही मनुष्य कहलाने योग्य है। यदि उसमें ये दो रत्न नहीं चमकते तो वह मनुष्य नहीं है।

सत्यके अभावमें ही मानव-समाजका यह विकृत स्वरूप हो गया है। जितने लड़ाई-झगड़े, कलह और वैमनस्य मनुष्य-समाजमें हैं, उनकी जड़ असत्य ही है। हम यहाँ सत्यका व्यापक रूप नहीं लेते; क्योंकि सत्यके व्यापक रूपमें तो मानवीय उन्नतिका निःशेष तत्त्व ही निहित है। मेरा तात्पर्य सत्यसे पारस्परिक व्यवहारके सत्यसे है। हम जो हैं, वही अपनेको बाहरसे भी दिखलानेकी चेष्टा करें। बाह्याडम्बरसे हम दूसरोंको धोखा देते हुए अपनी आत्माको भी कलुषित करते हैं। जो बात हृदयमें हो, वही मुखसे भी निकलनी चाहिये। इस प्रकार सत्यका आचरण करते हुए मनुष्य अपने उत्साहको बढ़ाता है और अपने सहवासियोंका भी परम उपकार करता है। हमें परमात्मासे प्रतिदिन विनय करनी चाहिये कि हमें नित्य-प्रति सत्यका ही दर्शन हो।

सहानुभूतिका सिद्धान्त सत्यकी ही भाँति मनुष्यताका परिचायक है। जिस पुरुषमें सहानुभूति होगी, उसके व्यवहारमें घृणा और क्रोधको स्थान नहीं मिलेगा। आधुनिक युगमें मनुष्य अपनेको दूसरोंसे अलग समझने लगा है। उसके मनमें स्वार्थकी भावना ही प्रधान रूपसे कार्यशील है। परिणाम यह होता है कि वह दूसरोंके सुख-दुःखका विचार न करके अपना स्वार्थ साधनेकी चेष्टा करता है। इस स्वार्थ-साधनके लिये उसे दूसरोंकी हानि करनी पड़ती है—दूसरोंको वह अपना शत्रु मान लेता है; किन्तु वह गलत मार्गपर है। मनुष्यको अपनेको दूसरेसे भिन्न व्यक्ति न समझना चाहिये। जिसका स्वार्थ भी परार्थ ही हो, वही पुरुष वास्तवमें 'पुरुष' नामको सार्थक करता है। हम सभी लोग एक परमात्माके ही अंश हैं—यही भावना हमको सदैव अपने मनमें रखनी चाहिये। यह भावना प्रत्येक मनुष्यको इस योग्य बना देगी कि वह दूसरोंको सुख दे सके। जैसे कोई फूल किसीसे कुछ नहीं लेता किन्तु सबको समानरूपसे आनन्द देता है, उसी प्रकार सज्जन अपने सदाचारसे सबको प्रसन्न करता है। यदि किसी मनुष्यको रोटी न मिलती हो तो इस बातको यह समझकर नहीं टाल देना चाहिये कि इससे मेरा क्या सरोकार है। दूसरोंकी कठिनाइयोंको अपनी ही कठिनाई समझनी चाहिये। दूसरोंके दुःखको अपना ही दुःख समझकर उसे दूर करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। यह दया केवल मनुष्योंके ही प्रति नहीं, किन्तु पशु-पक्षियोंके प्रति भी होनी चाहिये। जो ईश्वर हमारा पिता है, वही उनका भी पिता है।

आध्यात्मिक उन्नतिके लिये हमें श्रद्धापूर्वक ईश्वरसे प्रार्थना करनी चाहिये कि वह हमें सन्मार्गपर प्रवृत्त करे। अपनी सारी शक्तियोंको परमात्माके ही अर्पण कर देना सबसे बड़ी बात है। वही जो कुछ चाहे, हमसे कराये। हम जो कुछ करें, उसे ईश्वरका कार्य समझकर करें। ऐसी दशामें हम कोई भी बुरा काम कर ही नहीं सकते। ईश्वर सदैव हमारे पास है। वह हमारे कार्योंकी परीक्षा करता है। हमारा सहायक है। वह सबसे अधिक सहायता तभी कर सकता है, जब हम सतत उसको अपने पास समझें। यदि ऐसा हमने समझ लिया तो हमारी आध्यात्मिक उन्नति होकर रहेगी और हम संसारके सुख और शान्तिका कारण बन सकेंगे।

कामके पत्र

(१)

भगवद्दर्शनसम्बन्धी विचार

सादर हरिस्मरण । आपका ६ अगस्तका कृपा-पत्र यथासमय मिल गया था, कार्यकी अधिकताके कारण उत्तरमें विलम्ब हुआ, कृपया क्षमा कीजियेगा । अपने पत्रमें आपने मुझे 'गुरुवर' कहकर सम्बोधन किया है और मुझे किसी 'प्रवृत्तिप्रधान महर्षिका अवतार माना है; सो मैं न तो गुरुपदके योग्य हूँ और न किसी महर्षिका अवतार ही हूँ । यदि आपकी ऐसी मान्यता है तो मेरी अल्प बुद्धिमें उसमें श्रद्धाकी अपेक्षा भ्रमकी ही प्रधानता है, क्योंकि वास्तवमें इससे मेरा गौरव तो नहीं बढ़ता, उल्टा गुरुपद और महर्षियोंकी ही योग्यता हल्की पड़ जाती है, यदि मेरे-जैसे अल्पज्ञ जीव ही गुरु या महर्षि माने जा सकते हैं तो पता नहीं शिष्य और साधकोंमें भी साधारण संसारी पुरुषोंकी अपेक्षा कोई विशेषता होगी या नहीं ।

आपने अपनी अबतककी साधना और अनुभवोंका उल्लेख करते हुए अपना यह मत प्रकट किया है कि 'आपको जो दर्शन हुए हैं वे दूसरे प्रकारके अर्थात् भावनाजन्य नहीं थे, बल्कि स्वयं श्रीहरिने ही आपके भक्तिभावको बढ़ानेके लिये कृपालु होकर दर्शन दिये हैं । ऐसा हो तो बड़ी प्रसन्नताकी बात है । फिर तो आपमें स्वभावतः ही दैवी सम्पत्ति आ जानी चाहिये थी। भला, भगवान् स्वयं जीवका उद्धार करना चाहें और उसमें विलम्ब हो—यह कैसे सम्भव है ? अबोध बालक ध्रुवको जब प्रभुने दर्शन दिये तो इच्छा होनेपर भी अपनी अल्पज्ञताके कारण वे उनकी स्तुति न कर सके। प्रभु उनका भाव समझ गये । उन्होंने ध्रुवके कपोलसे अपने वेदमय शङ्खका स्पर्श कराया और तत्काल ही ध्रुव पूर्ण बोधवान् होकर भगवान्की स्तुति करने लगे । अतः यदि भगवान् आपको अपनी दिव्य भक्ति देना चाहते तो फिर उसमें देरी होनेका कोई कारण नहीं था।

तो फिर क्या माना जाय ? आपकी कोई भावना तो थी नहीं, इसलिये ध्यानजनित दर्शन तो ये हो नहीं सकते । मेरी समझमें ये साक्षात् दर्शन भी नहीं थे, क्योंकि साक्षात् दर्शन होनेपर आपको किसी प्रकारके ऐसे अभावका अनुभव नहीं होना चाहिये था, आपको पूर्ण कृतकृत्यता हो जानी चाहिये थी । बात यह है कि भगवान्को साकाररूपसे भजा जाय अथवा निराकार-रूपसे—इसमें कोई खास अन्तर नहीं है, क्योंकि दोनों ही एक ही भगवान्के स्वरूप हैं और दोनोंहीका समान महत्त्व है । जो लोग एक रूपसे उनका भजन आरम्भ करके फिर किसीके कहने-सुननेसे उसे छोड़कर दूसरे रूपसे उनका भजन करने लगते हैं उनके विषयमें यह मानना अयुक्त न होगा कि उनकी भगवन्निष्ठा दृढ़ नहीं है और वे विशुद्धरूपसे केवल भगवान्को ही नहीं, बल्कि भगवान्से किसी दूसरी वस्तुको चाहते हैं । आप पहले भगवान्का साकाररूपसे भजन करते थे फिर एक महात्माके कहनेसे निराकाररूपसे करने लगे; भला, इसमें किसी भगवद्भिन्न वासनाके सिवा और क्या कारण कहा जा सकता है ? (फिर चाहे वह वासना मुक्ति, आत्मकल्याण या ब्रह्मानन्दकी ही क्यों न हो ।) जब इस प्रकार आपकी सगुण निष्ठा शिथिल सिद्ध हो जाती है तो इसमें भी कोई कारण नहीं है कि उसके बाद आपकी जो निर्गुण निष्ठा हुई वह पुष्ट ही थी । वह पुष्ट नहीं थी, इसीसे एक रूपको देखकर बदल गयी । अवश्य ही भगवान्का दिव्य साकार रूप अमलात्मा परमहंस मुनियोंके चित्तको भी आकर्षण कर लेता है । पर वह तो बात ही दूसरी है ।

अतः मेरे विचारसे तो सम्भवतः यह उपदेवताओं-

का विघ्न ही था। भगवत्कृपाके आश्रयसे युक्त विशेष साधना और चित्तशुद्धिके बिना भगवान्‌का दर्शन होना बहुत ही कठिन है। भगवद्दर्शन तो साधन-सोपानकी सीमा है। यह कैसे हो सकता है कि हम सीढ़ियोंपर पैर भी न रक्खें और ऊपर चढ़ जायँ। इसलिये जबतक काम-क्रोधादि विकार बने हुए हैं—जबतक भगवत्कृपाका पूर्णाश्रय नहीं है, तबतक यह नहीं मानना चाहिये कि हमें यथार्थ भगवद्दर्शन हो गया। यह दूसरी बात है कि किसी पुरुषके जन्मान्तरके कोई ऐसे भी पुण्य-संस्कार हों कि उसे साधनकी शैशवावस्थाहीमें कुछ दिव्य अनुभव और चमत्कार दिखायी देने लगें, परन्तु साधकके लिये तो वे सफलताकी अपेक्षा बाधक ही अधिक होते हैं, क्योंकि वह उतनेसे ही अपनेको कृतकृत्य मान बैठता है।

अब संक्षेपमें आपके दूसरे प्रश्नोंके उत्तरमें भी कुछ लिखनेका प्रयत्न करता हूँ—

गीतासम्बन्धी विचार

१—यहाँ 'जानने' का अर्थ अपरोक्षरूपसे जानना अथवा अनुभव है। केवल 'शब्दज्ञान' का नाम 'ज्ञान' नहीं है। लंदन, पैरिस और बर्लिन आदि शहरोंको नक्शेमें देख लेनेसे उनकी स्थितिका ज्ञान तो हो जाता है, भूगोलमें पढ़नेसे उनकी जनसंख्या आदि समझ लेते हैं, तो क्या इसीसे कोई कह सकता है कि मुझे उन नगरोंका ठीक-ठीक ज्ञान हो गया। उनका ठीक ज्ञान तो वहाँ रहनेवालोंको ही होता है। इसी प्रकार जिनकी बुद्धिकी वृत्ति प्रकृतिके तीनों गुणोंसे ऊपर उठ गयी है, उन्हींको पुरुषका वास्तव ज्ञान हो सकता है और वही ठीक-ठीक प्रकृतिके त्रिगुणमय रूपको समझ सकता है। जो स्वयं तीनों गुणोंसे बँधा हुआ है वह त्रिगुणातीत पुरुषको तो क्या, गुणोंके रूपको भी ठीक नहीं जान सकता। इसलिये शब्दोंको नहीं, शब्द जिनका प्रतिपादन करते हैं उन पुरुष और प्रकृतरूप अर्थोंको जाननेसे ही पुरुष ज्ञानी कहा जा सकता है।

२—आपने भगवद्गीता अध्याय ६ के श्लोक ५ और ६ के अर्थको उद्धृत करके पूछा है कि प्रकृति तो जड है, अतः वह तो किसीके अनुकूल या प्रतिकूल क्या होगी। इसलिये यहाँ प्रकृतिका भावार्थ 'भगवदिच्छा' या 'प्रारब्ध' समझना चाहिये तो प्रारब्ध या भगवदिच्छा बलवान् है या आत्मस्वतन्त्रता?

आपने जडमें अनुकूलता-प्रतिकूलताकी अयोग्यता बतलायी, परन्तु मेरे विचारसे तो अनुकूलता-प्रतिकूलता जडके सङ्गसे ही रहती है, चेतन तो असङ्ग और साक्षीमात्र होता है। परन्तु इस विवेचनको अभी छोड़ता हूँ, क्योंकि यह विषय बहुत गम्भीर और विवेकसाध्य है। आपने जो पूछा है कि प्रारब्ध या भगवदिच्छा बलवान् है या आत्मस्वतन्त्रता, सो कर्ममीमांसाके अनुसार प्रारब्ध तो क्रियमाणका ही परिणाम है। हम जो कर्म करते हैं उसीका प्रारब्ध बनता है; इस समय जो प्रारब्ध बना हुआ है वह भी पहले किसी किये हुए विकर्मका ही परिणाम है। यदि पुरुषको सर्वथा प्रारब्धके ही पंजेमें मान लिया जाय तो भजन-साधनका कोई मूल्य ही नहीं रहता। वास्तवमें मानव-जीवन विभिन्न कर्मोंके संघर्षका स्थान है। यदि हमारा वर्तमान पुरुषार्थ प्रबल होता है तो वह फलदानोन्मुख प्रारब्धको दबा देता है और यदि पुरुषार्थ शिथिल होता है तो प्रारब्ध उसे दबा देता है। अतः सिद्धान्ततः प्रारब्ध और पुरुषार्थमेंसे किसी एकको ही प्रबल नहीं कह सकते, इनकी सबलता-निर्बलता तो प्रयत्नके अनुसार समय-समयपर बदलती रहती है। रही परमस्वतन्त्र भगवदिच्छा—सो उसकी तो बात दूसरी है। असलमें तो भगवान्‌की इच्छाका स्वरूप भगवान् ही बता सकते हैं। हम तो यह भी ठीक नहीं बता सकते कि भगवान्‌में इच्छा है भी या नहीं—परन्तु यदि इच्छा है तो यह कहनेमें संकोच नहीं करना चाहिये कि वह भी भक्तिके परतन्त्र है। इसके सिवा अन्य पुरुषोंके प्रति भी

भगवान्‌की इच्छा उनके कर्मोंके अनुरूप ही होती है। नहीं तो, उसमें विषमता होनेका कोई और कारण नहीं बताया जा सकता। अतः यही मानना उचित है कि अपना प्रबल प्रयत्न हो तो अवश्य भगवदिच्छामें भी परिवर्तन हो सकता है, किन्तु वह प्रयत्न सर्वथा प्रेम और सत्यसे अनुप्राणित होकर इतना प्रबल होना चाहिये कि उससे भगवान्‌का भी आसन हिल जाय।

आध्यात्मिक विचार

१—मुक्त होनेपर जीव परमात्मामें इस प्रकार लीन नहीं होता, जैसे घड़ेका पानी समुद्रके जलमें; क्योंकि जलकी तरह जीव और परमात्मा सावयव पदार्थ नहीं हैं। वे तो वास्तवमें एक ही हैं। जैसे एक ही महाकाश घटसे सीमित होनेपर घटाकाश कहा जाता है और स्वयं व्यापक है। उसी प्रकार लिङ्गदेहरूप उपाधिके कारण परमात्मा ही जीवात्मा कहा जाता है। ज्ञानसे लिङ्गदेहके कारण अज्ञानका नाश हो जाता है; अतः जैसे घटके नाशसे घटाकाश महाकाशरूप ही रह जाता है, महाकाशमें लीन नहीं होता, उसी प्रकार अज्ञानके नाशसे लिङ्गदेहका बाध हो जानेसे जीवात्मा परमात्मा ही रह जाता है, वह उसमें लीन नहीं होता।

अब विचार यह है कि 'परमात्माके अवतार लेनेपर परमात्मामें लीन हुए मुक्त जीवको भी संसार-बन्धन होता है या नहीं?' ऐसी स्थितिमें यदि अवतार लेनेपर परमात्माको संसार-बन्धन माना जाय तब तो किसी प्रकार ऐसी शङ्का हो भी सकती है—वह भी इस प्रकार नहीं होगी जैसी आपने की है, क्योंकि ऊपर यह बताया जा चुका है कि जीवात्मा परमात्मामें लीन नहीं होता। किन्तु जब परमात्माको ही बन्धन नहीं होता तो मुक्तात्माको क्यों होगा? परमात्मा जो 'शरीर' धारण करते हैं वह उनका स्वेच्छामय दिव्य निर्गुण देह होता है—प्रकृतिका कार्य नहीं होता। उसमें और स्वयं चिद्रूप श्रीभगवान्‌में कोई तात्त्विक भेद नहीं होता। यही सामान्य जीव और परमात्माके देहधारणमें अन्तर है। इस प्रकार जब भगवद्विग्रह स्वयं भगवत्तत्त्व ही है तो वह उनका किस प्रकार बन्धन कर सकता है? अतः अवतार-शरीरके विषयमें आपकी यह शङ्का बन ही नहीं सकती।

२—'जड' शब्दका अर्थ है दृश्य। जो कुछ भी बाह्य और आन्तर इन्द्रियोंका विषय होता है वह सब दृश्य ही है और इसीसे जड भी है। चेतनसे जडकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसीसे चेतनको कारण माननेवाले अद्वैत वेदान्ती दृश्यकी सत्ता स्वीकार नहीं करते। अतः इस शङ्कासे उनके सिद्धान्तमें कोई बाधा नहीं आती। यदि दृश्यकी उत्पत्तिकी कोई व्यवस्था ही लगानी हो तो जैसे निद्रा-दोषसे स्वप्नद्रष्टा ही स्वप्नरूप होकर नदी, पर्वत, पशु, पक्षी और मनुष्यादिके रूपमें झूठ-मूठ ही दिखायी देने लगता है, वैसे ही अज्ञानवश शुद्ध चेतन ही जड-प्रपञ्चके रूपमें भासने लगता है—यही समझना चाहिये।

रामचरितमानस-सम्बन्धी विचार

१—श्रीरामचरितमानसकी 'एकरूप तुम्ह भ्राता दोऊ। तेहि भ्रम तें नहिं मारेउँ सोऊ॥ मरइ न रिपु श्रम भयउ बिसेषा। राम बिभीषन तन तब देखा॥' आदि-आदि चौपाइयाँ उद्धृत करके आपने जो शङ्काएँ की हैं, उनके समाधानमें यह निवेदन है कि भले ही इनमें किसीके द्वारा भगवान्‌की सर्वज्ञता, किसीके द्वारा उनकी सर्वशक्तिमत्ता और किसीके द्वारा उनकी निर्भ्रमताके विषयमें यह सन्देह किया गया है। यह माननेमें तो आपको भी कोई आपत्ति नहीं करनी चाहिये कि लीलाके लिये भगवान् ऐसा कर सकते हैं; शङ्काएँ तो मुख्यतया इस दृष्टिको लेकर हैं, उन्होंने अपना यह अनैश्वर्य उन लोगोंके सामने प्रकट किया जो उन्हें साक्षात् परम ईश्वर ही मानते थे। इसके विषयमें मुझे यही निवेदन करना है कि भगवच्चरित्रकी यही विशेषता होती है कि उसमें पद-पदपर ऐश्वर्य और अनैश्वर्य प्रकट होते रहते हैं।

कोरे ऐश्वर्यको लेकर तो कोई लीला हो ही नहीं सकती, इसीसे लीलापरिकरोंमें भी कभी ऐश्वर्यबोध जाग्रत् रहता है, तो कभी वह भगवान्‌की स्वजनमोहिनी मायासे तिरोहित भी हो जाता है । यों तो भगवान् श्रीरामभद्र या श्रीश्यामसुन्दरके लीलापरिकरोंमें ऐसा कोई भी नहीं है जो उन्हें साक्षात् भगवान् न जानता हो । रावण और कंसतकको भी उनके ईश्वर होनेका निश्चय था । फिर भी, दोनोंहीकी लीलाओंमें ऐसा कोई परिकर नहीं था जिसे कभी-न-कभी उस ऐश्वर्यकी विस्मृति न हुई हो । यही नहीं, भक्तिशास्त्रमें ऐश्वर्यकी विस्मृति तो उत्कृष्ट प्रेमका लक्षण मानी गयी है । इसीसे ऐश्वर्योपासकोंकी अपेक्षा माधुर्योपासकोंको उत्कृष्ट माना गया है । अतः यदि अपने ही भक्तोंके सामने प्रभु अल्पज्ञ और असमर्थोंके समान लीला करते हैं और उसमें उन्हें कोई शङ्का या आश्चर्य भी नहीं होता तो इससे तो उनकी लीलाचातुरी ही अभिव्यक्त होती है । इसमें शङ्काका कोई कारण नहीं है ।

२—रावणकी नाभिमें जो अमृतका कुण्ड था वह क्या था ? इसका मैं कोई निश्चित उत्तर नहीं दे सकता । कहा जाता है कि रावण जो सीताजीका स्मरण करता रहता था वही अमृतकुण्ड था । परन्तु वह कुछ भी हो, भगवान्‌के लिये उसका शोषण करना और उसके सूखनेपर रावणका मारा जाना कोई शङ्काकी बात नहीं है । जबतक वह नहीं सूखा, तबतक तो रावण सिर कटनेपर भी नहीं मरा, अतः यह नहीं कह सकते कि उस अमृतका कोई मूल्य या उपयोग नहीं था; और साक्षात् श्रीभगवान्‌के बाणोंसे उसका सूखना भी कोई आश्चर्यकी बात नहीं है; अतः यहाँ कोई भी शङ्का नहीं हो सकती ।

आपकी शङ्काओंका उत्तर अपनी बुद्धिके अनुसार जैसा समझमें आया, लिख दिया है; यदि इससे आपका कोई समाधान हो सके तो बड़े आनन्दकी बात है ।

(२)

श्रीमद्भागवत-सम्बन्धी कुछ शङ्काएँ

सादर हरिस्मरण । आपका कृपापत्र मिला । आपने श्रीमद्भागवतके विषयमें कुछ शङ्काएँ की हैं । उनके विषयमें मेरा जैसा विचार है, लिखता हूँ । इससे यदि आपको कुछ सन्तोष हो जाय तो बड़ी प्रसन्नताकी बात है—

स्कन्ध २

१—आप लिखते हैं कि यहाँ श्रीकृष्ण-लीलाका वर्णन हो ही गया है । इसलिये यह असम्भव है कि उसके विषयमें परीक्षित्‌ने फिर पूछा हो । किन्तु मेरे विचारसे यह कोई गम्भीर कारण नहीं है । जो भगवल्लीलाओंके रसिक हैं वे तो उन्हें बार-बार सुनकर भी नहीं अघाते और निरन्तर उन्हें ही सुनना चाहते हैं । उनकी दृष्टिमें पुनरुक्ति और पिष्टपेषण कभी आते ही नहीं हैं । यहाँ तो कृष्ण-लीलाओंका उल्लेखमात्र है । क्या किसी भगवल्लीलाओंके रसिकके लिये इतना ही पर्याप्त होता है । इसके सिवा यह शङ्का केवल कृष्ण-लीलाओंके लिये ही क्यों हुई ? इस अध्यायमें तो भगवान्‌के सभी अवतारोंकी लीलाओंका उल्लेख हुआ है, अतः आपके सिद्धान्तानुसार तो पीछे किसी भी भगवदवतारके चरित्रका चित्रण नहीं होना चाहिये था और यदि अवतार-चरित्रोंको भागवतमेंसे निकाल दिया जाय तो फिर उसमें रहता ही क्या है ? असली बात तो यह है कि हमारे पूर्वाचार्योंकी यह शैली ही रही है कि पहले वे संक्षेपमें सारा वर्णनीय विषय कह देते हैं और फिर सारे ग्रन्थमें उसीका विस्तार करते हैं । वाल्मीकीय रामायणके प्रथम अध्यायमें ही सारा रामचरित कह दिया गया है, जिसे मूल रामायण कहते हैं । महाभारतके प्रथम अध्यायमें भी संक्षेपमें महाभारतकी सारी गाथा कह दी है तथा अन्य अनेकों ग्रन्थोंमें भी प्रायः इसी नियमका पालन किया गया है । अर्वाचीन आचार्योंमें भगवान् शङ्कराचार्यने जो

केनोपनिषद्पर भाष्य लिखा है उसकी तो शैली ही यह है कि पहले एक वाक्यमें अपना सिद्धान्त कह देते हैं और फिर उसीका आगे विस्तार करते हैं; अतः संक्षेप और विस्तारसे ग्रन्थको ग्रथित करना—यही भारतीय आचार्योंकी शैली है।

आप कहते हैं इस अध्यायमें भगवान्की रासलीलाका उल्लेख नहीं है; अतः वह प्रक्षिप्त होनी चाहिये सो कृपा करके इसका ३३ वाँ श्लोक देखें—

क्रीडन् वने निशि निशाकररश्मिगौर्यां
रासोन्मुखः कलपदायतमूर्च्छितेन।
उद्दीपितस्मररुजां व्रजभृद्वधूनां
हर्तुर्हरिष्यति शिरो धनदानुगस्य॥
(२।७।३३)

रास तो रसराज श्यामसुन्दरकी लीलाओंका प्राण है, उसके बिना तो वे निष्प्राण हो जाती हैं।

स्कन्ध ३

२–नियोग-प्रथा पहले थी, किन्तु वह आपद्धर्मके रूपमें थी और जो असाधारण संयमी पुरुष होते थे वे ही इसके लिये नियुक्त किये जाते थे। यह होनेपर भी वर्तमानकालमें इसका समर्थन नहीं किया जा सकता, क्योंकि अब लोगोंमें इतना संयम नहीं है कि केवल पुत्रोत्पत्तिके लिये ही अनासक्त भावसे एक बार सहवास करके फिर उस देवीके साथ जीवनभर पूर्णतया शुद्ध भाव रख सकें। शास्त्रानुसार भी कलियुगमें यह निषिद्ध है।

स्कन्ध ६

३–डाक्टर भण्डारकर और Goldstuckar का कथन इतना परम प्रमाण कैसे माना जा सकता है कि उसके आधारपर भागवतकारके मतको भी ठुकरा दिया जाय? जब स्वयं भागवतमें ही उसके प्रणेता व्यास और वक्ता शुकदेव कहे गये हैं तो आधुनिक विद्वानोंके अनुमानका उसके आगे क्या मूल्य हो सकता है?

इसके सिवा एक बात और है। महर्षि पतञ्जलिके रचे हुए योगसूत्रोंपर भगवान् व्यासका भाष्य है। इससे भी सिद्ध होता है कि वे व्यासजीसे पूर्ववर्ती होने चाहिये। व्यासभाष्यकी प्राचीनता इससे सिद्ध होती है कि उन्होंने अन्य किसी भी दर्शनके टीकाकारका मत उद्धृत नहीं किया, जब कि अन्य टीकाकारोंने उनका मत उद्धृत किया है।

पतञ्जलिका उल्लेख केवल भागवतमें ही नहीं, अन्यान्य पुराणोंमें भी है। इससे भी वे व्यासजीसे पूर्ववर्ती ही सिद्ध होते हैं। अतः भण्डारकर आदि आधुनिक विद्वानोंका अनुमान प्रामाणिक नहीं माना जा सकता।

× × × ×

४–भगवत्पूजाके सामने देवताओंकी पूजा निःसन्देह निम्न कोटिकी है, किन्तु जो लोग स्वयं उच्चाधिकारी नहीं हैं वे किसी कामनाकी पूर्तिके लिये यदि इन्द्रादि देवताओंकी पूजा करें भी तो क्या हानि है? जो लोग किसी लौकिक लाभके लिये कलक्टर, इनकमटैक्स-अफसर और पुलिस-अफसरोंकी पूजा करनेमें नहीं हिचकते वे यदि स्वर्गादि अलौकिक लाभके लिये इन्द्रादिकी उपासना करें तो क्या हर्ज है? फिर देवता तो भगवान्के ही प्रतीक माने गये हैं।

स्कन्ध ९

५–विशेष अवस्थाओंमें अपनेसे निम्न वर्णकी स्त्रीसे विवाह करनेकी शास्त्रमें आज्ञा है। किन्तु वह उत्तम पक्ष नहीं है। श्रेष्ठ तो सवर्ण विवाह ही माना गया है।

६–इस श्लोकमें जो दृष्टान्त दिया गया है उससे न जाने आपने यह अर्थ कैसे लगा लिया कि शूद्र वेद पढ़ने लगे थे। यह आधा श्लोक इस प्रकार है—

'अस्मद्धार्यं धृतवती शूद्रो वेदमिवासती'

देवयानी शर्मिष्ठासे कहती है—असती (दुष्टा शर्मिष्ठाने) अस्मद्धार्यं (हमारे पहननेका वस्त्र) शूद्रो वेदम् इव (जैसे

शूद्र वेदको धारण करे, उस प्रकार) धृतवती (धारण कर लिया) अर्थात् जैसे शूद्रका वेद धारण करना अनुचित है उसी प्रकार शर्मिष्ठाका मेरे वस्त्रोंको धारण करना अनुचित है। इस प्रकार यहाँ तो शूद्रके वेदाध्ययनको अनुचित ही बताया गया है। स्कन्ध १० अध्याय ३८ के चौथे श्लोकमें भी शूद्रके लिये वेद-पाठकी दुर्लभता ही कही गयी है, इसलिये इसका पूर्व-कथनसे कोई विरोध नहीं है।

७–भागवतमें कल्कि-अवतारका तीन-चार जगह वर्णन तो हुआ है, परन्तु उनमें आपसमें क्या विरोध है यह आपने लिखा नहीं और मुझे उनमें कोई विरोध जान नहीं पड़ता। यदि आप लिखते तो कुछ समाधान करनेका प्रयत्न करता।

स्कन्ध १०

८–अध्याय ४ को पढ़नेसे आपको कृष्णलीला क्यों आलंकारिक जान पड़ती है—इसका कारण मैं नहीं समझता। यदि आप कारणसहित अपना विचार लिखते तो मैं भी कुछ निर्णय कर सकता।

९–अरिष्टासुरका वध करके भगवान्ने यह शिक्षा कभी नहीं दी कि उत्पाती बैलको मार डालना चाहिये, क्योंकि वे तो जानते थे कि यह राक्षस है बैल नहीं है, और मरनेसे पूर्व वह उस रूपमें प्रकट भी हो गया था।

१०–भगवान्के समय ही नहीं, आजकल भी भारतवर्षके बहुत-से प्रान्तोंमें पर्दा नहीं है। पर्दा-प्रथा तो एक सामाजिक रीति है। अतः वह समयानुसार बदल भी सकती है तथा देश, काल और व्यक्तिकी दृष्टिसे उसका त्याग और ग्रहण भी हो सकता है। मुख्य दृष्टि तो हमें उसके त्याग और ग्रहणके उद्देश्यपर रखनी होगी। यदि हम शौकीनी उच्छृङ्खलता और विषय-लिप्साकी तृप्तिके लिये उसे त्यागते हैं तो हमारा वह त्याग सात्त्विक नहीं कहा जा सकता, उससे तो हानि ही होगी।

११–सम्बन्धियोंमें विवाह-सम्बन्ध होना शास्त्र-दृष्टिसे तथा सामाजिक दृष्टिसे भी विशेष उपयोगी नहीं माना जाता। राजाओं और विशेष व्यक्तियोंमें ऐसे नियमोंकी कुछ शिथिलता कभी-कभी हो जाती है। किन्तु इससे वह सर्वसाधारणके लिये उपयोगी नहीं हो सकता। पहले राजकुमारियोंका स्वयंवर होता था, किन्तु वह नियम राजकुमारियों और विशिष्ट योग्यता-वाली कन्याओंके ही लिये था, सर्वसाधारणके लिये नहीं। अतः ऐसा नियम प्रचलित था—यह नहीं कह सकते।

१२–'व्यास' पद तो अवश्य है, किन्तु 'कोई व्यक्ति नहीं।' यह कैसे कह सकते हैं, क्या बिना व्यक्तिका भी कोई पद होता है? यह तो किसी-न-किसी व्यक्तिको ही आश्रय करके रहता है। अतः 'व्यास' पद भी व्यक्तिको आश्रय करके रहनेवाला है और वह व्यक्ति एक चतुर्युगीमें एक ही होता है। यह ठीक है, आजकल किसी भी कथावाचकको 'व्यास' कह सकते हैं, किन्तु वेदोंका विभाग और महाभारत एवं अठारह पुराणोंकी रचना करनेवाले व्यासदेव तो सत्यवतीनन्दन ही थे। उन्हींके प्रतीक मानकर अन्य कथावाचकोंको भी 'व्यास' कहते हैं।

इन उत्तरोंसे आपको कुछ सन्तोष हो तो ठीक है। न हो तो भी ठीक ही है। बुद्धि और विचार विभिन्न हैं। मैं क्यों ऐसा दावा करूँ कि मैं जो सोचूँ आप उसीको मान लें। मैंने केवल अपने विचार लिखे हैं। क्षमा कीजियेगा।

(३)

'कार्तिकेयके दर्शन'

सादर हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। उत्तर देनेमें कुछ विलम्ब हुआ, कृपया क्षमा कीजियेगा। आपने पूछा कि क्या किसी शास्त्रमें सौभाग्यवती स्त्रियोंके लिये कार्तिकेयके दर्शन निषिद्ध हैं? सो जहाँ-तक मुझे पता है, शास्त्रमें इसके लिये कहीं निषेध नहीं किया। दक्षिण-प्रान्तमें तो भगवान् कार्तिकेयके बहुत बड़े-बड़े अनेकों मन्दिर हैं और उनमें सभी नर-नारी दर्शनोंके लिये जाते हैं। सौभाग्यवती स्त्रियाँ भी दर्शन करती ही हैं। आजकल हमारे यहाँ एक मद्रासी सज्जन ठहरे हुए हैं। वे भी ऐसा ही कहते हैं।

(४)

भावुकताका प्रयोग भगवान्‌में कीजिये

सादर हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। आपके भावुक हृदयमें जो घाव है उसके लिये मुझे हार्दिक समवेदना है। परन्तु उस हृदयने जिस चीजको पकड़ा था वह कितनी नश्वर और परिणाममें दुःखदायिनी थी—इसका आप अनुभव करके भी अनुभव नहीं करना चाहते। इसके बदले आपका यह हृदय यदि श्रीश्यामसुन्दरकी मनोमोहिनीरूप माधुरीमें फँस जाता तो कितना आनन्द होता। भावुकता तो भगवान्‌का दिया हुआ एक धन है। उसे यदि नश्वर चीजोंके लिये नष्ट किया जाय तो यह उसका अपव्यय ही होगा। उसे तो भगवत्स्वरूपकी नित्य और निरन्तर बढ़ती ही रहनेवाली माधुरीके आस्वादनमें लगाना चाहिये यही उसका सदुपयोग है। जिस चीजको खोकर आपका हृदय तड़प रहा है उसकी खालके नीचे क्या था, ज़रा इसका तो विचार कीजिये। क्या यह ध्यान आनेसे आपको अपनी पसंदगीपर घृणा नहीं होती? आशा है, आप अपनी प्रवृत्तिके पीछे न चलकर एक सच्चे परीक्षककी भाँति उसकी असलियतकी परीक्षा करेंगे और जो नष्ट होनेवाली थी और नष्ट हो भी गयी उस तुच्छ वस्तुका ध्यान छोड़कर उसे भगवान्‌की निरतिशय माधुरीके आस्वादनमें लगायेंगे।

भगवान्‌के रूपमें अनुराग होनेके लिये इस बातकी बहुत आवश्यकता है कि आप यथासम्भव हर समय भगवन्नाम-जप करें। यदि हर समय न कर सकें तो नियमपूर्वक मालाओंकी गणना करते हुए ही करें। इससे मनकी मलिनता दूर होगी, भगवान्‌में अनुराग होगा, आत्माको शान्ति मिलेगी और उसके प्रति आपके हृदयमें जो अवैध अनुराग हुआ था उसका पाप भी निवृत्त होगा।

विषयासक्तिका मूल—विषय-चिन्तन

(लेखक—श्रीविश्वबन्धुजी सत्यार्थी)

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।

(गीता २। ६२)

चित्तमें विषयोंका स्मरण होनेपर ही विषयोंमें प्रवृत्ति होती हैं। विषयोंका स्मरण नाना प्रकारसे हुआ करता है। या तो विषयी पुरुषोंको देखनेपर या पहले भोगे हुए विषयोंकी याद आनेपर अथवा किसीसे विषयोंकी बात सुननेपर भी विषयोंकी स्मृति चित्तमें होने लगती है। किसी विषयका स्मरण होनेपर यदि उसकी स्मृतिको न हटाया जाय तो उसे भोगनेकी इच्छा उत्पन्न हो जाती है। ऐसी अवस्थामें मनको रोकना बड़ा कठिन हो जाता है। चिनगारीको बुझाना सरल है; परन्तु जब अग्नि प्रचण्ड रूप धारण कर लेती है तब किसकी सामर्थ्य है कि उसको बुझा सके। वह तो समस्त घरको भस्म करके छोड़ेगी। इसीलिये जिज्ञासुके लिये सत्सङ्गका विधान है, क्योंकि सत्सङ्गमें विषयोंकी स्मृतिका उद्बोधक कोई नहीं रहता। साथ-साथ परमपिता परमात्माके भजनकी भी बड़ी आवश्यकता है; क्योंकि जिस प्रकार विषय-चिन्तनसे विषयासक्ति बढ़ती है, उसी प्रकार प्रभुका ध्यान करनेसे प्रभुमें आसक्ति होती है। बुरे सङ्कल्पोंको हटानेके लिये निरन्तर ध्यान और संयमकी अत्यन्त आवश्यकता है। जब हम इनकी उपेक्षा कर बैठते हैं और ध्यान करना छोड़ देते हैं, तब विषय-वासनाओंको अवकाश मिल जाता है और वे हमको मार्गभ्रष्ट कर देती हैं। भक्त अथवा जिज्ञासुको क्षणभर भी निठल्ला नहीं रहना चाहिये, न जाने किस समय दुःसङ्कल्पको अवकाश मिल जाय। भोजन सात्त्विक, अकृत्रिम, सादा और परिमित एक समय दोपहर बाद करना चाहिये। दोपहरतक ध्यानमें ही संलग्न रहना चाहिये। मनुष्य जैसा मनन करेगा, वैसा ही बनेगा। मननका फोटो ही प्रत्यक्षरूपमें प्रकट होता है।

जिनको भगवत्-कृपासे कुछ प्रसादी मिल गयी है, उनको तो और भी अधिक ध्यानमें संलग्न रहनेकी आवश्यकता है।

एकान्त-साधना

(लेखक—श्रीपार्वतीनन्दनजी शर्मा)

जब निरन्तर परिश्रम करनेसे मानवीय शक्तियाँ शिथिल हो जाती हैं, तब उनको नवीन स्फूर्तियोंसे सञ्चालित करनेके लिये विश्रामकी अनिवार्य आवश्यकता होती है । बाह्य जगत्में इन्द्रियोंके द्वारा जो व्यापार होते हैं, सब आन्तरिक जगत्में प्रवाहित विचार-धाराओंके ही प्रतिरूप हैं । सुखद और दुःखद विचार आन्तरिक संसार-सागरकी ही तरङ्गें हैं, जो क्षण-क्षणमें मानवीय मुखमण्डलोंपर भव्य और भयानक रूपोंमें प्रस्फुटित हुआ करती हैं । जब वे आन्तरिक विचार-शक्तियाँ शिथिल और अव्यवस्थित हो जाती हैं, तब मनुष्यकी निश्चयात्मिका बुद्धि भ्रमित और स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है । प्रकृतिके तुच्छातितुच्छ परिवर्त्तन भी उसे व्याकुल करनेमें समर्थ हो जाते हैं । उसको अपनी न्यूनता, कातरता और असफलताएँ जन्म-सम्भूत-सी प्रतीत होती हैं । शोक और निराशा अनिमन्त्रित पाहुनेकी भाँति उसे अधिकाधिक चिन्तित किया करते हैं और उसके जीवनका नन्दन-वन उसकी अपनी ही अव्यवस्थासे मरु-भूमि बन जाता है।

इसके विपरीत जब वह प्रत्यक्ष देखता है कि समस्त मानव-समाज अपने पार्श्ववर्ती पदार्थोंसे यथायोग्य सम्बद्ध होकर अठखेलियाँ कर रहा है और वे सब पदार्थ भी उसकी अनुकूलता प्राप्त करनेके लिये लालायित हो रहे हैं, उसका प्रत्येक पदार्थके साथ प्रसन्नता, उदारता, समता और सामञ्जस्यके भावोंका आदान-प्रदान हो रहा है, तब वह विवश होकर इस परिणामपर पहुँचता है कि उसके अन्तर्जगत्में कोई इस प्रकारकी त्रुटि प्रविष्ट हो गयी है, जिसके कारण वह अब अपने समीपतम और अभिन्न बाह्य-जगत्में शान्ति और आनन्दपूर्वक विचरनेका पात्र नहीं रहा है । अब उसके लिये सारा संसार भयानक, भक्षक, अविश्वस्त और पराया भासित होता है । इस दशामें उसे विवश होकर एकान्त-जीवन ही स्वीकार करना पड़ता है, जिसे प्रकृतिने अनिवार्यतः उसकी मानवीय शक्तियोंको विश्रमित और पुनः सञ्चालित करनेके लिये ही प्रेरित किया है और यही उसके नव-जीवनकी प्रथम भूमिका है।

जब मनुष्य एकान्त-भूमिकामें पदार्पण करता है, तब उसका यह अर्थ होता है कि उसका स्थूल जगत्से सूक्ष्म जगत्में प्रवेश हो रहा है । वहाँपर उसे अपनी मनोवृत्तियोंके विश्लेषणका पूरा सुयोग प्राप्त होता है । तब उसकी निश्चयात्मिका बुद्धि यह परिणाम निकालती है कि अमुक-अमुक मनोवृत्तियाँ ही अमुक-अमुक सुखद और दुःखद घटनाओंकी कारण थीं, जिनके फल भोगकर ही वह अबतक सुखी और दुखी था और तब वह यह विश्वास उत्पन्न करता है कि वह यदि चाहे तो उन मनोवृत्तियोंका सदुपयोग करके, अपनेको निराश और शुष्क जीवनसे ऊँचा उठाकर सरस और दिव्य नन्दन-वनमें प्रस्थापित कर सकता है ।

संसार-संघर्षसे विश्राम देनेके लिये रात्रि प्रकृतिकी ओरसे अनादि उपहार है, जिसकी शरणमें पहुँचकर मनुष्य दिनभरकी विशृङ्खलित विचार-धाराओंको शृङ्खला-बद्ध करके क्षीर-नीर-विवेक कर सकता है और फिर उपयोगी उपकरणोंको प्राप्त कर आगामी जीवन-प्रभातकी उन्मीलित अँगड़ाइयाँ लेता है । उस अवस्थामें वह सत्यके इतना समीप पहुँच जाता है कि सम्पूर्ण त्रुटियाँ उसे अपनी ही अव्यवस्थित विचार-शृङ्खलाकी टूटी हुई कड़ियाँ प्रतीत होने लगती हैं, जिनको उसने रात्रिके अद्वैत एकान्तमें समाधानकी प्रज्वलित अग्निमें तपाकर फिर नवीन विचार-शृङ्खला तैयार की है, जो उसके भावी जीवनको आधाररूपसे प्रतिष्ठापित करेगी ।

उस नीरव रवके द्वारा—जो एकान्त रात्रिकी प्रथम विभूति है—विचार अपने वृत्तसे परिमित होकर जब केन्द्रीभूत होते हैं और एकत्वसम्बन्धी विचारोंका प्रकाश होता है, तब संसारके समस्त द्वन्द्वभाव विलीन हो जाते हैं ।

प्रायः देखनेमें आता है कि सङ्गतिका प्रभाव स्वभावतः ही मनुष्यके मनपर अपनी छाप लगाता रहता है । जब अनुभवहीन मनुष्य बुरी सङ्गतिमें प्रवेश करता है, तब विमल अन्तरात्माके निषेध करनेपर भी सङ्गतिके प्रभावसे बच नहीं सकता । इस प्रकार वह अपनी विमल आत्मशक्तिको शनैः-शनैः क्षीण करके दुष्ट स्वभावोंका अभ्यास किया करता है । परिणाम यह होता है कि गोष्ठी-द्वारा सञ्चालित बुराइयोंको वह अपने आनन्दका कारण समझकर उन्हींमें रममाण हो जाता है, यद्यपि वह सत्कर्म और दुष्कर्मका भेद भली-भाँति जानता है ।

प्रकृतिका सात्त्विक और चिरंतन नियम है कि कर्मका फल अदम्य है । इस नियम और समयके अनुसार दुष्कर्मरूपी कटु

वृक्ष सफल होते हैं । तब उनके फल ग्रहण करनेमें स्वेच्छाके विरुद्ध भी विवशताका सामना करना पड़ता है और उनके अरुचिकर और कष्टदायक फल सेवन करने ही पड़ते हैं । ये फल पृथक्-पृथक् शोक, रोग, चिन्ता, निराशा और वेदना आदिके रूपोंमें कटु और कषाय स्वाद प्रदान करते हैं । तब मनुष्य पश्चात्तापित और आत्म-प्रताड़ित होता है और यहींसे उसके चिर अभ्यासकी जड़ खोखली होने लगती है कि जिसका आधार बुरा सङ्ग था । तब वह उन बुराइयोंको कलि-मल-हरण भगवच्चरणामृतसे बार-बार प्रक्षालित करता है और इसके लिये उसे एकान्त एकाग्रता परम आवश्यक होती है । तब वह तटस्थ होकर द्रष्टारूपसे संसार-सागरकी तरङ्गोंका अध्ययन करता है और फलतः ऐसे स्वाध्यायी पुरुषकी नव-नवोन्मेष-शालिनी प्रतिभा जाग्रत् होकर जीवनका अन्तिम लक्ष्य निश्चय करती है । यही एकान्त-साधनाका रहस्य है ।

शुभाशुभकी परख

(लेखक—श्रीअरिन्दम बी० ए०)

मानव-प्राणी जब सर्वप्रथम नवजात शिशुके रूपमें भूमिष्ठ होता है, प्रायः उसी समयसे उसके कर्मोंके शुभाशुभकी विवेचना भी प्रारम्भ हो जाती है । यह कुछ विचित्र-सा जान पड़ता है, पर सत्य यही है । विचित्रता इसलिये प्रतीत होती है कि जिसे अभी कर्मोंका कुछ भी बोध नहीं है—जो अभी कर्म-संज्ञासे भी नितान्त अपरिचित है, उसके शुभाशुभकी विवेचना किस दृष्टिसे, किस न्याय-बुद्धिसे समीचीन है । पर जब हम देखते हैं कि यह सब होते हुए भी समाजमें उस नवजात शिशुके कर्मोंकी छानबीन होती है, तब इस कटु सत्यपर आश्चर्य उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता । एक उदाहरणसे इसे यों स्पष्ट किया जा सकता है कि थोड़ी देरके लिये मान लीजिये—किसी परिवारमें एक शिशुके जन्म-ग्रहणके पश्चात् उसकी माँका देहावसान हो जाता है । सारा-का-सारा परिवार शोकसे विह्वल हो उठता है और जहाँ अभी हर्ष मनानेका आयोजन किया जानेवाला था, वहाँ शोकका करुण चीत्कार सुनायी देने लगता है । पर उस सम्मिलित करुण चीत्कारमें भी आपको एक ऐसा क्षीण स्वर सुनायी पड़ेगा, जिसमें उस नवजात शिशुके प्रति कटु भर्त्सना एवं निन्दाका पुट मिला रहेगा । स्त्रियाँ रो-रोकर कहेंगी—'हाय ! इस कुलक्षणका किस नक्षत्रमें जन्म हुआ, जिसने आते ही अपनी माँको खा लिया । अच्छा होता यदि यही चल बसता और इसकी माँ बेचारी बची रहती; क्योंकि वह रहती तो ऐसे-ऐसे कितने सपूत और सुलक्षण पैदा हो जाते । पर इसने तो आते ही अपनी माँपर हाथ फेरा । न मालूम जियेगा तो अभी और क्या-क्या करेगा ।' इसी तरहके दूसरे-दूसरे शब्दोंमें वे लड़केको कोसा करती हैं । पर विचारणीय यह है कि इसमें उस बेचारे बच्चेका क्या दोष है ? जन्म ग्रहण करना तो उसके वशकी बात नहीं, जो नक्षत्रादिका विचार करके करता । फिर इसके लिये उसपर क्यों दोषारोपण किया जाता है ? यह एक बड़ा ही विचित्र प्रश्न है और इसीलिये हम ऊपर कह आये हैं कि मनुष्यके कर्मोंके शुभाशुभकी विवेचना उसके जन्म-ग्रहणके साथ-ही-साथ प्रारम्भ हो जाती है, जो विचित्र होते हुए भी सत्य है । ऐसा क्यों ?

इस प्रश्नका सम्यक् उत्तर देनेके पूर्व हमें 'शुभ' और 'अशुभ' की समुचित व्याख्या कर लेनी आवश्यक प्रतीत होती है । व्याकरणकी दृष्टिसे ये दोनों शब्द—'शुभ' और 'अशुभ' दो प्रकारसे प्रयुक्त होते हैं—(१) संज्ञाकी भाँति और (२) विशेषणकी भाँति । जैसे लौकिक शुभ और शुभ कार्य । इसमें प्रथम 'शुभ' संज्ञा तथा द्वितीय 'शुभ' विशेषणकी भाँति प्रयुक्त हुआ है । सर्वप्रथम हम 'शुभ' और 'अशुभ' के विशेषणस्वरूपकी ही विवेचना करते हैं ।

जब हम किसी वस्तुके पूर्व 'शुभ' और 'अशुभ' शब्दोंका प्रयोग करते हैं, तब वहाँ हमारे लिये उस वस्तु-विशेषकी उपादेयता-अनुपादेयता, उपयोगिता-अनुपयोगिताका अभिप्राय व्यक्त होता है । जैसे हम कहें कि यह शुभ कर्म है तथा वह अशुभ कर्म । इससे यह स्पष्ट होता है कि प्रथम कर्मका अवलम्बन तथा अनुकरण और दूसरेका त्याग एवं विसर्जन हमारे लिये उपयोगी है । इससे एकके प्रति स्पृहा तथा दूसरेके प्रति निःस्पृहताकी भावनाका हममें उद्रेक होता है । इसी विधि-निषेधके सिद्धान्तको ध्यानमें रखकर हम कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं और जीवनको सफल बनानेकी चेष्टामें निरत रहते हैं । अस्तु,

अब इस 'शुभ' और 'अशुभ' के दूसरे स्वरूप—संज्ञा-स्वरूपका विवेचन करें । जब किसी वस्तु अथवा सिद्धान्त-विशेषकी ओर निर्देश करके हम कहते हैं कि 'यह भौतिक या अभौतिक शुभ है', तब वहाँ 'शुभ' शब्दका प्रयोग स्पष्टरूपसे संज्ञाकी भाँति होता है । इस अर्थमें प्रयुक्त 'शुभ' शब्दसे यह विदित होता है कि 'शुभ' नामकी एक ऐसी स्वतन्त्र वस्तु है जो अपनेमें ही सीमित है और जीवनको सफल एवं सार्थक बनानेके लिये मानव-प्राणी एक उसीकी अभिलाषा करता है, उसीके अन्वेषणमें निरन्तर सचेष्ट रहता है । ऐसे ही 'अशुभ' को भी समझ लिया जाय, जो अपनेमें ही अशोभनका बीज छिपाये रहता है तथा जिसकी निःस्पृहता एवं वितृष्णा प्राणी मात्रको स्वभावतया होती है । जैसे दारिद्र्य, रोग, कायरता आदिकी ओर प्राणी मात्रका स्वाभाविक विकर्षण रहता है । इस प्रकार संक्षेपमें हमने 'शुभ', 'अशुभ' शब्दोंकी व्याख्या की ।

ऊपरकी पंक्तियोंमें 'शुभाशुभ' के शाब्दिक रूपकी संक्षिप्त व्याख्या हमने की है, अब इसके व्यावहारिक रूपका भी दिग्दर्शन हमें करना चाहिये । पहले 'शुभ' से आरम्भ करें । नीतिशास्त्रमें शुभके व्यावहारिक प्रयोगमें एक अन्तर बतलाया जाता है, वहाँ इसका दो तरहसे प्रयोग होता है—एक शुभ साधनके रूपमें (good as means) और दूसरा शुभ लक्ष्य या साध्यके रूपमें (good as an end)। उदाहरणके लिये हम सुखको लें । इस सृष्टिमें प्राणी-मात्रकी एक ही चेष्टा सर्वत्र लक्षित होती है, वह है सुखकी उपलब्धि । इसीके लिये वह जीवनपर्यन्त नाना कर्मोंमें संलग्न रहता है । अब यदि सुखको हम उत्तम शुभ मान लें तो इसकी प्राप्तिके प्रायः जितने भी साधन होंगे, उन्हें भी हम उत्तम अवश्य कहेंगे । सुखी होनेके लिये स्वास्थ्य और धनकी आवश्यकता है; अतः स्वास्थ्य और धन भी उत्तम कहा जायगा । इसी प्रकार स्वास्थ्यके लिये नियमित व्यायाम, आहार-विहारमें संयम, उत्तम ओषधियोंका सेवन आदि अपेक्षित हैं; अतः इन्हें भी अवश्य उत्तम कहेंगे । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जो वस्तु स्वयं शुभ होती है, उसकी प्राप्तिके साधन भी शुभ होते हैं । यह प्राकृतिक है; इसकी सत्यतामें अविश्वास नहीं किया जा सकता ।

दूसरा रहा, शुभ साध्यके रूपमें (good as an end)। यहाँ यह देखनेको मिलता है कि जब किसी कामको मनुष्य अपने हाथमें लेता है, तब उसके आगे एक निश्चित उद्देश्य रहता है । उसकी पूर्तिके लिये वह सब प्रकारसे सयत्न रहता है । जब उस उद्देश्यकी पूर्ति हो जाती है, तब उसे चाहिये तो यह कि वह निश्चिन्त हो जाय; पर ऐसा होता नहीं । वह पुनः इस सद्यःप्राप्त उद्देश्यको साधन बनाकर किसी अन्य उच्चतर उद्देश्यकी प्राप्तिके लिये सचेष्ट होता है और फिर उसकी प्राप्ति हो जानेपर किसी और उच्चतर उद्देश्यके लिये सयत्न होता है । इस प्रकार कर्मकी शृङ्खला नहीं टूटती और लगातार मनुष्य एकके बाद दूसरे, दूसरेके बाद तीसरे—आदि कर्मोंमें लिप्त रहता है । इस प्रकार जबतक वह अन्तिम लक्ष्यको नहीं पा लेता, उसे निश्चिन्तता नहीं आती । यहीं हम 'शुभ' को साध्यके रूपमें देखते हैं । इसी तरह 'अशुभ' के भी दोनों रूपोंकी कल्पना की जा सकती है । सुविधाके लिये 'शुभ' के इन दो रूपोंका पृथक्-पृथक् नामकरण हो जाय तो अच्छा होगा । अतः एकको 'सहायक शुभ' तथा दूसरेको 'स्वतः शुभ' हम कहें । अभीतक हमने इनका अलग-अलग विचार किया है; अब इनके पारस्परिक सम्बन्धपर विचार करें ।

ऊपरके विवेचनसे यह स्पष्ट हो गया होगा कि सहायक और स्वतः शुभमें क्या अन्तर है ! पुनरुक्तिका दायित्व अपने ऊपर लेते हुए हम फिर यह कह देना चाहते हैं कि किसी स्वतः शुभकी प्राप्तिके लिये जिन शुभ उपकरणोंकी आवश्यकता होती है, वे ही सहायक शुभ हैं । पर वह स्वतः शुभ भी जब किसी अन्य उच्चतर स्वतः शुभकी प्राप्तिका साधन बनता है, तब वह सहायक शुभ बन जाता है । इसी प्रकार हर एक स्वतः शुभ अपनेसे उच्चतर स्वतः शुभकी प्राप्तिके लिये तबतक साधन बनता रहता है, जबतक कि 'अन्तिम शुभ'की प्राप्ति नहीं हो लेती । उसके बाद फिर किसी महान् उद्देश्यके लिये चेष्टा करनेकी गुंजाइश ही नहीं रह जाती और उसीको हम कहते हैं 'मानवी चेष्टाका अन्तिम लक्ष्य ।' यह अपनेमें ही सीमित रहता है । इसे पा लेनेपर फिर किसी वस्तुको पानेकी आवश्यकता ही नहीं रहती, क्योंकि इसके आगे किसी दूसरी वस्तुका अस्तित्व ही नहीं है ।

अब यह प्रश्न उठता है कि उस अन्तिम लक्ष्यका स्वरूप कैसा होना चाहिये । इसके उत्तरमें दार्शनिकोंमें मतैक्य नहीं है । अपनी-अपनी मतिके अनुसार वे अन्तिम लक्ष्यकी रूप-रेखा भिन्न-भिन्न रंगोंमें चित्रित करते हैं, जिनमें तीन प्रधान हैं । यदि उन रंगोंको हम 'वाद'के नामसे पुकारें तो कह सकते हैं कि वे तीन वाद हैं—आनन्दवाद, दमनवाद और समन्वयवाद ।

स्थानाभावके कारण इन तीनोंका विस्तृत विवेचन तो यहाँ नहीं हो सकता, क्योंकि ये सभी स्वतन्त्र लेखके विषय हैं; पर तो भी संक्षेपमें इनके मूल सूत्रको यहाँ इस प्रकार दिया जा सकता है–

आनन्दवादके अनुसार मानव-जीवनका चरम लक्ष्य आनन्दकी उपलब्धि होना चाहिये। स्थूल, सूक्ष्म दोनों प्रकारके सुख इसीमें सम्मिलित हैं।

२. दमनवादके अनुसार जीवनका चरम लक्ष्य इन्द्रियोंको कठोर शासनमें रखकर उन्हें कामासक्तिसे विमुख करना है, जिसमें पड़कर मनुष्य नाना प्रकारके कष्टोंका शिकार बनता है। इन्द्रिय-दमन ही इसका मुख्य ध्येय है।

३. समन्वयवादके अनुसार जीवनका चरम लक्ष्य उस पूर्णताको प्राप्त कर लेना है, जिसमें न तो इन्द्रियोंके उतने दमनकी आवश्यकता रहती है और न उनके कामासक्त होकर पथभ्रष्ट होनेका ही भय रहता है। यहाँ आनन्दवाद और दमनवादका सुन्दर समन्वय हो जाता है तथा इसीसे हम इसको समन्वयवादके नामसे सम्बोधित करते हैं। सूत्ररूपमें इन्हें इसी प्रकार रखा जायगा। अस्तु,

अब यह विचारणीय है कि कर्मोंका शुभ-अशुभ होना किन-किन तथ्योंपर अवलम्बित है। पर इसके पूर्व यह जान लेनेकी आवश्यकता है कि कर्मकी उत्पत्ति कैसे होती है। यह तो प्रायः सभी जानते हैं कि आवश्यकता ही कर्मकी जननी है। जब हमें किसी वस्तुकी आवश्यकता होती है, तब उसकी पूर्तिके लिये हम कर्म करते हैं; और लोगोंकी जैसे भिन्न-भिन्न आवश्यकताएँ होती हैं, वैसे ही उनके कर्मोंमें भी विभिन्नता होती है। पर सभीके शुभ-अशुभकी जाँच एक ही कसौटीपर हो सकती है। यह कैसे?

लोग बहुधा फलसे ही कर्मोंके शुभ-अशुभ होनेकी जाँच करते हैं और शायद वे इस सिद्धान्तको मानकर ऐसा करते हैं कि जिसका अन्त भला, वह सभी भला है। पर इसकी वाञ्छनीयता सन्देहसे रहित नहीं है; अन्त भला होनेपर भी उसके प्रारम्भ और साधनके अनौचित्यके कारण हम उसे शुभकर्म नहीं कह सकते। क्योंकि कर्म केवल 'अन्त' का पर्यायमात्र ही नहीं है। अन्त तो उसका केवल एक अंश है। उदाहरणके लिये मान लीजिये कि हमारे कोठेके नीचे एक भिक्षुक आकर कुछ खानेकी वस्तु माँगता है और उसपर आघात करनेकी भावनासे प्रेरित होकर ऊपरसे ही हम उसके सिरको लक्ष्य कर एक नारंगी फेंकते हैं। पर संयोगवश वह उसे न लगकर अलग जा गिरती है और भिक्षुक उसे लेकर असीस देता हुआ चला जाता है। चेष्टामें विफल होनेसे हमें ग्लानि तो अवश्य होती है, पर फिर अपनेको ऐसा कहकर आश्वस्त कर लेते हैं कि 'चलो, अच्छा ही हुआ। गरीबकी क्षुधा-निवृत्ति तो हो गयी।' क्या इसकी गणना शुभ कर्मोंमें होनी चाहिये? नहीं, कदापि नहीं। सारांश, अन्त भला होनेसे ही हम किसी कर्मको शुभ नहीं कह सकते। शुभ होनेके लिये अन्य-अन्य तथ्योंके औचित्यकी भी अपेक्षा है। वे क्या हैं?

कर्मके तीन अङ्ग हैं—इच्छा, साधन और अन्त। सबसे पहले हममें इच्छाकी उत्पत्ति होती है। फिर हम उसके अनुकूल साधनोंको एकत्र करनेमें प्रवृत्त होते हैं और अन्ततः अन्तको पहुँचते हैं। इनमें किसी एकके औचित्य-अनौचित्यके ऊपर कर्मकी उत्तमता-अनुत्तमता पूर्णरूपेण निर्भर नहीं करती। इसका एक उदाहरण हम ऊपर दे चुके हैं। यह समझमें नहीं आता कि कर्मके मूलमें यदि सद्भावना काम कर रही हो तो उसे शुभकर्म हम क्यों न कहें। पर सत्य यही है कि मूलमें सद्भावना रहनेपर भी वह सत्कर्मका प्रेरक नहीं बन सकती, यदि उसके साधनके चयनमें अनौचित्यका आश्रय लिया गया हो। उदाहरणके लिये, मान लीजिये एक क्षुधित व्यक्ति मेरे सम्मुख आया और उसकी दशापर द्रवीभूत हो उसकी ओर ज़ीनेसे मैंने एक इकन्नी फेंकी। उसे लपकनेकी चेष्टामें वह इकन्नी बेचारेकी आँखमें जा लगती है और इससे उसकी एक आँख फूट जाती है। बेचारा रोता हुआ चला जाता है। यहाँ मैंने सदिच्छासे प्रेरित होकर उसकी ओर इकन्नी फेंकी थी; पर परिणाम विपरीत हुआ। और भी, एक गरीब मनुष्यकी वृद्धा माता मृत्यु-शय्यापर पड़ी 'दूध-दूध' की रट लगा रही है; पर उस बेचारेके पास अन्नका एक दाना-तक नहीं है, दूधकी बात तो अलग रही। किसीसे माँगनेपर मिलनेकी आशा भी नहीं। पर यदि पावभर दूध भी उसे इस समय मिलता तो उसकी माँ इस तरह तड़प-तड़पकर दम नहीं तोड़ती। पर अफसोस! वह लाचार है। हाँ, एक उपाय है। अपने पड़ोसीकी गायसे यदि वह दूध चुरा लाये तो उसकी माँ बच सकती है। यह सोचकर दूसरे ही क्षण वह पड़ोसीकी गोशालामें घुस पड़ता है। पर दुर्भाग्य वहाँ भी उसका पिण्ड नहीं छोड़ता और दूध दुहते ही वह

पकड़ा जाता है। इसके बाद ऐसे कामोंका जो परिणाम होता है, वह भी उसे भोगना पड़ता है। यहाँ हम देखते हैं कि सद्भावनासे प्रेरित होकर—एक प्राणीकी प्राण-रक्षाके निमित्त वह इस कर्ममें प्रवृत्त होता है। तो क्या यह शुभ कर्म कहा जायगा ? कदापि नहीं। क्योंकि उस कर्मके लिये वह जिस साधनका उपयोग करता है, वह अशुभ है, अनुचित है; अतः मूलमें सद्भावना रहनेपर भी साधनकी अनुत्तमताके कारण वह कर्म अशुभ हो गया। अतः हम इसी निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि कर्मके शुभाशुभ होनेके लिये उसके सभी अङ्ग-उपाङ्गोंपर दृष्टि रखनी चाहिये। किसी अंश-विशेषके औचित्य-अनौचित्यपर किया गया निर्णय अनैकान्तिक, अतः अधूरा होगा—पूरा नहीं।

इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी कर्म हैं, जिनके शुभ और अशुभ होनेका निर्णय ही नहीं किया जा सकता। उन्हें जाननेके लिये कर्म-विभागका ज्ञान अत्यावश्यक है। कर्मके दो विभाग किये जा सकते हैं—(क) इच्छित कर्म और (ख) अनिच्छित कर्म। इच्छित कर्म वह होता है, जिसे करनेकी प्रेरणा व्यक्तिमें स्वयं जाग्रत् होती है, कहीं बाहरसे उसे प्रेरणा नहीं मिलती। इसके विपरीत अनिच्छित कर्म—जैसा कि उसके नामसे ही स्पष्ट है—वह है, जिसे करनेकी प्रेरणा कर्तामें स्वयं जाग्रत् न होकर अन्यत्रसे आती है। कर्ता केवल मूक यन्त्रकी तरह उस बाह्य शक्तिसे परिचालित होता है। इससे स्पष्ट है कि वैसे कर्मकी उत्तमता-अनुत्तमताका निर्णय करना युक्तिसंगत न होगा। अनिच्छित कर्म भी कई प्रकारके होते हैं, जिनमें मुख्य हैं—

(क) स्नायविक कर्म—स्नायुओंपर बाहरी और भीतरी दोनों वस्तुओंका प्रभाव पड़ता है, जिससे कभी-कभी उनकी नियमित गतिमें व्यतिक्रम उपस्थित हो जाता है। जैसे छींक आदिका आना। इसके कारण कभी-कभी भीषण दुर्घटना हो जाती है। सुना है कि कोई नाई किसी आदमीकी दाढ़ी बना रहा था। वह ठुड्ढीके नीचेवाले बालोंको साफ कर रहा था और वह व्यक्ति ऊपरकी ओर मुँह किये हुए था कि अचानक जोरसे एक छींक नाईको आयी। उसका हाथ काँप उठा, जिसमें वह अस्तुरा लिये हुए था और फलस्वरूप उस आदमीका गला कट गया, जिससे उसकी मृत्यु हो गयी। यहाँ नाईपर गला काटनेका अभियोग उचित अर्थमें नहीं लगाया जा सकता; क्योंकि उसने जान-बूझकर उसका गला नहीं काटा।

(ख) बच्चोंका अनुकरणजनित कर्म, जो विशेषकर बच्चोंमें पाया जाता है—हानि-लाभका विचार किये बिना ही बच्चे बड़ोंका अनुकरण करने लग जाते हैं, जिससे अनिष्ट-आशङ्काकी गुंजाइश अधिक रहती है। मादक द्रव्योंका सेवन, अपशब्दोंका प्रयोग आदि ऐसी बातें हैं, जिन्हें बच्चे अपने बड़ोंसे सीख लेते हैं। इसके लिये उन्हें दोषी नहीं ठहराया जा सकता।

(ग) विक्षिप्त व्यक्तियोंके कर्म—सत्-असत्, हित-अहितका निर्णय करनेवाला मस्तिष्क ही जब अस्वस्थ हो जाता है, तब उससे उद्भूत कर्मोंके शुभाशुभ होनेका निर्णय करना तो और भी असंगत हो जाता है।

(घ) दबावसे किये गये कर्म—कभी-कभी ऐसी विकट परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है, जब कि मनुष्यको अपनी अन्तरात्माके विरुद्ध दूसरेके वशीभूत हो उसीके आज्ञानुसार काम करना पड़ता है। किसी निरामिषभोजीको यदि कोई मांसाहारी दुष्ट बलपूर्वक मांसका टुकड़ा मुँहमें ठूँसकर खिला दे तो परिस्थितिकी विकटताको देखते हुए वह धर्म-विचलित नहीं समझा जायगा। पर यदि धर्मके नियमोंके अक्षरशः पालनका विचार किया जाय तो वह बिल्कुल शुद्ध भी नहीं कहा जा सकता। बलपूर्वक नष्ट किया गया सतीत्व अन्ततः उस श्रेणीतक नहीं पहुँच सकता, जहाँ शुद्ध सतीत्व आसीन है।

अन्तमें हम इसी निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि कर्मोंके शुभाशुभका निर्णय हम वैसी आसानी और शीघ्रतासे नहीं कर सकते जैसा कि बच्चेकी जन्म-ग्रहणवाली घटनाका उदाहरण देकर आरम्भमें बतलाया गया है। इन पंक्तियोंमें हमने केवल शुभाशुभकी रूप-रेखा चित्रित करनेका स्वल्प प्रयास भर किया है। विज्ञ पाठक इसपर और भी गम्भीर विचार करेंगे।

एक कन्याको मृत्युके समय शङ्करजीके दर्शन

लगभग चार महीने पहलेकी बात है——अजमेरमें एक अबोध कन्याको मृत्युके समय भगवान् शङ्करजीके दर्शन हुए और वह शङ्करजीके कंधेपर चढ़कर परम धामको गयी। संक्षेपमें घटना इस प्रकार है——

अजमेरमें श्रीयुक्त नन्दलालजी भार्गव नामक एक सज्जन निवास करते हैं। ये रिटायर्ड म्यूनिसिपल अफ़सर हैं। आपके कई भाई हैं और सभी सुशिक्षित हैं। इनका घराना बड़ा सम्पन्न और सम्भ्रान्त माना जाता है। इनके दत्तक पुत्र श्रीयुत देवीदयालजी भार्गव बी० एस्-सी०, एल्-एल० बी० एडवोकेट हैं। देवी पुष्पकुमारी इन्हींकी कन्या थी। दस-ग्यारह वर्षकी उम्र होगी। लड़कीको आन्त्रिक क्षयकी बीमारी हो गयी। तरह-तरहके इलाज हुए परन्तु कोई लाभ नहीं हुआ। अन्तमें दो हकीमोंने इलाज किया परन्तु उससे भी कोई फायदा नहीं हुआ। मृत्युके कुछ दिन पहले अजमेरके लोकप्रिय डाक्टर अम्बालालजीको बुलाया गया। पुष्पकुमारीने प्रणाम करके कहा, 'डाक्टर साहब! आप आ गये। उस हकीमको घरमें न आने दीजियेगा। उसने मुझे भूखों मार दिया और न जाने क्या खिला दिया जिससे मैं बिल्कुल बेचैन और अपवित्र हो गयी।' डाक्टर साहबने समझाकर कहा, 'घबड़ाओ नहीं, गङ्गाजल पी लो—उससे पवित्र हो जाओगी।' उसने डाक्टर साहबसे कहा कि 'मैं अब रामजीके घर जाऊँगी सो आपकी लड़की शकुन्तलाको मुझसे मिलनेके लिये कह दीजिये।' शकुन्तला आकर मिली——तब लड़कीने उसको नमस्ते किया और कहा 'स्कूलकी Sister Superior (प्रधानाध्यापिका) को कह देना कि पुष्पा रामजीके घर जा रही है और उसने आपको प्रणाम कहलवाया है।' खबर मिलनेपर प्रधानाध्यापिका आयीं। लड़कीने उनको प्रणाम किया और कहा 'मैं रामजीके घर जा रही हूँ।' प्रधानाध्यापिका स्नेहसे मिलकर दुखी चित्तसे लौट गयीं।

पुष्पकुमारी अपने दादा श्रीनन्दलालजीसे बार-बार कहती थी कि 'ताऊजी! (वह अपने दादाको ताऊजी कहा करती थी) मैं रामजीके घर जाऊँगी। मेरी चाचीको दिल्लीसे जल्दी बुला दो। मैं उनसे मिलनेके लिये ठहर रही हूँ।' लड़कीके चचा श्रीयुत कृष्णदयालजी भार्गव एम्० ए० इम्पीरियल रिकर्ड डिपार्टमेन्ट दिल्लीमें काम करते हैं। वे उस समय सपरिवार दिल्ली थे। घरवालोंने उनको तार देकर बुलानेमें देर की। तीसरे दिन रातको लगभग नौ बजे डाक्टर अम्बालालजी फिर बुलाये गये। उन्होंने जाकर देखा उसकी हालत अच्छी नहीं है। लड़कीने डाक्टर साहबको प्रणाम किया और कहा–'सबको बाहर जानेको कह दीजिये। सिर्फ आप और ताऊजी यहाँ रहिये।' इसपर परिवारके सब लोग बाहरके कमरेमें चले गये। लड़कीकी माँ और वे दोनों सज्जन उसके पास रह गये। उसने कहा——'देखिये, चाचीजीकी बाट देखते मुझे बहुत समय हो गया। अब तो मैं रामजीके घर जा रही हूँ।' इसके कुछ देर बाद बोली——'मेरे भगवान् शङ्करजीको यहाँ ले आइये।' वह लगभग तीन सालसे भगवान् शङ्करके एक चित्रपटकी बड़ी भक्तिसे पूजा किया करती थी। सिर्फ सात ही दिनसे पूजा छूटी थी। उसके कहनेपर शिवजीका चित्र मँगवाया गया और उसके इच्छानुसार उसके सामने खड़ा कर दिया गया। पुष्पकुमारी तकियेके सहारे बैठ गयी और भगवान् शिवका नाम जपने लगी। फिर उसने कहा——'देखिये, वे दो आदमी आये हैं मुझे लेनेको। वे अंदर तो आ नहीं सकते, बाहर कमरेमें खड़े हैं। पर मैं तो उनके साथ जाऊँगी नहीं। मैं तो मेरे शङ्करजीके कंधेपर चढ़कर रामजीके घर जाऊँगी।' इसके बाद वह टकटकी लगाकर भगवान् शङ्करकी मूर्तिका दर्शन और ध्यान करने लगी। उसका चेहरा शान्त और प्रसन्न था मानो घरघालोंमें या घरमें उसका कहीं मोह रह ही नहीं गया था। कुछ देर बाद वह बोली——'बस, देखिये ये शङ्करजी आ गये हैं। अब मैं रामजीके घर जा रही

हूँ ।' इतना कहकर उसने 'शिव' नामका उच्चारण किया और उसी समय उसका सिर ढुलक गया । घरके लोग रोने लगे । डाक्टर अम्बालालजी उठकर चल दिये । वे सीढ़ियोंसे उतर ही रहे थे कि पुष्पकुमारीका बड़ा भाई महेन्द्रकुमार दौड़ता हुआ आया और उसने घबड़ाये हुए ही डाक्टर साहबसे पूछा—'पुष्पाका क्या हाल है ?' डाक्टर साहबने कहा——'पुष्पाका तो देहान्त हो गया । पर तुम दौड़े कैसे आये ?' उसने कहा——'मेरा मैट्रिकका इम्तहान हो रहा है । मैं नीचेके कमरेमें बैठा कलके परचेकी तैयारी कर रहा था । मैंने अकस्मात् देखा शङ्करजीके-से रूपके कोई खड़े हैं । बड़े तेजस्वी हैं । भस्म रमाये हैं । शरीरका सफेद रंग है । साँप लिपटे हैं और उनके कंधेपर पुष्पा बैठी है और मुझसे कह रही है—भैया, नमस्ते । मैं रामजीके घर जा रही हूँ । मैं तो यह देख-सुनकर चकित हो गया और दौड़ा आया ।' डाक्टर साहब भी महेन्द्रकुमारकी बात सुनकर आश्चर्यचकित हो गये । उस समय घरके और लोग भी पास ही थे । डाक्टर साहबने लौटकर पुष्पाकी माँको समझाया——'रोती क्यों हैं ? देखिये, आपकी लड़की कितनी भाग्यवती है, जो भगवान् शङ्करके कंधेपर चढ़कर भगवान्के धाममें गयी है ।' डाक्टर साहबके कहनेपर उन लोगोंको भी बड़ा सन्तोष हुआ । डाक्टर साहब तो अब भी जब यह घटना सुनाने लगते हैं तब मुग्ध और पुलकित हो जाते हैं !

मधुर तान

(लेखक—पं० श्रीकृष्णगोपालजी शर्मा 'विशारद')

सान्ध्य श्रीवेला थी । शीतल-मन्द सुवासित समीर प्रवाहित था । कल-कल करती कालिन्दीके कूलपर कृष्ण-प्रिया—राधा एवं उनकी सखियाँ क्रीड़ा कर रहीं थीं । गोकुलकी उन ग्वालिनोंके मध्यमें राधारानी कैसी सुशोभित थीं, जैसे उडु-गणमें राकेश । उनके वक्षःस्थलपर कृष्णार्पित पुष्पहार अलिको भी आकर्षित कर रहा था, फिर बेचारी ग्वालिनोंकी क्या गणना ।

राधारानीकी रास-मण्डलीको देखकर श्रीकृष्ण कब शान्त रह सकते थे । वे चुपकेसे एक सुरभित कदम्बपर चढ़ गये और लगे देखने लीलाएँ ।

राधाजीने सोचा आज श्रीकृष्ण न आयेंगे । इससे उनकी अनुपस्थितिमें उन्होंने ही कृष्णका रूप धारण किया और अपनी सखी विशाखाको बनाया राधा । बस, फिर क्या था ! होने लगी लीला ।

गो-चारण-लीला थी । राधा-कृष्ण वनमें एक वृक्षके नीचे बैठे थे । गौएँ चर रही थीं । अब उनके लौटनेकी वेला थी । राधा—जो कृष्ण-रूपमें थीं—गौओंको बुलानेके लिये वेणु बजाने लगीं । पर वेणु थी कहाँ । उन्होंने अपने कमल-करोंको केवल उस ढंगपर रख भर लिया ।

अब कृष्णसे न रहा गया । उन्होंने शीघ्र ही मधुर मुरली बजा दी । चारों ओर 'मधुर तान' गूँज उठी । राधा और गोपियोंसे भी न रहा गया । वे कृष्णको इधर-उधर देखने लगीं । पर, कृष्णजी तो कदम्बपर थे । खोजते-खोजते गोपियाँ थक गयीं ।

मुरलीकी धुनने उन्हें पागल बना दिया । वे मूर्छित होकर गिर पड़ीं । अब कृष्ण भी नीचे उतर आये । वे राधाजीके पास गये । वेणु बंद कर दी और रख दी राधाके अधरोंपर । राधाने नेत्र खोले । प्राणनाथ सम्मुख ही थे । राधा शरमा गयीं । चन्द्रमुखपर मुसकराहट छा गयी ।

गोपियाँ भी होशमें आयीं । मोहनकी मोहिनी मूरतने उनकी सर्वबाधाएँ हर लीं । वे प्रसन्न हो गयीं । राधा-कृष्ण मिल गये ।

अहा, कैसी थी वह—मधुर तान !

हमारा कल्याण

(लेखक—श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा)

संसारमें ऐसा कोई प्राणी नहीं है, जो अपना कल्याण न चाहता हो। यह बात दूसरी है कि 'कल्याण'का अर्थ ही हम ग़लत लगाते हों और यह न जान पाते हों कि वास्तविक कल्याण किस चीज़में, किस दशामें है। इसी अज्ञानका परिणाम है कि चोर या डाकू अपने निन्दनीय कार्यमें भी कल्याणकी गन्ध पाकर ही प्रवृत्त होता है। वेश्या अपने गंदे पेशेको अपने सुखका हेतु समझती है और झूठ भी यही सोचकर बोला जाता है कि इससे कल्याण होगा। माया, ममता, मोह—सभी अवगुण इसी भ्रमित भावनाके परिणाम हैं। इसलिये यदि हम अपना सच्चा कल्याण चाहते हैं तो हमें यही जानना ज़रूरी है कि कल्याण है क्या वस्तु—वास्तविक कल्याण किस चीज़में है ?

मोटे तौरपर यही समझा जाता है कि जिस चीज़से सुख मिले, वही कल्याणकर है। पर सुख भी तो कई प्रकारका होता है। शारीरिक सुख तो क्षणिक है। विषय-भोगमें समय चुटकी बजाते बीत जाता है और यह अनुभव होने लगता है कि शरीरका सुख एक प्रकारसे नहीं मिल सकता। बचपनमें यदि खिलौना और मिठाईसे सुख मिलता है तो जवानीमें स्त्रीसे, धनसे इच्छाएँ पूरी होती हैं। बुढ़ापा आते-आते सुखके क्रम और साधनमें गुरुतर परिवर्त्तन हो जाते हैं और सबसे बड़ी बात तो यह है कि सब सुख सामने हों; पर इच्छा न होनेपर भी एक अप्रत्यक्ष शक्ति उनसे छीनकर, प्राणहीन कर देती है और जिस शरीरको सुखी बनानेके लिये आत्माका सौदा कर डाला, वही साथ छोड़ देता है। यही नहीं, अपने द्वारा जिन-जिनको सुखी बनानेकी चेष्टा की, वही लोग हमारे मुर्दा शरीरको तुरंत जलाकर, उसकी राख पानीमें फेंककर, दो घंटेमें ही हमसे छुट्टी पा जाते हैं। तब फिर ऐसी अनिश्चिततामें भी क्या सुख माना जा सकता है। स्त्री, पुत्र, धन—जब सभी विमुख हो जानेवाले हैं तो यह अपने कैसे हुए ? और जो अपना नहीं, वह सुखदायक कैसे कहा जाय ? भर्तृहरिने तो साफ़ कह दिया—

भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद् भयं
मौने दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे जराया भयम्।
शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद् भयं
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम्॥

अर्थात् 'भोगमें रोगका, कुलीनतामें मर्यादाके लोप होनेका, धनीको राजासे धन छिन जानेका, मौन रहनेमें दीनताका, बलवान्को शत्रुका, रूपवान्को बुढ़ापेका, शास्त्र-ज्ञाताको शास्त्रार्थमें पराजित होनेका, गुणीको दुष्टका तथा शरीरको मृत्युका भय बना रहता है। सभी सांसारिक वस्तुएँ भयसे युक्त हैं, केवल वैराग्यकी स्थिति ही भयरहित है !'

ऐसी नश्वरताके बीचमें केवल एक ही सत्य है, एक ही सार-वस्तु है और वह टेनिसन-जैसे महाकविके शब्दोंमें भगवान् है। टेनीसन कहते हैं—

"That God, which ever lives and loves,
One God, one Law, one Element,
And one far-off divine event,
To which the whole Creation moves."

'वही भगवान् चिरंतन है, अमर है और सबको प्यार करता है। एक ही ईश्वर है, उसका एक महान् नियम, एक महान् तत्त्व है, उसीकी सुदूर दैवी घटनाकी ओर—चिरशान्तिकी ओर समूची रचना चली जा रही है।'

इस कविताके अनेक अर्थोंमेंसे मुझे उपर्युक्त व्याख्या बहुत प्रिय है।

भगवान्

ऐसे चिरंतन भगवान्को न जानना ही अपना सबसे बड़ा अकल्याण है। 'सादी' की बड़ी सुन्दर उक्ति है कि 'मैं भगवान्से डरता हूँ और उसके बाद उससे डरता हूँ, जो ईश्वरसे नहीं डरता।' जो ईश्वरको नहीं मानता, वह 'भगवान्से शत्रुता करता है और ईश्वरका वैरी, मनुष्यजातिका वैरी है।' बेकन (Bacon) के इस कथनमें जितनी सचाई है, उतनी ही दूरदर्शिता भी है। भगवान्को न माननेवाला मनुष्यजातिके मर्मको समझ ही नहीं सकता। बेली (Bailey) ने इसीलिये लिखा है कि 'संसारमें यदि कोई वस्तु जानने योग्य है तो वह भगवान् है और दूसरी—अपनी आत्मा।' पैनिन (Panin) ने ईश्वरके लिये बड़े ही सुन्दर शब्दोंमें लिखा है—"जिस संसारमें हम रहते हैं, उसका कोई प्रारम्भ तो रहा ही होगा। बिना प्रारम्भके विकास नहीं होता। बिना कारणके 'प्रारम्भ' नहीं होता। बिना

प्रज्ञाके कारण नहीं बनता। वह 'प्रज्ञा' अनन्त और महान् रही होगी। वह महान् सदैव महान् था और रहेगा--वही महान् भगवान् है।' इस महान्को देखनेके लिये एमर्सन (Emerson) ने साफ़ लिखा है कि 'प्रकृतिका आवरण (पर्दा) बहुत ही झीना है। ईश्वरकी सत्ता चारों ओरसे प्रस्फुटित हो रही है।' मैककेन (R. M. Mccheyne) ने साफ़ कहा है--'ईश्वरके निकट रहो; फिर तुम्हें सभी अन्य वस्तुएँ असत्य ज्ञात होंगी।'

भगवान्की विशेष व्याख्या अनावश्यक है। जिसे वेद 'नेति-नेति' कहकर अपनी व्याख्या समाप्त कर देते हैं, उसकी व्याख्या हम क्या करें। मैंने जान-बूझकर ऊपर विदेशियोंद्वारा की गयी उसकी व्याख्या लिखी है। हमारी शास्त्रीय व्याख्या तो अथाह है और इससे ज़्यादा उसके विषयमें क्या कहा जा सकता है कि—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य भूतानामागतिं गतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति॥

"जिसमें सम्पूर्ण ऐश्वर्य हो और जो प्राणियोंके आने-जाने तथा ज्ञान-अज्ञानको भी जानता हो, उसे 'भगवान्' कहना चाहिये।"

धर्म

उसी भगवान्को जानना महाधर्म है और इस धर्मका पालन ही एकमात्र कल्याणकारी है। धर्म कोई संकुचित वस्तु नहीं है। यह कोई तर्ककी वस्तु भी नहीं है। धर्म तर्कसे परे है। रेव० डा० हैरी एमर्सन फ़ॉसडिक (Rev. Dr. Harry Emerson Fosdich) ने लिखा है—'धर्म, संगीत, धार्मिक क्रिया-कलाप, प्रेम, अच्छाई इत्यादि किसी भी वस्तुमें ऐसी कोई बात नहीं है, जो बुद्धिगम्य न हो। पर, जबतक संसारमें सूर्यका प्रकाश है, हम इन वस्तुओंकी महत्ताको तभी प्राप्त कर सकेंगे जब बुद्धिकी सीमाको लाँघ जायँगे।'

आजकल बुद्धिवादका ज़ोर है। पर बिना धर्मके बुद्धि कैसी पाशविक हो जाती है, इसका निरूपण दार्शनिक बनसेन (Bunsen) ने किया है। वे लिखते हैं कि—'हृदयमें धर्मका प्रदीप बिना जलाये बुद्धिका संस्कार केवल सभ्य पाशविकता और छिपा हुआ जंगलीपन ही रह जाता है।' जब आदमी 'ईश्वरके प्रति ही सच्चा' न रहा हो तो वह मनुष्यके प्रति सच्चा कैसे हो सकता है ? प्रसिद्ध वैज्ञानिक एच० जी० वेल्स लिखते हैं कि—'संसारमें आदि तथा अन्तिम वस्तु धर्म है।' आज धर्मके प्रति इतनी शत्रुता केवल इसीलिये है कि वह स्वयं बुराइयोंका शत्रु है। बुरेको बुरा ही दीखता है। प्रसिद्ध पादरी डीन इंगे (Dean Inge) ने तो साफ़ कह दिया है कि जो व्यक्ति जैसा होगा, उसे भगवान् वैसे ही देख पड़ेंगे और जिसको भगवान् जैसे दिखायी देंगे, वह संसारके साथ वैसा ही व्यवहार करेगा। यदि कोई यह पूछे कि धर्म है क्या वस्तु, तो मैं यही उत्तर दूँगा कि—

धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः।

—जिस मार्गसे महापुरुष चलें, वही मार्ग है, वही धर्म है। वही कर्त्तव्य है। पर संसारमें हम ऐसे भ्रमित तथा भटके हुए हैं कि हमको दुनियाकी जानकारी ही बहुत कम है। यह संसार क्या है, हम यही नहीं जानते।

संसार

लोग भूलसे कह बैठते हैं कि धन ही समस्त सुखका मूल है। एपिक्यूरस (Epicurus) ने साफ़ कह दिया है कि 'संसारका वैभव महान् सम्पत्तिमें नहीं, कम-से-कम आवश्यकताओंमें है।' धन तो कामनाको प्रज्वलित कर संसारको विषैला कर देता है। त्याग सन्तोषका जनक है। रेनल्डस (Reynolds) ने ठीक लिखा है कि 'जितना कम पैसा होगा, उतनी ही कम चिन्ता होगी।' 'धन कमाना, प्राप्त करना सहल नहीं है। उसकी रक्षा करना उससे भी कठिन है। पर, उस धनका सदुपयोग करना तो और भी कठिन है।' प्रसिद्ध धनकुबेर रायचाइल्ड (Rathschild) का यह कथन बड़ा कीमती है।

मृत्यु

और धन-जोबन इत्यादिसे लाभ ही क्या जब कि—

कफन लपेट कै सुतायो रथी पै अंत।
चूर होके खोपड़ी मसान में पड़ी रही॥

संसारका विकट सत्य मृत्यु है। कुछ भी कीजिये, इसके पाशसे कोई बच नहीं सकता। बेकन (Bacon) के शब्दोंमें 'मनुष्यके लिये मर जाना उतना ही स्वाभाविक है, जितना उसका जन्म लेना, और जिस प्रकार बच्चेको

पैदा होनेके समय कष्ट होता है, वैसा ही स्वाभाविक कष्ट मृत्युके समय भी होता है ।'

जब मृत्यु-जैसी सत्य वस्तुको भी इन्सान भूल सकता है, तब उसका कल्याण किस प्रकार सम्भव है ! ब्लेयर (Blair) के शब्दोंमें—'जो लोग अपने धनमें मस्त हैं, भविष्यके सुख-स्वप्नोंके अन्धकारमें पड़े हुए हैं और जिन्होंने यहाँसे बिदा होकर जिस संसारमें जाना है, उसके लिये कोई तैयारी ही नहीं की है, उनके सामने जब मृत्यु आकर खड़ी हो जाती होगी तो उन्हें कैसा घातक दुःख होता होगा ।'

मरनेसे कौन नहीं डरता—किसे दुःख नहीं होता ! शेक्सपियर (Shakespeare) नामक संसार-प्रसिद्ध नाटककारका कथन है कि 'राह चलते एक कीड़ेको यदि हम पैरसे कुचल देते हैं तो उसे मरनेमें उतना ही दुःख होता है, जितना बड़े-से-बड़े आदमीको !' पर यह भी सत्य है कि जो मृत्युको केवल पुराना वस्त्र बदलना ही समझता है और भगवान् श्रीकृष्णके इस कथनको ध्यानमें रखता है कि—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।

—उसके लिये मृत्युका भय नहीं है । लांगफेलो (Longfellow) कहते हैं कि 'मृत्यु तो है ही नहीं । जिसे हम मृत्यु कहते हैं, वह स्थान-परिवर्तन मात्र है । यह शरीर ही नश्वर है–बस !' एच० डब्ल्यू० बीचर (H. W. Beecher) ने बहुत ठीक कहा है कि 'जिस प्रकार पहले फूल लगता है और जब वह झड़ जाता है, तब उसके स्थानपर फल या बीज उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार यह मृत्यु है जो नवीन रूपको जन्म देती है ।'

इसलिये शरीरको नश्वर समझते हुए उससे मोह करना या उसपर घमंड करना नादानी और अज्ञान है । जो इस अज्ञानमें नहीं पड़ता, उसीका कल्याण होता है । हमारा कल्याण इसीमें है कि हम किसीसे भी राग-द्वेष न कर अपने धन-बल या दारिद्र्यपर भी सुख-दुःख करना छोड़ दें और जीवनको उस एक उद्देश्यकी सिद्धिका साधन समझें, जिसके लिये भगवान् शङ्करने स्पष्ट शब्दोंमें कहा है—

एकं ज्ञानं नित्यमाद्यन्तशून्यं
नान्यत् किञ्चिद् वर्तते वस्तु सत्यम् ।
यद्भेदोऽस्मिन्निन्द्रियोपाधिना वै
ज्ञानस्यायं भासते नान्यथैव ॥

अर्थात् 'एक नित्य, आदि-अन्तरहित ज्ञान सत्य है । ज्ञानके सिवा अन्य कोई वस्तु सत्य नहीं है । इन्द्रियरूप उपाधिके कारण इस संसारमें जो विभिन्नता दीख पड़ती है, वह भी ज्ञानमें ही भासती है ।'

इस ज्ञानका उपार्जन करना ही हमारा सबसे बड़ा कर्तव्य है और इसे प्राप्त करनेके लिये सद्गुरुकी तलाश करनी चाहिये । इसके अभावमें ही सब अनर्थ होते हैं । शिवसंहितामें स्पष्ट लिखा है—

अभेदो भासते नित्यं वस्तुभेदो न भासते ।
द्विधात्रिधादिभेदोऽयं भ्रमत्वे पर्यवस्यति ॥
यद् भूतं यच्च भाव्यं वै मूर्तामूर्तं तथैव च ।
सर्वमेव जगदिदं विवृत्तं परमात्मनि ॥

अर्थात् 'परमात्मा संसारसे भिन्न नहीं है । किसी वस्तुमें भेद नहीं है और जो भेद प्रतीत होता है, वह भ्रम है । जो हुआ है और जो होगा, जो मूर्तिमान् है और जो अमूर्त है—वह सब परमात्मामें अज्ञानसे भासता है ।' ऐसा परम ज्ञान हो जानेसे सब भेद-भाव छूट जाता है । सारी वस्तुएँ ईश्वरमय हो जाती हैं और मनका मोह नष्ट हो जाता है ।

ऐसे ज्ञानके उपार्जनमें ही हमारा महाकल्याण है ।

पगली

[कहानी]

(लेखक—पं० श्रीकृष्णानन्दजी अग्निहोत्री)

उसके मुखसे तेज टपकता था । ऐसा मालूम होता था कि ज्ञान और वैराग्यका स्रोत बह रहा है । मगर उसके गुणोंको पहचाननेवाला उस गाँवमें कोई न था । लोग उसे 'पगली' कहा करते थे । उसके कार्योंसे भी यही निश्चित किया जा सकता था कि वह पगली है । उसकी परवा किसीको भी न थी और न वह खुद किसीकी परवा करती थी । हाँ ! परवा करती थी उनकी, जो उसके हृदयमें बसे हुए थे । उन्हींके लिये उसने लोक-लाज,मान-मर्यादा–सबका त्याग कर दिया था।

बचपनमें ही उसके माता-पिता परलोक सिधार गये थे । वे कुलीन थे । जब 'पगली'के घरमें कोई न रहा, तब उसके पड़ोसके एक ब्राह्मणने दया करके अपने पास रखा । उन ब्राह्मण-देवताका नाम था पं० लक्ष्मीनारायण । बहुत ही सज्जन थे वे । प्रात:काल उठकर दो-ढाई घंटेतक ईश्वराराधन किया करते थे । 'पगली' भी उनका साथ देती । जबतक 'पगली' नासमझ थी, वह पण्डितजीके पास ही बैठकर भगवान्की मूर्तिकी ओर एकटक निहारती और कुछ गुनगुनाकर कहती । पूजाके लिये वह फूल तोड़ लाती और अनन्य प्रेमसे भगवान्का शृङ्गार करती ! उसके इस सरल, भक्तिपूर्ण भावसे पं० लक्ष्मीनारायणका हृदय भी भर आता ।

पं० लक्ष्मीनारायणने उसकी लगन देखकर उसे उपदेश देना शुरू कर दिया । बड़े प्रेमसे वे उसे भागवत, रामायण आदि ग्रन्थ विस्तारपूर्वक सुनाते और समझाते । ज्ञान और वैराग्यका भी विवरण पूर्णतया कर दिया था । थोड़े ही दिनोंमें 'पगली'का भगवान्के प्रति विश्वास तथा प्रेम और इस मिथ्या जगत्के प्रति अविश्वास और घृणासे हृदय भर उठा । उसका ज्ञान कार्यरूपमें परिणत हो गया और क्रमशः उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त होता गया । यहाँतक कि पं० लक्ष्मीनारायण स्वयं उससे अपनी त्रुटियाँ जानने लगे । पगलीको देखकर पण्डितजीका हृदय गद्गद हो जाता । मगर यह सुख उनको अधिक समयके लिये न मिल सका । उनका कार्य समाप्त हो चुका था । उनका कार्य इतना ही था कि वे भगवद्दत्त पात्रमें भगवद्दत्त रस भर दें और उसे भगवदर्पण करके भगवद्धाममें चले जायँ । ऐसा ही हुआ ।

पगली अकेली पड़ गयी । पगलीका इस संसारमें अब कोई न रह गया । उसे अब अकेला रहना होगा । पगलीको पण्डितजीके देहान्तका सांसारिक दुःख न था । दुःख था केवल इस बातका कि वह उनकी सेवा न कर सकी थी ।

× × ×

इस समय उसकी उम्र २० वर्षके लगभग थी । उसे संसारका पूर्णतया ज्ञान था । वह सुन्दरी थी ! रूप मनुष्यको न जाने किस वक्त अंधा बना दे । वह अच्छी तरह जानती थी कि उसका रूप और उसकी आयु उसके सबसे बड़े शत्रु हैं । इनका उसने अच्छा प्रतिकार कर रखा था । उसने अपने केशोंको जटाओंके रूपमें परिणत कर लिया और उन जटाओंको अपने मुखपर बिखेरे रहा करती थी । उसकी बड़ी-बड़ी आँखें जटाओंमें छिप जाती थीं । अपने शरीरपर वह सदा धूल लपेटे रहती थी। गाँवमें जब वह निकलती, एक विचित्र शब्द करती हुई चलती । लोग उसे पगली कहने लगे थे । कोई भी उसे पहचान न सका ।

× × ×

वह पगली जरूर थी; मगर लोग यह भी जानते थे कि गाँवमें जहाँ कहीं भी हरि-चर्चा होगी, वहाँ पगली सबसे पहले पहुँचेगी। लोग जानते थे कि पगली स्वभावतः भगवान्‌के गुणानुवाद सुनने आ जाती है। वह कभी बोलती जरूर नहीं, पर बात सबकी समझती थी। वह पूर्णतया विक्षिप्त नहीं थी। उसके कुछ कार्य ऐसे थे, जो बड़ों-बड़ोंको विस्मयमें डाल देते थे।

एक बार गाँवमें एक बहुत ही विद्वान् पण्डितका आगमन हुआ। ग्रामवासियोंने पण्डितजीके सामने भागवत सुनानेका प्रस्ताव रखा। पण्डितजी सहमत भी हो गये। पण्डितजी एक-ही-दो रोज रुक सकते थे। उतने समयमें पूरी कथा नहीं सुनायी जा सकती थी। इसलिये उन्होंने दशमस्कन्धसे श्रीकृष्णकी लीलाओंका वर्णन करना ही उपयुक्त समझा। भगवान्‌की लीलाएँ सुनकर किसे आनन्द नहीं होता। फिर ऐसे सुचारुरूपसे वर्णित प्रसङ्गोंको पण्डितजीकी रसीली और कोमल कण्ठसे निकली हुई व्याख्याके साथ कौन नहीं सुनता।

गाँवमें पाठ होने लगा। गाँवभरके लोग जमा हुए। पगली सबसे पहले बैठी थी। उसका स्थान पण्डितजीके आसनसे बिल्कुल मिला ही हुआ था। एक तरफ महिलाओंका समाज और दूसरी ओर पुरुषोंका! समाँ बँधा हुआ था। 'रुक्मिणी-हरण' लीला चल रही थी! सबके श्रवण भागवतामृतका पान कर रहे थे। पण्डितजीने बड़े ही सुरीले कण्ठमें कहा—

यस्याङ्घ्रिपङ्कजरजःस्नपनं महान्तो
वाञ्छन्त्युमापतिरिवात्मतमोऽपहत्यै।
यर्ह्यम्बुजाक्ष न लभेय भवत्प्रसादं
जह्यामसून् व्रतकृशाञ्छतजन्मभिः स्यात्॥

सब लोग निस्तब्ध थे। अभीतक पगलीके केवल आँसू ही निकल रहे थे, मगर इस श्लोकको सुनते ही वह फूट पड़ी। वह आवेशको न रोक सकी। उसे सुध-बुध न रह गयी। उसे मूर्च्छा आ गयी। कुछ भक्तजनोंके मुँहसे निकल ही तो पड़ा, 'धन्य है। कितना गाढ़ प्रेम है!'

कथाको आरम्भ हुए देर हो चुकी थी। अध्याय भी समाप्त ही था! पगली ही कथाकी समाप्तिका कारण बनी। लोगोंने उसे घेर लिया। कोई हवा करने लगा और कोई ठंडे जलके छींटे देने लगा! सब लौकिक उपचारमें लीन थे। मगर किसीको यह न मालूम था कि इस समय पगली स्वयं ही रुक्मिणीके स्थानमें थी और भगवान्‌का आवाहन कर रही थी। वह दूसरे ही संसारमें थी। वह देख रही थी कि भगवान् उसकी पुकार सुनकर दौड़े आ रहे हैं! उन्होंने आकर उसकी ओर प्रेमभरी मुसकानसे देखा! पगली कृतकृत्य हो गयी! उसने अपनी आँखें प्रेमसे विह्वल होकर मूँद लीं।

जब उसने आँखें खोलीं तो देखा कि गाँववाले उसे घेरे खड़े हैं। उसने तुरंत अपना शरीर सँभाला और पगलीका अभिनय करती हुई वहाँसे चली गयी!

× × ×

पगलीमें केवल भक्ति ही नहीं थी! उसे तो सब जीवोंमें भगवान्‌की ही झलक दिखलायी पड़ती थी। वह जब कभी एकान्तमें होती, गुनगुनाने लगती—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

किसी भी जीवको यदि वह दुखी देख लेती तो स्वयं बहुत दुखी होती और उसके दुःख-निवारणके लिये ईश्वरसे प्रार्थना करती और स्वयं भरसक प्रयत्न करती।

एक बार उसके गाँवका एक गरीब बालक बीमार पड़ा। उसकी आयु १४-१५ वर्षकी थी! उसके कोई भी नहीं था। गाँवमें धनी लोगोंके यहाँ कुछ काम कर देता था और उसके बदलेमें जो कुछ मिल जाता, उसीसे उदर-पूर्ति कर लेता था। इस समय वह असहाय था। वह चारपाईसे उठ भी नहीं सकता था! पगलीको

किसी प्रकार इसकी खबर लगी । वह निरन्तर उसी बालकके यहाँ रहने लगी। यह उसकी कोई नयी आदत न थी । कई बार ऐसा हो चुका था ।

तीन दिनसे उस बालककी हालत बहुत ही खराब थी। पगली रातमें भी वहीं रहने लगी! उस रातको उसके बचनेकी आशा न थी ! पगली तीन रोजसे बिल्कुल न सो सकी थी । दो बजेके लगभग उसे जोरकी झपकी आयी । बालक जग रहा था । वह पगलीको समझना चाहता था । उसका हृदय तो वह अच्छी तरह समझ चुका था मगर उसका वेष और हाव-भाव नहीं समझ पाया था । वह बड़ी दुविधामें था । उसका हृदय कहता था यह पगली नहीं, देवी है ! मगर लोग और उसके हाव-भाव यही कहते थे कि वह पगली है ! वह इसी विचारमें लीन हो गया था । उसे यह नहीं मालूम था कि उसकी क्या हालत है ।

पगली स्वप्न देख रही थी । वह भगवान्‌के पास पहुँच गयी है । भगवान् सामने खड़े मुसकरा रहे हैं । उनका अभय हस्त उसके सिरपर है ! उसने भगवान्‌से प्रार्थना की---'देव ! इस बालकको स्वस्थ कर दो।' भगवान्‌ने 'एवमस्तु' कहा और अन्तर्धान हो गये ।

वास्तवमें तो वह स्वप्न देख रही थी, मगर वह वाक्य उसके मुखसे निद्रावस्थामें निकल पड़ा ! बालकका ध्यान टूट गया । उसको आश्चर्य हुआ । पगली कुछ कह रही है ! इसके पहले गाँवके किसी भी पुरुष या स्त्रीने पगलीके मुखसे कोई भी सार्थक शब्द न सुना था ।

बालकने देखा, पगली सो रही है ! जब वह जगा, तब उसने पगलीसे कहा, ''माँ ! मेरी आखिरी बात मान लो ! अब मैं थोड़ी ही देरका मेहमान हूँ । अब तुम अपनेको मुझसे न छिपाओ ! मैंने सुना है कि तुम स्वप्नमें किसीसे कह रही थी—'देव ! इस बालकको स्वस्थ कर दो ।' अब छिपानेसे कोई लाभ नहीं । माँ ! जल्दी कहो न ।''

पगली अपनेको न रोक सकी । उसके आँसू बह रहे थे । उसने बालकको अपना ही पुत्र समझा और उससे स्वप्नका हाल तथा अपना सारा वृत्तान्त कह सुनाया । पगलीका हाल सुनकर—उसके त्याग, भक्ति, ज्ञान और वैराग्यका हाल सुनकर बालकको रोमाञ्च हो आया । उसकी पगलीके प्रति श्रद्धा जाग उठी और भगवान्‌में भी अनन्य प्रेम तथा विश्वास हो गया । उसने पगलीको अपनी माता मानकर प्रणाम किया ।

× × ×

बालक अब स्वस्थ हो गया था । पगलीने उसे मना कर दिया था कि वह किसीको भी यह सब वृत्तान्त न सुनाये । बालक भी अब पगलीके साथ ही रहने लगा और शिक्षा पाने लगा ।

× × ×

पगलीका प्रातःकालका नियम था कि वह सबसे पहले जाकर नदीमें स्नान कर लौट आती थी । यह क्रम उसका प्रतिमासका था । जाड़ेके दिन थे । सर्दी भी अधिक पड़ रही थी । मगर पगलीको शीतका कुछ भी डर न था । वह नित्य-प्रति सदाकी भाँति स्नान करने जाती थी । एक दिन उसे सर्दी लग गयी । घर लौटते-लौटते उसे बहुत तीव्र ज्वर हो आया । उसके सारे शरीरमें पीड़ा होने लगी और बढ़ती ही गयी । उसकी हालत दिन-प्रति-दिन खराब होती गयी । बालक उसकी शुश्रूषा करता था । मगर वह निराश हो उठता था । वह इस चिन्तामें था कि पगलीके बाद उसे धर्मपथ कौन सिखायेगा । वह तरह-तरहकी चिन्ताओंसे व्याकुल हो उठता था । मगर इसपर उसका कोई वश न था ।

पगलीके दिन प्रायः समीप थे । अब वह मृत्यु-शय्यापर पड़ी थी । उसे उन्माद हो गया था । उस उन्मादमें कभी वह गीताका पाठ करने लगती और कभी भगवत्कीर्तन करते-करते उठ खड़ी होती । बालक यह

अवस्था देखकर घबरा गया। वह लाचार था। वैद्योंने एक 'पगली' का उपचार करनेसे इन्कार कर दिया था।

थोड़ी देरके लिये 'पगली' शान्त हुई और उसने बालकको बुलाकर कहा, 'बेटा! बुरा न मानना, मेरा समय अब आ गया है। मैं तुमसे कुछ कहना चाहती हूँ। संसारमें विषयोंके सङ्गके कारण ही मनुष्यको फिर जन्म लेना पड़ता है। मैंने सबसे छुटकारा पा लिया। तुम्हें मालूम है—मैं आजन्म कुमारी ही रही। मैंने तुम्हें पुत्र-सा मानकर रखा है; मगर मैं यह नहीं चाहती कि इस स्नेहके कारण मुझे फिर जन्म लेना पड़े। यह स्नेह मेरी आत्मापर कोई प्रभाव नहीं डाल सकता। मैं मोहमें नहीं फँसी हूँ। फिर भी तुम्हारा कल्याण ही मेरा मनोरथ है। तुम भी इस संसारसे अलग ही रहना। अपने गुरुके स्थानपर कमलको रखो। देखो, वह जलमें ही उत्पन्न होता है। जलसे ही उसकी शोभा है, बेटा! मगर क्या कभी जल कमलके ऊपर असर कर सकता है। एक बिन्दु भी कमलपर नहीं ठहर सकता। बेटा! हम लोगोंका जीवन इन्हीं विषयोंसे घिरे हुए वातावरणमें हुआ है। इन्हींके सहारे हम जीते हैं। मगर देखो, ये हमपर असर न कर पाये।'

'पगली' कहते-कहते सहसा रुक गयी। उसकी दृष्टि छतकी ओर एकटक लगी हुई थी। वहाँ वह देख रही थी—भगवान् खड़े हैं, पीताम्बर धारण किये हैं। एक हाथमें मुरली लिये हैं। अधरोंपर मीठी मुसकान थी। उन्होंने कुछ इशारा किया। पगलीके ओठ खुल गये। एक हल्की-सी मुसकान फूट पड़ी। उसके मुखसे यह मन्त्र निकला—'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।'

पगलीकी आत्मा उसके प्रियतममें मिल गयी थी। वह अब आवागमनके चक्रसे मुक्त थी। एक स्त्री होकर उसने वह किया जो बड़े-बड़े वीर, साहसी, मनस्वी मुनिगण बड़े परिश्रमके बाद भी करनेमें असफल ही रहते हैं। भगवान्के भक्तोंकी लीला न्यारी ही है।

"बोलो भक्त और उनके भगवान्की जय!"

भक्तकी साधना

[गद्य-काव्य]

(लेखक—श्रीछैलबिहारीजी गुप्त 'छैल')

रूठे ही रहोगे क्या, देव!

सुना दो न फिर वही अपनी बंसीकी रसमयी तान।

भक्तजन उस रसमयी तानकी मधुरता समझेंगे और समझकर उसीमें अन्ततक लवलीन हो जायेंगे।

नास्तिकजन लेकिन उसे पागलका प्रलाप अथवा मेसमेरिज़्म समझेंगे।

वैज्ञानिक महापुरुष उसे विज्ञानद्वारा किसी राग-विशेषकी प्रतिध्वनिके रूपमें प्रमाणित करनेकी असफल चेष्टा करेंगे।

समय-पर-समय बीतता गया, मैं तुम्हें मनाता ही रहा; किन्तु तुम न पसीजे, देव!

तुम्हारी पुण्य-स्मृतिकी प्रकाश-रेखाके सहारे-सहारे मैं कितने समयसे भटकता फिर रहा हूँ, यह अतीतके गर्भसे पूछे कोई।

समय-पर-समय बीतता गया, मैं तुम्हें मनाता ही रहा; किन्तु तुम न पसीजे, देव!

लेकिन अब तुम्हीं बताओ न कि तुम्हें कैसे मनाया जाय। अज्ञानी तो हूँ, फिर इतनी बुद्धि आये भी कहाँसे कि तुम्हें पिघला दूँ।

यह भी तो नहीं जानता कि मेरे दीनदयालु अपने इस मूर्खाधिराज भक्तपर रीझेंगे भी क्योंकर?

लेकिन भूलना नहीं, प्रभो·······मैं भी ध्रुवकी तरह अटल हूँ·······और अन्ततक रहूँगा, जबतक कि मेरे नटवर-नागर अपने भक्तपर पूर्णरूपसे अपनी कृपादृष्टि न करेंगे। आपने ही तो कहा है—'मैं भक्ताधीन हूँ।'

हुँः !! भक्ताधीन—क्या यह वास्तवमें आपने कहा है अथवा वेदादिमें मनगढ़ंत ही है ?

कैसे विश्वास हो मुझे, देव ! मैं तो इसे ही अत्यधिक समझूँगा।

जब मेरे नटवर-नागर अपने पवित्र दर्शनोंका लाभ सहजमें ही करा दें, यही मेरी निधि होगी।

हृदयके अञ्चलमें अपना यह सुख बटोरे अन्ततक मैं आपकी पुनीत साधनामें लीन हो जाऊँगा।

यही तो मेरी साधना है, मेरे देव !

इसी साधनाको लेकर मैं अपने दीनदयालुके दरबारतक आना चाहता हूँ।

क्या मेरी इतनी-सी भी विनती न सुनी जायगी ?

संसारकी किसी भी वस्तुकी—अर्थ, धर्म, कर्म, यहाँतक कि निर्वाणगतिकी भी कामना नहीं है, प्रभो !

मुझे चाहिये केवल आपकी निर्मल भक्ति, मेरे ईश्वर !

मैं याचक हूँ, मेरे धनकुबेर ! आपके लिये तो कुछ भी अदेय नहीं है।

फिर क्या इतनी तनिक-सी भी भिक्षा नहीं मिलेगी ?

इसी भक्ति-प्रेमको साथ लिये हुए मैं अपनी इस नश्वर देहको त्याग कर शिवलोकको जाना चाहता हूँ, जहाँ पहुँचकर भी मेरी आत्मा आपमें ही लीन रहे।

वेद, महाभारत तथा गीता आदिका सूक्ष्मरूपसे अध्ययन किया। फल यह निकाला कि आपने अपने अनेकों भक्तोंको अनेक रूपोंमें अवतार लेकर तारा, तथा गीताका पवित्र उपदेश देकर तो आपने संसारको वास्तविक मार्ग दिखला दिया। अबोध बालक ध्रुवको आपने प्रसन्न होकर भक्ति-दान दिया।

मुझे भी यही दान दे दीजिये न, प्रभो; मुझे भी तो केवल इसी वस्तुकी चाह है।

शीघ्र आओ, मेरे देव ! और आकर तनिक मेरी दशापर तो दृष्टिपात करनेका कष्ट उठाओ।

सांसारिक बन्धनोंमें पड़कर मैं कितना विषयासक्त, अधम तथा नीच हो गया हूँ !

आओ, भगवन् ! आओ !! आकर शीघ्र तारो न मुझे !!! इसमें आपकी भी तो निन्दा होती है, देव ! जब संसार मुझे देखकर मेरा हास्य करता है। कोई कहता है—'बगुला-भक्त है,' 'मेढक और मल्हार गाये,' 'बिल्ली चली हज्जको,' इत्यादि।

लोग अनेकों फबतियोंसे मुझे विभूषित करते हैं।

सोचो न कि मुझे उस समय कितना दुःख न होता होगा। लेकिन मैं इसे एक क्षण भी माननेको प्रस्तुत नहीं हूँ कि मैं तो तुम्हारी पुनीत साधनामें अनेकानेक कष्ट सहता रहूँ और तुम वहाँ क्षीरसागरमें शान्तिपूर्वक बैठे रहो।

तो तुम्हीं बताओ न कि फिर किस प्रकार तुम्हारी भक्ति की जा सकती है।

तो क्यों न शीघ्र आकर मेरा इन संसारवालोंसे पीछा छुड़ा दो।

आपका छूटेगा पिण्ड और मेरा होगा उद्धार।

'बोलो नटवर गिरधारीकी जय !'

लङ्कायुद्ध और राजनीति

(लेखक-डा० श्रीहरिहरनाथजी हुक्कू, एम्० ए०, डी० लिट्०)

राम और रावण, रघुकुलभूषण और निशिचरनाथ, दोनों अमर हैं। एक इसलिये कि वे आनन्दके आदि-स्रोत हैं—'सकल लोक-अभिरामं' और दूसरा इसलिये कि उसने तीनों लोकोंको रुलाकर दुःखकी तीव्रतासे उन्हें परिचित कराया—'रावणो लोकरावणः'। रावण न होता तो पृथ्वी श्रीहरिको क्यों पुकारती। राम न आते तो ऋषिपत्नी कैसे तरती, सुग्रीवका भय कौन दूर करता, जनक-लाड़िलीकी और हमारी असह्य पीर कौन हरता। राम और रावण—एक सुखद, तापहर जलधरके समान श्यामसुन्दर और दूसरा पाप-गर्भित रात्रिकी कालिमा-जैसा असुन्दर। राम कोमलतम कुसुमसे अधिक कोमल और अति कठोर कुलिशसे भी कठोर, और रावण केवल कठोर। यही राम या रावण हमारे स्वामी हैं। यदि हम सरकार श्रीरामचन्द्रजीके सेवक हैं तो मानव कहलानेके अधिकारी हैं; नहीं तो मनुष्य होते हुए भी निशाचरराजके सेवक तो हैं ही—'देह धरे मनुजाद'। इन दोनोंमें ऐसा असादृश्य है कि लङ्काका युद्ध उतना ही अनिवार्य था, जितना रवि-कर-निकरद्वारा तम-पुंज-संहार। इस युद्धका आदि कारण चाहे एक ललनासे सम्बद्ध रहा हो, परन्तु उसका उद्देश्य प्रियतमा-हरणका प्रतिकार नहीं था। राम-रावण-युद्ध आदर्शोंका संघर्ष था। रावणका आदर्श था—स्वार्थ, विलास, पर-धन एवं पर-दाराका हरण, विश्वविजयोचित अहंकार, राजमुकुट-स्पर्शसे चरणोंको मणि-धूलि-धूसरित करना, देवताओंसे सेवा कराना, देवता बन बैठना तथा कलि-निवास कनक-प्रासादोंसे चमचमाती और अनङ्ग-आह्लादिनी नूपुर-ध्वनिसे गुञ्जित इन्द्रलोक-सी लङ्कापुरीका राजा बनना और सरकारका आदर्श था—केवल लोकहित। मादकता-पूरित मन-हर लङ्कानगरीके राजाने यह न समझा कि स्वार्थ-कल्पित जीवोंकी असमानता भ्रम है, विलास-प्रिय देहको भी राख बनकर एक दिन पंथकी धूल बनना पड़ेगा और अहंकार एक मोहक भ्रम है। क्योंकि "मैं" नहीं है; जो कुछ है, वह "वह" है। अन्धकार प्रकाशका अभावमात्र है, असत्य है। जो सत्य है, वह प्रकाश है—यह बात निशाचरनाथ न समझा और असत्यकी निद्राके मादक स्वप्नोंको उसने सत्यकी पदवी दी। इसलिये जब राम-रावण-युद्ध हुआ, तब रावण हारा और सरकार जीते। सत्यकी विजय हुई। विजय सर्वदा सत्यकी ही होती है।

दीनबन्धु करुणानिधान सरकारकी यह इच्छा न थी कि वे रावणको मारकर उसके साम्राज्यके अधिकारी बन बैठें। यदि वे ऐसा करते तो साम्राज्य वादियोंमें और सरकार श्रीरामचन्द्रजीमें कुछ भेद न रहता। यह सत्य है कि एकके उपरान्त दूसरे देशकी विजयसे विजेताकी कीर्त्तिकौमुदी दूर-दूर फैल जाती है, जैसे बत्तियोंकी संख्या बढ़ानेसे दीपकका आलोक। परन्तु एक दिन दीपशिखाकी ज्वालामें वह विजेता स्वयं पतङ्ग बन जाता है। इस आलोकसे मोहित होकर वह अपनी पराक्रम-ज्वालासे एकके बाद दूसरा कीर्त्तिदीप लेसकर अपने प्रकाश-विस्तारसे दो दिन सुखी हो लेता है, दो दिन हँस लेता है औरोंको रुलाकर, लाखोंकी हत्या करके अपनी अमरताके मादक स्वप्न देखकर। फिर उसे भी उसी दीपककी लपलपाती ज्वालाकी भूख मिटानेको पतङ्ग बनना पड़ता है, जिसको उसने अपने हाथोंसे जलाया था। साम्राज्य-प्रसार-कर्त्ताओंकी इस दशाकी पुनरावृत्ति ही इतिहासकी कहानी है।

सरकार यह जानते थे—और कविसम्राट् तुलसी भी। साम्राज्य-विस्तार-आकाङ्क्षाकी नींव स्वार्थ, अहंकार और लोभमें गहरी धँसी है। परन्तु पतितपावन दीनानाथमें ये मनोविकार कहाँ! न युद्धके पहले,

न उसके बाद; सरकारकी कभी यह इच्छा हुई कि लङ्केशकी अतुल सम्पत्ति हस्तगत कर लें। निशाचरपतिका राज्य और धन उन्होंने निशाचरको ही दिया। यही उपयुक्त था। परन्तु विभीषण रावणका भाई होते हुए भी रावणसे भिन्न था। यह राम-भक्त था। वह उस आदर्शको पवित्र समझता था, जिसका प्रचार सरकारने श्रीमुखसे कहकर और अपने जीवनमें चरितार्थ करके किया। जब विभीषणने रावणसे कहा—

परिहरि मान मोह मद भजहु कोसलाधीस।

—और माल्यवंतने इसका समर्थन किया—

सो उर धरहु जो कहत बिभीषन।

—और वालिकुमारने यह शिक्षा दी—

'प्रनत पाल रघुबंस मनि त्राहि त्राहि अब मोहि।
आरत गिरा सुनत प्रभु अभय करैगो तोहि॥

——तथा मन्दोदरीने समझाया——

कृपा सिंधु रघुनाथ भजि नाथ बिमल जसु लेहु॥

——तब इन सबका अभिप्राय यही था कि रावण अपना आदर्श बदल दे और राम-भक्त बन जाय। रामाश्रित होनेसे रावणके राज्य छिन जानेका भय किसीको न था। 'मम पन सरनागत भयहारी' इस श्रीवचनकी ख्याति जगद्व्यापिनी थी और इसपर लोगोंका अटूट विश्वास था। मन्दोदरी अपने पतिका पराक्रम जानती थी। अर्द्धाङ्गिनीके नाते लङ्कापतिको जैसा वह जान पायी थी, वैसा और कोई नहीं जान पाया। उसे इसमें सन्देह नहीं था कि तीनों लोकोंको रुलानेवाले रावणमें आदर्श परिवर्तन होनेसे वह दूसरे प्रकारसे भी अद्वितीय सिद्ध होगा। इसीसे उसने कहा—'बिमल जसु लेहु।' रावण ऐसा पराक्रमशील था कि वह जिस स्थितिमें होता, उसीमें अग्रगण्य और यशस्वी होता। उसकी यशःपताका अबतक शोणितरञ्जित थी। अपने पश्चात्तापकी अश्रुधारासे रावण उस पताकाको विमल कर दे—यही पतिव्रता मन्दोदरीकी आशा थी। पताका तो रावणके ऊपर रहती ही। इसी अर्थसे रानीने कहा—'बिमल जसु लेहु।'

परमपावनी श्रीअयोध्यापुरीमें छः मास बीतनेपर सरकारने अपने सखाओंको जो सीख दी—

अब गृह जाहु सखा सब भजेहु मोहि दृढ़ नेम।
सदा सर्बगत सर्बहित जानि करेहु अति प्रेम॥

—उसमें उन्होंने 'भजेहु मोहि' को इसलिये महत्ता दी कि वे सरकारके रहन-सहनको और उस लोककल्याणप्रद आदर्शको न भूल जायँ, जिसे सरकारने अपने जीवनमें चरितार्थ करके उसके क्रियात्मक होनेका प्रमाण दिया। जिस आदर्शको पुनर्जीवित करनेके लिये सरकारने परमधाम छोड़कर इस क्रन्दन-पूरित पृथ्वीपर अवतरित होनेकी दया की तथा जिसके अनुसरणसे सरकारने संतोंको अपने भक्तभय-भञ्जन होनेका विश्वास दिलाया और उन पददलित जनोंको आशाका पाठ पढ़ाया, जिनके लिये वर्षोंकी विपत्तियोंकी अटूट शृङ्खलाने आशा, मृगतृष्णा और असत्यको पर्यायवाची कर दिया था। उस आदर्शको कृपासिन्धुने हमारे कल्याणके लिये श्रीमुखसे बहुत थोड़े शब्दोंमें स्पष्ट करनेकी कृपा की है—

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥
निर्नय सकल पुरान बेद कर। कहेउँ तात जानहिं कोबिद नर॥

जब श्रीरघुवीरने अपने सखाओंसे कहा—'भजेहु मोहि' उस समय उनकी इच्छा थी कि दूर-दूर देशोंमें उस जगत्-कल्याणप्रद आदर्शका प्रचार हो, जिसके द्वारा धर्म और आनन्द प्रजामें फैले और राजाके विमल यशका विस्तार हो। 'भजेहु मोहि' में मानव दशरथ-कुमारकी ओर संकेत नहीं है, बल्कि उन 'एक अनीह अरूप अनामा' की ओर, जो हरिरूपसे हमारा कष्ट हरते हैं, राम बनकर हमारे मानसमें रमण करते हैं और कृष्णस्वरूपसे अपनी वशीकरण बाँसुरीके द्वारा हमें बरबस अपनी ओर खींच लेते हैं। 'भजेहु मोहि' किसी अहङ्कार-ग्रस्त अवनीपतिकी पूजा करनेका आदर्श नहीं था। यह कहकर तो सरकारने अपने सखाओंको उस आदर्शकी स्मृति चिरस्थायी रखनेका उपदेश दिया, जो करुणानिधानको परम प्रिय था। उस आदर्शकी चिरस्मृति विना राम-भजनके—विना 'राम बिलोकनि बोलनि चलनी' की निरन्तर यादके—नहीं हो सकती थी। राम-भजनकी

आवश्यकताका अनुभव भक्तवर विभीषणने इन शब्दोंमें व्यञ्जित किया है—

तब लगि हृदय बसत खल नाना । लोभ मोह मत्सर मद माना ॥
जबलगि उर न बसत रघुनाथा । धरें चाप सायक कटि भाथा ॥

यही कारण था कि उन्होंने रावणसे 'भजेहु कोसलाधीस' और 'कृपासिंधु रघुनाथ भजु' के लिये प्रार्थना की ।

परन्तु उसे यह मान्य नहीं था; क्योंकि वह निशाचरपति था, लङ्केश था, रावण था । इसलिये युद्ध हुआ और जिस आदर्शकी स्थापना सरकार रावणके मत-परिवर्तनद्वारा करना चाहते थे वह उन्हें लङ्कापति और उसके अनुचर तथा भक्तोंको मारकर करनी पड़ी; क्योंकि आदर्शकी सफलताने एक निशाचरको 'रावणो लोकरावणः' बनाया था, उसका संहार लोककल्याणकारी था ।

साम्राज्य-पिपासा-प्रेरित विजयमें अतीतकी कटु स्मृति विजितका भविष्य दुःखपूर्ण बना देती है और प्रतीकारकी शोणित-लिप्त कामना उसकी कल्पनामें युद्ध और पुनर्विजयके स्वप्न खींचा करती है । फलतः एक बार फिर तलवारें चमकती हैं और सहस्रों शान्तिपूर्ण गृहोंके सुखपर बिजली गिरती है; परन्तु आदर्शकी जीतमें यह सब नहीं होता । न भूतकी कटु स्मृति रहती है, न भविष्यके रक्त-रञ्जित स्वप्न । धर्म-रथके पक्षपाती वीर श्रीरामचन्द्रजीका विश्वास था कि उच्च आदर्शके द्वारा विजय श्रेष्ठ और स्थायी होती है तथा इसका परिणाम भी सुखद और कल्याणकारी होता है । यही कारण था कि न वालीका राज्य उन्होंने हस्तगत किया न रावणकी कनकमण्डित लङ्का; बल्कि वानरके स्थानपर वानरको रखा और राक्षसकी गद्दीपर राक्षसको । सरकारने दोनों राज्योंको जिन्हें सौंपा, वे राम-भक्त थे—अर्थात् निःस्वार्थ जनसेवा और लोकप्रेमके आदर्शके अनुयायी थे । ऐसे ही भक्तोंकी व्याख्या महेश्वरने इस प्रकार की है—

उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध ।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध ॥

आदर्शकी जीत ही सच्ची विजय है । इससे लोहा सोना बन जाता है और सरकारसे इससे कम क्या आशा की जाती ।

पथिक

(लेखक—श्रीसत्यप्रकाशजी किरण)

भगवान्ने कहा—'परदेश जाकर तुम्हें गाढ़ी कमाई करनी होगी । राह-खर्चके लिये यहाँसे कुछ भी नहीं मिलेगा । स्वावलम्बनसे ही तुम्हें सब कुछ करना होगा । यह सारा कष्ट इसीलिये दिया जाता है कि तुम अपनी कमाईसे यहाँ सुखका घर बना सको । यह तुम्हारी परीक्षा है । समयपर मेरा स्मरण करना ।'

मनुष्यने उत्तर दिया—''देव ! आप मुझपर विश्वास करें । मैं सौगंद खाकर कहता हूँ कि आपको स्मरण रखते हुए अक्षरशः वैसा ही करूँगा, जैसा आपने आदेश दिया है । 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' ही हमारा ध्येय रहेगा ।''

भगवान्ने आशीर्वाद दिया और पथिक चल पड़ा । कुछ दूर जानेपर उसे नींद सताने लगी, इसलिये वह एक जगह सो गया और लगातार नौ महीनेतक सोता ही रहा । और तब एक दिन वह एक ऐसी जगहपर पहुँचा, जो उसके लिये एकदम नयी थी । उसे घेरकर उसीके समान कई प्राणी बैठे हुए थे । उसने देखा कि उसकी देहपर कुछ भी नहीं है । उसमें बड़ा भारी परिवर्तन हो गया था—हाथ, पैर, आँख, जीभ आदि शरीरके सभी अङ्ग छोटे, कोमल और अति सुकुमार हो गये थे ।

बड़ी भूख लगी थी । उसने खानेके लिये कुछ माँगना चाहा तो उसके कण्ठसे स्वर निकला पर भाषा न निकली । ऐसे दुःखके समयमें उसने भगवान्को तो याद नहीं किया पर वह रो पड़ा और लगा चिल्लाने अपनी बेबसीपर । इस समय एक उसीके समान प्राणीने उसका छोटा-सा मुँह एक कोमल स्थानमें सटा दिया । उसने तब एक तरल पदार्थका अनुभव अपनी जीभपर किया

और बड़े सुखसे उसे पान करने लगा । ऐसे आनन्दके समयमें भी उसने भगवान्‌को धन्यवाद देना तो दूर रहा, स्मरणतक न किया ।

× × ×

पथिक अब सुकुमार और दुर्बल न रह गया था । उसने देखा कि उसके हाथ-पैर पुष्ट हो गये हैं । उसने वह अपनेमें बलका अनुभव किया और ज़रा गर्वसे फूल उठा, यह सोचकर कि अब वह बलवान् है । हाय! मूर्खने यह न जाना कि यह बल कुछ उसने अपनी मिहनतसे नहीं पाया है, यह भी उसी गुप्त दयालुका दान है जिसे वह भूल चुका है ।

पथिक आया था जगत्-परदेशमें, मजूरी करने । उसने देखा कि इस परदेशमें दो पथ हैं। एक पथ सीधा-सा और दूसरा काँटोंसे भरा । उसे एक दिन एक प्राणीने बताया भी कि सीधा-सा पथ दुःखमय है, सड़क तो चिकनी है पर अन्तमें गहरी खाई है; और वह जो कँटीला पथ है, वह 'सत्य पथ' कहलाता है, उसके अन्तमें सुख है । पथिकने विश्वास न किया; सभी तो उस सीधे-से पथपर हँसते हुए खुशी-खुशी चले जा रहे थे । उस कँटीले पथपर जानेमें उसे कठिनाई और मूर्खता मालूम हुई और तब वह उसी सीधे पथपर चल पड़ा, बहुत-से उसके संगी भी मिल गये ।

उस पथपर अपने संगियोंमें उसे मिली नारी । पथिककी प्रसन्नताका पारावार न रहा । उसे नारीमें मिला मादक सौन्दर्य, मिली वासनाकी कोमल और मार्मिक चोटें । पथिकने बड़ी खुशीसे अपने ऊपर चोटें लगने दीं । पथिकको यह पथ बड़ा ही चिकना, सुन्दर, सुखकर और सहज दीखा । नारीने उसे सौन्दर्यकी छलकती प्यालीमें वासनाकी मादक मदिरा भर-भरकर पिलाना आरम्भ किया और पथिक खूब छककर पीने लगा । वह अब खूब पीता, चलता तब पीता, रुकता तब पीता और वह रसीली नारी उसे पिलाये ही जाती । नारीकी वृत्ति, प्रवृत्ति, कृति, प्रकृति—सभी गुणोंने उसे मुग्ध कर लिया था । पथिककी आँखें मदसे मतवाली होकर जैसे चेतना खोने लगीं । अब नारी उसके आगे-आगे चलती और उसके चलनेसे पायलकी जो झनकार होती, उसीका अनुसरण पथिक करता जाता था । इस तरह चलते-चलते एक दिन नारी एक खंदकके ऊपर रुकी । उसके रुकते ही पथिक भी रुक गया । इस समय उसपर नशाका पूरा प्रभाव था । उसकी आँखें मुँदी हुई थीं, पैर लड़खड़ा रहे थे और वह रह-रहकर मुसकरा देता था । नारीने एक बार उसकी ओर देखा और फिर उसे ज़ोरोंसे उस गहरे खंदकमें ढकेल दिया । पथिक सँभल न सका और नीचेकी ओर गिरा—पानीमें । इस समय भयके मारे उसका नशा छूट गया । उसने देखा कि वह उस खंदकमें गिर पड़ा है । उसके छिछले पानीमें उसे एक गठरी दिखायी दी । वह उसने उठा ली । उसकी आँखें प्रसन्नतासे नाच उठीं; समझा उसने कि आखिर वह कुछ पा गया है । ठीक इसी समय एक सुन्दर रेशमी रस्सी उसके सिरपर लटकने लगी । उसने रस्सीके बल ऊपर चढ़ना आरम्भ किया और साथमें वह गठरी भी लेता चला; सोचा, न जाने कितना धन है उसमें । ऊपर पहुँचकर देखा कि एक अत्यन्त ही सुन्दर रमणी जैसे उसकी प्रतीक्षामें ही खड़ी हुई है । यह अवश्य वह पहली नारी नहीं थी—यह उससे अत्यन्त चित्ताकर्षक थी । उसने अपने दोनों हाथोंको फैलाकर कहा—'आओ, पथिक ! मैं तुम्हारी राह देख रही हूँ ।' पथिकने अपने सिरपर वह गठरी रखी और अपनी दोनों भुजाएँ फैलाता हुआ उस सुन्दरीसे आलिङ्गनबद्ध हो गया । उस रमणीने अपनी बाँहें उसकी गर्दनमें डाल दीं और धीरे-धीरे उन्हें कसना शुरू किया । पथिक मुग्ध था । उसने पूछा—'तुम कौन हो, प्रिये ?' तब वह नारी एक कुटिल बंकिम मुसकानके साथ बड़े ही मधुर स्वरमें बोली—'मैं मृत्यु-सुन्दरी हूँ ।' पथिककी गर्दन इस समयतक बहुत ही कस गयी थी । उसकी आँखें बाहर चली आयीं

और जीभ बड़ी-सी होकर बाहर झूलने लगी। धीरे-धीरे उसने मृत्यु-सुन्दरीके दृढ़ आलिङ्गनमें अपनी सारी चेतना समर्पित कर दी।

उसे जब होश आया, तब उसने देखा कि वह एक महान् तेजोमय पुरुषके सामने खड़ा है। उस तेजको देखकर उसकी आँखें चौंधिया गयीं। वह उस पुरुषको पहचाननेकी चेष्टा कर रहा था—जैसे उसे कहीं देखा हो। उस अपार तेजस्वी पुरुषने उसे एक बार सिरसे पैरतक देखा और जरा मुसकराकर बोले—'आ गये पथिक ! तुम परदेशसे ? और साथ लाये हो यह पापकी भीगी गठरी ?'

पथिकने घबराकर देखा कि उसके सिरपर उसकी वह गठरी अब भी रखी हुई है और तब वह बेहोश होकर गिर पड़ा। भगवान्ने मुसकराकर कहा—'कालसुन्दरीने इसे उस पाप-खंदकमें गिराया और मृत्युसुन्दरीने यहाँ लौटा दिया।'

पथिक अब भी उसी तरह पड़ा था।

क्या ईश्वर-साक्षात्कार भी एक वैज्ञानिक सत्य नहीं ?

(लेखक—पं० श्रीधर्मदेवजी शास्त्री, दर्शनकेसरी, पञ्चतीर्थ)

ब्रह्मलीन स्वामी श्रीअच्युत मुनिजी महाराज एक तत्त्वदर्शी और पहुँचे हुए संत थे। बनारसमें आजसे दस वर्ष पूर्व मुझे जब उनके प्रथम साक्षात्कारका सुअवसर मिला, तब मैंने उनसे कुछ प्रश्न किये थे, जिनमेंसे एक प्रश्नकी चर्चा मैं प्रस्तुत लेखमें करूँगा।

'महाराज ! आप विद्वान्, भक्त और ज्ञानी हैं; कृपया मुझे यह बताइये कि आपको ईश्वरका साक्षात्कार हुआ है। यदि आप भी अबतक ईश्वरका साक्षात्कार नहीं कर सके तो फिर मेरे-जैसे व्यक्तिको तो उसकी प्राप्ति कैसे होगी ? कृपया साफ-साफ बताइये—मैं यह जानना चाहता हूँ कि ईश्वरका साक्षात्कार किसीको होता भी है या यह केवल मनकी कल्पना मात्र है ?' मैंने पूछा।

'तुमने अच्छा प्रश्न किया है; मैं तुम्हें स्पष्टरूपसे कहना चाहता हूँ कि मुझे ईश्वरका साक्षात्कार होता है और सदा सर्वत्र उसीका दर्शन होता है।'

'लेकिन महाराज ! यह कैसे पता चले कि आपका यह ज्ञान यथार्थ है, भ्रम नहीं है ?'

'मैं स्वयं भी तुम्हारी-जैसी स्थितिमेंसे गुजरा हूँ, (इसलिये तुम्हारी मनोदशाको मैं समझ सकता हूँ)। परन्तु अब मैं बिना संदेह कह सकता हूँ कि मुझे ईश्वरका दर्शन वैसे ही हो रहा है, जैसे मेरे सम्मुख बैठे हुए तुम्हारा और सामने बहती गङ्गाका। अपने इस ज्ञानकी यथार्थतामें मुझे तनिक भी भ्रम नहीं है। मुझे तो ऐसा लगता है कि मेरा इन्द्रियजन्य ज्ञान धोखा दे सकता है और देता है, परन्तु ईश्वर-साक्षात्कार-विषयिणी प्रतीतिमें तो मुझे धोखेका आभास भी नहीं मिलता।'

'परन्तु महाराज ! उपनिषदोंमें तो आया है—'अविज्ञातं विजानताम्' (जो यह कहते हैं कि ईश्वरको मैं जानता हूँ, वे नहीं जानते।)'

'परन्तु भाई ! उपनिषद्के इस वचनको जानता हुआ भी कहता हूँ कि मैं ईश्वरको देख रहा हूँ। जब मुझे ईश्वरका दर्शन हो रहा है, तब मैं झूठ क्योंकर बोल सकता हूँ।'

'क्या महाराज ! मैं भी उस परात्पर शक्तिका दर्शन कर सकता हूँ ?'

'अवश्य; लोग तो ईश्वर-साक्षात्कारको बहुत कठिन बताते हैं, परन्तु मेरा अनुभव भिन्न है। सांसारिक

विषयोंकी प्राप्तिसे ईश्वर-प्राप्ति आसान है। परन्तु मनुष्यको जितनी चिन्ता विषय-प्राप्तिकी है, उतनी इच्छा ईश्वर-प्राप्तिकी नहीं है; यदि उत्कट इच्छा हो जाय तो ईश्वर-साक्षात्कार अविलम्ब हो सकता है। वस्तुतः मनुष्य ईश्वरका साक्षात्कार करना नहीं चाहता, परन्तु कहता यह है कि ईश्वर-साक्षात्कार हो नहीं सकता। यह उसकी आत्म-विडम्बना है।'

'महाराज! थोड़ा इस विषयको आज-कलकी वैज्ञानिक भाषामें स्पष्ट कीजिये।' मैंने विनयपूर्वक कहा।

'ईश्वर-साक्षात्कार भी एक वैज्ञानिक सत्य है। जिस प्रकार कोई वैज्ञानिक अपनी प्रयोगशालामें बैठकर एक नियम शास्त्रीय रीतिसे तथा बाह्य साधनोंसे वैज्ञानिक सत्योंका अनुसन्धान करता है, उसी प्रकार एक आध्यात्मिक व्यक्ति भी अध्यात्मशास्त्रकी नियत रीति और शास्त्रीय विधिका अनुसरणकर केवलमात्र आन्तर साधनोंसे उस अनाद्यनन्त सत्यका साक्षात्कार कर सकता है। जिस प्रकार न्यूटनकी बातपर विश्वास करके लोग पृथ्वीके आकर्षण-सिद्धान्तको सिद्धवत् मानकर व्यवहार करते हैं, उसी प्रकार ब्रह्मासे लेकर सहस्रों ऋषियोंके अनुभवके आधारपर आज भी यदि जनता ईश्वरपर विश्वास करके चलती है और कर्ममें प्रवृत्त तथा विकर्मसे निवृत्त होती है तो इसमें क्या आश्चर्य है? और फिर जैसे किसी वैज्ञानिक अन्वेषणके बाद जाने गये सत्यको झुठलानेका अधिकार भी उसी व्यक्तिको है जो एक सर्वसम्मत वैज्ञानिक पद्धतिसे प्रयोग करके उसके विरोधी सत्यका पता लगाकर पूर्व अनुभवियोंको विश्वास दिला देता है, उसी प्रकार अध्यात्मसम्बन्धी आजतकके अनुभवोंको झुठलानेका भी वही अधिकारी हो सकता है जो अध्यात्मशास्त्रकी एक वैज्ञानिक पद्धतिसे प्रयोग करके कोई नयी बात कहता है।'

स्व० स्वामी श्रीअच्युत मुनिजी महाराजने जो शब्द कहे थे, अक्षरशः वे ही शब्द मैंने नहीं लिखे। लिखना है भी कठिन; परन्तु इतना तो मैं विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ कि स्वामीजीके कथनका तात्पर्य यही था।

× × ×

पिछले आन्दोलनमें जब मुझे देहरादून-जेलमें छः मास रहनेका अवसर आया, तब वहाँ यह प्रश्न फिर उग्ररूपसे मेरे सामने आया। कुछ कम्यूनिस्ट और सोशलिस्ट भाई भी हमारे साथ थे। कम्यूनिज़्ममें ईश्वर और धर्मका कोई स्थान नहीं। वह केवलमात्र आधिभौतिक वैज्ञानिक पद्धतिसे विचार करना सिखाता है। हमलोगोंकी—जो धार्मिक दृष्टि-कोण रखते हैं—सभी विषयोंको आध्यात्मिक दृष्टिसे विचारनेकी आदत है; इसलिये प्रायः प्रत्येक विचारणीय विषयपर कुछ दूर तो हम दोनोंकी विचार-शैली एक समान चलती; फिर आगे जाकर हम दोनों भिन्न-भिन्न प्रतीत होते। मुझे यहाँ कम्यूनिज़्मके गुण-दोषोंपर विचार नहीं करना है, न तो प्रस्तुत लेखके साथ इस विषयका सम्बन्ध है। मैं तो केवल यहाँ यह बताना चाहता हूँ कि आध्यात्मिक सत्यको जाननेकी भी एक वैज्ञानिक पद्धति है।

मैंने अपने कम्यूनिस्ट साथियोंको जो बात कही, उसका निर्देशभर करना चाहता हूँ। मैंने कहा—'जिस प्रकार अन्य सब भौतिक विषयोंके अलग-अलग शास्त्र हैं, उसी प्रकार अध्यात्मका भी एक सुव्यवस्थित शास्त्र है। आज-कल युद्धमें हिंसाके साधनोंसे विजय प्राप्त करनेका सिद्धान्त योरपका माना हुआ है और उसके लिये एक शास्त्र है, जिसके अनुसार सैनिकोंको बाकायदा शिक्षा दी जाती है, आक्रमण करने और आक्रमणसे बचने तथा प्रत्याक्रमण करनेका प्रकार सिखाया जाता है। यदि कोई राष्ट्र इस प्रकारके साधनोंका ठीक-ठीक शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त न करके युद्ध करे और वह पराजित हो जाय तो इससे उस शास्त्रको झूठा कहना गलती होगी। इसी प्रकार अध्यात्मका भी एक शास्त्र है। जो व्यक्ति अध्यात्म-

शास्त्रमें प्रतिपादित पद्धतिसे मन, शरीर और बुद्धिका विकास करेगा वह अध्यात्मसम्बन्धी सत्यका दर्शन कर सकेगा। जैसे आजकल संसारमें प्रायः लोग आधिभौतिक ढंगसे ही विचार करनेके अभ्यस्त हो गये हैं, उसी प्रकार कभी समय था जब संसारमें और विशेषकर भारतवर्षमें जनताकी एक बड़ी संख्या आध्यात्मिक दृष्टिसे व्यक्ति, समाज और राष्ट्रका विकास करती थी और हमारा विश्वास है कि संसारके कल्याणका वही एक महामार्ग है।'

मेरे इस कथनको सुनकर एक भाईने कहा—'ईश्वर और धर्म तथा परलोकपर विश्वास करना मनुष्यके लिये तभी ठीक था, जब मनुष्य-समाजने प्रकृतिपर विजय नहीं प्राप्त की थी और वह प्रकृतिकी विविधताओंको देखकर डरता था; अब तो मनुष्य प्रकृतिका स्वामी बन गया है।'

'अब मनुष्य प्रकृतिका स्वामी बन गया है, यह आप कहते हैं; मैं तो कहता हूँ—मनुष्यने प्रकृति-दासीको अपनी स्वामिनी बना लिया है। जितना प्रयत्न मनुष्यने प्रकृति-दर्शनके लिये किया है, उसका शतांश भी यदि वह आत्म-दर्शनके लिये करता तो आज मानव-समाजका रूप कुछ और ही होता। आजका मनुष्य देश और कालकी दूरीको जीतनेमें समर्थ हो सका है; परन्तु उसने एक मनुष्यको दूसरे मनुष्यसे इतना अधिक दूर कर दिया है कि प्रति बीस वर्षोंमें विश्व-युद्धकी अवस्था उपस्थित हो जाती है। वास्तवमें मनुष्यकी सफलता प्रकृति-विजयी होनेकी अपेक्षा मनोविजयी होनेमें अधिक है। प्रकृतिको उपयोगी बनानेकी अपेक्षा प्रकृति-निर्माताका प्रत्यक्ष करना अधिक अच्छा है और यह कार्य धर्मके बिना नहीं हो सकता।'

'लेकिन धार्मिक व्यक्ति सदा प्रतिगामी और अन्याय-अत्याचारके समर्थक होते हैं—रूसमें ऐसा ही हुआ था।'

'यह आपका भ्रम है। धर्मात्मा सदा पतितों और असहायोंका ही साथ देगा। रूसकी बात तो मैं नहीं कहता। हमारे देशमें आज साम्प्रदायिक झगड़े करानेवाले वे ही व्यक्ति हैं, जो धर्मसे वस्तुतः अपरिचित हैं एक बात और भी है, कैसी भी अच्छी चीज बुरे आदमियोंके हाथोंमें जाकर अच्छी नहीं रहती। 'धर्म' इस नियमका अपवाद नहीं है। इसमें धर्मका दोष नहीं, 'सैषा पुरुषगर्हा न शास्त्रगर्हा'—'यह पुरुष-निन्दा है, शास्त्र-निन्दा नहीं।'

हमारा यह विवाद बहुत लंबा चला। यह बात अन्तमें पण्डित जवाहरलालजीतक पहुँची। पण्डितजीको मैंने अपना सब दृष्टिकोण समझाया। उन्होंने कहा—'मैं नास्तिक तो नहीं, आस्तिक भी नहीं; परन्तु धर्मदेवजीका दृष्टिकोण ठीक है। अध्यात्म-सम्बन्धी मानी गयी सचाइयोंका विरोध करनेसे पूर्व एक शास्त्रीय पद्धतिसे इस विषयका प्रयोग करना चाहिये। इसके बाद किसीको कुछ कहनेका अधिकार है। हो सकता है अध्यात्म-सम्बन्धी सचाइयाँ भी वैसी ही वैज्ञानिक हों, जैसी भौतिक सचाइयाँ वैज्ञानिक और सही हैं। मैंने अध्यात्मशास्त्रकी दो सचाइयोंको अपने प्रयोगके आधारपर सत्य पाया है; पहली सचाई है योग-आसनोंके सम्बन्धमें और दूसरी प्राणायामके सम्बन्धमें।'

'पण्डितजी! जिन ऋषियोंने आसन और प्राणायाम-सम्बन्धी सत्य बताये हैं, उन्होंने ही ईश्वर-दर्शनतकके सत्यका वर्णन किया है।' मैंने कहा।

जीवनकी प्रयोगशाला

(लेखक—पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल)

मनुष्यको अपना जीवन एक प्रयोगशाला मानना चाहिये। इसमें उसे अनेक प्रकारके अनुभव होते हैं। इन अनुभवोंका कुछ मौलिक सिद्धान्तोंतक पहुँचनेमें उपयोग करना चाहिये। जो मनुष्य-जीवनके-अनुभवोंको तत्त्वदर्शनके लिये उपयोगमें नहीं लाता, वह बालबुद्धि है। संसारके अनुभव हमें कुछ स्थायी शिक्षा देते हैं। हमें उन अनुभवोंकी ओर दृष्टि न रखकर उस शिक्षाकी ओर दृष्टि रखनी चाहिये। संसारके सभी पुरुष सुख और दुःखका अनुभव करते हैं। इस तरह वे सारा जीवन बिना किसी प्रकारकी शिक्षा प्राप्त किये ही बिता देते हैं। अर्थात् वे मृत्युपर्यन्त बालक-जैसे ही बने रहते हैं। कितने ही मनुष्य उस समय जीवनके अनुभवोंके तथ्यको समझ पाते हैं, जब उनके जीवनका सार भाग निकल जाता है और वे उसका कुछ भी उपयोग नहीं कर पाते। जैसे जर्मनीके प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता शोपनहारने बताया है कि मनुष्यके अनुभव जबतक ज्ञानके रूपमें परिणत होते हैं, तबतक जीवनका सार भाग निकल जाता है। (When experience ripens to wisdom, the rind of life is gone.) अतएव जो व्यक्ति वृद्धावस्थाके पूर्व ही ज्ञानोन्मुख हो गया है, वह धन्य है।

जब मनुष्य अपने किसी प्रकारके अनुभवोंसे किसी सिद्धान्तपर पहुँचे तो उसे संसारके लाभके लिये सबके समक्ष रखना चाहिये। जिस मनुष्यकी यह बुद्धि है कि मेरे कष्टोंसे दूसरोंका लाभ हो, वह दुःखमें रहकर भी कदापि उद्विग्न न होगा। वास्तवमें यह जीवनका प्रथम और मौलिक सत्य है कि कोई भी व्यक्ति, जो अपने ही सुखकी चिन्ता करता है, कभी सुखी नहीं रह सकता। जैसा एक अंग्रेज लेखकने कहा है कि सच्चा सुख दूसरोंको सुखी बनानेसे ही प्राप्त किया जा सकता है। मनुष्यको अपने जीवनकी घटनाओंके प्रति सदा साक्षि-भाव रखना चाहिये। घटनाओंका किसी निश्चित प्रकार घटित होना मनुष्यके हाथमें नहीं है और जो मनुष्य बाह्य घटनाओंपर अपने सुखको निर्भर कर देता है, वह सदा ही दुखी रहता है। मनुष्यके हाथमें केवल इतना ही है कि वह उन घटनाओंके प्रति अपना भाव कैसा रखे। अपने रुखके अनुसार ही मनुष्य किसी घटनासे मानसिक क्लेश अथवा प्रसन्नता प्राप्त करता है और जो मनुष्य घटनाओंके प्रति पूर्णतः साक्षिभाव रखता है, वह सभी प्रकारकी घटनाओंमें शान्तचित्त रहता है।

कितने ही लोग अंधे होकर धनके पीछे पड़ जाते हैं और कितने पद-लोलुपतामें अपनेको खो देते हैं। जब मनुष्य किसी प्रकारके व्यवसायमें लग जाता है, तब उसमें आत्म-निरीक्षणकी शक्ति नहीं रहती। इस प्रकार वह अनेक मानसिक कष्ट भोगता रहता है और उनसे मुक्त होनेमें असमर्थ रहता है। इस प्रकारका मनुष्य अपने मानसिक क्लेशोंका कारण अपनेमें न ढूँढ़कर बाह्य जगत्में ढूँढ़ता है। वह अपने दोषोंको खोजकर उनका निवारण करनेके बदले दूसरोंमें दोष ढूँढ़ता है, अपने मानसिक दुःखोंके लिये दूसरेको जिम्मेदार बनाता है; किन्तु इस प्रकार उसके दुःखोंका नाश न होकर दिन-पर-दिन वृद्धि ही होती है। आधुनिक मनोविज्ञानने मनुष्योंकी इस प्रकारकी मनोवृत्ति-का भलीभाँति अध्ययन किया है। इस प्रवृत्तिको आरोप (इनट्रोजेक्शन) की प्रवृत्ति कहा है।

जब हमारा मन अधिक विक्षिप्त हो, हमें उस समय बाह्य जगत्की चिन्ता छोड़ देनी चाहिये और अपने ऊपर ही विचार करना चाहिये। संसारकी कोई भी

परिस्थिति स्थायी नहीं है। 'यह भी न रहेगा'—इस विचारका अभ्यास करना उचित है। जब प्रत्येक परिस्थिति परिवर्तनशील है, तब उद्विग्न होना मूर्खता है। मनुष्य उद्विग्नतासे अपनी हानि ही करता है, उसे लाभ कुछ नहीं होता।

हालकी ही बात है कि लेखकका मन किसी प्रकारकी घटनाओंसे क्षुब्ध हो गया। इस प्रकारकी स्थिति कुछ कालतक रही। इस स्थितिमें न तो नींद ही ठीकसे आती और न स्वप्न ही अच्छे आते। इन्हीं दिनों अपने एक मित्रसे, जो बौद्ध भिक्षु हैं, मिलनेका संयोग हुआ। उनसे बौद्ध-धर्ममें प्रशंसित मैत्री-भावनापर बात हुई। उन्होंने बातों-ही-बातोंमें कहा कि उनके एक परिचित व्यक्तिको सोनेपर बहुत बुरे स्वप्न आया करते थे। वे उन स्वप्नोंसे इतने तंग आ गये थे कि वे सोनेसे ही डरने लगे। इन महाशयको मैत्री-भावनाका अभ्यास करनेको कहा गया। इस अभ्यासके करते ही उनके सब बुरे स्वप्न नष्ट हो गये और वे सुखकी नींद सोने लगे।

लेखकको जिस समय उपर्युक्त सारी बातें मालूम हुईं, उसका चित्त शान्त हो गया। मैत्री-भावनाका एक विशेष गुण यह है कि जबतक मनुष्य उस भावनासे भावित रहता है, तबतक कोई मनुष्य उसे किसी प्रकारकी क्षति नहीं पहुँचा सकता। सब लोग उसके हितचिन्तक बन जाते हैं और जो उसे हानि पहुँचाना चाहते हैं, उन्हें हानि पहुँचानेका अवसर ही नहीं मिलता। इस प्रकारका विचार जिस समय मनमें आया, एक भारी निर्भीकताका अनुभव हुआ। विचारोंमें इस समय एक विशेष परिवर्तन हो गया और परिस्थितियोंके प्रति रुख ही बदल गया।

जब मनुष्य यह दृढ़ निश्चय कर लेता है कि संसारमें परमात्मा अर्थात् अपने आपके सिवा कोई उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकता, तब उसका सारा जीवन आनन्दमय हो जाता है। वास्तवमें बात भी ऐसी ही है। जिस समय हममें कोई दोष आ जाता है, उस दोषके परिणामोंसे हमें कोई बचा नहीं सकता; और यदि हममें सद्गुण हैं तो हमारी कीमत एक जगह नहीं, तो दूसरी जगह अवश्य होगी। कहीं-न-कहीं हमारी मौलिकता अवश्य पहचानी जायगी। मनुष्योंको दुःखोंसे भागना न चाहिये, उनका भोग करना चाहिये। कठिन परिस्थितियोंसे भागना उचित नहीं, उन्हें भोगना ही उचित है। कठिन परिस्थितियाँ पीछे सरल हो जाती हैं। दुःख देनेवाली घटनाएँ पीछे सुखका कारण बन जाती हैं। जो मनुष्य अपने जीवनका लक्ष्य परोपकार ही बना चुका है, उसे कौन परिस्थिति लक्ष्यभ्रष्ट कर सकती है। यदि कठिन परिस्थितिसे उसे लड़ना पड़ता है तो उससे संसारका कल्याण ही होता है। उसकी उन परिस्थितियोंपर विजय देखकर दूसरे लोगोंको अपने सामने आनेवाली परिस्थितियोंसे लड़नेमें प्रोत्साहन मिलता है। इसी प्रकार बड़े लोगोंकी जीवनी दूसरोंके लिये शिक्षाका साधन बन जाती है। जीवनको एक प्रयोगशाला मानना चाहिये। इसके बाह्य लाभ या हानिमें मनको न फँसाकर उससे ज्ञान प्राप्त करना चाहिये और उस ज्ञानका संसारके लोगोंमें वितरण करना चाहिये। इसी तरह हम सुखी रह सकते हैं।

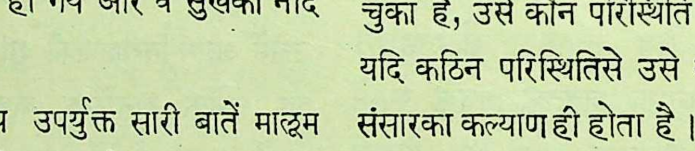

अमर-तराना

जीवनके मधुमय सपनोंमें मुझे भूल मत जाना रे।
पी-पीकर यौवनकी मदिरा, अबुध! नहीं इतराना रे॥
मैं हूँ चिरसंगिनी तुम्हारी,
क्षणभंगुर काया सुकुमारी,
क्षणिक सुनहली विषय-वासना, इनपर मत ललचाना रे।
जीवनके मधुमय सपनोंमें मुझे भूल मत जाना रे॥
क्षणिक मधुरिमा नयन-अधरकी,
छवियोंकी क्यारी क्षण भरकी,
जगकी मायामयी माधुरी, इनसे मत लिपटाना रे।
जीवनके मधुमय सपनोंमें मुझे भूल मत जाना रे॥
जगती छलनामयी निराली,
छलक रही नित मधुकी प्याली,
फंदा लगा बिहँसती माया, बच कर नेह लगाना रे।
जीवनके मधुमय सपनोंमें मुझे भूल मत जाना रे॥
नाता तेरा अमर नगरसे,
जाना है कर्त्तव्य डगरसे,
पग-पग बिछे मोहके काँटे, बच बच कदम बढ़ाना रे।
जीवनके मधुमय सपनोंमें मुझे भूल मत जाना रे॥
विकटमयी मैं सूरत काली,
जीवन-मन्दिरकी अँधियाली,
पर मेरे ही पथसे तुमको अमर नगर है जाना रे।
जीवनके मधुमय सपनोंमें मुझे भूल मत जाना रे॥
यह भव-सागर, लहर वासना,
भवँर भयंकर सुखद कल्पना,
मेरी याद बनेगी नैया, सत-पतवार चलाना रे।
जीवनके मधुमय सपनोंमें मुझे भूल मत जाना रे॥
है विरागकी जननी मेरी,
सुस्मृति, इसकी माया चेरी,
तृष्णा मुझसे तुम्हें डराती, इससे पिंड छुड़ाना रे।
जीवनके मधुमय सपनोंमें मुझे भूल मत जाना रे॥
अमर नगरकी मैं पटरानी,
मेरी याद विश्व-कल्याणी,
मृत्यु नाम है विकट, मगर मैं गाती 'अमर-तराना' रे।
जीवनके मधुमय सपनोंमें मुझे भूल मत जाना रे॥

—'अलख-निरंजन'

‘वनस्पति’की बला

(लेखक—श्रीमुरलीधरजी दिनोदिया, बी० ए०, एल्-एल्० बी०)

[एक अनुपेक्षणीय राष्ट्रीय समस्या]

बाजारमें बिकनेवाली अनेकों वस्तुओंमें मिलावट (Adulteration) होती है अथवा अनेकों चीज़ें असली और नकली—दो प्रकारकी मिलती हैं। खाद्य पदार्थोंमें तो बिरला ही मिलावटसे बच पाया होगा। खाद्य वस्तुओंमें जो यह बेहद मिलावट चल पड़ी है, वह स्वास्थ्यके लिये विघातक है। घी हमारे यहाँ भोजनमें एक आवश्यक तरल पदार्थ है; इसमें जो भयंकर मिलावट चलती है, वह राष्ट्रीय स्वास्थ्यकी दृष्टिसे अति शोचनीय है।

घी घी है, उसका असली और नक़ली क्या। पर जबसे यह ‘वनस्पति’ चला, तबसे ‘घी’ और ‘वनस्पति’ का भेद प्रकट करनेके लिये क्रमशः ‘असली घी’ और ‘नक़ली घी’ का व्यवहार होने लगा। विक्रेतालोग जिस ‘शुद्ध स्वदेशी पवित्र असली वनस्पति घी’ के बड़े-बड़े साइनबोर्ड लटकाते हैं, वह वास्तवमें क्या चीज़ है? गोला, मूँगफली, बिनौला, मछली इत्यादिके तेलोंको बड़े-बड़े कारखानोंमें मशीनोंद्वारा साफ़ करके जमा दिया जाता है; इसीको ‘वनस्पति’ कहते हैं। इन तेलोंमें जो पोषक पदार्थ रहते हैं, वे भी इस क्रियामें मारे जाते हैं। इसके अतिरिक्त इस प्रक्रियामें सोडाकास्टिक भी इस्तेमाल किया जाता है, जो स्वास्थ्यके लिये निःसन्देह हानिकारक है। बड़े-बड़े डाक्टर फ़तवा देते हैं कि ‘वनस्पति’ एक पोषक पदार्थ है; पर एक बार ‘वनस्पति’ खाकर देखनेवाला इन क्रीत-विशेषज्ञोंके भुलावेमें नहीं आ सकता। न केवल यही कि ‘वनस्पति’ पोषक पदार्थ नहीं है; यह तो सरासर स्वास्थ्यका शत्रु है। स्वास्थ्यकी दृष्टिसे घानीका निकाला हुआ विशुद्ध सरसोंका तेल ‘वनस्पति’ से हजारगुना उत्तम है। शुरूमें ‘वनस्पति’ योरपके हालैंड-देशसे आता था; पर इधर कई सालोंसे देशी-विदेशी पूँजीपतियोंने भारतके विभिन्न प्रान्तोंमें ‘वनस्पति’ के ८-१० बड़े-बड़े कारख़ाने खोल दिये हैं और इन कारख़ानोंकी तादाद बढ़ती ही जाती है।

घीके मुक़ाबले यह ‘वनस्पति’ निहायत सस्ता है, इसलिये इसे घीमें मिलाकर बेचा जाता है और जो इतने मुनाफ़ेसे भी नहीं अघाते, वे साफ़ किये हुए गोले या मूँगफलीके तेलमें इसे फिरसे पकाकर जमा लेते हैं और इस प्रक्रियामें दही, मिश्री, सेंट आदि चीजें भी उपयुक्त मात्रामें मिला दी जाती हैं। इस प्रकार तैयार किये गये ‘वनस्पति’को देहलीमें, जो भारतमें ‘वनस्पति’की एक बहुत बड़ी मंडी है, ‘तावड़ा’ कहा जाता है। यों तो कारखानेके ‘वनस्पति’ और घीमें भेद करना भी बहुत कठिन है, पर ‘तावड़ा’को पहचानना तो लगभग असम्भव है। घी खानेवाले धोखेसे बचनेकी कोशिश करते हैं, पर ‘वनस्पति’ बेचनेवाले नयी-से-नयी चालाकीसे काम लेते जा रहे हैं। दूधमें ‘वनस्पति’को मिलाकर जमा दिया जाता है और ग्राहकके सामने बिलोकर घी निकाला जाता है। यहाँतक तो किया जाने लगा है कि भैंसोंको ‘वनस्पति’ पिला दिया जाता है और ग्राहकके समक्ष भैंसको दुहकर और उसीके रूबरू दूधको बिलोकर घीरूपी ‘वनस्पति’ ग्राहकके हवाले किया जाता है। जनसाधारण तो मिलावटको पहचान ही क्या सकते हैं, वैज्ञानिकलोग भी विश्लेषण (Analysis) की कोई सरल, सस्ती एवं ठीक-ठीक जाँच करनेमें सफल प्रणाली अभीतक नहीं निकाल पाये हैं। इस पहचानकी ‘असम्भवता’से तंग आकर लोग जान-बूझकर ‘वनस्पति’ ही ख़रीदनेको मजबूर हो गये हैं; क्योंकि मिलेगा तो आख़िर ‘वनस्पति’ ही, फिर ज्यादा पैसे देकर लुटनेमें ही क्या मज़ा है। स्वास्थ्य न सही, पैसे तो बचे।

‘वनस्पति’का देशमें इतना प्रचलन हो गया है कि उन लोगोंके लिये, जो अपने यहाँ गाय-भैंस नहीं रखते, घीको प्राप्त कर सकना एक समस्या हो गयी है। हमारा हरियाना-प्रदेश पशुओंकी उत्तम नस्लके लिये देशमें प्रसिद्ध है और ‘हरियाना, दूध-दहीका खाना’

यहाँकी कहावत है। हरियानेके गाँवोंमें 'वनस्पति'की दूकानें देखते हैं तो हृदयपर धक्का-सा लगता है। मिलावट यहाँतक व्यापक हो गयी है कि कोई किसीका विश्वास नहीं करना चाहता। भारतसरकारके दूध, घी, पशु इत्यादिके विशेषज्ञ डा० नार्मन सी० राइट, एम्० ए०, डी० एस्-सी०, पी-एच्० डी० महाशयने जाँच करके लिखा है कि 'वनस्पति'का नब्बे प्रतिशत भाग घीमें मिलानेके काम आता है। बस, यह 'मिलावट' अथवा पहचानकी 'लगभग असम्भवता' ही वनस्पतिके इस प्रकार फैल जानेका एकमात्र कारण है।

गर्भवती स्त्रियों, प्रसूताओं, बच्चों और बीमारोंके लिये यह वनस्पति कितना अनिष्टकारक होता होगा—इसे सोचिये तो दुःख होगा। जब घीको बाजारमें मिलावटके कारण कोई पूछेगा ही नहीं तो मवेशी पालना और घी तैयार करना अपने-आप बंद हो जायँगे और बंद हो रहे हैं। इससे किसानोंका घरेलू रोजगार बर्बाद होगा, जिससे उनकी कमर-तोड़ ग़रीबी और भी बढ़ेगी। पशु-धनका क्षय होगा, उनकी नस्ल मारी जायगी। कृषिप्रधान भारतके लिये यह एक महान् दुर्भाग्यका विषय होगा। कितने परितापका विषय है कि 'माखन-चोर', 'गो-धनकी सौं' और 'दूधों नहाओ'वाला यह भारत, जो न केवल अपनी दूध-घीकी आवश्यकताओंकी पूर्ति कर सकता है वरं विदेशोंको भी दूध-घीसे बनी वस्तुएँ प्रचुर परिमाणमें भेज सकनेकी क्षमता रखता है, आज हमारे अज्ञान तथा मूर्खताके कारण प्रतिवर्ष लाखों रुपयेकी लागतकी दूध-घीसे बनी चीजें विदेशोंसे मँगवाता है और देशमें 'वनस्पति'का बोलबाला है। इस 'वनस्पति'की बर्बादियोंको देखते हुए इसे 'विनाशपति' कहना उपयुक्त जँचता है।

सस्ते घीको पाकर लोग संतुष्ट हैं, ऐसा कहना नितान्त भ्रमपूर्ण होगा। लोग तंग आये हुए हैं, पर बचावका कोई रास्ता नहीं सूझ पड़ रहा है। विश्ववन्द्य महात्मा गाँधीतक इससे चिन्तित हैं। प्रजाके स्वास्थ्यके इस शत्रुने जहाँ जन्म ग्रहण किया था, उस हालैंड-देशकी सरकारने भी वहाँके मक्खनके व्यवसायकी रक्षाके उद्देश्यसे वनस्पतिमें तिलका तेल क़ानूनके बलपर मिलवाया; क्योंकि शोरेके तेज़ाबसे तिलके तेलका आसानीसे पता चल जाता है, जिससे 'वनस्पति' पहचान लिया जाता है। हमारे पंजाबमें गाँवों और मंडियोंमें पंचायतोंद्वारा 'वनस्पति'की रोक-थाम की गयी, पर इसमें तो आंशिक सफलता ही मिल सकती थी। फिर सभाएँ कर-करके सरकारसे माँग की गयी कि 'वनस्पति'में रंग देनेका क़ानून बनाया जाय, ताकि मिलावटसे पीछा छुड़ाया जा सके। इसपर 'वनस्पति'के तरफ़दारोंने दलीलें पेश कीं कि 'देखना, 'वनस्पति' बंद हो गया तो फिर पहलेकी तरह गाय और सूअर आदिकी चर्बी घीके नामसे बिका करेगी।' इस प्रकार भारतीयोंकी धार्मिक भावनासे फ़ायदा उठानेकी कोशिश की गयी। 'वनस्पति' मानो बड़ा धर्म-रक्षक है। 'घी रुपयेका पावभर बिकेगा' कहकर लोगोंको महँगाईसे डराया गया। बात तो यह है कि जब घीके पूरे दाम मिलेंगे तब किसानलोग गाय-भैंसका पालन पूर्ववत् करने लगेंगे, और दूध-घीका अकाल होगा ही नहीं। 'राष्ट्रीय' पत्रोंने चिल्लपों मचायी कि 'वनस्पति' सूबेका एक उद्योग-धंधा है, उसे बंद करना भारी भूल होगी। उनको न जाने क्यों याद नहीं रहा कि घी तैयार करना सूबेका बड़ा उद्योग-धंधा है। फिर सूबेका स्वास्थ्य ही जिससे ख़तरेमें पड़ जाय, ऐसे उद्योग-धंधेसे भी क्या। डाक्टरोंने रंगको स्वास्थ्यके लिये ख़तरनाक बतलाया। उनसे पूछा जाय कि 'वनस्पति' कहाँका स्वास्थ्य-वर्द्धक है।

आख़िर जनताके भाग्यने ज़ोर मारा और पंजाबमें क़ानून बना कि प्रथम अगस्त ४१ से प्रान्तमें रंग मिला 'वनस्पति' ही बन एवं बिक सकेगा। संयुक्तप्रान्तकी सरकारने पंजाब-सरकारको लिखा कि 'हमारे यहाँ भी ऐसा क़ानून बनाया गया था; पर उसमें कुछ विशेष सफलता नहीं मिली तथा रंग भी बाजारमें पर्याप्त परिमाणमें उपलब्ध नहीं है।' दिल्लीके चीफ़ कमिश्नरने तो अपनी क़लम ही रगड़ मारी कि पहले पंजाबके परीक्षणको देख लेता हूँ, बादमें

सोचूँगा । पंजाबमें भी क़ानूनी खोपड़ियोंने पेंच निकाला है कि पंजाब धारा-सभाको इस क़ानूनके बनानेका ही अधिकार नहीं है। ठीक है, उसे यह अधिकार है कि प्रजाके स्वास्थ्यपर दिन-दहाड़े डाँका डाला जाता रहे और वह टुकुर-टुकुर देखती रहे। भारतकी राजधानी देहलीकी म्यूनिसिपैलिटीके शिक्षा-विभागने अपने स्कूलोंमें विद्यार्थियोंको मुफ़्त दूध पिलाकर तजुर्बेसे सिद्ध किया है कि दूधसे बच्चोंका स्वास्थ्य गिर गया। जिस देशमें ऐसे-ऐसे अभिनव आविष्कार करनेवाले हों, उसके स्वास्थ्यकी प्रभु रक्षा करें। इन क़ानूनके पुतलों और अन्वेषणकर्त्ताओंसे ईश्वर हमें बचायें।

'वनस्पति'का प्रश्न राष्ट्रव्यापी है । एक-दो प्रान्तोंमें प्रतिबन्ध लगानेसे यह समस्या हल नहीं होगी। देशी रियासतोंका अलग पचड़ा है। यदि रियासतोंमें प्रतिबन्ध नहीं रहेगा तो एक तिहाई भारत तो 'वनस्पति'के जालमें फँसा रहेगा ही, ब्रिटिश भारतमें भी चोरीसे 'वनस्पति' आता रहेगा। इसलिये समूचे देशके लिये बिना रंग मिले 'वनस्पति'का उत्पादन एवं विक्रय निषिद्ध ठहराया जाय। अगर तजुर्बेसे सिद्ध हो कि किसी कारणसे रंग देनेकी प्रणाली कारगर नहीं है तो फिर कोई अन्य उपाय किया जाय; वर्ना समूचे भारतके लिये क़ानूनद्वारा 'वनस्पति'का उत्पादन एवं विक्रय निषिद्ध ठहराया जाय। ज़रूरत इस बातकी है कि कतिपय पूँजीपतियोंका ख़याल हटाकर भारतीय राष्ट्रके दृष्टिकोणसे विषयके गाम्भीर्यको समझाया जाय। राष्ट्रके प्रति शासककी जिम्मेदारीको समझे बिना इस दिशामें उचित क़दम उठाये जानेकी आशा नहीं की जा सकती। तबतक प्रजाका भी कुछ कर्त्तव्य है। 'वनस्पति'के विरुद्ध वातावरण तैयार करना जनताका अपना काम है। जनता अपना काम करे; इस बलासे उद्धार निश्चित है।

बाल-प्रश्नोत्तरी

(लेखक—श्रीहनुमानप्रसादजी गोयल, बी० ए०, एल्-एल्० बी०)

पानी

केशव—पिताजी ! उस दिन आपने भोजनके और सब अंशोंको तो बतलाया, परन्तु पानीके विषयमें कुछ नहीं कहा। पानी भी तो एक जरूरी चीज़ है।

पिता—हाँ, भोजनसे ज्यादा। परन्तु उस दिन समय बहुत हो गया था, इसलिये नहीं बतलाया था। अब आज यदि सुनना चाहो तो बतला सकता हूँ।

केशव—जी हाँ, अवश्य सुनूँगा। बतलाइये।

पिता—अच्छा, सुनो। हमारे शरीरका प्रायः तीन चौथाई भाग पानीसे ही बना है। शरीरके एक-एक अङ्ग और हर एक अङ्गके एक-एक कोषाणुमें अधिकतर भाग पानीका ही दिखायी देता है। खूनमें भी अधिकांश पानी ही है और इसीसे वह तरल है तथा रगोंके भीतर चल-फिर सकता है। हमारी भीतरी सफ़ाई भी पानीसे ही होती रहती है और बहुत-सा गंदा पानी हमारे भीतरकी गंदगीको धोकर नित्य अपने साथ शरीरसे बाहर निकालता रहता है। इस प्रकार मल-मूत्र, थूक, पसीना और श्वासकी वायुके साथ लगभग २॥ या ३ सेर पानी रोज शरीरसे निकल जाया करता है। अतएव उसकी पूर्तिके लिये हमें दिनमें कई बार जल पीनेकी आवश्यकता पड़ती है। बहुत-सा जल हमारे खानेकी चीज़ोंमें भी मौजूद रहता है, जिनमेंसे दूध और फलोंमें पानीका हिस्सा सबसे ज्यादा होता है। इनके अतिरिक्त दाल, भात, रोटी, पूड़ी, तरकारी आदिमें भी जलका बहुत कुछ मेल मौजूद रहता है। जलकी सहायतासे हमारे भोजनका उपयोगी भाग खूनके रूपमें बदल जाता है और बिना जलके अच्छा-से-अच्छा भोजन भी बेकार हो जाता है।

भोजन यदि किसी समय न भी मिले तो हम केवल पानीकी सहायतासे हफ्तोंतक जीवित रह सकते हैं; किन्तु यदि पानी न मिले तो दो-चार दिन भी जीना हमारे लिये असम्भव हो जायगा । अस्तु, तुम देखते हो कि पानी हमारे जीवनके लिये कितनी आवश्यक और उपयोगी वस्तु है; किन्तु यह सब उपयोगिता केवल शुद्ध और साफ़ पानीमें ही है । अशुद्ध और खराब पानी तो हमारे लिये कभी-कभी विषसे भी ज्यादा भयंकर हो जाता है ।

केशव—अशुद्ध और ख़राब पानीसे बीमारियाँ पैदा होती हैं ?

पिता—हाँ, पचीसों तरहकी बीमारियाँ पैदा होती और नित्य लाखों मनुष्योंके प्राण लिया करती हैं । उदाहरणके तौरपर टायफ़ायड बुखार, हैजा, पेटमें कीड़े, आँव, अतिसार, फोड़ा, फुंसी, दाद, जलोदर इत्यादि सब रोग जलकी अशुद्धतासे ही पैदा होते हैं और हजारों, लाखों आदमी नित्य इनके शिकार होते रहते हैं ।

केशव—अच्छा, तो शुद्ध और अशुद्ध जलकी पहचान क्या है ?

पिता—शुद्ध जल वह है जो ऊपरसे नीचेतक बिल्कुल स्वच्छ, निर्मल और पारदर्शी हो; जिसमें न कोई रंग हो, न कोई गन्ध हो और न कोई स्वाद हो । भपकेसे उतारा हुआ पानी (Distilled water) बिल्कुल शुद्ध हुआ करता है और उसमें ये सभी गुण मौजूद रहते हैं । जिस पानीमें ये गुण न हों, उसे अशुद्ध समझना चाहिये । वर्षाका पानी भी आरम्भमें बिल्कुल शुद्ध होता है, किन्तु जिस समय वह नीचे आता है तो उसमें हवाकी बहुत-सी अशुद्धियाँ मिल जाया करती हैं और वह उसी मात्रामें अशुद्ध हो जाता है ।

केशव—जो पानी हमलोग रोज पिया करते हैं, वह कैसा होता है ?

पिता—साधारण तौरपर हमारे पीनेका पानी इन छः किस्मोंके पानीमेंसे किसी-न-किसी प्रकारका हुआ करता है—

(१) वर्षाका जल (Rain water) ।
(२) तालाब या पोखरोंका जल (Surface water) ।
(३) कुएँ या बावली आदिका जल (Sub-soil water) ।
(४) झरनोंका जल ।
(५) नदीका जल (Current water) ।
(६) अत्यन्त गहरे कुओंका जल ।

इनमेंसे बरसातका ताजा जल यद्यपि नीचे आनेमें उतना शुद्ध तो नहीं रह जाता जितना वह ऊपर रहा करता है, फिर भी पीनेयोग्य जलके सभी गुण उसमें मौजूद रहते हैं । लेकिन कठिनाई यह है कि यह जल हर समय नहीं मिल सकता । तालाब या पोखरेका जल भी वास्तवमें वर्षाका ही जल है, जो बरसातके दिनोंमें चारों ओरसे बह-बहकर किसी गड्ढेमें जमा हो जाया करता है । यह जल बँधा हुआ होता है अर्थात् बहता नहीं, इसलिये बँधे हुए जलके तमाम अवगुण भी इसमें मौजूद रहते हैं । इसके अतिरिक्त हमारी गंदी आदतोंसे भी यह जल बहुत गंदा बन जाया करता है । उदाहरणके तौरपर हमारे देहातोंमें जिन तालाबोंका जल पीनेके काममें लाया जाता है, उन्हींमें लोग कपड़े धोते हैं, दातुन-कुल्ला करते हैं, नहाते हैं और मल-मूत्रतक त्यागते हैं या धोते हैं । फिर भला, यदि ऐसा पानी तमाम रोगोंका घर न बन जाय तो आश्चर्य ही है । कितने तालाब चारों ओर पेड़ोंसे इतने अधिक घिरे रहते हैं कि उनके ऊपर धूप आ ही नहीं सकती और इस प्रकार जलकी शुद्धिका जो एक सबसे बड़ा साधन है, वह वहाँसे दूर रखा जाता है । इसके अतिरिक्त ऐसे तालाबमें पेड़ोंके पत्ते भी नित्य पानीमें गिर-गिरकर सड़ा करते हैं तथा अनेक प्रकारके जीव-

जन्तु और कीड़े-मकोड़े भी उसमें मरते और सड़ते रहते हैं, जिससे वहाँका पानी सब प्रकारकी गंदगीसे भर जाता है। कुएँ और बावली आदिका जल भी हमारी लापरवाही और भूलोंके कारण अत्यन्त खराब हो जाता है। तालाबकी तरह यहाँ भी लोग नहाते-धोते और कपड़े पछाड़ते हैं, जिससे तमाम गंदा पानी बहकर कुएँमें पहुँचता है और कुल पानीको खराब कर देता है। इसके अतिरिक्त कुएँके जलमें बहुत-से रासायनिक पदार्थ भी घुले रहते हैं, जिनमेंसे कुछ तो हमारे स्वास्थ्यके लिये लाभदायक होते हैं और कुछ हानिकारी। झरनोंके जलमें भी अनेक प्रकारकी लवणादिक घुलनेवाली चीज़ें मिली रहती हैं। साथ ही कहीं-कहीं झरनोंके जलमें अभ्रककी नन्हीं-नन्ही किरचें भी मौजूद रहती हैं, जो आँतोंमें घाव पैदा कर देती हैं। अतएव इस जलको अधिक मात्रामें पीनेसे आँव, अतिसार, संग्रहणी आदि रोग हो जाया करते हैं। नदीके जलमें भी अनेक प्रकारके लवणादिक द्रव्य घुले या मिले रहते हैं। किन्तु ज्यादातर देखा यह जाता है कि नदीका जल किसीको कोई हानि नहीं पहुँचाता। इसका कारण कदाचित् यह है कि नदीका जल हर समय बहता ही रहता है और इसलिये कोई स्थानीय वस्तु उसमें सड़ने नहीं पाती। फिर भी धाराके साथ बहुत-सी मैल-मिट्टी और दूसरी चीज़ें भी पानीमें बहती रहती हैं, अतएव पीनेके पहले नदीके जलको थोड़ी देर रखकर थिरा ज़रूर लेना चाहिये। संसारभरमें गङ्गाजीका जल सबसे उत्तम और पवित्र है और इसीलिये गङ्गाजीका नाम हमारे यहाँ घर-घरमें अत्यन्त श्रद्धा और भक्तिके साथ लिया जाता है। वैज्ञानिक प्रयोगोंके द्वारा भी गङ्गाजलकी पवित्रता और उपयोगिता कई बार सिद्ध की जा चुकी है। फिर भी बरसातके दिनोंमें बाढ़ इत्यादिके कारण सभी नदियोंका जल अत्यन्त मैला और ख़राब हो जाया करता है। अतएव ऐसी दशामें यह जल बिना साफ़ किये नहीं पीना चाहिये।

केशव—जलमें ख़राबियाँ कौन-कौन-सी रहा करती हैं?

पिता—जलमें मुख्यरूपसे तीन प्रकारकी अशुद्धियाँ पायी जाती हैं—

(१) *निर्जीव वस्तुएँ*—ये भी प्रायः तीन विभागोंमें बाँटी जा सकती हैं। यथा—(क) बालू, मिट्टी, कीचड़ इत्यादि—जो शरीरके लिये विशेष हानिकारी नहीं है। (ख) भाँति-भाँतिके रासायनिक द्रव्य एवं खनिज पदार्थ, जैसे कई प्रकारके लवण और क्षार इत्यादि। ये क्षार थोड़ी मात्रामें शरीरके लिये लाभदायक होते हैं, परन्तु अधिक होनेसे आँतोंको हानि पहुँचाते हैं। यदि ये कणोंके रूपमें हुए तो आँतोंमें रगड़ पैदा करके घाव कर देते हैं। साथ ही ये गुर्देको भी हानि पहुँचाते हैं। पहाड़ी जलोंमें चूनेकी प्रायः अधिकता रहा करती है, जो पाचनके लिये हानिकारक है। (ग) मरे हुए जानवर और कीड़े-मकोड़े, जो पानीमें पड़े-पड़े सड़ा करते हैं, तथा मल-मूत्र इत्यादि। ये चीज़ें शरीर और स्वास्थ्यके लिये अत्यन्त हानिकारक हैं। कल-कारखानोंकी परित्यक्त चीज़ें भी इसी विभागमें रखी जा सकती हैं और स्वास्थ्यके लिये भयंकर रूपसे हानिकारी हैं।

(२) *सजीव वस्तुएँ*—इन्हें भी तीन विभागोंमें रखा जा सकता है। यथा—(क) जलके घास-पात व पौधे, जो शरीरके लिये अपकारी हैं। (ख) वनस्पति-जातिके बैक्टीरिया (Bacteria) एवं अन्य छोटे-छोटे जीवाणु जो स्वास्थ्यके लिये अत्यन्त हानिकारी हैं। (ग) भाँति-भाँतिके जल-जन्तुओंके अंडे। ये भी बहुत हानिकारक हैं।

(३) *भाँति-भाँतिके रोगाणु*—इनमेंसे टायफ़ायड एवं हैजेके कीटाणु अत्यन्त भयंकर हैं। इनके कारण हर साल बहुत-सी मृत्यु हुआ करती है।

केशव--क्या जलकी अशुद्धताको दूर करनेका भी कोई उपाय है ?

पिता--हाँ, कई उपाय हैं--

(१) पहला और सबसे सीधा उपाय तो यह है कि पानीको किसी साफ़ धुले हुए कपड़ेसे छानकर दस मिनटतक खौला ले। इससे बालू, मिट्टी आदि छाननेमें बहुत कुछ दूर हो जाती हैं और खौलानेसे चूना नीचे जम जाता है तथा रोगोंके कीटाणु मर जाते हैं।

(२) दूसरी विधि फ़िल्टरकी है। इसके लिये लकड़ीका एक ढाँचा होता है, जिसमें तीन घड़े एक-दूसरेके ऊपर लगभग एक-एक बालिश्तके अन्तरपर रख दिये जाते हैं। इनमेंसे बीचवाले घड़ेमें नीचेके आधे भागमें बालू और ऊपरके आधे भागमें कोयला भर दिया जाता है। शेष दोनों घड़े ख़ाली रहते हैं। अब ऊपरके दोनों घड़ोंमें पेंदीकी ओर छेद कर दिया जाता है और उस छेदमें कपड़ेकी एक-एक बत्ती भी लगा दी जाती है, जिससे पानी टपक सके। सबसे नीचेवाले घड़ेके मुँहपर एक साफ़ मोटा कपड़ा बाँध दिया जाता है। बस, फिर जिस पानीको साफ़ करना होता है, उसे सबसे ऊपरवाले घड़ेमें भर देते हैं। यह पानी पेंदीसे टपक-टपककर बीचके घड़ेमें गिरेगा और फिर कोयले तथा बालूमेंसे छनता हुआ नीचेके घड़ेमें जायगा। इस तरह छाननेसे पानीमें मिले हुए तमाम दूषित पदार्थ और मैल-मिट्टी कोयले तथा बालूमें रह जाती है और पानी बिल्कुल साफ़ होकर नीचेवाले घड़ेमें भर जाता है। लेकिन इस विधिसे पानीमें घुले हुए पदार्थ अलग नहीं किये जा सकते और न रोगके कीटाणुओंसे ही बचाव हो सकता है।

(३) तीसरी विधि पानीको भपकेसे उतारनेकी है। इसमें पानीको एक बर्तनमें उबालते हैं और उसकी भाप दूसरे बर्तनमें नलीद्वारा ले जाकर ठंडी कर लेते हैं, जिससे उस भापका फिर पानी बन जाता है। इस प्रकारका पानी बिल्कुल शुद्ध होता है और दवाके काममें लाया जाता है। अंग्रेज़ी दवाखानोंमें इस प्रकार शुद्ध किया हुआ पानी (Distilled water) बिका भी करता है।

(४) हवा और घाम लगनेसे भी जल काफ़ी शुद्ध हो जाता है। प्रयागके प्रसिद्ध वैज्ञानिक डाक्टर नीलरत्नधरकी तो राय है कि पानीको खुली धूपमें कई घंटेतक रख छोड़नेसे वह इतना शुद्ध हो जाता है कि उससे शरीरके घावतक धोये जा सकते हैं।

(५) रोगके कीटाणुओंको नष्ट करनेके लिये थोड़ा-सा परमेंगनेट पोटास नामक गुलाबी दवा भी पानीमें मिला देनेसे काम चल सकता है। तुमने देखा होगा कि बीमारीके दिनोंमें शहरकी म्युनिसिपैलिटियाँ तमाम कुओंमें यह गुलाबी दवा छोड़वा दिया करती हैं।

(६) कुछ लोग पानीको उबालकर उसमें कपूर छोड़ लेते हैं। यह भी एक अच्छी विधि है।

इस प्रकार पानीको शुद्ध करनेकी कई विधियाँ हैं; किन्तु साधारण मनुष्यके नित्यप्रतिके व्यवहारके लिये वही विधि सबसे उत्तम है, जिसकी चर्चा हम सबसे पहले कर आये हैं। यदि रोज़ नहीं तो जिन दिन आस-पासमें हैजा, टायफ़ायड आदि रोग फैल रहे हों उतने समयके लिये तो अवश्य ही इस विधिको काममें लाना चाहिये और पानीको सदा उबालकर तथा छानकर पीना चाहिये।

केशव--अच्छा, पानी पीनेके सम्बन्धमें भी कोई नियम है ?

पिता--कोई खास नियम नहीं। जिस प्रकार भोजनके लिये सच्ची भूखको पथप्रदर्शक समझना उचित है, उसी प्रकार पानीके लिये भी अपनी प्यासको पथ-प्रदर्शक मानना उचित होगा। कुछ लोग भोजनके समय पानी बिल्कुल ही नहीं पीते और प्यासको दबाये रहते हैं। कुछ ऐसे हैं, जो भोजनके समय लोटों पानी गलेके

नीचे उँडेल लिया करते हैं। ये दोनों ही आदतें अच्छी नहीं हैं। उचित यह है कि प्यासके अनुसार भोजनके बीच-बीचमें एवं बादमें भी थोड़ा-थोड़ा पानी पिया जाय। हमारे शरीरको पानीकी कब और कितनी आवश्यकता है, इसे बतलानेके लिये हमारी प्यास ही सबसे उत्तम और स्वाभाविक साधन है। अतएव इसीकी आज्ञाको मानना सदैव उचित है। साधारण अवस्थामें नित्य शीतल ही जल पीना लाभकारी हुआ करता है; क्योंकि शीतल जलके स्पर्शसे खूनका दौरा तेज़ हो जाया करता है। ठंडा जल पेटमें पहुँचते ही शरीरका बहुत-सा खून पेटकी ओर दौड़ने लगता है। इससे पाचनके कार्यमें सहायता मिलती है। स्नानके लिये भी ठंडा जल ही सर्वोत्तम है।

केशव—क्या जाड़ेके दिनोंमें भी ठंडे जलसे नहाना उचित है?

पिता—हाँ, साधारणतः हर एक नीरोग मनुष्यको ठंडे जलसे नित्य ही नहानेकी आदत डालनी चाहिये। एक बार यह आदत पड़ जानेपर फिर सर्दी या जुकामका कोई डर नहीं रह जाता और हर प्रकारसे हानिके बजाय लाभ-ही-लाभ दिखायी देता है। वैज्ञानिकोंका कहना है कि ठंडा जल शरीरके लिये अत्यन्त बलदायक है। इसके स्पर्शसे त्वचाके तमाम कोषाणु सिकुड़ने लगते हैं, जिससे वहाँका रक्त अंदरकी रक्तनालियोंमें फेंक दिया जाता है। परन्तु अंदर जाते ही वह रक्त गरम होकर फिर त्वचाकी ओर दौड़ने लगता है और अब उसकी गति पहलेसे भी अधिक तेज़ हो जाती है, जिससे त्वचामें फिर गरमी आ जाती है। तुमने देखा होगा कि ठंडे जलसे नहानेके बाद ही शरीर फिर गरम हो जाता है। इसका कारण वही है, जो हम अभी बतला चुके हैं। अस्तु, नहानेके लिये हमें सर्वदा ठंडे जलका ही उपयोग करना चाहिये। इसके अतिरिक्त नहानेके सम्बन्धमें कुछ और भी नियम हैं, जिन्हें ध्यानमें रखना चाहिये।

केशव—वे क्या हैं?

पिता—वे नियम इस प्रकार हैं—

(१) शरीरकी गरमीसे जल कुछ थोड़ा ही अधिक ठंडा लेना चाहिये। जबतक शरीर बहुत मज़बूत न हो, तबतक जल बहुत ज्यादा ठंडा नहीं लेना चाहिये। मतलब यह है कि पानी उतना ही ठंडा हो, जितना शरीर सह सके और उसकी गरमी नहानेके बाद ही फिर लौट आये। जिस जलसे शरीर काँपने लगें और नीला पड़ जाय, ऐसा ठंडा जल कदापि न लेना चाहिये।

(२) नहानेके समय सबसे पहले पानी सिरपर छोड़े और बादमें दूसरे अंगोंको भिगोये।

(३) नहाते समय एक साफ़ तौलिया या मोटे गाढ़ेका कपड़ा पानीमें भिगो ले और उससे शरीरके एक-एक हिस्सेको इस प्रकार रगड़े और धोये कि उस स्थानपर लाली दौड़ आये।

(४) नहानेके बाद शरीरको किसी सूखे तौलियेसे इसी प्रकार खूब कसकर पोंछना भी चाहिये।

(५) भोजनके बाद तुरंत ही नहाना मना है। इससे मन्दाग्नि आदि रोग खड़े हो जाते हैं।

(६) यदि हवा तेज और ठंडी हो तो किसी बंद स्थानमें नहाना चाहिये।

इन छः नियमोंको नहानेके लिये ध्यानमें रखे तो सर्दी-जुकामका कोई भी डर नहीं रह सकता।

केशव—समझ गया और इन्हें ध्यानमें रखूँगा।

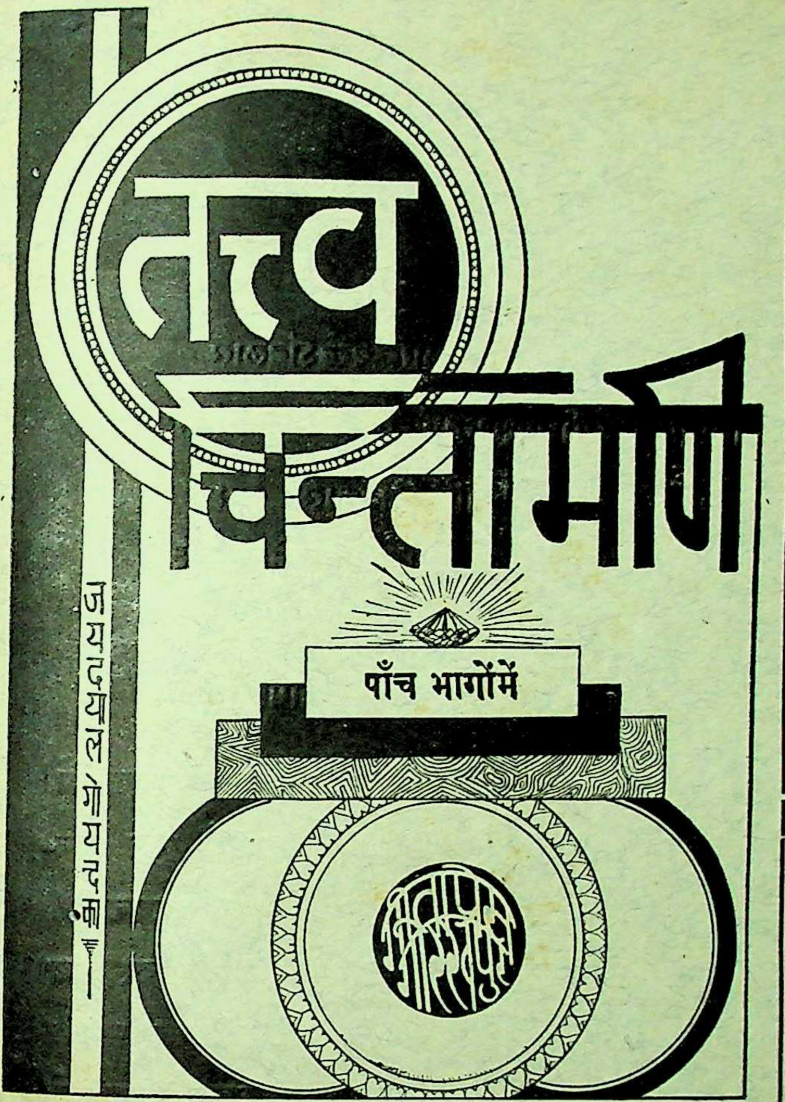
तत्त्व
चिन्तामणि
पाँच भागोंमें
जयदयाल गोयन्दका
गीताप्रेस गोरखपुर

श्रीहरिः

श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके

‘कल्याण’

में

प्रकाशित

लेखोंके

संग्रह

२०×३० सोलहपेजी साइजमें

भाग १	मूल्य ॥=)	सजिल्द ॥।-)
भाग २	मूल्य ॥।=)	सजिल्द १=)
भाग ३	मूल्य ॥≡)	सजिल्द ॥।=)
भाग ४	मूल्य ॥।-)	सजिल्द १)
भाग ५	मूल्य ॥।-)	सजिल्द १)
	पाँचों भागोंका ३॥।-)	सजिल्द ४॥।-)

२२×२९ बत्तीसपेजी (गुटका) साइजमें

भाग १	मूल्य ।-)	सजिल्द ।=)
भाग २	मूल्य ।=)	सजिल्द ॥)
भाग ३	मूल्य ।-)	सजिल्द ।=)
भाग ४	मूल्य ।=)	सजिल्द ॥)
भाग ५	मूल्य ।=)	सजिल्द ॥)
	पाँचों भागोंका १॥।)	सजिल्द २।)

डाकखर्च अलग

गीताप्रेस, गोरखपुर

श्रीहरिः

श्रीहनुमद्वन्दना

गोष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम् । रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम् ॥१॥
अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम् । कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयंकरम् ॥२॥

उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः ।
आदाय तेनैव ददाह लङ्कां नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥३॥
मनोजवं मारुततुल्यवेगं जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम् ।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं श्रीरामदूतं शिरसा नमामि ॥४॥

जो समुद्रको गौके खुरसे बने हुए गड्ढेके समान लाँघ गये, जिन्होंने लङ्काके राक्षसोंको मच्छरोंकी तरह मसल डाला और जो रामायणरूपी महामालाके सुमेरुके समान हैं, उन पवन-कुमारकी मैं वन्दना करता हूँ। जिन्होंने श्रीरघुनाथजीका प्रिय संदेश सुनाकर जनकनन्दिनी श्रीसीताजीके शोकका नाश कर दिया, जिन्होंने रावणके पुत्र महाबली अक्षकुमारका वध कर डाला तथा आग लगाकर लङ्कामें भय उत्पन्न कर दिया, उन वानरोंके अधिपति अञ्जनीकुमार महावीर श्रीहनुमान्‌जीकी मैं बार-बार वन्दना करता हूँ। जो खेल-ही-खेलमें समुद्रकी महान् जलराशिको लाँघ गये और जिन्होंने विरह-विधुरा श्रीजानकीजीके शोकरूपी अग्निकी एक चिनगारी लेकर उसीसे मानो लङ्काको जला डाला, उन अञ्जनीकुमारको मैं प्रणाम करता हूँ। जिनकी मनके समान गति है (जो चाहे जितना तेज चल सकते हैं), जिनमें पवनका-सा वेग है, जो नैष्ठिक ब्रह्मचारी एवं ज्ञानियोंमें अग्रगण्य हैं, उन श्रीरामके संदेशवाहक वानरश्रेष्ठ पवनकुमारको मैं सिर झुकाकर प्रणाम करता हूँ।

(श्रीरामायण-तिलक)

कल्याण

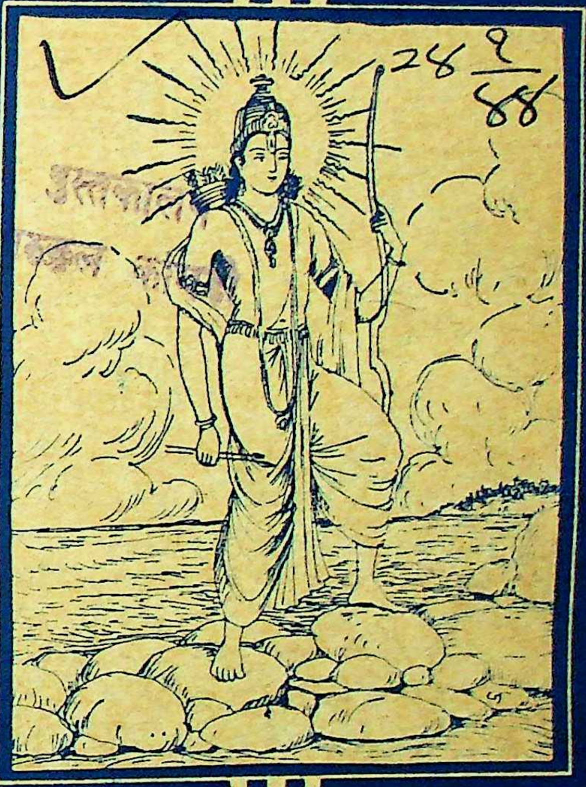

24 9/44

वर्ष १८ अङ्क ३

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ आगारा ॥

[संस्करण ५०६००]

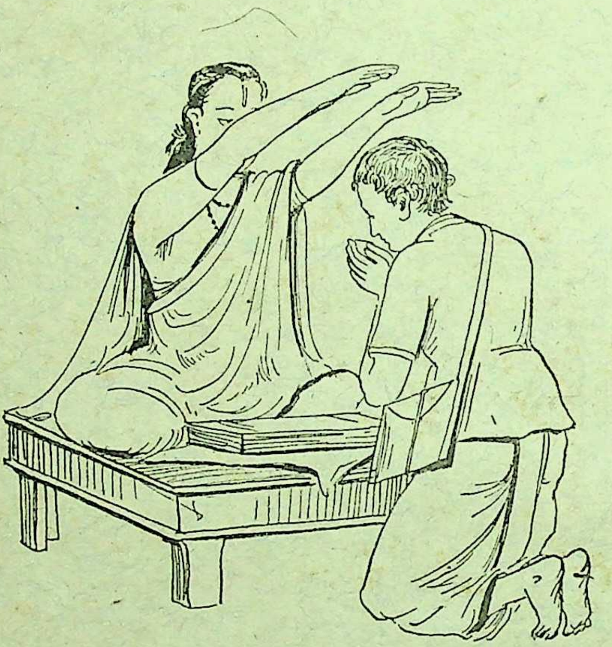

आचार्यदेवो भव

वार्षिक मूल्य
भारतमें ५≡)
विदेशमें ७॥=)
(शिलिङ्ग ११½)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें ।)
विदेशमें ।≶)
(८ पेंस)

Edited by H. P. Poddar and C. L. Goswami, M. A., Shastri.
Printed and Published by Ghanshyamdas Jalan at the Gita Press, Gorakhpur, U. P. (India)

श्रीहरिः

संक्षिप्त वाल्मीकीय रामायणाङ्कके लिये अब चन्दा न भेजें

अङ्क समाप्त हो गये हैं इसलिये ग्राहकोंकी सेवामें प्रार्थना है कि कृपा करके अब और चन्दा न भेजें । ~~जिन ग्राहकोंका चन्दा आवेगा, वह वापिस कर दिया जायगा ।~~

जिन लोगोंके अङ्क सजिल्द होनेके कारण अबतक न जा सके हैं, वे जैसे-जैसे तैयार होते जायँगे, उनको भेजे जाते रहेंगे । इस बार बहुत अधिक ग्राहकोंका सजिल्दका चन्दा आ जानेके कारण सजिल्दके काममें देर हो गयी ।

व्यवस्थापक—**कल्याण, गोरखपुर**

कल्याण दिसम्बर सन् १९४३ की

विषय-सूची

विषय — पृष्ठ-संख्या
१–मिलनोत्तर प्रार्थना [कविता] (मीराबाई) ··· ६०१
२–आध्यात्मिक लाल (श्रीभोलानाथजी महाराज) ६०२
३–प्रभु-वन्दना [कविता] (पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री ‘राम’) ··· ६०५
४–साधु-दर्शन और सत्प्रसङ्ग (महामहोपाध्याय पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम्० ए०) ··· ६०६
५–भरतका आदर्श चरित्र (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ··· ··· ६१०
६–प्रेम-प्रादुर्भाव [कविता] (श्रीचन्द्रावतीजी गुप्ता) ··· ··· ··· ६१८
७–सङ्गका फल (पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय, एम्० ए० साहित्याचार्य) ··· ··· ६१९
८–सचाईका पुरस्कार (पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम्० ए०) ··· ··· ६२३
९–शैव-आगम अथवा प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र (पं० श्रीबलजिन्नाथजी शास्त्री, बी० ए०) ··· ६२५

विषय — पृष्ठ-संख्या
१०–ऐसे पिय जान न दीजै हो ! (पं० श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट) ··· ··· ६२९
११–प्राचीन इतिहासमें गौओंका स्थान (श्रीधर्मलालसिंहजी) ··· ··· ६३१
१२–भगवन्नाम-कीर्तन (सेठ कन्हैयालालजी पोद्दार) ··· ६३५
१३–हम अपने बनें (श्रीव्रजमोहनजी मिहिर) ··· ६३९
१४–सर्व-समर्पण [कविता] (श्रीललितकिशोरीजी) ··· ६४३
१५–मातृ-सेवा (पं० श्रीवेणीरामजी शर्मा गौड़, वेदाचार्य, वेदरत्न, काव्यतीर्थ) ··· ६४४
१६–ईश्वर-भक्तिका ज्वलन्त उदाहरण (पं० श्रीलज्जाशङ्करजी झा, एम्० ए०) ··· ६४७
१७–गीताका तीसरा अध्याय—कर्मयोग (पं० श्रीमुरलीधरजी शर्मा, बी० ए०, बी० एल्०) ··· ६५०
१८–परीक्षा [कहानी] (श्री ‘चक्र’) ··· ६५६
१९–स्नेह-सूत्र [कविता] (कविरत्न पं० श्रीगणपतराजजी पुरोहित ‘सज्जन’) ··· ··· ६५९
२०–शिक्षा (पं० श्रीगङ्गाशङ्करजी मिश्र, एम्० ए०) ६६०

पुराने विशेषाङ्क और फाइलोंके सजिल्दके आर्डर न दें

प्रेसकी पुस्तकें आदिकी माँग अधिक रहनेके कारण कल्याणकी पुरानी फाइलें तथा विशेषाङ्कोंकी जिल्द बनानेका काम स्थगित कर दिया गया है अतः अब कोई सज्जन सजिल्दके दाम न भेजें ।

व्यवस्थापक—**कल्याण, गोरखपुर**

Notice

"Kalyana-Kalpataru"

The subscribers of the "Kalyana-Kalpataru" are hereby informed that owing to some unavoidable and unforeseen difficulties, there will be some delay in the publication of the tenth inaugural number of the journal, viz., The Śrī Kṛṣṇa-Līlā Number—II, which was due to be out in the first week of January, 1944. The printing of the issue has been started and its present rate of progress gives us hope that we shall be able to place it in the hands of our readers by the first week of February, if not earlier. We crave the indulgence of our subscribers for this unavoidable delay.

Manager.

Kalyana-Kalpataru, Gorakhpur

What is God ?

By Jayadayal Goyandka

(Pamphlet, Pages 56, Price 0-2-0 Two annas only; postage extra)

This small brochure gives in a nutshell all the prominent ideas about God and the means of His realization as set forth by the different authoritative schools of Hinduism. It is an English translation of the writer's article in Hindi dealing with the subject in a comprehensive manner, so as to compose the differences of outlook, which are the seed-beds of theological controversy. Practices suited to practicants devoted to meditation of both the Manifest and Unmanifest aspects of God have been discussed in detail with suggestions of improvement. It is a helpful guide to practicants of all schools of thought.

What is Dharma ?

By Jayadayal Goyandka

(Tract reprinted from the "Kalyana-Kalpataru")

It deals with the Hindu conception of Dharma and its universal nature. The root ideas of Varṇāṣrama Dharma have been dealt with in a popular form. Every Hindu should read it in order to clarify his conception of Dharma. Price 0-0-9 Nine pies only; postage extra.

Manager,

The Gita Press, Gorakhpur

सामयिक चेतावनी

श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका 'कल्याण'के गत अङ्कमें गया हुआ लेख सर्वसाधारणकी सुविधाके लिये पुस्तकके आकारमें छापा गया है। आकार १७×२७=१६ पेजी पृष्ठ ३२; मूल्य -); डाकखर्च अलग।

मैनेजर

गीताप्रेस, गोरखपुर

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी

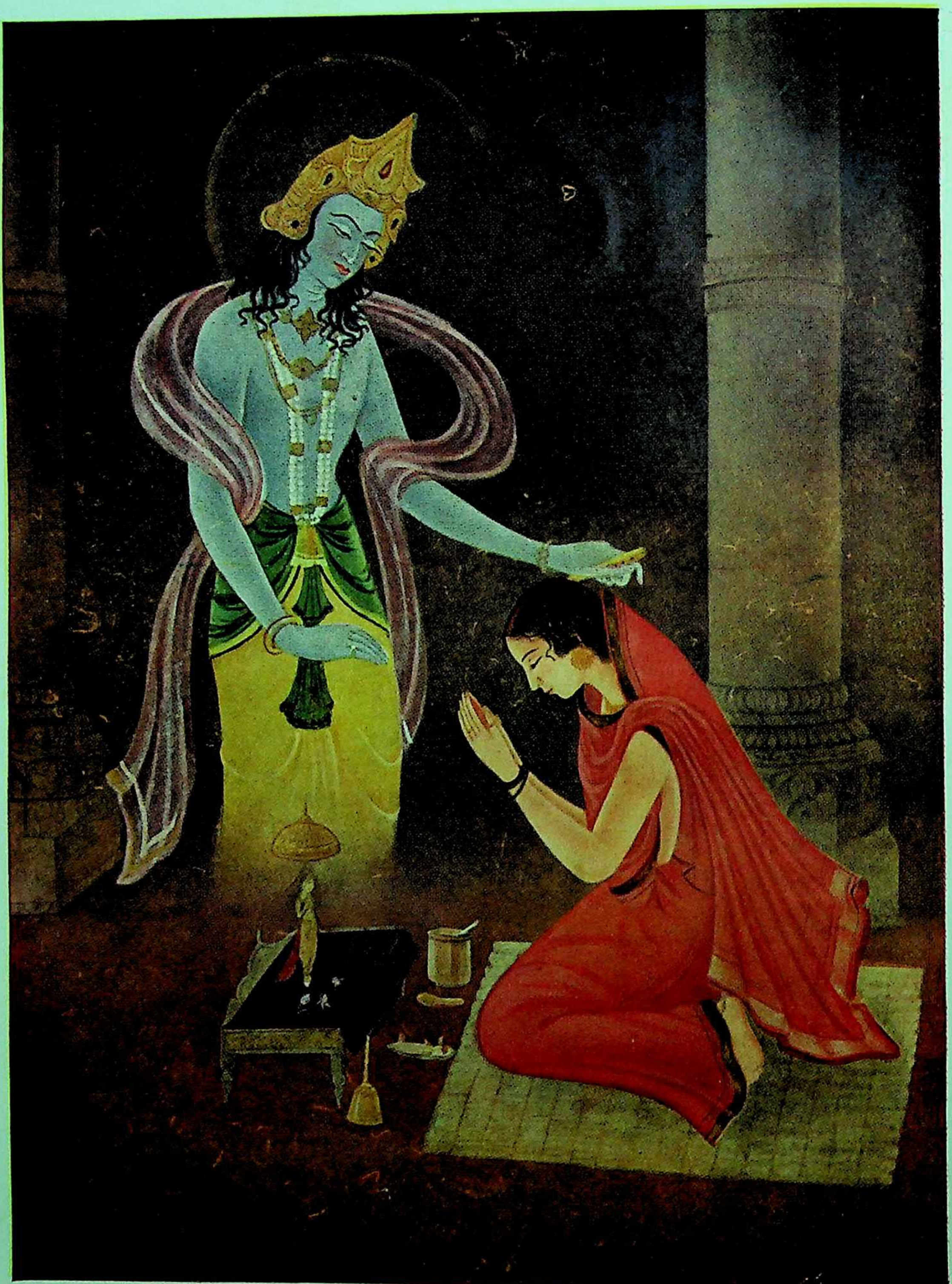

मीराँपर कृपा

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी

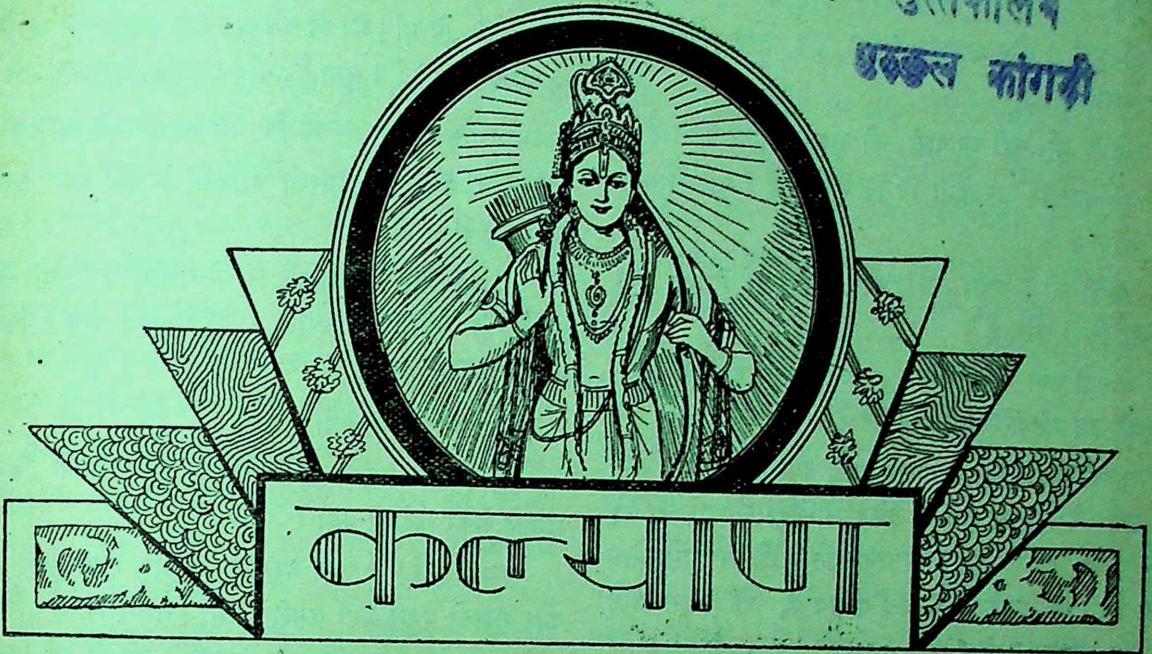

रामाय रामभद्राय रामचन्द्राय वेधसे ।
रघुनाथाय नाथाय सीतायाः पतये नमः ॥

वर्ष १८ } गोरखपुर, दिसम्बर १९४३, सौर मार्गशीर्ष २००० { संख्या ३
पूर्ण संख्या २०७

मिलनोत्तर प्रार्थना

छोड़ मत जाज्यो जी महाराज ॥
मैं अबला बल नाँय गुसाईं, तुम ही मेरे सिरताज ।
मैं गुणहीन गुण नाँय गुसाईं, तुम समरथ महाराज ॥ १ ॥
थाँरी होयके किणरे जाऊँ, तुमही हिवड़ारो साज ।
मीराके प्रभु और न कोई, राखो अबके लाज ॥ २ ॥

—मीरा

आध्यात्मिक लाल

(लेखक—श्रीभोलानाथजी महाराज)

लड़की–माँ, तुमको कुछ पता है कि वे व्यापारी फिर आये हैं !

माँ–पुत्री ! कौन व्यापारी ? तुम इस तरह खुश-खुश क्यों उछल रही हो ?

लड़की–माँ, वही व्यापारी, जो अक्सर आया करते हैं ।

माँ–आखिर बताओगी भी कि वे कौन हैं ? मुझे तो याद नहीं आता ।

लड़की–माँ ! वही, वही जो लालों (Rubies) का व्यापार किया करते हैं ।

माँ–तो क्या वे गुप्तरीतिसे व्यापार कर रहे हैं ? किस-किसको उन व्यापारियोंकी खबर है ?

लड़की–नहीं, माँ, न मालूम तुम्हें क्या हो गया है । सुनो तो सही, वे तो आवाजें दे-देकर लालोंका व्यापार कर रहे हैं । क्या कोई कानूनके खिलाफ बात है जो वे गुप्तरीतिसे ऐसा करते या उनके कोई लाल खराब हैं, जो वे इस तरह छिपकर व्यापार करते ?

माँ–(प्रसन्न होकर) अहा, कैसी अच्छी बात है कि फिर लालोंके व्यापारी सामने आये ! वाह, कितनी सुन्दर और कीमती चीजका व्यापार करते हैं !! परन्तु……… । (सुस्त हो जाती है ।)

लड़की–माँ, 'परन्तु' क्या ?

माँ–नहीं, कुछ नहीं ।

लड़की–माँ, सुस्त क्यों हो गयीं ?

माँ–बेटी ! कुछ नहीं, तुम अपनी बात करो ।

लड़की–अच्छा, तो माँ, वे आये हैं और लाल बेच रहे हैं।

माँ–तो तुम्हारा मतलब क्या है ?

लड़की–क्या तुम अभीतक समझी नहीं, भोली माँ ! या जान-बूझकर ऐसा कर रही हो ?

माँ–आखिर तुम क्यों नहीं बोलतीं ?

लड़की–अच्छा, माँ ! मैं ही कहे देती हूँ; पर मेरी बातको काटना नहीं ।

माँ–बोलो तो सही ।

लड़की–तो मेरे मनमें…… । अब तो समझ गयीं, माँ !

माँ–(मुसकराकर)—देखा, कैसी बातें कर रही है; साफ नहीं कहती, कहीं तो लालोंके व्यापारियोंका जिकर और कहीं इस तरहकी आधी-पूरी बातें !

लड़की–तो माँ ! मेरे दिलमें अब यह आ ही गया है कि मैं इन लालोंको खरीदूँ । सुना है, माँ ! कि बड़े ही सुन्दर होते हैं।

माँ–हाँ, तो अब समझी कि तुम्हारा मतलब क्या था ।

लड़की–(माँके इशारेको भाँपकर) तो क्या तुम्हारा मतलब है मैं न खरीदूँ ?

माँ–यह मैंने कब कहा है कि न खरीदो । अगर खरीद सकती हो तो जरूर खरीदो । लेकिन मुझे पता है कि तुम खरीद नहीं सकती ।

लड़की–माँ ! सो क्यों ?

माँ–(बात काटकर)—लेकिन यह बताओ कि तुम उनको लेकर करोगी क्या ?

लड़की–माँ ! मैं उन्हें कानोंमें पहनूँगी, लोग मुझे देखेंगे और मुझको बहुत बड़ी समझेंगे । माँ ! तुमने भी कल किसीको कहते सुना था न कि एक लड़कीके कानमें इस किस्मका लाल पड़ा था और वह संसारकी दृष्टिमें बहुत बड़ी हो गयी थी ! मैं भी तो वैसी ही बनूँगी । माँ ! देर न करो, मैं जा रही हूँ । ऐसा न हो कि व्यापारी चले जायँ । अहा, जब मुझे उस समयकी कल्पना होती है कि जब मेरे कानोंमें लाल लटक रहे होंगे तो मेरा जी बल्लियों उछलने लगता है । माँ, वे लाल कितने सुन्दर होंगे ! माँ ! तुमको न दूँगी; अगर तुम माँगोगी तो भी न दूँगी । मैं भी उनको किसी-किसी समय ही पहना करूँगी ।

माँ–अगर पहिन भी लिया तो क्या होगा ?

लड़की–बड़ी भोली बनी जा रही है ! जब मैं उनको पहनूँगी, माँ ! लालोंवाली कहलाऊँगी, और दुनिया मेरी इज्जत उसी तरह करेगी कि जिस तरह लालवालोंकी करती आयी है ।

माँ–रहने दो, आज तो बहुत बड़ी-बड़ी बातें कर रही हो!

लड़की–मैं बड़ी, मेरे लाल बड़े, मेरी बातें बड़ी ! छोटी बातें वे करें कि जिनके दिल छोटे हों ।

माँ–बैठी रहो, तुम खरीद न सकोगी ।

लड़की–माँ ! तुम तो बुढ़िया हो गयी हो, हर बातमें

यही कहा करती हो—'यह न करो, वह न करो।' कभी यह भी कहती हो कि 'यह किया करो, वह किया करो और जाओ दौड़कर लाल ले आओ!'

माँ–कह तो देती, लेकिन मुझे मालूम है कि तुम खरीद न सकोगी। अभी तुम्हारे पास........।

लड़की इतना सुनते ही पल्ला छुड़ाकर भाग जाती है और माँ पीछेसे कहती है—'ईश्वरकी क्या लीला है! कहाँ तो लाल-जैसी कीमती चीज और कहाँ यह नादान बेसमझ लड़की कि जिसके पास पैसा तक भी नहीं। इसको काँचका तो व्यापार करना आता ही नहीं, फिर यह लालोंका व्यापार कहाँसे कर लेगी। न तो इसके पास पैसा है और न कोई ऐसा सामान कि जिससे यह लालोंको खरीद सके। मैं निश्चयपूर्वक कह सकती हूँ कि यह नासमझ है, मूर्खा है। (जोरसे छतपर खड़ी होकर आवाज देती है) 'बेटी! सुन, सुन; लौट आ, मत जा, यह ठीक नहीं है।' इत्यादि। लेकिन वहाँ सुनता कौन था। लड़कीने एक न सुनी और झट लालवालोंके पास जा पहुँची। लालवाले उस खरीदारको एक मुद्दतके बाद आया देखकर बहुत ही खुश हुए और पूछा कि 'तुम कौन हो?'

लड़की–आपको मालूम है कि आपके पास आ कौन सकता है? सिर्फ वही कि जो आपकी चीजोंका गाहक हो।

लालवाले–तो क्या तुमको पता है कि हम किस चीजके व्यापारी हैं?

लड़की–मैं यह पूछने नहीं आयी कि आप क्या बेचते हैं, बल्कि यह दर्याफ्त करने आयी हूँ कि आपके लाल कहाँ हैं और किस कीमतके हैं?

व्यापारी–अच्छा-अच्छा, तो हम समझ गये। आज बहुत ही अच्छा दिन है कि एक खरीदारका मुँह देखा।

लड़की–तो क्या अभी कोई गाहक सुबहसे नहीं आया था?

व्यापारी–सुबहसे क्या, कई बरसोंसे कोई गाहक नहीं आया। गाहककी शक्ल ही नहीं देखी!

लड़की–तो क्या तुम चुपचाप व्यापार किया करते थे या आवाजें लगाकर?

व्यापारी–हमारा काम आवाजें लगाना है।

लड़की–तो फिर गाहक क्यों न आये?

व्यापारी–यह बात तो उनको ही मालूम होगी। लेकिन हमें खुशी है कि आज हमने गाहकको देखा।

लड़की–(प्रसन्न होकर) देखा, मैं कैसी हूँ। आखिर मेरी इज़्ज़त तो अभीसे शुरू हो गयी! माँ तो वैसे ही कुछ-न-कुछ कह दिया करती है। आखिर क्यों न हो। हमारे-जैसे गाहक भी तो अक्सर हुआ ही करते हैं।

व्यापारी–आज क्या अच्छा दिन है कि गाहकका मुँह देखा, नहीं तो हमको एक मुद्दत बैठे-बैठे हो गयी!

खुदा तो मिलता है, इन्सान ही नहीं मिलता।
यह चीज़ वह है, जो देखी कहीं-कहीं मैंने॥

भगवान् तो सर्वत्र हैं ही (सर्वव्यापक जो ठहरे)। सिर्फ उनके चाहनेवाले ही कम मिलते हैं, और कहीं-कहीं ही मिलते हैं। फिर कौन कह सकता है कि जो चाहनेवाले नज़र आते भी हैं, उनमेंसे भी सच्चे चाहनेवाले कौन हैं?

लड़की–लेकिन देर हो रही है। मैं लाल खरीदने आयी हूँ, इसलिये मुझे लाल दिखाइये।

व्यापारी सन्दूक खोलकर लालोंको उसके सामने रख देते हैं और वहाँ चारों तरफ रोशनीकी दमकें निकलने लगती हैं। लड़की देखकर बहुत खुश हो जाती है कि अहा, कितने सुन्दर लाल हैं। क्या इन्हींको लाल कहते थे! एक-से-एक अच्छा है; किसको लें, किसको न लें! अच्छा, जब मैं इनको कानोंमें पहनकर घूमूँगी तो कैसे भले मालूम होंगे! कितने अच्छे व्यापारी हैं, सब-के-सब लाल उठाकर मेरे सामने रख दिये हैं!

लड़की–लाल तो वाकई सुन्दर हैं, लेकिन इनकी कीमत भी तो बताइये।

व्यापारी–कीमत पूछनेसे क्या फायदा? लाल तो बहुत सस्ते हो गये हैं।

लड़की–वह क्यों? क्या खराब हैं या पुराने हो गये हैं?

व्यापारी–नहीं, ये खराब तो होते ही नहीं और न इनका पुरानापन इनकी कीमतको कम करता है।

लड़की–तो फिर सस्ते क्यों हो गये?

व्यापारी–चूँकि इनके चाहनेवाले कम हो गये हैं, और यह नियम है कि जब गाहक ज्यादा हों और चीज कम हो तो चीज महँगी हो जाती है और जब गाहक कम हों और चीज ज्यादा हो तो चीज सस्ती हो जाती है! इन (लालों) के सम्बन्धमें भी यही बात है।

लड़की–(खुश होकर) माँ तो वैसे ही बोला करती है।

देखा, लाल भी मिल गये और वे भी खूब सस्ते हो रहे हैं। देखी, माँ ! मेरी चतुराई।

व्यापारी–अच्छा तो कितने लाल चाहिये ?

लड़की–फिर भी कीमत तो बताइये।

व्यापारी–अच्छा, बताये ही देते हैं; मामूली-सी कीमत है, सस्ते हो गये हैं। सिर्फ सिर देनेकी कीमतसे मिल सकते हैं। देखा, ये किस कदर सस्ते हो रहे हैं।

लड़की–(चौंककर–मन-ही-मन) हैं, यह क्या कह रहे हैं? सिर माँग रहे हैं! सिर ! और कह रहे हैं कि बहुत सस्ते हो गये हैं। वाह, आये कहींके व्यापारी सिर माँगनेवाले, इतना भी नहीं जानते कि मैं कौन हूँ । मैंने आजतक अपने आपको हर तरहके ऐश और आरामसे पाला है और ये माँग रहे हैं सिर, और वह भी उसका कि जिसने आजतक कभी सूईकी चुभन तकको नहीं देखा !

लड़की–व्यापारियो! अच्छा रहने दो। अभी जरा सन्दूक बंद कर लो। मैं जरा सोच लूँ, फिर खरीदूँगी।

व्यापारी–(सुस्त होकर) आह, इस कदर सस्ती कीमतसे भी कोई इन लालोंका गाहक नहीं है। मुद्दतके बाद एक गाहक मिली थी, वह भी झूठी निकली।

दूसरा व्यापारी–उसने यह तो नहीं कहा कि मैं नहीं खरीदूँगी। वह तो कह गयी है कि अभी रख लो, मैं सोच लूँ।

पहला व्यापारी–खरीदनेवाले और होते हैं। वह तो झपट ही पड़ते हैं, चीजको लेकर ही उठते हैं। वह तो अपनी कमजोरीको छिपाना चाहती है। आखिर हम भी तो पुराने व्यापारी हैं, किस बातको नहीं जानते।

इधर लड़की बड़ी तेजीके साथ घरको मुड़ती है। उसकी सहेलियाँ इन्तज़ारमें बैठी हैं और देखना चाहती हैं कि वह कैसा लाल खरीद कर लायी है। आखिर मनचली सहेली थी। हमें तो हिम्मत न पड़ी कि वहाँ जायँ और जाकर लाल खरीदें। न जाने हमारी सहेली इतनी धनवान् कहाँसे हो गयी जो झट लाल खरीदने चली गयी। लड़की घर पहुँचती है, सहेलियाँ इर्द-गिर्दसे उसे घेर लेती हैं।

सहेलियाँ–बहिन ! पहले लाल दिखाओ कहाँ हैं ? हम जरूर देखेंगी।

लड़की–मेरे पास नहीं हैं।

सहेलियाँ–तो क्या तुमको यह खयाल है कि हम इस तरह बहक जायँगी ? हम देखे बग़ैर न रहेंगी ?

लड़की–मेरे पास नहीं हैं। मैं तुमसे सच कहती हूँ।

सहेलियाँ–इसी तरह ही कहा करती हैं। जब माँ तुमको रोकती थी तो भी तुमने कहा था कि मैं सचमुच उन लालोंको खरीदकर लाऊँगी। तुम जरूर लायी हो और छिपा रही हो।

लड़की–तो कौन-सी अच्छी चीज़ है कि जिसको छिपा रही हूँ ?

सहेलियाँ–क्या कहा ? अच्छी चीज़ ? और कौन-सी अच्छी चीज़ है ? यह बहाना है कि हम उस सुन्दर लालको न देख सकें। अगर तुमने उसको अच्छा न समझा था तो खरीदा ही क्यों ?

लड़की–छोड़ती भी हो। मेरे पास कोई लाल-वाल नहीं है।

माँ–नहीं, जरूर लेकर आयी होगी। जरूर देखो। मैंने इतना रोका था, पर चली ही गयी थी। तो क्या अब भी खाली हाथ वापस आयी होगी। ये सब इसके बहाने हैं और यह सबको इस तरह टाल रही है।

लड़की–मैं सच कहती हूँ, मेरे पास कोई लाल नहीं है।

सहेलियाँ–अरी ! पकड़ो इसको और इसकी जेबें टटोलो।

लड़की–रहने दो पहले बात तो सुन लो।

सहेलियाँ–अच्छा कहो।

लड़की–जब मैं लालवालोंके पास गयी तो वे मुझे देखकर बहुत खुश हुए और मैं भी खुश हुई कि मुझे लालवाले मिल गये, लेकिन जब मैंने उनसे लाल दिखानेको कहा तो वे हँसकर कहने लगे कि 'ये हैं लाल' और जब कीमत पूछी तो झट कह दिया कि 'बहुत सस्ते हैं, बहुत ही सस्ते हैं।' और जब सस्ती कीमत पूछी तो कहने लगे कि 'हाँ, सिर उतार दो; तुमको लाल मिल जायँगे।' सुना, मैं क्या कह रही हूँ ? और सुनिये, एक तो लाल भद्दे और भारी-भारी और दूसरे कीमत इस कदर जबरदस्त ! और तुम जानती हो कि मैंने अपने-आपको किस तरह पाला है। आजतक काँटे और सूईके चुभनका भी मुझे अनुभव नहीं तो फिर मैं सिर देकर ऐसे भद्दे लाल क्योंकर खरीद सकती थी। वे तो अजब व्यापारी हैं। भारी-भारी और भद्दी चीजोंकी यह कीमत माँग रहे हैं ?

सहेलियाँ–(गुस्सेमें आकर) बस चुप रह। फिर ऐसा शब्द मुँहसे न निकालना। लाल और भद्दे और भारी! तुझको कहते जरा संकोच नहीं होता ? और सिर देना कीमत ज्यादा और बहुत ज्यादा ? जरा देख तो सही कि तू जो इस कदर भारी और मोटी है, वह तो सूक्ष्म और हल्की

बनी बैठी है, और जो अत्यन्त हल्के, अति सुन्दर और अतीव प्रिय हैं उनको तू इस तरह भद्दे, भारी और बदशक्ल बता रही है ? तू अपनी कमजोरियों और गरीबीको इस तरह छिपा रही है । तेरा दिल जानता है कि लाल सुन्दर हैं, अत्यन्त सुन्दर हैं और तू कीमत अदा नहीं कर सकती; फिर तू इस तरह अपनी कमजोरीको उनको भद्दा कहकर छिपा रही है । अच्छा होता कि तू यह कहती कि लाल तो सुन्दर हैं, कीमती हैं, लेकिन मेरे पास ही कीमत अदा करनेकी ताकत न थी । हम तेरी यह बात सुनकर खुश होतीं, लेकिन तेरी यह चतुराई हमको पसंद नहीं है । क्या तू सच कहती है कि 'लाल भद्दे और भारी थे और तेरे पास कीमत अदा करनेकी ताकत थी ?' देख हमसे सुन । तुझसे पहले भी लाखों आदमी व्यापारियोंके पास लाल खरीदने गये थे और उन्होंने अपने सिर उतार कर दे दिये थे और लाल खरीद लिये थे । और वे दुनियामें लालोंवाले कहलाये थे । लेकिन हमको हैरानी है कि जो तू इस तरहकी बातें बना रही है । सुन, अगर सिर देनेसे लाल मिल सकें तो फिर कहना ही क्या है ! हजरत बुल्लेशाह भी इस तरह दिलको कहते हैं कि जो सिर देनेसे प्यारा मिलता है तो तू बहुत सस्ता समझ; क्योंकि सिर वह चीज है कि जो एक दिन न रहेगा, जिसको रहना ही नहीं ख्वाह उससे कुछ खरीदें या न खरीदें; क्योंकि उसको तो रहना ही नहीं । इसलिये जिसको रहना ही नहीं, उससे कुछ मिल सके तो क्या हर्ज है ।

निष्कर्ष

दर हक़ीक़त जबतक मनुष्य अपने-आपसे हाथ न धो ले, ईश्वर-प्राप्ति कठिन है ।

* * *

प्रभु-वन्दना

करुणामय, इस याचक जगका एकमात्र जो दानी
जिसकी महिमाके गायनमें कुण्ठित होती बानी ।
पग धोने जिसके सरिताएँ समुद सिन्धुमें जातीं
जिसकी पावन सुरभि वायु है दिशि-दिशिमें फैलाती ॥

ऊषा स्वागत करती जिसका ले किरणोंकी माला
जिसे विदा देती सज-धजकर प्रतिदिन सन्ध्या-बाला ।
सुबह शाम जिसके यश गाती वन-विहगोंकी टोली
तृषित पपीहा जिसे बुलाता बोल विरहकी बोली ॥

रजनी दीप जला तारोंके करती जिसकी पूजा
जिसकी समता करनेवाला कोई और न दूजा ।
जिसके नियमोंका बन्धन है कभी न होता ढीला
करता जो भ्रूभङ्गमात्रसे सृजन-प्रलयकी लीला ॥

जिसे देख प्रमुदित मानसमें अमल चेतना-हंसी
बजती सदा अनाहत स्वरमें जिस मोहनकी वंशी ।
दया-दृष्टि जिसकी बरसाती संजीवनकी धारा
विनिमज्जित होकर जिसमें है सुख पाता जग सारा ॥

शोकदशा अवलोक लोक यह आकुल जिसे पुकारे
जिसके गुण-गौरव गानेमें शेष-शारदा हारे ।
जगदीश्वर जो, दयासिन्धु जो सबका एक सहारा
है प्रणाम उस दीन-बन्धुको बारंबार हमारा ॥

—'राम'

साधु-दर्शन और सत्प्रसङ्ग

(लेखक—महामहोपाध्याय पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम्० ए०)

१—सूचना

साधु-दर्शन और साधु-सङ्गका माहात्म्य अनन्त है । भगवान् शङ्कराचार्य कहते हैं—

क्षणमिह सज्जनसङ्गतिरेका
भवति भवार्णवतरणे नौका ।

अर्थात् यदि क्षणमात्रके लिये भी साधु पुरुषका सङ्ग प्राप्त हो जाय, तो वह संसार-सागरसे पार करनेकी नौका बन जाता है । वस्तुतः सत्यका सङ्ग ही मुख्य सत्सङ्ग है; क्योंकि सत्य ही भगवान् हैं, सत्य ही आत्मा है और सत्य ही मानव-जीवनका एकमात्र आदर्श है । सत्यकी चमकती हुई ज्योतिसे जिनका हृदय उद्भासित हो रहा है, सत्यके प्रभावसे जिनके जीवनकी धारा परिवर्तित होकर शुद्ध आकार धारण कर रही है, उनका सङ्ग भी सत्सङ्ग है । इसी प्रकार महापुरुषोंकी वाणीके श्रवण और मननसे भी कुछ अंशमें सत्सङ्गका फल प्राप्त होता है ।

सत्य एक होनेके कारण उसकी उपलब्धि भी मूलतः एक ही है । परन्तु वह उपदेश या वर्णनके परे है ।

अनक्षरस्य धर्मस्य श्रुतिः का देशना च का ?

अर्थात् अनक्षर धर्मका जिस प्रकार श्रवण नहीं हो सकता, उसी प्रकार उपदेश भी नहीं हो सकता । दूसरे प्रकारसे यह भी कहा जा सकता है कि इसका उपदेश स्वरूपतः सम्भव न होनेपर भी विकल्प-भूमिकामें वासना-वैचित्र्य तथा अधिकार-भेदके अनुसार विभिन्न प्रकारसे हो सकता है और होता भी है ।

देशना लोकनाथानां सत्त्वाशयवशानुगा ।
भिन्नापि देशनाभिन्ना ।

अर्थात् लोकेश्वरोंका उपदेश प्राणियोंके संस्कार तथा योग्यताके अनुसार हुआ करता है, अतएव बाह्यतः विभिन्न होनेपर भी वह मूलतः एक ही है । लोकेश्वरोंके लिये जो सत्य है, संसारके महापुरुषोंके लिये भी वही प्रयोग करने योग्य है । इसी कारण महापुरुषोंके उपदेशोंमें आपातदृष्टिसे भिन्नता दीखनेपर भी उनकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये । इसके अतिरिक्त, जिसने जिस धाराका अवलम्बन करके सत्यका साक्षात्कार किया है, साधारणतः वह तत्त्वकी आलोचना और उपदेशके प्रसङ्गमें उसी धाराका आश्रय लेता है । सभी अपनी-अपनी विशिष्ट प्रकृतिके अनुसार ही उस अनिर्देश्य परम तत्त्वके निरूपणकी चेष्टा करते हैं ।

वर्तमान प्रसङ्गकी आलोचना करते समय इस बातको याद रखना चाहिये । इस प्रसङ्गमें क्रमशः विभिन्न साधु-महात्माओंकी वाणियाँ प्रकाशित होंगी । ये वाणियाँ विभिन्न विषयोंसे सम्बन्धित होंगी, परन्तु याद रखना होगा कि ये सभी वाणियाँ कही गयी हैं—तत्त्वोपदेशके निमित्त ही । इनमें आपातदृष्टिसे कहीं-कहीं विरोध प्रतीत हो तो यही समझना चाहिये कि इसका कारण वक्ता और श्रोताका प्रकृति-वैचित्र्य ही है ।

२—वृद्धका उपदेश

आजसे पचीस वर्ष पूर्वकी बात है । ग्रीष्म-ऋतुका प्रारम्भ था । गर्मी खूब पड़ रही थी । मैं अपने एक मित्रके साथ सन्ध्याके समय शीतलवाहिनी पुण्यसलिला जाह्नवीके तट (श्रीकाशीधाममें अहल्याघाट) पर बैठकर सामने नदीके वक्षःस्थलपर छोटी-छोटी तरङ्गोंका उठना और विलीन होना देख रहा था तथा मृदुल मधुर वसन्त-समीरके स्पर्शका अनुभव कर रहा था । पास ही एक वृद्ध हाथमें एक छड़ी लिये चौकीपर बैठे थे । उन वृद्ध महाशयका नाम मैं नहीं जानता; परन्तु उनकी मूर्ति बड़ी सौम्य और शान्त थी, सफेद दाढ़ी नाभितक लटक रही थी, दोनों नेत्र उज्ज्वल थे और ललाटदेश प्रतिभासे उद्दीप्त हो रहा था । देखते ही जान पड़ता था कि ये कोई अन्तर्दर्शी, अनुभूतिसम्पन्न तेजस्वी पुरुष हैं ।

कुछ ही क्षणोंके बाद मेरे साथीने उन वृद्ध महाशयके सामने बात-ही-बातमें सृष्टि-तत्त्वका प्रश्न उठाया । वृद्धने इस प्रसङ्गमें अनेकों सारगर्भित बातें कहीं । मैं मौन

होकर ध्यानपूर्वक उन सब बातोंको सुनता रहा। आलोचनामें कुछ नहीं बोला। उनकी बातोंका सारांश नीचे दिया जाता है—

(क) आजकल लोग जिस प्रकार तत्त्वकी व्याख्या करते हैं, उससे कोई विशेष फल नहीं होता; क्योंकि श्रोता अंग्रेजी पढ़े-लिखे, नये संस्कारोंसे युक्त होते हैं। कुछ नये ढंगसे बिना समझाये उनसे सहानुभूति पानेकी आशा नहीं है। अतएव समयके प्रभावसे सभी विषयोंको समझानेके लिये प्रणालीमें कुछ परिवर्तन करना आवश्यक हो गया है। मैं भी बहुधा वही करता हूँ; परन्तु इससे तत्त्वका स्वरूप नहीं बदलता।

संसारमें जितने धार्मिक सम्प्रदाय हैं, सबके मूल प्रवर्तक एक ही हैं। देश-काल तथा अधिकारी-भेदसे विभिन्न मार्ग प्रवृत्त हुए हैं। यह ध्यान रक्खो, ईसाई-धर्मके अक्षय स्वर्ग तथा अक्षय नरक—बिल्कुल ही बौद्ध-धर्मसे मिलते हैं; परन्तु उसमें एक विशेषता है। बुद्धदेव जन्मान्तर मानते थे तथा इसका रहस्य वे समझा भी गये हैं। जिन देशोंमें उनके धर्मका प्रचार हुआ, वे देश जन्मान्तरके तत्त्वको ग्रहण करनेके अधिकारी थे; परन्तु महात्मा ईसाने जिन देशोंमें प्रचार किया, वे इस तत्त्वको समझनेमें समर्थ नहीं थे। इसीलिये उपदेश देनेके समय उनको इस विलक्षणताकी रक्षा करनी पड़ी है। परन्तु विचार करनेपर शाश्वत स्वर्ग और नरक (Perpetual heaven and hell) बौद्धधर्मके ही सिद्धान्त हैं। इसे कुछ स्पष्ट करता हूँ—बौद्धधर्ममें कहा गया है कि मानवजन्मकी प्राप्ति ही स्वर्गस्वरूप है तथा तिर्यक्योनिकी प्राप्ति नरकस्वरूप। मानवजन्म अत्यन्त दुर्लभ है, एक बार इसके प्राप्त होनेपर पुनः प्राप्त होनेकी आशा नहीं रहती। जो मनुष्य एक बार मनुष्यका जन्म पा गया, उसने अनन्त स्वर्गकी प्राप्ति कर ली—यह कहा जा सकता है। मृत्युके पश्चात् यदि कर्मवश किसीका मानवयोनिमें पुनरागमन न हो तो यह भी कहा जा सकता है कि वह नरकमें चला गया; और क्योंकि अति दीर्घ कालतक मनुष्येतर योनियोंमें भ्रमण करना पड़ता है, इसीलिये वह काल दीर्घ नरकभोगस्वरूप कहा जाता है। लिखा है कि एक बार बुद्धदेवने किसी भिक्षुको उपदेश देते समय कहा था कि किसी एक उछलती हुई तरङ्गोंसे तरङ्गित समुद्रमें एक कछुआ और एक छेदवाला चक्र बहता जा रहा था—वे एक तरङ्गसे दूसरे तरङ्गमें बहे जा रहे थे। कछुएका सिर जलके नीचे था, वह सौ वर्षोंमें केवल एक बार क्षणभरके लिये सिर ऊपर उठाता। कछुआ अनन्त समुद्रमें घूमता था, और चक्र भी घूमता था। यदि पूछा जाय कि क्या ऐसा भी योग कभी आ सकता है कि कछुएका सिर चक्रके छेदसे निकलकर ऊपर उठ जाय? कछुआ तो सौ वर्षोंमें एक ही बार क्षणभरके लिये सिर ऊँचा करता है। इस प्रकारका योग करोड़ों वर्षोंमें भी कभी आयेगा या नहीं, इसमें सन्देह ही है। वैसे ही यहाँ मनुष्य होना भी अत्यन्त कठिन है।

(ख) सृष्टि-तत्त्वके मूलमें रहती हैं—वासना, कामना और इच्छा। प्रलयावस्थामें केवल एक तत्त्व अपने स्वरूपमें रहता है—वह है ब्रह्म, जो परम अणुस्वरूप है। वह कौन-सी अवस्था है, यह कहा नहीं जा सकता और चिन्तन भी नहीं किया जा सकता। मनु कहते हैं—'प्रसुप्तमिव सर्वतः' यहाँ एक 'इव' शब्दसे उन्होंने काम चला लिया है। उसका केवल आभासमात्र दिखलानेकी चेष्टा की है। उसे ठीक-ठीक समझाया नहीं जा सकता; परन्तु शास्त्रानुसार कहा जाता है कि उस समय एक ही था। वह विन्दुरूप था। फिर वासनाके तापसे वही विन्दु फटकर दो खण्डवाला हो गया—एक 'विन्दु' और दूसरा 'नाद'। विन्दु स्फुलिङ्ग (चिनगारी) के समान है और नाद मानो इन्धन है। उसी एक स्फुलिङ्गसे हजारों स्फुलिङ्गोंकी उत्पत्ति होती है। एक ही बहु (अनेक) होता है। नाद ही प्रकृति है। यह नाद क्रमशः शून्यमें आक्रमण करके बढ़ता रहता है। यही सृष्टि अथवा बहु होना (Multiplication) है। वह जो मूल विन्दु है, उसमें यह नाद (=शक्ति) सृष्टिके पूर्व अव्यक्त (अस्फुट) अवस्थामें रहता है। उस समय शक्ति और शक्तिमान्‌में भेद नहीं रहता।

सृष्टिके मूलमें है इच्छा । एक दृष्टान्त लो--कुम्हारने घटादि बनानेके लिये कुलालचक्रको घुमा दिया । थोड़ी-सी मिट्टीका पिण्ड है और उसपर उसने अपना हाथ लगा रक्खा है । कैसा आश्चर्य है ! हाथ हिलता नहीं तथा कुम्हारकी इच्छाके अनुसार कभी घड़ा, कभी शिकोरा, कभी हाँड़ी तैयार हो जाती है । इच्छासे ही सब होता है । उपादान तो नित्य ही है (सत्=सत्ता), काल-चक्र घूम ही रहा है, अब केवल इच्छा ही उत्पत्तिकी नियामक है ।

यह बात याद रखनी चाहिये कि इच्छा ही बीज है । जो इच्छा करोगे, वही होगा—निश्चय ही होगा; आज नहीं तो कल । इच्छाका नाश नहीं होता । एक बार जो इच्छा की गयी, तत्काल वह अनन्तमें चित्रित हो गयी । समय आनेपर वह फूटकर बाहर निकल आयेगी । मान लो तुम्हें आज घास खानेकी इच्छा हुई; अतएव तुम्हें एक ऐसा शरीर धारण करना पड़ेगा, जिस शरीरसे घास खानेकी इच्छा पूर्ण हो सकती है । ऐसा शरीर धारण किये बिना वह इच्छा अतृप्त रह जायगी । जिस प्रकारकी इच्छा होती है, शरीर भी उसी प्रकारका धारण करना पड़ता है---चाहे वह देव-शरीर हो, मानव-शरीर हो या तिर्यक्-शरीर । शरीर धारण किये बिना काम नहीं चल सकता । एक कथा है---एक बार बुद्धदेवका एक अन्त्यज भक्त अत्यन्त भक्तिपूर्वक गुरुदेवके लिये सूअरका मांस तैयार करके उनके आगमनकी प्रतीक्षामें बैठा था; सारा दिन बीत गया, सन्ध्या हो गयी, परन्तु गुरुदेव नहीं आये । सन्ध्याके समय एक कुत्तेने आकर उस मांसमें, जो भगवान्के लिये यत्नपूर्वक रक्खा गया था, मुँह डाल दिया तथा उसमेंसे कुछ खा भी लिया । भक्तने देखते ही कुत्तेको भगा दिया; परन्तु उस दिन बुद्धदेव नहीं पधारे । दूसरे दिन उसने जाकर बुद्धदेवसे सब वृत्तान्त कहा और यह भी प्रकट किया कि आपके न पधारनेसे मेरे हृदयमें बड़ा ही दुःख हुआ था । बुद्धदेवने कहा—'मैं तो कल गया था और मैंने तुम्हारे भोगको भी ग्रहण किया था । तुम मुझे पहचान नहीं सके । कल क्या एक कुत्ता तुमने नहीं देखा ? मैं ही कुत्तेका शरीर धारण करके गया था । तुमने मेरे लिये जिस प्रकारका भोग रखा था, उसके अनुरूप देह धारण करके ही मैं गया था ।' अतएव समझना चाहिये कि सब शरीरोंमें सब प्रकारके भोग नहीं हो सकते ।

इच्छाकी तृप्ति हुए बिना मुक्ति नहीं होती । जबतक एक भी वासना अतृप्त रहेगी, तबतक मुक्ति असम्भव है । प्राचीन इतिहासमें मानसरोवरके समीप रहनेवाले एक सिद्धावस्थाके समीप पहुँचे हुए योगीके पुनः राजा होनेका विवरण तुम्हें याद है क्या ? अतः शास्त्रकार सर्वत्र यही उपदेश देते हैं कि 'कामका त्याग करो, इच्छा छोड़ो, वासना मत करो; तभी मुक्ति प्राप्त करोगे और सृष्टिचक्रसे बाहर जा सकोगे ।'

इच्छाकी तृप्ति किस प्रकार होती है ? तन्त्रमार्ग कहता है कि तृप्ति भोगमें है । उपदेश सुनते ही वासनाका त्याग हो जाना—कलियुगमें अत्यन्त कठिन है । इस युगमें तो भोग करके ही कामका नाश करना होगा; परन्तु इसमें सिद्ध गुरुकी आवश्यकता है । नहीं तो भोग करते-करते प्राणी बन्धनमें जकड़ता जायगा अर्थात् यदि चाबी हाथमें हो तो प्रवृत्तिके द्वारा ही प्रवृत्तिकी निवृत्ति की जा सकती है । वह चाबी है—सद्गुरु । वैदिकमार्गमें भी यही भाव है—पहले कर्म, फिर त्याग और ज्ञान । कर्मकाण्डमें तो कामनाका अन्त ही नहीं होता—परन्तु उसमें भी इस प्रकारके उपाय रक्खे गये हैं, जिनसे कामनाकी निवृत्ति हो जाती है । ऐसी आहुति भी तो है—'ॐ भूः स्वाहा; ॐ भूर्भुवः स्वाहा; ॐ भूर्भुवः स्वः स्वाहा ।' भू आदि त्रिलोक, जिनमें काम्य फलोंका भोग होता है—सब भस्म हो जायँ । क्या यह ज्ञानीकी बात नहीं है ? कर्मके साथ-साथ कर्म-त्यागका

संकेत दिया गया है। परन्तु आजकल न तो वैसे कर्म ही होते हैं और न वैसे गुरु ही हैं।

(ग) उस दिन एक यूरोपियन ईसाई सज्जनके साथ बातें हो रही थीं। वे हमारी शिवपूजाकी निन्दा करते हुए इसे 'Phallic worship' कहकर तन्त्रकी निन्दा कर रहे थे। मैंने कहा, 'तुम समझ नहीं सकते साहब! हमारी लिङ्गपूजा और योनिपूजा अश्लील नहीं हैं। ये दो 'Procreative symbols' अर्थात् सृष्टिशक्तिके प्रतीक हैं। एक बार सृष्टिके समय इनका पारस्परिक संयोग वाञ्छनीय होता है। अन्य समयमें वे अत्यन्त पवित्र और पूजाकी ही वस्तु हैं। इसमें दुर्नीति या अश्लीलता कुछ भी नहीं है। तुम्हीं लोगोंकी शिक्षाके कारण आजकल रुचि-विकार हो रहा है।'

(घ) उसके बाद वृद्ध महाशयने प्रणव और व्याहृतिकी व्याख्या की। प्रणवके तीन व्यक्त अवयव हैं—अ, उ, म; इनमेंसे 'अ'कारको छोड़ दो, क्योंकि वह तो सभी वर्णोंकी आद्या प्रकृति है। शेष 'उ' और 'म्' 'विन्दु' और 'नाद' वाचक हैं। भू-प्रभृति सात व्याहृतियाँ नादसे प्रकट हुए प्रसिद्ध सप्त लोक हैं। विन्दु और नादकी भी लोकोंमें गणना करनेसे कुल नौ लोक होते हैं। नवम लोक सत्यलोक है; वह अक्षय है, अव्यय है*। 'विन्दु', 'नाद' और 'सत्यलोक'—इनका नाश नहीं होता। शेष छः नश्वर हैं, भूर्लोककी सृष्टि सर्वप्रथम होती है। यह ब्रह्माण्डकी नाभि है। यही कर्मभूमि है। भुवर्लोकमें सूर्य और ग्रहादिकी स्थिति है, स्वर्लोकमें नक्षत्र आदिकी स्थिति है। भूर्लोक कहनेसे केवल इसी पृथ्वीका बोध नहीं होता; इस प्रकारकी असंख्य पृथिवियाँ इस ब्रह्माण्डमें हैं, सबका समावेश भूर्लोक या 'भूमण्डल'के अन्तर्गत होता है। ये सब चक्राकार—मण्डलरूपमें हैं। महर्लोक पितामह, मातामह प्रभृतिका वासस्थान है। जनलोकमें गोत्रप्रवर्तक निवास करते हैं, तपोलोकमें तपस्वियोंका निवास है। यह अत्यन्त उष्ण स्थान है। यहाँ एक अत्यन्त विशाल सूर्य हैं, उन्हींका ताप और तेज भुवर्लोकके समस्त सूर्योंको प्राप्त होता है; ये उसी ताप और प्रकाशसे तप्त और प्रकाशमान होते हैं। परन्तु जिस प्रकार एक सूर्यरश्मिके पृथ्वीपर आनेपर तो लू उत्पन्न हो जाती है तथा वही चन्द्रमापर पड़कर स्निग्ध चाँदनीके रूपमें चमकने लगती है; उसी प्रकार तपोलोकके सूर्य भुवर्लोकमें ताप उत्पन्न करते हैं तथा सत्यलोकमें अत्यन्त स्निग्ध और स्वच्छ ज्योत्स्नाके रूपमें किरण-प्रदान करते हैं, यह अत्यन्त आश्चर्यकी बात है।

अंग्रेजीमें जिसे Solar system कहते हैं, उसे कुछ अंशमें सम्मिलित भूः और भुवर्लोकके रूपमें माना जा सकता है। 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'। समयके प्रभावके कारण अब हम ऐसी बातें नहीं मानते। इस बाह्य जगत्का आत्मा जिस प्रकार सूर्य है, उसी प्रकार इस शरीररूपी जगत्का आत्मा भी देखनेमें ठीक सूर्यके ही समान है। परन्तु विचार करके देखो—जहाँ यह शरीर जगत्स्वरूप है, वहाँ इसका आत्मा किस प्रकार सूर्य हो सकता है। बाहर देखकर भीतर ताकनेपर वैसा ही देखनेमें आता है।

(ङ) वृद्धने इसके बाद प्राण-प्रतिष्ठाके सम्बन्धमें कहा—'वस्तुतः हृदयसे देवताको बाहर निकालकर बाह्य मूर्तिमें स्थापित किया जाता है—इसीका नाम 'प्राण-प्रतिष्ठा' है। पश्चात् मस्तकमें अपने साथ अभेद-प्रतिष्ठा करनी पड़ती है। बड़ा ही गम्भीर तत्त्व है। भूतशुद्धि अत्यन्त कठिन कार्य है। जिसकी भूतशुद्धि हो गयी, उसके लिये समाधिमें फिर बाकी ही क्या रहा।'

(क्रमशः)

---

* ९ पूर्ण संख्या है (Perfect number), क्योंकि जिस किसी संख्यासे इसे गुणा करो, इसे पुनः प्राप्त करोगे। जैसे ९×२=१८ (१+८=९), ९×३=२७ (२+७=९) इत्यादि।

भरतका आदर्श चरित्र

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

भरतजीका चरित्र बड़ा ही उज्ज्वल और आदर्श है। उसमें कहीं कुछ भी दोष नहीं दीख पड़ता। भरतजीकी महिमा अपार है। वाल्मीकीय रामायणमें आपको श्रीविष्णुका ही अंशावतार बताया गया है। साथ ही उनका चरित्र उन्हें एक साधु-शिरोमणि, आदर्श स्वामि-भक्त, महात्मा, निःस्पृह और भक्ति-प्रधान कर्मयोगी सिद्ध करता है। भरतजी धर्म और नीतिके जाननेवाले, सद्गुणसम्पन्न, त्यागी, संयमी, सदाचारी, प्रेम और विनयकी मूर्ति, श्रद्धालु और बड़े बुद्धिमान् थे। वैराग्य, सत्य, तप, क्षमा, तितिक्षा, दया, वात्सल्य, धीरता, वीरता, गम्भीरता, सरलता, सौम्यता, मधुरता, अमानिता और सुहृदता आदि गुणोंका इनमें विलक्षण विकास हुआ था। भ्रातृ-प्रेमकी तो आप मानो सजीव मूर्ति ही थे।

भरतकी पितृ-भक्ति

विवाहके बाद भरतजी शीघ्र ही अपने मामाके साथ ननिहाल चले गये थे; इस कारण रामायणमें इनकी पितृ-भक्तिका विशेष वर्णन नहीं आता। परन्तु नानाके घर रहते हुए एक दिन इन्होंने मित्रगोष्ठीमें अपने दुःस्वप्नकी बात कहकर जो पिताके लिये दुःख प्रकट किया है और अयोध्यामें लौटनेके बाद मातासे पिताजीके स्वर्गवासका समाचार पानेपर शोकके कारण इनकी जो दशा हुई है और इन्होंने पिताके लिये जिस प्रकार विलाप किया है, उससे इनके श्रद्धा-समन्वित सच्चे पितृ-प्रेमका पता चलता है। जब माताने इनसे धैर्य धारण करनेके लिये कहा, तब उसके उत्तरमें आप कहते हैं—

> अभिषेक्ष्यति रामं तु राजा यज्ञं नु यक्ष्यते।
> इत्यहं कृतसंकल्पो हृष्टो यात्रामयासिषम्॥
> तदिदं ह्यन्यथाभूतं व्यवदीर्णं मनो मम।
> पितरं यो न पश्यामि नित्यं प्रियहिते रतम्॥
>
> (२। ७२। २७-२८)

'मैंने तो यह सोचा था कि महाराज श्रीरामका राज्याभिषेक करेंगे और स्वयं यज्ञकी दीक्षा लेंगे। इसी विचारसे मैं वहाँसे प्रसन्नतापूर्वक चला था; किन्तु यहाँ आनेपर सभी बातें विपरीत दिखायी दीं। आज मैं सर्वदा अपना प्रिय और हित करनेवाले पिताजीको नहीं देखता, इससे मेरा हृदय विदीर्ण हो रहा है'—इत्यादि।

भ्रातृ-भक्ति

उपर्युक्त ढंगसे पिताके लिये शोक करते-करते ही भरतके हृदयमें श्रीरामचन्द्रजीका प्रेम उमड़ पड़ता है और वे कहने लगते हैं—

> यो मे भ्राता पिता बन्धुर्यस्य दासोऽस्मि संमतः।
> तस्य मां शीघ्रमाख्याहि रामस्याक्लिष्टकर्मणः॥
> पिता हि भवति ज्येष्ठो धर्ममार्यस्य जानतः।
> तस्य पादौ ग्रहीष्यामि स हीदानीं गतिर्मम॥
>
> (२। ७२। ३२-३३)

'जिनका मैं परम प्रिय दास हूँ और जो पवित्र कर्म करनेवाले हैं, उन श्रीरामचन्द्रजीको आप शीघ्र मेरे आनेकी सूचना दें। वे ही मेरे भाई, पिता और बन्धु हैं। धर्मको जाननेवाले श्रेष्ठ मनुष्यके लिये बड़ा भाई पिताके समान ही होता है। मैं उनके चरणोंमें प्रणाम करूँगा। अब वे ही मेरे आश्रय हैं।'

इसपर कैकेयीने उन्हें सारी घटना कह सुनायी और राज्य स्वीकार करनेके लिये कहा।

कैकेयीके मुखसे इस प्रकार भाइयोंके वन-गमनकी बात सुनकर भरतजी महान् दुःखसे सन्तप्त हो जाते हैं। वे व्याकुल हृदयसे माताको बहुत-कुछ बुरा-भला कहते हैं और यह भी कहते हैं—

> लुब्धाया विदितो मन्ये न तेऽहं राघवं यथा।
> तथा ह्यनर्थो राज्यार्थं त्वया नीतो महानयम्॥
>
> (२। ७३। १३)

'मैं समझता हूँ लोभके वशमें होनेके कारण तू अबतक यह न जान सकी कि मेरा श्रीरामचन्द्रजीके प्रति कैसा भाव है। इसी कारण तूने राज्यके लिये इतना बड़ा अनर्थ कर डाला।'

इसके सिवा और भी बहुत-सी बातें भरतजीने माताके प्रति कहीं। उसके बाद भरतजी माता कौसल्यासे, जो उनसे

मिलनेके लिये आ रही थीं, रास्तेमें ही मिले और उनकी गोदमें लिपटकर रोने लग जाते हैं। इसके अनन्तर वे अनेक प्रकारसे शपथ करके माता कौसल्याको विश्वास दिलाते हैं कि रामजीके वनवासमें उनकी सम्मति नहीं थी।

उसके बाद मुनि वसिष्ठजीके आज्ञानुसार राजा दशरथके अन्त्येष्टि-कर्मकी तैयारी होती है। उस समय राजाके शवको देखकर भरतजी फिर विलाप करते हुए कहते हैं—

किं ते व्यवसितं राजन् प्रोषिते मय्यनागते।
विवास्य रामं धर्मज्ञं लक्ष्मणं च महाबलम्॥
(२।७६।६)

'राजन्! मैं तो परदेश गया हुआ था, आपके पास पहुँचने भी नहीं पाया। उसके पहले ही धर्मज्ञ श्रीरामचन्द्रजीको और महाबली लक्ष्मणको वनमें भेजकर आपने यह क्या कर डाला?'

भरतको इस प्रकार विलाप करते देखकर महामुनि वसिष्ठजी फिर समझाते हैं। उसके बाद विधि-विधानसे राजा दशरथकी अन्त्येष्टि-क्रिया सम्पन्न होती है। नगरमें आकर दस दिनोंतक भूमिपर शयन करते हुए भरत बड़े दुःखसे समय बिताते हैं।

श्राद्ध आदिसे निवृत्त हो जानेपर भरत शोकसे व्याकुल होकर श्रीरामचन्द्रजीके पास जानेका विचार करने लगे। उस समय राजसभामें श्रीवसिष्ठजी तथा अन्य सभी सभासद् भरतजीको समझाकर आग्रहपूर्वक राज्य स्वीकार करनेके लिये कहने लगे। तब भरतजीने कहा—

'मैं और यह राज्य दोनों ही श्रीरामके हैं। आपलोग मुझे धर्मका उपदेश दीजिये। श्रीरामचन्द्रजी सब प्रकार मुझसे बड़े हैं; इसलिये—

रामसेवानुगच्छामि स राजा द्विपदां वरः।
त्रयाणामपि लोकानां राघवो राज्यमर्हति॥

× × × ×

यदि त्वार्यं न शक्ष्यामि विनिवर्तयितुं वनात्।
वने तत्रैव वत्स्यामि यथाऽऽर्यो लक्ष्मणस्तथा॥
सर्वोपायं तु वर्तिष्ये विनिवर्तयितुं वनात्।
समक्षमार्यमिश्राणां साधूनां गुणवर्तिनाम्॥
(२।८२।१६, १८-१९)

पुरुषोत्तम श्रीरघुनाथजी अयोध्याकी तो बात ही क्या, त्रिलोकीके भी राजा होने योग्य हैं; मैं उन्हींका अनुसरण करूँगा। आप-जैसे गुणवान् श्रेष्ठ साधु पुरुषोंके सामने ही उन्हें वनसे लौटा लानेके लिये मैं सब प्रकारके उपाय करूँगा। इसपर भी यदि आर्य श्रीरामचन्द्रजीको लौटा लानेमें समर्थ नहीं हुआ तो स्वयं भी श्रेष्ठ भाई लक्ष्मणकी तरह वहीं वनमें निवास करूँगा।' भरतके ऐसे भ्रातृ-प्रेममें सने वचन सुनकर वहाँ बैठे हुए सभी सभासदोंकी आँखोंसे आनन्दके आँसू बहने लगते हैं।

श्रीरामको लौटा लानेके लिये जब भरत दल-बलके साथ चित्रकूटके लिये प्रस्थान करते हैं, उस समय रास्तेमें उनकी निषादराज गुहसे भेंट होती है। इनके साथ चतुरङ्गिणी सेना देखकर गुहके मनमें संदेह हो जाता है और वे अपना संदेह इनके सामने प्रकट कर देते हैं। उस समय भरत निषादसे कहते हैं—

मा भूत् स कालो यत् कष्टं न मां शङ्कितुमर्हसि।
राघवः स हि मे भ्राता ज्येष्ठः पितृसमो मतः॥
तं निवर्तयितुं यामि काकुत्स्थं वनवासिनम्।
(२।८५।९-१०)

'निषादराज! ऐसा दुःखदायक अवसर न आये। तुमको मुझपर शङ्का नहीं करनी चाहिये। रघुकुलभूषण श्रीराम मेरे बड़े भाई हैं। मैं उनको पिताके समान समझता हूँ। उन्हें वनवाससे लौटानेके लिये जा रहा हूँ।' भरतकी बात सुनकर निषादराजका मुख प्रसन्नतासे खिल उठा। वह हर्षमें भरकर कहने लगा—

धन्यस्त्वं न त्वया तुल्यं पश्यामि जगतीतले।
अयत्नादागतं राज्यं यस्त्वं त्यक्तुमिहेच्छसि॥
(२।८५।१२)

'आप धन्य हैं, जो बिना प्रयत्नके मिले हुए राज्यको त्याग देना चाहते हैं; अतः इस भूमण्डलमें आपके समान मुझे कोई दूसरा नहीं दिखायी देता।'—इत्यादि।

इस प्रकार दोनोंमें बड़ी देरतक बातें होती रहीं। श्रीरामके वियोगमें उन्हींका चिन्तन करते-करते शोकाग्निसे सन्तप्त हो जानेके कारण भरतजी सहसा मूर्च्छित हो गये। पासमें बैठे हुए शत्रुघ्न भी उनको पकड़कर रोने लगे और बेहोश हो गये। यह देखकर निषादराज मुग्ध हो गया। थोड़ी देर बाद चित्त स्वस्थ होनेपर भरतजीने फिर गुहसे पूछा—

भ्राता मे क्वावसद्रात्रिं क्व सीता क्व च लक्ष्मणः।
अस्वपच्छयने कस्मिन् किं भुक्त्वा गुह शंस मे॥
(२।८७।१३)

'उस दिन रातको मेरे भाई श्रीराम सीता और लक्ष्मणके साथ यहाँ किस जगह ठहरे तथा उन्होंने क्या भोजन करके कैसे बिछौनोंपर शयन किया था ? सब बातें मुझे बताओ।'

भरतके इस प्रकार पूछनेपर गुह बहुत प्रसन्न हुआ और उसने सारी घटना ज्यों-की-त्यों सुना दी। उसने उन्हें वह इंगुदीका वृक्ष और कुशका बिछौना दिखाया, जहाँपर श्रीरामने सीताके साथ रात्रिमें शयन किया था। उस स्थानको देखकर भरतजीकी विचित्र दशा हो गयी, वे भाँति-भाँतिसे विलाप करने लगे—

हा हतोऽस्मि नृशंसोऽस्मि यत् सभार्यः कृते मम।
ईदृशीं राघवः शय्यामधिशेते ह्यनाथवत्॥
सार्वभौमकुले जातः सर्वलोकसुखावहः।
सर्वप्रियकरस्त्यक्त्वा राज्यं प्रियमनुत्तमम्॥
कथमिन्दीवरश्यामो रक्ताक्षः प्रियदर्शनः।
सुखभागी न दुःखार्हः शयितो भुवि राघवः॥
धन्यः खलु महाभागो लक्ष्मणः शुभलक्षणः।
भ्रातरं विषमे काले यो राममनुवर्तते॥

(२।८८।१७–२०)

'हाय ! मैं मारा गया। मैं बड़ा क्रूर हूँ, जिसके कारण श्रीरघुनाथजीको सती सीताके साथ अनाथकी भाँति ऐसी शय्यापर सोना पड़ता है। जो सम्राट्के वंशमें उत्पन्न, सब लोकोंको सुख देनेवाले और सबका प्रिय करनेवाले हैं, जिनका वर्ण नील कमलके समान है, नेत्र लाल हैं, जो सब प्रकारसे सुख भोगनेके योग्य और दुःखके अयोग्य हैं, वे प्रियदर्शन श्रीरघुनाथजी अत्युत्तम प्रिय राज्यको छोड़कर किस प्रकार पृथ्वीपर शयन करते हैं। उत्तम लक्षणोंवाला लक्ष्मण ही धन्य और बड़भागी है, जो संकटके समय बड़े भाई श्रीरामके साथ रहकर उनकी सेवा करता है।' भरतजीने विलाप करते हुए इसी प्रकारकी और भी बहुत-सी बातें कहीं।

आगे चलकर जब भरतजी महर्षि भरद्वाजके आश्रममें पहुँचते हैं, उस समय महर्षि कुशल पूछनेके बाद उनके हृदयपर गहरी चोट पहुँचानेवाला प्रश्न करते हैं। वे कहते हैं—'तुम्हारा यहाँ वनमें किस निमित्तसे आना हुआ ? तुम निरपराधी धर्मात्मा राम और लक्ष्मणका कोई अनिष्ट तो नहीं करना चाहते ?' यह सुनकर दुःखके कारण भरतकी आँखोंमें जल भर आया। वे लड़खड़ाती हुई वाणीमें बोले—

हतोऽस्मि यदि मामेवं भगवानपि मन्यते।
मत्तो न दोषमाशङ्के मैवं मामनुशाधि हि॥
न चैतदिष्टं माता मे यदवोचन्मदन्तरे।
नाहमेतेन तुष्टश्च न तद्वचनमाददे॥
अहं तु तं नरव्याघ्रमुपयातः प्रसादकः।
प्रतिनेतुमयोध्यायां पादौ चास्याभिवन्दितुम्॥
तं मामेवंगतं मत्वा प्रसादं कर्तुमर्हसि।
शंस मे भगवन् रामः क्व संप्रति महीपतिः॥

(२।९०।१५–१८)

'मुने ! आप भी यदि मुझे इतना अधम समझते हैं, तब तो मैं हर तरहसे मारा गया। मुझसे कोई दोष नहीं हुआ है। निस्सन्देह मैं निर्दोष हूँ। अतः आप मुझसे ऐसी कठोर बात न कहें। मेरी अनुपस्थितिमें मेरी माताने जो कुछ कहा या किया है, वह मुझे अभीष्ट नहीं है। मैं उससे तनिक भी प्रसन्न नहीं हूँ और न मैंने उसकी बातको माना ही है। मैं तो उन नरश्रेष्ठ श्रीरामको प्रसन्न करके अयोध्या लौटा ले आनेके लिये और उनके चरणोंकी वन्दना करनेके लिये वनमें आया हूँ। अतः मुझे इस प्रकार आया हुआ समझकर आप मुझपर कृपा कीजिये और बतलाइये कि इस समय महाराज श्रीरामचन्द्रजी कहाँ हैं।'

यह सुनकर भरद्वाजजी बड़े प्रसन्न हुए और भरतजीकी प्रशंसा करके बोले—

जाने चैतन्मनःस्थं ते दृढीकरणमस्त्विति।
अपृच्छं त्वां तवात्यर्थं कीर्तिं समभिवर्धयन्॥

(२।९०।२१)

'भरत ! मैं तुम्हारे मनकी बात जानता हूँ; तथापि उसे दृढ़ करनेके लिये और तुम्हारी कीर्तिका अधिक विस्तार करनेके लिये ही मैंने तुमसे ये सब बातें पूछी हैं।'

इसके बाद और भी बहुत-सी बातें हुईं। भरद्वाजजीके अधिक आग्रहसे उनका आतिथ्य भरतको स्वीकार करना पड़ा। ऋषिराजने बड़े ही विचित्र ढंगसे सेना और परिवारसहित भरतका अतिथि-सत्कार किया। बड़े ही आनन्दसे वह रात्रि व्यतीत हुई। उसी प्रसङ्गमें यह बात भी आयी है—

तत्र राजासनं दिव्यं व्यजनं छत्रमेव च।
भरतो मन्त्रिभिः सार्द्धमभ्यवर्तत राजवत्॥

आसनं पूजयामास रामायाभिप्रणम्य च।
बालव्यजनमादाय न्यषीदत्सचिवासने॥
(२। ९१। ३८-३९)

'भरतने उस राजमहलमें [जिसे मुनिने अपने योगबलसे रचा था] दिव्य राज्यसिंहासन, छत्र और चँवर भी देखे तथा मन्त्रियोंके साथ उन्होंने राजाकी भाँति उनका सम्मान किया। मन-ही-मन श्रीरामको प्रणाम करके उस आसनकी पूजा की और स्वयं हाथमें चँवर लेकर मन्त्रीके आसनपर जा बैठे।' देखिये, कितनी ऊँची भावना और भक्ति है! कैसा पवित्र भाव है! कितनी निरभिमानता और कितना त्याग है!

जब भरत चित्रकूटके निकट पहुँच जाते हैं, उस समय आकाशमें धूल उड़ती हुई देखकर श्रीराम लक्ष्मणसे उसका कारण जाननेके लिये कहते हैं। लक्ष्मण वृक्षपर चढ़कर देखते हैं और यह निश्चय करके कि सेनासहित भरत आ रहे हैं, उनके प्रति सन्देह प्रकट करते हुए कठोर वचन कहने लगते हैं। तब श्रीरामचन्द्रजी भरतके गुण और प्रेमकी बड़ाई करते हुए कहते हैं—

प्राप्तकालं यथैषोऽस्मान् भरतो द्रष्टुमर्हति।
अस्मासु मनसाप्येष नाहितं किंचिदाचरेत्॥
विप्रियं कृतपूर्वं ते भरतेन कदा नु किम्।
ईदृशं वा भयं तेऽद्य भरतं यद् विशङ्कसे॥
न हि ते निष्ठुरं वाच्यो भरतो नाप्रियं वचः।
अहं ह्यप्रियमुक्तः स्यां भरतस्याप्रिये कृते॥

× × × ×

यदि राज्यस्य हेतोस्त्वमिमां वाचं प्रभाषसे।
वक्ष्यामि भरतं दृष्ट्वा राज्यमस्मै प्रदीयताम्॥
उच्यमानो हि भरतो मया लक्ष्मण तद् वचः।
राज्यमस्मै प्रयच्छेति बाढमित्येव मंस्यते॥
(२। ९७। १३–१५, १७-१८)

'इस समय भरतका हमलोगोंसे मिलनेके लिये आना सर्वथा उचित है। हमलोगोंके अहितका आचरण तो वह कभी मनसे भी नहीं कर सकता। भरतने तुम्हारा कब और क्या अपकार किया है, जिसके कारण तुम आज उससे ऐसा भय, इस तरहकी आशङ्का कर रहे हो? भरतके आनेपर तुम उसे कोई कठोर या अप्रिय वचन न कहना। यदि तुमने उसके साथ कोई प्रतिकूल बर्ताव किया या अप्रिय वचन कहे तो वह बर्ताव मेरे ही साथ किया समझा जायगा। यदि तुम राज्यके लिये ऐसी कठोर बात कहते हो तो भरतसे मिलनेपर मैं उसे कह दूँगा कि यह राज्य लक्ष्मणको दे दो। मेरे ऐसा कहनेपर वह अवश्य ही मेरी बातका अनुमोदन करेगा और तुमको राज्य दे देगा।'

इस प्रकार यद्यपि भरतजी सर्वथा साधु और निर्दोष थे, उनको सबके सन्देहका शिकार बनना पड़ा। भरतके सदृश सर्वथा निःस्पृह, धर्मात्मा एवं त्यागी महापुरुषका इस प्रकार सबके सन्देहका शिकार बनना जगत्के इतिहासमें एक अनोखी बात है। इतनेपर भी भरत सब कुछ सहते हैं। धन्य उनका प्रेम! धन्य उनकी स्वामिभक्ति!! और धन्य उनकी सहिष्णुता!!!

इधर भरत भाई शत्रुघ्न, गुह और प्रधान-प्रधान मन्त्रियोंको श्रीरामके आश्रमको खोजनेके लिये आज्ञा देकर कहने लगते हैं——

यावन्न चन्द्रसङ्काशं तद् द्रक्ष्यामि शुभाननम्।
भ्रातुः पद्मविशालाक्षं न मे शान्तिर्भविष्यति॥

× × × ×

यावन्न चरणौ भ्रातुः पार्थिवव्यञ्जनान्वितौ।
शिरसा प्रग्रहीष्यामि न मे शान्तिर्भविष्यति॥
यावन्न राज्ये राज्यार्हः पितृपैतामहे स्थितः।
अभिषिक्तो जलक्लिन्नो न मे शान्तिर्भविष्यति॥
(२। ९८। ७, ९-१०)

'जबतक श्रीरामचन्द्रके कमल-दल-सदृश विशाल नेत्रोंवाले और चन्द्रमाके समान सुशोभित मुख-कमलको न देख लूँगा, तबतक मुझे शान्ति नहीं मिलेगी। जबतक अपने भ्राताके राज-चिह्नोंसे युक्त युगल चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम न कर लूँगा, तबतक मुझे शान्ति नहीं मिलेगी। जबतक राज्यके सच्चे अधिकारी भगवान् श्रीराम अभिषेकके जलसे सिक्त होकर अपने पिता-पितामहोंके साम्राज्यपर प्रतिष्ठित न हो जायँगे, तबतक मुझे शान्ति नहीं मिलेगी।'

इस प्रकार बहुत कुछ कहकर पुरुषश्रेष्ठ भरतजीने पैदल ही श्रीरामकी खोज करनेके लिये उस गहन वनमें प्रवेश किया। ऊँचे वृक्षपर चढ़कर उन्होंने दूरसे ही श्रीरामके आश्रमको और उसमें बैठे हुए श्रीरामचन्द्रजीको पहचाना; इससे उनमें नया जीवन आ गया। वे बड़े प्रसन्न हुए और गुहको साथ लेकर आश्रमकी ओर चल दिये।

श्रीरामकी कुटियाके पास पहुँचकर भरत क्या देखते हैं कि समस्त पृथ्वीके स्वामी धर्मपरायण भगवान् श्रीरामचन्द्रजी सीता और लक्ष्मणके साथ एक चबूतरेपर बैठे हैं। उन्होंने कृष्णमृगचर्म और वल्कल-वस्त्र धारण कर रखे हैं। उनके मस्तकपर जटाएँ शोभा दे रही हैं तथा सिंहके-से कंधे, बड़ी-

बड़ी भुजाएँ और कमलके समान नेत्र हैं। श्रीरामको इस अवस्थामें देखकर महात्मा भरत शोकमें निमग्न हो जाते हैं। भाईकी ओर दृष्टि पड़ते ही आर्त्तभावसे विलाप करते हुए गद्गद वाणीसे कहने लगते हैं—

यः संसदि प्रकृतिभिर्भवेद्युक्त उपासितुम् ।
वन्यैर्मृगैरुपासीनः सोऽयमास्ते ममाग्रजः ॥
वासोभिर्बहुसाहस्रैर्यो महात्मा पुरोचितः ।
मृगाजिने सोऽयमिह प्रवस्ते धर्ममाचरन् ॥

× × × ×

मन्निमित्तमिदं दुःखं प्राप्तो रामः सुखोचितः ।
धिग् जीवितं नृशंसस्य मम लोकविगर्हितम् ॥
(२ । ९९ । ३१-३२, ३६)

'हाय! जो राजसभामें बैठकर प्रजा और मन्त्रिवर्गके द्वारा सम्मान पानेयोग्य हैं, वे ही मेरे बड़े भाई यहाँ जंगली पशुओंसे घिरे बैठे हैं। जो महात्मा पहले हजारोंकी लागतके वस्त्रोंका उपयोग करते थे, वे आज धर्माचरण करते हुए केवल दो मृगचर्म धारण करके रहते हैं। हाय! जो सब प्रकारसे सुखके योग्य हैं, वे श्रीराम मेरे ही कारण इतना दुःख उठा रहे हैं। मैं कितना क्रूर हूँ! मेरे इस लोक-निन्दित जीवनको धिक्कार है।'

इस प्रकार विलाप करते-करते भरतजी दुःखसे व्याकुल हो गये। उनके मुख-कमलपर आँसुओंकी धारा बहने लगी। वे अत्यन्त दुःखसे विह्वल हो जानेके कारण श्रीरामके चरणोंको छू सकनेके पहले ही 'हा आर्य!' कहकर उनके पास दीनकी भाँति गिर पड़े। शोकसे उनका गला रुँध गया, कुछ भी बोल नहीं सके। फिर शत्रुघ्नने भी रोते-रोते श्रीरामके चरणोंमें प्रणाम किया। जटा और वल्कल धारण किये भरतको हाथ जोड़े पृथ्वीपर पड़ा देख श्रीरामने बड़ी कठिनतासे पहचाना। उन्होंने दोनों भाइयोंको उठाया और छातीसे लगा लिया। भरतका बर्ताव देखकर समस्त वनवासी रोने लगे।

तदनन्तर भाई भरतको गोदमें बैठाकर श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—'भाई! तुम राज्य छोड़कर वल्कल-वस्त्र, मृगचर्म और जटा धारण करके यहाँ क्यों आये?' इसपर भरतजीने पिताकी मृत्युका समाचार सुनाकर कहा—

तथानुपूर्व्या युक्तश्च युक्तं चात्मनि मानद ।
राज्यं प्राप्नुहि धर्मेण सकामान् सुहृदः कुरु ॥

× × × ×

एभिश्च सचिवैः सार्द्धं शिरसा याचितो मया ।
भ्रातुः शिष्यस्य दासस्य प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥
(२ । १०१ । १०, १२)

'परम्परानुसार इस राज्यके अधिकारी आप ही हैं। अतः न्यायसे इस राज्यको आप धर्मानुसार ग्रहण करके अपने सुहृदोंका मनोरथ पूर्ण करें। मैं आपका छोटा भाई, शिष्य और दास हूँ। इन मन्त्रियोंके साथ आपके चरणोंमें मस्तक झुकाकर प्रार्थना करता हूँ, मुझपर कृपा करें।'

इसी तरहकी और भी बहुत-सी बातें कहकर भरतजी नेत्रोंसे आँसू बहाते हुए पुनः श्रीरामके चरणोंमें गिर पड़े और राज्याभिषेकके लिये उनसे प्रार्थना करने लगे। तब श्रीरामजीने बहुत-सी शास्त्रोक्त बातें कहकर और पिताकी आज्ञाका महत्त्व दिखाकर भरतको राज्य ग्रहण करनेके लिये बहुत कुछ समझाया, परन्तु उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने कहा—'भगवन्! आपकी बराबरी कौन कर सकता है; आपके लिये सुख-दुःख, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति—सब समान हैं। जिसको आपकी तरह ज्ञान है, वह सङ्कट पड़नेपर भी विषाद नहीं करेगा; परन्तु मैं ऐसा नहीं हूँ। अतः मैं बारंबार आपके चरणोंमें माथा टेककर याचना करता हूँ, आप दया कीजिये! आप पुरुषोंमें श्रेष्ठ हैं, मेरा और मेरी माताका कलङ्क धोकर पूज्य पिताजीको भी निन्दासे बचाइये।' इत्यादि—

भरतके इस प्रकार कहनेपर सम्पूर्ण ऋत्विज, पुरवासी, भिन्न-भिन्न समुदायके नेता और माताएँ—ये सब अचेत-से होकर आँसू बहाते हुए उनकी प्रशंसा करने लगे और सभीने अपनी-अपनी योग्यताके अनुसार श्रीरामचन्द्रजीसे लौटनेकी प्रार्थना की।

तदनन्तर श्रीरामने फिर बहुत-से न्याय और धर्मसे पूर्ण वचन कहकर भरतको समझाया। इस प्रकार बात होते-होते जब श्रीरामचन्द्रजीने किसी तरह भी स्वीकृति नहीं दी, तब भरतजीके मनमें बड़ा दुःख हुआ; वे बोले—'जबतक मेरे स्वामी मुझपर प्रसन्न नहीं होंगे, तबतक मैं बिना कुछ खाये-पीये यहीं इनके सामने बैठा रहूँगा।' इतना कहकर वे दर्भासन बिछाकर जमीनपर बैठ गये। तब श्रीरामचन्द्रजीने फिर भरतको समझाया कि 'भाई! तुम्हारा यह कार्य धर्मके विरुद्ध है। अतः तुम इस दुराग्रहका त्याग करो।' यह सुनकर भरत तुरंत ही खड़े होकर पुनः सबके सामने कहने लगे कि 'यदि पिताकी आज्ञाका पालन करनेके लिये इनका वनमें रहना अनिवार्य हो तो इनके बदले मैं ही

चौदह वर्षतक वनमें निवास करूँगा ।' इसपर फिर श्रीरामने भरतको समझाया कि 'भाई भरत ! इस प्रकार बदला करनेका हमलोगोंको अधिकार नहीं है ।' इसके बाद सबके सामने भगवान् रामने कहा--

जानामि भरतं क्षान्तं गुरुसत्कारकारिणम् ।
सर्वमेवात्र कल्याणं सत्यसन्धे महात्मनि ॥
अनेन धर्मशीलेन वनात् प्रत्यागतः पुनः ।
भ्रात्रा सह भविष्यामि पृथिव्याः पतिरुत्तमः ॥
वृतो राजा हि कैकेय्या मया तद्वचनं कृतम् ।
अनृतान्मोचयानेन पितरं तं महीपतिम् ॥
(२ । १११ । ३०–३२)

'मैं जानता हूँ भरत बड़ा क्षमाशील और गुरुजनोंका सत्कार करनेवाला है । इस सत्यप्रतिज्ञ महात्मामें सभी कल्याणकारी गुण मौजूद हैं । वनवासकी अवधि समाप्त करके जब मैं लौटूँगा, तब मैं अपने इस धर्मशील भाईके साथ इस पृथ्वीका राज्य करूँगा । कैकेयीने राजासे वर माँगा, मैंने उसकी आज्ञाको स्वीकार कर लिया । इसलिये भाई भरत ! अब तुम मेरा कहना मानकर पिताजीको असत्यके बन्धनसे मुक्त करो ।'

उन अतुलित तेजस्वी भाइयोंका वह रोमाञ्चकारी संवाद सुनकर और आपसका प्रेमपूर्ण बर्ताव देखकर वहाँ आये हुए जन-समुदायके साथ सभी महर्षि विस्मित और मुग्ध हो गये । अन्तरिक्षमें अदृश्यभावसे खड़े हुए मुनि और वहाँ प्रत्यक्ष बैठे हुए महर्षि उन दोनों भाइयोंकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे ।

इसके बाद सब महर्षियोंने भरतको श्रीरामकी बात मान लेनेके लिये समझाया । इससे श्रीरामको बड़ी प्रसन्नता हुई, परन्तु भरतको सन्तोष नहीं हुआ । वे लड़खड़ाती हुई जबानसे हाथ जोड़कर फिर श्रीरामसे कहने लगे—'आर्य ! मैं इस राज्यकी रक्षा नहीं कर सकता । आप इस राज्यको स्वीकार करके दूसरे किसीको इसके पालनका भार सौंप दीजिये ।' यह कहकर भरत अपने भाईके चरणोंमें गिर पड़े । तब श्रीरामचन्द्रने उनको उठाकर गोदमें बैठा लिया और मधुर स्वरसे बोले—

आगता त्वामियं बुद्धिः स्वजा वैनयिकी च या ।
भृशमुत्सहसे तात रक्षितुं पृथिवीमपि ॥
(२ । ११२ । १६)

'प्यारे भाई ! तुम्हें स्वभावसे ही तथा शिक्षाके फलस्वरूप जो यह बुद्धि प्राप्त हुई है, इससे तुम सारी पृथ्वीकी रक्षा करनेमें भी पूर्णतया समर्थ हो ।'

सूर्यतुल्य तेजस्वी श्रीरामचन्द्रजीके ये प्रेम और शिक्षाभरे वचन सुनकर और उनकी दृढ़ता देखकर भरतने कहा—

अधिरोहार्य पादाभ्यां पादुके हेमभूषिते ।
एते हि सर्वलोकस्य योगक्षेमं विधास्यतः ॥
(२ । ११२ । २१)

'आर्य ! ये दो स्वर्णभूषित पादुकाएँ हैं, आप इनपर अपने चरण रखें । ये ही सम्पूर्ण जगत्के योग-क्षेमका निर्वाह करेंगी ।'

धन्य है भरतके उच्चतम भावको !

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने उन पादुकाओंपर अपने चरण रखकर उन्हें भरतको दे दिया । उन पादुकाओंको प्रणाम कर भरतने श्रीरामसे कहा—

चतुर्दश हि वर्षाणि जटाचीरधरो ह्यहम् ॥
फलमूलाशनो वीर भवेयं रघुनन्दन ।
तवागमनमाकाङ्क्षन् वसन् वै नगराद् बहिः ॥
तव पादुकयोर्न्यस्य राज्यतन्त्रं परंतप ।
चतुर्दशे हि सम्पूर्णे वर्षेऽहनि रघूत्तम ।
न द्रक्ष्यामि यदि त्वां तु प्रवेक्ष्यामि हुताशनम् ॥
(२ । ११२ । २३–२५)

'रघुनन्दन ! मैं भी चौदह वर्षोंतक जटा और चीर धारण करके फल-मूलका आहार करूँगा और आपके आनेकी बाट जोहता हुआ नगरसे बाहर ही रहूँगा । इतने दिनोंतक राज्यका सारा भार आपकी इन चरण-पादुकाओंपर ही रहेगा । चौदह वर्ष पूरे होनेके बाद उसी दिन यदि मुझे आपके दर्शन नहीं मिलेंगे तो मैं धधकती आगमें प्रवेश कर जाऊँगा ।'

भरतकी यह प्रतिज्ञा सुनकर भगवान्ने प्रसन्नतापूर्वक उसका अनुमोदन किया । तदनन्तर दोनों भाइयोंको माता कैकेयीके साथ अच्छा व्यवहार करनेकी शिक्षा देकर और दोनोंका हृदयसे आलिङ्गन करके विदा किया । उस समय भाई भरतके वियोगमें श्रीरामचन्द्रजीकी आँखोंमें जल भर आया ।

तदनन्तर भरतजी भगवान्की पादुकाओंको मस्तकपर धारण करके बड़ी प्रसन्नतासे रथपर सवार हुए तथा रास्तेमें भरद्वाजजीसे मिलकर, उनसे सारी बातें कहकर और आज्ञा

लेकर शृङ्गवेरपुर होते हुए अयोध्या पहुँचे । फिर माताओंको महलमें रखकर भरतने सब गुरुजनोंसे कहा—

नन्दिग्रामं गमिष्यामि सर्वानामन्त्रयेऽत्र वः ।
तत्र दुःखमिदं सर्वं सहिष्ये राघवं विना ॥
गतश्चाहो दिवं राजा वनस्थः स गुरुर्मम ।
रामं प्रतीक्षे राज्याय स हि राजा महायशाः ॥
(२ । ११५ । २-३)

'अब मैं नन्दिग्रामको जाऊँगा, इसके लिये आप सब लोगोंकी आज्ञा चाहता हूँ । महाराज तो स्वर्ग सिधार गये और मेरे परम पूज्य भगवान् श्रीराम वनमें निवास करते हैं । अतः मैं वहीं रहकर श्रीराम-वियोगमें इन सब दुःखोंको सहन करूँगा और राज्यके लिये श्रीरामचन्द्रजीकी प्रतीक्षा करूँगा, क्योंकि महायशस्वी श्रीराम ही हमलोगोंके राजा हैं ।'

भरतकी ऐसी बात सुनकर मन्त्रियोंसहित पुरोहित श्रीवसिष्ठजीने कहा—

सुभृशं श्लाघनीयं च यदुक्तं भरत त्वया ।
वचनं भ्रातृवात्सल्यादनुरूपं तवैव तत् ॥
नित्यं ते बन्धुलुब्धस्य तिष्ठतो भ्रातृसौहृदे ।
मार्गमार्यं प्रपन्नस्य नानुमन्येत कः पुमान् ॥
(२ । ११५ । ५-६)

'भरत ! भ्रातृ-भक्तिसे प्रेरित होकर तुमने जो वचन कहा है, वह अत्यन्त प्रशंसनीय है । वास्तवमें वह तुम्हारे ही योग्य है । तुम अपने भाईके दर्शनार्थ सदा ही लालायित रहते हो, उन्हींके हितमें संलग्न हो और अत्यन्त उत्तम मार्गपर चल रहे हो; अतः तुम्हारे विचारका अनुमोदन कौन पुरुष नहीं करेगा ।'

इस प्रकार सबकी आज्ञा लेकर भरत श्रीरामचन्द्रजीकी पादुकाओंको सिरपर रखे शत्रुघ्नके साथ नन्दिग्राम चले गये । वहाँ रथसे उतरकर सब गुरुजनोंसे बोले—

एतद्राज्यं मम भ्रात्रा दत्तं संन्यासमुत्तमम् ।
योगक्षेमवहे चेमे पादुके हेमभूषिते ॥

× × × ×

छत्रं धारयत क्षिप्रमार्यपादाविमौ मतौ ।
आभ्यां राज्ये स्थितो धर्मः पादुकाभ्यां गुरोर्मम ॥
भ्रात्रा तु मयि संन्यासो निक्षिप्तः सौहृदादयम् ।
तमिमं पालयिष्यामि राघवागमनं प्रति ॥
क्षिप्रं संयोजयित्वा तु राघवस्य पुनः स्वयम् ।
चरणौ तौ तु रामस्य द्रक्ष्यामि सहपादुकौ ॥
ततो निक्षिप्तभारोऽहं राघवेण समागतः ।
निवेद्य गुरवे राज्यं भजिष्ये गुरुवृत्तिताम् ॥
राघवाय च संन्यासं दत्त्वेमे वरपादुके ।
राज्यं चेदमयोध्यां च धूतपापो भवाम्यहम् ॥
(२ । ११५ । १४,१६-२०)

'मेरे भाईने यह राज्य मुझे उत्तम धरोहरके रूपमें दिया है । उनकी ये सुवर्ण-भूषित पादुकाएँ ही सबका योगक्षेम निबाहनेवाली हैं । मैं इन्हें आर्य श्रीरामचन्द्रके साक्षात् चरण मानता हूँ । आपलोग शीघ्र ही इनपर छत्र लगायें । मेरे गुरुकी इन चरणपादुकाओंके प्रभावसे ही इस राज्यमें धर्मकी स्थापना होगी । उन्होंने प्रेमके कारण ही मुझे यह अमूल्य धरोहर सौंपी है । अतः मैं उनके लौटनेतक इसकी भलीभाँति रक्षा करूँगा । उनके आनेपर शीघ्र ही इनको पुनः भगवान्के चरणोंसे युक्त कर इन पादुकाओंसे सुशोभित आर्यके चरणोंका दर्शन करूँगा । श्रीरघुनाथजीके आते ही उनकी सेवामें यह राज्य समर्पित कर दूँगा; फिर मेरा सब भार हल्का हो जायगा । मैं उनकी आज्ञाके अधीन रहकर उन्हींकी सेवामें लग जाऊँगा । मेरे पास धरोहरके रूपमें रखे हुए इस राज्यको, इन पादुकाओंको और अयोध्याको भी श्रीरामकी सेवामें समर्पित करके मैं सब प्रकारके दुःख और पापोंसे मुक्त हो जाऊँगा ।'

फिर धैर्यवान् भरतजी जटा-वल्कल धारण किये मुनिका वेष बनाकर नन्दिग्राममें रहने लगे । वे राज्य-शासनका समस्त कार्य भगवान्की चरण-पादुकाओंको निवेदन करके करते थे । उनके ऊपर स्वयं छत्र लगाते और चँवर डुलाते थे । इस प्रकार उन्होंने बड़े भाई श्रीरामचन्द्रजीकी चरण-पादुकाओंका राज्याभिषेक किया । राज्यका जो कोई कार्य उपस्थित होता, जो भी बहुमूल्य भेंट आती, भरतजी वह सब पहले उन पादुकाओंको अर्पण करते और पीछे उसका यथायोग्य प्रबन्ध करते ।

* * *

लङ्का-विजयके बाद विभीषणको राज्य देकर, सीता और लक्ष्मणके साथ भगवान् श्रीराम अयोध्या लौटनेके लिये तैयार हुए । उस समय विभीषणने श्रीरामजीसे स्नान आदि करके वस्त्रालङ्कार धारण करनेकी प्रार्थना की । तब भगवान् भरतकी भक्ति याद करके कहते हैं—

स तु ताम्यति धर्मात्मा मम हेतोः सुखोचितः ।
सुकुमारो महाबाहुर्भरतः सत्यसंश्रयः ॥

तं विना कैकयीपुत्रं भरतं धर्मचारिणम् ।
न मे स्नानं बहुमतं वस्त्राण्याभरणानि च ॥

× × ×

तं तु मे भ्रातरं द्रष्टुं भरतं त्वरते मनः ॥
(६ । १२१ । ५-६, १८)

'सत्यपरायण, धर्मात्मा, महाबाहु, सुकुमार भरत सब प्रकारके सुख-भोगोंके योग्य होकर भी मेरे लिये दुःख भोग रहा है । उस धर्मचारी कैकेयी-पुत्र भरतके विना मुझे स्नान और वस्त्राभूषण धारण करना रुचिकर नहीं है । भाई भरतको देखनेके लिये मेरा मन छटपटा रहा है ।' इससे मालूम होता है कि भरतका श्रीराममें कितना प्रेम था ।

उसके बाद श्रीराम सीता, लक्ष्मण और सब समुदायके साथ पुष्पक-विमानपर बैठकर अयोध्याके लिये चले और भरद्वाज-आश्रमपर पहुँचकर अपने आनेका शुभ संवाद देनेके लिये हनुमान्‌को प्यारे भरतके पास भेजा । हनुमान्‌जी नन्दिग्राममें पहुँचकर क्या देखते हैं—

ददर्श भरतं दीनं कृशमाश्रमवासिनम् ।
जटिलं मलदिग्धाङ्गं भ्रातृव्यसनकर्शितम् ॥
फलमूलाशिनं दान्तं तापसं धर्मचारिणम् ।
समुन्नतजटाभारं वल्कलाजिनवाससम् ॥
नियतं भावितात्मानं ब्रह्मर्षिसमतेजसम् ।
पादुके ते पुरस्कृत्य प्रशासन्तं वसुन्धराम् ॥
(६ । १२५ । ३०-३२)

श्रीहनुमान्‌ने देखा कि भरत शहरके बाहर आश्रममें रहते हैं । भाईके वियोगसे उनका शरीर दुर्बल हो गया है । उसपर मैल जम गयी है । उनका मुख सूख गया है, उसपर दीनताका भाव झलक रहा है । वे केवल फल-मूलका ही आहार करते हैं । इन्द्रियाँ उनके वशमें हैं । वे मस्तकपर लंबी जटाओंका भार तथा शरीरपर वल्कल और मृगचर्म धारण किये धर्माचरणपूर्वक तपस्या कर रहे हैं । उनका मन सब ओरसे संयत और ध्यानमें निमग्न है । उनका तेज ब्रह्मर्षियोंके समान है । वे श्रीरामकी चरण-पादुकाओंकी सेवा करते हुए पृथ्वीका शासन कर रहे हैं । हनुमान्‌जीने यह भी देखा कि भरतके प्रेम और व्यवहारसे आकर्षित होकर मन्त्री, पुरोहित और सेनाके प्रधान-प्रधान वीर भी उन्हींके पास रहते हैं । वायुपुत्र हनुमान्‌जीने भरतजीको श्रीरामके आगमनका समाचार सुनाया ।

हनुमान्‌के मुखसे भगवान्‌के आनेका समाचार सुनकर भरतजी हर्षसे विह्वल हो गये । उनको शरीरकी सुधि नहीं रही । थोड़ी देरमें स्वस्थ होनेपर उन्होंने हनुमान्‌को हृदयसे लगा लिया और प्रेमाश्रुओंसे भिगोते हुए उनसे कहने लगे—

देवो वा मानुषो वा त्वमनुक्रोशादिहागतः ।
प्रियाख्यानस्य ते सौम्य ददामि ब्रुवतः प्रियम् ॥
(६ । १२५ । ४३)
बहूनि नाम वर्षाणि गतस्य सुमहद् वनम् ।
शृणोम्यहं प्रीतिकरं मम नाथस्य कीर्तनम् ॥
(६ । १२६ । १)

'मुझपर दया करके आनेवाले तुम कोई देवता हो या मनुष्य ? सौम्य ! तुमने मुझे बड़ा ही प्रिय सन्देश दिया; इसके बदलेमें तुम्हें जो कुछ प्रिय हो, वह मैं दे सकता हूँ । मेरे स्वामीको गहन वनमें गये हुए बहुत वर्ष बीत गये । आज ही मैं अपने नाथका आनन्ददायक समाचार सुन रहा हूँ ।'

इसके बाद भरतजीने वानरोंके साथ श्रीरामकी मित्रता होनेके विषयमें पूछा । इसपर हनुमान्‌जीने वन-गमनसे लेकर लङ्कासे लौटते हुए भरद्वाजके आश्रममें पहुँचनेतककी सारी बातें कह सुनायीं । यह सब सुनकर भरतजी बड़े प्रसन्न हुए और पास ही खड़े हुए शत्रुघ्नको नगरकी सजावट करने और सबको श्रीरामकी अगवानीके लिये तैयार होनेकी सूचना देनेको कहा । समाचार सुनते ही सारे नगरमें हर्ष और प्रेमकी बाढ़ आ गयी । सभी भगवान्‌के आगमनकी प्रतीक्षा करने लगे । धर्मज्ञ भरतजीने श्रीरामकी पादुकाओंको सिरपर रखकर उन्हें सुन्दर मालाओंसे सुशोभित किया और उनपर स्वर्ण-छत्र लगाकर स्वर्ण-भूषित सफेद चँवर डुलाते हुए चले । थोड़ी दूर जानेपर जब उन्हें श्रीरामचन्द्रजी आते हुए दिखायी नहीं दिये, तब वे प्रेमाकुल होकर हनुमान्‌जीसे पूछने लगे—'हनुमान् ! क्या बात है ? अभीतक रघुकुल-भूषण आर्य श्रीराम मुझे दिखायी नहीं दे रहे हैं ।' इतनेमें ही श्रीभरतजीने विमानको आते हुए देखा और उसपर बैठे हुए श्रीरामको भक्तिपूर्वक प्रणाम किया । फिर श्रीरामकी आज्ञासे वह विमान पृथ्वीपर उतरा । श्रीभरतजी विमानके भीतर श्रीरामको देखकर हर्षसे भर गये और पुनः उनके चरणोंमें गिर पड़े । श्रीरामचन्द्रजीने बहुत दिनोंके बाद दृष्टिगोचर हुए भाई भरतको उठा गोदमें बैठाकर प्रेम और हर्षपूर्वक हृदयसे लगाया । इसके बाद भरतने भाई लक्ष्मणसे मिलकर सीताके चरणोंमें प्रणाम किया ।

तदनन्तर धर्मज्ञ श्रीभरतजीने श्रीरामकी उन दोनों पादुकाओंको हाथमें लेकर श्रीरामके चरणोंमें पहना दिया और हाथ जोड़कर कहा—

एतत्ते सकलं राज्यं न्यासं निर्यातितं मया ॥
अद्य जन्म कृतार्थं मे संवृत्तश्च मनोरथः ।
यस्त्वां पश्यामि राजानमयोध्यां पुनरागतम् ॥
(६ । १२७ । ५४-५५)

'यह धरोहर रूपमें रखा हुआ आपका सम्पूर्ण राज्य मैंने आज आपको लौटा दिया । आज मेरा जन्म सफल हो गया और मेरे समस्त मनोरथ पूर्ण हो गये, जो मैं अयोध्यामें लौटकर आये हुए आपको देख रहा हूँ'—इत्यादि

—इस प्रकार कहते हुए भ्रातृप्रेमी भरतको देखकर राक्षसराज विभीषण और सुग्रीवादि वानरोंकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह चली ।

श्रीरामका राज्याभिषेक हो जानेके बाद भरत भी लक्ष्मणकी भाँति ही श्रीरामकी सेवामें रहने लगे । कुछ दिन बाद श्रीरामने भरतके मामाका समाचार पाकर गन्धर्वोंपर विजय करनेके लिये भरतको भेजा । भरतजीने भगवान्‌की आज्ञा पालन करनेके लिये ही वहाँ जाकर गन्धर्वोंपर विजय प्राप्त की । पुनः भगवान्‌के आज्ञानुसार वहाँके राज्यपर अपने पुत्रोंका अभिषेक करके शीघ्र ही भगवान्‌के पास लौट आये और उनसे सब बातें कह दीं । पूरी बातें सुन लेनेपर श्रीरामने भरतकी प्रशंसा की और बहुत प्रसन्न हुए ।

इसके बाद लक्ष्मणका त्याग करनेपर श्रीरामचन्द्रजीने परमधाम पधारनेकी इच्छासे भरतका राज्याभिषेक करनेकी बात कही, परन्तु भरतने उसे स्वीकार नहीं किया । वे इस तरहकी बात सुनते ही बेहोश हो गये और सचेत होकर राज्यकी निन्दा करते हुए बोले—

सत्येनाहं शपे राजन् स्वर्गभोगेन चैव हि ।
न कामये यथा राज्यं त्वां विना रघुनन्दन ॥
(७ । १०७ । ६)

'राजन् ! मैं सत्य तथा स्वर्गकी शपथ करके कहता हूँ कि मैं आपसे अलग रहकर राज्य नहीं चाहता ।'

—तब श्रीरामने भरतकी सलाहसे कुश और लवको राज्यपर अभिषिक्त किया और शत्रुघ्नको बुलाकर सबके साथ परमधाम पधार गये ।

वास्तवमें भरतकी राम-भक्ति जगत्‌के इतिहासमें अद्वितीय है । इनका त्याग, संयम, व्रत, नियम—सभी सराहनीय और अनुकरणीय हैं । इनके चरित्रसे स्वार्थ-त्याग, विनय, सहिष्णुता, गम्भीरता, सरलता, क्षमा, वैराग्य और स्वामि-भक्ति आदि सभी गुणोंकी शिक्षा ली जा सकती है । भक्ति-सहित निष्कामभावसे गृहस्थमें रहते हुए प्रजापालन करनेका ऐसा सुन्दर उदाहरण अन्यत्र मिलना कठिन है ।

* * *

प्रेम-प्रादुर्भाव

आज सजनी री वृन्दाविपिन माहिं गई मैं,
मायके पठायेपै सुभाय तें सुकाज लगि ।
देख्यो तहँ नन्दके किसोर चित्तचोर कहँ,
देखतै गई री ताके प्रेम-रंग माहिं रँगि ॥
परम सलौने स्याम सरद-मयंक जिमि,
चकित चकोरी-सी चितै रही सुप्रीति पगि ।
भूली देह गेहको सनेह माहिं स्यामजूके,
आली री अवाक ह्वै कै ठाढ़ी रही मग ठगि ॥

—चन्द्रावती गुप्ता

सङ्गका फल

[एक सच्चा वैदिक आख्यान]

(लेखक—पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय, एम्० ए०, साहित्याचार्य)

(१)

वासनाका राज्य अखण्ड है । वासनाका विराम नहीं । फलकी प्राप्ति होनेपर यदि एक वासनाको हम निःशेष करनेमें समर्थ भी होते हैं, तो न जाने कहाँसे दूसरी और उससे भी प्रबल वासनाएँ पनप जाती हैं । कुछ कालतक प्रबल कारणोंसे कतिपय वासनाएँ सुप्त अवश्य हो जाती हैं, परन्तु किसी उत्तेजक कारणके आते ही वे जग पड़ती हैं । भला, कोई स्वप्नमें भी सोच सकता था कि महर्षि सोभरि काण्वका दृढ वैराग्य मीनराजके सुखद गार्हस्थ्य-जीवनके दर्शनरूप वायुके एक हल्के-से झकोरेसे ही जड़से उखड़कर भूतलशायी बन जायगा ।

महर्षि सोभरि कण्व-वंशके अवतंस थे; उन्होंने वेद-वेदाङ्गका गुरुमुखसे अध्ययन कर धर्मका रहस्य भलीभाँति जान लिया था । उनका शास्त्रानुचिन्तन गहरा था, परन्तु उससे भी गहरा था उनका जगत्के प्रपञ्चोंसे वैराग्य । जगत्के समग्र विषय-सुख क्षणिक हैं । चित्तको उनसे वास्तविक शान्ति नहीं मिल सकती । तब कोई विवेकी पुरुष अपने अनमोल जीवनको इन कौड़ीके तीन विषयोंकी ओर क्यों लगायेगा । आजका विशाल सुख कल ही अतीतकी स्मृति बन जाता है, पलभरमें सुखकी सरिता सूखकर मरुभूमिकी विशाल बालुकाराशिके रूपमें परिणत हो जाती है; तब कौन विज्ञ पुरुष इस सरिताके सहारे अपनी जीवन-वाटिकाको हरी-भरी रखनेका उद्योग करेगा । सोभरिका चित्त इन भावनाओंकी रगड़से इतना चिकना बन गया था कि पिता-माताका विवाहविषयक प्रस्ताव चिकने घड़ेपर जलकी बूँदके समान उसपर टिक न सका । उन्होंने बहुत समझाया—'अभी भरी जवानी है, अभिलाषाएँ उभरी हुई हैं; तुम्हारे जीवनका यह नया वसन्त है, कामना-मञ्जरीके विकसित होनेका उपयुक्त समय है; रस-लोलुप चित्त-भ्रमरको इधर-उधरसे हटाकर सरस माधवीके रस-पानमें लगाना है । अभी वैराग्यका बाना धारण करनेका अवसर नहीं । परन्तु सोभरिने किसीके शब्दोंपर कान न दिया, उनका कान तो वैराग्यसे भरे अध्यात्म-सुखसे सराबोर मञ्जुल गीतोंको सुननेमें न जाने कबसे लगा हुआ था । पिता-माताका अपने पुत्रको गार्हस्थ्य-जीवनमें लानेका उद्योग सफल न हो सका । पुत्रके हृदयमें भी देरतक द्वन्द्व मचा रहा । एक बार चित्त कहता—'माता-पिताके वचनोंका अनादर करना पुत्रके लिये अत्यन्त अहितकर है' परन्तु दूसरी बार एक विरोधी वृत्ति धक्का देकर सुझाती है—'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति ।' आत्मकल्याण ही सबसे बड़ी चीज ठहरी, गुरुजनोंके वचनों और कल्याण-भावनामें विरोध होनेपर हमें आत्म-कल्याणसे पराङ्मुख नहीं होना चाहिये । सोभरि इस अन्तर्युद्धको बहुत देरतक अपने हृदयके कोनेमें छिपा न सके और घरसे सदाके लिये नाता तोड़कर उन्होंने इस युद्धको भी विराम दिया । महर्षिके असामयिक वैराग्य और आकस्मिक गृहत्यागसे मनुष्योंके हृदय विस्मित हो उठे ।

(२)

पवित्र नदीतट । कल्लोलिनी कालिन्दी कल-कल करती हुई बह रही थी । किनारेपर उगे हुए तमाल-वृक्षोंकी सघन छायामें रंग-बिरंगी चिड़ियोंका चहकना कानोंमें अमृत उँड़ेल रहा था । घने जंगलके भीतर पशु स्वच्छन्द विचरण करते थे और नाना प्रकारके विघ्नोंसे अलग रहकर विशेष सुखका अनुभव करते थे । सायंकाल गोधूलिकी भव्य वेलामें गायें दूधसे भरे थनोंके भारसे किञ्चित् झुकी हुई जब मन्द गतिसे दूरके गाँवोंकी ओर जाती थीं, उस समय यह दृश्य अनुपम आनन्दकी सृष्टि करता था । यमुनाकी सतहपर शीतल पवनके हल्के झकोरोंसे

छोटी-छोटी लहरियाँ उठती थीं और भीतर मछलियोंके झुंड-के-झुंड इधर-से-उधर फुदकते हुए स्वच्छन्दताके सुखका अनुभव कर रहे थे । यहाँ था शान्तिका अखण्ड राज्य । इसी एकान्त स्थानको सोभरिने अपनी तपस्याके लिये पसंद किया ।

सोभरिके हृदयमें तपस्याके प्रति महान् अनुराग तो था ही, स्थानकी पवित्रता तथा एकान्तताने उनके चित्तको हठात् अपनी ओर खींच लिया । यमुनाके जलके भीतर वे लगे तपस्या करने । भादोंमें भयंकर बाढ़के कारण यमुना-जल बड़े ही वेगसे बढ़ने और बहने लगता; परन्तु ऋषिके चित्तमें न तो किसी प्रकारका बढ़ाव था और न किसी प्रकारका बहाव । पूस-माघकी रातोंमें पानी इतना अधिक ठंडा होता कि जल-जन्तु भी ठंडके कारण काँपते; परन्तु मुनिके शरीरमें जल-शयन करनेपर भी किसी प्रकारकी जड़ता न आती । वर्षाके साथ-साथ ऐसी ठंडी हवा चलती कि प्राणीमात्रके शरीर सिकुड़ जाते; परन्तु ऋषिके शरीरमें तनिक भी सिकुड़न न आती । ऐसी विकट तपस्याका क्रम बहुत वर्षोंतक चलता रहा । सोभरिको वह दिन याद था, जब उन्होंने तपस्याके निमित्त अपने पिताका आश्रम छोड़कर यमुनाका आश्रय लिया । उस समय उनकी भरी जवानी थी, परन्तु अब ? लंबी दाढ़ी और मुलायम मूछोंपर हाथ फेरते समय उन्हें प्रतीत होने लगता कि उनकी उम्र ढलने लगी है । जो उन्हें देखता, आश्चर्यसे चकित हो जाता । इतनी विकट तपस्या ! शरीरपर इतना अधिकार !! सर्दी-गर्मी सह लेनेकी इतनी अधिक शक्ति !!! दर्शकोंके आश्चर्यका ठिकाना न रहता । परन्तु महर्षिके चित्तकी विचित्र दशा थी । वे नित्य यमुनाके श्यामल जलमें मत्स्यराजकी अपनी प्रियतमाके साथ रतिक्रीड़ा देखते-देखते आनन्दसे विभोर हो जाते । कभी पति अपनी मानवती प्रेयसीके मानभञ्जनके लिये हजारों उपाय करते-करते थक जानेपर आत्म-समर्पणके मोहन-मन्त्रके सहारे सफलमनोरथ होता और कभी वह मत्स्य-सुन्दरी अठिलाती नाना प्रकारसे अपना प्रेम जताती अपने प्रियतमकी गोदीका आश्रय लेकर अपनेको कृतकृत्य मानती । झुंड-के-झुंड बच्चे मत्स्य-दम्पतीके चारों ओर अपनी ललित लीलाएँ किया करते और उनके हृदयमें प्रमोद-सरिता बहाया करते । ऋषिने देखा, गार्हस्थ्य-जीवनमें बड़ा रस है । पति-पत्नीके विविध रसमय प्रेम-कल्लोल ! बाल-बच्चोंका स्वाभाविक सरल सुखद हास्य ! परन्तु उनके जीवनमें रस कहाँ ? रस (जल) का आश्रय लेनेपर भी चित्तमें रसका नितान्त अभाव था । उनकी जीवन-लताको प्रफुल्लित करनेके लिये कभी वसन्त नहीं आया । उनके हृदयकी कलीको खिलानेके लिये मलयानिल कभी नहीं बहा । भला, यह भी कोई जीवन है । दिन-रात शरीरको सुखानेका उद्योग, चित्तवृत्तियोंको दबानेका विफल प्रयास । उन्हें जान पड़ता मछलियोंके छोटे-छोटे बच्चे उनके नीरस जीवनकी खिल्ली उड़ा रहे हैं ।

संगतिने सुप्त सांसारिक वासनाको जोरोंसे झकझोरकर जगा दिया । वह अपनेको प्रकट करनेके लिये मार्ग खोजने लगी ।

तपका उद्देश्य केवल शरीरको नाना प्रकारके साधनोंसे तप्त करना नहीं है, प्रत्युत मनको तप्त करना है । सच्चा तप मनमें जमे हुए कामके कूड़े-करकटको जलाकर राख बना देता है । आगमें तपाये हुए सोनेकी भाँति तपस्यामें तपाया गया चित्त खरा उतरता है । तप स्वयं अग्निरूप है । उसकी साधना करनेपर भला, कभी चित्तमें अज्ञानका अन्धकार अपना घर बना सकता है ? उसकी ज्वाला दुर्वासनाओंको भस्म कर देती है और उसका प्रकाश समग्र पदार्थोंको प्रकाशित कर देता है । शरीरको पीड़ा पहुँचाना तपस्याका स्वाँगमात्र है । नहीं तो, क्या इतने दिनोंकी घोर तपस्याके बाद भी सोभरिके चित्तमें प्रपञ्चसे विरति और भगवान्‌के चरणोंमें सच्ची रति न होती ?

× × ×

(३)

वैराग्यसे वैराग्य ग्रहण कर तथा तपस्याको

तिलाञ्जलि देकर महर्षि सोभरि प्रपञ्चकी ओर मुड़े और अपनी गृहस्थी जमानेमें जुट गये । विवाहकी चिन्ताने उन्हें कुछ बेचैन कर डाला । गृहिणी घरकी दीपिका है; धर्मकी सहचारिणी है । पत्नीकी खोजमें उन्हें दूर-दूरकी सैर करनी पड़ी । रत्न खोज करनेपर ही प्राप्त होता है, घरके कोनेमें अथवा दरवाजेपर वह बिखरा हुआ थोड़े ही मिलता है । उस समय महाराज त्रसदस्युके प्रबल प्रतापके सामने सप्तसिन्धुके समस्त नरेश नतमस्तक थे । वे पुरुवंशके मणि थे; पुरुकुत्सके पुत्र थे । उनका 'त्रसदस्यु' नाम नितान्त सार्थक था । आर्योंकी सभ्यतासे सदा द्वेष रखनेवाले दस्युओंके हृदयमें इनके नाममात्रसे कम्प उत्पन्न हो जाता था । वे सप्तसिन्धुके पश्चिमी भागपर शासन करते थे । महर्षिको यमुना-तटसे सुवास्तु (सिन्धुनदकी सहायक स्वात नदी) के तीरपर राजसभामें सहसा उपस्थित देखकर उन्हें उतना आश्चर्य नहीं हुआ, जितना उनके राजकुमारीसे विवाह-विषयक प्रस्तावपर । इस अवस्थामें इतनी कामुकता ! इनके तो अब दूसरे लोकमें जानेके दिन समीप आ रहे हैं; परन्तु आज भी इस लोकमें गृहस्थी जमानेका यह आग्रह !! परन्तु सोभरिकी इच्छाका विघात करनेसे भी उन्हें भय मालूम होता था । उनके हृदयमें एक विचित्र द्वन्द्वयुद्ध मच गया । एक ओर तो वे अभ्यागत तपस्वीकी कामना पूर्ण करना चाहते थे, परन्तु दूसरी ओर उनका पितृत्व चित्तपर आघात देकर कह रहा था—इस वृद्ध जरद्गवके गलेमें अपनी सुमन-सुकुमार सुताको मत बाँधो । राजाने इन विरोधी वृत्तियोंको बड़ी कुशलतासे अपने चित्तके कोनेमें दबाकर सोभरिके सामने स्वयंवरका प्रस्ताव रखा । उन्होंने कहा—'क्षत्रिय-कुलकी कन्याएँ गुणवान् पतिको स्वयं वरण किया करती हैं । अतः आप मेरे साथ अन्तःपुरमें चलिये । जो कन्या आपको अपना पति बनाना स्वीकार करेगी, उसे मैं आपके साथ विधिवत् विवाह दूँगा ।' राजा वृद्धको अपने साथ लेकर अन्तःपुरमें चले, परन्तु उनके कौतुककी सीमा न रही, जब वह वृद्ध अनुपम सर्वाङ्गशोभन युवकके रूपमें महलमें दीख पड़ा । रास्तेमें ही सोभरिने तपस्याके बलसे यह रूप-परिवर्तन कर डाला था । जो देखता वही मुग्ध हो जाता । स्निग्ध श्यामल शरीर, ब्रह्मवर्चस्से चमकता हुआ चेहरा, उन्नत ललाट, अङ्गोंमें यौवनसुलभ स्फूर्ति, नेत्रोंमें विचित्र दीप्ति; जान पड़ता था मानो स्वयं अनङ्ग अङ्ग धारण कर रतिकी खोजमें सजे हुए महलोंके भीतर प्रवेश कर रहा हो । सुकुमारी राजकन्याओंकी दृष्टि इस युवक तापसपर पड़ी । चार आँखें होते ही उनका चित्त-भ्रमर मुनिके रूप-कुसुमकी माधुरी चखनेके लिये विकल हो उठा । पिताका प्रस्ताव सुनना था कि सबने मिलकर मुनिको घेर लिया और एक स्वरसे मुनिको वरण कर लिया । राजाने अपनी प्रतिज्ञा पूरी की ।

सुवास्तुके सुन्दर तटपर विवाह-मण्डप रचा गया । महाराज त्रसदस्युने अपनी पचास पुत्रियोंका विवाह महर्षि सोभरि काण्वके साथ पुलकितवदन होकर सम्पन्न कर दिया और दहेजमें विपुल सम्पत्ति दी—सत्तर-सत्तर गायोंके तीन झुंड, श्यामवर्ण वृषभ—जो इन सबोंके आगे-आगे चलता था, अनेक घोड़े, नाना प्रकारके रंग-बिरंगे कपड़े, अनमोल रत्न । गार्हस्थ्य-जीवनको रसमय बनानेवाली समस्त वस्तुओंको एक साथ एक ही जगह पाकर मुनिकी कामना-वल्ली लहलहा उठी । इन चीजोंसे सज-धजकर रथपर सवार हो मुनि जब यमुना-तटकी ओर आ रहे थे, उस समय रास्तेमें वज्रपाणि भगवान् इन्द्रका देवदुर्लभ दर्शन उन्हें प्राप्त हुआ । ऋषि आनन्दसे गद्गद स्वरमें स्तुति करने लगे—

वयं हि त्वा बन्धुमन्तम-
बन्धवो विप्रास इन्द्र येमिम ।

या ते धामानि वृषभ तेभिरा
गहि विश्वेभिः सोमपीतये ॥
नकी रेवन्तं सख्याय
विन्दसे पीयन्ति ते सुराश्वः ।
यदा कृणोषि नदनुं
समूहस्यादित् पितेव हूयसे ॥
(ऋ० ८ । २१ । ४, १४)

'स्तोत्रं कस्य न तुष्टये ।' इस स्तुतिको सुनकर देवराज अत्यन्त प्रसन्न हुए और ऋषिसे आग्रह करने लगे कि 'वर माँगो ।' सोभरिने अपने मस्तकको झुकाकर विनयभरे शब्दोंमें कहना आरम्भ किया—'प्रभो ! मेरा यौवन सदा बना रहे; मुझमें इच्छानुसार नाना रूप धारण करनेकी शक्ति हो, अक्षय रति हो और इन पचास पत्नियोंके साथ एक ही समय रमण करनेकी सामर्थ्य मुझमें हो जाय । वे विश्वकर्मा मेरे लिये सोनेके महल बना दें, जिनके चारों ओर कल्पवृक्षसे युक्त पुष्प-वाटिकाएँ । मेरी पत्नियोंमें किसी प्रकारकी स्पर्धा, परस्पर कलह कभी न हो । आपकी दयासे मैं गार्हस्थ्य-जीवनका पूरा-पूरा सुख उठा सकूँ ।'

इन्द्रने गम्भीर स्वरमें कहा—'तथास्तु !' देवताने भक्तकी प्रार्थना स्वीकार कर ली—भक्तका हृदय आनन्दसे गद्गद हो उठा ।

(४)

वस्तुकी प्राप्तिकी आशामें जो आनन्द आता है, वह उसकी प्राप्तिमें नहीं । मनुष्य उसे पानेके लिये बेचैन बना रहता है, लाखों कोशिशें करता है; उसकी कल्पनासे ही उसके मुँहसे लार टपकने लगती है, परन्तु वस्तुके करतलगत होते ही उसमें विरसता आ जाती है, उसका स्वाद फीका पड़ जाता है, उसकी चमक-दमक जाती रहती है और दिन-प्रतिदिनकी गले पड़ी वस्तुओंके ढोनेके समान उसका भी ढोना दूभर हो जाता है । गार्हस्थ्यमें दूरसे आनन्द अवश्य आता है, परन्तु गले पड़नेपर उसका आनन्द उड़ जाता है, केवल तलछट बाकी रह जाता है ।

महर्षि सोभरिके लिये गार्हस्थ्य-जीवनकी लता हरी-भरी सिद्ध नहीं हुई । बड़ी-बड़ी कामनाओंको हृदयमें लेकर वे इस घाट उतरे थे, परन्तु यहाँ विपदाके जल-जन्तुओंके कोलाहलसे सुखपूर्वक खड़ा होना भी असम्भव हो गया । विचारशील तो वे थे ही । विषय-सुखोंको भोगते-भोगते निर्वेद—और अब सच्चा निर्वेद—उत्पन्न हो गया । सोचने लगे—"क्या यही सुखद जीवन है । जिसके लिये मैंने वर्षोंकी साधनाका तिरस्कार किया है ? मुझे धन-धान्यकी कमी नहीं है; गो-सम्पत्ति मेरी अतुलनीय है; भूखकी ज्वाला अनुभव करनेका अशुभ अवसर मुझे कभी नहीं आया; परन्तु मेरे चित्तमें चैन नहीं !! कलकण्ठ कामिनियोंके कोकिल-विनिन्दित स्वरने मेरे जीवन-वाटिकामें वसन्तके लानेका उद्योग किया; वसन्त आया, पर उसकी सरसता टिक न सकी । बालक-बालिकाओंकी सुमधुर काकलीने मेरे जीवनोद्यानमें पावसको ले आनेका प्रयत्न किया, परन्तु मेरा जीवन सदाके लिये हरा-भरा न हो सका । हृदय-वल्ली कुछ कालके लिये जरूर लहलहा उठी, परन्तु पतझड़के दिन शीघ्र आ धमके; पत्ते मुरझाकर झड़ गये । क्या यही सुखमय गार्हस्थ्य-जीवन है ? बाहरी प्रपञ्चमें फँसकर मैंने आत्म-कल्याणको भुला दिया । मानव-जीवनकी सफलता इसीमें है कि योगके द्वारा आत्म-दर्शन किया जाय—'यद्योगेनात्मदर्शनम्' परन्तु भोगके पीछे मैंने योगको भुला दिया; अनात्माके चक्करमें पड़कर मैंने आत्माको बिसार दिया और प्रेयो-मार्गका अवलम्बनकर मैंने 'श्रेयः'—आत्यन्तिक सुखकी उपेक्षा कर दी । भोगमय जीवन वह भयावनी भूल-भुलैया है, जिसके चक्करमें पड़ते ही हम अपनी राह छोड़ बेराह चलने लगते हैं और अनेकों जन्म चक्कर काटते ही बीत जाते हैं । कल्याणके मार्गमें जहाँसे चलते हैं, घूम-फिरकर पुनः वहीं आ जाते हैं—एक डग भी आगे नहीं बढ़ पाते ।

कच्चा वैराग्य सदा धोखा देता है। मैं समझता था कि इस कच्ची उम्रमें भी मेरी लगन सच्ची है, परन्तु मिथुनचारी मत्स्यराजकी संगतिने मुझे इस मार्गमें ला घसीटा। सच्ची विरति हुए बिना भगवान्की ओर बढ़ना प्रायः असम्भव-सा ही है। इस विरतिको लानेके लिये साधु-संगति ही सर्वश्रेष्ठ साधन है। बिना आत्म-दर्शनके यह जीवन भारभूत है। अब मैं अधिक दिनों-तक इस बोझको नहीं ढो सकता।

× × ×

दूसरे दिन लोगोंने सुना—महर्षि सोभरिकी गृहस्थी उजड़ गयी। महर्षि सच्चे निर्वेदसे यह प्रपञ्च छोड़ जंगलमें चले गये और सच्ची तपस्या करते हुए भगवान्में लीन हो गये। जिस प्रकार अग्निके शान्त होते ही उसकी ज्वालाएँ वहीं शान्त हो जाती हैं, उसी प्रकार पतिकी आध्यात्मिक गतिको देखकर पत्नियोंने भी उनकी संगतिसे सद्गति प्राप्त की। संगतिका फल बिना मिले नहीं रहता।

76171

सचाईका पुरस्कार

(लेखक—पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम्० ए०)

संसारके सभी लोग सचाईकी बड़ाई करते हैं। ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं मिलेगा जो मिथ्या आचरण और दूसरोंको धोखा देनेको भला कहे। पर यह भी एक साधारण अनुभवकी बात है कि विरला ही व्यक्ति पूर्णतः सचाईको अपने व्यवहारमें लाता है। इतना ही नहीं, जो व्यक्ति जितना अधिक दूसरोंसे सच्चे व्यवहारकी आशा करता है, वह उतना ही स्वयं धूर्त होता है। धूर्त व्यक्तिको संसारके सभी लोग छल और कपटसे भरे दिखायी देते हैं। वह अपने कपट-व्यवहारकी ओर दृष्टि नहीं डालता, पर दूसरोंके कपट-व्यवहारसे सदा सतर्क रहता है। ऐसा व्यक्ति जितना भोले-भाले लोगोंकी प्रशंसा करता है, उतना अपने जीवनमें सत्य व्यवहार करनेवाला नहीं देखा जाता।

अब प्रश्न यह आता है कि सच्चे लोग सचाईकी महिमाका बखान करें तो युक्तिसंगत है, झूठे लोग क्यों सचाईकी महिमा गाते हैं, वे लोग क्यों सच्चे लोगोंकी खोजमें रहते हैं? संसारके प्रायः सभी लोग अपने आप सच्चे न होकर फिर सच्चेपनको क्यों अच्छा कहते हैं, और जब वे एक प्रकारके व्यवहारको अच्छा कहते हैं, तो स्वयं तदनुकूल आचरण क्यों नहीं करते?

प्रश्नके पहले भागका उत्तर यह है कि सच्चे लोग जितनी सरलतासे ठगे जा सकते हैं, उतनी सरलतासे झूठे लोग नहीं ठगे जा सकते। यदि धूर्तोंको सदा उन्हीं-जैसोंसे व्यवहार करना पड़े तो उनकी धूर्तताका महत्त्व कुछ भी न रह जाय। ठगोंको उनकी ठग-विद्यासे तभी लाभ होता है जब दूसरे लोग ठगोरी करनेको मिलते हैं। ठगोंको भोले-भाले आदमी प्रिय होते हैं और चतुर आदमी उन्हें अप्रिय लगते हैं। जो व्यक्ति उनके नग्नस्वरूपको उन्हींके सामने खड़ा कर दे, उससे बड़ा दुश्मन वे किसी दूसरेको नहीं मानते। हम सचाईकी प्रशंसा आत्मरक्षाकी भावनासे करते हैं। हम दूसरोंसे ठगे नहीं जाना चाहते, अतएव सच्चे लोगोंको भला कहते हैं। पर जब हम सचाईको भला गुण कहते हैं, तब अपने आन्तरिक मनमें हम यह नहीं चाहते कि हम स्वयं सच्चे बनें और सब प्रकार धूर्तता और चतुराईसे अलग रहें।

इसका क्या कारण है? इसका कारण यही है कि हमने वास्तवमें सचाईके महत्त्वको नहीं समझा। सचाईसे व्यवहार करनेवाला व्यक्ति प्रायः सांसारिक दृष्टिसे घाटेमें रहता है। अतएव हमें

मन-ही-मन सचाईको एक प्रकारकी बेवकूफी समझते हैं। विरला ही व्यक्ति सचाईकी मौलिकताको ठीकसे समझा है। इसलिये हमें अपने मनमें अनेक युक्तियोंसे यह बिठालना आवश्यक है कि वास्तवमें धूर्तता त्याज्य है और सचाई लाभकारी है। बड़े आश्चर्यकी बात तो यह है कि जो व्यक्ति सारे संसारको अनेक प्रकारकी युक्तियोंद्वारा सचाई, कर्तव्यपरायणता और सरलताकी मौलिकताको समझा सकता है, वही इन गुणोंसे वञ्चित रहता है। सचाईका उपदेश देनेवाले व्यक्ति ही प्रायः बड़े धूर्त होते हैं। जो बात तीक्ष्ण बुद्धिवाला व्यक्ति अनेक तरहसे लोगोंको समझाता है, ठीक उसी बातके प्रतिकूल उसका आचरण होता है। अतएव इस प्रकारके विद्वान्से संसारके लोग धूर्तता ही सीखते हैं न कि सचाई। वास्तवमें ये विद्वान् विद्वान् ही नहीं, ये तो परम मूर्ख हैं। तभी तो महात्मा कबीरने कहा है—

पंडित और मसालची इनकी याही रीति।
औरनको करे चाँदनो आप अँधेरे बीच॥

सचाईका वास्तविक पुरस्कार क्या है—यह जानना एक दिनकी बात नहीं। सच्चे कामका फल अच्छा होता है और झूठेका बुरा। यह सम्पूर्ण जीवनके अनुभवके पश्चात् किसी-किसी व्यक्तिको समझमें आता है। झुठाईसे मनुष्यको तात्कालिक लाभकी सम्भावना रहती है, यदि किसी लड़केने अच्छी तरहसे अपना पाठ याद नहीं किया है और नकल करके परीक्षामें उत्तीर्ण हो जाता है तो वह नकल करनेके सुअवसरसे लाभ क्यों न उठावे। यदि वह लड़का नकल करनेके मौकेको काममें नहीं लाता तो उसे एक पूरे साल पुरानी कक्षामें ही ठहरना पड़ता है। ऐसी सचाईसे क्या लाभ जिससे जीवन बरबाद हो। ऐसे गुड़से क्या लाभ जो मौतको आमन्त्रित करे। इस प्रकारके विचार मनुष्यको झूठे व्यवहारोंमें प्रवृत्त करते हैं।

मनुष्य सदा छोटे मार्गको ढूँढ़ा करता है। इसी प्रवृत्तिके कारण वह सचाईके लंबे रास्तेको छोड़कर मिथ्यात्वमें पड़ता है। इस प्रकारके आचरणसे मनुष्य अन्तमें दुःख भोगता है। इसका विचार उसे नहीं रहता। जब चोर चोरी करे तब यदि वह यह सोचने लग जाय कि उसे प्रत्येक चोरीके लिये कभी-न-कभी दण्ड मिलेगा तो वह कुमार्गगामी ही क्यों बने? मनुष्यको अपने कृत्योंके प्रति सन्निकटके निष्कर्ष ही दिखायी देते हैं, उसे अन्तिम परिणाम दिखायी ही नहीं देता। इसीलिये वह अपनेको लालचसे नहीं रोक पाता।

जिस मनुष्यका हृदय विशुद्ध है वह प्रत्येक कामके शुभ और अशुभ परिणामको तुरंत देख लेता है। प्रत्येक मनुष्यका स्वभाव दो प्रकारकी प्रवृत्तियोंसे मिलकर बना है—एक उसे स्वार्थपरायण बनाती है और दूसरी उसे परोपकारमें प्रवृत्त करती है। ये दोनों ही प्रवृत्तियाँ समानरूपेण प्रबल हैं। जब मनुष्यकी स्वार्थ-सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ प्रबल होती हैं, तो वह छल-कपट और धूर्ततासे काम लेता है और जब उसकी मानसिक प्रवृत्ति परोपकारकी ओर जाती है अर्थात् वह परमार्थका चिन्तन करता है तो वह सचाईका मार्ग ग्रहण करता है। जो मनुष्य अपने आपके प्रति सतर्क है, वह जब भी सच्चे मार्गसे विचलित होता है तो वह अपनी त्रुटिको तुरंत समझ जाता है और उसे उस भूलको सुधारे बिना चैन नहीं मिलती। प्रत्येक मनुष्य संसारको धोखा भले ही देता हो वह अपने आपको धोखा नहीं दे सकता, दुराचारीका आत्मा उसे सदा कोसता रहता है। यदि दुराचारी मनुष्य अपने दुराचारको नहीं छोड़ता तो धीरे-धीरे वह एक ऐसी स्थितिमें पहुँच जाता है जहाँसे मुक्त होना असम्भव हो जाता है। उसका एक-न-एक दिन विनाश निश्चित है।

देखा गया है कि झूठे और मक्कार व्यक्तिको झूठे और मक्कार ही साथी खोजने पड़ते हैं। जब उसे ऐसे

लोग नहीं मिलते तो वह भले लोगोंकी नीच प्रवृत्तियोंको ही उभाड़ा करता है; जिसमें दूसरे लोग उसकी बुराइयों-का संसारमें प्रदर्शन न करें। वह दूसरोंकी बुराइयोंको सहता है, उनमें भी स्वार्थ-बुद्धिका प्रचार करता है, किन्तु इस प्रकारका व्यवहार अन्तमें उसको विनाशोन्मुख बना देता है।

यह समझना बड़ा ही कठिन है कि प्रत्येक छल और कपटका कार्य हमें आध्यात्मिक हानि पहुँचाता है। जिस प्रकार चोर सभी लोगोंसे डरता रहता है, इसी तरह मक्कार मनुष्यका मन सदा उद्विग्न रहता है। उसकी धार्मिकताकी ओट उसे आन्तरिक शान्ति नहीं देती। संसारके सभी पदार्थ मनकी शान्तिके लिये हैं। मिथ्याचारीको संसारकी और वस्तुएँ क्यों न मिल जायँ, मनकी शान्ति कदापि नहीं मिलती। उसका हृदय आन्तरिक ज्वालासे सदा सन्तप्त रहता है। जब इस तरह दिन-प्रतिदिनके व्यवहारसे उसका आध्यात्मिक बल नष्ट हो जाता है, तो फिर उसका वाह्य जगत्में भी पतन हो जाता है। जैसे-जैसे वह ऊँचा चढ़ता है वैसे ही उसकी तृष्णा भी बढ़ती जाती है। साथ ही उसमें ईर्ष्या, क्रोध, द्वेष आदिकी दिनोंदिन अधिकता होती जाती है। फिर वे उसके संसारमें पतनके कारण बन जाते हैं।

अस्तु! सचाईका पुरस्कार अदृश्य है। यह ज्ञानकी दृष्टिसे ही जाना जा सकता है। सच्चा मनुष्य प्रायः दूसरोंके द्वारा ठगा जाता है। पर उसे वे मानसिक यन्त्रणाएँ नहीं होतीं, जो ठगनेवाले चतुर व्यक्तिको होती हैं; उसे तस्करकी भाँति सबसे डरते रहना नहीं पड़ता। उसका मन शान्त रहता है। वह शीघ्र ऊँचे पदपर नहीं पहुँचता, पर कालान्तरमें उसका उत्थान अवश्य होता है जिसे कोई रोक नहीं सकता। धूर्तोंकी उन्नति अस्थायी होती है, सच्चोंकी स्थायी। सच्चा अपनी अवनत अवस्थामें भी स्वर्गीय सुखका अनुभव करता है; परन्तु धूर्त ऊपरसे उन्नत दीखता हुआ भी अंदर नारकीय यन्त्रणा भोगता है।

शैव-आगम अथवा प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र

(लेखक—पं० श्रीबलजिन्नाथजी शास्त्री, बी० ए०)

भारत-भूमि संसारमें सब देशोंसे अधिक पवित्र और श्रेष्ठ है, यह तो प्रायः सभी विद्वान् मानते ही हैं। इस भूमिकी पवित्रताके ही कारण भारतवर्षमें ही ऐसी-ऐसी विद्याएँ प्रकट हुईं, जिनसे मनुष्य अनायास ही परब्रह्मतक पहुँच सकता है। ये विद्याएँ हमारे दर्शनोंमें कही गयी हैं। दर्शन-विद्या और देशोंमें भी है तो सही; परन्तु योरप आदि देशोंके दार्शनिकोंकी बुद्धि प्रायः भौतिक चक्रमें ही घूमती रहती है, इस चक्रको पार नहीं कर सकती। हमारे भारतवर्षके दार्शनिक तो अपनी बुद्धिकी प्रखरताके कारण भौतिक चक्रको काटकर उस चरम लक्ष्यतक पहुँच गये, जिससे परे कोई और लक्ष्य है ही नहीं और जिसका नाम परमेश्वर है। उन विद्वानोंके उपदेशोंको ग्रहण करके और तदनुसार आचरण करके आजतक सहस्रों क्या, लाखों मनुष्य इस भवसागरसे पार हो गये हैं।

ये भारतीय दार्शनिक विद्याएँ भी अनेक हैं, जिनमें सबसे ऊँची विद्या 'वेदान्त' है। वेदान्त-शास्त्रकी भी कई शाखाएँ हैं। इनमें प्रत्यभिज्ञा-शाखा मुझे सबसे ऊँची, सबसे सुन्दर, सबसे मनोहर तथा हृदयग्राहिणी प्रतीत होती है। इस शास्त्रका नाम शैव-शास्त्र या शैवागम भी है। इस शास्त्रके प्रचारका क्रम इस प्रकार माना जाता है—सृष्टिके आरम्भमें स्वयं भगवान् महादेवने अपने दैवत स्वरूपद्वारा इस शास्त्रका उपदेश सनकादि ऋषियोंको किया। फिर शिष्य-परम्पराके क्रमसे यह शास्त्र बहुत समयतक संसारमें चलता रहा। कलियुगमें योग्य शिष्योंके अभावके कारण धीरे-धीरे यह विद्या लुप्तप्राय हो गयी। अभीतक इस शास्त्रका कोई भी ग्रन्थ लिखा नहीं गया था। मौखिक उपदेशद्वारा ही इसका प्रचार हुआ था। फिर एक बार भगवान् महादेवने दुर्वासाजीको संसारमें इस शास्त्रका प्रचार करनेकी आज्ञा दी। आज्ञा प्राप्त करके महर्षि दुर्वासाने काश्मीर-मण्डलमें उतरकर सङ्कल्पमात्रसे एक पुत्र उत्पन्न किया, जिसका नाम उन्होंने त्र्यम्बक-आदित्य रक्खा। इस पुत्रको मुनिने शैव-शास्त्रके रहस्योंका उपदेश किया। इन्हीं त्र्यम्बकादित्यके

कुलमें अथवा शिष्य-परम्परामें एक बड़े भारी विद्वान् हुए, जिनका नाम था श्रीसोमानन्द। इन्होंने शैव-शास्त्रपर एक 'शिवदृष्टि' नामक अनुपम ग्रन्थ लिखा। लगभग इसी समय काश्मीरमें एक और विद्वान् वसुगुप्त नामक थे। उनको भी स्वप्नमें भगवान्‌ने दुर्वासाकी तरह आज्ञा की। आज्ञा पाकर वे महादेव-पर्वतके पास गये, जो श्रीनगरके सामने पूर्वकी ओर है। हार्वन झीलके ऊपर महादेव-पर्वतकी उपत्यकामें वसुगुप्तको एक बड़ी शिला मिली। हाथसे दबानेपर वह शिला उखड़ गयी। उसके तलेपर कुछ लिखा था। वसुगुप्तने उस समग्र लेखको पत्रपर उतार लिया। यह एक शास्त्र था। इसी शास्त्रका नाम 'शिव-सूत्र' है। ज्यों ही वसुगुप्तने लिखना समाप्त किया, त्यों ही वह शिला पुनः पहलेकी तरह अपने स्थानपर बैठ गयी। इस शिलाका नाम 'शङ्करोपल' है। आजकल भी इसको 'शङ्कर-पल' कहते हैं। यह शिला अब भी विद्यमान है। परन्तु इसको पुनः उल्टानेका प्रयत्न किसीने नहीं किया। इस प्रकारसे इन दो ग्रन्थोंद्वारा शैवागमका प्रचार संसारमें पुनः हो गया। श्रीसोमानन्दजीके शिष्य श्रीमान् उत्पलदेवाचार्यने इस शास्त्रपर 'ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा' नामक ग्रन्थ लिखा, जो इस शास्त्रका सबसे बड़ा ग्रन्थ माना जाता है। इन्हीं आचार्यने 'सिद्धित्रयी' तथा 'शिवस्तोत्रावली' भी लिखी। 'ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा'पर आचार्य अभिनवगुप्तने एक 'विमर्शिनी' नाम्नी टीका लिखी। इसके अतिरिक्त उन्होंने और भी अनेक ग्रन्थ लिखे, जिनका उल्लेख यहाँ नहीं किया जा सकता। 'विमर्शिनी' पर भी भास्करकण्ठने टीका लिखी है। स्वयं आचार्य उत्पलदेवने भी अपनी 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' पर वृत्ति और टीका नामक दो टीकाएँ लिखीं, जो इस समय उपलब्ध नहीं हैं। इनके अतिरिक्त आचार्यने अपने गुरुकी 'शिवदृष्टि'पर भी एक टीका लिखी, परन्तु यह टीका भी अब सम्पूर्ण नहीं मिलती। शिवसूत्रोंपर क्षेमराजने 'शिवसूत्र-विमर्शिनी' नामक टीका तथा श्रीभट्टकल्लट आदिने 'स्पन्द' नामक कारिकाएँ भी लिखीं। इन ग्रन्थोंके अतिरिक्त और भी अनेक छोटे-मोटे ग्रन्थ तथा टीकाएँ अनेक विद्वानोंने लिखी हैं, जो काश्मीरके राजकीय रिसर्च-विभागद्वारा प्रकाशित की गयी हैं। यह शास्त्र प्रायः काश्मीरमें ही अधिक फैला। काश्मीरसे बाहर किसी भी प्रान्तके किसी भी विद्वान्‌द्वारा लिखी हुई कोई भी शैव-शास्त्रकी पुस्तक अभीतक मैंने नहीं देखी। केवल एक पुस्तक मैंने पढ़ी है, जिसके सिद्धान्त शैव-सिद्धान्तोंसे मिलते हैं। उसका नाम 'श्रीआत्मविलास' है। इसके रचयिता श्रीअमृतवाग्भवाचार्य हैं, जिनका जन्म अन्तर्वेदी (कान्यकुब्ज देश) में हुआ है। हाँ, अवश्य ही यह सुना जाता है दक्षिणमें बहुतसे 'शैव-ग्रन्थ' हैं।

यहाँतक तो शैव-शास्त्रकी ऐतिहासिक चर्चा हुई, अब यत्किञ्चित् विषयपर प्रकाश डाला जायगा। भारतीय दर्शनोंमें मतभेद है, इससे यह नहीं समझना चाहिये कि हमारे ऋषियोंके मत आपसमें मिलते ही नहीं। ऋषियोंने अनेक ग्रन्थ अनेक दृष्टिकोणोंसे इसलिये रचे कि जिसकी जितनी बुद्धि हो, उसको उतने ही कठिन अथवा सरल मार्गसे सिद्धान्त समझाया जा सके। नैयायिकोंका परमाणुवाद समझनेपर ही सांख्यका सत्कार्यवाद समझमें आ सकता है और सत्कार्यवादके समझमें आ जानेपर ही वेदान्तका विवर्तवाद बुद्धिगम्य हो सकता है। इसलिये यह शङ्का कभी नहीं करनी चाहिये कि अभिनवगुप्तका कहना ठीक है कि शङ्कराचार्यका! दोनोंका ही कहना ठीक है। एकने एक बात एक प्रकारसे कही है तो दूसरेने उसीको दूसरे ढंगसे कहा है। शङ्कराचार्यने कहा है कि एक परब्रह्म है और वही सब कुछ है; शैव कहते हैं कि एक परमशिव है और वही सब कुछ है। अद्वैत-सिद्धान्तमें कोई भेद नहीं, केवल नाममात्रमें भेद है। ब्रह्मका अक्षरार्थ होता है—सबसे बड़ा, और शिवका अर्थ है—कल्याण। अद्वैतशास्त्रको अधिक हृद्य बनानेके लिये ही शैवोंने प्रसिद्ध 'ब्रह्म' पदको छोड़कर 'शिव' पदका ग्रहण किया। इस प्रकार शैव-शास्त्र भी अद्वैत-वेदान्त ही है।

ऊपर यह बात कही गयी कि मूल-सिद्धान्तकी दृष्टिसे आचार्य शङ्कर और शैवोंमें कोई भेद नहीं है। अब यह दिखाया जायगा कि शङ्करके सिद्धान्तोंसे शैवोंके सिद्धान्त क्यों अधिक हृद्य हैं और शैव-शास्त्रके प्रतिपादनकी शैलीमें क्या विशेषता है, जिसके कारण यह शास्त्र अधिक मनोज्ञ बना है। विवर्तवाद जिज्ञासुओंकी जिज्ञासाको शान्त तो कर देता है, परन्तु पूर्वपक्षी सामने आकर प्रश्न करता है—'यदि जगत् मिथ्या है तो इसकी प्रतीति कैसे होती है? यदि परमात्मा निर्गुण, निर्विकार एवं इच्छादिरहित है तो वह जगत्‌का उत्पादन, पालन और विनाश क्यों करता है? यदि आप कहें कि अनादि कर्म ही जगत्‌की उत्पत्ति आदिके कारण हैं तो फिर भगवान् शङ्कराचार्यने अनादि-कल्पनाको कई स्थानोंपर 'अन्धपरम्परा' कैसे कहा

76.71

है ?' इत्यादि। परन्तु ऐसी शङ्काएँ शैव आचार्योंके सामने कोई नहीं कर सकता; क्योंकि इन समस्त शङ्काओंका समाधान शैव-शास्त्रको पढ़नेसे संसारी पुरुषको भी हो सकता है। विवर्तवाद विशेषज्ञोंका ही समाधान कर सकता है, सामान्य पुरुषोंका नहीं। शैव-सिद्धान्त इस प्रकार है—

परम स्वातन्त्र्य ही परमात्मा है। अभेदमें भेदको प्रकट करना और भेदमें भिन्नको विमर्शद्वारा पुनः अभेद अवस्थामें ले जाना ही परम स्वातन्त्र्य है। अर्थात् स्वातन्त्र्यके स्वभावसे ही स्वयं परमेश्वर शिवभाव, पशु (जीव)-भाव तथा समस्त पदार्थोंके भावको धारण करता है। शिवभावमें पशुभावको तथा पशुभावमें शिवभावको भुला डालता है। इस प्रकार शिव और पशुमें भेद तथा पशुओंमें भी परस्पर भेद प्रकट हो जाता है। फिर शिवरूपमें स्वयं छिप जाता है और पशुरूपमें अपने-आपको ढूँढ़ने लगता है। कभी-कभी किसी-किसी पशुके सामने क्षणभरके लिये प्रकट भी हो जाता है, परन्तु फिर छिप जाता है। इस प्रकार बहुत समयतक क्रीड़ा करते-करते अन्तमें पशुपर अनुग्रह करता है। इस अनुग्रहसे पशुको शीघ्र सद्गुरुकी प्राप्ति हो जाती है और उसकी कृपासे वह अपने भूले हुए स्वरूपको पुनः पहचान लेता है। अपने स्वरूपको पहचान लेनेपर उसे पुनः मोह नहीं होता। इस प्रकार परमेश्वर स्वयं छिपाये हुए अपने रूपको पुनः प्रकट कर देता है। शिवके पाँच कर्म माने जाते हैं—१-सृष्टि, २-स्थिति, ३-संहार, ४-विधान और ५-अनुग्रह। एक परमेश्वरमें अनेक (३६ तत्त्वों) को प्रकट करना और पुनः विमर्शद्वारा इन तत्त्वोंको अपनेमें लीन करना भी परमेश्वरकी स्वातन्त्र्य-शक्ति है। इसी स्वातन्त्र्यके कारण उसमें पाँच कर्म भासित होते हैं। यहाँ 'क्यों ?' के लिये स्थान ही नहीं है; क्योंकि स्वातन्त्र्यमें 'क्यों' आ ही कहाँसे सकता है ? 'क्यों' तो पारतन्त्र्यमें ही होता है। स्वातन्त्र्य ही परमानन्द है और परमानन्द ही परमेश्वर है। परन्तु यह परमेश्वरका स्वातन्त्र्य पूर्ण स्वातन्त्र्य है। जिसमें जितना अधिक स्वातन्त्र्य है, उसमें उतना ही अधिक शिव-तत्त्व भासित होता है। परन्तु परमशिवका वास्तविक स्वरूप परम स्वातन्त्र्य अर्थात् पूर्ण स्वातन्त्र्य है। इस पूर्ण स्वातन्त्र्यको ही पूर्ण नैर्मल्य भी कहते हैं। जहाँ मल है, वहाँ पारतन्त्र्य भी है। इस कारण पूर्ण स्वातन्त्र्यमें मलका लेश भी नहीं है। 'जगत् मिथ्या है, जगत् है ही नहीं।' इस प्रकारके उपदेशोंकी अपेक्षा 'जगत् सत्य' है, 'जगत् शिव' है, यह शिवका ही स्थूल आधिभौतिक रूप है,—इस प्रकारके उपदेश कितने मनोरञ्जक हैं। विवर्तवादकी अपेक्षा स्वातन्त्र्यवाद कितना हृदयग्राही है ? यह स्वातन्त्र्य ही परमेश्वरकी इस बन्ध-मोक्ष-क्रीडाका मूल कारण है। कर्मोंकी अनादिता तो बच्चोंको समझानेके लिये कही गयी है। वास्तवमें कर्म भी इसी पारमेश्वरी क्रीडाके क्षुद्र अङ्ग-प्रत्यङ्ग हैं। इसी कारण आचार्य अभिनवगुप्तपाद 'परमार्थसार' में कहते हैं—

'इति बन्धमोक्षचित्रां क्रीडां प्रतनोति परमशिवः'।

आचार्य उत्पलदेव भी कहते हैं—

त्वद्धाम्नि विश्ववन्द्येऽस्मिन्नियतिक्रीडने सति।
तव नाथ कियान् भूयान् आनन्दरससम्भवः॥

और भी—

स्फारयस्यखिलमात्मना स्फुरन्
विश्वमामृशसि रूपमामृशन्।
यत् स्वयं निजरसेन घूर्णसे
तत् समुल्लसति भावमण्डलम्॥

इस प्रकार बने हुए इस संसारमें जीवको ईश्वरानुग्रह होनेपर ही मुक्ति मिल सकती है। शेष सभी उपाय योग, भक्ति, तप आदि भी ईश्वरानुग्रह होनेपर ही होते हैं। इन उपायोंमेंसे शैव भक्तिको सर्वोच्च बतलाते हैं। भक्ति भी अद्वैत-परक मानते हैं। भक्तिद्वारा अज्ञानकी निवृत्ति होती है। अज्ञानरूपी मलकी निवृत्ति होनेपर पूर्ण निर्मल चित्स्वरूप अपने पूर्ण नैर्मल्यरूपमें स्वयमेव भासता है। इस पूर्ण नैर्मल्य और पूर्ण स्वातन्त्र्यको ही मुक्ति कहते हैं। इसकी वस्तुतः प्राप्ति नहीं होती। यह तो आत्माका अपना स्वभाव है। आत्मा स्वभावसे ही पूर्ण स्वतन्त्र, अतएव मुक्त है। भक्तिद्वारा इस स्वातन्त्र्यके प्रतिबन्धरूप अज्ञानकी निवृत्ति हो जाती है। इसीको मुक्ति कहते हैं। इसीको हम ढूँढ़ते हैं—हम क्या ढूँढ़ते हैं, वह शिव ही हमसे ढुँढ़वाता है। या यों कहिये कि शिव स्वयमेव हमारे रूपमें आकर अपने शिवरूपको ढूँढ़ता है। यही सारे शास्त्रोंका सार है।

यह प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र बड़ा विस्तृत है। इस छोटे-से लेखमें उसका सामान्य परिचय मात्र दिया गया। विशेष परिचयके लिये इसके एक-एक अङ्गपर एक-एक लेख लिखना होगा। हमारा विचार है कि कभी-कभी इन विषयोंपर लेख-द्वारा यथाशक्ति प्रकाश डालते रहें।

अब ऊपर कही हुई बातोंपर शङ्का-समाधानद्वारा थोड़ा और प्रकाश डाला जाता है।

प्र०—स्वातन्त्र्य तो लोकमें पारतन्त्र्यकी अपेक्षासे ही होता है। जैसे अंगरेज स्वतन्त्र हैं तो हम परतन्त्र हैं। इसी प्रकार परमेश्वर स्वतन्त्र है तो शेष सारे पदार्थ परतन्त्र हैं। इस कारण स्वतन्त्र और परतन्त्र दो तत्त्व माननेवाले इस शास्त्रको हम 'अद्वैत' कैसे कह सकते हैं ?

उ०—यही तो बड़ी भारी भूल है। लौकिक स्वातन्त्र्य अपूर्ण होनेके कारण आपेक्षिक होता है; परन्तु परमेश्वरका स्वातन्त्र्य पूर्ण स्वातन्त्र्य है, इसलिये वहाँ आपेक्षिकताका स्पर्श भी नहीं है। रही द्वैतकी बात, सो इसका उत्तर तो पहले ही आ चुका है; क्योंकि अद्वैतभाव रहते हुए अपने अद्वैत-स्वरूपमें ही द्वैतको भासित करना और पुनः इस द्वैतको अद्वैतमें लीन करना और ऐसा करते हुए भी सदा अपने अद्वैत स्वरूपमें ही वर्तमान रहना—यही तो पूर्ण स्वातन्त्र्य है। इस कारण यहाँ स्वातन्त्र्यवादमें तो द्वैतमतका लेशमात्र भी स्पर्श नहीं हो सकता।

प्र०—परमेश्वरमें रहनेवाली चैतन्य-शक्ति (स्वातन्त्र्य-शक्ति) को ही तो तुम जगत्का कारण मानते हो। इस प्रकार तुम्हारे मतमें शिव और शक्ति—ये दो तत्त्व माने जाते हैं। फिर इस शास्त्रको द्वैत ही क्यों न कहा जाय ?

उ०—आपको एक दृष्टान्तद्वारा हम समझाते हैं। अग्निमें जलानेकी शक्ति है, इसलिये क्या अग्नि और दाहिका शक्ति—ये दो भिन्न पदार्थ हैं ? नहीं, दाह-शक्तिको ही अग्नि कहते हैं। जो अग्नि है, वही दाह-शक्ति है; और जो दाह-शक्ति है, वही अग्नि है। इसी प्रकार शिव ही शक्ति है और शक्ति ही शिव है। केवल समझानेके लिये दो शब्दोंका प्रयोग आचार्योंने किया है।

प्र०—तब हम यह पूछते हैं कि उन्होंने ऐसे शब्दोंका प्रयोग ही क्यों किया, जिनसे द्वैतकी शङ्का होती है ? उन्होंने अद्वैतप्रतिपादक शब्दोंका ही प्रयोग क्यों नहीं किया ?

उ०—शब्द-प्रयोग तो विविध प्रकारसे बच्चोंको समझानेके लिये ही आचार्योंने किया है। द्वैतका प्रतिपादन करनेके लिये नहीं। सूक्ष्म दृष्टिसे देखा जाय तो अद्वैतप्रतिपादक शब्द भी परमेश्वरको बता नहीं सकते; क्योंकि वह स्वानुभववेद्य है, शब्दोंका विषय ही नहीं है। जैसे काव्यका रस शब्दवाच्य नहीं हो सकता, उसी प्रकार परमेश्वर भी शब्दवाच्य नहीं है। शब्द-प्रयोग तो केवल उपलक्षणमात्र है। उपनिषदोंमें स्पष्ट कहा है—'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।' आचार्य उत्पलदेव भी कहते हैं—'त्वयि न स्तुतिशक्तिरस्ति कस्याप्ययवास्त्येव यतोऽतिसुन्दरोऽसि।' अर्थात् 'तुम स्वानुभवमात्र वेद्य हो, वाणीके विषय नहीं हो; इस कारण कोई भी तुम्हारी स्तुति करनेमें समर्थ नहीं, क्योंकि स्तुति वाणीसे ही की जाती है। यदि कहो कि फिर मैं तुम्हारी स्तुति कैसे कर रहा हूँ तो इसका उत्तर मैं यह देता हूँ कि तुम अतीव सुन्दर हो, इस कारण तुम्हारी स्तुति करनेकी शक्ति हमारे अंदर अवश्य है। भाव यह है कि अनुभूयमान परमेश्वर तो चिदानन्दघन होता है। यही उसका अत्यन्त सौन्दर्य है। ऐसे परम सुन्दर परमेश्वरकी स्तुति करनेकी शक्ति यद्यपि हमारे अंदर नहीं है, तथापि हम ऐसे सौन्दर्यवान्की स्तुति किये बिना रह भी कैसे सकते हैं ? इस कारण हम स्तुति अवश्य करेंगे।' भला, ऐसी भावनामें कहीं द्वैतका स्पर्श भी हो सकता है।

प्र०—सांख्यशास्त्रवाले भी इसी प्रकार प्रकृतिसे विश्वकी उत्पत्ति और पुनः प्रकृतिमें विश्वका लय मानते हैं। इस कारण हमें आपके स्वातन्त्र्यवादमें और उनके परिणामवादमें कोई भेद नहीं प्रतीत होता। यदि परमेश्वर परिणामी है तो वह शुद्ध, बुद्ध, निर्मल, नित्य मुक्त कैसे हो सकता है ?

उ०—सांख्योंके परिणामवादमें और शैवोंके स्वातन्त्र्यवादमें तो बड़ा भारी अन्तर है। विरूप परिणामका उदाहरण है—दूधका दहीके रूपमें बदल जाना। यहाँ दहीको हम कभी दूध नहीं कह सकते। परन्तु शैवलोग एक तृणको भी कह सकते हैं—'नमो मह्यं शिवाय' (तृणरूप मुझ शिवको नमस्कार है)। यहाँ तृण, मैं और शिव—तीनों एक हैं। यही तो भगवान्का स्वातन्त्र्य है कि वे भिन्न रूपोंमें होते हुए भी अभिन्न हैं। स्वरूप परिणामका उदाहरण है—स्वर्णपिण्डसे कुण्डल आदिका बनना। यहाँ हम कुण्डलको स्वर्ण तो कह सकते हैं; परन्तु वह स्वर्ण, जिसके एक अंशसे कुण्डल बना, अब पूर्ण पिण्ड नहीं रहा। परमेश्वर तो अपनी स्वातन्त्र्य-शक्तिकी महिमासे अपनेमें जगत्को उत्पन्न करता हुआ भी स्वयं पूर्ण रहता है। वह पूर्ण भावमें तो पूर्ण है, अपूर्ण भावमें भी वस्तुतः पूर्ण ही है। वह बद्धभावमें भी मुक्त है और जीवभावमें भी वस्तुतः परमेश्वर ही है। यह सब उसके स्वातन्त्र्यकी महिमा है। वेदमन्त्र भी स्पष्ट कहते हैं—'पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।' भगवान् उत्पलदेवने क्या ही सुन्दर कहा है—

नमः सततबद्धाय नित्यनिर्मुक्तिभागिने।
बन्धमोक्षविहीनाय कस्मैचिदपि शम्भवे॥

अर्थात् 'मैं उस किसी अनिर्वचनीय शम्भुको नमस्कार करता हूँ, जो सदा ही बद्ध है तथा सदा ही मुक्त है और बन्ध-मोक्ष दोनोंसे रहित है।' यही तो परमेश्वरका पूर्ण स्वातन्त्र्य है। ऐसे स्वातन्त्र्यका थोड़ा-सा भी विचार करनेपर समस्त द्वैत-शङ्काएँ नष्ट हो जाती हैं, समस्त तर्क मूक हो जाते हैं और समस्त सांसारिक मानस-क्लेश भी शान्त हो जाते हैं।

ऐसे पिय जान न दीजै हो !

(लेखक—पं० श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

I heard a knock—a hard blow
On my door and cried I "Who is it ? Ho !"
I wondering waited, entranced, and lo !
How soft and sweet Love whispered low,
"Tis Thou that knockest,
do you not know ?"
—'In woods of God-Realization.'

हमारे देशकी विवाह-प्रथा संसारके सभी देशोंसे विभिन्न तथा पवित्र है। यहाँ विवाहका सम्बन्ध कुछ दिनों अथवा कुछ वर्षोंके शारीरिक उपभोगके लिये नहीं किया जाता—वह किया जाता है जीवनभरके लिये और कभी-कभी तो जन्म-जन्मान्तरोंके लिये। इसका उद्देश्य इतना महान् और पवित्र है कि संसारके इतिहासमें और कहीं भी इसकी तुलनाका कोई उदाहरण नहीं मिलता। इसमें शारीरिक वासनाओंको कुछ महत्त्व नहीं दिया गया हो—ऐसा तो नहीं है; पर उनको जो स्थान दिया गया है, वह है संयम और आदर्शके बन्धनमें ही रखकर। केवल शारीरिक तृप्तिके लिये ही इसकी रचना नहीं हुई। इसका एकमात्र उद्देश्य यह है कि दोनों—पति-पत्नी—मिलकर उन्नतिके पथकी ओर अग्रसर हों और दोनोंकी आत्माएँ इस प्रकार एक हो जायँ जिस प्रकार जलमें जल मिलकर एक हो जाता है। सागरमें गिरते समय नदियोंका जल और तरहका रहता है; पर जिस समय वह सागरमें मिल जाता है, उस समय किसीमें सामर्थ्य नहीं जो भेद करके उसे विलग कर सके। पत्नी भी पतिके अस्तित्वमें अपने अस्तित्वको इसी प्रकार एकाकार कर देती है कि दोनोंको चेष्टा करनेपर भी अलग-अलग नहीं किया जा सकता। रामके साथ सीता, कृष्णके साथ राधा, शिवके साथ पार्वतीका नाम जिस प्रकार एकाकार हो गया है, उस प्रकारके उदाहरण जगत्में और कहाँपर ढूँढ़े मिलते हैं? प्रेमकी सार्थकता इसीमें है कि प्रेमी और प्रेमास्पद, आशिक और माशूक, पति और पत्नी—दोनों इस प्रकार घुल-मिलकर एक हो जायँ, जिससे उनका पृथक् कोई अस्तित्व ही न रहे। यह एकाकार हो जाना ही प्रेमकी सर्वश्रेष्ठ भूमिका है। इसीको सच्चा प्रेम कहा जाता है। यदि यह प्रेम किसी मानव प्राणीके प्रति होता है तो इसे 'इश्के मजाज़ी' कहा जाता है और यदि यह ईश्वरके प्रति होता है तो 'इश्के हक़ीक़ी।' यह मजाज़ी हो या हक़ीक़ी—दोनों ही रूपोंमें सुन्दर होता है। इश्के हक़ीक़ी यदि हो जाय तब तो कहना ही क्या, पर यदि किसीको इश्के मजाज़ी भी हासिल हो जाय तो बुरा नहीं कहा जा सकता। अरे, हो भी तो! कैसा भी सही—

किसीकी तो ज़ाहिदको होती मुहब्बत,
खुदाकी न होती, बुतोंकी तो होती !

पहले नकली ही सही, फिर होते-होते असली भी हो जायगा। चाँदमारी सीखनेके लिये पहले नकली ही निशाना बनाया जाता है। होते-होते, उसीपर निशाना लगाते-लगाते हाथ इतना सध जाता है कि फिर असली निशाना भी नहीं चूकता। इसीलिये तो नूह साहबने फरमाया है कि—

इश्के हक़ीक़ीके लिये इश्के मजाज़ी है जरूर,
बे वसीला कहीं बंदेको खुदा मिलता है।
'नूह' काबेमें नज़र आया न बुत भी कोई,
लोग कहते थे कि काबेमें खुदा मिलता है॥

परन्तु एक बात है कि—

हर तलबगारको मेहनतका सिला मिलता है।

तभी तो—

बुत हैं क्या चीज़ कि ढूँढ़ेसे खुदा मिलता है॥

कमी है तो सिर्फ ढूँढ़नेवालेकी। प्राणोंकी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर ढूँढ़नेकी आवश्यकता है। तभी और केवल तभी ही सफलताका मुख देखना नसीब होगा।

किसी भी सुन्दर वस्तुको, किसी भी सुन्दर दृश्यको, किसी भी सुन्दर चित्र अथवा मूर्तिको देखकर हम फड़क उठते हैं। मुँहसे बरबस ही निकल जाता है कि—

यह नूरका जलवा है, हर बार नहीं होता;
हर बार हसीनोंका दीदार नहीं होता !

और इसीलिये हम सब कुछ भूलकर उसकी ओर आकर्षित हो जाते हैं। पर—क्या कभी हम क्षणभरके लिये भी इस बातपर विचार करने बैठते हैं कि वास्तवमें यह सुन्दरता आती कहाँसे है? इसका असली उद्गम कहाँ है? जिस वस्तुकी एक ज़रा-सी ही झलक हमें इतना मुग्ध कर देती है कि हम

अपना सब कुछ भूल जाते हैं—काश, कहीं उसकी पूरी झाँकी करनेको मिल जाय तो कितना उत्तम हो ! जिस अनन्त रूप-राशिके गिरे-पड़े दानोंका यह हाल है, वह स्वयं कितना रूपवान् होगा—इसकी कल्पनातक नहीं की जा सकती !

जब ऐसा है तो हम ओस-कणोंसे—इन छोटे-छोटे दृश्योंसे अपना मनोरञ्जन करनेका व्यर्थ प्रयास करें ही क्यों ? क्यों न हम उस अनन्त रूप-सरोवरको पानेकी चेष्टा करें, जिसमेंसे यह रूपराशि उत्पन्न हुई है ?

प्रश्न होता है कि वह रूपराशि है कहाँ ? हमारे वे श्यामसुन्दर ही अनन्त रूपराशिके असीम-अथाह समुद्र हैं, वे अलबेले प्रियतम ही एकमात्र रूपकी सीमा हैं । उन्हींकी अनुपम रूप-माधुरीका यत्र-तत्र—जलसे भरी हुई नदियोंमें, हिमसे आच्छादित पर्वतोंमें, रंग-बिरंगे पुष्पोंमें, भाँति-भाँतिके वृक्षोंमें, लताओं और कुञ्जोंमें, पशु और पक्षियोंमें, भोले-भाले नादान बालक-बालिकाओंमें, स्त्री और पुरुषोंमें, जगत्के कण-कणमें—हम किञ्चित् आभास पाकर ही अपनेको कृतार्थ समझने लगते हैं । भाई ! ज़रा सोचो तो कि तुम्हें कहीं यह अनुपम रूपराशि ही प्राप्त हो जाय तो फिर तुम्हारे आनन्दका क्या ठिकाना रहे ! किन्तु, क्या ऐसा सम्भव है ?

है क्यों नहीं ! जगत्में असम्भव है ही क्या ? पर, उसके साथ ही एक बातकी परम आवश्यकता है और वह है—जी तोड़कर, सच्ची लगनसे प्रयास करना । हताश होकर बैठ रहनेसे इधर कुछ भी नहीं होनेका ।

हमारे नेत्रोंके सम्मुख, जगत्के कण-कणमें यह अनुपम रूपराशि बिखरी पड़ी है; परन्तु हम इसकी ओर आँख उठाकर नहीं ताकते ! हमें तो इसे ढूँढ़नेके लिये कहीं जानेकी भी आवश्यकता नहीं । रूपका अनन्त सागर हमारे सामने, हमारे चर्मचक्षुओंके समक्ष ही हिलोरें ले रहा है; पर—हम उसकी ओर ताकनेका नामतक नहीं लेते । ताकते हैं किसी दूसरी ओर ! रूपके नामपर जहाँ वासनाका अट्टहास है, कामकी किलोल है, पतनका गर्त है, उसी ओर हम अपने पैर तेजीसे बढ़ाये चले जा रहे हैं । अज्ञानने हमारे नेत्रोंपर वह पर्दा डाल दिया है कि हम रूपके उस बीभत्स रूपको सबसे सुन्दर समझते हैं—जिसमें इन्द्रिय-लोलुपता, विषयवासना और काम-क्रीड़ाका साम्राज्य है ? काँचके टुकड़ोंको हम रत्न समझकर आँख मूँदे हुए ग्रहण कर रहे हैं ! हमारी समझमें ही नहीं आता कि वास्तवमें यह आनन्दकी ओर ले जानेवाली वस्तु नहीं है, यह है दुःखका विकराल द्वार खोल देनेवाली वस्तु । हमें इससे बचना चाहिये; पर बचनेकी बात ही क्या, हम जी-जानसे उसमें और भी अच्छी तरह डूबनेमें ही अपना कल्याण समझते हैं । कितनी भयावह स्थिति है यह ! क्या हमारा कर्तव्य नहीं है कि समय रहते चेतकर ऐसी संकटमय अवस्थासे हम अपना उद्धार करें ?

ऐसा सुन्दर, ऐसा अलबेला प्रियतम हमारी बाट जोह रहा है, हमसे प्रेम करनेको लालायित है, हमें अपने पावन परिणय-पाशमें आबद्ध करनेको व्याकुल है, हमें अपना प्रेमी बनानेके लिये सचेष्ट है और हम ? हम उसके व्यापारोंपर, उसकी क्रियाओंपर लेशमात्र भी ध्यान नहीं देते । ऐसा अनोखा पिया हमें अपनी छातीसे लगानेको प्रस्तुत है, पर—हमारे ऊपर अज्ञानका इतना भारी घूँघट पड़ा हुआ है कि हम उससे आँखेंतक मिलानेमें समर्थ नहीं । वह हमसे एकाकार होनेके लिये, हमें अपनेमें मिलानेके लिये मुक्तकण्ठसे आह्वान कर रहा है; पर—हमारे कानोंमें तो माया और मोहकी रूई गुँजी पड़ी है । उसकी आवाज हमारे कर्णपुटोंतक पहुँच ही नहीं पाती ।

ऐसे प्रेमास्पदको अपने हाथसे चले जाने देना, उसे विमुख लौटा देना, उससे प्रेम करनेके लिये अग्रसर न होना ही हमारी सबसे बड़ी भूल है । इससे बढ़कर दूसरी कोई भूल हो ही नहीं सकती ! हम सच्ची चेष्टा, सच्ची लगन और श्रद्धासे यदि ऐसे अलबेले यारकी ओर नहीं बढ़ते तो इससे बढ़कर संसारमें और कोई मूर्खता होगी ही क्या । जहाँ हम सच्चे प्रेमसे उसकी ओर बढ़े कि उसके मधुर सम्मिलनके सौभाग्यको पानेमें हमें देर न लगेगी और हम उससे एकाकार हुए बिना न रह सकेंगे । फिर तो हमारा रोम-रोम पुकार उठेगा—

"'जो 'तू' है वही 'मैं' हूँ; ऐ मेरे दिले शैदा !"

प्राचीन इतिहासमें गौओंका स्थान

(लेखक—श्रीधर्मलालसिंहजी)

हिंदू गौको बहुत ही पूज्य मानते हैं । इसकी तहमें बड़ा गहरा कारण है । चारों वेदोंमें एक स्वरसे गौओंका गुणानुवाद है । सबसे प्राचीन ऋग्वेद कहता है—'गोमें मात ऋषभः पिता दिवम् शर्म जगती मे प्रतिष्ठा ।' वेदोंमें वर्णित गो-सम्बन्धी मन्त्रोंको उद्धृत करके विचार किया जाय तो बृहत् ग्रन्थ तैयार हो जायगा । यही दृष्टिकोण स्मृति एवं पुराण-ग्रन्थोंका है । सबमें गो-प्रशंसक वाक्योंका भण्डार भरा पड़ा है ।

सायणाचार्यने ऋग्वेदकी व्याख्या की है । अपने भाष्यमें वे लिखते हैं कि 'सृष्टिके आदिमें मनुष्य और गाय दोनों आये । दोनों चुप थे । पहले गाय मुँह खोलकर बोली । उसीके सहारे मनुष्यने मुँह खोला और वह बोला; अतः गायसे मनुष्यको बोली मिली ।'

इसीसे मिलता-जुलता उद्धरण आदम और ईवके जीवनके सम्बन्धमें मिलता है । दोनों स्वर्गसे निकाले गये । भगवान्ने उनको एक मुट्ठी गेहूँ और एक जोड़ी बैल दिये ।

हिंदुओंका विश्वास है कि गोलोक सभी लोकोंके ऊपर सबसे पवित्र और सर्वोत्तम है ।

गौकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें तीन प्रकारके प्रसङ्ग आते हैं । ब्रह्मदेव एक मुँहसे अमृत पान कर रहे थे । दूसरे मुँहसे फेन निकला, जिससे सुरभिकी उत्पत्ति हुई । दूसरे स्थलपर कहा है कि हमलोगोंके आदि पिता दक्षप्रजापति हैं । उनके साठ लड़कियाँ थीं । उनमें सबसे प्यारी सुरभि थी । आगे चलकर बतलाया गया है कि संसारके कल्याणार्थ देव, दनुज दोनोंने मिलकर समुद्र-मन्थन किया । उससे चौदह रत्न निकले, उन रत्नोंमें एक सुरभि है । सुरभिसे सुनहरे रंगकी कपिला उत्पन्न हुई, उसके थनके दूधसे क्षीर-समुद्र बना । कपिलाके बच्चे कैलासपर चरते तथा धूम मचाते थे । नीचे भगवान् महादेव ध्यानमग्न थे । उन बच्चोंके मुँहका ठंडा फेन लगनेसे महादेवजीका ध्यान भङ्ग हो गया । हरने अपने तीसरे नेत्रसे उनको देखा । उसी घड़ीसे गौका रंग, जो पहले सुनहरा था, नाना प्रकारका हो गया ।

'गोत्र' शब्द 'गो' से बना है । पीछे चलकर हिंदुओंके विभिन्न वंशोंके परिचयके लिये इसका सार्वत्रिक व्यवहार होने लगा है । ऋषिगण झुंड-की-झुंड गौएँ रखते थे, यही इस 'शब्द' के व्यवहारका मूल है । उस समय लड़कियोंका प्रधान कार्य गोसेवा था । इसीलिये वे दुहिता कहलाती थीं । पच्छिममें अब भी गौओंकी परिचर्याका कार्य विशेषकर स्त्रियोंके ही सुपुर्द है ।

कहते हैं कि एक दिन भगवान् शङ्कर ब्रह्मदेवके घर गये । पितामहने उनका बड़ा आदर-सत्कार किया । प्रसन्न होकर स्रष्टाने उन्हें बहुत-सी गौएँ दीं । उनके आगे स्वर्गकी सम्पदा तुच्छ थी । उन्हें पाकर शङ्कर बड़े प्रसन्न हुए, तभीसे उनका नाम 'पशुपति' पड़ा । 'पशुपति' इस समय भी नैपालके प्रधान आराध्यदेव हैं । महादेवने अन्य शीघ्रगामी सवारियोंको त्याग कर अपनी सवारीके लिये नन्दी नामक बैलका वरण किया ।

शोणितपुर (वर्तमान नैपाल) के राजा बाणासुर शङ्करजीके बड़े भक्त थे । एक बार महादेवजीने प्रसन्न होकर उन्हें अपने गोकुलमेंसे विशिष्ट जातिकी एक दर्जन ऐसी गायें दीं, जिनके आगे संसारकी सम्पदा तुच्छ मालूम पड़ती थी । उन गायोंको पाकर बाण अत्यन्त प्रतापी और शक्तिशाली हुए । बाणासुरकी लावण्यवती पुत्री ऊषाका भगवान् श्रीकृष्णके पौत्र अनिरुद्धके साथ गुप्त प्रेम हो गया । भेद खुलनेपर बाणने अनिरुद्धको कैद कर लिया । नारदजीसे यह संवाद पाकर भगवान् श्रीकृष्ण अपनी विशाल विजयी सेनाके साथ शोणितपुर चढ़ आये । समाचार पाकर बाणने अपने मन्त्रियोंको एकत्रित करके मन्त्रणा की । राज्यका चला जाना वे सहन कर सकते थे, परन्तु उन गायोंका चला जाना उनको बरदाश्त नहीं था । सबकी रायसे गायें कुबेरके यहाँ थातीरूपमें इस शर्त-पर रख दी गयीं कि वे बाणके सिवा किसीको गायें नहीं देंगे । बाण लड़ाईमें हार गये । सन्धि हुई । दान-दहेज लेकर श्रीकृष्ण द्वारकाके लिये प्रस्थित हुए । किसीने कानमें धीरेसे कहा—'भगवन् ! आपको असली चीज हाथ नहीं लगी । संसारकी सम्पदाको लजानेवाली इनकी बारह गायें कुबेरके यहाँ छिपाकर रक्खी गयी हैं ।' श्रीकृष्ण ठिठक गये । कुबेरको गाय वापस करनेके लिये कहलाया गया । उन्होंने नाहीं कर दी । फिर लड़ाईके बाजे बजे । युद्धकी तैयारी हुई । देवता

डर गये । शान्ति-दूत दौड़े । बड़ी कठिनतासे उन्होंने श्रीकृष्णको समझा-बुझाकर घर भेजा ।

जब-जब पृथ्वीपर घोर अन्याय एवं पाप होने लगता है, तब-तब वह गौका रूप धारण कर ब्रह्मदेवकी शरणमें जाया करती है और पितामह उसका दुःख दूर किया करते हैं । इसीसे मिलता-जुलता आख्यान पारसी जातिके इतिहासमें भी पाया जाता है ।

द्वापरके अन्तमें कलिने वृषरूप धर्मके तीन पैर काट लिये । जब चौथा काटने लगा, तब वह भागा और महाराज परीक्षित्ने उसकी रक्षा की ।

राक्षसराज रावण नियमितरूपसे रोज गौओंकी प्रदक्षिणा किया करता था ।

इक्ष्वाकुके पौत्रने बैलके ककुद् (डील) पर चढ़कर युद्ध किया इसलिये रामजीके बंशका नाम 'काकुत्स्थ' पड़ा । वे विजयी हुए ।

गीतामें श्रीकृष्ण भगवान्ने कहा है कि 'गौओंमें कामधेनु मैं हूँ ।'

महाराज दिलीपने एक दिन मार्गमें जाती हुई नन्दिनीको देखकर प्रणाम नहीं किया । उसके शापसे महाराज अपुत्र हो गये । महाराज अपने गुरु वसिष्ठके आश्रमपर गये । अपुत्र होनेका अपना सारा हाल गुरुजीको कह सुनाया और शापसे मुक्ति पानेके लिये मार्ग-प्रदर्शनके हेतु बड़ी विनती की । गुरुने उन्हें नन्दिनी दे दी और उसकी सब तरहसे पूजा करनेके लिये कहा तथा सेवा-शुश्रूषामें किसी प्रकारकी त्रुटि न होने पावे—इस बातकी पूरी सतर्कता रखनेका उपदेश दिया । गुरुके आदेशानुसार राजा-रानी प्रेमपूर्वक उस दिव्य गायकी परिचर्या करने लगे । राजा गायको वनमें चरानेके लिये ले गये । वे नन्दिनीके चलनेपर चलते थे, बैठनेपर बैठते थे, उसके पानी पीनेपर पानी पीते थे । एक दिन राजा वनके दृश्य देखनेमें लग गये । इतनेमें नन्दिनी जोरसे चिल्लायी । एक सिंह नन्दिनीको दबोचे जा रहा था । राजा नन्दिनीकी प्राण-रक्षाके लिये धनुष उठाकर सिंहसे लड़नेके लिये तैयार हो गये । परन्तु सिंहसे जब किसी प्रकार भी राजा गौकी रक्षा नहीं कर सके, तब अन्तमें राजाने अपना शरीर सिंहको समर्पण कर दिया और मांस-पिंडवत् इस प्रतीक्षामें पड़े रहे कि सिंह अब खायगा तब खायगा । बहुत देरके पश्चात् मस्तक उठाकर देखा तो सिंह नहीं दिखायी दिया, केवल नन्दिनी खड़ी-खड़ी हँस रही थी । राजाकी इस अनुपम सेवासे नन्दिनी प्रसन्न हुई । राजाको पुत्र हुआ ।

प्रसिद्ध देशभक्त महादेव गोविन्द रानाडेके सम्बन्धमें भी इसी प्रकारकी कथा प्रचलित है । उनके माता-पिताके कोई पुत्र नहीं था । वे वृद्ध हो चले थे, बड़े दुखी रहते थे । एक दिनकी बात है, उनके दरवाजेपर एक दिव्य साधु आये । दम्पतिने उनकी बड़ी सेवा की । आदर-सत्कार, सेवा-शुश्रूषासे साधु बड़े प्रसन्न हुए । जिज्ञासा करनेपर ज्ञात हुआ कि दम्पति पुत्र-रत्नके बिना चिन्तित रहा करते हैं । साधुने प्रयोग बतलाया—'दूध देनेवाली सवत्सा काली गाय रखो । उसको साबित पूर्ण गेहूँ खिलाओ, जो गोबरके साथ निकल आयेगा । उन्हीं दानोंको धो-धाकर साफ-सुथरा करके उसीका आटा तैयार करो । ब्रह्मचर्यपूर्वक रहकर उसीकी रोटी खाओ । छः मासतक ऐसा करो ।' दम्पतिने वैसा ही किया । अन्तमें उनको पुत्र-रत्न हुआ । काली गायसे पुत्र प्राप्त होनेकी बात भारतवर्षके प्रत्येक गृहस्थको ज्ञात है ।

हिंदुओंका विश्वास है कि गायके शरीरमें सभी देवता वास करते हैं, इस प्रसङ्गमें एक कथा है कि अन्य सब देवताओंके गो-देहमें प्रवेश कर जानेके बाद अन्तमें लक्ष्मी आयीं । गायने उनको अपने गोबर और मूत्रमें रहनेका स्थान दिया । कहना न होगा कि गोबर और गो-मूत्रके बराबर खाद संसारमें दूसरी नहीं है ।

महर्षि वसिष्ठकी नन्दिनीकी महत्ता सभीको मालूम है । एक दिन महाराज विश्वामित्र अपनी विशाल सेनाके साथ उन्हींके तपोवनके रास्तेसे जा रहे थे । ऋषिने उनको रोककर उनकी मेहमानदारी की । नन्दिनीकी कृपा तथा दूधसे सारी सेनाने सन्तुष्ट होकर भोजन किया । गायकी महिमा और चमत्कार देखकर विश्वामित्र अचम्भेमें पड़ गये । उन्होंने नन्दिनीको ऋषिसे अपने लिये माँगा । ऋषिने देनेसे इनकार किया । राजा इसपर नाराज हो गये और उन्होंने बलपूर्वक गायको ले जाना चाहा । दोनोंमें लड़ाई छिड़ गयी । नन्दिनीकी कृपासे राजाको ऋषिने परास्त कर दिया ।

एक बार अपनी विशाल सेनाके साथ कार्तवीर्य अर्जुन तपोवनमें जमदग्नि ऋषिके अतिथि बने । ऋषिने कामधेनुकी दया और दूधसे सेनासहित राजाकी भलीभाँति मेहमानदारी की । राजा गायपर लट्टू हो गये । उन्होंने ऋषिसे गाय माँगी । ऋषिने देनेसे इनकार किया । राजाने अपने

आदमियोंको बलपूर्वक गाय ले चलनेके लिये कहा। वे ले चले। ऋषिने उन्हें रोका। राजाज्ञासे ऋषिका मस्तक काट लिया गया। ऋषि-पत्नी रेणुका जोर-जोरसे चिल्लाने लगी। जमदग्निके ख्यातनामा पुत्र परशुराम निकटके पर्वतपर तपस्या कर रहे थे। उन्होंने जब माताका रोना सुना, तब उनका आसन डोल गया। वे शीघ्र घर लौटे। पिताकी दशा देखकर अत्यन्त कुपित हुए। उन्होंने क्षत्रियोंके साथ भयंकर लड़ाई लगातार कई वर्षोंतक लड़ी। इक्कीस बार पृथ्वीको क्षत्रियोंसे शून्य कर दिया।

पृथ्वीका कक्ष बारह भागोंमें बँटा है। हर एक भाग एक-एक राशि है। दूसरी राशिका नाम वृष है।

जहाँसे गङ्गाकी धारा निकलती है, उसका नाम गङ्गोत्री है, क्योंकि उसका मुँह गोमुखके समान है।

धनकी देवी लक्ष्मी पहले-पहल पृथ्वीपर गायके रूपमें आयीं, उन्होंने जो गोबर त्यागा, उससे बिल्व-वृक्षकी उत्पत्ति हुई।

मुनि कपिलदेवके शापसे जले हुए अपने साठ हजार पुरुषाओंकी राखका पता जब रघु नहीं लगा सके, तब वे गुरु वसिष्ठके पास गये। गुरुने दया करके उनकी आँखोंमें नन्दिनीका मूत्र आँज दिया। रघुकी दिव्य दृष्टि हो गयी, जिससे वे पुरुषाओंकी राखका पता लगानेमें समर्थ हुए।

गङ्गाजीको पहले-पहल जब संसारमें आनेके लिये कहा गया, तब वे बहुत आनाकानी करने लगीं। उन्होंने बतलाया कि 'पृथ्वीपर पापीलोग मुझमें स्नानादि करके मुझे अपवित्र कर दिया करेंगे, इसलिये मैं न जाऊँगी।' पितामहने कहा कि 'लोग तुम्हें कितना भी अपवित्र करें गायके पैर लगनेसे तुम पवित्र होती रहोगी।'

महर्षि दत्तात्रेय अपनी गाय, कुत्ते और हिरनके साथ बराबर घूमा करते हैं।

याज्ञवल्क्यको पुरोहित बनाकर महाराज जनकने एक हजार गायोंका दान किया था, जिनके आगे स्वर्गकी सम्पदा भी तुच्छ थी।

भगवान् गणेशके जन्मके सम्बन्धमें मनोहर सची आख्यायिका है। गणेशजी ज्यों ही उत्पन्न हुए, भूलसे महादेवजीने उनका मस्तक काट दिया, जो किसी अदृश्य स्थानमें चला गया। पार्वती बहुत रोयीं-धोयीं, देव-वैद्य अश्विनीकुमार बुलाये गये। पार्वतीसे मुँहमाँगा वरदान मिलेगा—इस शर्तपर उन्होंने बालकका मस्तक जोड़ दिया। वरदानमें उन्होंने स्वयं महादेवको ही माँगा। बड़ी जटिल समस्या उपस्थित हुई। देवताओंके साथ विष्णुने पंचायत की। महादेवका दाम एक गाय रखा गया और वही देकर पार्वतीने छुटकारा पाया। अश्विनीकुमार बड़े प्रसन्न हुए।

योगिराज भगवान् श्रीकृष्णके विषयमें भी विचित्र-विचित्र आख्यान कहे-सुने जाते हैं, जो उनके 'गोपाल' नामको चरितार्थ करते हैं। लड़कपनमें बछड़े चराना, कुछ बड़े हो जानेपर गायें चराना, गायपर आघात करनेवाले आततायीको मार डालना, ब्रह्मदेवका मान-मर्दन करना, गोवर्द्धन धारण कर गोरक्षा करना, रासलीलाके समय अत्यन्त श्रान्त होनेपर अपने बायें अङ्गसे गायको उत्पन्न करना—जिससे दुग्ध-कुण्ड तैयार हुआ और गोप-गोपिकाओंने उस दुग्धको पान कर अपनी क्लान्ति दूर की—इत्यादि अनेक कथाएँ सविस्तर रूपसे हमारे पुराणोंमें वर्णित हैं। नटवरका सारा ज्ञान-कोष गो-चारणसे ही प्राप्त हुआ था, जिससे आगे चलकर संसारका उद्धार करनेवाली गीताका ज्ञान निकला।

गुरु नानक बचपनमें गायें चराते थे। एक दिन जेठकी दुपहरीमें गायोंको बटोरकर वे एक घने वृक्षके नीचे सो गये। उधरसे निकलनेवाले बटोहीने देखा कि एक विषधर सर्प फन किये नानकके मस्तकके पास खड़ा है। उन लोगोंने ढेला मारकर नानकको जगाया। उनके उठते ही साँप जंगलकी तरफ नौ-दो-ग्यारह हो गया। कहते हैं कि उसी समयसे नानक ध्यानमग्न रहने लगे। आगे चलकर वे शक्तिशाली सिख-संप्रदायके संस्थापक बने।

भगवान् बुद्धके जीवन-चरित्रमें भी एक इसी प्रकारकी मनोहर घटना घटी थी। उन्होंने उनचास दिनतक उपवास किया; फिर भी उनको ज्ञान एवं मुक्ति नहीं मिली, जिसकी खोजमें वे राज-पाट त्याग कर भटक रहे थे। गयाके पास बोधि वृक्षके नीचे वे उदास बैठे थे। उसी इलाकेके उरूवेला नामक स्थानके सरदारकी लावण्यवती बेटी सुजाताने वट-वृक्षके अधिष्ठातृ-देवकी मन्नत मानी थी कि यदि 'मेरी मनोकामना पूरी हो जायगी तो मैं १६०० गायोंके दूधकी खीर वटदेवके भेंट चढ़ाऊँगी।' उसकी अभिलाषा पूरी हो गयी। उसने १६०० गायोंको जेठी मधुके वनमें चराया। उनको दूहकर उनका दूध आठ सौ गायोंको पिलाया। फिर उनको दूहकर उनका दूध चार सौको पिलाया, इसी प्रक्रियासे अन्तमें उसने १६ गायोंको दूहा और उनका दूध ८ गायोंको पिलाया। फिर आठ गायोंका दूध लेकर उसने प्रेमपूर्वक खीर तैयार करवायी और उसको सोनेके थालमें परोस, खीर लेकर वह

वट-वृक्षके सामने उपस्थित हुई । यह देखकर कि वटदेव मनुष्यरूप धारण कर उसका उपहार ग्रहण करनेके लिये पहलेसे बैठे हैं,—सुजाता आनन्दमें निमग्न हो गयी । गौतमने खीर खायी और तुरंत उनको ज्ञान और मुक्तिका मार्ग मिल गया, जिसके लिये वे उतने दिनोंसे व्यग्र थे ।

महात्मा खीष्ट भी बचपनमें पशु चराते थे । उन्हीं दिनों उनको संसारकी पापसे रक्षा करनेका ज्ञान प्राप्त हुआ ।

महान् शीशोदिया-वंशके संस्थापक बाप्पा रावल बचपनमें गायें चराया करते थे । एक दिनकी बात है, एक गायने गोष्ठमें आकर दूध नहीं दिया । मालिकने बाप्पाको खूब पीटा । मालिकको ख्याल हुआ कि बाप्पाने ही सारा दूध दुहकर पी लिया है, बेकसूर बाप्पाको इससे मर्मान्तक पीड़ा हुई । दूसरे दिन भी वह गाय चराने गया । प्रतिहिंसाके भाव उसके मनमें उठ रहे थे । सन्ध्याका आगमन हुआ । गाय गोष्ठकी तरफ चल पड़ी । बाप्पा एक झाड़ीमें छिप गया । देखता है कि एक गाय झुंडसे अलग होकर एकलिङ्ग महादेवके मस्तकपर दूध ढाल रही है । बाप्पासे अब न रहा गया । वह एकलिङ्गके पास दौड़ा गया, लाठी मार-मारकर महादेवके नाकों दम कर दिया । भोलेबाबा प्रसन्न हुए । बाप्पाको वरदान मिला । उनका प्रताप बढ़ा । वे शीशोदिया-वंशके महान् संस्थापक हुए, जिस वंशके राणा साँगा तथा प्रतापने मुसलमानी कालमें अपने प्रभावसे संसारको चकित कर दिया ।

इसीसे मिलती-जुलती आख्यायिका पारसी-जातिके इतिहासमें भी मिलती है । इससे पता लगता है कि प्रत्येक संसार-गुरुका सम्बन्ध किसी-न-किसी रूपमें गायोंके साथ रहा है । सबका बचपन गो-सेवामें बीता है । उसीके प्रतापसे सब महान् बने हैं ।

महाराज नृगने एक करोड़ गायें ब्राह्मणोंको दान दी थीं । राजा विराटके पास उत्तम जातिकी एक लाख गायें थीं । उन गायोंकी प्रशंसा सुनकर कौरव बड़ी भारी सेना लेकर उनकी राजधानीपर चढ़ आये, किन्तु पाण्डवोंकी सहायतासे विराटने उनको मार भगाया । महाराज नन्दके पास नौ लाख गायें थीं ।

जैन-युगमें भी एक-एक महाजनके पास लाखों गायें रहती थीं । विशाखाके विवाहमें उसके पिता धनदृष्टिने अपनी बेटीको इतनी गायें दहेजमें दी थीं जिनकी गणना नहीं हो सकी ।

महाराज नल, ऋतुपर्ण, सहदेव तथा नकुल प्रसिद्ध गो-चिकित्सक थे ।

पाण्डवोंमें यह नियम था कि उनकी स्त्री द्रौपदी जितने समयतक एक भाईके पास रहे, उतने समयतक दूसरा भाई उस महलमें न जाय और यदि चला जाय तो बारह वर्षतक वनवासी होकर रहे । हालमें ही अर्जुनकी पारी बीती थी और युधिष्ठिरकी पारी आयी थी । अर्जुन अपना गाण्डीव उसी महलमें भूल आये थे । किसी ब्राह्मणने आकर उनके सामने पुकार की कि 'लुटेरे मेरी गायको हरण किये जा रहे हैं ।' अर्जुनको गाण्डीवकी याद आयी । बारह वर्षोंतक वनमें रहनेकी तनिक भी परवा न करके वे भीतर जाकर धनुष ले आये; क्योंकि गायकी रक्षासे बढ़कर संसारमें कोई दूसरा धर्म नहीं है । उन्हें बारह वर्षोंतक वनमें रहना मंजूर था, परन्तु गायकी रक्षासे मुँह मोड़ना मंजूर नहीं था ।

च्यवन-ऋषिके विषयमें एक बहुत ही रोचक कथा है । वे एक बार गङ्गाजीके गर्भमें तपस्या कर रहे थे । मछुए मछली मारने आये । जालमें मछलीके बदले मुनिजी आ गये । मछुए उनको नहुषके दरबारमें बेचनेके लिये ले गये । महाराजने मुनिजीके बदले एक थैली सोना दिया; परन्तु मुनिजी कहने लगे कि 'इतना कम हमारा दाम नहीं होगा ।' राजाने और भी बहुत-सा सोना, अन्तमें समस्त राज्य मुनिजीके मूल्यमें देना चाहा । इसपर भी मुनिजी बोले, 'हमारा मूल्य इतना कम नहीं होगा ।' राजाने विनती करके पूछा कि 'महाराज ! आप ही बतलायें कि आपका मूल्य क्या होगा ?' मुनिने कहा कि, 'हमारा मूल्य एक गाय है । आप एक गाय दे दीजिये । बस, यही हमारा मूल्य है ।' राजाने ऐसा ही किया । इससे पता लगता है कि पूर्वकालमें एक गायका दाम समूचे राज्यसे भी अधिक माना जाता था ।

जब भरत रामजीसे मिलने गये, उस समय उन्होंने पूछा कि 'भाई ! तुमपर गोपगणका प्रेम है न ? तथा गोरक्षा होती है या नहीं ?'

प्राच्य जगत्में पहले गायका बड़ा मान था । जैसे हमलोग गो-पूजा करते हैं, उसी प्रकार पारसी लोग साँड़की पूजा किया करते थे । मिश्रमें सुनहले बाछेकी पूजा हुआ करती थी । वहाँके प्राचीन सिक्कोंपर बैलोंकी मूर्ति अंकित रहती थी । ईसासे कई हजार वर्ष पूर्वके बने हुए पिरामिडमें बैलोंकी मूर्तियाँ अंकित हैं । आज भी केलटिक जातिके लोग जहाँ कहीं हैं, गो-पूजक हैं । उस समय तमाम मुसलमानी देशोंमें भी गायकी पूजा हुआ करती थी तथा उनका मारना दण्डनीय था । पैगम्बर मूसाके समयसे गो-वधका प्रचलन हुआ ।

भगवन्नाम-कीर्तन

(लेखक—साहित्यवाचस्पति सेठ श्रीकन्हैयालालजी पोद्दार)

पुराणादिमें भगवन्नाम-कीर्तनके माहात्म्य-सूचक असंख्य वाक्य हैं। यहाँ विवेचनीय यह है कि उन वाक्योंका तात्पर्य भगवन्नाम-कीर्तनको प्रधानतासे स्वतन्त्ररूपमें पापक्षयकारक प्रतिपादन करनेमें है अथवा उसे अन्यान्य पापक्षयकारक साधनोंका सहायकमात्र बतानेमें है। और यदि भगवन्नाम-कीर्तन प्रधानतासे पापक्षयकारक है तो पापक्षयकारक होनेके साथ-साथ वह मोक्षप्रद भी है या नहीं ?

ये प्रश्न इसलिये उपस्थित होते हैं कि ऐसे अनेक वाक्य पुराणादिमें दृष्टिगत होते हैं, जिनमें भगवन्नाम-कीर्तनको अन्य प्रायश्चित्तात्मक साधनोंका सहायक कहा गया है। स्कन्दपुराणके—

यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या तपोयज्ञक्रियादिषु।
न्यूनं सम्पूर्णतां याति सद्यो वन्दे तमच्युतम्॥

—इस वाक्यमें तप और यज्ञ आदि कर्मोंकी अनुष्ठान-विधिमें किसी प्रकारकी त्रुटि रह जानेपर भगवन्नाम-कीर्तन-द्वारा उस त्रुटिके पूर्ण हो जानेकी बात कही गयी है। विष्णुपुराणके—

वासुदेवे मनो यस्य जपहोमार्चनादिषु।
तस्यान्तरायो मैत्रेय देवेन्द्रत्वादिकं फलम्॥

—इस वाक्यमें जप, होम और देवाराधन आदि कर्मोंका अनुष्ठान करते हुए जिसका चित्त भगवान् वासुदेवमें लगा रहता है, उसके लिये इन्द्रादि पद-प्राप्तिको केवल विघ्नरूप कहा गया है। श्रीमद्भागवतके—

मन्त्रतस्तन्त्रतश्छिद्रं देशकालार्हवस्तुतः।
सर्वं करोति निश्छिद्रं नामसंकीर्तनं हरेः॥

—इस वाक्यमें मन्त्र-तन्त्रादिके अनुष्ठानमें किसी प्रकारकी त्रुटि रह जानेपर भगवन्नाम-कीर्तनसे उस त्रुटिका पूर्ण हो जाना कहा गया है। इसी प्रकार श्रीमद्भागवतके—

प्रायश्चित्तानि चीर्णानि नारायणपराङ्मुखम्।
न निष्पुनन्ति राजेन्द्र सुराकुम्भमिवापगाः॥

—इस वाक्यमें भी यही कहा गया है कि भगवान्से विमुख रहकर किये गये प्रायश्चित्त उसी प्रकार पापोंकी निवृत्ति नहीं कर सकते, जिस प्रकार मदिरासे भरे हुए घटकी शुद्धि नदियाँ नहीं कर सकतीं।

उपर्युक्त वाक्योंसे तो यही प्रतीत होता है कि भगवन्नाम-कीर्तन जिस प्रकार तप और यज्ञ आदि क्रियाओंकी सिद्धिमें सहायक है, उसी प्रकार पापक्षयकारक अन्य प्रायश्चित्तोंको सफल करनेका साधनमात्र है। किन्तु यह प्रतीति भ्रममूलक है और पूर्वापर वाक्योंको न समझनेसे ही होती है। उपर्युक्त वाक्योंमें यद्यपि भगवन्नाम-कीर्तनको तप और यज्ञ आदि कर्मोंकी त्रुटिको पूर्ण करनेवाला एवं पापक्षयकारक अन्य प्रायश्चित्तोंको सफल बनानेवाला अवश्य कहा गया है; किन्तु इन वाक्योंका तात्पर्य यह नहीं है कि भगवन्नाम-कीर्तन स्वतन्त्ररूपसे पापक्षयकारक नहीं होता। जिन पुराणादिके वाक्य ऊपर दिये गये हैं, उन्हीं पुराणादिमें ऐसे असंख्य वाक्य हैं, जिनके द्वारा भगवन्नाम-कीर्तनमात्रसे सम्पूर्ण पापोंका क्षय होना सिद्ध होता है। उदाहरणके लिये नारदपुराणके—

ब्राह्मणः श्वपचीं भुञ्जन् विशेषेण रजस्वलाम्।
अश्नाति सुरया पक्वं मरणे हरिमुच्चरन्।
मुच्यते पातकात्तस्मान्नात्र कार्या विचारणा॥

—इस वाक्यमें अत्यन्त नीच श्वपच जातिकी स्त्रीके साथ रजस्वला-दशामें व्यभिचार करनेवाले एवं मदिरामें पकाया हुआ अन्न खानेवाले पापीका भी मृत्यु-समयमें भगवान्के नामोच्चारण मात्रसे निस्सन्देह पाप-क्षय होना बतलाया गया है। श्रीमद्भागवतके—

स्तेनः सुरापो मित्रध्रुग् ब्रह्महा गुरुतल्पगः।
स्त्रीराजपितृगोहन्ता ये च पातकिनोऽपरे॥

सर्वेषामप्यघवतामिदमेव सुनिष्कृतम् ।
नामव्याहरणं विष्णोर्यतस्तद्विषया मतिः ॥

—इन वाक्योंमें चोरी करनेवाले, मदिरा-पान करनेवाले, मित्र-द्रोही, गुरुपत्नीके साथ व्यभिचार करनेवाले, स्त्री, राजा, गौ और ब्राह्मणकी हत्या करनेवाले तथा अन्य सभी प्रकारके महापापियोंका भगवान् विष्णुके नाम-कीर्तनमात्रसे निस्तार होना कहा गया है; क्योंकि भगवन्नाम-कीर्तनसे पिछले पाप तो नष्ट हो ही जाते हैं और भगवान्‌में बुद्धि संलग्न हो जानेके कारण भविष्यमें भी पापोंमें प्रवृत्ति नहीं होती । विष्णुपुराणके—

पापे गुरूणि गुरुणि स्वल्पान्यल्पे च तद्विदः ।
प्रायश्चित्तानि मैत्रेय जगुः स्वायम्भुवादयः ॥
प्रायश्चित्तान्यशेषाणि तपःकर्मात्मकानि वै ।
यानि तेषामशेषाणां कृष्णानुस्मरणं परम् ॥

—इन वाक्योंमें कहा गया है कि मनुस्मृति आदि स्मृतियोंमें छोटे पापोंके लिये छोटे और बड़े पापोंके लिये जिन कृच्छ्रचान्द्रायणादि बड़े प्रायश्चित्तोंका विधान किया गया है, उन सब प्रायश्चित्तोंसे भगवान् श्रीकृष्णका स्मरण श्रेष्ठ है । भगवन्नाम-कीर्तनसे वर्तमान जन्मके ही नहीं, अपितु जन्म-जन्मान्तरोंके पाप नष्ट हो जाते हैं । श्रीमद्भागवतके—

यस्यावतारगुणकर्मविडम्बनानि
नामानि येऽसुविगमे विवशा गृणन्ति ।
तेऽनेकजन्मशमलं सहसैव हित्वा
संयान्त्यपावृतमृतं तमजं प्रपद्ये ॥

—इन वाक्योंमें कहा गया है कि भगवान्‌के नाना अवतारोंद्वारा की गयी गुणकर्मात्मक लीलाओंके सूचक नामोंका जो व्यक्ति मृत्युके समय बिना इच्छाके भी उच्चारण करता है, वह तत्काल अपने अनेक जन्मोंमें किये हुए पापोंसे छूटकर बिना रोक-टोक भगवान्‌के परमधाममें चला जाता है । इस कथनका श्रीमद्भागवतमें प्रत्यक्ष प्रमाण भी दिया गया है—

अयं हि कृतनिर्वेशो जन्मकोट्यंहसामपि ।
यद् व्याजहार विवशो नाम स्वस्त्ययनं हरेः ॥
एतेनैव ह्यघोनोऽस्य कृतं स्यादघनिष्कृतम् ।
यदा नारायणायेति जगाद चतुरक्षरम् ॥

—इन वाक्योंमें यमराजके दूतोंके प्रति—उन दूतोंके प्रति, जो अजामिलको उसके पापोंका दण्ड भुगतानेके उद्देश्यसे यमपुरीको ले जानेके लिये आये थे—भगवान्‌के दूतोंने कहा है कि इस अजामिलके केवल इस एक जन्मके ही नहीं; अपितु करोड़ों जन्मोंके पाप उसी समय नष्ट हो गये, जब कि इसने भगवान्‌के नामके चार अक्षर ना रा य ण-का उच्चारण किया । स्वयं यमराजने भी यही बात—

एतावतालमघनिर्हरणाय पुंसां
संकीर्तनं भगवतो गुणकर्मनाम्नाम् ।
विक्रुश्य पुत्रमघवान् यदजामिलोऽपि
नारायणेति म्रियमाण इयाय मुक्तिम् ॥

—इस वाक्यमें कही है ।

श्रद्धा-भक्तिपूर्वक भगवन्नामके उच्चारणका माहात्म्य तो कहा ही क्या जा सकता है, वह तो अवर्णनीय है। श्रीमद्भागवतमें तो—

साङ्केत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा ।
वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः ॥
पतितः स्खलितो भग्नः संदष्टस्तप्त आहतः ।
हरिरित्यवशेनाह पुमान्नार्हति यातनाम् ॥

—इन वाक्योंमें कहा गया है कि संकेतसे अर्थात् भगवान्‌के नामपर रखे हुए किसी दूसरेके नामके बहाने, हँसी-दिल्लगीमें, स्तोभ[1]से अथवा अनादरसे भी भगवान्‌का नामोच्चारण करनेपर सम्पूर्ण पाप नष्ट हो जाते हैं। यही नहीं, किसी ऊँचे स्थानसे गिर पड़नेपर, ठोकर

---

[1] 'स्तोभ'के विभिन्न टीकाकारोंने अलग-अलग अर्थ किये हैं—जैसे भूत-प्रेतादिके द्वारा पीड़ित होनेपर, रोगादिके कारण प्रलाप करते समय और गानका अलाप करते समय इत्यादि ।

खानेपर, किसी अङ्गके टूट जानेपर, सर्पादिसे डसे जानेपर, ज्वरादिसे तप्त हो जानेपर और किसीके द्वारा दण्डित होनेपर बिना इच्छाके भी भगवान्‌का नाम लेनेसे मनुष्य यम-यातनासे छूट जाता है ।

यद्यपि मनुस्मृति आदि स्मृतियोंमें पापनाशक अनेक प्रायश्चित्त कहे गये हैं; किन्तु उनमेंसे कोई भी भगवन्नाम-कीर्तनकी तरह पापोंका समूल नाश करनेकी सामर्थ्य नहीं रखते । श्रीमद्भागवतके—

न निष्कृतैरुदितैर्ब्रह्मवादिभि-
स्तथा विशुद्ध्यत्यघवान् व्रतादिभिः ।
यथा हरेर्नामपदैरुदाहृतै-
स्तदुत्तमश्लोकगुणोपलम्भकम् ॥

—इस वाक्यमें कहा गया है कि ब्रह्मवादी महर्षियोंद्वारा कहे हुए प्राजापत्य-कृच्छ्रचान्द्रायणादि व्रतात्मक प्रायश्चित्त उस प्रकार पापोंकी शुद्धि नहीं कर सकते जिस प्रकार पुण्यकीर्ति भगवान्‌के ऐश्वर्य, माधुर्य और सौन्दर्य आदि गुणोंके बोध करानेवाले नामोंके उच्चारणमात्रसे होती है । यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि भगवन्नाम-कीर्तनमें ऐसी क्या विशेषता है, जिसके कारण पापनाशक अन्य सभी प्रायश्चित्तोंकी अपेक्षा इसे सर्वोपरि प्रधानता दी गयी है । इसपर वहीं कहा गया है—

नैकान्तिकं तद्धि कृतेऽपि निष्कृते
मनः पुनर्धावति चेदसत्पथे ।
तत्कर्मनिर्हारमभीप्सतां हरे-
र्गुणानुवादः खलु सत्त्वभावनः ॥

'पापनाशक अन्य प्रायश्चित्त किये जानेपर भी पापकर्ममें मन फिर प्रवृत्त होता रहता है; अतः उनके द्वारा पापोंकी आत्यन्तिक शुद्धि अर्थात् उनका समूल नाश नहीं हो पाता । अतएव पापोंको सर्वथा निःशेष करनेकी इच्छा रखनेवालोंके लिये भगवान्‌का गुणानुवाद अथवा नाम-संकीर्तन एकमात्र प्रायश्चित्त है । जिसके द्वारा चित्त शुद्ध हो जानेपर फिर पापकर्मोंमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती ।'

इसी बातको भली प्रकार दृढ़ करनेके लिये दुहराकर स्पष्ट शब्दोंमें कहा गया है—

गुरूणां च लघूनां च गुरूणि च लघूनि च ।
प्रायश्चित्तानि पापानां ज्ञात्वोक्तानि महर्षिभिः ॥
तैस्तान्यघानि पूयन्ते तपोदानजपादिभिः ।
नाधर्मजं तद्धृदयं तदपीशाङ्घ्रिसेवया ॥

जिन-जिन महान् और लघु पापोंके लिये जप, तप और दानादि जिन-जिन महान् और लघु प्रायश्चित्तोंका महर्षियोंने निरूपण किया है, उनके द्वारा वे पाप तो नष्ट हो जाते हैं; किन्तु पापोंके संस्कारके कारण जो चित्तकी मलिनता है, वह नष्ट नहीं होती; नाम-कीर्तनादिसे अथवा भगवान्‌के चरण-कमलोंकी सेवासे वह भी नष्ट हो जाती है ।

इसके अतिरिक्त भगवन्नाम-कीर्तनकी महान् विशेषता यह है कि कृच्छ्रचान्द्रायणादि प्रायश्चित्तोंके करनेमें देश और काल आदिके नियमोंका पालन करने तथा शारीरिक एवं मानसिक असह्य कष्ट उठानेपर भी पापोंका समूल नाश नहीं होता, किन्तु भगवन्नाम-कीर्तन ऐसा सरल साधन है कि जिसमें न तो नियमादिके पालनकी अनिवार्य आवश्यकता है, न मानसिक एवं शारीरिक कष्ट उठानेका ही । देवर्षि नारदने कहा है—

न देशनियमो राजन्न कालनियमस्तथा ।
विद्यते नात्र सन्देहो विष्णोर्नामानुकीर्तने ॥
गच्छंस्तिष्ठन् स्वपन् वापि पिबन् भुञ्जञ्जपंस्तथा ।
कृष्णकृष्णेति संकीर्त्य मुच्यते पापकञ्चुकात् ॥

भगवन्नाम-कीर्तनमें देश-कालादिका नियम नहीं है । मार्ग चलते हुए, खड़े-खड़े, सोते हुए, जल पीते हुए तथा भोजन करते हुए भी भगवान् कृष्णके नामका कीर्तन करनेसे मनुष्य पापोंसे छूट जाता है । श्रीमद्भागवतमें भी कहा है—

अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमश्लोकनाम यत्।
संकीर्तितमघं पुंसां दहेदेधो यथानलः॥
यथागदं वीर्यतममुपयुक्तं यदृच्छया।
अजानतोऽप्यात्मगुणं कुर्यान्मन्त्रोऽप्युदाहृतः॥

अज्ञानसे—बिना जाने अथवा ज्ञानसे—जान-बूझकर किया हुआ भगवन्नाम-कीर्तन मनुष्यके पापोंको उसी प्रकार दग्ध कर देता है, जिस प्रकार अग्नि ईंधनको। जैसे किसी शक्तिशाली औषधका सेवन यदि उसके गुणोंको बिना जाने किया जाय तो भी वह अपना प्रभाव अवश्य दिखलाती है, यही बात मन्त्रोंके सम्बन्धमें भी समझनी चाहिये। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि 'यदि भगवन्नाम-कीर्तन मात्रसे ही सम्पूर्ण पापोंका नाश होना सिद्ध है तो फिर इतिहास-पुराण एवं स्मृतियोंमें विभिन्न पापोंके लिये विभिन्न प्रकारके प्रायश्चित्तोंका निरूपण क्यों किया गया है?' इसका उत्तर यह है कि जिन मनुष्योंका भगवन्नाम-कीर्तनमें दृढ़ विश्वास नहीं होता, उनके लिये इतिहास-पुराण एवं स्मृतियोंमें अन्य प्रायश्चित्तोंका विधान किया गया है। जैसे आयुर्वेदमें सुख-साध्य सुसरल उपचार और कष्ट-साध्य दुःसह उपचार दोनों कहे गये हैं; किन्तु जिनको स्वभाववश सरल उपचारोंपर रुचि नहीं होती या विश्वास नहीं होता, वे दुःसह उपचारोंको ही अपने अनुकूल समझते हैं। उनके लिये दुःसह उपचारोंकी आवश्यकता होती ही है। निष्कर्ष यह कि भगवन्नाम-कीर्तनमें विश्वास न रखनेवालोंके लिये ही अन्य प्रायश्चित्तोंका निरूपण किया गया है।

ऊपर भगवन्नाम-कीर्तनविषयक जो पुराणोंके वाक्य उद्धृत किये गये हैं, उनको वेद-वाक्योंके समान ही प्रामाणिक न समझना केवल अज्ञान है। पुराण और स्मृतियोंके वाक्य वेदमूलक ही हैं। भगवान् वेदव्यासजीने लोकोपकारकी दृष्टिसे वेदकी श्रुतियोंमें संक्षेपसे कहे हुए विषयोंका इतिहास-पुराणोंमें विस्तारके साथ वर्णन किया है। महाभारत और मनुस्मृतिमें कहा है—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
इतिहासपुराणं च पञ्चमो वेद उच्यते॥

नारदपुराणमें—

वेदः प्रतिष्ठितो देवि पुराणे नात्र संशयः।
पुराणमन्यथा कृत्वा तिर्यग्योनिमवाप्नुयात्॥

—इन वाक्योंमें पुराणोंको वेदमूलक ही कहा गया है और पुराणोंमें अश्रद्धा करनेवालेको तिर्यक्-योनि प्राप्त होना कहा गया है।

इस सम्बन्धमें यह भी कहा गया है कि भगवन्नाम-कीर्तनके महत्त्वसूचक पुराण-वाक्योंको यथार्थ न मानकर जो अर्थवाद समझता है अर्थात् यह समझता है कि उनमें बहुत कुछ बढ़ाकर कहा गया है, वह महान् पापी नरकगामी होता है—

अर्थवादं हरेर्नाम्नि संभावयति यो नरः।
स पापिष्ठो मनुष्याणां निरये पतति ध्रुवम्॥

इसके साथ यह भी ध्यान देने योग्य है कि जो व्यक्ति भगवन्नाम-कीर्तनके भरोसे अर्थात् यह समझकर कि नाम-कीर्तन करनेसे मेरे पाप तो नष्ट हो ही जायँगे, पाप कर्म करता है, वह नामापराध करता है। ऐसा समझनेवालेके पाप नष्ट होने तो दूर रहे, प्रत्युत वह नामापराधके अमिट पापका भागी हो जाता है।

ऊपरके विवेचनद्वारा सिद्ध होता है कि भगवन्नाम-कीर्तन केवल पापनाशक अन्य प्रायश्चित्तोंका सहायकमात्र ही नहीं, अपितु स्वतन्त्र रूपसे केवल वर्तमान जन्मके ही नहीं, असंख्य जन्म-जन्मान्तरोंमें किये हुए सम्पूर्ण पापोंको भी तत्काल नष्ट कर देता है। इतना ही नहीं, भगवन्नाम-कीर्तनद्वारा मनुष्य संसार-सागरसे मुक्त होकर भगवान्के परमपदको भी प्राप्त हो जाता है, अतएव आबालवृद्ध सभी स्त्री-पुरुषोंका मुख्य कर्तव्य यही है कि भगवन्नामका कीर्तन जितना भी अधिक हो सके, करें। विशेषतया इस घोर कलिकालमें तो भगवन्नाम-कीर्तन ही कल्याणका सर्वोपरि साधन है। सम्पूर्ण श्रीमद्भागवतका

श्रवण कराके राजा परीक्षित्‌को निष्कर्षरूपमें श्रीशुकदेवजीने यही कहा है—

ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन् ।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम् ॥
कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः ।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तबन्धः परं व्रजेत् ॥

अर्थात् सत्ययुगमें भगवान्‌के ध्यानसे, त्रेतायुगमें यज्ञकर्मसे और द्वापरयुगमें भगवान्‌की अर्चनासे जो फल प्राप्त होता है, वह कलियुगमें केवल भगवन्नामके कीर्तनमात्रसे प्राप्त हो जाता है । कलियुग दोषोंका खजाना अवश्य है; किन्तु इसमें यह एक बड़ा भारी गुण है कि भगवान् श्रीकृष्णके नाम-कीर्तनमात्रसे ही संसारके कर्म-बन्धनोंसे छूटकर जीव भगवान्‌के परमपदको प्राप्त हो जाता है ।

हम अपने बनें

(लेखक—श्रीव्रजमोहनजी मिहिर)

पीड़ित व्यक्तिके लिये वास्तवमें यह संसार दुःख-कानन है । दुःखसे घिरे हुए व्यक्तिके अंदर केवल एक ही विचार कार्य करता है कि वह निरीह और घृणास्पद है । अन्य व्यक्ति न उसके प्रति आकृष्ट होते हैं और न हार्दिक संवेदना ही प्रकट करते हैं । और तो और, उसका स्वयं अपने ही ऊपर विश्वास हट जाता है । बात सही है कि दूसरोंसे न उसे सहायता मिलती है और न सान्त्वना ही; पर उसके मनसे यह बात अलग नहीं होती कि शायद किसी अन्य व्यक्तिद्वारा उसे दुःखसे छुट्टी मिल जाय ।

दुःखके अवसरपर मनसे किसी प्रकारकी सहायता नहीं मिलती; क्योंकि उसकी अनर्गल इच्छाएँ ही दुःख उत्पन्न करती हैं । इच्छाओंसे उत्पन्न सुखका तो वह आलिङ्गन करता है पर दुःखके उपस्थित होनेपर उसकी कुछ सुने बिना ही वह उसे भगा देना चाहता है । परिस्थितियोंके अनुकूल होनेपर यदा-कदा उसे अपनी चालमें सफलता मिल जाती है और बुद्धि निस्सहाय होकर सुषुप्ति-अवस्थामें चली जाती है और दुःखके विषयपर गम्भीर विचार करनेमें असमर्थ हो जाती है । मनके चक्रमें फँसा हुआ प्राणी इस प्रकार अधिक कालतक दुःख भोगता रहता है । एकके बाद दूसरा—इस प्रकार कितने ही जीवन ऐसे ही नष्ट हो जाते हैं ।

कुछ लोग ऐसे भी हैं जो दुःखकी घड़ी उपस्थित होनेपर उसपर कुछ विचार करते हैं और सत्सङ्गका आश्रय लेते हैं । लेकिन अधूरे विचार और बाहरी सत्सङ्गसे उन्हें विशेष लाभ नहीं होता; क्योंकि उसमें भी दुःखसे भागनेके अतिरिक्त उनका कोई दूसरा अभिप्राय नहीं होता । दुःखपर विचार करते समय या सत्सङ्गके अवसरपर उनका पूरा मन वहाँ नहीं रहता । उनका मन सदा इधर-उधर भटकता रहता है और दूसरोंकी बातोंमें दुःखसे छुटकारा पानेके लिये समाधान ढूँढ़ता है, जो उसे कभी नहीं मिलता । कारण वह अपने इन्द्रिय-सुखोंको छोड़ना नहीं चाहता । दुःखके अवसर जीवनमें बार-बार आते हैं और जब-जब आते हैं तब-तब मनुष्यको गहरी चोट पहुँचाते हैं । मनुष्य उससे तिलमिला उठता है, रोता और चिल्लाता है, पश्चात्ताप करता है और उसके मनमें भोगोंसे मुँह मोड़नेकी भी इच्छा होती है, लेकिन पुरानी आदत अवसर आनेपर उसे भोग भोगनेके प्रति पुनः प्रवृत्त कर देती है और उसका पूर्वका प्रत्यय मन्द पड़ जाता है । वास्तवमें उसका यह दुःख भी प्रतारणा ही है । किसी कार्यके प्रति सच्चे दुःखसे सजगता उत्पन्न होती है । यदि ऐसा न हो, तो समझो कि दुःखका उसके ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा है । दुःखसे यदि मनुष्य नहीं सँभला तो संसारमें ऐसी कोई शक्ति नहीं है, जो उसे सत्-पथपर ले आ सके ।

जिस मनुष्यने जिंदगीकी बातोंको अर्थात् उसके सुख-दुःखको भलीभाँति समझ लिया है और जिसके मनमें दुःखोंसे छुटकारा पानेकी तीव्र इच्छा उत्पन्न हो गयी है, उसे जीवन-पर्यन्त सत्सङ्ग करते रहनेकी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती । सत्सङ्गसे बहुत कम लाभ उठानेवाले वे ही व्यक्ति होते हैं जो सदा सत्सङ्ग करते रहते हैं, लेकिन अपनेको समझनेकी कभी कोशिश नहीं करते । अन्य सोसाइटियोंकी भाँति सत्सङ्ग भी उनके लिये वार्तालाप करनेका एक स्थान हो जाता है ।

कहीं दो घड़ी बैठकर वहाँ भी वे अपना मन बहला लिया करते हैं । ऐसे लोगोंके अज्ञानका जल्दी अन्त नहीं होता। जीवनकी किसी बातको सम्मुख रखकर, जिसको कि समझनेकी उसे अतिशय आवश्यकता है, यदि वह किसी संतके पास जाता है तो सम्भव है कि उसे अल्पकालके सत्सङ्गसे ही बहुत बड़ा लाभ हो जाय। लेकिन जो केवल बात सुनने और समय बितानेकी गरजसे सत्सङ्ग करता है, उसे बहुत कम और देरीसे लाभ होता है। अष्टावक्र ऋषिने तो राजा जनकको रकाबपर पैर रखनेके जितने अल्प समयमें ही ज्ञान करा दिया था। सत्सङ्गका अभिप्राय है—मार्गमें किसी विघ्नके आ जानेपर उसका समाधान कर लेना। हर बातको समझते और साधते हुए आवश्यकता उपस्थित होनेपर सत्सङ्गसे लाभ उठाते हुए जीवनको ले चलनेपर मार्ग सुगम हो जाता है।

मनुष्यका जीवन एक वाटिका है। वाटिकाको अच्छी दशामें रखनेके लिये उसपर सब ओरसे निगाह रखनी आवश्यक है। उद्यानके सौन्दर्यको नष्ट कर देनेवाली कोई चीज यदि बीचमें उग आती है तो चतुर माली उसे तुरंत उखाड़ फेंकता है। बाग देखनेमें यदि अच्छा न हुआ तो मालीका सारा परिश्रम व्यर्थ समझा जाता है। माली जमीनको खूब कमाता है और उसे मुलायम बना देता है। जमीनके सब प्रकारसे अच्छी हो जानेपर वह भाँति-भाँतिके पुष्प और फलके वृक्षोंको यथास्थान उसमें बैठाता है। प्रवीण मालीद्वारा इस प्रकार सजाया हुआ बाग देखनेमें सुन्दर मालूम होता है। बागके मालिककी भी वहाँ बैठनेकी इच्छा होती है और आगन्तुकोंकी भी। यह जीवन भी एक उद्यानके समान है। इसे सब प्रकार सँभालकर रखना चाहिये, ताकि इसकी स्वाभाविक प्रगतिमें किसी प्रकारका विघ्न न उपस्थित हो। बहुत प्रकारकी इच्छाओंसे घिर जानेपर मनुष्यका जीवन बिना सँभाली हुई वाटिकाके समान हो जाता है। इच्छाओंकी पूर्ति करनेमें वह परिश्रम करता है और उसमें संलग्न रहता है। कभी सफलता भी होती है पर प्रायः वह विफल ही रहता है। बहुत समयतक इस सुख-प्राप्तिकी धुनमें लगे रहनेके कारण उसे अनेकों प्रकारके अनुभवोंसे होकर गुजरना पड़ता है। सुखके बीच उसकी प्रतिक्रियासे उसे प्रत्यह आघात पहुँचता रहता है। फिर भी वह उसीको सही जीवन समझता है। दुःखके बहुत बढ़ जानेपर जीवन कभी-कभी उसे भार मालूम होने लगता है। इस घबराहटके बीच उसके मनमें एक ही धुन रहती है कि विपरीत स्थिति और दुःखसे कैसे छुटकारा मिले। इसके लिये वह न करने योग्य कार्य भी कर डालता है। दुःखके बहुत बढ़ जानेपर मन और बुद्धिपर उसका काबू नहीं रह जाता। मनकी अतिशय खिन्न दशामें तो प्राणी शरीरान्त तक चाहने लगता है। अशान्त चित्तकी यह बहुत ही मलिन दशा है। इसलिये दुःखकी साधारण दशामें होशके रहते हुए जब चित्तमें सजगता उत्पन्न हो, तो इस अवसरको हाथसे न जाने देना चाहिये। दुःखके समय उत्पन्न हुई सजगताको चिरस्थायी बनाये रखनेके लिये उचित प्रतिविधान करना चाहिये।

चूँकि हमें अपने सुखका आवश्यकतासे अधिक ध्यान रहता है, इसीलिये जीवनमें यह सारी गड़बड़ी और मुसीबतें हैं। इन्द्रिय-सुखके सम्बन्धमें प्रत्येकका यही अनुभव है कि वह ऐसा सुख नहीं है, जो मनुष्यको निश्चिन्त कर दे। प्रत्युत वह दिनोंदिन कष्ट उत्पन्न कर बन्धनको बढ़ाता ही रहता है। इस सुखमें कभी तृप्ति नहीं है। किसी भोगको कुछ समयतक स्थायी रखनेसे मनुष्यको उसकी आदत पड़ जाती है। फिर तो अनायास ही अचेतन मन उस कामको कर बैठता है। इन्द्रिय-सुखोंमें यदि कोई विघ्न और निर्बन्ध न होता तो कदाचित् इसको भी स्वाभाविक कहा जा सकता और फिर उससे छुटकारा पानेकी कोई बात न सोची जाती। संसारमें दिखलायी यही देता है कि विघ्न-बाधाओंसे विमुक्त होकर कोई भी व्यक्ति इन्द्रिय-सुखोंको नहीं भोग सका है। किसी भी सुखके भोगमें सबसे बड़ा विघ्न तो अपना शरीर ही है। इसके अतिरिक्त परिस्थितिकी विभिन्नताके अनुसार अनेकों प्रकारकी दिक्कतें हैं, जो मनुष्यके सामने रोज आया करती हैं और मनुष्य उनका नित्यप्रति अनुभव करता है। देखने और विचार करनेपर यह भी मालूम पड़ता है कि सुखका ऐसा कोई कार्य नहीं है, जिसके लिये हमें बाह्य किसी भी वस्तुपर निर्भर न करना पड़ता हो या हमपर उसकी प्रतिक्रिया न होती हो। ऐसी दशामें कौन प्राणी यह कह सकता है कि उसका सुख विघ्न-बाधाओंसे रहित है। जब यह दशा है तो मनुष्यके लिये आवश्यक हो जाता है कि वह अपने सुख-दुःखके प्रति सजग होकर जीवनकी बातोंको समझनेकी कोशिश करे और अपनी किसी इच्छाका जबर्दस्ती दमन न करके उसके रहस्यको समझे। इच्छाका रहस्य जब भलीप्रकार अवगत हो जाता है, तब उसे त्याग करनेमें दुःख नहीं होता। उचित प्रयासद्वारा मनुष्य उसे छोड़नेमें समर्थ होता है। यह

काम भी आसान नहीं है । यदि मनुष्य सदा सजग रहे तो सम्भव अवश्य है । सजग होकर भी यदि मनुष्य अपने चिरकालके अभ्यासको नहीं छोड़ पाता तो उसे कोई दूसरी सज्ञान युक्ति बतलायी भी नहीं जा सकती । ऐसे असमर्थ प्राणी सदा दुःखमें ही अपना जीवन व्यतीत करते हैं । मनुष्यको सच्चे मार्गपर लानेके लिये दुःखसे बढ़कर कोई दूसरी वस्तु नहीं है । दुःख ही मनुष्यको सजग होनेका अवसर प्रदान करता है । सजगताद्वारा जीवनका बोध हो जानेपर उसकी गति स्वाभाविक हो जाती है । आरम्भमें चित्त पहलेसे भी अधिक अशान्त हो जाता है, लेकिन यह अशान्ति सजगताके प्रकाशमें धीरे-धीरे कम होने लगती है । आरम्भकी यह वह परेशानी है जो जीवनको समझकी राहपर ले आती है । इस परेशानीके बीच ही जीवनका सच्चा रहस्य प्रकट होता है । शनैः-शनैः मनुष्य उसके बीचमें रहकर उसको देखता हुआ और उसके रहस्यको समझता हुआ उससे मुक्त हो जाता है । जीवनकी त्याज्य बातोंको समझकर ज्यों-ज्यों मनुष्य उन्हें आसानीसे छोड़ सकनेमें समर्थ होता जाता है, त्यों-त्यों उसका जीवन अधिकाधिक स्वाभाविक और गम्भीर बनता जाता है । त्याग की हुई वस्तुमें फिर उसका कोई राग नहीं रह जाता । छोड़नेपर मनमें उसके प्रति न कोई क्षोभ होता है और न उसपर विजय प्राप्त करनेका हर्ष ही । वह प्राणी अपनी किसी दशामें प्रतिहत नहीं होता । जीवन उसे अधिक रुचिकर और अपना मालूम होता है; क्योंकि उसने उसे पाससे देखा है और उसके अलग-अलग पहलुओंपर गौर करना सीखा है । जीवनके साथ समवर्ती होनेपर कष्ट कम होने लगता है । उसके सामने जो बात आयेगी, उसे समझनेके लिये वह अपना हृदय, मन और बुद्धि अर्पित कर देगा । उसके विचार और कार्यमें कोई अन्तर न होगा । अपनेको समझनेके लिये मनुष्यको अन्य किसी व्यक्तिके उपदेश और आलोचनाकी आवश्यकता नहीं होती । राग-द्वेषसे प्रेरित होकर वह न किसीके प्रति प्रेम प्रदर्शित करेगा और न किसीसे घृणा करेगा, न किसीको अपना मित्र समझेगा और न शत्रु ही । वह मनुष्य अपनेको समझनेमें इतना संलग्न हो जायगा कि बाह्य समस्त वस्तुएँ उसके लिये उपेक्षणीय हो जायँगी । दूसरोंकी बातोंपर ध्यान देनेके लिये उसके पास समय न रहेगा और न वह दूसरोंके प्रति कोई विरुद्ध बात ही सोचेगा । किसीको अपनेसे श्रेष्ठ समझकर न वह उसका प्रभुत्व स्वीकार करेगा और न किसीको अपनेसे न्यून समझकर उसकी उपेक्षा करेगा या उसपर प्रभुत्व दिखलायेगा । दोनों ही दशाओंमें भीतर भय और भेद रहता है; इसलिये ऐसे जीवनमें न समत्व होता है और न स्वाभाविकता ही । इसका परिणाम संकीर्णता और अवनति है ।

जीवनमें जब दूसरोंका प्रभाव अधिक पड़ने लगता है, तब वह मनुष्य अपना नहीं रह जाता । उसके अंदर विचार और स्वतन्त्र कार्य करनेकी क्षमताका अभाव हो जाता है । जीवनकी ऐसी परिस्थितिमें सत्यका दर्शन नहीं होता । सत्यका अनुभव करनेके लिये प्रत्येक प्राणीको अपना बन जानेकी आवश्यकता है । सत्यकी खोज करनेवालेको हर्ष, शोक, मोह, अनुराग और प्रभुत्वकी भावनाको अपने पास नहीं आने देना चाहिये । ये दशाएँ मनको उत्तेजित करनेवाली होती हैं । चित्तको ऐसी स्थितिमें रक्खा जाय कि उसपर बाहरी कोई बात अपना प्रभाव न डाल सके । चित्तमें जब आनन्द और निरालम्ब प्रेम स्थान पा लेता है, तब अपने-परायेका भेद मिट जाता है । ऐसा पुरुष न कभी उदास रहता है और न मन लगानेके लिये किसी अवलम्बकी आवश्यकता अनुभव करता है । जीव-जन्तु और लता-वल्लरियोंके साथ उसका सौहार्द हो जाता है । कष्टदायक अवसरोंका भी जीवनमें अभाव होना आरम्भ हो जाता है । मन सदा प्रसन्न और एकाग्र रहने लगता है । संसारके साथ उसका अम्लान प्रेमका सम्बन्ध स्थापित हो जाता है । संसारकी प्रत्येक वस्तुमें वह अपना रूप देखता है । उसको सर्वत्र सत्यका दर्शन होता है और प्रत्येक अवस्था उसके आनन्दकी अवस्था हो जाती है । वायुके रूपमें वह संसारकी सैर करेगा । फूल-पत्तियों और घासके साथ वह नृत्य करेगा; आकाश उसका रूप होगा; जल, पृथ्वी और अग्नि उसके बाह्य प्रतीक होंगे । संसारकी प्रत्येक वस्तुके साथ जब एकता और मैत्री स्थापित हो जायगी, तब वह खिन्न और भयातुर क्यों रहेगा । शुद्ध हृदय और पवित्र मनके अंदर यह वाञ्छित भावना उदय होती है । ऐसे उद्बोधित पुरुष संसारमें आनन्द-प्रसार करनेके केन्द्र बन जाते हैं । व्यक्त और अव्यक्त दोनों दशाओंमें उनके द्वारा कार्य-सम्पादन होता रहता है । आनन्द-उपलब्धिकी यह एषणा स्वार्थकी भावना नहीं है । इसमें निवास करनेसे मनके सङ्कल्प-विकल्पोंका तिरोभाव हो जाता है । जीवनकी इस स्थितिमें प्रयास नहीं रह जाता । यह जीवनकी परम शुद्ध और सात्त्विक सहज दशा है । ऐसे व्यक्तिको देखकर दूसरे प्राणी भी इस शुभ भावनाको ग्रहण करनेकी इच्छा करने लगते और इस ओर अपना प्रयास आरम्भ कर देते हैं । इस शुद्ध

अवस्थाकी प्राप्ति एक ही क्षणमें नहीं हो जाती; पर इसमें हताश होनेकी कोई बात नहीं है। सत्य सबके लिये एक और अनिवार्य है। सभी एक-न-एक दिन इसे प्राप्त करेंगे—प्रश्न केवल समयका हो सकता है। इसके लिये सबसे आवश्यक बात है—तीव्र वेगका होना। तीव्र वेगवाले प्राणी इसे शीघ्र प्राप्त कर लेते हैं। उन्हें इधर-उधर भटकना नहीं पड़ता। देर तो उनको लगती है, जो मन्द वेगके कारण रास्तेमें रुककर इधर-उधरकी सैर करने लगते हैं। आपने देखा होगा कि पर्वतारोहणके शौकीन कुछ ऐसे भी होते हैं जो मार्गके संकटोंकी कुछ परवा नहीं करते। हर-एक विघ्न-बाधाओंको अतिक्रमण करते हुए वे मनोवाञ्छित उच्च शिखरपर पहुँच जाते हैं। चलते-चलते उनके पैरोंमें रक्तस्राव होने लगता है, पर वह भी उनका आगे बढ़ना रोक नहीं देता। श्रीमानसजीके हनुमान्‌जी तीव्र वेगकी भावनाके एक सुन्दर जगमगाते हुए अनुपम निदर्शन हैं। सत्यकी खोजके लिये उनके मनमें अपार उत्साह था। जिस गम्भीर और विस्तृत सागरको देखकर लोग भयभीत हो जाते हैं, उसे उन्होंने एक ही छलाँगमें पार कर लिया। उनका जीवन अमर है। औरोंमें वह पराक्रम-शक्ति और सत्यकी खोजका वेग नहीं था; इसीलिये भगवान् श्रीरामको उन्हें पार उतारनेके लिये सेतु बाँधनेका आयोजन करना पड़ा। पर पार सब हो गये; क्योंकि सभीके अंदर उद्देश्यकी पूर्तिके लिये लगन थी, सबका हृदय और मन शुद्ध हो चुका था और सभी सत्य-पथके पथिक थे। मन और हृदय दोनोंमें जब किसी वस्तुके लिये अदम्य आकाङ्क्षा उत्पन्न होती है तब प्राणी उसे अवश्य प्राप्त कर लेता है। इसके लिये किसी भी प्रयासको वह सहर्ष स्वीकार करता है।

भिन्न-भिन्न उपायोंद्वारा लोगोंने इसकी खोज की और उनका कहना है कि सत्यकी प्राप्तिके लिये मार्ग अनेक हैं; किन्तु मैं तो समझता हूँ कि सत्यकी प्राप्तिका मार्ग केवल एक है और वह है— जीवनके रहस्यको समझना। इसे लोग जबतक भलीप्रकार नहीं समझ लेते, तबतक वे अनेकों मार्ग और अनेकों उपायोंद्वारा अनुभव प्राप्त करनेकी चेष्टा करते रहते हैं। लोग कहते हैं कि ईश्वर घट घटमें व्याप रहा है; लेकिन यह भी केवल मुँहसे ही कहते हैं। इस सत्यको समझ लेनेपर प्राणी अपने प्रत्येक कार्यका जिम्मेदार हो जाता है। वह अपने अन्तरात्माकी ध्वनिको सुनता है और उसके अनुसार आचरण करता है। अर्थात् वह प्रत्येक कार्यमें अपने हृदय और मनको एक करके कार्य करनेकी चेष्टा करता है। हृदय और मनके ऐक्यमें ही बुद्धिका विकास है। अन्तःकरणमें ईश्वर, सत्य अथवा जीवनकी अनुभूति हो जानेपर प्राणी अपने समस्त कार्योंके प्रति सावधान हो जाता है। उसका यह पथ जीवनकी वास्तविकताको सामने रखता है। इससे जीवन स्वाभाविक और सरल बनता है। फिर उसके अंदर ईश्वर-प्राप्ति और सत्यको जाननेकी भी कोई इच्छा न रह जाती, प्रत्युत उसका जीवन ही सत्य हो जाता है। उसका प्रत्येक आचरण, व्यवहार और कार्य इस प्रकारका होता है कि उससे कोई कर्मबन्धन नहीं स्थापित होता। इस प्रकारका समत्वमय जीवन ही सत्य है और इसमें ईश्वरका दर्शन है।

सत्यकी अनुभूतिके बाद सब बातों और सब दशाओंमें मनुष्य अपनी ही सत्ताका अनुभव करता है। सन्देह उसके मनसे हट जाता है। प्रत्येक स्थितिमें वह सत्यके अंदर निवास करता है। अकेलेपनकी भयावह दशाका भी अन्त हो जाता है। प्रतिक्षण सत्यके सम्मुख होनेसे वह सदा आनन्दमें निवास करता है।

सत्यविहीन मनुष्यकी दशा जलसे बिछुड़ी हुई मछलीकी-सी होती है। कुछ क्षण वे जीवित तो रहते हैं; लेकिन उनके जीवनमें आनन्द, उत्साह और सार नहीं रहता। उनकी दशा उस मीनकी-सी होती है, जो किसी मछुएके जालमें फँसकर अतिशय दुःखसे प्राण त्याग करता है। अपने किसी क्षणिक सुखके कारण यदि किसी मनुष्यने अपनी दशाको इससे कुछ अतिरिक्त समझा है तो मैं कहता हूँ कि वह भ्रान्त है और अपने जीवनको भलीप्रकार नहीं समझ रहा है। संसार एक बहुत ही बड़ा जाल है, उसके असंख्य छिद्रोंमें मनुष्य अपनी इच्छाओंकी तृप्ति देखता है और लोभ-मोहके कारण उसमें फँसनेकी चेष्टा करता है। एक बार फँस जानेपर उससे निकलना कठिन है: अतः मनुष्यको श्वास-प्रश्वासमें सचेत रहना चाहिये। इसके अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय नहीं है।

पूर्ण सचेत हो जानेपर कर्तापनका भाव भी जाता रहता है और उसे कोई वस्तु अपनेमें फँसा नहीं पाती। आनन्दकी सत्तासे अधिक महत्त्वपूर्ण वस्तु जब दूसरी नहीं है, तब संसारका क्षणिक सुख-दुःख पश्चिममें डूबते हुए सूर्यकी भाँति मनके दूर देशमें कहीं अस्त हो जाता है। यह जीवनमें तटस्थताकी दशा है, जहाँ संसारके वैभव आकाशमें स्थित प्रातःकालीन नक्षत्रोंकी भाँति फीके होकर आनन्दके पर

प्रकाशमें विलीन हो जाते हैं। आनन्दकी प्राप्तिके पश्चात् संसारकी बातोंका चित्तपर असर ही नहीं होता। फिर कोई भी पदार्थ अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सकते। सारे प्रपञ्च मिट जाते हैं।

जब यही एक वस्तु जीवनमें प्राप्त करने योग्य है, बल्कि यही जीवन है, तब मनुष्य यहाँके सुख-दुःखके पचड़ेमें पड़कर व्यर्थ अपना समय क्यों नष्ट करता है। मार्गमें यदि कोई प्रतिरोध आ जाय तो उसपर विचार करना चाहिये और उसे समझनेकी कोशिश करनी चाहिये। आनन्दको सम्पूर्ण रूपमें प्राप्त कर लेनेकी प्रत्येक मनुष्यके अंदर अभिलाषा होनी चाहिये। इस पथपर चलते हुए भी ऐसा नहीं है कि दुःख न आवे। दुःखके आनेपर उसे टालनेकी कोशिश न की जाय। ऐसा करनेसे लगनके होते हुए भी लक्ष्यतक पहुँचनेमें विलम्ब होगा।

आनन्दकी अनुभूति कोई किसीको करा दे, यह सम्भव नहीं है। अपने ही प्रयाससे जीवनकी यह स्थिति प्राप्त की जाती है। यह कोरी कल्पना नहीं है। बोधपूर्वक प्रयास करनेपर इसमें सफलता मिलती है, यह ध्रुव सत्य है। प्रत्येक मनुष्य अपने पुरुषार्थ और प्रयासके द्वारा इसे प्राप्त कर सकता है। लोगोंके जीवनमें विभिन्नता अवश्य दृष्टिगोचर होती है, लेकिन यह कोई रुकावट नहीं है। सत्य वस्तुमें कल्पनाके लिये कोई स्थान नहीं है।

चूँकि बहुतोंके मनमें सत्यको जान लेनेकी इच्छा और लगन है और किसी सरल मार्गकी खोज है, इसलिये मैं उनको इस पथपर चलनेके लिये आमन्त्रित करता हूँ। एक बार सजग होकर पैर आगे बढ़ा देनेपर फिर निराश नहीं होना पड़ता और मनुष्य पीछे कदम हटाना पसंद नहीं करता। समझ-बूझकर जब हम इस पथपर पैर रखेंगे, तब हमारे अंदर सुख-दुःखके रहस्यको समझनेकी क्षमता आ जायगी। सुखका प्रसङ्ग आनेपर हमें फूलना नहीं चाहिये और दुःखके प्रसङ्गोंसे घबराना नहीं चाहिये। बल्कि उनके बीचमें रहते हुए उनके रहस्यको समझकर उनसे मुक्त हो जाना चाहिये।

आनन्द ही एकमात्र सत्य है। यही एक स्वाभाविक मन्दिर है, जहाँ सबको आना है। यहाँ बैठकर आप सच्चे ध्यानमें निमग्न हो सकते हैं। इसको एक बार दृढ़तापूर्वक अपना लेनेसे सारा सन्देह दूर हो जाता है। ऐसी स्थितिमें मनुष्य संसारका हो जाता है और संसार उसका हो जाता है। मैंपनकी पृथक् भावना मिटकर विराटमें लीन हो जाती है। राग-द्वेषकी अग्नि सदाके लिये बुझ जाती है।

इस आत्यन्तिक आनन्दके प्राप्त कर लेनेपर मनुष्य स्वतन्त्रतापूर्वक संसारमें विचरण करता है। जो मनुष्य पूर्ण स्वतन्त्र हैं और आनन्दमें स्थित हैं, वे ही संसारके सामने कुछ सही बात रख सकते हैं। आनन्दमें प्रतिष्ठित हो जानेपर पुरुष प्राणीमात्रका मित्र हो जाता है और प्रेम ही उसका मुख्य आचरण रहता है। प्रेमके अतिरिक्त उसके पास और कोई वस्तु नहीं रहती। इस स्थितिको प्राप्त कर लेनेपर एकको अनेकमें देखनेकी क्षमता स्वाभाविक ही रहती है। यही मोक्षकी स्थिति है।

सर्व-समर्पण

नैन चकोर, मुखचंदहूकों बारि डारौं,
बारि डारौं चित्तहिं मनमोहन चितचोरपै।
प्रानहूको बारि डारौं हँसन दसन लाल,
हेरन कुटिलता औ लोचनकी कोरपै॥
बारि डारौं मनहिं सुअंग अँग स्यामा-स्याम,
महल मिलाप रस रासकी झकोरपै।
अतिहि सुघर बर सोहत त्रिभंगीलाल,
सरबस बारौं वा ग्रीवाकी मरोरपै॥

—ललितकिशोरी

मातृ-सेवा

(लेखक—पं० श्रीवेणीरामजी शर्मा गौड, वेदाचार्य, वेदरत्न, काव्यतीर्थ)

मानार्थक 'मा' और पूजार्थक 'मान' धातुके आगे 'नप्तृनेष्टृत्वष्टृहोतृ०' इत्यादि औणादिक सूत्रसे 'तृच्' प्रत्यय करनेपर 'मातृ' शब्दकी निष्पत्ति होती है। अनन्तर 'मातृ' शब्दकी प्रातिपदिक संज्ञा करनेपर उसके आगे 'सु' विभक्ति आती है, पश्चात् 'अनङ्' और 'दीर्घ' करनेपर 'माता' रूप बनता है।

अब हम कतिपय शब्दोंमें 'माता' शब्दका निर्वचन करते हैं। यथा—

(१) माति भगवन्तं स्वापत्यरक्षणाय प्रार्थयते या सा माता।
(२) माति सदपत्योत्पादनाय स्वपतिं कामयते या सा माता।
(३) माति निवर्तयत्यसदाचारेभ्यः प्रयोजयति च सत्कार्येषु या सा माता।
(४) माति संशोधयति मर्दनादिना पोषयति च शरीरमपत्यस्येति वा माता।
(५) माति शिक्षयति शौचाचारादिव्यवहारविशेषान् लोकोपयोगिनो या सा माता।
(६) माति मोचयति कष्टेभ्यः सुखयति च या सा माता।
(७) माति संहरति सकलशारीरश्रमं स्वीयामृतवचोभिर्या सा माता।
(८) माति सञ्जीवयति स्तन्यपानेनेति माता।
(९) माति निवारयति पुत्रहन्तारं दुष्टसरीसृपादिकं या सा माता।
(१०) माति अभिलषयति पुत्रकल्याणमिति माता।
(११) माति स्वीकुरुतेऽपत्यकृतां शुश्रूषामिति माता।
(१२) माति गृह्णाति धन-धान्यादीनि पुत्रोपार्जितद्रव्यजातानि या सा माता।
(१३) मानयति पूजयति लोकद्वारा पुत्रमिति वा माता।
(१४) मान्यते पूज्यते या सा माता।

'जो अपनी सन्तानकी रक्षाके लिये भगवान्से प्रार्थना करे, जो उत्तम सन्तानकी प्राप्तिके लिये अपने पतिसे काम-भोगकी प्रार्थना करे, जो अपनी सन्तानको बुरे आचरणोंसे बचाये तथा शुभ कार्योंमें प्रवृत्त करे, जो उसके शरीरको अपने दुग्ध आदिसे पुष्ट करे, जो लोकोपयोगी पवित्र आचार-व्यवहारादिकी शिक्षा दे, जो कष्टोंसे मुक्त करके सुख दे, जो अपनी अमृतमयी वाणीसे शरीरके कठिन-से-कठिन परिश्रमको दूर करे, जो अपने स्तनका दुग्ध पिलाकर जिलाये, जो दुष्ट साँप आदि जीव-जन्तुओंसे रक्षा करे, जो सर्वदा पुत्रके कल्याणकी इच्छा करे, जो पुत्रसे की गयी सेवाको स्वीकार करे, जो पुत्रकी कमायी हुई सम्पत्तिको ग्रहण करे, जो अन्य लोगोंसे अपने पुत्रकी पूजा कराये और जो स्वयं पुत्रद्वारा पूजी जाय—इस प्रकारकी गुणशीला महिलाको 'माता' कहते हैं।' (यह उपर्युक्त व्युत्पत्तियोंका संक्षिप्तार्थ है)।

हमारे पुराणोंके आचार्य भगवान् श्रीव्यासजीने ब्रह्मवैवर्तपुराणमें क्रमशः सोलह और चौदह प्रकारकी माताका उल्लेख किया है—

स्तनदात्री गर्भधात्री भक्ष्यदात्री गुरुप्रिया।
अभीष्टदेवपत्नी च पितुः पत्नी च कन्यकाः॥
सगर्भकन्या भगिनी पुत्रपत्नी प्रियाप्रसूः।
मातुर्माता पितुर्माता सोदरस्य प्रिया तथा॥
मातुः पितुश्च भगिनी मातुलानी तथैव च।
जनानां वेदविहिता मातरः षोडश स्मृताः॥*

(गणपतिखण्ड, १५।३९-४१)

---

* दुग्ध पिलानेवाली धाई, गर्भमें धारण करनेवाली माता, भोजन देनेवाली, गुरुकी स्त्री, अपने इष्टदेवकी पत्नी, पिताकी स्त्री अर्थात् अपनी सौतेली माता, जगत्की समस्त कन्याएँ, गर्भवती बहिन, लड़केकी बहू, अपनी पत्नीकी माता अर्थात् अपनी सास, माताकी माता अर्थात् अपनी नानी, पिताकी माता अर्थात् अपनी दादी, अपने भाईकी

अन्नदातुश्च या पत्नी भगिनी गुरुकामिनी ।
माता च तत्सपत्नी च कन्या पुत्रप्रिया तथा ॥
मातुर्माता पितुर्माता श्वश्रूः पित्रोः स्वसा तथा ।
पितृव्यस्त्री मातुलानी मातरश्च चतुर्दश ॥*
(ब्रह्मखण्ड, १० । १५४-१५५)

चाणक्यनीतिमें पाँच प्रकारकी 'माता' का उल्लेख मिलता है । यथा—

राजपत्नी गुरोः पत्नी मित्रपत्नी तथैव च ।
पत्नीमाता स्वमाता च पञ्चैता मातरः स्मृताः॥ †
(५ । २३)

उपर्युक्त माताओंके अतिरिक्त किसी भी स्त्रीको यदि कोई 'माँ' कहकर पुकारता है तो वह भी उसके लिये 'माता' के सदृश ही है । इसी बातको निम्नलिखित श्लोकमें देखिये—

मातरित्येव शब्देन यां च संभाषते नरः ।
सा मातृतुल्या सत्येन धर्मसाक्षी सतामपि ॥
(ब्र० वै० ब्रह्मखण्ड)

, शास्त्रोक्त माता-पिता आदि गुरुजनोंमें शास्त्रमर्मज्ञोंने माताको ही सर्वश्रेष्ठ बतलाया है । जैसे—

उपाध्यायान् दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता ।
सहस्रं तु पितॄन् माता गौरवेणातिरिच्यते ॥‡
(मनुस्मृति २ । १४५)

उपाध्यायाद्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता ।
पितुर्दशशतं माता गौरवेणातिरिच्यते ॥
(वसिष्ठस्मृति अध्याय १३)

पितुः शतगुणं माता पोषणाद् गर्भधारणात् ।
वन्द्या पूज्या च मान्या च प्रसूः स्याद् वै वसुन्धरा ॥
(ब्र० वै० गणपतिखण्ड, ४४ । ६१)

पितुः शतगुणा माता गौरवेणातिरिच्यते ।
(ब्र० वै० प्रकृतिखण्ड, ३४ । ७)

पितुः शतगुणा माता वन्द्या पूज्या गरीयसी ।
(ब्र० वै० कृष्णजन्मखण्ड, ५९ । ४४)

और भी देखिये—

जनको जन्मदानाच्च पालनाच्च पिता स्मृतः ॥
गरीयान् जन्मदातुश्च सोऽन्नदाता पिता मुने ।
विनान्नं नश्वरो देहो नित्यं च पितुरुद्भवः ॥
तयोः शतगुणं माता पूज्या मान्या च वन्दिता ।
गर्भधारणपोषाभ्यां सैव प्रोक्ता गरीयसी ॥
(ब्र० वै० गणपतिखण्ड, ४० । ८४–८६)

'जन्म देनेके कारण पिताकी 'जनक' संज्ञा तथा पालन करनेके कारण 'पितृ' संज्ञा होती है । किन्तु जन्म देनेवाले जनककी अपेक्षा अन्नादि देनेवाला पिता श्रेष्ठ कहलाता है; क्योंकि अन्नके बिना देहका रक्षण सर्वथा अशक्य ही होता है । अतः पालन करनेवाले पिताकी नित्य ही आवश्यकता होती है । इस प्रकार जनक तथा पिताका महत्त्व अधिक होते हुए भी इन दोनोंसे भी सौगुना अधिक माता माननीय तथा पूजनीय होती है; क्योंकि माता बालकको पहले (नौ महीनेतक) गर्भमें धारण करती है और पीछे उसका पालन-पोषण भी करती है । अतएव गुरुजनोंमें माताका ही पद सर्वश्रेष्ठ है ।'

व्यवहारमें भी हम जब कभी सुख-दुःखमें गौरी-शङ्कर, सीता-राम, राधा-कृष्ण एवं लक्ष्मी-नारायण आदि भगवन्नामोंका उच्चारण करते हैं, उस समय सर्वप्रथम हमारे समक्ष जगज्जननीका ही नाम उपस्थित होता है । इसी प्रकार हमारी वैदिक श्रुति भी जहाँ हमें माता-पिताकी सेवा-शुश्रूषाके लिये आज्ञा देती है, वहाँ वह

स्त्री, माताकी बहिन अर्थात् अपनी मौसी, पिताकी बहिन अर्थात् अपनी बूआ और मामी—ये सोलह प्रकारकी वेदोक्त माताएँ संसारी मनुष्योंके लिये कही गयी हैं ।

* अन्नदाताकी स्त्री, अपनी बहिन, गुरुकी स्त्री, माता, माताकी सौत, अपनी पुत्री, पुत्रकी स्त्री, माताकी माता अर्थात् अपनी नानी, पिताकी माता अर्थात् अपनी दादी, सास, पिता तथा माताकी बहिन अर्थात् अपनी बूआ और मौसी, चाचाकी स्त्री अर्थात् अपनी चाची और मामी—ये चौदह प्रकारकी माताएँ शास्त्रोंमें कही गयी हैं ।

† राजाकी स्त्री, गुरुकी स्त्री, मित्रकी स्त्री, पत्नीकी माता अर्थात् अपनी सास और अपनी माता—ये पाँच प्रकारकी माताएँ शास्त्रोंमें कही गयी हैं ।

‡ दस उपाध्यायोंकी अपेक्षा आचार्य, सौ आचार्योंकी अपेक्षा पिता और हजार पिताओंकी अपेक्षा माताका गौरव अधिक होता है ।

सर्वप्रथम 'मातृदेवो भव' इसीका उपदेश करती है। इस विषयमें इतना ही अलम् होगा।

माता अपने पुत्रके लिये क्या नहीं करती। वह अपने पुत्रको नौ मासतक अपने उदरमें धारण कर गर्भस्थित बालककी इस प्रकार सेवा करती है, जिससे उसे सुख पहुँचे। तत्पश्चात् जन्म लेनेके बाद बालकको अपना अमृतरूपी दुग्ध पान कराकर तथा उसका लालन-पालन कर उसे सब तरहसे सुयोग्य बनाती है। वेदमें भी कहा गया है—

यदा पिपेष मातरं पुत्रः प्रमुदितो धयन्।
एतत्तदग्ने ऽनृणो भवाम्यहतौ पितरौ मया॥
(शुक्लयजुर्वेद १९। ११)

'शैशवावस्थामें पुत्ररूप मैंने अत्यन्त प्रसन्नतासे अपनी माताका स्तन्य-पान करते हुए जो अपने दोनों पैरोंसे प्रहार किया था। अग्ने! वही मैं तुम्हारे साक्षित्वमें माता-पिता दोनोंके ऋणसे मुक्त हुआ। वस्तुतः मैंने अपने माता-पिताको कभी क्लेश नहीं दिया है। अर्थात् जो अपने माता-पिताका प्रत्युपकार करनेमें असमर्थ होता है, वही उनको क्लेश देनेवाला होता है।'

पाठकगण! स्वार्थकी सत्ता प्राणिमात्रमें पायी जाती है। स्वार्थको ही प्रधान लक्ष्य रखकर प्रत्येक प्राणी एक-दूसरेसे सम्बन्ध और प्रेम-व्यवहार करता है। इस प्रकारकी बात मनुष्योंमें ही नहीं, बल्कि देवताओंमें भी पायी जाती है; किन्तु मातामें इसका सर्वतोभावेन अभाव पाया जाता है। वह सर्वदा अपने पुत्रसे निःस्वार्थ प्रेम करती है। माताकी ममताका क्या कहना? वह पुत्रके लिये अनेक कष्ट उठाती है। पुत्र-स्नेहके सामने वह कठिन-से-कठिन कष्टोंकी भी तनिक भी परवा न करती हुई पुत्रकी सेवा-शुश्रूषा करती है। वह अपने पुत्रकी सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास आदिसे रक्षा करती है। जबतक बालक अपने हाथसे स्वयं उठाकर अन्न-जल आदि ग्रहण करनेमें असमर्थ रहता है, तबतक वह खुद बड़े उत्साहके साथ अपने हाथोंसे उसे खिलाती-पिलाती है और उसकी रक्षा करती है। स्वयं भूखी रहकर पहले अपने बालकको खिलाती है। बालकके रोगी होनेपर उसकी नीरोगताके लिये प्राणोंकी बाजी लगा देती है। बालकके कारण महीनों नहीं, वर्षों रात-रातभर जागरण करती है, उसके मल-मूत्रपर स्वयं शयन कर उसे सूखी जगहपर सुलाती है और अपने बालकको हमेशा साफ-सुथरे कपड़ोंसे सुसज्जित रखती है। अर्थात् हमारे कल्याणमें ही हमारी माताएँ अपना कल्याण समझती हैं, हमारे सुख-दुःखमें ही वे अपना भी सुख-दुःख देखती हैं। यदि हमारी माताएँ इस प्रकारके कष्टोंका सामना कर हमारी रक्षा न करें तो हम कथमपि जीवित नहीं रह सकते। ऐसी दयामयी, करुणामयी, स्नेहमयी प्यारी माताके उपकारका बदला हम जन्म-जन्मान्तरमें तो क्या, कल्प-कल्पान्तरमें भी नहीं चुका सकते। अतः मातासे बढ़कर इस संसारमें पुत्रके लिये और कोई देवता आदि नहीं हैं। जैसा कि हमारे धर्माचार्योंने भी कहा है—

'नास्ति मातृसमं दैवम्।' (उशनःसंहिता १। ३५)
'नास्ति मातुः परो गुरुः।' (अत्रिस्मृति श्लो० १४८)
'नास्ति मातृसमो बन्धुः।' (ब्र० वै० ब्रह्मखण्ड, ११।१८)
'नास्ति मातुः परं तीर्थम्।' (पद्मपु० भूमिख० ६३।१३)
'न मातुर्दैवतं परम्।' (चाणक्यनीति १७। ७)
'माता पृथिव्या मूर्तिस्तु।' (मनुसंहिता २। २२५)
'मातृदेवो भव।' (तैत्तिरीयश्रुति ७। ११।१।४)

कुछ लोगोंकी धारणा है कि माता सुन्दर और सुयोग्य पुत्रसे प्रेम करती है, कुरूप एवं अयोग्य पुत्रसे प्रेम नहीं करती। ऐसी बात माताके हृदयमें स्वप्नमें भी नहीं आ सकती। माताकी दृष्टिमें दोनों तरहके पुत्र समान हैं और वह समानरूपमें ही दोनोंसे प्रेम करती है। माताके लिये पुत्र कैसा भी क्यों न हो—लँगड़ा हो, काना हो, अंधा हो, गूँगा हो, काला-कलूटा हो, कुरूप हो अथवा रगड़ा-झगड़ा करनेवाला ही क्यों न हो;

किन्तु वह उसे अपने प्राणोंसे भी अधिक प्यारा समझती है। शास्त्रकारोंने तो स्पष्ट ही कहा है —

'कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति।'

इतना ही नहीं, और भी कहा है—

कुपुत्राः कुत्रचित् सन्ति न कुत्रापि कुमातरः।
कुत्र माता पुत्रदोषं तं विहाय च गच्छति॥*

(ब्र० वै० गणपतिखण्ड, २२।३५)

यह है माताका पुत्र-प्रेम! माताके लिये सभी शास्त्रोंका आदेश है कि 'माता कैसी ही क्यों न हो उसकी सेवा विना विचारे करनी चाहिये।' देखिये, आपस्तम्बधर्मसूत्र क्या कहता है—

'माता पुत्रस्य भूयांसि कर्माण्यारभते तस्यां शुश्रूषा नित्या पतितायामपि।' (१।१०।२८।९)

'माता पुत्रके लिये अनेक प्रकारके कष्ट सहन करती है; अतः माता यदि पतित हो जाय, तो भी उसकी सेवा करना पुत्रका धर्म है।'

पद्मपुराणके भूमिखण्डमें लिखा है—

माता न पूजिता येन तस्य वेदा निरर्थकाः।
यज्ञैश्च तपसा विप्र किं दानैः किञ्च पूजनैः॥
प्रयाति तस्य वैफल्यं न माता येन पूजिता।†

(६३।१९, २०)

अन्यत्र भी कहा है—

मातरं पूजयेद् भक्त्या पितुश्चाप्यधिकां तथा।

(ब्र० वै० कृष्णजन्मखण्ड, ८४।२१)

मातृपूजा एवं मातृसेवाका महत्त्व अगाध और अनिर्वचनीय है। अतः मानवमात्रको मातृ-सेवाद्वारा अपने तुच्छ जीवनको सार्थक बनाना चाहिये। इस विषयमें इतना ही निवेदन कर अन्तमें हमारी कृपालु प्रभुसे हार्दिक प्रार्थना है कि वे समस्त मानव-जातिके हृदयमें मातृभक्तिका प्रसार करते हुए सबको मातृ-सेवाकी ओर प्रवृत्त करें।

ईश्वर-भक्तिका ज्वलन्त उदाहरण

(लेखक—पं० श्रीलज्जाशङ्करजी झा, एम्० ए०)

अभी हालमें ही मुझे जबलपुर शहरमें एक सधवा स्त्रीकी ईश्वर-भक्ति तथा पवित्र श्रद्धा-भावका एक ज्वलन्त उदाहरण देखनेको मिला। आशा है कि 'कल्याण' के पाठकोंको उसका वर्णन रुचिकर होगा।

कुछ लोगोंका मत है कि युग-परिवर्तन हो रहा है और धर्मके भावोंमें बहुत बल आयेगा। यह मत ठीक हो या न हो; पर यह देखनेमें आता है कि लोगोंमें धर्मकी भावना जग तो रही है और अनेक अंगरेजी पढ़े लोगोंके भी जीवनमें धर्म-कर्म, कथा आदिमें श्रद्धा देखनेमें आने लगी है और उनके आचार-विचारमें विचित्र परिवर्तन देखनेमें आ रहा है। पिछले सितम्बरमें जो दृश्य मेरे देखनेमें आया, उससे साफ़ जाहिर होता है कि धर्मकी भावना इस कलियुगमें भी नष्ट नहीं हुई है और श्रीकृष्णके उपदेशोंका मान अब भी लोग श्रद्धापूर्वक करते हैं।

मेरे पड़ोसमें रायबहादुर पं० महेशदत्त पाठककी बड़ी कन्या सौ० शान्तादेवी ठाकुर (जिनकी उम्र ३१ सालकी थी, जिनके तीन बच्चे हैं और पति शिक्षाविभागमें ऊँचे दर्जेके अफ़सर हैं) अधिक बीमार हो गयी थीं। मैं उनका हाल पूछने गया। देखा कि हालत खराब हो गयी है, शान्तादेवीको खाटसे उतार दिया गया है; पर रोना-धोना कुछ नहीं है, कहीं गीता-पाठ, कहीं ईश्वर-भजन, कहीं राम-नाम हो रहा था। स्वयं शान्ताके मुखसे ध्वनि तो नहीं निकलती थी, पर ओठोंके चलनेसे यह साफ़ दिखता था कि वे 'नारायण, नारायण' कह रही हैं, मरनेके उपरान्त भी इसी तरह शान्तिपूर्वक ईश्वरका नाम परिवारके लोगोंके मुखसे निकलता रहा। जब शवको श्मशानपर ले गये,

---

* कुपुत्र तो यत्र-तत्र देखे जाते हैं, किन्तु कुमाता कहीं भी नहीं देखी जाती। और यह भी कहीं नहीं देखा गया है कि माता अपने पुत्रको दोषी जानकर उसका त्याग कर बैठे।

† जिसने कभी अपनी माताका अर्चन-पूजन नहीं किया, उसके समस्त वेद (ज्ञान), यज्ञ, तप, दान, पूजन आदि व्यर्थ हैं।

उस समय भी 'नारायण, नारायण' के सिवा और कोई ध्वनि न सुनायी देती थी । स्वयं माता तथा बहिनोंने भी शान्तिपूर्वक शान्तादेवीके शवको विदा किया । कालिदासने कुमारसम्भवमें बिल्कुल ठीक कहा है—

विकारहेतौ सति विक्रियन्ते
येषां न चेतांसि त एव धीराः ।

अर्थात् सुख-दुःखका समय आनेपर जिसका मन विचलित नहीं होता, वही धीर है ।'

भगवद्गीतामें श्रीकृष्णका उपदेश है—

गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥
(२ । ११)

अर्थात् 'समझदार मनुष्य किसीके मरने या न मरनेका दुःख नहीं करते ।'

भगवान् श्रीकृष्ण फिर कहते हैं—

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥

'इस देहके सम्बन्धसे आत्माको जैसे कुमार, युवा और वृद्धावस्था प्राप्त होती कही जाती है, वैसे ही मरनेके बाद दूसरा शरीर भी मिलता है । ऐसे विषयोंमें धीर पुरुष मोहित नहीं होता (अर्थात् मृत्युको एक मामूली बात समझता है) । रायबहादुर पण्डित महेशदत्त पाठक अंग्रेजीदाँ हैं और ऊँचे दर्जेके सरकारी अफसर भी रहे हैं । पर उनमें विशेषता यह रही कि उनके आचार-विचार और संस्कृति कर्तव्यनिष्ठ ब्राह्मणोंके-से रहे हैं । वे पूजा-पाठ, जप-तप आदि कर्मोंके तथा धर्मशास्त्रोंके प्रेमी रहे हैं और हैं भी । उनके घरमें आपत्तिके समय यदि धैर्यसे काम लिया गया तो इसमें कोई ताज्जुबकी बात नहीं ।

पता लगानेपर मालूम हुआ कि शान्तादेवीकी प्रबल इच्छा थी कि उसके मरनेपर कोई दुःख न करे, मुखसे केवल भगवद्भजन या राम-नाम निकले । घरके लोगोंने उसकी इच्छाका पूरी तरहसे ध्यान रखा । सोलह महीने (या अधिक समय) से शान्तादेवीने बाल-बच्चोंका, पतिका, धनका, माता-पिताका तथा खाने-पीनेका मोह बिल्कुल छोड़ दिया था, केवल ईश्वर-भजनमें सारा समय बिताती थी । पड़ोसियोंसे मिलना-जुलना बंद कर दिया था । संसारकी बात बिल्कुल नहीं करती थी । जो राम-नाममें शामिल होना चाहते, उन्हींको पास आने देती थी । जैसे मीराबाईने कहा है—'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई ।' वही हाल उसका भी रहा । गौरीशङ्कर, सीताराम हनूमान् आदि सभी उनके वन्द्य थे । शनि तथा मङ्गलको महावीरका प्रसाद आरतीके उपरान्त बाँटा करती थी । पर मुख्य उपासना वह श्रीकृष्ण रूपकी करती थी । श्रीकृष्णकी तस्वीर सदा गलेसे लगी रहती थी और मरते समय भी अपने हृदयपर सफलतापूर्वक रखे रही ।

मैं शान्तादेवीको बचपनसे जानता था । उसमें बचपनसे ही दृढ़संकल्पताके चिह्न दिखायी देने लगे थे । वह जरा-सी बातपर बुरा भी मान जाती थी । पर 'होनहार बिरवानके होत चीकने पात ।' उसमें बचपनसे ही भजन-पूजन तथा धर्मग्रन्थोंके अवलोकनका शौक था, पिताकी पूजा, तर्पण तथा हवन आदिकी तैयारी करनेमें उसका बड़ा मन लगता था और फिर पास बैठकर सब क्रिया एकटक होकर देखा करती थी । जिन दिनों वह साढ़े चार वर्षकी थी, एक दिन सोकर उठनेपर उसने राम-नाम नहीं लिया और जिदमें आ गयी कि न लूँगी । पिताने चपत जमा दिया और जबरदस्ती नाम लिवाया । मरनेके दिन पिताको दुखी देख कहने लगी कि 'तुम्हींने मुझे मन्त्र उपदेश दिया था; अब मैं राम-नाम लेती हुई मरूँगी, तुम दुःख न करना ।' पिताको इस घटनाकी याद भी न थी, पर वह लड़की उस उपदेशको न भूली ।

बालकपन उसका माता-पिताके स्नेहमें तथा धार्मिक वातावरणमें बीता, १४वें वर्ष विवाह हुआ; कई बालक भी हुए, जिनमें दो लड़कियाँ तथा एक लड़का जीवित हैं । वैराग्य उत्पन्न होनेके पहले बच्चोंपर खासा प्रेम था ।

सुनते हैं कि प्रायः डेढ़-दो साल हुए, किसी धर्मानुरागीने शान्तादेवीको शरीरकी स्थूलता घटानेके

लिये यह सलाह दी थी कि 'सप्ताहमें एक दिन पूरा उपवास करो—नाममात्रको मट्ठा, लस्सी, दूध या चा पीकर उस दिन काम चलाओ।' यह सलाह बड़ी लाभकारी हुई। शरीर छँटकर इकहरा रह गया और वजन कम हो गया। इतनेमें धर्मभाव इतना बढ़ा कि जो व्रत सप्ताहमें एक बार करनेको कहा गया था, कि वह रोज ही किया जाने लगा। एक प्याली चा या मट्ठेपर शरीर-यात्रा चलने लगी। जिस दिन शान्तादेवी स्वयं ही कोई पूजा या हवन करती, उस दिन थोड़ा-सा प्रसाद भी ले लेती। इतने स्वल्प आहारके भरोसे काठी कितने दिन चल सकती थी? कमजोरी बढ़ती गयी, साथ ही घरके लोगोंकी चिन्ता भी बढ़ती गयी; चिन्ता ही नहीं, कुछ लोगोंको उसके जीवनमें भी सन्देह होने लगा था; क्योंकि वह दवा या अन्न कुछ भी लेनेको राजी न होती। किसीकी सलाह भी न मानती, अपनी ही धुनमें मस्त रहती। जैसे कबीरसाहबने कहा है—

हमन् है इश्क मस्ताना, हमनको होशियारी क्या।

अर्थात् हम तो ईश्वर-प्रेममें मस्त हैं, हमको होशियार-समझदार बननेकी जरूरत ही क्या है।

या जैसा मीराबाईने कहा है—

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई,
संतन ढिग बैठ बैठ, लोकलाज खोई।
अब तो बात फैल गई, जानत सब कोई,
अँसुअन जल सींच-सींच प्रेम-बेल बोई॥

यही हाल शान्तादेवीका हो गया।

इस विचित्र परिवर्तनका कारण यह बतलाते हैं कि करीब सवा या डेढ़ साल हुआ, वह खँडवे (मध्यप्रदेश) में थी। वहाँ उसे स्वामी केशवानन्दजीकी गद्दीके दर्शन हुए और कुछ उपदेश भी मिला। दर्शनके उपरान्त शान्तादेवीकी धर्मपर आस्था एकाएक बढ़ गयी। घरके लोगोंने बहुत-कुछ समझाया-बुझाया, धमकाया भी—कुछ भी असर न हुआ। लाचार छः महीने हुए, पतिने उसे बाल-बच्चोंके साथ पिताके घर जबलपुर भेज दिया। माता-पिता, भाई-बहिनोंने गृहस्थीकी ओर लानेका पूरा प्रयत्न किया, पर शान्तादेवी अपनी लगनपर अटल रही।

मरनेके छः-सात दिन पहले शान्तादेवीने माता-पितासे प्रार्थना की कि 'मुझे दादाजीके स्थान तथा समाधिके दर्शन करा दो, तभी मेरे मनको शान्ति मिलेगी और सुखसे मृत्यु होगी।' संयोगवश साथ भी अच्छा मिल गया। खँडवा जाकर और दर्शन करके लौट आयी, पर संसारयात्रा पूरी होनेका समय भी आ गया।

अन्तसमयमें माँ एवं बहिनोंको बुलाकर कहा कि 'आज तुम सब मिलकर मेरे भजनमें साथ दो' और 'भज मन नारायण' का जप करते-करते छः बजे शामको देह त्याग दिया। मरनेपर भी चेहरा शान्त तथा सुखी दीखता था, ध्यान-मग्न भी मालूम होता था।

विचार करनेका विषय है कि ३१ वर्षकी तरुण स्त्री, जिसको माँ-बापने बड़े प्रेमसे पाला था, जिसका विवाह अच्छे शिक्षित सज्जनके साथ हुआ था, जिसे खाने-पीनेका तथा बाल-बच्चों आदिका सांसारिक सुख प्राप्त था, उसकी चित्तवृत्ति एक साथ बदल गयी; उसने एकबारगी दुनियाके सब नाते तोड़ दिये और केवल 'नारायण' नामकी रटमें मगन हो गयी। इस रटके पीछे अठारह महीनोंतक भूख-प्यासकी कड़ी वेदनाओंको कुछ न समझा, बाल-बच्चोंको भुला दिया, पड़ोसियों तथा सहेलियोंको पास न आने दिया (वे भजनमें शामिल होनेपर ही पास फटकने पाते थे)। अन्तमें प्रसन्नमुख ईश्वरकी शरणमें चली गयी! क्या ही विचित्र तथा प्रबल लगन रही होगी!! भर्तृहरिने कहा है कि 'मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुःखं न च सुखम्।' अर्थात् 'जो बुद्धिमान् और कार्य करनेवाले होते हैं, वे न दुःखको समझते हैं न सुखको।'

उपर्युक्त विवरण पढ़कर पाठकोंके मनमें कई प्रश्न उठेंगे—जैसे ईश्वर-आराधनाके लिये क्या

आवश्यक था कि शरीर भूखसे गिरा दिया जाय ? अथवा शान्ता स्त्रीका क्या यह धर्म नहीं था कि अपने परिवार तथा बाल-बच्चोंके प्रति अपना कर्तव्य पूरा करती ? अन्य धर्मोंकी अवहेलना कर वह एक ही मार्ग-पर क्यों गयी ? इत्यादि ऐसे प्रश्न मीराबाईके विषयमें भी पूछे गये होंगे । उनके उत्तर वही आत्माएँ दे सकती हैं, हम नहीं । हमें यही देखना है कि शान्तादेवीकी आत्मा राम-मिलनकी चाहमें ऐसी लवलीन हो गयी कि बाकी सब नाते अपने-आप क्षीण हो गये । जो आत्मा अठारह महीनेतक भूख-प्यासकी परवा न करे, संसारके सब नाते भूलकर एक लगनमें स्थिर रहे, वह कोई मामूली आत्मा न थी ।

अन्तमें ईश्वरसे यही प्रार्थना है कि वे शान्तादेवीकी पवित्र वासनाकी तृप्ति करें ।

गीताका तीसरा अध्याय—कर्मयोग

(लेखक—पं० श्रीमुरलीधरजी शर्मा, बी० ए०, बी० एल्०)

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
(गीता ३ । २०)

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥
(गीता ३ । १९)

'कर्मके द्वारा ही जनक आदि (महापुरुषों) ने परमसिद्धि प्राप्त की थी' 'इसलिये (हे अर्जुन !) तुम आसक्तिरहित होकर निरन्तर अपना कर्तव्य-कर्म भलीभाँति करते रहो; क्योंकि अनासक्तभावसे काम करता हुआ पुरुष परमपद प्राप्त कर लेता है ।'

प्राक्कथन

गीताका गौरव

श्रीमद्भगवद्गीता हिंदुओंका अत्यन्त प्रामाणिक और सर्वमान्य धर्मग्रन्थ है । उपनिषद् और ब्रह्मसूत्रोंके साथ इसकी भी 'प्रस्थानत्रयी' में गणना है । इसमें अत्युच्च दार्शनिक तत्त्व और आदर्श व्यावहारिक जीवनके नियमोंका बड़े ही अनोखे और मनोहारी ढंगसे मेल किया गया है । भाषाके अति सरल होनेपर भी भाव समुद्रके समान गम्भीर और आकाशके सदृश विशाल हैं । अर्थकी इस उदारताके कारण भिन्न-भिन्न प्राचीन सम्प्रदायोंके धर्माचार्योंने तथा आधुनिक सामाजिक एवं राजनैतिक महारथियोंने इस ग्रन्थके अनुपम पवित्र उपदेशको अपने-अपने विभिन्न विचारोंका पोषक, विषम परिस्थितियोंमें सहायक और क्षुब्ध हृदयके लिये अत्यन्त शान्तिप्रद माना है । महाभारतके युद्ध तथा भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण और महर्षि वेदव्यासकी ऐतिहासिकतामें हमें पूर्ण विश्वास है; पर इनकी ऐतिहासिकतापर सन्देह प्रकट करनेवालोंने भी भगवद्गीताकी महत्ता, उपयोगिता और उदारताको मुक्तकण्ठसे स्वीकार किया है । उपनिषदोंके ब्रह्मज्ञान, भागवतधर्मकी भक्ति और निष्काम कर्मयोगका अनूठा मिलाप करके एकदेशीयताकी परम्परागत कमीको हटानेसे गीता सर्वथा पूर्ण, पर्याप्त और सर्वमान्य बन गयी है । इस विशेषताके कारण ही महाभारतके प्रसिद्ध टीकाकार विद्वद्वर नीलकण्ठने कहा है—

भारते सर्ववेदार्थो भारतार्थश्च कृत्स्नशः ।
गीतायामस्ति तेनेयं सर्वशास्त्रमयी मता ॥

अर्थात् 'महाभारतमें सब वेदोंका अर्थ है और महाभारतका अर्थ पूर्णतया गीतामें है; इसलिये यह सर्वशास्त्रमयी है यानी गीतामें सर्वशास्त्रोंका अभिप्राय आ गया है ।'

इस दिव्य सन्देश और उपदेशके लिये जितने हम नर-नारायणके अवतार अर्जुन और श्रीकृष्णके आभारी हैं, उतने ही या उससे भी कुछ अधिक, महाभारतकार महर्षि वेदव्यासके ऋणी हैं, जिन्होंने प्राणीमात्रके उपकारके लिये उक्त संवादको सात सौ श्लोकोंमें लिखकर भावी सन्तानके लिये एक अमूल्य निधि छोड़ दी है । ऐसे अनुपम ग्रन्थरत्नके रहनेपर भी हमारे देश तथा समाजके लोग अज्ञ, अकर्मण्य, श्रद्धाहीन और उत्साहशून्य इसलिये हैं कि वे अपने जीवनमें इस सञ्जीवनीके रसको काममें ही नहीं लाते । यदि किसी पाश्चात्त्य राष्ट्रके स्त्री-पुरुषोंको हमारा दर्शनशास्त्र उत्तराधिकारमें मिलता तो उन्हें इसपर एक राज्यके मिलने-जितना गर्व

होता । इस ग्रन्थके विषयमें कही जानेवाली लोकविदित उक्ति कोई अत्युक्ति नहीं है कि—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।

'अकेली गीताका ही अध्ययन अच्छी तरहसे कर लेना काफी है; दूसरे शास्त्रोंके विस्तारसे क्या प्रयोजन है ?'

अब यह एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि गीताके अर्थकी वह क्या विशेषता और उपयोगिता है, जिसके कारण देश-विदेशके प्राचीन और आधुनिक भिन्न-भिन्न मतावलम्बी धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक विद्वान् और कार्यकर्ताओंने इस ग्रन्थको इतना अधिक महत्त्व दिया । संसारमें कल्याण-प्राप्तिके तीन मार्ग बतलाये गये हैं—ज्ञान, कर्म और भक्ति । इन तीनोंका सामञ्जस्य जितनी सुन्दरतासे गीतामें किया गया है, वैसा और कहीं नहीं मिलता ।

गीताका प्रतिपाद्य विषय क्या है ?

'गीताका मुख्यतया प्रतिपाद्य विषय क्या है ?'—इसके बारेमें लोगोंका मतभेद रहा है । जगत्प्रसिद्ध तत्त्वज्ञानी स्वामी श्रीशङ्कराचार्यके समयसे आजतक जो भिन्न-भिन्न लोगोंद्वारा लिखे गये भाष्य, विवरण, टीका और वृत्तिग्रन्थ उपलब्ध हैं उनमेंसे कुछ ज्ञानमूलक कर्मसंन्यासको, कई अनन्य भगवद्-भक्ति और शरणागतिको और अन्य निष्काम कर्मयोगको भगवद्गीताका प्रधान अर्थ बतलाते हैं । हम उन सब धर्माचार्यों और विद्वानोंकी योग्यता, सचाई और विद्वत्ताका समुचित आदर करते हैं । उनके विचारोंकी तुलना या समालोचना करना कोई इस निबन्धका उद्देश्य नहीं है । सच कहा जाय तो वस्तुस्थिति यह है कि ग्रन्थके अर्थका स्वतन्त्ररूपसे मनन करनेसे पहले ही टीकाकारोंके दृष्टिकोणोंको अपनानेकी चेष्टा करनेके कारण गीताका अर्थ दुरूह हो गया है । मूलग्रन्थका मनन कीजिये, फिर अर्थका निर्णय करनेमें वह कठिनाई न रहेगी । न भगवान्ने अपने हृदयमें सौ अर्थोंको रखकर गीताका उपदेश दिया है और न अर्जुनको उसके अनेक अर्थ प्रतीत हुए हैं । संवादके अन्तमें भगवान्ने प्रश्न किया है—'अर्जुन ! क्या तुमने मेरे उपदेशको ध्यानसे सुना ? क्या तुम्हारा अज्ञानजनित मोह दूर हो गया' (गीता १८ । ७२)। इसपर अर्जुनने पूर्णतया सन्तोषजनक उत्तर दिया—'आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया; मुझे अपने यथार्थ स्वरूपका ज्ञान हो गया । अब मैं सन्देहरहित हो गया हूँ और आपके वचनका पालन करूँगा ।' (गीता १८ । ७३) । 'वचन'से तात्पर्य भगवान्के उस उत्तेजक वाक्यसे है, जिसे उन्होंने अर्जुनको अत्यन्त विषादयुक्त देखकर प्रारम्भमें कहा था—'हे अर्जुन ! तू नामर्द मत बन; तुझे यह शोभा नहीं देता । हे शत्रुतापन ! हृदयके कमीने कायरपनको छोड़कर (युद्धके लिये) खड़ा हो ।' (गीता २ । ३) संक्षेपमें, यदि हम गीताके कहे जानेके समय और परिस्थितिको ध्यानमें रखकर तथा उपदेशके द्वारा अर्जुनपर पड़े हुए प्रभावका मनन कर तात्पर्यको खोजें तो वह दुर्लभ न रहेगा । अर्जुनने युद्धके समय अपने वृद्ध, गुरु, भाई-बन्धु और सम्बन्धियोंको देखकर यह विचारा कि 'इनको मारनेसे हमें पाप ही लगेगा ।' 'इन स्वजनोंको मारकर हम क्योंकर सुखी होंगे ।' (गीता १ । ३६-३७) इन भावोंके प्रबल प्रवाहने अर्जुनको स्वधर्म—न्यायसङ्गत युद्धसे हटाकर विषादके महासागरमें डाल दिया । इस कुलघाती संग्रामसे अर्जुनको इतनी घृणा हो गयी कि वह इसकी अपेक्षा क्षात्र-धर्मविरुद्ध भिक्षावृत्तिके द्वारा भी जीवन-निर्वाह करनेको श्रेष्ठ समझने लगा । बस, ऐसे विषम समयमें अर्जुनको न भक्तिके उपदेशकी जरूरत थी और न कर्मसंन्यासकी, जिसके लिये वह पहलेसे ही तैयार था । आवश्यकता थी केवल अर्जुनको कर्तव्य-कर्म—युद्धके लिये प्रेरित और प्रोत्साहित करनेकी; पर अर्जुन बन्धुहत्याके पापसे डर रहा था । भगवान्ने उसके संशयोंको दूर करते हुए कहा—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥

× × × ×

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥
योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥

(गीता २ । ३८, ४७-४८)

---

[1] Men and women of any western nation, had they inherited our philosophy, would have been as proud of it as of an empire.—(C. Raja Gopalachari's preface to the Second edition of his 'Bhagavadgita.')

'सुख-दुःख, हानि-लाभ, जय-पराजय (आदि द्वन्द्वधर्मों) को समान समझकर तू युद्धमें लग जा, ऐसा करनेसे तुझे पाप नहीं लगेगा।' × × × × 'केवल कर्म करनेमें तेरा अधिकार है, कर्मफलपर कभी तेरा प्रभुत्व नहीं है; इसलिये केवल फलप्राप्तिकी आशासे तू काम मत कर। कर्म न करनेमें भी तेरी प्रीति नहीं होनी चाहिये। हे अर्जुन! तू आसक्तिको छोड़कर, सिद्धि और असिद्धिमें समान रहते हुए, 'योगस्थ' होकर काम कर। कार्यकी सफलता और निष्फलतामें समान रहनेको ही 'योग' कहते हैं।' सारांश, यदि मनुष्य स्वधर्मानुसार प्राप्त अथवा समाजकी अवस्था और समयकी परिस्थितिके हिसाबसे अपने हिस्सेमें आये हुए कर्मोंको कर्तव्य समझकर निष्काम-भावनासे करता रहे और उनके सुख-दुःखादि फलोंसे उद्विग्न न हो तो वे अनासक्त कर्म पाप-पुण्यादिके द्वारा कर्ताके बन्धनके कारण नहीं होते। यही कर्मयोगकी प्रक्रियाकी विशेषता है कि बन्धनशील कर्म भी उसके कारण अपना स्वभाव छोड़ देते हैं। इसीलिये भगवान्‌ने कहा है—'योगः कर्मसु कौशलम्' (गीता २। ५०) अर्थात् योग कर्म करनेकी कुशलता है। इस रीतिसे काम करते हुए मनु, जनक आदि महापुरुष कर्म-बन्धनसे छूटकर परमपदके अधिकारी हुए हैं। कर्म स्वतः जड और पङ्गु हैं, वे किसीको बाँध नहीं सकते। बन्धनका कारण है केवल काम या वासना; इसलिये त्याज्य वस्तु 'काम' है, न कि 'कर्म'। 'जिसके अहङ्कारका भाव नहीं है अर्थात् जो यह समझ चुका है कि तमाम काम प्रकृति कर रही है और प्रकृतिसे भिन्न शुद्धस्वरूप आत्मा केवल साक्षी है, कर्ता नहीं; जिसकी बुद्धि कर्मफलमें आसक्ति नहीं रखती, वह पुरुष यदि इन सब लोगोंको मार भी डाले तो उसका कर्म 'हत्या' नहीं कहा जायगा और न वह उस कर्मके फलसे बन्धनमें पड़ेगा।' (गीता १८। १७) बुद्धि ही प्रधान है, कर्म नहीं। अहंता, ममता और फलाशाको छोड़कर कर्तव्य-कार्यमें लगनेवाली बुद्धि कभी मनुष्यको पाप-पुण्यके बन्धनमें नहीं डाल सकती। कर्म भी कर ले और उसके बन्धनसे भी बचा रहे—ऐसा अनूठा उपदेश अर्जुनको खूब पसंद आया और वह निराशा एवं विषादको छोड़ अपने धर्मकार्य—युद्धमें लग गया। जिस विषम परिस्थितिमें गीताका उपदेश हुआ, उसे और साथ-ही-साथ अर्जुनकी मनोवृत्तिपर जो प्रभाव पड़ा, उसे देखते हुए यही कहना पड़ता है कि गीताका मुख्य विषय कर्मयोग है; भक्तिमार्ग और ज्ञाननिष्ठाकी चर्चा प्रसङ्गतः कर्मयोगकी साङ्गोपाङ्गता सम्पादन करनेके लिये ही की गयी है, स्वतन्त्ररूपसे नहीं। यदि ऐसा नहीं होता तो अर्जुन या तो संन्यास-दीक्षा ले लेता अथवा आसन लगाकर भजन करने बैठ जाता। कर्म-संन्यासकी ओर झुकाव रखनेवाला अर्जुन गीताके उपदेशसे कर्ममें प्रसन्नतापूर्वक प्रवृत्त हुआ है और ऐसा ही श्रीकृष्ण चाहते थे। इससे सिद्ध है कि गीतामें भगवान्‌को कर्मयोगका प्रतिपादन ही अभीष्ट था; लेकिन यह कर्मकी मीमांसा आध्यात्मिक दृष्टिकोणसे की गयी है, इसलिये गीताके प्रत्येक अध्यायके अन्तमें दिये हुए समाप्तिसूचक सङ्कल्पमें इसे 'ब्रह्मविद्याविषयक (कर्म-) योगशास्त्र'—'ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे' कहा है। गीता कर्मको या संसारको छोड़ना नहीं सिखलाती। वह तो प्रवृत्तिमें निवृत्ति, कर्ममें ज्ञान और संसारमें मोक्षका विचित्र उपदेश देती है। प्रपञ्च और परमार्थ—दोनों परस्पर विरुद्ध दीख पड़नेवाले विषयोंको साथ-साथ सिद्ध करनेका सुगम मार्ग—कर्मयोग—बतलाकर गीताने अपूर्व और अद्वितीय स्थान प्राप्त करनेका गौरव ले लिया है। गीता व्यवहारशास्त्र है; इसमें केवल उच्च सिद्धान्तोंका विवेचन और समन्वय ही नहीं किया गया है, उनको कार्यरूपमें परिणत करनेका उपाय बतलाकर उसे पालन करनेपर पूरा जोर दिया है। इस सैद्धान्तिकता और व्यावहारिकताके अपूर्व समन्वयके कारण ही गीता सार्वभौम और सर्वमान्य ग्रन्थ बन गया है।

तीसरे अध्यायकी विशेषता

उक्त कर्मयोगके सब पहलुओंका संक्षिप्त रूपसे जैसा मार्मिक विवेचन गीताके तीसरे अध्यायमें है, वैसा और किसी अध्यायमें नहीं है। सबसे बड़े महत्त्वपूर्ण प्रश्न 'ज्ञान होनेके बाद ज्ञानी पुरुषको कर्म करना चाहिये क्या?' का जैसा युक्तियुक्त, सरल और असन्दिग्ध उत्तर तीसरे अध्यायमें है वैसा और कहीं नहीं दीख पड़ता। इस प्रश्नकी सबसे बड़ी विशेषता इसलिये है कि इसका निर्णय एक बार ही इस बातका निपटारा कर देता है कि गीतामें प्रतिपाद्य विषय कर्मयोग है या कर्मसंन्यास। हमने लोगोंको गीताके दूसरे, दसवें, ग्यारहवें और पंद्रहवें अध्यायका स्वतन्त्ररूपसे पाठ करते देखा है। श्रीस्वामी शङ्कराचार्यजीने भी पंद्रहवें अध्यायके अन्तमें लिखा है कि उस अध्यायमें न केवल तमाम गीताका अपितु वेदोंका पूरा अर्थ आ गया है। ज्ञानयोगकी दृष्टिसे चाहे कुछ भी कहा जाय, पर कर्मयोगके नाते गीताका तीसरा अध्याय सर्वश्रेष्ठ और साङ्गोपाङ्ग है। गीताके तात्पर्यके निर्णय करनेकी दृष्टिसे हमें इस अध्यायकी योग्यता सर्वोच्च

दीख पड़ी है; इसलिये हम नीचेके पृष्ठोंमें उसके सम्पूर्ण श्लोकोंके अर्थका विवरण करनेका यत्न करेंगे। यह विद्या, बुद्धि या तर्ककी कसरतका कोई नमूना नहीं है। प्राचीन और अर्वाचीन भाष्यकार, टीकाकार और निबन्ध-लेखकोंके किये हुए अर्थको ध्यानपूर्वक पढ़नेके बाद स्वतन्त्र, तुलनात्मक और पक्षपातशून्य मननसे जैसा भी भाव गीताकारका हमें सूझ पड़ा है वह जनता-जनार्दनके सम्मुख निवेदित किया जा रहा है। हमें इस प्रतिपादनपर श्रद्धा और विश्वास है और वह भी पूर्ण और सकारण। हमारी विनीत प्रार्थना है कि जो भाई-बहिन सम्पूर्ण गीताका अध्ययन नहीं कर सकते, उन्हें कम-से-कम तीसरे अध्यायका पठन और अनुशीलन करके लाभ उठाना चाहिये।

तीसरे अध्यायका पूर्वापर-सम्बन्ध

'नित्य, अविनाशी और अचिन्त्य आत्माके इन सब शरीरोंको विनाशशील कहा गया है, इसलिये हे भरतवंशी अर्जुन! तू युद्ध कर।' (गीता २। १८)—इस वचनसे ज्ञानयोगकी दृष्टिसे; 'धार्मिक युद्धसे बढ़कर श्रेयस्कर और कोई बात क्षत्रियके लिये नहीं हो सकती।' 'हे अर्जुन! अपने-आप प्राप्त, खुला हुआ स्वर्गका द्वाररूप ऐसा युद्ध भाग्यवान् क्षत्रियोंको ही मिलता है।' 'मर गया तो तुझे स्वर्ग मिलेगा, विजयी होगा तो तू पृथ्वीका राज्य भोगेगा; इसलिये हे अर्जुन! युद्धके लिये कमर कसकर खड़ा हो।' (गीता २। ३१-३२, ३७) इत्यादि वाक्योंसे क्षात्रधर्मके विचारसे; और 'सुख-दुःख, लाभ-हानि और विजय-पराजयको समान समझकर तू युद्धमें पिल पड़। इस प्रकार (युद्ध) करनेसे तू पापका भागी नहीं होगा।' (गीता २। ३८)—इस कथनसे कर्मयोगके अनुसार द्वितीय अध्यायमें भगवान्ने युद्धकर्मकी प्रशंसा करते हुए उसे अवश्यकर्तव्य बतलाया। साथ-ही-साथ उन्होंने वहीं निम्नलिखित वचनोंसे 'बुद्धि' की प्रशंसा करते हुए उसकी कर्मयोगसे श्रेष्ठता बतलायी है—'जिस (कर्मयोगकी) बुद्धिसे युक्त होकर, हे अर्जुन! तू कर्मबन्धनसे भलीभाँति छूट जायगा' (गीता २। ३९); 'बुद्धियोगसे कर्म बहुत नीचे दर्जेकी चीज़ है, इसलिये हे अर्जुन! तू बुद्धिकी शरण ले' (गीता २। ४९); 'बुद्धियुक्त ज्ञानी लोग कर्मके फलको त्यागकर जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त हो शान्त परमपदको प्राप्त करते हैं' (गीता २। ५१); 'बुद्धिके नाशसे सर्वनाश हो जाता है' (गीता २। ६३) इत्यादि। ऐसी स्थितिमें अर्जुनके मनमें शङ्का हुई कि (युद्धरूप) कर्म श्रेष्ठ है या बुद्धि (ज्ञान)?

अर्जुनका प्रश्न (गीता ३। १-२)

'हे जनार्दन! यदि आप कर्मकी अपेक्षा बुद्धिको श्रेष्ठ मानते हैं तो फिर हे केशव! मुझे युद्धरूपी इस भयङ्कर कर्ममें क्यों लगाते हैं? मिली हुई-सी बात कहकर आप मानो मुझे मोहमें डाल रहे हैं; इसलिये मुझे एक बात निश्चय करके बतलाइये, जिससे मेरा कल्याण हो।'

इस प्रकार अर्जुनको कर्म और ज्ञानके भँवरमें पड़ा देखकर भक्तवत्सल भगवान् बोले—

दो निष्ठाएँ ज्ञानयोग और कर्मयोग (गी० ३। ३–८)

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥
(गीता ३। ३)

'हे निष्पाप अर्जुन! प्राचीन कालमें (जब सृष्टिका प्रारम्भ हुआ था) मैंने दो तरहकी निष्ठाएँ यानी मोक्ष-प्राप्तिके उपाय कहे थे—ज्ञानियोंके लिये ज्ञानयोग और (कर्म-) योगियोंके लिये कर्मयोग।' ये दोनों निष्ठाएँ वेद, उपनिषद्, महाभारत, मनुस्मृति, शाङ्करभाष्य आदि सभी प्रामाणिक ग्रन्थोंमें मिलती हैं।* ज्ञानयोगको सांख्ययोग, संन्यास या कर्मसंन्यास, निवृत्ति-

---

* (क) (१) कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥
(यजुर्वेद ४०। २)

एतद्वै जरामर्यं सत्रं यदग्निहोत्रम् (शतपथ ब्राह्मण १२। ४। १। १)

प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। (तैत्तिरीय० १। ११। १)

(२) तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥
(ऋग्वेद-पुरुषसूक्त १०। ९०। १८)
(श्वेताश्वतर० ३। ८)

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्तः।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा॥
परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।
—(मुण्डक० १। २। ११-१२)

एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति॥ (बृह० ३। ५। १)

न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः।
(कैवल्योपनिषद् ४)

यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्। (जाबालोपनिषद् ४)

(ख) द्वाविमावथ पन्थानौ यत्र वेदाः प्रतिष्ठिताः।
प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो निवृत्तिश्च विभावितः॥
(महा० शान्ति० २४०। ६)

धर्म आदि शब्दोंसे और कर्मयोगको योग, प्रवृत्तिधर्म, कर्ममार्ग आदि नामोंसे कहा गया है। ये दोनों स्वतन्त्र मार्ग हैं, कोई एक दूसरेका अङ्ग नहीं है; क्योंकि—

> यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
> एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥
> (गीता ५ । ५)

ज्ञानयोगियोंको जो स्थान मिलता है, वहीं कर्मयोगी भी पहुँच जाते हैं; (इसलिये फल-प्राप्तिकी दृष्टिसे दोनोंकी योग्यता समान होनेके कारण) जो ज्ञानयोग और कर्मयोगको समान समझता है, वही तत्त्वज्ञ है।' इतना ही नहीं, भगवान्ने स्पष्ट शब्दोंमें दोनोंकी स्वतन्त्रता बतलाते हुए कर्म-संन्यासकी अपेक्षा कर्मयोगको श्रेष्ठ भी कहा है—

> **संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।**
> **तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥**
> (गीता ५ । २)

अर्थात् '(यद्यपि) संन्यास और कर्मयोग दोनों ही मोक्षप्रद हैं, (तथापि) कर्मसंन्याससे कर्मयोग विशिष्ट है।' श्लोकके शब्द सरल हैं, भाव स्पष्ट है और व्याकरणकी कोई पेंचीदगी नहीं है। इससे दो बातें असन्दिग्धरूपसे प्रकट हैं—(१) मोक्ष-प्राप्तिकी दृष्टिमें संन्यास और कर्मयोग दोनों समान हैं; (२) उनमें भी संन्यासकी अपेक्षा कर्मयोग ही श्रेष्ठ है। इतनी स्पष्टार्थता होनेपर भी व्याख्याकारोंने साम्प्रदायिक आग्रहके कारण यहाँ खूब तर्कका खेल और व्यायाम दिखलाकर अपने साम्प्रदायिक अर्थको निचोड़नेकी कोशिश की है। भगवान् श्रीकृष्ण और महर्षि वेदव्यासने मूलको स्पष्ट और सरल करनेमें कोई कमी नहीं रक्खी, पर व्याख्याताओंने 'मघवा मूल, बिडौजा टीका' वाली लोकोक्तिको चरितार्थ करके जाल तैयार कर ही दिया। वास्तवमें गीताको समझनेके लिये टीका है, न कि टीकाको समझनेके लिये गीता।

वेदान्तकी दृष्टिसे कर्मका प्रवाह अनादि है; वह प्रतिक्षण जारी रहता है, कभी रुकता नहीं। जबतक प्राणी जीवित है, उसे 'कर्म' करना पड़ेगा। सुनना, देखना, सूँघना, चखना, स्पर्श करना, चलना-फिरना, उठना-बैठना, खाना-पीना, लेना-देना, सोना, बोलना, चुप रहना, विचारना, सङ्कल्प और निश्चय करना आदि सब कायिक, वाचिक, मानसिक और बौद्धिक चेष्टाएँ 'कर्म' के अन्तर्गत हैं (गीता ५ । ८-९)—यहाँतक कि जीना भी एक कर्म है और उस कर्मको शान्त करनेके लिये आत्महत्या करना भी (वि-) कर्म है। इस तरह संसारमें 'कोई प्राणी क्षणभरके लिये भी 'कर्म' किये बिना नहीं रह सकता और न वह पूर्णतया 'कर्मों' को छोड़ ही सकता है; क्योंकि प्रकृतिके गुण—सत्त्व, रज और तम—सबसे बलपूर्वक कुछ-न-कुछ कर्म कराते रहते हैं।' (गीता ३ । ५; १८ । ११)। कर्म, अकर्म (कर्माभाव) और विकर्म (निषिद्ध कर्म) का तत्त्व अत्यन्त गहन है; इसके विषयमें बड़े-बड़े विद्वानोंको भी मोह हो जाता है (गीता ४ । १६-१७)। सामान्य लोग जिसे कर्म या अकर्म कह देते हैं, वह कई बार आध्यात्मिक दृष्टिसे अत्यन्त विपरीत ठहरता है। कर्म या अकर्मका निर्णय उसके स्थूलस्वरूपसे नहीं किया जा सकता; वह तो कर्ताकी सकाम या निष्काम बुद्धिपर निर्भर करता है। यदि मनुष्य निष्कामभावसे अपने कर्तव्यकर्मोंको करता रहे तो वे (कर्म) भुने हुए या उबाले हुए बीजोंके समान सुख-दुःखादि फल पैदा न कर सकेंगे और इस तरह बन्धकतासे शून्य होनेके कारण मोक्ष प्राप्तिमें बाधा नहीं डाल सकेंगे। ये 'कर्म' दीखते हुए भी 'अकर्म' हैं यानी कर्म नहीं हैं; क्योंकि और कर्मोंकी तरह इनसे कर्ता बन्धनमें नहीं पड़ता। इसके विपरीत हठात् अकर्मण्य होकर बैठे हुए मनुष्यके सकाम और विषयाभिमुख विचार भी सुख-दुःखादि फलोंको देनेके कारण मोक्षमें प्रतिबन्धक होते हैं, इसलिये वे 'अकर्म' दीखते हुए भी 'कर्म' हैं। 'कर्म', 'अकर्म' के इस सूक्ष्म भेदके कारण गीता कहती है—

> **कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।**
> **स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥**
> (४ । १८)

(ग) सुखाभ्युदयिकं चैव नैःश्रेयसिकमेव च । प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम् ॥
(मनुस्मृति १२ । ८८)

(घ) स भगवान् सृष्ट्वेदं जगत्तस्य च स्थितिं चिकीर्षुर्मरीच्यादीनग्रे सृष्ट्वा प्रजापतीन् प्रवृत्तिलक्षणं धर्मं ग्राहयामास वेदोक्तं। ततोऽन्यांश्च सनकसनन्दनादीनुत्पाद्य निवृत्तिलक्षणं धर्मं ज्ञानवैराग्यलक्षणं ग्राहयामास । द्विविधो हि वेदोक्तो धर्मः—प्रवृत्तिलक्षणो निवृत्तिलक्षणश्च
(गीताशाङ्करभाष्य, भूमिकाभाग)

अर्थात् 'जो 'कर्म' में 'अकर्म' और 'अकर्म' में 'कर्म' देखे, वही मनुष्योंमें बुद्धिमान्, योगयुक्त और समस्त कर्म करनेवाला है।'

इसी तरह—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥
यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥
(गीता ३। ६-७)

'जो आदमी (हाथ-पैर आदि) कर्मेन्द्रियोंको रोककर मनसे विषयोंका चिन्तन करता रहता है, वह अपने आपको (निष्कर्म समझनेके कारण) धोखा देता है, उसे विद्वान् लोग पाखण्डी कहते हैं।' इसके विपरीत, 'वह मनुष्य श्रेष्ठ है, जो कि (आँख, कान आदि) ज्ञानेन्द्रियोंका मनसे संयम करके कर्मेन्द्रियोंद्वारा निष्काम भावसे 'कर्मयोग' का आचरण करता है अर्थात् सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें समान बुद्धि रखते हुए अपने कर्तव्य कर्म करता रहता है।'

गीताका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक मनुष्यको अपना-अपना कर्तव्य अनासक्तभावसे पालन करते रहना चाहिये। कर्तव्यको परित्याग कभी भी उचित नहीं है। यदि हठवश या मोहसे कोई उसे छोड़ बैठे तो वह 'तामस त्याग' है, और यदि शरीरको क्लेश पहुँचनेके डरसे छोड़ा जाय तो वह 'राजस त्याग' है। ऐसे त्यागका कुछ फल नहीं होता। वास्तवमें सात्त्विक त्याग तो वह है, जहाँ पुरुष आसक्ति और कर्मफलको छोड़कर अपने कर्मको कर्तव्य समझता हुआ करे। (गीता १८। ७-९) जब कि यह स्थिति है कि (१) कोई भी आदमी कर्मको नहीं छोड़ सकता और साथ-ही-साथ (२) अपना कर्तव्यकर्म छोड़ना उचित भी नहीं है तो यही कहना होगा कि—

यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥
(गीता १८। ११)

'जिसने कर्मफलका त्याग कर दिया, वही सच्चा त्यागी है। जो कर्मफलका आश्रय न लेकर कर्तव्यकर्मको करता रहता है, वही सच्चा संन्यासी और कर्मयोगी है, न कि वह आदमी जो अपने विहित कर्मोंको छोड़कर निठल्ला बैठा रहता है। (गीता ६। १) इसके अलावा सांसारिक दृष्टिसे भी 'कर्म न करनेसे कर्म करना ही अच्छा है, क्योंकि बिना काम किये शरीरका निर्वाह भी नहीं होता।' (गीता ३। ८) उपर्युक्त कारणोंसे भगवानने कहा है—

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥
(गीता ३। ३)

अर्थात् 'कर्म न करनेसे कोई आदमी 'नैष्कर्म्य' को प्राप्त नहीं होता और न कर्मोंको छोड़नेसे ही किसीको सिद्धि मिल सकती है।'

(अपूर्ण)

* * *

बोल न मोटे मारिऐ मोटी रोटी मारु।
जीति सहस सम हारिबो जीतें हारि निहारु ॥

× × ×

रोष न रसना खोलिऐ बरु खोलिअ तरवारि।
सुनत मधुर परिनाम हित बोलिअ बचन बिचारि ॥

× × ×

पेट न फूलत बिनु कहें कहत न लागइ ढेर।
सुमति बिचारें बोलिऐ समुझि कुफेर सुफेर ॥

परीक्षा

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

वे थे तो संन्यासी विरक्त महात्मा, पर मुझपर उनका बड़ा स्नेह रहता था। पुत्रकी भाँति वे मुझसे प्रेम करते। उनकी उस जीर्ण कुटियाकी एक-एक वस्तु मैं आते ही उलट-पुलट करने लगता। उसमें था भी क्या? कुछ कौपीनके टुकड़े और दो-चार पुस्तकें। मुझे पुस्तकोंसे विशेष स्नेह था।

पहले इन महात्माजीको जब देखा तभी उनके तेजोमय प्रसन्न मुखमण्डल तथा वैराग्यके बाह्य चिह्नोंसे आकर्षित हो गया। शरीरपर उनके एक कौपीन एवं करोंमें मिट्टीका कमण्डलु। कुटियामें भी कोई ऐसी वस्तु न थी, जिसे संग्रह कहा जा सके।

बालकोंका-सा सरल स्वभाव था। बोलते-बोलते हँसते रहते थे। कभी उनके मुखपर क्रोध या उदासीनताके चिह्न दीख ही नहीं पड़े। दोपहरमें अपना कमण्डलु लेकर भिक्षाको जाते। कुछ घरोंसे मधुकरी करके ले आते। मधुकरीके अन्नको पुण्यसलिला जाह्नवीमें धोकर पा लिया। बस, यही एक समय उनका भोजन था।

आसपासके लोगोंकी उनपर अपार श्रद्धा थी। सभी लोग उनकी सेवा करनेको प्रस्तुत रहते थे। लेकिन उनकी सेवा ही क्या थी। किसीको भी वे कुछ करनेका अवसर ही न देते। कुटियामें भी जब कोई झाड़ू लगाने लगता तो मना कर देते।

कोई भी आवे, कुछ भी पूछे, महात्माजी उसे आत्मसंयम तथा भजन करनेका ही उपदेश देते। अपनी अपूर्व प्रतिभासे वे किसी भी चर्चाको पारमार्थिक बना लेते। उनके यहाँ कभी सांसारिक बातचीत चल ही नहीं सकती थी। उन्हें पता भी नहीं रहता था कि मेरी कुटियाके पासकी बस्तीमें क्या होता है।

समीप रहनेके कारण तथा स्नेह पाकर मैं कुछ ढीठ हो गया था। उस दिन महात्माजी मनके संयमपर मुझे समझा रहे थे। मैंने बीचमें रोककर कहा—'मनका संयम तो तब समझा जाय जब प्रसङ्ग आनेपर भी वह संयत रहे। जो जंगलमें मनुष्योंसे दूर रहता है, उसमें भला काम-क्रोध आवेंगे किस प्रसङ्गसे? संयमी तो वह है जो इनके प्रसङ्गोंके मध्यमें रहता हुआ भी निर्विकार रहता है।'

महात्माजी तनिक गम्भीर हो गये। कुछ सोचकर उन्होंने कहा—'तुम कहते तो ठीक हो, मैं अपने मनका विश्वास करता हूँ। आजतक अपने इसी विश्वासपर मैं निश्चिन्त था। अब तुम्हारी बातसे परीक्षा आवश्यक हो गयी। देखना है कि प्रसङ्ग आनेपर मैं स्थिर रह सकता हूँ या नहीं?'

मैंने तनिक हँसकर कहा—'परीक्षा कैसे होगी? क्या मैं भी उस समय रह सकूँगा?' महात्माजीकी वह नित्य प्रसन्नमुद्रा गम्भीर हो चुकी थी। वे वैसे ही बोले, 'सोच रहा हूँ, परीक्षा कैसे हो। तुम रह सकोगे उस समय।'

मैं महात्माजीको प्रणाम करके लौट आया। कई दिन हो गये, पर महात्माजीकी वह गम्भीरता दूर न हुई। मन-ही-मन मुझे अपने शब्दोंके लिये खेद हो रहा था। एक महापुरुषके जीवनमें मैंने चिन्ताका अनजानमें प्रवेश कराकर घोर अपराध किया।

बहुत साहस करके मैंने कहा, 'महाराजजी! आजकल

पता नहीं क्यों आप इतने गम्भीर रहते हैं। क्या आपलोगोंको भी कुछ चिन्ता होती है?' उत्तर मिला—'चिन्ता तो कोई नहीं, पर मनकी परीक्षाका उपाय सोच रहा हूँ। एक बार परीक्षा करके देखना चाहता हूँ।'

वर्षाके दिन थे, घटाएँ घिरी हुई थीं। बीच-बीचमें बूँदें भी पड़ रही थीं। एक अपरिचित यात्री महात्माजीकी कुटीमें आया। शहरमें उसका कोई भी परिचित नहीं था। सन्ध्या हो चुकी थी, उसे रात्रि-विश्रामके लिये स्थान नहीं मिला था। उसने महात्माजीसे कुटियामें ही रात्रि व्यतीत करनेकी आज्ञा चाही।

बहुत आग्रह करनेपर भी महात्माजीने मुझे कभी कुटियामें नहीं रहने दिया था। वे रात्रिको किसीको वहाँ नहीं रखते थे। पर आज उन्होंने उस यात्रीको अनुमति दे दी। मुझे बहुत ही आश्चर्य हुआ। वह आदमी कुछ विचित्र-सा लगता था। उसके पास अंग्रेजी ढंगके वस्त्र तथा पण्डिताऊ पगड़ी दोनों थीं।

मैं प्रणाम करके चलने लगा तो महाराजजी कुटियासे मेरे साथ बाहरतक आये। उन्होंने बाहर आकर कहा, 'यदि तुम्हें मेरे मनकी परीक्षा देखनी हो तो आज रात्रिको यहीं सो रहो। भोजन करके चले आना।' कुटियाके बाहर एक स्त्री खड़ी थी। यह उसी यात्रीके साथ थी। मैंने कुतूहलवश रात्रिको वहाँ आना स्वीकार कर लिया।

भोजन करके मैं महात्माजीकी कुटियापर पहुँचा। वे दोनों यात्री स्त्री-पुरुष कुटियामें थे और महात्माजी मुझे द्वारके पास ही मिले। वे या तो कहीं बाहर गये थे, या मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे। मैं शीघ्र ही लौट आया था।

कुटियाके भीतर एक छोटा-सा स्थान कोठरीकी भाँति बना था। उसपर एक पट लटकाकर महात्माजीने उसे ध्यान-पूजाके योग्य बना लिया था। उसमें बाहरसे जानेका भी एक मार्ग था। मार्ग तो क्या था, वहाँसे दीवार टूट गयी थी। उसी मार्गसे उस स्थानमें जाकर मुझे रात्रि-जागरणकी आज्ञा हुई।

महात्माजीने यात्रीसे कहा, 'तुम भोजन बना सको तो बनाओ। मेरी प्रतीक्षा मत करना, कुटी बंद करके सो रहना।' उसी टूटी दीवारके मार्गसे वे भी मेरे पास आकर बैठ रहे। भोजन बनानेकी सामग्री यात्रीके पास थी, वह पहलेसे ही चावल, दाल प्रभृति अपने बक्ससे निकाल रहा था। हम अबतक भी कुछ न समझ सके कि क्यों वह स्त्री उस यात्रीके कार्योंमें सहयोग नहीं दे रही है।

कुछ लकड़ियाँ कुटीमें पड़ी थीं। वर्षाकी गीली लकड़ियाँ सहसा क्यों जलने लगीं? इधर-उधर कुटीमें ढूँढ़कर वह यात्री पुस्तकें उठा लाया। वह उन्हें फाड़कर जलाने लगा। मैंने महात्माजीकी ओर देखा। एक क्षणके लिये उनके चेहरेपर कुछ रोषकी झलक आयी, पर दूसरे ही क्षण उन्होंने मुखपर अँगुली रखकर मुझे चुप रहनेका आदेश दिया।

भोजन बना, यात्रीने भोजन किया। स्त्री चुपचाप एक ओर बैठी रही। उसने भोजन करना अस्वीकार कर दिया। भोजन करके उसने कुटियाका द्वार बंद कर दिया। अपने ट्रंकसे बिछानेके लिये वस्त्र निकालकर उसने बिस्तर लगाया। उसके लैम्पके प्रकाशमें हम सब कुछ देख रहे थे।

अब उसने स्त्रीके साथ बलात्कार करनेकी चेष्टा की। वह रो रही थी, छीना-झपटीमें उसके वस्त्र फट गये। वह नग्नप्राय हो गयी। हमें उन दोनोंकी बातचीतसे पता चल गया कि यह इस व्यक्तिके भाईकी स्त्री है। इसे यह तीर्थयात्रा कराने ले आया है।

महात्माजी मेरा हाथ पकड़कर रोक रहे थे। मैंने उनसे हाथ छुड़ाकर दो-तीन ईंटें फेंकीं। एक ईंटके

लगनेसे लैम्प फूट गया। हमें ऐसा लगा कि अन्धेरेमें वह स्त्री द्वार खोलकर कहीं बाहर चली गयी। यह पूर्ण निश्चय भी तत्काल हो गया, क्योंकि पीछे वह पुरुष उसे खोजने तथा पुकारने लगा।

मैं सो गया था। मुझे पता नहीं कि रात्रिको क्या हुआ। प्रातःकाल उठते ही मैंने अपने पास या कुटीमें महात्माजीको नहीं देखा। उस समय मुझे घर आना था। सीधे घर आकर मैं नित्यकर्मसे निवृत्त हुआ। दोपहरके पश्चात् भोजनादि करके महात्माजीकी कुटीपर पहुँचा।

कुटीमें वह रातको बना हुआ ईंटोंका चूल्हा, राख, जूँठे बर्तन तथा टूटा लैम्प ज्यों-का-त्यों पड़ा था। महात्माजी ध्यानमग्न अपने आसनपर बैठे थे। मैंने उन्हें प्रणाम किया। कुटिया स्वच्छ करने चला तो उन्होंने रोक दिया। उनके संकेतसे मैं पास ही बैठ गया।

महात्माजी बोले, 'देखो परीक्षा तो हो गयी। मैं परीक्षामें उत्तीर्ण और अनुत्तीर्ण दोनों ही रहा। पुस्तकें फाड़कर जब वह जलाने लगा तब मुझे दुःख हुआ और क्रोध भी आया। जब मैं तुम्हें उत्तेजित होनेसे रोक रहा था तो उस नग्न दृश्यके प्रति कुछ आकर्षण था ही। सबसे बड़ी बात तो यह कि इस समय चित्तमें शान्ति नहीं है। वही बातें चित्तमें घूम रही हैं। यह चञ्चलता और अशान्ति ही इसका प्रमाण है कि मन विकृत हो गया था। तुम्हारी उपस्थिति तथा भगवान्की दयासे मैं बच गया।'

मैं चुपचाप सुन रहा था। महात्माजी कुछ रुककर बोले, 'देखो मैं तुम्हें अपना निश्चय बताता हूँ। इसे कभी भूलना मत। कोई भी मनको पूर्णतया वशमें नहीं कर सकता। मन कब धोखा दे देगा, इसका कुछ पता नहीं। जान-बूझकर ऐसे प्रसङ्गोंको उपस्थित करना, जिसमें मनके विकृत होनेका भय हो, अपने पैरोंमें आप ही कुल्हाड़ी मारना है। जितेन्द्रियपनेका गर्व करके कभी भी ऐसी भूल नहीं करनी चाहिये। यही बहुत है कि संसारसे दूर रहकर विकारोंसे बचे रहा जाय। भगवान् ही चाहें तो अकस्मात् उपस्थित हुए प्रसङ्गोंपर विकारोंसे रक्षा कर सकते हैं। निरभिमान होकर सदा उन्हींकी शरणमें रहना और संसारसे दूर रहना, यही सुरक्षित पथ है।'

मुझे पता लगा कि उस स्त्रीने पुलिसको सूचना दे दी और पुलिसने उस यात्रीको बंदी कर लिया है। यह बात बतलानेके उद्देश्यसे मैं सन्ध्याके समय पुनः महात्माजीकी कुटीपर गया। कुटिया सूनी थी। महात्माजी कहीं चले गये थे। बहुत देरतक प्रतीक्षा करके फिर मैं लौट आया। मुझे फिर वहाँ महात्माजीके दर्शन नहीं हुए।

कई वर्ष बाद मैं अयोध्या गया। सरयूसे स्नान करके लौट रहा था, तो बस्तीके किनारेवाले खँड़हरसे एक पागल निकला। वह ईंटें उठाकर अपने पास आनेवालोंकी ओर फेंक रहा था। मुझे ऐसा लगा कि यह पागल तो वही महात्माजी हैं।

लोगोंने कहा, 'आप उसके पास न जावें। वह पत्थर फेंककर मारता है।' डर तो मुझे भी लग रहा था, पर साहस करके मैं आगे बढ़ा। मुझे देखते ही वह पागल खँड़हरमें घुस गया। निकट जानेपर संकेतसे उन्होंने मुझे बुलाया।

खँड़हर चिथड़ोंसे भर रहा था। इन चिथड़ोंको यही पागल देवता उठा लाये थे। सचमुच वे मेरे वही पूर्व-परिचित महात्माजी थे। मुझे आज्ञा मिली 'पानी पिला।' सरयूजीसे लाया हुआ जल मैंने उन्हें पिलाया। फिर बोले 'अच्छा, भाग जा यहाँसे, मुझे मनुष्योंसे भय लगता है।' मैंने हठ करके उनकी शान्तिमें बाधा देना ठीक नहीं समझा। प्रणाम करके चला आया।

शिक्षा

(लेखक—पं० श्रीगङ्गाशङ्करजी मिश्र, एम्० ए०)

(१) शिक्षा और सरकार

धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष——अपने यहाँ मनुष्य-जीवनके ये चार पुरुषार्थ या प्रधान उद्देश्य माने गये हैं । जिस शिक्षासे इनके सम्पादनमें समुचित सहायता मिलती है, वास्तवमें वही सच्ची शिक्षा है । इनमेंसे धर्म तथा मोक्षसे तो आधुनिक शिक्षाका कोई नाता ही नहीं है । रह गये अर्थ और काम—इनकी प्राप्तिमें भी आधुनिक शिक्षासे कोई विशेष सहायता नहीं मिलती । विद्यालयोंसे निकलनेपर विद्यार्थियोंका स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है । वे किसी कार्यको दृढ़ताके साथ करनेयोग्य नहीं रहते । बेकार शिक्षितोंकी संख्या बराबर बढ़ती जाती है, छोटी-छोटी नौकरियोंके लिये वे दर-दर भटकते फिरते हैं और कुछ तो निराश होकर अपनी जीवन-लीला ही समाप्त कर बैठते हैं । आजकलकी शिक्षाके दोषोंका कई विचारशील विद्वान् अनुभव कर रहे हैं, पर वे इधर-उधर टीपटाप करके ही उसे ठीक करना चाहते हैं । वास्तवमें आवश्यकता है उसमें आमूल-चूड़ परिवर्तनकी । यह विषय इतना गम्भीर और आवश्यक है कि इसकी अधिक उपेक्षा नहीं की जा सकती । मनुष्यका जन्म होता है उसके कर्मानुसार, पर संसारमें आकर उसका बनना-बिगड़ना बहुत कुछ निर्भर करता है उसकी शिक्षापर । इसलिये जबतक उचित शिक्षापर ध्यान नहीं दिया जाता, तबतक संसारमें सुख-शान्तिकी आशा करना व्यर्थ है । भारतमें राजनीतिक कारणोंसे शिक्षाका प्रश्न और भी जटिल हो गया है । हम स्वतन्त्र होना चाहते हैं, पर हमारी शिक्षा झूठी स्वतन्त्रताओंका आभास दिखलाकर हमें राजनीतिक परतन्त्रताके गर्तमें ढकेलती जा रही है । इसपर विचार करना नितान्त आवश्यक जान पड़ता है । आधुनिक शिक्षाके केवल दोष दिखलानेसे ही काम नहीं चल सकता । हमें शिक्षाकी कोई व्यावहारिक योजना भी बनानी पड़ेगी । इन स्तम्भोंमें हम कुछ त्रुटियोंकी ओर केवल ध्यान आकृष्ट कर सकते तथा कुछ सुझाव सामने रख सकते हैं । उनपर पूर्णरूपसे विचार करके उचित मार्ग विशेषज्ञ विद्वान् ही दिखला सकते हैं । हमें आशा है कि वे इसमें हमारी अवश्य सहायता करेंगे ।

अपने यहाँ प्रचलित शिक्षा-व्यवस्थापर जब हम ध्यान देते हैं, तब सबसे पहली बात जो खटकती है, वह है उसका सरकारसे सम्बन्ध । हमारी सरकार, उसमें चाहे भारतीय अधिक संख्यामें भी हों, विदेशी ही है । हमारे धर्म, हमारी संस्कृति, हमारी सभ्यतासे उसे कोई भी सहानुभूति नहीं है । उलटे हमलोगोंके हृदयमें उनके प्रति अश्रद्धा उत्पन्न करनेमें ही उसका हित है । भौतिक विजयसे भी बढ़कर मानसिक विजय है । वह विजय शिक्षाद्वारा ही प्राप्त हो सकती है । जिस विज्ञानमय शरीरपर बंदूक, तोप, मशीनगन काम नहीं कर सकते, उसपर शिक्षाद्वारा सहजमें ही विजय प्राप्त की जा सकती है । जब विजित राष्ट्र अपनी ही सभ्यता-संस्कृतिसे घृणा करने लगे और विजेताकी सभ्यता-संस्कृतिका अनुरागी बन जाय, उसकी विचारधारामें प्रवाहित होने लगे, तब राष्ट्रके भौतिक शरीरके अतिरिक्त मनोमय तथा विज्ञानमय शरीरपर भी विजेताका पूर्ण अधिकार हो जाता है । ऐसी स्थितिमें वह जैसा चाहे वैसा कराये, कहलाये या विचार कराये; उसका पूर्ण स्वातन्त्र्य है । आजकल यही हो रहा है । आध्यात्मिक, मानसिक, शारीरिक उन्नति शिक्षाका ध्येय नहीं है, उसके द्वारा तो शासनकी नींव दृढ़ की जा रही है । इस तरह आधुनिक शिक्षा विदेशी सरकारके हाथमें अपने अनुकूल प्रचार करनेका एक प्रबल साधन बन रही है ।

शिक्षाका सरकारके साथ सबसे प्रथम सम्बन्ध है उसकी आर्थिक सहायताद्वारा । कई विश्वविद्यालय, कालेज, स्कूल पूर्णतया सरकारी कोषसे चल रहे हैं । बहुतोंको थोड़ी-बहुत आर्थिक सहायता दी जा रही है । जो आर्थिक सहायता देता है, आजकलके व्यवहारानुसार उसका यह अधिकार है कि वह जिस संस्थाको सहायता देता है, उसे अपने इच्छानुसार चलायें । इस तरह उनपर सरकारी नियन्त्रण आवश्यक हो जाता है । शासनके साथ सम्बन्ध होनेसे शासक अपने अनुकूल

ही शिक्षाको बनानेका प्रयत्न करेगा । इसको ध्यानमें रखकर अपने धर्म, अपनी संस्कृति आदिकी रक्षाके लिये हमारे पूर्वजोंने शिक्षाको शासनसे सदा ही स्वतन्त्र रखा । शासन चाहे स्वदेशी हो या विदेशी, शिक्षासे उसका सम्बन्ध कभी भी अपेक्षित नहीं । शिक्षा विद्वानोंका कार्य है; वे ही समझ सकते हैं कि कैसी शिक्षामें मनुष्यका कल्याण है । शासकको अपने शासनकी चिन्ता रहती है और उसी दृष्टिसे शिक्षामें वह हस्तक्षेप करता है, जिसके फलस्वरूप शिक्षाका वास्तविक स्वरूप नष्ट हो जाता है और उसे वेश्यावृत्ति स्वीकार करनी पड़ती है । प्राचीन कालमें भी राजाओंसे विद्यालयोंको बड़े-बड़े दान मिला करते थे; परन्तु वे कभी उनके सञ्चालनमें हस्तक्षेप नहीं करते थे । विद्यालयोंका पाठ्यक्रम, उनका प्रबन्ध सर्वथा विद्वानोंके हाथमें रहता था, जो अपनी निःस्पृहता और त्यागके कारण कभी राजाओंसे दबते न थे । स्वयं राजालोग उनकी सहायतासे शास्त्रानुसार चलनेका प्रयत्न करते थे । इस तरह आर्थिक सहायता होते हुए भी विद्यालयोंकी स्वतन्त्रता सुरक्षित रहती थी । शिक्षाकी व्यवस्था ऐसी थी कि उसका थोड़े ही धनसे काम चल जाता था । उसे अपने लिये राजाओंका हर समय मुँह नहीं ताकना पड़ता था; परन्तु आजकल शिक्षाका खर्च इतना बढ़ गया है कि सरकारकी चेरी बने बिना उसका काम ही नहीं चलता ।

सरकारसे सम्बन्ध जोड़नेवाली दूसरी शृङ्खला है परीक्षाओंकी । जिन्हें प्रमाण-पत्र प्राप्त है, उन्हींके लिये सरकारी नौकरियोंका दरवाजा खुला है, यद्यपि उसमें घुसनेका सौभाग्य इने-गिने लोगोंको ही प्राप्त होता है । कोई कितना ही योग्य क्यों न हो, यदि वह सरकारद्वारा स्वीकृत परीक्षा पास नहीं है तो वह सरकारकी दृष्टिमें दो कौड़ीका भी नहीं है । यह एक ऐसा बन्धन है, जिससे जिन संस्थाओंको सरकारी आर्थिक सहायता नहीं मिलती, वे भी अपनेको मुक्त नहीं रख सकीं । इस चक्करमें प्राचीन परिपाटीपर चलनेवाले संस्कृत-विद्यालय भी आ गये हैं । सरकारी परीक्षाओंकी दृष्टिसे ही उनके पाठ्यक्रम निर्धारित होते हैं । इस तरह उनमें भी स्वतन्त्रता नहीं रही । आर्थिक सहायता और परीक्षाओंद्वारा शिक्षाका सरकारके साथ सम्बन्ध दृढ़ होता जाता है, जिससे लाभ उठाकर सरकार अपना संकुचित स्वार्थ सिद्ध कर रही है । इन बन्धनोंसे शिक्षाका छुटकारा कैसे हो पहले यही देखना है ।

(२) शिक्षाका आर्थिक भार

'कम-से-कम खर्च और अधिक-से-अधिक लाभ'-यह काम करनेकी प्राचीन परिपाटी थी; 'अधिक-से-अधिक खर्च और कम-से-कम लाभ'-यह आजकलका तरीका है । प्रचलित शिक्षा-पद्धतिमें यह प्रत्यक्ष प्रतीत हो रहा है। प्राचीनकालमें गुरुका घर ही विद्यालय और छात्रावास था । ब्रह्मचारी भिक्षा माँगकर गुरुको अर्पण करता था । उसमेंसे जो गुरु उठाकर दे देता था, उसीसे वह अपनी क्षुधा-निवृत्ति कर लेता था । दान-दक्षिणासे उसकी अन्य आवश्यकताओंकी पूर्ति हो जाती थी । केवल अपना ही सारा काम नहीं, गुरुके घरका भी काम उसे करना पड़ता था । दिन-रात गुरुसेवा करते हुए वह हर समय उससे कुछ-न-कुछ शिक्षा प्राप्त किया करता था । दान-दक्षिणा, ब्रह्मचारियोंकी भिक्षा तथा सेवासे निःस्पृह, विरक्त गुरुका भी काम चल जाता था; उसे केवल विद्यार्थियोंको पढ़ानेकी चिन्ता रहती थी । थोड़े-से विद्यार्थी होते थे, जिनपर हर समय उसकी देख-रेख रहती थी । गुरु-शिष्यमें पिता-पुत्रका-सा सम्बन्ध तथा स्नेह था। दोनोंमेंसे किसीकी मृत्यु हो जानेपर अशौच मनानेकी विधि थी । धनी हो या निर्धन, गुरुके घरमें रहकर सभीको भिक्षा माँगनी पड़ती थी । उन्हें जीवन-संग्रामकी शिक्षा मिलती थी। दूसरोंके सुख-दुःखका उनपर प्रभाव पड़ता था। उन्हें आर्तकी पहचान और क्षुधाके कष्टका अनुभव होता था। इस तरह जीवनके दस-बारह वर्ष कठिन अनुशासनमें व्यतीत करके जब वे निकलते थे, तब कहीं सद्-गृहस्थ बनकर समाज तथा लोककी सेवा करते थे । बड़े-बड़े विद्यालयोंमें भी यही प्रथा चलती थी । निर्वाहमात्रके लिये प्रबन्ध हो जानेपर अध्यापक अपना जीवन विद्यादानके लिये अर्पण कर देते थे। विद्या बेचना वे पाप समझते थे । मनु, याज्ञवल्क्य आदिने भृतकाध्यापनको पातक बतलाया है । विद्यार्थियोंके रहनेके लिये आश्रम-व्यवस्था थी, जिसमें बड़े नियमपूर्वक सादगीके साथ उन्हें अपना जीवन व्यतीत करना पड़ता था । इनमें भी अध्यापकोंके लिये न कोई निश्चित वेतन था और न विद्यार्थियोंसे कोई 'फीस' ली जाती थी ।

मुसलमानोंके शासन-कालमें भी शिक्षाकी बहुत कुछ यही व्यवस्था चलती रही । मुसलमान शासकोंने इसमें कोई हस्तक्षेप नहीं किया, उलटे मुसलमानोंकी शिक्षाके लिये भी उन्होंने बहुत कुछ उसी पद्धतिका अनुसरण किया । प्रायः

बड़े-बड़े गाँवोंमें 'पाठशाला' और 'मकतब' थे । शिक्षकका भरण-पोषण गाँववाले कर देते थे । स्कूलके लिये किसी अलग इमारतकी आवश्यकता न थी । किसी बड़े आदमीकी चौपालमें स्कूल लग जाता था और वृक्षोंके नीचे स्वच्छ हवामें पढ़ाई हुआ करती थी । कोई विशेष पाठ्य-सामग्रीकी आवश्यकता न थी । नगरोंमें मन्दिरों तथा मस्जिदोंके साथ 'विद्यालय' और 'मदरसे' लगे हुए थे; प्रधान तीर्थोंमें 'विद्यापीठ' थे, जिनका प्रबन्ध भी जनता उसी ढंगसे कर लेती थी ।

अँगरेजोंका राज्य स्थापित होनेके साथ इस प्रथामें परिवर्तन आरम्भ हुआ । अँगरेजोंकी लिखा-पढ़ीका सब काम अँगरेजी भाषामें होता था । छोटे-बड़े सभी पदोंपर अँगरेजोंके नियुक्त करनेसे बड़ा खर्च बैठता था, इसलिये हिंदुस्तानियोंको अँगरेजी पढ़ाना निश्चित किया गया । आगे चलकर पादरियोंने अँगरेजी-शिक्षाद्वारा 'ईसाई-धर्म'-प्रचारमें सुविधा देखी और सरकारको इसके द्वारा अपने शासनकी नींव दृढ़ करनेकी सूझी । फलतः मैकाले आदिके प्रयत्नसे सन् १८३५ में, गवर्नर जनरलने अपनी कौंसिलमें यह निश्चित किया कि 'भारतवासियोंमें यूरोपीय साहित्य और विज्ञानका प्रचार करना ब्रिटिश सरकारका मुख्य उद्देश्य है । ऐसी दशामें शिक्षाके लिये जो धन है, उसका सबसे अच्छा उपयोग केवल अँगरेजी शिक्षामें ही हो सकता है ।' सिपाही-विद्रोहकी आग शान्त होनेपर सन् १८५८ में कलकत्ता, बंबई और मद्रासके विश्वविद्यालय स्थापित हुए । इनमें तत्कालीन 'लंदन-विश्वविद्यालय' का अनुकरण किया गया । आगे चलकर और विश्वविद्यालय तथा कितने ही हाई स्कूल स्थापित हुए । शिक्षाक्षेत्रमें उच्च पदोंपर गोरोंको भरनेका अच्छा अवसर मिल गया । उनके अनुकूल बड़ी-बड़ी इमारतों और कुर्सी-मेजके ठाट-बाटकी व्यवस्था होने लगी । 'राजनीतिक सुधारों' से शिक्षापर भारतीयोंका कुछ अधिकार हो जानेसे अहम्मन्य गोरे गुरु तो चलते बने, पर वे अपनी परम्परा छोड़ गये । इन विश्वविद्यालयोंमें अब भारतीय अध्यापक भी हजार-हजार, डेढ़-डेढ़ हजारके वेतन पा रहे हैं; पर सप्ताहमें इनके विद्यार्थियोंको दो-तीन घण्टे भी इनका दर्शन दुर्लभ है । स्कूलोंमें भी यही 'फिजूलखर्ची' की परम्परा चल रही है । कुल मिलाकर इन सबपर गरीब भारतका २९ करोड़ रुपया प्रतिवर्ष खर्च हो जाता है । इसमेंसे ११॥ करोड़ तो कुल ७० हजार विश्वविद्यालयोंके विद्यार्थियोंपर खर्च होता है । फीसको छोड़कर छात्रोंके जो अन्य खर्च हैं, वे इसमें शामिल नहीं हैं । रहन-सहनमें, जैसा कि स्वाभाविक है, विद्यार्थियोंने भी पहले गोरे गुरुओंका अनुकरण आरम्भ किया । अब तो इसकी हवा चल गयी है । छात्रावास व्यसन और फैशनके क्रीड़ास्थल बन रहे हैं । चाय, सिनेमा, सिगरेट तो साधारण बात है । कुछ तो सुरा एवं अप्सराके भी शिकार बन जाते हैं । बढ़िया खाने, बढ़िया पहननेका शौक भी बढ़ रहा है । किताब, कागज, पेंसिल तथा अन्य पाठ्य-सामग्रीके खर्चका भी कोई ठिकाना नहीं है । इतनेपर भी ऊँचे वेतन और साज-सामानके फलस्वरूप विद्यालयोंके बढ़ते हुए खर्चकी पूर्ति की जाती है फीस बढ़ाकर तथा अन्य तरह-तरहके कर लगाकर । इन सबका खर्च जब जोड़ा जाय, तब कहीं पता लग सकता है कि भारत-से गरीब देशका कितना रुपया शिक्षापर उड़ रहा है । आजकल बहुतोंकी गाढ़ी कमाई बच्चोंको पढ़ानेमें स्वाहा हो रही है । पेट काटकर, स्वयं कष्ट उठाकर माँ-बाप बच्चोंको पैसा भेजते हैं, जिनमेंसे अधिकांश उतना भी नहीं कमा पाते, जितना कि शिक्षामें खर्च करते हैं ।

कुछ दिनोंतक प्राचीन शैलीके विद्यालय इन प्रभावोंसे बचे रहे, परन्तु विदेशी सरकारको इनका भी अछूत रहना सहन न हुआ । इन विद्यालयोंमें भी वेतनकी बला पहुँच गयी, जिसमें फँसकर वहाँके अध्यापकोंने भी अपने उच्च आदर्शोंको तिलाञ्जलि दे दी । उनको अब हर समय वेतन आदिकी वृद्धिकी ही चिन्ता रहती है । जब गुरु ही फिसल पड़े, तब शिष्य कहाँतक टिकते । प्राचीन छात्रावासोंमें भी साबुन, तेल, पान, सुरती, भङ्ग आदिका प्रवेश हो गया और अब धीरे-धीरे अन्य व्यसन भी घुस रहे हैं । इस तरह उनका भी खर्च बढ़ रहा है और साधारण छात्रवृत्तिसे पूरा नहीं पड़ता ।

यह चित्र है हमारे 'शिक्षाके आर्थिक भार' का । यदि हमें शिक्षाको स्वतन्त्र बनाना है, तो पहले इस आर्थिक भारको तोड़ना होगा । द्रव्यके सम्बन्धने शिक्षाको एक व्यवसाय बना रखा है, जिसमें पड़कर उसका सच्चा उद्देश्य नष्ट हो रहा है । वर्तमान प्रतिकूल परिस्थितिमें प्राचीन परिपाटीका सर्वथा परिपालन नहीं हो सकता, पर उसको आदर्श मानते हुए शिक्षाका खर्च बहुत कुछ घटाया जा सकता है । इसमें सबसे अधिक सहायता कर सकते हैं अध्यापक । यदि वे अपने जीवनद्वारा सन्तोष, सेवा, सादगीकी शिक्षा अपने शिष्योंको देना आरम्भ करें तो उसका प्रभाव उनपर अवश्य पड़ेगा । जनताके लिये विद्यालयोंके बढ़ते हुए बेजा खर्चको आँख

मूँदकर सहते जाना ठीक नहीं है; उसे इसके विरुद्ध आवाज उठानी चाहिये और शिक्षाको आर्थिक बन्धनोंसे मुक्त करके उसे उस उच्च आसनपर बिठलाना चाहिये, जहाँसे वह शिक्षितोंका वास्तविक कल्याण कर सके।

(३) शिक्षा और परीक्षा

(१)

सरकारने परीक्षाओंका ऐसा चक्र चला रखा है कि जिसकी लपेटमें सभी प्रकारकी शिक्षा-संस्थाएँ धीरे-धीरे आ रही हैं। पहले सरकारी स्कूल और विद्यालयोंकी परीक्षा पास किये हुए लोगोंको सरकारी नौकरियाँ मिलती थीं। इस प्रलोभनसे उनका प्रचार बढ़ा। यह देखकर सरकारने सभी शिक्षा-संस्थाओंको अपने साँचेमें ढालनेके लिये परीक्षाओंको एक प्रबल साधन बना लिया। अब जो संस्थाएँ सरकारके नियन्त्रणमें रहना चाहती हैं, उसके द्वारा निर्धारित पाठ्यक्रमके अनुसार पढ़ाना चाहती हैं, उसकी निश्चित व्यवस्थाके अनुसार परीक्षाएँ सञ्चालन करना चाहती हैं, उन्हींकी परीक्षाओंको वह अपनी स्वीकृति प्रदान करती है। इसके फलस्वरूप जिन संस्थाओंको सरकारी आर्थिक सहायता नहीं भी मिलती, उन्हें भी इस बन्धनमें फँसना पड़ता है। आजकल कितने ही विद्यालय—विशेषकर संस्कृत-विद्यालय ऐसे हैं, जिनका खर्च उनकी निजी आयसे चल रहा है, परन्तु परीक्षाओंकी फाँसीमें उन्होंने भी अपना गला डाल रखा है। नौकरियोंके साथ परीक्षाओंका सम्बन्ध हो जानेसे आधुनिक शिक्षाका ध्येय परीक्षा पास करना हो गया है। शिक्षाका उद्देश्य है परीक्षामें सफलता और परीक्षा-साफल्यका लक्ष्य है सेवा-वृत्ति। जब यह बात मनमें जम गयी, तब फिर उच्च भावोंके लिये स्थान कहाँ। इस तरह भी देशकी पराधीनता तथा परतन्त्रताकी नींव दृढ़ हो चली। इन परीक्षाओंका आदर इसीलिये न कि उनके द्वारा सरकारी नौकरी मिलती है! पर कितने लोग हैं, जिन्हें सरकारी नौकरियोंके 'दूरसे दिखलायी देनेवाले स्वर्गमें' घुसनेका सौभाग्य प्राप्त होता है?

शिक्षाके लिये परीक्षा आवश्यक है, परन्तु क्या इन परीक्षाओंसे योग्यताकी वास्तविक पहचान होती है? जब हम प्रचलित शिक्षा-पद्धतिपर अच्छी तरह विचार करते हैं, तब उसकी पोल खुलती है। आजकलकी परीक्षाएँ भी व्यवसाय हो रही हैं। परीक्षकको पहले परचा (प्रश्नपत्र) बनानेके लिये ही पुरस्कार मिलता है, फिर परीक्षाओंकी उच्चताके अनुसार प्रतिकापी (उत्तर-पत्र) के हिसाबसे कुछ-न-कुछ दक्षिणा मिलती है। इससे भाग्यवान् परीक्षकोंको हजार-हजार, दो-दो हजार रुपये सालकी आमदनीका ठिकाना हो जाता है। इस लालचसे कितने ही लोग परीक्षक बननेके लिये जमीन-आसमानके कुलाबे मिलाया करते हैं। कुछ अयोग्य व्यक्ति भी सिफारिशोंके बलपर हजारों विद्यार्थियोंके 'भाग्यविधाता' बन बैठते हैं। उनमेंसे दो-चार तो अपनी जेब गरम होनेपर नंबरोंकी थैली खोलनेमें भी सङ्कोच नहीं करते। इन परीक्षकोंको पुरस्कृत करनेके लिये बेचारे गरीब विद्यार्थियोंसे परीक्षा-कर उगाहा जाता है। एक ओर तो सबको समान अवसर देना 'साम्यवाद' का ध्येय बतलाया जा रहा है और दूसरी ओर निर्धन विद्यार्थीको भी बिना परीक्षा-कर दिये अपनी योग्यता-प्रदर्शनका अवसर प्रदान नहीं किया जा रहा है। बेचारे विद्यार्थियोंको इस तरह चूसकर लंबा वेतन पानेवाले परीक्षकोंका पूजन किया जाता है; यह कैसा अंधेरखाता है! जो बड़े-बड़े वेतन पा रहे हैं, जिनकी भरपूर आमदनी है, क्या वे विद्यार्थियोंके लिये अपना थोड़ा-सा समय भी नहीं दे सकते? क्या उन्हें सभी प्रकारके परिश्रमके लिये पैसा चाहिये? 'यह बात, वह बात, टका धर हाथ' यह कहकर बेचारे पुरोहितोंकी हँसी उड़ायी जाती है; परन्तु इसके अतिरिक्त सभी जगह आज हो क्या रहा है? अन्य विभागोंमें चाहे किसी सीमातक यह मनोवृत्ति क्षम्य भी हो, पर शिक्षाके परम पवित्र क्षेत्रमें तो वह सर्वथा निन्दनीय और घृणित है।

हजारोंकी संख्यामें इन परीक्षकोंको परीक्षाओंकी कापियाँ देखनी पड़ती हैं। यह कार्य ऐसा नीरस होता है कि परीक्षक सदा इसमें तटस्थबुद्धि बनाये रखे, इसमें बड़ा सन्देह है। किसी तरह काम समाप्त हो और पैसा मिले, सबसे अधिक चिन्ता तो इसीकी रहती है। ऐसी दशामें बेचारे विद्यार्थीके साथ कहाँतक न्याय होता है? प्रत्येक परचेमें कई प्रश्न और प्रत्येक प्रश्नके साथ कुछ नंबर रहते हैं। इन नंबरोंके प्राप्त करनेपर विद्यार्थीका भाग्य निर्भर करता है। यह शैली भी सर्वथा दोषपूर्ण है। दो-तीन नंबर न मिलनेसे कोई अयोग्य और उतने ही नंबर मिल जानेसे कोई कैसे योग्य सिद्ध हो जाता है। यहाँ भी लोकतन्त्रमें प्रचलित बहुमतका सिद्धान्त काम कर रहा है। जिस तरह १०० व्यक्तियोंमेंसे जिस मतकी ओर ५१ हों वह ठीक और जिसकी ओर ४९ हों वह गलत, उसी तरह परीक्षामें १०० नंबरोंमेंसे जिसे ३५ मिलें वह पास और जिसे ३० वह फेल। योग्यताकी यह कितनी सुन्दर

तौल है ! सालभर विद्यार्थीने क्या किया, इससे कोई मतलब नहीं । यदि भयावने परीक्षा-भवनमें अँकड़ते हुए निरीक्षकोंकी कुटिल भृकुटी देखकर विद्यार्थी कुछ घबरा गया तो उस बेचारेका सारा परिश्रम और उसके माँ-बापकी कठिन कमाईका पैसा मिट्टीमें मिल गया । जिस अध्यापकने सालभरतक विद्यार्थीको पढ़ाया है, उसकी सम्मतिके लिये इस शैलीमें कोई गुंजायश ही नहीं है । इस तरह क्या विद्यार्थीकी योग्यताका निर्णय हो सकता है ?

रटाईकी आजकल निन्दा की जाती है, परन्तु परीक्षाओंके पहले महीनों 'तैयारीकी छुट्टी' (Preparation leave) देकर रटाईको ही प्रोत्साहन दिया जाता है । क्या इस तरहकी छुट्टीका यह स्पष्ट अर्थ नहीं है कि कई महीनोंतक मौज उड़ाकर अब महीनेभरमें रट-रटाकर जैसे-तैसे परीक्षा पास कर लेनी चाहिये । परीक्षा एक कला हो गयी है, जिसका रहस्य जिसने समझ लिया, वह धड़ाधड़ पास होता जाता है; पर जो उससे अनभिज्ञ है, वह योग्य होनेपर भी फेल होता रहता है । इस तरह परीक्षा पास करनेवालोंकी यदि थोड़े ही दिन बाद फिरसे परीक्षा ली जाय, तो बहुतोंकी सारी योग्यताकी कलई तुरंत खुल जाय । परीक्षाओंका खोखलापन देखकर परीक्षा देनेवाले भी निरीक्षकों और परीक्षकोंकी आँखमें धूल झोंकनेके लिये तरह-तरहकी चालें चला करते हैं । जब विद्यार्थियोंका ध्येय केवल परीक्षा पास करना है, तब अध्यापक भी विषयका वास्तविक ज्ञान करानेके परिश्रमको छोड़कर परीक्षा पास करनेकी कलाके रहस्योद्घाटनकी दृष्टिसे नोट लिखाया करते हैं । इसीमें उनके अध्यापनकी योग्यता है । परीक्षाओंको इस तरह पास करनेसे भला, क्या किसीकी वास्तविक योग्यताका पूरा परिचय मिल सकता है ?

इन परीक्षाओंमें कितना समय नष्ट होता है ? हजारोंकी संख्यामें परीक्षा देनेवाले होते हैं । कई विषयोंकी परीक्षाएँ होती हैं । महीनों परीक्षाओंका क्रम चलता रहता है । फिर कापियाँ जाँचनेमें, दफ्तरोंमें नतीजा (परीक्षा-फल) तैयार करनेमें कितने ही दिन लग जाते हैं; तब कहीं जाकर सरकारी गजटमें उसके दर्शन होते हैं । इधर बेचारा विद्यार्थी 'तैयारीकी छुट्टियों' में रात-रातभर जागकर आँखें फोड़ता है, परीक्षाके अवसरपर गर्मीके महीनोंमें किसी-किसी दिन ६-६ घंटे बैठकर उत्तर लिखता है । परीक्षा-फलके लिये सरकारी गजटकी ओर टकटकी लगाये वह घरमें कई महीनोंतक बेकार बैठा रहता है । उसके निकलनेपर कितने ही लोगोंकी आशापर पानी फिर जाता है और कुछ तो रेलकी पटरीपर इंजिनके नीचे दबकर शान्ति प्राप्त करनेका प्रयत्न करते हैं । इस तरह इन परीक्षाओंके चक्करमें तीन-चार महीनेका समय बेकार निकल जाता है, जिसमें कोई पढ़ाई नहीं होती । क्या यह अमूल्य समय बचाया नहीं जा सकता ?

आधुनिक परीक्षाओंने एक रहस्यका रूप धारण कर रखा है । परीक्षकोंके नाम गुप्त, परीक्षा देनेवालोंके नाम गुप्त, परीक्षा-सम्बन्धी सारी कार्रवाई गुप्त ! जान पड़ता है इस प्रणालीमें 'मानव-सम्पर्क' के लिये कोई स्थान ही नहीं । परीक्षकोंका नाम गुप्त रखनेसे प्रकट होता है कि उनपर पूरा विश्वास नहीं किया जा सकता । परीक्षाओंके इस रहस्यमय रूपसे विद्यार्थी घबराता है । अपनी योग्यता-प्रदर्शनके लिये उसके हृदयमें उत्साह या उमंग नहीं होती । इन परीक्षाओंमें उसके स्वास्थ्य और आचरणका, जिनकी जीवनमें सबसे अधिक आवश्यकता है, कोई मूल्य ही नहीं है । वह इनसे वैसा ही डरता है, जैसे बकरी भेड़ियेसे । इस तरह इन परीक्षाओंमें तन, मन, धन और समयका कितना क्षय हो रहा है !

अपनी दास-मनोवृत्तिके कारण इन खोखली परीक्षाओंका आदर हमी लोगोंने बढ़ा रखा है । इन्हें पास करके इने-गिने लोगोंको ही उच्च सरकारी नौकरियाँ मिलती हैं । कुछ लोगोंको गैर-सरकारी संस्थाओंमें छोटे-मोटे वेतनपर काम करनेको मिल जाता है, बाकी लोग इधर-उधर बेकार भटकते फिरते हैं । जब यही बात है, तब परीक्षाके सरकारी बन्धनको क्यों न तोड़ा जाय ? अपने अनुकूल शिक्षाकी उचित योजना बनायी जाय और योग्यताकी जाँचके लिये परीक्षाओंकी उचित व्यवस्था हो । सरकार इन परीक्षाओंको न माने तो न सही, पर गैर-सरकारी संस्थाओं और धनाढ्योंको चाहिये कि वे इन सच्ची राष्ट्रीय संस्थाओंसे निकले हुए लोगोंको ही अपने यहाँ कामपर रखें । यदि शिक्षा और परीक्षाकी उचित व्यवस्था है, तो अवश्य योग्य व्यक्ति निकलेंगे और उनकी योग्यताको भी मानना पड़ेगा । (क्रमशः)

—'सिद्धान्त' (काशी) से उद्धृत ।

श्रीभगवन्नाम-जपके लिये प्रार्थना

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

श्रीभगवन्नामकी महिमा अपार है। शास्त्रों और साधु-महात्माओंने सभी युगोंके लिये मुक्तकण्ठसे नाम-महिमाका गान किया है परन्तु कलियुगके लिये तो इसके समान मुक्तिका कोई दूसरा उपाय ही नहीं बतलाया गया। श्रीनारद-पुराणमें कहा है-

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्। कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥ (१। ४१। १५)

श्रीभगवन्नाम इतना प्रभावशाली होनेपर भी इतना सुगम है कि इसका जप स्त्री-पुरुष, ब्राह्मण-शूद्र सभी कर सकते हैं। इसीलिये 'कल्याण' के पाठकों और प्रेमियोंसे नाम-जपका अभ्यास बढ़ानेके लिये प्रतिवर्ष २॥ महीने नाम-जपके लिये प्रार्थना की जाती है। बड़े ही हर्षकी बात है कि प्रतिवर्ष 'कल्याण'के ग्राहक और पाठक महोदय 'कल्याण' की प्रार्थना सुनकर जगत्के परमकल्याणकी भावनासे स्वयं नाम-जप करते और दूसरोंसे करवाते हैं।

इस वर्ष भी माघ कृष्णा प्रतिपदासे चैत्र कृष्णा अमावस्यातक फिर उसी प्रकार दस करोड़ मन्त्र-जपके लिये हाथ जोड़कर प्रार्थना की जा रही है। आशा है भगवन्नाम-रसिक पाठक-पाठिकाएँ विशेष उत्साहके साथ नाम-जप करने-करवानेका महान् पुण्य-कार्य करेंगे। नियमादि वही हैं।

यह आवश्यक नहीं है कि अमुक समय आसनपर बैठकर ही जप किया जाय। प्रातःकाल उठनेके समयसे लेकर रातको सोनेतक चलते-फिरते, उठते-बैठते और काम करते हुए सब समय इस मन्त्रका जप किया जा सकता है। संख्याकी गिनतीके लिये माला हाथमें या जेबमें रक्खी जा सकती है, अथवा प्रत्येक मन्त्रके साथ संख्या याद रखकर भी गिनती की जा सकती है। बीमारी या अन्य किसी कारणवश जपका क्रम टूट जाय तो किसी दूसरे सज्जनसे जप करवा लेना चाहिये। यदि ऐसा न हो सके तो नीचे लिखे पतेपर उसकी सूचना भेज-देनेसे उसके बदलेमें जपका प्रबन्ध करवाया जा सकता है। किसी अनिवार्य कारणवश यदि जप बीचमें छूट जाय, दूसरा प्रबन्ध न हो और यहाँ सूचना भी न भेजी जा सके, तब भी कोई आपत्ति नहीं। निष्कामभावसे जप जितना भी किया जाय, उतना ही उत्तम है। थोड़ी-सी भी निष्काम उपासना अमोघ और महान् भयसे तारनेवाली होती है।

हमारा तो यह विश्वास है कि यदि 'कल्याण' के प्रेमी पाठक-पाठिकागण अपने-अपने यहाँ इस बातकी पूरी-पूरी चेष्टा करें तो आगामी अङ्क प्रकाशित होनेतक ही हमारे पास बहुत अधिक संख्याकी सूचना आ सकती है। अतएव सबको इस पुण्यकार्यमें मन लगाकर भाग लेना चाहिये।

१–किसी भी तिथिसे आरम्भ करें, परन्तु पूर्ति चैत्र कृष्णा अमावस्याको हो जानी चाहिये।

२–सभी वर्णों, सभी जातियों और सभी आश्रमोंके नर-नारी, बालक-वृद्ध, युवा इस मन्त्रका जप कर सकते हैं।

३–प्रतिदिन कम-से-कम एक मनुष्यको १०८ (एक सौ आठ) मन्त्र (एक माला) का जप अवश्य करना चाहिये।

४–सूचना भेजनेवाले सज्जन केवल संख्याकी ही सूचना भेजें। जप करनेवालोंके नाम भेजनेकी आवश्यकता नहीं। केवल सूचना भेजनेवाले सज्जन अपना नाम और पता लिख भेजें।

५–संख्या मन्त्रकी होनी चाहिये, नामकी नहीं। उदाहरणार्थ यदि ऊपर दिये हुए सोलह नामोंके इस मन्त्रकी एक माला प्रतिदिन जपें तो उसके प्रतिदिनके मन्त्रजपकी संख्या एक सौ आठ होती है, जिसमेंसे भूल-चूकके लिये आठ मन्त्र बाद देनेपर १०० (एक सौ) मन्त्र रह जाते हैं। जिस दिनसे जो भाई मन्त्र-जप आरम्भ करें, उस दिनसे फाल्गुन शुक्ला पूर्णिमातकके मन्त्रोंका हिसाब इसी क्रमसे जोड़कर सूचना भेजनी चाहिये।

६–संस्कृत, हिन्दी, मारवाड़ी, मराठी, गुजराती, बँगला, अँग्रेजी और उर्दूमें सूचना भेजी जा सकती है।

७–सूचना भेजनेका पता–

नाम-जप-विभाग——**'कल्याण'-कार्यालय, गोरखपुर।**

श्रीहरिः

गीताप्रेस, गोरखपुरकी गीताएँ

श्रीमद्भगवद्गीता–[श्रीशांकरभाष्यका सरल हिन्दी-अनुवाद] इसमें मूल भाष्य तथा भाष्यके सामने ही अर्थ लिखकर पढ़ने और समझनेमें सुगमता कर दी गयी है। पृष्ठ ५२०, चित्र ३, मूल्य साधारण जिल्द २।।), बढ़िया कपड़ेकी जिल्द .... २।।।)

श्रीमद्भगवद्गीता–मूल, पदच्छेद, अन्वय, साधारण भाषाटीका, टिप्पणी, प्रधान और सूक्ष्म विषय एवं त्यागसे भगवत्प्राप्तिसहित, मोटा टाइप, कपड़ेकी जिल्द, पृष्ठ ५७६, चित्र ४, मूल्य .... १।)

श्रीमद्भगवद्गीता–बंगला टीका, गीता नं० ४ की तरह, पृष्ठ ५४०, मूल्य .... ।।।)

श्रीमद्भगवद्गीता–[मझली] प्रायः सभी विषय १।) वाली नं० २ के समान, विशेषता यह है कि श्लोकोंके सिरेपर भावार्थ छपा हुआ है, साइज और टाइप कुछ छोटे, पृष्ठ ४७२, मूल्य ।।=), सजिल्द .... ।।।=)

श्रीमद्भगवद्गीता गुटका–(पाकेट साइज) १।) वाली गीताकी ठीक नकल, साइज २२×२९=३२ पेजी, पृष्ठ ५८८, सजिल्द, मूल्य .... ।।)

श्रीमद्भगवद्गीता–श्लोक, साधारण भाषाटीका, टिप्पणी, प्रधान विषय, मोटा टाइप, पृष्ठ ३२०, मूल्य ।।), सजिल्द .... ।।≡)

श्रीमद्भगवद्गीता–मूल, मोटे अक्षरवाली, सचित्र, मूल्य ।-), सजिल्द .... ।≡)

श्रीमद्भगवद्गीता–केवल भाषा, अक्षर मोटे हैं, १ चित्र, मूल्य ।), सजिल्द .... ।=)

श्रीमद्भगवद्गीता–साधारण भाषाटीका, पाकेट साइज, सचित्र, पृष्ठ ३५२, मू० =)।।, सजि० ≡)।।

श्रीमद्भगवद्गीता–मूल ताबीजी, साइज २×२।। इंच, पृष्ठ २९६, सजिल्द, मूल्य .... =)

श्रीमद्भगवद्गीता–विष्णुसहस्रनामसहित, पृष्ठ १३२, सचित्र, सजिल्द, मूल्य .... -)।।

श्रीमद्भगवद्गीता–७।।×१० इंच साइजके दो पन्नोंमें सम्पूर्ण, मूल्य .... -)

श्रीमद्भगवद्गीता–मूल, महीन अक्षरोंमें, पृष्ठ-संख्या ६४, मूल्य ....)।।

श्रीमद्भगवद्गीता–(अंग्रेजी-अनुवादसहित) पाकेट साइज, सचित्र, पृष्ठ ४०४, मूल्य ।), सजिल्द ।=)

डाकखर्च अलग।

पता- **गीताप्रेस, गोरखपुर**

श्रीहरिः

चेतावनी

बहुत गई, थोरी रही, नारायन ! अब चेत ।
काल चिरैया चुग रही निसि दिन आयू खेत ॥ १ ॥
नारायन ! सुख भोग में तू लंपट दिन रैन ।
अंत समय आयौ निकट, देख खोल कै नैन ॥ २ ॥
धन जोबन यों जायगो, जा बिधि उड़त कपूर ।
नारायन ! गोपाल भज, क्यों चाटै जग धूर ॥ ३ ॥
रंभक सुंभ निसुंभ अरु त्रिपुर आदि लै सूर ।
नारायन ! या काल ने किए सकल भट चूर ॥ ४ ॥
हिरन्याच्छ जग में बिदित हिरनकसिपु बलवान ।
नारायन ! छिन में भए ये सब राख समान ॥ ५ ॥
सगर नहूष जजाति खट, और अनेक महीप ।
नारायन ! वे अब कहाँ, भुज बल जीते दीप ॥ ६ ॥
कुंभकरन दसकंठ से नारायन ! रनधीर ।
भए सकल भट कालबस, जिन के कुलिस सरीर ॥ ७ ॥
दुरजोधन जग में बिदित जरासंध सिसुपाल ।
नारायन ! सो अब कहाँ अभिमानी भूपाल ॥ ८ ॥
नारायन ! संसार में भूपति भए अनेक ।
मैं मेरी करते रहे, लै न गए तृन एक ॥ ९ ॥

—नारायण स्वामी

1-2-44

पाष २००

… ६९०
८–देवीभक्ता श्रीहरिकुँअरके जीवनकी एक झाँकी (पं० श्रीमूलशङ्करजी शास्त्री, वेदान्ताचार्य)… … ६९३
९–कामके पत्र … … … … … ६९७
१०–वरदान [कविता] (श्रीमहावीरसिंहजी 'वीर') … … … … ७०५
११–सत्सङ्गके बिखरे वाक्य (संग्रहकर्त्ता–एक सत्सङ्गी) … … … … ७०६
१२–स्नेह-सूत्र [कविता] (कविरत्न पं० श्रीगणपतराजजी पुरोहित 'सज्जन')… … … ७१२
१३–शिक्षा (पं० श्रीगङ्गाशङ्करजी मिश्र, एम्० ए०) … … … … ७१३
१४–व्रत-परिचय (पं० श्रीहनूमान्जी शर्मा) … … … … ७१७

वर्ष १८ अङ्क ४

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
रघुपति राघव राजा राम। पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ आगारा ॥

[संस्करण ५३६००]

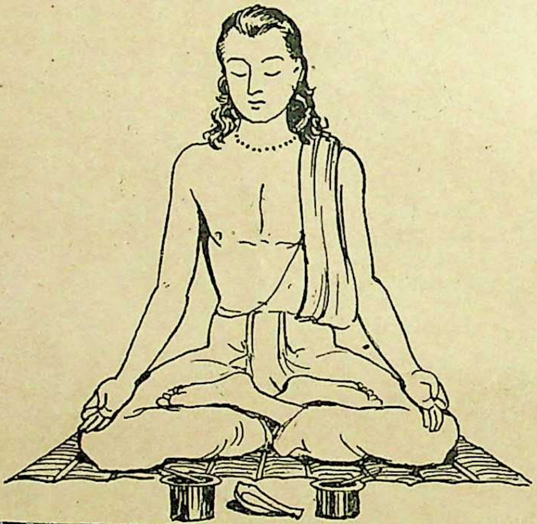

नारायन ! व अब कहाँ, भुज बल जारी दीप ॥ ६ ॥
कुंभकरन दसकंठ से नारायन ! रनधीर।
भए सकल भट कालबस, जिन के कुलिस सरीर ॥ ७ ॥
दुरजोधन जग में बिदित जरासंध सिसुपाल।
नारायन ! सो अब कहाँ अभिमानी भूपाल ॥ ८ ॥
नारायन ! संसार में भूपति भए अनेक।

वार्षिक मूल्य
भारतमें ५≡)
विदेशमें ७॥=)
(शिलिङ्ग ११½)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें ।)
विदेशमें ।≠)
(८ पेंस)

Edited by H. P. Poddar and C. L. Goswami, M. A., Shastri.
Printed and Published by Ghanshyamdas Jalan at the Gita Press, Gorakhpur, U. P. (India)

श्रीहरिः

संक्षिप्त वाल्मीकीय रामायणाङ्कका

दूसरा संस्करण छप रहा है

प्रथम संस्करणके समाप्त हो जानेकी सूचना गत मासमें दी जा चुकी है। कागजकी कमीके कारण दुबारा छापनेका विचार नहीं था, इसलिये सैकड़ों ग्राहकोंके आये हुए मनीआर्डर लौटा दिये गये। परन्तु अभी वर्तमान वर्षके करीब ८ महीने बाकी हैं। प्रेमी ग्राहकोंका बहुत आग्रह है इसलिये कुछ प्रतियोंका एक संस्करण और छापनेका विचार किया गया है।

दूसरा संस्करण छपकर मार्चमें किसी समय तैयार हो सकता है, अतः नये ग्राहकोंसे तबतकके लिये धैर्य रखनेकी प्रार्थना है।

व्यवस्थापक—कल्याण, गोरखपुर

कल्याण जनवरी सन् १९४४ की

विषय-सूची

विषय … पृष्ठ-संख्या

१–मोहनको भरमाना [कविता] (श्रीसूरदासजी) … … … … ६६५
२–संत-वाणी (एक महात्माका प्रसाद) … … … … ६६६
३–काल-प्रभाव (स्वामी कृष्णानन्दजी महाराज) … … … … ६६७
४–रामसेवक श्रीलक्ष्मण (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) … … … … ६७१
५–श्रीमध्वाचार्यका द्वैतवाद (पं० श्रीकृष्णदेवजी उपाध्याय, एम्० ए०, साहित्यरत्न) … … ६८०
६–प्रसन्नता (पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम्० ए०, बी० टी०) … … … ६८८
७–मानस-शङ्का-समाधान (रायसाहब पं० श्रीअयोध्याप्रसादजी पाठक) … … … ६९०
८–देवीभक्ता श्रीहरिकुँअरके जीवनकी एक झाँकी (पं० श्रीमूलशङ्करजी शास्त्री, वेदान्ताचार्य) … … ६९३
९–कामके पत्र … … … … … ६९७
१०–वरदान [कविता] (श्रीमहावीरसिंहजी 'वीर') … … … … ७०५
११–सत्सङ्गके बिखरे वाक्य (संग्रहकर्त्ता—एक सत्सङ्गी) … … … … ७०६
१२–स्नेह-सूत्र [कविता] (कविरत्न पं० श्रीगणपतराजजी पुरोहित 'सज्जन') … … … ७१२
१३–शिक्षा (पं० श्रीगङ्गाशङ्करजी मिश्र, एम्० ए०) … … … … ७१३
१४–व्रत-परिचय (पं० श्रीहनूमान्जी शर्मा) … … … … ७१७

सजिल्द कल्याणका आर्डर न दें

ग्राहकोंकी सेवामें निवेदन है कि अबसे कल्याणके पुराने फाइल एवं विशेषाङ्कोंकी सजिल्द प्रतियोंका आर्डर न देनेकी कृपा करें।

व्यवस्थापक—कल्याण, गोरखपुर

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ आगारा ॥

[संस्करण ५३६००]

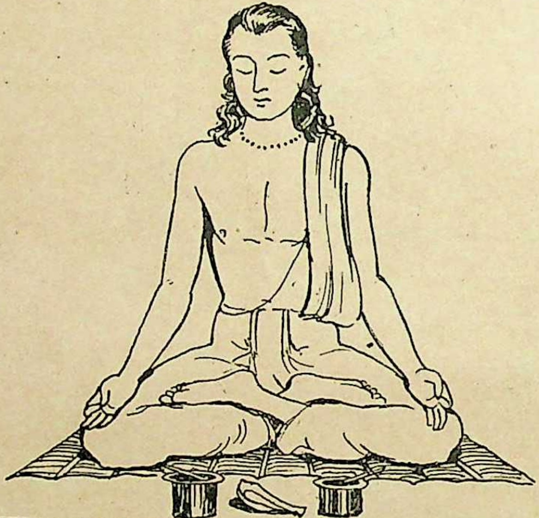

नारायन ! वे अब कहाँ, भुज बल [illegible] दीप ॥ ६ ॥
कुंभकरन दसकंठ से नारायन ! रनधीर ।
भए सकल भट कालबस, जिन के कुलिस सरीर ॥ ७ ॥
दुरजोधन जग में बिदित जरासंध सिसुपाल ।
नारायन ! सो अब कहाँ अभिमानी भूपाल ॥ ८ ॥
नारायन ! संसार में भूपति भए अनेक ।

वार्षिक मूल्य
भारतमें ५≡)
विदेशमें ७॥=)
(शिलिङ्ग ११½)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें ।)
विदेशमें ।-)
(८ पेंस)

Edited by H. P. Poddar and C. L. Goswami, M. A., Shastri.
Printed and Published by Ghanshyamdas Jalan at the Gita Press, Gorakhpur, U. P. (India)

श्रीहरिः

संक्षिप्त वाल्मीकीय रामायणाङ्कका

दूसरा संस्करण छप रहा है

प्रथम संस्करणके समाप्त हो जानेकी सूचना गत मासमें दी जा चुकी है। कागजकी कमीके कारण दुबारा छापनेका विचार नहीं था, इसलिये सैकड़ों ग्राहकोंके आये हुए मनीआर्डर लौटा दिये गये। परन्तु अभी वर्तमान वर्षके करीब ८ महीने बाकी हैं। प्रेमी ग्राहकोंका बहुत आग्रह है इसलिये कुछ प्रतियोंका एक संस्करण और छापनेका विचार किया गया है।

दूसरा संस्करण छपकर मार्चमें किसी समय तैयार हो सकता है, अतः नये ग्राहकोंसे तबतकके लिये धैर्य रखनेकी प्रार्थना है।

व्यवस्थापक–कल्याण, गोरखपुर

कल्याण जनवरी सन् १९४४ की

विषय-सूची

विषय पृष्ठ-संख्या

१–मोहनको भरमाना [कविता] (श्रीसूरदासजी) ६६५
२–संत-वाणी (एक महात्माका प्रसाद) ६६६
३–काल-प्रभाव (स्वामी कृष्णानन्दजी महाराज) ६६७
४–रामसेवक श्रीलक्ष्मण (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ६७१
५–श्रीमध्वाचार्यका द्वैतवाद (पं० श्रीकृष्णदेवजी उपाध्याय, एम्० ए०, साहित्यरत्न) ६८०
६–प्रसन्नता (पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम्० ए०, बी० टी०) ६८८
७–मानस-शङ्का-समाधान (रायसाहब पं० श्रीअयोध्याप्रसादजी पाठक) ६९०
८–देवीभक्ता श्रीहरिकुँअरके जीवनकी एक झाँकी (पं० श्रीमूलशङ्करजी शास्त्री, वेदान्ताचार्य)... ... ६९३
९–कामके पत्र ६९७
१०–वरदान [कविता] (श्रीमहावीरसिंहजी 'वीर') ७०५
११–सत्सङ्गके बिखरे वाक्य (संग्रहकर्त्ता–एक सत्सङ्गी) ७०६
१२–स्नेह-सूत्र [कविता] (कविरत्न पं० श्रीगणपतराजजी पुरोहित 'सज्जन')... ... ... ७१२
१३–शिक्षा (पं० श्रीगङ्गाशङ्करजी मिश्र, एम्० ए०) ७१३
१४–व्रत-परिचय (पं० श्रीहनूमान्‌जी शर्मा) ७१७

सजिल्द कल्याणका आर्डर न दें

ग्राहकोंकी सेवामें निवेदन है कि अबसे कल्याणके पुराने फाइल एवं विशेषाङ्कोंकी सजिल्द प्रतियोंका आर्डर न देनेकी कृपा करें।

व्यवस्थापक–कल्याण, गोरखपुर

श्रीहरिः

गीताप्रेस, गोरखपुरकी

पुस्तकें बेचनेवाले और खरीदनेवाले ग्राहकोंकी सेवामें निवेदन

हमारे पास कई स्थानोंसे इस प्रकारकी शिकायतें आती हैं कि पुस्तक-विक्रेतागण हमारी पुस्तकोंपर छपे दामोंसे बहुत अधिक दाम लेते हैं; कहीं-कहीं तो दूनेतक माँगते हैं। किसी-किसी दूकानदारने तो हमारी गीता-डायरियोंपर ।≡)॥ की जगह १≡)॥ तथा सजिल्द प्रतिपर ॥-) की जगह १।-) कलमसे बना लिये हैं। इसी प्रकार और भी अनेक प्रकारकी शिकायतें आती रहती हैं। अतः ग्राहकोंकी जानकारीके लिये नीचे कुछ आवश्यक बातें लिखी जाती हैं, जिससे वे बुकसेलरोंके इस अनुचित व्यवहारसे सावधान रह सकें।

नवम्बर सन् १९४२ में जो पचास फीसदीकी वृद्धि की गयी थी, उसे (केवल 'गीता-डायरी'को छोड़कर) हटा करके ता० २० अक्टूबर सन् १९४३ से पुस्तकोंके पुराने दाम, जो पहले थे, वही कर दिये गये। बुकसेलरोंको १ अक्टूबरसे २० अक्टूबरतक जो माल भेजा गया था, उसपर भी यह रियायत दे दी गयी। इसके सिवा बुकसेलरोंको कम-से-कम ५०) के आर्डरपर ५) सैकड़ा, १००) के आर्डरपर १०) सैकड़ा तथा वर्षभरमें १०००) का माल मँगा लेनेपर ५) सैकड़ा विशेष कमीशन भी मिलता है। कम-से-कम ५०) के आर्डरपर मालगाड़ीका पूरा किराया या पारसलसे मँगानेपर आधा रेल-किराया तो सभी ग्राहकोंको बाद दिया जाता है। थोक बुकसेलर प्रायः १००) का माल एक साथ मँगाते हैं एवं उनमेंसे बहुतसे तो १०००) का माल भी वर्षभरमें पूरा कर ही लेते हैं। इस प्रकार उन्हें लगभग १५) प्रति सैकड़ा कमीशन हमारी छपी कीमतपर हमारी ओरसे प्राप्त हो जाता है। हाँ, जो माल वे सवारी गाड़ीसे मँगाते हैं, उसपर आधा रेल-किराया उनका लगता है। ऐसी स्थितिमें किसी भी बुकसेलरका हमारी पुस्तकोंपर छपे हुए दामोंसे ड्योढ़े या दूने दाम माँगना सर्वथा अनुचित एवं न्यायविरुद्ध ही नहीं, वरं भारतसरकारके अतिशय नफा-विरोधी कानून (Anti-profiteering ordinance) के अनुसार अपराध भी है। इसके अनुसार किसी भी व्यापारीको २०) प्रति सैकड़ासे अधिक नफा लेनेका अधिकार नहीं है। हमारी रायमें बुकसेलर हमारी पुस्तकोंपर छपे हुए दामोंसे अधिक-से-अधिक १२॥) प्रति सैकड़ा अर्थात् दो आना प्रति रुपयातक अधिक ले लें तो ठीक है। ग्राहकोंसे प्रार्थना है कि जो लोग इससे ज्यादा दाम माँगें, उनके नाम और पते कैशमेमो-सहित हमें भेजनेकी कृपा करें, जिससे उन बुकसेलरोंको भविष्यमें माल भेजते समय विचार किया जा सके। ध्यान रहे कि नये आर्डिनेंसके अनुसार किसी ग्राहकको कैशमेमो न देना या माल घरमें रहते हुए उचित मूल्यपर देनेसे इन्कार करना भी अपराध है। इसलिये पुस्तक-विक्रेता बन्धुओंकी सेवामें भी सविनय प्रार्थना है कि वे ठीक दामोंपर ही पुस्तकें बेचनेकी कृपा करेंगे।

ग्राहकोंसे भी हमारी प्रार्थना है कि यदि वे कुछ लोग एकत्र होकर अपना सम्मिलित आर्डर हमें भेज देंगे तो रेलसे भेजनेपर थोड़े ही अधिक खर्चमें उन्हें पुस्तकें प्राप्त हो सकेंगी। इस प्रकार आर्डर देनेवाले सज्जन आर्डरके साथ चौथाई रक़म पेशगी भेजनेकी तथा अपने नजदीकके रेलवे स्टेशनका नाम साफ-साफ लिखनेकी कृपा करेंगे।

आशा है कि पुस्तक-विक्रेता एवं ग्राहकगण गीताप्रेसके सुन्दर-सस्ते और धार्मिक साहित्यके प्रचारमें हाथ बँटानेकी कृपा करेंगे।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, गोरखपुर

स्तकालय
ल कांगड़ी

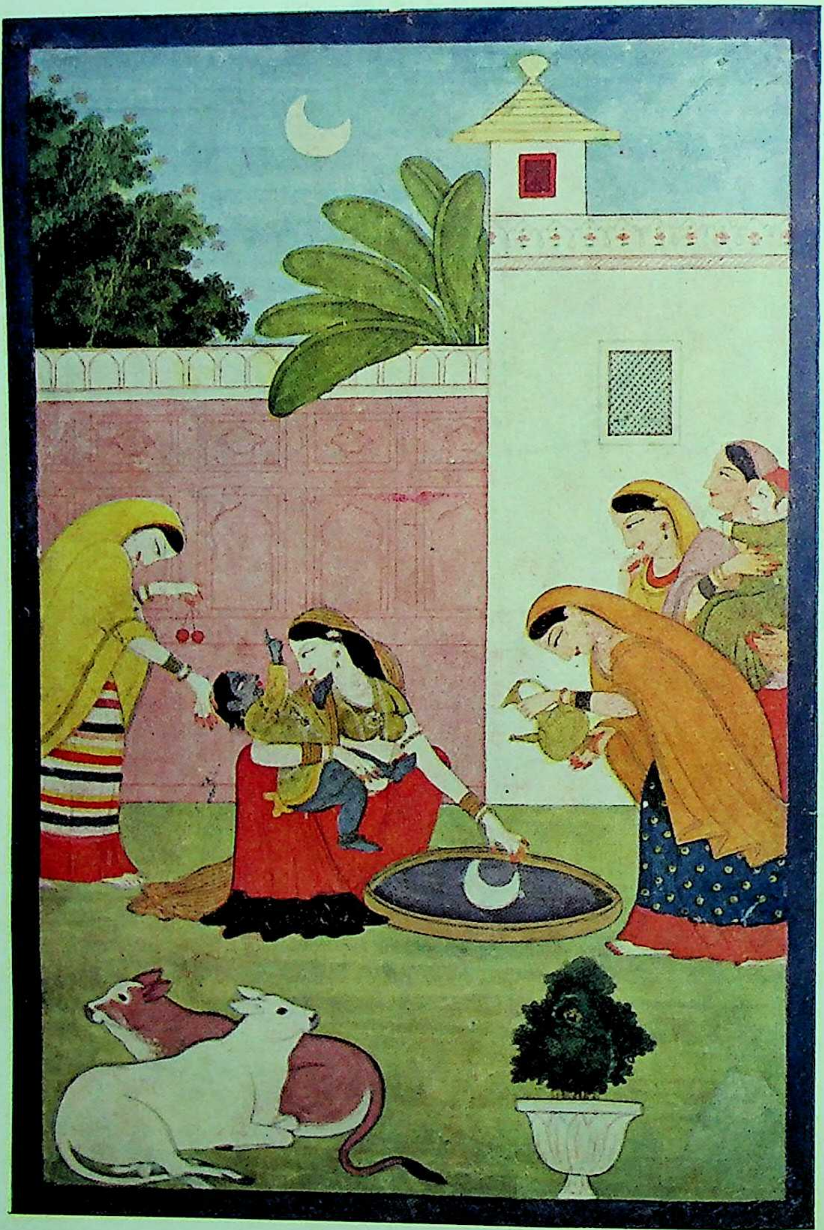

बालकृष्णका बाल-हठ

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी

कल्याण

रामाय रामभद्राय रामचन्द्राय वेधसे ।
रघुनाथाय नाथाय सीतायाः पतये नमः ॥

वर्ष १८ } गोरखपुर, जनवरी १९४४, सौर पौष २००० { संख्या ४
पूर्ण संख्या २०८

मोहनको भरमाना

लै लै मोहन चंदा लै ।
कमलनैन बलि जाउँ सुचित है, नीचैं नैंकु चितै ॥
जा कारन तैं सुनि सुत सुँदर, कीन्ही इती अरै ।
सोइ सुधाकर देखि कन्हैया भाजन माहिं परै ॥
नभतैं निकट आनि राख्यो है, जल-पुट जतन जुगै ।
लै अपने कर काढ़ि चंद कौं, जो भावै सो कै ॥
गगन-मँडल तैं गहि आन्यौ है, पंछी एक पठै ।
सूरदास प्रभु इती बात कौं, कत मेरौ लालु हठै ॥

—श्रीसूरदासजी

संत-वाणी

(एक महात्माका प्रसाद)

जिसके परिवर्तनकी रुचि है, वह हमारी आवश्यकता नहीं हो सकती। हमारी आवश्यकता वही हो सकती है, जिसकी पूर्ति वर्तमानमें हो सके; भविष्यकी आशा उस वस्तुके लिये होती है, जो किसी प्रकारके संगठनसे मिलती है। हमको अपनी आवश्यकताके लिये संगठनकी अपेक्षा नहीं हो सकती; क्योंकि संगठन किसी-न-किसी परिस्थितिके स्वरूपमें ही रहता है। परिस्थितिका सदुपयोग हमें परिस्थितिसे असङ्ग करनेमें समर्थ है, क्योंकि वह हमको विश्वके ऋणसे मुक्त कर देता है। जब हम परिस्थितियोंसे असङ्ग हो जाते हैं, तब हमारा प्रेमपात्र हमारे सामने अपने-आप आ जाता है; क्योंकि परिस्थितियोंके दासत्वने हमको नित्य जीवनसे विमुख कर दिया है।

आवश्यकताकी अपूर्ति असह्य होती है और इच्छाकी अपूर्ति सहन होती रहती है; आवश्यकता वर्तमानसे सम्बन्ध रखती है, इच्छा भविष्यसे; आवश्यकताकी उत्पत्ति अहंतासे होती है और इच्छाकी उत्पत्ति आसक्तिसे होती है। आवश्यकताकी पूर्ति होती है, इच्छाकी निवृत्ति होती है। आवश्यकताकी पूर्ति एवं इच्छाओंकी निवृत्ति होनेपर नित्य-जीवनका अनुभव होता है।

जिसकी प्रवृत्ति प्रिय हो और अन्तमें कुछ न मिले; वह इच्छा है। जिसका मिलन प्रिय हो और प्रवृत्ति कुछ न हो, वह आवश्यकता है।

प्रवृत्ति–किसीकी ओर दौड़ना (उसकी ओर दौड़ना, जो न मिले)।

आवश्यकता–जो अपने-आप आ जाय।

प्रमाद–'नहीं' को 'नहीं' न मानना प्रमाद है; 'है' को 'है' न मानना भी प्रमाद है; साधनको साध्य मान लेना प्रमाद है; क्रियामात्रको ही जीवन मान लेना प्रमाद है। अनुभूतिका निरादर प्रमाद है।

सर्वप्रिय प्रवृत्ति संसारका सौन्दर्य है; सर्व प्रवृत्तियोंकी निवृत्ति संसारका अन्त है; निवृत्तिकी निवृत्ति ईश्वरवादका आरम्भ है।

उपभोग कर्मसे, भगवान् सद्भावसे, ज्ञान त्यागसे मिलता है। दूसरोंके काम आना—कर्म; आत्मभाव—सद्भाव; वासना-शून्यता त्याग है।

प्रवृत्तिकी रुचि—कर्म; प्रवृत्तिसे अरुचि—वैराग्य; प्रवृत्तिके अर्थका परिवर्तन हो जाना (अर्थात् प्रवृत्तिका पूजन बन जाना)–भक्ति; प्रवृत्तिका अभाव तत्त्वज्ञान; अभावका अभाव विज्ञान है।

जो किसीका नहीं तथा जिसका कोई नहीं, उसके भगवान् अपने-आप हो जाते हैं; क्योंकि वे अनाथके नाथ हैं। जो किसीका नहीं तथा जिसका कोई नहीं, उसे किसीका चिन्तन नहीं होता। जिसे किसीका चिन्तन नहीं होता, उसकी सारी शक्ति भगवान्में विलीन हो जाती है। भगवान्में विलीन हुई शक्ति अनन्त एवं नित्य हो जाती है, क्योंकि यह उनका स्वरूप है।

जो करना पड़ता है, उसे संयमके साथ करो; जो करना है, उसको अहंतासे करो; जो आवश्यक है, उसे भूलो मत।

क्या करना पड़ता है ?—संयोग।

क्या करना है ?—वियोग।

क्या आवश्यक है ?—नित्य जीवन, अनन्त रस।

भक्तपर सुख-दुःख तथा चिन्ता आदिका शासन नहीं होता।

आत्माका बल सभी बलोंसे श्रेष्ठ बल है; वर्तमान परिस्थितिका सदुपयोग सर्वोत्कृष्ट साधन है; अपने-आप आये हुए सुखको बाँट देना और अपने-आप आये हुए दुःखसे त्यागकी शिक्षा लेना परम पुरुषार्थ है।

उसकी खोज करो, जिसके बिना तुम किसी प्रकार रह नहीं सकते।

निश्चिन्तता, निर्भयता परम बल है।

काल-प्रभाव

(लेखक—स्वामी कृष्णानन्दजी महाराज)

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदाꣳश्च प्रहिणोति तस्मै।
तꣳह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥

काल परिवर्तनशील है। कदापि सम स्थितिमें नहीं रहता। इस बातका बोध शास्त्र और सर्वदा होनेवाली घटनाओंसे विवेकी जनोंको सर्वदा होता रहता है। प्रातः-काल सूर्य उदय होता है, मध्याह्नकालमें खूब तपता है तथा सायंकालमें अस्त हो जाता है। दिन और रातका चक्र नियमपूर्वक चलता रहता है। वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा आदि ऋतुओंका परिवर्तन नियमपूर्वक होता रहता है। इसी नियमके अनुसार वर्ष, युग आदि बदलते रहते हैं।

इस काल-क्रीड़ाका प्रभाव भूमण्डलपर अवस्थित प्राणी-समुदायपर भी पड़ता रहता है। सत्ययुगके समय जो वायुमण्डल और जिस प्रकारकी विचार-धारा थी, वह इस युगमें नहीं दृष्टिगोचर होती। ईश्वर-भक्तिद्वारा कुछ विवेकी भले ही बच जायँ, शेष सब काल-प्रभावसे विमोहित हो जाते हैं। इस अविचल नियमका अनुभव करके मनु महाराज लिखते हैं—

चतुष्पात् सकलो धर्मः सत्यं चैव कृते युगे।
नाधर्मेणागमः कश्चिन्मनुष्यान् प्रति वर्त्तते॥
इतरेष्वागमाद् धर्मः पादशस्त्ववरोपितः।
चौरिकानृतमायाभिर्धर्मश्चापैति पादशः॥

'सत्ययुगमें धर्म चारों पादों (तप, ज्ञान, यज्ञ, दान) से युक्त अपने समग्ररूपमें रहता है तथा सत्यका, जो सब धर्मोंमें श्रेष्ठ है, पूर्णरूपसे पालन होता है। राजा प्रजा, धन, विद्या आदिकी प्राप्तिके लिये शास्त्र-मर्यादाका त्याग नहीं करते। इस धर्मका प्रायः त्रेता, द्वापर और कलिमें क्रमशः चौथा-चौथा हिस्सा कम होता जाता है। धन-विद्या आदिकी प्राप्तिमें नीति या शास्त्र-मर्यादाका विचार सत्ययुगके समान नहीं होता। चोरी, असत्य, प्रपञ्च आदिकी वृद्धि होकर धर्मका शनैः-शनैः ह्रास होता है।'

वनस्पति-संसारकी ओर दृष्टि डालनेसे पता चलता है कि भूतकालमें पुष्परहित वनस्पतियोंके अन्तर्गत हंसराज आदि बड़े-बड़े वृक्षोंकी अनेक जातियाँ थीं; वर्तमानकालमें उनका नामोनिशान भी नहीं दिखायी देता। सपुष्प वर्ग और अपुष्प वर्गके बीचमें एक मिश्रित वर्ग था, जिसे पाश्चात्य वनस्पति-शास्त्रने Mictezoa संज्ञा दी हैं। यह समूचा वर्ग ही नष्ट हो गया है। वर्तमान कालमें पृथ्वीके भीतरसे जो कोयला निकलता है, वह उन नष्ट वनस्पतियोंका ही रूपान्तर है—ऐसी भूगर्भ-वेत्ताओंकी मान्यता है।

पशु-पक्षी आदि तिर्यग्-जगत्का निरीक्षण करनेपर अवगत होता है कि भूतकालमें उग्र विष धारण करनेवाले बड़े-बड़े सर्प थे। अनेक प्रकारके विचित्र आकृतिवाले दीर्घकाय पशु-पक्षी थे, जो आज नहीं हैं। तथा पहलेके उन पशु-पक्षियोंकी तुलनामें वर्त्तमानकालके पशु-पक्षियोंका बल चौथाई भी नहीं है।

प्राचीन कालमें पृथ्वीपर बड़े-बड़े घने जंगल थे। वहाँ पशु-पक्षियोंको भरपेट आहार मिल जाता था। वे आहारके लिये अधिक चिन्तित नहीं रहते थे। जल-वायु उनके अनुकूल था। यह स्थिति शनैः-शनैः बदलती गयी। इस समय हम देखते हैं कि बड़े-बड़े जंगल प्रायः नष्ट हो गये हैं। जीवनका साधन पशु-पक्षियोंके लिये कम हो गया है। फलतः उनकी संख्या और बल भी घट गया है। संख्यामें कमी होनेका दूसरा कारण मनुष्य-संख्याकी वृद्धि है। दूरकी बात जाने दीजिये, आजसे ५० वर्ष पहले इस संसारमें जितने पशु-पक्षी थे, वर्तमानकालमें उसका चतुर्थांश ही शेष रह गया है। बाकी ¾ पशु-पक्षियोंको मांसाहारियोंने खा डाला। इन पशु-पक्षियोंकी उत्पत्ति जारी है; तथापि मृत्यु-संख्या अत्यधिक होनेसे इनकी आबादी बहुत कम होती जा रही है।

प्राचीन युगमें सत्य एवं सदाचारकी कितनी महिमा थी, इसका पता उपनिषदोंकी शिक्षा तथा उसमें आये हुए ऐतिहासिक आख्यानोंसे चलता है । तैत्तिरीय-श्रुति दर्शाती है कि जब ब्रह्मचारी स्नातक होकर गुरुकुलसे विदा होता था, उस समय आचार्य उसे 'सत्यं वद । धर्मं चर । स्वाध्यायान्मा प्रमदः ।' इत्यादि वाक्योंद्वारा उपदेश देते थे । इन तीनों वचनोंमें 'सत्यं वद' यह वचन सबसे पहले आया है । सत्यसे ही सच्ची विद्या और सच्ची शान्ति मिल सकती है । सत्य बिना कल्याणकरी विद्या और दुःखाभावयुक्त शाश्वत सुख कदापि नहीं मिल सकता; इसीलिये श्रुतिने सत्यको सबसे अधिक माना है । जो सत्यपर आरूढ रहता है, सदाचारकी रक्षा करता है, वही 'धर्मं चर' इस आज्ञाका पालन कर सकता है । श्रुतिने धर्माचरणकी भी पूरी आवश्यकता मानी है । सत्य और धर्म—इन दोनोंका यथावत् पालन करनेसे ही विद्या दैवी विद्या बनकर सफल हो सकती है । अन्यथा वही विद्या आसुरी भावको प्राप्त होकर संसारके विनाशका साधन बन जाती है ।

प्राचीन युगमें सत्यका पालन कितने अंशमें होता था, इसका दिग्दर्शन करनेवाला एक आख्यान प्रश्नोपनिषद्में मिलता है—एक समय छः विद्वान् ब्राह्मण ब्रह्म-विद्याके सम्पादनार्थ पिप्पलाद ऋषिके पास उपस्थित हुए । इनमेंसे एकका नाम सुकेशा भारद्वाज था । इन्होंने गुरुदेवसे कहा—'हिरण्यनाभ कौसल्यनामक राजपुत्र मेरे पास आये थे । उन्होंने मुझसे षोड़शकल पुरुषसम्बधिनी विद्याके बारेमें प्रश्न किया । उसे मैं नहीं जानता, इसलिये उनका समाधान नहीं कर सका ।' साथ ही विशेष विश्वास दिलानेके लिये उन्होंने यह कहा कि 'मैं असत्य नहीं कहता । असत्य बोलनेवाला समूल नष्ट हो जाता है । मैं सत्य कहता हूँ, यह विद्या मैं नहीं जानता ।' महाराजने राजकुमारकी दृष्टिमें लघु बनना स्वीकार कर लिया, किन्तु असत्यका आश्रय नहीं लिया । फिर उन्होंने वह विद्या महर्षि पिप्पलादसे प्राप्त की । इसी प्रकार सत्यकाम जाबालका विद्याध्ययनके लिये गुरुके पास जाकर अपना गोत्र न जाननेकी बात साफ-साफ कह देना, श्वेतकेतुका राजा प्रवाहण जैवलिके पाँच प्रश्नोंका उत्तर न जाननेकी बात स्वीकार करना आदि-आदि सत्य-पालनके अनेक उदाहरण मिलते हैं ।

महाराज हरिश्चन्द्रने सत्य-पालनके लिये विश्वामित्र मुनिको अयोध्याका राज्य दे दिया और स्वयं स्त्री-पुत्र-सहित गुलाम बन गये । इस प्रकार उन्होंने महान् आपत्ति उठायी; किन्तु अधर्माचरणका आश्रय नहीं लिया ।

महाराजा दशरथने रानी कैकेयीको उसपर प्रसन्न होकर दो वर दिये थे । उनके अनुसार भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके राज्याभिषेककी पूर्ण तैयारी हो जानेपर दासी मन्थराके बहकानेसे कैकेयीने राजासे दो वर माँगे—रामचन्द्रको वनवास और भरतको राज्य । ये कठोर वचन सुनते ही महाराज मूर्च्छित हो गये । पुनः चेतना आनेपर उन्होंने अपनी प्रतिज्ञाके पालनार्थ श्रीरामचन्द्रजीको वनवास एवं भरतको राज्य देना स्वीकार कर लिया । किन्तु यह आघात उनके लिये असह्य था । इसी कारण महाराजा दशरथकी मृत्यु हो गयी । इस परिणामको महाराजाने पहले ही जान लिया था । फिर भी वे असत्य नहीं बोले और न उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा भंग की ।

महाराज विचित्रवीर्यके निःसन्तान मर जानेपर पितामह भीष्मको माता सत्यवती राज्य देने लगी; परन्तु पिताजीकी जीवित-अवस्थामें की हुई प्रतिज्ञाके आधारपर उन्होंने राज्य नहीं लिया । इसी तरह महाराजा नल और महाराजा युधिष्ठिर द्यूतमें हार जानेपर राज्यका त्याग कर वनमें चले गये थे । प्राचीन कालमें लोग धर्म और सत्यके संरक्षणको सम्पत्ति-संरक्षणकी अपेक्षा विशेष आवश्यक मानते थे तथा उसी प्रकार बर्ताव करते थे, जिससे संसारमें सर्वत्र सुख-शान्तिका साम्राज्य था ।

मुसलमानी युगतक राजा, नवाब, कोतवाल तथा

पंचोंके सामने लोग असत्य नहीं बोलते थे । जैसी बात होती थी, स्पष्ट कह देते थे । किन्तु इस अंग्रेजी युगमें अदालतोंमें झूठी गवाही देनेके लिये हमें जितने साक्षियों-की आवश्यकता हो, उतने सरलतासे मिल सकते हैं । यह परिवर्तन काल-प्रभावसे ही हुआ है ।

वर्तमान युगमें दूषित शिक्षाके कारण छात्रोंके विवेक-चक्षु मुँद जाते हैं । फलतः वे मदान्ध बनकर धर्म-अधर्म, कीर्ति-अपकीर्ति, हानि-लाभ, हित-अहित आदिका विचार नहीं कर सकते । सांसारिक भोगोंको ही मुख्य ध्येय बना लेते हैं । इनका जीवन प्राचीन कालके राक्षसोंकी अपेक्षा भी हीनतर होता है ।

इस समय इस भूमण्डलपर करीब दो अरब मनुष्योंकी आबादी है । इनमेंसे केवल दो करोड़ मनुष्य शाक-भोगी हैं । शेष सब मांसाहारी हैं । यद्यपि क्षत्रिय आदि सनातनी मांसाहारी बहुत कम समय मांसका सेवन करते हैं, तथापि वे मांसाहारी तो हैं ही । इन मांसाहारियोंने पिछले ५० वर्षोंमें तिर्यग्-जगत्पर जितना जुल्म किया है, उतना ही जुल्म यदि पचास वर्षोंतक और होता रहा तो संसारमें पशु-पक्षियोंकी सभी जातियाँ नष्ट हो जायँगी एवं मछली आदि जल-जन्तुओंमें भी कोई नहीं बच सकेंगे । अब इन सबका नाश होगा या उनका कोई संरक्षण करेगा—यह काल भगवान् ही भावी जनताको बतायेंगे ।

इस भूमण्डलपर २० करोड़ वर्गमील भूमि है । इसके $\frac{७१}{१००}$ वें भागमें जल है । केवल $\frac{२९}{१००}$ वें हिस्सेमें जमीन है । अर्थात् लगभग ६॥ करोड़ वर्गमील जमीन है । इसपर दो अरब मनुष्य रहते हैं । काल-प्रभावसे मनुष्य मानव-राक्षस या मानव-पशु बन गये हैं, जिससे उनके मनमें नित्य-नूतन विषयोंके सेवनकी लालसा उत्पन्न होती रहती है । उन्हें उचित-अनुचित, नीति-अनीति, धर्म-अधर्म या लाभ-हानिका विचार करनेकी आवश्यकता ही नहीं प्रतीत होती । क्षुद्र स्वार्थके लिये यदि दो-चार जीवोंका वध करना पड़े तो भी उन्हें संकोच नहीं होता । भोग-विलासके साधनोंकी प्राप्तिके लिये वे सदैव विविध प्रकारके पाखण्ड-प्रपञ्च करते रहते हैं । यह परिस्थिति काल-प्रभावसे विमोहित जीवोंकी हो गयी है ।

विचार-दृष्टिसे देखा जाय तो यह ६॥ करोड़ वर्गमील जमीन दो अरब मनुष्योंको (यदि वे भोग-वासनाको छोड़ नैसर्गिक नियमानुसार जीवन व्यतीत करें तो) अन्न आदि आवश्यक पदार्थ दे सकती है; किन्तु विलास-प्रिय जीवोंको तृप्त करनेमें पृथ्वी असमर्थ है । आधुनिक मानव-राक्षसोंकी लालसा प्रज्वलित अग्निके सदृश प्रबल होनेसे वे निरन्तर पाप-पाखण्डका आश्रय लेकर सरल निरपराध मनुष्योंको दुःख पहुँचाते रहते हैं एवं भीतर-ही-भीतर विग्रह भी करते रहते हैं । ईश्वर है या नहीं, ईश्वरके बनाये हुए नैसर्गिक नियम क्या हैं, तथा उन नियमोंका उल्लङ्घन करनेसे क्या परिणाम होगा—इन बातोंका विचार वे नहीं करते । वे शरीर-बल, सत्ता एवं सम्पत्तिका उपयोग संसारके नाशके लिये ही करते रहते हैं ।

यदि ५० वर्षतक इन असुरोंकी प्रवृत्तिको न रोका जाय तथा संसारमें विश्वव्यापी युद्ध, जनपद-व्यापी रोग (इन्फ्लुएञ्जा, हैजा आदि), देशव्यापी दुष्काल (निसर्गकृत या कृत्रिम), अथवा बड़ा भारी भूकम्प—इन चार महा आपत्तियोंमेंसे एक भी न आये तो संसार-की जन-संख्या ढाई अरबसे भी अधिक हो जाय । जब दो अरब मनुष्य भी शान्तिसे नहीं रहते, तब ढाई अरब कैसे रह सकेंगे । इन चार आपत्तियोंमेंसे युद्धरूप आपत्ति तो गत चार वर्षोंसे सामने आ रही है । भारतवर्षमें दुष्कालका भी भयंकर रूप प्रकट हो रहा है। अपराधियोंके साथ निरपराधियोंका भी संहार हो रहा है; इस बातको जानकर हार्दिक व्यथा होती है; परन्तु मनुष्यके पास ईश्वरकी शरणके सिवा अन्य कोई उपाय

नहीं है । संभव है, आगे चलकर प्रभु इस बढ़ी हुई व्याधिकी चिकित्साके लिये रोग और भूकम्परूप शस्त्रोंका भी उपयोग करें । जैसे इतिहास-कालके पहले किसी अज्ञातकालमें पृथ्वीके एक विशाल खण्डको प्रशान्त महासागर बना दिया गया तथा महासागरमेंसे सुदान और सहराके रेगिस्तान प्रकट कर दिये गये, उसी प्रकार ईश्वर आगे भी कब क्या करेंगे—यह कोई कह नहीं सकता ।

सामान्य मानव-बुद्धिके अनुसार विचार किया जाय तो मनुष्योंकी आबादी कम करनेके लिये विधाताको कोई-न-कोई मार्ग लेना ही पड़ेगा । उपर्युक्त साधनोंमेंसे किसी एक या अधिक साधनोंका प्रभु उपयोग करेंगे या और कोई दैवी मार्ग लेंगे एवं कब लेंगे—यह तो वे ही जानें ।

पीपल आदि कई एक वृक्षोंसे वसन्तका आगमन होनेपर पुराने पत्ते झड़ जाते हैं । फिर कुछ समयमें नये आ जाते हैं । पीपलके नये पल्लव सुन्दर, कोमल और लाल रंगके होते हैं । फिर वे धीरे-धीरे कठोर और हरे हो जाते हैं । नीमकी निमोली पहले कड़वी होती है । फिर उसका कड़वापन बढ़कर अन्तमें मधुर रसमें परिणत हो जाता है । आमके फल पहले कसैले होते हैं, फिर खट्टे और अन्तमें मधुर हो जाते हैं । संतरे, मौसम्बी आदि अनेक फल अपक्वावस्थामें खट्टे रहते हैं और पक्वावस्थामें मधुर बन जाते हैं ।

पशु-पक्षी आदि छोटी आयुमें विशेष चपल रहते हैं । आयु और अनुभवकी वृद्धिके साथ-साथ प्रायः चपलताका ह्रास होता जाता है । इसी तरह मानव-बालकोंमें शैशवावस्थामें जो चञ्चलता होती है, वह युवावस्थामें नहीं रहती । युवावस्थामें जो शक्ति होती है, वह वृद्धावस्थामें नहीं रहती । निसर्गके नियमानुसार वृद्धि-ह्रास होते रहते हैं । पुनः मनुष्योंमें सुसंस्कार-सम्पन्न तथा कुसंस्कार-युक्त दो प्रकारके मनुष्य पाये जाते हैं । दोनोंके जीवनमें बाल्यावस्थासे ही भेद प्रतीत होता है । इनमेंसे कुसंस्कारवालोंके मनमें विविध प्रकारकी वेदनाओंके बाद जब वैराग्य उत्पन्न होता है, तब उनके दुष्ट संस्कारोंका परिवर्तन होता है । फिर उनका जीवन पलट जाता है । ऐसा परिवर्तन यद्यपि बहुत कम लोगोंमें पाया जाता है, तथापि नियमानुसार होता अवश्य है ।

संसारमें जो कुछ परिवर्तन हो रहा है, वह सब निश्चित नियमानुसार हो रहा है । काल-परिवर्तन नियम-बद्ध है । पृथ्वी, चन्द्र, सूर्य, तारे, नक्षत्र, ग्रह, उपग्रह, धूमकेतु आदिका परिभ्रमण नियमपूर्वक होता है । सभी ब्रह्माण्डोंमें नियम अलग-अलग काम करते हैं । छोटे-बड़े सभी कार्योंमें नियमका दर्शन होता रहता है ।

इस संसारको या सनातन धर्मको कोई नष्ट नहीं कर सकता । इस समय भारत बड़ी आपत्तिमें है । आपत्तिके अभी बढ़नेकी संभावना है, तथापि विवेकी जनोंको चाहिये कि धैर्य धारण कर प्रभुकी लीला देखते रहें ।

असामान्य आपत्ति आनेपर जब सामान्य जनता अपने बलसे संरक्षित नहीं रह सकती, पापियोंका उत्पात बढ़ जाता है, तब परब्रह्म निःसंदेह सँभालते हैं । इस सम्बन्धमें श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीकी प्रतिज्ञा है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥
(४ । ७-८)

हमें प्रभुवचनोंमें विश्वास रखकर धैर्य धारण करना चाहिये । वे प्रभु ही भारतका उद्धार करेंगे ।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

राम-सेवक श्रीलक्ष्मण

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

श्रीलक्ष्मणजीकी महिमा अपार है। वाल्मीकीय-रामायणमें श्रीलक्ष्मणजी भी भगवान् विष्णुके ही अंशावतार माने गये हैं, किन्तु दूसरे ग्रन्थोंमें इनको भगवान् अनन्त (शेषनाग) का अवतार बताया गया है। जो कुछ भी हो, इनके चरित्रसे यह स्पष्ट है कि इनका अवतार श्रीरामके चरणोंमें रहकर उनकी सेवा करनेके लिये ही हुआ था। यही कारण है कि सभी भाइयोंका श्रीरामके प्रति प्रेम होते हुए भी देवालयोंमें श्रीरामके साथ लक्ष्मणकी ही प्रतिमा स्थापित की जाती है और रामके साथ लक्ष्मणका ही नाम लिया जाता है। भरत-शत्रुघ्न तो स्वेच्छासे भी श्रीरामसे अलग ननिहालमें रह लिये, परन्तु श्रीलक्ष्मणजीने अपने जीवनमें किसी भी परिस्थितिमें श्रीरामका साथ नहीं छोड़ा। रामके द्वारा त्याग दिये जानेपर वे तुरंत ही परमधाम सिधार गये। श्रीलक्ष्मणजी ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करनेवाले, धीर, वीर, तेजस्वी, पराक्रमी और इन्द्रिय-विजयी थे। ये बड़े ही सुन्दर, सरल, तितिक्षु, निर्भय, निष्कपट, त्यागी, पुरुषार्थी, तपस्वी, सेवक, सत्यव्रती, बुद्धिमान् और नीति-निपुण थे। श्रीराममें आपका अपूर्व प्रेम था। श्रीरामके चरणोंमें रहकर उनकी सेवा करना ही आप अपना मुख्य धर्म और कर्त्तव्य समझते थे और श्रीराम-सेवामें अपने आपको भूल जाते थे। जैसे भरतजीका विनय और मधुरतायुक्त गम्भीर प्रेम अनुपम है, वैसे ही श्रीलक्ष्मणजीका वीरतायुक्त सेवा-मूलक प्रेम भी परम आदर्श है।

लड़कपनमें भी श्रीलक्ष्मणजी सर्वदा श्रीरामके साथ ही रहते थे। वाल्मीकि-रामायणमें लिखा है—

बाल्यात् प्रभृति सुस्निग्धो लक्ष्मणो लक्ष्मिवर्धनः ॥
रामस्य लोकरामस्य भ्रातुर्ज्येष्ठस्य नित्यशः।
सर्वप्रियकरस्तस्य रामस्यापि शरीरतः ॥
लक्ष्मणो लक्ष्मिसम्पन्नो बहिःप्राण इवापरः।
न च तेन विना निद्रां लभते पुरुषोत्तमः ॥
(१ । १८ । २८—३०)

'शोभाको बढ़ानेवाले श्रीलक्ष्मणका बाल्यकालसे ही बड़े भाई लोकाभिराम श्रीराममें स्वाभाविक गाढ़ स्नेह था। वे श्रीरामचन्द्रजीकी सेवा और सभी प्रिय-कार्य सदा अपने शरीरसे ही किया करते थे। शोभा-सम्पन्न श्रीलक्ष्मण भगवान् श्रीरामके मानो दूसरे प्राण ही थे; क्योंकि उनके विना पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रको निद्रा भी नहीं आती थी।'

छोटी अवस्थामें ही श्रीलक्ष्मणजी अपने भाई श्रीरामके साथ विश्वामित्रकी यज्ञ-रक्षाके लिये चले गये। वहाँ ये सदा श्रीरामकी ही सेवामें लगे रहते, पत्तोंके बिछौनोंपर शयन करते और श्रीरामचन्द्रजीके साथ रहकर उनके आज्ञानुसार राक्षसोंका वध करके मुनिके यज्ञकी रक्षा करते थे।

विश्वामित्रके यज्ञकी रक्षा करके दोनों भाई उनके साथ जनकपुर गये। वहाँ धनुष-भङ्गके बाद सब भाइयोंका विवाह-संस्कार सम्पन्न हुआ। सब कोई अयोध्याको लौटकर आनन्दसे रहने लगे। भरत-शत्रुघ्न ननिहाल चले गये। पीछेसे राजा दशरथकी इच्छा और मन्त्रिवर्ग तथा प्रजाकी सम्मतिसे रामके राज्याभिषेककी तैयारी हुई। यह देखकर लक्ष्मणके आनन्दका पार न रहा। श्रीरामको राजसिंहासनपर विराजमान देखनेके लिये लक्ष्मण कितने लालायित थे, इसका पता राजसिंहासनके बदले वनवासकी आज्ञा होनेपर लक्ष्मणजीके उभरे हुए क्रोधको देखनेसे लगता है। जो बात मनके जितनी प्रतिकूल होती है, उसपर उतना ही अधिक क्रोध आता है।

मन्थरा भी कैकेयीको उभारती हुई श्रीलक्ष्मणके प्रेमकी इस प्रकार बड़ाई करती है—

गोप्ता हि रामं सौमित्रिर्लक्ष्मणं चापि राघवः।
अश्विनोरिव सौभ्रात्रं तयोर्लोकेषु विश्रुतम् ॥
(वा॰ रा॰ २ । ८ । ३१)

'लक्ष्मण सदा श्रीरामकी रक्षा करते हैं और राम सदा उनकी रक्षा करते हैं। उन दोनोंका भ्रातृ-प्रेम अश्विनी-कुमारोंकी भाँति है, यह बात जगत्में प्रसिद्ध है।'

इसके बाद जब श्रीराम वन जाना स्वीकार करके माता कौसल्यासे आज्ञा लेने गये, उस समय लक्ष्मण भी साथ ही थे। वे हर हालतमें-श्रीरामके पीछे ही रहते थे। श्रीरामने माता कौसल्याको सारी कथा सुनायी। माताके दुःखका पार नहीं रहा। माताने रामको रोकनेकी चेष्टा की, परन्तु श्रीराम न माने। श्रीरामका यह कार्य लक्ष्मणको अच्छा नहीं लगा। वे रामके पूर्ण अनुयायी थे, परन्तु उन्हें अपना हक छोड़ते देखकर

वे शान्त न रह सके। माता कौसल्याको विलाप करते देखकर श्रीलक्ष्मणजी कहते हैं—

अनुरक्तोऽस्मि भावेन भ्रातरं देवि तत्त्वतः।
सत्येन धनुषा चैव दत्तेनेष्टेन ते शपे॥
दीप्तमग्निमरण्यं वा यदि रामः प्रवेक्ष्यति।
प्रविष्टं तत्र मां देवि त्वं पूर्वमवधारय॥
हरामि वीर्याद् दुःखं ते तमः सूर्य इवोदितः।
देवी पश्यतु मे वीर्यं राघवश्चैव पश्यतु॥
(वा० रा० २ । २१ । १६–१८)

'देवि ! मैं सत्य, धनुष, दान तथा यज्ञादिकी शपथ करके कहता हूँ कि पूज्य भाई श्रीराममें मेरा हार्दिक दृढ़ अनुराग है। यदि श्रीराम जलती हुई आगमें या घोर जङ्गलमें प्रवेश करें तो आप मुझे उनसे पहले ही प्रविष्ट हुआ समझें। जैसे सूर्य उदय होकर अन्धकारका नाश कर देता है, उसी प्रकार मैं अपने पराक्रमसे आपके दुःख दूर कर दूँगा। देवी और श्रीरामचन्द्रजी भी मेरा पराक्रम देखें।'

लक्ष्मणने वीर-रसके आवेशमें तथा श्रीरामजीके प्रेमसे विवश होकर और भी बहुत-सी साहसभरी बातें कहीं। माता कौसल्याको समझानेके बाद श्रीरामने लक्ष्मणको सान्त्वना देते हुए कहा—

तव लक्ष्मण जानामि मयि स्नेहमनुत्तमम्।
विक्रमं चैव सत्त्वं च तेजश्च सुदुरासदम्॥
मम मातुर्महद् दुःखमतुलं शुभलक्षण।
अभिप्रायं न विज्ञाय सत्यस्य च शमस्य च॥
धर्मो हि परमो लोके धर्मे सत्यं प्रतिष्ठितम्।
× × × ×॥
सोऽहं न शक्ष्यामि पुनर्नियोगमतिवर्तितुम्।
पितुर्हि वचनाद्वीर कैकेय्याहं प्रचोदितः॥
तदेतां विसृजानार्यां क्षत्रधर्माश्रितां मतिम्।
धर्ममाश्रय मा तैक्ष्ण्यं मद्बुद्धिरनुगम्यताम्॥
(वा० रा० २ । २१ । ३९–४१, ४३-४४)

'लक्ष्मण ! मेरे प्रति जो तुम्हारा अत्यन्त उत्तम प्रेम है, उसे मैं जानता हूँ। तुम्हारे पराक्रम, धैर्य और दुर्धर्ष तेजसे भी मैं अपरिचित नहीं हूँ। भाई ! मेरी माताको जो महान् अतुलनीय दुःख हो रहा है, वह सत्य और शमके विषयमें मेरा अभिप्राय न समझनेके कारण है। संसारमें धर्म ही सर्वश्रेष्ठ है, धर्ममें ही सत्य-तत्त्व प्रतिष्ठित है।······अतः मैं पिताजीकी आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं कर सकता ! पिताजीकी आज्ञासे ही माता कैकेयीने मुझे वन जानेके लिये कहा है। इसलिये केवल क्षात्र-धर्मका अवलम्बन करनेवाली इस ओछी बुद्धिका त्याग करो। धर्मका आश्रय लो, तीक्ष्ण भावको छोड़ो और मेरे विचारके अनुसार चलो।'

लक्ष्मणजीके स्वभावमें यह विशेषता थी कि जो बात उनके मनमें जँचती, उसे वे बड़े ज़ोरदार शब्दोंमें श्रीरामके सामने रख देते थे तथा अपने मनके प्रतिकूल होनेपर भी श्रीरामकी बात मान लेते थे। उनके स्वभावमें पुरुषार्थ और वीरत्व छलकते थे। इसी कारण जब श्रीरामने प्रारब्धको बलवान् बताकर लक्ष्मणको समझानेकी चेष्टा की, तब उन्होंने कहा—

विक्लवो वीर्यहीनो यः स दैवमनुवर्तते।
वीराः संभावितात्मानो न दैवं पर्युपासते॥
दैवं पुरुषकारेण यः समर्थः प्रबाधितुम्।
न दैवेन विपन्नार्थः पुरुषः सोऽवसीदति॥
× × × ×
अद्य मे पौरुषहतं दैवं द्रक्ष्यन्ति वै जनाः।
यैर्दैवादाहतं तेऽद्य दृष्टं राज्याभिषेचनम्॥
× × × ×!
अहमेको महीपालानलं वारयितुं बलात्॥
न शोभार्थाविमौ बाहू न धनुर्भूषणाय मे।
नासिराबन्धनार्थाय न शराः स्तम्भहेतवः॥
(वा० रा० २ । २३ । १६, १७, १९, २९, ३०)

'जो कायर है, जिसमें पराक्रमका नाम नहीं है, वही प्रारब्धका भरोसा करता है। सारा संसार जिनको आदरकी दृष्टिसे देखता है, वे वीरपुरुष दैवकी उपासना नहीं करते। जो अपने पुरुषार्थसे दैवको दबानेकी शक्ति रखता है, वह दैवके द्वारा किसी कार्यमें बाधा उपस्थित की जानेपर खेद नहीं करता।······जिन लोगोंने दैवके बलसे आपके राज्याभिषेकको नष्ट होते देखा है, वे ही आज मेरे पुरुषार्थसे दैवका भी विनाश होता देखेंगे।······मैं अकेला ही समस्त विरोधी राजाओंको बलपूर्वक परास्त करनेमें समर्थ हूँ। मेरी ये दोनों भुजाएँ शोभाके लिये नहीं हैं। यह धनुष आभूषणकी जगह नहीं है, यह तलवार केवल बँधी रहनेके लिये नहीं है। ये बाण सहारा लेनेके डंडे नहीं हैं।'

इसके बाद माता कौसल्या और सीतासे बातचीत होनेपर जब उनको श्रीरामका अन्तिम निर्णय मालूम हो

गया, तब आप अपना सारा पक्ष सर्वथा छोड़कर सब प्रकारसे श्रीरामका अनुसरण करनेके लिये तैयार हो गये। श्रीरामको वनमें जानेके लिये तैयार देखकर उनके साथ जानेको वे व्याकुल हो उठे। भाईके विरहका दुःख उनके लिये असह्य हो गया। उनके नेत्रोंसे अश्रु-धारा बह चली और वे दोनों हाथोंसे भाईके चरणोंको पकड़कर यशस्विनी सीता और कठिन नियमोंका पालन करनेवाले श्रीरामचन्द्रजीसे बोले—

यदि गन्तुं कृता बुद्धिर्वनं मृगगजायुतम्।
अहं त्वानुगमिष्यामि वनमग्रे धनुर्धरः॥
× × × ×
न देवलोकाक्रमणं नामरत्वमहं वृणे।
ऐश्वर्यं चापि लोकानां कामये न त्वया विना॥
(वा० रा० २। ३१। ३, ५)

'प्रभो! यदि आपने हजारों जङ्गली पशुओं और हाथियोंसे भरे हुए वनमें जानेका निश्चय कर लिया है, तो मैं भी धनुष लेकर आपके साथ ही आगे-आगे चलूँगा।... आपके बिना मैं देवलोकमें जाना, अमर होना, या समस्त लोकोंका ऐश्वर्य प्राप्त करना भी नहीं चाहता।'

यह सुनकर श्रीरामने सान्त्वनापूर्ण वचनोंमें लक्ष्मणको वनमें न जाकर अयोध्यामें ही रहनेके लिये समझाया। तब लक्ष्मणने फिर कहा—

अनुज्ञातस्तु भवता पूर्वमेव यदस्म्यहम्।
किमिदानीं पुनरपि क्रियते मे निवारणम्॥
(वा० रा० २। ३१। ७)

'आपने तो मुझे पहलेसे ही अपने साथ रहनेकी आज्ञा दे रखी है; फिर इस समय मुझे क्यों रोकते हैं?' इसपर श्रीरामने कहा—

स्निग्धो धर्मरतो धीरः सततं सत्पथे स्थितः।
प्रियः प्राणसमो वश्यो विधेयश्च सखा च मे॥
मयाद्य सह सौमित्रे त्वयि गच्छति तद्वनम्।
को भजिष्यति कौसल्यां सुमित्रां वा यशस्विनीम्॥
(वा० रा० २। ३१। १०-११)

'लक्ष्मण! तुम मेरे परम स्नेही, धर्मपरायण, धीर और सदा श्रेष्ठ मार्गपर आरूढ़ रहनेवाले हो। मुझे प्राणोंके समान प्रिय हो तथा मेरे वशमें रहनेवाले, आज्ञापालक और सखा हो। यदि आज मेरे साथ तुम भी वनके लिये चल पड़ोगे तो परम यशस्विनी माता सुमित्रा और कौसल्याकी सेवा कौन करेगा?'

इसपर लक्ष्मणने कहा—

तदात्मभरणे चैव मम मातुस्तथैव च।
पर्याप्ता मद्विधानां च भरणाय मनस्विनी॥
कुरुष्व मामनुचरं वैधर्म्यं नेह विद्यते।
कृतार्थोऽहं भविष्यामि तव चार्थः प्रकल्प्यते॥
× × × ×
आहरिष्यामि ते नित्यं मूलानि च फलानि च।
वन्यानि च तथान्यानि स्वाहार्हाणि तपस्विनाम्॥
भवांस्तु सह वैदेह्या गिरिसानुषु रंस्यते।
अहं सर्वं करिष्यामि जाग्रतः स्वपतश्च ते॥
(वा० रा० २। ३१। २३, २४, २६, २७)

'माता कौसल्या स्वयं ही अपना, मेरी माताका तथा मेरे-जैसे और भी बहुत-से मनुष्योंका भरण-पोषण करनेमें समर्थ हैं। अतः आप मुझे अपना अनुचर बना लीजिये। इसमें कुछ भी धर्म-विरुद्ध बात नहीं है। ऐसा करनेसे मैं कृतार्थ हो जाऊँगा और आपकी भी सेवा बनती रहेगी।... मैं आपके लिये सदा फल-मूल और वनमें होनेवाली दूसरी आवश्यक वस्तुएँ तथा तपस्वियोंके लिये हवनकी सामग्री जुटाता रहूँगा। आप सीताके साथ पर्वतों और वनोंमें विचरते रहियेगा। मैं आपके जागते और शयन करते समय भी सभी आवश्यक कार्य करता रहूँगा।' कैसा सुन्दर सेवा-भाव है! अपने सुखकी तनिक भी परवा नहीं है!

फिर क्या था। लक्ष्मणका ऐसा दृढ़ प्रेमाग्रह देखकर भगवान् श्रीरामको उनकी प्रार्थना स्वीकार करनेके लिये बाध्य होना पड़ा। जब श्रीरामने उनसे कहा कि 'माता सुमित्रासे विदा माँग आओ,' तब वे तुरंत ही अपनी माताके पास जाकर उनसे विदा लेकर लौट आये। उसके बाद वन जाते समय जब राम, लक्ष्मण और सीता—सभीने माता सुमित्राके चरणोंमें प्रणाम किया, तब उस समय माता लक्ष्मणका माथा सूँघकर कहती हैं—

सृष्टस्त्वं वनवासाय स्वनुरक्तः सुहृज्जने।
रामे प्रमादं मा कार्षीः पुत्र भ्रातरि गच्छति॥
व्यसनी वा समृद्धो वा गतिरेष तवानघ।
एष लोके सतां धर्मो यज्ज्येष्ठवशगो भवेत्॥
× × × ×

रामं दशरथं विद्धि मां विद्धि जनकात्मजाम् ।
अयोध्यामटवीं विद्धि गच्छ तात यथासुखम् ॥
(वा० रा० २ । ४० । ५, ६, ९)

'बेटा ! तुम अपने सुहृद् रामके परम अनुरागी हो, इसलिये मैं तुमको वनवासकी आज्ञा देती हूँ । तुम्हारे बड़े भाई श्रीराम वनको जाते हैं, तुम इनकी सेवामें कभी प्रमाद न करना । निष्पाप लक्ष्मण ! ये सङ्कटमें हों चाहे बढ़ी-चढ़ी स्थितिमें, प्रत्येक दशामें ये ही तुम्हारी परम गति हैं । संसारमें सत्पुरुषोंका यही धर्म है कि सदा अपने बड़े भाईके अधीन होकर रहें । ……'तुम रामको ही साक्षात् पिता दशरथ, सीताको मेरे स्थानमें और वनको ही अयोध्या समझना । मैं तुमको बिदा देती हूँ, तुम सुखपूर्वक जाओ ।'

कैसा सुन्दर उपदेश है ! माता हो तो ऐसी हो । लक्ष्मणने भी माताकी आज्ञाका प्राण-पणसे अक्षरशः पालन किया ।

इसके बाद श्रीराम, सीता और लक्ष्मण सुमन्त्रद्वारा लाये हुए रथपर बैठकर वनको चल दिये । उस समय प्रजाके लोग भी प्रेमविह्वल होकर उनके साथ-साथ चलने लगे । जब बहुत समझानेपर भी प्रजाजन अयोध्याकी ओर न लौटे, तब लक्ष्मण और सीतासहित श्रीराम सबको तमसाके तटपर सोते छोड़कर शृङ्गवेरपुरकी ओर चले गये । वहाँ वे निषादराज गुहसे मिले । उनको सब बातें समझायीं । सन्ध्योपासनके अनन्तर लक्ष्मण गङ्गाजल ले आये । उसीको पीकर श्रीराम और सीता लक्ष्मणद्वारा तैयार की हुई घास और पत्तोंकी शय्यापर सोये । उस समय लक्ष्मणने उनके चरणोंको धोया, फिर वे कुछ हटकर पास ही दूसरे वृक्षके नीचे जा बैठे । इस प्रकार भाईके स्वाभाविक अनुरागसे लक्ष्मणको जागते देखकर गुहने कहा—'भाई लक्ष्मण ! आपके लिये शय्या तैयार है । आप सुखपूर्वक सो जाइये । मैं अपने बान्धवोंसहित हाथमें धनुष लिये पहरा देता रहूँगा ।'

यह सुनकर लक्ष्मणने उसकी सराहना करके कहा—

कथं दाशरथौ भूमौ शयाने सह सीतया ।
शक्या निद्रा मया लब्धुं जीवितं वा सुखानि वा ॥
यो न देवासुरैः सर्वैः शक्यः प्रसहितुं युधि ।
तं पश्य सुखसंसुप्तं तृणेषु सह सीतया ॥
(वा० रा० २ । ५१ । ९-१०)

'निषादराज ! जब दशरथनन्दन श्रीराम सीताके साथ भूमिपर शयन कर रहे हैं, तब मैं नींद कैसे ले सकता हूँ । मेरे लिये जीवन और सुखकी सामग्रियोंको स्वीकार करना कैसे सम्भव हो सकता है । देखो, सम्पूर्ण देवता और असुर मिलकर भी युद्धमें जिनके वेगको सहन नहीं कर सकते, वे ही श्रीराम इस समय सीताके साथ तिनकोंकी शय्यापर सुखसे सो रहे हैं !'

इसके बाद सबेरा होते ही गङ्गातटपर पहुँचकर श्रीरामने सुमन्त्रको बिदा किया । फिर नौकापर बैठकर तीनों गङ्गाके उस पार गये । वहाँसे चलकर वरदा नदीके पार एक वृक्षके नीचे रात्रिमें ठहरे । लक्ष्मणने वहाँकी भूमि साफ करके कोमल पत्तियाँ बिछा दीं । श्रीराम और सीता उसपर बैठ गये । वहाँ माता-पिताके लिये शोक करते हुए श्रीरामने लक्ष्मणसे कहा—'भाई लक्ष्मण ! तुम अयोध्याको लौट जाओ, वहाँ जाकर माताओंकी सेवा करो । सीताके साथ मुझे अकेले ही वनमें जाने दो ।' इसपर लक्ष्मणने बड़े हृदयग्राही वचन कहे—

न च सीता त्वया हीना न चाहमपि राघव ।
मुहूर्तमपि जीवावो जलान्मत्स्याविवोद्धृतौ ॥
न हि तातं न शत्रुघ्नं न सुमित्रां परंतप ।
द्रष्टुमिच्छेयमद्याहं स्वर्गं चापि त्वया विना ॥
(वा० रा० २ । ५३ । ३१-३२)

'रघुनन्दन ! सीताजी और मैं, जलसे अलग की हुई मछलियोंकी भाँति, घड़ीभर भी आपके बिना नहीं जी सकते । परन्तप ! इस समय मैं आपको छोड़कर माता, पिता, भाई शत्रुघ्न और स्वर्गको भी नहीं देखना चाहता ।'

उसके बाद सबेरा होनेपर वहाँसे चलकर तीनों मुनिवर भरद्वाजसे मिले और एक दिन उनके आश्रममें विश्राम किया । दूसरे दिन उनके दिखाये हुए मार्गसे चित्रकूटकी ओर चल पड़े । यमुना-तटपर पहुँचकर उससे पार उतरनेके लिये लक्ष्मणने एक बेड़ा तैयार किया । उसमें सीताके बैठनेके लिये एक सुन्दर बेतका सिंहासन बनाया । सीता कुछ लज्जित होकर उसपर बैठ गयीं । श्रीरामसहित लक्ष्मण स्वयं ही उस बेड़ेको खेकर यमुनापार ले गये । उस बेड़ेसे उतरकर आगे-आगे लक्ष्मण, पीछे सीता और उनके पीछे दोनोंकी रक्षा करते हुए श्रीराम चले । इस प्रकार जाते-जाते वे चित्रकूट पहुँचे । वहाँ मुनिवर वाल्मीकिजीसे मिले । फिर श्रीरामकी आज्ञा लेकर लक्ष्मणने स्वयं ही एक सुन्दर पर्णशाला तैयार की । उसीमें सब सुखपूर्वक रहने लगे ।

वनमें रहते समय फल-मूल तथा हवनकी सामग्री जुटाना,

सीताके वस्त्राभूषणोंकी पेटी और शस्त्रास्त्रोंको एक स्थानसे दूसरे स्थानपर ले जाना और उनकी सँभाल रखना, जाड़ेकी रातोंमें खेतोंके बीचसे होकर नदीसे पानी ले आना, रास्ता पहचाननेके लिये पेड़ों और पत्थरोंपर पुराने चिथड़े लपेट रखना, झाड़ू देना, चौका लगाना, बैठनेके लिये चबूतरा तैयार करना, जलानेके लिये ईंधन इकट्ठा करना और रातभर जागकर पहरा देते रहना—ये सभी काम लक्ष्मण बड़े हर्षपूर्वक सुचारुरूपसे करते थे।

इसके बाद जब भरतजी रामको लौटा ले जानेके लिये सेनासहित चित्रकूटके पास पहुँचे, उस समय लक्ष्मणजीको भरतपर सन्देह हुआ; अतः श्रीरामके प्रेमसे विवश होकर उन्होंने भरतके प्रति कुछ कड़े शब्द कह दिये। परन्तु फिर श्रीरामचन्द्रजीके मुखसे भरतकी प्रशंसा सुनकर वे चुप हो गये। भरतजी सबसे मिल-जुलकर श्रीरामकी चरण-पादुका प्राप्त करके अयोध्या लौट गये। इधर श्रीरामचन्द्रजी भी सीता और लक्ष्मणसहित चित्रकूटसे चलकर अत्रि आदि ऋषियोंके आश्रमोंमें ठहरते पञ्चवटीमें पहुँचे। वहाँ पहुँचकर श्रीरामने लक्ष्मणसे कहा—'हमें जहाँ आना था, वह स्थान यही है। यहाँ चारों ओर दृष्टि डालकर कोई ऐसी जगह खोज निकालो, जहाँ सर्वसम्मत आश्रम बनाकर हम, तुम और यह जनकनन्दिनी रह सकें तथा जल, पुष्प और कुशा—पासमें ही हों।' तब लक्ष्मणजी अपनी बुद्धिकी प्रधानता न रखकर कहते हैं—

परवानस्मि काकुत्स्थ त्वयि वर्षशतं स्थिते।
स्वयं तु रुचिरे देशे क्रियतामिति मां वद॥
(वा० रा० ३। १५। ७)

'रघुनाथजी! मैं आपके अधीन हूँ। अतः सौ वर्ष बीत जानेपर भी आपके सामने अपनी इच्छासे मैं कुछ नहीं कर सकता; इसलिये आप स्वयं ही अपनी रुचिके अनुकूल स्थानमें मुझे आश्रम बनानेकी आज्ञा दीजिये।'

इससे यह नहीं समझना चाहिये कि लक्ष्मणजी विवेकहीन थे। वे बड़े बुद्धिमान् और विद्वान् थे; समय-समयपर श्रीराम-सेवाके लिये बुद्धिका भी प्रयोग करते थे। किन्तु जहाँ रामके किये कामपर पूरा सन्तोष होता, वहाँ कुछ भी नहीं बोलते थे।

तदनन्तर श्रीरामजीने सुन्दर जगह दिखाकर उसके गुणों और शोभाका वर्णन किया। वहाँ श्रीलक्ष्मणजीने तुरंत ही भाईके आज्ञानुसार एक रहनेयोग्य आश्रम तैयार कर दिया और उसमें एक बड़ी सुन्दर विशाल पर्णशाला बना दी। उस आश्रम और पर्णशालाको देखकर सीतासहित श्रीराम बहुत प्रसन्न हुए तथा उन्होंने लक्ष्मणके कार्यकी प्रशंसा करके उन्हें हृदयसे लगाया। फिर वे लोग वहाँ आनन्दपूर्वक रहने लगे।

वहाँ रहते-रहते शरद्-ऋतु बीत गयी। हेमन्तका आगमन हुआ। तब एक दिन विनीत लक्ष्मणने सीताके साथ स्नान करनेके लिये जाते समय श्रीरामसे कहा—

अस्मिंस्तु पुरुषव्याघ्र काले दुःखसमन्वितः।
तपश्चरति धर्मात्मा त्वद्भक्त्या भरतः पुरे॥
त्यक्त्वा राज्यं च मानं च भोगांश्च विविधान् बहून्।
तपस्वी नियताहारः शेते शीते महीतले॥
सोऽपि वेलामिमां नूनमभिषेकार्थमुद्यतः।
वृतः प्रकृतिभिर्नित्यं प्रयाति सरयूं नदीम्॥
अत्यन्तसुखसंवृद्धः सुकुमारो हिमार्दितः।
कथं त्वपररात्रेषु सरयूमवगाहते॥
(वा० रा० ३। १६। २७—३०)

'पुरुषोत्तम! इस शीतकालमें धर्मात्मा भरत आपकी भक्तिके कारण नगरमें कष्ट सहन करके तप कर रहे हैं। वे राज्य, मान तथा नाना प्रकारके भोगोंका परित्याग करके तपस्यामें संलग्न हैं और नियमित आहार करते हुए इस जाड़ेकी ऋतुमें भी पृथ्वीपर ही शयन करते हैं। निश्चय ही, भरत भी इसी वेलामें स्नान करनेके लिये उद्यत होकर मन्त्री एवं प्रजाजनोंके साथ प्रतिदिन सरयू नदीपर जाते होंगे। अत्यन्त सुखमें पले हुए सुकुमार भरत जाड़ेका कष्ट सहन करते हुए रात्रिके पिछले पहरमें सरयूजीमें कैसे डुबकी लगाते होंगे।'

इससे उन लोगोंके मतका खण्डन हो जाता है, जो यह कहते हैं कि लक्ष्मणजी श्रीरामसे ही प्रेम करते थे, भरतके प्रति तो उनका द्वेषभाव ही रहा। अवश्य ही श्रीरामको दुःख देनेवालों और उनकी अवज्ञा करनेवालोंको वे क्षमा नहीं करते थे; परन्तु जब उन्हें मालूम हो गया कि भरतका कोई दोष नहीं है, तब तो लक्ष्मण भरतपर पहलेकी भाँति ही परम श्रद्धा और प्रेम करने लग गये थे।

एक दिनकी बात है, पञ्चवटी-आश्रममें बैठे हुए श्रीराम लक्ष्मणसे बातें कर रहे थे। उसी समय वहाँ शूर्पणखाने

आकर श्रीरामसे अपने साथ विवाह करनेके लिये कहा। श्रीरामने उसको लक्ष्मणके पास भेज दिया। शूर्पणखाने उनके पास जाकर भी वही बात कही। तब लक्ष्मणजीने हँसकर उत्तर दिया—

कथं दासस्य मे दासी भार्या भवितुमिच्छसि ।
सोऽहमार्येण परवान् भ्रात्रा कमलवर्णिनि ॥
(वा० रा० ३ । १८ । ९)

'मैं तो दास हूँ। अपने बड़े भाई श्रीरामके अधीन हूँ। मेरी स्त्री होकर तुम दासी बनना क्यों चाहती हो? [तुम श्रीरामके ही पास जाओ।]'

वह श्रीरामके पास लौट आयी। वहाँ जब वह सीतापर झपटी, तब श्रीरामकी आज्ञा पाकर लक्ष्मणने उसके नाक-कान काट लिये।

इसके बाद खर-दूषण आदि राक्षसोंने श्रीरामपर चढ़ाई की। उनको आते देखकर श्रीरामने लक्ष्मणसे कहा—'निस्सन्देह तुम इन राक्षसोंको मार सकते हो, किन्तु मैं स्वयं ही इन सबोंका वध करना चाहता हूँ। अतः तुम सीताकी रक्षाके लिये उसे गुफामें ले जाओ।' लक्ष्मणने भगवान्‌की आज्ञा मानकर वैसा ही किया। श्रीरामने सब राक्षसोंका संहार कर दिया। फिर शूर्पणखाकी प्रेरणासे रावण सीता-हरणके लिये मारीचको साथ लेकर पञ्चवटीके पास आया। वहाँ उसने विचित्र स्वर्णमृगका रूप बनाकर सीताका मन आकर्षित किया। सीताके कहनेसे भगवान् श्रीराम उसे मारनेके लिये धनुष-बाण लेकर उसके पीछे गये। वहाँ मारीच मारा गया। मरते समय उसने राम-जैसा ही स्वर बनाकर 'हा सीते! हा लक्ष्मणं!!' इस प्रकार कहकर बड़े जोरसे आर्त्तनाद किया। उसे सुनकर सीता घबरा गयीं। उन्होंने समझा कि राम संकटमें पड़े हैं, अतः उनकी सहायताके लिये लक्ष्मणको तुरंत दौड़ जानेके लिये कहा। सीताके बहुत कुछ कहनेपर भी श्रीलक्ष्मणजी भाईकी आज्ञाका आदर करके सीताकी रक्षापर ही खड़े रहे। तब देवी सीताने उनके प्रेम और भावपर दोषारोपण करके कटुवचन कहे; फिर भी लक्ष्मण टस-से-मस नहीं हुए, उन्होंने श्रीरामके प्रभाव और राक्षसोंकी मायाका वर्णन करके सीताको समझानेकी चेष्टा की। परन्तु सीताको सन्तोष नहीं हुआ। उनका क्रोध भड़क उठा और उन्होंने लक्ष्मणको ताना देकर न कहनेयोग्य वचन कहे। तब लक्ष्मण वनके देवताओंको सीताकी रक्षाका भार देकर श्रीरामके पास चले गये। श्रीरामकी आज्ञा उल्लङ्घन करनेका लक्ष्मणके लिये यह पहला ही अवसर था।

इधर रावण भिक्षुके वेषमें आकर सीताका हरण करके ले गया और उधर लक्ष्मणजी आश्रमकी ओर आते हुए श्रीरामसे मिले। श्रीरामने लक्ष्मणसे कहा—'तुम सीताको अकेली छोड़कर चले आये, यह बहुत बुरा काम किया।' इसी तरह और भी बहुत कुछ उलाहना दिया। तब लक्ष्मणने कहा—

न स्वयं कामकारेण तां त्यक्त्वाहमिहागतः ।
प्रचोदितस्तयैवोग्रैस्त्वत्सकाशमिहागतः ॥
(वा० रा० ३ । ५९ । ६)

'भगवन्! मैं अपनी इच्छासे सीताको छोड़कर यहाँ नहीं आया हूँ, उन्हींके कठोर वचनोंसे प्रेरित होकर मुझे आपके पास आना पड़ा है।'

इस प्रकार लक्ष्मणने सब बातें श्रीरामसे समझाकर कहीं, तो भी श्रीरामको सन्तोष नहीं हुआ। वे रास्तेमें तरह-तरहके विलाप करते आश्रमपर पहुँचे। वहाँ पर्णकुटीको खाली पा, अत्यन्त विरहाकुल होकर विलाप करने लगे। तब लक्ष्मणने उन्हें धीरज बँधाकर बहुत समझाया। इस तरह जब-जब सीताके वियोगमें श्रीरामचन्द्रजी अधीर हो जाते, तब-तब लक्ष्मण प्रेमभरे वचनोंसे उनके प्रभावका स्मरण कराते हुए उनको धैर्य बँधाया करते थे।

दोनों भाई सीताकी खोजमें फिरते-फिरते जटायुके पास पहुँचे। उसकी दाह-क्रिया करके कबन्धका वध किया और उसीके परामर्शसे पम्पासरके पास गये; वहीं शबरीसे भेंट हुई। वहाँसे चलनेके बाद हनुमान्‌के द्वारा सुग्रीवसे मित्रता हुई। सुग्रीवने श्रीरामको श्रीसीताद्वारा गिराये हुए वस्त्र और आभूषण दिखाये। तब श्रीरामने उन वस्त्राभूषणोंको छातीसे लगाकर लक्ष्मणजीसे देखनेके लिये कहा। उन्हें देखकर लक्ष्मणजी बोले—

नाहं जानामि केयूरे नाहं जानामि कुण्डले ।
नूपुरे त्वभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात् ॥
× × ×
(वा० रा० ४ । ६ । २२-२३)

'भगवन्! मैं सीताके बाजूबंद और कुण्डलोंको तो नहीं पहचानता, परन्तु उनके नूपुरोंको अवश्य पहचानता हूँ; क्योंकि मैं नित्य उनके चरणोंमें प्रणाम करते हुए नूपुरों

को देखा करता था।' ब्रह्मचर्य-व्रतका कितना सुन्दर आदर्श है!

इसके बाद सुग्रीवसे सारी बातें हुईं। वाली-सुग्रीवका युद्ध हुआ। श्रीरामने एक ही बाणसे वालीको मार गिराया। सुग्रीवका किष्किन्धाके राज्यपर अभिषेक हुआ। श्रीराम और लक्ष्मणने प्रवर्षण-पर्वतपर रहकर वर्षा-ऋतुका समय व्यतीत किया, शरद्-ऋतु आ गयी। किन्तु इधर सुग्रीव विषय-भोगोंमें फँसकर श्रीरामके कार्यको भूल गये। यह देखकर श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञासे लक्ष्मणजी सुग्रीवके पास गये। उस प्रसङ्गमें श्रीलक्ष्मणजीकी वीरता, धीरता और शीलका वाल्मीकीय रामायणमें बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया गया है। वहाँ सुग्रीवको समझाते हुए लक्ष्मण कहते हैं—

पूर्वं कृतार्थो मित्राणां न तत्प्रतिकरोति यः।
कृतघ्नः सर्वभूतानां स वध्यः प्लवगेश्वर॥
गोघ्ने चैव सुरापे च चौरे भग्नव्रते तथा।
निष्कृतिर्विहिता सद्भिः कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः॥
(वा० रा० ४। ३४। १०, १२)

'वानरराज! जो पहले मित्रोंकी सहायतासे अपना कार्य सिद्ध करके बदलेमें उनका उपकार नहीं करता, वह कृतघ्न है। अतः वह सब प्राणियोंके लिये वध करनेयोग्य है। गो-हत्यारा, शराबी, चोर और व्रत भंग करनेवाला—इन सबके लिये सत्पुरुषोंने प्रायश्चित्तका विधान किया है; किन्तु कृतघ्नके लिये कोई प्रायश्चित्त नहीं है।'

इसपर ताराने विनयपूर्वक लक्ष्मणको समझाकर शान्त किया। तब सुग्रीव सावधान होकर लक्ष्मणसे बोले—

कः शक्तस्तस्य देवस्य ख्यातस्य स्वेन कर्मणा।
तादृशं प्रतिकुर्वीत अंशेनापि नृपात्मज॥
सीतां प्राप्स्यति धर्मात्मा वधिष्यति च रावणम्।
सहायमात्रेण मया राघवः स्वेन तेजसा॥
(वा० रा० ४। ३६। ६-७)

'दशरथनन्दन! भगवान् श्रीराम अपने कार्यसे सर्वत्र विख्यात हैं। वे साक्षात् देवता हैं। उनके उपकारका कोई आंशिक रूपमें भी बदला कैसे चुका सकता है। धर्मात्मा श्रीराम अपने ही तेजसे रावणका वध करेंगे और सीताको प्राप्त करेंगे। मैं तो केवल निमित्तरूपमें सहायक रहूँगा।'

यह सुनकर श्रीलक्ष्मणजी प्रसन्न हो गये और सुग्रीवकी प्रशंसा करके उनके साथ भगवान् श्रीरामके पास चले आये। उसी समय सुग्रीवके बुलाये हुए असंख्य वानर भी पहुँच गये। उनको सीताकी खोज करनेके लिये सब दिशाओंमें भेजा गया। श्रीहनुमान् लङ्कामें जाकर श्रीजनकनन्दिनीसे मिले। वहाँसे लौटकर उन्होंने श्रीराम-लक्ष्मणको सीताकी कष्ट-कथा सुनायी। सीताका समाचार सुनकर असंख्य वानरोंकी बड़ी भारी सेना लेकर श्रीराम-लक्ष्मण समुद्रके तटपर पहुँचे। वहाँ श्रीरामने शरणागत विभीषणको अभय-दान दिया। समुद्रपर सेतु बाँधकर सेनासहित श्रीराम-लक्ष्मण समुद्रके उस पार पहुँचे। लङ्कामें राक्षसोंके साथ भयानक युद्ध हुआ। एक दिनकी बात है, मेघनादने सब वानरोंके देखते-देखते मायाकी सीताका वध करके सबको दुःखित कर दिया। हनुमान्‌द्वारा यह समाचार पाकर श्रीराम सीताके दुःखसे मूर्च्छित हो गये। उनको सचेत करनेके लिये अनेक उपचार किये गये। लक्ष्मणने पुरुषार्थकी बड़ाई करते हुए श्रीरामसे कहा—

तदद्य विपुलं वीर दुःखमिन्द्रजिता कृतम्।
कर्मणा व्यपनेष्यामि तस्मादुत्तिष्ठ राघव॥
उत्तिष्ठ नरशार्दूल दीर्घबाहो धृतव्रत।
किमात्मानं महात्मानमात्मानं नावबुध्यसे॥
(वा० रा० ६। ८३। ४२-४३)

'प्रभो! इन्द्रजित्‌ने [अपने इस क्रूर कर्मसे] जो आपको बड़ा भारी कष्ट पहुँचाया है, मैं अपने भयानक कर्मसे उसे दूर कर दूँगा। अतः अब आप उठ बैठिये। महाबाहो! पुरुषसिंह! क्या आप अपने महान् प्रभावको नहीं जानते? हे व्रतोंके पालन करनेवाले! आप खड़े हो जाइये।'

इस प्रकार श्रीलक्ष्मणजी अपनी गोदमें मूर्च्छित होकर सोये हुए श्रीरामको सचेत करनेकी चेष्टा कर रहे थे, उसी समय विभीषण भी वहाँ आ पहुँचे। विभीषणके पूछनेपर श्रीलक्ष्मणजीने सीताके शोकमें श्रीरामके बेहोश होनेकी बात कही। तब विभीषणेने प्रबल युक्तियोंद्वारा सबके सामने श्रीरामको समझाया कि 'मेघनाद सीताको नहीं मार सकता। यह सब राक्षसी मायाका खेल है। आप चिन्ता न करें। मेघनाद इस समय निकुम्भिलामें यज्ञ करने गया है, उसका यज्ञ पूरा हो जानेपर उसे जीतना कठिन हो जायगा। हमें शीघ्र ही वहाँ पहुँचकर उससे युद्ध करना चाहिये। अतः आप लक्ष्मणको हमारे साथ भेज दीजिये।' इस प्रकार विभीषणकी बात सुनकर श्रीराम सावधान हो गये। विभीषणसे सारी बातें दुबारा सुनीं।

फिर मेघनादके पराक्रम और मायाबलका वर्णन करके लक्ष्मणसे कहा—'सुग्रीव और विभीषणके साथ जाकर तुम उसको मारो ।' तब श्रीलक्ष्मणजीने मेघनादको मारनेकी प्रतिज्ञा करके श्रीरामकी प्रदक्षिणा की और उनको प्रणाम किया । इसके बाद वे सेनाके साथ विभीषणको लेकर गये । वहाँ मेघनादके साथ लक्ष्मणका बड़ा घोर युद्ध हुआ । उसमें श्रीलक्ष्मणने वीरता, धीरता और युद्ध-कौशलका अच्छा परिचय दिया । श्रीलक्ष्मणने मेघनादके घोड़े, सारथि और रथका नाश करके बार-बार उसके अनेक धनुष काट गिराये । इस प्रकार उन्होंने राक्षसोंकी सारी सेनाको व्याकुल कर दिया । अन्तमें महाबलवान् मेघनादको मारकर लक्ष्मणजीने बड़ा अद्भुत काम किया । फिर लक्ष्मणजीने श्रीरामके पास आकर उनको प्रणाम किया । श्रीरामचन्द्रने लक्ष्मणको हृदयसे लगाकर उनके इस कार्यकी प्रशंसा करते हुए कहा—

कृतं परमकल्याणं कर्म दुष्करकर्मणा ।
अद्य मन्ये हते पुत्रे रावणं निहतं युधि ॥
अद्याहं विजयी शत्रौ हते तस्मिन् दुरात्मनि ।

× × ×

(वा० रा० ६ । ९१ । १३-१४)

'भाई लक्ष्मण ! तुम बड़े दुष्कर कर्म करनेवाले हो । तुमने यह परम कल्याणकारी कार्य किया है । रावण-पुत्र मेघनादके मारे जानेसे अब मैं रावणको युद्धमें मरा हुआ ही समझता हूँ । उस दुरात्मा शत्रु मेघनादके मारे जानेसे हमारी विजय हो चुकी ।'

इसके बाद श्रीरामकी आज्ञासे सुषेणने ओषधियोंका उपचार करके लक्ष्मणके शरीरकी समस्त व्यथा दूर की, इससे लक्ष्मण पूर्ववत् स्वस्थ हो गये ।

राक्षसोंके मुखसे लक्ष्मणद्वारा मेघनादके मारे जानेका समाचार सुनकर रावणको बहुत दुःख हुआ । उसने क्रोधमें भरकर सेनासहित चढ़ाई की । बड़ा भयानक युद्ध हुआ । उस युद्धमें रावणके शक्तिबाणसे श्रीलक्ष्मणजी मूर्च्छित हो गये । यह देखकर श्रीरामको बड़ा दुःख हुआ, उन्होंने भाई लक्ष्मणकी सेवा और प्रेम याद करके विचित्र ढंगसे विलाप किया; इससे भी श्रीलक्ष्मणके प्रेमका पता चलता है ।

तदनन्तर सुषेणने हनुमान्‌जीसे ओषधियाँ मँगवाकर लक्ष्मणको मूर्च्छासे जाग्रत् और स्वस्थ किया । फिर राम और रावणका घोर युद्ध हुआ, जिसमें रावण मारा गया । सीता बुलायी गयीं । राज्योचित सत्कारके साथ वे पालकीमें बैठकर आ रही थीं, पर श्रीरामने उन्हें पैदल लानेके लिये विभीषणको आज्ञा दी । यह बात लक्ष्मणको बहुत खटकी, परन्तु भगवान्‌की वैसी ही इच्छा समझकर वे कुछ नहीं बोले । श्रीरामने वहाँ आनेपर सीताका तिरस्कार किया । लक्ष्मणको बड़ा दुःख हुआ, तथापि सीताके कहनेसे श्रीरामका रुख समझकर उन्होंने सीताके लिये चिता तैयार कर दी । सीताकी अग्नि-परीक्षा हुई । सब देवता आये । राजा दशरथ भी मिले । वहाँ श्रीदशरथजीने लक्ष्मणको श्रीरामका प्रभाव सुनाकर उनकी सेवामें तत्पर रहनेके लिये उत्साहित किया । इसके बाद पुष्पक-विमानपर चढ़कर सब अयोध्या पहुँचे । वहाँ माताओं और भरत-शत्रुघ्नसे मिलाप हुआ । श्रीराम राजसिंहासनपर विराजमान हुए । तीनों भाई उनकी सेवा करने लगे । इस प्रकार आनन्दपूर्वक कितना ही समय व्यतीत हुआ ।

इसके बाद सीताको घरमें रखनेके कारण होनेवाले लोकापवादको सुनकर श्रीरामने सीताको परित्याग करनेका विचार किया । उस समय सब भाइयोंको अपने पास बुलाकर श्रीरामने कहा—'तुमलोग शान्तचित्तसे मेरी बात सुनो, सीताके कारण सारे राज्यमें मेरा अपवाद हो रहा है । यद्यपि लङ्कामें सीताने अग्नि-परीक्षा देकर सबको विश्वास दिला दिया था और लक्ष्मणके सामने ही सब देवता और सब महर्षियोंने भी सीताको निष्पाप बताया था, तथा मैं स्वयं भी जानता हूँ कि जानकी निर्दोष है, फिर भी अब यह लोकापवाद मुझसे नहीं सहा जाता । अतः भाई लक्ष्मण ! कल तुम सबेरे सुवर्ण-भूषित रथमें बैठाकर जानकीको गङ्गापार ले जाओ और वाल्मीकि-ऋषिके आश्रमके पास छोड़ आओ ।'

श्रीरामकी यह आज्ञा लक्ष्मणके लिये बहुत ही भयंकर थी; परन्तु श्रीरामने सोचा कि लक्ष्मणके सिवा दूसरा कोई इस आज्ञाका पालन कर भी नहीं सकेगा । लक्ष्मणके प्रेमपर उनको पूरा भरोसा था । इसी कारण उन्होंने यह हृदय-विदारक आज्ञा लक्ष्मणको ही दी । श्रीरामने अपनी शपथ दिलाकर प्रतिवाद करनेकी मनाही कर दी । इस कारण लक्ष्मण

कुछ उत्तर न दे सके । इस प्रसङ्गमें लक्ष्मणने कितना असह्य कष्ट सहन करके आज्ञा-पालनका व्रत निवाहा है, यह बात इस प्रसङ्गको पढ़नेसे ही कुछ समझमें आ सकती है । इस छोटे-से लेखमें इसका पूरा भाव व्यक्त नहीं किया जा सकता । सीताका परित्याग करते समय शोकमें भरकर हाथ जोड़े हुए लक्ष्मण सीतासे कहते हैं—

हृद्गतं मे महच्छल्यं यस्मादार्येण धीमता ।
अस्मिन्निमित्ते वैदेहि लोकस्य वचनीकृतः ॥
(७ । ४७ । ४)

'जनकनन्दिनी ! बुद्धिमान् आर्य श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा मैं इस लोकनिन्दित कार्यमें नियुक्त किया गया—इससे मेरे हृदयमें बड़ा काँटा चुभ रहा है ।'

इसके सिवा लक्ष्मणने वहाँ यह भी कहा है कि 'इसकी अपेक्षा यदि मेरी मृत्यु हो जाती तो अच्छा था ।' ऐसी कठिन आज्ञाका पालन करना लक्ष्मणका ही काम था । वहाँसे लौटते समय भी लक्ष्मणजी श्रीरामकी ही चिन्ता करते हैं कि अब श्रीराम सीताके बिना किस प्रकार जीवन धारण कर सकेंगे । इस प्रकार सुमन्त्रसे बातचीत करते-करते लक्ष्मण अयोध्या पहुँचे और श्रीरामसे मिले । उस समय लक्ष्मणके मुखपर शोकके सभी चिह्न मौजूद थे । श्रीरामके चरणोंमें प्रणाम करके उन्होंने सीताके परित्यागकी सारी बात कह सुनायी और शोकाकुल श्रीरामको बहुत प्रकारसे सान्त्वना दी । उस समय श्रीराम प्रसन्न होकर लक्ष्मणसे कहते हैं—'भाई लक्ष्मण ! ऐसे विकट समयमें तुम्हारे-जैसा बन्धु बड़ा ही दुर्लभ है । सौम्य ! तुम महाबुद्धिमान् हो और मेरे मनके अनुसार चलनेवाले हो ।'

इसके बाद अश्वमेध-यज्ञका आयोजन हुआ । उसमें सीता और कुश-लवको साथ लेकर श्रीवाल्मीकि ऋषि भी पधारे । कुश-लवने रामायणकी कथा सुनायी । श्रीरामकी आज्ञासे सीताने सबके सामने अपने पातिव्रत्यका परिचय दिया और वे भूमिमें प्रविष्ट हो गयीं ।

इसके बाद ब्रह्माजीका सन्देश लेकर एक तपस्वी आया । उसने भगवान्से यह प्रतिज्ञा कराकर कि 'हम दोनोंकी बात जो सुन ले, उसका आप वध करवा दें,' ब्रह्माजीका महाप्रयाण-विषयक सन्देश सुनाया । उसी समय दुर्वासा ऋषि आये । उन्होंने उसी समय श्रीरामसे मिलना चाहा । उनके शापसे समस्त कुलको बचानेके लिये श्रीलक्ष्मण अपने जीवनका लोभ छोड़कर उनके आगमनकी सूचना देनेके लिये श्रीरामके पास चले गये । फिर स्वयं ही श्रीरामको प्रतिज्ञापालनके लिये उत्साहित करके अपनेको मार डालनेके लिये कहा । इसपर सबकी सलाहसे जब श्रीरामने लक्ष्मणका परित्याग कर दिया, तब उनका वियोग सहन करके आप एक दिन भी इस संसारमें नहीं रहे, तुरंत ही सरयू-नदीके तीर जाकर योगबलसे परमधाममें पधार गये ।

श्रीलक्ष्मणके माहात्म्यका वर्णन कौन कर सकता है ! इनके समान परमार्थ और प्रेमका, बुद्धिमत्ता और निष्कपटताका, सत्परामर्श देने और आज्ञापालन करनेका, तेज और मैत्रीका विलक्षण समन्वय इन्हींके चरित्रोंमें पाया जाता है । सारा संसार श्रीरामका गुणगान करता है, श्रीराम भरतके गुणोंका बखान करते हैं तथा श्रीराम और भरत—दोनों श्रीलक्ष्मणके गुण गाते हैं । फिर मैं उनके गुणोंका इस छोटे-से लेखमें कैसे वर्णन कर सकता हूँ ।

* * *

बारि मथें घृत होइ बरु सिकता ते बरु तेल ।
बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल ॥
हरि माया कृत दोष गुन बिनु हरि भजन न जाहिं ।
भजिअ राम सब काम तजि अस बिचारि मन माहिं ॥
जो चेतन कहँ जड़ करइ जड़हिं करइ चैतन्य ।
अस समर्थ रघुनायकहि भजहिं जीव ते धन्य ॥
तब लगि कुसल न जीव कहुँ सपनेहुँ मन बिश्राम ।
जब लगि भजत न राम कहुँ सोकधाम तजि काम ॥

श्रीतुलसीदासजी

श्रीमध्वाचार्यका द्वैतवाद

(लेखक—पं० श्रीकृष्णदेवजी उपाध्याय, एम्० ए०, साहित्यरत्न)

भारतीय वेदान्तके विभिन्न सम्प्रदायोंमें श्रीमध्वाचार्यका द्वैतवाद अपना विशेष महत्त्व रखता है। जहाँ शङ्कराचार्यजी अद्वैतवादका प्रचार करते हुए इस कर्मप्रधान जगत्‌को मिथ्या बताते हैं, वहाँ श्रीमध्वाचार्यजी जीवनकी वास्तविकता-को नहीं भूलते हुए, द्वैतवादका उपदेश देते हुए, असंख्य महापुरुषोंकी कर्मस्थली इस जगत्‌को सत्य प्रतिपादित करते हैं। जहाँ शङ्करका अद्वैतवाद हमें प्रत्यक्ष दृश्यमान सत्तात्मक वस्तुको भी झूठा समझनेके लिये विवश करता है, वहाँ श्रीमध्वका द्वैतमत सच्ची व्यावहारिकताका पल्ला पकड़े हुए तथा जगत्‌को सचा बताता हुआ हमें त्यागमार्गी न बनकर कर्ममार्गी बननेका आदेश देता है। यदि वास्तवमें देखा जाय तो शङ्करके प्रसिद्ध अद्वैतवादसे इस मतकी नितान्त प्रतिकूलता ही इसकी सर्वोपरि विशेषता है।

श्रीमध्वाचार्यके द्वैत-मतकी विस्तृत आलोचना प्रस्तुत करनेके पूर्व हम इनके मतके सारांशको एक शार्दूलविक्रीडित छन्दमें उद्‌धृत करते हैं, जो अत्यन्त सुन्दर है।

श्रीमन्मध्वमते हरिः परतरः
सत्यं जगत् तत्त्वतो
भेदो जीवगणा हरेरनुचरा
नीचोच्चभावं गताः।
मुक्तिर्नैजसुखानुभूतिरमला
भक्तिश्च तत्साधनं
ह्यक्षादित्रितयं प्रमाणमखिला-
म्नायैकवेद्यो हरिः॥

अर्थात् मध्व-सम्प्रदायके अनुसार (१) श्रीविष्णु ही सर्वोच्च तत्त्व हैं; (२) जगत् सत्य है; (३) भेद वास्तविक हैं; (४) जीवगण सब ईश्वरके आधीन हैं, (५) जीवोंमें तारतम्य है, (६) आत्माके आन्तरिक सुखोंका अनुभव ही मुक्ति है, (७) शुद्ध भक्ति ही उसका साधन है, (८) प्रत्यक्ष आदि तीन प्रमाण हैं; तथा (९) वेदोंके द्वारा ही हरि जाने जा सकते हैं। संक्षेपमें मध्वाचार्यके ये ही सिद्धान्त हैं। इनमेंसे प्रत्येकका वर्णन यथास्थान विस्तारसे किया जायगा।

प्रमाण-मीमांसा

प्रत्येक भारतीय दर्शन यथार्थ ज्ञानकी प्राप्तिके लिये कुछ प्रमाणोंको मानता है तथा उनका सम्यक् प्रतिपादन करता है; क्योंकि प्रमाण-सत्ताके बिना यथार्थ ज्ञानकी उपलब्धि नहीं हो सकती। भिन्न-भिन्न दर्शन-सम्प्रदाय प्रमाणों-की भिन्न-भिन्न संख्याको स्वीकार करते हैं। उदाहरणार्थ चार्वाक केवल प्रत्यक्षको मानता है तो बौद्ध और वैशेषिक प्रत्यक्ष और अनुमान—इन दोको; सांख्य प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द—इन तीनको और न्याय प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द—इन चार प्रमाणोंको स्वीकार करता है। कुछ लोग इनसे भी अधिक प्रमाणोंकी सत्ताको मानते हैं; परन्तु उन सबका निर्देश यहाँ अप्रासङ्गिक होगा। इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जिस प्रकार भारतीय-दर्शनके विभिन्न सम्प्रदायोंके सिद्धान्तोंमें मतभेद है, उसी प्रकार उनकी प्रमाण-मीमांसामें भी अन्तर है। श्रीमध्वाचार्यके मतानुसार केवल तीन ही प्रमाण हैं (१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान और (३) शब्द। अन्य प्रमाण इन्हीं तीनों प्रमाणोंके अन्तर्भूत हैं।

प्रमाण

श्रीमध्वाचार्यने 'प्रमाण' शब्दको दो अर्थोंमें प्रयुक्त किया है[1]—(१) यथार्थ ज्ञान और (२) यथार्थ ज्ञानका साधन। पहलेको उन्होंने 'केवल प्रमाण' कहा है और दूसरेको 'अनुप्रमाण'। किसी वस्तुका यथार्थ अर्थात् ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करना 'केवल प्रमाण' है और जिस वस्तुके द्वारा हमें वह यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है, अर्थात् जो यथार्थ ज्ञानका साधन है, उसे 'अनुप्रमाण' कहते हैं।

प्रत्यक्ष

किसी वस्तुका इन्द्रियके साथ निर्दोष सन्निकर्षको प्रत्यक्ष कहते हैं[2]। यदि वस्तु अथवा इन्द्रियमें दोष हो तो उस प्रत्यक्षके द्वारा यथार्थ ज्ञान-की प्राप्ति नहीं हो सकती। यदि इन्द्रियाँ विकृत हों अथवा वस्तु अत्यन्त निकट या दूर हो, अत्यन्त छोटी अथवा अत्यन्त बड़ी हो या परिस्थिति अनुकूल न हो तो प्रत्यक्षके द्वारा यथार्थ ज्ञान कदापि नहीं हो सकता। अतएव प्रत्यक्षके

---

[1] यथार्थज्ञानं केवलम्। तत्साधनमनुप्रमाणम्॥ (प्रमाणलक्षणम्)

[2] निर्दोषार्थेन्द्रियसन्निकर्षः प्रत्यक्षम्। (प्रमाणलक्षणम्)

द्वारा यथार्थ ज्ञान होनेके लिये वस्तु तथा इन्द्रियकी निर्दोषता अत्यन्त आवश्यक है। प्रत्यक्ष सात प्रकारका होता है। पाँच प्रकारका प्रत्यक्ष तो पाँच इन्द्रियोंपर अवलम्बित रहता है, छठा मनपर; और सातवाँ आत्मा अर्थात् साक्षीसे सम्बन्ध रखता है। प्रत्यक्ष ज्ञानके साधनोंमें एक साधन है; इसीलिये इसे साधन या करण भी कहते हैं। जिस प्रकार साधनरूप कुल्हाड़ीके बिना पेड़ नहीं काटा जा सकता, उसी प्रकार वस्तु तथा इन्द्रियकी सत्ता होनेपर भी प्रत्यक्षरूपी साधनके बिना यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

अनुमान

प्रत्यक्ष प्रमाणके द्वारा हम इन्द्रियोंके सन्निकर्षमें आयी हुई वस्तुओंके ही यथार्थज्ञानकी प्राप्ति कर सकते हैं। परन्तु जो वस्तुएँ हमारी इन्द्रियोंके सन्निकर्षमें नहीं आतीं, उनका यथार्थज्ञान हम कैसे कर सकते हैं? इसलिये श्रीमध्वने अनुमान प्रमाणको भी माना है। आपके मतसे निर्दोष उपपत्ति ही अनुमान है[1]। यह अनुमान दो प्रकारका होता है—(१) स्वार्थानुमान और (२) परार्थानुमान। परार्थानुमानमें पञ्चावयव वाक्योंका प्रयोग होता है, जिसका विस्तृत वर्णन न्यायके ग्रन्थोंमें पाया जाता है।

श्रीमध्वाचार्यका मत है कि परार्थानुमानमें जिन पञ्चावयव वाक्योंके प्रयोगका नियम किया जाता है, वह नितान्त अशुद्ध है। इन पाँच अवयवोंमेंसे चौथा और पाँचवाँ अवयव–अर्थात् उपनय और निगमन–बिल्कुल व्यर्थ हैं। शुद्ध न्याय-पद्धति तो यह बतलाती है कि केवल उतना ही किसी वस्तुका कथन करना चाहिये, जितना ज्ञानके लिये आवश्यक हो। यदि यह बात केवल एक या दो अवयवोंके द्वारा की जा सकती हो तो उतना ही पर्याप्त होगा। श्रीमध्व केवल तीन अवयवोंको स्वीकार करते हुए पञ्चावयवके सिद्धान्तको नहीं मानते। उनका मत है कि नैयायिकोंने व्यर्थ ही निग्रहस्थानोंको इतना अधिक बढ़ा दिया है। इसी प्रकार नैयायिकोंके द्वारा वर्णित पञ्च हेत्वाभास भी ठीक नहीं हैं। उनका मत है कि नैयायिकोंके द्वारा प्रतिपादित उपमान प्रमाण कोई स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है, वह अनुमानके ही अन्तर्गत है।

आगम या शब्द

श्रीमध्वका तीसरा प्रमाण आगम है, जिसकी परिभाषा 'निर्दोष शब्द' है। शब्दके अन्तर्गत मौखिक तथा लिखित–दोनों प्रकारके शब्द माने जाते हैं। कोई शब्द निर्दोष तभी माना जाता है, जब वह किसी निश्चित अर्थका बोध कराता है और वह किसी वस्तुका यथार्थ वर्णन करता है। शब्द उन्हीं लोगोंका प्रमाण माना जा सकता है, जो 'आप्त' हैं। आगम दो प्रकारका होता है—(१) पौरुषेय और (२) अपौरुषेय। महाभारत, रामायण आदि पौरुषेय ग्रन्थ हैं और वेद अपौरुषेय। इनमेंसे पौरुषेय आगमको हम तभी प्रमाण मान सकते हैं, जब उनके कर्ता आप्त हों; परन्तु अपौरुषेय आगम सर्वदा प्रमाणभूत है। यदि केवल आप्त वाक्यको ही प्रमाण न माना जाय तो एक कुलटाके कथनको भी प्रमाण मानना पड़ेगा, जिसकी अप्रामाणिकता प्रसिद्ध है। अतएव आप्तवाक्य तथा अपौरुषेय आगमको ही हम शब्द-प्रमाणके अन्तर्गत मान सकते हैं, अन्य किसीको कदापि स्वीकार नहीं कर सकते।

तत्त्व-मीमांसा

जगत् सत्य है

वेदान्तके आचार्योंमें 'जगत् सत्य है या मिथ्या' इस विषयपर घोर विरोध पाया जाता है। कोई जगत्को पूर्णतः मिथ्या बतलाता है, कोई आंशिकरूपमें सत्य कहता है तो कोई बिल्कुल सत्य स्थिर करता है। जहाँ चार्वाक-जैसे भूतवादियोंके लिये जगत्के अतिरिक्त कोई भी वस्तु सत्य नहीं है, वहाँ शङ्कर-जैसे अद्वैतवादीके लिये सारा जगत् ही मिथ्या है। 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' प्रसिद्ध ही है। कहनेका तात्पर्य यह है कि जगत्के विषयमें नितान्त प्रतिकूल सिद्धान्त पाये जाते हैं। चार्वाक तथा शङ्करके इन प्रतिकूल मार्गोंकी तुलनामें श्रीमध्वके जगत्-सम्बन्धी सिद्धान्तको यदि हम 'मध्यम मार्ग' कहें तो कुछ अनुचित न होगा। श्रीमध्वने उपर्युक्त दोनों सिद्धान्तरूपी छोरोंको छोड़कर बीचके मार्गका अवलम्बन किया है। आपके मतसे ब्रह्म भी सत्य है और जगत् भी। श्रीमध्वने शङ्करके मायावादका खण्डन कर यह स्पष्ट प्रमाणित कर दिया है कि यह जगत् माया नहीं प्रत्युत सत्य है। इस प्रकार आपने न तो ब्रह्मको न मानकर भूतवादका आश्रय लिया है और न शङ्करकी तरह जगत्को मिथ्या ठहराकर जीवनके व्यावहारिक पक्षका तिरस्कार किया है। दर्शनशास्त्रके रहस्यमय क्षेत्रमें श्रीमध्वका यह मत भले ही सदोष जान पड़े, परन्तु व्यावहारिक दृष्टिसे विचार करनेपर इनका सिद्धान्त अत्यन्त तर्कयुक्त और बुद्धिसम्मत जान पड़ता है। जिस जगत्में हम रहते हैं, खेलते हैं, कूदते हैं, अनेक वीरता, दया तथा परोपकारके काम करते हैं, उस जगत्को हम मिथ्या

---

[1] निर्दोषोपपत्तिरनुमानम्। (प्रमाणलक्षणम्)

कैसे मान लें ? जिस संसारको महापुरुषोंने अपनी क्रीड़ा-स्थली तथा कर्म-भूमि बनाकर अनेक लोकोत्तर सार्वजनिक कार्य किये तथा अमरत्वको प्राप्त किया, उसी संसारको हम झूठा या मिथ्या कैसे स्वीकार कर सकते हैं। अतएव व्यावहारिक पक्षसे तथा तर्कपक्षसे जब हम विचार करते हैं तो श्रीमध्वाचार्यका मत अत्यन्त तर्कयुक्त तथा बुद्धिसम्मत (Rational) ज्ञात होता है।

शङ्कराचार्यका कथन है कि संसारमें अविद्या या माया नामकी एक ऐसी वस्तु है, जो इस जगत्को सत्य प्रतिभासित करती है; परन्तु वास्तवमें यह जगत् है मिथ्या ही । परन्तु श्रीमध्वाचार्यके मतसे यह सिद्धान्त गलत है । जगत् न तो माया है और न मिथ्या, बल्कि यह सत्य है[1] । आपने जगत्की सत्यताके विषयमें अनेक प्रमाण देकर यह स्पष्ट सिद्ध कर दिया है कि जगत् मिथ्या नहीं है । श्रीमध्वका प्रथम सिद्धान्त यह है कि अतीन्द्रिय प्रश्नोंके विषयमें केवल वेद ही अन्तिम प्रमाण हैं। आपका दूसरा सिद्धान्त है कि चित् और अचित्में महान् अन्तर है और ये दोनों कदापि एक नहीं हो सकते। तीसरा सिद्धान्त यह है कि जबतक प्रत्यक्ष ज्ञान मिथ्या या असत्य न सिद्ध कर दिया जाय, तबतक उसे अवश्य सत्य मानना चाहिये[2] । यदि हम इन तीन सिद्धान्तोंपर ध्यान दें तो श्रीमध्वके जगत्-तत्त्वके सत्यत्वके सिद्धान्तको अच्छी तरह समझ सकते हैं।

श्रीमध्वके तीसरे सिद्धान्तके अनुसार जिस वस्तुका हमें प्रत्यक्ष ज्ञान हो रहा है, वह तबतक सत्य माना जायगा, जबतक हमारा प्रत्यक्ष ज्ञान दूषित न ठहरा दिया जाय। जैसे हम किसी वृक्ष या नदीका अपने चक्षुरिन्द्रियसे प्रत्यक्ष ज्ञान करते हैं। हम देखते हैं कि हमारी आँखोंके सामने एक विशाल वृक्ष खड़ा है तथा अपनी सुशीतल छाया और फलसे हमें सुख प्रदान कर रहा है। ऐसी दशामें हम उसे मिथ्या कैसे स्वीकार कर लें। उसे मिथ्या स्वीकार करना अपनी बुद्धि (Common sense) को तिलाञ्जलि देना होगा। अतः प्रत्यक्ष प्रमाणसे ज्ञात वस्तुको हम मिथ्या नहीं मान सकते। चूँकि हम जगत्के विभिन्न पदार्थोंका अवलोकन या ज्ञान अपनी इन्द्रियोंके द्वारा करते हैं, अतः यह प्रपञ्चात्मक जगत् मिथ्या नहीं, प्रत्युत सत्य है।

श्रीमध्वका पहला सिद्धान्त अतीन्द्रिय प्रश्नोंके विषयमें वेदको ही प्रमाण मानना है। जगत्की उत्पत्ति कैसे हुई, यह मिथ्या है या सत्य—इन प्रश्नोंका उत्तर इन्द्रियोंके द्वारा नहीं किया जा सकता; क्योंकि यह अतीन्द्रिय विषय है । अतः हमें अब यह देखना है कि जगत्के विषयमें वेदोंकी क्या सम्मति है। तैत्तिरीय उपनिषद्में लिखा है कि ब्रह्मके द्वारा ही इस जगत्की उत्पत्ति हुई है—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' चूँकि मध्व-मतानुसार ब्रह्म सत्य है, अतः उससे उत्पन्न वस्तु भी सत्य ही है। ब्रह्म जगत्को सृष्टिके आदिमें उत्पन्न करता है और प्रलयके समय उसका संकोच करता है। वह अपनी लीलाके रूपमें इस जगत्को उत्पन्न करता है। इन उपर्युक्त प्रमाणोंसे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि जगत् सत्य है।

ब्रह्म तथा जीवमें भेद

श्रीमध्वाचार्यके मतानुसार ब्रह्म तथा जीवमें नितान्त भेद है। आपने स्पष्ट ही कहा है कि इन दोनोंमें 'तत्त्वतो भेदः' अर्थात् वास्तवमें भेद है। यह भेद पाँच प्रकारका होता है (१) ब्रह्म तथा जीवमें भेद, (२) ब्रह्म तथा जगत्में भेद, (३) जीव और जगत्में भेद, (४) जीवोंमें परस्पर भेद और (५) जगत्का वस्तुओं और परमाणुओंमें भेद—ये भेद वास्तवमें होते हुए भी अनेक कारणोंसे दिखायी नहीं पड़ते। इन पाँचों भेदोंमें ब्रह्म तथा जीवका भेद ही प्रधान है, अतः इसीका विस्तृत वर्णन आगे प्रस्तुत किया जाता है।

समानता तथा एकतामें भेद

श्रीमध्व समानता तथा एकताके अन्तरपर बहुत जोर देते हैं। आपका मत है कि दो वस्तुओंमें समानता होनेपर भी उन दोनोंकी एकता नहीं मानी जा सकती। बालूके दो विभिन्न कणोंमें समानता होनेपर भी दोनोंको एक कहना भूल है; क्योंकि दोनोंके गुणोंमें अन्तर है। इसी प्रकार ब्रह्म तथा जीवमें और जगत्के अन्य पदार्थोंमें अनेक अंशोंमें समानता होनेपर भी उनमें एकता स्थापित करना अनुचित है।

श्रुति हमें यह बतलाती है कि ब्रह्मसे जीवोंकी उत्पत्ति उसी प्रकार होती है, जिस प्रकार वह्निसे स्फुलिङ्गोंकी। यह जगत् ब्रह्मसे उसी तरह पैदा होता है, जिस तरह मकड़ीसे जाला; परन्तु अब प्रश्न यह होता है कि क्या स्फुलिङ्ग तथा जालेकी सत्ता वह्नि तथा मकड़ीसे पृथक् है ? श्रीमध्वाचार्य इसका उत्तर स्वीकारात्मक देते हैं। आप कहते हैं कि जिस प्रकार मकड़ी जालेको बुनकर उससे पृथक् हो जाती है, उसी प्रकार

---

[1] जगत्प्रवाहः सत्योऽयं नैव मिथ्या कथञ्चन।
ये त्वेतदन्यथा ब्रूयुः सर्वहन्तार एव ते॥
(भागवत-तात्पर्य)

[2] छान्दोग्य-भाष्य।

ब्रह्म जीव तथा जगत्को अपने ही अंशोंसे उत्पन्न कर उनसे पृथक् हो जाता है । इस प्रकार जीव तथा जगत् ब्रह्मके अंशस्वरूप होनेपर भी उस अंशीसे सर्वथा पृथक् हैं । यदि अंश और अंशीके पार्थक्यको न स्वीकार कर हम दोनोंकी एकता मानने लगेगें तो बड़ा अनर्थ हो जायगा । बाल मनुष्यके सिरसे पैदा होता है । यदि हम बाल और सिरमें एकता मानने लगें तो बाल कटाते समय सिरको भी कटाना पड़ेगा । परन्तु कोई ऐसा नहीं करता । अतएव अंश और अंशीमें एकता कदापि स्वीकार नहीं की जा सकती । चूँकि ब्रह्म अंशी है और जीव अंश, अतः दोनों एक नहीं हैं—दोनोंमें वास्तविक अन्तर है ।

अद्वैतवादी इस सिद्धान्तको स्वीकार नहीं करते । उनका मत है कि 'ब्रह्म ही सत्य है और यह समस्त जगत् मिथ्या है । जीव भी ब्रह्म ही है, अन्य नहीं'[1] । यह ब्रह्म अविद्यासे युक्त रहता है । यह अविद्या अनिर्वचनीय है; न तो यह सत् है और न असत्, किन्तु दोनोंसे विलक्षण है । जीव, जो वास्तवमें ब्रह्मका ही अंश है, ब्रह्मसे अपनेको उपाधिके कारण पृथक् समझता है । यह उपाधि अविद्यासे ही उत्पन्न होती है । इसी उपाधिसे अभिभूत होकर सत्, चित् और आनन्दस्वरूप ब्रह्म असत्, अचित् तथा दुःखस्वरूप दिखायी पड़ता है । जिस प्रकार दर्पणपर मैल जम जानेसे उसमें मनुष्यका प्रतिबिम्ब ठीक नहीं पड़ता—उसकी आकृति छोटी, बड़ी या भद्दी दिखायी देती है, उसी प्रकार उपाधिरूप मैलके कारण हम दर्पणरूप ब्रह्ममें जीवरूप प्रतिबिम्बको नहीं देख पाते । इस प्रकार अद्वैतवादियोंके सिद्धान्तका सारांश यह है कि ब्रह्म और जीव वास्तवमें एक हैं; परन्तु अविद्याके द्वारा पृथक् प्रतिभासित होते हैं[2] ।

श्रीमध्वाचार्यने बड़ी प्रबल युक्तियोंके द्वारा शङ्कराचार्यके इस उपर्युक्त सिद्धान्तका खण्डन किया है और यह स्पष्ट सिद्ध कर दिया है कि ब्रह्म और जीवमें वास्तविक भेद है । श्रीमध्वका कथन है कि अद्वैतवादियोंका ब्रह्म, जो सत् और चित्से युक्त है, अविद्यासे प्रभावित कैसे हो सकता है । जिस प्रकार प्रकाश और अन्धकारका एकत्र रहना असम्भव है, उसी प्रकार सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्मका अविद्यासे प्रभावित होना भी असंगत है; अतः अविद्याके द्वारा जगत्में भेदकी उत्पत्ति कहना नितान्त भ्रमपूर्ण है । श्रीमध्व कहते हैं कि यदि यह अविद्या सत्य है तो अद्वैतका सिद्धान्त पूर्णतया खण्डित हो जाता है और यदि यह असत्य है तो इसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ सकता । अतएव इन युक्तियोंसे स्पष्ट प्रमाणित होता है कि अद्वैतवादियोंका मायावाद सिद्धान्त गलत है तथा इसके द्वारा ब्रह्म और जीवमें जो अभेदकी स्थापना की गयी है, वह भी तर्कयुक्त नहीं है ।

अद्वैतवादी 'अहं ब्रह्मास्मि' तथा 'तत्त्वमसि'—इन श्रुति-वाक्योंके आधारपर यह कहते हैं कि ब्रह्म और जीव एक ही हैं; परन्तु मध्वाचार्यजीने अपने ग्रन्थोंमें स्पष्ट प्रमाणित कर दिया है कि इन वाक्योंका जो अर्थ अद्वैतवादी करते हैं, उससे इनका अर्थ वस्तुतः भिन्न है । यदि हम अद्वैतवादियोंके अर्थको स्वीकार करते हैं तो निम्नाङ्कित श्रुतिवाक्यसे विरोध पड़ता है—

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।'

—इस श्रुतिसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि ब्रह्म तथा जीवमें भेद है । इस प्रकार अद्वैतवादियोंके समस्त सिद्धान्तोंका खण्डन करते हुए मध्वाचार्यने स्पष्ट प्रमाणित कर दिया है कि ब्रह्म और जीव नितान्त भिन्न हैं ।

जीव ब्रह्मपर अवलम्बित हैं

ऊपर यह दिखलाया गया कि ब्रह्म और जीवमें भेद है; परन्तु यह भेद होते हुए भी जीव ब्रह्मके ऊपर अवलम्बित है । यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि ब्रह्म और जीवमें अंशी और अंशका सम्बन्ध है । अतः जिस प्रकार अंश अंशीके ऊपर अवलम्बित रहता है, उसी प्रकार जीव ब्रह्मके ऊपर अवलम्बित है । जीव ब्रह्मका प्रतिबिम्ब है । वह ब्रह्मका अंश भी कहा जाता है । इसलिये ब्रह्मकी तरह जीवमें भी सत्, चित् और आनन्दका निवास है । जीवकी सत्ता ब्रह्मसे पृथक् नहीं रह सकती और न यह कोई स्वतन्त्र कार्य ही कर सकता है । यह सदा ब्रह्मकी अधीनतामें रहता है । जीवमें जो कुछ कार्य करनेकी स्वतन्त्रता दिखायी पड़ती है, वह ब्रह्मकी दी हुई है । एक ब्रह्म ही स्वतन्त्र है, जीव सारे परतन्त्र हैं । यद्यपि जीव नित्य है, फिर भी उसकी परतन्त्रतामें कोई बाधा नहीं आती, क्योंकि यह नित्यता उसे ब्रह्मसे ही मिली है । ब्रह्मकी इच्छा

---

[1] ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः । (शङ्कराचार्य)

[2] शारीरक-भाष्य

ही जीवोंको नित्यता प्रदान करती है। इस प्रकार जीव ब्रह्मपर सर्वथा अवलम्बित दिखायी पड़ता है।

जीवोंमें भेद तथा नीचता, उच्चता है।

श्रीमध्वाचार्यका यह मत है कि जीवोंमें परस्पर भेद है तथा उनमें तारतम्य—ऊँच, नीचका विभाग भी है। जीवोंका यह भेद सांसारिक दशामें ही नहीं होता, बल्कि मोक्षावस्थामें भी रहता है। ये सब जीव प्रकृतिके द्वारा प्रभावित होनेके कारण 'संसार' कहलाते हैं। जबतक ये मुक्तिको प्राप्त नहीं हो जाते, तबतक प्रकृतिके बन्धनमें पड़े रहते हैं। जीवोंमें सर्वश्रेष्ठ जीव देवता माने जाते हैं। इन देवोंके भी अनेक भेद हैं। देवोंके सर्वश्रेष्ठ विभागको सजुस् कहते हैं। ये अन्तमें ब्रह्म बन जाते हैं। नीच जीवोंमें दैत्य, राक्षस और पिशाचोंकी गणना है। मध्यम कोटिमें मनुष्य आते हैं, जो न बहुत बुरे और न भले हैं। इस प्रकार जीवोंमें भी भेद है।

ब्रह्मकी कल्पना तथा उसकी सर्व-श्रेष्ठता

जिस प्रकार शङ्कराचार्य ब्रह्मको सर्वश्रेष्ठ तथा सच्चिदानन्द-स्वरूप मानते हैं, उसी प्रकार श्रीमध्वाचार्यजी हरि अथवा नारायणको सर्वव्यापी, सच्चिदानन्द-स्वरूप तथा सर्वश्रेष्ठ वस्तु स्वीकार करते हैं। 'विष्णु-तत्त्व-निर्णय'के प्रारम्भमें आपने एक श्लोक लिखा है, जिससे उपर्युक्त कथनकी पुष्टि होती है।

सदागमैकविज्ञेयं समतीतं क्षराक्षरम्।
नारायणं सदा वन्दे निर्दोषाशेषसद्गुणम्॥

इस श्लोकसे यह भी पता चलता है कि श्रीमध्वकी नारायणके सम्बन्धमें क्या धारणा थी। यह नारायण केवल वेदोंके द्वारा ज्ञेय है, क्षर-अक्षर दोनोंसे अतीत है, दोषोंसे रहित है तथा सम्पूर्ण सद्गुणोंसे युक्त है। इसी नारायणको कभी-कभी आपने हरिके नामसे भी स्मरण किया है। हरिवंशके निम्नाङ्कित श्लोकको श्रीमध्वाचार्यजीने अनेक स्थानोंपर उद्धरणरूपमें दिया है।

वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा।
आदावन्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते॥

श्रीमध्वके मतानुसार हरि परम ब्रह्म है, इससे बड़ी जगत्में कोई वस्तु नहीं है। यह स्वतन्त्र है तथा इसके समान जगत्में कोई दूसरा नहीं है ('एकमेवाद्वितीयम्')। हरि एक होते हुए भी अग्नि, वरुण, वायु, इन्द्र तथा अदिति आदि अनेक नामोंसे प्रसिद्ध है। वेद कहते हैं कि 'वह एक ही है, परन्तु पण्डितलोग उसका अनेक प्रकारसे वर्णन करते हैं[1]।' वह अकेला ही अनेक देवताओंके नामको धारण करता है। 'यो देवानां नामधा एक एव'। यह बात सदा ध्यानमें रखनी चाहिये कि मध्वाचार्यजीने 'हरि' या 'नारायण' शब्दका प्रयोग किसी देवताविशेषके लिये नहीं किया है, प्रत्युत सर्वव्यापक सर्वोपरि शक्तिके लिये ही किया है। अद्वैत-वेदान्तियोंके लिये जो ब्रह्म है, वही इनके लिये हरि है।

हरिका सच्चिदानन्द-स्वरूप

श्रीमध्वाचार्यके मतानुसार हरि सत्, चित् तथा आनन्दस्वरूप है। एकमात्र हरि ही स्वतन्त्ररूपसे स्थिर है। शाश्वतिक पदार्थोंमें सबसे शाश्वत वही है[2]। वह दूसरोंको अपनी अनुकम्पासे नित्यता प्रदान करता है, अतः वह सत् है। वह चित् है, क्योंकि संसारकी समस्त वस्तुओंको जानता है तथा चेतना-सम्पन्न है। हरि आनन्दस्वरूप है; क्योंकि वह आनन्दकी राशि है तथा दूसरोंको भी आनन्द प्रदान करता है[3]। वह दिक् तथा कालसे अनवच्छिन्न है। वह अनन्त गुणोंका सागर है। उसकी दया, शक्ति, प्रेम तथा महिमा अपार हैं। हरि केवल अंशतः जाना जा सकता है। सम्पूर्णतया वह स्वयं ही अपनेको जान सकता है। दूसरे लोग उसे जाननेमें समग्ररूपसे असमर्थ हैं। अतः इस दृष्टिसे वह अज्ञेय भी है।

हरि ज्ञानरूप भी कहा गया है, क्योंकि ज्ञान ही उसका परम तत्त्व है। उसका ज्ञान चिरस्थायी है। अनन्त होनेके कारण न तो वह ज्ञान कभी घटता है और न बढ़ता ही है। हरि तथा उसके ज्ञानमें कुछ भी अन्तर नहीं है। हरि उसके कार्योंमें भी कुछ अन्तर नहीं है[4]। हरि एक रहस्यके समान है। उसके पास अत्यधिक शक्ति

---

[1] एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति। अग्निं मित्रं मातरिश्वानमाहुः।

[2] नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाना-
मेको बहूनां यो विदधाति कामान्।

[3] रसो वै सः।

[4] अभेदो हरिरूपाणां गुणानां च क्रियासु च॥

है ('अचिन्त्यभूतशक्तिः')। वह छोटी-से-छोटी वस्तुसे भी छोटा है ('अणोरणीयान्') तथा बड़ी-सी-बड़ी वस्तुसे भी बड़ा है ('महतो महीयान्')। वह बैठा हुआ भी दूरतक चला जाता है ('आसीनो दूरं व्रजति') तथा सोता हुआ भी चारों ओर घूमता-फिरता है ('शयानो याति सर्वतः')। बिना आँखके भी वह देखता है और बिना हाथोंके भी ग्रहण करता है। वह दूर-से-दूर तथा नजदीक-से-नजदीक है। श्रुति कहती है—

'दूराद्दूरतरं यत्तु तदेवान्तिकमन्तिकात्।'

हरिकी साकारता तथा निराकारता

शङ्कराचार्य ब्रह्मके दो रूप मानते हैं—निर्गुण तथा सगुण। उनके मतसे सगुण ब्रह्म ही व्यक्तिगत ईश्वर (Personal God) है, जो संसारका कर्ता, पालयिता और संहर्ता है। यही ईश्वरके नामसे प्रसिद्ध है। निर्गुण ब्रह्म उपाधिरहित अज्ञेय तत्त्व है। श्वेताश्वतर-उपनिषद्में ब्रह्मको 'केवलो निर्गुणश्च' कहा गया है। श्रीमध्व भी सगुण ईश्वरको मानते हैं। ईश्वर अन्य रूपोंकी भाँति मनुष्यरूप भी धारण करता है। उस समय उसके शरीरके विभिन्न अङ्गोंमें भेद नहीं रहता। सत्, चित् तथा आनन्दस्वरूप होनेके कारण उसका प्रत्येक अङ्ग समस्त कार्योंका सम्पादन कर सकता है। ईश्वरमें स्वगतभेद नहीं है। वह सिरके बालोंसे पैरके नखोंतक पूर्ण, चित्स्वरूप, सुखमय तथा शान्तिसे युक्त है। यह ईश्वर साकाररूपमें सृष्टिका निर्माता, पालनकर्ता तथा नाश करनेवाला है। इसी सगुण ईश्वरकी भक्ति करके जीव मुक्तिको प्राप्त करता है।

शङ्करकी भाँति श्रीमध्वाचार्य भी निराकार ब्रह्मकी सत्ताको स्वीकार करते हैं, जो त्रिगुणातीत अर्थात् सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणोंसे अलिप्त है। वह स्वतन्त्र, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी तथा सर्वान्तर्यामी है। वह सबसे पृथक् है, क्योंकि वह अद्वितीय है। वह अभेद्य है, नित्य है, अनन्त ज्ञानकी राशि है। वह दोषोंसे रहित है। अनेक नामोंसे पुकारा जाता हुआ भी वह एक है। वह कर्मबन्धनसे परे है। संक्षेपमें यह निराकार ब्रह्म सर्वव्यापी, सर्वान्तर्यामी, सर्वशक्तिमान् तथा त्रिगुणातीत है[1]।

आचार-मीमांसा

मुक्तिका अर्थ

हमारे शास्त्रोंने मनुष्य-जीवनके चार उद्देश्य बतलाये हैं, जिनको प्राप्त करना प्रत्येक मनुष्यका धर्म है। इन उद्देश्योंको पुरुषार्थ कहते हैं—जो अर्थ, धर्म, काम तथा मोक्षके नामसे प्रसिद्ध हैं। इन चारों पुरुषार्थोंमें मोक्ष या मुक्ति अन्तिम तथा मनुष्य-जीवनका सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ समझा जाता है। मुक्तिकी चर्चा भारतीय समस्त दर्शनोंमें पायी जाती है। बौद्धलोग इसी मुक्तिको निर्वाणके नामसे पुकारते हैं, जिसका अर्थ है—कर्म-बन्धनोंसे छुटकारा पा जाना। श्रीमध्वाचार्यके अनुसार मुक्तिका अर्थ है—आत्माका अभिव्यञ्जन, विकास तथा उसकी स्वानुभूति। जबतक स्वानुभूति नहीं होती, तबतक मुक्तिकी प्राप्ति कठिन ही समझनी चाहिये। शङ्कराचार्य तथा मध्वाचार्य दोनों ही स्वानुभूतिको मुक्तिका मार्ग समझते हैं; परन्तु इस अनुभूतिका जो परिणाम होता है, उसके विषयमें दोनोंमें आकाश-पातालका अन्तर है। दूसरे शब्दोंमें हम यह कह सकते हैं कि शङ्कर तथा श्रीमध्वकी मोक्ष-विषयक धारणामें अत्यधिक अन्तर है। श्रीशङ्कराचार्यके अनुसार मुक्तिको प्राप्त कर लेनेपर मुक्त जीव अपनेको ब्रह्म समझता हुआ निर्गुण, निराकार तथा अनिर्वचनीय जानने लगता है अर्थात् ब्रह्मके साथ उसका तादात्म्य हो जाता है। परन्तु श्रीमध्वाचार्यके अनुसार मुक्त आत्मा ब्रह्मके साथ अभिन्नताको नहीं प्राप्त होता, प्रत्युत अपनी अभिन्नता तथा पृथक्ताको और भी स्पष्ट रीतिसे अनुभव करने लगता है। वह मुक्त तथा अमुक्त आत्माओंसे भी अपनी पृथक्ताको समझने लगता है। इस प्रकार जहाँ शङ्करके मतसे विमुक्तात्मा ब्रह्मके साथ अपनी अभिन्नताका अनुभव करता है, वहाँ मध्वके अनुसार वह भिन्नताका अनुभव करता है।

मुक्तिकी दशा या अवस्था

समस्त भारतीय दर्शन इस बातको मुक्तकण्ठसे स्वीकार करते हैं कि मुक्ति शाश्वतिकी होती है। इसका आशय यह है कि जो मनुष्य एक बार मुक्ति प्राप्त कर लेता है, वह सदाके लिये आवागमनके बन्धनसे छूट जाता है, उसका पुनः इस संसारमें जन्म नहीं होता। छान्दोग्योपनिषद्में स्पष्ट ही कहा है कि मुक्तात्मा लौटकर फिर नहीं आता—

---

[1] माध्वमतके सिद्धान्तोंके लिये देखिये—पं० बलदेव उपाध्याय-द्वारा लिखित 'भारतीय दर्शन', पृ० ४९६–५०४।

'न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते ।'

ब्रह्मसूत्रके अन्तिम सूत्रमें भी यही कहा गया है। यही मुक्तिकी सर्वश्रेष्ठ विशेषता है।

मुक्तिकी दूसरी विशेषता है--दुःख, अशान्ति, अविवेक, राग, द्वेष, लोभ तथा तृष्णा आदिका सर्वथा विनाश हो जाना। मुक्तात्मा न किसी कष्टका अनुभव करता है और न किसी बुरी भावनाका। मुक्ति प्राप्त कर लेनेपर आत्मा आनन्द, शान्ति तथा सन्तोषके सागरमें गोते लगाने लगता है। श्रीमध्वका मत है कि वैकुण्ठ या स्वर्ग एक आध्यात्मिक जगत् है, जो प्रकृतिसे अलिप्त है। विमुक्त आत्मा अपने आध्यात्मिक अङ्गोंके द्वारा सारे कार्योंका निष्पादन करता है। वह भौतिक शरीरके द्वारा इन कार्योंको नहीं करता। 'न्याय-विवरण' में यही बात इस प्रकार लिखी मिलती है—

'विमुक्तस्य चिन्मात्र एव देहो भवति, चिन्मात्राणि करणानि'

इस प्रकार विमुक्तात्मा सब प्रकारके सुखोंका अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार उपभोग करते हुए भी ईश्वरके प्रेम या भक्तिको ही सर्वश्रेष्ठ सुख स्वीकार करते हैं—

हरेरुपासना चात्र सदैव सुखरूपिणी ।
न तु साधनभूता सा सिद्धिरेवात्र सा यतः ॥

आत्माके भेद

श्रीमध्वाचार्यने आत्माओंकी तीन श्रेणियाँ मानी हैं। प्रथम तो वे हैं, जो नित्य सुखके अधिकारी हैं; द्वितीय वे हैं, जो शाश्वतिक दुःखके भागी हैं तथा तीसरे वे हैं जो संसारके लिये उपयुक्त हैं। प्रथम प्रकारके आत्माओंमें चित् और आनन्द पाया जाता है; द्वितीय श्रेणीमें चित् और दुःख है तथा तीसरी श्रेणीके आत्माओंमें चित्, कुछ सुख तथा कुछ दुःख वर्तमान रहता है। इन तीनों प्रकारके आत्माओंको मुक्ति तभी प्राप्त हो सकती है, जब आत्माके सत्य स्वरूपको ढकनेवाला आवरण नष्ट हो जायगा। श्रीमध्वका आशय यह कदापि नहीं है कि किसी एक श्रेणीका आत्मा ही शाश्वतिक रूपसे स्वर्गको प्राप्त करेगा तथा दूसरा आत्मा सदा नरक भोगेगा; क्योंकि इस प्रकारका विचार मनुष्यताकी कल्पनाके बिल्कुल विपरीत है।

मुक्तिकी व्यापकता

श्रीमध्वाचार्यके अनुसार मुक्ति केवल किसी विशेष जाति या आश्रमतक ही सीमित नहीं है। किसी विशेष जातिमें उत्पन्न हुआ मनुष्य अथवा किसी विशेष आश्रम (जीवनकी अवस्था) में वर्तमान पुरुष ही मोक्षका अधिकारी है--यह कथन नितान्त अनुचित है। यह मुक्ति चारों वर्णोंके मनुष्योंको, चारों आश्रमोंमें वर्तमान जीवोंको—यहींतक नहीं, बल्कि जातिबहिष्कृत व्यक्तियों, अछूतों तथा निम्नतम श्रेणीके पुरुषोंको भी प्राप्त हो सकती है। छान्दोग्य-भाष्यमें स्पष्ट लिखा है—

सर्ववर्णाश्रमाणां च ज्ञानान्मोक्षो विनिश्चितः ।
अन्त्यानां स्थावराणां वा तथापि यतिरुत्तमः ॥

शङ्करके अद्वैतवादमें 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' के सिद्धान्तानुसार स्त्री तथा शूद्रोंको अज्ञानमें लिप्त रहनेके कारण मोक्षका अधिकार नहीं है। परन्तु श्रीमध्वाचार्यजीने मुक्तिका साधन भक्तिको बतलाकर स्त्री तथा शूद्रोंके लिये भी मुक्तिका मार्ग खोल दिया। इस प्रकार श्रीमध्वकी मुक्तिविषयक धारणा बड़ी व्यापक तथा गम्भीर है। यही इसकी विशेषता है।

भक्ति—मुक्तिका साधन

श्रीमध्वाचार्यजीने सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ मुक्तिका प्रतिपादन करते हुए भक्तिको उसका साधन बतलाया है—'मुक्तिश्च तत्साधनम् ।' बिना भक्तिके मुक्तिकी प्राप्ति असम्भव है। अतएव समस्त जीवोंको भगवान्की भक्तिके द्वारा ही अपनी मुक्तिका प्रयत्न करना चाहिये। शङ्कराचार्यने ज्ञानको मुक्तिका साधन बतलाया है—'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'। परन्तु श्रीमध्वका मत है कि ज्ञानके साथ-साथ भक्तिका होना नितान्त आवश्यक है। भक्ति और कर्मसे विरहित ज्ञानके द्वारा मुक्ति कदापि नहीं मिल सकती। वास्तवमें सर्वोत्तम भक्ति साधनरूप ही नहीं, अपितु साध्यरूप हो जाती है—

साधनानि तु सर्वाणि भक्तिज्ञानप्रवृद्धये ।
नैवान्यसाधनं भक्तिः फलरूपा हि सा यतः ॥
(बृहदारण्यक-भाष्य)

श्रीमध्वका यहाँतक कहना है कि भक्ति और कर्म मुक्तिके लिये केवल आवश्यक ही नहीं हैं, प्रत्युत विमुक्त आत्मा भी भगवान्की भक्ति तथा निष्काम कर्म सदा करता रहता है। मुक्त होनेपर भी उसकी भक्तिमें कोई कमी नहीं आती। सारांश यह है कि जहाँ शङ्कराचार्य ज्ञानको मुक्तिका अनन्य साधन बतलाते हैं, वहाँ मध्वाचार्यजी भक्तिको मुक्तिका एकमात्र साधन सिद्ध करते हैं।

अब हमें यह देखना है कि भक्तिका अर्थ क्या है।

भक्तिका अर्थ

'महाभारत-तात्पर्य-निर्णय' में श्रीमध्वाचार्य लिखते हैं कि भगवान्की निश्चल महत्ताके ज्ञानसे उत्पन्न प्रेमको ही भक्ति कहते हैं।

भगवान्का यह प्रेम सांसारिक वस्तुओंके प्रेमको अतिक्रमण कर जाता है[1]। इसी भक्तिके द्वारा मुक्ति मिल सकती है, अन्य किसी उपायके द्वारा नहीं[2]।

भक्तिकी आवश्यकता

यदि ईश्वरकी इच्छासे ही बन्धन और मुक्तिकी प्राप्ति होती है तो हमें ईश्वरेच्छाको अपने पक्षमें करनेका प्रयत्न करना चाहिये। ईश्वरेच्छाको जाननेके पहले हमें ईश्वरको जानना होगा और ईश्वरको सत्यरूपसे जाननेके लिये हमें उससे प्रेम करना पड़ेगा; क्योंकि किसी वस्तुका ज्ञान तथा उससे प्रेम अन्योन्याश्रय हैं। ईश्वरके विषयमें हम जितना ही अधिक जानेंगे, उतना ही अधिक उससे प्रेम करेंगे। कार्लायल (Carlyle) का मत है कि किसी वस्तुको जाननेके पहले उससे प्रेम तथा सहानुभूति प्रकट करना अत्यन्त आवश्यक है। यदि हम ईश्वरको जानना चाहते हैं तो हमें उसकी भक्ति करनी होगी।

भक्तिका प्रथम सोपान वैराग्य है। यदि हम ईश्वरकी सची भक्ति करना चाहते हैं तो हमें सांसारिक सुख तथा वैभवसे मुख मोड़ना पड़ेगा। अपने सगे सम्बन्धियों तथा अपने आत्माके भी मोहको छोड़ ईश्वरसे नेह जोड़ना पड़ेगा। सांसारिक वैभवोंमें फँसे रहनेवाले मनुष्यको भगवान्के दर्शन नहीं हो सकते। कठोपनिषद्में भी लिखा है—

'न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।'

भक्तिका स्वरूप

मुक्तिकी साधनरूपा भक्ति ईश्वरकी महत्ताके ज्ञानपर अवलम्बित होनी चाहिये। यह अविराम तथा निश्चल होनी चाहिये, इसलिये भगवान्की स्तुतिमें 'निश्चला भक्तिरस्तु' की प्रार्थना की जाती है। भगवान्की भक्ति अन्य सांसारिक पदार्थों तथा अपने आत्माके प्रति प्रेमसे कोटिगुनी अधिक होनी चाहिये। हमें केवल सुखमें ही ईश्वरका स्मरण नहीं करना चाहिये; बल्कि महान्-से-महान् आपत्तियोंसे घिरे रहनेपर भी उसकी भक्तिमें चित्त लगाना चाहिये। भवभूतिके शब्दोंमें यह 'अद्वैतं सुखदुःखयोः' होनी चाहिये। ऐसी ही भक्ति मुक्तिको प्राप्त करा सकती है। भगवान् श्रीकृष्णने भी भगवद्गीतामें स्पष्ट कहा है कि 'अनन्य भक्तिके द्वारा ही मैं प्राप्त किया जा सकता हूँ।'

समीक्षा

द्वैतवादके साहित्य तथा सिद्धान्तका परिचय पाठकोंको देकर अब हम समीक्षाकी ओर आते हैं। शङ्कराचार्यके अद्वैतवादके वास्तविक रहस्यको न समझनेके कारण 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' के सिद्धान्तके फलस्वरूप साधारण जनतामें जीवनकी उपेक्षा होने लगी थी। लोगोंने 'जगन्मिथ्या' के वास्तविक अर्थको न समझकर भ्रमसे इस संसारको वास्तवमें असत्य मान लिया। इसका दूषित परिणाम यह हुआ कि जनतामें निराशावादका प्रचार होने लगा तथा जीवनके कर्मक्षेत्रसे हटकर वे ऊपरी वैराग्यसे ही मुक्तिकी आशा करने लगे। इसके फलस्वरूप लोगोंमें अकर्मण्यता फैलने लगी। ऐसे समयमें श्रीमध्वाचार्यने अपने द्वैतमतका प्रचार करके भारतीय जनताका बड़ा ही उपकार किया। आपने यह उपदेश दिया कि जगत् मिथ्या नहीं है बल्कि यह भी सत्य है। संसारमें रहते हुए कर्म करना अत्यन्त आवश्यक है। जिस संसारमें हम रहते हैं, दुःख-सुखका अनुभव करते हैं, वह झूठा कैसे हो सकता है। यह ऐसा उपदेश था, जो तर्कयुक्त होनेके कारण साधारण मनुष्यकी भी समझमें आ सकता था। इस प्रकार जनतामें निराशा तथा अकर्मण्यताके स्थानपर आशा तथा कर्मकी प्रवृत्तिका सञ्चार हुआ। इसके लिये हमें मध्वाचार्यजीका अत्यन्त ऋणी होना चाहिये।

श्रीमध्वाचार्यका दार्शनिक सिद्धान्त न तो चार्वाक-मतकी तरह जड़वादी या भरतवादी है और न शंकरके अद्वैतवादकी तरह आदर्शवादी। द्वैतवादमें उपर्युक्त दोनों मतोंका सामञ्जस्य पाया जाता है और यही इसकी सबसे बड़ी विशेषता है। ब्रह्म तथा जगत् दोनोंकी सत्ताको स्वीकार कर एक ओर तो यह अध्यात्मवादकी ओर झुका है और दूसरी ओर व्यवहारवादकी ओर। साधारण जनताके बुद्धिगम्य तथा तर्कगम्य होनेके कारण इसे 'Commonsense Philosophy' कहें तो कुछ अत्युक्ति न होगी।

इस मतकी दूसरी विशेषता यह है कि भक्तिको मुक्तिका साधन बतलाकर श्रीमध्वने चारों वर्णोंके लिये मोक्षका द्वार खोल दिया। इस प्रकार स्त्रियों तथा शूद्रोंको भी आपने मोक्षका अधिकारी बतलाया है। संक्षेपमें भारतीय समाज तथा भारतीय दर्शनको ये ही आपकी दो प्रधान देनें हैं।

---

[1] माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढस्सर्वतोऽधिकः।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तः।

[2] तथा मुक्तिर्न चान्यथा।

प्रसन्नता

(लेखक—पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम्० ए०, बी० टी०)

प्रसन्नता किसको प्यारी नहीं है। कौन ऐसा व्यक्ति होगा, जो प्रसन्न न होना चाहता हो। कौन ऐसा व्यक्ति होगा, जो प्रसन्न मनुष्यके समीप न ठहरना चाहता हो। हम सभी बालकको प्यार करते हैं। क्यों? इसीलिये न कि बालक उस प्रसन्नतामें रहता है, जो हमें दुर्लभ है। खिला हुआ फूल सबको प्यारा है और मुरझाये हुए फूलका सभी तिरस्कार करते हैं। रोते हुए मनुष्यसे सबका जी ऊब जाता है; हँसते हुएका सभी स्वागत करते हैं। उससे किसीका जी नहीं ऊबता। जिसका मन प्रसन्न नहीं, उसके पास कुछ नहीं और जिसका मन प्रसन्न है, उसके पास सब कुछ है।

प्रसन्नता शक्तिकी परिचायिका है। जिस मनुष्यके अंदर आध्यात्मिक शक्ति है, वही प्रसन्न रह सकता है। प्रसन्नता स्वयं उस शक्तिकी उत्पादिका भी है। जो मनुष्य जितना प्रसन्न रहता है, वह अपना आध्यात्मिक बल उतना ही बढ़ा लेता है। इतना ही नहीं, वह अपनी शारीरिक शक्तिकी भी वृद्धि कर लेता है। मन प्रसन्न रहनेपर शरीरकी अमृत पैदा करनेवाली ग्रन्थियाँ अपना काम भली प्रकारसे करती हैं और शरीरमें उन पदार्थोंका प्रवाह जारी रखती हैं, जिनसे शरीर अक्षय बना रहता है और बढ़ता है। बिरला ही प्रसन्नचित्त मनुष्य रोगी मिलेगा।

प्रसन्नता मानसिक तपसे प्राप्त की जाती है। बालककी प्रसन्नता प्रकृति-दत्त है। पर उसकी प्रसन्नता सहज ही भंग भी हो जाती है। प्रौढ़ मनुष्योंकी प्रसन्नता पुरुषार्थसे उपलब्ध होती है। यह साधनासे आती है। प्रसन्नता प्रतिकूल परिस्थितियोंसे नष्ट नहीं होती। प्रौढ़ लोगोंकी प्रसन्नता ही वास्तविक प्रसन्नता है; क्योंकि वह स्थायी रहती है। इस प्रसन्नताको हम सभी लाभ कर सकते हैं। इसके लिये हमें आध्यात्मिक शक्ति बढ़ानी पड़ेगी।

आध्यात्मिक शक्तिकी वृद्धि उस शक्तिके बढ़ानेके उपायोंको काममें लानेसे हो सकती है। जिस प्रकार शरीरकी शक्ति स्वास्थ्यसम्बन्धी नियमोंका पालन करनेसे बढ़ सकती है, उसी तरह मनकी शक्ति भी आध्यात्मिक जीवनसम्बन्धी नियमोंके पालनसे बढ़ती है। संसारके सभी धर्मग्रन्थोंने इस आध्यात्मिक शक्तिके बढ़ानेके उपाय बताये हैं। भारतीयोंने तो इस विषयका एक विज्ञान ही निर्माण कर दिया है।

आध्यात्मिक शक्तिके सञ्चयके चार उपाय योगवासिष्ठकारने बताये हैं। वे ये हैं—शम, सत्सङ्ग, सन्तोष, और विचार। मनका अनेक प्रकारसे नियमन करना ही शम है; सात्त्विक उपवास, इन्द्रियनिग्रह आदि शमके ही अन्तर्गत हैं। सत्सङ्गसे कुवृत्तियाँ निवृत्त होती हैं और सुप्रवृत्तियाँ सबल होती हैं तथा अनेक प्रकारके सद्विचार मनमें उठते हैं, जो हमारे मनको काबूमें लानेमें सहायता करते हैं। दूसरे व्यक्तियोंका आध्यात्मिक बल हमें अपने आपको सँभालनेमें गुप्तरूपसे सहायता देता है और ज्ञानमें हमारी रुचि बढ़ाता है। सन्तोषसे हमारी शक्तियोंका अपव्यय रुकता है। विचारके द्वारा हम भले-बुरे, सत्-असत्की पहचान करते हैं। मनुष्य विचारके द्वारा अपने आपको ऊँचा उठाकर परमपदको प्राप्त कर लेता है। पशुओं और बालकोंमें विचार करनेकी योग्यता नहीं है; अतएव वे परमपदकी प्राप्ति नहीं कर सकते।

यदि हम एक ही शब्दमें आध्यात्मिक उन्नतिका उपाय बताना चाहें तो इतना ही कहना पर्याप्त है कि सांसारिक विषयोंमें मनका जाना रोकनेसे आध्यात्मिक शक्ति बढ़ती है और सांसारिक विषयोंमें उसके बेरोक-टोक जानेसे उसकी शक्ति घटती है। भगवान् श्रीकृष्ण भगवद्गीतामें कहते हैं—

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥
(गीता २ । ६२-६३)

अर्थात् विषयोंमें रमण करना ही मनुष्यके लिये घातक है। प्रत्येक ऐसे विषयको मनसे हटाते रहना चाहिये, जो प्रसन्नतामें बाधक हों। अपनी हानिपर देरतक नहीं सोचना चाहिये। हानिकी भावना प्रसन्नताका नाश कर देती है। इससे हमारी आध्यात्मिक शक्तिका भी ह्रास होता है। सब प्रकारकी घटनाओंके अच्छे पहलूपर विचार करनेसे मनकी प्रसन्नता बनी रहती है। संसारकी प्रत्येक घटनाके दो पहलू होते हैं। जिस मनुष्यका मन घटनाके बुरे पहलूकी ओर चला जाता है, वह अपनी प्रसन्नताको अपने ही हाथों नष्ट कर डालता है। इसके विपरीत जिसका मन अच्छे पहलूपर चला जाता है, वह अपने आपको प्रसन्न बनाये रखता है। प्रत्येक प्रकारकी हानिसे मनुष्यका कुछ-न-कुछ लाभ होता है और प्रत्येक लाभसे कुछ-न-कुछ हानि होती ही है। हानिकारक घटनाओंमें लाभको ढूँढ़ निकालना बुद्धिमानीका काम है। यदि कोई लाभ प्रत्यक्ष न दिखायी दे तो हमें यह समझना चाहिये कि उसका लाभ तत्काल अप्रत्यक्ष है, पीछे प्रत्यक्ष हो जायगा।

प्रसन्नता एक संक्रामक पदार्थ है। जिस तरह रोग संक्रामक होता है, उसी तरह स्वास्थ्य भी संक्रामक होता है। रोगी मनुष्य अपने रोगका प्रचार आस-पास रहनेवालोंमें करता है; इसी प्रकार स्वस्थ मनुष्यको देखकर दूसरे लोग भी स्वस्थताका अनुभव करने लग जाते हैं। प्रसन्नताका भी यही हाल है। शारीरिक विकार उतने संक्रामक नहीं होते, जितने मानसिक विकार होते हैं। एक रोगी मनुष्यको देखकर दूसरा तुरंत रोगी नहीं हो जाता, पर एक दुखी मनुष्यको देखकर दूसरेका हृदय भी दुःखसे भर जाता है। इसी तरह प्रसन्नचित्त अथवा हँसते हुए लोगोंके समाजमें जाकर हम भी प्रसन्न हो जाते अथवा हँसने लगते हैं।

इस तरह हम देखते हैं कि मनुष्य अपने-आप प्रसन्न रहकर अनायास परोपकार करता है। अंग्रेजी लेखक स्टिवेन्सन (Stevenson) का कहना है कि प्रसन्नचित्त मनुष्यका मिलना पाँच पौंडके नोटके मिलनेसे अधिक लाभदायक है (A happy man or a woman is a better thing to meet than a five pound note)। मनुष्य जो काम प्रसन्नताकी अवस्थामें करता है, उसीसे दूसरोंका वास्तविक लाभ होता है। बरबस चिढ़कर किये गये कामसे कोई लाभ नहीं होता। यदि कोई मनुष्य बाध्य होकर दान देता है तो ऐसा दान उसका कोई कल्याण नहीं करता। प्रसन्नतासे दिया दान ही दोनों पक्षोंका कल्याण करता है। प्रसन्नताकी अवस्थामें जो कार्य किया जाता है, वह त्रुटिहीन रहता है। यदि कोई ऐसा काम करते समय भूल हो भी जाती है तो वह तुरंत दिखायी दे जाती है। किन्तु अप्रसन्नताकी अवस्थामें किये गये कार्यमें ऐसी अनेक त्रुटियाँ रह जाती हैं, जो काम करते समय हमें दिखायी नहीं देतीं। मनुष्यको अपने ऊपर उतनी ही जिम्मेदारी लेनी चाहिये; जितनी वह प्रसन्नतासे उठा सके।

अप्रसन्नता आध्यात्मिक और शारीरिक दोनों प्रकारकी शक्तियोंका ह्रास करती है। निराशावादी पुरुष सदा आत्मघात करता रहता है। इसी तरह क्रोधी भी अपनी सारी मानसिक शक्तिका नाश कर डालता है। ऐसे लोगोंका शरीर भी रोगग्रस्त हो जाता है। वे थोड़े ही कालमें अपनी जीवन-यात्रा समाप्त कर डालते हैं। निराशा और क्रोध दोनों ही मनुष्यके लिये घातक है। इन दोनोंका घनिष्ठ सम्बन्ध है। क्रोधका लक्ष्य दूसरेका विनाश करना है और निराशाका आत्मविनाश। क्रोध ही कुछ कालके बाद निराशामें परिणत हो जाता है।

मनुष्यको चाहिये कि वह सदा ऐसे वातावरणमें

अपने आपको रखे, जिसमें उसके मनकी प्रसन्नता नष्ट न हो। उसे क्रोधी, निराशावादी, नुक्ताचीनी करनेवाले, तथा ईर्ष्यालु लोगोंसे बचना चाहिये। उसे त्यागी और परोपकारी पुरुषोंसे संपर्क बढ़ाना चाहिये। यदि उसे ऐसे पुरुषोंका सत्सङ्ग प्राप्त न हो तो उसे अपना समय उनके विचारोंका मनन करनेमें बिताना चाहिये। सदाचारी पुरुषोंके विचार पुस्तकोंमें पाये जाते हैं। हम जिस समय किसी महात्माके विचार किसी पुस्तकद्वारा प्राप्त करते हैं, उस समय हम उसके सत्सङ्गका ही लाभ करते हैं। महात्मागण सदा प्रसन्नचित्त रहते हैं और अपनी मानसिक अवस्थाका प्रभाव दूसरोंपर अनायास ही डालते रहते हैं।

भूखा मनुष्य प्रसन्नचित्त नहीं रह सकता। प्रसन्नता क्षुधा-शान्तिकी परिचायिका है। वह पूर्णताके अनुभवका परिणाम है। अतएव जो मनुष्य अनेक प्रकारके पदार्थोंका इच्छुक है, वह कदापि प्रसन्नचित्त नहीं रह सकता। बिना मनकी भूखको शान्त किये प्रसन्नता नहीं आती। यह भूख शरीरकी भूखके समान नहीं है। शारीरिक भूख भोजनकी प्राप्तिसे शान्त होती है, मनकी भूख विषयोंके प्राप्त होनेसे और भी बढ़ती है। यह ज्ञान-वैराग्यसे ही शान्त होती है। मनका भटकना जबतक जारी है, तबतक प्रसन्नताके दर्शन नहीं होते। जब मन आत्मामें ही रमण करने लगता है, तब उसकी स्वाभाविक प्रसन्नता फूट पड़ती है।

मानस-शङ्का-समाधान

(लेखक—रायसाहब पं० श्रीअयोध्याप्रसादजी पाठक)

सिन्धुके तटपर कपिगण एकत्रित हैं और जगज्जननी श्रीजानकीजीकी खोजके लिये समुद्र लाँघनेकी आपसमें सलाह हो रही है। श्रीअङ्गदजी यों कहते हैं—

अंगद कहइ जाउँ मैं पारा। जियँ संसय कछु फिरती बारा॥

यहाँ यह कहा जाता है कि श्रीअङ्गदजीको लौटनेके विषयमें कुछ शङ्का थी। वे समझते थे कि मैं समुद्र-पार चला तो जाऊँगा; परन्तु उधरसे लौटनेमें उन्हें शङ्का थी। क्यों शङ्का थी? इसके बारेमें कई बातें कही जाती हैं, जैसा कि 'मानस-शङ्का-समाधान' शीर्षक लेखमालामें स्व० दीनजीने व्याख्या की है। उनके अतिरिक्त मेरे कुछ और भी विचार हैं, जिनको मैं निम्नलिखित पंक्तियोंमें प्रकट करनेका साहस करता हूँ।

जहाँतक मेरी समझमें आया है, 'संसय' शब्दका अर्थ यहाँ 'भय' लेना चाहिये और 'फिरती बारा' कहकर अङ्गदजी समुद्र-पारसे लौटनेका संकेत न करके उस समयके लिये कह रहे हैं जब कि वे लौटकर सरकारकी सेवामें उपस्थित होंगे। वैसे तो मानसमें शङ्काका कोई स्थान ही नहीं है—यदि कोई स्थल ऐसा आ भी जाता है तो उसी प्रसङ्गके ऊपर या नीचेकी कुछ चौपाइयोंको पढ़नेसे वह बात स्पष्ट हो जाती है। उदाहरणतः इसी प्रसङ्गमें श्रीजाम्बवंतजी कहते हैं—'पठइअ किमि सबही कर नायक'—जो सबके सरदार हैं, उन्हें कैसे भेजा जाय? सरदारकी अनुपस्थितिमें यदि और कोई बात खड़ी हो जाय तो उसका जिम्मेदार कौन हो; फिर बिना सरदारके फौजका क्या हाल होता है—यह भी सबको विदित ही है।

अङ्गदजीने देखा कि आज्ञा तो मिली है श्रीरामदास हनुमान्‌जीको, कार्य-भार भी उन्हींको सौंपा गया है और वही चुप बैठे हैं। बिना सरकारी आज्ञाके अङ्गदजी जा नहीं सकते थे। जिन सरकारकी आज्ञाके बिना एक पत्ती भी नहीं हिलती, उनकी आज्ञाके विरुद्ध अङ्गदजी कैसे चल सकते थे। इसी परेशानीमें अङ्गदजीने उपर्युक्त वचन कहे थे, जैसा कि उस प्रसङ्गकी और भी चौपाइयोंसे ज्ञात होता है।

अङ्गदजीने सोचा कि मुद्रिकारूप निशानी भक्तराज हनुमान्‌जीको दी गयी; जो कुछ सँदेसा कहना था, वह भी उन्हींको बतलाया गया और चलते समय भी श्रीसरकारने हनुमान्‌जीसे ही कहा—

बहु प्रकार सीतहि समुझाएहु । कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आएहु ॥

यह सब हो चुकनेपर श्रीअङ्गदजी स्वयं समुद्र-पार जानेका साहस कैसे कर सकते थे । भक्तराज अञ्जनीकुमार उस निशानी—'मुद्रिका' को लेकर जाते हैं और मातेश्वरी उसको पाकर भी 'फिरि बैठीं मन बिसमय भयऊ ।' इसपर श्रीपवनकुमारको शपथ खानी पड़ती है—'राम दूत मैं मातु जानकी । सत्य सपथ करुनानिधान की ।' इतनेपर भी जिरह होती है—'नर बानरहि संग कहु कैसें ।' अब सोचा जा सकता है कि यदि श्रीअङ्गदजी वहाँ चले भी जाते तो उनपर कैसी बीतती । जब माता जानकीजी उनपर विश्वास ही नहीं करतीं, तब वे उन्हें सरकारके लिये वह संदेश कैसे भेजतीं, जो उन्होंने हनुमान्‌जीके द्वारा भेजा । और जब यह सब काम ही नहीं होता, तब अङ्गदजी लौटकर अपनी फौजको या और किसीको क्या मुँह दिखाते ? सच तो यह है कि ऐसी दशामें उनका लौटकर आना भी सन्देहयुक्त ही था । बल्कि कदाचित् कुछ काम बिगड़ जाता, तब तो स्थिति और भी भयानक हो जाती । यह क्यों ? यह इसलिये कि पहले तो उनको आज्ञा ही नहीं थी । आज्ञा-पालन ही स्वामीकी सबसे बड़ी सेवा है, जैसा कि कहा है—'अग्या सम न सुसाहिब सेवा ।' लोग यही कहते कि कार्यभार तो दूसरेको सौंपा गया और इन्होंने बीचमें ही 'मान, न मान—मैं तेरा मेहमान' की तरह टाँग अड़ा दी और काम बनाना तो एक तरफ रहा, उलटा उसे बिगाड़ दिया । ऐसी दशामें कौन किस प्रकार सरकारके सामने जाता, यह विचारनेकी बात है; और इस परिणामको सोचकर अङ्गदका भयभीत होना स्वाभाविक ही था ।

उसी 'मानस-शङ्का-समाधान' शीर्षक लेखमालामें एक स्थानपर यह भी कहा गया है कि श्रीरामदास हनुमान्‌जीने, जिनको श्रीसीताजीकी खोजका कार्य सौंपा गया था, परिस्थितिवश लङ्का जला डाली । यह काम उन्होंने बिना ही आज्ञाके किया था, इसलिये उनके मनमें कुछ भय था । इसीलिये वे सरकारके सामने उस समयतक चुप बैठे रहे जबतक कि जाम्बवान्‌ने सारा हाल नहीं कह दिया । जब उन्हें यह यकीन हो गया कि सरकार उनसे असन्तुष्ट नहीं हैं, बल्कि प्रसन्न हैं, तब उन्होंने अपनी जबान खोली—'प्रभु प्रसन्न जाना हनुमाना । बोला बचन बिगत अभिमाना ॥' ऐसी दशामें बिना प्रभुकी आज्ञाके यदि अङ्गद जाते तो कार्यमें कुछ गड़बड़ी अवश्य होती, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है । श्रीमातेश्वरीका इनपर विश्वास होना कठिन था । इन सब बातोंको देखते हुए अङ्गदजीका यह कहना कि 'जियँ संसय कछु फिरती बारा' बिल्कुल ठीक ही था । रही समुद्र लाँघनेकी बात, सो उसे तो बहुत लोग लाँघ सकते थे और हुआ भी ऐसा ही । यथा—

सेतुबंध भइ भीर अति कपि नभ पंथ उड़ाहिं ।
अपर जलचरन्हि ऊपर चढ़ि चढ़ि पारहि जाहिं ॥

इस दोहेसे साफ जाहिर है कि भीड़के कारण बहुत-से बंदर आकाशमार्गसे (यानी छलाँग मारकर) उस पार पहुँच गये । तब श्रीअङ्गदके ही आने-जानेमें कौन-सी शङ्का हो सकती थी ।

उपर्युक्त कथनसे यह मालूम होता है कि अङ्गदजीको लौटते समय सरकारके सामने जवाबदेहीका डर था; इसीको उन्होंने 'जियँ संसय कछु फिरती बारा' कहकर प्रकट किया था । इन्हीं अङ्गदजीको जब सरकार रावणके दरबारमें जानेकी आज्ञा देते हैं—केवल आज्ञा ही नहीं, बल्कि बात करनेकी पूरी स्वतन्त्रता भी देते हैं, यथा —

काजु हमार तासु हित होई । रिपु सन करेहु बतकही सोई ॥

—उस समय श्रीअङ्गदजी इसके विपरीत किस उमंगसे चलते हैं—

बंदि चरन उर धरि प्रभुताई । अंगद चले सबहि सिरु नाई ॥
प्रभु प्रताप उर सहज असंका । रन बाँकुरा बालिसुत बंका ॥

उपर्युक्त पंक्तियोंसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सरकारकी आज्ञा ही प्रधान है, जिसके बिना अङ्गदजी

एक स्थानपर डरते हैं और जिसके मिल जानेपर दूसरे स्थानपर वे निःशङ्क हो जाते हैं ।

यहाँ एक प्रश्न और उठता है कि 'यदि अङ्गदजीमें समुद्र लाँघनेकी सामर्थ्य थी तो फिर उन्हें आज्ञा क्यों नहीं दी गयी ?' इसके उत्तरमें इतना ही कह देना मेरी समझसे पर्याप्त होगा कि प्रभु नर-लीला (नाटक) कर रहे हैं । उस नाटकमें क्या-क्या होना है और किसको कौन पार्ट करना है—यह सब पहलेसे निश्चित था । तब एकका पार्ट दूसरेको कैसे दिया जा सकता था । श्रीदीनजीकी 'मानस-रहस्य' नामक पुस्तकमें एक स्थानपर आया है कि जब रावण मारीचके यहाँ चलनेको हुआ, तभी प्रभुने श्रीसीताजीको समझाकर अग्निमें प्रवेश करा दिया और उन्हींकी छाया-मूर्ति अपने पास रख छोड़ी । इस रहस्यको श्रीलखनलाल भी न जान सके । यह सब उन्होंने इसी अभिप्रायसे किया कि 'मैं कछु करबि ललित नर लीला ।' नहीं तो सरकारको दूर जानेकी क्या आवश्यकता थी । वे चाहते तो करीबमें ही मारीचको मार डालते और जल्दीसे आकर रावणकी भी गति बना डालते । परन्तु यहाँ तो नाटकका प्लाट पहले ही बन चुका था । उसी क्रमसे सारी लीला हो रही थी । जिन-जिन देवताओंको जो-जो पार्ट दिया गया था, वे सब वानर-वेष बनाकर उस-उस पार्टको करनेके लिये आ गये । अतएव जो पार्ट अङ्गदजीका था, उसे अङ्गदजीने किया और जो श्रीहनुमान्‌जीका था, उसे हनुमान्‌जीने किया । एकका पार्ट दूसरा कैसे कर सकता था ।

नर-लीलाकी दृष्टिसे श्रीअङ्गदजीका प्रभुसे क्या नाता था तथा वह संदेश क्या था, जो उन्होंने हनुमान्‌जीको दिया था—यह जानना आवश्यक है ।

अङ्गदजी प्रभुसे एक स्थानपर कहते हैं—'मरती बेर नाथ मोहि बाली । गयउ तुम्हारेहि कोंछें घाली ॥' इसका तात्पर्य यह है कि मरते समय बाली श्रीअङ्गदजीको प्रभुकी गोदमें डाल गया था अर्थात् बालीकी मृत्युके बाद स्वयं सरकार अङ्गदजीके पितृस्थानीय रहे । इस प्रकार सरकार और अङ्गदजीमें पिता-पुत्रका नाता रहा।

अब वह सन्देश, जो हनुमान्‌जीको माता जानकीजीके पास ले जानेके लिये दिया गया था, क्या था—थोड़ा इसपर भी ध्यान देना है—

कहेउ राम बियोग तव सीता ।
मो कहुँ सकल भए बिपरीता ॥
नव तरु किसलय मनहुँ कृसानू ।
कालनिसा सम निसि ससि भानू ॥
कुबलय बिपिन कुंत बन सरिसा ।
बारिद तपत तेल जनु बरिसा ॥
जे हित रहे करत तेइ पीरा ।
उरग स्वास सम त्रिबिध समीरा ॥

……………………………………

तत्त्व प्रेम कर मम अरु तोरा ।
जानत प्रिया एकु मनु मोरा ॥
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं ।
जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं ॥

उपर्युक्त चौपाइयोंमें विप्रयोग-शृङ्गार कूट-कूटकर भरा है । क्या किसी पुत्रसे यह आशा की जा सकती है कि वह इन शब्दोंमें अपने पिताका सन्देश अपनी मातासे कहे ? और क्या पिता अपने पुत्रकी जबानी ऐसा सन्देश अपनी प्रियतमाके पास भेज सकता है और क्या माता अपने पुत्रके मुखसे ऐसे शब्द सुन सकती है ? कदापि नहीं । ऐसी परिस्थितिमें अङ्गदजी भगवान्‌का सन्देश लेकर जानकीजीके पास कैसे जा सकते थे ? यदि चले भी जाते और कदाचित् ऐसे वचन श्रीमाताजीसे कहते तो उसका जवाब क्या कोई भला-सा मिलता ? और उस जवाबको पाकर क्या श्रीअङ्गदजी सरकारके सम्मुख जा अपना मुँह दिखला सकते थे ? कदापि नहीं ।

देवीभक्ता श्रीहरिकुँअरके जीवनकी एक झाँकी

(लेखक—पं० श्रीमूलशङ्करजी शास्त्री, वेदान्ताचार्य)

[इस विकट कलिकालमें भी लोक-कल्याणके लिये भक्तोंका समय-समयपर आविर्भाव होता है। उनमें माता हरिकुँअरके रूपमें एक विशिष्ट देवीभक्ताका बड़ा ऊँचा स्थान है। इनका जन्म कच्छ-प्रान्तमें एक विख्यात कुलीन ब्राह्मणके घर हुआ था और विवाह काठियावाड़ प्रान्तके मोरवी नगरमें एक समानजातीय उच्च ब्राह्मण-घरानेमें। इनके एक पुत्र और एक पुत्री हुई, जो अभी विद्यमान हैं। थोड़ी ही अवस्थामें इन्होंने अनेकोंको भक्ति-रसका पाठ पढाकर, अनेकोंका कष्ट दूर कर और अनेकोंको विचित्र चमत्कारोंसे चकित कर देवी-सायुज्य प्राप्त किया। कल्याणके भक्तिप्रिय पाठकोंको उनके जीवनकी झाँकीसे अवश्य आनन्द होगा।]

उपक्रम

गुजरात, कच्छ और काठियावाड़में माता श्रीअम्बाजीके अनेक भक्त हैं। नवरात्रमें तो इनका उत्सव देखते ही बनता है। आबू पहाड़के एक हिस्सेमें, जो दाँता स्टेटके अन्तर्गत है, श्रीअम्बाजीका भव्य मन्दिर है। बी० बी० एण्ड सी० आई० रेलवेके 'आबूरोड' स्टेशनसे करीब बारह मीलकी दूरीपर यह पड़ता है। अम्बाजी जानेके लिये उक्त स्टेशनसे मोटर-लारीकी नियमित व्यवस्था है। श्रीअम्बाजीका स्थान अत्यन्त सिद्ध है; दर्शनसे बड़ी शान्ति मिलती है।

देवीभक्ता श्रीहरिकुँअरके पिता आदि भी अम्बाजीके ही उपासक थे। अतएव जन्म-कालसे ही इनकी विशुद्ध मनोवृत्तिका स्रोत श्रीअम्बाजीकी ओर बहने लगा। वह यहाँतक बढ़ा कि जब ये उनका ध्यान लगाती थीं, तब इन्हें बाह्य वस्तुका कुछ भी भान नहीं रहता था। ऐसी घंटोंतक इनकी अवस्था बनी रहती थी। घरका दूसरा काम करते समय भी यदि इनके सामने कोई 'गरबा' (गुजराती भाषाका एक विशेष स्तुति-गीत) गाने लगता तो इनकी अवस्था तुरंत ही बदल जाती थी।

विवाहके बाद ससुरालमें जानेपर इनकी इस प्रकारकी वृत्तिका कुछ ही दिनोंमें वहाँके लोगोंको पता चल गया। कुछके मनमें यह बात खटकी; परन्तु इनके पति, जिनका नाम श्रीभाईशङ्कर है और जो अच्छे व्यापारी हैं, इनके भक्तिभावसे बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने इनसे यहाँतक कह डाला कि 'अबसे मैं श्रीअम्बाजीके बदले तुम्हारी ही भक्ति करूँगा, क्योंकि परमार्थतः तुममें और श्रीअम्बाजीमें मैं तनिक भी अन्तर नहीं देखता। इस घरमें जो कुछ है, सब श्रीअम्बाजीका ही है; उनकी पूजाके लिये जिन-जिन वस्तुओंकी आवश्यकता हो, बेखटके उनका उपयोग करो। मेरी पूरी सम्मति है।' पतिके इन वाक्योंसे उनको अपनी उपासनामें और अधिक सहायता मिली; क्रमशः इनका प्रभाव सुनकर अनेक भक्तजन इनका दर्शन करने आने लगे और आशीर्वाद चाहने लगे।

इनके पतिका व्यवसाय झरियामें था, अतएव उनको मोरवी छोड़कर झरियामें आना पड़ा। इनके साथ रहनेसे पतिके व्यवसायमें आशातीत उन्नति हुई; पतिको दृढ़ विश्वास हो गया कि यह इनकी उपासनाका फल है। फिर क्या था, सारी आमदनी वे जगज्जननीके सेवार्थ इन्हींको सौंपने लगे।

उपदेश और कार्य-क्रम

झरियामें आते ही भक्ता हरिकुँअरने अपने घरमें श्रीअम्बाजीकी एक यन्त्रमयी मूर्तिकी प्रतिष्ठा की। मोरवीकी तरह यहाँ भी इनकी प्रसिद्धि धीरे-धीरे होने लगी और दर्शनार्थ पहले स्त्री-समाज जुटने लगा। उनमें दो-तीन तो ऐसी वृद्धा स्त्रियाँ थीं, जिन्होंने इनको बाल्यावस्थामें गोदमें खेलाया था। उन्होंने जब इनकी यह अवस्था देखी, तब तो अपनी उत्तरावस्थाको सफल बनानेके लिये सारे दिन इनकी परिचर्यामें रहना अपना कर्तव्य बना लिया। वे बड़ी दूरसे प्रतिदिन इनके

यहाँ आती थीं। पुरुषवर्गमें भी इनका प्रभाव खूब बढ़ा और क्या धनी, क्या गरीब, क्या मुसल्मान, क्या हिंदू, क्या क्रिश्चियन—सभी दर्शनार्थ आने लगे। प्रतिदिन ये कब सोती थीं और कब उठती थीं, इसका ठीक-ठीक पता घरवालोंको भी प्रायः नहीं लगता था। घरवालोंके सोनेके समय वे देवीजीकी उपासना करती जागती हुई पायी जाती थीं और उठनेके समय स्नानादिसे निवृत्त हुई पूजा करती देखी जाती थीं। इनका कार्य-क्रम यह था कि प्रातः ब्राह्ममुहूर्तसे लेकर ग्यारह बजेतक श्रीअम्बाजीके अर्चन, ध्यान आदिमें व्यस्त रहती थीं; फिर घरके कार्यमें लगती थीं और अपने पतिदेवके लिये आवश्यक भोजन-सामग्री एवं श्रीअम्बाजीके लिये भोग-सामग्री आदि तैयार करती थीं। इन सब कार्योंसे अपराह्णके तीन बजेतक निवृत्त होकर पुनः मन्दिरमें प्रविष्ट हो जाती थीं। चार बजेके अनन्तर स्त्रीमण्डल आ जाता था; उनसे ये गरवा गवातीं और उन्हें उपदेश देती थीं कि 'जब भी घरका कार्य पूरा हो जाय, तभी आपलोगोंको श्रीअम्बाजीके भजनमें लग जाना चाहिये। श्रीअम्बाजी आपलोगोंके सभी मनोरथ पूर्ण करेंगी। शास्त्रोंमें भी कहा है—

'कलौ चण्डीविनायकौ'

अर्थात् 'कलियुगमें भगवती जगज्जननी श्रीअम्बाजीकी और पार्वतीनन्दन गजाननकी उपासना शीघ्र ही फल देती है—चाहे वह फल मोक्ष हो या अन्य किसी प्रकारका हो।' ऐसे उपदेशके समय एक स्त्रीने उनसे पूछा—'माँ! मैं तो शिवजीकी उपासना करती हूँ, क्या उसे छोड़ दूँ?' इसका उन्होंने उत्तर दिया—'अरे पगली! छोड़नेकी क्या आवश्यकता है? जो तुम रोज आरती गाती हो, उसे क्या भूल गयीं? उसमें आता है न—

'ए वे एकस्वरूप अन्तर नव धरशो'

अर्थात् 'भगवान् कैलासवासी श्रीसदाशिव और जगज्जननी सिंहवाहिनी श्रीअम्बाजी—'दोनों एकस्वरूप हैं, उनमें कोई अन्तर मत समझना।' अतः तुम जो सदाशिवको भजती हो, उसका अर्थ सिंहवाहिनी श्रीअम्बाजीको भजना ही है।'

तुम सब लोगोंकी अपेक्षा यह पहले ही बाजी मार लेगी।

एक पाश्चात्त्य रंगमें रँगी महिला थी। भक्ताके रूपमें स्त्री-समाजमें इनकी महती प्रतिष्ठा सुनकर उसको इनके दर्शनकी प्रबल इच्छा हुई, परन्तु अपने स्वरूपका स्मरण कर उनके पास जानेमें उसे बड़ा भय लगता था। एक बार तो इनके मकानकी सीढ़ीपर चढ़कर नीचे उतर आयी, भीतर जानेका साहस नहीं हुआ। उसने शायद यह सोचा होगा कि मेरे-जैसी तुच्छ महिलाके जानेसे उनका स्थान अपवित्र हो जायगा। अपनी स्वच्छन्द प्रवृत्तिके विषयमें पश्चात्ताप करते हुए उसने विचारा कि आखिर किया क्या जाय? उसे एक तरकीब सूझी; अपनी पड़ोसिनसे, जो प्रतिदिन वहाँ जाया करती थी, उसने कहा—'बहिन! तुम प्रतिदिन नियमितरूपसे भक्ता हरिकुँअरके यहाँ जाती हो; दयाकर यदि मेरे लिये श्रीअम्बाजीका चरणोदक ले आया करो तो मैं बड़ी उपकृत होऊँगी। उसका पान करनेसे मेरे चित्तको प्रचुर मात्रामें शान्ति मिलेगी।' पड़ोसिनने उस महिलाकी सारी कथा भक्ता हरिकुँअरसे कही। सुननेके बाद मुसकराकर उन्होंने सबके सामने कहा—'अच्छा, प्रतिदिन उसके लिये तुम माताजीका चरणोदक ले जाना; पर याद रखना, देवीजीके दरबारमें तुम सब लोगोंकी अपेक्षा वह पहले बाजी मारेगी।' कुछ दिनोंके अनन्तर उसने जानेका निश्चय किया और भक्ता हरिकुँअरके यहाँ जा पहुँची। उस समय सैकड़ों स्त्रियाँ मिलकर 'जय अम्बे'की धुन लगा रही थीं। वह भी एक कोनेमें जाकर चुपचाप बैठ गयी। उस धुनमें वह महिला इतनी तन्मय हो गयी कि उसे बाहरकी तनिक भी सुध-बुध न

रही और वह भावावेशमें सारा होश-हवास खो बैठी । सहसा सबका ध्यान उसकी ओर चला गया; भक्ता हरिकुँअर भी गयीं और उसके माथेपर हाथ रखकर कहने लगीं—'कोई घबराये नहीं, मैंने तुमलोगोंसे पहले ही कहा था, तुमलोगोंकी अपेक्षा यह पहले बाजी मारेगी ।' सुनते हैं, वह महिला किसी तीर्थक्षेत्रमें रहकर भक्तियुक्त जीवन व्यतीत करती है ।

यद्यपि भक्ता हरिकुँअरका अधिकतर समय श्रीअम्बाजीकी सेवामें ही बीतता था, तथापि स्वामीके प्रति उनकी निष्ठामें कुछ भी कमी नहीं आयी । एक बार उनके पति कुछ दिनोंके लिये बीमार पड़े; इस कारण उन्हें इन दिनों श्रीअम्बाजीकी उपासनाके लिये उतना समय नहीं मिलता था, जितना पहले मिलता था । जो कुछ थोड़ा-बहुत समय मिलता था, उसमें वे श्रीअम्बाजीकी पूजा करनेके बाद आयी हुई स्त्रियोंको पति-सेवाका उपदेश देती थीं । वे कहती थीं—'स्त्रियोंके लिये सुखी बननेका सर्वोत्तम उपाय पति-सेवा ही है; जो स्त्री पति-सेवासे अपना मुँह मोड़ लेती है, उसपर जगज्जननी या जगत्-पिता कभी प्रसन्न नहीं होते, बल्कि उसे दु:ख-सागरमें ही डालते हैं ।' इस सिलसिलेमें वहाँपर उपस्थित एक महिलाने, जिसके स्वामी रोगशय्यापर थे, रोते हुए कहा—'माँ ! मेरे पति अत्यधिक बीमार हैं । आपने हालमें उपदेश दिया था कि स्त्रियोंका सबसे बड़ा धर्म पतिसेवा है; अत: अन्य उपायोंसे हारकर मैं आपसे उनके आरामके लिये आशीर्वाद चाहती हूँ, आपके आशीर्वादसे मेरे पतिदेव अवश्य अच्छे हो जायँगे ।' यह सुनकर उन्होंने हँसकर कहा—'बहिन ! तुम्हारे पतिके स्वास्थ्यके लिये मैं भगवतीसे प्रार्थना करती हूँ और अपने पतिके विषयमें उनसे प्रारब्ध-भोग करानेके लिये कहती हूँ ।' इनके आशीर्वादसे उसके पतिकी देह स्वस्थ हो गयी । उस महिलाके पति स्वस्थ होनेके बाद प्रतिदिन हरिकुँअरका दर्शन करने आया करते थे; उनको इनके दूसरे आशीर्वादसे सन्तान भी हुई, जो अभी जीवित है । उन महाशयके घरमें भी जगदम्बाकी धुन लगती है । इस प्रकारकी अनेक विचित्र घटनाओंकी प्रत्यक्ष अनुभूति लोगोंको हुई है, विस्तारभयसे यहाँ उन सबका उल्लेख नहीं किया जाता ।

माता हरिकुँअर जिस समय भावावेशमें रहती थीं, उस समय उनकी आकृतिमें क्षण-क्षण परिवर्तन होता दीख पड़ता था । अनेक कुशल फोटोग्राफरोंने कुछ ही क्षणोंके अन्तरसे उनके अनेक फोटो लिये, सभीमें कुछ-न-कुछ अन्तर प्रतीत होता था । अनजान व्यक्तिको कभी पता न लगता कि ये सब एक ही व्यक्तिके चित्र हैं । इन सब कारणोंसे उनके यहाँ आने-जानेवाले मनुष्योंमें अधिकतर यही भावना बनी रही कि श्रीहरिकुँअर साधारण मानवी नहीं हैं, किन्तु साक्षात् श्रीअम्बाजीका अवतार ही हैं ।

भक्ता हरिकुँअरके इहलौकिक लीला संवरण करनेके पहले एक बड़े महत्त्वकी घटना घटी थी । वह इस प्रकार है—अपराह्णमें चार बजेके अनन्तर जब वे 'जय अम्बे' की धुन लगाती थीं, ठीक उसी समय कुछ दिनोंसे एक सुग्गा आ जाता था और एक ऊँची जगह बैठ जाता था । जबतक उक्त धुन चलती रहती, तबतक वह चुपचाप एकाग्र मन होकर बैठा रहता । धुन समाप्त होनेपर वह भी 'जय अम्बे' कहता हुआ उड़ जाता था । मौका देखकर घरके लड़कोंने उसे पकड़कर पिजड़ेमें बंद कर दिया । जब-जब वह सुग्गा इन्हें देखता तब-तब बड़े आनन्दसे 'जय अम्बे' कहना शुरू कर देता था । एक बार सभामें उन्होंने कहा—'यह सुग्गा हमें इस प्रपञ्चात्मक संसारसे दूसरे संसारके लिये निमन्त्रण देने आया है, हमारा स्थान वहाँके लिये रिजर्व हो गया है ।' यह सुनकर बहुत-से लोग रोने

लगे । रोनेवालोंको सम्बोधित कर उन्होंने कहा—‘जो अवश्यम्भावी है, उसके लिये रोना निरर्थक है; श्रीअम्बाजीका ध्यान करिये । कुछ दिनोंके अनन्तर वह सुग्गा उन्हीं लड़कोंके हाथसे खेलवाड़ करते समय उड़ गया । जब यह बात उन्हें माल्म हुई, तब उन्होंने संकोच छोड़कर घरवालों एवं अन्य आप्तजनोंको कह दिया कि ‘इस शरीरका सुग्गा (जीव) थोड़े ही दिनोंमें चला जायगा; पिंजड़ेमें बंद देखकर उसके साथ आपलोगोंने बड़ा खेल किया है । अब ऊब गया है ।’ इन वाक्योंको सुनकर सभी लोग चिन्तित हुए । आखिर उनका शरीर अस्वस्थ हुआ और अनेक उपाय करनेपर भी उसपर किसीका बस नहीं चला । तैंतीस वर्षकी छोटी अवस्थामें इस प्रकार अम्बाजीकी निर्मल भक्तिका प्रसार करके ‘जय अम्बे’ का उच्चारण करते हुए उन्होंने झरियामें ही इहलीलाका संवरण कर देवीसायुज्यको प्राप्त किया । विभिन्न सम्प्रदायोंके हजारों नरनारियोंने शोकाश्रुओंसे पृथ्वीको पङ्किल बना दिया ।*

इस समय भी उनके बतलाये हुए मार्गपर चलनेवाले हजारों नर-नारी हैं । अन्त समयमें लिया हुआ इनका चित्र इतना भव्य और भावमय है कि किसी भी ओरसे—किसी भी दिशासे—उसे क्यों न देखा जाय, उसी ओर उनकी करुणामयी भव्य दृष्टि देखनेवालोंको प्रतीत होती है । माल्म पड़ता है अभी हँस पड़ेंगी ।

कल्याणके शक्ति-अङ्कमें मोरवीके जिस बहुचरी और श्रीअम्बाजीके मन्दिरको लेकर विस्तारसे लिखा गया है, उस मन्दिरके संस्थापक और उपासक लोग इन्हींके कौटुम्बिक थे । यों तो इनके पतिकुल तथा पितृकुल—उभय कुलोंमें अनेकों विशिष्ट देवी-भक्त होते आये हैं; परन्तु इन्होंने तो अपनी भक्तिसे उन सबमें शीर्षस्थान पा लिया । इनकी प्रतिष्ठापित यन्त्रात्मक मूर्तिका अद्यावधि इनके कुटुम्बीजन उसी तरह भक्ति और श्रद्धापूर्वक अर्चन आदि करते हैं ।

जिन मित्रोंने भक्ता श्रीहरिकुँअरके जीवनकी झाँकीको लिपिबद्ध करनेमें हमारी सहायता की है, उन सबके प्रति कृतज्ञता-प्रकाश करता हुआ विरत होता हूँ । बोलिये प्रेमसे ‘श्रीअम्बा भवानीकी जय ।’

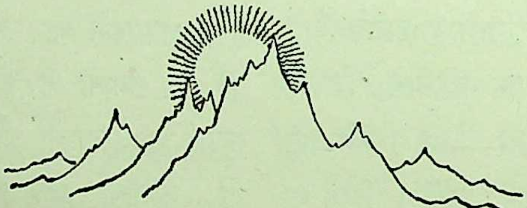

---

* प्राण-प्रयाण-कालकी एक घटना, जो वहाँपर बैठे हुए सहस्रों नर-नारियोंके सामने घटी थी, विशेष उल्लेखनीय है । उस समय सैकड़ों नर-नारी ‘जय अम्बे’ की धुन, श्रीदुर्गाजीका पाठ, श्रीमद्भागवतका पाठ और श्रीगीताजीका पाठ कर रहे थे । उनके सुपुत्र श्रीगङ्गाजलका पान समय-समयपर कराते थे । जब ठीक अन्तकाल उपस्थित हुआ, उस समय ‘जय अम्बे’ की ध्वनिके साथ नाभिचक्रसे प्राणवायुका ऐसे जोरसे निष्क्रमण हुआ कि गङ्गाजल जो मुखमें दिया जा रहा था, मुखद्वारा करीब दो-ढाई इंच बाहर फेंका गया; और सबने यह प्रत्यक्ष देखा कि उनके शरीरसे निकलकर वहाँपर उपस्थित एक विशिष्ट तेजःपुञ्ज उनकी प्रतिष्ठापित श्रीअम्बाजीकी मूर्तिमें प्रवेश कर गया । प्राण-शून्य भी उनका शरीर बड़ा तेजस्वी और पूर्ववत् भावमय ही प्रतीत होता था । जो उच्च कोटिके भक्त होते हैं, उन्हींकी ऐसी अवस्था हो सकती है, दूसरे साधारण कोटिके जीवोंकी नहीं ।

कामके पत्र

(१)

भगवान्‌का ऐश्वर्य और भगवत्कृपा

सप्रेम हरिस्मरण । आपका कृपापत्र मिला । 'श्रीभगवान्‌में आपका प्रेम, श्रद्धा बहुत शीघ्र बढ़ जाय, आपके सारे दोष तुरंत मिट जायँ तथा निरन्तर भगवान्‌का भजन-चिन्तन होने लगे ।' आपकी यह इच्छा तो बहुत ही सुन्दर, सराहनीय और अनुकरणीय है । परन्तु 'मेरा पत्र पढ़ते ही ऐसा हो जाय, मैं ऐसी बात लिखूँ'—आपका यह भाव सुन्दर होनेपर भी मुझे अपनेमें ऐसी बात नहीं दिखलायी देती कि मेरे लिखनेमात्रसे ऐसा हो जाय ।

कामिनी, काञ्चन और भोगोंकी आसक्ति—इनमें वैराग्य होनेसे या भगवान्‌के ऐश्वर्य, माधुर्य और सुहृद्पनमें विश्वास होनेसे मिट सकती है । भोगोंमें सुख नहीं है । सुखका मोह है । भगवान्‌को छोड़कर भोग तो दुःखमय ही हैं । जैसे अफीम और संखिया जहर है, यह दृढ़ विश्वास है; इसीलिये लालच देनेपर भी, बहुत मीठी और सुन्दर मिठाईमें मिलाकर देनेपर भी कोई जान-बूझकर नहीं खाते; जानते हैं कि मर जायँगे । इसी प्रकार भोगोंका—विषमय परिणाम निश्चय हो जानेपर उनमें कोई रमेगा नहीं । भगवान्‌ने तो गीतामें साफ ही कहा है—'भोगोंसे मिलनेवाला सुख आरम्भमें अमृत-सा मालूम होता है, परन्तु परिणाममें जहर-सा है ।' (परिणामे विषमिव) यह बात हम पढ़ते-सुनते हैं, पर विश्वास नहीं करते और यह भी विश्वास नहीं करते कि यदि हमें धन, भोग आदिमें ही सुख मिलता है तो ये वस्तुएँ भी सबसे बढ़कर भगवान्‌में ही हैं । जगत्‌में जितने भोग, सुख, ऐश्वर्य हैं—सभी अनित्य हैं, विनाशी हैं, और जो हैं सो भी अत्यन्त ही अल्प हैं । जगत्‌के सारे भोग-सुख-ऐश्वर्य एक स्थानमें एकत्र कर लिये जायँ तो वे सब मिलकर भी भगवान्‌के भोगैश्वर्यके करोड़वें हिस्सेकी छायाकी भी तुलना नहीं कर सकते ।

'भगवान्' शब्दका अर्थ ही है—'जिसमें सम्पूर्ण ऐश्वर्य, सम्पूर्ण धर्म, सम्पूर्ण यश, सम्पूर्ण श्री, सम्पूर्ण ज्ञान और सम्पूर्ण वैराग्य—सदा एकरस अनन्त असीम निवास करते हैं, उनको भगवान् कहते हैं ।'

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः ।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ॥

(विष्णुपु० ६ । ५ । ७४)

संसारमें बस ये छः ही प्रधान वस्तु हैं, जिनकी संसारी और साधक लोग कामना करते हैं—'ऐश्वर्य', 'धर्म', 'यश' (कीर्ति, मान, बड़ाई आदि), 'श्री' (धन, दौलत, तेज, स्वरूप, सौन्दर्य, स्त्री-पुत्रादिसे सम्पन्नता आदि), 'ज्ञान' (लौकिक और पारमार्थिक ज्ञान) और 'वैराग्य' । इनमेंसे कोई किसीको चाहता है तो कोई किसीको । परन्तु खेद तो यह है कि इन्हें चाहनेवाला चाहता है उससे, जिसके पास ये पूरी नहीं हैं; चाहता है वैसी, जो नाश होनेवाली हैं; चाहता है ऐसेसे, जो दे या न दे अथवा जिसमें देनेकी शक्ति न हो; और चाहता है ऐसी अवस्थामें कि जिसमें यदि कुछ मिल भी जाय तो रखनेको ठौर नहीं । मनचाही वस्तु सबको मिलती नहीं, मिलती भी तो अधूरी और दोषयुक्त ही मिलती है । एक जगह तो किसीको अधूरी भी प्रायः नहीं मिलती । ये छहों वस्तुएँ—पूरी-की-पूरी—इतनी कि जिसकी सीमा ही न हो—एक साथ, एक समय, चाहे जितनी, चाहे जिसको एक श्रीभगवान्‌में मिल सकती हैं; और भगवान्‌में वे सब वस्तुएँ सबसे बढ़िया ऐसी क्वालिटीकी हैं कि जिसकी हम तुलना ही नहीं कर सकते ।

भगवान् हैं हमारे सुहृद् ! हमसे अकारण ही प्रेम

करते हैं—वे देनेको तैयार हैं अपने अतुल भण्डारकी चाभी। देर इतनी ही है कि हम विषयोंके मोहको छोड़कर उन्हींपर निर्भर हो जायँ और अपनी कोई भी स्वतन्त्र रुचि या इच्छा न रखकर अपनेको सर्वथा उन्हींकी मर्जीपर छोड़ दें। बस, भगवच्चरणोंमें अपनेको सर्वभावसे डाल दें। वे मारें या बचावें, उनकी इच्छा। और क्या करें ?—

'तदर्पिताखिलाचारिता तद्विस्मरणे परमव्याकुलता।'

'उन्हें सब कुछ सौंपकर निश्चिन्त होकर उनका स्मरण करें।' जगत्में कुछ भी हो जाय। जागतिक दृष्टिसे हमारा कुछ भी हो जाय। हमें कोई चिन्ता न हो, कुछ भी उद्वेग न हो, जरा भी हम न घबरायें। हाँ, उद्वेग, व्याकुलता हो तब, जब एक आधे पलके लिये भी हम भगवान्को भूल जायँ। उनका भूलना—हमें सहन न हो। उस समय उस मछलीसे अधिक तड़प हमारे मनमें हो, जो जलसे निकालनेपर उसको होती है। विषय-सुखके लिये चाह ही न करें। विषय-सुखकी चाह—विषय-सुखके लिये होनेवाली चिन्ता और व्याकुलता तो दुःखको बुलानेके साधन हैं। बस, चाह हो ही नहीं, हो तो एक यही कि अपने प्रियतम भगवान्का चिन्तन एक आधे क्षणके लिये न छूटे। प्रार्थना हो तो यही कि 'भगवन्! तुम्हारे स्मरण बिना यह जीवन न रहे। एक क्षण भी तुम्हारा विस्मरण इस जीवनको न सुहावे। तुम कहीं रक्खो इसे, यह अपने कर्मवश कहीं जाय, बस, तुम्हारी स्मृति सदा बनी रहे और तुम अपना कल्याणमय हाथ—स्मृतिके रूपमें सदा सिरपर रक्खे रहो। बस, तुम्हारे चरणोंमें प्रेम बढ़ता रहे, जिससे स्मरण आनन्दमय हो जाय।'

चहौं न सुगति सुमति संपति कछु रिधि सिधि बिपुल बड़ाई।
हेतु रहित अनुराग राम पद, बढ़ु अनुदिन अधिकाई॥
कुटिल कर्म ले जाहिं मोहि जहँ जहँ अपनी बरिआई।
तहँ तहँ जनि छिन छोह छाँडियो कमठ अंडकी नाँई॥

मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा, भोग-वासना और कामिनी-काञ्चनका मोह तथा पाप-ताप सब बह जायँगे—भगवत्कृपाकी एक वर्षामें। अमोघ शक्ति है भगवत्कृपामें। उस भगवत्कृपापर विश्वास कीजिये; फिर शान्ति, समता, सर्वत्र भगवद्बुद्धि और सब कुछ भगवान्से ही होता है यह विश्वास आदि सब अपने-आप ही आ जायँगे आपमें——जैसे राजाके पीछे उसकी सारी सेना आ जाती है। ये सब तो भगवत्कृपाके लवाजमे हैं। जहाँ भगवत्-कृपाकी वृष्टि हुई कि काम बना।

कृपा तो है ही विश्वास कीजिये

अन्तमें और कुछ न हो तो तीन बातोंका ध्यान रखिये——(१) पापोंका त्याग, (२) दैवी सम्पत्तिका उपार्जन और (३) भगवन्नामका नियमित जप।

(२)

भक्तिका स्वरूप

सप्रेम हरिस्मरण! आपका प्रेमभरा पत्र मिला। मेरे पत्रसे ही यदि आपको यह अनुमान हो गया कि न्यूनाधिक अंशमें शीघ्र ही भगवान्की दया होकर आपका उद्धार हो जायगा, तब तो मेरे पत्रका वस्तुतः बड़ा ही महत्त्व है। परन्तु ऐसी बात समझमें आती नहीं। या तो आप भ्रममें हैं या मेरा मखौल कर रहे हैं। भक्तोंकी दया तो स्वाभाविक ही सबपर होती है। 'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।' यह उनका स्वभाव है। 'कोई भक्त भी हो और वह दयामें कंजूसी भी करे।' यह तो वैसी ही बात है कि सूर्य है परन्तु उसमें प्रकाश देनेकी उदारता नहीं है। हाँ, आपने यह भूल जरूर की कि मुझ-सरीखे प्राणीके लिये भगवद्भक्त होनेका अनुमान कर लिया।

इसीलिये आपको कंजूसी भी दिखायी दी; परन्तु यह तो कंजूसी नहीं है—वस्तुस्थिति ही है । जो स्वयं दरिद्र हो वह किसीको क्या दे । उसे जैसे धनी माननेवाले भूलमें होते हैं, मुझे यदि आप भक्त मानते हैं तो वैसी ही भूल आप भी करते हैं ! जबतक चित्तवृत्तिका प्रवाह सम्पूर्ण रूपसे भगवान्‌की ओर नहीं बहता, जबतक जीवनकी प्रत्येक क्रिया और चेष्टा केवल भगवदर्थ ही नहीं होती, जबतक जीवन भगवान्‌के इशारेपर नाचनेवाली कठपुतली नहीं बन जाता, जबतक जीवन प्रार्थनामय नहीं बन जाता और जबतक दैवी सम्पत्तिके गुण स्वाभाविक ही हृदयमें डेरा नहीं कर लेते, तबतक मैं कैसे मानूँ कि मुझमें भगवद्भक्ति है । हाँ, आपलोगोंकी भावनासे मुझे लाभ अवश्य हो सकता है और आपकी ऐसी भावनाके लिये मुझे आपका कृतज्ञ होना चाहिये ।

बोझ भगवान्‌पर डाल दीजिये

‘तमाम बोझ सम्हालनेवाले’ तो एकमात्र श्रीभगवान् हैं, यदि हम उनपर अपना बोझ छोड़ सकें । छोड़ दीजिये न ! बिलकुल हलके हो जाइयेगा । अवश्य ही उनपर सब बोझ छोड़ देनेपर आप प्रायश्चित्तके भागी नहीं होंगे, यह निश्चित बात है । हाँ, बोझ अपने सरसे उतारें भी नहीं और उनको सौंप दिया बतलावें, तब तो बोझसे आप मरेंगे ही । बोझा तो उतारनेसे ही भार हटेगा, कहनेमात्रसे नहीं । यह अनुभव करके देख लीजिये । सभीको अनुभव है । बोझा उतारकर दूसरेको दिया कि हलके हुए । जबतक हलके नहीं होते तबतक यह सिद्ध ही है कि बोझा सिरपर ही है, चाहे भूलसे मानें नहीं ।

(३)

रुपयेको महत्त्व नहीं देना चाहिये

आपका कृपापत्र मिला ।×××अखण्ड कीर्तनका××× प्रबन्ध हो गया, सो अच्छी बात है । भगवान् सब व्यवस्था करते हैं । मैं आजकल प्रायः अलग-सा रहता हूँ । रुपये-पैसेके सम्बन्धमें किसीसे कुछ कहनेका मन नहीं करता । रुपयेका सम्बन्ध बहुत ही खराब है । मन तो ऐसा करता है, जिन कामोंमें रुपयेका सम्बन्ध है, वे काम ही न किये जायँ । बस, भजन किया जाय, जगत्‌का भला होना होगा तो भजनसे ही हो जायगा । परन्तु अपने जगत्‌के भलेका ठेका भी क्यों लें । जगत्‌का कल्याण तो श्रीभगवान्‌के किये होगा । रुपया आता है रुपयेवालोंसे, और विभिन्न कारणोंसे ऐसी परिस्थिति हो गयी है कि रुपयेवाले जिनको रुपया देते हैं, उन्हें अपनेसे हीन ही समझते हैं । भजनका महत्त्व घटकर रुपयेका प्रभुत्व बढ़ जाता है । मुझे तो अपने अनुभवसे यह कहना पड़ता है कि तकलीफ उठा लेना उत्तम, परन्तु रुपयेकी याचना करना बहुत नीचा काम है । बिना याचनाके भी रुपयोंको स्वीकार करना अच्छा नहीं है । विश्वास भगवान्‌में होना चाहिये, रुपयोंमें नहीं । आप किसीसे रुपया नहीं माँगते, आपकी यह बात मुझको बहुत ही अच्छी लगती है ।

आपने जो यह आशीर्वाद दिया कि ‘करहिं सदा रघुनायक छोहू’ सो बड़ी ही कृपा है । बस, भगवान्‌की कृपाका ही भरोसा है । वे अकारण कृपालु हैं । उनकी और संतोंकी दया बनी रहे; और क्या चाहिये । यहाँ सब आनन्द है । दिन बहुत अच्छी तरह कट रहे हैं । भगवान् श्रीकृष्णकी बड़ी ही कृपा है ।

मनुष्य-जीवनकी विफलता

सप्रेम हरिस्मरण ।········ने रुपये कमाये लिखा सो अच्छी बात है । भैया ! यह ऐसी चीज है—जिसको मिलती है, वह भी दुखी होता है और न मिलती है, वह तो अपनेको दुखी मानता ही है । ‘संसारके सब काम रुपयोंसे होते हैं ।’ ऐसा देखते हैं और यही

विश्वास है। यद्यपि सब काम नहीं होते; इसीसे रुपयेका मोह बहुत प्रबल होता है। कभी सफलता, कभी विफलता—यों जीवन बीतता चला जाता है। अन्तमें मनुष्य-जीवनकी सन्ध्याके समय तीन बातें हाथ लगती हैं—१-अमूल्य और एक खास महत्त्वपूर्ण कामके लिये मिले हुए जीवनकी व्यर्थता, २-परितापमयी अतृप्ति और ३-जीवनभर विषयासक्तिके कारण किये हुए पापोंका बोझ! परन्तु क्या कहा जाय। कुएँ भाँग पड़ी है! भगवत्कृपासे कहीं कुछ स्वाध्याय-सत्संगका यदि अवसर मिलता रहता है तो कभी जीवनके असली ध्येयका जरा-सा खयाल हो आता है, नहीं तो, जीवन ऐसा बन जाता है कि बस चौबीसों घंटे उद्देश्यहीन उधेड़-बुनमें ही बीत जाते हैं। लक्ष्यका कभी खयाल ही नहीं होता। उसकी तो ऐसी विस्मृति होती है कि कभी याद दिलाये जानेपर भी स्मृति नहीं होती। और ज्यों-ज्यों ममताका विस्तार होता है, त्यों-ही-त्यों दुःखोंकी वृद्धि होती रहती है।

यावतः कुरुते जन्तुः सम्बन्धान्मनसः प्रियान्।
तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशङ्कवः॥

जीव जितने ही प्रियताके सम्बन्ध स्थापित करते हैं, उतने ही उनके हृदयमें शोकके काँटे चुभते हैं, परन्तु मोहवश इसीमें सुखकी प्रतीति होती है। गोसाईंजी महाराज कहते हैं—

नहिं सत्संग भजन नहिं हरिको
स्रवन न रामकथा अनुरागी।
सुत-बित-दार-भवन-ममता-निसि
सोवत मति अति कबहुँ न जागी॥
तुलसिदास हरिनाम-सुधा तजि
सठ हठि पियत बिषय बिष माँगी।
सूकर स्वान श्रृगाल सरिस जन
जनमत जगत जननि दुख लागी॥

जो लोग लोकसेवा करना चाहते हैं, वे भी भगवान्‌को लक्ष्य नहीं बनाते; इसलिये उनकी भी वह सेवा वैसी ही होती है, जैसे जड़को छोड़कर डाली-पत्तोंमें जल सींचना होता है। उसमें भी बस, वही लौकिक दृष्टि ही रहती है—विषयाभिलाष ही रहता है और विषय हैं—दुःखयोनि, तब सुख कैसे हो?

भैया! प्रसन्न रहना। मैं कुछ कहने लायक तो नहीं, परन्तु कभी-कभी जीवनके लक्ष्यकी ओर ख्याल करना भूलना नहीं। ढिंढोरा पीटनेकी जरूरत नहीं है—जरूरत तो चुपचाप मार्गपर अग्रसर होनेकी है—ध्येयको न भुलाते हुए।

(४)

उत्तम बर्तावके साधन

सप्रेम हरिस्मरण! आपने लिखा 'मेरा स्वभाव तामसी होता चला जाता है। सबके साथ अच्छा व्यवहार नहीं होता। ऐसा कौन-सा साधन है जिससे स्वभाव बदल जाय और सबके साथ सात्त्विक व्यवहार होने लगे!' सात्त्विक व्यवहार न होना आपको बुरा लगता है और सात्त्विक व्यवहार हो ऐसी आपकी इच्छा है। एक तो यही स्वभाव बदलनेमें बड़ा कारण हो सकता है। मनुष्यको जो चीज वस्तुतः बुरी मालूम होने लगती है और उसका रहना काँटेकी ज्यों चुभता है, तब वह चीज धीरे-धीरे छूट ही जाती है। और जिसकी सच्ची चाह होती है, वह चीज आगे-पीछे मिलती ही है; परन्तु बात यह है कि किसीके साथ बुरा बर्ताव करना यह असलमें स्वभाव नहीं है। आत्माका तो स्वभाव है परम आनन्द और परम प्रेम! वह स्वयं आनन्दरूप है और इसलिये आनन्द ही वितरण करना चाहता है। न यह अन्तःकरणका ही धर्म है। यह तो बाहरसे आया हुआ दोष है जो सावधानीके साथ प्रयत्न करने

नष्ट हो सकता है । निम्नलिखित बातोंपर ध्यान रखकर चेष्टा करनी चाहिये । साधना या चेष्टा जबतक लगनसे नहीं होती तबतक सफल नहीं होती । पथ्य-परहेजका ख्याल रखते हुए सावधानीके साथ दवा लेनेसे रोग मिटता है—

(१) सब जीवोंमें भगवान् बसते हैं, भगवान् ही सब बने हुए हैं, फिर बुरा बर्ताव किसके साथ किया जाय ।

अब हौं कासों बैर करौं ।
कहत पुकारत हरि निज मुखतें घट घट हौं बिहरौं ॥

हम किसीके भी साथ बुरा बर्ताव करते हैं तो वह भी भगवान्‌के साथ ही करते हैं ।

(२) बुरा बर्ताव करनेसे भगवान् नाराज होते हैं, क्योंकि सभी जीव भगवान्‌की सन्तान हैं; किसीके बालकको कष्ट पहुँचानेसे माँ जरूर नाराज होगी ।

(३) बुरा बर्ताव करनेसे द्वेष, वैर, क्रोध, विषाद आदि दोषोंका जन्म-जन्मान्तरतक बड़ा विस्तार होता है, इससे अपनी और जगत्‌की बड़ी हानि होती है, लौकिक और पारमार्थिक भी ।

(४) बुरा बर्ताव हम तभी करते हैं, जब हमें कोई बुरा लगता है—दोष-दृष्टिसे । दोष दृष्टि सदा ही द्वेष और जलन पैदा करती है, इससे अपनी बड़ी हानि होती है । जिसको सबमें दोष देखनेकी आदत पड़ जाती है, वह जगत्‌से कुछ सीख नहीं सकता और सदा जला करता है । न अच्छे रास्तेपर ही जा सकता है; क्योंकि उसे रास्ता बतलानेवालोंमें और रास्तोंमें दोष-ही-दोष दीखता है ।

(५) जब हमारे साथ कोई बुरा बर्ताव करता है तो हमें दुःख होता है, इसी प्रकार हम जब दूसरेके साथ बुरा बर्ताव करते हैं तो उसे भी दुःख होता है । हम स्वयं तो यह चाहें कि सब हमसे अच्छा बर्ताव करें और हम दूसरोंसे बुरा बर्ताव करें, यह अधर्म है । शास्त्र कहते हैं—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम् ।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥

‘धर्मका सार सुनो और सुनकर उसे धारण करो । जो बात अपनेको प्रतिकूल लगती है, वह दूसरोंके साथ कभी न करो ।’

(६) अच्छे बर्तावसे प्रेम बढ़ता है, बुरे बर्तावसे वैर ।

(७) बुरा बर्ताव कामना, अभिमान, द्वेष और प्रतिकूल भावना आदिके कारण होता है । अतएव इनका सावधानताके साथ त्याग करना चाहिये ।

(८) भगवान्‌से कातर प्रार्थना करनी चाहिये कि ‘भगवन् ! किसी भी हेतुसे मैं किसी भी प्राणीके साथ कभी बुरा बर्ताव न करूँ ।’

(९) श्रीचैतन्य महाप्रभुकी यह वाणी याद रखनी चाहिये ।

तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना ।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः ॥

‘अपनेको एक तिनकेसे भी बहुत छोटा समझनेवाले, वृक्षके समान सहनशील, स्वयं अमानी और दूसरोंको मान देनेवाले पुरुषोंके द्वारा हरि सदा कीर्तनीय हैं ।’ इस प्रकारका भाव हो जानेपर सहज ही किसीसे बुरा बर्ताव नहीं होगा ।

और भी बहुत-सी बातें हैं । इनमेंसे किसी भी एक या एकाधिक बातपर पूरा ख्याल रखनेसे बुरा बर्ताव दूर हो सकता है । संसारमें हम सभी मुसाफिर हैं । आपसमें हिलमिलकर, एक दूसरेके दोषोंको सहकर परस्पर सबकी सेवा करते हुए रहेंगे तो आरामसे मुसाफिरीके दिन कटेंगे और नये मुकदमे नहीं लगेंगे । तथा लड़ते-झगड़ते रहेंगे तो

मुसाफिरी भी भयदायक और अशान्तिरूप हो जायगी तथा बीचमें ही नये-नये फौजदारीके मुकदमोंमें फँसकर हैरान और परेशान भी होंगे ।

तुलसी या संसारमें, भाँति भाँतिके लोग ।
सबसों हिल मिल चालिये, नदी-नाव संजोग ॥
तेरे भावें जो करो, भलो बुरो संसार ।
नारायण तू बैठकर, अपनो भवन बुहार ॥
बुरा जो देखन मैं गया, बुरा न पाया कोय ।
जो तन देखा आपना, मुझ-सा बुरा न कोय ॥

श्रीभगवान्का स्मरण और जप निरन्तर करनेकी चेष्टा करनी चाहिये ।

(५)

निज-दोष देखनेवाले भाग्यवान् हैं

संसारमें ऐसा कौन है जो सर्वथा निर्दोष हो । त्रिगुणमय संसारमें तम भी रहेगा ही । जिसको अपने दोष दीखते हैं—भयङ्कररूपमें दीखते हैं, जो दोषोंके कारण दुःखी रहता है, जिसके हृदयमें दोष चुभते हैं, चाहता है एक भी न रहे, प्रयत्न भी करता है, परन्तु सर्वथा नाश नहीं कर सकता, वह तो बड़ा भाग्यवान् है । संसारमें ऐसे लोग भी हैं जो अपने दोषोंको या तो देखते ही नहीं और देखते हैं तो 'गुण' रूपमें तथा दूसरोंके दोष उनको राई-से भी पहाड़-जैसे लगते हैं ।

'आप पापको नगर बसावत सहि न सकत पर खेरो ।'

श्रीभगवान्का स्मरण आप करते ही हैं; उनका स्मरण ऐसी आग है जो सारे दोषोंको जला देती है । और क्या उपाय है अपने पास ।

भगवान्की दया

आप इतना संकोच क्यों करते हैं । आप सच मानिये, मुझे न तो आपका मेरे पास रहना कभी भार मालूम होता है, न आप जाते हैं तब रोकनेका ही मन होता है ।

स्वप्नमें या जाग्रत्में श्रीभगवान् प्रेरणाद्वारा आकर्षण करते हैं सो बहुत ही अच्छी बात है । विघ्न भी भगवान्की दयासे ही आते हैं । बीच-बीचमें विघ्न न आवे तो शायद अधिक शिथिलता आ जाय । जैसे रात्रि दूसरे दिनके ताजा प्रभातका सुख देनेके लिये आती है, वैसे ही विघ्न भी साधनमें उत्साह पैदा करनेके लिये ही आते हैं । श्रीभगवान् तो सब कुछ देखते ही हैं । देखते क्या हैं—उन्हींके इङ्गितसे सब कुछ होता है; फिर अमङ्गलकी क्या सम्भावना है ? मङ्गलमयका इङ्गित मङ्गलमय ही होगा । अभी कुछ वियुक्त रहनेकी इच्छा है तो रहिये । मनसे तो शायद आप वियुक्त हो सकेंगे नहीं । शरीर तो वियोग-संयोगरूप है ही । जो प्रभु-इच्छा है उसीमें सन्तुष्ट रहना चाहिये । 'गोविन्द नाम आधार' सबको ही है । कोई मानते हैं कोई नहीं ।

'उस छबिमें लगन लगा लीजे, गोविन्द नाम आधार रहे ।'

(६)

भगवान्की असीम कृपा

सप्रेम हरिस्मरण । आपका प्रेमभरा पत्र मिला । दया और स्नेह तो श्रीभगवान्का हम सभीपर अनन्त है, इतना अनन्त है, जिसकी कहीं कोई सीमा ही नहीं । मैं यहाँसे जानेवाला तो जल्दी था, परन्तु देर हो ही गयी । श्रीभगवान्का विधान मङ्गलपूर्ण ही होता है । पूज्यपाद श्रीमहाराजजीने जो आशीर्वाद दिया सो उनकी बड़ी कृपा है । दिन बहुत आनन्दसे कट रहे हैं । भगवान्की बड़ी ही कृपा है । मैं तो बस, इतना ही जानता हूँ—भगवान्की मुझपर असीम कृपा है । इसके सिवा और कोई महिमा हो तो पता नहीं । और भगवान्से प्रार्थना भी यही है कि वे यदि कृपा करके जनावें तो अपनी ही महिमा जनावें—मेरे तो दोष ही दिखलावें । सचमुच बात भी यही है । मनुष्य तो दोषोंसे भरा है—परन्तु भगवान्का हृदय अनन्त माताओंके अनन्त हृदयोंके अनन्त एकत्रीकृत वात्सल्य-

कणोंका महान् अगाध समुद्र है । उस वात्सल्य-समुद्रकी कोई सीमा ही नहीं है । इससे भगवान्—कैसा भी अपराधी कोई क्यों न हो, जरा भी सामने आते ही उसे पाप-शून्य करके अपनी मधुमयी पवित्र गोदमें ले लेते हैं । जो सामने नहीं आता, उसका भी अपनी सहजसुहृदतावश कल्याण ही करते हैं । प्रकार विभिन्न हैं, करते तो कल्याण ही हैं, कल्याणमय जो ठहरे । श्रीभगवान्‌में वस्तुतः किसीका अकल्याण करनेकी शक्ति ही नहीं है । संसारमें दुःख-सुखके कोई भी कैसे भी दृश्य आवें, सभी उनकी कल्याणमयी लीलाके ही तो सीन हैं । बस, आनन्द-ही-आनन्द, कल्याण-ही-कल्याण ! आपकी निष्ठा, गुरु-भक्ति, श्रद्धा सराहनीय है । आपका हृदय बड़ा निर्मल है । आपके निर्मलहृदयकी भावना मेरे लिये लाभदायक ही होगी, इसमें कोई सन्देह नहीं । आपकी निष्ठा, भजन, प्रेम, हृदयकी सरलता और निष्कपटता, श्रद्धा और विश्वास, भजन और भाव सभी उच्च स्तरके हों—यह तो स्वाभाविक ही देखना चाहता हूँ ।

(७)

भजन—साधन और साध्य

सप्रेम हरिस्मरण ! भजन-साधनकी स्थिति लिखी, सो ठीक है । जब सत्त्वगुणका आधिक्य होता है तब भजन अधिक होता है । रजोगुणकी अधिकतासे सांसारिक कार्योंमें विशेष मन लगता है और तमोगुणमें आलस्यकी प्रधानता रहती है । गुण अनेकों कारणोंसे घटते-बढ़ते रहते हैं—पूर्वसंस्कार प्रारब्ध, वातावरण, अन्न, जल, संग, अध्ययन आदि अनेकों कारण हैं । विषयोंमें मन अनादि कालसे उलझा है । बड़ा अभ्यास है विषय-चिन्तन और विषयसेवनका । असंख्य जीवनोंका यह अभ्यास यदि एक मानवजीवनमें बदल जाय तो भगवान्‌की बड़ी कृपा समझनी चाहिये । कुछ महीनों या वर्षोंमें पूरा लाभ न हो तो निराश नहीं होना चाहिये । सत्सङ्ग, शुद्ध वातावरण, भजन आदिमें लाभ तो हुआ ही है । यह तो मानना ही पड़ेगा । यह ठीक है कि पूरी तत्परता नहीं आयी और न पूरी इच्छा ही हुई भगवान्‌की ओर बढ़नेकी । करते चले जाइये भजन । तत्परता आप ही आवेगी और जब पूरी इच्छा हो जायगी, तब तो फिर कुछ करना शेष नहीं रह जायगा । पूरी इच्छा होनेकी ही देर है । पूरी इच्छा होनेपर भगवान् तत्काल ही उसे पूरी (सफल) भी कर देते हैं । बात सुननेसे ही काम नहीं चलता, सुननेके साथ ही करना चाहिये । करते-करते कभी-न-कभी काम बन ही जायगा । बस, ऐसी बात यह एक ही है । करते जाइये और विश्वास कीजिये, निश्चय कीजिये कि काम बन ही जायगा ।

राम राम रटते रहो जब लग घट में प्रान ।
कबहूँ दीनदयाल के भनक परेगी कान ॥

भजन करते-करते जब भजनका बाह्य भाव न रहकर बिल्कुल आन्तरिक हो जायगा, भजनमें मन रमेगा, उसमें आनन्दकी उपलब्धि होगी, तब यथार्थ भजन होगा । एक भजन होता है साधनरूप, एक होता है साध्य । अभी साधनरूप भजन भी पूरा नहीं हो पाया है । साधनरूप भजन करते-करते जब वह स्वाभाविक होकर अन्तरसे होने लगेगा, जब माला-नियमकी जरा भी जरूरत नहीं रहेगी, अपने-आप ही भजनमें मन लगा रहेगा, तब उसे साध्य रूप प्राप्त होगा; फिर छूटेगा नहीं । यह स्थिति इसी जन्ममें हो सकती है । आपके मनमें भगवत्कृपापर—भगवान्‌की अचिन्त्य दया-शक्तिपर विश्वास होना चाहिये । मनमें विश्वास करके जैसे बने वैसे ही, लगनसे-बेलगनसे भजन करते जाइये । भगवत्-कृपासे आप ही कल्याण होगा । भगवत्कृपा और भजनकी महान् शक्तिके सम्बन्धमें जरा भी सन्देह न आने दें । इधर पत्र बहुत इकट्ठे हो गये, इससे संक्षेपमें ही उत्तर लिखा है ।

(८)

नाम-जपकी महत्ता

सप्रेम हरिस्मरण । आपका पत्र मिला । स्थिति लिखी सो ठीक है । सच्ची बात यह है कि डटकर भजन नहीं बनता । भजन बने बिना विषयोंकी आसक्तिरूप अन्तःकरणका दोष नष्ट नहीं होता और जबतक विषयासक्ति रहती है, तबतक मन्दिरमें बैठकर ठाकुरजीकी पूजा करनेमें भी विषय ही ठाकुरजी बने रहते हैं; इसलिये वह भगवत्पूजन न होकर प्रकारान्तरसे विषयसेवन ही होता है । फिर दूकान-कारखाने आदिके काममें तो भगवद्बुद्धि होना बहुत कठिन है । भूलसे कभी-कभी मान लेते हैं—भगवत्-सेवन हो रहा है; परन्तु हृदयके भीतर घुसकर देखनेपर पता लगता है—शुद्ध विषय-सेवन ही है । होना चाहिये जगत्का विस्मरण होकर एकमात्र भगवान्का स्मरण, होता है भगवान्का विस्मरण होकर विषयोंका स्मरण । यही हालत है । कलियुग है । वातावरण बहुत अशुद्ध है । सभी क्षेत्रोंमें दम्भ, दूकानदारी, दिखौआपन आ गया है । अतएव भजनके सिवा और कोई भी उपाय नजर नहीं आता । मन लगे-न-लगे, किसी प्रकार भी यदि चौबीस घंटेमें सब मिलकर १८ घंटे नामजप होता रहे तो उसके लिये चेष्टा करनी चाहिये । भक्त लोग तो आठ पहरमें साढ़े सात पहर भजन किया करते थे । श्रीचैतन्यचरितामृतमें कहा है—

साढ़े सात पहर जाय भक्तिरसाधने ।
चारि दण्ड विश्राम ताओ नाहे कोनो दिने ॥

न काम छोड़कर अलग बैठ सकते हैं, बैठनेसे भी क्या होगा ? भजनका अभ्यास न होगा तो नींद, आलस्य और प्रमादमें समय बीतेगा । अब जहाँ बड़े-बड़े कामोंके लिये राग-द्वेष होते हैं फिर छोटी-छोटी बातोंके लिये होने लगेंगे । घर बड़ा हो या छोटा—है घर ही, और राग-द्वेष अपने साथ हैं ही । कहीं भी चले जायँ, कितनी ही बड़ी या छोटी-से-छोटी दुनियामें रहें, ये राग-द्वेष अपना काम करते ही रहेंगे । अतएव अभी जिस दुनियामें हैं, इसीमें रहकर नामजप बढ़ाना चाहिये । बस, इसके लिये लाज-शरम छोड़कर अभ्यास डालना चाहिये । मुँहसे उच्चारण होता ही रहे । नामजप होता रहेगा तो नामके प्रभावसे बाकी बातें आप ही हो जायँगी । न होंगी तो भी आपत्ति नहीं । यदि भगवान्का नाम जपते-जपते मृत्यु हो जायगी तो भी जीवन सफल ही है । अधिक क्या लिखूँ !

सबसे यथायोग्य सप्रेम कहियेगा । भजन जैसा चाहता हूँ, बनता नहीं है । चेष्टा कर रहा हूँ । भगवत्कृपापर भरोसा है । अपनेमें तो कोई बल है नहीं ।

(९)

आवश्यक साधन

सप्रेम हरिस्मरण । आपको पत्र लिखनेमें कोई संकोच नहीं करना चाहिये । मेरा तो आप सबके प्रति एक-सा ही भाव होना चाहिये । आपकी दिनचर्या मालूम हुई—बहुत ठीक है । इसी प्रकार करते रहिये । आपके लिखनेके अनुसार आप निरन्तर नाम-स्मरणका ख्याल रखते ही हैं । कभी-कभी कामके झंझटसे भूल जाते हैं, सो ऐसी भूल तो स्वाभाविक ही हो जाया करती है । विशेष ख्याल रखनेसे भूल कम होगी । 'निरन्तर भगवान्का नामस्मरण होता रहे ।' इससे बढ़कर और क्या करना है । निरन्तर नामस्मरण ही भगवान्का सान्निध्य प्राप्त करानेमें पूर्ण समर्थ है । पाँच बातोंका ख्याल रखिये—

(१) पापकर्म (कम-से-कम शरीरसे तो) न हो ।

(२) व्यर्थ चर्चा न हो ।

(३) किसीके साथ बुरा बर्ताव न हो ।

(४) भगवान्के नामचिन्तनकी विशेष चेष्टा रहे ।

(५) भगवत्कृपापर विश्वास हो ।

श्रीविष्णुभगवान्‌की उपासना करते हैं सो बहुत उत्तम है। ध्यानके लिये समय कम मिलता है, जो कुछ कभी मिलता है——वह दूसरे-दूसरे चिन्तनमें बीत जाता है, लिखा सो ठीक है । नामस्मरण यदि होता रहे तो वह ध्यान ही है ।

पाप न हो, विषय-चिन्तन न हो, आलस्य-प्रमादमें समय न बीते, संसारका मोह न हो, एकमात्र भगवच्चिन्तनमें लगे हुए ही सब काम हों——आपकी ये सभी कामनाएँ बहुत ही सराहनीय तथा अत्यन्त उत्तम हैं। परन्तु मेरे कुछ लिख देनेसे ही ये पूरी हो जायँगी, ऐसी बात नहीं है। आप इनकी आवश्यकताका पूरा अनुभव करेंगे और भगवत्कृपाका विश्वास करके अध्यवसायमें लग जायँगे तब भगवत्कृपासे ही ये पूरी होंगी। इसके लिये आप श्रीभगवान्‌से प्रार्थना कीजिये। मुझको लिखनेमें तो संकोच भी करते हैं और मैं इन्हें पूरी करनेमें समर्थ भी नहीं हूँ। भगवान्‌से निस्संकोच अपनी ही भाषामें मन-ही-मन कातर प्रार्थना कीजिये। चाहे दिनमें सौ बार कीजिये। भगवान् प्रार्थना सुनते हैं——यह निश्चय है। इतना मेरे कहनेपर विश्वास कीजिये, उनकी कृपासे मनुष्य जिसको असम्भव समझता है, वह भी सम्भव हो सकता है

श्रीविष्णुभगवान्‌के ध्यानका प्रसंग ‘श्रीप्रेमभक्ति-प्रकाश’ में बहुत ही सुन्दर है, उसको पढ़िये।

जब मनमें आवे, तभी निस्संकोच पत्र लिखकर जो कुछ पूछना हो, पूछिये। मेरा उत्तर यदि कुछ देरसे जाय तो क्षमा अवश्य कीजिये।

वरदान

क्या तुमने वरदान दिया है ?
मेरे, तेरे-पनको लेकर,
प्राण जुड़ाकर, सब-कुछ देकर;
मूक-दानकी मृदु-वेलामें, यह कैसा सम्मान दिया है ?
क्या तुमने वरदान दिया है ?
अच्छा था आसन्न न होते,
सुखमें कभी प्रसन्न न होते;
दुखमें होते दुखी नहीं, कैसा यह मधुरस-पान दिया है ?
क्या तुमने वरदान दिया है ?
स्वप्न-नीड़ प्राणोंका प्यारा,
जीवनका है प्रमुख-सहारा;
अन्तराल-अम्बर दोनोंको मिला, नया-सामान दिया है ?
क्या तुमने वरदान दिया है ?

—महावीरसिंह ‘वीर’

* * *

सत्सङ्गके बिखरे वाक्य

(संग्रहकर्त्ता—एक सत्सङ्गी)

१ जिस प्रकार अग्निमें दाहिका शक्ति स्वाभाविक है, उसी प्रकार भगवन्नाममें पापको जला डालनेकी शक्ति स्वाभाविक है । इसमें भावकी आवश्यकता नहीं है ।

२ किसी प्रकार भी नाम जीभपर आना चाहिये, फिर नामका जो स्वाभाविक फल है, वह बिना श्रद्धाके भी मिल ही जायगा ।

३ तर्कशील बुद्धि भ्रान्त धारणा करवा देती है कि बिना भावके क्या लाभ होगा । पर समझ लो, ऐसा सोचना अपने हाथ अपने गलेपर छुरी चलाना है ।

४ भाव हो या नहीं, हमें आवश्यकता है, नाम लेनेकी । नामकी आवश्यकता है, भावकी नहीं ।

५ भाव हो तो बहुत ठीक, परन्तु हमें भावकी ओर दृष्टि नहीं डालनी है ।

६ देखो—नाम भगवत्-स्वरूप ही है । नाम अपनी शक्तिसे, नाम अपने वस्तुगुणसे सारा काम कर देगा । खासकर कलियुगमें भगवन्नामके सिवा और कोई आधार ही नहीं है ।

७ मनोनिग्रह बड़ा कठिन है—चित्तकी शान्तिके लिये प्रयास करना बड़ा ही कठिन है । पर भगवन्नाम तो इसके लिये भी सहज साधन है । बस, भगवन्नामकी जोरसे ध्वनि करो ।

८ माता देवहूति कहती हैं—

अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान्
यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम् ।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या
ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते ॥

बस, जिसने भगवन्नाम ले लिया, उसने सब कर लिया । भावकी इसमें अपेक्षा नहीं है । वस्तुगुण काम करता है ।

९ तर्क आफत लाती है कि रोटी-रोटी करनेसे पेट थोड़े ही भरता है ? पर विश्वास करो, भगवन्नाम रोटीकी तरह जड शब्द नहीं है । यह शब्द ही ब्रह्म है । नाम-नामीमें कोई अन्तर ही नहीं है ।

१० आलस्य और तर्क—ये दो नाम-जप होनेमें बाधक हैं ।

११ प्राय: आलस्यके कारण ही कह बैठते हो कि नाम-जप होता नहीं ।

१२ अभ्यास डाल लो, नाम लेनेकी आदत डाल लो।

१३ 'नाम लेत भवसिंधु सुखाहीं' इसपर श्रद्धा करो । इस बिश्वासको दृढ़ करो ।

१४ कंजूसकी भाँति नामको सँभालो ।

१५ निश्चय समझो—नामके बलसे बिना ही परिश्रम भवसागरसे तर जाओगे ।

१६ भगवान् नित्य हमारे पास हैं, अत्यन्त समीप हैं । एकान्त कोठरीमें, जहाँ कोई भी घुस नहीं सकता, वहाँ भी साथ हैं । ऐसे भगवान् आश्रय लेते ही आश्रय दे देते हैं ।

१७ भगवान्के बलसे सभी कुछ सम्भव है, सभी विपत्तियाँ हट सकती हैं । सारी लङ्का जल गयी पर हनुमान्जीकी पूँछ नहीं जली; क्योंकि सीता मैयाने पूँछ नहीं जलनेका संकल्प जो कर लिया था । हनुमान्जीको गर्मीतकका भी अनुभव नहीं हुआ ।

१८ आधुनिक जगत्के बहुत-से लोग कहेंगे, यह बनावटी बात है । पर निश्चय मानो, भगवान्का आश्रय होनेपर पूँछमें आग लगकर भी पूँछ न जले, यह सर्वथा सम्भव है । अवश्य ही सच्चा भक्त अपनी ओरसे इस प्रकारके चमत्कारकी इच्छा नहीं रखता । हमलोग तो मामूली अनिष्टके भी टल जानेकी चाह कर बैठते हैं ।

१९ निरन्तर भगवान्‌का नाम लो, कीर्तन करो। मेरे खयालसे सर्वोत्तम साधन यही है।

२० 'हारेको हरिनाम' इसी उपायसे सबका मङ्गल दीखता है। और किसी भी उपायमें रागद्वेष उत्पन्न होकर स्वयं फँस जानेका भय है।

२१ भगवान्‌पर विश्वास हो, उनकी कृपाका भरोसा हो और नाम-जप होता रहे तो अपने-आप ही निर्भयता आयेगी, साहस आयेगा। विपत्तिका टलना भी इसी उपायसे होगा।

२२ मनुष्य जब सब उपायोंसे हार जाता है, तब उसे हरि-नाम सूझता है, तभी वह हरिनामको पकड़ता है और तभी उसे विजय मिलती है।

२३ भगवान्‌का आश्रय करो, भगवान्‌की कृपापर विश्वास करो, जिससे मनमें अशान्ति नहीं रहे।

२४ हमें क्या चाहिये, इस बातको हम भूले हुए हैं।

२५ हम अज्ञानवश ऐसी चीजकी प्राप्तिकी इच्छा कर बैठते हैं, जिसकी हमें आवश्यकता नहीं है और जिसमें हमारा अकल्याण है।

२६ किस चीजकी प्राप्तिमें हमारा भला है, इस बातको ठीक-ठीक भगवान् जानते हैं।

२७ हमें क्या चाहिये, हम ठीक-ठीक नहीं जानते; चाहनेमें भूल कर बैठते हैं। बहुत बार तो ऐसी वस्तु चाह बैठते हैं जिसकी प्राप्ति महान् दुःखदायिनी होती है। इसलिये हमें क्या चाहिये यह विचार भगवान्‌पर छोड़ देना चाहिये। इस बातको सोचें भगवान्, उस वस्तुका संग्रह करें भगवान् और रक्षा करें भगवान्। फिर मङ्गलमय भगवान् आपके लिये जो उचित समझेंगे, चाहेंगे और इस उपायसे आपको अविनाशी पद बिना ही परिश्रमके प्राप्त हो जायगा।

२८ भगवान्‌ने कहा है—'योगक्षेमं वहाम्यहम्।' योग (अप्राप्तकी प्राप्ति) और क्षेम (प्राप्तका रक्षण) दोनों स्वयं मेरे जिम्मे रहे—यह भगवान्‌की प्रतिज्ञा है। इससे बड़ा आश्वासन और क्या हो सकता है।

२९ भगवान्‌के ऊपर योगक्षेमका भार छोड़ देनेमें ही परम लाभ है।

३० भगवत्प्राप्तिका बड़ा सीधा रास्ता है—'हमारे एकमात्र आधार भगवान् हैं, हममें बुद्धि, शक्ति कुछ भी नहीं, हम उन्हींपर निर्भर हैं—वे जो चाहें, करें' ऐसा हृदयसे भाव कर लेना।

३१ समस्त शक्तियोंका स्रोत भगवान्‌से ही आरम्भ होता है।

३२ हमारी कितनी भारी भूल है, कितना बड़ा प्रमाद है कि हम भगवान्‌के विचारके सामने अपना विचार रखते हैं, मानो भगवान् विचार करना भी नहीं जानते।

३३ जो भगवान्‌की दयाके सीधे प्रवाहको रोकना चाहता है, वह भारी भूल करता है।

३४ भगवान् जब, जो, जैसे करें, वैसे ही होने दो, उसीमें परम कल्याण है।

३५ रोगी कभी यह नहीं कहता कि हमें यह दवा दीजिये। डॉक्टरसे वह यह भी नहीं पूछता कि दवा किस चीजसे बनी है, बिना सोचे-विचारे ले लेता है। वह निर्भर करता है डॉक्टरके निदानपर और विश्वास करता है उसकी योग्यता तथा सुहृदतापर। परन्तु हम ऐसे अभागे हैं कि परमार्थ-पथमें हम अपना निदान आप करने बैठते हैं। ऐसा न करके केवल भगवान्‌पर विश्वास करनेकी ही आवश्यकता है।

३६ जो भगवान्‌को नहीं मानता और मनमाना करता है, उसका कल्याण नहीं होता।

३७ आरम्भसे ही भगवान्की दयापर, प्रेमपर, अनुग्रहपर अपना सारा-का-सारा जीवन छोड़नेवालेका, यहाँका-वहाँका——सब भार भगवान् सँभाल लेते हैं।

३८ हमारा सर्वस्व भगवान्का है——जिस क्षण यह भाव हुआ कि फिर बिना प्रयत्न ही अन्तर उज्ज्वल हो गया—परम पवित्र हो गया।

३९ बड़ी सीधी बात है,——फिर सब कुछ अपने-आप हो जायगा। केवल विश्वास करो भगवान्की कृपापर। भगवान्की कृपा है, अपनी कृपासे ही वे मुझे अवश्य स्वीकार कर लेंगे। यह भाव निरन्तर बढ़ाते चले जाओ।

४० बस दो बात है—भगवान्की कृपापर विश्वास और भगवान्के नामका आश्रय। फिर कोई चिन्ता नहीं। ध्यान नहीं लगता——न सही, मन वशमें नहीं होता, न सही।

४१ भगवान् पापी, नीचके भी उद्धारक हैं, यह विश्वास करके केवल जीभसे भगवान्के नामका उच्चारण करते रहो।

४२ भगवान् तो अपनी कृपासे ही स्वीकार कर लेते हैं। उन्होंने कहा है——

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

'महान् पापी भी यदि मुझको ही अपना एकमात्र आश्रयदाता मानकर पक्का निश्चय करके मुझे भजता है तो उसे साधु ही मानना चाहिये। वह तुरंत ही धर्मात्मा बन जाता है और शाश्वती शान्तिको प्राप्त होता है। बस, निश्चय करके मेरा भक्त बन जाय, फिर उसका पतन होता ही नहीं।'

इतनी सीधी-सी बात सभी कर सकते हैं। अपने पुरुषार्थसे पाप नहीं छूटते, न सही; बस भगवान्के पतितपावन विरदपर विश्वास करो, श्रद्धा करो—यह होगा, अवश्य होगा!

४३ **सकल अंग पद विमुख नाथ मुख नामकी ओट लई है।**
है तुलसी परतीति एक प्रभु मूरति कृपामई है॥

—बस, विश्वास कर लो कि 'प्रभु-मूरति कृपामई है।' और जीभसे नामका उच्चारण करते रहो।

४४ यदि हम जीभसे भगवन्नाम लेंगे तो सभी अङ्ग पुष्ट हो जायँगे।

४५ विश्वास करो——माँके समान भगवान्की कृपा सर्वत्र हमारी रक्षा करेगी।

४६ श्रीकृष्णकी अनन्त कृपा हमारे ऊपर है, ऐसा विश्वास करके नाम लेते रहिये।

४७ यदि हो सके तो यह करो——भगवान्की कृपापर अपने-आपको छोड़ दो। हमारा क्या होगा, कब होगा, इस बातकी चिन्ता ही छोड़ दो।

४८ जैसे माता अपने बच्चेके कल्याणके लिये, रोग मिटनेके लिये कड़वी दवा देती है, वैसे ही भगवान् जागतिक कष्ट, दारिद्र्य, अपमान और व्याधियाँ आदि भेजते हैं। ये देखनेमें कठोर हैं, पर वस्तुतः हैं भगवान्के आशीर्वाद। ये शुद्ध करनेके लिये—निर्मल बनानेके लिये ही आते हैं।

४९ मुझपर भगवान्की कृपा कम है, ऐसा माननेवाला भूल करता है। भगवान्की कृपा तो सबपर है और अनन्त है।

५० हम चाहे कैसे भी क्यों न हों, भगवान्की कृपा, भगवान्का सौहार्द हमें छोड़ ही नहीं सकता। वह सबको अपनाता है। यह अनिवार्य है।

५१ बिल्कुल यही बात है। कठिन-से-कठिन परिस्थितिमें यही मानना चाहिये कि भगवान्की कृपा हमपर है और हमारे ही ऊपर है और वह अनन्त है।

५२ नित्य परिवर्तनशीलता संसारका स्वरूप है। यह प्रतिक्षण बदलता ही रहता है। सारे जगत्‌में, व्यक्तिमें, समाजमें दिन-रात बनना-बिगड़ना चल रहा है। इसीका असर हमारे मनपर होता है। एक-सी स्थिति कभी रहती नहीं और मन अनुकूल-प्रतिकूल संकल्पोंको लेकर सुखी-दुःखी होता रहता है। जगत्‌के इसी स्वरूपमें पड़े-पड़े हम मर जाते हैं, जीवन व्यर्थ हो जाता है।

५३ मनमानी चीज सदा मिलती नहीं। कभी मिल जाती है, कभी नहीं मिलती।

५४ पुत्र-धनकी प्राप्ति हुई। मनमें मान लेते हैं कि हमारे मनकी हुई। थोड़ी-सी सफलता हुई, थोड़ा-सा आनन्द आया, फिर वही प्रतिकूलता और वही दुःख। साथ-साथ विषयासक्तिके कारण पाप भी होते ही रहेंगे। इस प्रकार जीवनभर विषाद, शोक, पापकी कमायी ही हाथ लगती रहेगी।

५५ मनुष्य आया था उन्नति करनेके लिये; मनुष्य-जीवन प्राप्त हुआ था भगवत्प्राप्तिके लिये; पर वह अपने इस वास्तविक लक्ष्यको भूल गया, विषयोंमें पड़कर कमाने लग गया पाप। गम्भीरतासे विचारो तो पता लगेगा कि जीवनका उद्देश्य यह कदापि नहीं है।

५६ महात्माओंने यह बात सबके लिये तै कर रक्खी है कि जीवनका लक्ष्य भगवत्प्राप्ति है, पर मनुष्य भूला। उसी भूलका परिणाम है—वर्तमानका महान् संहार।

५७ विषयासक्ति जब अत्यन्त बढ़ जाती है, तब दूसरेके भले-बुरेकी परवा नहीं रहती। दूसरेकी दशा कैसी भी क्यों न हो, पर हमें अपनी इच्छित वस्तु प्राप्त होनी ही चाहिये।

५८ 'विषयान् विषवत् त्यज' विषयको विष मानकर सर्वथा छोड़ दो।

५९ जिस प्रकार सोनेके घड़ेमें ज़हर भरा हो—'विषरस भरा कनकघट जैसे।' वैसे ही विषय ऊपरसे रमणीय प्रतीत होते हैं, भीतर इनमें दुःख-ही-दुःख है।

६० व्यष्टिके समूहका नाम समष्टि है। यदि सभी मनुष्य अपने-आपको अलग-अलग सुधार लें तो सभी सुधर जायँ।

६१ अपना सुधार चाहनेवालेको, उन्नतिशीलको यह नहीं देखना चाहिये कि दूसरा ठीक हो; दूसरे सुधरें, तब मैं भी सुधरूँ। उसे तो अपना सुधार आरम्भ कर ही देना चाहिये। अपना सुधार अपने ही द्वारा होगा।

'उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।'

६२ यह समय ही कलियुगका है, मन अच्छी बात तो जल्दी ग्रहण नहीं करना चाहता, बुरीको बहुत जल्दी ग्रहण कर लेता है।

६३ इस कलियुगमें वस्तुतः अच्छी बात मिलती भी बहुत कम है। यदि मिल भी जाती है तो ग्रहण नहीं होती। ग्रहण नहीं होनेमें कारण है अन्तरका मल।

६४ अन्तरमलको नाश करनेके लिये भगवन्नामसे बढ़कर दूसरा सुलभ साधन है ही नहीं। स्त्री, बच्चे, बूढ़े सभी भगवान्‌का नाम बड़े प्रेमसे ले सकते हैं।

६५ भगवान्‌के नाममें श्रद्धा नहीं हो, प्रेम नहीं हो तो दूसरेके कहनेसे ही लेना शुरू कर दें। अच्छा क्या हर्ज है, नाम लिया करेंगे; इसी भावसे लें; आदत डाल लें, फिर काम होगा ही, क्योंकि भगवन्नाममें वस्तुशक्ति ऐसी है, पाप नाश करनेकी स्वाभाविक शक्ति ऐसी है कि जीभपर नाम आते ही वह अन्तरमलका नाश करेगा ही।

६६ भगवन्नाम पापोंका नाश करके ही शान्त नहीं हो जाता। पापका नाश करनेके बाद हृदयमें ज्ञानकी ज्योति पैदा करता है, ज्ञानके बाद—भगवान्‌के प्रति

प्रेम उत्पन्न करता है। यह हुआ कि फिर स्वयं नामी खिंच आते हैं।

६७ भगवान्‌के नाम, स्वरूप, लीला, धाममें अन्तर नहीं है। ये सब भगवत्स्वरूप ही हैं।

६८ नाम भगवान्‌को हमारी ओर खींचता है, हमें भगवान्‌की ओर ले जाता है–दोनों ही काम करता है।

६९ सबसे बड़ी मूर्खता, सबसे बड़ा मोह यह है कि हम विषयोंसे सुखकी आशा करते हैं। इस मूर्खता, इस मोहको मिटानेके लिये भी भगवान्‌का नाम ही लेना चाहिये।

७० 'तुलसिदास हरिनाम सुधा तजि, सठ हठि पियत विषय बिष माँगी।' यही दशा हो रही है।

७१ भगवान्‌ने कहा है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

जितने भी इन्द्रियोंके द्वारा प्राप्त होनेवाले भोग हैं–सब-के-सब दुःखकी उत्पत्ति करनेवाले और अनित्य हैं। बुद्धिमान् पुरुष उनमें कभी प्रीति नहीं करता।' यह त्रिकाल सत्य है। विश्वास करो—विषय सदा रहते नहीं, उनमें दुःख-ही-दुःख भरा है।

७२ भगवान्‌ने संसारको 'दुःखालय' बतलाया है। विश्वास करो कि भगवान्‌से विरहित ससार सर्वथा सब ओरसे दुःखमय है। इसमें पड़े रहकर सुख चाहना तो वैसा ही है कि पड़े रहें आगमें और चाहें शीतलता।

७३ जगत्‌में लड़ाइयाँ क्यों होती हैं? इसीलिये कि विषयोंसे सुखकी आशा है। हमारे मनमें यह मोह है कि लड़कर मनमाना विषय प्राप्त करेंगे और सुखी हो जायँगे।

७४ जब विषयोंमें सुखकी आशाका मोह भंग होता है, तभी वैराग्य उत्पन्न होता है और फिर सच्चा सुख मिलता है।

७५ विषयोंसे विरक्ति हुए बिना सुख मिलता ही नहीं।

७६ विषयानुराग और वैराग्य एक साथ कैसे रह सकते हैं?

७७ जहाँ विषयानुराग है, वहाँ भगवान् भी नहीं हैं—

'जहाँ काम तहँ राम नहिं।'

७८ जहाँ भोगोंके प्रति प्रेम है, वहाँ भगवत्प्रेम नहीं है।

७९ जब भगवत्प्रेम जाग्रत् होता है, तब मालूम पड़ता है—ओह! मेरी कितनी मूर्खता थी, भ्रमसे वहाँ मैं उन विषयोंमें सुख ढूँढ़ता था, जहाँ सुखका लेश भी नहीं है।

८० प्रेम उत्पन्न होते ही भगवच्चरणोंसे मनुष्य दृढ़तासे, कभी अलग नहीं होनेके लिये सट जाता है।

८१ भगवत्प्रेमका आनन्द इतना महान् है कि उसकी कोई तुलना नहीं। स्वर्गीय अमृतसे इसकी क्या तुलना होगी?

८२ प्रेमानन्दके सामने सभी आनन्द तुच्छ हो जाते हैं, पर प्रेमानन्दके उदय होनेपर ही ऐसी दशा होती है।

८३ जबतक हम विषयोंके मोहमें पड़कर अन्धे हो रहे हैं, तबतक भगवत्प्रेमका उदय होना सम्भव नहीं है।

८४ सत्यको ग्रहण करना चाहिये, जगत् कुछ भी क्यों न कहे।

८५–जो सत्य है वह सत्य ही रहेगा। जगत्‌के न माननेसे सत्य मिटता नहीं।

८६ यदि हम बहुमतसे पास कर दें कि सूर्य कोई वस्तु नहीं—तो क्या सूर्य हमारे वोट पास कर देनेसे नहीं रहेंगे? रहेंगे ही। इसी प्रकार सत्य वस्तु भगवान् तो किसीके न माननेपर भी रहेंगे ही।

८७ भगवान्‌की प्राप्ति ही मनुष्य-जीवनका चरम और परम उद्देश्य है।

८८ जो भगवान्‌में मन लगाता है, वही बुद्धिमान् है।

८९ **ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई।**
गुंजा ग्रहइ परस मनि खोई॥

पारसको छोड़कर चिरमी लेनेवाला जीवित रह जाता है, पर वह तो इससे भी अधिक मूर्ख है कि जो अमृत छोड़कर ज़हर लेता है। विषयोंमें मन लगाना तो अमृत छोड़कर ज़हर ही लेना है।

९० विषयरूप ज़हर लेकर अमर होना चाहे, यह कितनी मूर्खता है ।

९१ मनष्य विषयोंको समीप बुलाता है और चाहता है कि अमर रहूँ यह कैसे सम्भव है ?

९२ जिसने विषयोंके मोहको छोड़ दिया, उसने बड़ा भारी काम कर लिया ।

९३ जो असली धनको नहीं खोवे, वही चतुर है । असली धन है भगवद्भजन, भगवत्स्मरण ।

९४ विषयोंकी चाहमें जीवन विषाद-शोकमें बीतता है । विषयोंको पानेके लिये जीवनभर पापकी कमायी होती है, जिसका परिणाम भी विषाद और दुःख ही होता है । इस प्रकार विषयोंमें आदिसे अन्ततक दुःख-ही-दुःख है ।

९५ मोहमें पड़ी हुई बुद्धि विचार नहीं कर पाती । पर सोचो, यहाँकी कौन-सी वस्तु साथ जायगी ? इसके पहले भी, इस जीवनके पहले भी तो हम कहीं थे ? वहाँसे हम क्या साथ लाये ? क्या कभी पूर्वजीवनकी बात याद भी आती है ? स्मरण करनेकी इच्छा भी होती है ? ठीक यही दशा इस जीवनके बाद भी होगी ।

९६ जिस वस्तुसे हमारा एक दिन बिल्कुल कोई भी सम्बन्ध नहीं रहेगा, उस वस्तुके लिये भगवान्‌को भूलना कितनी बड़ी मूर्खता है ।

९७ पैदा हुए, मर गये । न भगवान्‌का स्मरण है न अपने स्वरूपकी स्मृति । यह तो मानव-जीवनका सर्वथा दुरुपयोग है ।

९८ असली बात है—भगवान्‌के लिये ही जीवन बिताना जीवनका उद्देश्य हो जाय ।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

'जो करो, जो खाओ, जो कुछ होम, दान और तप करो, सब मेरे (भगवान्‌के) अर्पण करो ।'

इसके अनुसार साधना करना भगवान्‌के लिये जीवन बिताना है । सब करो, पर अपने लिये नहीं, भगवान्‌के लिये ।

९९ भगवान्‌ने कहा—'अर्जुन युद्ध करो, पर विजयके लिये नहीं ! आशारहित होकर, ममतारहित होकर (निराशीर्निर्ममो भूत्वा) युद्ध करो, केवल निमित्तमात्र बनो, मैं कराऊँ वैसे करते जाओ ।' बस, ऐसी ही साधना करनी है ।

१०० जो होता है, सब भगवान्‌का किया ही होता है । इसलिये अहङ्कारका त्याग कर दो । कर्मका फल भी छोड़ दो भगवान्‌पर ही । भगवान्‌के हाथके यन्त्र होकर उनकी इच्छानुसार करते चले जाओ ।

१०१ जिसके जिम्मे जो काम है, वही करे, पर करे भगवान्‌की सेवाके लिये । यहाँतक कि मनके प्रत्येक सङ्कल्प-विकल्पको भी भगवत्सेवासे जोड़ दे ।

१०२ जिसके मन, बुद्धि, शरीर एवं इन्द्रियोंपर भगवान्‌का पूर्ण अधिकार हो गया है, वही मुक्त है ।

१०३ श्रीगोपीजनोंके मन, बुद्धि, शरीरपर एकमात्र श्रीभगवान्‌का ही अधिकार था । भगवान्‌ने उनके लिये स्वयं यह स्वीकार किया है—'ता मन्मनस्का मत्प्राणाः ।'

१०४ सारा काम करो, पर भगवान्‌को याद रखते हुए उन्हींके प्रीत्यर्थ करो । हम नौकरी करते हैं—व्यापार करते हैं, पर उस नौकरी या व्यापारको भगवान्‌को याद करते हुए भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये करें तो व्यापार ही भगवत्पूजा बन जायगा ।'

१०५ सारे पदार्थोंपरसे अपनी मालिकी उठा दो । मालिक भगवान्‌को बना दो और खुद मैनेजर बन जाओ ।

१०६ भगवान्‌के चिन्तनमें ही सुखकी, तृप्तिकी खोज करो । फिर जीवन दिव्य बन जायगा । क्रियाएँ सब-की-सब भगवान्‌के लिये होने लग जायँगी । ऐसा असम्भव नहीं है ।

१०७ कुछ भी न हो सके, तो जिस किसी भावसे हो, भगवान्‌का नाम लेते रहो ।

१०८ नामका सच्चा आश्रय लेकर निश्चिन्त हो जाओ !

(क्रमशः)

स्नेह-सूत्र

(रचयिता—कविरत्न पं० श्रीगणपतराजजी पुरोहित 'सज्जन')

धरामें धँसा दो, शूली-फाँसी पै चढ़ा दो चाहे,
मिट्टीमें मिला दो और गिरा दो गगनसे।
तेग, तलवार, तेज तीरसे तरासो तन,
ममता तनिक नहीं, मानव-जीवनसे॥
स्वर्णके समान पूर्ण प्रज्वलित पावकमें
खूब ही तपा लो, पर हटूँगी न प्रनसे।
'सज्जन' रमे हैं रोम-रोममें हमारे श्याम,
छुटेगी न लगी जो लगन प्राण-धनसे॥१॥
गोविंद गुपाल गिरधारी नन्दलाल कृष्ण
मेरे प्राणपति हैं, रिझाऊँगी भजनसे।
जीवन-आहुति प्रेम-यज्ञमें इन्हींके दूँगी,
साँवरे सलोनेकी हूँ दासी तन-मनसे॥
फँसूँगी न कभी झूँठे आपके प्रलोभनोंमें,
मारो, चाहे छोड़ दो, निकाल दो भवनसे।
नोच-नोच मांसको भी 'सज्जन' लुटा दो तो भी,
छुटेगी न लगी जो लगन प्राण-धनसे॥२॥
लोककी न, लाजकी न, घरकी न, बारकी न,
चिन्तना न चित्तमें है, कुछ भी श्रवनसे।
रसना रसिक रस-रासके रचैयाकी है,
दबेगी कदापि नहीं, दानवी दमनसे॥
ध्यान है उन्हींका, ध्यान रहेगा उन्हींका सदा,
भारतीय नारी जिसे पति कहे मनसे।
'सज्जन' सहर्ष सभी संकट सहूँगी, पर
छुटेगी न लगी जो लगन प्राण-धनसे॥३॥
बाटनमें, बागनमें, वृक्षनमें, विपिनमें,
देखती हूँ चहुँ ओर उन्हींको नयनसे।
सुनती मधुर ध्वनि उनकी ही आठों याम
बाँसुरीसे, वाणीसे, सरस श्याम-घनसे॥
गाती हूँ उन्हींके गीत, गाऊँगी उन्हींके गीत,
प्रेममें उन्हींके मैं रँगी हूँ बालपनसे।
छोड़ दूँगी 'सज्जन' शरीरको सहर्ष, पर
छुटेगी न लगी जो लगन प्राण-धनसे॥४॥

शिक्षा

(लेखक —पं० श्रीगङ्गाशङ्करजी मिश्र, एम्० ए०)

शिक्षा और परीक्षा

(२)

डाक्टर जियाउद्दीन अहमद आजकल अलीगढ़-मुसलिम-विश्वविद्यालयके 'प्रोवाइस-चान्सलर' हैं । आपने योरपके कई देशोंमें भ्रमण करके वहाँकी शिक्षा-पद्धतियोंपर एक पुस्तक लिखी थी, जो सन् १९२९ में 'सिस्टम्स ऑफ एजुकेशन' के नामसे प्रकाशित हुई । इसमें आपने वहाँकी तत्कालीन प्रचलित परीक्षा-पद्धतियोंका भी वर्णन किया है । फ्रान्समें प्रतिवर्ष जुलाई तथा अक्टूबरमें परीक्षा होती है । दूसरी परीक्षामें प्रायः वे ही लोग बैठते हैं, जो प्रथममें फेल हो जाते हैं । मौखिक तथा लिखित—दोनों परीक्षाएँ होती हैं, जिनमें मौखिकका अधिक महत्त्व है । विद्यार्थीके सम्बन्धमें अध्यापककी तीन वर्षोंकी रिपोर्टपर भी परीक्षामें विचार किया जाता है । परीक्षा प्रारम्भ होनेके १५वें दिन परीक्षा-फल घोषित कर दिया जाता है । किसी एक केन्द्रमें परीक्षाएँ नहीं होतीं और न वहाँसे छपे पर्चे ही सर्वत्र भेजे जाते हैं । प्रत्येक प्रान्तके लिये 'परीक्षा बोर्ड' नियुक्त कर दिये जाते हैं । इनका अध्यक्ष कोई योग्य तथा विश्वासपात्र विद्वान् रखा जाता है । सभी सदस्य प्रायः स्थानीय अध्यापक होते हैं । मौखिक परीक्षाके लिये तीन-से-पाँच सदस्योंतककी एक 'जूरी' रहती है । लिखित परीक्षामें कुल ३ प्रश्न होते हैं, जिनमें केवल एक प्रश्नका उत्तर देना आवश्यक होता है । इटली और जर्मनीका नाम आजकल सभ्य राष्ट्रोंकी सूचीसे निकाल दिया गया है, पर तब यह बात न थी । डाक्टर साहबने अपनी पुस्तकमें वहाँकी पद्धतियोंपर भी प्रकाश डाला है । इटलीमें एक 'परीक्षा-कमीशन' होता है, जिसमें प्रायः पाँच सदस्य रहते हैं । स्कूलकी अन्तिम परीक्षा इस कमीशनद्वारा होती है । यह कमीशन प्रत्येक परीक्षा-केन्द्रमें जाता है, वहाँ वह कुछ लिखित प्रश्न देता है, जिनके उत्तर कमीशनके सब सदस्य मिलकर जाँचते हैं । इसमें उनको प्रायः एक सप्ताह लगता है । प्रत्येक प्रश्नके उत्तरके लिये अलग-अलग नंबर नहीं दिये जाते, सब उत्तरोंको देखकर परीक्षा देनेवालेकी योग्यताका अनुमान कर लिया जाता है और उसकी कापीपर केवल 'पास' या 'फेल' लिख दिया जाता है । जो पास होते हैं, उन्हें योग्यतानुसार प्रथम, द्वितीय या तृतीय श्रेणीमें रखा जाता है । फिर सब सदस्य मिलकर मौखिक परीक्षा लेते हैं और उसके बाद ही परीक्षा-फल घोषित कर दिया जाता है । जो लोग 'फेल' होते हैं, उन्हें दो महीनेके बाद ही फिर परीक्षा देनेका अवसर दिया जाता है । जर्मनीमें प्रत्येक वर्षको तीन 'टर्मों' (काल) में विभक्त किया जाता है । प्रत्येक 'टर्म' के अन्तमें अध्यापक छात्रोंके विषयमें अपनी सम्मति एक रजिस्टरमें लिख देता है । यह सम्मति अङ्क १, २, ३ से प्रकट की जाती है । वर्षके अन्तमें हेडमास्टर अध्यापकोंकी राय लेकर छात्रोंको आगेकी श्रेणीमें भेज देता है । मुश्किलसे १० प्रतिशत छात्र रोक लिये जाते हैं । परीक्षामें आचरण, आज्ञापालन, परिश्रम तथा शारीरिक व्यायामके लिये भी नंबर दिये जाते हैं । स्कूलकी अन्तिम परीक्षा वर्षके अन्तमें होती है । प्रान्तके 'इन्स्पेक्टरों' के निरीक्षणमें अध्यापकद्वारा ही परीक्षा ली जाती है । परीक्षा लिखित तथा मौखिक दोनों प्रकारकी होती है । लिखित परीक्षामें प्रत्येक पर्चेमें केवल एक प्रश्न रहता है । किसी विषयपर एक निबन्ध लिखनेके लिये अध्यापक कोई तीन विषय देता है, जिनमेंसे 'इन्स्पेक्टर' एकको चुन लेता है । सभी पाठ्य-विषयोंकी परीक्षा नहीं होती, कुछ प्रधान विषयोंमें ही योग्यताकी जाँच कर ली जाती है । विश्वविद्यालयोंमें केवल 'आचार्य' परीक्षा होती है । इसमें अध्ययनके लिये केवल एक विषय होता है, जिसके लिये पाठ्य-सामग्री अध्यापक बतलाता रहता है । अन्तमें उस विषयके किसी अङ्गपर एक निबन्ध लिखनेको कहा जाता है । निबन्ध स्वीकृत हो जानेपर तीन परीक्षक मौखिक परीक्षा लेते हैं, जिसमें दो-तीन घंटे लगते हैं । परीक्षक प्रश्नोंकी झड़ी लगा देते हैं, जिनसे थोड़ी ही देरमें परीक्षा देनेवालेकी कलई खुल जाती है । परीक्षा समाप्त होते ही फल घोषित कर दिया जाता है । असफलतासे अध्यापककी अयोग्यताका परिचय मिलता है ।

डाक्टर साहबकी रायमें कुछ आवश्यक परिवर्तनोंके साथ इन पद्धतियोंको ही अपने यहाँ परीक्षाओंके लिये अपनाना चाहिये । इस सम्बन्धमें आप लिखते हैं कि ''अँगरेजी शिक्षाका प्रचार होनेके पहले अपने यहाँ जर्मन-ढंगकी ही परीक्षा होती थी । जिन शिक्षा-संस्थाओंपर 'सरकारी शिक्षा-विभाग' की छाया नहीं पड़ी है, उनमें कुछ ऐसी ही पद्धति अब भी प्रचलित है ।'' वर्तमान शिक्षापद्धतिके दोषोंको

'भारत-सरकार' ने स्वयं स्वीकार किया है । सन् १९०४ में उसके द्वारा प्रकाशित 'एजुकेशनल पॉलिसी' (शिक्षा-नीति) में कहा गया है कि 'प्राचीन भारतमें, जिनको आजकल हम परीक्षाएँ कहते हैं, वैसी परीक्षाएँ नहीं होती थीं । सन् १८५४के शिक्षासम्बन्धी 'खरीते' (डिसपैच) में भी उनकी विशेष चर्चा नहीं है । थोड़े दिनोंसे इस तरहकी परीक्षाओंका असाधारण विस्तार हो गया है और भारतकी सारी शिक्षा-व्यवस्थापर उनकी धाक जमी हुई है । इसका फल यह हो रहा है कि सारा अध्यापन केवल निर्धारित पाठ्यक्रमकी पुस्तकोंमें ही सीमित है । जिन विषयोंकी परीक्षा नहीं होती, उनकी अवहेलना की जाती है और छात्र तथा अध्यापक वास्तविक अध्ययनपर नहीं, केवल परीक्षाओंमें आनेवाले प्रश्नोंपर ही अपनी शक्तियोंको केन्द्रीभूत करते हैं ।' इन वाक्योंको लिखे हुए ४० वर्ष हो गये, पर 'भारत-सरकार' ने इस कुव्यवस्थाको सुधारनेका स्वयं अबतक कोई प्रयत्न नहीं किया । भिन्न-भिन्न नौकरियोंके लिये ऐसी ही परीक्षाएँ रखकर उसने इनके क्षेत्रको सन् १९०४ से और भी अधिक विस्तृत कर दिया है । हाथीके खाने और दिखानेके दाँत दूसरे ही हुआ करते हैं । 'भारत-सरकार' और 'ब्रिटिश सरकार' जिसकी वह चेरी है—बातें बड़ी-बड़ी बघारती हैं, पर करती वही हैं जिससे भारतमें ब्रिटिश-शासनकी जड़ मजबूत हो । और तो और, स्वयं डाक्टर जियाउद्दीन साहब अलीगढ़-मुसलिम-विश्वविद्यालयके प्रोवाइस-चान्सलर होते हुए भी वहाँकी परीक्षा-पद्धतिमें, जहाँतक हमें ज्ञात है, कोई तात्त्विक परिवर्तन नहीं कर सके हैं । इसका भी कारण यही है कि उस विश्वविद्यालयके सिरपर भी भारतसरकारका अँगूठा है । वह उसे साढ़े तीन लाख रुपये सालकी सहायता देती है और कहनेभरके लिये, उसकी परीक्षाएँ स्वीकार करती है । फिर भला, वह उसमें मनमाने सुधार करनेकी स्वतन्त्रता कैसे दे सकती है ।

अपने यहाँ सरकारने इङ्गलैंडमें प्रचलित पद्धतिका ही प्रचार कर दिया और दासमनोवृत्तिके कारण हमने भी इसे सर्वश्रेष्ठ मान लिया । इससे मुक्त होनेके लिये हमें अपनी निजी परीक्षापद्धति बनानी होगी और उसकी प्रामाणिकता स्वीकार करनी पड़ेगी । एक ही निश्चित तिथियोंपर, एक ही प्रकारके पर्चोंसे, अधिक से-अधिक संख्यामें छात्रोंकी परीक्षा लेनेकी पद्धतिको सर्वथा हटाना चाहिये । प्रत्येक विषयके अध्यापकोंको महीने या दो महीनेके अन्तरसे छात्रोंकी जाँच करके उनकी योग्यताका एक लेख रखना चाहिये । वार्षिक परीक्षाके अवसरपर आस-पासके दो-चार सम्मानित विश्वासपात्र विद्वानोंद्वारा लिखित तथा मौखिक परीक्षा होनी चाहिये, इसमें संस्थाके अध्यक्ष तथा अध्यापकोंको भी शामिल करना चाहिये । परीक्षा देनेवालेकी योग्यताका निर्णय करते समय उसके अध्यापकद्वारा रखे हुए योग्यताफलको भी ध्यानमें रखना चाहिये । केवल बुद्धिकी ही परीक्षा नहीं होनी चाहिये । स्वास्थ्य और आचरणपर भी ध्यान देना चाहिये, जिनकी किसी कार्यको सफल बनानेमें बड़ी आवश्यकता है । प्रत्येक प्रश्नके उत्तरमें नंबर न देकर छात्रकी सारी योग्यताका अनुभव करके उसे 'पास' या 'फेल' करना चाहिये । पास होनेपर प्रथम, द्वितीय या तृतीय श्रेणी योग्यतानुसार देनी चाहिये । इसके लिये परीक्षकोंको कोई लंबे पुरस्कार देनेकी आवश्यकता नहीं । बाहरके लोगोंको केवल आने-जाने तथा भोजनादिका खर्च देना चाहिये । परीक्षाफल शीघ्र ही घोषित कर देना चाहिये और छठे महीने परीक्षामें दूसरी बार बैठनेका अवसर देना चाहिये । इन विश्वासपात्र परीक्षकोंद्वारा दिये हुए प्रमाणपत्रका पूरा आदर करना चाहिये और इनके प्राप्त करनेवालोंको विभिन्न पदोंपर नियुक्त करके प्रोत्साहन देना चाहिये ।

ऐसी परीक्षा-व्यवस्थामें धनके लोभसे धूर्त और अयोग्य परीक्षकोंके घुसनेका अवसर न रहेगा, परीक्षामें अधिक धन खर्च न होगा, परीक्षा देनेवालेको अपनी योग्यता-प्रदर्शनके लिये पूरा अवसर मिलेगा और रटनेमात्रसे उसका काम न चलेगा । अध्यापकको भी अपना विषय अच्छी तरह पढ़ाना होगा, केवल नोट लिखवाकर ही उसके कर्तव्यकी इति न हो जायगी । विद्यार्थियोंको अपना स्वास्थ्य तथा आचरण सुधारनेका भी ध्यान रखना पड़ेगा । परीक्षाओंका रहस्यमय रूप नष्ट हो जायगा । परीक्षा देनेवाले और परीक्षकका प्रत्यक्ष सम्पर्क रहेगा । परीक्षाफल शीघ्र ही घोषित हो जायगा । उसकी प्रतीक्षामें विद्यार्थीको महीनों त्रिशङ्कुकी दशामें टँगे रहनेकी नौबत न आयेगी । परीक्षाफल जान लेनेके पश्चात् यदि १५ दिनका भी अवकाश दे दिया जायगा तो वह निश्चिन्त होकर आनन्दसे समय बितायेगा । परीक्षाओंके चक्करमें तीन-चार महीने जो नष्ट हो जाते हैं, उनमेंसे कम-से-कम दो महीने तो पढ़ाईके लिये अवश्य मिल जायँगे । फेल होनेपर सालभर दूसरी परीक्षाके लिये बैठा न रहना पड़ेगा । छठे महीने उसके लिये फिर अवसर आयेगा । परीक्षाएँ शिक्षाका एक अङ्ग बन जायँगी और विद्यार्थियोंको

प्रतिवर्ष सतानेवाली 'पिशाचिका' न रहेंगी। पूर्णरूपसे विचार करके हमें अपने अनुकूल ऐसी परीक्षा-पद्धति बनानी चाहिये, जिसमें कम-से-कम खर्च और कम-से-कम समयमें विद्यार्थीकी सर्वाङ्गीण योग्यताकी अधिक-से-अधिक पहचान हो सके। यह तभी सम्भव है जब हम सरकारी परीक्षाओंका मोह छोड़ें; और यह तभी हो सकता है, जब हम अपनी परीक्षाओंका स्वयं आदर करें और उनमें उत्तीर्ण लोगोंको सब प्रकारका प्रोत्साहन दें। क्या शिक्षा-संस्थाएँ इस ओर ध्यान देंगी ?

शिक्षा और साक्षरता

कहा जाता है कि प्राचीन कालमें मिस्र देशके एक निवासीने जब लिखनेके लिये सर्वप्रथम अक्षरोंका आविष्कार किया, तब वह वहाँके तत्कालीन राजाके पास गया और कहने लगा—'महाराज! मैंने स्मरणशक्तिके एक बड़े सुन्दर सहायकका आविष्कार किया है।' उसे आशा थी कि राजा प्रसन्न होकर कोई बड़ा इनाम देगा; परन्तु हुआ उल्टा। राजाने बड़े ध्यानसे अक्षरोंद्वारा लेखन-कलाको समझा और कहा कि 'तुमने तो स्मरणशक्तिकी हत्या कर डाली।' बात ठीक ही है, लेखनकलाने स्मृतिको निर्बल बना दिया है और मनुष्योंमें धीरे-धीरे उसका ह्रास होता हुआ दिखायी पड़ रहा है। भारतीय तो सदासे ही 'मेधा' के उपासक रहे हैं—'महाविद्या महामाया महामेधा महास्मृतिः।' (सप्तशती) हमारी संस्कृतिमें ज्ञानका साधन मुखसे कहा हुआ शब्द है। वेदको 'श्रुति' कहते हैं। उसे आचार्यसे सुनकर ही सीखना पड़ता है, पोथी-पुस्तकसे पढ़कर प्राप्त नहीं किया जा सकता। सब प्रकारका ज्ञान गुरुसे सुनकर प्राप्त करनेकी प्राचीन परिपाटी रही और हिंदू-समाजमें कुछ अंशोंमें अबतक प्रचलित है। अपने यहाँका यह सिद्धान्त है, कोई मन्त्र बिना गुरुमुखसे सुने केवल पुस्तकद्वारा याद कर लेनेसे सफल नहीं होता। इस परम्पराने भारतीय धर्म तथा संस्कृतिके आधारभूत वेदोंकी अनादि कालसे रक्षा की है। यदि वेद पुस्तकरूपमें होते तो वे न जाने कबके नष्ट हो गये होते। परन्तु इस निधिको वैदिकोंने सदा अपने कण्ठमें रखा, उन्हींके द्वारा वेद परम्परया बराबर प्राप्त होते रहते हैं। भगवान् रामचन्द्र जब वनको जाने लगे, तब अयोध्याके कई ब्राह्मण उनके साथ हो लिये। बहुत समझाने-बुझानेपर वे कहने लगे कि 'हमें चिन्ता ही क्या है। परम धन वेद हमारे हृदयोंमें है और घरमें स्त्रियाँ अपने सदाचारसे रक्षित हैं—

हृदयेष्वेव तिष्ठन्ते वेदा ये नः परं धनम्।
वत्स्यन्त्यपि गृहेष्वेव दाराश्चारित्ररक्षिताः॥

आज भी देशमें कितने ही 'घनान्त' वेदपाठी पड़े हुए हैं। उनका सारा जीवन वेदोंको कण्ठ करनेमें व्यतीत हो जाता है। प्रकाशित पुस्तकोंमें भले ही अशुद्धियाँ हों, पर उनके पाठमें एक स्वर तथा मात्राका भी अन्तर नहीं पड़ता। इस शैलीके कारण ही वेदोंमें गोलमाल करनेका भी अवसर नहीं मिला।

अक्षरज्ञान शिक्षाका एक साधन अवश्य है। परन्तु आजकल वह एकमात्र साधन ही नहीं, स्वयं शिक्षा बन गया है। जो चार अक्षर पढ़-लिख लेता है, उसकी गणना शिक्षितोंमें होने लगती है। अपने यहाँ शिक्षाका यह भाव कभी नहीं था। हम यह पहले ही कह आये हैं कि शिक्षाका मुख्य उद्देश्य है—मनुष्यको जीवनके धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थोंको प्राप्त करनेयोग्य बनाना। शिक्षाकी व्यवस्था ऐसी थी कि बिना अक्षरज्ञानके भी इस उद्देश्यकी सर्वसाधारणके लिये सिद्धि सम्भव थी। प्रत्येक व्यक्तिको अपने वर्ण और कुलधर्मका ज्ञान माता-पिता तथा कुटुम्बियोंके आचरणसे ही हो जाता था। अर्थ-प्राप्तिके लिये उसका वर्णानुसार व्यवसाय बना-बनाया था, जिसकी शिक्षाकी जड़ उसके पिताके वीर्यसे ही पड़ जाती थी। माताके दूधके साथ उसका विकास होता था और वह अनायास ही अपने कुलके व्यवसायको सीख लेता था, जिसके कारण जीवन-निर्वाहके लिये उसे इधर-उधर भटकना न पड़ता था। शुद्ध रज-वीर्यसे उत्पन्न होनेके कारण उसका शरीर जन्मसे ही स्वस्थ होता था और अन्न, घी, दूधकी कमी न होनेसे वह हृष्ट-पुष्ट रहता था। साधु-संतोंके उपदेश, कथा-वार्ता, धार्मिक उत्सवों, नित्य-नैमित्तिक कर्मों और तीर्थयात्रा आदिसे उसे उच्च आदर्शोंका ज्ञान प्राप्त करके मोक्षका मार्ग मिल जाता था। शिक्षाके इस क्रममें अक्षरज्ञान नितान्त आवश्यक नहीं था। इस व्यवस्थामें ऊँच-नीच, स्त्री-पुरुष, वृद्ध-बालक—सबके लिये अपने अनुकूल शिक्षा प्राप्त करनेका प्रबन्ध था। इस दृष्टिसे ही अपने यहाँ शिक्षा अनिवार्य थी। 'अधिकांश लोग साक्षर नहीं थे' यह कहनेमें लज्जित होनेकी कोई बात नहीं है। साक्षर न होते हुए भी वे शिक्षित थे, इसमें सन्देह नहीं। स्वर्गीय रवीन्द्रनाथके शब्दोंमें 'निरक्षर होनेके कारण ही लोग उच्च आदर्शोंके समझनेमें अक्षम होते हैं' ऐसा सोचना बड़ी भारी भूल है। हमारे देशमें जो व्यवस्था थी, उससे साक्षर-निरक्षर सभी लोग धर्मके आदर्शको सरलतासे अपने जीवनमें ग्रहण कर सकते थे। ('विशाल भारत', अगस्त १९४३)।

इतिहास देखनेसे पता लगता है कि जीवनको सफल बनानेमें निरक्षरता विशेषरूपसे बाधक नहीं हुई। कहा जाता है कि प्रसिद्ध मुगल-सम्राट् अकबरको केवल अपना नाम लिखना आता था। पञ्जाबकेसरी रणजीतसिंहको यह भी नहीं आता था। कौन कह सकता है कि ये दोनों सफल शासक नहीं हुए? आज भी कितने ही साधु-महात्मा पड़े हुए हैं, जिनका जीवन दूसरोंके लिये आदर्श है, जिनको उच्चकोटिका ज्ञान है, पर उनके लिये 'करिया अच्छर भैंस बराबर' है।

आजकलकी शिक्षामें साक्षरताको ऐसा महत्त्व दिया गया है कि साधन साध्य बन गया है, जिसके कारण कितने ही अनर्थ हो रहे हैं। चार अक्षर पढ़कर मनुष्य अपनेको विद्वान् समझने लगता है और जहाँ उसका अधिकार नहीं है, वहाँ भी प्रविष्ट होनेकी धृष्टता करने लगता है। 'थोड़ा ज्ञान खतरनाक होता है' यह एक अँग्रेजी कहावत है। परन्तु जब अनिवार्य शिक्षाकी आवाज उठायी जाती है, तब यह बात भूल जाती है। आजकल 'साक्षरता दिवस' मनाये जाते हैं, पर अक्षर-ज्ञानमात्रसे किसीको क्या कोई वास्तविक शिक्षा मिलती है? गाँवोंमें स्कूल खुल रहे हैं, इनमें पढ़नेवालोंकी क्या दशा होती है? इने-गिने ही लड़के ऐसे होते हैं, जो उच्च शिक्षा प्राप्त करके कुछ कमानेयोग्य बन पाते हैं। बाकी लड़के 'बाबू' बनकर घरका काम छोड़ बैठते हैं और 'न इधरके रहते हैं, न उधरके।' यह सब लिखनेका यह आशय नहीं है कि हम शिक्षाक्रममें साक्षरताकी अवहेलना करते हैं। उसकी आवश्यकता तथा उपयोगिताका हम भी अनुभव करते हैं; पर इसके साथ ही हमें यह कहनेमें सङ्कोच नहीं होता कि आधुनिक शिक्षा-व्यवस्थामें साक्षरताको आवश्यकतासे अधिक महत्त्व दिया जा रहा है—जिसके कारण समय, धन और शक्तिका जितना क्षय हो रहा है, उतना लाभ नहीं दिखायी देता।

आजकल रटाईकी निन्दा करनेकी चाल पड़ गयी है। हम भी मानते हैं, जहाँ विचारकी आवश्यकता है; वहाँ रटाईसे काम लेना शिक्षाकी दृष्टिसे हानिकारक है। परन्तु स्मरणशक्ति एक स्वाभाविक गुण है, जिसको बनाये रखना जीवनके लिये नितान्त आवश्यक है। चाकूको सानपर न चढ़ानेसे वह कुण्ठित हो जाता है। स्मरणशक्तिके विषयमें भी यही बात है। रटाईके अतिरिक्त भी कितने ऐसे साधन हैं, जिनसे स्मृति जाग्रत् रखी जा सकती है। परन्तु कभी-कभी केवल रटाई भी बहुत काम आती है। अपने यहाँकी यह प्राचीन शैली थी कि बच्चोंको व्याकरण, कोष आदि कण्ठ करा दिये जाते थे, जिनसे आगे चलकर अध्ययनमें बड़ी सहायता मिलती थी। सुन्दर-सुन्दर पद्य कण्ठ रहनेसे साहित्यिक भाषा लिखनेमें बड़ी सरलता रहती है। आजकलके शिक्षितोंमें इसका अभाव दिखलायी पड़ रहा है। बहुत कम ऐसे लोग निकलेंगे, जिन्हें काफी पद या वाक्य याद हों। उन्हें सदा इसके लिये पुस्तकोंपर निर्भर रहना पड़ता है। यह भी देखा गया है कि लिखनेकी अपेक्षा जबानी उपायोंद्वारा हिसाब-किताब शीघ्रताके साथ हो सकता है। जिसको पहाड़े आदि अच्छी तरह याद हैं, उससे कामचलाऊ हिसाब पूछा जाय तो वह झट बतला सकता है। बनिया या पंसारीकी दूकानपर इसका बराबर अनुभव होता है। पर यदि आजकलकी उच्च शिक्षा-प्राप्त व्यक्तिसे कोई ऐसा हिसाब पूछा जाय तो बिना कागज-पेंसिलकी सहायताके वह मुँह ताकता रह जायगा। हमारे यहाँ 'सूत्र' साहित्य ही बना हुआ है, जिसके कण्ठ करनेसे अध्ययनमें बड़ी सहायता मिल सकती है। साधन ऐसे होने चाहिये, जो सदा सर्वसुलभ हों, जिनमें कम-से-कम समय लगे, विशेष खर्च न हो और आवश्यकतासे अधिक परतन्त्रता न हो।

भारतीय मौखिक शिक्षा-पद्धतिका कई पाश्चात्य विद्वानोंने भी समर्थन किया है। प्रसिद्ध फ्रांसीसी विद्वान् माण्टेनका कहना है कि पढ़नेकी अपेक्षा विचार करनेका अधिक महत्त्व है। यदि समझनेकी योग्यता नहीं है तो पढ़ना बेकार है। सत्रहवीं शताब्दीके शिक्षाविशेषज्ञ पोर्ट रॉयलिष्टने यथासम्भव पुस्तकोंके बहिष्कार करनेका नियम बना लिया था। बातचीतद्वारा ही मानसिक शक्तियोंको जाग्रत् करनेपर उसे अधिक विश्वास था। प्रारम्भिक शिक्षाके सम्बन्धमें तो शिक्षाविशेषज्ञ पिस्टलोजी और फ्रोबेलने इसपर और भी अधिक जोर दिया है। आचरण, बुद्धि आदिकी तुलनामें लॉक पढ़ने-लिखनेको कोई विशेष महत्त्व नहीं देता था। रूसोंकी रायमें तो शिक्षाके लिये पुस्तकोंकी कोई उपयोगिता ही नहीं है।

शिक्षा-व्यवस्थामें इन सबपर विचार करना होगा। प्रत्येक साधनको उसके लिये उपयुक्त स्थान देना होगा, तभी शिक्षामें सुविधा होगी।

(क्रमशः)

—'सिद्धान्त'से

व्रत-परिचय

(लेखक—पं० श्रीहनूमान्जी शर्मा)

[भाग १६ के पृष्ठ १७०६ से आगे]

(१५)

प्रकीर्णव्रत

आरम्भका निवेदन—कल्याणकी गत (चौदह) संख्याओंमें 'व्रत-परिचय' नामसे जो वर्षभरके प्रायः सभी व्रतोंका परिचय प्रकाशित हुआ है, उसमें कुछ ऐसे व्रत रह गये हैं जो विशेष कारणोंसे, विशेष अवसरोंपर विशेष प्रकारसे किये जाते हैं। यथा—जन्मलग्न आदिसे ज्ञात हुए वैधव्ययोग आदिके परिहारके लिये 'सावित्री' और 'अश्वत्थ' व्रत, शरीरसम्भूत शुभ लक्षणोंकी सफलताके लिये 'सौभाग्यलक्ष्मी' और 'श्री' व्रत तथा पातक, उपपातक एवं महापातक आदिकी निवृत्तिके लिये 'प्राजापत्य' और 'चान्द्रायण'-व्रत आदि। इस संख्यामें ऐसे ही व्रतोंका समावेश किया गया है तथा साथमें उनके लक्षण, विधान एवं व्यवस्था आदि भी जोड़ दिये हैं। इसके सिवा पाप या कुयोग-निवारणके विधान पढ़ते समय बहुतोंको कृच्छ्रातिकृच्छ्र आदिके भेद और बहुविध पापोंके नाम तथा लक्षण जाननेकी आवश्यकता होती है। अतः इस संख्यामें प्रसङ्गानुसार उनका भी उल्लेख कर दिया है। सम्भव है इससे सनातनी जनताको सन्तोष होगा। अस्तु,

(१) सम्पत्तिप्रद श्रीव्रत (सौभाग्यलक्ष्मीसंग्रह)—यह व्रत एक-एक कलावृद्धिसे सोलह वर्षोंमें पूर्ण होता है। व्रतीको चाहिये कि आरम्भके शुभ दिनमें प्रातःस्नान आदिसे निवृत्त होकर 'ममाखिलपापक्षयपूर्वकमचलसम्पत्तिप्राप्तिकामनया श्रीव्रतमहं करिष्ये' यह सङ्कल्प करके सोने, चाँदी या ताँबेके पात्रमें दाड़िमकी लेखनी और केसर-चन्दनसे 'श्रीं' लिखे और उसका १ ईश्वरी, २ कमला, ३ लक्ष्मी, ४ चला, ५ भूति, ६ हरिप्रिया, ७ पद्मा, ८ पद्मालया, ९ सम्पद्, १० उचैः, ११ श्री और १२ पद्मधारिणी[1] नामोंसे पूजन करके 'श्रीं' मन्त्रके ५ या १० हजार जप करे। इस प्रकार प्रतिदिन वर्षपर्यन्त करनेसे एक कला सम्पन्न होती है। यदि वह सोलह वर्षतक किया जाय तो सोलह कलाएँ पूर्ण हो जाती हैं और उसका अमित फल होता है। स्मरण रहे कि जप करते समय सुपूजित 'श्रीं' को हृदयङ्गम रखकर या उसपर दृष्टि स्थिर करके जप करनेसे अचल श्री प्राप्त होती है।

(२) सुतप्रद धर्ममूलव्रत (शुकजातक)—जन्मलग्न आदिमें बृहस्पतिसे[2] पाँचवें घरका स्वामी त्रिक (६-८-१२) में हों और पञ्चम, सप्तम तथा नवमका स्वामी छठे, आठवें और बारहवेंमें हों तो पुत्र-प्राप्तिमें बाधा होती है। अतः उसकी प्राप्तिके निमित्त धर्ममूल[3] उपाय करने चाहिये। यथा (१) शुक्लपक्षकी सप्तमी, रविवारको प्रातः स्नान आदिके बाद 'मम सत्पुत्रप्राप्तिकामनया सूर्यसप्तमीव्रतमहं करिष्ये'—यह सङ्कल्प करके सूर्यकी सुवर्णमयी मूर्तिका या आकाशस्थ साक्षात् सूर्यका गन्ध, पुष्प आदिसे पूजन कर अलवण एकभुक्त व्रत करे और वर्षपर्यन्त करके उसकी समाप्ति करे।··· (२) शिवजीके समीप शुभासनपर पूर्वाभिमुख बैठकर उनका विधिवत् पूजन करे और पञ्चाक्षरी शिवमन्त्र(ॐनमः शिवाय)का एक लाख या दस हजार जप व्रतपूर्वक नौ मासपर्यन्त करे। (३) प्रारम्भमें शुक्लपक्षकी दशमी गुरुवारको प्रातःस्नान आदि नित्यकर्मसे निवृत्त होकर 'मम सकलपापतापक्षयपूर्वकं सत्पुत्रप्राप्तिकामनया 'देवकीसुत गोविन्द०' इति सन्तानगोपालमन्त्रस्य जपं स्तोत्रपाठं वाहं करिष्ये।' यह सङ्कल्प करके न्यासादिपूर्वक 'ॐ देवकीसुत गोविन्द वासुदेव जगत्पते। देहि मे तनयं कृष्ण त्वामहं शरणं गतः।' इस मन्त्रका प्रतिदिन एक या ५ हजार जप करे और ब्रह्मचर्य-धारणपूर्वक परिमित हविष्यान्नका एकभुक्त भोजन करे। इस प्रकार प्रतिदिन एक हजारके हिसाबसे सौ दिन अथवा ५ हजार प्रतिदिनके हिसाबसे २० दिनमें एक लाख जप अथवा सौ दिनमें ग्यारह सौ स्तोत्रपाठ करके समाप्तिके समय तद्दशांशका हवन, तर्पण, मार्जन और ब्राह्मण-भोजन करे।····· तथा (४) अपने मकानके आँगनमें मण्डप बनवाकर उसको ध्वजा-

---

१. द्वादशैतानि नामानि लक्ष्मीं सम्पूज्य यः पठेत्।
स्थिरा लक्ष्मीर्भवेत्तस्य पुत्रदारादिभिः सह॥

(सौभाग्यलक्ष्मी)

२. वागीशात् पञ्चमेशस्त्रिकभवनगतः पुत्रधर्माङ्गनाथा रन्ध्रे द्वेष्यान्तिमस्थाः।
३. तत्प्राप्तिर्धर्ममूला। (शुकसूत्र)

पताका और बन्दनवार आदिसे भूषित करके किसी पुराणपाठी सत्पात्र विद्वान्‌से हरिवंश-पुराणका श्रद्धापूर्वक श्रवण करे; और समाप्तिके दिन हवन, पूजन और ब्राह्मण-भोजन आदि करके उसे समाप्त करे। इस प्रकार इन चारों प्रयोगोंको एक साथ या यथाक्रम पृथक्-पृथक् अथवा इनमेंसे किसी भी एकको करे तो उससे प्रभावशाली पुत्र प्राप्त होता है।

(३) मेधावर्द्धक ग्रहणव्रत (प्रयोगवैभव)–दिनके पूर्वभागमें होनेवाले ग्रहणके पहले दिन प्रातःस्नान आदि करनेके अनन्तर सद्वैद्यकी सम्मतिके अनुसार ब्राह्मीका सेवन करके व्रत करे। उसके दूसरे दिन ग्रहणके समय सोनेकी शलाका या कुशाके मूल अथवा दूर्वाके अङ्कुरोंसे जीभपर छोटी मक्खियोंके शहदसे 'ऐं' लिखे और इसीका जप करे। तदनन्तर, अग्निस्थापन करके गायके घीकी ८, २८ या १०८ आहुतियाँ देकर गायके दूधकी खीरमें हवनसे बचा हुआ घी मिला दे और 'ॐ प्राणाय स्वाहा' 'ॐ अपानाय स्वाहा' 'ॐ व्यानाय स्वाहा' 'ॐ उदानाय स्वाहा' और 'ॐ समानाय स्वाहा'—इन पाँच मन्त्रोंसे एक-एक करके पाँच प्राणाहुतियाँ देकर (अर्थात् पाँच ग्रास भक्षण करके) व्रत करे तो इससे छोटी अवस्थाके छात्रोंकी बुद्धि विकसित होती है और उनका शास्त्रज्ञान बढ़ता है।

(४) अनिष्टहर ग्रहणव्रत (वसिष्ठ-भृगुसंहिता)–जिसके [1]जन्म-नक्षत्र (या राशि)पर स्थित हुए सूर्य या चन्द्रमाका ग्रहण हो तो उससे उस राशिवाले नगर, ग्राम या मनुष्योंको पीड़ा होती है। अथवा जिस [2]राजाके राज्याभिषेकके नक्षत्रपर ग्रहण हो उस राजा और राज्यका ह्रास होता है; अतः इस निमित्त सुवर्णके [3]सर्पको तिलोंसे भरे हुए ताँबेके पात्रमें रखकर गन्ध, पुष्प आदिसे पूजन करे और वस्त्र आदिसे भूषित करके श्रोत्रिय ब्राह्मणको दे। उस समय 'तमोमय महाभीम सोमसूर्यविमर्दन। हेमनागप्रदानेन मम शान्तिप्रदो भव ॥' इस मन्त्रसे प्रार्थना करे और [4]सूर्यग्रहणमें सोनेके तथा चन्द्रग्रहणमें चाँदीके वृत्ताकार बिम्बका गन्धाक्षतसे जन करके दान करे तो उपरागजनित सभी सन्ताप शान्त होते हैं।

(५) वैधव्य-योग-नाशक सावित्रीव्रत (हेमाद्रि, व्रतखण्ड)—किसी कन्याके जन्मग्रहोंमें विधवायोग बनता हो तो उसके माता-पिता उससे एकान्तमें सावित्री[5]व्रत अथवा पिप्पलव्रत करायें और फिर उसका दीर्घायु वरके साथ विवाह करें। व्रत-विधि यह है कि ज्योतिःशास्त्रोक्त शुभ मुहूर्तमें प्रातःस्नान आदिके पश्चात् शुभासनपर पूर्वाभिमुख बैठकर 'मम वैधव्यादिसकलदोषपरिहारार्थं ब्रह्मसावित्रीप्रीत्यर्थं च सावित्रीव्रतमहं करिष्ये।' यह सङ्कल्प करके तीन दिन उपवास करे। यदि सामर्थ्य न हो तो प्रथम दिन रात्रिभोजन, द्वितीय दिन अयाचित और तृतीय दिन उपवास करके चतुर्थ दिन समाप्त करे।……'यह व्रत वटके समीप बैठकर करनेसे विशेष फलदायी होता है। अतः उस जगह बाँसके पात्रमें सप्तधान्य भरकर उसपर सुवर्णनिर्मित सावित्रीका स्थापन करके उसका गन्ध, पुष्प आदिसे पूजन करे। साथ ही वट-वृक्षको सूत्रसे वेष्टित करके उसका पञ्चोपचार जन कर परिक्रमा करे। तत्पश्चात् 'अवैधव्यं च सौभाग्यं देहि त्वं मम सुव्रते। पुत्रान् पौत्रांश्च सौख्यं च गृहाणार्घ्यं नमोऽस्तु ते ॥' से सावित्रीको अर्घ्य देकर अहिवात (सौभाग्य) की रक्षाके लिये भक्ति, श्रद्धा और नम्रतासहित प्रार्थना करे और 'वट सिञ्चामि ते मूलं सलिलैरमृतोपमैः। यथा शाखाप्रशाखाभिर्वृद्धोऽसि त्वं महीतले। तथा पुत्रैश्च पौत्रैश्च सम्पन्नां कुरु मां सदा ॥' इससे वटकी प्रार्थना करे तो वैधव्यदोषका सुतरां परिहार हो जाता है।……'वैसे [6]यह व्रत विधवा-सधवा, बालिका-वृद्धा, अपुत्रा या सपुत्रा—सभीके करनेका है और विशेषकर जेठकी अमावस्याको सार्वजनिकरूपमें किया भी जाता है। ज्योतिःशास्त्रमें वैधव्ययोग इस प्रकार निश्चय किया गया है कि 'कन्याके जन्मलग्नमें सप्तमेश पापी हो, पापदृष्ट हो या पापयुक्त होकर अनिष्टकारी

---

१. यस्यैव जन्मनक्षत्रे ग्रस्येते शशिभास्करौ।
तज्जातानां भवेत् पीडा ये नराः शान्तिवर्जिताः ॥
(वसिष्ठ)

२. यस्य राज्यस्य नक्षत्रे स्वर्भानुरुपरज्यते।
राज्यभङ्गं सुहृन्नाशं मरणं चात्र निर्दिशेत् ॥
(भृगुसंहिता)

३. सुवर्णनिर्मितं नागं सतिलं ताम्रभाजनम्।
सदक्षिणं सवस्त्रं च श्रोत्रियाय निवेदयेत् ॥
(दैवज्ञमनोहर)

४. सौवर्णं राजतं वापि बिम्बं कृत्वा स्वशक्तितः।
उपरागोद्भवक्लेशच्छिदे विप्राय कल्पयेत् ॥
(दैवज्ञमनोहर)

५. सावित्र्यादिव्रतादीनि भक्त्या कुर्वन्ति याः स्त्रियः।
सौभाग्यं च सुहृत्त्वं च भवेत् तासां सुसंगतिः ॥ (व्रतखण्ड)

६. नारी वा विधवा वापि पुत्रीपुत्रविवर्जिता।
सभर्तृका सपुत्रा वा कुर्याद् व्रतमिदं शुभम् ॥ (स्कन्द०)

(छठे, आठवें, बारहवें) स्थानमें बैठा हो या शत्रुके घरमें हो तो पतिके सुखको हीन करता है। इसी प्रकार लग्नमें क्रूर-[1]ग्रह हो और उससे सातवें भौम हो या लग्नमें चन्द्रमा[2] और सातवें मङ्गल हो, अथवा चौथे[3], सातवें, आठवें, बारहवें या लग्नमें मङ्गल हो तो पतिके सुखको हीन करता है।

(६) **वैधव्यहर अश्वत्थव्रत** (ज्ञानभास्कर)—जिस कन्याके बलवान् वैधव्य-योग हो, उसके माता-पिता उससे अश्वत्थव्रत करायें। कन्याको चाहिये कि वह ज्योतिःशास्त्रोक्त श्रेष्ठ मुहूर्तमें स्नान करके रंग-बिरंगे वस्त्र धारण कर पिताके घरसे बाहर पीपल (और वह न हो तो शमी या बेरके वृक्ष) के समीप जाकर चारों ओरकी मिट्टीसे उसके थाल्हा बनाये और विद्वान् ब्राह्मणको आचार्य बनाकर 'मम प्रबलवैधव्यदोषनिरसनपूर्वकं पतिपुत्रादिभिः सह सुखप्राप्तिकामनया अश्वत्थव्रतमहं करिष्ये।'—यह सङ्कल्प करके जलपूर्ण करवे (मिट्टीके पात्र) से उस थाल्हेको जलसे भरकर पीपलको प्रतिदिन सींचे। विशेषकर चैत्रकृष्ण या आश्विनकृष्ण तृतीयाको अश्वत्थके समीप बैठकर उपर्युक्त प्रकारसे सङ्कल्प करके उसका सेचन, पूजन और व्रत करे। इस प्रकार आगामी कृष्ण तृतीयापर्यन्त प्रतिदिन करके ३१वें दिन सपत्नीक ब्राह्मणोंका पूजन करे और बाँसके पात्रमें सुवर्णनिर्मित शिव-पार्वतीको स्थापित करके चन्दन, अक्षत, दूर्वा, बिल्वपत्र, पुष्प और धूप-दीप आदिसे विधिपूर्वक पूजन करे। इस प्रकार एक महीनेतक प्रतिदिन करनेसे कन्याको पूर्ण पति-सौख्य प्राप्त होता है।

(७) **वैधव्यहर कर्कटीव्रत** (व्रतराज)--सूर्यनारायणके कर्कराशिमें प्रवेश होनेपर कन्याको चाहिये कि वह स्नान करके शुद्ध हो अन्न-पूर्ण बाँसके पात्र या अक्षतोंके अष्टदलपर स्वर्णनिर्मित कर्कटी (ककड़ी) को स्थापित कर उसका गन्ध, पुष्प आदिसे पूजन करे और विधिवत् व्रत करके ग्यारह फल (ऋतुकालकी ककड़ी) सहित स्वर्णकर्कटीका दान करके ब्राह्मणोंको भोजन कराये तो इससे वैधव्य-योगकी शान्ति होती है। उक्त तीनों व्रतोंके अतिरिक्त मार्कण्डेयपुराणमें 'कुम्भविवाह,' 'अश्वत्थविवाह' और 'विष्णुविवाह'—ये तीन परिहार और लिखे हैं। तत्त्वदर्शी महर्षियोंके निश्चित किये हुए होनेसे प्रसङ्गवश यहाँ उनका दिग्दर्शन करा देना आवश्यक है।

(८) **वैधव्यहर विवाहव्रत** (सूर्यारुणसंवाद)—वैधव्ययोगकी सम्भावना होनेसे लौकिक विवाहसे पहले वैवाहिक मुहूर्तमें कन्याके माता-पिता सुस्नात कन्याको (१) **कुम्भविवाह** के लिये पीठस्थ कुम्भके दक्षिण भागमें पूर्वाभिमुख बिठाकर स्वयं उत्तराभिमुख बैठे हुए गणपतिपूजन, मातृकापूजन, नान्दीश्राद्ध और पुण्याहवाचन करके 'भूरसि···' आदिसे कुम्भ-स्थापन करें और उसके ऊपर सुवर्णमय वरुण और विष्णुका पूजन करके कुम्भ और कन्याके गलेमें १० तारोंसे बनाया हुआ यज्ञोपवीत-सदृश सूत्र पहनायें और दोनोंको पीत वस्त्रसे वेष्टित करके अग्निस्थापनपूर्वक कन्यादान करें। फिर 'प्रजाप्तये···' आदिसे और 'भूः स्वाहा···' आदिसे आहुतियाँ देकर 'वरुणाङ्गस्वरूप त्वं जीवनानां समाश्रय। पतिं जीवय कन्यायाश्चिरं पुत्रान् सुखं वरम्। देहि विष्णुवराद्देव कन्यां पालय दुःखिताम्॥' से प्रार्थना करके विसर्जन करें।····· इसी प्रकार (२) **पिप्पलविवाह** के निमित्त सुस्नात कन्याको अश्वत्थके समीप पूर्वाभिमुख बैठाकर उसके माता-पिता उत्तराभिमुख बैठें। और गणपति, मातृका आदिका पूजन करके विष्णु-प्रतिमा और पीपलका पूजन कर यथापूर्व १० तन्तुमय सूत्र और पीत वस्त्रसे कन्या और अश्वत्थको वेष्टित करें; फिर अग्निस्थापन करके यथोक्त विधिसे कन्यादानका संकल्प करें और 'प्रजापतये' आदिसे ४ तथा 'भूः स्वाहा' आदिसे ९ आहुतियाँ देकर 'नमो निखिलपापौघनाशनाय नमो नमः। पूर्वजन्मभवं पापं बालवैधव्यकारकम्। नाशयाशु सुखं देहि कन्याया मम भूरुह॥' से पीपलकी प्रार्थना करके विसर्जन करे।··· और इसी प्रकार (३) **विष्णुविवाह**—के लिये कन्यादाता सुवर्णनिर्मित विष्णुमूर्तिको वस्त्राच्छादित पीठके अष्टदल कमलपर स्थापित करके उसके समीप दक्षिण भागमें शुभासनपर कन्याको पूर्वाभिमुख बिठाये और स्वयं उत्तराभिमुख बैठकर गणपतिपूजन, मातृकापूजन, नान्दीश्राद्ध और पुण्याहवाचन करके विष्णुप्रतिमाका षोडशोपचार पूजन करे। और विष्णु तथा कन्याको दशतन्तुविधानके उपवीत-सदृश सूत्रसे वेष्टित और पीताम्बरसे आच्छादित करके अग्निस्थापनपूर्वक कन्यादान करे। फिर अग्निमें यथापूर्व 'प्रजा-

---

१. यदि लग्नगतः क्रूरस्तस्मात् सप्तमगः कुजः।
विज्ञेयं मरणं पुंसाम्'·················॥ (नारद)

२. यदि लग्नगतश्चन्द्रस्तस्मात् सप्तमगः कुजः।
भर्तुर्मृत्युं विजानीयात् ·················॥ (नारद)

३. लग्ने व्यये च पाताले···इत्यादि (सुप्रसिद्धम्)

पतये०' आदिसे ४ और 'भूः स्वाहा' आदिसे ९ आहुतियाँ देकर 'वैधव्याद्यतिदुःखौघनाशाय सुखलब्धये । बहुसौभाग्यलब्ध्यै च महाविष्णोरिमां तनुम् ॥' से प्रार्थना करके विसर्जन करे ।……स्मरण रहे कि उक्त तीनों विवाहोंमें कन्यादानका संकल्प करते समय दाता अपने गोत्रका उच्चारण करके कन्याको अपने प्रपितामहकी प्रपौत्री, पितामहकी पौत्री और अपनी पुत्री सूचित करता हुआ संकल्प करे । इसमें कुम्भ, अश्वत्थ और विष्णुके पिता, पितामह आदिके नामोच्चारण और राष्ट्राभृतादि आहुतियोंकी आवश्यकता नहीं है और न **इन** विवाहोंमें पुनर्भूत्व दोष होता है । क्योंकि—'स्वर्णाम्बुपिप्पलानां च प्रतिमा विष्णुरूपिणी । तया सह विवाहे च पुनर्भूत्वं न जायते ॥' अर्थात् सोना, जल, पीपल और विष्णुप्रतिमाके साथ कन्याका विवाह करनेमें पुनर्भूत्व नहीं होता।*

(१६)

प्रायश्चित्तव्रत

पाप और पुण्य—दोनोंका स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म है । इनमें अज्ञानवश पाप और ज्ञानवश पुण्य स्वतः सञ्चित होते हैं और समय पाकर बढ़ जानेसे दोनों प्रत्यक्ष देखनेमें आ जाते हैं । उस समय पापका बुरा और पुण्यका अच्छा फल होता ही है । उसमें भी मनुष्य स्वभावतः अच्छेकी इच्छा और बुरेसे ग्लानि करता है । इसी कारण त्रिकालदर्शी महर्षियोंने मनुष्यको पापमुक्त रखनेके लिये प्रायश्चित्त निश्चित किये हैं । इनके करनेसे सद्भावनावाले मनुष्य तो अपने अज्ञानवश किये पापोंसे मुक्त होकर सुप्रकाशित प्रतिभासे युक्त होते ही हैं; किन्तु असद्भावनावाले मनुष्योंके ज्ञानपूर्वक किये हुए पाप भी यथोचित प्रायश्चित्तोंसे दूर हो जाते हैं । अङ्गिराने प्रायस् (तप) और चित्त (निश्चय) को 'प्रायश्चित्त'[1] बतलाया है । हारीतके मतसे शुद्धिद्वारा सञ्चित पापोंके नाशका नाम 'प्रायश्चित्त'[2] है और वैसे किसी प्रकारसे किये गये पापसे अन्तःकरणमें ग्लानि होने (या पछताने) और उसके मिटानेका शास्त्र-सम्मत (या परम्परागत) कर्म करनेका नाम भी प्रायश्चित्त ही है ।

पाप और पुण्यके अनेक भेद, अनेक लक्षण, अनेक कारण और अनेक नाम होनेपर भी वेदव्यासजीने इनका लक्षण दो शब्दोंमें स्पष्ट कह दिया है । उनका मत है कि दूसरेका उपकार करना 'पुण्य'[3] और दूसरेको पीड़ित करना 'पाप'[4] है । शास्त्रकारोंने पाप तीन प्रकारके बतलाये हैं । (१) धर्मशास्त्रोंने जिस जातिके लिये जो कर्म बतलाया है, उसको न करना, (२) शास्त्रोंमें जिस कर्मको बुरा बतलाया है, उसको करना और (३) इन्द्रियोंको वशमें न रखकर मनमाने कर्म (खान-पान, पहिरान या दुर्व्यवहार) करना--इन तीनों प्रकारके पापोंसे ही पीछे जाकर प्रकीर्णक, जातिभ्रंशकर, संकरीकरण, अपात्रीकरण, मलिनीकरण, उपपातक, अनुपातक और महापातक बन जाते हैं और इनके करनेसे मनुष्य निजपदसे गिर जाता है । अतः शास्त्रकारोंने जिस कर्मका निषेध किया है, उसका त्याग और जिसको ग्राह्य बतलाया है, उसका ग्रहण करना मनुष्यमात्रके लिये श्रेयस्कर है । कदाचित् कुसङ्गवश कोई पाप बन जाय तो उसकी निवृत्तिके निमित्त यथोचित प्रायश्चित्त करना आवश्यक है । यदि प्रायश्चित्त न किया

---

* लक्ष्मीरूपा सदा कन्या हरिरूपं सदा जलम् ।
हरेर्दत्तं च यद्दानं दातुः पापहरं सदा ॥ १ ॥
लक्ष्मीनारायणप्रीत्यै या दत्ता कन्यका बुधैः ।
तारयेत् सकलं दातुः कुलं पूर्वापरं सदा ॥ २ ॥
चन्द्रगन्धर्ववह्न्यम्बुशिवसोमस्मरा इमे ।
पतयः कन्यकानां च बाल्यात् सन्ति सदैव ते ॥ ३ ॥
तदुद्वाहविधिर्यत्नात् कृतो नो जनयेदघम् ।
यथालिभुक्तं कमलं देवानां पूजनाय वै ॥ ४ ॥
अर्हं भवति सर्वत्र तथा कन्या नृणां भवेत् ॥
(हेमाद्रि)

यत्किञ्चित् कथितं शास्त्रं शान्तिकं पतिरक्षणे ।
तत्पापमपि नो पापं येन धर्मोऽभिरक्ष्यते ॥ १ ॥
(धर्मशास्त्र)

मन्थन्या भास्करो यत्नात् कृतवान् दुहितुर्विधिम् ।
रेणुकोऽपि स्वकन्यायास्तदुद्वाहं चकार सः ॥ १ ॥
(विधानखण्ड)

पित्रा मात्रा तथा भ्रात्रा दत्ता या तोयधारया ।
विप्राग्निसुहृदां साक्ष्यं कृत्वा सोद्वाहिता भवेत् ॥
(कात्यायन)

---

१. प्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चय उच्यते ।
तपो निश्चयसंयुक्तं प्रायश्चित्तमिति स्मृतम् ॥
(अङ्गिरा)

२. 'प्रयतत्वाद्वोपचितमशुभं नाशयतीति प्रायश्चित्तम्'॥ (हारीत)

३. परोपकारः पुण्याय ।
४. पापाय परपीडनम् ।
(वेदव्यास)

जाय तो दूसरे जन्ममें दूषित योनि प्राप्त होती है या अङ्ग-भङ्ग, भगन्दर आदि दोषोंसे युक्त मनुष्ययोनि मिलती है। किस पापसे मनुष्य किस योनिमें उत्पन्न होता है अथवा अङ्गोंमें किस प्रकारकी विकृति होती है—ये सब विषय 'प्रायश्चित्तेन्दुशेखर' आदिमें विस्तारसे वर्णित हैं।

प्रायश्चित्तके अनेक भेद हैं। जैसा पाप हो, वैसा ही प्रायश्चित्त होता है। उसमें भी ज्ञात, अज्ञात, अवस्था-भेद और तत्काल या कालातिक्रमण आदिके विचारानुसार यथोचित प्रायश्चित्तमें कमी-बेशी भी की जाती है। यथा—सामान्यके लिये जप या हवन, विशेषके लिये (पूर्वाङ्कमें लिखे हुए) एकभुक्त, नक्त, अयाचित या उपवास और ताड़न-मारण आदिके लिये कृच्छ्र या अतिकृच्छ्र नियत किये जाते हैं। इस विषयमें 'प्राजापत्य' और 'चान्द्रायण' का विशेष प्राधान्य है। अधिकांश पापोंके प्रायश्चित्त प्रायः इन्हींके (कृच्छ्र-अतिकृच्छ्र आदि) विभिन्न भेदोंसे सम्पन्न होते हैं। इनमें भी पापोंकी गुरुता और लघुताके अनुसार कठोरता और सरलता की जाती है। यथा—

(१) **प्राजापत्यव्रत** (मन्वादि धर्मशास्त्र)—इसमें तीन दिन प्रातःकाल (कुक्कुटाण्डके बराबर २६ या १५ ग्रास); तीन दिन सायंकाल (वैसे ही २५ या १२ ग्रास) और तीन दिन अयाचित (बिना माँगे जो कुछ जिस समय जितना मिल जाय, उसके चौबीस[१] ग्रास) भोजन और तीन दिन उपवास करनेसे एक 'प्राजापत्य' होता है। इस प्रकार न हो सके तो एकभुक्त, नक्त, अयाचित और उपवास—ये यथाक्रम ३-३ दिन करे। उपवास निराहार न हो सके तो जल, फल या दुग्धपानसे करे। जपशीलको[२] १२ हजार जप, तपशीलको[३] १ हजार होम तथा समर्थको १२ ब्राह्मणोंका भोजन और दो गोदान या गोमूल्यरूपसे कुछ द्रव्यका दान करना चाहिये। इस व्रतसे 'अनादिष्ट' (जिनके लिये प्रायश्चित्तका विधान नहीं है उन) पापोंकी निवृत्ति होती है।

(२) **पादोनकृच्छ्रव्रत** (मन्वादि धर्मशास्त्र)—इसमें दो दिन प्रातःकाल, दो दिन सायंकाल, दो दिन अयाचित भोजन और दो दिन उपवास करे। यह न बने तो कुछ सोना दान दे।

(३) **अर्द्धकृच्छ्रव्रत**[४] (धर्मशास्त्र)—इसमें एक दिन प्रातःकाल, एक दिन सायंकाल, दो दिन अयाचित भोजन और दो दिन उपवास करे। यह न बने तो सोने या चाँदीका दान दे। इस व्रतसे ऋतुकालमें स्त्रीका सहवास त्याग देने-जैसे पापोंकी निवृत्ति होती है।

(४) **पादकृच्छ्रव्रत** (धर्मशास्त्र)—इसमें एक दिन प्रातःकाल, एक दिन सायंकाल, एक दिन अयाचित भोजन और एक दिन उपवास करनेसे 'पादकृच्छ्र'[५] होता है।

(५) **अतिकृच्छ्र** (धर्मशास्त्र)—नौ दिन एक-एक ग्रास भोजन और तीन[६] दिन उपवास करने और ३ या २ गौ देनेसे 'अतिकृच्छ्र' होता है। यह न बन सके तो 'पाणिपूरान्न' (हथेलीमें आये उतना) भोजन और ३ दिन दूध आदिसे उपवास करे। यह व्रत ब्राह्मणके लकुट-प्रहार करने-जैसे पापोंकी निवृत्तिके निमित्त किया जाता है।

(६) **कृच्छ्रातिकृच्छ्र** (धर्मशास्त्र)—प्रातःकाल, सायंकाल और मध्याह्नकाल—इनमें १-१ बार जल पीकर २१ दिन व्रत करनेसे 'कृच्छ्रातिकृच्छ्र'[७] होता है। यमका मत है कि यह न बने तो अतिकृच्छ्र करे।

(७) **तप्तकृच्छ्रव्रत** (मनु आदि)—३ दिन ६ पल (छः छटाँक) गर्म जल, ३ दिन ३ पल गर्म दूध ३ दिन १

---

[१] त्र्यहं प्रातस्त्र्यहं सायं त्र्यहमद्यादयाचितम्।
परं त्र्यहं च नाश्नीयात् प्राजापत्यं चरेद् द्विजः ॥ (मनु)

[२] अनृतं मद्यगन्धं च दिवामैथुनमेव च।
पुनाति वृषलान्नं च संध्या बहिरुपासिता ॥
शतजप्ता तु सावित्री महापातकनाशिनी।
सहस्रजप्ता तु तथा पातकेभ्यः प्रमोचिनी ॥
दशसाहस्रजाप्येन सर्वकिल्बिषनाशिनी।
लक्षं जप्ता तु सा देवी महापातकनाशिनी ॥(शङ्ख)

[३] तिलान् ददाति यः प्रातस्तिलान् स्पृशति खादति।
तिलस्नायी तिलाञ्जुह्वन् सर्वं तरति दुष्कृतम् ॥ (यम)

[४] सायं प्रातस्तथैकैकं दिनद्वयमयाचितम्।
दिनद्वयं च नाश्नीयात् कृच्छ्रार्धं तद् विधीयते ॥
(आपस्तम्ब)

[५] बालवृद्धातुरेष्वेवं शिशुकृच्छ्रमुवाच ह। (वसिष्ठ)

[६] एकैकं ग्रासमश्नीयात् त्र्यहाणि त्रीणि पूर्ववत्।
त्र्यहं चोपवसेदन्त्यमतिकृच्छ्रं चरन् द्विजः ॥(मनु)

[७] अब्भक्षस्तु त्रिभिः कालैः कृच्छ्रातिकृच्छ्रकः स्मृतः।
(गौतम)

पल गर्म घी और ३ दिन गर्म वायु (उबलते हुए जलकी भाप) पीनेसे; या ३ पल गर्म जल, २ पल गर्म दूध और १ पल गर्म घी ३-३ दिन पीने और ३ उपवास करनेसे; अथवा तीनोंको एक साथ गर्म करके १ दिन पीने और १ दिन उपवास करनेसे 'तप्तकृच्छ्र'[1] होता है। इसमें पहला मत मनुका है।

(८) शीतकृच्छ्रव्रत (मनु-याज्ञवल्क्य आदि)–इसमें ३ दिन उक्त प्रमाणका ठंडा जल, ३ दिन ठंडा दूध और ३ दिन ठंडा घी पीनेसे और यदि सामर्थ्य न हो तो १-१ दिन पीनेसे 'शीतकृच्छ्र'[2] होता है।

(९) पर्णकूर्चव्रत (धर्मशास्त्र)–पलास, गूलर, पद्म, बेलपत्र और कुशपत्र—इन सबको एक साथ उबालकर ३ दिन पीनेसे 'पर्णकूर्च'[3] होता है।

(१०) ब्रह्मकूर्चव्रत (धर्मशास्त्र)–पहले ३ दिन उपवास करके फिर पलास, गूलर, पद्म, बेलपत्र और कुश—इनके उबलते हुए भापको पीनेसे 'ब्रह्मकूर्च' होता है।

(११) पर्णकृच्छ्र—नित्यस्नानसे पहले पञ्चगव्य-स्नान करके पहले ३ दिन उपवास, फिर ५ दिनतक प्रतिदिन पलास, गूलर, पद्म, बेल और कुश–इनके पत्तोंको जलमें उबालकर या इनमेंसे एक-एकको प्रतिदिन उबालकर पीनेसे 'पर्णकृच्छ्र'[4] होता है।

(१२) पद्मकृच्छ्र—पद्मके पत्तोंको उबालकर प्रतिदिन एक मास पीनेसे 'पद्मकृच्छ्र'[5] होता है।

(१३) पुष्पकृच्छ्र—पुष्पोंको उबालकर एक मास पीनेसे 'पुष्पकृच्छ्र'[6] होता है।

(१४) फलकृच्छ्र—फलोंको उबालकर उनका जल १ मास पीनेसे 'फलकृच्छ्र'[7] होता है।

(१५) मूलकृच्छ्र—उक्त वृक्षोंके मूलको उबालकर उसका जल १ मास पीनेसे 'मूलकृच्छ्र'[8] होता है। इन पर्ण, पद्म, पुष्प, फल और मूलोंका जल प्रतिदिन तैयार करना चाहिये। यह नहीं कि एक दिन इकट्ठा उबालकर पात्रमें भर ले और प्रतिदिन पीता रहे।

(१६) श्रीकृच्छ्र (धर्मशास्त्र)–यह तीन प्रकारसे किया जाता है। यथा बेलके फल उबालकर उनका जल १ मास पीनेसे 'श्रीकृच्छ्र'[9] या आँवले उबालकर उनका जल पीनेसे 'दूसरा श्रीकृच्छ्र' होता है।

(१७) जलकृच्छ्रव्रत (याज्ञवल्क्य)—शुद्ध जलको उबालकर प्रतिदिन प्रातःस्नान आदि नित्यकर्मके पीछे एक मासतक पीनेसे 'जलकृच्छ्र'[10] होता है।

(१८) सान्तपन (विश्वकोश)—६ रात्रिका उपवास करनेसे 'सान्तपन' होता है।

(१९) कृच्छ्रसान्तपन (याज्ञवल्क्य)—एक दिन गोमूत्र, एक दिन गोबर, एक दिन दही, एक दिन दूध, एक दिन घी और एक दिन कुशोदक पीने और एक दिन उपवास करनेसे 'कृच्छ्रसान्तपन'[11] होता है।

(२०) महासान्तपन (याज्ञवल्क्य)—तीन दिन गोमूत्र, तीन दिन गोबर, तीन दिन दही, तीन दिन दूध, तीन दिन घी और तीन दिन कुशोदक पीने और ३ दिन उपवास करनेसे सम्पूर्ण पापोंको निवारण करनेवाला 'महासान्तपन'[12] होता है।

---

[1] तप्तकृच्छ्रं चरन् विप्रो जलक्षीरघृतानिलान्।
प्रतित्र्यहं पिबेदुष्णान् सकृत्स्नायी समाहितः॥
(मनु)

[2] त्र्यहं शीतं पिबेत्तोयं त्र्यहं शीतपयः पिबेत्।
त्र्यहं शीतं घृतं पीत्वा वायुभक्षः परं त्र्यहम्॥
(यम)

[3] पालाशादीनि पत्राणि त्रिरात्रोपोषितः शुचिः।
क्वाथयित्वा पिबेदद्भिः पर्णकूर्चोऽभिधीयते॥
(यम)

[4] पत्रैर्मतः पर्णकृच्छ्रः। (मार्कण्डेय)

[5] पद्मपत्रैः पद्मकृच्छ्रः। (मार्कण्डेय)

[6] पुष्पैस्तत्कृच्छ्र उच्यते। (मार्कण्डेय)

[7] फलैर्मासेन कथितः फलकृच्छ्रो मनीषिभिः। (मार्कण्डेय)

[8] मूलकृच्छ्रः स्मृतो मूलैः। (मार्कण्डेय)

[9] श्रीकृच्छ्रः श्रीफलैः प्रोक्तः। (मार्क०) मासेनामलकैरेवं
श्रीकृच्छ्रमपरं स्मृतम्। (मार्कण्डेय)

[10] तोयकृच्छ्रो जलेन तु।

[11] गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम्।
एकैकं प्रत्यहं पीत्वा त्वहोरात्रमभोजनम्।
कृच्छ्रं सान्तपनं नाम सर्वपापप्रणाशनम्॥(जाबालि)

[12] त्र्यहं पिबेत्तु गोमूत्रं त्र्यहं वै गोमयं पिबेत्।
त्र्यहं दधि त्र्यहं क्षीरं त्र्यहं सर्पिस्ततः शुचिः॥
महासान्तपनं चैतत्……। (यम)

(२१) **अतिसान्तपन**—उपर्युक्त पदार्थोंको दो-दो दिन पीनेसे 'अतिसान्तपन' होता है ।

(२२) **ब्रह्मकूर्चव्रत** (मिताक्षरा)—इसमें ताम्रवर्णकी गौके ८ माशे गोमूत्रको गायत्री-मन्त्रसे, सुश्वेत रंगकी गौके १६ माशे गोबरको 'गन्धद्वारां०' से, नीली गौके १० माशे दहीको 'दधिक्राव्णो०' से, सुनहरे रंगकी गौके १२ माशे दूधको 'आप्यायस्व०'से, काले रंगकी गौके ९ माशे घीको 'देवस्य त्वा०'से और यथाविधि लाये हुए कुशके चार माशे जलको 'देवस्य त्वा०' से ग्रहण करके पञ्चगव्य बनाकर 'इरावती०', 'इदं विष्णु०', 'मा नस्तोके०' और 'शंवती०'—इन २० ऋचाओंसे हवन करे । फिर हवनसे बचे हुए पञ्चगव्यको प्रणव (ॐ) से मिलाये, ॐसे ही उठाये और ॐसे ही ढाकके मध्यपत्र या सुवर्णपात्र अथवा ताम्रपात्र या 'ब्रह्मतीर्थ' (हथेलीमें लेकर चरणामृतकी भाँति मणिबन्धके ऊपर) से पीये और पीते समय 'यत्त्वगस्थिगतं पापं देहे तिष्ठति मामके । ब्रह्मकूर्चोपवासस्तु दहत्वग्निरिवेन्धनम् ॥' इस मन्त्रका उच्चारण करे । इस प्रकार तीन बार पीनेसे 'ब्रह्मकूर्च' सम्पन्न होता है ।

(२३) **यतिसान्तपन** (याज्ञवल्क्य)—उक्त प्रकारसे तैयार किये हुए (गोमूत्र, गोबर, दूध, दही और घी) के पञ्चगव्यको तीन दिनतक पीनेसे 'यतिसान्तपन' होता है । जाबालिके मतसे उक्त पञ्चगव्यको कुशोदकमें मिलाकर सात दिन पीनेसे 'कृच्छ्रसान्तपन' होता है ।

(२४) **पराकव्रत** (धर्मशास्त्र)—निरन्तर बारह अहोरात्रका उपवास करने और २, ३ या ५ गोदान अथवा तन्मूल्योपकल्पित द्रव्य देनेसे 'पराकव्रत' सम्पन्न होता है ।

(२५) **सौम्य कृच्छ्रव्रत** (प्रायश्चित्तेन्दुशेखर)—व्रत आरम्भ करके पहले दिन प्राणरक्षाप्रमाण पिण्याक (जितनेसे प्राण रह सकें, उतने तिलोंकी खली), दूसरे दिन आचाम (उबाले हुए चावलोंका पानी—माँड़), तीसरे दिन तक्र (छाछ—मठा), चौथे दिन जल और पाँचवें दिन सत्तू पीये । फिर तीन दिन उपवास करे । तब 'सौम्यकृच्छ्रव्रत' होता है ।

(२६) **तुलापुरुषव्रत** (धर्मशास्त्र)—उपर्युक्त खली, माँड़, छाछ, जल और सत्तू—इन पाँचोंमेंसे प्रत्येकको ३-३ दिनके क्रमसे १५ दिन पीकर ६ दिन उपवास करनेसे 'तुलापुरुषव्रत' होता है ।

(२७) **यावकश्रीकृच्छ्र** (प्रायश्चित्तेन्दुशेखर)—३ दिन गोमूत्र, ३ दिन गोबर और ३ दिन यावक (जौ उबालकर तैयार किया हुआ जल) पीनेसे 'यावकश्रीकृच्छ्रव्रत' होता है ।

(२८) **यावककृच्छ्रव्रत** (प्रायश्चित्तेन्दुशेखर)—प्रतिदिन नियमित जलमें जौ उबालकर ७ दिन या १५ दिन पीनेसे 'यावककृच्छ्र' होता है । किसीके मतसे १ मास पीनेसे होता है ।

(२९) **अपरजलकृच्छ्र** (प्रायश्चित्तेन्दुशेखर)—बिना कुछ खाये-पीये एक दिनके प्रातःकालसे लेकर दूसरे दिनके प्रातःकालतक गलेतक पहुँचे हुए जलमें खड़े रहनेसे 'जलकृच्छ्रव्रत' सम्पन्न होता है । यह दूसरा 'जलकृच्छ्रव्रत' है ।

(३०) **वज्रकृच्छ्रव्रत** (याज्ञवल्क्यादि)—गोबर और यावक (जौका पूर्वोक्त प्रकारसे निकाला हुआ जल) मिलाकर पीनेसे 'वज्रकृच्छ्रव्रत' होता है ।

(३१) **सान्तपनव्रत** (प्रायश्चित्तेन्दुशेखर)—पहले दिन केवल पञ्चगव्य (गौके गोबर, गोमूत्र, दही, दूध और घी) पीने और दूसरे दिन उपवास करनेसे 'सान्तपनव्रत' होता है ।

(३२) **यतिसान्तपन** (प्रायश्चित्तेन्दुशेखर)—तीन दिन पञ्चगव्य पीकर चौथे दिन उपवास और हवन करनेसे 'यतिसान्तपनव्रत' होता है ।

(३३) **षाडाहिक सान्तपन** (प्रायश्चित्तेन्दुशेखर)—पाँच दिन पञ्चगव्य पीने और छठे दिन उपवास करनेसे 'षडाह सान्तपनव्रत' होता है ।

(३४) **साप्ताहिक सान्तपन** (प्रायश्चित्तेन्दुशेखर)—पञ्चगव्यके पाँच पदार्थोंको एक-एक करके यथाक्रम पाँच दिन पीने और छठे दिन कुशोदक पीकर सातवें दिन उपवास करनेसे 'साप्ताहिक सान्तपन' सम्पन्न होता है । और—

(३५) **एकविंशदिनात्मक सान्तपन** (प्रा० शे०)—कुशोदक, गोबर, गोमूत्र, गोदुग्ध, गोदधि और गोघृतमेंसे एक-एकको तीन-तीन दिन पीकर (१८ दिनके बाद) तीन दिन उपवास करनेसे इक्कीस दिनका 'सान्तपनव्रत' होता है ।

---

१. एतान्येव यदा पेयादेकैकं तु द्व्यहं द्व्यहम् ।
अतिसान्तपनं नाम श्वपाकमपि शोधयेत् ॥ (यम)

२. एताभिश्चैव होतव्यं हुतशेषं पिबेद् द्विजः ।
ब्रह्मकूर्चोपवासस्तु० । (पराशर)

(३६) चान्द्रायणव्रत (मनु-वसिष्ठ-याज्ञवल्क्यादि स्मृति)–यह व्रत चन्द्रकलाकी ह्रास-वृद्धिके अनुसार भक्ष्य-भोज्यकी ग्राससंख्याको घटा-बढ़ाकर किया जाता है। जिस प्रकार कृष्णप्रतिपदासे चन्द्रमा एक-एक कलासे हीन होकर अमावस्याको पूर्णरूपसे क्षीण हो जाता है और शुक्लप्रतिपदासे एक-एक कलाकी वृद्धि[1] होकर पूर्णिमाको पुनः वह पूर्ण हो जाता है, उसी प्रकार चान्द्रायणव्रतमें कृष्णप्रतिपदासे एक-एक ग्रास घटाकर अमावस्याको लङ्घन (उपवास) किया जाता है और शुक्लप्रतिपदासे एक-एक ग्रास बढ़ाकर पूर्णिमाको पूर्ण किया जाता है। इस प्रकार एक मासके तीस दिनोंमें एक चान्द्रायणव्रत सम्पन्न होता है। चान्द्रायणका अर्थ है 'चन्द्रके अयन (ह्रास-वृद्धि) के समान आहारको घटा-बढ़ाकर किया जानेवाला व्रत। उपर्युक्त नियमसे करनेमें इसकी ह्रास-वृद्धिके सम्पूर्ण ग्रास दो सौ चालीस होते हैं और इसी व्रतके जो अन्यान्य विधान बतलाये हैं, उन सबमें भी दो सौ चालीस ही ग्रास होते हैं। परन्तु 'यवमध्यतनु' और 'पिपीलिका-तनु' में (शुक्लपूर्णिमा और कृष्णप्रतिपदाके १५-१५ ग्रास होनेके बदले केवल प्रतिपदाके १४ ग्रास होनेसे) २२५ ही ग्रास होते हैं। इस विषयमें वशिष्ठादिका यही मत है कि पूर्णिमाको १५ और प्रतिपदाको १४ ग्रास भक्षण करे और कृष्णपक्षकी समाप्तिमें अमावस्याको उपवास करे।···यथा (१) 'यवमध्यतनु' चान्द्रायणमें शुक्लपक्षकी प्रतिपदासे प्रारम्भ करके प्रतिदिन एक-एक ग्रास बढ़ाता हुआ पूर्णिमाको १५ ग्रास भक्षण करे और फिर कृष्णपक्षकी प्रतिपदाको चौदह ग्रास भक्षण करके प्रतिदिन एक-एक ग्रास घटाता हुआ कृष्णचतुर्दशीको एक ग्रासका भोजन और अमावस्याको[2] उपवास करे। तथा (२) 'पिपीलिकातनु' में कृष्णप्रतिपदाको चौदह ग्राससे आरम्भ करके प्रतिदिन १-१ ग्रास घटाता हुआ कृष्णचतुर्दशीको एक ग्रासका भोजन और अमावस्याको उपवास करे तथा शुक्लप्रतिपदासे एक-एक ग्रास बढ़ाता हुआ पूर्णिमाको पंद्रह ग्रास भक्षण करके पूर्ण करे। इस भाँति दोनों प्रकारका चन्द्रायण सम्पन्न होता है।'

व्रतारम्भके विषयमें गौतम ऋषिने यह विशेष बतलाया है कि–प्रायश्चित्तके निमित्तसे चान्द्रायणव्रत करना हो तो पहले दिन व्रत रखकर[3] मुण्डन कराये और शुद्धस्नान करके दूसरे दिन प्रातःस्नानादि नित्यकर्म करे। फिर देवपूजा, पितृपूजा और 'यद्देवा देवहेडनं०' आदि ४ मन्त्रोंसे हवन करके 'यवमध्य'में शुक्लप्रतिपदाका एक अथवा 'पिपीलिकातनु'में कृष्णप्रतिपदाके चौदह ग्रासोंको ढाकके पत्ते आदिके पात्रमें रखकर 'ॐ भूः ॐ भुवः ॐ स्वः ॐ महः ॐ जनः ॐ तपः ॐ सत्यं ॐ यशः ॐ श्रीः ॐ ऊर्क् ॐ इट् ॐ ओजः ॐ तेजः ॐ पुरुषः ॐ धर्मः ॐ शिवः'—इन मन्त्रोंसे अभिमन्त्रित करे। और फिर जितने ग्रास भक्षण करने हों, प्रत्येक ग्रासके साथ 'मनसे नमः स्वाहा' कहकर भक्षण करे। इस प्रकार प्रतिदिन करता रहे।·····भक्ष्य पदार्थोंमें जो कुछ अन्न-पानादि लिये जायँ, वे हविष्य[4] (होम करने योग्य) होने चाहिये। यथा—चरु (हुतशेष खीर), भैक्ष्य (भिक्षाप्राप्त अन्न-पानादि), सक्तु (भूने हुए जौका सूखा चून), कण (चावल), यावक (जौकी लप्सी), शाक (मेथी, बथुआ, ककड़ी या पालक आदि), पय (गोदुग्ध), दधि (गायका दही), घृत (गोघृत), मूल (भूगर्भमें उत्पन्न होनेवाले भक्ष्य—कन्द, शकरकन्द आदि), फल (केला, नारंगी, अनार, सीताफल आदि) और उदक (शुद्ध जल)— इनमें जो अभीष्ट हो, उसका भक्षण करे। ग्रास आँवलेके[5] फलके बराबर अथवा जो सुगमतापूर्वक मुँहमें आ सके, इतना होना चाहिये। मिताक्षराकारने लिखा है कि पत्तोंके छोटे दोनोंमें दुग्ध आदि लेकर उनसे ग्रास-संख्याकी पूर्ति की जाय तो उससे भी चान्द्रायण-व्रत सम्पन्न हो सकता है। अस्तु,

(३७) यतिचान्द्रायण (मनुस्मृति)–प्रतिदिन मध्याह्नके समय पूर्वोक्त हविष्यान्नके[6] आठ-आठ ग्रास भक्षण करनेसे तीस दिनमें 'यतिचान्द्रायण' होता है।

---

१. तिथिवृद्ध्या चरेत् पिण्डान् शुक्ले शिख्यण्डसम्मितान्।
एकैकं ह्रासयेत् कृष्णे पिण्डं चान्द्रायणं चरेत्॥
(याज्ञवल्क्य)
एकैकं वर्द्धयेत् पिण्डं शुक्ले कृष्णे च ह्रासयेत्।
इन्दुक्षये न भुञ्जीत एष चान्द्रायणे विधिः॥ (वसिष्ठ)

२. मासस्य कृष्णपक्षादौ ग्रासानद्याच्चतुर्दश।
ग्रासापचयभोजी सन् यज्ञशेषं समापयेत्॥
तथैव शुक्लपक्षादौ ग्रासं भुञ्जीत चापरम्। (वसिष्ठ)

३. कक्षलोमशिखावर्जं श्मश्रुकेशादि वापयेत्॥ (वसिष्ठ)

४. 'चरुभैक्ष्यसक्तुयावकशाकपयोदधिघृतमूलफलोदकानि।' (गौतम)

५. तथाऽऽमलकसंम्मितं यथासुखमुखं चेति।
(स्मृतिसंग्रह)

६. अष्टावष्टौ समश्नीयात् पिण्डान् मध्यंदिनस्थिते।
नियतात्मा हविष्यस्य यतिचान्द्रायणं चरेत्॥

(३८) **शिशुचान्द्रायण** (मनुस्मृति)–चार ग्रास प्रातःकाल और चार ग्रास सूर्यास्तके बाद भक्षण करे। तीस दिन इस प्रकार करनेसे 'शिशुचान्द्रायण'[1] होता है।

(३९) **ऋषिचान्द्रायण** (यमस्मृति)–व्रतमें दृढ़ रहनेवाला कोई भी सत्पुरुष प्रतिदिन तीन ग्रास तीस दिनतक भक्षण करनेसे नब्बे ग्रासका 'ऋषिचान्द्रायण'[2] कर सकता है।

(४०) **सोमायनव्रत** (मार्कण्डेय)–सात दिन गायके चारों स्तनोंका, सात दिन तीन स्तनोंका, सात दिन दो स्तनोंका और छः दिन एक स्तनका दूध पीये और तीन दिन उपवास करे तो सम्पूर्ण पापोंको नष्ट करनेवाला 'सोमायन-व्रत'[3] सम्पन्न होता है। सोमायन-व्रत धारोष्ण दुग्ध पान करनेसे सम्पन्न होता है। यह चान्द्रायणके समान ही माना गया है।

(४१) **विलोमसोमायन** (हारीतस्मृति)–कृष्ण-पक्षकी चतुर्थीसे प्रारम्भ करके तीन दिन चार स्तनोंका, तीन दिन तीन स्तनोंका, तीन दिन दो स्तनोंका और तीन दिन एक स्तनका दूध पीये। फिर तीन दिन एक स्तनका, तीन दिन दो स्तनोंका, तीन दिन तीन स्तनोंका और तीन दिन चार स्तनोंका दूध पीये। इस प्रकार कृष्णचतुर्थीसे शुक्लद्वादशीपर्यन्त चौबीस दिनमें इस व्रतको पूर्ण करे। यह अशक्त मनुष्योंके करनेका 'सोमायन' है। इससे सोमलोककी प्राप्ति होती है। अस्तु,

व्रतारम्भकी व्यवस्था–यद्यपि उपर्युक्त व्रत पाप-नाशके निमित्तसे किये जाते हैं, तथापि यदि इनका विधिपूर्वक अनुष्ठान किया जाय तो इनके प्रभावसे जीवनमें अपूर्व परिवर्तन दिखायी देता है। वर्षोंसे दुःख भोगनेवाले मनुष्यको भी इन व्रतोंके आचरणसे ऐसे साधन मिल जाते हैं, जिनके प्रभावसे उसके सम्पूर्ण दुःख-दारिद्र्य स्वप्नकी भाँति विलीन हो जाते हैं और उसे मनोवाञ्छित सुखोंकी प्राप्ति होने लगती है। व्रत करनेवाले पुरुषको चाहिये कि वह व्रतारम्भके पहले दिन मुण्डन कराये; फिर भस्म, गोमय, मृत्तिका, जल और पञ्चगव्यसे स्नान करके अन्तमें शुद्ध स्नान करे। तत्पश्चात् सायंकालमें जब तारे दिखायी देने लगें, तब व्रतकी दीक्षा ले और अपने किये हुए पापोंके लिये सच्चे हृदयसे पश्चात्ताप करते हुए उनको जनताके सामने स्पष्टरूपसे प्रकट करे। फिर दूसरे दिन प्रातःस्नान आदिके बाद देवपूजा, पितृपूजा, घृतहोम और गायत्री-जप करके मौनावलम्बनपूर्वक मन, वाणी और क्रियाके द्वारा व्रतमें संलग्न हो जाय तथा उसे सावधानीके साथ पूर्ण करे। यहाँ प्रसंगवश कुछ ऐसे पाप, जो प्रमादवश सहज ही हो जाते हैं और उनके कुछ ऐसे प्रायश्चित्त, जो सुगमतापूर्वक किये जा सकते हैं, बतलाये जा रहे हैं।

फल और फूल देनेवाले वृक्ष, लता या गुल्म आदिके छेदनका पाप वेदकी सौ ऋचाओंका जप करनेसे दूर होता है[4]। वानर, गधा, कुत्ता, ऊँट और कौआ काट ले तो जलमें प्राणायाम करके घी खानेसे शुद्धि होती है[5]। ब्राह्मणको कुत्ता काट खाय तो वह समुद्रगामिनी नदीमें स्नान करके सौ प्राणायाम करने तथा घृतपान करनेसे शुद्ध होता है[6]। ब्राह्मणीको कुत्ता, सियार या भेड़िया काट ले तो वह तारा देखनेसे शुद्ध होती है।[7] यदि रजस्वला स्त्रीको कुत्ता, सियार या गधा काट ले तो पाँच रात्रि पञ्चगव्य पीनेसे उसकी शुद्धि होती है[8]। यदि ब्राह्मणके शरीरमें घाव होकर रुधिर और पीब निकले तथा उसमें कीड़े पड़ जायँ तो दो गव्य—गोबर एवं

---

[1] चतुरः प्रातरश्नीयात्पिण्डान् विप्रः समाहितः ।
चतुरोऽस्तमिते सूर्ये शिशुचान्द्रायणं चरेत् ॥

[2] त्रींस्त्रीन् पिण्डान् समश्नीयान्नियतात्मा दृढव्रतः ।
हविष्यान्नस्य वै मासमृषिचान्द्रायणं स्मृतम् ॥

[3] गोक्षीरं सप्तरात्रं तु पिबेत् स्तनचतुष्टयात् ।
स्तनत्रयात् सप्तरात्रं सप्तरात्रं स्तनद्वयात् ॥
स्तनेनैकेन षड्रात्रं त्रिरात्रं वायुभुग्भवेत् ।
एतत्सोमायनं नाम व्रतं कल्मषनाशनम् ॥
(मार्कण्डेय)

[4] फलदानां तु वृक्षाणां छेदने जप्यमृक्शतम् ।
गुल्मवल्लीलतानां तु पुष्पितानां च वीरुधाम् ॥
(या० स्मृ०)

[5] ···वानरखरैर्दष्टः श्वोष्ट्रादिवायसैः ।
प्राणायामं जले कृत्वा घृतं प्राश्य विशुद्ध्यति ॥
(या० स्मृ०)

[6] ब्राह्मणस्तु शुना दष्टो नदीं गत्वा समुद्रगाम् ।
प्राणायामशतं कृत्वा घृतं प्राश्य विशुद्ध्यति ॥ (वसिष्ठ)

[7] ब्राह्मणी तु शुना दष्टा जम्बुकेन वृकेण च ।
उदितं ग्रहनक्षत्रं दृष्ट्वा सद्यः शुचिर्भवेत् ॥
(पराशर)

[8] रजस्वला यदा दष्टा शुना जम्बुकरासभैः ।
पञ्चरात्रनिराहारा पञ्चगव्येन शुद्ध्यति ॥
(पुलस्त्य)

गोमूत्रका प्राशन करनेसे वह शुद्ध होता है[1]। यदि गृहस्थ पुरुष कामवश वीर्यको भूमिपर डाले तो तीन प्राणायाम करके एक हजार गायत्री-जप करनेसे वह शुद्ध होता है[2] ।······स्वप्नमें ब्रह्मचारी द्विजका अकामसे भी वीर्य गिर जाय तो वह स्नान करके तीन बार सूर्यको प्रणाम करे और 'पुनर्मामेत्विन्द्रियम्' इस ऋचाको जपे; तभी उसकी शुद्धि होती है[3]। यदि कोई यज्ञोपवीतधारी द्विज बिना यज्ञोपवीतके भोजन कर ले या मल-मूत्रका त्याग करे तो वह प्राणायामपूर्वक आठ हजार गायत्रीका जप करनेसे पवित्र होता है[4]। स्त्री बेचनेसे बड़ा पाप होता है, उसकी चान्द्रायणव्रतसे शुद्धि होती है[5] ।······बाग, बगीचे, तालाब, तलाई और कुआँ, प्याऊ—इनके बेचनेसे तथा सुकृत और पुत्रका विक्रय करनेसे भी पाप होता है। उससे छूटनेके लिये त्रिकालस्नान करके पृथ्वीपर शयन करे और एक दिन उपवास करके दूसरे दिन अन्न ग्रहण करे[6]। सर्प और नेवले, बकरे और बिल्ली, चूहे और ऊँट, मेंढक और स्त्रीके बीचमें होकर निकलनेका पाप स्नान, दान, जप या व्रतरूप तात्कालिक प्रायश्चित्त करनेसे दूर होता है[7]। ···किसी प्रकारका असत् दान ग्रहण कर लिया जाय तो तीन हजार गायत्री जपनेसे शुद्धि होती है[8]। भेड़का, गर्भिणी तथा बिना बछड़ेवाली गौका और वनके मृग, सूअर एवं नीलगाय आदिका दूध पान करनेपर उपवास करनेसे शुद्धि होती है। महिषीके दूधका शास्त्रोंमें निषेध नहीं है[9]।···आपत्तिकालमें ब्राह्मण यदि शूद्रके घरमें भोजन कर ले तो मानसिक पश्चात्तापपूर्वक 'द्रुपदादिव' मन्त्रका सौ बार जप करनेसे शुद्ध हो जाता है[10]। दीपक जलानेसे बचा हुआ तैल, लगानेसे बचा हुआ उबटन और गलीमें होकर लाया हुआ भोजन काममें लिया जाय तो नक्तव्रत करनेसे शुद्धि होती है[11]। यदि अनजानमें चाण्डालके कुएँ अथवा बर्तनका जल पी लिया गया हो तो तीन दिनका उपवास करनेसे पवित्रता होती है[12]।···जो वाणीसे दूषित किया गया हो, जिसमें किसीकी दूषित भावना हो गयी हो तथा जो भावदूषित पात्रमें रखा गया हो, उस अन्नको यदि ब्राह्मण खा ले तो वह तीन रात्रिके व्रतसे शुद्ध होता है[13]।··· यदि सींग, हाड़, दाँत, शङ्ख, सीप और कौड़ीसे बनाये हुए पात्रमें भरकर नवीन जल (वर्षाका तात्कालिक जल) पीया गया हो तो पञ्चगव्य पीनेसे शुद्धि होती है।[14] बिना मौसिमकी

---

[1] ब्राह्मणस्य व्रणद्वारे पूयशोणितसंभवे ।
कृमिरुत्पद्यते यस्य युग्मगव्येन शुद्धयति ॥
(मनु)

[2] गृहस्थः काम्यतः कुर्याद् रेतसः स्कन्दनं भुवि ।
सहस्रं तु जपेद्देव्याः प्राणायामैस्त्रिभिः सह ॥
(मनु)

[3] स्वप्ने सिक्त्वा ब्रह्मचारी द्विजः शुक्रमकामतः ।
स्नात्वार्कमर्चयित्वा त्रिः पुनर्मामित्यृचं जपेत् ॥
(मनु)

[4] ब्रह्मसूत्रं विना भुङ्क्ते विण्मूत्रं कुरुतेऽथवा ।
गायत्र्यष्टसहस्रेण प्राणायामेन शुद्धयति ॥
(मरीचि)

[5] नारीणां विक्रयं कृत्वा चरेच्चान्द्रायणव्रतम् ।
(२४ मत)

[6] आरामतडागोदपानपुष्करिणीसुकृतसुतविक्रयेति०
(पैठीनसि)

[7] सर्पस्य नकुलस्याथ अजमार्जारयोस्तथा ।
मूषकस्य तथोष्ट्रस्य मण्डूकस्य च योषितः ।
अन्तरागमने सद्यः प्रायश्चित्तेन शुद्धयति ॥
(यम)

[8] जपित्वा त्रीणि सावित्र्याः सहस्राणि समाहितः ।
·················मुच्यतेऽसत्परिग्रहात् ॥
(मनु)

[9] आविकं सन्धिनीक्षीरं विवत्सायाश्च गोः पयः ।
अरण्यानां च सर्वेषां मृगाणां महिषीं विना ॥
(मनु)

[10] आपत्काले तु विप्रेण भुक्तं शूद्रगृहे यदि ।
मनस्तापेन शुद्धयेत्तु द्रुपदानां शतं जपेत् ॥
(पराशर)

[11] दीपोच्छिष्टं तु यत्तैलं रात्रौ रथ्याहृतं तु यत् ।
अभ्यङ्गाच्चैव यच्छिष्टं भुक्त्वा नक्तेन शुद्धयति ॥
(षट्त्रिंशत्)

[12] चाण्डालकूपभाण्डस्य अज्ञानादुदकं पिबेत् ।
स तु त्र्यहेण शुद्धयेत शूद्रस्त्वेकेन शुद्धयति ॥
(आपस्तम्ब)

[13] वाग्दुष्टं भावदुष्टं च भाजने भावदूषिते ।
भुक्त्वान्नं ब्राह्मणः पश्चात् त्रिरात्रेण विशुद्धयति ॥

[14] शृङ्गास्थिदन्तजैः पात्रैः शङ्खशुक्तिकपर्दकैः ।
पीत्वा नवोदकं चैव पञ्चगव्येन शुद्धयति ॥
(बृहद्याज्ञवल्क्य)

वर्षाका जल दस दिनोंतक नहीं पीना चाहिये। मौसिममें भी बरसा हुआ शुद्ध नवीन जल तीन दिनोंतक नहीं ग्रहण करे। यदि इसके विपरीत पी ले तो उपवाससे शुद्धि होती है[1]। धान(चावल), दही और सत्तू—इनको लक्ष्मीकी कामनावाला पुरुष रातमें न खाय। यदि खा ले तो उपवाससे ही उसकी शुद्धि होती है[2]। प्राणायाम एक ऐसा उत्कृष्ट साधन है, जिसकी सौ आवृत्तियाँ करनेसे पाप और उपपाप सब नष्ट हो जाते हैं[3]।···वट, आम, पीपल, कुम्भी (तरबूज), तिन्दुक (तेंदू), कदम्ब और कचनारके पत्तोंमें भोजन नहीं करना चाहिये; क्योंकि उनमें भोजन करनेसे जो दोष होता है, उसकी चान्द्रायण-व्रतसे ही शुद्धि होती है[4]। मधु, गुडकी बनी हुई वस्तु, शाक, गोरस, नमक और घीको हाथसे उठाकर नहीं परोसना चाहिये। जो हाथसे उठाकर दी हुई उपर्युक्त वस्तुओंको खाता है, वह एक दिन उपवास करनेसे शुद्ध होता है[5]।···यदि कोई आसनपर उँकड़ बैठकर अथवा आधी धोती ओढ़कर भोजन करे या अधिक गर्म अन्न लेकर उसे फूँक-फूँककर खाय तो वह कृच्छ्रसान्तपन व्रतसे शुद्ध होता है[6]। ब्राह्मण यदि अनजानमें मृताशौच अथवा जननाशौचवालेके यहाँ भोजन कर ले तो सौ प्राणायाम करनेसे शुद्ध होता है[7]। सदाचारहीन एवं निन्दित आचरणवाले विप्रका भी अन्न खानेसे ब्राह्मणको एक दिनका उपवास करना चाहिये[8]। यदि कोई स्वेच्छासे ऊँट या गधेपर बैठे तो उसे वस्त्रोंसहित-जलमें प्रवेश करके प्राणायाम करना चाहिये; तभी उसकी शुद्धि होती है[9]। यदि कोई इन्द्रधनुष अथवा पलाशकी आग दूसरेको दिखाये तो वह एक दिन और एक रात उपवास करके ब्राह्मणको दक्षिणा दे; यही उसके लिये प्रायश्चित्त है[10]। अपाङ्क्तेय (पङ्क्तिमें न बैठने योग्य) पुरुषके साथ एक पङ्क्तिमें बैठकर भोजन करनेवाला उत्तम द्विज दिन-रातका उपवास करके पञ्चगव्य पान करनेसे शुद्ध होता है[11]। कम्बल और रेशमी कपड़ोंमें नीलका रंग होना दोषकी बात नहीं है; क्योंकि ये स्वतः शुद्ध होते हैं[12]। यदि किसीके द्वारा कुत्ते, बिल्ली, नेवले, मेढ़क, साँप, छछूंदर और चूहे आदि जीवोंकी हत्या हो जाय तो वह बारह दिनका कृच्छ्रव्रत करनेसे शुद्ध होता है[13]। फल, फूल और अन्नके रससे उत्पन्न होनेवाले जीवोंकी हत्याका प्रायश्चित्त है केवल घी खाकर व्रत रहना। यदि शूद्र ब्राह्मणका अन्न और ब्राह्मण शूद्रका अन्न लेकर दानमें दे अथवा ब्राह्मण शूद्रके हाथसे भोजन कर ले तथा जल पी ले तो वह एक दिन-रात उपवास करके[14]

---

[1] काले नवोदकं शुद्धं न पिबेच्च त्र्यहं हि तत्।
अकाले तु दशाहं स्यात् पीत्वा नाद्यादहर्निशम्॥
(स्मृत्यन्तर)

[2] धानां दधि च सक्तुं च श्रीकामो वर्जयेन्निशि।
(बृहच्छातातप)

[3] प्राणायामशतं कार्यं सर्वपापापनुत्तये।
उपपातकजातानामनादिष्टस्य चैव हि॥ (मनु)

[4] वटार्काश्वत्थपत्रेषु कुम्भीतिन्दुकपत्रयोः।
कोविदारकदम्बेषु भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत्॥
(स्मृत्यन्तर)

[5] माक्षिकं फाणितं शाकं गोरसं लवणं घृतम्।
हस्तदत्तानि भुक्त्वा तु दिनमेकमभोजनम्॥
(पाराशर)

[6] आसनारूढपादो वा वस्त्रार्धप्रावृतोऽपि वा।
मुखेन धमितं भुक्त्वा कृच्छ्रं सान्तपनं चरेत्॥ (क्रतु)

[7] अज्ञानाद् भोजने विप्राः सूतके मृतकेऽपि वा।
प्राणायामशतं कृत्वा शुद्ध्येयुः········॥
(छागल)

[8] निराचारस्य विप्रस्य निषिद्धाचरणस्य च।
अन्नं भुक्त्वा द्विजः कुर्याद् दिनमेकमभोजनम्॥
(षट्त्रिंशत्)

[9] उष्ट्रयानं समारुह्य खरयानं तु कामतः।
सवासा जलमाप्लुत्य प्राणायामेन शुद्ध्यति॥ (मनु)

[10] इन्द्रचापं पलाशाग्निं यद्यन्यस्य प्रदर्शयेत्।
प्रायश्चित्तमहोरात्रं धनुर्दण्डश्च दक्षिणा॥
(ऋष्यशृङ्ग)

[11] अपाङ्क्तेयस्य यः कश्चित् पङ्क्तौ भुङ्क्ते द्विजोत्तमः।
अहोरात्रोषितो भुक्त्वा पञ्चगव्येन शुद्ध्यति॥
(मार्कण्डेय)

[12] कम्बले पट्टसूत्रे च नीलीदोषो न विद्यते।
(स्मृतिसंग्रह)

[13] श्वमार्जारनकुलमण्डूकसर्पदद्दुरमूषकादीन् हत्वा
कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरेत्। (वसिष्ठ)

[14] ब्राह्मणान्नं ददच्छूद्रः शूद्रान्नं ब्राह्मणो ददत्।
(बृ० या०)

शूद्रहस्तेन यो भुङ्क्ते पानीयं वा पिबेत् कचित्।
अहोरात्रोषितो भूत्वा पञ्चगव्येन शुद्ध्यति॥ (क्रतु)

पञ्चगव्य पीनेसे शुद्ध होता है। नवश्राद्ध, मासिक श्राद्ध, सार्धमासिक श्राद्ध, षाण्मासिक श्राद्ध और वार्षिक श्राद्धमें भोजन करनेवाला ब्राह्मण यथाक्रम चान्द्रायण, पराक, अतिकृच्छ्र, कृच्छ्र, पादकृच्छ्र और एकाहव्रतसे शुद्ध होता है[1]। यदि कुआँ आदिमें किसी मरे हुए जीवकी लाश गल जाय और उसका जल पी लिया जाय तो तीन दिन केवल जल पीकर रहनेसे शुद्धि होती है। यदि मृत जीव मनुष्य हो तो छः दिनतक जल पीकर रहनेसे शुद्धि होती है[2]। थोड़े जलवाले ताल, तलाई और कुण्ड आदिमें यदि कोई अपद्रव्य पड़ जाय तो कुएँ आदिकी शुद्धिके समान ही उनकी भी शुद्धि होनी चाहिये। बड़े-बड़े जलाशयोंका जल अशुद्ध नहीं होता[3]। पोखरी या कुण्डमें घुटनेसे ऊपर पानी हो, तभी वह शुद्ध—ग्रहण करनेके योग्य होता है। घुटनेसे नीचे हो तो वह अपवित्र है[4]। ऊन, रेशम, सन और आरक्तवस्त्र—ये थोड़ेमें ही शुद्ध हो जाते हैं; इनकी शुद्धिके लिये धूपमें सुखाना और जलके छींटे आदि देना ही काफी है[5]। गोहत्या, ब्रह्महत्या, सुरापान, सुवर्णकी चोरी और गुरुपत्नी-गमन—इन पापोंको करनेवाले मनुष्य महापातकी माने गये हैं। उनसे वार्तालाप करने, उनका स्पर्श होने, उनके श्वासकी हवा लगने, उनके साथ एक सवारी या आसनपर बैठने, साथ-साथ भोजन करने, यज्ञ अथवा स्वाध्यायमें उनके साथ सम्मिलित रहने तथा उनके यहाँ पुत्र या पुत्रीका ब्याह करनेसे उनका पाप फैलकर अपने ऊपर आ जाता है। अतः ऐसे पुरुषोंके संसर्गसे बचना अत्यन्त आवश्यक है[6]। बीमार गौकी चिकित्साके लिये यदि उसे बाँधा जाय अथवा मरे हुए गर्भको निकालनेका प्रयत्न किया जाय और उस समय उस गौकी मृत्यु हो जाय तो उसका प्रायश्चित्त नहीं होता[7]। इसी प्रकार किसीके प्राण बचानेके लिये यदि उसके शरीरमें कहीं जलाने, काटने या शिराभेदन करने (पस्त खोलने) की आवश्यकता हो और इस प्रयत्नमें दैवात् वह मृत्युको प्राप्त हो जाय तो उसका भी पाप नहीं लगता[8]। मदिरा मनुष्यका सर्वनाश करनेवाली मानी गयी है। वह कटहल, दाख, महुआ, खजूर, ताड़, ईख, मधु, सौर, अरिष्ट, मैरेय और नारियलसे बनती है। इस तरह वह ग्यारह प्रकारकी है। पुलस्त्यने इन सबको समानरूपसे मद्य कहा है और बारहवीं सुराको इन सबसे अधम बतलाया है। गौडी (गुडसे बननेवाली), माध्वी (महुआसे बननेवाली) और पैष्टी (जौ आदिसे बननेवाली)—यह तीन तरहकी सुरा जाननी चाहिये। मदिरा कैसी भी क्यों न हो, वह मनुष्यके लिये सर्वथा अग्राह्य और अस्पृश्य है[9]।

व्रत-परिचय समाप्त

---

[1] चान्द्रायणं नवश्राद्धे पराको मासिके स्मृतः।
पक्षत्रयेऽतिकृच्छ्रः स्यात् षण्मासे कृच्छ्रमेव तु ॥
आब्दिके पादकृच्छ्रः स्यादेकाहः पुनराब्दिके।
(शङ्ख)

[2] क्लिन्नं भिन्नं शवं चैव कूपस्थं यदि दृश्यते।
पयः पिबेत् त्रिरात्रेण मानुषे द्विगुणं स्मृतम् ॥
(देवल)

[3] जलाशयेष्वप्यल्पेषु स्थावरेषु महीतले।
कूपवत् कथिता शुद्धिर्महत्सु तु न दूषणम् ॥ (विष्णु)

[4] ……… …पुष्करिण्यां ह्रदेऽपि वा।
जानुदघ्नं शुचि ज्ञेयमधस्तादशुचि स्मृतम् ॥
(आपस्तम्ब)

[5] ऊर्णकौशेयकुतपपट्टक्षौमदुकूलजाः।
अल्पशौचा भवन्त्येते शोषणप्रोक्षणादिभिः ॥
(देवल)

[6] गोब्रह्महा सुरापी च स्वर्णस्तेयी तथैव च।
गुरुपत्न्यभिगामी च महापातकिनो नराः ॥
(स्मृत्यन्तर)

संलापस्पर्शनिःश्वाससहयानासनाशनात्।
यजनाध्ययनाद् यौनात् पापं संक्रमते नृणाम् ॥ (देवल)

[7] बन्धने गोश्चिकित्सार्थे मूढगर्भविमोचने।
यत्ने कृते विपत्तिश्चेत् प्रायश्चित्तं न विद्यते ॥ (संवर्त)

[8] दाहच्छेदशिराभेदप्रयत्नैरुपकुर्वताम्।
प्राणसंत्राणसिद्ध्यर्थं प्रायश्चित्तं न विद्यते ॥ (संवर्त)

[9] पानसं द्राक्षमाधूकं खार्जूरं तालमैक्षवम्।
मधूत्थं सौरमारिष्टं मैरेयं नालिकेरजम् ॥
समानानि विजानीयान्मद्यान्येकादशैव तु।
द्वादशं तु सुरा मद्यं सर्वेषामधमं स्मृतम् ॥
(पुलस्त्य)

गौडी माध्वी च पैष्टी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा।

श्रीहरिः

कल्याणमें प्रकाशित

श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके लेखोंका पुस्तकाकार संग्रह

तुलसी दल
सम्पादक
हनुमानप्रसाद पोद्दार

साइज
५×७॥ इञ्च

पृष्ठ २८४

एक तिरंगा चित्र

मूल्य ॥)

सजिल्द ॥≡)

डाकखर्च अलग

निबन्ध-सूची—

मधुर स्वर सुना दो !, तेरी हँसी, प्यारे कन्हैया !, दिव्य संदेश, शीघ्र चेतो !, श्रीभगवन्नाम, प्रेम-तत्त्व, भक्ति-सुधा-सागरतरंग, भक्त, भगवत्कृपा और भक्त, ईश्वर-भक्त, भगवत्प्रेमी, बुद्धिवाद और भक्ति, भगवत्प्रेम ही विश्वप्रेम है, भगवद्दर्शन, क्या दूसरे भी देख-सुन सकते हैं ?, भगवान् कहाँ रहते हैं ?, स्वागतकी तैयारी करो, मोक्ष-संन्यासिनी गोपियाँ, गोपी-प्रेम, चार प्रश्न, भगवत्-शरणागति, रामायण हमें क्या सिखाती है ?, हे राम !, विनय, भगवत्कृपा !, कामना ।

गीताप्रेस, गोरखपुर

श्रीहरिः

श्रीकृष्ण और उनकी भक्ति

स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषमशेषकल्याणगुणैकराशिम् ।
व्यूहाङ्गिनं ब्रह्म परं वरेण्यं ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम् ॥
अङ्गे तु वामे वृषभानुजां मुदा विराजमानामनुरूपसौभगाम् ।
सखीसहस्रैः परिसेवितां सदा स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम् ॥
नान्या गतिः कृष्णपदारविन्दात् संदृश्यते ब्रह्मशिवादिवन्दितात् ।
भक्तेच्छयोपात्तसुचिन्त्यविग्रहादचिन्त्यशक्तेरविचिन्त्यसाशयात् ॥
कृपास्य दैन्यादियुजि प्रजायते यया भवेत् प्रेमविशेषलक्षणा ।
भक्तिर्ह्यनन्याधिपतेर्महात्मनः सा चोत्तमा साधनरूपिकापरा ॥

जो स्वभावतः समस्त दोषोंसे मुक्त हैं एवं समस्त मङ्गलमय गुणोंके एकमात्र भंडार हैं, वासुदेवादि चतुर्व्यूह जिनके अङ्ग हैं, जो सबमें श्रेष्ठ तथा सबसे परे हैं तथा जिनके कमल-सदृश नेत्र हैं, उन पापहारी श्रीकृष्णरूप ब्रह्मका हम ध्यान करते हैं। उनके साथ ही हम श्रीवृषभानुदुलारी राधा-देवीका भी स्मरण करते हैं, जो श्रीकृष्णके वामाङ्गमें उल्लासयुक्त होकर सदा विराजमान रहती हैं, जिनका सौन्दर्य उन्हीं श्यामसुन्दरके अनुरूप है, जिनकी हजारों सखियाँ निरन्तर सेवा करती रहती हैं, तथा जो सम्पूर्ण अभिलषित पदार्थोंको देनेवाली हैं, भगवान् श्रीकृष्णके चरण-कमलोंकी ब्रह्मा, शिव आदि देवेश्वर भी वन्दना करते हैं; उन्होंने भक्तोंकी इच्छाको पूर्ण करनेके लिये ही सुगमतासे ध्यानमें आनेयोग्य मनोहर विग्रह धारण कर रखा है; यद्यपि उनकी शक्ति अचिन्त्य है तथा उनके आशयको भी कोई समझ नहीं सकता। उन भगवान् श्रीकृष्णके चरण-कमलोंको छोड़कर दूसरा कोई सहारा नहीं दिखायी देता। जो दीनता आदि गुणोंसे युक्त हैं, उन्हींपर इन सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्णकी कृपा उतरती है और उस कृपाका फल है——उनकी प्रेम-लक्षणा भक्ति। यही उत्तमा भक्ति है। इस प्रेमा-भक्तिके साधनरूपसे जो भक्ति की जाती है, वह गौणी भक्ति है।

(श्रीनिम्बार्कमुनि)

कल्याण

८-३-४४

गु. पुस्तकालय

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी

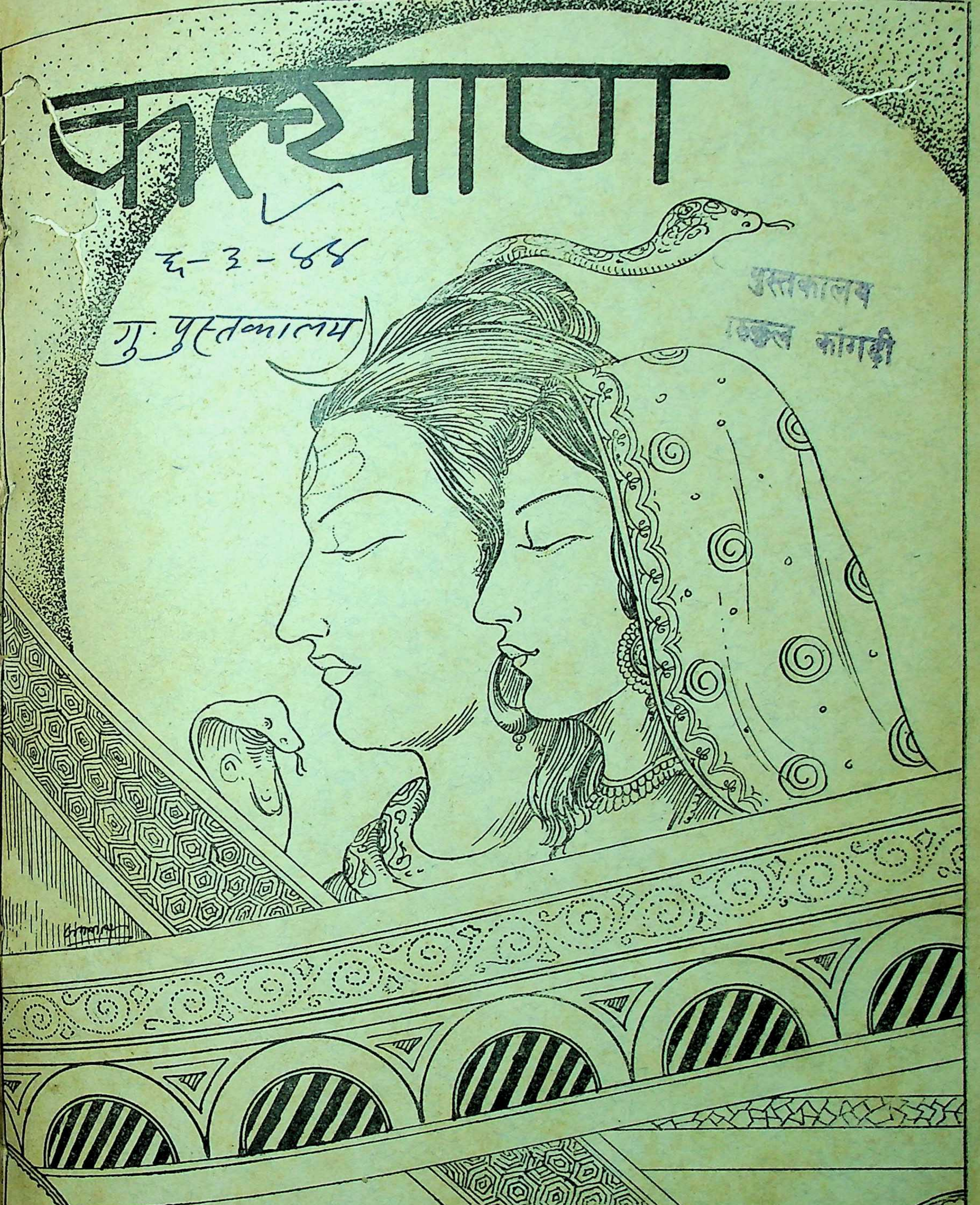

वर्ष १८

अङ्क ५

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियाराम॥
रघुपति राघव राजा राम। पतितपावन सीताराम॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ आगारा॥

[संस्करण ५५६००]

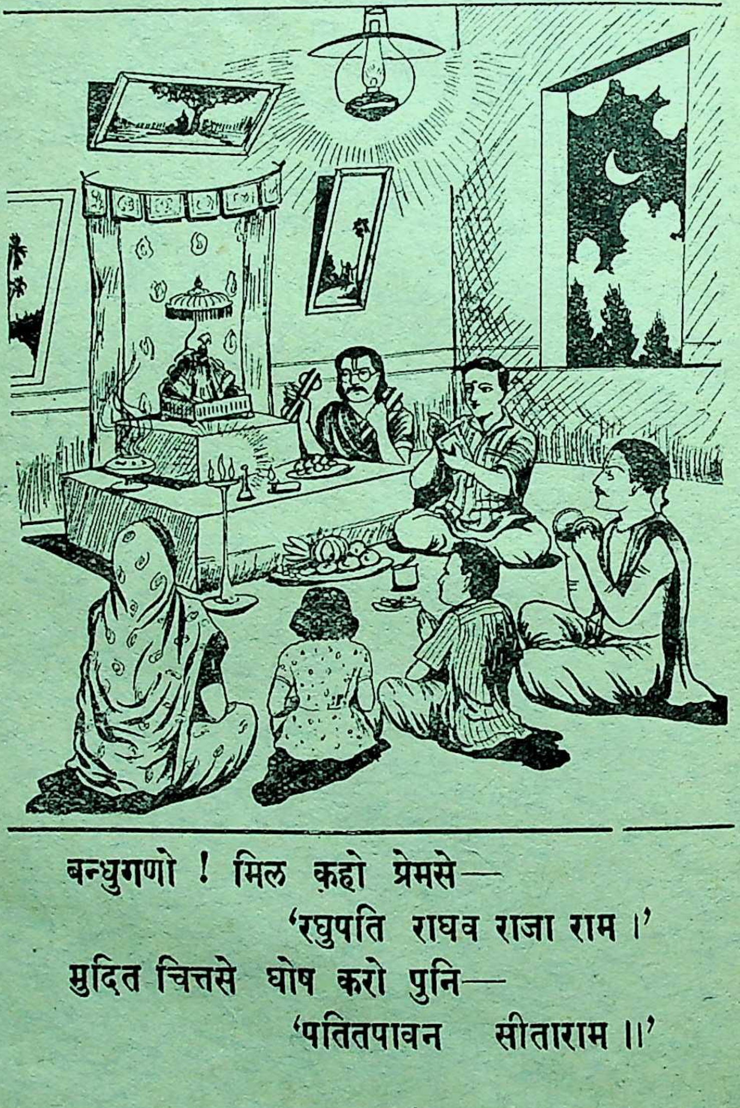

बन्धुगणो! मिल क़हो प्रेमसे—
'रघुपति राघव राजा राम।'
मुदित चित्तसे घोष करो पुनि—
'पतितपावन सीताराम॥'

वार्षिक मूल्य
भारतमें ५≡)
विदेशमें ७॥=)
(शिलिङ्ग ११½)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत् चित् आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

साधारण प्र
भारतमें
विदेशमें ।≶)
(८ पें

Edited by H. P. Poddar and C. L. Goswami, M. A., Shastri.
Printed and Published by Ghanshyamdas Jalan at the Gita Press, Gorakhpur, U. P. (India)

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

कल्याण फरवरी सन् १९५४

विषय … पृष्ठ-संख्या
१–रासलीला [कविता] (श्रीसूरदासजी) … … … ७२९
२–प्रभु-स्तवन [कविता] (अनुवादक—श्रीमुंशीरामजी शर्मा, एम्० ए०, 'सोम') … ७३०
३–संत-वाणी (एक महात्माका प्रसाद) … … … ७३१
४–'अन्तर्यामीसे' [कविता] (श्रीहोमवती देवी) … … … ७३२
५–साधु-दर्शन और सत्प्रसङ्ग (महामहोपाध्याय पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम्० ए०) … ७३३
६–श्रीरामके दासानुदास श्रीशत्रुघ्न (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) … … ७३६
७–प्रबोध [कविता] (कविभूषण श्रीजगदीशजी) … … … ७३९
८–'मानस' के सप्त प्रश्न (श्रीमहेश्वरप्रसादजी) … … … ७४०
९–होरी [कविता] (प्रेषक—पं० विष्णुदत्तजी शर्मा, बी० ए०) … … ७४८
१०–सत्सङ्गके बिखरे वाक्य (संग्रहकर्ता—एक सत्सङ्गी) … … … ७५०
११–भीख (श्रीवसिष्ठ) … … … ७५६
१२–गीताका तीसरा अध्याय—कर्मयोग (पं० श्रीमुरलीधरजी शर्मा, बी० ए०, बी० एल०) … ७६१
१३–कामके पत्र … … … ७६७
१४–वही होली [गीत] (श्रीशिवनारायणजी वर्मा) … … … ७७६
१५–उसने क्या कहा ! (श्रीईश्वरचन्द्रजी तिवारी) … … … ७७७
१६–परमार्थ-पत्रावली (श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र) … … … ७७९
१७–एक भक्तकी भगवान्से बातचीत (रायसाहेब श्रीकृष्णलालजी बाफणा) … … ७८३
१८–पुरोहित—ऐतिहासिक विवेचन (पं० श्रीवासुदेवजी उपाध्याय, एम्० ए०) … ७८५
१९–नामतत्त्व व कबीर साहब (पं० श्रीपरशुरामजी चतुर्वेदी, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०) … ७८८

⁂

सं० वाल्मीकीय रामायणाङ्कका दूसरा संस्करण—

छपकर तैयार हो गया है । जिन लोगोंकी माँग रुकी हुई है उन्हें शीघ्र ही भेज दिया जा सकेगा । सजिल्द अंकके बननेमें बहुत देर हो जाती है अतः उसके लिये आर्डर न देनेकी कृपा करेंगे ।

व्यवस्थापक—कल्याण, गोरखपुर

पुस्तकें खरीदनेवाले ग्राहकोंसे—

कल्याणके गत अङ्कमें जो निवेदन पुस्तक-विक्रेताओंकी सेवामें किया गया था, उसे आपलोगोंने देखा ही होगा। उसके अतिरिक्त एक पत्र भी हमने अलग डाकसे अपने बुकसेलर बन्धुओंकी सेवामें भेजा है और उनसे पुनः यही प्रार्थना की गयी है कि Hoarding and Profiteering Prevention Ordinance का खयाल करके हमारे यहाँसे मिलनेवाली कमीशनको समझते हुए पुस्तकोंके दाम हमारी सूचीमें छपे हुए दामोंसे अधिक-से-अधिक १२॥ परसंट अर्थात् दो आना प्रति रुपयातक लेनेकी कृपा करेंगे। हमें आशा है कि ग्राहकोंको अब कोई खास शिकायत करनेका मौका नहीं मिलेगा।

इसके अतिरिक्त निम्नलिखित स्थानोंपर गीताप्रेसकी पुस्तकें हमारी सूचीमें छपे हुए दामोंपर ही आपको मिल सकेंगी।

कलकत्ता—श्रीगोविन्दभवन कार्यालय, ३०, बाँसतल्ला गली।

बम्बई—श्रीसत्संगभवन, दादीसेठ अग्यारी लेन, गणेशबाग।

बनारस—गीताप्रेस, ५९।९ नीचीबाग।

लखनऊ—मोतीलाल श्यामसुन्दर, २५ श्रीरामरोड।

बितिया—सुन्दरमल हरिराम।

बीकानेर—ईश्वरदास डागा, डागोंका मुहल्ला, नया शहर, बी० के० विद्यालयके पास।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, गोरखपुर**

कल्याणके दो पुराने विशेषाङ्क

वेदान्ताङ्क (सपरिशिष्टाङ्क)

यह ग्यारहवें वर्षका विशेषाङ्क है; मूल्य ३), पूरी फाइल वेदान्ताङ्कसहित ४≡)

साधनाङ्क

यह पंद्रहवें वर्षका विशेषाङ्क है; मूल्य ३॥)

व्यवस्थापक—**कल्याण, गोरखपुर**

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी

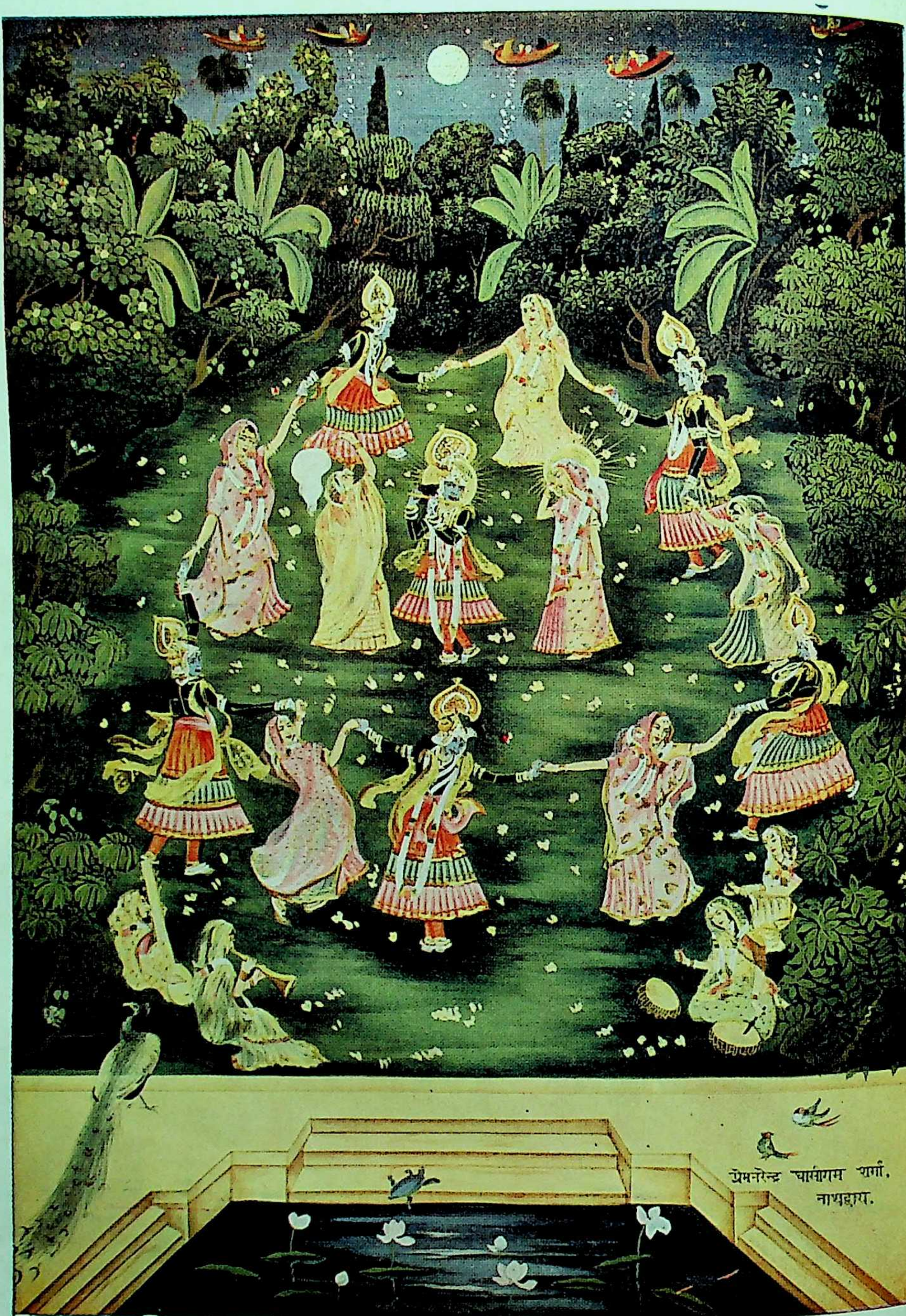

प्रेमनरेन्द्र घासीराम शर्मा.
नाथद्वारा.

महारास

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी

कल्याण

रामाय रामभद्राय रामचन्द्राय वेधसे ।
रघुनाथाय नाथाय सीतायाः पतये नमः ॥

वर्ष १८ | गोरखपुर, फरवरी १९४४, सौर माघ २००० | संख्या ५
पूर्ण संख्या २०९

रासलीला

रासमंडल बने स्याम स्यामा ।
नारी दुहुँ पास दुहुँ पास गिरिवर बने ससि बीस द्वादस उपमा ॥
मुकुटकी छबि कहा उपमा कही नयन जानत नहीं देह जाने ।
सुभग नव मेघ ता बीच चपला चमकि निरखि निर्तत मोर हरषि माने ॥
करति आनंद पिय संग ललना पुंज बढ़त रसरंग छिन छिनहिं औरै ।
सूर प्रभु रास रस नागरी मध्य दोउ परस्पर नारि पति मनहिं चोरै ॥

—सूरदासजी

प्रभु-स्तवन

(अनुवादक— श्रीमुंशीरामजी शर्मा, एम्०ए०, 'सोम')

वसन्त इन्नु रन्त्यो ग्रीष्म इन्नु रन्त्यः ।
वर्षाण्यनु शरदो हेमन्तः शिशिर इन्नु रन्त्यः ॥
(साम० पू० ६ । ३ । १३ । २०)

मेरे प्रभुकी सृष्टि बनी है चारों ओर परम रमणीय ।
षड् ऋतुओंकी अनुपम आभा छायी कलित, कान्त, कमनीय ॥
हरा-भरा कुसुमित-सुरभित वह वर वसन्त नवस्फूर्ति-निकेत ।
ज्वलित ज्वाल-मालासे मण्डित ग्रीष्म शुभ्र तप-त्याग-समेत ॥
सरस धार दे तप्त भूमिको आती वर्षा आशाधार ।
निर्मल नभमें सुधा बहाती विमल शरदका शान्त प्रसार ॥
आती है हेमन्त लिये हिमकर शीतलताका संचार ।
शिशिर स्वच्छ कर देती जगको गलित-पलित दल झाड़ बुहार ॥

ईशे ह्यग्निरमृतस्य भूरेः ईशे रायः सुवीर्यस्य दातोः ।
मा त्वा वयं सहसावन्नवीरा माप्सवः परिषदाम मा दुवः ॥ (ऋक्०७।४।६)

हम कुरूप, कामी, कायर क्या करें प्रभो तेरा आराधन ।
हमें कहाँ अवकाश नाशसे ? कैसे करें अमृत-पथ साधन ?
मुख तो तमकी ओर, कहाँ फिर वह प्रकाशकी रेखा पावन ?
डूब रहे दुख-दैन्य-सिन्धुमें, कहाँ शान्ति-सुख-छत्र सुहावन ?
कैसी गति विपरीत अरे यह, कैसा उलटा मार्ग हमारा !
अपने घरका वैभव छोड़ा, पर-धनका ले लिया सहारा !
पर-जित पराधीन बननेमें कलुष कष्टकी काली कारा ।
फँस जाता है हिरन जालमें, देख बधिकका मोहक चारा ॥
पिता ! फँसे हम प्रकृति-पाशमें जहाँ विनाश, विलाप, विकलता ।
अपने घरमें विभव, वीरता, अमल अमरता, सदा सफलता ॥
अब तो याद उसीकी आती, मिले वही घर, वही मधुरता ।
मिले तुम्हारी गोद, मिले फिर मुझको मेरी वही अमरता ॥

त्वावते हीन्द्रक्रत्वे अस्मि त्वावतोऽवितुः शूर रातो ।
विश्वेदहानि तविषीव उग्र ओकः कृष्णुष्व हरिवो न मर्धीः ॥ (ऋक्७।२५।४)

बिक चुका प्रभो ! तुम्हारे हाथ !
बना लो चाहो जैसा नाथ !
तुम्हारे ही कर्मोंके लिये, समर्पित मेरी शक्ति समस्त ।
शूर तुम-जैसे रक्षक मिलें, रहें फिर कोई कैसे त्रस्त ?
तुम्हारी श्रेय गेय गुण-गाथ !
उग्र ओजस्वी ले निज सैन्य, सदाको कर लो मुझमें ओक ।
बचा लो मुझको, मरने दो न, पापकी प्रबल शक्तियाँ रोक ॥
हरा हो हरे ! हमारा पाथ ॥

संत-वाणी

(एक महात्माका प्रसाद)

प्रश्न—भगवान्‌के होकर रहनेका क्या अर्थ है ?

उत्तर—गहराईसे देखिये, प्रत्येक प्राणी किसी-न-किसीका होकर ही रहता है। अन्तर केवल इतना है कि कोई विभक्त (जो भक्त नहीं है) होकर अनेकका रहता है, और कोई भक्त होकर एकका ही। जिसको भगवान्‌का होकर रहना है उसके लिये भक्त होना अनिवार्य है । यह नियम है कि जो जिसका भक्त हो जाता है उसको उसके बिना कल नहीं पड़ती। उसमें स्वाभाविक व्याकुलता उत्पन्न हो जाती है। व्याकुलता वह अग्नि है जो अनेकों प्रकारके दोषोंको भस्मीभूत कर डालती है। पूर्ण निर्दोषता आ जानेपर व्याकुलता नित्य-जीवन, नित्य-रस, नित्य-आनन्दमें विलीन हो जाती है। फिर वियोगका भय एवं संयोगकी आसक्ति शेष नहीं रहती। अवस्थाभेद मिटकर नित्य जागृति अपने-आप आ जाती है एवं भक्त अपने प्रेमपात्रको अपनेसे भिन्न नहीं पाता।

'मैं भगवान्‌का हूँ' यह वाक्य कथन करनेमें जितना काल लगता है, उससे भी कम समय सद्भावपूर्वक उनका होनेमें लगता है। क्योंकि प्राणी शब्दको तो तब उच्चारण कर पाता है जब भावके अनुरूप संकल्प करता है और संकल्पके अनुरूप (परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी आदि) वाणियोंके द्वारा चेष्टा करता है। होनेके लिये तो संकल्प तथा उच्चारण आदि चेष्टाकी आवश्यकता नहीं है; केवल सद्भावपूर्वक भावकी स्वीकृतिकी आवश्यकता है। स्वीकृति, स्वीकृति-कर्ता अपने-आप कर सकता है, अर्थात् स्वीकृति करनेमें प्राणी स्वतन्त्र है। जिसके करनेमें प्राणी स्वतन्त्र है उसका करना कठिन नहीं है। कठिन यही है कि साधारण प्राणियोंके हृदयमें अत्यन्त सुगमताका आदर नहीं है, इसी कारण सुगमता दुर्गम (कठिन) हो गयी है

जिस प्रकार पृथ्वीमें पड़ा हुआ बीज यथासमय अपने-आप उपजता है, उसी प्रकार सद्भावपूर्वक की हुई स्वीकृतिके अनुरूप कर्तामें करनेकी शक्ति अपने-आप उत्पन्न होती है। बस, करना यही है कि अपनी की हुई स्वीकृति सुरक्षित बनी रहे। 'स्वीकृति' भाव है अतः वर्तमानमें ही हो सकती है। स्वीकृति अहंभावसे ही उत्पन्न होती है। अतः इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि उसका विरोध नहीं कर पाते, क्योंकि ये सब तो अहंभावके यन्त्र हैं। 'मैं भगवान्‌का हूँ' यह स्वीकृति होते ही सहज स्नेह उत्पन्न होकर प्रेमीका प्रेम-पात्रसे अभेद तथा कर्ताकी की हुई स्वीकृतिको सार्थक करता है। क्योंकि स्वीकृतिके अनुरूप जीवन होनेपर स्वीकृति सिद्ध हो जाती है।

× × × × ×

सुख-दुःख आने-जानेवाली परिस्थितियाँ हैं। जो प्राणी सुखमें निरभिमानता एवं उदारताको अपनाता है वह अवश्य उन्नति कर लेता है, अर्थात् जीवनके जिस अंशमें सुख हो उसे दूसरोंको बाँटकर हृदयको उदार बना लेना चाहिये और अभिमानको त्याग कर मनुष्य हो जाना चाहिये।

दुःख आनेपर आत्मविश्वास तथा त्यागको अपनाना चाहिये । आत्मविश्वासका अर्थ है 'हार स्वीकार न करना' अर्थात् दुःखसे न डरना। त्यागका अर्थ है अनुकूलता तथा प्रतिकूलतापर विश्वास न करना एवं सभी परिस्थितियोंसे असङ्ग हो जाना। जो प्राणी परिस्थितियोंसे असङ्ग हो जाता है उसकी प्रत्येक परिस्थिति लीलावत् प्राकृतिक नियमके अनुसार अपने-आप होती है, अर्थात् परिस्थितिमें जीवनभाव नहीं रहता, तब बेचारी परिस्थितियाँ स्वतः ही निर्जीव हो जाती हैं। परिस्थितियोंके निर्जीव होते ही निर्वासना

अपने-आप आ जाती है, जो उन्नतिका मूल है। निर्वासना होनेपर स्वीकृतिसे उत्पन्न होनेवाली सत्ता मिट जाती है और आनन्दघन भगवान्से अभेदता प्राप्त होती है, जो वास्तवमें 'जीवन' है।

× × × ×

संकल्प-पूर्तिका रस जीवनमें सच्ची आस्तिकता नहीं आने देता। अतः विचारशील प्राणीको संकल्प-निवृत्तिके लिये निरन्तर प्रयत्न करना चाहिये। संकल्प-पूर्तिमें प्राणी सर्वदा परतन्त्र है; क्योंकि संकल्पपूर्ति कर्मसे होती है। कर्म सङ्घटनके बिना नहीं हो सकता। हाँ, यह अवश्य है कि अशुभ संकल्पकी अपेक्षा शुभ संकल्प अधिक आदरणीय है; किन्तु निःसंकल्पके सामने शुभ संकल्प कुछ भी मूल्य नहीं रखता।

जिस प्रकार पृथ्वीमें पड़ा हुआ बीज यथासमय प्राकृतिक नियमके अनुसार अपने-आप उपजकर विलीन हो जाता है, उसी प्रकार निःसंकल्प होनेपर आवश्यक संकल्प अपने-आप पूर्ण होकर विलीन हो जाता है। अतः संकल्पकर्ताको चाहिये कि वह संकल्पसे अपना मूल्य अधिक कर ले।

× × × ×

उसकी ओर मत देखो, जिसको आपकी आवश्यकता नहीं है। भीतर-बाहरसे अकेले रहनेका स्वभाव बनाओ। ऐसा करनेसे आपको वह (आनन्द) मिल जायगा जो आपके बिना नहीं रह सकता अथवा यों कहो 'जो आपकी आवश्यकता है'।

× × × ×

'अन्तर्यामीसे'

कितने निष्ठुर हो तुम साथी !

आत्म-समर्पण करके तुमको, जीवनका आधार बनाया।
जो भी कुछ था पास, तुम्हें सब, तिल-तिल करके भेंट चढ़ाया॥
पर आराध्य ! पसीज न पायी, पाहन-सी वह कुंठित छाती।
कितने … …॥

क्या जाने क्या दे देनेसे, मिल जाता वरदान तुम्हारा।
मेरा तो चिन्तन-आराधन, आवाहन है एक सहारा॥
प्रतिदिन ही सूने मन्दिरमें, कर देती हूँ संजा-बाती।
कितने … …॥

कभी स्वप्नमें भी मिल जाता, नाथ ! अछूता प्यार तुम्हारा।
हो जाता कृतकृत्य सत्य ही, मेरा आहत जीवन सारा॥
तब मैं क्यों नित अन्धकार ले, द्वार तुम्हारेसे फिर आती।
कितने … …॥

कितनी निर्दयतासे तुमने, तोड़ धरी उर-तन्त्री मेरी।
कैसे तुमको गान सुनाऊँ, विषम आपदाओंने घेरी॥
वर-अभिशाप बने प्रभु ! मुझको अकह साधना संकट थाती।
कितने … …॥

—होमवती देवी

साधु-दर्शन और सत्प्रसङ्ग

(लेखक—महामहोपाध्याय पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज एम्० ए०)

[भाग १८; पृष्ठ ६०९ से आगे]

३—नागाबाबा

वे एक महाराष्ट्रीय सिद्ध पुरुष अवधूतभावको प्राप्त दिगम्बर साधु थे। लगभग २१ वर्ष हुए, काशीधाममें ही उनके दर्शनका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उनका गुरुका दिया हुआ नाम क्या था, मैं नहीं जान सका। परन्तु भक्तमण्डलीमें वे 'नागाबाबा' नामसे प्रसिद्ध थे। उनकी अवस्था वस्तुतः कितनी थी, यह कहा नहीं जा सकता; परन्तु शरीरका गठन देखनेसे जान पड़ता था कि पचास वर्षके होंगे। वर्ण श्याम था, सिर मुँड़ा हुआ, मुखमण्डल दाढ़ी-मूँछसे रहित तथा आकृति दीर्घ और कृश थी। मुखपर सदा ही मुसकराहट लहराती रहती थी। मुझे लगभग एक महीने उनके सत्सङ्गका अवसर प्राप्त हुआ था। उनके साथ प्रतिदिन अनेकों विषयोंकी चर्चा और नाना प्रकारकी तत्त्वालोचना होती थी। समय-समयपर अनेकों जिज्ञासु भक्त उपस्थित होते थे। कभी-कभी उनकी हठयोगादि-सम्बन्धी विभिन्न क्रियाओंके देखनेका भी मुझे अवसर मिला था। मैंने ऐसा सुना था कि वे दिन-रातमें किसी भी समय भोजन नहीं करते थे। बहुतोंने परीक्षा करके इस विषयमें अपना सन्देह दूर कर लिया था। वे कहते थे कि देहके सिद्ध हो जानेपर बाह्य भोजनकी उतनी आवश्यकता नहीं रहती। उनकी कुछ व्यक्तिगत उक्तियाँ यहाँ उद्धृत की जाती हैं—

(क) श्रवणके बिना मनन नहीं होता। नाम-जप इस प्रकार करना चाहिये कि जिससे वह केवल अपनेको ही सुनायी दे। इससे सहज ही मनन या स्मृतिका विकास हो जाता है। मूलमें श्रुतिके न रहनेसे स्मृति उत्पन्न नहीं होती। इसी प्रकार मूलमें नाद न होनेपर श्रुति भी नहीं हो सकती। स्मृतिके होनेपर धृति (निदिध्यासन) स्वयं ही आ जायगी। इसीके पश्चात् दर्शन या साक्षात्कार होता है। यही इनका क्रम है।

(ख) नाम-जपसे देहशुद्धि स्वयं ही हो जाती है, क्योंकि नामसे ही कुण्डलिनी चैतन्य होती है और जब कुण्डलिनी चैतन्य हो गयी तो फिर देह-शुद्धिमें बाकी ही क्या रह गया।

(ग) रसके द्वारा भी देह शुद्ध किया जाता है; परन्तु वह बहुत कठिन है। मैंने स्वयं ऐसा किया था। उसमें लगभग साढ़े तीन वर्ष लग गये थे। देह शुद्ध हुए बिना देह मुक्त नहीं होता। उसका माया-पाश (मातृबन्धन) नहीं टूटता, उसमें पञ्चतत्त्वोंके स्वाभाविक आकर्षण रह ही जाते हैं। इसका फल यह होता है कि असली 'सोऽहं' जाग्रत् नहीं हो सकता। बहुधा ऐसा देखता हूँ कि साधककी आत्मा अर्थात् चित्त ब्रह्मलोकतक चला गया, तथापि देह (पञ्चभूत) अशुद्ध रहनेके कारण उठ न सका और भूलोकमें ही पड़ा रहा; परन्तु यह ठीक नहीं। देहको शुद्ध करके संग ले जाना पड़ता है, नहीं तो पतनकी आशङ्का रह जाती है। पुनरावृत्तिका भय दूर नहीं होता; क्योंकि ये अधःस्थित अशुद्ध देहके अणु ऊर्ध्वलोकस्थ चित्तको अवसर पाते ही नीचे खींच लेते हैं। और भी एक बात है—देहशुद्धि हुए बिना, विज्ञानसे फिर अज्ञानमें, अद्वैतसे द्वैतमें स्वेच्छानुसार तथा आत्मबोधकी रक्षा करते हुए उतरा नहीं जा सकता। बहुत-से लोग इसी कारण अद्वैतमें ही अटके रह जाते हैं। उनके द्वारा पर-उपकार नहीं होता। देह सिद्ध होनेपर वह

अविनाशी हो जाता है। जलन्धरनाथने देह सिद्ध किया था, परन्तु गोरखनाथकी देह-शुद्धि ठीक-ठीक नहीं हुई। देह शुद्ध होनेपर वह शून्यमय हो जाती है। कण्ठसे लेकर सारा निचला भाग शून्य हो जाता है, ऊपरी भागमें चैतन्य रहता है। पञ्चतत्त्वका शुद्ध होना ही देहकी शुद्धि है। देहकी शुद्धि हुए बिना परब्रह्मपर्यन्त गति नहीं होती। ब्रह्मलोकमें ही उसका अवसान हो जाता है।

रसके द्वारा देह शुद्ध होता है। जिह्वा रसनेन्द्रिय है; इसे नियमानुसार २१ दिन, २८ दिन या किसी निश्चित समयतक किसी विशेष रसका आस्वादन कराना पड़ता है। इस बीचमें क्षणभरके लिये भी अन्य रसका आस्वादन न हो इसका ध्यान रखना पड़ता है। इसी प्रकार आगे अन्यान्य सभी रसोंका आस्वादन कर लेनेपर सबके अन्तमें विष भक्षण करना पड़ता है। विष ही अमृत है, क्योंकि यह अग्निस्वरूप है। यह अमृत-पान करनेपर देह अमर हो जाता है। विभिन्न रसोंके आस्वादनकालमें शरीरकी विभिन्न त्वचा गिर जाती है। शरीरसे ११ कवच (खोल) गिर जाते हैं। शरीर एकबारगी नया हो जाता है। तब पहला उपादान कुछ नहीं रह जाता। ऐसी अवस्थामें नाम ही एकमात्र अवलम्बन रह जाता है। जब सन्निपात होता है, तब नामका अवलम्बन न होनेसे देहपात अवश्यम्भावी हो जाता है।

देहशुद्धि हो जानेपर सिरमें ब्रह्मरन्ध्रके ऊपर हाथ रखनेपर वायुकी सत्ताका अनुभव किया जा सकता है। हमारे हाथके तालुकी ओर सूर्य और पृष्ठभागकी ओर पृथ्वी होती है। इस सूर्यको पूर्वोक्त वायु-सेवन कराना होता है।

(घ) अन्तर शुद्ध हुए बिना भीतर-ही-भीतर जप वा अन्तर्जप नहीं चलता। अतएव अशुद्ध चित्तवाले साधकके लिये अन्तर्जप असम्भव है।

(ङ) कुण्डलिनीके जगे बिना अजपा-जप किस प्रकार हो सकता है? तालुमूल (कण्ठ) से नाभिपर्यन्त एक संकोच-प्रसारकी क्रिया निरन्तर अनुभूत होती है—एक बार संकोच होता है, फिर प्रसारण होता है। उसके बाद फिर संकोच होता है—इसी प्रकार सर्वदा होता रहता है। ऊपरसे तालुमूलमें ब्रह्मबिन्दु क्षरित होनेपर संकोच होता है और नाभिकी क्रियाके फलसे प्रसारण वा विकास होता है। इसीका नाम अजपा-जप है। कुण्डलिनी शक्तिके जाग्रत् हुए बिना यह सम्भव नहीं।

(च) सृष्टि स्त्रीलिङ्ग है—यही पृथ्वी है। ब्रह्माण्डके एक अंशमें सृष्टि होती है। सृष्टिके बाहर भी ब्रह्माण्ड है।

रजः-सृष्टिरूप—स्त्रीलिङ्ग।

सत्त्व-बालरूप—नपुंसकलिङ्ग।

तमः—पुँल्लिङ्ग।

आठ धातुओंसे सृष्टि होती है—इसीसे आठ दिशाएँ हैं और आठ दिक्पाल। रजोगुण क्रियास्वरूप है। समस्त ब्रह्माण्डमें क्रिया नहीं होती, एक देशमें ही होती है। निष्क्रिय अवस्था सृष्टिके परे है।

रजोगुण पहले बिन्दुरूप होता है—यही सूर्य है। आकाशमें पहले नक्षत्र हैं। उनके बाद चन्द्रमा और फिर सूर्य हैं। सब नक्षत्र मुक्त आत्माएँ हैं—ज्योतिःस्वरूप हैं। जब ये सब आत्माएँ पृथ्वीपर गिरती हैं, तब कहा जाता है कि तारे टूट रहे हैं। गिरनेके समय जो ज्योतिरेखा दीख पड़ती है, वह आत्माकी ही अङ्गज्योति है। यह सूक्ष्म वायुस्तर तक दिखलायी देती है। पश्चात् स्थूल या पार्थिव वायुमण्डलमें आनेपर अन्धकार हो जाता है।

(छ) रातमें अधिकांश मनुष्य सो जाते हैं—उस समय उनका तेज प्रायः नक्षत्रमण्डलमें जाता है और नक्षत्रोंके साथ वार्तालाप करता है। यही स्वप्नावस्था है। यही

कारण है कि रातमें नक्षत्र इतने उज्ज्वल दीख पड़ते हैं; क्योंकि उस समय तेजमें तेज मिल जाता है। रातके बारह बजेके बाद प्रायः कोई नहीं जागता, उस समय नक्षत्र खूब चमकते हैं। मनुष्य जगते ही अपनी-अपनी ज्योति अथवा प्राणोंको आकर्षित कर लेता है। एक आत्माका ही मुक्त बिन्दु ऊपर तारारूपमें और बद्धबिन्दु नीचे नाना प्रकारके बद्धजीवके रूपमें विभिन्न योनियोंमें खेल करता है।

चन्द्रमाके साथ ताराओंका विशेष सम्बन्ध है। समाधि-अवस्थामें तथा सदेह मुक्तिमें नक्षत्रोंमें जाकर सब देखा जा सकता है। अपनी ज्योतिको इस ज्योतिमें मिलानेसे ही सब प्रत्यक्ष देखा जाता है।

(ज) प्रदक्षिणा या परिक्रमा सहज ही उत्थानका उपाय है। भूतलके किसी विस्तृत स्थानमें गुरुकी बतलायी हुई पद्धतिसे मण्डलकी कल्पना करके उसकी प्रदक्षिणा करनी पड़ती है; परन्तु उसका अखण्डभावसे होना आवश्यक है। पहले-पहले कुछ देर घूमनेपर सिर घूमने लगता है, तब बैठ जाना पड़ता है। कुछ देर विश्राम करके फिर घूमना पड़ता है, पश्चात् बैठकर फिर पूर्ववत् घूमना पड़ता है। जबतक रस सूख न जायगा, तबतक सिर घूमेगा। इसीलिये बीच-बीचमें बैठना आवश्यक है। इस प्रकार दीर्घकालतक अखण्ड अभ्यास करनेपर प्रदक्षिणाके प्रभावसे देहस्थ रस सूख जाता है; फिर सिर नहीं घूमता—अत्यन्त गम्भीर परम शान्ति अनुभव होने लगती है। ब्रह्मरन्ध्रमें विशाल 'सरोवर' का दर्शन होता है। सारा देह-मन स्निग्ध हो जाता है। वही अनन्त समुद्र है। तृतीय नेत्रके सामने वह सदा ही प्रकाशमान रहता है। बाहरी बातचीत तथा व्यवहारमें भी वह समभावसे सर्वदा दिखायी देता है। उसमें कोई तरङ्ग नहीं; परन्तु जब कुछ देखनेकी इच्छा होती है, उसी समय वह तरङ्गित हो जाता है और इच्छित वस्तु उसमें दिखलायी देने लगती है। पीछे वह फिर निस्तरङ्ग भाव धारण कर लेता है। यह अन्तिम अवस्था है। यहींसे परब्रह्मका आभास मिलता है। [क्रियाका रहस्य गुरुके उपदेशसे ही जाना जाता है।]

(झ) ध्यान करना सबके लिये उचित नहीं है, क्योंकि ध्यानका आश्रय लेनेपर ध्यानसे परे जाना कठिन हो जाता है। सारी चेष्टाको केवल कुण्डलिनीके चैतन्य करनेमें ही लगाना उचित है। कुण्डलिनीके जागनेपर ध्यान स्वयं ही आयगा और समय होनेपर वह स्वयं ही टूट जायगा।

बिन्दुभेद करना होगा—ठीक सीधे मध्यपथमें। बिन्दुके इस पार और चारों ओर मृत्युलोक है, और उस पार शून्य है, उसी पार नाना प्रकारके दर्शन होते हैं।

* * *

पृथ्वीके रहते हुए बिछौनेके लिये प्रयास करनेकी क्या आवश्यकता है? अपनी भुजाओंके रहते तकियेकी क्या आवश्यकता है? अञ्जलीके रहते हुए तरह-तरहके भोजनपात्रोंसे क्या लेना है? तथा वल्कलादिके रहते वस्त्रोंकी क्या आवश्यकता है? क्या मार्गोंमें चिथड़े नहीं हैं? दूसरोंका पालन करनेवाले वृक्षोंने क्या भिक्षा देनी छोड़ दी है? क्या नदियाँ भी सूख गयीं? गुहाएँ क्या रुक गयी हैं? क्या भगवान् अपने शरणागतोंकी रक्षा नहीं करते? फिर तत्त्वज्ञ जन धनके घमंडमें अंधे हुए पुरुषोंका आश्रय क्यों लेते हैं?

—श्रीमद्भागवत

श्रीरामके दासानुदास श्रीशत्रुघ्न

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

श्रीशत्रुघ्नजीका चरित्र भी अपने ढंगका निराला ही है। वाल्मीकीय-रामायणमें श्रीशत्रुघ्नजीको भी भगवान् विष्णुका ही अंशावतार माना गया है, परन्तु उनके चरित्रसे यही. सिद्ध होता है कि आप श्रीरामके दासानुदासोंमें अग्रगण्य थे। श्रीशत्रुघ्नजी मौनकर्मी, प्रेमी, सदाचारी, मितभाषी, सत्यवादी, विषयविरागी, सरल, तेजःपूर्ण, गुरुजनके अनुगामी और वीर थे। श्रीरामायणमें इनके सम्बन्धमें विशेष विवरण नहीं मिलता, परन्तु जो कुछ मिलता है, उसीसे इनकी महत्ताका कुछ अनुमान किया जा सकता है। आप बाल्यकालसे ही सदा भरतजीके साथ रहते थे; अतः श्रीभरतजीका और इनका चरित्र साथ ही चलता है। इसलिये रामायणमें इनके विषयमें कोई बात अलग नहीं कही गयी है। इनके गुण और चरित्रोंका अनुमान भरतके व्यवहारसे लगा लेना चाहिये।

बालकाण्डमें इनके प्रेमका वर्णन करते हुए कहा है—

अथैनं पृष्ठतोऽभ्येति सधनुः परिपालयन्।
भरतस्यापि शत्रुघ्नो लक्ष्मणावरजो हि सः॥
(१ । १८ । ३२)

जैसे लक्ष्मण हाथमें धनुष लेकर श्रीरामकी रक्षा करते हुए उनके पीछे चलते थे, उसी तरह लक्ष्मणके छोटे भाई शत्रुघ्न भरतके साथ रहते थे।

जनकपुरमें सब भाइयोंके विवाहका कार्य सम्पन्न होनेके बाद वहाँसे लौटकर अयोध्या आनेके कुछ ही दिन पश्चात् भरतजीको उनके मामा युधाजित् अपने देश ले जाने लगे तो शत्रुघ्नजी भी उनके साथ ही ननिहाल गये। उस समय भरतजीके प्रेममें उन्होंने माता-पिता, भाई-बन्धु और नवविवाहिता स्त्रीका कुछ भी मोह न करके, भाई भरतके साथ रहना ही अपना परम कर्त्तव्य समझा। फिर अयोध्यासे बुलावा आनेपर भरतजीके साथ लौट आये। अयोध्या पहुँचनेपर माता कैकेयीके द्वारा पिताके मरण तथा लक्ष्मण और सीताके साथ श्रीरामके वनवासका समाचार सुनकर इनको भी बड़ा भारी दुःख हुआ। भाई लक्ष्मणके शौर्यसे आप परिचित थे, अतः इन्होंने शोकपूर्ण हृदयसे बड़े आश्चर्यके साथ भरतजीसे कहा—

गतिर्यः सर्वभूतानां दुःखे किं पुनरात्मनः।
स रामः सत्त्वसम्पन्नः स्त्रिया प्रव्राजितो वनम्॥
बलवान् वीर्यसम्पन्नो लक्ष्मणो नाम योऽप्यसौ।
किं न मोचयते रामं कृत्वापि पितृनिग्रहम्॥
(२ । ७८ । २-३)

'आर्य! जो दुःखके समय आत्मीय व्यक्तियोंकी तो बात ही क्या समस्त प्राणियोंको सहारा देनेवाले हैं, वे ही महापराक्रमी श्रीरामचन्द्रजी स्त्रीके साथ वनमें भेज दिये गये (यह कितने दुःखकी बात है।) भाई लक्ष्मणजी तो बड़े बलवान् और पराक्रमी हैं, उन्होंने पिता-माताका निग्रह करके भी श्रीरामको इस संकटसे क्यों नहीं मुक्त कर दिया।'

इस प्रकार बातें हो रही थीं, श्रीशत्रुघ्नजी दुःख और क्रोधमें भरे थे, उसी समय राम-विरह-व्याकुल एक द्वारपालने सूचना दी कि 'राजकुमार! जिस क्रूरा पापिनी मन्थराके षड्यन्त्रसे रामचन्द्र वन भेजे गये हैं, वह वस्त्राभूषणोंसे सज-धजकर खड़ी है।' यह सुनकर शत्रुघ्नजीको बड़ा क्रोध आया। वे मन्थराकी चोटी पकड़कर उसे आँगनमें घसीटने लगे। यह देखकर कुब्जाकी अन्य सहेलियोंने सोचा कि दयामयी कौसल्याकी शरण गये बिना शत्रुघ्न हमें भी नहीं छोड़ेंगे। अतः वे तुरंत ही दौड़कर कौसल्याजीके पास चली गयीं। कैकेयी उसे छुड़ानेके लिये आयी तो शत्रुघ्नने उसे भी फटकार दिया। आखिर भरतने आकर शत्रुघ्नको समझाया कि स्त्रीजाति अवध्य मानी गयी है और यह भी कहा कि—

इमामपि हतां कुब्जां यदि जानाति राघवः।
त्वां च मां चैव धर्मात्मा नाभिभाषिष्यते ध्रुवम्॥
(२ । ७८ । २३)

'भाई! यदि कहीं कुबड़ी तुम्हारे हाथसे मारी गयी तो इस घटनाको जानते ही धर्मात्मा श्रीराम तुमसे और मुझसे निश्चय ही बोलना छोड़ देंगे।'

भरतकी बात सुनकर शत्रुघ्नने कुब्जाको मूर्च्छित-अवस्थामें ही छोड़ दिया।

इस प्रसंगमें समझनेकी पहली बात तो यह है कि श्रीरामकी धर्मनीतिमें स्त्रीजातिका कितना आदर था, जिससे कि वे हरहालतमें अवध्य मानी जाती थीं। दूसरी यह कि शोकाकुल भरतने ऐसी परिस्थितिमें भी छोटे भाईको समझाकर अधर्मसे रोका। तीसरी यह कि क्रोधातुर होनेपर भी शत्रुघ्नने तुरंत

ही बड़े भाईकी बात मान ली। इसके बाद श्रीरामको लौटानेके लिये वनमें जाने लगे तो शत्रुघ्न भी साथ गये। चित्रकूटके पास पहुँचकर भरतकी आज्ञासे श्रीरामकी पर्णकुटी ढूँढ़ने लगे। जब भरतजी श्रीरामको देखकर उनकी ओर दौड़े तो रामदर्शनोत्सुक शत्रुघ्न भी उनके पीछे-पीछे पहुँचे। वहाँ कविने कहा है कि—

शत्रुघ्नश्चापि रामस्य ववन्दे चरणौ रुदन्।
तावुभौ च समालिङ्ग्य रामोऽप्यश्रूण्यवर्तयत्॥
(२।९९।४०)

शत्रुघ्नने भी रोते-रोते श्रीरामके चरणोंकी वन्दना की। उन दोनोंको हृदयसे लगाकर श्रीराम भी आँसू बहाने लगे। उसके बाद शत्रुघ्न भाई लक्ष्मण और सीताजीसे भी बड़े प्रेमसे मिले।

सब लोग इकट्ठे हुए, बातचीत आरम्भ हुई। वहाँ श्रीराम और भरतके संवादमें लक्ष्मण और शत्रुघ्नका कोई काम ही नहीं था। शत्रुघ्नजीने तो अपना जीवन रामसेवक श्रीभरतजीको अर्पण कर रक्खा था; अतः उनके विषयमें जो कुछ कहना होता वह स्वयं भरत ही कह देते।

पादुकाएँ लेकर अयोध्या लौटते समय दोनों भाई फिर श्रीरामकी प्रदक्षिणा और उनके चरणोंमें प्रणाम करके उनसे मिले। लक्ष्मणकी भाँति शत्रुघ्नका भी स्वभाव तेज था। कैकेयीके प्रति इनके मनमें रोष था। श्रीराम इस बातको जानते थे। इस कारण विदा करते समय श्रीरामने शत्रुघ्नको वात्सल्य-भावसे शिक्षा देते हुए कहा—

मातरं रक्ष कैकेयीं मा रोषं कुरु तां प्रति॥
मया च सीतया चैव शप्तोऽसि रघुनन्दन।
(२।११२।२७-२८)

'रघुनन्दन शत्रुघ्न! तुम्हें मेरी और सीताकी शपथ है, तुम माता कैकेयीकी सेवा करना, उनपर कभी क्रोध न करना।'

इससे भी पता चलता है कि शत्रुघ्नजीका श्रीराममें कितना प्रेम और भक्तिभाव था।

इसके बाद शत्रुघ्नजी भरतके साथ अयोध्या लौटकर बराबर उनके आज्ञानुसार राज्य और परिवारकी सेवा करते रहे। शत्रुघ्नजी हर हालतमें भरतके पास रहकर उनकी आज्ञाकी प्रतीक्षा करते रहते थे। भरतजीके मनमें भी शत्रुघ्नपर बड़ा भरोसा था। इसी कारण वे छोटे-से-छोटे और बड़े-से-बड़े कार्यके लिये शत्रुघ्नको ही आज्ञा देते थे।

इसके बाद श्रीरामके लौटकर आनेतक शत्रुघ्नजीके विषयमें वाल्मीकीय-रामायणमें कोई विशेष उल्लेखनीय बात नहीं मिलती। श्रीहनुमान्जीद्वारा श्रीरामचन्द्रजीके आनेका समाचार मिलनेपर भरतजीकी आज्ञासे शत्रुघ्नने ही श्रीरामकी अगवानीका और नगरको सजानेका तथा राजमार्ग और अन्य सब रास्तोंको ठीक करानेका प्रबन्ध किया। श्रीरामका राज्याभिषेक होनेके बाद भी आप श्रीभरतजीके साथ-साथ ही श्रीरामका सेवाकार्य किया करते थे। भाईके नाते श्रीलक्ष्मण और श्रीशत्रुघ्नपर भरतजीका समान अधिकार होनेपर भी श्रीभरतजी अपना काम शत्रुघ्नसे ही करवाते थे।

सीता-वनवासके बाद एक दिन बहुत-से ऋषियोंने श्रीरामके पास आकर लवणासुरके अत्याचारोंका वर्णन किया। इसपर श्रीरामने उनको आश्वासन दिया और सभामें यह प्रस्ताव रक्खा कि 'लवणासुरको मारनेके लिये कौन जायगा? किसको आज्ञा दी जाय? भरतको या शत्रुघ्नको?' यह सुनकर भरतजीने कहा कि 'मुझे आज्ञा मिले, मैं लवणासुरको मार डालूँगा।' भरतकी बात सुनकर शत्रुघ्नजीने अपने आसनसे खड़े होकर श्रीरामको प्रणाम करके कहा—

कृतकर्मा महाबाहुर्मध्यमो रघुनन्दन।
आर्येण हि पुरा शून्या त्वयोध्या परिपालिता॥
सन्तापं हृदये कृत्वा आर्यस्यागमनं प्रति।
दुःखानि च बहूनीह अनुभूतानि पार्थिव॥
शयानो दुःखशय्यासु नन्दिग्रामे महायशाः।
फलमूलाशनो भूत्वा जटी चीरधरस्तथा॥
(७।६२।११-१४)

'रघुनाथजी! मझले भाई श्रीभरतजीने तो अबतक बहुत कार्य किये हैं। इन्होंने आपके वियोगका सन्ताप हृदयमें रखकर भी आपके न रहनेपर आपके आगमनकी प्रतीक्षा करते हुए अयोध्याका पालन किया है। महायशस्वी भरतजीने नन्दिग्राममें तृणकी शय्यापर शयन कर और फल-मूलका भोजन करके जटा और चीर धारण किये हुए आपके वियोगकालको व्यतीत किया है। इस प्रकारके दुःखोंका अनुभव करनेके उपरान्त इस समय मुझ दासके रहते हुए इनको पुनः यह लवणासुर-वधका परिश्रम नहीं मिलना चाहिये।' शत्रुघ्नजीके ऐसा कहनेपर श्रीरामचन्द्रजीने कहा—

एवं भवतु काकुत्स्थ क्रियतां मम शासनम् ।
राज्ये त्वामभिषेक्ष्यामि मधोस्तु नगरे शुभे ॥
निवेशय महाबाहो भरतं यद्यवेक्षसे ।
शूरस्त्वं कृतविद्यश्च समर्थश्च निवेशने ॥
राज्यं प्रशाधि धर्मेण वाक्यं मे यद्यवेक्षसे ।
उत्तरं च न वक्तव्यं शूर वाक्यान्तरे मम ॥
(७ । ६२ । १६-१७, २०)

'भाई ! ऐसा ही हो, तुम्हीं मेरी आज्ञाका पालन करो । मैं मधुदैत्यके नगरपर तुम्हारा राज्याभिषेक करता हूँ । यदि तुम भरतको कष्ट देना नहीं चाहते तो अच्छी बात है, भरतको यहीं रहने दो । तुम भी बड़े विद्वान्, शूर-वीर और नगर बसानेमें समर्थ हो । यदि तुम्हें मेरी बातका पालन करना है तो धर्मपूर्वक वहाँके राज्यका शासन करो । वीर ! तुमको मेरी इस आज्ञाके विरुद्ध कोई उत्तर नहीं देना चाहिये ।' भगवान् श्रीरामके यह वचन सुनकर शत्रुघ्नजीको बड़ी लज्जा हुई और वे मन्द स्वरमें बोले—

अधर्मं विद्म काकुत्स्थ अस्मिन्नर्थे नरेश्वर ।
कथं तिष्ठत्सु ज्येष्ठेषु कनीयानभिषिच्यते ॥
अवश्यं करणीयञ्च शासनं पुरुषर्षभ ।
तव चैव महाभाग शासनं दुरतिक्रमम् ॥
त्वत्तो मया श्रुतं वीर श्रुतिभ्यश्च मया श्रुतम् ।
नोत्तरं हि मया वाच्यं मध्यमे प्रतिजानति ॥
व्याहृतं दुर्वचो घोरं हन्तास्मि लवणं मृधे ।
तस्यैवं मे दुरुक्तस्य दुर्गतिः पुरुषर्षभ ॥
उत्तरं न हि वक्तव्यं ज्येष्ठेनाभिहिते पुनः ।
अधर्मसहितं चैव परलोकविवर्जितम् ॥
सोऽहं द्वितीयं काकुत्स्थ न वक्ष्यामीति चोत्तरम् ।
(७ । ६३ । २–७)

'राजन् ! बड़े भाई भरतजीके रहते हुए मुझ छोटेका राज्याभिषेक कैसे हो सकता है ? इस कार्यमें मुझे अधर्म मालूम होता है । इधर मुझे आपकी आज्ञाका पालन भी अवश्य करना चाहिये; क्योंकि पुरुषोत्तम ! महाभाग ! आपकी आज्ञाका उल्लङ्घन करना भी घोर पाप है । यही बात मैंने आपसे और वेद-शास्त्रोंसे भी सुन रक्खी है । अतः पूज्य भाई भरतजीके लवणासुरको मारनेकी बात स्वीकार कर लेनेके बाद फिर मुझे कोई उत्तर नहीं देना चाहिये था । मैंने यह बहुत ही खोटे दुर्वचन कह डाले कि 'लवणासुरको मैं मारूँगा ।' पुरुषश्रेष्ठ ! इस दुरुक्तिका ही फल यह राज्याभिषेकरूप दुर्गति मुझे मिली है । बड़े भाईकी आज्ञा हो जानेपर उत्तर नहीं देना चाहिये; क्योंकि ऐसा करना अधर्मयुक्त और परलोकके विरुद्ध है । इसलिये भगवन् ! अब मैं दुबारा कुछ भी उत्तर नहीं दूँगा [मैं आपके इच्छानुसार करनेको तैयार हूँ] ।'

कैसा सुन्दर त्याग है ! श्रीरामके वियोगमें राज्यप्राप्तिको आप दुर्गति समझते हैं । वास्तवमें बात भी ऐसी ही है, साधकोंको इस बातपर विशेष ध्यान देना चाहिये ।

इसके बाद भी श्रीशत्रुघ्नजीने लवणासुरपर चढ़ाई की । उस समय श्रीरामने शत्रुघ्नको लवणासुरको मारनेकी युक्ति बतलायी तथा रास्तेमें खर्चके लिये बहुत-सा धन और बड़ी भारी सेना उनके साथ देकर उन्हें विदा किया । रास्तेमें जाते समय शत्रुघ्नजी एक रात श्रीवाल्मीकिके आश्रममें ठहरे । उसी रात्रिमें श्रीसीताजीसे कुश-लव — इन दो यमज पुत्रोंका जन्म हुआ था । इसलिये वह रात्रि भी श्रीशत्रुघ्नजीके लिये बड़ी ही आनन्ददायिनी हुई । इसके बाद शत्रुघ्नजी वहाँसे चलकर रास्तेमें सात दिन ठहरते-ठहरते यमुना-किनारे च्यवन ऋषिके आश्रममें पहुँचे ।

वहाँ च्यवन ऋषिसे लवणासुरकी दिनचर्या और उसके बल-पराक्रमकी जानकारी प्राप्त की । फिर जब लवणासुर अपने घरसे आहारके लिये वनमें निकल गया, तब उसके लौटनेसे पहले ही शत्रुघ्नजीने जाकर उसके नगरका द्वार रोक लिया । शत्रुघ्नको देखकर लवणासुर कहने लगा कि 'इससे क्या होगा ? नराधम ! इस तरहके हज़ारों मनुष्योंको तो मैं रोज़ खाता हूँ ।' इसपर शत्रुघ्नजीने अपना परिचय देते हुए कहा कि 'मैं तुम्हारे साथ युद्ध करना चाहता हूँ ।' इसके बाद दोनोंका आपसमें घोर युद्ध हुआ । अन्तमें शत्रुघ्नजीने कानतक धनुष तानकर एक दिव्य बाण उसकी छातीमें मारा । वह छातीको छेदकर पातालमें प्रवेश कर गया और फिर वापस आकर शत्रुघ्नजीके तरकसमें स्थिर हो गया । देवता और महर्षिगण शत्रुघ्नजीकी प्रशंसा करने लगे तथा आकाशसे जय-जयकारकी ध्वनि और पुष्पोंकी वर्षा होने लगी ।

इस प्रकार लवणासुरको मारकर तथा वहीं अच्छी तरह मधुरापुरी बसाकर उसके राज्यका प्रबन्ध करके बारह वर्षके बाद शत्रुघ्नजी श्रीरामका दर्शन करनेके लिये वहाँसे अयोध्याकी ओर लौटे । आते समय फिर शत्रुघ्नजी श्रीवाल्मीकि ऋषिके आश्रममें ही ठहरे । वहाँ उन्होंने मधुर स्वरमें गाये जाते हुए श्रीरामचरित्रको सुना । उसे सुनकर उनका हृदय करुणार्द्र

भर गया। वे रात्रिमें वहीं लेटकर श्रीरामके विषयमें ही विचार करते रहे। उनको नींद नहीं आयी। सवेरा होनेपर नित्यकर्मके बाद मुनिकी आज्ञा लेकर श्रीरामदर्शनकी उत्कण्ठासे वे अयोध्याकी ओर चल पड़े। अयोध्या पहुँचकर श्रीरामचन्द्रजीके महलमें आये, वहाँ इन्द्रके समान आसनपर विराजमान श्रीरामको उन्होंने प्रणाम किया और कहा कि 'भगवन्! आपके आज्ञानुसार मैं लवणासुरको मारकर वहाँ नगर बसा आया हूँ।'

द्वादशैतानि वर्षाणि त्वां विना रघुनन्दन।
नोत्सहेयमहं वस्तुं त्वया विरहितो नृप॥
स मे प्रसादं काकुत्स्थ कुरुष्वामितविक्रम।
मातृहीनो यथा वत्सो न चिरं प्रवसाम्यहम्॥
(७। ७२। ११-१२)

'महाराज रघुनाथजी! ये बारह वर्ष मैंने आपके वियोगमें बड़ी कठिनतासे बिताये हैं। इसलिये अब मैं आपके बिना वहाँ निवास करना नहीं चाहता। अतएव महापराक्रमी श्रीरामजी! आप मुझपर ऐसी कृपा करें, जिससे मातृविहीन बालककी भाँति मैं आपसे अलग होकर बहुत दिनतक कहीं न रहूँ।'

शत्रुघ्नकी यह बात सुनकर श्रीरामने उन्हें हृदयसे लगाया और कहा—'वीर! तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये, यह क्षत्रिय-स्वभावके अनुरूप नहीं है। तुम्हें क्षात्रधर्मके अनुसार प्रजाका पालन करना चाहिये। समय-समयपर मुझसे मिलनेके लिये आ जाया करो।' इस प्रकार भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञासे शत्रुघ्नजीने दीन वाणीसे उनकी बात स्वीकार कर ली। फिर भरत और लक्ष्मणसे मिलकर और सबको प्रणाम करके वे मथुरा लौट गये।

इसके बाद जब भगवान् परमधाम पधारने लगे तो फिर शत्रुघ्नको बुलाया गया। तब शत्रुघ्नजी अपने पुत्रोंका राज्याभिषेक करके अयोध्यामें पहुँचे और श्रीरामके पास आकर उनको प्रणाम करके गद्गदवाणीसे कहने लगे—

कृत्वाऽभिषेकं सुतयोर्द्वयो राघवनन्दन।
तवानुगमने राजन् विद्धि मां कृतनिश्चयम्॥
न चान्यदद्य वक्तव्यमतो वीर न शासनम्।
विहन्यमानमिच्छामि मद्विधेन विशेषतः॥
(७। १०८। १४-१५)

'महाराज रघुनाथजी! मैं अपने दोनों पुत्रोंका राज्याभिषेक करके आपके साथ चलनेका निश्चय करके आया हूँ। अब आप मुझे कोई दूसरी आज्ञा न दें; क्योंकि किसीके भी द्वारा और विशेषतः मेरे-जैसे अनुयायीके द्वारा आपकी आज्ञाका उलङ्घन हो—यह मैं नहीं चाहता। अभिप्राय यह है कि मैंने आजतक आपकी आज्ञाका कभी त्याग नहीं किया है। अतः अब भी वैसा न करना पड़े, इसकी आप ही रक्षा करें।'

भगवान् श्रीरामने शत्रुघ्नजीकी प्रार्थना स्वीकार की और श्रीशत्रुघ्नजी भी श्रीरामचन्द्रजीके साथ-ही-साथ परमधाम पधार गये।

यह श्रीशत्रुघ्नजीका छोटा-सा जीवन-चरित्र केवल वाल्मीकीय रामायणके आधारपर लिखा गया है, इसमें दूसरे किसी रामायणसे या पुराणोंसे कोई बात नहीं ली गयी है। इस कारण सम्भव है कि उनके प्रेम और गुणोंकी समस्त बातें पाठकोंके सामने न आवें; परन्तु इसके लिये क्षमा-प्रार्थनाके सिवा मैं कर ही क्या सकता हूँ।

◆

प्रबोध

आँखों पै तनेगा जाला नाकसे बहेगा नाला,
लाठीसे पड़ेगा पाला ज़रा जिन्दगानीमें।
खड़े-खड़े वस्त्रमें करोगे मल-मूत्र-त्याग,
पड़े-पड़े थूकते रहोगे पीकदानीमें॥
भक्ति क्या करोगे तुम शक्ति न रहेगी जब,
राम-राम बोलने तुम्हारी बंधबानीमें।
अतः योग योगसे औ भोगसे वियोग कर,
कर लो भजन भगवानका जवानीमें॥

—कविभूषण जगदीश

'मानस' के सप्त प्रश्न

(लेखक—श्रीमहेश्वरप्रसादजी)

श्रीरामचरितमानस एक महाकाव्य, पद्यकाव्य, प्रबन्ध-काव्य अथवा श्रव्यकाव्य है। उसमें वर्णित कथानक इतना बृहत्, उसके पद्य इतने सजीले, प्रसंगोंका ताँता इतना सूक्ष्मतासे जुड़ा हुआ और उसकी कथा सुननेमें इतनी कर्ण-प्रिय है कि उसका कोई भी श्रोता या वक्ता, पाठक या आलोचक, गायक या विद्वान् उससे कभी ऊबता ही नहीं। समस्त ग्रन्थ असीम सौन्दर्य, मोहक माधुर्य और अद्भुत ओजसे ओतप्रोत है। रस और भाव तो इतने ऊँचे दर्जेके हैं मानो वे अपने सूक्ष्म शरीरको त्याग कर स्थूल शरीर धारण कर चुके हों और पाठकको आलिङ्गन-पाशमें बाँध रखनेके हेतु पहलेसे ही भुजा पसारे खड़े हों। उसमें एक अजीब आकर्षण, एक विचित्र जादू भरा हुआ है, जो उसके समीप जानेवालोंको बरबस खींच लेता है—वशीभूत कर लेता है। क्या कहें! मानस गज़ब है, बेजोड़ है, अनुपम है, अनूठा है। जितनी भी उपाधियाँ उसे प्रदान की जायँ, थोड़ी हैं।

सरसरी तौरपर देखिये तो इस विशिष्ट काव्यमें दशरथ-सुवन श्रीरामचन्द्रजीकी कथा सात सोपानोंमें कही गयी है। इसके सिवा भी अनेक छोटी-बड़ी कथाएँ इसमें हैं, जिनका अभिप्राय श्रीरामचरितमें सहायता या सहयोग देना है। पात्रोंकी आड़में कवि सदैव अपनी विलक्षण अनुभूतियाँ, अपने अलौकिक अनुभव तथा अपना अगाध पाण्डित्य आँकता गया है। इसलिये विचारणीय प्रश्न कहीं उसमें खोजना नहीं पड़ता है। कहीं, कोई-सा पन्ना खोल देखिये और किसी पदपर ध्यान दीजिये, आपको जीवनभर सोचने-समझनेका मसाला मिल जायगा। पर सप्तम सोपान एक ऐसा सोपान है, जहाँ रामचरित सम्पूर्ण हो गया है, और जहाँ कविको जी खोलकर, प्रबन्धके बन्धनसे उन्मुक्त होकर कुछ हृदयकी बातों, कुछ दुनियाँकी घातोंके कहनेका सुअवसर मिला है। समस्त उत्तरकाण्ड श्रीरामचरितके साथ तुलसीचरितसे आच्छादित है और प्रभावित है।

सप्तम सोपानके आखिरमें—बिल्कुल अन्तमें जब कि सब कुछ समाप्त हो चला है, मानस ग्रन्थको सिर्फ अब बंद करनेवाले कुछ पदोंकी आवश्यकता थी, तुलसीकी मानो धरोहर छूट जाती है, ऐसी वस्तु छूट जाती है, जिसके बिना सम्पूर्ण ग्रन्थ अधूरा रह जाता है और स्वयं उसका प्रणेता अधूरा रहा जाता है। बस, चट वे गरुड़जीकी प्रेरणा करते हैं और गरुड़जी श्रीभुशुण्डीजीसे तुलसीके अगाध अध्ययन, अनुभव और सत्संगसे मिले हुए सातों प्रश्नोंकी व्याख्या पूछते हैं। मानसमें उसके सप्त प्रश्नोंका स्थान बड़ा विशिष्ट है, बड़े अनमोल प्रश्न हैं। एक-एक प्रश्न एक-से-एक व्यापक एवं विस्तृत क्षेत्रके विषयमें पूछे गये हैं। जीवनमें इन प्रश्नोंकी कितनी आवश्यकता है। इन प्रश्नोंके समान गहन, जटिल, दुरूह, अनिवार्य और चिन्तनयोग्य दूसरे प्रश्न भी हो सकते हैं—मुझे इसका पता नहीं। अभी लगातार सातों प्रश्नोंको उद्धृत कर रहा हूँ, पाठक देखें—

प्रथमहिं कहहु नाथ मति धीरा। सब ते दुर्लभ कवन शरीरा॥
बड़ दुख कवन? कवन सुख भारी। सोउ संछेपहिं कहहु बिचारी॥
संत-असंत-मरम तुम्ह जानहु। तिन्हकर सहज सुभाव बखानहु॥
कवन पुन्य श्रुति बिदित बिसाला। कहहु कवन अघ परम कराला॥
मानस-रोग कहहु समुझाई। तुम्ह सर्बग्य कृपा अधिकाई॥

शङ्का—इन प्रश्नोंपर विस्तारपूर्वक विचार करनेके पहले, लोगोंमें जो यह बड़ा भारी भ्रम फैला हुआ है कि प्रश्न आठ हैं, इसका समाधान किया जायगा। प्रश्नोंकी संख्या आठ इस तरह बतलायी जाती है—पहला दुर्लभ शरीर, दूसरा बड़ा दुःख, तीसरा बड़ा सुख, चौथा संतका स्वभाव, पाँचवाँ असंतका स्वभाव, छठा बड़ा पुण्य, सातवाँ बड़ा पाप तथा आठवाँ मानस-रोग।

समाधान—प्रश्न आठ-से ही लगते हैं, यह ठीक है; किन्तु वास्तवमें आठ प्रश्न नहीं हैं। प्रश्नोंकी संख्या सात है। दूसरे कविके प्रश्न कम या अधिक भी हो सकते थे। पर तुलसीके विषयमें सातसे कम या अधिक सोचना ही अनुचित है। तुलसी बड़े अलौकिक ज्ञानी भक्त थे। वे एक अवतारी पुरुष थे। सातकी महत्ता उनको जन्मदिनसे ज्ञात थी। सप्तमीको उनका जन्म हुआ था और सप्तमीको निधन भी। सात ही सोपान उन्होंने मानसमें रक्खे और सात ही प्रश्न उनके हृदयमें उठे भी। इसी प्रकार सप्त आवरण, सप्त द्वीप, सप्त ऋषि, सप्त समुद्र, सप्त क्षेत्र और सप्त पुरी—जिधर उनका ध्यान गया, उधर सप्त-ही-सप्त। यहाँतक कि सृष्टिका समस्त चक्र सात दिनोंमें घूम रहा है, जिसे तुलसी क्या, सभी देख रहे हैं। ऐसी दशामें आठ प्रश्नोंकी कल्पना क्यों की

जाय ? हाँ, तो हमें सात प्रश्नोंको सिद्ध कर दिखाना है। प्रश्नका मतलब साधारण तौरपर होता है जिसमें प्रश्नवाचक शब्द या चिह्न रहे । इस रीतिसे हम उक्त चौपाइयोंमें निम्न प्रश्नोंको बेरोक-टोकके रख सकते हैं—कवन शरीरा ?, दुख कवन ?, कवन सुख ?, कवन पुन्य ?, कवन अघ ? इन पाँच प्रश्नोंके बाद शेष रह जाते हैं दो प्रश्न और दो चौपाइयाँ अलग-अलगकी । इनमेंसे भी एक नीचेकी चौपाई, जिसमें 'मानस-रोग' जाननेकी इच्छा प्रकट की गयी है, उसे छठे प्रश्नमें रख लीजिये और शेष एक प्रश्नमें 'दुखप्रद उभय बीच कछु बरना' के सिलसिलेमें आनेवाले 'संतासंत-स्वभाव-निरूपण' नामक प्रश्न बनाकर मन-प्रबोध कीजिये, फिर आजमाइश कीजिये कि इसमें एक प्रश्नकी झाँकी मिलती है या नहीं ?

संत-असंत मरम तुम्ह जानहु । तिन्ह कर सहज सुभाव बखानहु ॥

१ दुर्लभ शरीर

उत्तर—

नर तन सम नहिं कवनिउ देही । जीव चराचर जाचत तेही ॥
नरक स्वर्ग अपबर्ग निसेनी । ग्यान बिराग भगति सुख देनी ॥
सो तनु धरि हरि भजहिं न जे नर । होहिं बिषय रत मंद मंदतर ॥
काँच किरिच बदलें ते लेहीं । कर ते डारि परस मनि देहीं ॥

सारी सृष्टिमें चार प्रकारके जीव बसते हैं—स्वेदज, अण्डज, उद्भिज और जरायुज । इनमेंसे कुछका निवास पृथ्वीपर, कुछका जलमें और कुछका आकाशमें है । सभी परमात्माके बनाये हैं और एक-से-एक बढ़कर विचित्र हैं। उन सभीकी योनियोंकी गिनती चौरासी लाख बतायी गयी है। इन चौरासी लाख योनियोंका अनुपात क्रमशः छोटा-बड़ा होता गया है । कोई भी योनि किसी एक-दूसरेकी समता नहीं कर सकती । इससे एक तो सबसे निकृष्ट योनि सिद्ध है और एक सर्वोत्कृष्ट मान्य है । परमात्माका अंश 'आत्मा', जो योनियोंमें प्रवेश कर लेनेपर 'जीव' रूप हो जाता है, प्रत्येक योनिमें प्रवेश करता है, आरम्भसे लेकर अन्ततक । मगर क्रमशः ८३९९९९९ योनियोंको पार कर लेनेपर आखिरी योनि जो उसे प्राप्त होती है, वह है 'मनुष्य-योनि।' ईश्वरकी अन्तिम कलाकी बानगी है मनुष्य । मनुष्यसे बढ़कर सुन्दर चित्र विधाताने नहीं बनाया । उनकी कलम स्वभावतः मनुष्यपर आकर रुक गयी । हद हो भी गया है । सबका मालिक ईश्वर, और ईश्वरके नीचे यदि कोई है तो मनुष्य । इससे सुन्दर, इससे बलवान्, इससे बुद्धिमान्, इससे विद्वान् और इससे गुणी अन्य दूसरा सृष्टिमें कौन है, कहाँ है ? मनुष्यमें जो-जो चीजें हैं, उन्हींकी व्यष्टि मात्र शेष जीवोंमें है और जो चीज मनुष्यके पास नहीं है, वह दूसरे किसी भी जीवके पास नहीं है । मनुष्य सबकी एक प्रकारसे समष्टि है, समस्त कारीगरीका 'रिप्रेजेन्टेटिव' है ।

मनुष्यकी गति निर्बाध है । किसी दिशामें वह जा सकता है । ईश्वरने उसपर इतना अनुग्रह किया है कि उसे सभी आवश्यक चीजें प्राप्त हैं । थल, जल और आकाश—सर्वत्र मानव आज अपनी दौड़ लगा रहा है और सभी जगह अपना प्रभुत्व फैलाये हुए है । सभी जीव उसके अधीन हैं और विश्वकी समस्त वस्तुएँ उसके आधिपत्यमें हैं । मनुष्यके लिये सारा जगत् साधन स्वरूप है । वह उसका मनमाना उपभोग कर सकता है और कर रहा है—इतनी सुविधा शायद देवादिको भी प्राप्त नहीं ।

'धर्मार्थकाममोक्षाणां शरीरं साधनं स्मृतम् ।'

नर-तन अनमोल धन है । इस तनका तौल तराजूपर तौलनेसे सबसे अधिक होगा । वैसे तो ईश्वरने अनेकों अवतार धारण करके निम्न शरीरोंकी भी प्रतिष्ठा बढ़ायी है और सबके ऊपर अपनी समदर्शिताका परिचय दिया है; किन्तु नररूपमें जो उनका अवतार आया है, उसका मूल्य क्या स्वयं 'वे' ही बतला सकते हैं ? श्रीराम और श्रीकृष्णकी समतामें यदि कोई मच्छ और कच्छके नाम उपस्थित करे तो यह उतना ही विभिन्न और अरुचिकर मालूम होगा जितना कमल और उसकी डंठी—यद्यपि डंठी कमलका मूल है, आविर्भावक है । राम, कृष्ण और बुद्ध पुरुष हैं और वह पुरुष अनुपम है, बेजोड़ है, आदर्श है । मनुष्यताको महापुरुषोंने समय-समयपर खूब आँका है । इसकी महिमा गाते-गाते किसीका जी भरा नहीं है, गुण भी समाप्त नहीं हुए हैं । नर-शरीरके गुण अनिर्वचनीय हैं । इसका विशेष कारण है कि इसको उत्पत्ति हुई है दोके मेलसे—एक, जीवके परम भाग्यसे, और दूसरे, ईश्वरके उपकारसे ।

कोई नर-शरीरसे अपनेको जरा भी अलग न समझे । यदि वह नर है तो अवश्य उसका परम भाग्य है, बड़े गौरवकी बात है । किसी एक नर या खास मनुष्यकी चर्चा थोड़े हो रही है ? यह मानवमात्रकी बात है । पर हाँ, मनुष्यको मनुष्यताकी जिम्मेदारी जो दी गयी है, उसीकी खबरगीरीमें

उसका अपना कल्याण है, दूसरेका कल्याण है और मनुष्य नामक अनुपम पद भी उसीका सुरक्षित है। जितने अच्छे कर्म हैं, उनकी गणना मनुष्यतामें है। इससे विपरीत जितने बुरे कर्म हैं, वे राक्षसताके अन्तर्गत हैं। जो मनुष्य बुरे कर्मोंको हासिल करता है, वह मनुष्य नहीं, उसकी योनि सर्वाधम है। फिर अधम योनिका कोई यदि संस्कारबलसे या भगवत्कृपासे अच्छे कर्मोंमें लीन है तो वही मनुष्य है या उसीकी योनि श्रेष्ठ है। मनुष्यकी श्रेष्ठता सिर्फ उसके विचारको देखकर दी गयी है। मानसमें मनुष्य-शरीरका रहस्य यही है। कहीं काक-शरीर भी अच्छा होता है ? लेकिन वही विचारसंयुक्त होनेपर काकसे काकभुशुण्डी हो गये।

पर जो हो, काक जातिमें इससे विचार नहीं आ सकता। यह एक अपवाद 'एकसेप्सनल केस' है। अन्यान्य योनियोंमें ऐसे ही एक-आध विरले दीख पड़ेंगे। पर तुलसीके हृदयमें सर्वोच्च आसन मनुष्यको मिला है। वस्तुतः वही इसके लायक है। यह अलग प्रश्न है कि मनुष्य होकर मनुष्यतासे वह चूक रहा है। अवश्य उसे ऐसा नहीं करना चाहिये। मनुष्यताकी माँग ऐसी ही है। विचारका खजाना उसीके हृदयमें भरा है। जरा-सा प्रयास करते ही अपने-आप वह उसके हृदयमें उमड़ पड़ेगा। उसकी सहज-स्वाभाविक सम्पत्ति यह है, तभी तो अनेक बार तुलसीने इसकी आवृत्ति की है—

'सब ते अधिक मनुज मोहि भाये।'
'बड़े भाग मानुष तनु पावा।'
'कबहुँक करि करुना नर देही।'

२ बड़ा दुःख

उत्तर—'नहिं दरिद्र सम दुख जग माँही।'

शरीरको तो चौरासी लाखकी सीमामें बाँध दिया गया है; किन्तु दुःखोंका तो ओर-छोर नहीं है। दुःख अनन्त हैं, इनकी कोई संख्या नहीं, सीमा नहीं, गिनती नहीं। जितनी चीजें दीख पड़ती हैं, उनसे अरबों गुना अधिक, कई गुना अधिक दुःख हैं और सब-के-सब परम दुःसह हैं। अब दुःखोंमें किसे छोटा, किसे बड़ा कहें ? यह प्रश्न ही व्यर्थ मालूम होता है। सभी दुःख दुःख हैं; उनसे हमें व्यथा होती है, जलन होती है। मनुष्यके शारीरिक रोगोंको लीजिये। एकसे एक विकट और एकसे एक दुःखदायी, और सभी अपार हैं। जितनी दवाइयाँ भी आविष्कृत नहीं, उतनेसे अधिक रोग नज़र आ रहे हैं। आज इन रोगोंकी संख्या तो दिन-दूनी, रात-चौगुनी बढ़ती जा रही है। नित्यप्रति नये रोगोंका जन्म होता जा रहा है। मनुष्यका न मालूम कैसा होनहार है ? इस तरह उसे वाचिक और मानसिक चिन्ताएँ और व्यथाएँ भी दुखानेके लिये अगणित हैं। परन्तु इन दुःखोंको देखकर जिसका हृदय पिघल जाता है, करुणासे भर जाता है, मनमें पुकार उठता है, वही मनुष्य है, वही कवि है और वही सहृदय है ! तुलसी सच्चे भावुक कवि थे। उन्होंने समस्त दुःखोंका निरीक्षण जगमें किया था और दुःखित लोगोंको देख उनका हृदय द्रवीभूत हुआ था। बड़े कातर स्वरसे एक स्थानपर उन्होंने कहा है—

जद्यपि जग दारुन दुख नाना। सबतें कठिन जाति अवमाना॥

संसार सचमुच दुःखोंका भण्डार है। यहाँ सुख कहाँ है ? चारों ओर तो दुःख-ही-दुःख भरा है—हृदयद्रावक दुःख। परन्तु सबमें जाति-अपमान कठिन दुःख है। जाति, समाज और संस्कृतिसे बहिष्कृत हो जाना मामूली दुःख नहीं, अपितु सबसे भयंकर है। मर जाना अच्छा, पर जाति-अपमान सहना अच्छा नहीं। लेकिन इन सभी दुःखोंकी एक सीमा है, जिसमें वे समाप्त हो जाते हैं। अतः उक्त सभी दुःख अस्थायी हैं। चिरस्थायी रहनेवाला दुःख तो बस एक ही है, जिसको उत्तरमें रक्खा गया है। वह है 'दरिद्रता' गरीबी। जाति-अपमान यदि समाजसे और जातिसे बहिष्कार करता है तो दरिद्रता संसारसे बहिष्कृत करती है। जाति-अपमानसे प्रेरित होकर यदि मर जाना उचित है—जैसा कि पार्वतीने किया है, तो दरिद्रता अपने वाहनको मृतक-तुल्य ही बना रखती है। उसे मरना नहीं है वरं वह मर चुका है। यक्षके प्रश्नोंमे एक प्रश्न यह भी था कि 'मरा हुआ कौन है ?' युधिष्ठिरने कहा—'दरिद्र मरा हुआ है।' वाह रे धर्मराज युधिष्ठिर और वाह रे तुलसी ! धन्य है आपलोगोंकी दरिद्रतापर दृष्टि !!

सांसारिक विपत्तियाँ तो सभी समान हैं; किन्तु इस दूसरे क्षेत्रकी विपत्ति गरीबीकी बराबरी कौन कर सकती है। और सभी दुःख एक ओर, और गरीबी एक ओर, तो भी गरीबीका दर्द अधिक है। इसकी समतामें कोई भी दुःख नहीं रक्खा जा सकता। जिस प्रकार आधि-व्याधि सबपर आती है, उसी प्रकार वह आधि-व्याधि तो गरीबपर भी आती है, जिसे सहनेके लिये वह सबसे आगे प्रस्तुत रहता है। तिसपर अधिकमें दरिद्रताकी पोटली जो उसके सिरपर सदाके लिये रख दी गयी है—वह कितनी दुःखद, करुणापूर्ण और शोचनीय

है। जब कि दूसरे ऐश-आरामके साधनमें व्यस्त हैं, गरीबको अपने पेटकी पड़ी है। पेटभर अन्न पा जाना उसका परम भाग्य है। गरीबको यह पता नहीं है कि पेट और दरिद्रता-के सिवा भी इस संसारमें कुछ है। दरिद्रताका भूत हर समय उसके सिरपर सवार है और पेटकी ज्वालासे तड़पता हुआ वह गरीब विकटतम कार्य भी करनेको तैयार है। शर्त यह है कि पेट न भरे तो न सही, मगर शरीर खड़ा रखनेभरको भी तो कुछ प्राप्त हो जाय। ऐसा है यह दारुण दुःख।

गरीबोंकी लालसा तो और भी घातक सिद्ध होती है। जब आप कुछ अच्छी चीजें खाने लगते हैं, उस समय कोई गरीब अनाथ बालक आपकी ओर निर्निमेष दृष्टिसे ताकने लगता है, क्या उस समय आपका हृदय विदीर्ण नहीं हो जाता! इसी प्रकार कोई कपड़ा बनवाते या अच्छी सामग्री खरीदते समय किसी गरीबकी लालसा पाकर आप दयासे अवश्य ही द्रवित हो जाते हैं और परमात्मासे माँग उठते हैं कि हे प्रभो! अबसे गरीबोंको पैदा न कर।

दरिद्रता बड़ी बुरी बला है। लोक तो लोक, परलोक भी गरीबका सँवरता नहीं। इसके समान कठोर दण्ड एक भी नहीं दिखायी देता। गरीब जहाँ जाता है, दुरदुराया जाता है। कोई उसके पास बैठनेका नाम नहीं लेता। संसार उसे अत्यन्त नीची दृष्टिसे देखता है। मालूम पड़ता है कि उसके समान अब ही दूसरा नहीं। कहा गया है 'Poverty is crime.'

ताश, शतरंज, सिनेमा, नाटक, सैर-सपाटा और ज्ञान-विज्ञानकी चर्चा दूर रखिये, उसे तो केवल पेटसे लड़ाई छिड़ी हुई है। पेटके साथ घोर संघर्ष करनेमें ही रात-दिन, चौबीसों घंटे उसके कटते जाते हैं। मैंने एक गरीबके मुँहसे सुना था—'हे परमात्मा! अगले जन्म मनुष्य-योनि मुझे न दे। कोई भी योनि मुझे पसंद है, उन्हें दे। पर मनुष्य-योनिका नाहक मुलम्मा दिखाकर गरीबीकी सूई चुभाना अच्छा नहीं।'

३ बड़ा सुख

उत्तर—संत मिलन सम सुख जग नाहीं।

गोस्वामीजीकी सामञ्जस्य-बुद्धि बड़ी सराहनीय थी। उनके सामने लौकिक और पारलौकिक दोनों पक्ष सतत मौजूद थे। वे दोनों पक्षोंके सूक्ष्म द्रष्टा तथा पूरे पारखी थे। दुनियाँके भारी-से-भारी दुःखका सवाल जब आया तो चट वे संसारमें प्रवेश कर गये, क्योंकि संसार ही दुःखका खजाना है और उसमेंसे दरिद्रताको छान लाये। पर वहीं, जब उनके सामने भारी-से-भारी सुखका प्रश्न आता है, तो वे यह नहीं कहने जाते कि अमुक सांसारिक सुख प्रधान है। वे जानते हैं कि संसार जिन्हें सुख मान रहा है, वस्तुतः वह सुख नहीं है। वे देखते हैं कि संसारमें कोई भी सुखी नहीं। राजा-रंक—सबके भीतर अभावकी भट्ठी सदा जल रही है। जो 'यह' है वह 'वह' होनेके लिये तड़प रहा है, जो 'यहाँ' है वह 'वहाँ' पहुँचनेके लिये छटपटा रहा है। अजीब दशा है। मगर भीतरका हंस परम-हंस बननेके लिये व्याकुल है। वह संसारके गंदे सुखोंमें रम नहीं सकता, बँध नहीं सकता। यदि उसे बाँधनेवाला कोई परम सुख है तो वह है—अलौकिक सुख—'सत्संग।'

सत्संग क्या है? संत पुरुषोंका मिलन और संत पुरुषोंके समागमसे निकला हुआ अमृत। जिस स्थानपर सत्संग होता है, वह स्थान, जिस घड़ीमें सत्संग होता है, वह घड़ी, और जिस शरीरसे सत्संग होता है, वह शरीर परम धन्य और परम पावन हो जाता है। लोक-परलोक सर्वत्र खोजकर तुलसीदास हैरान हो जाते हैं; परन्तु सत्संगसे बढ़कर उन्हें कोई सुख नहीं दिखायी देता। वे कहते हैं—

तात स्वर्ग अपवर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥

सुखका साधन माना गया है 'सन्तोष।' सन्तोषसे सुख प्राप्त किया जा सकता है, किया जाता है। सुख-सम्पादन करनेमें सन्तोषका काफी हाथ है और सच पूछिये तो एक क्षेत्रमें इसीका साम्राज्य है। सांसारिक कामनाएँ बड़ी प्रबल हैं—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। उन कामनाओंको धीरे-धीरे मारनेका अभ्यास ही सन्तोष है। जबतक कामनाएँ रहती हैं, तबतक सचमुच सुख कहाँ है? उस समयतक तो सिर्फ विकलता और बेचैनी बनी हुई है, आरामका नाम नहीं है। पर जब सन्तोष आता है तो कामनाएँ स्वयमेव नष्ट हो जाती हैं और मनुष्यको शान्ति मिलती है। गोस्वामीजीने भी इसे स्वीकार किया है—

कोउ बिश्राम कि पाव, तात! सहज संतोष बिनु?

पर 'सन्तोषः परमं सुखम्' का घेरा एक संसारकी सीमामें आबद्ध है। उसके बाहर उसकी जरा भी नहीं चलती। सांसारिक कामनाओंको मारकर जिस प्रकार वह मनुष्यको सुखी बनाता है, उसी प्रकार मान लीजिये कि एक अलौकिक कामना सत्संगको यदि वह मार दे तो क्या मनुष्यको

शान्ति मिल सकती है ? या वह सत्संगको भी मार सकता है—क्या सम्भव है ? कभी नहीं । कारण कि सत्संगसे ही तो सन्तोषकी उत्पत्ति हुई है । सन्तोषका बहुमूल्य उपदेश कहाँ मिलता है; किसे ज्ञात नहीं । अतः जिस मूलसे किसी वस्तुकी उत्पत्ति होगी, वह अपने मूलपर क्योंकर विजय कर सकती है । इससे सिद्ध है कि सन्तोष—जिसे लोग परम सुख बताते हैं, उसका उत्पत्ति-स्थान है सत्संग; तथा सन्तोष-जैसे अनेक सुखोंकी जड़ है सत्संग । सभी चीजोंपर सन्तोष कर लेना परम साधुता है, मगर सत्संग करनेसे भी सन्तोष कर लेना सब कुछ नष्ट कर देना है । अतएव सत्संग सन्तोषसे कई गुना बड़ा है, परम सुखद है ।

सन्तोषकी तरह सुखके अनेकों साधन हैं । उन सभी साधनोंकी तलवार उठाकर मनुष्य विजयपूर्वक सुख प्राप्त कर सकता है और कर रहा है । जो जिस साधनमें लगा है, उसीमें उसे परम सुख है और सफलता भी प्राप्त है । जरूरत है सिर्फ दृढ़ विश्वासकी । विश्वास हो और लगनके साथ किसी साधनमें मनुष्य तत्पर हो जाय तो उसे सफलता अवश्य मिलेगी । मगर इन अनेक साधनों और मार्गोंद्वारा जिसकी सिद्धि होती है और जो प्राप्त होता है, वह सत्संग है । सबकी जड़ सत्संग है और उसीसे अनेक शाखा-प्रशाखाएँ निकली हुई हैं । दुनियाँमें जितने अच्छे कर्म, पुण्यकर्म हैं, वे सभी सत्संगके आश्रित हैं, सत्संगके साधन हैं । उनके साधन और सत्कर्ममें एक-न-एक प्राणी सफलीभूत हुआ है । कोई सत्यवादी हुआ है, कोई दानी हुआ है, कोई वीर हुआ है, कोई विद्वान् हुआ है, कोई तपस्वी हुआ है, कोई त्यागी हुआ है, तथा और भी न मालूम कितने क्या-क्या हुए हैं । पर सभी विभूतियोंने एक स्वरसे संत और सत्संगकी महिमा गायी है और उसीको प्रधानता दी है । गोस्वामीजी गाते-गिनाते चलते हैं, सुनिये—

बालमीक नारद घटजोनी । निज निज मुखनि कही निज होनी ॥
जलचर थलचर नभचर नाना । जे जड़ चेतन जीव जहाना ॥
मति कीरति गति भूति भलाई । जब जेहि जतन जहाँ जेहि पाई ॥
सो जानब सतसंग प्रभाऊ । लोकहुँ बेद न आन उपाऊ ॥
बिनु सतसंग बिबेक न होई । राम कृपा बिनु सुलभ न सोई ॥
सत संगत मुद मंगल मूला । सोइ फल सिधि सब साधन फूला ॥
सठ सुधरहिं सतसंगति पाई । पारस परस कुधात सुहाई ॥

४ संतासंत-स्वभाव-निरूपण

उत्तर—

पर उपकार बचन मन काया । संत सहज सुभाउ खगराया ॥
संत सहहिं दुख परहित लागी । परदुखहेतु असंत अभागी ॥
भूर्ज तरू सम संत कृपाला । परहित नित सह बिपति बिसाला ॥
सन इव खल पर बंधन करई । खाल कढ़ाइ बिपति सहि मरई ॥
खल बिनु स्वारथ पर अपकारी । अहि मूषक इव सुनु उरगारी ॥
पर संपदा बिनासि नसाहीं । जिमि ससि हति हिम उपल बिलाहीं ॥
दुष्ट उदय जग आरति हेतू । जथा प्रसिद्ध अधम ग्रह केतू ॥
संत उदय संतत सुखकारी । बिस्व सुखद जिमि इंदु तमारी ॥

संत और असंतमें विश्लेषण करनेके पहले इस प्रश्न और उत्तरके सम्बन्धमें थोड़ा निवेदन कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है; क्योंकि इसी प्रश्नमें लोगोंके दो प्रश्नोंकी शङ्का निहित है । यद्यपि पहले समाधान करनेकी चेष्टा की जा चुकी है और उससे पाठकोंका बहुत कुछ भ्रम कट गया होगा, फिर भी शेष भ्रमके लिये निवेदन हो रहा है । बड़े सुखके सिलसिलेमें मैंने गोस्वामीजीकी सामञ्जस्य बुद्धिकी तारीफ की है । सो वे उसके लायक हैं । सामञ्जस्य बुद्धिका अर्थ है मिली हुई बुद्धि—सम्मिलित बुद्धि । यह मेल संसारके द्वन्द्वोंका केवल है । संत और असंत दोनों अलग-अलग हैं और सदा रहेंगे । इसी प्रकार संसारका प्रत्येक जोड़ा सदासे है और रहेगा । पर इस संसारमें दोनोंका मेल विधाताने कर दिया है और इतनी सूक्ष्मतासे मिलाया है कि यह आसान काम नहीं कि उसे अलग कर दें । सभी एकमें एक जाकर घुल-मिल गये हैं और इस प्रकार 'संसार' नामको चरितार्थ करते हैं । उसी मेलकी खिचड़ी ऊपरका प्रश्न है । संत और सत्संग तो एक ही बात है, तो फिर संतकी असंतके साथ व्याख्या करनेकी आवश्यकता क्यों हुई ? आवश्यकता यह हुई कि तुलसी संतके साथ असंतको सदा याद करते आये हैं और एकके बिना एकका अस्तित्व न रहना बताते आये हैं । इस प्रकार दोका एक और एकहीके दो प्रतिपादित करना तुलसीकी सामञ्जस्य-बुद्धि है तथा उनकी विशेषता है । यही एक बनानेमें उन्होंने विनयमें 'दुखप्रद उभय' तक कह डाला है ।

ऊपरके उद्धृत उत्तरसे तो प्रश्नके एक होनेकी सूचना और भी स्पष्ट मिल रही है । तुलसीदासजीने जिस एक प्रश्नके उत्तरको लिख दिया है, उसको फिर दुबारा लिखकर

'पुनरुक्ति' के भाजन वे नहीं हुए हैं। उक्त उत्तरमें संत और असंतका क्रमशः विवेचन नहीं किया गया है। प्रथम संतपर एक चौपाई है और फिर आधी-आधी चौपाई संत और असंत--दोनोंपर है। पुनः एक चौपाई संतपर है जब कि चार चौपाई असंतपर है। अन्तमें संतपर फिर एक चौपाई उपसंहारस्वरूप लिखकर विवेचन बंद कर दिया गया है। इन चौपाइयोंको मिलाकर असंत और संतको भी मिला दिया गया है, तथा उत्तर और प्रश्नको भी एक सिद्ध कर दिया गया है। ४॥ चौपाई असंतपर लिखी गयी है और ३॥ चौपाई संतपर; चूँकि गोस्वामीजी महाराज संतोंकी अपेक्षा असंतोंसे अधिक डरते थे और मानते थे। लेकिन स्थायित्व सत्स्वरूप संतोंका दिखानेके लिये आदि और अन्तमें संतोंके ऊपर चौपाई लिखी गयी है। गूढ़ता बड़ी विचित्र है। आदि संत, अन्त संत और बीचमें संतासंत-लीला। 'बिधि प्रपंच गुन अवगुनसाने' की व्यवस्थाको तुलसीने खूब इस प्रश्न और उत्तरमें सजाया है। यह शङ्का न करके देखने लायक है।

संतका स्वभाव होता है मन, वचन और कर्मसे सहज ही परोपकार करना और असंतका स्वभाव ठीक इसके विपरीत होता है मन, वचन और कर्मसे पर-अपकार करना। संत दूसरेकी भलाईके हेतु कष्ट सहते हैं और असंत दूसरेकी बुराईके लिये कष्ट सहते हैं। संतका उदय सुखदायी सूर्य-चन्द्रके समान होता है और असंतका उदय केतुके समान दुःखदायी होता है। संत कपासके समान है, असंत सनके समान। संत वर्षा है, असंत ओला है। संत कोयल हैं, असंत काक हैं। संत कमल हैं, असंत जोंक हैं। संत सुख हैं, असंत दुःख हैं। संत पुण्य है, असंत पाप हैं। संत सुजाति हैं, असंत कुजाति हैं। संत देवता हैं, असंत राक्षस हैं। संत पर्वत हैं, असंत खाई हैं। संत अमृत हैं, असंत विष हैं। संत ब्रह्म हैं, असंत माया हैं। संत ईश्वर हैं, असंत जीव हैं। संत सम्पत्ति हैं, असंत दरिद्रता हैं। संत राजा हैं, असंत रंक हैं। संत काशी है, असंत मगध है। संत गङ्गा हैं, असंत कर्मनाशा हैं। संत दिन हैं, असंत रात हैं। संत मालवा हैं, असंत मारवाड़ हैं। संत ब्राह्मण हैं, असंत कसाई हैं। संत स्वर्ग हैं, असंत नरक हैं। संत वैराग्य हैं, असंत अनुराग हैं। संत यश हैं, असंत अपयश हैं। संत चन्दन हैं, असंत कुल्हाड़ी हैं। संत गुणोंकी खान हैं, असंत अवगुणोंकी खान हैं। संत सुशील, सच्चे, दयावान्, शान्त, विनयी, त्यागी, सरल, शीतल, दानी, उपकारी, शम-दम-नियमसंयुक्त सबके मित्र हैं, और असंत कुशील, झूठे, निर्दयी, वञ्चक, कपटी, कुटिल, स्वार्थी, अपकारी, काम क्रोध-लोभसंयुक्त सबके शत्रु हैं। यहाँ थोड़ेमें दोनोंकी व्याख्या कर दी गयी; मगर असली पहचानके लिये व्यवहारकी जरूरत है। दोनों समुद्र हैं। थाह पाना मुश्किल है। जैसे-जैसे काम पड़ता है, वैसे-वैसे ही गुण भी उनके पृथक्-पृथक् होते जाते हैं। और संत-असंतका रहस्य खुलता जाता है।

५ बड़ा पुण्य

उत्तर—परम धर्म श्रुति बिदित अहिंसा।

धर्म या पुण्यके चार चरण बतलाये गये हैं—सत्य, दया, तप और दान। सत्ययुगमें सत्यका प्रतिपादन किया जाता था और उसीका महत्त्व अधिक था। त्रेतायुगमें दयाकी प्रधानता थी। द्वापरयुगमें तपकी विशेषता थी और कलियुगमें किसी प्रकारसे दिये जानेपर भी दान ही कल्याणकारी है। इन चार चरणोंके सिवा भी अब धर्मके जितने अङ्ग-प्रत्यङ्ग होने चाहिये--सब हैं और वे अनेक हैं। उन सभीका महत्त्व प्रतिष्ठापित किया गया है, और जहाँ धर्मके एक छोटे अङ्ग या शरीरके एक रोमको भी चर्चा आयी है, उसीकी खूब व्याख्या हुई है और वही श्रेष्ठतम ठहराया गया है। उदाहरणके लिये विप्रचरण-सेवाको ही लीजिये। गोस्वामीजी कहते हैं—

पुन्य एक जगमहँ नहिं दूजा। मन क्रम बचन बिप्र पद पूजा॥

धर्मके शरीरमें उक्त सभी अङ्ग-प्रत्यङ्गरूपमें विराजमान हैं। पर धर्म शरीरकी आत्मास्वरूप जो उसमें स्थित है वह है अहिंसा। धर्मकी स्थिति अहिंसासे है और इसीको कायम रखनेपर धर्मका प्रत्येक खण्ड जीवित है। अहिंसामें बड़े-छोटे सभी धर्मोंका पर्यवसान हुआ है। सत्य, दया, तप और दान सभी अहिंसाके सहायक हैं। अहिंसा महान् धर्म है, महान् पुण्य है। इसकी समतामें और कोई भी धर्म नहीं रक्खा जा सकता। यह अन्यतम धर्म है। यही कारण है कि बार-बार आवाज उठी है 'अहिंसा परमो धर्मः।' इस अहिंसाके मूर्तिमान् अवतार थे भगवान् बुद्ध। बुद्धने अपनी अहिंसाकी शान्तिमयी तलवार उठाकर यह प्रमाणित कर दिया--'संसारपर विजय प्राप्त करनेवाली एक यही तलवार है। सत्य इसकी मुठी है, दया इसकी धार है, तप इसकी नोक है और दान इसकी लंबाई, चौड़ाई और ऊँचाई है।' बुद्धमें सभी धर्मोंका परम

विकास हुआ है । कारण वे बड़े भारी अहिंसक थे । अहिंसाकी ठीक परिभाषा बुद्ध जानते थे ।

अहिंसाका अर्थ बड़ा ही व्यापक होता है । जिन-जिन बातोंको ध्यानमें रखकर बुद्धने अहिंसाको श्रेष्ठ कहा है और जिन-जिन धर्मोंको ध्यानमें लाकर उन सबमें विशिष्ट धर्म अहिंसा तुलसीने बताया है, वह अहिंसा वस्तुतः बहुत बड़ा धर्म है । अहिंसा-धर्मकी प्रेरणा जिस भावसे होती है, वह भाव है दया । दया और अहिंसामें बहुत थोड़ा अन्तर है । अहिंसा-धर्म पालन करनेके लिये चित्तकी प्रवृत्ति दयाकी ओर मुड़नी आवश्यक है । यह दया परमात्माकी दयाहीसे प्राप्त हो सकती है । संसारमें खरीदकर इसे नहीं लिया जा सकता । यह परमात्मासे मिला हुआ दिव्य दान है । दयालु स्वभावका पुरुष एक होता ही है । उसका हृदय कोमल और उसका चित्त उज्ज्वल होता है । जरा-सी मैल-कुचैल देखकर स्वयमेव वह द्रवित हो उठता है । वाल्मीकि तो स्नान करने गये थे । उन्हें क्या पड़ी थी कि दूसरेके कार्यमें अपना दखल दें ? पर नहीं । उनका चित्त कोमल था । क्रौञ्च पक्षीका वध देखते ही उनका हृदय दयासे भर आया और वे शाप दे बैठे उस महान् पापीको, उस महान् अपराधी निषादको ! यही थी दया, यही थी अहिंसा । जो करके नहीं, देखकर, और देखकर भी दण्ड देकर ही रहा । जीवोंपर दया इसीका नाम है । केवल जानदार प्राणियोंतक ही यह दया सीमित नहीं । चर-अचर सभीपर इसका समान उपयोग होना चाहिये । हमें क्या अधिकार है कि खिले हुए कमलको अकारण ही तोड़ दें अथवा उसकी पँखुड़ियोंको छुड़ा दें ? विश्वमें सर्वत्र दयाका बर्त्ताव ही अहिंसा है और है परम धर्म मानवका—'धर्म कि दया सरिस हरिजाना ?'

६ बड़ा पाप

उत्तर—………………। पर-निंदा सम अघ न गरीसा॥
हर गुरु निंदक दादुर होई । जन्म सहस्र पाव तन सोई ॥
द्विज निंदक बहु नरक भोग करि । जग जनमइ बायस सरीर धरि ॥
सुर श्रुति निंदक जे अभिमानी । रौरव नरक परहिं ते प्रानी ॥
होहिं उलूक संत निंदारत । मोह निसा प्रिय ग्यान भानु गत ॥
सबकै निंदा जे जड़ करहीं । ते चमगादुर होइ अवतरहीं ॥

जिस संतने अहिंसाको परम पुण्य बताया, वह बड़े पापके उत्तरमें हिंसाको आसानीसे रख सकता था, किन्तु उसने ऐसा नहीं किया । पापके सिलसिलेमें बड़ा पाप बताया उसने 'निन्दा'को । मतलब यह कि पुण्य सत्कर्म है और वह ऐसा होना चाहिये कि सबको सब प्रकारसे सब दशामें सरलतापूर्वक सुलभ हो । अहिंसामें सभी बातें हैं, इसके लिये अपने तन, मन और वचनके सिवा किसी दूसरेकी अपेक्षा नहीं है, दूसरेपर अधिकार नहीं है । मनुष्यको अपनेपर केवल अधिकार है । वह अपनेको चाहे जो कहे, जो करे । दूसरेको कुछ न करनेका उसे अधिकार है, न कहनेका । करना दूसरोंको रहा सो तो अहिंसाके द्वारा हटा दिया गया । शेष बचा दूसरोंको कुछ कहना । इसके लिये बताया गया कि दूसरोंकी निन्दा करनी ही नहीं चाहिये; क्योंकि इसके समान कोई पाप नहीं, कोई अधर्म नहीं । इसका विशेष कारण यह है कि दूसरेकी यदि हम निन्दा करते हैं तो हमारी धारणा उसमें निर्मूल ही रह जाती है । हम जिन उपकरणोंद्वारा उसे समझनेकी चेष्टा कर रहे हैं, वह ठीक ही होगा—ठीक नहीं । हमारे जीवनका सबसे बड़ा कार्य है कि हम अपनेको समझ लें कि हम क्या हैं, कहाँ हैं, कैसे हैं, किसलिये हैं, क्यों हैं तथा हमें क्या करना है ? और यही यदि हम कर लेते हैं तो हमारा मनुष्य-जीवन सफल हो जाता है, हम बड़ा भारी कार्य कर लेते हैं । मगर हम जो दूसरोंको जाननेके लिये उत्सुकतापूर्वक उनका अध्ययन (study) कर रहे हैं सो ठीक नहीं है । हमारा यह अध्ययन न कभी पूर्ण हो सकता है और न इसमें हमारा कोई लाभ ही है । यह अध्ययन तो उस कुत्तेकी रोटीके टुकड़ेके समान नदीकी प्रखर धारामें गिर रहा है, जो लोभवश प्रतिबिम्बित रोटीके टुकड़ेको लेना चाहता था । यह मानी हुई बात है कि हम दूसरेका अध्ययन (study) तो कर ही नहीं सकते और हमारा अपना अध्ययन भी उसीके साथ-साथ स्वाहा हो रहा है । व्यर्थका समय नष्ट होता है—न अपना आवश्यक कार्य होता है और न दूसरेका ठीक निरीक्षण । परिणाम यह होता है कि ऐसा करने जाकर हम अपना तथा अन्य अनेकोंका आत्मघात ही करते हैं । हम-सा पापी दूसरा कौन है ? अघ कि पिसुनता सम कोउ आना ?'

मनुष्यको अपने दोष, अपने पाप देखने चाहिये और अवसर आनेपर उन्हींकी निन्दा करनी चाहिये । अपने दोषोंकी निन्दा—वस्तुतः निन्दा नहीं है । श्रीगोस्वामीजी महाराजने निन्दाको सबसे बड़ा पाप बतलाकर यह सिद्ध कर दिया है कि हमें दूसरे किसीकी भी निन्दा नहीं करनी चाहिये ।

उस समय गोस्वामीजीके लिये सारा जगत् 'सीय-राम-मय' था और इसके अनुसार वे किसीकी निन्दा सहन नहीं

कर सकते थे । फिर भी कुछ लोग, कुछ वस्तुएँ उन्हें विशेष प्रिय थीं । जैसे श्रीशङ्करजी, गुरु, ब्राह्मण, देवता, वेद तथा संत । आप पूछ सकते हैं कि उन्होंने यहाँ रामका नाम क्यों नहीं लिया, राम-नाम तो उनका सर्वस्व था । इसका उत्तर यह है कि उन्होंने श्रीशङ्करजीका नाम ले लिया है । श्रीतुलसीदासजी राम और शिवमें भेद नहीं मानते थे । रामचरित्र वर्णन करनेके पहले इसीसे उन्होंने शिव-चरित वर्णन किया है और अपनी विशाल-हृदयताका परिचय दिया है । श्रीशङ्कर और गुरुके निन्दकोंको तो उन्होंने जिह्वाविहीन कर दिया है । न उनके जीभ रहेगी और न वे 'हर गुरु'की निन्दा करेंगे । मेंढकको जीभ नहीं होती, अतः वे भी मेंढक होंगे । ब्राह्मणोंकी निन्दा करनेवालोंको उन्होंने कौए होना बताया है । इनका शरीर कैसा सुन्दर, बोली कैसी चित्ताकर्षक और भोजन भी कैसा पवित्र होता है ! इसी प्रकार देवता और वेदोंकी निन्दा करनेवाले सबसे बड़े नरक रौरवमें पड़ेंगे । आँखें रहते भी संतोंको न पहचानकर जो उनकी निन्दा करते हैं, वे उल्लू होंगे, उनकी आँखें बंद हो जायँगी और सबके निन्दक तो चमगीदड़ होंगे ही !

७ मानस-रोग

उत्तर–

मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला । तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला ॥
काम बात कफ लोभ अपारा । क्रोध पित्त नित छाती जारा ॥
प्रीति करहिं जौं तीनिउ भाई । उपजइ सन्यपात दुखदाई ॥
बिषय मनोरथ दुर्गम नाना । ते सब सूल नाम को जाना ॥
ममता दादु कंडु इरषाई । हरष बिषाद गरह बहुताई ॥
पर सुख देखि जरनि सोइ छई । कुष्ट दुष्टता मन कुटिलई ॥
अहंकार अति दुखद डमरुआ । दंभ कपट मद मान नेहरुआ ॥
तृस्ना उदर बृद्धि अति भारी । त्रिबिध ईषना तरुन तिजारी ॥
जुग बिधि ज्वर मत्सर अबिबेका । कहँ लगि कहौं कुरोग अनेका ॥

मानस-रोगका मतलब है मानसिक रोग । शारीरिक रोगों-के अनुसार ही गोस्वामीजीने इनका विभाजन किया है । जितने प्रकारके शारीरिक रोग होते हैं, उनसे किसी प्रकार इनकी संख्या कम नहीं है । फिर, जितनी पीड़ा शारीरिक रोगोंसे होती है, उससे कहीं अधिक पीड़ा इन रोगोंसे होती है । और ये रोग भी हर समय हर मनुष्यको सता रहे हैं । शारीरिक रोग तो एक बार एक या दो हो जाया करते हैं; परन्तु उक्त अनेकों रोग सदैव हुए ही रहते हैं । ये कितने कष्टकारक हैं—यह सोचनेकी बात है । इन रोगोंकी दवा भी सहज नहीं है, यदि कोई दवा है तो वह है 'हरिकृपा' । मानसिक रोग कहनेसे इन्हें ऐसा न समझ लेना चाहिये कि इनका प्रभाव केवल मन ही तक पड़ता है । ऐसा होगा तब तो इन रोगोंसे कुछ कष्ट ही नहीं होगा और ये रोग अर्थात् पाप बिना किसी मूल्यके साबित होंगे । खास कर कलियुगमें जब कि 'मानस पुन्य होहिं नहिं पापा ।' अतः कहनेको तो ये रोग मानसिक ही कहे जायँगे, पर कार्य इनका शारीरिक होता है । काम, क्रोध, लोभ करनेसे फलदायक होते हैं न कि नाम लेनेसे अथवा कल्पना करनेसे ।

संक्षिप्त समीक्षा

गोस्वामी तुलसीदासजीने उक्त सातों प्रश्न उठाकर उनका उत्तर दिया और व्याख्या की है तथा खूब की है । ये प्रश्न उनके जीवनके मिले हुए सात अनमोल रत्न हैं । इन प्रश्नों और उत्तरोंसे तुलसीदासजी प्रभावित थे । ये प्रश्न उनके हृदयको इतना मथ रहे हैं कि पुनः-पुनः कई स्थानोंमें इनकी झलक आ जानेपर भी स्पष्टरूपसे लिखे जानेके लिये कविको बाध्य करके ही रहे हैं । तुलसीको इन्हें बिना लिखे शान्ति न थी और पूर्णता न थी ।

सभी प्रश्न एक विचित्र प्रकारसे पूछे गये हैं–ऐसे पूछे गये हैं कि इन सबका सम्बन्ध मनुष्यसे हो और मानव-विशेषताओंसे हो । प्रथम मनुष्यको पकड़नेके लिये कविने सबसे दुर्लभ शरीरकी चर्चा उठायी है और उसमें डंकेकी चोट निर्णय किया है कि मनुष्य-शरीर दुर्लभ है । जब मनुष्य पकड़ा जा चुका है तो यह जानना अत्यन्त आवश्यक है कि उस मनुष्यके लिये बड़ा दुःख कौन है । कविने जो जगत्में गरीबोंका चित्र देखा था, उससे उसका हृदय करुणापूर्ण था और यह अवसर ढूँढ़ रहा था कि अवकाश मिले तो वह दरिद्रताको बड़े-से-बड़ा दुःख साबित करे । मनुष्यका बड़ा दुःख जान लेनेपर बड़ा सुख जाननेकी भी कम जिज्ञासा किसको न होगी ? और अनेक योनियोंमें अन्यान्य प्रकारके भी सुख हैं; परन्तु मनुष्यका सबसे उत्तम सत्संग-सुख ही माना गया है और है । चौथे प्रश्नमें मनुष्यका विभाजन दो टुकड़ोंमें करके उनके पृथक्-पृथक् आचरण पूछे गये हैं । जिस प्रकार दुःख-सुख मनुष्यका आवश्यकीय जोड़ा है और जिस प्रकार संत-असंत मनुष्यका जरूरी विभेद है, उसी प्रकार पाप-पुण्य भी मनुष्यके लिये रोज व्यवहारमें आनेवाली चीजें हैं । इसके उत्तर क्रमशः हैं निन्दा और अहिंसा । अहिंसा परम पुण्य और

निन्दा परम पाप । अन्तिम प्रश्न मनुष्यके आचरणके विषयमें पूछा गया है । मनुष्यको भ्रष्ट करनेवाले जितने उपादान हैं, सबका नाम रोग रखकर गोस्वामीजीने उनसे आसक्तिका भाव हटानेका उपदेश दिया है । वे थे वैरागी, और वैरागी पुरुष अपनी विरतिकी पुष्टिके लिये काम-क्रोधादिको हर समय बुरा समझेगा, बतलायेगा और सिद्ध करेगा ।

मानसके सात सोपानोंका निर्माण कर लेनेपर गोस्वामीजीको शायद यह प्रतीति हुई कि अब कोई ऐसी बात लिख दी जाय कि थोड़े स्थानमें समस्त मानसकी जिसमें बातें आ जायँ । अतः प्रत्येक सोपानके सार अंश-स्वरूप एक-एक बात उन्होंने लिख दी । प्रथम सोपानमें एक मनुष्य-शरीरको यह गौरव प्राप्त है कि वह ईश्वरावतार है । 'ब्रह्म राम' 'अवधेश राम' हो चुके हैं । अतः मनुष्य-शरीर धन्य है और सबसे उत्तम शरीर है । दूसरा सोपान दुःखोंसे भरा है और इसी कारण तुलसीने दूसरा प्रश्न दुःखोंके विषयमें पूछा है । तीसरा प्रश्न सत्संग-सुखपर समाप्त हुआ है । उधर तीसरे सोपानमें हम देखते हैं कि श्रीरामचन्द्रजी घर-बार छोड़कर परम सत्संग करनेके लायक हो जाते हैं और सत्संग करनेके लिये जंगल-जंगल घूमते चलते हैं । चतुर्थ सोपानमें बाली और सुग्रीव सगे भाई होकर क्रमशः असंत और संतके स्वभावके हैं और उनके आचरण भिन्न-भिन्न हैं । कारणतः चौथा प्रश्न संत-असंत-स्वभावनिरूपणके लिये उठा है । पाँचवें सोपानसे पाँचवें प्रश्नोत्तरकी आभा ली गयी है । यह सोपान पुण्यका सोपान है । परम पापी रावणका सोपान लङ्काकाण्ड अर्थात् छठा सोपान है । उससे पापके विषयमें छठे प्रश्नकी उत्पत्ति है और सातवाँ विरक्तिका प्रश्न विरक्त-सोपान उत्तरसे किया गया है । इस प्रकार उक्त उत्तर और प्रश्न सभी सुन्दर हैं और परम रहस्यमय हैं । श्रीरामचरणार्पणमस्तु ।

* * *

होरी*

(प्रेषक—पं० विष्णुदत्तजी शर्मा, बी०ए०)

राग काफी

हो रंग होरी मचाऔं । नई रस रीति रचाऔं । हो रंग होरी मचाऔं । रंगीले हो रँग०
देखत चैन सने इन नैननि सैननिमें समझाऔं ।
जोरि चकोरन लौं दृगदोरन कोरन प्रेम पचाऔं ॥
पलौं पलकौं न लचाऔं ॥ १ ॥ हो रंग०
लाल गुलाल अबीरनसों घन अम्बर डम्बर छाऔं ।
गाज लजाय मृदङ्गन चङ्गन रङ्ग घटा बरसाऔं ॥
अली चपला चमकाऔं ॥ २ ॥ हो रंग०

---

* यह पद और अर्थके लालित्यसे भरपूर होली बड़नगरा नागर ब्राह्मण बोहरा शम्भुरामजीके पुत्र बो० जीवनलालजीकी रचना है—जिनका जन्म माघ शु. ६ सं० १८७० को और मृत्यु भाद्र शु. ९ सं० १९२६ को हुई । ये माघ शु. ५ सं० १८९८ से बीचमें कुछ व्यवधानके साथ, २७ वर्षके लगभग बूँदी (राजपूताना) के महाराज श्रीरामसिंहजीके दीवान रहे । ये बड़ी रसीली कविता करते थे और इन्होंने व्रजभाषामें १ कृष्णखण्ड (श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके आधारपर श्रीकृष्ण-चरित्र), २ रासपञ्चाध्यायी, ३ ऊषाहरण, ४ गङ्गाशतक, ५ निद्राझोला (नीदराझोला), ६ सारङ्गपद (श्रीकृष्ण), ७ सारङ्गपद (श्रीरामचन्द्र) और ८ यह होली; और गुजराती गरबीमें १ श्रीमद्भागवताभास-कथा संक्षेप, २ अवतारमाला, ३ दुर्गाचरित्र, ४ रामशतपदी और ५ गोपीगीत—इत्यादि ग्रन्थ बनाये । ये कागज़के पशु, पक्षी, चित्र और अक्षर कतरनेमें भी बड़े प्रवीण थे और प्रसिद्ध है कि एक तोतेकी चोंचमें इन्होंने श्रीमद्भागवतका 'निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखात्' यह श्लोक ऐसी कारीगरीसे कतरा था कि किसी अंग्रेजने उसको लंदन भेज दिया । इनके वंशमें अब बोहरा पं० रविदत्तजी हैं । जो कोई गुणग्राहक प्रेस ऊपर लिखे ग्रन्थोंको प्रकाशित करना चाहे तो इनसे अथवा मुझसे पत्रव्यवहार करें । —प्रेषक

चन्दनसों मुख चन्द करौं व्रजचन्दन नाम मिटाऔं।
देकर रङ्ग भरयो हिय पै हँसिके रसि गाँठि हिटाऔं॥
तहाँ नहि नेक सिटाऔं॥ ३॥ हो रंग०
मोहनको मन मोहन को मनमोहन मन्त्र सजाऔं।
कोकिल भेक मयूरनके स्वर हौं स्वर साज लजाऔं॥
करैं वर वीन बजाऔं॥ ४॥ हो रंग०
फूल चुनौं कचनार अनारन मारन मार बढ़ाऔं।
कुञ्ज सिंगारन कारन ये सहकारन रारि रढ़ाऔं॥
पिया प्रिय पाठ पढ़ाऔं॥ ५॥ हो रंग०
बारन बार फुई पिचकारिन धार हजारन डारौं।
बुन्द अनन्द भरी अति मन्द सु मोतिन लौं झरि झारौं॥
तहाँ मन मोतिन वारौं॥ ६॥ हो रंग०
केसरिमें मुखमण्डनके मिस बेसरि ले पहिराऔं।
यों पिउके चिबुके छिगुनी छुइ मैन मतङ्ग फिराऔं॥
गह्यो गुरु गर्व गिराऔं॥ ७॥ हो रंग०
श्याम सुरङ्ग सुरङ्ग सुरङ्गि सजो सनि सोसनि साँचौं।
रङ्ग रचाय नचाय चखैं उर नाच नयो हँसि नाचौं॥
लला अँग अङ्गनि राचौं॥ ८॥ हो रंग०
हौं बनि माल मृनालन सों गहि लालन कण्ठ लगाऔं।
कुण्डल लोलनके प्रतिबिम्ब कपोलन बिम्ब पगाऔं॥
पिया मुख राग रँगाऔं॥ ९॥ हो रंग०
पी हिय अङ्ग उमङ्ग भरी जुग जोबन शृङ्ग भिडाऔं।
रङ्ग अनङ्ग तरङ्गनको मन मोहन अङ्ग छिडाऔं॥
लजौं भजि फेरि निडाऔं॥ १०॥ हो रंग०
घोरि घनो रंग रोरिन होज सुबोरि किशोर रँगाऔं।
दौरि परौं चितचोरि पियारस रोरि रु कण्ठ लगाऔं॥
ठगौं ठगको न ठगाऔं॥ ११॥ हो रंग०
यों रस रास विलास थली बिच फागुन फाग बहाऔं।
हौं रसिकै रसकै बसिकै हँसिकै रसिरासि कहाऔं॥
न तो यह नाम न पाऔं॥ १२॥ हो रंग०
जीवन को जिय जीवन जीवनजन्त्रन लै बरसाऔं।
'जीवन' मो जियजीवन जीवन जी हिरसै सरसाऔं॥
हरै (रिहि) हँसिही हरसाऔं॥ १३॥ हो रंग०

सत्सङ्गके बिखरे वाक्य

(द्वितीय माला)

(संग्रहकर्ता—एक सत्सङ्गी)

१०९ यह विचार होना चाहिये कि हमारा असली कर्तव्य क्या है । फिर तो काम हो जायगा ।

११० कर्मोंका फल भगवान्‌के हाथमें है और भगवान्‌के विधानसे जो भी फल प्राप्त होता है, वही मङ्गलमय है ।

१११ विपत्तिसे, मनकी प्रतिकूल अवस्थासे घबरानेकी जरूरत नहीं है तथा ऐसी परिस्थितिमें पड़कर, आवेशमें आकर कुछ करनेमें भी लाभ नहीं है । इस बातको निश्चय मान लेना चाहिये कि भगवान्‌के विधानसे आयी हुई विपत्तिमें, मनकी प्रतिकूल परिस्थितिमें वस्तुतः मङ्गल-ही-मङ्गल है ।

११२ विपत्तिसे रक्षाका त्राण पानेका उपाय भी भगवत्स्मरण ही है ।

११३ द्रौपदीने देख लिया—कहीं कोई भी सहारा नहीं है । सहायताके सभी रास्ते बंद हो जानेपर ही उसे भगवान् सूझे । उसने पुकारा । पुकारने भरकी देर थी, तुरंत भगवान्‌का चीरावतार हो गया । विश्वास कीजिये, यदि विपत्तिसे बचनेके लिये आप भी भगवान्‌को याद करेंगे तो भगवान् आपको भी निश्चय बचा लेंगे ।

११४ प्रेम एकमें ही होता है और वह भगवान्‌में ही होना सम्भव है । प्रेमका वास्तविक अर्थ ही है—भगवत्प्रेम ।

११५ विशुद्ध प्रेम, निःस्वार्थ प्रेम, उज्ज्वल प्रेम जब होगा तब भगवान्‌में ही होगा और ऐसा होनेपर सारा ममत्व सब ओरसे सिमटकर एक भगवान्‌में ही लग जाता है ।

११६ जब भगवान्‌के प्रति प्रेम होने लगता है, तो दूसरी समस्त वस्तुओंसे प्रेम हटने लगता है—यह नियम है । और प्रेम हो जानेपर तो प्रेमी सबकी सुधि ही भूल जाता है । वह तो प्रेम ही कहता है, प्रेम ही सुनता है, प्रेम ही देखता है और चारों ओरसे प्रेम-ही-प्रेम अनुभव करता है ।

११७ प्रेमकी पूर्णता कभी होती ही नहीं । मुझे पूर्ण प्रेम प्राप्त हो गया, इस प्रकारका अनुभव प्रेमी कभी करता ही नहीं ।

११८ प्रेमीको अपने प्रेममें सदा कमीका अनुभव होता है ।

११९ प्रेमकी कोई सीमा नहीं है ।

१२० प्रेम प्रतिक्षण बढ़ता ही रहता है, निरन्तर बढ़ते रहना उसका स्वरूप है ।

१२१ प्रेम कहीं भी रुकता नहीं ।

१२२ प्रेममें सब कुछ अर्पण हो जाता है, यहाँतक कि प्रेमी स्वयं भी प्रेमास्पदके अर्पित हो जाता है । सम्पूर्ण त्याग या सम्पूर्ण समर्पण ही प्रेमका स्वभाव है ।

१२३ जो प्रेम दूसरी-दूसरी वस्तुओंमें बँटा हुआ है, वह प्रेम वस्तुतः प्रेम ही नहीं है ।

१२४ भगवान् श्रीरामने प्रेमका स्वरूप बतलाया है—

तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा । जानत प्रिया एकु मनु मोरा ॥
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं । जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं ॥

१२५ प्रेम वाणीका विषय नहीं है ।

१२६ प्रेम रहता है मनमें और मन अपने काबूमें रहता नहीं, वह रहता है प्रेमास्पदके काबूमें । प्रेमका यह साधारण नियम है ।

१२७ प्रेमीके मनपर उसका कोई अधिकार नहीं रहता। मन, बुद्धि, प्राण, आत्मा—सबपर अधिकार हो जाता है प्रेमास्पद श्रीभगवान्‌का।

१२८ प्रेम उत्पन्न हो जानेपर मन, बुद्धि अर्पण करने नहीं पड़ते; ये स्वतः अर्पण हो जाते हैं।

१२९ प्रेम बड़ी दुर्लभ वस्तु है, यह सहजमें नहीं मिलता; और जिसे मिल जाता है, उसके समान भाग्यशाली कोई नहीं।

१३० प्रेममें वस्तुतः भगवान्‌का कभी वियोग नहीं होता। भगवान् श्रीकृष्ण वृन्दावनको छोड़कर एक पग भी बाहर नहीं जाते। श्रीगोपीजनोंको छोड़कर किसी समय भी कहीं भी नहीं जाते। श्रीगोपीजनोंने उद्धवको दिखला दिया था कि श्रीकृष्ण गोपीजनोंके पास ही निरन्तर रहते हैं; क्योंकि वे स्वयं प्रेमी बनकर श्रीगोपीजनोंको प्रेमास्पदा समझते हैं।

१३१ प्रेमास्पद प्रेमीका ही बन जाता है। श्रीकृष्ण भी गोपिकाओंके ही बन गये। उन्होंने कहा है—गोपिकाओ! देवताओंकी आयु-जैसी आयु धारण करके भी मैं तुम्हारा यह प्रेम-ऋण चुका नहीं सकता।

१३२ प्रेमका ऋण चुकानेके लिये भगवान्‌के पास कुछ भी नहीं रहता, पर प्रेमी उन्हें ऋणी नहीं बनाता। उन्हें ऋणी मानकर उनसे कुछ चाहे, ऐसा प्रेमी कभी भी नहीं करता।

१३३ जहाँ कुछ भी अपनी चाह है, वहाँ प्रेम नहीं है।

१३४ प्रेमीका सुख इसीमें है कि उसका प्रेमास्पद सुखी रहे—'तत्सुखे सुखित्वम्'।

१३५ हमारे दुःखसे यदि प्रेमास्पद सुखी होता हो, तो यह दुःख हमारे लिये सुख है—यह प्रेमीका हार्दिक भाव होता है। ऐसे दुःखको, ऐसी विपत्तिको वह परम सुख—परम सम्पति मानता है। मानता ही नहीं, सर्वथा ऐसा ही अनुभव करता है।

१३६ प्रेमका स्वभाव विचित्र है, इसमें त्याग-ही-त्याग—देना-ही-देना है।

१३७ प्रेमी प्रेमास्पदको अखण्ड सुखी देखना चाहता है, उसको सुखी देखकर ही वह सुखी होता है। प्रेमीके सुखका आधार है—प्रेमास्पदका सुख। इसी भावका जितना-जितना विकास इस जगत्‌में जहाँ कहीं भी होता है, वहाँ उतना ही पवित्र भाव होता है।

१३८ दूसरेके सुखके लिये अपने सुखका त्याग होना पवित्र भाव है।

१३९ भगवान् जिसे अपना प्रेम देते हैं, उसका सब कुछ हर लेते हैं। किसी भी वस्तुमें उसकी ममता नहीं रह जाती, समस्त ममता भगवान्‌से जुड़ जाती है और इसे लेकर वह एक ही बात चाहता है—कैसे मेरे प्रेमास्पद सुखी हों।

१४० भगवान् जब अपने आपको किसीके हाथ बेच देना स्वीकार कर लेते हैं, तभी किसीको अपना प्रेम देते हैं।

१४१ भगवान् प्रेमके साथ ही अपने आपको भी दे डालते हैं। यह सौदा महँगा नहीं, बड़ा ही सस्ता है। हमारा सब कुछ जाय और बदलेमें भगवान् मिल जायँ, इसके समान कोई लाभ नहीं। यह परम लाभ है।

१४२ बुद्धिमान् जन प्रेमके लिये मोक्षको भी भगवच्चरणोंमें समर्पित कर देते हैं।

१४३ भगवान् मोक्ष देना चाहते हैं, पर प्रेम चाहनेवाला उसे स्वीकार ही नहीं करता।

१४४ जिसे प्रेम प्राप्त हो जाता है, उसके ऊपर और कोई बन्धन तो रहता ही नहीं। रहता है केवल एकमात्र प्रेमका बन्धन। भला, प्रेमी प्रेमके बन्धनसे कभी छूटना चाह सकता है? यह बन्धन तो उसके

परम सुखका आधार है। जो इस बन्धनसे मुक्त होना चाहता है, वह तो प्रेमी ही नहीं है।

१४५ इस प्रेमके बन्धनमें जो आनन्द है, उसकी तुलना लाख मुक्तियोंसे भी नहीं हो सकती। प्रेमानन्द बड़ा ही विलक्षण आनन्द है। इसका एक कण प्राप्त करके ही मनुष्य निहाल हो जाता है।

१४६ प्रेमका विकास और तुच्छ स्वार्थबुद्धिका नाश दोनों साथ-साथ होते हैं।

१४७ जबतक स्वार्थका त्याग नहीं है, तबतक भगवान्‌में प्रेम नहीं है।

१४८ भगवान्‌में प्रेम होनेसे त्याग होता है, त्यागसे पवित्रता आती है।

१४९ जितना-जितना भोगोंसे प्रेम हटता जायगा, उतनी-उतनी पवित्रता आती जायगी।

१५० भगवत्प्रेमका प्रादुर्भाव होनेपर प्रेमकी बाहरी दशा दोमेंसे एक होती है—या तो जगत्‌से सर्वथा निवृत्ति हो जाती है या जगत्‌में प्रवृत्ति हो जाती है। पहली अवस्थामें वह उन्मत्तकी तरह प्रतीत होने लगता है, दूसरीमें समस्त जगत्‌को भगवान्‌के रूपमें दर्शन करता हुआ सबकी सेवा करता है, सबकी पूजा करता है। दोनों ही अवस्थाओंमें जगत्‌के पहलेवाले रूपसे तो उसकी निवृत्ति ही रहती है, जगत्‌के पहलेवाले रूपको तो वह भूल ही जाता है।

१५१ जहाँ देखता है, वहीं श्याम—एक तो यह अवस्था होती है। दूसरे प्रकारकी अवस्था यह है कि श्यामके सिवा और कुछ सुहाता ही नहीं। दोनों ही अवस्थाएँ पवित्रतम हैं, पर बाहरी लीलामें भेद होता है।

१५२ कहीं तो श्यामसुन्दर नहीं दीखते और उनके लिये अभिसार होता है तथा कहीं यह भाव होता है—यहाँ भी वही, वहाँ भी वही—'जित देखूँ तित स्याममयी है।' ये दोनों भाव वस्तुतः दो नहीं—एक ही भगवत्प्रेमकी दो अवस्थाएँ हैं।

१५३ भगवत्प्रेममें एक बात तो निश्चय ही होगी कि प्रेमास्पद भगवान् और प्रेमीके बीचमें किसी दूसरेके लिये स्थान नहीं रहेगा।

१५४ प्रेम दोमें नहीं होता। वह एकहीमें होता है और एक ही प्रेमास्पद सब जगहसे प्रेमीकी दृष्टिको छा लेता है। एक ही प्रेमास्पद सर्वत्र फैल जाता है।

१५५ प्रेमका विकास होनेपर सर्वत्र भगवान् दीखते हैं।

१५६ प्रेमास्पद भगवान्‌का रूप अनन्त होनेसे प्रेमीकी प्रेममयी अवस्था भी अनन्त है। प्रेमियोंकी न मालूम क्या-क्या अवस्थाएँ होती हैं।

१५७ प्रेम अखण्ड होता है।

१५८ भगवान् प्रेम हैं और प्रेम ही भगवान् है।

१५९ प्रेम भगवत्स्वरूप है, मन-वाणीका विषय नहीं। इसकी व्याख्या हो ही नहीं सकती। यह तो अनुभवकी वस्तु है।

१६० जहाँसे स्वार्थका त्याग होता है, वहाँसे भगवत्प्रेमका आरम्भ होता है। स्वार्थ और प्रेम—दोनों एक साथ रह ही नहीं सकते।

१६१ सांसारिक प्रेममें भी यह निश्चित है कि जहाँ त्याग नहीं है, वहाँ प्रेम नहीं है। जहाँ प्रेम है, वहाँ त्याग होगा ही।

१६२ जैसे-जैसे भगवान्‌के प्रति प्रेम बढ़ता जायगा, वैसे-वैसे स्वार्थका त्याग होता चला जायगा।

१६३ जहाँ अपनी चाह है, परवाह है, त्यागकी तैयारी नहीं है, वहाँ प्रेम कहाँ?

१६४ मामूली किसी आदमीसे प्रेम कीजिये, उसमें भी आवश्यकता होगी त्यागकी।

१६५ माँका अपने बच्चेके लिये प्रेम रहता है।

देखिये, वह बच्चेके लिये कितना त्याग करती है। इसी प्रकार गुरु-शिष्य, पति-पत्नी—जहाँ कहीं भी प्रेमका सम्बन्ध है, वहाँ त्याग है ही।

१६६ प्रेम हुए बिना असली त्याग नहीं होता।

१६७ सब प्रकारका सहन (तितिक्षा) प्रेममें होता है। प्रेम करना शुरू कर दें, फिर तितिक्षा तो अपने-आप आ जायगी। माँ बीमार है, पर बच्चा परदेशसे आ गया; माँ उठ खड़ी होगी, उस बीमारीकी अवस्थामें ही बच्चेके लिये भोजन बनाने लगेगी। यह तितिक्षा प्रेमने ही उत्पन्न कर दी है।

१६८ यह सत्य है कि प्रेमका वास्तविक और पूर्ण विकास भगवत्-प्रेममें ही होता है; पर जहाँ कहीं भी इसका आंशिक विकास देखा जाता है, वहाँ-वहाँ ही त्याग साथ रहता है। गुरु गोविन्दसिंहके बच्चोंमें धर्मका प्रेम था, उन्होंने उसके लिये हँसते-हँसते प्राणोंकी बलि चढ़ा दी। सतीत्वमें प्रेम होनेके कारण अनेक आर्य-रमणियोंने प्राणोंकी आहुति दे दी है।

१६९ प्रेम होनेपर त्याग करना नहीं पड़ता, अपने-आप हो जाता है और उसीमें आनन्दकी उपलब्धि होती है।

१७० प्रेममें पवित्रता भी अपने-आप आ जाती है; क्योंकि छल, कपट, बेईमानी आदि स्वार्थमें ही रहते हैं और प्रेममें स्वार्थ रहता नहीं।

१७१ जहाँ विशुद्ध प्रेम है, वहाँ मन विशुद्ध है ही।

१७२ भगवान्के प्रति प्रेम बढ़ाइये, अपने-आप अन्तःकरण शुद्ध होगा।

१७३ असली प्रेममें पाप नहीं रह सकता। पाप होते हैं कामनाके कारण और प्रेममें कामना रहती नहीं। जब कामना ही नहीं, तब पाप कैसे रहें।

१७४ प्रेम तपरूप है।

१७५ जो दे नहीं सकता, वह प्रेमी नहीं। उत्सर्ग प्रेममें स्वभावसे ही रहता है।

१७६ भगवत्प्रेम अन्तिम—चरम और परम पुरुषार्थ है।

१७७ विषयोंका प्रेम प्रेम नहीं है।

१७८ मोक्षका परित्याग विषयकामी भी करता है और भगवत्प्रेमी भी; परन्तु दोनोंके त्यागमें महान् अन्तर है।

१७९ विषयकामीको मोक्ष मिलता नहीं, पर भगवत्प्रेमीको त्याग देनेपर भी मोक्ष नित्य प्राप्त रहता है।

१८० भगवत्प्रेम अत्यन्त दुर्लभ होनेपर भी सहज ही प्राप्त हो सकता है, यदि कोई इसके लिये भगवान्पर निर्भर हो जाय।

१८१ प्रेम प्राप्त करनेके लिये त्याग आवश्यक है। बिना त्यागके प्रेम नहीं मिलता।

१८२ यदि हम सचमुच चाहें तो भगवान् कृपा करके अपने-आप त्याग करवा देते हैं। पर सच्ची बात यह है कि हम त्याग (जागतिक विषयोंके प्रेमका त्याग) करना नहीं चाहते।

१८३ हम चाहते हैं हमें प्रेम मिल जाय, पर विषय छोड़ना चाहते नहीं।

१८४ विषयासक्ति प्रेममें बड़ी बाधक है।

१८५ वास्तविकरूपमें देखें तो समस्त चीजें भगवान्की हैं, इनपर उन्हींका अधिकार है। आपको तो मिथ्या ममत्व त्यागना है। चीजें भगवान्की होकर आपके पास ही रहेंगी।

१८६ जो विषय—जो पदार्थ अभी जलाते हैं, वे ही- भगवान्के बना दिये जानेपर, उनमेंसे आसक्ति निकल जानेपर सुख देनेवाले हो जायँगे। उनमें ममता और आसक्ति ही हमें जलाती हैं।

१८७ भगवत्प्रेम प्राप्त होनेपर मनुष्य जहाँ भी रहे, सुखी ही रहता है।

१८८ प्रेमीका अपना कुछ रहता नहीं, सब

भगवान्‌का हो जाता है । पुत्र, धन, इज्जत ज्यों-के-त्यों रहते हैं, कहीं चले नहीं जाते; पर ममताका स्थान बदल जाता है । समस्त जगहसे ममता निकलकर एक स्थानमें—केवल भगवान्‌में जाकर ठहर जाती है ।

१८९ प्रेमीकी दृष्टिमें सब कुछ प्रेमास्पद ही हो जाता है; उसकी दृष्टि जहाँ जाती है, उसे प्रेमास्पद ही दीखते हैं ।

१९० प्रेमीके लिये सदा-सर्वत्र आनन्द-ही-आनन्द है ।

१९१ जहाँ 'स्व' भगवान्‌में जाकर मिला कि प्रेमी बन गये ।

१९२ यह नियम है—जहाँ प्रेम रहता है, वहाँ सुख है ही तथा जहाँ द्वेष है, वहाँ दुःख रहेगा ही ।

१९३ प्रेमीके लिये वैरका स्थान, वैरका कोई पात्र रहता ही नहीं—

अब हौं कासों बैर करौं ।
कहत पुकारत प्रभु निज मुख ते हौं घट घट बिहरौं ।

उसके मनकी ऐसी दशा हो जाती है ।

१९४ प्रेमका उत्तरोत्तर विकास होना ही मनुष्यकी वास्तविक उन्नति है ।

१९५ आज जगत्‌में 'स्व' इतना संकुचित हो गया है कि प्रायः 'परिवार'का अर्थ किया जाता है हम और हमारी स्त्री । इससे ठीक विपरीत, भारतवर्षके ऋषियोंका सिद्धान्त तो अत्यन्त विशाल है—'वसुधैव कुटुम्बकम् ।' स्वयं भगवान् 'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि' इस प्रकारका अनुभव करनेकी प्रेरणा करते हैं ।

१९६ भगवत्प्रेमके लिये साधना करनी चाहिये, जैसे भी हो, इसकी उपलब्धि करनी चाहिये ।

१९७ जिस दिन मनुष्य सब भूतोंमें अपने-आपको तथा सब भूतोंको आत्मामें स्थित देखता है, फिर भय-संकोच सब नष्ट हो जाते हैं । उसके लिये केवल आनन्द-ही-आनन्द रह जाता है ।

१९८ प्रेमकी महिमा अद्भुत है । इतने बड़े भगवान् इतने छोटे हो जाते हैं कि बच्चोंमें आकर बच्चे बनकर खेलते हैं । एक बार खेल हो रहा था; खेलकी यह शर्त थी कि जो हारे, वह घोड़ा बने । भगवान् हारे तथा घोड़ा बने—

उवाह कृष्णो भगवान् श्रीदामानं पराजितः ।
वृषभं भद्रसेनस्तु प्रलम्बो रोहिणीसुतम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । १८ । २४)

१९९ भगवान् प्रेमके वश होकर क्या नहीं करते, सब कुछ करते हैं ।

२०० विश्वम्भर होकर भगवान् माँसे कहते हैं कि हमें भूख लगी है, दूध पिलाओ ! यह है प्रेमकी महिमा ।

२०१ जिस प्रेममें भगवान् मित्र, पुत्र, पति बनकर खेलने लग जाते हैं, उस प्रेमके सामने मोक्ष-क्या वस्तु है ।

२०२ तामस भोगोंके पीछे पड़कर हमलोगोंने भगवान्‌को भुला रखा है । इस परिस्थितिमें तो बस 'हारे को हरि नाम' यही आश्रय है ।

२०३ भगवत्प्रेम बहुत ऊँची वस्तु है, पर कम-से-कम इसकी प्राप्तिकी इच्छा तो होनी चाहिये । इच्छा होगी तो इसके लिये प्रयत्न भी होगा ।

२०४ भगवत्प्रेमकी बात सुनकर मनुष्य डरने लगता है कि कहीं सब कुछ चला न जाय । होता भी यही है । अपना प्रेमदान करनेके पहले भगवान् और सबसे प्रेम हटा देना चाहते हैं । इसीलिये लोग डर जाते हैं । एक गुजराती कविने कहा है—

प्रेम पंथ पावकनी ज्वाळा भाळी पाछा भागे जोने ।
माँहि पड्या ते महारस माणे देखनारा दाझे जोने ॥

—प्रेमका मार्ग धधकती हुई आगकी ज्वाला है, इसे देखकर ही लोग वापस भाग जाते हैं; परन्तु जो उसमें कूद पड़ते हैं, वे महान् आनन्दका उपभोग करते हैं। देखनेवाले जलते हैं।

२०५ किसी भी प्रकारसे सत्पुरुषोंका मिलन हो जाय तो बस, काम हो गया।

२०६ सच्चे संतका मिलना दुर्लभ है; पर यदि वे मिल गये तो फिर उनका मिलना अमोघ है।

२०७ सच्चे संत यदि किसीके द्वारा सताये भी जाते हैं तो भी वे उसका कल्याण ही करते हैं। सच्चे संतके द्वारा किसीका नुकसान होता ही नहीं। पर भगवान् इस बातको सहन नहीं करते। काकभुशुण्डिजीने गर्वमें आकर अपने गुरुका अपमान किया; गुरुने कुछ भी नहीं कहा, पर भगवान् शङ्करने काकभुशुण्डिको शाप दे दिया। गुरुने शङ्करसे प्रार्थना करके शापको वरदानके रूपमें परिणत करा दिया तथा अन्तमें काकभुशुण्डिजीको भगवत्प्राप्ति हुई। इस प्रकार संत अपनी दयासे बुरे फलको अच्छेमें बदल देते हैं।

२०८ संत यदि किसीपर क्रोध करते हैं तो वह क्रोध भी किसीके लिये हानिकर नहीं होता, उस क्रोधसे भी लाभ ही होता है। नलकूबर-मणिग्रीवने नारदजीका तिरस्कार किया। वे दोनों यक्ष जलमें नंगे स्नान कर रहे थे, नारदजीके आ जानेपर उन्होंने ध्यान ही नहीं दिया। नारदजीने शाप दे दिया। शापसे वे जड वृक्ष बन गये, पर वृक्ष बनकर भगवान् श्रीकृष्णके अङ्गस्पर्शको पाकर वे कृतार्थ हो गये। संतोंका शाप भी पापोंसे शुद्ध करके अन्तमें भगवान्‌से मिला देता है।

२०९ ईसाको सूली दी गयी, पर ईसाने सभी सतानेवालोंका भगवान्‌से मङ्गल मनाया। संतका स्वभाव ही ऐसा होता है।

२१० संत हरिदासजीपर मार पड़ी, शरीरसे खून निकलने लगा। मारनेवाले कहते—'हरि-नाम लेना छोड़ दो।' हरिदासजीने सोचा—ये हमें मारते हैं तथा मारते हुए—हरि-नाम लेनेके लिये मना करते हुए इनके मुँहसे हरिनामका उच्चारण हो जाता है, इससे अच्छी बात और क्या होगी। हरिदासजीने कहा, 'भैया! फिर मारो और हरि-नाम लो!' मार पड़ती गयी। हरिदास बेहोश हो गये। मरा जानकर लोगोंने उन्हें गङ्गामें फेंक दिया, पर वे मरे नहीं थे। गङ्गासे बाहर निकल आये और भगवान्‌से मारनेवालोंके कल्याणकी प्रार्थना करने लगे।

उमा संत कइ इहइ बड़ाई। मंद करत जो करइ भलाई॥

यही संतका महत्त्व है।

२११ ऐसे पुरुष अत्यन्त दुर्लभ हैं; जो हैं, वे ही संत हैं।

२१२ कुछ सत्पुरुष ऐसे होते हैं कि बुराई करनेवालेकी बदलेमें बुराई तो नहीं करते, पर भला भी नहीं करते। अवश्य ही ऐसे पुरुष भी बहुत थोड़े होते हैं; क्योंकि किसीके द्वारा की हुई बुराईको शान्तिसे सह लेना बड़ा कठिन है।

२१३ परोपकारी पुरुष कुछ ऐसे भी होते हैं जो भला न करनेवालोंका भी भला करते हैं।

२१४ संतोंके द्वारा किसीका भी बुरा नहीं होता।

२१५ संत स्वभावसे ही सबका मङ्गल करते हैं। जिस प्रकार सूर्य सहज ही अन्धकारका नाश करते हैं, उसी प्रकार संत स्वाभाविक ही निर्मल बनायेंगे।

२१६ गुसाईंजी महाराजने चन्दन एवं कुल्हाड़ेकी उपमा देकर संत किस प्रकार बुरा करनेवालेका भला करते हैं, यह बात दिखलायी है। बिल्कुल ऐसी ही बात है। बुरा करनेवालेको भी संत अपनी ओरसे उत्तम-से-उत्तम चीज ही देते हैं।

भीख

(लेखक—श्रीवसिष्ठ)

'कौन ? क्या कहा ?'

'माँग, जो कुछ तुझे माँगना हो ।'

'अहा ! कहाँसे आयी यह वरदा वाणी ? अंदरसे ! मेरे इस तमावृत अँधेरे-हियेमें यह कौन बोला ? और बोला भी तो अनमोल बोल ! कौन हो तुम दाता ? उपहास तो नहीं कर रहे हो ? बहुत सोचनेपर भी याद नहीं पड़ता कि मैंने निरंकुश मन-सारथिके हँकाये घोड़ोंपर चढ़कर कभी वरदान पानेका काम किया हो ! अच्छा, दाता ! यदि तुम ही चूक गये हो तो इस आकस्मिक अवसरसे मैं लाभ क्यों न उठाऊँ ? माँगूँ ? कुबेर ! सचमुच वर माँग लूँ ?'

'माँग, जी भरकर माँग; किन्तु वही, जिसका तू अधिकारी है, जिसे तू सहन कर सकता है ।'

'जिसका मैं अधिकारी हूँ ! जिसे सहन कर सकता हूँ ! दाता ! बड़ी दुविधामें डाल दिया तुमने ! वर ! वह भी शर्तके साथ ! कबसे उतर आये इस अनोखी रीतिपर ?'

× × ×

'यह उन्मत्त यौवन ! सम्पत्ति और भोगोंका अटूट भण्डार !! शक्तिकी मतवाली गर्जना !!! इन सबको माँग लूँ ? उन्मत्त यौवन, भोगोंका भण्डार और शक्तिकी मतवाली गर्जना—तीनों दत्तात्रेय मिलकर क्या करेंगे ? मन-सखा ! सोचो तो तनिक !'

'उन्मत्त यौवन मनमानी करेगा; क्योंकि उसे मनमानी करनेकी सामर्थ्य प्राप्त होगी और उस यौवनका मैं रथी, उन भोगोंके भण्डारमें घुसकर जड, जडमय, सत्से तम बन जाऊँगा । और फिर वह शक्तिकी मतवाली गर्जना अपने पैशाचिक बलसे अस्तिको नास्ति और नास्तिका अस्तित्व मनवायेगी । मननद्वारा सत्-असत्का विवेचन करनेवाला मानव-जगत् शक्तिकी मतवाली गर्जनाके आतङ्कसे, भोगोंके भण्डारके मोह-प्रलोभनसे मेरे समक्ष 'एवमस्तु' हो जायगा । प्रलोभनमें फँसकर और आतङ्कसे डरकर अनेकों नर-नारी अपनी अन्तरात्माका हनन कर मेरी आसुरी वासनाओंके अनुगामी बनेंगे । न जाने कितने मेरे आदेशसे, मुझे प्रसन्न करनेके लिये, भोगोंके लोभवश मेरी मिथ्या स्तुति, निर्दोषोंपर अत्याचार, छल-कपट और धूर्त साधनोंसे व्यभिचार कर मेरा और अपना सर्वनाश करेंगे ! यह क्या सोची ? मन-सखा ! मुझे वर मिलता है, अभिशाप नहीं ! गलित, अति काली कोठरीके अधिकारी मलिन मन ! तुम यह क्या माँगना चाहते हो ? दूर हटो यहाँसे !'

'दाता ! घड़ीभर सोच लेने दो । वरदानी कुबेर ! अहा ! आप मेरी इस हृदय-दरिद्र-कुटीरमें खड़े-खड़े थक गये होंगे । बैठ जाइये । कहाँ बैठाऊँ आपको ! दरिद्रकी कुटिया, दुर्वासनाओंसे भिनक रही है । महाजन मेरे ! भूखा क्या नहीं खा लेता ? भूखकी ज्वाला उसे भक्ष्याभक्ष्यका विवेक ही नहीं होने देती । मन-सखा भूखा था, एकाकी था । उसे पुण्यका, सत्क भक्तिका,—प्राणेश ! तुम्हारे स्वादका भोजन न मिला । भूखसे अधीर होकर वह अनृतको, विद्रोहको, शू पाशविक अनाचारको चख बैठा । घृणा मत कर प्रभो ! मेरी इस गँधियाती भिनकती कुटियाको देखकर !'

'क्या माँगूँ ? मन-सखा जो माँगना चाहता है, उ मैं सहन नहीं कर सकता ।'

'और अधिकारी ?'

'अधिकारी तो मैं हूँ ही नहीं । अपना सब कु अच्छा फूँके बैठा हूँ । बिल्कुल कंगाल हूँ, महाद हूँ और दुर्वासनाओंकी दुर्गन्ध, कुरुचियोंकी कालि इस भस्मावशेष खँडहरमें भरी पड़ी है । ऐसे सर्वस्वनाश की बुझी हुई चितापर आप, हे कुबेर ! वरोंकी

लेकर पधारे हैं। दाता! मेरा धीरज छूटा जा रहा है। फाँसीके अपराधीको अमरत्वका वरदान! ओह! मैं बेकाबू हुआ जा रहा हूँ। मुझे पकड़ लो प्यारे! इस महानाशमें महानन्दके लोभमें मैं चल न बसूँ। अपने चल बसनेकी मुझे चिन्ता नहीं; किन्तु मेरे प्राण भगवान्! कहीं आपका वरदान अदान न हो जाय! मेरा क्या? नश्वर भोगोंकी भीख न जाने कबसे मायाके पुतलोंसे माँगता आ रहा हूँ। अनेकों अञ्जलियोंने 'हाथ खाली नहीं हैं' कहकर द्वार बंद कर लिये हैं और मैं निराश हो—आशाके लोभमें द्वार-द्वार दौड़ा हूँ। प्यारे! दुतकारा जाना, भीख न पाना, मेरा तो व्यसन हो गया है; पर तुम्हारे वरदानको पानेवाला पानेसे पहले चल बसा हो, ऐसा कभी नहीं हुआ। इसलिये नाथ! मुझे सँभाले रहो। कहीं यह नयी प्रथा न चल पड़े, यह अनहोनी न हो जाय!'

× × ×

स्वामी! प्रियतम!! प्राणेश!!!

'नाथ! आपके दर्शन? नहीं, मैं इस लायक नहीं। आपकी ज्योतिको ये नैन देख सकें ऐसी पवित्रता इनमें कहाँ है अब? फिर यह आपकी हो जाय ऐसी मेरी आत्मा कहाँ प्राणेश! स्वामी! मैं जन्म-जन्मान्तरोंसे न जाने कितने विषयोंकी परकीया बनती आ रही हूँ। परकीया बनते-बनते सचमुच मैं विषयोंकी वेश्या बन गयी हूँ। वेश्या होकर किस मुँहसे कहूँ प्राणनाथ! मैं आपकी हो जाऊँ? कहाँ आपकी पवित्र भुवनमोहिनी मूर्ति और कहाँ मैं भिनकती हुई संसारकी जूँठन! न जाने कबसे विलख रही हूँ। हूक उठी है और इस हूकमें मैंने बार-बार पुकारा है——

अब तो रँगूँगी रंग तिहारे।
इन कामुकताओंके आगे, नाना रूप सँवारे॥
बार-बधू बन बीते कितने, जीवन हाय! हमारे।
भोग चले जूँठन कर हमको, सब रसिया रसवारे॥
साज आखिरी है यह अपना, आओ द्वार पिआरे।
लुक-छिपकर अब तो हे साहू! गाहक बनो हमारे॥
करुणाका दे मोल रसिकमणि! लूटो भोग हमारे।
अंक लगा लो अब तो प्रियतम! भूलो दोष हमारे॥
तड़प तड़प झुर झुर देह जारी बिरह बिथाके मारे।
मत रूठो अब तो हे साजन! चिरके रूठनवारे॥

पर तुम नहीं आये। वासकसज्जा बनी बैठी मैं कितनी बाट जोहती रही हूँ। युग बीत गये हैं, मैं तो उतना गिन भी नहीं सकती——पर तुम नहीं आये। और फिर उन्हीं पुराने यारोंने मायाकी थैलियाँ खोलकर न जाने कैसे-कैसे कुमकुमोंसे फाग खेली है!

दिवाकरकी ज्योतिको सहन कर सके या नहीं, पर अंधेकी अभिलाषाको तो तुम जानते ही हो। न जाने कबसे ये दुखियारी अँखियाँ तुम्हें ढूँढ़ रही हैं। मैंने अनेकों घर बदले हैं। जब-जब घर छोड़ा है, इन खिड़कियोंसे तुम्हें ढूँढ़ती गयी हूँ और इन्हें खुला छोड़ गयी हूँ, शायद मेरे मरनेके बाद ही तुम इस सूने घरमें आओ।

अरे लालची मन! क्या तू मुझे अब भी टकहारी बनाये रखना चाहता है? बार-बार क्यों कह रहा है! 'वर माँग ले कुबेर खड़े हैं' ये आ गये हैं—यह क्या कुछ कम है। मुझे अपनी बिथा-गाथा कह लेने दे। दाम देकर दूकानपर फिर कौन रुकता है?

मोहन! मैं बड़ी दुखियारी हूँ। मुझसे वह लाख दर्जा अच्छे हैं जो तुम्हें नहीं चाहते, जो तुम्हें मानते भी नहीं। पर मुझे तुम तो क्या तुम्हारा व्रज भी याद है। ऐसा लगता है, यह सब कलकी बात है। जब उस व्रजमें तुम मेघ, मैं दामिनी बने नक्षत्र गोप-ग्वालोंमें अठखेलियाँ करते थे। जितना मैं भूलना चाहती हूँ, उतनी ही याद बढ़ती जाती है। तभीसे पुकार रही हूँ। चिट्ठियाँ लिखती-लिखती हार गयी हूँ। मेरी छातियोंको देखो चिट्ठियोंकी किताब बन गयी हैं।

अनेकों बार हताश होकर अपनी अभिलाषाओंको

मन-ही-मन पूरा किया है । बिलख-बिलखकर आँचल फैलाकर पुकार की है—'मोहन! तुम्हारे चरणोंपर दासी-का सिर बलि-बलि जावे । भुजा तुम्हारे गलेमें पड़ी रहें । कानोंसे तुम्हारी सुहावनी बतियाँ, तुम्हारी मधुर मुरली-की सुरीली तान सुनूँ और वाणीसे तुम्हारे गुणगीत गाऊँ । नयनोंसे सर्वत्र, सबमें तुम्हींको देखूँ । सखियोंने कहा—'यह कर, वह कर' और मैं झुँझला पड़ी हूँ । मैं क्या-क्या करूँ ? मैं क्या-क्या करूँ ? मेरे चित्तको चैन नहीं ।'

मुझे अपने वे सुनहरे दिन याद हैं, जब मैं मीराकी तरह पगली कहलाती थी । जब नारदकी तरह मुझे विनोदकी ही लत थी । उन दिनों मैं राजरानियोंमें, सखियोंमें बैठी होती; किन्तु तुम्हारी नजर पड़ते ही, तुम्हारी प्रतिभा, तुम्हारा चिन्तन, तुम्हारा वैभव, स्मृति-में आते ही सखियोंके उपहासकी परवा न करके मैं तुम्हारे चरणोंमें आँसू बनकर बिखर जाया करती !

दर्शन नहीं देते, मत दो । ये अँखियाँ इस लायक हैं भी नहीं । मुझे बाँह पकड़कर नहीं ले जाते, मत ले जाओ । वह सतियोंका, संतोंका, चतुरोंका घर है, मुझ-जैसी कलंकिनी फूहरको यहीं पड़ी रहने दो । तुम नहीं मिलते, मत मिलो । मुझे छूओ भी मत । तुम हो परम उज्ज्वल, शुभ्र चन्द्रमोहन और मैं हूँ काली-कलूटी, कलंकिनी कालिख । मुझे तुम्हारा यश प्यारा है, अपयश नहीं । मैं तुम्हें बदनाम करके सुखी नहीं हो सकती । मैं नहीं सहन कर सकूँगी, यदि किसीने कहा मोहन पक्षपाती है, अन्यायी है । वह अनभिज्ञ है, अरसिक है । मैं उन्हें कोसने लगती हूँ, गालियाँ देती हूँ, जो बनता है सब करती हूँ; जब वे मेरे सुहागको दुलखते हैं, कहते हैं—'मोहन नहीं है, भगवान् नहीं है, नारायण कोई नहीं, केवल मनकी भावना है—कल्पना है ।'

आज भूल पड़े हो । इस दुखियाकी याद आ गयी है । भले ही मुझे भूल जाओ । याद करो, न करो—इसकी मुझे चिन्ता नहीं । मुझे कुछ मत दो । अपना सब कुछ लुटाये बैठी हूँ । दुनियाके सुनारोंने मेरा समस्त स्वर्ण लूट लिया है और मुझे पीली पीतल करके छोड़ गये हैं । जो दोगे नाथ ! वह भी लुट जायगा । यह बजरिया चोरोंकी है मेरे बालम ! इसलिये मुझे कुछ मत दो । मुझे हर घड़ी खयाल है, सौतियाडाह नहीं । मैं नहीं चाहती तुम मुझे कोई ऐसी चीज दो जिससे मेरी बहनोंको ईर्ष्या हो । तुम्हारी चहेती, भावती सतियोंके सुहाग-सुखमें कसक पैदा हो । मेरे वीर संतोंके विनोदमें व्याघात पड़े । बस, मुझे कुछ मत दो । केवल अपनी मीराकी राहपर डाल दो । मत देखो, मत दिखायी दो और मत याद करो । लेकिन उस राहपर तो डाल दो, जिसपर आँखें तुम्हें ही ढूँढ़ें । तुम्हें ही याद करें, तुम्हें ही चाहें । दुनिया कलंकिनी कहे, पगली कहे, ढिंढोरा पीटकर मुझे दुतकारे; घरके, बाहरके, सब 'फूहर-फूहर' कहकर धक्के दें और मैं उन तानोंको तुम्हारी मुरलीकी मोहिनी तान मानकर उसीके स्वरमें 'मेरे तो गिरधर गोपाल' गाती फिरूँ !!

विछोह-व्यथाकी बान पड़ चुकी है । तुम्हारे बिना अबतक भी तो जीती-मरती रही हूँ । यह तन अनेकों बार तुम्हारे बिना झुर-झुरकर जल गया है । अबकी बार भी झुर जायगा । पर क्या मैं तुम्हारी नहीं हूँ ! एक बार कह तो दो 'नहीं हैं ।' कहते भी नहीं । यदि कहते भी नहीं तो मुझे यही सोच है कि जो तुम्हारी है, तुम उसको अपनी पगली क्यों नहीं बनाते ! तुम समझते हो मैं तुम्हारे लिये नहीं तड़पती हूँ । मैं तुम्हारे लिये ही तड़प रही हूँ । दुनियाको 'तुम' समझकर मैंने उसे आँखोंमें झोंक लिया है । बताओ, अब क्या करूँ ? आँखें मूँदे बैठी हूँ । दुनियाकी धूल आँखें करक रही है । पलकोंको धो रही हूँ जिससे धूल बाहर निकल जावे । आँखोंको खोलकर इसलिये नहीं

धोती कि कहीं धूलके साथ तुम भी आँखोंसे बाहर न बह जाओ। तुम बह गये तो फिर मैं कहींकी भी न रहूँगी। इसलिये तुम अब इन अँखियोंकी खिड़कीसे दिलमें उतर जाओ और फिर मैं सन्तोषसे, धीरजसे दुनियाके गुलालको आँखोंसे धो डालूँ। मुझे दुनियाके ऊहापोह, उपालम्भके उस आनन्दको भोगनेका अवसर तो दो, जब दुनिया मेरा तिरस्कार करे और मैं कहूँ 'मैं क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? किससे पूछूँ? दुनियाका गुलाल तो मैंने आँखोंसे धोकर निकाल डाला, किन्तु मनमोहन तो आँखोंसे निकलता ही नहीं और मैं उसे निकालना भी तो नहीं चाहती!'

तुम्हें निकालूँ भी क्यों? नींदसे उठकर प्रातः-बेलामें जल-क्रीड़ाके लिये यमुनाकी जल-धारामें उतर गयी। पैर उखड़ गये। तरङ्गोंने मुझे बहा लिया। केश-विन्यास बिगड़ गया। हार टूट गये और अँगिया जलमें सराबोर हो गयी। मोहन! तब तुमने ही तो बाँह पकड़कर डूबनेसे मुझे बचाया! तुम न बचाते तो न जाने मेरी क्या दशा होती? संसार-यमुना-जल-धारामें पड़कर न जाने कहाँ बह जाती। मायाकी तरङ्गें न जाने मेरा कितना सर्वनाश करतीं। मैं सस्ती ही छूटी। जलक्रीड़ाकी उत्कण्ठाका कण्ठा (हार) टूट गया। चञ्चलताकी अँगिया सराबोर हो गयी। मोहन! तुमने सदा मेरी पत बचायी है। जब-जब नवजीवनमें नींदसे उठकर यमुना-जलक्रीड़ामें मैं डूबने लगी हूँ, तुमने बचाया है। फिर तुम्हें आँखोंसे निकाल दूँ?

नाथ! तुम्हारी मायाके ये टूटे-फूटे हार मेरे आँगनेमें पड़े हैं। रह-रहकर मोह हो जाता है कि इनके बिखरे मोतियोंको लड़ीमें पिरोकर फिर हार बना दूँ। मैं इन हारोंसे हार गयी हूँ। मुझे और न हराओ। इन हारोंको उठा लो। कितनी बार मैं विनती कर चुकी हूँ। इन हारोंको हटा लो। पर मुझ दुखियापर तुम्हें इतनी दया भी नहीं आती! देते तो क्या? लेते हुए भी हिचकते हो। घुलते-घुलते, हारते-हारते हारकर मैं अब खुद हार हो गयी हूँ, इसलिये अब इन हारोंको उठा लो और वह पहनी-पहनायी—संसारको बाँटते-बाँटते बची हुई करुणाकी वह पुरानी मुसी-तुसी गुंजमाल ही मुझे दे डालो। मेरे लिये वह पुरानी बरती हुई करुणाकी वनमाल सोलह शृङ्गारोंका काम देगी।

दुनिया तुम्हें ढूँढ़ रही है। संतोंके उपवनमें भक्तोंकी भीड़ लगी है। चितचोरको ढूँढ़ रहे हैं सब! और तुम छिपना चाहते हो चितचोर! आओ, तुम्हें मैं छिपाऊँगी। कभी मैं भी करुणा और स्नेहकी अधिष्ठात्री थी। मुझपर भी संतोंका वात्सल्य था। पर जबसे मैं कुविचारोंकी वारवधू बनी हूँ, जबसे भोगोंकी वाराङ्गना हुई हूँ, संतोंकी करुणा मुझसे विरक्त हो गयी है और भक्तोंमें मेरे प्रति घृणा घर कर गयी है। यहाँ कुविचार आते हैं लेकिन छिपकर। यहाँ भीड़ नहीं लगती। मोहन! मुझे संसार-यमुना-जलमें डूबनेसे बार-बार बचाकर तुमने मेरे स्नेह-माखनको चुरा लिया है। माखनचोर! चोरी करके अब छिपना चाहते हो। चोरीका माल काँखमें दबाये छिपने चले हो। दुनिया तुम्हें छाप रही है और तुम छिपते हो! आओ मेरे अँधेरे हियेमें छिपो। बिल्कुल अँधेरा है, सूना है। संतोंका, ज्ञानका, प्रकाशका किसीका भी यहाँ टिकाव नहीं है। ऐसा एकान्त, निविड़ अन्धकार तुम कहीं न पा सकोगे। यहीं छिप जाओ!

जी चाहता है तुम्हें रिझानेके लिये शृङ्गार करूँ। मेरा रोम-रोम काँप उठता है, यह सोचकर कि तुम मुझ वारवधूपर रीझोगे? तुम तो खुद ही शृङ्गार हो साजन! यह सोचकर लट खोल देती हूँ। मानो मेरे रसिया मेरे अङ्ग-अङ्गमें बस रहे हैं और उन्हें लिये हुए मैं हृदय-डोलपर मन-झूलेपर झूल रही हूँ।

अपने ओछे-संकीर्ण हृदयमें तुम्हें छिपानेको

बैठी हूँ, किन्तु तुम्हारे विशाल हृदयमें क्षणभरके लिये भी अब मुझे जगह नहीं मिलती। आशा लिये बैठी हूँ। एक दिन अपनी भावतीको अपने केलि-मन्दिरमें बुलाओगे और उसी दिन तुम्हारा हृदय मेरी सेज और तुम मेरे सुहाग बनोगे। यह एक दिन होगा ज़रूर। रूठे रहकर भी तुम्हें मानना पड़ेगा। बुरी होते हुए भी भावतीको अपनाओगे। न्यायकारी होकर भी क्षमा करोगे। यह मैं सब जानती हूँ। सुनो—सबसे बड़ा अपराध तो मैंने यह किया है कि अपने निपट अँधेरे हियेमें तुम्हें कैद करनेकी सोच रही हूँ। दण्ड देनेपर ही तुले हो तो तुम्हीं कैद कर लो, कभी छुटकारेकी माँग न करूँगी!

मेरे जीवनका जो रस लुट चुका है। मेरे हृदयकी मुक्तामाल टूट गयी है। कुविचारोंने मेरी माँग लूट ली है, पर अब हे गोपाल! तुमसे झगड़ा लग गया है। मेरा सब कुछ लुट गया है। सब छिन चुका है, फिर भी तुम्हारी याद—तुम्हारी चाह मैंने बचा ली है। तुम कहीं छिन न जाओ; इसीलिये तो मैं चोरोंसे डर रही हूँ। तुम्हारे ही लिये तो यह कलंकिनी इस मलिन कन्था कायाको लिये खड़ी है। यह मलिन चीर! मेरा यही शृङ्गार शेष है। प्यारे! सब कुछ लुट जानेपर भी मैं निहाल हो जाऊँगी, सब भूल जाऊँगी। अपनी किसी लूटको गिनतीमें न गिनूँगी, मानो कुछ लुटा ही नहीं, यदि तुम मुझ अभागिनीको एक बार करुणाकी, दयाकी दृष्टिसे हेर दोगे। मेरा रोम-रोम हर्षित हो उठेगा। 'मैं लुट गयी हूँ'—'मैं नहीं लुटी हूँ' यही 'हाँ–ना' करती हुई तुम्हारे व्रजमें, तुम्हारे गोकुलमें, तुम्हारी दुनियामें रस, रंग-रूपकी होली कर डालूँगी। फाग खेलूँगी प्रेमका, स्नेहका, ममताका। तुम्हारे गोपालोंको अपने स्नेह और वात्सल्यका समूचा दधिदान कर दूँगी। एक बार इस गरीबनीको उस छबिसे देख दो अपने दर्शन न देते हुए ही।

तुम सब कुछ जानते हो, मेरे दुःखको भी जानते हो; पर उतना नहीं जितना मैं दुखिया जानती हूँ। मैं भोग जो रही हूँ, तुम भोग तो नहीं रहे, जानो भी कैसे? 'घायलकी गति घायल जाने' बिवाईकी पीड़ाका अनुभव बिना पैर फटे कहाँ? तनिक मेरी जगह दुखिया बनकर आ बैठो और अपनी जगह जरा मुझे दो। फिर तुम विरह-व्यथामें मेरी खोज करो। मुझ प्रीतमको खोजती-खोजती तुम वासनाओंके हत्थे चढ़कर कामुक विषयोंकी वाराङ्गना बनो और फिर मुझे न पाकर, विरह-व्यथासे तड़पकर, बेघर-बारकी, मेरी तरह आश्रय-हीना पति-परित्यक्ता होकर पुकारो—

'प्रियतम! एक बार अपनाओ।
भूल भई बकसो अब हमको, अपने अंग लगाओ॥'

निर्मोही! मैं दुखियारी व्यथाको जानती हूँ। मैं तुम्हें अधिक न तड़पाऊँगी। तुम्हारी पहली टेरपर ही मेरे स्नेहका मधुर संगीत मुरलीसे बह निकलेगा!

'मैं तुम्हारी हूँ' लाख बार कह चुकी हूँ—कह रही हूँ, कान खोलकर सुन लो 'मैं तुम्हारी हूँ' और 'तुम मेरे हो।' तुम्हारे पीछे-पीछे व्रजसे मैं भी मथुरा आ गयी हूँ। पर तुम्हारी मथुराके इन चौबोंने मुझे चौराहेपर लाकर कुपथपर डाल दिया है। तुम्हें ढूँढ़ती हूँ और ईंट-पत्थरोंसे सिर टकरा जाता है। हाय! मुझे इन ईंट-पत्थरोंसे ही ममता हो गयी है, इसलिये प्राणनाथ! मुझमें एक उत्कण्ठा भर दो कि मैं केवल तुम्हें चाहूँ, केवल तुम्हें! केवल तुम्हें ढूँढ़ूँ केवल तुम्हें! मुझे कुछ न दीखे, कुछ न सूझे—बस, तुम्हें ढूँढ़ना, तुम्हें चाहना मेरा स्वभाव, मेरा कामकाज हो! तुम मत मिलो, पर मैं ढूँढ़े ही जाऊँ! तुम मत चाहो, पर मैं तुम्हें ही चाहूँ! यही भीख दो साजन! यही भीख दो। आँचल फैलाये बैठी हूँ, केवल यही भीख दो! यही भीख!

(क्रमशः)

× × ×

गीताका तीसरा अध्याय—कर्मयोग

(लेखक—पं० श्रीमुरलीधरजी शर्मा, बी० ए०, बी० एल्०)

[पूर्वप्रकाशितसे आगे]

यज्ञचक्रकी मीमांसा (गीता ३ । ९–१६)

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥
(गीता ३ । ९)

'यज्ञार्थ कर्म' का महत्त्व

'यज्ञार्थ कर्म' अर्थात् यज्ञके लिये किये जानेवाले कर्म बन्धक नहीं होते, उनसे अतिरिक्त और सब कर्म लोगोंको बन्धनमें डालते हैं; इसलिये हे अर्जुन ! तू 'यज्ञार्थ कर्म' कर; किन्तु उन्हें भी आसक्तिको छोड़कर कर ।' श्लोकमें 'यज्ञार्थ कर्म' पूर्वमीमांसकोंका पारिभाषिक शब्द है । प्राचीन भारतवर्षमें वैदिक यज्ञ-यागोंका खूब प्रचार था । लोग इन्हें ऐहिक और पारलौकिक उन्नतिके लिये अनिवार्य समझते थे । वैदिक कर्मकाण्डके सर्वप्रधान ग्रन्थ 'पूर्वमीमांसा या मीमांसासूत्र' के निर्माता महर्षि जैमिनिने तो यहाँतक कहा है कि 'वेदोंमें यज्ञादि कर्मोंका ही विधान है । जिन वेदवाक्योंमें ऐसा विधान नहीं है, वे सब निरर्थक हैं'—'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' (जै० सू० १ । २ । १) । वैदिक कर्ममार्ग या 'त्रयीधर्म' इन मीमांसकोंका ही रहा है । उन्होंने बन्धकताकी दृष्टिसे कर्मके दो भेद किये हैं—(१) 'यज्ञार्थ कर्म' जिसे 'क्रत्वर्थ कर्म' भी कहते हैं अर्थात् वे कर्म, जिन्हें मनुष्य यज्ञके सम्पादनके लिये करता है; (२) 'पुरुषार्थ कर्म' यानी वे कर्म जिन्हें मनुष्य यज्ञके लिये न करके केवल अपने व्यक्तिगत स्वार्थकी सिद्धिके लिये करता है । मीमांसकोंका कहना है कि 'यज्ञार्थ कर्म' या 'क्रत्वर्थ कर्म' मनुष्यके बन्धक नहीं होते, क्योंकि वेदोंने ही स्वयं यज्ञोंके करनेकी आज्ञा दी है; इसके विपरीत, 'पुरुषार्थ कर्म' अपने निजी स्वार्थके लिये किये जानेके कारण कर्ताको बन्धनमें डालनेके हेतु होते हैं । मीमांसकोंके इस प्राचीन और प्रचलित अर्थको उपर्युक्त श्लोकके पूर्वार्द्धमें दिया गया है । सूक्ष्म दृष्टिसे देखा जाय तो 'यज्ञार्थ कर्म' भी—यदि अपने व्यक्तिगत स्वार्थ धन, पुत्र, स्वर्गादिकी प्राप्तिकी कामनासे किये जायँ तो—'पुरुषार्थ कर्म' ही ठहरते हैं । ऐसी अवस्थामें उनसे भी बन्धन अवश्य होगा, इसलिये गीता उक्त मीमांसक-मतमें कुछ मार्मिक संशोधन करती हुई एक क़दम आगे बढ़कर प्रतिपादन करती है कि 'उन 'यज्ञार्थ कर्मों' को भी फलाशा छोड़कर करना चाहिये ।' सकाम यज्ञादि कर्मोंको भगवान् द्वितीय अध्यायमें भी 'बुद्धियोग' की अपेक्षा नीचे दर्जेका ठहरा चुके हैं (देखिये गीता २ । ४२–४४) । निष्काम भावनासे किये गये इन कर्मोंकी कर्तव्यता और विशेषता उपसंहारमें कही गयी है—

५—

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥
एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥
(गीता १८ । ५–६)

अर्थात् 'यज्ञ, दान, तप आदि कर्मोंको छोड़ना नहीं चाहिये, बल्कि करते रहना चाहिये, क्योंकि यज्ञ, दान और तप बुद्धिमान् पुरुषोंके भी (अन्तःकरणको) शुद्ध करनेवाले हैं; किन्तु इन (यज्ञादि) कर्मोंको भी आसक्ति और फलाशा त्यागकर करना चाहिये—यही मेरे द्वारा निश्चित किया हुआ उत्तम मत है ।'

यज्ञसे देवता और मनुष्योंका सम्बन्ध

'सृष्टिके आदिमें प्रजापति ब्रह्माने यज्ञके साथ-साथ प्रजाको रचकर उससे यह कहा था—'इस यज्ञसे तुम फूलो-फलो; यह (यज्ञ) तुम्हारे सब इष्ट मनोरथोंको पूर्ण करे । इसके द्वारा तुम देवताओंको सन्तुष्ट करते रहो, वे देवतालोग तुम्हें समृद्ध करते रहें । इस प्रकार एक दूसरेको सन्तुष्ट और समृद्ध करते हुए तुमलोग परम कल्याणके भागी बनोगे । यज्ञसे सन्तुष्ट होकर वे देवता तुम्हें निश्चय ही चाहे हुए भोगोंको देंगे । देवताओंके द्वारा दिये हुए उक्त भोगोंको उनके अर्पण किये विना जो आदमी स्वयं भोगता है, वह निश्चय ही (परद्रव्यको हरनेवाला) चोर है' (गीता ३ । १०–१२) । इस प्रकार 'यज्ञकर्म' की प्रवृत्ति देवता और मनुष्य दोनोंके हितके लिये की गयी है । सांसारिक अभ्युदय और परमकल्याणकी प्राप्तिके लिये प्रत्येक मनुष्यको 'यज्ञ' करते रहना चाहिये । न करनेसे

आदमी स्वधर्मच्युत और पापभाक् बनता है । इन श्लोकोंमें काम्यकर्म प्रतिपाद्य नहीं है । 'कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना ही श्रेष्ठ है, क्योंकि कर्म किये बिना संसारमें जीवनका निर्वाह भी नहीं हो सकता'—इस कथनकी पुष्टि करनेके लिये ही उक्त प्रतिपादन किया गया है।

यज्ञकर्मका महत्त्व

'यज्ञ करनेके बाद बचे हुए अन्नको खानेवाले सत्पुरुष सब पापोंसे छूट जाते हैं। (इसके विपरीत) जो आदमी (यज्ञ न करके) केवल अपने ही पेटके लिये अन्न पकाते हैं, वे पाप खाते हैं' (गीता ३ । १३)। यही भाव गीताके चतुर्थ अध्यायमें दोहराया गया है—

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥३१॥

'हे अर्जुन ! यज्ञ करनेके बाद बचे हुए 'अमृतान्न' को खानेवाले मनुष्य सनातन ब्रह्मको प्राप्त होते हैं । यज्ञ न करनेवालेका यह लोक ही नहीं (सुधरता) है, फिर परलोक तो क्या सुधरेगा !' ऋग्वेदमें भी ऐसे स्वार्थी आदमीकी निन्दा मिलती है—

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य ।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी ॥
(१० । ११७ । ६)

अर्थात् 'जो मनुष्य पितर और मित्र-बन्धुओंका पोषण न करके अकेला ही पेट भरता है, वह पक्का पापी है; वह मूर्ख-व्यर्थहीमें अन्न खाता है । यह बिल्कुल सत्य है कि इस प्रकार अकेले खानेसे उस आदमीका नाश हो जाता है ।' मनुस्मृतिमें इस भावको और भी अधिक युक्ति और विस्तारके साथ समझाया गया है—

ऋषयः पितरो देवा भूतान्यतिथयस्तथा ।
आशासते कुटुम्बिभ्यस्तेभ्यः कार्यं विजानता ॥
स्वाध्यायेनार्चयेदृषीन् होमैर्देवान् यथाविधि ।
पितॄन् श्राद्धैश्च नृनन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा ॥
(३ । ८०-८१)

अर्थात् 'ऋषि, पितर, देवता, क्षुद्र प्राणी और अतिथि—ये पाँच गृहस्थियोंसे कुछ आशा रखते हैं, इसलिये समझदार गृहस्थीको उनके लिये अवश्य कुछ करना चाहिये । स्वाध्याय यानी उत्तम धार्मिक ग्रन्थोंके अध्ययन, जप आदिके द्वारा ऋषियोंकी, होमसे देवताओंकी, श्राद्धसे पितरोंकी, अन्नसे मनुष्योंकी और बलिसे क्षुद्र प्राणियोंकी यथाविधि पूजा करनी चाहिये ।'

और भी—

पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः ।
कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन् ॥
तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः ।
पञ्च कॢप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम् ॥
(मनु० ३ । ६८-६९)

ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा ।
नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत् ॥
(मनु० ४ । २१)

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥
पञ्चैतान् यो महायज्ञान्न हापयति शक्तितः ।
स गृहेऽपि वसन्नित्यं सूनादोषैर्न लिप्यते ॥
(मनु० ३ । ७०-७१)

अर्थात् 'गृहस्थके पाँच हिंसास्थान हैं—चूल्हा, चक्की, बुहारी, ऊखल-मूसल और जल-कुम्भ । इनसे काम लेनेवाला गृहस्थ हिंसाके दोषसे बँधता है । उन सब हिंसाओंकी निवृत्तिके लिये महर्षियोंने गृहस्थियोंके वास्ते पञ्च दैनिक महायज्ञोंका विधान किया है । गृहस्थीको चाहिये कि वह ऋषियज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ और पितृयज्ञको शक्ति रहते छोड़े नहीं । धार्मिक ग्रन्थोंका पढ़ना-पढ़ाना ब्रह्मयज्ञ (या ऋषियज्ञ), तर्पण पितृयज्ञ, होम देवयज्ञ, बलि भूतयज्ञ और अतिथिसत्कार मनुष्ययज्ञ है । जो गृहस्थ इन पाँच महायज्ञोंको शक्ति रहते नहीं छोड़ता है, वह घरमें रहता हुआ भी (उक्त पाँच) हत्याओंके दोषसे लिप्त नहीं होता ।'

इसलिये—

विघसाशी भवेन्नित्यं नित्यं वामृतभोजनः ।
विघसो भुक्तशेषं तु यज्ञशेषं तथामृतम् ॥
(मनु० ३ । २८५)

अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात् ।
यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत्सतामन्नं विधीयते ॥
(मनु० ३ । ११८)

'गृहस्थीको चाहिये कि वह हमेशा विघसान्न या अमृतान्न ही खाये । और लोगोंके खा चुकनेपर बचे हुए

अन्नको 'विघस' और यज्ञसे बचे हुए अन्नको 'अमृत' कहते हैं।' 'जो आदमी अपने ही लिये अन्न पकाता है, वह केवल पापको ही खाता है। उत्तम पुरुषोंके लिये तो यज्ञसे बचे हुए अन्नका ही विधान है।'

यज्ञचक्रका स्वरूप

प्राणी जो कुछ अन्न यानी खाद्य पदार्थ खाता है, उससे रस बनता है; रससे रक्त, रक्तसे मांस, मांससे चर्बी, चर्बीसे हड्डी, हड्डीसे मज्जा और मज्जासे वीर्य बनता है। इन सातोंसे शरीरका धारण होता है, इसलिये इन्हें 'धातु' कहते हैं (देखिये सुश्रुतसंहिता १।१४।१०) भावप्रकाश (१।२।१५९)। स्त्री तथा पुरुषके रजोवीर्यके संयोगसे 'जीव' की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि 'अन्नसे ही ये सब प्राणी (परम्परा द्वारा) उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न होनेके बाद अन्नसे ही जीवित रहते हैं।

'अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, अन्नेन जातानि जीवन्ति' (तैत्तिरीयोपनिषद् ३।२)। यही अभिप्राय गीताके इस संक्षिप्त वचनका है—'अन्नाद् भवन्ति भूतानि' (३।१४) 'अन्नकी उत्पत्ति वर्षासे होती है; वर्षा यज्ञसे होती है। यह यज्ञ कर्मसे उत्पन्न होता है अर्थात् ऋत्विक्, यजमान आदिके कर्म करनेसे ही यज्ञ बनता है। यही भाव मनुस्मृति और महाभारतमें भी कहा गया है—

> अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
> आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥
> (३।७६; शान्ति० २६२।११)

अर्थात् 'यज्ञाग्निमें विधिपूर्वक दी हुई आहुति सूर्यको पहुँचती है; तब सूर्यसे वृष्टि, वृष्टिसे अन्न और अन्नसे प्रजा उत्पन्न होती है।' याज्ञवल्क्यस्मृतिमें इसका कुछ विस्तारसे प्रतिपादन करते हुए बतलाया है कि यज्ञके सार (रस) से जब देवतागण तृप्त हो जाते हैं, तब वायु उसे चन्द्रमाके पास पहुँचा देता है और वहाँसे सूर्यकी किरणें उसे सूर्यके पास ले जाती हैं। तब सूर्य भगवान् उसे वृष्टि (अमृत) के रूपमें पृथ्वीपर वापस भेज देते हैं। वृष्टिसे अन्न उत्पन्न होता है और अन्नसे सब जीव (भूत) पैदा होते हैं (देखिये या० स्मृ० ३।१२१–१२३)। 'यह समझो कि कर्म प्रकृतिसे उत्पन्न हुआ है (गीता ३।२७; १३।२९) और प्रकृति अविनाशी परब्रह्मसे उत्पन्न हुई है (गीता ७।१२,१४)। इस प्रकार (परम्परासे) सर्वव्यापी परब्रह्म ही यज्ञमें नित्य प्रतिष्ठित रहता है' (गीता ३।१५)। उपर्युक्त रीतिसे जगत्के धारण-पोषण करनेके कारण यज्ञको ईश्वररूप माना गया है—'यज्ञो वै विष्णुः' (तै० सं० १।७।४) अर्थात् 'यज्ञ निश्चय ही ईश्वर है,' 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः' (ऋग्वेद १०।९०।१६) अर्थात् 'देवताओंने उस विराट्रूपी यज्ञपुरुषकी यज्ञके द्वारा पूजा की' इत्यादि। यही भाव और भी विस्तारके साथ गीताके चतुर्थ अध्यायमें यज्ञ-प्रकरणमें वर्णित है—

> ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
> ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥ २४॥

'यज्ञमें स्रुवा आदि यज्ञपात्र ब्रह्म हैं, घृत आदि हविर्द्रव्य ब्रह्म है, यज्ञाग्नि ब्रह्म है, हवन करनेवाला ब्रह्म है और हवनक्रिया ब्रह्म है—इस प्रकार कर्ममें ब्रह्मभावना रखनेवाले पुरुषको ब्रह्म ही फलस्वरूप मिलता है।' प्रत्येक मनुष्यको श्रद्धापूर्वक यज्ञ करते रहना चाहिये, क्योंकि यज्ञ करना स्वयं परमात्माका ही पूजन करना है।

यज्ञसे वृष्टि, वृष्टिसे अन्न और अन्नसे जीव उत्पन्न होते हैं। ये जीव कर्म करते रहते हैं, कर्मोंसे यज्ञकी निष्पत्ति होती है, यज्ञसे पुनः वृष्टि-अन्न आदि होते हैं—इस प्रकार 'अनुयज्ञं जगत्सर्वं यज्ञश्चानुजगत् सदा' (महा० शान्ति० २६७।३४) अर्थात् यज्ञके पीछे जगत् और जगत्के पीछे यज्ञ—यह क्रम जारी रहता है। कर्म, यज्ञ, वृष्टि, अन्न और जीव—इन पाँचमेंसे प्रत्येक अपने पूर्ववर्ती अङ्गका कार्य और परवर्ती अङ्गका कारण बनकर काम करता रहता है और सब मिलकर एक 'पञ्चाङ्ग चक्र'के स्वरूपको उपस्थित करते हैं, इसलिये इसे 'यज्ञचक्र' कहते हैं। क्योंकि इसमें प्रतिक्षण कर्म होता रहता है, इसलिये यह 'कर्मचक्र' भी कहा गया है। वृष्टि, अन्न आदिके द्वारा सृष्टिकी उत्पत्ति और स्थिति इसी चक्रसे होनेके कारण विद्वानोंने इसको 'सृष्टिचक्र' या 'जगच्चक्र' नाम भी दिया है। इसके चालू न रहनेसे जगत् शनैः-शनैः नष्ट हो जाता है। इस पञ्चाङ्ग यज्ञचक्रकी उपपत्ति नीचेके वंशवृक्षसे ठीक समझमें आ जायगी—

---

१ कुछ आचार्योंने पंद्रहवें श्लोकमें 'ब्रह्म' शब्दका अर्थ 'वेद' किया है। इस प्रकार एक अङ्ग और बढ़ जानेसे चक्र 'षडङ्ग' हो जाता है, जिसकी उपपत्ति महाभारतके प्रसिद्ध टीकाकार नीलकण्ठने इस प्रकार दिखलायी है—वेद सर्वार्थप्रकाशक उनके अध्ययनसे कर्मोंका ज्ञान होता है। कर्मानुष्ठानसे

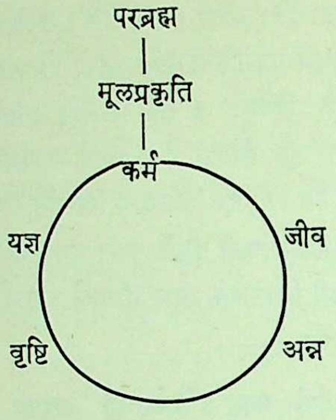

याज्ञवल्क्यस्मृतिमें भी इस यज्ञचक्रका वर्णन मिलता है—

तस्मादन्नात् पुनर्यज्ञः पुनरन्नं पुनः क्रतुः ।
एवमेतदनाद्यन्तं चक्रं सम्परिवर्तते ॥
(३ । १२४)

'अन्नसे यज्ञ, (यज्ञसे) फिर अन्न और (अन्नसे) फिर यज्ञ—इस प्रकार यह अनादि और अनन्त चक्र चलता ही रहता है ।'

'यज्ञ' शब्दका क्या अर्थ है ?

उपर्युक्त यज्ञप्रकरणमें बतलाये हुए भावके अध्ययनसे ऐसा मालूम होता है कि 'यज्ञ' शब्दका अभिप्राय 'अग्निमें विधिपूर्वक आहुति देनेके कार्यसे ही है । यही अर्थ लोकप्रचलित भी है । कुछ भी हो, यह मतलब किसीको भी प्रासङ्गिक तो नहीं जँचता, क्योंकि कुरुक्षेत्रकी युद्धभूमिमें अर्जुनको 'अग्निमें तिल, जौ, चावल आदि अन्न या घृत होमने'की शिक्षा देनेका कोई अवसर नहीं था । इसके अतिरिक्त इस अर्थको स्वीकार कर लेनेपर आधुनिक समयमें इन श्लोकोंकी कोई उपयोगिता बाकी नहीं रह जाती; क्योंकि यज्ञ-यागादि श्रौत कर्म अब लुप्तप्राय हो गये हैं । फिर 'यज्ञ' से भगवान्का क्या अभिप्राय था ? यह सच है कि गीतायुगमें भी श्रौत यज्ञोंकी खूब धूमधाम थी, यहाँतक कि शास्त्रकारोंने द्वापरमें यज्ञहीको सर्वप्रधान कर्म कहा है—'द्वापरे यज्ञमेवाहुः' (मनु० १ । ८६) । समय बीतनेपर जब भागवतधर्मका प्रचार हुआ और भक्तिमार्गको प्रधानता मिलने लगी तो हिंसाप्रधान श्रौत यज्ञोंका प्रचार कम होते-होते नहींके बराबर रह गया । मनु आदि स्मृतिकारोंने अहिंसात्मक 'पञ्चमहायज्ञों'का विधान किया है । उनका वर्णन विशेषतया स्मृतियोंमें मिलनेके कारण उन्हें 'स्मार्त यज्ञ' कहते हैं । इनका खुलासा हम पहले कर चुके हैं । इसके अतिरिक्त ब्राह्मण, क्षत्रियादि वर्णोंके कर्तव्यकर्म—तप, स्वाध्याय, युद्ध, वाणिज्य, सेवा आदिको उन-उन वर्णोंके लिये 'यज्ञ' माना है । अहिंसा, सत्य, दान, दया आदि सर्वोपकारक धर्मोंको भी 'यज्ञ' के अन्तर्गत समझा गया है । महाभारतके अश्वमेधपर्वमें एक अलौकिक नेवलेने एक दरिद्री भिखमंगे ब्राह्मणके अन्न-दानकी योग्यताको युधिष्ठिरके बृहत् अश्वमेधयज्ञके महत्त्वसे भी अधिक ठहराया है (महा० अश्व० ९०) । गीताके उक्त 'यज्ञ-चक्र'के वर्णनमें भी 'यज्ञ' शब्दका तात्पर्य मनुष्योंके उन भिन्न-भिन्न कर्तव्य-कर्मोंसे है, जो उन्हें वेद-शास्त्रके विधानसे या सामाजिक व्यवस्था और परिस्थितिके अनुसार प्राप्त हुए हैं । इन्हीं विहित कर्मोंको शास्त्रकारोंने 'धर्म' कहा है । इस व्यापक परिभाषामें 'यज्ञ' शब्दके लोकप्रसिद्ध किन्तु सङ्कुचित अर्थका भी समावेश हो जाता है । गीताके पूर्वापरप्रसङ्गको देखनेसे यही अर्थ निकलता है 'यज्ञचक्र'की मीमांसा करनेसे ठीक पहले "(हे अर्जुन ! तुम कर्तव्यकर्म करो'

यज्ञसे वृष्टि, वृष्टिसे अन्न और अन्नसे जीव पैदा होते हैं । ये जीव फिर भी वेदाध्ययन करते हैं; फिर कर्म, यज्ञ, वृष्टि आदिका चक्र जारी हो जाता है । कुछ विद्वान् 'ब्रह्म'का अर्थ 'वेद' मानते हुए भी वेदको 'यज्ञचक्र'के अन्तर्गत नहीं समझते, क्योंकि उनके मतानुसार, और अङ्गोंकी तरह वेद जीवोंसे पैदा नहीं होते—उन दोनोंमें कार्यकारण-भाव नहीं बतलाया जा सकता ।

गीताके टीकाकार वेङ्कटनाथने 'ब्रह्म'का अर्थ 'वेद' बतलाते हुए 'अक्षर'का अर्थ प्रणव—ॐ—किया है, जिसे गीताने वेदोंका कारण बतलाया है (१७ । २३) । उन्होंने मध्वाचार्यकी तरह 'उत्पत्ति'वाचक शब्दोंका मतलब 'अभिव्यञ्जन' किया है । जीवोंके उच्चारणसे ही प्रणवकी अभिव्यक्ति होती है, इसलिये हम उन्हें प्रणवका कारण कह सकते हैं । इस मतके अनुसार यज्ञचक्र 'सप्ताङ्ग' हो जाता है, जिसका स्वरूप नीचे देते हैं—

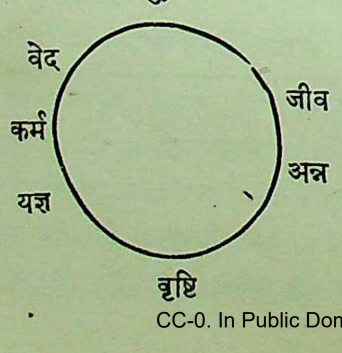

(गीता ३ । ८)। ऐसा प्रतिपादन करके उपसंहारमें भगवान्ने कहा है—'इसलिये (हे अर्जुन !) तुम आसक्तिरहित होकर हमेशा अपना कर्तव्यकर्म करो । यही नहीं, चतुर्थ अध्यायमें भी 'यज्ञके लिये काम करनेवालेके समग्र कर्म विलीन हो जाते हैं', (गीता ४ । २३)—इस प्रकार प्रारम्भ करके भगवान्ने इन्द्रियसंयम, चित्तनिरोध, तप, योग, स्वाध्याय, शास्त्रीय ज्ञान, प्राणायाम आदि कर्मोंको 'यज्ञ' कहा है और इनके करनेवालोंको 'यज्ञवित्' (गीता ४ । ३०) बतलाते हुए इन शब्दोंसे विषयका उपसंहार किया है—'इस तरह नाना प्रकारके यज्ञोंका विस्तार वेदोंमें मिलता है' (गीता ४ । ३२)। इतना ही नहीं, द्रव्यसाध्य यज्ञोंकी अपेक्षा ज्ञानयज्ञको श्रेष्ठता भी दी गयी है (गीता ४ । ३३) । स्वयं भगवान्का यह वाक्य—'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि'—'जितने भी यज्ञ हैं, उन सबमें मैं 'जपयज्ञ' हूँ' (गीता १० । २५) । कोई सन्देह ही नहीं छोड़ता कि गीतामें 'यज्ञ' शब्द बड़े व्यापक अर्थमें व्यवहृत हुआ है—इसका मतलब 'श्रौत यज्ञ' नहीं है, बल्कि 'कर्तव्य-कर्म' है । गीताके प्रसिद्ध टीकाकार मधुसूदन सरस्वती तथा श्रीधरस्वामीने भी यही अर्थ किया है—'अत्र च यज्ञग्रहणमावश्यककर्मोपलक्षणार्थम्' अर्थात् 'इन श्लोकोंमें 'यज्ञ' शब्द अवश्य किये जानेयोग्य कर्मोंके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है'; 'यज्ञो धर्माख्यः, यज्ञेन विहितकर्मकलापेन स्वाश्रमोचित-धर्मेण' यानी 'यज्ञका अर्थ धर्म है; शास्त्रविहित वर्णाश्रमोचित कर्तव्यकर्म है' (देखिये श्रीधरी तथा मधुसूदनी टीका, गीता ३ । १०, १४) ।

न केवल गीताहीमें, किन्तु उससे भी प्राचीन तथा तत्समसामयिक ग्रन्थोंमें भी 'यज्ञ' शब्द उक्त व्यापक अर्थमें व्यवहृत हुआ है । उदाहरणके लिये राजर्षि मनुने 'पञ्च महायज्ञों' का विधान करनेके बाद कहा है कि कुछ 'यज्ञशास्त्रज्ञ पुरुष' इन यज्ञोंको न करके केवल इन्द्रियसंयम, वाक्संयम, प्राणायाम, ज्ञान आदि यज्ञोंका अभ्यास करते हैं । (मनु० ४ । २२—२४) । इसी तरह 'तपोमूलमिदं सर्वं दैवमानुषकं सुखम्'—'मनुष्यों और देवताओंके सब सुखकी जड़ तप है' (मनु० ११ । २३४) । ऐसा कहकर 'तप' का स्वरूप इस तरह बतलाया है—

ब्राह्मणस्य तपो ज्ञानं तपः क्षत्रस्य रक्षणम् ।
वैश्यस्य तु तपो वार्ता तपः शूद्रस्य सेवनम् ॥

(मनु० ११ । २३५)

अर्थात् 'ब्राह्मणका तप ज्ञान, क्षत्रियका तप प्रजापालन, वैश्यका तप वाणिज्य और शूद्रका तप सेवा है ।' महाभारत-कारने भी ब्राह्मणादि वर्णोंके भिन्न-भिन्न कर्तव्योंके विधिवत् पालनको क्रमशः उन लोगोंके लिये 'यज्ञ' बतलाया है—

आरम्भयज्ञाः क्षत्राश्च हविर्यज्ञा विशः स्मृताः ।
परिचारयज्ञाः शूद्राश्च जपयज्ञा द्विजातयः ॥

(महा० शान्ति० २३७ । १२)

अर्थात् 'क्षत्रियोंका यज्ञ (युद्ध आदि) उद्योग है; वैश्योंका यज्ञ होम, शूद्रोंका यज्ञ सेवा और ब्राह्मणोंका यज्ञ जप है ।' इस तरह शास्त्रोक्त चातुर्वर्ण्यव्यवस्थाके अनुसार विहित सब कर्म यज्ञ है । चूँकि इन कर्मोंके विधिवत् करते रहनेसे सृष्टिचक्रका धारण होता है, इसलिये इन्हें 'धर्म' कहा है—

धारणाद्धर्म इत्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः ।
यत्स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः ॥

(महा० कर्ण० ६९ । ५९)

अर्थात् 'धर्म प्रजाको धारण करता है । धारण करनेके कारण ही—विद्वानोंने इसे 'धर्म' कहा है, इसलिये यही निश्चय किया गया है कि जिससे प्रजाका धारण होता है, वही धर्म है ।' इन कर्मोंके धारण करनेकी योग्यताका प्रतिपादन मनुने किया है—

सर्वस्यास्य तु सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाद्युतिः ।
मुखबाहूरुपादानां पृथक्कर्माण्यकल्पयत् ॥

(१ । ८७)

अर्थात् 'उस महातेजस्वी ब्रह्माने समस्त सृष्टिकी रक्षाके लिये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रके पृथक्-पृथक् कर्मोंकी रचना की ।' स्वामी श्रीशङ्कराचार्यजीने भी अपने गीताभाष्य-के उपोद्घातके प्रारम्भमें लिखा है—

स भगवान् सृष्ट्वेदं जगत्तस्य च स्थितिं चिकीर्षुर्मरीच्यादीनग्रे सृष्ट्वा प्रजापतीन् प्रवृत्तिलक्षणं धर्मं ग्राहयामास वेदोक्तम्।

'उस परमेश्वरने पहले सृष्टिकी रचना की । तदनन्तर उसको कायम रखनेकी इच्छासे मरीचि आदि प्रजापतियों-को पैदा करके उन्हें वेदोक्त प्रवृत्तिरूप धर्म सिखलाया ।' इससे दो बातें स्पष्ट हैं—(१) प्रभुको इस जगत्की स्थिति अभीष्ट है, (२) इस स्थितिके लिये कर्म करना आवश्यक है । उस सर्वनियन्ता जगदीश्वरकी आज्ञासे अग्नि, सूर्य आदि देवगण प्रकाश और उष्णता देते हैं; वायु प्रतिक्षण बहता हुआ

जगत्को प्राण देता है; जलसे जीवन और पृथ्वीसे भरण-पोषणके तत्त्व मिलते रहते हैं; मेघ वर्षा करता है; काल मास, ऋतु, संवत्सर आदिके परिवर्तनके द्वारा और नदियाँ अपने जलकी सिंचाईसे सृष्टिचक्रको मदद पहुँचाते हैं। इसी तरह मृत्यु भी अपने प्राणहरणरूप नियत कर्ममें अप्रमत्तभावसे लगा रहता है। भाव यह है कि प्रकृतिके सब देवगण ईश्वर-द्वारा नियत किये गये अपने-अपने कर्तव्यको सृष्टिके प्रारम्भसे करते चले आ रहे हैं। मनुष्य भी अपने सामान्य और विशेष कर्तव्यके पालनमें लगे रहते हैं। कर्मके इस विवेचनसे समग्र जगत् एक 'कर्ममय महायज्ञ' दीख पड़ता है, जिसमें देवता और मनुष्य सभी यथायोग्य अपनी-अपनी कर्ममय आहुति देते रहते हैं। जबतक नियत कर्मोंके अनुष्ठानद्वारा यह महायज्ञ सुचारुरूपसे होता रहता है, तबतक सब लोग शान्त, सुखी, समृद्ध और स्वार्थरहित होनेके कारण दुःख-विमुक्त रहेंगे। ऐसे आदर्श समयको 'कृतयुग' यानी कर्मका युग कहते हैं। इसीका दूसरा नाम 'सत्ययुग' है। महाभारतमें कहा है—

> यद्येकान्तिभिराकीर्णं जगत्स्यात् कुरुनन्दन ॥
> अहिंसकैरात्मवद्भिः सर्वभूतहिते रतैः।
> भवेत्कृतयुगप्राप्तिराशीःकर्मविवर्जिता ॥
>
> (शान्ति० ३४८। ६२-६३)

'हे कुरुनन्दन! यदि यह संसार निष्काम कर्मयोगी, अहिंसक, जितेन्द्रिय और सब प्राणियोंके हितकर्ता मनुष्योंसे भर जाय तो अपने-आप 'सत्ययुग' आ जायगा, जिसमें सब लोग निःस्वार्थ भावसे कर्म करेंगे।' यह कई बार कहा जा चुका है कि—जगत्कर्ता ईश्वरकी इच्छा जगत्को स्थायी रखनेकी है, इसलिये इसकी स्थितिके लिये चींटीसे ब्रह्मा-पर्यन्त सब प्राणियोंको अपना-अपना कर्म सँभलाकर वह स्वयं एक निष्पक्ष न्यायाधीशकी तरह बैठा हुआ है। जो अपने-अपने कर्म-धर्म—का पालन करते हैं, उनका सुख-शान्ति-पूर्वक धारण-पोषण होता रहता है। यज्ञकर्मसे विमुख जाति और व्यक्तिको दैहिक, दैविक और भौतिक दुःखद्वारा दण्ड मिलता है; इसीलिये उपनिषत्कारने कहा है—

> महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥

अर्थात् 'वह परब्रह्म भयंकर वज्रकी तरह स्थित है—जो ऐसा जानते हैं, वे अमर हो जाते हैं (कठ० २।३।२)। इस कारणसे मनुस्मृति और महाभारतमें कहा है—

> धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
> तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ॥
>
> (८। १५; वन० ३१३। १२८)

'धर्मकी हत्या करनेसे धर्म उस मनुष्यका नाश कर डालता है; पालन करनेसे धर्म उसकी रक्षा करता है, इसलिये धर्मको नष्ट नहीं करना चाहिये, जिससे नष्ट हुआ धर्म हमारा नाश न कर डाले।' उस सर्वेश्वरके डरसे सूर्य, इन्द्र, अग्नि आदि देवता तो अपने-अपने कर्तव्यको सावधानीसे करते रहते हैं (देखिये कठ० २। ३। ३), किन्तु मनुष्य-जाति प्रमादके वशीभूत हो इस यज्ञचक्रसे विमुख या उदासीन हो बैठती है, इसलिये उसकी कर्माहुतिसे होनेवाले वृष्टि, सस्य आदि फल धीरे-धीरे बंद हो जाते हैं। जिस प्रकार किसी यन्त्र या चक्रके एक पुर्जेके बेकार हो जानेसे तमाम मशीन गड़बड़ हो जाती है, उसी प्रकार मनुष्यकी कर्तव्यविमुखतासे 'यज्ञचक्र' की चाल बेढंगी हो जाती है। इससे भी बढ़कर जब मानवजाति मदोन्मत्त होकर निषिद्ध कर्मोंके सेवनसे 'यज्ञचक्र' को पूरा नुकसान पहुँचाने लगती है तो वह जगन्नियामक परमेश्वर जिसे सृष्टिचक्रकी स्थिति पूर्णतया अभीष्ट है—महायुद्ध, महामारी आदिके रूपमें अपना भयंकर प्रकोप प्रकट करके उसका संहार करता हुआ जगच्चक्रको फिर विधिवत् चालू कर देता है।

यज्ञचक्रसे विमुख रहने-वालेकी निन्दा

जब कि उक्त कथनानुसार स्वार्थ और लोकसंग्रह—दोनोंकी दृष्टिसे कर्ममय यज्ञचक्रमें लगे रहना मनुष्यमात्रका परम कर्तव्य है तो फिर—

> एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
> अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥
>
> (गीता ३। १६)

अर्थात् 'इस प्रकार (ईश्वरद्वारा) चलाये हुए इस (यज्ञ-) चक्रके अनुसार जो मनुष्य बर्ताव नहीं करता है, उसका जीवन पापमय है, क्योंकि वह (कर्तव्यकर्मोंको छोड़कर) विषय-भोगमें फँसा हुआ है। हे अर्जुन! ऐसे मनुष्यका तो संसारमें जीना ही व्यर्थ है।'

(अपूर्ण)

कामके पत्र

(१)

वैराग्य और भजन कैसे हो ?

× × × × आपका एक पत्र पहले मिला था। कुछ दिन बाद दूसरा भी मिला। पहले पत्रका जवाब नहीं दिया जा सका, इसके लिये किसी प्रकारका विचार नहीं करना चाहिये। आप मेरे पत्रकी प्रतीक्षा करते रहते हैं, यह आपके बड़े प्रेमकी बात है। इतना प्रेम करनेवाले प्रेमियोंको मैं समयपर उनके पत्रका उत्तर भी नहीं लिख पाता, इस अपराधसे छूटनेके लिये भी प्रेमियोंके प्रेमका ही भरोसा है। अपनी शक्तिसे तो कुछ होता नहीं दीखता। प्रेमके सामने कोई शक्ति कुछ काम भी नहीं करती। 'हर समय वैराग्य बना रहे तथा भगवान्का स्मरण होता रहे।' इस तरहकी आपकी अभिलाषा बहुत ही सराहनीय है। जगत्की अनित्यता, दुःखरूपता और भयानकताका अच्छी तरह ज्ञान होनेके बाद जगत्के पदार्थोंमें आसक्ति नहीं रहती। जबतक इनमें नित्यता, सुख और रमणीयता भासती है तभीतक इनमें राग है। इसके लिये बार-बार संसारके भोगोंमें जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधिरूप दुःख-दोष देखना चाहिये तथा सत्संग, विचार और विवेकके द्वारा रमणीयता, सुख और नित्यताका बाध करना चाहिये। वास्तवमें ये सब विषय जिस रूपमें दीखते हैं, उस रूपमें हैं ही नहीं। हमें अपनी मोहाच्छादित दृष्टिके कारण ही इनका सरूप यथार्थ नहीं दीखता, इसीसे इनमें फँसावट हो रही है। जहरसे भरे हुए नकली सोनेके घड़ेके समान, अथवा सुगन्धित इत्र आदि वस्तुओंसे ढकी हुई विष्ठाके समान, अथवा सोनेकी खोलीसे मढ़े हुए जहरी सर्पके समान, अथवा राखसे ढकी हुई प्रबल अग्निके समान संसारके विषय बार-बार मृत्यु देनेवाले, घृणित, जहरीले तथा जलानेवाले हैं। इस प्रकार समझकर—तथा इनकी परिवर्तनशीलता, क्षणभङ्गुरता, दृष्टिभेदसे अनुकूल एवं प्रतिकूलरूपता, वियोगशीलता, मृत्युमयता आदिपर विचार करके इनसे मन हटाना चाहिये। इनका रूप जब ठीक-ठीक समझमें आ जायगा तब इनमेंसे राग निकलकर आप ही इनसे वैराग्य हो जायगा। फिर जिस प्रकार हम जान-बूझकर अफीम नहीं खाते, अग्निमें हाथ नहीं डालते, साँपको हाथमें नहीं लेते, विष्ठाको नहीं छूते—इसी प्रकार विषयोंसे अलग हो जायँगे। इनमें प्रीति होना तथा उन्हें ग्रहण करना तो अलग रहा—इनका चिन्तन भी हमें नहीं सुहावेगा। विषयोंकी चर्चा भी खारी लगने लगेगी।

इसी प्रकार भगवान्का स्मरण न होनेमें भी प्रधान कारण भगवान्के यथार्थ तत्त्व, प्रभाव, रहस्य, महिमा और गुणोंके ज्ञानका अभाव ही है। श्रीभगवान्के एक भी गुणका रहस्य, एक भी नामकी महिमा, एक भी चरित्रका प्रभाव, एक भी शक्तिका तत्त्व जान लिया जाय अथवा एक भी रूपकी जरा-सी भी झाँकीका ज्ञान भी हो जाय तो फिर भगवान्से क्षणभरके लिये भी चित्त न हटे। फिर विषयोंमें दुःख-दोष देखकर उनसे चित्त हटानेकी आवश्यकता नहीं रहती, अपने-आप ही विषयोंमें आसक्ति नष्ट हो जाती है। जिस प्रकार सूर्य भगवान्के उदय होनेपर दीपककी ओर कोई आकर्षण नहीं रहता, इसी प्रकार भगवान्की जरा भी झाँकी होनेके बाद विषयोंका सब रस फीका हो जाता है। असल बात तो यह है कि फिर उसकी तात्त्विक दृष्टिमें विषयोंका अस्तित्व ही नहीं रहता। एकमात्र सच्चिदानन्दघन भगवान्की ही अखण्ड, अचल, सनातन, अज, अविनाशी,

सर्वव्यापिनी सत्ता रह जाती है। उसे फिर आनन्दघन परमात्माके सिवा और कुछ नहीं भासता। इस अवस्थामें उससे परमात्माका असली भजन अपने-आप ही होने लगता है। वास्तवमें सूर्य और दीपकके उदाहरणकी तुलना परमात्माके ज्ञान और विषयोंके साथ नहीं हो सकती, तथापि समझनेके लिये उदाहरण दिया जाता है।

संसारके विषयोंका स्वरूप तथा परमात्माकी महिमाको यथार्थ रूपसे जाननेके लिये सत्संग तथा भजन ही प्रधान साधन है। वैराग्यवान् सच्चे विरक्त, अनन्य भगवत्प्रेमी और सम्यग्दर्शी ज्ञानियोंके सत्संगसे विषयोंकी तथा भगवान्‌की स्वरूप-स्थिति सुनने-जाननेमें आती है। फिर भजन करनेसे मलका नाश होनेपर सुनी तथा जानी हुई बातोंको हृदय ग्रहण करता है। इसलिये जहाँतक बन पड़े सर्वस्व त्याग कर भी भजन तथा सत्संगके लिये मनुष्यको पूरा प्रयत्न करना चाहिये।

हर समय नामजप कैसे हो ?

'हर समय भगवान्‌के नामका जप हुआ करे' इसका उपाय पूछा सो स्वाभाविक नाम-स्मरण तो भगवान्‌का महत्त्व जाननेसे ही होता है। भगवान्‌के नामपर जितना-जितना विश्वास, प्रेम बढ़ता है, उतना-उतना ही नामजप अधिक हो सकता है। भगवान्‌के नाममें भूल होनेमें अभ्यासकी कमी भी कारण है; परन्तु प्रधान कारण तो विश्वास और प्रेमकी कमी ही समझना चाहिये। विश्वास तथा प्रेम भी भजन और सत्संगसे ही होते हैं। इसलिये सत्संग तथा नामजप-रूपी भजनका ही विशेष अभ्यास करना चाहिये। भजन करते-करते--भगवान्‌के नामजपका अभ्यास करते-करते विश्वास बढ़कर नामजपमें अपने-आप ही प्रगति हो सकती है। नामजपमें असली उन्नति तभी समझनी चाहिये, जब नामजपमें भूल नहीं हो तथा एक-एक नाममें ऐसा महान् आनन्द आवे कि जिसकी तुलना सम्राट्-पदकी प्राप्तिसे भी न हो सके तथा इतना प्रेम उपजे कि नाम-स्मरणके साथ ही रोमाञ्च, अश्रुपात, गद्गदवाणी आदि होने लगे।

महापुरुषकी महिमा

महापुरुषोंकी दया बाबत लिखा सो तो ठीक है; परन्तु मुझे आप महापुरुष समझते हैं, यह आपकी गलती है। मैं तो साधारण आदमी हूँ। यों तो एकलव्य भीलने पत्थरकी मूर्तिको भी अपनी श्रद्धासे द्रोणाचार्य समझ लिया था। इसी तरह आप किसीमें भी महापुरुषकी भावना कर सकते हैं; किन्तु सचमुच मैं तो महापुरुषोंकी चरणधूलिका भी भिखारी मात्र हूँ। रही महापुरुषोंकी दयाकी बात, सो महापुरुषोंकी तो सभीपर स्वाभाविक दया सर्वदा रहती है, किसीको सच्चे महापुरुष मिल जायँ तो उसका सहज ही कल्याण हो सकता है। उनके महापुरुषत्वपर और उनकी दयापर विश्वास करनेवाला और उनकी आज्ञा और रुचिके अनुसार आचरण करनेवाला एक-से-एक उत्तरोत्तर श्रेष्ठ है। अपनेको महापुरुषकी शरण कर दे तथा महापुरुषकी रुचिके अनुसार जीवन बना ले, तब तो उसी क्षण कल्याण हो जाय।

आपकी श्रीगङ्गाजीके तटपर जानेकी बहुत इच्छा होती है, सो श्रीगङ्गाजीका तट तो परम पवित्र है एवं वहाँ निवास करना भी बड़े सौभाग्यका चिह्न है। परन्तु कभी कहीं जाने-आनेका सङ्कल्प न करके श्रीभगवान्‌के नामका जप विशेष प्रेम तथा विशुद्ध मुख्य भावसे करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। भगवान्‌के नामसे सब कुछ सहज ही हो सकता है।

(२)

काम न छोड़कर भजन बढ़ाना चाहिये

सप्रेम हरिस्मरण! भगवान्‌की दी हुई सौगातको सिर चढ़ाना चाहिये और भगवान्‌के विधानको आनन्दपूर्वक सिर झुकाकर स्वीकार करना चाहिये। मानो

यह आपको तपा-तपाकर खरा सोना बनानेके लिये भगवान्की कृपासे ही व्यवस्था हुई है, यह समझना चाहिये । जरा भी मनमें क्षोभ मत कीजिये ।

श्री······जी यहाँ आये थे । बड़े प्रेमसे कहते थे 'श्री······जी (अर्थात् आपको) खूब फटकार लिखिये, उनको बड़ा लोभ हो रहा है, इतने रुपयेका क्या करेंगे, रोज भीख-सी माँगते फिरते हैं । भजनमें क्यों नहीं लगते ।' मैंने उनसे कहा—'आपके साथी मित्र हैं, आप ही कहिये ।' व्यापारका हाल लिखा सो ठीक, आपने लिखा कि 'व्यापारका झंझट छूटता नहीं, परन्तु भगवत्स्मरणके बिना जीवन सूखा-सा प्रतीत होता है, आनन्द नहीं आता ।' बस, यह पिछली बात बड़ी सुन्दर है—इसमें बड़ी आशा भरी है । 'भगवत्स्मरणके बिना आनन्द न आना, जीवन नीरस-सा प्रतीत होना'—बड़े ही शुभ लक्षण हैं । इन शुभ लक्षणोंको भजन-स्मरण तथा स्वाध्यायके द्वारा बढ़ाते रहिये । फिर व्यापार न छूटनेपर भी छूट जायगा । व्यापार छोड़नेकी जरूरत भी नहीं है । जरूरत तो है आसक्ति छोड़नेकी । आज मान लीजिये, आपने उकताकर, जोशमें आकर या किसीके कहनेसे व्यापार छोड़ दिया, कल पश्चात्ताप होने लगा कि 'यह तो बहुत ही बुरा हुआ । व्यापार हाथसे जाता रहा । अब मैदानसे हट गये तो पहले-जैसा जमनेका नहीं । क्या करें ।' ऐसी अवस्थामें उलटा चित्तमें विषाद होगा । चित्त भगवान्में लगने लगे, उसमें आनन्दका अनुभव हो और वह आनन्द विषयोंकी प्राप्तिके आनन्दसे बहुत ही विलक्षण तथा श्रेष्ठ प्रतीत हो, तभी छोड़नेकी बात करनी चाहिये और तब बात करनी पड़ती नहीं । नीरस चीज रसीली वस्तुके सामने आप ही छूट जाती है । नहीं छूटती तो उसमें खिंचाव—आसक्ति नहीं रहती । इसलिये अभी आप छोड़िये नहीं । भजनमें मन अधिक लगाइये । सच्ची बात तो यह है—'श्रीभगवान् ही जीवनका प्रधान लक्ष्य हैं' ऐसा निश्चय हुआ नहीं; निश्चय होनेपर तो अपने-आप उससे विरोधी रास्तेसे जीवन हट जायगा । तब भी निराश होनेकी बात नहीं है । भगवान् सबके सुहृद् हैं, आप उनका नाम जपते हैं । नाम अपनी शक्तिसे आप ही काम करेगा । घबराइये नहीं—स्मरण-भजन बढ़ाते रहिये । होने लगे तब कंजूसके धनकी भाँति उसे पकड़ रखिये । मनसे कहिये—'चिन्तनरूपी धन मिलनेपर, रे दरिद्र ! तू उसे छोड़ता क्यों है ?' स्मरण न रहे तब पश्चात्ताप होना चाहिये, सो तो आपको होता ही है । श्रीभगवान्का भजन आप ही बल पैदा करेगा । भरोसा करके भजन कीजिये ।

(३)

पापसे बचनेके उपाय

सप्रेम हरिस्मरण ! आपका ७ जुलाईका खेदपूर्ण पत्र मिला । आपको अपने छोटे भाईकी असामयिक मृत्युके लिये जो खेद है, वह स्वाभाविक ही है । उसकी मृत्युमें आपका दूसरोंको ठगनेका सङ्कल्प ही कारण था या उसका अपना अदृष्ट—यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता । तथापि उसकी मृत्युमें आपका दोष न होनेपर भी आपकी अबतक जो प्रवृत्ति रही है उसके लिये आपको जितना खेद हो, उचित ही है । जैसे-तैसे मनुष्य-जीवन मिला । वह कितने दिन रहेगा—इसका भी पता नहीं; फिर उसीके कुछ कल्पित सुभीतेके लिये पापाचारका आश्रय लेना परम दुर्भाग्य नहीं तो क्या है ? यह जीवन तो केवल श्रीभगवान्की प्राप्तिके लिये ही होना चाहिये । यह दूसरोंके दुःख और तापका कारण बने, इससे बढ़कर शर्मकी बात और क्या हो सकती है ?

परन्तु अबतक यह जैसा बीता, उसे जाने दीजिये । अब उसके लिये पश्चात्ताप करने या रोने-धोनेसे कुछ बनना नहीं है । जरूरत है भविष्य सुधारनेकी । दिन भरका भूला यदि शामको घर लौट आवे तो भूला नहीं माना जाता । इसलिये पापमय जीवन भी यदि कोई

ठक्कर खाकर सुधर जाय तो भगवान्‌की विशेष कृपा ही समझनी चाहिये । इस दुर्घटनासे यदि आपका जीवन निष्पाप और प्रभुपरायण हो जाय तो लौकिक दृष्टिसे बड़ी हानि होनेपर भी आपके लिये तो लाभकी ही बात होगी । परन्तु यह कहा नहीं जा सकता कि आपका आजका पश्चात्ताप भविष्यमें ठहरेगा या नहीं । कष्ट पड़नेपर एक बार तो प्रायः सभीकी आँखें खुल जाती हैं । परन्तु कालकी ऐसी अद्भुत महिमा है कि धीरे-धीरे वह बड़े-से-बड़े दुःखको भी भुला देता है और मनुष्य फिर अपनी वासनाओंका दास होकर मनमाना नाच नाचने लगता है । यदि आप शान्ति चाहते हैं तो अनन्य भावसे भगवान्‌की शरण लीजिये । हर-समय उन्हींका नामजप कीजिये । सब प्रकार कुसंग, कुविचार और कुप्रवृत्तियोंसे दूर रहिये । भजनमें बड़ी शक्ति होती है । वह आपके सारे जीवनको बदल सकता है । जब जीवन बदलेगा और आपमें सत्त्वगुणका विकास होगा तो जो लोग आज आपसे घृणा करते हैं, वे ही प्रेम करने लगेंगे । पहले आप अपनेको शुद्ध कीजिये । उनकी घृणाको अपने पापोंका दण्ड समझकर उनका उपकार मानिये और घृणाके बदलेमें भी उनसे प्रेम कीजिये । बाहर कहीं मत जाइये, उन्हींमें रहिये और उनके तिरस्कारको सहन कीजिये । यह सहनशीलता ही आपके चित्तको शुद्ध कर देगी ।

यह निश्चय मानिये कि जिस दिन आपका मन अपने पूर्वजीवनकी ओरसे सर्वथा उदासीन होकर श्रीभगवान्‌के भजनमें अनन्यभावसे लग जायगा, उसी दिन आप सर्वथा शुद्ध हो जायँगे । गीताजीमें स्वयं श्रीभगवान्‌ने कहा है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥

अर्थात् 'कोई बड़ा भारी भी दुराचारी हो, किन्तु यदि वह अनन्यभावसे मेरा भजन करने लगे तो उसे साधु ही समझना चाहिये, क्योंकि अब उसका निश्चय ठीक हो गया है ।'

अतः अब आप अपना निश्चय ठीक करके भगवद्भजनमें लग जाइये । कम-से-कम एक लाख भगवन्नामका नित्य जप कीजिये । यदि आजीविकाके लिये कोई काम करनेके कारण इतना समय न मिले तो कम कीजिये, किन्तु हर समय भगवान्‌की स्मृति रखिये । बिना संख्याके चुपचाप जीभसे नाम-जप करते रहिये । सबके प्रति सम्मान और सेवाका भाव रखिये । सब प्रकारके पापोंसे दूर रहिये । बहुत सादगीसे कम खर्चसे रहिये और जहाँतक सम्भव हो अपने खाने-पीने लायक पैसा स्वयं ही पैदा कीजिये; किन्तु वह आमदनी किसी पापपूर्ण साधनसे नहीं होनी चाहिये । आपके वहाँ ही जो सत्पुरुष हों—उनका संग कीजिये । अभी बाहर कहीं जानेकी जरूरत नहीं है । कम-से-कम छः महीने यदि ठीक साधन चलता रहे तो पीछे कहीं जानेका विचार कर सकते हैं । अभी तो वहीं रहकर मनकी गति परखिये ।

ब्रह्मचर्य-रक्षाके साधन

ब्रह्मचर्यकी रक्षाके लिये नीचे लिखी बातोंपर ध्यान रखिये—

१—जान-बूझकर कभी किसी स्त्रीकी ओर मत देखिये ।

२—स्त्रियोंकी चर्चामें कभी सम्मिलित मत होइये । ऐसा कोई साहित्य नहीं पढ़ना और नाटक-सिनेमा भी नहीं देखना चाहिये ।

३—जब कामोत्तेजना हो तो एक गिलास ठंडा जल पी लीजिये तथा एकान्तमें न रहकर चार आदमियोंके पास आकर कोई सत्-चर्चा चला दीजिये । जोर-जोरसे नामकीर्तन कीजिये ।

४—यदि यज्ञोपवीत हो गया हो तो नित्यप्रति कम-से-कम एक घंटा स्थिर आसनसे बैठकर गायत्रीका ज

कीजिये । यज्ञोपवीत न हुआ हो तो १४ माला 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥' इस मन्त्रका जप कीजिये । आसनोंमें सिद्धासन विशेष उपयोगी रहेगा ।

५–शौच जानेके समय मूत्रेन्द्रियको ठंडे जलसे धोइये ।

६–नित्यप्रति पवित्र जीवनके लिये रोकर भगवान्से प्रार्थना कीजिये ।

७–सब प्रकारकी शौकीनी—जैसे नाटक-सिनेमा देखना, पान-सिगरेट खाना, इत्र-सेंट लगाना, मद्य-मांसादि सेवन करना अथवा बाबुआना वस्त्र धारण करना, सिरपर जुल्फ़ रखना आदिसे एकदम दूर रहिये । जबतक शौकीनी रहेगी, ब्रह्मचर्यकी रक्षा असम्भव है ।

८–मिर्च-मसाला आदि छोड़कर सादा भोजन कीजिये । मिठाई अधिक न खाइये ।

आशा है, ऊपर जो कुछ निवेदन किया गया है, उसपर यदि आप ध्यान देंगे तो अवश्य आपको कुछ सहायता मिल सकेगी । अधिक क्या लिखूँ ? शेष भगवत्कृपा ।

(४)

असली धन कमानेके साधन

काम-काज मजेमें चलता होगा । रुपये कमाते ही होंगे । असली धन कमानेका भी कुछ खयाल रखते हैं या नहीं ? मायाकी मोहिनीमें फँसकर प्रवाहमें बह न जाइयेगा । यह सत्य है और निस्सन्देह है कि किसी भी प्रकारसे भगवान्का थोड़ा-सा भजन किया हुआ भी मनुष्यको छोड़ता नहीं, वह स्वयं कभी नष्ट न होकर उसे बार-बार भगवान्की ओर प्रेरित करता रहता है और मौका पाते ही इस लोक या परलोकमें उसे परमात्माके पावन पथमें लगा ही देता है ।

'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ।'

इसी प्रकार महापुरुषका संग भी महान् भयसे तारनेवाला होता है । आपने महापुरुषका संग किया या नहीं, इस बातका तो पता नहीं; परन्तु भगवान्का भजन तो किया ही है । यही कारण है कि वह अब भी समय-समयपर आपके चित्तमें भजनकी प्रेरणा करता है और अपना अनुमान तो यही है कि देर-सवेर आपको वह सीधी राहपर लाकर ही छोड़ेगा । आप जरा सावधान रहेंगे, और प्रवाहमें सहज ही नहीं बहेंगे तो उसे अपने कार्यमें सुविधा होगी ।

आपका यह लिखना कि 'मेरा ऐसा विश्वास है कि आपके आदेशके अनुसार करनेपर जरूर लाभ होता है ।' मेरे प्रति आपका अकृत्रिम प्रेम प्रकट करता है । इस प्रेमके कारण ही आपको ऐसा भासता है । मैं तो आपके इस प्रेमका ऋणी हूँ ही । वस्तुतः मैं यदि कभी कोई ऋषिप्रणीत शास्त्रोंके अथवा महात्माओंके द्वारा अनुभूत साधन-सम्बन्धी बात कह देता हूँ और उसके अनुसार करनेपर किसीको लाभ होता है तो इसमें श्रेय उन ऋषियों और संतोंको है अथवा श्रद्धानुसार साधन करनेवाले साधकको । ग्रामोफोनके रिकार्डमें यदि सुन्दर गान सुना जाता है, उसमें रिकार्डका क्या है । जो कुछ है सो गान गानेवाले, भरनेवाले और सुननेवालेके ही पुरुषार्थका फल है । मुझे तो जड रिकार्ड-सा समझना चाहिये । आपने पूछा कि 'मुझे किस-किस समय क्या-क्या करना चाहिये, पहलेकी भाँति रातमें या दिनमें कुछ करनेका आदेश मिलना चाहिये ।' सो आदेश देनेका तो मुझमें न अधिकार है न मेरी योग्यता है, आपके प्रेमके भरोसे नम्र सलाह देनेमें संकोच अवश्य ही नहीं होता और इसी अभिप्रायसे नीचे कुछ लिखता हूँ । समय, सुविधा और चित्तकी अनुकूलता हो तो इसके अनुसार श्रद्धापूर्वक करना चाहिये । श्रद्धा फलवती तो होती ही है ।

(१) दूसरेका अहित करनेकी या अहित देखनेकी भावना मनमें कभी न आने पावे । याद रखना चाहिये

कि दूसरेका अहित चाहनेवालेका परिणाममें कभी हित नहीं होता ।

(२) परस्त्रीकी ओर बुरी दृष्टि कभी नहीं होनी चाहिये ।

(३) व्यापारमें यथासाध्य सत्य, न्याय और पर-हितका खयाल रखना चाहिये ।

(४) लोभकी वृत्तियोंको यथासम्भव दबाना चाहिये ।

(५) नित्य-निरन्तर भगवान्‌के नामका स्मरण और जप करते हुए ही संसारके काम करनेकी चेष्टा करनी चाहिये ।

(६) सबमें—खास करके जिनसे व्यवहार हो उनमें —परमात्माकी भावना करके मन-ही-मन उन्हें नमस्कार करना चाहिये; तथा इस तत्त्वको याद रखते हुए ही व्यवहार करना चाहिये ।

(७) किसी मनुष्यमें भी—खास करके सत्पुरुषमें दोषबुद्धि नहीं करनी चाहिये ।

(८) यथासाध्य वाणीको असत्य, परनिन्दा, परचर्चासे बचाना चाहिये, और पराया अहित हो, ऐसी बात तो करनी ही नहीं चाहिये ।

(९) अपनी धर्मपत्नीको प्रेमके व्यवहारसे परमात्माकी ओर लगाना चाहिये । रामायणादि पढ़नेका अभ्यास और नामजपका अभ्यास डलवाना चाहिये । विषयोंकी ओर उनका प्रलोभन न बढ़ने पावे । विषयासक्ति आपमें भी नहीं बढ़नी चाहिये ।

(१०) बहिनोंके साथ अधिक-से-अधिक अच्छे-से-अच्छा उदार व्यवहार करना चाहिये ।

अब आपके लिये कुछ खास साधन लिखता हूँ ।

(१) दोनों वक्त सन्ध्या-वन्दन और एक-एक गायत्रीकी मालाका जप यथासाध्य ठीक कालपर करना चाहिये ।

(२) प्रातःकाल पाँच माला 'ॐ नमः शिवाय' की शुद्ध बुद्धि प्राप्त करनेके उद्देश्यसे जपनी चाहिये ।

(३) रातको सोनेसे पूर्व ग्यारह माला या कम-से-कम सात माला षोडश नामके महामन्त्र (हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥) की जपनी चाहिये ।

(४) कुत्ते और गौओंको रोज कुछ रोटी, घास तथा दीन-दुखियोंको यथायोग्य कुछ सहायता अवश्य करनी चाहिये ।

(५) कमाईमेंसे कुछ हिस्सा भगवान्‌की सेवाके लिये निकालना चाहिये और उसे जमा न करके हाथों-हाथ खर्च कर देना चाहिये ।

(५)

जगत्‌का स्वरूप और मनुष्यका कर्त्तव्य

सादर हरिस्मरण ! आपका पत्र मिले बहुत दिन हो गये, उत्तर लिखनेमें विलम्ब हो गया, इसके लिये क्षमा करें । आपके विस्तृत पत्रके उत्तरमें मेरा तो यही निवेदन है कि इस दृश्यमान जगत्‌में जन्म-मरणका खेल अविराम चल रहा है । यहाँ इस प्रकृतिके जादूघरमें कुछ भी स्थिर या नित्य नहीं है । संहारको हृदयसे लगाये हुए ही सृजनका उदय होता है । आज जो सुन्दर है, मनोहर है, सौन्दर्य-माधुर्यसे भरा है, सरल बालकेलिसे सबको प्रमुदित कर रहा है, वही कुछ दिनोंमें यौवन, जरा और व्याधिकी घाटियोंको लाँघता हुआ आसन्नमृत्यु होकर—अत्यन्त कुरूप, भीषण, मलिन, बीभत्स, दुर्गन्धयुक्त और महान् दुःख-दोषमय बनकर सबके लिये कष्टप्रद हो जाता है और अन्तमें केवल आत्मायुक्त सूक्ष्मशरीरसे वियुक्त होकर तो वह सर्वथा घृणित, हेय, अस्पृश्य हो जाता है एवं बिना किसी सहानुभूतिके हम उसे श्मशानमें ले जाकर फूँक डालते हैं या भीषण सुनसान स्थानमें जमीन खोदकर गाड़ देते हैं । यही तो परिणाम है इस शरीरका ! आज

प्यारी पत्नी, प्राणप्रियतम पति, श्रद्धास्पद माता-पिता, अभिन्नहृदय मित्र, प्राणोंके पुतले प्यारे पुत्र आदिको परस्पर पाकर सब अपनेको परम सुखी समझते हैं, सबके प्राण हँसते हैं; परन्तु दूसरे ही दिन मृत्युके भयानक आघातसे हमारे ये प्राणप्यारे आत्मीय निधन हो जाते हैं, हमारा प्यारका भण्डार लूट लिया जाता है। हम हाय-हाय करते हैं, रोते हैं, चिल्लाते हैं, पर कुछ भी नहीं कर पाते। यही हाल संसारकी सभी चीजोंका है। असलमें यह अपनापन, यह ममता ही हमारे दुःखोंमें हेतु है। जो पाकर हँसता है, उसको खोकर उससे कई गुना अधिक रोना ही पड़ता है और यहाँका यह पाना होता ही है खोनेके लिये—जन्म होता ही है मृत्युके लिये——संयोग उत्पन्न ही होता है वियोगके निश्चित विधानको साथ लेकर ! हम कुछ दिन रोते हैं, दुखी होते हैं, फिर उसी भाँति हम भी इस चोलेको छोड़कर नयेके लिये चलते हैं; चोला पुराना होनेपर भी मोह-वश छोड़ते हम घबड़ाते हैं; ममत्वके कारण किसी प्रकारकी भी जरा भी विनाशकी आशङ्का हमें व्याकुल कर देती है; परन्तु विनाश तो अवश्यम्भावी है; नवीन सृजनके लिये उसकी आवश्यकता है, वह होता ही है और होता ही रहेगा। कबतक ? सो कौन कह सकता है। परन्तु इतना तो कहा जा सकता है कि यह जन्म-मरणयुक्त जगत् चाहे सदा रहे; परन्तु इसमें हमारा जो विषयोंके साथ ममत्वका सम्बन्ध है, वह तो सदा कभी नहीं रहेगा। आज हम अपने इस शरीरमें माता, पिता, स्त्री, स्वामी, पुत्र-कन्या आदिसे प्रेम करते हैं, उनके बिना क्षणभर भी नहीं रह सकते। उनका जरा-सा अदर्शन भी हमें असह्य हो जाता है। पर जब हम उन्हें छोड़ जाते हैं और दूसरे चोलेमें पहुँच जाते हैं, तब उनकी याद भी नहीं करते। न मालूम कितनी बार कितनी योनियोंमें हमारे प्रिय माता, पिता, स्त्री, पुत्र, यश, कीर्ति, घर, जमीन हो चुके हैं, परन्तु आज हमें उनकी याद भी नहीं है। हमारे वे पहलेके माता-पिता कहाँ——किस दशामें हैं, हमारी प्राणप्रियतमा पत्नी किस शरीरमें है, उसकी क्या दशा है ? हमारे आत्मासे भी बढ़कर प्यारे पुत्र-पौत्र किस स्थितिमें हैं। हमें क्या उनका कुछ भी पता है ? हमें उनकी दशा जाननेके लिये कुछ भी उत्कण्ठा, इच्छा या जिज्ञासा है ? हम उन्हें भूल गये हैं। जैसे हम उन्हें भूल गये हैं, वैसे ही वे भी हमें भूल गये हैं। उनको भूलकर आज हम अपने नये संसारमें, नये घरमें, नये सम्बन्धियोंके प्रेममें मस्त हैं। आगे चलकर इनको भी भूल जायँगे। ऐसे विनाशी क्षणस्थायी सम्बन्धको यथार्थ सम्बन्ध समझकर सुखी-दुखी होना मूर्खता नहीं तो क्या है ! ऐसे सम्बन्धको लेकर ममत्व करना और फिर रोना-पीटना धोखा ही तो है। इसमें जो नित्य है, सत्य है, जिससे कभी विछोह नहीं होता, जो सदा साथ ही रहता है और रहेगा, उसीसे प्रेम करना चाहिये। वे हैं श्रीकृष्ण। उन्हींके अनेकों नाम हैं। हैं वे एक ही। वे ही हमारे सब अवस्थाओंके और सब समयके मित्र हैं; वे नित्य सुन्दर हैं, मधुर हैं। वे सदाके संगी हैं, वे हमारे प्राणोंके प्राण हैं, आत्माके आत्मा हैं। इन श्रीकृष्णको छोड़कर अन्य जिस किसीसे भी प्रेम करोगे उसीमें धोखा होगा, जिसको चाहोगे वही दगा देगा। न मालूम हमने कितनी योनियोंमें सुखके संसार रचे हैं, वहाँ हमारे सभी सम्बन्धी थे। हम सबको धोखा दे आये। आज उनकी तनिक भी चिन्ता हमें नहीं है। वे हमसे प्रेम करते थे; परन्तु हमसे उन्होंने क्या पाया ? बस, यही बात है। इसलिये एकमात्र श्रीकृष्णको ही अपना समझो। उन्हींसे प्रेम करो। सबमें उन्हींको देखकर फिर सबसे प्रेम करो। किसीमें खास ममत्व नहीं करना चाहिये। जीवन-मृत्यु उनका—श्रीकृष्णका खेल है। सबमें सब समय सब ओरसे उन्हींको देखो, उन्हींको पकड़ लो। तभी जीवन

सार्थक होगा, तभी सुखके, सच्चे सुखके—परमानन्दके यथार्थ दर्शन होंगे !

(६)

भगवान्‌के विधानमें आनन्द

सादर हरिस्मरण ! आपके कई पत्र आये, मैं समयपर उत्तर नहीं दे सका । कोई विचार न करें । एजेन्सीका काम न होनेपर आपने जिस भावसे इसको ग्रहण किया, वह बहुत ही ठीक है । कर्मके प्रत्येक फलमें इसी प्रकार भगवान्‌की दयाको देखना चाहिये । आपने लिखा कि 'जैसे नारदजीको भगवान्‌ने विवाह नहीं करने दिया, वैसे ही मुझको भी इस काममें सफल नहीं किया । काम हो जाता तो मैं फँस जाता !' सो ठीक ही है । ऐसा ही मानना चाहिये । काम होनेपर यह विचार करना चाहिये कि 'यह मेरे पुरुषार्थका फल नहीं है, और मुझे इसमें कोई आसक्ति या फलकामना भी नहीं है । भगवान्‌ने इस काममें दया करके ही मुझे नियुक्त कर दिया है । अतएव भगवान्‌के आज्ञानुसार भगवान्‌की प्रीतिके लिये उत्साह, सावधानी और धर्मपूर्वक सत्य और न्यायको साथ रखते हुए मैं यह सेवा करूँ ।' और न होनेपर—'न होनेमें ही कल्याण है, इसीलिये भगवान्‌ने नहीं होने दिया ।' यह विश्वास करके आनन्दमग्न रहना चाहिये । 'होने' और 'न होने' दोनोंमें ही हर्ष-विषादका विकार न होकर दोनोंमें ही भगवान्‌की कृपाका अनुभव करना चाहिये । 'न होनेमें' जैसे दुःखका विकार होता है, वैसे ही 'होनेमें' सुखका विकार होता है । विकार होते ही भगवान्‌की विस्मृति हो जाती है । 'न होनेमें' तो भगवान्‌का स्मरण होता भी है; परन्तु 'होनेमें' भगवान्‌का स्मरण छूटना बहुत सहज है । अतएव किसी भी हालतमें मनमें विकार न होकर सदा प्रभुकी स्मृति बनी रहे और प्रभुका स्मरण करते हुए ही प्रभुके सौंपे हुए कार्यको प्रसन्नतापूर्वक करें । ऐसी ही भक्तकी धारणा होनी चाहिये । मेरी धारणामें भी आपके यह काम न होना अच्छा ही हुआ । मैंने बहुत डरते हुए ही शिफारिश की थी ।

आपकी यह प्रार्थना भी बहुत ही सुन्दर है कि 'भगवान् सब जीवोंपर पूर्ण दया करके एक बार अपना लें और भगवान्‌की सच्ची भक्तिका प्रचार सारे विश्वमें हो जाय ।' बड़ी ही सद्भावना है । परन्तु यह जान रखना चाहिये कि सभी जीवोंपर सदा ही भगवान्‌की पूर्ण दया है । हाँ, भक्तिका प्रचार होनेसे ही सब जीव इस दयाको समझ सकते हैं । भक्तिका प्रचार हो—इस प्रकारकी भावना करना बहुत उत्तम है ही । परन्तु साथ ही भगवत्कृपाका अनुभव करते हुए हमलोग भक्त बनते रहें तो एक-एक करके विश्वके सभी लोग भक्त बन सकते हैं । भगवान् तो भक्तिके प्रचारमें सहायक होंगे ही । परन्तु भक्ति प्रचारकी वस्तु है नहीं । यही बड़ी अड़चन है । वह तो करनेकी चीज है । आपका स्वास्थ्य अच्छा होगा ।

(७)

भगवान्‌का स्वभाव

सप्रेम सादर यथायोग्य । आपका पत्र मिला । उसमें प्रेम और आपके हृदयकी भावुकता भरी है । सच्ची भावुकतामें एक मिठास होती है, वह इसमें मुझको मिली । मेरा इतना ही निवेदन है कि इस भावुकता और अनुरक्तिके प्रवाहका मुख श्रीनन्दनन्दनकी ओर मोड़ दीजिये । आप धन्य हो जायँगे । मैं तो क्षुद्र प्राणी हूँ; मुझमें जो आपको इतनी महत्ता दीखती है, यह आपकी सरल भावना है । आप सच मानिये—मुझमें अगणित दुर्बलताएँ हैं, असंख्य दोष हैं ।

आपने लिखा 'मुझमें एक भी अच्छी बात नहीं है जिसके फलस्वरूप मैं आपको प्रसन्न कर सकूँ ।'

पण्डितजी ! मैं हृदयसे कहता हूँ---आपके प्रति मैं कभी अप्रसन्न हुआ ही नहीं । चाहता हूँ, किसीके प्रति भी मैं अप्रसन्न न होऊँ । अप्रसन्नताका कोई कारण भी तो हो । सभी मेरी प्रशंसा करते हैं, मुझे बड़ा बतलाते हैं, मेरा सम्मान करते हैं, मेरी सेवा करना चाहते हैं । ऐसी दशामें नीच स्वार्थी भी अप्रसन्न नहीं हो सकता, मुझे तो थोड़ी बुद्धिका भी घमंड है । फिर मेरी प्रसन्नताका मूल्य ही क्या है । न तो यह प्रसन्नता सुख दे सकती है, न दुःख ही टाल सकती है, और रागद्वेषके अनित्य ढाँचेमें रहनेवाली होनेसे इसके स्थायी होनेकी भी सम्भावना नहीं है । मैं तो यह समझता हूँ कि जिस प्रकारका भाव आप मुझ तुच्छ प्राणीके प्रति दिखलाते हैं, ऐसा उस प्रेमके समुद्र, दयाके अखण्ड स्रोत, सुख, शान्ति और आनन्दके खजाने श्रीश्याम-सुन्दरके प्रति रक्खें तो निश्चय ही आप उनके 'प्रिय पात्र' हो जायँ । आपकी सारी अयोग्यताएँ, सारी त्रुटियाँ उनकी पलकके इशारेमात्रसे महान् दिव्य गुणोंके रूपमें पलट जायँ । वे तो योग्यता नहीं देखते; त्रुटियोंको तो अपने हाथोंसे सुधार देते हैं—पापोंका बोझ अपने सरपर उठाकर उसे समुद्रमें बहा आते हैं । वे तो चाहते हैं—सिर्फ हृदयका सच्चा भाव । उनको सच्चे भावसे अपनी 'बाँह गहा दीजिये' भाव देखते ही वे स्वयं आकर बाँह पकड़कर आपको अपने हृदयसे लगा लेंगे । उनका एक स्वभाव है—वे जिसे ग्रहण कर लेते हैं—उसे छोड़ना नहीं जानते, चाहे वह कोई कैसा ही क्यों न हो । उसमें अगर कोई पाप-ताप रहता है तो स्वयं उसे दूर करके उसको निर्मल बना लेते हैं । मातृपरायण बच्चेका मल जननी ही तो धोती है । भाव निर्मल हो, भावोंके प्रवाहका मुख भगवान्की ओर मुड़े—इसके लिये उनके नामका जप कीजिये । आपने दो बातें पूछी थीं । दोनों ये हैं—वस्तु है भावको भगवान्में अर्पण करना, और करनेके लिये उपाय है नाम-जप ।

मेरे प्रति आपका जो प्रेमभाव है, मेरे इस पत्रसे उसका तिरस्कार न समझिये । यह तो मैंने सच्ची स्थिति लिखी है । तुच्छ मनुष्य बालूकी भीतके समान अनित्य है । उसका अपना ही कोई पता नहीं है, तब वह दूसरोंका क्या कर सकता है । परन्तु इसमें प्रेमका क्या सम्बन्ध है, वह तो हृदयकी चीज है, किसीपर भी हो सकती है । आप अगर यह कहें तो मैं इसे स्वीकार करता हूँ और आपके प्रेमको सिर-माथेपर स्वीकार करता हूँ । मैं तो आपलोगोंके प्रेमका ऋणी हूँ । क्या कहूँ, सच्चे प्रेमका बदला कोई होता ही नहीं, जो कोई चुका सकें । प्रेम तो सदा ही अपना ऋण बढ़ाता ही रहता है । यह उसका स्वरूप है । × × × ×

कुबुद्धि पुरुषोंके लिये जिसका त्यागना अति कठिन है, जो मनुष्यके जराजर्जरित होनेपर भी जीर्ण नहीं होती तथा जो जीवनको नष्ट कर देनेवाला महारोग है, उस तृष्णाका त्याग कर देनेवाले पुरुषको ही सुख प्राप्त होता है । पृथ्वीमें जितने भी धन-धान्य, सुवर्ण और स्त्रियाँ हैं, वे एक मनुष्य-के लिये भी पर्याप्त नहीं हैं । इसलिये तृष्णाका त्याग करना चाहिये ।

—महाभारत

वही होली

(गीत)

(१)

आ गई आज वही होली !
एक बार खेली सतयुगमें, धन्य नाम प्रहलाद ।
नास्तिकताका नाम मिटाया, दिया भक्ति-संवाद ॥
हिमालय पर्वतसे गिरकर
गजाननके पदसे दबकर
आगमें सोना-सा तपकर
प्रकृति-वादके औघड़ मतमें ब्रह्म-ग्रन्थि खोली !
आ गई आज वही होली !

(२)

खेली थी होली मनमानी, परशुरामका नाम ।
राजा लोग लड़े आपसमें, कर शेखीके काम ॥
हो गया अहं किया अभिमान
कर उठे गुरुपदका अपमान
धनी बन देते थे तम-दान
राजवंशके लाल-खूनसे भरी गई झोली ।
आ गई आज वही होली !

(३)

एक बार खेली त्रेतामें, रामचन्द्र अवतार ।
अजर अमर रावण भी मारा, कुमति लंक-संहार ॥
शान्तिकी सीता लाये ग्राम
लक्ष्यका रक्खा लक्ष्मण नाम
प्राण था हनूमानका काम
भक्तिरूप श्रीभरत—गालपर—मली लाल रोली !
आ गई आज वही होली !

(४)

होली खेली अवध नगरमें, चारों भाई संग ।
फूलबागमें सखा जुड़े सब, ले पिचकारी रंग ॥
रामकी ऊँची टोपी पर
सन्दली पीली कुर्ती पर
मलमली उजली धोती पर
रँग फेंका—पर बूँद न पहुँची—जाने कब धोली !
आ गई आज वही होली !

(५)

एक बार द्वापरमें खेली, कृष्णचन्द्रके संग ।
बेला भर भर कर पी ली थी, चिदानन्दकी भंग ॥
ज्ञानसे होकर निपट अनंग
दिखाये गीतावाले अंग
पाप पर पड़ा धर्मका रंग
कैसी चली इसी दिल्लीमें चट पट चट गोली !
आ गई आज वही होली !

(६)

अब क्या खेलें होली होली, होली होली हाय ।
मिथ्या धर्म और मत झूँठे, रहें जगतमें छाय ॥
अवस्था होलीकी गंभीर
कौनसे मुखपर मलें अबीर
हाय ! होलीसे होती पीर
भारतभरमें घूम रही है हिजड़ोंकी टोली !
आ गई आज वही होली !

(७)

होली अब भविष्यकी साजो, त्याग भेद अज्ञान ।
होली चलो खेलने उनसे जो मालिक भगवान ॥
एकताकी लेकर रोली
संगठनकी खेलो होली
सीख लो प्रेमपूर्ण बोली
आओ सखे मिलें आपसमें ज्यों दामन चोली !
आ गई आज वही होली !

—शिवनारायण वर्मा

उसने क्या कहा ?

(लेखक—**श्रीईश्वरचन्द्रजी तिवारी**)

आज मैंने उसको गाँवके बाहर पाकड़के वृक्षके नीचे पड़े देखा । गुदड़ी उसके सिरके नीचे थी और फटी पगनियाँ बगलमें । मेरी जिज्ञासा स्फुरित हुई । केवल कुतूहलवश ही मैं उसकी ओर चल पड़ा । यों तो वह किसीको अपने पास आते देखकर उठकर चल देता था; परन्तु आज वह शान्त था । मैं उसके समीप पहुँच गया ।

वह कोढ़ी थोड़े-थोड़े समयके अन्तरपर अपना सारा शरीर खुजाने लगता; उसके शरीरकी तीव्र दुर्गन्ध बरबस ही नासिकामें प्रवेश कर रही थी । मेरी आँखें उसकी गुदड़ीपरके चिल्लुओंको देखनेमें व्यस्त थीं ।

मेरे वहाँ जानेसे उसके सहज कार्य-क्रममें तनिक भी बाधा नहीं आयी । वह एक ईंटके टुकड़ेसे खेल रहा था । केवल शरीरपर भिनभिनानेवाली मक्खियाँ बीच-बीचमें उसके शरीरको एकबारगी ही हिला देती थीं ।

मैंने उसके मुखपर एक अनोखी शान्ति और आभा देखी । यद्यपि उसके कपड़ोंकी बूसे नाक फटी जाती थी; परन्तु फिर भी न मालूम किसने मुझे बैठ जानेको प्रेरित किया और मैं बैठ गया ।

मैं उसका परिचय पूछनेवाला ही था कि वह हँसा और उसने मेरी ओर दृष्टि फेरी । वैसे तो मैं सभी फकीरों और भिखमंगोंके पीछे कुत्ते लगा दिया करता था, इसमें मुझे मज़ा भी आता था; परन्तु आज मैं उस कोढ़ीके सामने करबद्ध बैठा था । मुखसे बोलनेकी चेष्टा करनेपर भी कोई शब्द न निकला । मेरा मस्तक कुछ झुक गया——आँखोंकी पलकें नीची हो गयीं ।

वह उसी प्रकार पड़ा रहा । मैं भी आरामसे बैठ गया । 'देखो' वह बोला, 'परमात्मा कितना दयालु है ?' और ईंटके ढेलेको चकरीकी भाँति घुमाने लगा ।

मैं सुन रहा था——

उसने फिर कहा——'उससे जो कोई कुछ चाहता है, उसे वह सब कुछ दे डालता है ।'

वह मुझे समझाता गया——'चाहना—अर्थात् प्रार्थना करना, इसका अर्थ है—निवेदन—आत्म-निवेदन । सब प्रकारके उसका बन जाना ।

यही है परमात्माको पानेका अति सुगम सर्वश्रेष्ठ साधन ।

जब तुम प्रार्थना करते हो तो भूल जाते हो कि क्या करें । परमात्मासे माँगने लगते हो—और माँगते भी हो वहाँ वह वस्तु, जिसे माँगते तुम्हें शरम आनी चाहिये । जरा सोचो तो, यदि तुम किसी चक्रवर्ती राजाके दरबारमें कभी पहुँचो और उससे एक सड़ी वस्तु—कूड़े-करकटकी याचना करो तो यह उसका उपहास करना ही तो होगा ? वह तो महान् शक्तिशाली है, तुम्हें पलभरमें निहाल कर सकता है ।

पर जब तुम सबसे बड़े दरबार—परमेश्वरके दरबारमें प्रवेश करते हो, तो वहाँ उसके राज्यकी हीन वस्तुएँ कञ्चन-वैभव आदि विषय ही क्यों माँगते हो ? क्या तुम 'उसकी' दृष्टिमें इतने हीन हो ? अथवा क्या तुम्हारी अत्यधिक दीनता और सन्तोष तुम्हें उसका पुत्र माननेका अधिकारी नहीं समझते ?

परमेश्वरसे माँगो मत कुछ भी !

तुम्हारी कमीज फटनेके पूर्व और जूते जीर्ण होनेके पहले ही पिताजी तुम्हें ये वस्तुएँ ला देंगे । वे कभी नहीं देख सकते कि उनका लाड़ला आज्ञाकारी पुत्र कभी नंगा अथवा भूखा रहे । तुम्हें जन्म देनेवाला तुम्हारी आवश्यकताओंको उनके उत्पन्न होनेके पूर्व ही जानता है, तुम्हें बतलानेकी आवश्यकता नहीं ।

अपनी बिखरी शक्ति बटोर लो—फिर तो परमेश्वर तुम्हें अपने दरबारका मन्त्री चुन लेंगे । माँगो मत ।

शीशमकी लकड़ीको तुम कभी चूल्हेमें न पाओगे।

इस मायाके संसारमें कौन है वह, जो तुम्हें उच्च पद प्रदान करेगा ?

तुम्हें कोई खोदकर धन-राशि देनेवाला नहीं है। 'लो बाबा! यह गठरी ले जाओ' ऐसा कोई न कहेगा। यहाँ सभी अपने-अपने कार्योंमें व्यस्त हैं। तुम्हें स्वयं यह खुदाई अपने-आप करनी होगी।

चिल्लाओ मत; शोर न करो। इससे कुछ न होगा।

'स्लाट'में खोटी इकन्नी डालनेसे टिकट नहीं निकल सकता।

ध्यान देनेकी बात है—यदि सुबह-शाम ग्रामोफोन-में चाभी दे दी जाय और रेकार्ड बजता रहे, 'हे प्रभु! हे भगवन्! हे दीनदयालो! सर्वजगरक्षक! मेरी विनती सुनो। मैं तुम्हें कितनी देरसे पुकार रहा हूँ, तुम सुनते नहीं, क्या कभी न सुनोगे? तुमने लाखों तारे हैं। हमें भी तार दो...' आदि-आदि' तो इससे क्या होगा? ग्रामोफोन स्वयं अपना अथवा संसारका कौन-सा कल्याण कर सकेगा? यह उसकी आत्मा बोलती है अथवा शरीर?

तुम भूल जाते हो, गानेकी कल मात्र न बनो। प्रार्थना करो—द्रवित हृदयसे।

स्वयं परमात्मामें घुस जाओ, वहाँसे खोद लाओ जितना दामनमें उठा सको। हाथ फैलानेकी क्या आवश्यकता? जितना घुसोगे, उतना ही श्याम-रंगमें रँग जाओगे।

कुएँमें पानी भरने जाओ तो अध-बीचहीसे गगरी न खींच लो। फिर एक प्रश्न यह और है—गगरी भरनी है या स्वच्छ जल चाहिये? स्वच्छ जलके लिये धैर्यपूर्वक कुएँमें रस्सी लगाकर गगरी खींचनी होगी। गगरी तो बरसाती गढेसे भी भरी जा सकती है।

प्रार्थना आलसियोंकी पुकार नहीं है।

वह तो भगवत्-परायण भक्तोंका स्वभाव है।'

इतना कहकर उसने मेरी ओर मुख फेरा और प्रश्न किया—'क्या तुम प्रतिदिन प्रार्थना करते हो?'

मैंने लज्जाग्रस्त हो कहा—'नहीं।'

उसने फिर मुझसे परन्तु बड़े मधुर भावसे पूछा, 'क्यों भाई?'

मैंने जवाब दिया—'करना तो चाहता हूँ; परन्तु शरम लगती है कि कहीं कोई देख लेगा तो क्या कहेगा। 'अभीसे बुढ़ापा आ गया' कहकर लोग मुझे परेशान करेंगे।' मेरी बात सुनकर साधुको बड़ी हँसी आयी। तीन-चार मिनटतक वह लगातार हँसता ही रहा। फिर बोला—'यह तो ऐसी शङ्का है जैसी कि एक सती नारीको हो सकती है कि....'

मैंने बात काटकर पूछा—'कैसी?'

'कि उसे कोई अपने पतिके पास देख लेगा तो क्या कहेगा? दोषी मन सदा शङ्काशील रहता है।' वह फिर हँस पड़ा और उसके शरीरकी मक्खियाँ हवामें मँडराने लगीं।

'मेरे नवयुवक!' उसने कहा—'तुम्हें बतलाया गया है कि तुम क्लर्क होगे, रुपये कमाओगे और घरका पालन करोगे। यदि तुम भूल जाते कि तुम केवल रुपया पैदा करनेकी मशीन हो और यह भी ध्यानमें रखते कि अन्य रुपया पैदा करनेवाली मशीनोंका कुछ भी प्रभाव तुमपर न पड़ेगा, तो तुम एक बड़ी निधिके मालिक हो सकते थे और तुम्हें यह शङ्का भी न होती; परन्तु खैर। जाओ, अब भी कोशिश करो। अभी कुछ नहीं बिगड़ा है।'

मैंने उसे प्रणाम किया और अपने मकानकी ओर चला आया। बादमें उस साधुको खोजनेका प्रयत्न किया; परन्तु सब व्यर्थ—

परमार्थ-पत्रावली

(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

प्रणाम । आपका पत्र यथासमय मिला । आपने मुझे 'पूज्य संत महाराज' आदि लिखा, ऐसा नहीं लिखना चाहिये था । वैसा लिखकर आप मुझे संकोचमें डालते हैं । मैं तो एक साधारण मनुष्य हूँ । हाँ, मेरी यह इच्छा अवश्य रहती है कि लोग भगवान्‌की ओर प्रवृत्त हों, भगवान्‌में प्रेम बढ़े, भक्ति बढ़े; सदाचारका प्रचार हो, सात्त्विक वृत्तियोंका विकास हो । इसलिये जो भी भगवान्‌की भक्तिमें प्रवृत्त होते हैं और पवित्र जीवन व्यतीत करना चाहते हैं, वे मुझे प्रिय लगते हैं । हमारा-आपका सम्बन्ध मित्रताका ही होना चाहिये ।

मैंने आपको पहले भी लिखा था और पुनः लिख रहा हूँ कि माता-पिताकी आज्ञामें रहकर ही साधन-भजन करना चाहिये और इधर-उधर भागकर नहीं जाना चाहिये । माता-पिताके आदेशकी अवहेलना करके काशी जानेकी अपेक्षा उनकी आज्ञा और आदेश मानकर घरमें रहकर साधन-भजन करना अधिक श्रेयस्कर है ।

आपको अध्ययन आदिसे समय कम मिलता है और इसलिये आप पूर्णतः सारा समय साधन-भजनमें नहीं लगा सकते--इस बातको लेकर मनको दुखी नहीं कर लेना चाहिये । आपको अध्ययनसे जितना भी अवकाश मिले, उसे अवश्य साधन-भजनमें लगाना चाहिये और शेष समयमें निरन्तर भगवान्‌का स्मरण करते हुए अपना कार्य करना चाहिये । स्वयं भगवान्‌ने (गीता अध्याय ८ श्लोक ७ में) कहा है—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥

'इसलिये अर्जुन ! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर; इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन, बुद्धिसे युक्त हुआ निःसन्देह मुझको ही प्राप्त होगा।'

मुख्यबुद्धिसे भगवत्स्मरण और गौणबुद्धिसे और सारे कार्य किस प्रकार किये जा सकते हैं, इसके लिये विशेष युक्तियाँ गीतातत्त्वाङ्कमें आठवें अध्यायके सातवें श्लोकपर लिखित व्याख्यामें देखनी चाहिये । उससे आपका पूरा समाधान हो जानेकी आशा है । आपको सवा दो घंटेका जो समय मिलता है, उसका अधिक-से-अधिक उपयोग करना चाहिये और शेष समयमें भगवान्‌का स्मरण करते हुए अपना निर्दिष्ट कर्तव्य करना चाहिये ।

हरिनाम बिना मनुष्य वैसा ही है, जैसा दीपकके बिना मन्दिर—आपका यह लिखना सर्वथा सत्य है । अतएव आप नाम-साधनामें अधिक-से-अधिक लगिये ।

आप 'राम-कृष्ण-हरि' नामका जप करते हैं---यह बड़ी उत्तम बात है । इसे अधिक-से-अधिक बढ़ाइये । इन्हीं नामोंका यह मन्त्र है--

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

इस मन्त्रमें राम-कृष्ण-हरि--इन नामोंके सोलह नाम आते हैं । कलिसन्तरणोपनिषद्‌में इस महामन्त्रकी बड़ी महिमा कही गयी है । अस्तु, आप इसी महामन्त्रका आश्रय लें तो बहुत उत्तम होगा ।

आपके प्रश्नोंका उत्तर इस प्रकार है—

(१) इस कलियुगमें भगवान्‌का दर्शन अवश्य हो सकता है—भगवत्कृपासे, भगवत्प्रेमसे ।

(२) भगवान्‌के चौबीस अवतारोंमें श्रीराम और श्रीकृष्ण इसलिये मुख्य हैं कि इनके द्वारा साधुओंका उद्धार, पापियोंका संहार और धर्मकी स्थापना विशेष-रूपमें हुई । भगवान्‌के अवतारका यही उद्देश्य है और इन उद्देश्योंकी पूर्ति विशेषरूपसे राम और कृष्णके अवतारोंमें ही हुई । गीता अध्याय ४ श्लोक ८ देखिये—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥

इस श्लोकपर 'गीतातत्त्वाङ्क'में प्रकाशित भाष्य देखना चाहिये ।

(३) नाम जपते-जपते भगवान्‌का दर्शन अवश्य प्राप्त होता है। नाम जपते-जपते भक्त प्रेमसे भगवान्‌में तन्मय—तल्लीन हो जाता है। उदाहरणके लिये श्रीगौराङ्ग महाप्रभुका दृष्टान्त सर्वोत्तम है।

(४) प्रह्लाद, शुकदेवकी तरह हमें भी भगवान् मिल सकते हैं, यदि हम उनकी तरह दत्तचित्त होकर साधना करें। भगवान्‌की दया और कानून सबके लिये समान हैं; फिर हमलोग उनके शरण होकर प्रयत्न करें तो दर्शन क्यों नहीं हो सकता ? उनकी कृपा तो नित्य सबके लिये समान है।

(५) मल-मूत्र करते समय भगवान्‌के राम-कृष्ण-हरि आदि नामोंका उच्चारण मन-ही-मन कर सकते हैं—वैदिक मन्त्रोंका नहीं। वैदिक मन्त्रोंके उच्चारणके लिये सर्वथा शुद्ध रहना अनिवार्य है।

(६) 'हरे राम०' मन्त्रका प्रेमसे जप करनेपर भगवान् अवश्य मिल सकते हैं। कब मिलते हैं, यह तो भगवान् ही जानते हैं। भक्तकी समस्त शुभ इच्छाओंको भगवान् पूरा करते ही हैं।

(७) केशव विष्णुभगवान्‌का ही नाम है।

(८) भगवान्‌के कल्कि अवतारमें चार लाख वर्षसे भी अधिककी देर है।

(९) यह बतलाना कठिन है कि गीताप्रेसमें किसीको भगवान्‌का साक्षात्कार हुआ है या नहीं। जिसे साक्षात्कार होता है, वह बतलाता नहीं और जो बतलाता है, उसपर श्रद्धा नहीं होती। यह तो स्वसंवेद्य विषय है। इसलिये कहना कठिन है कि किसे ईश्वर-साक्षात्कार हुआ है, किसे नहीं।

(१०) काशीमें मरनेसे अवश्यमेव मुक्ति होती है, क्योंकि इसमें शास्त्रवचन प्रमाण है। शास्त्रोंमें श्रद्धालुओंको विश्वास रखना चाहिये।

(११) मृत्युके समय नामका स्मरण या स्वरूपका ध्यान—दोनों या दोनोंमें कोई एक भी हो तो मुक्ति हो जाती है।

(१२) अनन्य भक्ति करनेवाला जिस प्रकारकी मुक्ति चाहता है, वैसी ही मुक्ति उसे मिलती है।

(१३) गायत्रीका जप सब प्रकारसे पवित्र होकर करना चाहिये। भगवन्नामका जप किसी भी अवस्थामें किया जा सकता है।

(१४) मिथ्याकी अपेक्षा मौन उत्तम है। मौनसे भी सत्य बोलना श्रेयस्कर है।

(१५) सच्चिदानन्द परमात्माके ही ब्रह्मा-विष्णु-महेश आदि अनेक रूप हैं। अतः विष्णु ही शिव हैं, शिव ही विष्णु हैं। इनमें अभेदबुद्धि रखते हुए अपने इष्टदेवमें अनन्यभाव रखना चाहिये और उसीकी उपासना करनी चाहिये।

(२)

प्रेमपूर्वक हरिस्मरण ! आपका पत्र यथासमय मिला, समाचार विदित हुआ। आपने एक संन्यासीके विषयमें लिखा सो मैं उनके व्यक्तित्वसे तो परिचित नहीं हूँ; परन्तु आपके समाचारोंसे यह बात समझमें आती है कि वे भी सम्भवतः कोई वैसे ही बने हुए संन्यासी होंगे। धर्मप्रचारके बहाने अपनी भोगवासनाओंकी पूर्ति करनेकी इच्छासे घूमा करते हैं।

गीता-जयन्तीके उत्सवपर कुछ लोगोंने उनको व्याख्यान देनेके लिये बुला लिया, यह अवश्य गलती हुई। आजकलके अन्धश्रद्धालु भोले भाई प्रायः इसी तरहकी भूल कर बैठते हैं। यदि वे हमारे ऋषि-मुनियोंद्वारा रचित आर्ष ग्रन्थोंका भाव समझते होते तो ऐसी गलती नहीं करते।

आपने लिखा कि कितने ही गीताप्रेसकी पुस्तकें पढ़नेवाले भाइयोंने भी उक्त संन्यासीको अपना गुरु बनाया है; इससे तो यही समझमें आता है कि वे लोग हमारी प्रार्थनाका और गीताप्रेसकी पुस्तकोंका भाव अभीतक नहीं समझ पाये हैं। समझ लेते तो ऐसी गलती नहीं करते।

आपने पूछा कि ऐसे संन्यासीको जिन्होंने गुरु मानकर उनसे गुरु-मन्त्र ले लिया है, वे लोग क्या उस गुरुका त्याग कर सकते हैं । इसके उत्तरमें इतना ही कहना काफी है कि अपनी गलतीका सुधार करनेके लिये मनुष्य सदा ही स्वतन्त्र है । वास्तवमें गुरु तो वही है, जो अपने शिष्यको संसार-चक्रसे निकालकर कल्याणकी ओर अग्रसर करे । नहीं तो फिर वह गुरु ही कैसा । कालनेमि भी तो हनुमान्जीका गुरु बना था । क्या उन्होंने उसका कुछ मुलाहिजा रखा ?

आपने पूछा कि दूसरा कोई भाई उनको गुरु बनानेके लिये पूछे तो उसको क्या कहना चाहिये । इसका यह जवाब है कि ऐसे भोले भाईको सच्चे गुरुओंके लक्षण और सदाचारसे परिचय कराके वैसे गुरुकी खोज करनेके लिये कहना चाहिये और ढोंगियों-से बचनेके लिये सावधान कर देना चाहिये ।

संन्यासीजीके उपदेशका जो अंश आपने क्रमसे लिख भेजा है, उसका क्रमशः उत्तर इस प्रकार है—

(१) प्रारब्धके अनुसार जो कुछ प्राप्त हो, उसे भोग लेनेमें पापका तो कोई सवाल ही नहीं उठता; क्योंकि प्रारब्धभोग तो पुण्य और पापरूप पूर्वकृत कर्मोंका फल है । उसे भोगनेमें तो प्राणीमात्रका अधिकार है; परन्तु इसमें समझनेकी बात इतनी ही है कि प्रारब्ध-भोगके निमित्त मनुष्य निषिद्ध आचरण करनेके लिये बाध्य नहीं है । अपने वर्णाश्रमोचित विहित कर्मोंका आचरण करते हुए ही उसे प्रारब्धके भोग अपने-आप मिलेंगे । उस सुख-दुःखरूप प्रारब्धभोगको राग-द्वेषके बिना भोगते रहकर परमात्माको प्राप्त करनेके साधनमें लगे रहना ही मनुष्यका कर्तव्य है । पुण्यकर्मके फलरूप सुख-भोगोंका त्याग करनेमें मनुष्य उसी प्रकार स्वतन्त्र है, जैसे धनी पुरुष अपने धनका त्याग करनेमें । मनुष्य-जन्मका महत्त्व भोगोंका त्याग करनेमें ही है । इन्द्रियोंके विषयोंको भोगनेके लिये मनुष्य-जन्म नहीं है । और यह कहना सर्वथा निराधार है कि 'बिना विचार किये ही भोगोंको भोग लेना चाहिये, नहीं तो फिर दूसरे जन्ममें आकर उन्हीं भोगोंको भोगना पड़ेगा ।' क्योंकि शास्त्रोंमें कहीं भी विषय-भोगोंको मुक्तिका साधन नहीं बतलाया है, बल्कि जगह-जगह उनको कल्याणमें बाधक बतलाकर साधकके लिये बारंबार उनका त्याग करनेको कहा गया है । मुक्ति तो त्यागसे ही मिलती है, भोगोंसे नहीं; यह अटल सिद्धान्त है । न्यायोपार्जित भोगोंका भी जितना अधिक-से-अधिक त्याग कर दिया जाय, उतना ही महत्त्वकी बात है । संन्यास आश्रममें तो त्यागकी ही प्रधानता है ।

(२) यह कहना भी शास्त्रविरुद्ध है कि संन्यासीको बहुमूल्य सुन्दर वस्त्र धारण करनेका, सोने-चाँदीके बरतनोंमें भोजन करनेका, गद्दोंपर सो-बैठकर आराम करनेका और बहुमूल्य सवारियोंमें बैठकर विचरनेका अधिकार है एवं संन्यासी स्त्रियोंको भी अपनी चेली बना सकता है । क्योंकि शास्त्रोंमें जगह-जगह इन सब बातोंका डंकेकी चोट निषेध किया गया है । अतः जो पुरुष स्वार्थवश इन बातोंका प्रचार करता है, वह धर्मप्रेमी जनताको धोखा ही देता है ।

अपनेको ईश्वरकोटिका संन्यासी बतलाना अहङ्कार-की बात है । ज्ञानीसे कभी दुराचार होता ही नहीं, उसके आचरण तो दूसरोंके लिये आदर्श हुआ करते हैं ।

(३) संन्यासी दो ही प्रकारके नहीं, बहुत प्रकारके होते हैं; परन्तु किसी भी संन्यासीका महत्त्व ऐशो-आराम भोगनेमें नहीं है । भौतिक प्रपञ्चमें फँसना तो सभी प्रकारके संन्यासियोंके लिये कलङ्क है । जिस संन्यासीमें जितना त्याग और वैराग्य अधिक है, वह उतना ही ऊँची कोटिका है । धन-ऐश्वर्यसे संन्यासीका बड़प्पन नहीं, बल्कि पतन है ।

(४) उनका यह कहना तो सर्वथा दुःसाहस, दुराचार और शास्त्रविरुद्ध है कि 'मैं ज्ञानी हूँ, मैंने परीक्षाके लिये कई बार पंद्रह-सोलह वर्षकी जवान लड़कियोंके साथ उपस्थ इन्द्रियका स्पर्श कराया; इसपर भी मेरे मनमें किसी तरहका विकार उत्पन्न नहीं हुआ—कामकी जागृति नहीं हुई । जिसका मन हो परीक्षा करके देख

लें।'—इत्यादि सच्चे ज्ञानी महापुरुष न तो इस तरहके वचन कहते हैं और न ऐसा अशास्त्रीय गंदा व्यवहार ही करते हैं। यह आचरण तो अत्यन्त घृणित और महान् दुराचारत्वका द्योतक है।

(५) यह कहना सर्वथा सत्य है कि मनुष्य गुरुकी कृपासे भगवान्‌को पा सकता है और साधकका साधन गुरुकी सेवा करना ही है; क्योंकि सेवामें आज्ञापालनकी प्रधानता है और उसके बिना कोई भी साधक अपने लक्ष्यतक नहीं पहुँच सकता। परन्तु इसमें समझनेकी बात यह है कि जिन गुरुओंका उपर्युक्त महत्त्व है, वैसे गुरु बड़े दुर्लभ हैं। जो लोग गुरुका स्वाँग धारण करके गुरुडमका प्रचार करते फिरते हैं, उन लोगोंका यह महत्त्व नहीं है।

(६) यह कहना शास्त्रोंके और खास करके गीताके सर्वथा विरुद्ध है कि साकार उपासनासे भगवान्‌की प्राप्ति होकर फिर जन्म होता है। इसके लिये आठवें अध्यायके श्लोक १४ से १६ देखने चाहिये।

(७) उनका यह कहना सर्वथा मिथ्या है कि गीताप्रेसकी गीताका अनुवाद उनका किया हुआ है। गीताप्रेससे न तो उनका कदापि कोई सम्बन्ध ही है और न गीताप्रेस उपर्युक्त सिद्धान्तोंसे किसी भी अंशमें सहमत है। गीताप्रेसके अनुवादमें तो उपर्युक्त दम्भाचरणका सर्वथा विरोध किया गया है।

उपाय पूछनेवालोंसे आप उपर्युक्त संन्यासीके सिद्धान्तोंका विरोध करते हैं सो उचित ही है, ऐसा ही करना चाहिये। परन्तु विरोध करते समय इस बातका भी ध्यान रखना चाहिये कि अपने मनमें कहीं अभिमान या द्वेष अपना स्थान न बना ले और दूसरोंके दिलपर किसी तरहकी चोट न पहुँचे।

आपने लिखा कि बहुत-से गीताका अभ्यास करनेवाले भाई भी इन सिद्धान्तोंपर चलते हैं; सो यह बड़े आश्चर्यकी बात है। यदि थोड़ा-सा भी गीताके सिद्धान्तके साथ इन सिद्धान्तोंका मिलान किया जाय तो ये कपोलकल्पित सिद्धान्त तनिक भी नहीं टिक सकते। उन भाइयोंके माता-पिता अपने लड़कोंकी शिकायत करते हैं, सो तो ठीक ही है। दुराचारकी शिकायत तो होनी ही चाहिये।

संन्यासीजीने अपने सिद्धान्तके विरोधियोंको बहुत कुछ भला-बुरा कहा, यह उनकी इच्छा है; पर क्या किया जाय। स्वार्थवश प्रायः बहुत लोग ऐसी बातें किया करते हैं। आपने दुःख नहीं माना सो बहुत ही अच्छा किया। जिन भाइयोंको उनकी बातोंसे दुःख हुआ, उनको भी यही समझाना चाहिये कि दुःख करनेसे या आपसमें विरोध करनेसे कोई लाभ नहीं है। असली बात समझकर जो उचित हो, शान्तिके साथ वही करना चाहिये।

गीता-धर्ममण्डलमें परस्पर प्रेमभाव बढ़े, विरोध न हो—इसके लिये चेष्टा करनी चाहिये। दो पार्टियाँ न होना अच्छा है। आपसे जहाँतक हो सके, मतभेद मिटाकर समझानेकी चेष्टा करनी चाहिये।

आपने पूछा कि 'क्या विरोध न करके दोनों स्थानोंमें सत्सङ्ग कर लिया करूँ ?' इसके उत्तरमें यह लिखना है कि जिस जगह सदाचार और सत्-सिद्धान्तके अनुकूल विचार होता हो, उसीका नाम सत्सङ्ग है। अतः जहाँ ऐसी व्यवस्था हो, वहाँ तो जाना ही चाहिये। रही वहाँ जानेकी बात, जहाँ दोनों तरहकी बातें होती हैं; इसके विषयमें यह कहना है कि यदि वहाँ ऐसी बातोंका विरोध करके लोगोंको समझानेसे सच्ची बात उनकी समझमें आनेकी उम्मीद हो और आप शान्तिपूर्वक बिना द्वेषभावके उन्हें समझानेका परिश्रम कर सकें तो वहाँ जाना भी बहुत अच्छा है। परन्तु अगर यह बात न हो और अपने साधनमें विघ्न आता हो तो वहाँ जानेमें कोई लाभ नहीं है।

सबका यथायोग्य हरिस्मरण समझना चाहिये। श्रीस्वामीजी आजकल यहीं हैं। गीतातत्त्वाङ्कके संशोधनका काम हो रहा है। और भी कितने ही सत्संगी भाई यहाँ हैं, सभी प्रसन्न हैं।

एक भक्तकी भगवान्‌से बातचीत

(लेखक—रायसाहेब श्रीकृष्णलालजी बाफणा)

भक्त—आप सर्वज्ञ हैं न प्रभो ?

भगवान्—हाँ, हूँ तो सही ।

भक्त—आप अपने जनोंकी सदा रक्षा करते हैं न, और आपका स्वभाव दयामय है न ?

भगवान्—हाँ !

भक्त—आपको भजनेवाले तो आपके ही जन कहलायँगे न ?

भगवान्—हाँ !

भक्त—तब प्रभो ! मैं आपको सदा भजता हूँ, मैं शारीरिक पीड़ा और मानसिक व्यथा सहनेमें भी असमर्थ हूँ; फिर आप मुझे ये व्यथाएँ क्यों देते हैं ?

भगवान्—यह तो तुम्हारे कर्मोंका फल है ।

भक्त—क्या प्रभो ! आपके एक बार नाम लेनेसे ही जन्म-जन्मान्तरोंके कर्म नहीं कट जाते ?

भगवान्—कटते तो हैं ।

भक्त—तब मेरे कर्म बाकी कैसे रहते हैं जो मुझे भुगतने पड़ें ?

भगवान्—कार्य-कारण-सम्बन्ध तो अटल है, यह सृष्टिका नियम है—भोगोन्मुख कर्म तो भुगतने ही पड़ेंगे !

भक्त—प्रभो ! आप ही तो जगत्‌के नियन्ता हैं, आप ही नियम-निर्माण-कर्ता हैं, आप ही सर्वशक्तिमान् हैं और आप ही 'कर्तुं-अकर्तुं-अन्यथाकर्तुं समर्थ' हैं । क्या आपकी बिना आज्ञाके एक पत्ता भी नहीं हिल सकता—तब आप पराधीनकी तरह यह कैसे फरमाते हैं कि तुम अपने कर्मोंसे दुःख पाते हो ?

भगवान्—तुम ऐसा क्यों नहीं समझते कि जो पीड़ा तुम्हें भुगतायी जा रही है, वह तुम्हारे हितके लिये, तुम्हें पवित्र बनाने, तुम्हारे पाप धोकर तुम्हें उज्ज्वल बनाने, उन्नत करने, सच्चा और उत्तमतम आनन्द दिलाने, तुम्हें जगाने—चेतन करनेके लिये है। फिर जब तुम मेरे भक्त हो तो तुम्हें मेरी दी हुई चीज **प्रसन्नतापूर्वक** अंगीकार करनी चाहिये । दुःखका भान ही तुम्हें नहीं होना चाहिये; क्योंकि भक्तका चित्त तो मुझको छोड़कर देह, विषय या अन्य किसी भी वासनामें लगना ही नहीं चाहिये ।

भक्त—आपका फरमाना तो सर-आँखोंपर है, पर प्रभो ! मेरी एक जिज्ञासा है । क्या आप ससीम या बाध्य हैं कि जो आपको एक ही मार्ग—अपने जनोंको दुःख देकर ही पवित्र बनाने, उन्नत करनेका—सूझता है ? साधारण मनुष्य भी अपने बालकोंको मार-पीटकर या रुलाकर सुधारनेका साधन नहीं करते, बल्कि प्यारसे उन्हें खिलाकर, प्रलोभन देकर, समझा-बुझाकर दिलासा देकर रास्तेपर लाते हैं । आप तो असीम, अनन्त, सर्वशक्तिमान् हैं । क्या दूसरा कोई ऐसा उपाय आपके पास है ही नहीं कि जिससे बिना कष्ट दिये ही आपके जन चेताये जा सकें, सुधारे जा सकें ? भगवन् ! ऐसे भक्त तो बिरले ही हैं, जो आपमें तन्मय हो गये हों, जिन्हें देहका भान न रहा हो । बल्कि संगदोष तो बड़े-बड़े महात्माओंको भी लगता है । वे भी जीवनकी सभी चेष्टाएँ करते हैं । परमहंस-वृत्ति तो व्यवहार-शून्य होती है । मेरी स्थिति तो जैसे-तैसे आपका नाम-मात्र लेनेवालोंकी है । मुझ-जैसेकी दुर्दशा क्यों की जाय नाथ ?

भगवान्—तुम्हारे नाम-जपमें त्रुटि रहनेसे या तुम्हारी सचावटकी जाँच होनेके कारण तुमको कुछ कष्ट सहना पड़े तो तुम्हें उसको सहन करना चाहिये ।

भक्त—नाथ ! फिर वही बात ! जब आप सर्वज्ञ हैं तो क्या आप हमारी त्रुटियोंको पहलेसे नहीं जान सकते कि जो उन्हें जाँचनेकी जरूरत पड़े ? आप जब सर्वशक्तिमान् हैं तो हमारी त्रुटियोंको क्या आप बिना

दुःख भुगताये नहीं मिटा सकते ? तब तो आप भी ससीम और अल्पशक्ति ही हुए ।

भगवान्–तो भाई ! तुम चाहते क्या हो ?

भक्त–प्रभो ! मैं तो यह चाहता हूँ कि मुझे कोई कष्ट कभी हो ही नहीं, चाहे मैं भूल करूँ या प्रमाद करूँ, अनुचित या अन्याय भी करूँ, और मेरी मनोकामना सदा पूर्ण होती रहे ।

भगवान्–तो क्या सृष्टिके नियम, कार्य-कारण-सम्बन्ध तुमपर लागू न हों और तुम्हारे इच्छानुकूल सारे संसारकी व्यवस्था हुआ करे ?

भक्त–हाँ प्रभो ! ऐसा ही हो ! तभी मैं सदा सुखी और प्रसन्न रह सकूँगा; बीमारी, जरा, मृत्यु, वियोग आदिसे बच सकूँगा ।

भगवान्–तब तो तुम मेरे अधीन नहीं हुए, मैं ही तुम्हारे अधीन हुआ । यानी तुम मेरे ईश्वर हुए और मैं तुम्हारे इच्छानुकूल, मेरा जो सहज स्वाभाविक धर्म सृष्टि रचने और सञ्चालन करनेका है, उसे भी छोड़ दूँ, सारे नियमोंको भङ्ग कर अप्राकृत, अव्यवस्थित, अनियमित, नित्य नयी-नयी योजनाएँ करता रहूँ । भला भाई ! ऐसा करनेसे संसार कहाँ रहेगा और फिर तुम कहाँ रहोगे ? तुम्हारी आसक्ति और कामनासे प्रेरित इच्छा पल-पलमें बदलती रहेगी और पल-पलमें जगत्‌की व्यवस्था भी बदला करेगी, इससे क्या जगत्‌में उच्छृङ्खलता नहीं बढ़ जायगी ? यदि तुम्हारे मनके अनुसार ही होता रहेगा तो फिर तुम्हारे अंदर मेरे प्रेम, मेरी भावना, दया, भ्रातृभाव, सहयोग, परोपकार आदि शुभ गुणोंकी क्या जरूरत रहेगी ? जरा विचार तो करो कि तुम्हारी इच्छा किस तरह पूरी की जा सकती है ?

भक्त–तब प्रभो ! आपके आराधनसे क्या लाभ जब कि नियमानुकूल हमें दुःख भुगतना ही पड़े ?

भगवान्–मेरे आराधनसे तुम्हारे बुरे कर्मोंका नाश अवश्य होगा । तुम्हारे अंदर आशा, धैर्य, बल, सहनशीलता, सन्तोष, आनन्द, विशुद्ध ज्ञानका प्रकाश, ममताके त्यागकी शक्ति, वैराग्य, दुःखको दुःख न माननेका साहस—ये सब दैवी गुण स्वतः आयँगे और सृष्टिके नियमानुकूल जो कर्म नष्ट होनेको होंगे, वे नष्ट हो जायँगे । यह सम्पत्ति क्या कुछ कम है ?

भक्त–एक बात और बता दीजिये ! हम आपकी ओर सहज ही क्यों नहीं खिंचते; आपसे हमें विमुख कौन करता है कि जो हम आपके बतलाये हुए इन गुणोंसे वञ्चित रह जाते हैं और पापपरायण होकर दुःख पाते रहते हैं ? फिर हमारी सद्‌गति कैसे होगी ? प्रभो ! यदि आपके बताये गुण हमारे अंदर प्रवेश कर जायँ तो वास्तवमें हमें दुःखका भान ही न हो और हमारी सभी समस्या ही हल हो जाय ! फिर सृष्टिके नियमके भी भङ्ग होनेकी जरूरत न रहे ।

भगवान्–भाई ! मेरी भुवनमोहिनी मायाका स्वभाव है विकसित होना, फैलना, ऊँचे उठना, विकास करना, परन्तु ऐसा होनेमें स्वभावतः सिकुड़ना, वियोग होना, विराम होना, उपशम होना आदि भी आ जाते हैं—इसीलिये मेरे अंश जीव-कोटि होकर मुझसे जुदा होते हैं और फिर मुझमें आ मिलते हैं । जैसे घड़ीका लटकन आगे-पीछे होता रहता है—उसके लिये कोई आगा-पीछा नहीं है, केवल हिलना मात्र है । जैसे फूलोंकी कलियाँ खिलती हैं और सिकुड़ती हैं—यह उनका स्वभाव है, उन्हें इससे कोई लाभ-हानि नहीं । जैसे पिस्टन सिलंडरमें घुसता-निकलता है, इसी तरह मेरी माया काम करती है । मेरे अंश अपना अस्तित्व मुझसे अलग मानकर ममत्वको—व्यष्टित्वको धारण करते हैं । तब उनमें 'जीवत्व' दृढ़ हो जाता है; क्योंकि मेरे अंश होनेसे वे भी मेरे-जैसे ही सत्य-संकल्प होते । फिर जीव-कोटिका ममत्व जो चेष्टाएँ कराता है, वह कर्मरूप बन्धनका हेतु बनती है और प्रिय-अप्रिय होनेका तत्त्व उन्हें राग-द्वेष-सुख-

दुःखमें परिणत कर देता है । पापपरायणता यही है कि ममता बढ़े, उसके सबबसे वासना बढ़े, उसकी पूर्तिमें कर्म-बन्धन मजबूत हों और फलतः दुःखका अनुभव हो । मेरी माया और जीवोंका संकल्प ही मुझसे अलग होनेका कारण है । पर मेरे प्यारे भक्त ! तुम अंश और मैं तुम्हारा अंशी होनेसे मैं तुम्हें सदा अपनी ओर खींचता रहता हूँ और तुम मेरी ओर खिंचते रहते हो । मेरी माया इसमें भी अपने स्वभावसे सहायता करती रहती है । जैसे मिट्टीका ढेला ऊपर फेंकनेसे सहज ही जमीनपर आ पड़ता है; क्योंकि वह पृथ्वीका अंश होनेसे उसकी ओर खिंचता है, समुद्रका जल आकाशसे बादलोंद्वारा बरसकर फिर समुद्रमें जा मिलता है, दीपककी ज्योति सूर्यकी ओर ऊपरको ही उठती है, वैसे ही मैं तुम्हें खींचता हूँ और तुम मेरी ओर खिंचते हो; पर तुम अपनी ममताको छोड़कर जबतक मुझसे अलग अपने अस्तित्वका त्याग न करोगे, मुझको अंशी मानकर मेरा सहयोग देनेका संकल्प न करोगे, तबतक मेरा खिंचाव अकेला ही रहेगा । तुम्हारे जीवकोटिके संकल्प, जो झूठी ममताके आवरणसे ढके होते हैं, सफल या सिद्ध नहीं होते; किन्तु मेरे अंश होनेका संकल्प सच्चा संकल्प होनेसे अवश्य ही सिद्ध होता है, इसका अनुभव मेरे सभी सच्चे भक्तों, महात्माओं और ऋषि-मुनियोंको हुआ है । सभी धर्म-ग्रन्थोंमें इसका वर्णन है । यही गीताका उपदेश है कि 'एकमात्र मेरी शरणमें आ जाओ; फिर अपनी स्थितिके अनुकूल सहज ही जो कर्तव्य सामने आवे, उसे करो ! हाँ, गुणोंके भेद सामने रक्खो ताकि भुलावेमें, प्रमाद या उन्मादमें न पड़ो ।'

भक्त—प्रभो ! आप धन्य हैं । मेरे सारे सन्देह निवृत्त हो गये । मुझे बड़ी ही शान्ति मिली । आपकी जय हो, जय हो !

* * *

पुरोहित—ऐतिहासिक विवेचन

(लेखक—पं० श्रीवासुदेवजी उपाध्याय, एम्० ए०)

भारतवर्ष ही एक ऐसा देश है, जहाँ चार वर्णोंका भेद अत्यन्त प्राचीन कालसे चला आ रहा है । उनके कार्य तथा कर्तव्य सदासे ही विभिन्न रहे हैं । ब्राह्मणोंके कार्यमें यज्ञ करना तथा अध्यापनका कार्य आदि भी सम्मिलित हैं । वर्तमान समयमें बहुधा लोगोंकी यह असत्य धारणा हो गयी है कि यज्ञ करानेवाले ऋत्विज्‌को पुरोहित कहते हैं और प्राचीन भारतमें यह ऋत्विज्‌की ही संज्ञा थी; परन्तु यदि पुरोहितकी ऐतिहासिकतापर विचार किया जाय तो यह ज्ञात हो जायगा कि पुरोहितका स्थान तथा कार्य कुछ दूसरा ही था और बड़ा महत्त्वपूर्ण था । पुरोहित शब्दके अर्थपर विचार करें तो मालूम होगा कि जिस व्यक्तिको एक विशेष कार्यका उत्तरदायित्व दिया जाय (One charge with business) उसे पुरोहित कहते हैं । संहिता तथा ब्राह्मणोंमें पुरोहितका उल्लेख अनेक बार आता है । ऋग्वेदमें—'अग्निमीडे पुरोहितम्' इस तरह अनेक स्थानोंपर पुरोहित शब्दका उल्लेख मिलता है; परन्तु आज उन सब वैदिक शास्त्रार्थमें न जाकर केवल पुरोहितकी ऐतिहासिक महत्तापर विचार करते हैं ।

ऋग्वेदमें पुरोहित गृहका ऋत्विज् भी था । वह धर्मकार्यमें सदा सलाह दिया करता था । उसका स्थान वंशपरम्परागत था । ऋग्वेदके दानस्तुतिमें अधिक दानका भाग पुरोहितको मिलता था । यज्ञमें होतृ, अध्वर्यु तथा उद्‌गातृको भी मुख्य स्थान प्राप्त थे । ऋत्विज्‌की मनोकामना उसी समय पूरी समझी जाती थी जब वह शासकके पुरोहितका स्थान प्राप्त कर लेता था । इससे ज्ञात होता है कि ऋत्विज् तथा पुरोहितके कार्योंमें भी कुछ भेदभाव था । पुरोहितका स्थान ऋत्विज्‌से अवश्य महत्त्वपूर्ण था । जो धनवान् व्यक्ति यज्ञ करते थे, उन्हींके पास पुरोहित रहा करता था । ब्राह्मणग्रन्थोंमें पुरोहित राजकीय शासनमें भी भाग लेने लगा । समय-समयपर वह शासकके साथ युद्धक्षेत्रमें भी जाता था तथा विजयके लिये प्रार्थना किया करता था । तैत्तिरीय संहिता (१ । ७ । ३ । १)में

वर्णन है कि राजकीय प्रबन्ध रत्निन्‌के अन्तर्गत था। जिसमें दस व्यक्ति रहा करते थे। उनमें एक ब्राह्मण भी था। यही पुरोहित था। ब्राह्मणग्रन्थोंमें भी पुरोहितके स्थानपर ब्राह्मणका उपयोग मिलता है। अतएव यह स्पष्ट है कि वैदिक कालमें पुरोहित राजकीय शासन-समितिका एक सभासद् था। रत्निन्‌के नाम इस प्रकार मिलते हैं—

(१) ब्राह्मण, (२) राजन्य, (३) सेनानी, (४) सूत, (५) ग्रामिणी, (६) क्षत्रिय, (७) संग्रहितृ, (८) भागधुक्, (९) अक्षावाप, (१०) परिवृक्ति।

पुरोहितका पद सदा ब्राह्मणको ही मिला करता था; परन्तु पञ्चविंश तथा ऐतरेय ब्राह्मणोंमें एक ऐसे पुरोहितका नाम भी मिलता है जो क्षत्रिय वर्णके थे। ऋग्वेदमें विश्वामित्र सुदासका पुरोहित बतलाया गया है और यही व्यक्ति उपर्युक्त ब्राह्मणोंमें क्षत्रिय कहा गया है। यह एक असाधारण बात हो सकती है। सूत्र तथा ब्राह्मणकालमें वर्ण या जातिके आपसमें वैवाहिक सम्बन्ध भी कुछ कठोर-से नहीं थे। ब्राह्मण अन्य वर्णोंसे भी विवाह कर सकता था। सम्भव है कि इसी बातको ध्यानमें रखकर ऐतरेय ब्राह्मणमें एक ही वर्णमें दो भिन्न वर्ण बतलाये गये हैं। वह ब्राह्मण ऋत्विज् है, जो दान लेता, सोम पीता था। राजा उसे इच्छानुसार हटा देता था। परन्तु पुरोहित सदा शासकके साथ रहा करता था (Belonging to entovrage)। कई स्थानपर ऐसा भी वर्णन है कि एक पुरोहित कई राज्योंमें कार्य सम्पादन करता था। कौषीतकीमें जलजाहुकार्यका नाम उल्लिखित है जो कोशल, विदेह तथा काशीके पुरोहित थे। सम्भवतः इन राज्योंमें अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध होगा। एक महान् व्यक्तिसे सभी लाभ उठाते रहे। ऋग्वेदमें वर्णित भरत लोगोंका स्थान पानेवाले कुरु-पाञ्चाल राज्योंने भी ऐसा ही किया था। उनके साथ वंश तथा उशीनर राज्योंकी भी गौणरूपसे गणना होती थी। घनिष्ठ सम्बन्ध होनेके कारण ही सबने मिलकर एक ही पुरोहित रक्खा था। ऐसे स्थानपर पुरोहित तथा ऋत्विज्‌का एकीकरण किया जा सकता है या पुरोहित उनके शासनकार्यमें परामर्शदाता हों। ब्राह्मणमें जहाँ न्यायका वर्णन है, वहाँपर एक कथानक है, जिसपर विचार करनेसे पुरोहितका स्थान महत्त्वपूर्ण तथा वह मन्त्री-मण्डलका सदस्य ज्ञात होता है। कथानक इस प्रकार है—

राजा एक समय रथपर कहीं भ्रमण करने जा रहा था। उसके रथसे एक बालक कुचलकर मर गया। उसपर न्यायके अनुसार दण्डका विधान होने लगा; परन्तु दण्डका निर्णय शीघ्र न हो सका, क्योंकि राजाके साथ रथपर पुरोहित भी बैठा था। वह ब्राह्मण था, इसलिये दण्डका रूप निर्णय करनेमें सूक्ष्म विचार होने लगा। ब्राह्मण और क्षत्रिय (पुरोहित और राजा) को बराबर दण्ड तो दिया नहीं जा सकता, अतएव उस स्थानपर दण्डका विधान अन्य प्रकारसे किया गया। इस कथानकसे यही प्रतीत होता है कि पुरोहित (मन्त्रीमण्डलका सदस्य) राजाके साथ था। राजा किसी राज्य-कार्यसे बाहर जा रहा था। सूत्र-ग्रन्थों (गौतम० २।२। १२, १७; बौधायन० १।१०।७) में पुरोहितका स्थान मन्त्रीमण्डलके सदस्यके रूपमें वर्णित है। कामन्दक नीतिसार (४।३२) तथा मनुस्मृति (७।५४) में भी पुरोहितका मन्त्री-मण्डलके सदस्यके रूपमें वर्णन मिलता है।

मौलान् शास्त्रविदः शूरांल्लब्धलक्षान् कुलोद्भवान्।
सचिवान् सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान्॥
सर्वेषां तु विशिष्टेन ब्राह्मणेन विपश्चिता।
मन्त्रयेत् परमं मन्त्रं राजा षाड्गुण्यसंयुतम्॥

(मनुस्मृति ७।५४, ५८)

राजा कर्मचारी वेदादि धर्मशास्त्रोंका जाननेवाला, स्वयं शूर, युद्ध-विद्यामें भलीभाँति निपुण मन्त्रीको नियुक्त करे। सन्धि-विग्रह आदि विषयोंमें निपुण—धर्ममें रत पण्डित ब्राह्मणोंके साथ राजाको सलाह करनी चाहिये। शुक्रने भी राजाके मन्त्रीगणमें पुरोध (पुरोहित) को मुख्य स्थान दिया है।* इन सब उल्लेखोंसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि सूत्र तथा स्मृति-कालमें पुरोहितका कर्तव्य या पद अन्य मन्त्रीके सदृश था। वैदिक कालकी तरह उनका धार्मिक कार्यसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो गया था।

भीष्मपितामहने पाण्डवोंको यह बतलाया कि पुरोहितकी अत्यन्त आवश्यकता होती है। राज्य-प्रबन्धमें विद्वान् पुरोहितसे शासकको बहुत सहायता मिलती है। उन दोनोंको मिलकर प्रजाकी रक्षा करनी चाहिये।

राज्ञा पुरोहितः कार्यो भवेद्विद्वान् बहुश्रुतः।
उभौ समीक्ष्य धर्मार्थावप्रमेयावनन्तरम्॥
परस्परस्य सुहृदौ विहितौ समचेतसौ।
ब्रह्मक्षत्रस्य संमानात् प्रजा सुखमवाप्नुयात्॥
ताभ्यां सम्भूय कर्तव्यं प्रजानां परिपालनम्।

(महा० शान्ति० १०।१, २, ८)

---

* (१) पुरोध, (२) प्रतिनिधि, (३) प्रधान, (४) सचिव, (५) मन्त्री, (६) प्राड्विवाक, (७) पण्डित, (८) सुमन्त, (९) आमात्य, (१०) दूत [शुक्रनीति ३।७८]।

रामायणमें भी इक्ष्वाकुवंशी राजाके आठ मन्त्रियोंके नाम उल्लिखित हैं, जिसमें वसिष्ठ तथा वामदेव पुरोहित या ऋत्विज्का भी कार्य सम्पादन करते थे ।

धृष्टिर्जयन्तो विजयः सुराष्ट्रो राष्ट्रवर्धनः ।
अकोपो धर्मपालश्च सुमन्त्रश्चाष्टमोऽर्थवित् ॥
ऋत्विजौ द्वावभिमतौ तस्यास्तामृषिसत्तमौ ।
वसिष्ठो वामदेवश्च मन्त्रिणश्च तथापरे ॥
(बाल० ७ । ३-४)

रामायण-कालमें इन ब्राह्मण-पुरोहितका मन्त्री-मण्डलके सदस्य होनेका प्रमाण मिलता है । राजा दशरथ रामको युवराज बनानेका प्रस्ताव मन्त्रियोंके सम्मुख रखते हैं। (क्योंकि राजाका चुनाव प्रजा और मन्त्रीगण करते थे) और उनसे पूछते हैं कि लोक-पालनका भार बड़ा गुरुतर है । इसके पालनके लिये शूरता और राजोचित गुण चाहिये । मैं अपने स्थानपर अपने पुत्रको नियुक्त करना चाहता हूँ । राजा दशरथने इसके लिये प्रजा तथा मन्त्रीगणकी आज्ञा माँगी ।

सोऽहं विश्राममिच्छामि पुत्रं कृत्वा प्रजाहिते ।
सन्निकृष्टानिमान्सर्वाननुमान्य द्विजर्षभान् ॥
(अयो० २ । १०)

इस प्रकारकी बात सुनकर ब्राह्मण तथा सामन्त राजाओंने समस्त प्रजाओंसे सलाह करके एकमत होकर राजा दशरथसे विचार प्रकट किया—

तस्य धर्मार्थविदुषो भावमाज्ञाय सर्वशः ।
ब्राह्मणबलमुख्याश्च पौरजानपदैः सह ॥
समेत्य ते मन्त्रयितुं समतागतबुद्धयः ।
ऊचुश्च मनसा ज्ञात्वा वृद्धं दशरथं नृपम् ॥
(अयो० २ । १९-२०)

इन प्रमाणोंपर यह सिद्ध होता है कि प्राचीन समयमें ब्राह्मण (पुरोहित) केवल ऋत्विज् नहीं था । उसका हाथ शासन-प्रबन्धमें भी पर्याप्त रूपसे दिखलायी पड़ता है । अतएव साधारण ऋत्विज्से मन्त्रीमण्डलका सदस्य ब्राह्मण अवश्य महत्त्वपूर्ण स्थान रखता था । उसके लिये पुरोध, ब्राह्मण, पण्डित या पुरोहित शब्द प्रयुक्त मिलते हैं ।

पूर्व-ऐतिहासिक कालमें पुरोहितका स्थान धीरे-धीरे महत्त्वपूर्ण होता गया । प्रथम ऋत्विज्के कार्यके साथ एकता तो नहीं थी, परन्तु वह परामर्शदाता अवश्य था । ऐतिहासिक युगमें पुरोहितकी वह प्रधानता न रही जो वैदिक कालसे चली आ रही थी । आचार्य चाणक्यने भी पुरोहितको प्रधान स्थान दिया है (अर्थशा० १ । १०), परन्तु वह मन्त्री-मण्डलका सदस्यके रूपमें दिखलायी नहीं पड़ता । मेगस्थनीजने स्पष्टतया उल्लेख किया है कि ब्राह्मणोंसे राजनीतिके प्रश्नोंपर वार्तालाप (मसविदा) होता था । मौर्यकालमें सम्राट् अशोक महान्ने अपने राष्ट्रमें धर्म-महामात्र (प्रस्तर लेख नं० ५) के पदको स्थापित किया था, जो आचरण तथा धर्म-सम्बन्धी बातोंका निरीक्षण करता था । आन्ध्रोंके शासन-कालमें भी श्रमण-महामात्र (नासिक प्रशस्ति—ए० इ० भा० ८ पृ० ९१) वर्तमान थे, परन्तु इनका कार्य मन्त्रीके सदृश न था । परम भट्टारक महाराजाधिराज गुप्त नरेशोंके कालमें भी धार्मिक बातोंपर विचार करनेके लिये एक व्यक्ति नियुक्त था, जिसको 'विनयस्थिति-स्थापक' कहते थे । वैशालीके एक मुहरपर यह अङ्क अङ्कित है (आ० स० रि० १९०३–४ पृ० १०९) । इससे प्रकट होता है कि विनयस्थिति-स्थापकका एक कोई कार्यालय अवश्य होगा, जहाँसे धर्म-सम्बन्धी आज्ञा दी जाती रही हो । नहीं तो मुहरकी कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती । इसके पश्चात् भी पुरोहितका स्थान राज्यमें पाया जाता है । उत्तरचेदि नरेशोंके लेखोंमें [कुम्भी प्लेट–,(विजयसिंह) जे० ए० एस्० बी० ३१ पृ० ११६] धर्म-प्रधान तथा महापुरोहित शब्द मिलते हैं, जिससे ज्ञात होता है कि राजा धर्म और न्यायके कार्योंमें पुरोहितसे अवश्य सहायता लेता रहा । दक्षिण भारतके राष्ट्रकूट शासकोंकी ऐसी प्रशस्तियाँ मिली हैं, जिसमें 'धर्माङ्कुश' शब्द उल्लिखित है । यही नहीं नानाराज राष्ट्रकूटनरेशने ई० ७०८ के समीप शासन किया । उनके राज्यमें 'धर्माङ्कुश' भी प्रधान व्यक्ति था । राजा उससे भी सलाह लेता था । यद्यपि अन्य लेखोंमें पुरोहितका विशिष्ट उल्लेख नहीं मिलता, परन्तु उससे यह नहीं कहा जा सकता कि पुरोहितका पद वर्तमान न हो । हर्षवर्धन सदा प्रयागमें दान किया करता था । ऐसे नरेशके साथ पुरोहित अवश्य होगा ।

पुरोहितके प्रधानताकी कमी होनेका कारण यह है कि प्राचीनतम कालमें धर्म तथा न्याय-विभाग सम्मिलित होते थे । मन्त्री-मण्डलका सदस्य पुरोहित दोनों कार्योंका सम्पादन करता था । शनैः-शनैः न्याय-विभागके पृथक् हो जानेसे पुरोहित मन्त्री-मण्डलसे अलग होकर न्यायका काम करने लगा । धार्मिक बातोंपर राजा उससे अवश्य ही सलाह लेता था । इस विवेचनसे यही प्रकट होता है—वर्तमान कालके पुरोहितसे प्राचीन पुरोहितमें अत्यन्त अन्तर है । वे मन्त्री-मण्डलके सदस्य तथा शासनमें प्रधान स्थान रखते थे । जो आजकल कहीं भी प्रचलित नहीं है । यही भारतकी सभ्यता थी, जिसके गीत आजकल गाये जाते हैं ।

* * *

नामतत्त्व व कबीर साहब

(लेखक—पं० श्रीपरशुरामजी चतुर्वेदी एम्० ए०, एल्-एल्० बी०)

(१)

कबीर साहबने राम-नामको अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बतलाया है। उनका कहना है कि—इतनी अनुपम एवं अमूल्य देनके बदलेमें अपने सद्गुरुको मैं कौन-सी भेंट देकर अपनी कृतज्ञता प्रकट करूँ, कुछ समझमें नहीं आता। अपने पास कोई ऐसी वस्तु है ही नहीं, जिसे समर्पित कर अपने हृदयके हौसलेको शान्त करूँ। वे कहते हैं कि मैंने सभी रसोंको चखकर देख लिया, मुझे 'राम-नाम' का रस सबसे अधिक स्वादिष्ट जान पड़ता है। अन्य रसोंमें किसी-न-किसी प्रकारकी कमी आ भी जाती है, किन्तु इस रसके अनुभवसे सदा अधिक-से-अधिक सुख ही मिला करता है। इसलिये राम-नामके केवल दो अक्षरोंका ही वे सदा व्यापार किया करते हैं और अपने हृदय-क्षेत्रमें उन्होंने इसीके बीज इस विश्वासके साथ बो दिये हैं कि वे कभी 'सूखा' पड़नेपर भी निष्फल नहीं जा सकते। राम-नामकी साधनाद्वारा वे योग एवं भोग दोनों फलोंकी प्राप्ति निश्चित समझते हैं। क्योंकि नामके भीतर अष्टसिद्धि एवं नवनिधिको प्रदान करनेकी शक्ति तो है ही, इसे अपनानेसे 'गोविन्द' हमारे सदाके 'सँघाती' वा साथी बन जाते हैं, हमारे भीतर विश्वासके भाव जाग्रत् हो उठते हैं, भगवान्के प्रति अनन्य भक्ति बढ़ने लगती है, सांसारिक तापोंके नष्ट हो जानेसे शान्तिकी शीतलता आ जाती है, अहंभावकी वृत्ति, जो सारे अनर्थोंकी जड़ है, नष्ट हो जाती है, हमारे करोड़ों कर्मोंके बन्धन पलमात्रमें ही छिन्न-भिन्न हो जाते हैं और जरा-मरणका भय सदाके लिये दूर हो जाता है। अतएव अपने कल्याणके लिये राम-नामका स्मरण ही एकमात्र उपाय है, उसके बिना मुक्ति वा अन्तिम अभीष्ट गति असम्भव है।

कबीर साहबके अनुसार 'हरि-भजन' का ही दूसरा नाम 'भगति' वा भक्ति है और मनसा, वाचा तथा कर्मणा हरिका स्मरण करना ही सब कुछ है। वे अन्य सभी साधनोंपर भी भलीभाँति विचार करके इस निष्कर्षपर पहुँचे हैं कि 'हरिनाँव' की 'च्यंता'के अतिरिक्त और सभी चिन्ताएँ निरर्थक हैं, क्योंकि वे 'कालकी पास'से हमें मुक्त नहीं कर सकतीं। उन्होंने ऐसे अनेक भक्तोंके उदाहरण दिये हैं जो हरि-भजनके प्रतापसे तर चुके हैं और यमराजको लक्ष्य करके स्वयं अपने विषयमें भी वे कहते हैं कि 'अजी! मैं उन व्यापारियोंमेंसे नहीं हूँ, जिनका सदा तुम्हारी 'जगाती' वा महसूल भरते रहनेका ही स्वभाव है। मैंने सारे संसारसे विमुख होकर 'हरिनाम' का व्यापार कर लिया है, मैं राम-नामकी 'गूंनि' वा खुरजी भरकर उसीके 'टाँडे' वा वरदीको सदा लिये फिरता हूँ और जो वस्तु तुम्हारे लिये 'अगिवानी' वा अभीष्ट पदार्थ है, वह मेरे पास पहलेसे ही पूँजीके रूपमें वर्तमान है। मुझपर तुम्हारा वश नहीं चल सकता।' उन्होंने हरिनामको ही अपना सर्वस्व मान रक्खा है और कहते हैं कि 'यही मेरा धन, खेती-बारी, सेवा-पूजा, भाई-बन्धु, अन्तिम सहायक एवं निर्धनकी निधि अथवा 'रंक-मिठाई' है। मैंने बड़े सौभाग्यसे 'राम-नाम' की नौका पकड़ी है, अब मुझे किसी प्रकार भी 'पाणी-पङ्क' नहीं लग सकता। अब मेरी रसनामें 'राम-रसाइँन' का प्रभाव आ गया है, लिये अन्य किसी प्रकारकी साधनाकी आवश्यकता ही नहीं रह गयी है। पहले मैं काच एवं 'कथीर' अर्थात् राँगेकी भाँति इधर-उधर मारा-मारा फिरा करता था, अब 'निजनाँउँ' अथवा हरि-नामके कारण 'निरमोलिक' वा अनमोल रत्न बनकर अपनी जगह ठहर गया हूँ।

राम-नामसे 'दिल' मिलते ही अपने लिये सब कोई 'बिराइ' वा बिराने हो गये, अपने 'इष्ट' पर पूरा भरोसा जम गया और अब निश्चय है कि 'बंदा' अर्थात् मैं नरकका मुँह नहीं देख सकता।'

अतएव सब किसीके लिये उनका उपदेश है कि 'इस जीवनके रहते-रहते तुम राम-नामके भण्डारकी लूटमें लग जाओ और जितना हो सके उसे जीभर लूटो। नहीं तो, यमराजका आक्रमण होते ही तुम्हारे दसों द्वार अवरुद्ध हो जायँगे और तब पछतानेके सिवा और कुछ भी हाथ न लगेगा। यह शरीररूपी मन्दिर 'थरहरी' वा सदा हिलने-काँपनेवाली थूनियोंके ही बल-पर किसी प्रकार कच्चे सूतोंद्वारा खींच-तानकर खड़ा किया गया है। अन्तमें जब इसके गिरनेका समय आयेगा, तुम्हारी जीभ बंद हो जायगी और तुम्हारे सङ्केत वा इशारेको भी लोग नहीं समझ पायँगे, बल्कि सभी सम्बन्धी मिलकर तुम्हारी श्मशान-क्रियाके ही प्रबन्धमें प्रवृत्त हो जायँगे। ऐसे साथियोंके भी फेरमें न पड़ो; स्त्री, पुत्र, घर, सम्पत्ति आदिके नाते भी झूठे हैं। तुम सभी प्रकारके 'भरम-करम, बिध-नखेद' का त्याग कर केवल राम-नामसे प्रेम कर लो। तुम्हें चाहिये कि स्वयं तो राम-नामका जप करते ही रहो, औरोंको भी जपनेको कहो और बार-बार कहो। राम-नामका स्मरण करो और सादगीका जीवन व्यतीत करो। मान एवं बड़प्पनके फेरमें न पड़ो, नहीं तो ये ही तुम्हें एक दिन ले डूबेंगे। हाथी-घोड़े, धनका भण्डार एवं ध्वजा-पताका आदिको लेकर तुम्हारे जितने भी मनोरथ हों, उन्हें आज ही तिलाञ्जलि दे दो और समझ लो कि भीख-मात्रके आधारपर जीना और सदा हरि-स्मरणमें लगे रहना कहीं अधिक श्रेयस्कर है।' इसीलिये वे अपने मनके प्रति भी कहते हैं कि 'अरे पगले! तू अपनी 'डगमग' वाली चाल वा स्वाभाविक चञ्चलताका परित्याग कर, एक वीर सिपाहीकी भाँति निःशङ्क होकर मैदानमें उतर आ, अपनी दिखाऊ मान-मर्यादाओंको अपने गलेकी फाँसी समझ और यह जान ले कि यदि आधी दूर भी बढ़कर कहीं पीछे फिरा तो खैर नहीं। गिरता-पड़ता किसी भी प्रकार 'ऊँचा' पर ही चढ़ता चल और अपनेको राम-नामके स्मरणद्वारा पावन करनेका निरन्तर प्रयत्न कर।'

(२)

परन्तु इस 'राम-नाम' वा 'हरि-नाम' का रहस्य क्या है? और इसके स्मरणकी साधना भी किस प्रकार की जाय? कबीर साहबने ऐसे प्रश्नोंका भी समाधान करनेकी चेष्टा की है। वे कहते हैं कि जिस किसी कर्ताने दृश्य जगत्को 'कहने-सुननेके लिये' निर्माण किया है, वह इसीके भीतर 'भुलाने' अर्थात् खोया हुआ-सा है; वह किसीकी पहचानमें नहीं आता। उसने सत्त्वगुण, रजोगुण एवं तमोगुणके आधारपर माया-की सृष्टि की है और उसीके पर्देमें अपनेको छिपा रक्खा है। वह स्वयं तो आनन्दस्वरूप है, किन्तु उक्त गुणोंके पल्लव उसे अपने विस्तारद्वारा आच्छादित किये हुए हैं। जब उनके तत्त्वोंकी शाखाओंमें ज्ञान-कुसुमका विकास होता है। तब वही ज्ञान-कुसुम 'राम-नाम' रूपी एक उत्तम फलमें परिणत हो जाता है। 'नाम' चाहे कोई भी हो, वह उस—

वोहै तैसा वोही जानै।
वोही आहि आहि नहिं आनै॥

—को 'बोलनके सुख कारनै' अथवा वाणीद्वारा व्यक्त करनेके सुभीतेके लिये उसका प्रतीकस्वरूप है और वही भवसागरको पार करनेका हमारे लिये एकमात्र साधन है। वह तीनों लोकोंका मूल 'ततसार' वा सार तत्त्व है और उसीको मैंने शिरोधार्य कर रक्खा है। राम-नाम तीनों लोकोंमें सर्वत्र ओतप्रोत है, उसे अपनेसे दूर मानकर ढूँढ़नेकी चेष्टा करना निरी मूर्खता है।

हरि-नाम हमारे जीवनके साथ दूध-पानीकी भाँति घुला-मिला है और इसके मर्मको जाननेवाले साधु हंसकी भाँति इसे अन्य व्यवहारोंसे अलग कर लेते हैं। किसी प्रकार पहले इसका परिचय पा लेना आवश्यक है। राम-नामका महत्त्व बतलानेवाले और उस अगोचर वस्तुको लखा देनेवाले विरले ही लोग मिलेंगे।

है कोई राम-नाम बतावै,
बस्तु अगोचर मोहि लखावै ॥टेक॥
राम-नाम सब कोइ बखानैं,
राम-नामका मरम न जानैं ॥
ऊपर की मोहि बात न भावै,
देखै-गावै तौ सुख पावै ॥
कहै कबीर कछु कहत न आवै,
परचै बिना मरम को पावै ॥

अतएव उन्होंने इसके ‘परिचय’ के सम्बन्धमें भी कुछ सङ्केत किया है और कहा है कि ‘जुगति’ के साथ राम-नाम-स्मरण करते समय हमें ‘नीसान’ वा एक अपूर्व ध्वनिका अनुभव होने लगता है, जिसका मर्म कोई नहीं समझ पाता। वह एक विचित्र एवं अनुपम तत्त्व है, जो सभी ज्ञात एवं ज्ञेय वस्तुओंसे नितान्त भिन्न है, किन्तु जो ‘घट-घट अंतरि’ अर्थात् सब किसीके भीतर वर्तमान है। वह ‘भूख-त्रिषा’, ‘बेद-भेद’, ‘पाप-पुन्य’, ‘ग्यांन-घ्यांन’,‘अस्थूल-सुन्य’, ‘भेष-भीख’ अथवा तीनों लोकोंसे भी परे है और उस तत्त्वके अतिरिक्त अन्य सभी कुछ केवल भ्रम एवं मिथ्या है। इस विषयमें अपने निजी अनुभवका परिचय देते हुए वे कहते हैं—

राम-नाम निज पाया सारा,
अबिरथा झूठ सकल संसारा ॥

× × × ×

क्यंचिति ह्वै सुपिनै निधि पाई,
नहिं सोभा कौं धरौं लुकाई ॥
हिरदै न समाइ जानियै नहिं पारा,
लागै लोभ न और हमारा ॥
सुमिरत हूँ अपने उनमाना,
क्यंचित जोग रॉम मैं जाना ॥

परिणामस्वरूप, विचारपूर्वक देखनेसे ‘राम-नाम’ एवं ‘राम’—इन दोनोंमें मौलिक अभिन्नता जान पड़ती है और इसीलिये उन्होंने इस बातको ‘सबद निरंजन राम-नाम साचा’ कहकर भी अन्यत्र व्यक्त किया है। इसी प्रकार उन्होंने कहीं-कहीं ‘निरगुण राम निरगुण राम जपहु रे भाई’ का भी उपदेश दिया है और ‘आतम राम और नहिं दूजा’ कहकर उस ‘राम’ को आत्म-स्वरूप ठहराया है। किन्तु उनके रामका निर्गुणत्व यहाँपर ‘निकृष्टगुणराहित्यमेव निर्गुणत्वम्’ का ही प्रतिपादक समझ पड़ता है। क्योंकि एक अन्य स्थलपर उन्होंने—

निरमल निरमल राम गुण गावै,
सो भगता मेरे मनि भावै ॥
जे जन लेहि राम को नाँउ,
ताकी मैं बलिहारी जाँउ ॥

—भी कहा है और अपने सम्बन्धमें ‘दास कबीर राम-गुन गावै’ तथा ‘हरषि-हरषि गुन रमै कबीर’ आदि वाक्योंका भी प्रयोग किया है। वास्तवमें इस ‘राम-गुण’ के रहस्यको वे अत्यन्त गूढ़ बतलाते हैं और कहते हैं कि इसके जानकार विरले योगी ही हुआ करते हैं। उनका कहना है कि इस राम-गुणरूपी बेलको गुरु गोरखनाथ जानते थे। इस बेलका न तो कोई रूप है न छाया है और यह बिना पानीके ही बढ़ती रहती है। इसके एक ओर तो [चित्तत्त्व एवं पार्थिव-तत्त्व नामक] दो सिरे हैं और [दूसरी ओर ऊर्ध्वमूल होनेके कारण] इसकी उपजकी धरती गगन-मण्डलमें फैली हुई है। सद्गुरुद्वारा रोपी जानेपर जब यही ‘सहज-बेल’के रूपमें उगा करती है, तब इसमें [भाव-भगतिके प्रभावद्वारा] ज्ञानरूपी पुष्पका विकास हो आता है और इसकी डालोंमें नवीन कोंपलों वा कोमल भावोंका भी उदय होता है; और ऐसी दशामें मनरूपी ‘कुञ्जर’ वा हाथी [इसकी छायारूपिणी] कायामें स्थिर हो विश्राम करने लगता है। अन्यथा पञ्च प्राण मिलकर

पानी दे दे इसे श्वास-प्रश्वासद्वारा नित्य सींचा करते हैं और यह [उस माया-तत्त्वकी दशामें] बलात्कारसे काटी जानेपर भी फिर-फिर अपनी कोंपलें फेंकती जाती और नवीन होती रहती है। कभी नष्ट नहीं होती। हाँ, यदि इसकी जड़को (ज्ञानामृतद्वारा) सींचनेका प्रयत्न करें तो यह कुम्हलाने भी लगती है। उक्त सहज-बेलके रहस्यको जाननेवाले विरले ही योगी हुआ करते हैं। राम-नाम इसी 'राम-गुण' की 'सहज-बेल' का एक उत्तम फल है, जैसा पहले भी कहा जा चुका है।

(३)

ऐसे 'राम-नाम' वा 'हरि-नाम' का स्मरण करना कोई साधारण बात नहीं। वह सूलीके ऊपर खेली जानेवाली 'नटबिद्या' वा नटोंकी कला है, जिसमें यदि कहीं गिर पड़े तो कोई ठौर-ठिकाना नहीं लग सकता। पहले तो अपने मनपर ही हमारा वश नहीं चलता। यदि जप करते समय हम अपनी उँगलियोंसे मालाके मनकें सरकाने लगते हैं तो वह चारों ओर दौड़ लगाने लगता है। इधर हम राम-नामकी धुन आरम्भ करते हैं, उधर वह दूसरे ही कामोंमें व्यस्त हो जाता है, हटाये नहीं हटता। इसके सिवा हरि-भजन करते समय माया भी बाधा पहुँचाये बिना नहीं चूकती। वह 'ब्रिसास' वा नितान्त विषैली शक्ति हमें बरबस प्रभावित कर भगवान्से विमुख करनेपर उतारू हो जाती है और हमारे सभी मनोरथोंपर पानी फिर जाता है। तो भी कबीर साहबने नामस्मरण करते समय उपयोगी सिद्ध होनेवाली कुछ जुगतियाँ बतलायी हैं, जिनका प्रयोग करना हमारे लिये अत्यन्त आवश्यक है—

(१) नामस्मरणके पहले हमें अपने इष्टके विषयमें पूरी प्रतीति होनी चाहिये; क्योंकि यदि उसके ऊपर हमारा पूरा भरोसा नहीं तो दिन-रात रट लगाते रहनेसे कोई विशेष लाभ नहीं हो सकता।

(२) हमारी अपने इष्टके प्रति सच्ची प्रीति होनी भी परमावश्यक है; हमें चाहिये कि उसे अपने हृदय-कमलमें सावधानीसे छिपाये रक्खें और ऊपरसे प्रेमकी 'गाँठि' दे दें, ताकि वह किसी प्रकार बाहर न होने पावे।

(३) नाम-स्मरण हमें निष्कपट एवं शुद्ध हृदयसे करना चाहिये, क्योंकि हृदयमें 'बिलावका' तथा नेत्रोंमें 'बगध्याँनी' का भाव रहनेसे कभी 'भगति' नहीं हो सकती।

(४) नाम-स्मरण करते समय किसी भी बाहरी लगाव अथवा आश्रयका अपनाना ठीक नहीं; क्योंकि तुच्छ-से-तुच्छ भी सम्बन्ध उन फूसकी बटी हुई रस्सियोंके समान होते हैं, जिनके कारण सावधान रहनेपर भी कभी-न-कभी आग लग जानेकी सम्भावना बनी रहती है।

(५) नाम-स्मरणमें निष्काम भावका होना नितान्त आवश्यक है, क्योंकि अपनी अहैतुकी मनोवृत्ति रहनेपर ही हम भगवान्द्वारा अपनाये जाने योग्य हो सकते हैं।

(६) इसी प्रकार नाम-स्मरण करनेवालेको चाहिये कि वह कभी 'आतुर' अर्थात् व्यग्र अथवा अधीर न हो, बल्कि आनन्दसे प्रफुल्लित रहकर धैर्य एवं सन्तोषके साथ गोविन्दके गुणगानमें लगा रहे।

(७) परन्तु उक्त सभी बातोंसे बढ़कर यह आवश्यक है कि 'राम' कहनेके प्रथम 'राम' के वास्तविक रहस्यका ज्ञान भी प्राप्त कर लिया जाय। 'आग' कहनेमात्रसे ही कभी कोई नहीं जलता और न 'खाँड' मात्र कहनेसे उसका मुँह मीठा होता है तथा न 'जल' कहनेसे किसीकी प्यास अथवा 'भोजन' कहनेसे उसकी भूख दूर होती है। मनुष्यके साथ रहकर एक तोता भी 'राम-राम' कहना सीख लेता है, किन्तु उसे 'हरि-परताप' का ज्ञान नहीं होता; और फिर जंगलोंमें किसी प्रकार चले जानेपर उसे वह भूलतक

जाता है। रामकी अनुभूति रामकी रटनसे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है।

अतएव हरि-स्मरणके क्रियात्मक रूप अथवा साधनाके ढंगकी ओर भी संकेत करते हुए कबीर साहब कहते हैं कि 'राम' का स्मरण करनेके साथ-साथ 'राम' के ध्यानका भी होना अनिवार्य है। हमें सबसे पहले उस अगम्य दुर्गपर चढ़नेकी चेष्टा करनी चाहिये, जहाँ एक 'अबरन' वा वर्णहीन ज्योतिका सदा प्रकाश हो रहा है, जो अखण्ड मण्डलसे मण्डित है और जहाँपर अनहदकी झंकार उठ रही है। वहीं श्वासोच्छ्वासके बीच हमें ठहरना है और 'मानसरोवर' में स्नान करना है। वहाँपर अपने मनको स्थिर करके 'सोहं हंसा' का 'अजपा जाप' करनेवाला 'काया' के अभ्यन्तरमें 'बोलने' वाले 'राम-नाम' के साथ 'सहज सुंनि' में तल्लीनता प्राप्त कर लेता है, पाप एवं पुण्यसे निर्लिप्त हो जाता है और उसका जरा-मरण-सम्बन्धी भय सदाके लिये दूर हो जाता है। उस दशामें माला, 'मनमुखी' अर्थात् मनकी इच्छाके अनुसार नहीं फिरा करती, बल्कि स्वयं मन ही मालाकी भाँति अपने वशमें होकर फिरने लगता है, पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ 'पिव' 'पिव' की रट लगाती हैं, मन राम-नामका स्मरण करता-करता राममय हो जाता है और 'तूँ-तूँ' करते-करते 'हूँ' वा अहंभावकी वृत्ति नष्ट होकर सर्वत्र 'तूँ' वा 'राम' का ही अनुभव होने लगता है। नाम-स्मरणकी साधना निरन्तर बिना किसी भी बाधाके चलनी चाहिये; क्योंकि एक तो, इसके कारण 'राम' का वियोग क्षणभरके लिये भी नहीं होता और दूसरे, दिन-रात चातककी भाँति कूकते रहनेसे, कभी-न-कभी अपनी पुकारके सुनायी पड़ जानेका निश्चय भी रहा करता है। कबीर साहबका कहना है कि 'मैंने भी तनना-बुनना इसी कारण छोड़ दिया कि जबतक मैं 'नली' के छेदमें सूत भरने लगूँ तबतक कहीं 'राम-सनेह' भंग न हो जाय। अब तो मेरे लिये अपने मनका रहटा ही 'परमपद' का दाता बन गया है; 'सहज' पूर्वक इसे चला दिया है और उत्तम-से-उत्तम सूत इसपर कतता जा रहा है। नाम-स्मरणकी साधना वास्तवमें, 'ब्रह्म-अगनि' को प्रज्वलित कर उसपर (आत्मानुभूतिद्वारा) तैयार किये गये 'राम-रस' का पान करना है। इसे कोई 'गूँगा' (अनिर्वचनीय आनन्दका अनुभव करनेवाला) और 'गहिला' (आत्मरसोन्मत्त) ही पिया करता है, इसके मर्मको कोई दूसरा नहीं जानता। जिस किसीको इसका स्वाद मिल गया, वह इसे निरन्तर माँग-माँगकर पीता हुआ भी कभी नहीं अघाता। यह 'महारस' बहुत महँगा है, किन्तु इसकी 'खुमारी' भी अत्यन्त विलक्षण है।

* * *

जिन्होंने अपने कानोंसे भगवान्‌की कथा नहीं सुनी, उनके कानोंके छिद्र साँपके बिलके समान हैं। जिन्होंने अपने नेत्रोंसे संतोंके दर्शन नहीं किये, उनके वे नेत्र मोरके पंखोंपर दीखनेवाली नकली आँखोंके समान हैं। वे सिर कड़वी तूँबीके समान हैं, जो श्रीहरि और गुरुके सामने नहीं झुकते। जिन्होंने भगवान्‌की भक्तिको अपने हृदयमें स्थान नहीं दिया, वे प्राणी जीते हुए भी मुर्देके समान हैं। जो जीभ श्रीरामचन्द्रजीके गुणोंका गान नहीं करती, वह मेंढककी जीभके समान है। वह हृदय वज्रके समान कड़ा और निष्ठुर है, जो भगवान्‌के चरित्र सुनकर हर्षित नहीं होता।

—श्रीरामचरितमानस

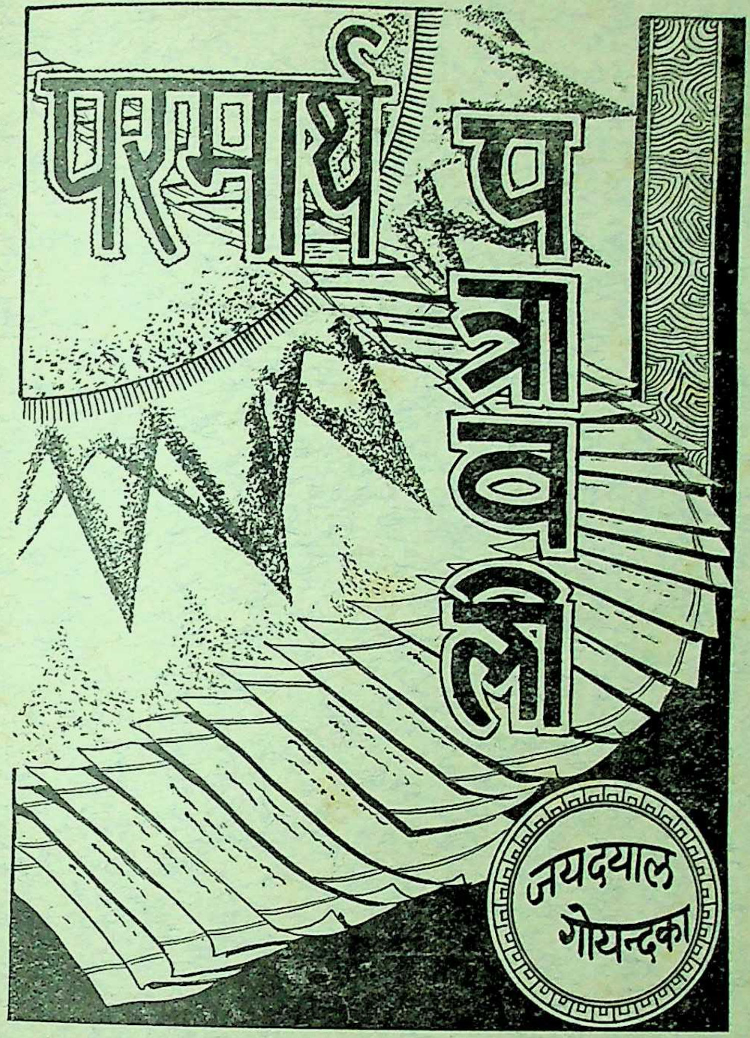
परमार्थ पत्रावली
जयदयाल गोयन्दका

लेखकके द्वारा अपने सम्बन्धियों एवं मित्रोंको समय-समयपर दिये हुए पत्र

पहला भाग

इक्यावन पत्रोंका संग्रह

मूल्य ।)

डाकखर्च अलग

दूसरा भाग

अस्सी पत्रोंका संग्रह

मूल्य ।)

डाकखर्च अलग

गीताप्रेस, गोरखपुर

श्रीहरिः

संत-लक्षण

तजि पर अवगुन नीर कूँ खीर गुनन सों प्रीति ।
हंस संत की सर्वदा नारायन ! यह रीति ॥ १ ॥
तनक मान मन में नहीं सब सों राखत प्यार ।
नारायन ! ता संत पै बार बार बलिहार ॥ २ ॥
अति कृपाल संतोष बृति जुगल चरन में प्रीत ।
नारायन ! ते संत बर कोमल बचन बिनीत ॥ ३ ॥
उदासीन जग सों रहें जथा मान अपमान ।
नारायन ! ते संत जन निपुन भावना ध्यान ॥ ४ ॥
मगन रहें नित भजन में चलत न चाल कुचाल ।
नारायन ! ते जानिए ये लालन के लाल ॥ ५ ॥
पर हित प्रीति उदार चित बिगत दंभ मद रोस ।
नारायन ! दुख में लखैं, निज कर्मन को दोस ॥ ६ ॥
भक्ति कल्पतरु पात गुन कथा फूल बहुरंग ।
नारायन ! हरि प्रेम फल चाहत संत बिहंग ॥ ७ ॥
जिन कों पूरन भक्ति है, ते सब सों आधीन ।
नारायन ! तजि मान मद ध्यान सलिल के मीन ॥ ८ ॥
नारायन ! हरिभक्त की प्रथम यही पहिचान ।
आप अमानी ह्वै रहै, देत और कूँ मान ॥ ९ ॥

—श्रीनारायण स्वामी

गुरुकुल कांगड़ी ३५-३-४४
पुस्तकालय

कल्याण

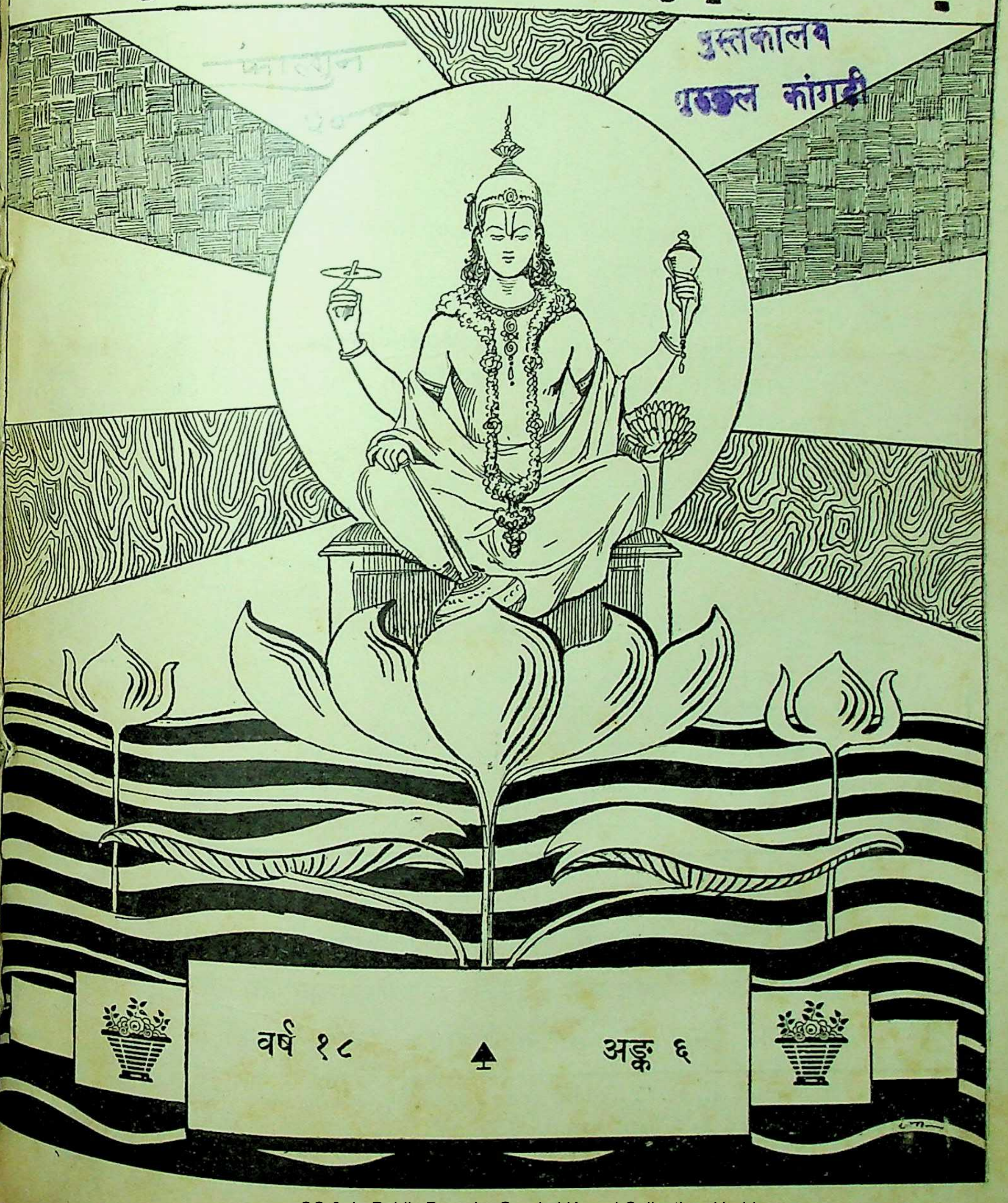

फाल्गुन

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी

वर्ष १८ ▲ अङ्क ६

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ आगारा ॥

[संस्करण ५५६००]

विषय-सूची

कल्याण मार्च सन् १९४४ की

विषय ... पृष्ठ-संख्या
१–जानकीकी खोज [कविता] (श्रीसूरदासजी) ७९३
२–प्रभु-स्तवन [कविता] (अनुवादक—श्रीमुंशीरामजी शर्मा, एम्० ए०, 'सोम') ... ७९४
३–संत-वाणी (एक महात्माका प्रसाद) ७९५
४–उनकी बान (श्रीविष्णुनारायणजी मेहरोत्रा) ८००
५–स्त्रियोंके लिये कल्याणके कुछ घरेलू प्रयोग (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ८०२
६–गीताका तीसरा अध्याय—कर्मयोग (पं० श्रीमुरलीधरजी शर्मा, बी० ए०, बी० एल्०) ... ८०७
७–शिक्षा (पं० श्रीगङ्गाशङ्करजी मिश्र, एम्० ए०) ८१२
८–प्रभुका खेल ('शान्त') ८१९
९–आनन्द ब्रह्मचर्यकी पीठ (श्रीवृजमोहनजी मिहिर) ८२१
१०–कामके पत्र ८२५
११–समस्त हिंदू भाइयोंसे आवश्यक निवेदन (पं० श्रीगङ्गाशङ्करजी मिश्र, एम्० ए०, सम्पादक 'सिद्धान्त') ... ८३०
१२–सत्सङ्गके बिखरे वाक्य (संग्रहकर्ता—एक सत्सङ्गी) ८३३
१३–सुदामाका स्वागत [कहानी] (श्री 'चक्र') ८४१
१४–भक्तकी निष्कृति [गीत] (श्रीशिवनारायणजी वर्मा) ८४६
१५–सूर और तुलसी (श्रीशम्भुप्रसादजी बहुगुना, एम्० ए०) ८४७
१६–सृष्टिका सर्वप्रथम स्रोत एवं आर्योंका मूल स्थान भारतवर्ष (श्रीउमरावसिंहजी रावत, एम्० ए०) ८५२

वार्षिक मूल्य
भारतमें ५≡)
विदेशमें ७।।=)
(शिलिङ्ग ११½)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें ।)
विदेशमें ।≈)
(८ पैंस)

Edited by H. P. Poddar and C. L. Goswami, M. A., Shastri
Printed and Published by Ghanshyamdas Jalan at the Gita Press, Gorakhpur, U. P. (India)

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

सूचना

श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका चैत्र सुदी १ (२५ मार्चके) लगभग हृषीकेश पहुँचनेका विचार है। वहाँ स्वर्गाश्रममें हर वर्षोंकी तरह इस वर्ष भी करीब दो-ढाई मासके लिये ठहरनेका विचार किया जा रहा है। आनेवाले भाइयोंसे प्रार्थना है कि किसी प्रकारकी जोखिम साथमें न लावें।

जानकीकी खोज

फिरत प्रभु पूछत बन द्रुम बेली।
अहो बंधु काहू अवलोकी इहि मग बधू अकेली॥
अहो बिहंग अहो पन्नग नृप या कंदरके राई।
अबकि बार मम बिपति मिटाओ, जानकि देहु बताई॥
चंपक पुहुप बरन तनु सुंदर मनो चित्र अवरेखी।
हो रघुनाथ निसाचर के सँग चली जाति हौं देखी॥
यह सुनि धावत धरनि चरन की प्रतिमा खगी पंथ में पाई।
नैन नीर रघुनाथ सानि के सिव ज्यों गात चढाई॥
कहुँ हिय हार कहूँ कर कंकन कहुँ अंचर कहुँ चीर।
सूरदास बन बन अवलोकत बिलखि बदन रघुबीरा॥

—सूरदासजी

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ आगारा ॥

[संस्करण ५५६००]

विषय-सूची

कल्याण मार्च सन् १९४४ की

विषय … पृष्ठ-संख्या
१–जानकीकी खोज [कविता] (श्रीसूरदासजी) … … ७९३
२–प्रभु-स्तवन [कविता] (अनुवादक—श्रीमुंशीरामजी शर्मा, एम्० ए०, 'सोम') … ७९४
३–संत-वाणी (एक महात्माका प्रसाद) … … ७९५
४–उनकी बान (श्रीविष्णुनारायणजी मेहरोत्रा) … … ८००
[redacted]
१२–सत्सङ्गके बिखरे वाक्य (संग्रहकर्ता—एक सत्सङ्गी)
१३–सुदामाका स्वागत [कहानी] (श्री 'चक्र') … … ८४१
१४–भक्तकी निष्कृति [गीत] (श्रीशिवनारायणजी वर्मा) … … ८४६
१५–सूर और तुलसी (श्रीशम्भुप्रसादजी बहुगुना, एम्० ए०) … … ८४७
१६–सृष्टिका सर्वप्रथम स्रोत एवं आर्योंका मूल स्थान भारतवर्ष (श्रीउमरावसिंहजी रावत, एम्० ए०) ८५२

वार्षिक मूल्य
भारतमें ५≡)
विदेशमें ७||=)
(शिलिङ्ग ११½)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्र
भारतमें ।
विदेशमें ।
(८ पैंस

Edited by H. P. Poddar and C. L. Goswami, M. A., Shastri
Printed and Published by Ghanshyamdas Jalan at the Gita Press, Gorakhpur, U. P. (India)

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

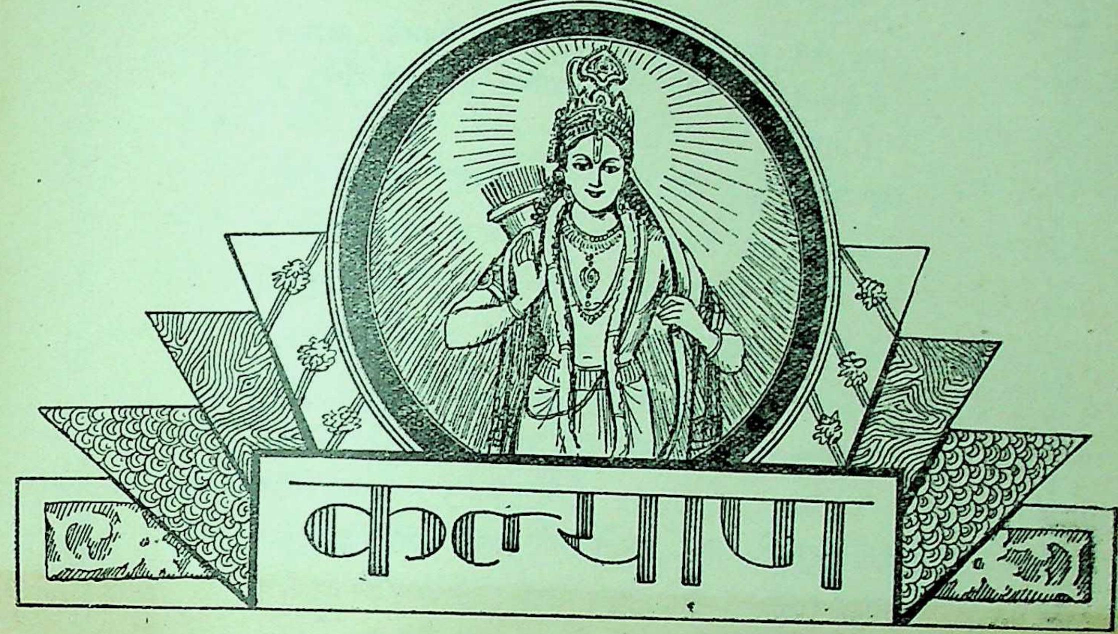

रामाय रामभद्राय रामचन्द्राय वेधसे ।
रघुनाथाय नाथाय सीतायाः पतये नमः ॥

वर्ष १८ } गोरखपुर, मार्च १९४४, सौर फाल्गुन २००० { संख्या ६
पूर्ण संख्या २१०

जानकीकी खोज

फिरत प्रभु पूछत बन द्रुम बेली।
अहो बंधु काहू अवलोकी इहि मग बधू अकेली ॥
अहो बिहंग अहो पन्नग नृप या कंदरके राई।
अबकि बार मम बिपति मिटाओ, जानकि देहु बताई ॥
चंपक पुहुप बरन तनु सुंदर मनो चित्र अवरेखी।
हो रघुनाथ निसाचर के सँग चली जाति हौं देखी ॥
यह सुनि धावत धरनि चरन की प्रतिमा खगी पंथ में पाई।
नैन नीर रघुनाथ सानि के सिव ज्यों गात चढाई ॥
कहुँ हिय हार कहूँ कर कंकन कहुँ अंचर कहुँ चीर।
सूरदास बन बन अवलोकत बिरुखि बदन रघुबीरा ॥

—सूरदासजी

प्रभु-स्तवन

(अनुवादक—प्रो॰ श्रीमुंशीरामजी शर्मा, एम्॰ ए॰, 'सोम')

तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे सौमनसे स्याम।
स सुत्रामा स्ववाँ इन्द्रो अस्मे आराच्चिद् द्वेषः सनुतर्युयोतु॥
(ऋक् ६ । ४७ । १३, ऋक् १० । १३१ । ७, यजुः॰ २० । ५२)

वह उत्तम रक्षक जगदीश्वर सतत स्वकीय शक्तिसम्पन्न।
द्वेषभावको दूर हटा दे होकर हमपर परम प्रसन्न॥
उस यजनीय देवकी मंगल सुमति हमें हो प्राप्त महान।
उसकी कल्याणी प्रसन्नता करे हमें कल्याण प्रदान॥

स त्वं नो अग्नेऽवमो भवोती नेदिष्ठो अस्या उषसो व्युष्टौ।
अव यक्ष्व नो वरुणं रराणो वीहि मृडीकं सुहवो न एधि॥
(ऋक् ४ । १ । ५, यजुः॰ २१ । ४)

तुम्हें बुलाते, तुम्हें बुलाते मेरी वाणी मन्द हुई है।
जा न सका स्वर मेरा, अथवा श्रवण-शक्ति तव बंद हुई है॥
मेरे देव! दूर तुम बैठे, कहीं निकट मेरे आ जाते।
उषा कालमें ऊपरसे चल नीचे उतर दया दिखलाते!
तो तुम मुझे देखकर होते द्रवित, दयाका हाथ बढ़ाते।
जगज्जालमें जटित, जरासे जीर्ण शीर्ण जनको अपनाते॥
पर, तुम परम, अवम कब होकर, मेरी करुण पुकार सुनोगे?
वरुण-पाश कर नाश सुगमता-साथ बुलाने योग्य बनोगे?

त्वं महीमवनिं विश्वधेनां तुर्वीतये वय्याय क्षरन्तीम्।
अरमयो नमसैजदर्णः सुतरणाँ अकृणोरिन्द्र सिन्धून्॥
(ऋक् ४ । १९ । ६)

तुमने कब क्या नहीं किया?
जब जब भीर पड़ी भक्तों पर तब तब उन्हें उबार लिया॥
रंग-अनंग-जयी निज जनके सफल मनोरथ करनेवाले!
कामधेनुसम भक्त पुरुषहित विपुल विश्वको दुहनेवाले!
एक ओरसे सुख बरसाते, कष्ट दूसरी ओर मिटाते।
देख तुम्हारा रुख, तूफानी-सागर भी प्रशान्त हो जाते॥
दुर्दमनीय विघ्न-बाधाके भीषण दल बादल हट जाते।
विचलित क्षुब्ध सिन्धुको पलमें सहसा तरनेयोग्य बनाते॥

संत-वाणी

(एक महात्माका प्रसाद)

जो उन्हें नहीं भूलता, वे उसे नहीं भूलते। गहराईसे देखिये, किसीका होना कुछ अर्थ नहीं रखता, जबतक कि उससे अपना सम्बन्ध न हो; और किसीसे भी सम्बन्ध उस समयतक नहीं होता, जबतक कि उसकी आवश्यकता न हो। स्वाभाविक आवश्यकता (Natural desire) वही है, जो सभी अस्वाभाविक इच्छाओं (Unnatural desires) को खा लेती है। उसी आवश्यकताको आपने अखण्ड आनन्दकी इच्छाके नामसे लिखा है। अखण्ड आनन्द इसी जीवनमें मिल सकता है, परन्तु मिलता तब है, जब उसके बिना किसी भी प्रकार चैन न हो। अर्थात् सच्ची व्याकुलता ही आनन्दतक पहुँचानेके लिये समर्थ है, किसी और Master की आवश्यकता नहीं है।

किसी भी चीज़को केवल झूठा समझ लेना ही, उससे छुटकारा पा लेनेके लिये काफी नहीं है; क्योंकि झूठी वस्तुमें आसक्ति (Attachment) हो जाती है। देखिये, सिनेमाके देखनेवाले उसको बिल्कुल झूठा जानते हैं; परन्तु फिर भी उससे आसक्ति हो जाती है।

भगवान्की ओर मन लगाकर काम करना उतना अच्छा नहीं है, जितना अच्छा कामको भगवान्का समझकर करना है; क्योंकि जिस समय जिस कामको करना हो, उस समय उसीमें अपनेको पूरा लगा देना चाहिये। ऐसा करनेसे कामके अन्तमें आपका मन अपने-आप कामको छोड़ देगा और उसके लिये व्याकुल हो उठेगा कि जिसका काम किया था। काम करते हुए भगवान्की ओर मन लगानेमें न तो मन काममें लगेगा न भगवान्में ही लगेगा, यानी दोनों ही बातें अधूरी रहेंगी। प्यारे! जो काम सामने हो और जिसके बिना किये नहीं रह सकते हो, यानी जिसका करना ज़रूरी हो, उसको बड़ी पवित्रतापूर्वक पूरी शक्ति लगाकर कर डालो। कामको अपनी ओरसे बुलाओ मत। जो शक्ति कामके बुलानेमें बेकार खर्च होती रहती है, उसको इकट्ठा होने दो। वही शक्ति आपको अखण्ड आनन्दसे मिला देगी।

भगवान् क्या है, यह सवाल तब ही हल हो सकता है, जब भगवान् मिल जावें। वैसे तो भगवान्के विषयमें यह कहना काफ़ी है कि उसके बिना हम Incomplete हैं अर्थात् अपूर्ण हैं। अपूर्ण (Incomplete) को पूर्णकी अभिलाषा यानी Complete की Desire होती है। इससे यह भली प्रकार सिद्ध हो जाता है कि हमारी जो स्वाभाविक इच्छा—Natural desire है, वही भगवान्का स्वरूप है और हमारी जो अस्वाभाविक इच्छा—Unnatural desire है वही संसारका स्वरूप है। अस्वाभाविक इच्छा होनेपर हम संसारकी ओर दौड़ते हैं; परन्तु पकड़ नहीं पाते। संसारका मीठापन यही है कि दौड़ते-दौड़ते जब थक जाते हैं, तब आराम पाते हैं अर्थात् थकावट ही संसारका सुख है। प्यारे! प्रत्येक प्रवृत्तिके अन्तमें किसीको भी शक्तिहीनताके अतिरिक्त कुछ नहीं मिलता। जो प्राणी यह अपने अनुभवसे जान लेता है, वह फिर प्रवृत्तिकी ओर नहीं दौड़ता; बल्कि अपने-आप आनेवाली निवृत्तिको अपनाकर अपने प्रेमपात्रके लिये व्याकुल हो जाता है। जीवनकी सभी कमज़ोरियाँ व्याकुलताकी अग्निमें अपने-आप जल जाती हैं।

जब स्वाभाविक इच्छा——Natural desire अस्वाभाविक इच्छा--Unnatural desire को खा लेती है, तब व्याकुलता उत्पन्न हो जाती है। इसलिये Natural desire को सबल बनानेका प्रयत्न

करना चाहिये । ज्यों-ज्यों वह सबल होती जायगी त्यों-त्यों Unnatural desire गलती जायगी । उसके बिल्कुल गल जानेपर Natural desire भगवान्की कृपासे अपने-आप पूरी हो जायगी । प्यारे ! आनन्द आपकी निरन्तर प्रतीक्षा कर रहा है । एक बार सुख (थकावट) के रससे विमुख होकर उसकी ओर देखिये । आपके देखते ही, वह आपको अवश्य अपना लेगा । आनन्दसे निराश होना बहुत बड़ी भूल है । आनन्द मिल सकता है, मिल सकता है, मिल सकता है । संसारको कोई भी किसी भी प्रकार पकड़ नहीं सकता । उसकी ओर दौड़नेमें थक जानेके सिवा कुछ नहीं मिलता ।

× × ×

जीवनकी प्रत्येक घटना कुछ-न-कुछ अर्थ रखती है । विचारशील अर्थको अपनाते हैं, घटनाको भूल जाते हैं और जो विचारका उपयोग नहीं करते, वे घटनाका चिन्तन करते हैं, अर्थको भूल जाते हैं । सत्यकी खोज करनेवाले प्राणी प्रतिकूलता आ जानेके भयसे, अनुकूलता चले जानेके भयसे दुखी होते हैं अर्थात् विचारशीलको अनुकूलताका सुख या प्रतिकूलताका दुःख—दोनों ही दुःख हो जाते हैं । सुख आनेपर दुःखको भूल जाना यही वास्तवमें भूल जाना है । आनन्द आनेपर दुःख मिटता है, सुखसे तो केवल दबता है । आनन्द आवश्यकता Natural desire की पूर्ति और इच्छाओं Artificial desires की निवृत्ति होनेपर आता है और फिर नहीं जाता । सुख प्राणीको तब मालूम होता है जब वह निरन्तर होनेवाले परिवर्तनको नहीं देखता तथा अपना मूल्य घटा लेता है । एवं जो उपस्थित है, उससे उत्कृष्ट परिस्थितिको देखना बंद कर देता है । वास्तवमें तो परिवर्तनका रोग निरन्तर है । प्रत्येक प्रवृत्ति महान् रोग है; क्योंकि प्रवृत्तिके अन्तमें निर्बलता प्राप्त होती है । परन्तु जिन प्रवृत्तियोंके करनेमें स्वतन्त्रता हो और उसका अन्त निवृत्तिमें हो, वह प्रवृत्ति करनेयोग्य है । जिस प्रवृत्तिके अन्तमें प्रवृत्ति ही शेष रहती है, वह त्याग करनेयोग्य है; क्योंकि Natural विधानके अनुरूप प्रत्येक प्रवृत्ति निवृत्तिका साधनमात्र है । यदि प्रवृत्ति जीवन होती तो उसका परिवर्तन स्वाभाविक नहीं होता । प्रवृत्तिको केवल प्रवृत्तिकी परतन्त्रता सिखानेके लिये प्रवृत्ति आवश्यक है । परतन्त्रताका दुःख स्वतन्त्रताकी आवश्यकता उत्पन्न कर देता है । स्वतन्त्रताकी आवश्यकता सबल होनेपर उसके सभी साधन अपने-आप उपस्थित हो जाते हैं; क्योंकि अनन्त शक्ति दीन नहीं है । जीवनकी घटनाओंका पाठ Natural desire को जाग्रत् कर देता है । अपनी अनुभूतिका आदर करो । परतन्त्रताको जीवन मत समझो । सुखका बन्धन दुःखसे अधिक दुःख है । यदि हो सके तो सुख देकर दुःख खरीद लो; क्योंकि सुख बाँटनेकी वस्तु है रखनेकी नहीं । जो प्राणी सुखको रखनेका प्रयत्न करता है, उससे सुख छिन जाता है, मिलता कुछ नहीं । और जो प्राणी सुख बाँट देता है, उसको आनन्द मिल जाता है ।

जो भुलानेपर भी नहीं भूलता, वह भगवान् है । प्राणी प्रमादवश परिवर्तनशील प्राणियोंका प्यार स्वीकार करने लगता है और भगवान्को भूल जाता है । भगवान् करुणा कर उन वस्तुओंको छिपा देता है और अपने प्यारके योग्य बना देता है । हम आसक्तिवश उनके प्यारको स्वीकार नहीं करते । उनको बिना प्यार किये कल नहीं पड़ती; इसीलिये वे हमारी आसक्तियुक्त वस्तुओंको निरन्तर बदलते रहते हैं ।

यदि हम थोड़े-से-थोड़े कालके लिये भी अपनेको खाली कर लें तो उनका नित्य प्यार एवं नित्य रस अपने-आप आने लगे । हम अनेक प्रकारकी चिन्ताद्वारा उनके प्यारको आनेसे रोकते रहते हैं । बस, यही सबसे बड़ी भूल है । प्राणी प्यार नहीं कर सकता । प्यार करना

तो भगवान् ही जानते हैं; क्योंकि प्यार वह कर सकता है जो पूर्ण हो । प्राणीका तो यह अन्तिम प्रयत्न है कि वह अपनेको उन्हें समर्पित कर दे ।

स्वरूपका अर्थ आभ्यन्तरिक व्यक्तित्व—Eternal personality है अथवा यों कहो कि जिससे आवश्यकताकी पूर्ति होकर उत्पन्न नहीं होती और न उससे भिन्नता रहती है । यदि कामका अन्त होनेपर मनको नहीं दे सकते, तो मनको अत्यन्त प्रिय वस्तुमें लगा दो । मन लगा देनेकी अपेक्षा मन देना सुलभ एवं हितकर है । परन्तु मनके देनेमें लालच लगता है, तो मनको उसमें लगा दो, जो सबसे प्रिय हो । यदि आप अपनी योग्यतासे प्रिय वस्तु नहीं ढूँढ़ पाते तो सभी वस्तुओंसे हटा लो । मन अपने-आप प्रिय वस्तुको ढूँढ़ लेगा । मनको बुरा मत समझो । बेईमान मत समझो । डाँटो मत । उससे प्रेमपूर्वक कह दो—'प्यारे मन ! अनेकको त्यागकर एकपर आ जाओ ।' जब आप मनसे प्रेमपूर्वक व्यवहार करने लगेंगे, तब मन प्रसन्न होकर आपको प्रसन्नता प्रदान करेगा । मन इसका भूखा है । बुद्धि उसको बहकाया करती है । आप बुद्धिसे कह दीजिये कि 'वह मनको अनेकसे एकपर लगा दे ।' किन्तु वह 'एक' मनका चुना हुआ हो । जब मन अधिक कालतक एकमें लग जायगा, तब या तो उसका त्याग कर देगा या उसमें विलीन हो जायगा । यदि आपको कोई स्थान न मिले, तो अपनेमें ही मन लगा दीजिये । अपनेका अर्थ शरीर मत समझना । प्रत्येक वस्तु उस प्यारेको प्रकाशित करनेके Short hand के चिह्नके समान है । जिस प्रकार भाषामें अर्थ दिखायी देता है, उसी प्रकार जिस प्रिय वस्तुमें मन लग जाता है, प्रेमीको प्रेमपात्र दिखायी देता है । चिह्न अर्थ नहीं होता—अर्थ चिह्न नहीं होता । मन बालक है । उसको प्रिय वस्तु देकर उसमें वह दिखाओ जो तुम्हारी आवश्यकता (Natural desire) है । चिह्नमें भटक मत जाओ । यदि मनको अपनेमें अथवा किसी प्रिय वस्तुमें नहीं लगा पाते, तो मनको अपनी आवश्यकतामें विलीन कर दो अर्थात् कामके अन्तमें अपने प्रेमपात्रका उसी प्रकार स्मरण करो, जिस प्रकार प्यास लगनेपर पानीका । प्यासा पानी-पानी शब्द नहीं रटता, पानीके लिये व्याकुल होता है । पानी प्यासेके हृदयकी पुकार होती है; अतः मनको अपने हृदयकी पुकारमें लगा दो । ज्यों-ज्यों हृदयकी पुकार बढ़ती जायगी, त्यों-त्यों मन निर्दोष होता जायगा । असह्य पुकार होनेपर प्रेमपात्र अपने-आप मनको तथा आपको अपना लेंगे । उनका अनन्त सौन्दर्य एवं नित्य आनन्द तथा रस इसलिये नहीं आता कि हम सीमित (Limited) परिवर्तनशील सौन्दर्यमें अपने-आपको बाँध देते हैं । प्यार नदीके समान है । वह अपने-आप उसी प्रकार अपने प्रेमपात्रतक पहुँचनेमें समर्थ है, जिस प्रकार नदी समुद्रमें स्वतन्त्रतापूर्वक पहुँच जाती है । परन्तु यदि नदीको बाँधकर अनेकों छोटी-छोटी नहरोंमें बाँट दिया जाय तो बेचारी छिन्न-भिन्न हो जाती है । बस, यही दशा बेचारे उन प्राणियोंकी है कि जिन्होंने अपने प्यारको सीमित कर वस्तुओंमें बाँध दिया है । नदीका निर्मल जल किसी गड्ढेमें बँध जानेसे अनेक विकार उत्पन्न करता है, उसी प्रकार जब हम अपने प्यारको शरीरमें बाँध देते हैं, तो वह प्यार अनेक विकार उत्पन्न कर देता है । जिस प्रकार हिमालयसे नदीका स्रोत धाराप्रवाह चलता ही रहता है, उसी प्रकार हमसे प्यारका स्रोत निरन्तर चलता ही रहता है । हम सबसे बड़ी भूल यही करते हैं कि उस प्यारके स्रोतके सामने वस्तु, अवस्था आदिकी अनेकों छोटी-छोटी पहाड़ियाँ खड़ी कर देते हैं । हमारा प्रेमपात्र निरन्तर उन पहाड़ियोंको हटाता रहता है । प्यार उनसे टकराता रहता है । प्यारका अधिकारी केवल प्रेमपात्र है । अतः हमको अपना प्यार सीमित नहीं करना चाहिये । प्रत्येक कामको पवित्रतापूर्वक पूरी शक्ति लगाकर कर डालो ।

कामके अन्तमें व्याकुलता अपने-आप आ जायगी। यदि व्याकुलता नहीं उत्पन्न होती, तो समझ लो अभी काम पूरी शक्ति लगाकर पवित्रतापूर्वक नहीं किया। पवित्रतापूर्वक किया हुआ प्रत्येक काम रामसे मिला देता है अथवा रामके लिये व्याकुलता उत्पन्न कर देता है। प्रत्येक कामके ठीक हो जानेका अर्थ है कि कर्ता कामसे छूट जाय। कर्ताको वही काम बाँध लेता है कि जिस कामको कर्ता पवित्रतापूर्वक पूरी शक्ति लगाकर नहीं करता। झुठाईसे प्राणी तब छूट पाता है, जब सचाईकी आवश्यकता उत्पन्न हो जाती है। अतः सत्यकी अभिलाषा असत्यसे सम्बन्ध-विच्छेद कर देगी। केवल असत्यको असत्य समझनेमात्रसे आसक्ति नहीं छूटती। सत्यकी आवश्यकता होनेपर असत्य अपने-आप छूट जाता है।

× × ×

'पवित्रतापूर्वक पूरी शक्ति लगाकर कर्म करनेका अर्थ' गहराईसे देखिये। जैसी आँख होती है वैसा ही देखती है अर्थात् कर्त्ताके अनुरूप ही कर्म होता है। यदि कर्ता पवित्र है तो अपने-आप पवित्रतापूर्वक प्रत्येक कर्म होगा; क्योंकि पवित्र होनेपर पवित्रता उत्पन्न होती है। साधारण प्राणी यह मानते हैं कि पवित्रता आनेपर कर्ता पवित्र होगा। वास्तवमें यह बात नहीं है। देखिये, सूर्य होनेपर प्रकाश उत्पन्न होता है। प्रकाश आनेपर सूर्य नहीं होता। अर्थात् प्रकाश सूर्यका कार्य है, प्रकाशका कार्य सूर्य नहीं है। अतः पवित्र होनेपर ही पवित्रतापूर्वक कर्म हो सकता है।

पवित्र होनेसे पूर्व अपवित्रताका ज्ञान अनिवार्य है; क्योंकि जबतक दोषका ज्ञान नहीं होता, तबतक गुणका ज्ञान नहीं हो सकता। सभी दोष उसी समयतक जीवित रहते हैं, जबतक दोषी दोषको देख नहीं पाता अथवा जबतक दोषी दोषको अपनेमें मिलाकर देखता है। अनन्त कालका दोष उसी क्षणमें मिट जाता है, जिस कालमें दोषी अपनेको दोषसे असंग कर लेता है अर्थात् दोषसे सम्बन्ध-विच्छेद कर लेनेपर बेचारा दोष वर्तमानमें ही निर्मूल—नष्ट हो जाता है।

जब प्राणी उसकी ओर देखता है, जो उसकी ओर नहीं देखता, तब अनेक दोष अपने-आप आ जाते हैं अर्थात् सभी अपवित्रताओंका मूल कारण यही है कि हम अपना मूल्य घटा लेते हैं तथा अपनेमें अभिमानकी अग्नि उत्पन्न कर लेते हैं। जो प्राणी परतन्त्रताकी बेड़ियोंमें जकड़ा है एवं अभिमानकी अग्निमें जलता है, वही अपवित्र है। इस अभागी अपवित्रताके आनेपर अनेकों दुःख निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं। सबसे प्रथम परतन्त्रताकी बेड़ियोंको तोड़ दो, अर्थात् अपनेपर अपनेसे भिन्नका शासन मत होने दो (अपने ही बलसे अपनेपर विजय प्राप्त कर लो)। ऐसी कोई प्रवृत्ति मत करो कि जो प्रवृत्ति अपनी ओरसे आपका स्वागत न करे। जो प्राणी अपनेपर अपनेसे भिन्नका शासन स्वीकार नहीं करता, उसको भोगमें योग, प्रवृत्तिमें निवृत्ति, बन्धनमें मुक्ति और दुःखमें आनन्द दिखायी देता है। ऐसा प्राणी मित्रके लिये मित्र, पुत्रके लिये पिता, पत्नीके लिये पति, शत्रुके लिये शत्रु-सा दिखायी देता है। स्वयं कुछ नहीं होता, क्योंकि वह अपने लिये अपने प्रेमपात्र (निज स्वरूप) से भिन्नकी ओर नहीं देखता अथवा यों कहो कि ऐसा प्राणी प्रमादसे उत्पन्न होनेवाली सभी स्वीकृतियोंका त्याग कर अपनेको खालीकर अपनेको अपने प्रेमपात्रके रहनेके योग्य बना लेता है अर्थात् वह आनन्दघन भगवान्का निवासस्थान हो जाता है, जो सब प्रकारसे पूर्ण हैं। अपनेमेंसे उन सभी स्वीकृतियोंको निकाल दो, जो सीमित एवं दोषयुक्त हैं। अहंभाव आनन्दघन भगवान्का निवासस्थान है और शरीर विश्वकी वस्तु है। जब प्राणी अपनेको भगवान्को और शरीर विश्वको दे डालता है,

तब उसमें किसी प्रकारकी अपवित्रता शेष नहीं रहती। अपवित्रताका नितान्त अन्त होनेपर सभी काम अपने-आप पवित्रतापूर्वक पूरी शक्ति लगाकर होने लगते हैं। प्यारे! अच्छाई उत्पन्न होती है सिखायी नहीं जाती।

आप धन्य हैं कि आपको संसारमें वही दिखायी देता है जो आपमें है। दुखीको जब सब ओर दुःख दिखायी देता है, तब दुखी दुःखका अन्त करनेके लिये समर्थ होता है। दुःख अग्निके समान है और सुख लकड़ी है। दुःखकी अग्नि इतनी प्रबल कर दो कि सुखका अन्त हो जाय। सुखका अन्त होते ही दुःखरूपी अग्नि अपने-आप शान्त हो जायगी और फिर कभी उत्पन्न न होगी। सुखका अन्त करनेके लिये सुख क्या है—यह जान लेना आवश्यक है। सुख क्या है? सुख सुखीको तबतक मालूम नहीं होता—(१) जबतक वह अपना मूल्य नहीं घटा लेता। (२) जबतक वह थक नहीं जाता। (३) जबतक वह परिवर्तनमें अपरिवर्तन नहीं देखता। ये तीनों कारण 'प्रमाद' अर्थात् भूल जानेसे उत्पन्न होते हैं। भला, जो बेचारा भूलसे उत्पन्न हुआ है, वह अन्तमें भूलके अतिरिक्त और क्या दे सकता है? अर्थात् कुछ नहीं। देखिये, इसी कारण सुखी प्राणी भूला रहता है। दुःख उस भूलके निकालनेके लिये उत्पन्न होता है; अतः दुःख सुखकी अपेक्षा कहीं आदरणीय है। आनन्दघन भगवान्‌तक (एवं पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान करनेके लिये) पहुँचानेके लिये दुःख ही समर्थ है। दुःखरूप अग्नि सभी निर्बलताओंके मिटानेमें समर्थ है। अतः मनसे कह दीजिये—'प्यारे मन! दुःखसे डरो नहीं, बल्कि उसे अपनाओ।'

× × ×

जबतक हम अपने लिये अपनेसे भिन्नकी आवश्यकताका अनुभव करते हैं, तबतक किसी-न-किसी प्रकारकी प्रवृत्ति बनी ही रहती है अर्थात् संयोगकी आवश्यकता ही प्रवृत्ति है।

प्रवृत्तिके विपरीत अर्थात् संयोगको वियोगमें विलीन कर देना ही निवृत्ति है। प्रवृत्ति न रहनेपर निवृत्ति अपने-आप आ जाती है। निवृत्ति आते ही आस्तिकता उत्पन्न होती है जो स्वतन्त्रताका मूल है।

विचारशीलकी अनेक प्रवृत्तियाँ एक ही प्रवृत्तिमें विलीन होती हैं। जब अनेक प्रवृत्तियाँ एक ही प्रवृत्तिमें विलीन होने लगती हैं, तब नकली इच्छाएँ—Artificial desires स्वाभाविक इच्छा—Natural desire में बदल जाती हैं, जो उन्नतिका मूल है। जब अनेक इच्छाएँ एक ही आवश्यकतामें विलीन हो जाती हैं, तब आवश्यकता-पूर्तिकी शक्ति अपने-आप आ जाती है; क्योंकि प्रत्येक प्राणी कल्पतरुके नीचे निवास करता है। प्यारे! यह भली प्रकार समझ लो कि अनन्त शक्ति—Universal energy कंगाल नहीं है। प्यारे! मानव-जीवनमें गुलामीके लिये कोई स्थान नहीं है और न अभिमानकी आवश्यकता है। अभिमान तथा गुलामीसे रहित एकताके लिये जीवन मिला है।

जब हमारी सारी प्रवृत्तियोंको निवृत्ति खा लेती है तब विश्व तथा विश्वनाथ दोनोंसे एकता अपने-आप हो जाती है।

निवृत्ति संसाररूपी नदीके चढ़ावकी ओर ले जाती है, अर्थात् संसारके कारणका ज्ञान कराकर संसारसे ऊपर उठा देती है; क्योंकि निवृत्तिद्वारा संसारका यथार्थ ज्ञान हो जाता है। प्रवृत्ति नदीके बहावकी ओर ले जाकर संसार-सागरमें मिला देती है अर्थात् प्रवृत्ति संसारमें ही चक्कर लगाती है। प्रथम स्वार्थयुक्त प्रवृत्तिको सर्वप्रिय प्रवृत्तिमें बदल दो। ऐसा करनेसे संसारका वास्तविक रस आ जायगा। बेचारा संसार स्वयं नित्य रसकी खोजमें है। अर्थात् ऐसे प्राणीको नित्य रस आत्मिक—Eternal रसकी खोज हो जायगी, जिसकी पूर्ति निवृत्तिद्वारा ही हो सकती है। सर्वप्रिय प्रवृत्ति जब निवृत्तिमें

विलीन हो जाती है, तब परमप्रिय निवृत्ति आनन्दघन भगवान्से अभेद कर देती है।

गहराईसे देखिये। निवृत्तिके बिना पुनः प्रवृत्तिकी भी शक्ति नहीं आती; क्योंकि निवृत्तिसे ही प्रवृत्तिकी शक्ति मिलती है। कोई भी प्राणी तबतक बोल नहीं सकता, जबतक बोलनेके पश्चात् चुप न हो जाय; क्योंकि चुप होनेसे ही दोबारा शब्द बनता है। कोई भी पथिक तबतक चल नहीं सकता, जबतक पाँव उठाकर रख न लेवे। हाँ, यह अवश्य है कि थोड़ी देरका चुप अधिक देर बोलने देता है और थोड़ी देरका पैर रखना अधिक देर चलनेकी क्रिया करता है अर्थात् स्थिरतासे ही क्रियाकी शक्ति उत्पन्न होती है। ऐसी कोई शक्ति नहीं है जो निवृत्तिसे न आ जाय और ऐसी कोई प्रवृत्ति नहीं है जिससे शक्तियोंका ह्रास न हो अर्थात् निवृत्तिसे शक्तिसञ्चय और प्रवृत्तिसे शक्तिका ह्रास होता है। निवृत्ति प्राकृत नियम—Natural law है, इसलिये अपने-आप आती है, प्रवृत्ति राग—Attachment से उत्पन्न होती है, इसलिये प्रयत्नसे आती है और अपने-आप चली जाती है। नित्य जीवनके लिये निवृत्तिका अपना लेना परम अनिवार्य है।

उनकी बान

(लेखक—श्रीविष्णुनारायणजी मेहरोत्रा)

उनको गुदगुदानेकी आदत है—देखो न, उनका तो अँधेरेकी काली चादरमें छिपे-छिपे खिलवाड़ होता है, उदास कलियाँ रोते-रोते निराश होकर सो जाती हैं, तब वे फिर उन्हें अज्ञात करोंसे गुदगुदाना आरम्भ कर देते हैं और ऐसा गुदगुदाते हैं, ऐसा गुदगुदाते हैं कि हँसाकर ही छोड़ते हैं। भला यह भी कोई खेल है! क्षितिजपर खड़े-खड़े मुसकराना और बार-बार पास बुलाना—पास बुलाना और फिर दूर हो जाना……यह खीझ है या रीझ? मैं क्या बताऊँ—उनकी निष्ठुरता भी तो प्राणोंको प्रिय है, प्राणधन जो ठहरे! सच कहता हूँ। वह मादक मूर्च्छना जीवनका सर्वस्व है—मेरी महँगी भूल, उनका मीठा भुलावा—दोनों मधुर हैं, दोनों मर्मको सहलानेवाले हैं। अब वही जानें, कौन चोर है, कौन शाह…………माखनचोर! मनचोर!! भूषण-वसन चोर!!! और……………………………

कल मैंने उन्हें हँसिये-हथौड़ेके साथ देखा। वे भानु-कृशानु बने, कालकूट पीये, विरूपाक्ष हो, शंकरतामें शिवताका समन्वय कर रहे थे और मैं किंकर्तव्यविमूढ़-सा अपने उन मोहन रासविहारीकी इस ताण्डव छबिको मुँह बाये देख रहा था। हृदय काली कसौटीपर उनकी कञ्चन-कान्तिको आँकनेके लिये कचोट उठा—पास पहुँचा—मैंने देखा, वे अपने प्रकृति आकार विन्दु बने सहज गतिके साथ रुक-रुककर नीचे चलते चले आ रहे हैं—सोचा और आगे बढ़ूँ, उन्हें बाँध लूँ, कि वे देखते-देखते गिरे-गिरे और विलीन हो गये। मैं ज्यों-का-त्यों रह गया—यह थी उनकी करामात! तभी तो मैं उन्हें रासायनिक कहता हूँ……

अभी उस दिनकी बात है……रात्रिके उस सूचीभेद्य अन्धकारमें वे उपासनाकी मूर्ति बनकर बैठे…अपनी साँसोंमें आप समाये हुए सुधिविभोर, 'वैधव्य-तुषारावृता' चित्रकूटकी 'विधुलेखा' कैकेयीके समान, ऊर्ध्वमुखी-हठयोगिनी-अचञ्चला दीपशिखा-से निस्पन्द, कालिदासकी 'अपर्णा'के वर्चस्-से दीप्तिमान्……। मैं ठिठक गया, सोचा, कहीं समाधि न भंग हो जाय। दबे-पाँव मन्दिरके द्वारसे सटकर उन्हें झाँकने लगा। वे न दिखायी दिये—असमञ्जसमें पड़ गया—किससे पूछूँ!

वायुसे ? वह तो मानो दीवारोंसे चिमटकर दीवार ही बन गया था····तो फिर ? दीपकसे ? जो एक ही रुख टकटकी बाँधे अन्धकारको चारों ओरसे शनैः-शनैः चाटनेमें लगा हुआ था—। मैंने देखा, एकाकीपना भार बना शून्यताकी छाती दबाये बैठा है, उनका कहीं पता न था·······। हृदयकी धड़कनको बंद करके पुतलियोंको बाँधा और पत्थर बना अभिशप्ता अहल्याकी मूर्तिमत्ताके प्रतीक-सा 'तरन-तारन-विरद'-विन्दुके लिये चातक-व्रती बन बैठा, जो वे थे वही मैं भी बना, समझ लिया पिघलेंगे तो दोनों साथ बहेंगे······किन्तु अचानक उन्होंने शीतल निःश्वास छोड़ा। मैं काँप गया, देखा तो सरकार दीपकके नीचे छायामें छिपे बैठे हैं····। बलिहारी !

कथानक करुण है। भवभूति बेचारा हाथ मल-मलकर रह गया कि उसे फिरसे लिखनेका अधिकार तो मिले। साहब उस दिन दयार्द्र थे; माँके हृदयका हाहाकार था, दो भूखे बच्चोंकी माँके हृदयका—भला उनसे पूछा जाय कि क्या माँ होना कोई पाप है ? तीन लंबे-लंबे दिन और चौड़ी-चौड़ी रातें, बारह-बारह घंटोंके जोड़वाली, बर्फ़-सी जमी और पके फोड़ेके समान दिनमें रसियानेवाली—बीती थीं······। स्तनोंने अपना हृदय निकालकर रख दिया था कि जो कुछ था दे दिया······। वह दृश्य था——सिनेमाके चित्रपट-सा दुहरा रहा हूँ——रोएँ खड़े हुए जाते हैं, जताते हैं कि हम इस शरीरसे सहयोग नहीं करेंगे। जो छातीपर सेल रक्खे हैं···याद आया, लूके झोंकोंसे हतसौरभ-सुमन-सा वह शरीर या शरीरका ढाँचा, जिसमें केवल सुमन शमन बनकर रह गया था—हड्डियाँ अवशिष्ट थीं, खादके लिये—तर्पण समाप्त हो चुका था और आज पितृविसर्जन था···अन्तिम तिथि, रोगीकी अन्तिम साँस, बुझनेके पहलेका दिया, आज पितर जी भरकर ले लें, कुछ रह न जाय—पूर्णिमाकी चन्द्रलेखा घटते-घटते आज 'क्षयी' बनी थी और तारे मैले वस्त्रमें झाँकते हुए अङ्गोंकी तरह 'कूर्मानिव' अङ्ग समेटे पीछे सिमटनेका प्रयत्न कर रहे थे·······वह रात थी, उसके दुःख-दर्दकी सहचरी——अशोकवाटिकाकी त्रिजटा······भूखा पति——घरकी भूखी दीवारें भी जैसे अंधी होकर भाँय-भाँय कर रही थीं—फिर भूखा पति——खाली हाथ घर कैसे लौटता ? माँ मेदिनी अभी अपना गर्भ खोलनेको तैयार नहीं थी·······। एकाएक मन मारे-मारे पवन विद्रोही हो उठा, शून्यने भी खिसकना प्रारम्भ किया····। मुँहपर काली चादर खींच ली कि कुछ दिखायी न दे; किन्तु हृदयकी ज्वाला 'धू-धू' कर रही थी——भूखे बच्चे अचल बने स्पर्शानुभव कर रहे थे और फटी आँखोंसे माँको न देख पाते हुए भी देख रहे थे, अन्धकार मानो दृश्यको छिपानेमें सन्नद्ध करुणाको बहाये लिये जा रहा था और माँकी ममता पाषाणी बनी देवताके निमित्त भीगी पलकोंका उपहार लिये हृदय-द्वार खोले बैठी थी······द्वार खुला। आकाशका हृदय फटा, एक चीख उठी और बच्चोंके प्राण-पखेरू अँधेरेमें न जाने कहाँ उड़ गये—भूखी माँ उल्का-पिण्ड-सी बच्चोंकी छातीपर गिर पड़ी और ढहढहाते हुए अपने उस बूढ़े घरकी जर्जर पसलियोंपर, सुखनींद सोनेवाले लालोंपर छत्रच्छाया-सी करती डैने पसारकर सदाके लिये सो गयी······। उस दिन मैंने देखा था, वह ढाढ़ें मार-मारकर रोये थे······। मैंने सुना था वे सुदामाके साथी हैं·············।

कुछ दिन बाद, उसी स्थानपर, जहाँ वे रोये थे, मैं गया। मैंने देखा, वह हरी-हरी दूबकी गोदमें शिशुओं-से झूम झूमकर हँस रहे हैं···। मुझे देखकर झुक-झुककर बुलाने लगे; मैं पास गया तो अञ्चलमें मुँह ढाँप लिया······। अब बताओ, उन्हें गुदगुदानेकी आदत है या नहीं ?

स्त्रियोंके लिये कल्याणके कुछ घरेलू प्रयोग

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

(एक उपदेशप्रद दृष्टान्त)

किसी संयुक्त परिवारमें दो स्त्री-पुरुष, उनके पाँच लड़के और दो लड़कियाँ थीं। लड़कोंका विवाह हो चुका था। उनमेंसे चारके बाल-बच्चे भी थे। लड़कियाँ दोनों क्वारी थीं। सबसे छोटे लड़केका ब्याह कुछ ही दिन पहले हुआ था। उसकी स्त्री अभी मैकेमें ही थी। इस प्रकार दोनों लड़कियोंको मिलाकर घरमें कुल सात स्त्रियाँ थीं। वे चाहतीं तो सब मिलकर घरका काम-काज अच्छी तरह कर सकती थीं; परन्तु उनकी आपसमें बनती न थी। वे एक दूसरीसे जला करती थीं और घरके काम-काजसे जी चुराती थीं। उनमेंसे प्रत्येक यही चाहती कि उसे कम-से-कम काम और अधिक-से-अधिक आराम मिले। आये दिन उनमें तू-तू, मैं-मैं हो जाया करती थी। घरमें अशान्ति और कलहका साम्राज्य था। इसी परिस्थितिमें सबसे छोटे लड़केकी स्त्री भी अपने मैकेसे आ गयी। वह साधु घरानेकी लड़की थी। उसे बचपनसे ही बड़ी अच्छी शिक्षा मिली थी। वह अपनेको उस क्षुब्ध वातावरणमें पाकर घबरा उठी। अपनी सास और जिठानियोंको आपसमें लड़ते-झगड़ते देख वह एक दिन रो पड़ी और अत्यन्त आर्त होकर मन-ही-मन भगवान्से प्रार्थना करने लगी—'प्रभो! क्या यही सब देखने-सुननेके लिये मुझे आपने इस घरमें भेजा है? यहाँ तो मैं एक दिन भी न रह सकूँगी। मुझे रात-दिनका झगड़ा अच्छा नहीं लगता। न जाने मैंने पिछले जन्मोंमें ऐसे कौन-से दुष्कर्म किये हैं, जिनके कारण मेरा इस घरमें ब्याह हुआ है?' रोते-रोते उसकी घिग्घी बँध गयी। उसे स्पष्ट सुनायी दिया मानो उसे कोई सान्त्वनापूर्ण शब्दोंमें कह रहा है—'बेटी! घबरा मत, इस घरका सुधार करनेके लिये ही तुझे यहाँ भेजा गया है। तुझ-जैसी लड़कीकी यहाँ आवश्यकता थी।'

इन शब्दोंको सुनकर छोटी बहूको बड़ी सान्त्वना मिली। उसकी सारी घबराहट जाती रही। उसने मन-ही-मन अपना कर्तव्य निश्चित कर लिया। उसने कलहका मूल जानना चाहा। उसे मालूम हुआ कि उसकी सास और जिठानियों तथा ननदोंने आपसमें घरका काम बाँट लिया है। सास और ननदें ऊपरका काम करती थीं और बहुएँ पारी-पारीसे भोजन बनाती थीं। और-और कामोंके लिये भी पारी बाँध ली गयी थी। परन्तु यदि उनमेंसे दैवात् कोई बीमार हो जाती तो दूसरी बहुएँ उसके बदलेका काम करनेमें आनाकानी करती थीं। वे उसपर बहानेबाजीका आरोप करतीं और अनेक प्रकारके आक्षेप करतीं। लड़ाईका दूसरा कारण यह होता कि जब कभी घरमें बाहरसे कोई खाने-पीनेकी चीज आती तो सब-की-सब यह चाहतीं कि अच्छी-से-अच्छी चीज अधिक-से-अधिक मात्रामें मुझे मिले। बस, इसीपर झगड़ा शुरू हो जाता और आपसमें गाली-गलौजतककी नौबत आ जाती। कभी-कभी मामूली बातोंको लेकर बखेड़ा खड़ा कर लिया जाता। यदि कभी एक भाईका लड़का दूसरे भाईके लड़केसे लड़ पड़ा तो इसीपर दोनोंकी माताएँ एक दूसरीको खूब खोटी-खरी सुनातीं। इन सब बातोंको देखकर छोटी बहूको बड़ा दुःख हुआ। जिस दिन उसने भगवान्का आदेश सुना, उसी दिनसे वह झगड़ा मिटानेका उपाय सोचने लगी। उसने सोचा कि भगवान्ने इसी बहाने उसे सेवाका बड़ा ही सुन्दर अवसर प्रदान किया है। वह एक दिन चुपकेसे अपनी सबसे बड़ी जिठानीके पास गयी। उस दिन उसकी सबेरे रसोई बनानेकी पारी थी। उसने जिठानीसे कहा—'जिठानीजी! मैं आप सबसे छोटी हूँ। मेरे रहते आप रसोई बनायें—यह उचित नहीं मालूम

होता। फिर आपको तो बाल-बच्चोंकी भी सँभाल करनी पड़ती है। मेरे जिम्मे और कोई काम है नहीं। इसलिये बड़ा अच्छा हो यदि आप अपनी रसोई बनानेकी पारी मुझे दे दें। मैं आपका बड़ा उपकार मानूँगी।' जिठानी पहले तो बड़ी देरतक आनाकानी करती रही। वह बोली—'बहू! अभी तो तुम्हारे खाने-पहननेके दिन हैं। जब कुछ सयानी हो जाओ, तब चूल्हा फूँकनेके काममें पड़ना। अभी कुछ दिन आराम कर लो, गृहस्थीका सुख भोग लो। आखिर तो यह सब करना ही है।' छोटी बहूने कहा—'जिठानीजी! मैं आपके पैरों पड़ती हूँ, मुझे इस तरह निराश न करो। यही दिन तो मेरे काम करनेके हैं। अभीसे यदि मुझे आपलोग आरामतलब बना देंगी तो आगे जाकर मैं किसी कामकी न रह जाऊँगी। अवश्य ही मुझसे कोई बड़ा अपराध हो गया है, जिसके कारण मुझे आप अपने अधिकारसे वञ्चित कर रही हैं।' यह कहकर वह रोने लगी। अब तो जिठानी और अधिक उसकी बातको न टाल सकी। उसने अपनी पारी उसे दे दी। इस प्रकार क्रमशः उसने सभी जिठानियोंसे अनुनय-विनय करके उन सबकी पारी ले ली। यह काम अपने जिम्मे लेकर वह इतनी प्रसन्न हुई मानो उसे कोई निधि मिल गयी हो। वह प्रतिदिन सवेरे बड़े चावसे सबके लिये रसोई बनाती और सबको खिला-पिलाकर अन्तमें स्वयं भोजन करती। उसे ऐसा करनेमें तनिक भी थकान नहीं मालूम होती, बल्कि उसे इसमें बड़ा सुख मिलता। वह दिनोंदिन दूने उत्साहसे इस कामको करने लगी। वह रसोई भी बहुत अच्छी बनाती और फुर्तीसे बनाती। बात-की-बातमें बहुत-सी सामग्री तैयार कर लेती। यदि कभी कोई मेहमान भी आ जाते तो वह उकताती न थी। उन्हें भी बड़े प्रेमसे भोजन कराती, क्योंकि वह इसमें अपना लाभ समझती थी। उसकी इस अद्भुत लगन एवं सेवाभावको देखकर सभी कोई उसकी प्रशंसा करने लगे। एक दिन उसकी सास उसके पास आयी और बोली—'बेटी! तूने यह क्या किया? सबकी पारी अपने जिम्मे क्यों ले ली?' उसने बड़ी नम्रतासे उत्तर दिया—'माताजी! मेरे माता-पिताने मुझे यही शिक्षा दी है कि यह शरीर तो एक दिन मिट्टीमें मिल जानेवाला है। इसे अधिक-से-अधिक दूसरोंकी सेवामें लगाना चाहिये। यही इसका सबसे अच्छा उपयोग है। सेवा ही सबसे बड़ा धन है। अतः आपसे भी मेरी यही प्रार्थना है कि आप मुझे इस कामके लिये बराबर उत्साह दिलाती रहें।' उसका यह उत्तर सुनकर सास चकित हो गयी। उसने सोचा कि यह तो कोई देवी है, किसी मानुषीका ऐसा सुन्दर भाव नहीं हो सकता।

दूसरे दिन ससुरजी बहुओंको देनेके लिये बहुत-सी साड़ियाँ लाये। उन्होंने प्रत्येक बहूको वर्षभरके लिये बारह-बारह साड़ियाँ दीं। छोटी बहू अपने हिस्सेकी साड़ियोंमेंसे दो साड़ियाँ लेकर अपनी सबसे बड़ी जिठानीके पास गयी और विनयपूर्वक बोली—'जिठानीजी! मुझे यहाँ आते समय पिताजीने बहुत-सी साड़ियाँ दी थीं। मेरा उनसे अच्छी तरह काम चल सकता है। आप मुझपर दया करके ये दो साड़ियाँ अपने लिये रख लीजिये। मुझे इससे बड़ा सुख मिलेगा और मैं आपका बड़ा अहसान मानूँगी।' जिठानीने बहुत आनाकानी की, परन्तु उसका अत्यधिक आग्रह देखकर वह उसे अस्वीकार न कर सकी। इसी प्रकार आग्रह करके उसने दो-दो साड़ियाँ अपनी अन्य जिठानियोंको तथा दो अपनी सासको दीं और एक-एक साड़ी अपनी ननदोंको दे दीं। उसके इस औदार्यपूर्ण व्यवहारकी भी सबके मनपर गहरी छाप पड़ी। सासके पूछनेपर उसने कहा—'माताजी! मैं इस कार्यमें भी आपकी मदद एवं प्रोत्साहन चाहती हूँ। शरीरकी भाँति ये

वस्त्र आदि भी क्षणभङ्गुर हैं । इनका संग्रह आत्मकल्याणमें बाधक है । जीते-जी मोह एवं आसक्ति आदिके कारण इनमें फँसावट हो जाती है और मरते समय भी यदि इनमें मन अटका रहा तो प्रेत आदि योनियोंमें भटकना पड़ता है । सेवाके काममें लगाना ही इन सबका सर्वोत्तम उपयोग है । नहीं तो एक दिन ये यों ही नष्ट हो जायँगी ।' सास उसका यह उत्तर पाकर बहुत प्रसन्न हुई और उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगी । इधर घरमें पैसा भी बढ़ गया । ससुरजीने प्रत्येक बहूको छः-छः गहने तैयार कराके दिये । छोटी बहूने अपने हिस्सेके गहनोंको भी अपनी चारों जिठानियों और ननदोंमें बाँट दिया और अपने लिये उसने एक भी न रक्खा । पूछनेपर उसने यही कहा कि 'मेरे पास अपने पिताजीके दिये हुए बहुत-से गहने पड़े हैं । मेरे लिये उतने ही पर्याप्त हैं ।' इस प्रकार उसने अपने साधु व्यवहार एवं उदारतासे सभीके हृदयमें स्थान कर लिया । सभी उससे अत्यधिक सन्तुष्ट थे ।

फिर एक दिन मौका देखकर उसने अपनी बड़ी जिठानीसे सायंकालकी रसोई बनानेकी भी आज्ञा माँगी । उसने कहा—'मेरे रहते आप रसोई बनानेका कष्ट करें—यह मेरे लिये बड़ी ही लज्जाकी बात है ।' वह इस प्रकार कह ही रही थी कि उनकी सास वहाँ आ पहुँची । वह बड़ी उत्सुकतासे अपनी बड़ी बहूसे पूछने लगी—'यह किस बातके लिये आग्रह कर रही है ?' जब उसे मालूम हुआ कि छोटी बहू सायंकालकी रसोई भी अपने ही हिस्सेमें कर लेना चाहती है, तब तो वह हँसकर बोली—'तुमलोग अपनी इस छोटी देवरानीसे सावधान रहना । यह तुमलोगोंसे वास्तविक लाभकी वस्तु ठग लेना चाहती है ।' बड़ी बहू सासके अभिप्रायको न समझकर बोल उठी—'सासजी ! आप यह क्या कह रही हैं ? आपकी यह छोटी बहू तो बड़ी ही साध्वी है, सब प्रकार प्रशंसाके योग्य है । इसके सम्बन्धमें आप ऐसी बात कैसे कह रही हैं ?' सासने कहा—'तुम समझी नहीं । यह हमलोगोंकी सेवा करके—हमें गहने-कपड़े तथा शारीरिक आराम आदि तुच्छ वस्तुएँ देकर बदलेमें तप आदि हमारी आध्यात्मिक कमाई—जो आत्मोद्धारमें सहायक है, हमसे छीन रही है । इससे बढ़कर ठगई और क्या होगी ? इसने मुझे एक दिन बताया था कि दूसरोंकी सेवा करनेसे अन्तःकरण शुद्ध होकर आत्मकल्याणमें समर्थ हो जाता है । इसने यह भी कहा था कि शुद्ध भावसे रसोईके रूपमें घरवालोंकी सेवा करनेसे एक ही सालमें कल्याण हो जायगा । इसलिये बहू ! सायंकालकी रसोईका काम तो मैं अपने जिम्मे लूँगी । मुझे भी तो आत्माका कल्याण करना है । मैं ही उससे वञ्चित क्यों रहूँ ?' सासकी यह बात सुनकर सबकी आँखें खुल गयीं । फिर तो सबको अपने-अपने कल्याणकी फिक्र पड़ गयी । कहाँ तो सब-की-सब कामसे जी चुराती थीं और छोटी बहूके एक समयकी रसोईका भार अपने सिरपर ले लेनेसे एक प्रकारके सुख एवं सुविधाका अनुभव करती थीं, इसके विपरीत अब सबने अपनी-अपनी सवेरेकी रसोई बनानेकी पारी छोटी बहूसे वापस ले ली । जहाँ कामको लेकर कुछ ही दिन पहले सबमें झगड़ा होता था, अब सब-की-सब बड़े उत्साह एवं दिलचस्पीके साथ अपने-अपने हिस्सेका काम करने लगीं । छोटी बहूका उपाय काम कर गया ।

जब छोटी बहूने देखा कि ये लोग कोई भी अब रसोईका काम मुझे नहीं सौंपेंगी तब उसने सेवाका दूसरा ढंग सोचा । उसने विचार किया कि घरमें रोज आठ दस सेर आटेकी खपत है, वह सारा-का-सारा बाजारसे खरीदा जाता है । इससे तो अच्छा है कि मैं बड़े सवेरे उठकर स्वयं गेहूँ पीस लिया करूँ । इसमें कई लाभ हैं । जो आटा बाजारसे आता है, वह प्रायः पुराने घुने हुए गेहुँओंका होता है । उसमें मिट्टी मिली हुई रहती है । फिर कलकी चक्कियोंमें जो आटा पिसता

है, उसका सार मारा जाता है। वह स्वास्थ्यके लिये हानिकारक होता है। मेरी जिठानियोंने रसोईका काम तो मुझसे वापस ले लिया। अब आत्मकल्याणके लिये मुझे यही काम करना चाहिये। उसने तुरंत यह प्रस्ताव अपने पतिके सामने पेश कर दिया। तुरंत गेहूँकी व्यवस्था हो गयी। बाजारसे आटा खरीदना बंद कर दिया गया। छोटी बहूने दिनमें गेहूँ साफ करके रख दिये और दूसरे दिन सवेरे ही मुँह-हाथ धोकर वह गेहूँ पीसनेके काममें जुट गयी। शरीर स्वस्थ और सबल था और मन उत्साहसे भरा था। काम करनेका अभ्यास था। बात-की-बातमें उसने आठ-दस सेर गेहूँ पीसकर रख दिये। सासको जब इस बातका पता लगा तो वह दौड़ी हुई छोटी बहूके पास आयी और बोली—'बहू! यह आत्मकल्याणका कोई नया तरीका ढूँढ़ निकाला है क्या?' बहूने गद्गद स्वरमें कहा—'माताजी! जिठानियोंने रसोई बनानेका काम तो मुझसे वापस ले लिया। इसलिये मुझे आत्मकल्याणका यह दूसरा मार्ग ढूँढ़ना पड़ा। इसमें शारीरिक श्रम अधिक है। इसलिये जहाँ आध्यात्मिक लाभके लिये रसोईका काम करनेसे सालभरमें आत्माका कल्याण होता, वहाँ आटा पीसनेसे छः ही महीनोंमें काम बन जायगा। फिर इसमें दुहरा लाभ है। आत्माका कल्याण तो होता ही है, साथ-ही-साथ शारीरिक व्यायाम भी हो जाता है, जिससे शरीरमें फुर्ती और बल आता है। इससे गर्भवती स्त्रियोंको प्रसव भी जल्दी और सुखपूर्वक होता है। घरवालोंको शुद्ध आटा मिलता है, जिससे उनके स्वास्थ्य और मन दोनोंपर अच्छा प्रभाव पड़ता है। इन सब कारणोंसे यह काम मेरे लिये अत्यन्त श्रेयस्कर है। आशा है, आप मेरे इस काममें मेरी सहायता करेंगी।' अब तो सास अपनी छोटी बहूको गुरुवत् मानने लगी। उसकी एक-एक बात उसको सारगर्भित प्रतीत होने लगी। वह उसके प्रत्येक कार्यको गौरवकी दृष्टिसे देखने लगी और स्वयं भी उसीका अनुकरण करनेकी चेष्टा करने लगी। जहाँ छोटी बहूने पहले दिन सवेरे छः बजे आटा पीसनेका कार्य आरम्भ किया था, वहाँ यह दूसरे दिन पाँच ही बजे उस काममें जुट गयी। उसकी देखा-देखी तीसरे दिन उसकी दूसरी बहुओंने चार ही बजे उस कामको शुरू कर दिया। इस प्रकार पहले जहाँ वे सब-की-सब कामसे जी चुराती थीं, अब उन सबमें काम करनेकी एक प्रकार होड़-सी होने लगी। सभी चाहती थीं कि अधिक-से-अधिक काम मुझे करनेको मिले; क्योंकि सबको उसमें आत्म-कल्याणके दर्शन होते थे। छोटी बहूकी यह दूसरी विजय थी।

अब छोटी बहूने कमरे साफ करने तथा कुएँसे पानी खींचकर लानेका काम अपने जिम्मे ले लिया। सवेरे नौकर झाड़ू लगाने तथा पानी भरने आता, तो उससे पहले ही यह सारा काम स्वयं कर लेती। सासने उससे फिर पूछा—'बेटी! इस कामके करनेमें तुम्हारा क्या अभिप्राय है?' छोटी बहूने बड़े ही मधुर स्वरोंमें कहा—'माताजी! आपको इन सब बातोंका भेद बतला देनेसे सेवासे वञ्चित होना पड़ता है। इसलिये अब मैं इसका रहस्य आपको नहीं बतलाना चाहती। इस अविनयके लिये आप मुझे क्षमा करें।' सासने कहा—'बेटी! अब मैं तेरे कार्यमें बाधा नहीं डालूँगी। तू मुझे इसका आध्यात्मिक रहस्य समझा दे।' बहूने कहा—'सासजी! जहाँ रसोईका काम करनेसे सालभरमें और आटा पीसनेका काम करनेसे छः महीनेमें आत्म-कल्याण होता, वहाँ पानी भरनेकी सेवासे तीन ही महीनोंमें काम बन जायगा; क्योंकि यह काम उन सबकी अपेक्षा अधिक कठिन है। इसमें श्रम एवं कष्ट अधिक है तथा जानकी भी जोखिम है।' फिर क्या था, सास भी उसके इस काममें हाथ बँटाने लगी। दोनोंका उसमें साझा हो गया। दूसरी बहुओंने यह देखकर साससे कहा—

'आपकी अवस्था अब पानी भरने लायक नहीं है। इसलिये यह काम आपको नहीं करना चाहिये।' इसपर सासने उन्हें उत्तर दिया—'क्या मुझे आत्म-कल्याण नहीं चाहिये ? मैं वृद्धा हूँ, इसलिये मुझे तो जल्दी-से-जल्दी आत्माका कल्याण कर लेना चाहिये।' फिर क्या था, दूसरी बहुएँ भी इस काममें शामिल हो गयीं। अब छोटी बहूने बरतन माँजनेका काम अपने जिम्मे लिया। सासने इसपर आपत्ति की। वह बोली—'इससे तुम्हारे कपड़े खराब होंगे और आभूषण घिस जायँगे। इस प्रकार महीनेमें जहाँ तुम नौकरकी मजदूरीके पाँच रुपये बचाओगी, वहाँ उसके बदलेमें तुम्हारा दस रुपयोंका नुकसान हो जायगा।' इसपर बहूने कहा—'माना कि ऐसा करनेसे आर्थिक लाभकी अपेक्षा हानि ही अधिक होगी; किन्तु मेरे कपड़े चाहे मैले हो जायँ, मेरा अन्तःकरण तो इससे बहुत जल्दी शुद्ध होगा। बात यह है कि जो काम जितना कठिन और लौकिक दृष्टिसे जितना नीचा होता है, आध्यात्मिक दृष्टिसे वह उतना ही ऊँचा और कल्याणकारक होता है। बरतन माँजनेसे मुझे विश्वास है कि दो ही महीनोंमें मेरा कल्याण हो जायगा। और यदि कभी भगवान् ऐसा संयोग भेज दें, जब कि किसी रोगीकी टट्टी-पेशाब उठाना पड़े, तब तो एक ही महीनेमें कल्याण निश्चित है। अवश्य ही भाव हमारा ऊँचे-से-ऊँचा—पूर्ण निष्कामनाका होना चाहिये।'

सासकी तो छोटी बहूके वाक्योंमें अब वेदवाक्योंके समान श्रद्धा हो गयी थी। वह भी बरतन माँजनेके काममें उसे सहयोग देने लगी। अन्य बहुओंने उसे मना किया। उसने कहा—'अपने लड़कोंके बर्तन तो मैं अवश्य ही माँज सकती हूँ। फिर वृद्धावस्थाके कारण मेरा आत्मकल्याणके साधनमें सबसे अधिक अधिकार है। इसलिये इस विषयमें तुम्हारा आग्रह नहीं माना जा सकता।' फिर तो सब-की-सब बहुएँ उसी काममें जुट गयीं। सब काम आनन-फानन होने लगे। काम-काजकी जो पारी बाँधी गयी थी, वह टूट गयी। जो मौका पाती, वही आगे-से-आगे काम करनेको तैयार रहती। सबमें परस्पर प्रेम और सद्भावकी स्थापना हो गयी। जिस घरमें कलह और अशान्तिका एकच्छत्र साम्राज्य था, वही अब सुख-शान्तिका निकेतन हो गया। जो लोग यहाँकी स्त्रियोंको लड़ते-झगड़ते देखकर हँसते थे, वे ही उनका आदर्श व्यवहार देखकर आश्चर्य करने लगे। शहरके लोग दर्शकरूपसे उन लोगोंका व्यवहार देखनेके लिये आने लगे। स्त्रियोंके इस आदर्श व्यवहारका पुरुषोंपर भी कम प्रभाव नहीं पड़ा। इनकी देखा-देखी वे सब भी आलसी हो चले थे। अब इनका आदर्श व्यवहार देखकर वे सब भी कर्तव्यपरायण हो गये। जहाँ पहले दूकानका काम प्रायः चढ़ा रहता था, वहाँ अब कामकी अपेक्षा काम करनेवाले अधिक हो गये। जहाँ उनमें पहले कामसे जी चुरानेके कारण झगड़ा होता था, वहाँ अब वे सब-के-सब एक-दूसरेका काम छीनकर लेने लगे। जहाँ पहली लड़ाई नरकोंमें ले जानेवाली थी, वहाँ यह दूसरी लड़ाई कल्याणमें सहायक थी। कहना न होगा कि यह सब परिवर्तन छोटी बहूके सद्भाव, सद्विचार और सच्चेष्टाओंका सत्फल था। जिस प्रकार एक मछली सारे तालाबको गंदा कर देती है, उसी प्रकार एक ही महान् एवं पवित्र आत्मा घरभरका ही नहीं, मुहल्ले, गाँव और नगरभरका सुधार कर देती है। संगकी ऐसी ही महिमा है। सभी माता-बहिनोंको इस आख्यायिकासे शिक्षा लेकर आत्माके कल्याणके लिये निष्कामभावसे दूसरोंकी सेवाका व्रत ले लेना चाहिये। ऐसी सेवा बहुत [illegible] मुक्तिका कारण बन जाती है—'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।' श्रीमद्भगवद्गीतामें ऐसे अनेकों वाक्य मिलते हैं, जिनसे इस बातकी पुष्टि होती है। श्रीभगवान् कहते हैं—

'युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।'
(५ । १२)

कर्मयोगी कर्मोंके फलको परमेश्वरके अर्पण करके भगवत्प्राप्तिरूप शान्तिको प्राप्त होता है ।

'असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ।'

आसक्तिसे रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है ।

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥
(१८ । ५६)

मेरे परायण हुआ कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जाता है ।

गीताका तीसरा अध्याय—कर्मयोग

(लेखक—श्रीमुरलीधरजी शर्मा, बी० ए०, बी० एल०)

[गताङ्कसे आगे]

यज्ञचक्र और ज्ञानी पुरुष (गीता ३ । १७-२०)

पहले कहा जा चुका है कि यज्ञ अर्थात् कर्तव्य-कर्मको करते रहना व्यक्तिगत स्वार्थसिद्धि और समाजकी सुस्थितिके लिये नितान्त आवश्यक है । कर्तव्यविमुख जीवका जीना भी निरर्थक है । हाँ, ज्ञानी पुरुष अवश्य इस सार्वभौम नियमका अपवाद है । कर्मचक्रको जारी रखनेका उत्तरदायित्व उसपर नहीं है । 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि'—'उसके सब कर्म क्षीण हो जाते हैं' (मुण्डकोपनिषद् २ । २ । ८); 'निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः ?'—'त्रिगुणातीत मार्गमें विचरनेवाले ज्ञानियोंके लिये विधि-निषेधके नियम लागू नहीं होते ।' (श्रीशङ्कराचार्य) । यही उत्तरगीतामें भी कहा गया है—

ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः ।
न चास्ति किञ्चित्कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित् ॥
(उ० गी० १ । २३)

अर्थात् 'ज्ञानरूपी अमृतसे तृप्त और कृतकृत्य योगीके लिये कोई कर्तव्य नहीं रह जाता है । यदि कोई कर्तव्य शेष है, तो वह ज्ञानी ही नहीं है ।' ऐसे महापुरुष पृथ्वीमण्डलके आभूषण हैं । मानवजातिके शिरोमणि और जीवमात्रके परम मित्र होते हैं । 'वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावलीकार' ने ठीक कहा है—

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा पुण्यवती च तेन ।
अपारसच्चित्सुखसागरेऽस्मिँल्लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः ॥

अर्थात् 'जिस मनुष्यका चित्त सच्चिदानन्दघन परब्रह्मरूपी महासमुद्रमें लीन हो गया, उससे उसका कुल पवित्र हो गया, जननी कृतकृत्य हो गयी और पृथ्वी पुण्यवती हो चुकी ।' ज्ञानीकी यह अनुपम विशेषता उपनिषद् और धर्मशास्त्रोंकी तरह गीताको भी मान्य है, पर भगवान्का कहना है कि कर्तव्य करने या न करनेकी स्वतन्त्रता रहनेपर भी ज्ञानीको कर्म नहीं छोड़ना चाहिये । अपने निजी स्वार्थके लिये न सही, पर संसारके उपकारार्थ 'लोकसङ्ग्रह' की दृष्टिसे यानी लोगोंके सामने उत्तम आदर्श रखकर समाजको व्यवस्थित रखनेके लिये उसे कर्म करना ही चाहिये । यही कर्मयोगके सिद्धान्तकी पूर्णता और स्वतन्त्रता है । गीता कहती है—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥
तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥
कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
(३ । १७—२०)

'जिसकी आत्मामें ही प्रीति और तृप्ति रहती है और जो आत्मतत्त्वसे ही पूर्णतया सन्तुष्ट है, उस (ज्ञानी पुरुष) के लिये कोई कार्य शेष नहीं रहता । ऐसे (ज्ञानी) पुरुषका संसारमें कर्म करने या न करनेसे कोई प्रयोजन नहीं है; क्योंकि किसी भी प्राणीमें उसका स्वार्थ अटका हुआ नहीं है; (तथापि ऐसे ज्ञानियोंने आसक्तिरहित होकर लोकसंग्रहके लिये कर्म किया है,) इसलिये (हे अर्जुन !) तुम भी निरन्तर अपना कर्तव्य-कर्म करते रहो; क्योंकि आसक्तिको त्यागकर

कर्म करनेवाला पुरुष परमपदको प्राप्त होता है। (उदाहरणार्थ) जनक आदिने केवल कर्मसे ही सिद्धि प्राप्त कर ली थी।'

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि भगवान्‌ने पहले दो श्लोकोंमें 'हेतु' देकर तीसरे श्लोकमें 'सर्वदा अनासक्तभावसे कर्तव्य कर्म करते रहना चाहिये' यह 'अनुमान' निकाला है। यही बात तृतीय श्लोकके प्रारम्भिक पद 'तस्मात्' से भी स्पष्ट है; पर इस अनुमानको उक्त हेतुसे निकालना बड़ा ही कठिन है। 'ज्ञानीके कोई कर्तव्य नहीं है, क्योंकि उसके कोई स्वार्थ नहीं है, जिसको काम करके सिद्ध करना पड़े'—इस हेतुसे 'तू भी कार्य कर'—यह अनुमान कैसे निकाला जा सकता है ?' लोगोंने बड़ी-बड़ी क्लिष्ट कल्पनाएँ की हैं। कुछ प्रसिद्ध टीकाकारोंने यह कहकर सन्तोष कर लिया है कि 'केवल ज्ञानी ही एक ऐसा व्यक्ति है जिसके कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता; पर अर्जुन तो ज्ञानी नहीं था, इसलिये उसको कर्म करनेका उपदेश दिया गया है।' इत्यादि। वास्तवमें यह समाधान ठीक नहीं है; क्योंकि इन श्लोकोंके बाद ही भगवान्‌ने ज्ञानीके लिये भी लोकसंग्रहार्थ कर्म करते रहनेका प्रतिपादन किया है और इस कथनके समर्थनमें अपना उदाहरण दिया है (गी० ३। २०—२४)। इस स्थितिमें हमें जो बात सूझ पड़ी है, उसे निवेदन करते हैं। अबतक भगवान्‌ने श्रुति-स्मृति और युक्तिसे अर्जुनके सामने कर्म करनेके महत्त्वका प्रतिपादन किया है। पर इन श्लोकोंमें 'ज्ञानीके लिये कोई कर्म शेष नहीं रहता' यह सुनते ही वैराग्य और भिक्षा-कर्मके लिये तैयार बैठे हुए अर्जुनका चित्त स्वतः ही कर्म-त्यागकी तरफ झुक पड़ा। इस अनिष्टापत्तिको देखते ही भगवान् हेतु-वाक्यकी एक सीढ़ीको छोड़ झट उक्त अनुमान-पर कूद पड़े, जिससे कि अर्जुनका चित्त क्षणके लिये भी कर्मयोगके विचारसे न हट सके। अन्यथा कर्म और ज्ञानके विषयमें अर्जुनद्वारा की गयी शङ्का ज्यों-की-त्यों बनी रह जायगी। इस विच्छिन्न हेतु-शृङ्खलाकी पूर्ति करनेसे इन श्लोकोंकी संगति ठीक बैठ सकती है। १८ वें श्लोकके अर्थ-के बाद ही हम इन शब्दोंका अध्याहार कर लें—'तथापि ऐसे ज्ञानियोंने आसक्तिरहित होकर लोकसंग्रहके लिये कर्म किया है।' इसके उदाहरणमें भगवान्‌ने २० वें श्लोकका भाव कहा है। इस प्रकार १७—२० श्लोकोंको पढ़नेपर एक सम्बद्ध और सुचारु अर्थ प्रतीत होगा।

सदा अनासक्तभावसे कर्तव्यकर्मरूपी यज्ञ करते रहनेको ही 'कर्मयोग' कहते हैं। ज्ञानयोगकी तरह कर्मयोग भी अनादि कालसे चला आता है। इसका तत्त्व व्यास, वसिष्ठ, याज्ञवल्क्य आदि ब्रह्मर्षियोंको पूर्णतया ज्ञात था, पर मनु, इक्ष्वाकु, भीष्म, भरत आदि राजालोगोंने ही इसका मुख्य-रूपसे आचरण और प्रचार किया है। इस ज्ञानमूलक कर्म-मार्गका अनुसरण करनेके कारण तत्त्वज्ञोंने उन्हें 'राजर्षि'—प्रजापालनके कारण 'राजा' और ब्रह्मज्ञानके कारण 'ऋषि'—कहा है। इन कर्मयोगियोंमें अग्रगण्य मिथिलाके राजा जनक थे। समस्त राजकाज करते रहनेपर भी देहमें अध्यास न होनेके कारण विद्वान् लोग उन्हें 'विदेह'—जीवन्मुक्त—कहा करते थे। उन्होंने ही सर्वप्रथम कर्मयोगका विद्यापीठ या गुरुद्वारा खोला था, जहाँ कोई भी जिज्ञासु अधिकारी कर्मयोगकी दीक्षा ले सकता था। 'बुद्धचरित' में अश्वघोषने कहा है—

'आचार्यक योगविधौ द्विजानामप्राप्तमन्यैर्जनको जगाम।'

(१। ५०)

अर्थात् 'कर्मयोगकी शिक्षा देनेमें राजा जनक ब्राह्मणोंके उपदेशक बने। इससे पहले यह आचार्य-पद और किसीको प्राप्त नहीं हुआ था।' ज्ञानी-शिरोमणि व्यासपुत्र महर्षि शुकदेव भी इनके पास कर्मयोगकी विधि जाननेके लिये गये थे। उनकी अनुपम अनासक्ति उनके निम्नलिखित वचनसे स्पष्ट प्रकट हो जाती है—

अनन्तं बत मे वित्तं यस्य मे नास्ति किञ्चन।
मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दह्यति किञ्चन॥

(महाभारत शान्तिपर्व २१९। ५० व २७५। ४)

अर्थात् 'अपार धन होनेपर भी (आसक्ति न होनेके कारण) मेरा कुछ नहीं है, मेरी राजधानी मिथिलाके जल जानेपर भी (ममता न होनेसे) मेरा कुछ नहीं जलता है।' उन्होंने पहले साधनावस्थामें निष्काम-कर्मयोगके आचरणद्वारा चित्तशुद्धि करके ज्ञान प्राप्त किया। तदनन्तर पूर्ण ज्ञानी हो जानेपर भी वे लोकसंग्रहके लिये जीवनपर्यन्त कर्म करते रहे और अन्तमें प्रारब्ध कर्मोंके क्षीण होनेपर ब्रह्मलीन हो गये। इस प्रकार उनके जन्ममें किसी भी भूमिकामें निष्काम-कर्मसे नाता नहीं टूटा अर्थात् सांसारिक सफलतासे लेकर परमपदकी उच्चतम प्राप्तितकके ध्येयको उन्होंने कर्मयोगके द्वारा ही साध लिया।

ज्ञानी और लोक-संग्रह (गीता ३। २०—२६)

जब कि ऐसी स्थिति है कि 'हजारोंमें कोई एक ज्ञान

पानेके लिये चेष्टा करता है और यत्न करनेवाले सज्जनोंमेंसे किसीको ही तत्त्वज्ञान होता है' (गीता ७ । ३) तो ज्ञानियोंकी संख्या हर समय संसारमें अत्यन्त अल्प मिलेगी । फिर इन लोगोंके कर्म करने या छोड़नेपर क्यों इतना जोर दिया जाता है ! इसका उत्तर गीता यों देती है कि यह संसारकी रीति-नीति है कि 'श्रेष्ठ आदमी जो कुछ भी करता है, दूसरे लोग वैसा ही करते हैं । वह जिस बातको प्रमाण मानता है, लोग उसीका अनुसरण करने लगते हैं ।' (गीता ३ । २१) यदि वह ज्ञान हो जानेके बाद कर्म करेगा तो अन्य लोग भी कर्म करेंगे; यदि वह कर्म छोड़ेगा तो वे भी छोड़ेंगे । ऐसी स्थितिमें ज्ञान हो चुकनेके बाद मोक्षप्राप्तिके लिये आवश्यक न रहनेपर भी संसारमें अपने कार्यद्वारा उत्तम आदर्श रखनेके लिये ज्ञानीलोग कर्म किया करते हैं; इसलिये (हे अर्जुन !) 'लोकसंग्रहकी दृष्टिसे भी तुम्हें कर्म ही करना उचित है' (गीता ३ । २०) । और तो क्या, तुम मेरी ही ओर देखो—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥

(गीता ३ । २२-२४)

'हे अर्जुन ! त्रिभुवनमें मेरे लिये कोई भी कार्य करना (शेष) नहीं है और न किसी अप्राप्त वस्तुको ही मुझे प्राप्त करना है, फिर भी (देखो) मैं कर्म करता ही हूँ । यदि मैं सावधान होकर कर्ममें न लगूँ, तो हे अर्जुन ! लोग सर्वथा मेरे मार्गका ही अनुसरण करेंगे अर्थात् मेरे कर्म न करनेपर वे भी मेरी देखा-देखी कर्म नहीं करेंगे । यदि मैं कर्म न करूँ तो (मेरे उदाहरणसे और मनुष्य भी कर्तव्यविमुख हो जायेंगे और इस प्रकार सृष्टिकी स्थितिके कारणरूप कर्मको छोड़नेसे) यह तमाम दुनिया ही नष्ट हो जायगी; (मुझे आदर्श मानकर लोग अपना-अपना कर्तव्य-कर्म छोड़ बैठेंगे और मनमाने तौरपर दूसरोंके विहित कर्मोंको अपनाने लगेंगे । इस तरह) मैं ही लोगोंकी (कर्मसङ्करताके द्वारा वर्ण-) सङ्करताका करनेवाला बनूँगा (और स्वधर्मत्याग तथा परधर्मोपादान-दोषके कारण समाज नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा । इस प्रकार) मैं ही इस प्रजाके नाशका कारण होऊँगा ।'

ज्ञानघन, सर्वथा स्वतन्त्र, जगन्नियन्ता और आप्तकाम ईश्वर भी अपना कोई कर्तव्य न रहनेपर केवल लोगोंको अपने उत्तम आदर्शद्वारा कर्ममें लगे रहनेकी शिक्षा देते हैं । जिससे कि यह जगच्चक्र विधिवत् चालू रहे । इसी तरह लोककल्याणकी भावनासे ज्ञानीलोग भी निष्काम कर्म किया करते हैं । लोगोंको इस प्रकार संगृहीत या व्यवस्थित रखनेकी प्रक्रियाको 'लोकसंग्रह' कहते हैं । चाहे जब और जिस तरहसे कर्म करने और छोड़नेसे समाजकी कोई व्यवस्था नहीं रह सकती और लोग 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना' लोकोक्तिके अनुसार बिखर जायेंगे—उनका संग्रह न रहेगा । तमाम गीतामें यह 'लोकसंग्रह' का प्रकरण सर्वोच्च महत्त्वका है ।

ज्ञानोत्पत्तिके पहले तो संन्यासमार्गियोंके मतानुसार भी सब लोगोंको चित्तशुद्धिके लिये कर्म करना ही चाहिये । उस वक्ततक कर्म छोड़ना अनधिकार चेष्टा और दुःसाहसमात्र है, क्योंकि ऐसा करनेसे मोक्ष मिलना तो दूर रहा, मनुष्य अधोगतिको प्राप्त हो जाता है । ज्ञान हो जानेके बाद तो उनका कहना है, ज्ञानीको कर्म छोड़ ही देना चाहिये; क्योंकि 'कर्म जीवको बन्धनमें डालनेका कारण है'—'कर्मणा बध्यते जन्तुः' (म० भा० शां० प० २४० । ७) । वे लोग 'ज्ञान-कर्म-समुच्चय' को नहीं मानते । ज्ञान और कर्म दोनों क्रमशः मोक्ष और बन्धनके कारण होनेसे अत्यन्त विरुद्ध स्वभाववाले हैं । वे सूर्य और अन्धकारकी भाँति कभी एक साथ नहीं रह सकते—

'तस्मात्………'कर्मणात्मज्ञानस्य समुच्चयो न केनचिद्दर्शयितुं शक्यः,' 'तस्मात् कयाऽपि युक्त्या न समुच्चयो ज्ञानकर्मणोः,' 'तस्माच्च कर्मणोऽस्ति निःश्रेयससाधनत्वं न च ज्ञानकर्मणोः समुच्चितयोः ।'

(देखिये शां० भा० गीता २ । ११; ३ । ३; १८ । ६६)

'यतः समुच्चयो नास्ति तयोरतिविरोधतः' 'न ज्ञानकर्मणोः समुच्चयो विकल्पो वा ।'

(देखिये मधुसूदनी टीका उपोद्घात श्लो० ६ गी० ३।३)

मोक्ष केवल ज्ञानसे होता है, न कि कर्मसे अथवा कर्म और ज्ञानके समुच्चयसे । मोक्षके लिये ज्ञानको कर्मकी सहायताकी जरूरत नहीं है । उपनिषदोंकी भाँति गीताकारको भी यह मत मान्य है कि मोक्षप्राप्तिके लिये ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान ही सच्चा साधन है और ज्ञान हो जानेके बाद पुरुषके कोई स्वार्थ शेष नहीं रहता, इसलिये उसे कर्तव्यकर्म करनेकी भी आवश्यकता नहीं है; पर गीताकारका कहना है

कि स्वार्थ-सिद्धिके लिये न सही, पर लोकसंग्रहके लिये तो ज्ञानीको भी कर्म करना चाहिये । जनक आदिका उदाहरण देकर अपने कर्तव्य करते रहनेका उद्देश्य भी भगवान्‌ने लोकसंग्रह ही बतलाया है । जब ज्ञानी भी सोना-उठना, खाना-पीना, श्वासोच्छ्वास, भिक्षाटन आदि कर्म करते रहते हैं, तो फिर इन कर्मोंकी भाँति अन्य विहित कार्य भी करते रहें तो क्या आपत्ति है ? हाँ, यह बात सच है कि ज्ञानी चाहे कर्म करे या न करे—वह स्वतन्त्र है; पर 'कर्म नहीं करना चाहिये'—यही आग्रह क्यों ? देश-कालकी व्यवस्थाके अनुसार प्राप्त हुए कर्मोंको वह निष्कामभावसे करता रहे—यही उत्तम सिद्धान्त है । योगवासिष्ठ और गणेशगीतामें भी ऐसा ही कहा गया है (देखिये यो० वा० ६ उ० १९९ । ४ व २१६ । १४ तथा ग० गी २ । १८) । निष्काम भावनासे किये गये कर्म न बन्धनके कारण होते हैं और न किसी तरह मोक्षप्राप्तिमें बाधा डालते हैं । 'नास्त्यकृतः कृतेन' (मुण्डकोपनिषद् १ । २ । १२)—'कर्मसे मोक्ष नहीं मिलता है' इत्यादि श्रुतिवचन और 'कर्मणा बध्यते जन्तुः' (म० भा० शां० प० २४० । ७)—'कर्मसे जीव बँधता है' इत्यादि स्मृतिवचन केवल सकाम कर्मके विषयमें हैं । निष्काम कर्म इस नियमका अपवाद है । तात्पर्य यह है कि गीताको 'ज्ञान-कर्म-समुच्चय' पक्ष मान्य है । कहना न होगा कि 'लोकसंग्रह' के विवेचनको ठीक समझ लेनेपर गीताका प्रतिपाद्य विषय 'कर्मयोग' ही ठहरता है । भगवत्पाद श्रीशङ्कराचार्यने भी जिन्हें 'ज्ञान-कर्म-समुच्चय' पक्ष मान्य नहीं है और जिनका कहना है कि—

'अलङ्कारः स्वयमस्माकं यद् ब्रह्मात्मावगतौ सत्यां सर्वकर्तव्यताहानिः'

(देखिये शाङ्करभाष्य वेदान्तदर्शन १।१।४)

'यह हमारा आभूषण है कि ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान हो जानेपर हम सब कर्मोंसे छुटकारा पा जाते हैं ।' भगवद्गीताके चतुर्थ अध्यायके भाष्यमें ज्ञानीके लिये भी लोकसंग्रहार्थ कर्म करनेकी दलीलको निम्नलिखित रीतिसे मान लिया है—

'स कुतश्चिन्निमित्तात्कर्मपरित्यागासम्भवे सति कर्मणि तत्फले च सङ्गरहिततया स्वप्रयोजनाभावाल्लोकसंग्रहार्थं पूर्ववत्कर्मणि प्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति ।'

(गी० शां० भा० ४ । २०)

अर्थात् 'यदि वह (ज्ञानी) किसी कारणवश कर्म न छोड़ सके तो 'लोकसंग्रह' के लिये पहलेकी तरह कर्ममें लगा रहे । (इस प्रकार लोकसंग्रहार्थ कर्म करनेपर भी) कर्म और कर्मफलमें आसक्ति न रखनेके कारण तथा निजी स्वार्थ न होनेसे वह कुछ भी नहीं करता है ।' संन्यास-प्रधान बौद्धधर्मने भी 'लोकसंग्रह' के महत्त्वको माना है । महायान पन्थके प्रसिद्ध विद्वान् अश्वघोषने बुद्धके मुँहसे ज्ञानीनन्दके प्रति यह उपदेश कहलवाया है—

अवाप्तकार्योऽसि गतां गतिं गतो
न तेऽस्ति किञ्चित्करणीयमण्वपि ।

× × × ×

विहाय तस्मादिह कार्यमात्मनः
कुरु स्थिरात्मन् परकार्यमप्यथो ।

(सौदरानन्दकाव्य १८ । ५४, ५७)

'तेरा कर्तव्य समाप्त हो चुका; तू परम गतिको पा चुका; अब तेरे लिये जरा भी कर्तव्य शेष नहीं रहा, इसलिये हे स्थितप्रज्ञ ! (नन्द) तू अपना काम छोड़कर संसारमें पराया कार्य कर ।'

'ज्ञान-कर्म-समुच्चय' का इतने स्पष्ट और निःसन्दिग्ध रीतिसे प्रतिपादन और कहीं तो क्या, स्वयं गीताके ही किसी दूसरे अध्यायमें नहीं है, इसलिये ग्रन्थके प्रतिपाद्य विषय कर्मयोगकी दृष्टिसे तीसरे अध्यायकी योग्यता सर्वाधिक है । सच कहा जाय तो अर्जुनके प्रश्न—कर्म श्रेष्ठ है या ज्ञान ?—का उत्तर असंदिग्ध और साङ्गोपाङ्गरूपसे तीसरे अध्यायमें दे दिया गया है । अर्जुनने तृतीय अध्यायके भावको लेकर चतुर्थ अध्यायमें कोई शङ्का भी नहीं की है । यदि भगवान् स्वयं चौथे अध्यायमें कर्मयोगकी गुरु-परम्परा शुरू नहीं करते तो अर्जुनका समाधान हो चुका था । परम्पराके सिलसिलेमें अर्जुनने एक स्वाभाविक प्रश्न किया—'आप अभी हुए हैं, सूर्य प्राचीनकालसे चला आता है तो फिर आपने सूर्यको यह कर्मयोग कैसे सिखलाया ?' बस, उत्तरमें भगवान्‌के उपदेशका प्रवाह चल पड़ा । हमारा यह कहना नहीं है कि गीताका अवशिष्ट प्रकरण किसी भी तरह निरर्थक है । बाकी अध्यायोंमें भी सब प्रकारसे—सांख्य, भक्ति, पातञ्जलयोग, कर्मकाण्ड, अध्यात्मविद्या आदि भिन्न और मिश्रमार्गोंके द्वारा—कर्मयोगकी नींवको ही दृढ़ किया गया है । यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है कि गीताके संन्यासमार्गीय टीकाकारोंने, जिन्होंने अन्य कई श्लोकोंकी व्याख्यामें पर्याप्त चर्चा की है, इन 'लोकसंग्रह'-विषयक श्लोकोंकी टीका करते वक्त बिल्कुल चुप्पी साध ली है—वे केवल शब्दार्थ करते हुए इनमेंसे दौड़ते निकल गये हैं । आखिर करते भी क्या !

कोई चारा ही न था। भगवान्‌के शब्द इतने स्पष्ट, सरल और एकार्थक हैं कि उनसे दूसरा कोई मतलब निकलता ही नहीं। प्रायः उपनिषदोंमें ज्ञानोत्पत्तिके अनन्तर कर्म-संन्यासका आदेश मिलता है और गीता भी कर्मयोगके समान कर्मसंन्यासको भी मोक्षप्राप्तिका साधन मानती है, पर उसने यही सिद्धान्त निश्चित किया है कि तुलनात्मक दृष्टिसे 'कर्मसंन्यासकी अपेक्षा कर्मयोग ही श्रेष्ठ है' (गी० ५। २)।

यदि ज्ञान-प्राप्तिसे पहलेकी तरह ज्ञान होनेके बाद भी मनुष्य कर्म करता रहे तो ज्ञानी और अज्ञानीमें भेद ही क्या रहेगा? जैसा कि महाकवि भासने कहा है, 'काम करनेमें ज्ञानी और अज्ञानीकी शारीरिक चेष्टा ही समान रहती है, पर बुद्धिमें भिन्नता है'—

'प्राज्ञस्य मूर्खस्य च कार्ययोगे समत्वमभ्येति तनुर्न बुद्धिः।'

बुद्धिका भेद आसक्ति और अनासक्ति—सकाम और निष्काम भावनामें है। गीताका कथन है—

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥
(३। २५)

'हे अर्जुन! जिस प्रकार अज्ञानी लोग आसक्ति—फलकी आशा—से कर्म किया करते हैं, वैसे ही ज्ञानीको लोकसंग्रह करनेकी इच्छासे आसक्तिरहित होकर कर्म करना चाहिये।' उदाहरणके लिये, यदि एक 'यज्ञ' किया जाय तो ज्ञानीकी भी सामग्री-संग्रह, आहुति-दान आदि शारीरिक चेष्टाएँ साधारण आदमियोंके समान ही होंगी, पर उसकी यह असाधारण बुद्धि रहेगी—'चूँकि यज्ञ करना एक शास्त्रविहित कर्तव्यकर्म है, इसलिये मैं इसे करता हूँ; मैं इसे अपने स्वार्थके लिये नहीं करता, परन्तु ईश्वरकी प्रीतिके लिये उसी-के अर्पण कर देता हूँ 'इदं श्रीकृष्णार्पणमस्तु न मम' मेरे करनेसे और लोग भी इस उत्तम कर्मको करेंगे' (गी० १७। ११) इत्यादि। इसके विपरीत अज्ञानी मनुष्य इसी यज्ञको आत्मप्रशंसा, लोकदिखावा और स्वर्गादि लोकोंकी प्राप्तिके लिये करता है (गी० १७। १२)। यज्ञरूपी कर्म तो स्थूलरूपसे दोनोंका समान है, पर बुद्धिमें महान् भेद है और इसलिये फलमें भी। एकको फलाशामें फँसनेके कारण बन्धन मिलता है और दूसरेको अनासक्तिसे मोक्ष—

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥
(गीता ५। १२)

अर्थात् 'निष्काम कर्मयोगी फलाशाको छोड़कर अनन्त शान्ति पाता है; (इसके विपरीत) जो योगयुक्त नहीं है वह फलाशामें फँसकर आसक्तिके कारण बन्धनमें पड़ता है।' अनासक्तभावसे किये गये कर्म किसी भी भाँति कर्ताको पाप-पुण्यसे पैदा होनेवाले जन्म-मरणके झगड़ेमें नहीं डालते। ऐसा न करके यदि ज्ञानी पुरुष स्वयं कर्मोंको छोड़कर 'कर्म जीवके बन्धनका कारण है, उससे किसीका मोक्ष नहीं होता, इसलिये उन्हें छोड़ना ही श्रेयस्कर है' इत्यादि प्रकारसे कर्मकी निन्दा करेगा तो और कर्माधिकारी लोग भी उसकी देखा-देखी कर्मको छोड़ बैठेंगे। इससे समाजमें और उन अनधिकार चेष्टा करनेवाले मनुष्योंकी सिद्धिमें गड़बड़ मच जायगी। यदि वह स्वयं कर्म न करके लोगोंको कर्ममें तत्पर रहनेका उपदेश देगा तो वे 'पर उपदेस कुसल बहुतेरे। जे आचरहिं ते नर न घनेरे॥' इत्यादि वचन कहकर उसकी बातको टाल देंगे; इसलिये उत्तम नीति यही है कि कर्मकी किसी भी तरह निन्दा करके 'ज्ञानी पुरुष कर्मासक्त अज्ञ मनुष्योंकी बुद्धिमें आन्दोलन पैदा न करे, (किन्तु) वह स्वयं योगयुक्त होकर सब कर्मोंको करता हुआ और लोगोंसे भी वैसा ही करावे' (गी० ३। २६)। कर्म करनेके कारण ज्ञानी पुरुषको अज्ञानी लोग अपनी ही श्रेणीका समझकर उसपर विश्वास करते हुए उसका कहा मानेंगे। तब ज्ञानी उनको समझा देगा कि वे भी उसकी तरह अनासक्त-भावसे कर्तव्यकर्मोंको करके मोक्षके अधिकारी बनें। इस प्रकार निष्काम कर्मयोगके आचार और प्रचारद्वारा ज्ञानी समाजकी खूब भलाई कर सकेगा। यही ज्ञानीका 'लोकसंग्रह' है, जिसपर गीता इतना ज़ोर देती है।

(क्रमशः)

शिक्षा

(लेखक—पं० श्रीगङ्गाशङ्करजी मिश्र, एम्० ए०)

[पूर्वप्रकाशितसे आगे]

शिक्षा और धन

अर्थ जीवनके चार पुरुषार्थोंमेंसे एक है । बिना उसके किसीका काम नहीं चल पाता । हमारे शास्त्रोंका कहना है कि सब काम धनसे ही होते हैं, इसलिये उसे यत्नपूर्वक कमाना चाहिये—'धनमूलाः क्रियाः सर्वा यत्नस्तस्यार्जने मतः ।' प्राचीन शिक्षा-व्यवस्थामें इसका पूरा ध्यान रक्खा गया था । समाज-रचना इस प्रकारकी थी कि प्रत्येकका व्यवसाय जन्मसे ही निश्चित था । उस व्यवसायकी शिक्षा उसे जन्मसे ही मिला करती थी । उसमें पहली पाठशाला तो प्रत्येक व्यक्तिका घर ही था । वहाँ वह बचपनसे ही अपने घरवालोंको जो काम करते देखता था, उसका सहजहीमें अनुकरण करने लगता था । कुछ बड़े होनेपर वह उस व्यवसाय-विशेषज्ञोंके पास जाकर उसका उच्च ज्ञान प्राप्त करता था । इसमें उसका एक पैसातक खर्च न होता था और बिना इस शिक्षाको प्राप्त किये हुए उसका काम भी न चलता था । इस तरह यह शिक्षा 'मुफ्त तथा अनिवार्य' थी । इसके अतिरिक्त उच्च श्रेणीके लोगोंके लिये विद्यालयोंकी व्यवस्था थी, जिनमें पाठ्यक्रम ऐसा रक्खा गया था कि प्रत्येक व्यक्ति जीवन-निर्वाहके लिये अवश्य कुछ कमा सके । जिन विद्या तथा कलाओंकी उनमें शिक्षा होती थी, उनके सम्बन्धमें 'रामायण', 'महाभारत', पुराण, काव्य आदि ग्रन्थोंमें जाननेयोग्य बहुत सामग्री भरी पड़ी है । थोड़ेमें, पर बड़े सुन्दर प्रकारसे उनका विवरण शुक्राचार्यके 'नीतिसार' नामक ग्रन्थमें मिलता है । यों तो वर्णानुसार प्रत्येक व्यक्तिका व्यवसाय निश्चित था, पर आपत्कालमें वह इन कलाओंके द्वारा कुछ-न-कुछ कमा लेता था । फिर देश धनधान्यसे सम्पन्न था, सब चीजें सस्ती थीं, प्रत्येक व्यवसायके लिये उचित क्षेत्र था, उपजकी खपत देशमें ही नहीं विदेशोंतकमें होती थी, सर्वत्र गुणोंका आदर था, राजा-रईस कारीगरियोंका संरक्षण करके प्रोत्साहन प्रदान करते थे । इस तरह तब ऐसे विकट आर्थिक सङ्कटका सामना करनेका अवसर न आता था, जैसा कि आजकल हो रहा है ।

धनोपार्जनके योग्य बनानेमें आधुनिक शिक्षा कितनी असफल हो रही है, यह 'शिक्षित बेकारों' की प्रतिदिन बढ़ती हुई संख्यासे ही सिद्ध हो रहा है । जीवनके पंद्रह-सोलह अमूल्य वर्ष, कितना धन, कितनी शक्तिका शिक्षामें क्षय होता है और अन्तमें अधिकांशको चार पैसोंके लिये दर-दर ठोकरें खानी पड़ती हैं । सरकारी नौकरीके योग्य बनानेके लिये ही पहले-पहल अङ्गरेजी शिक्षाका आरम्भ हुआ था, इस भावने सारी शिक्षाव्यवस्थाको दूषित बना दिया है । आजकलकी शिक्षा, चाहे साहित्यिक, वैज्ञानिक अथवा औद्योगिक हो, उसे प्राप्त करनेवालेको कहीं-न-कहीं नौकरी ही ढूँढ़नी पड़ेगी, स्वतन्त्र रूपसे कुछ कमा सकनेकी उनमें कभी योग्यता नहीं आती है । उच्च-से-उच्च साहित्यिक शिक्षा-प्राप्तकी भी आजकल कहीं पूछ नहीं है, फिर साधारण शिक्षावालोंका कहना ही क्या ? यद्यपि वकालत-पेशेने 'मुकदमेबाजी' का चस्का लगाकर बहुत-कुछ अहित किया तथापि वह स्वतन्त्र व्यवसाय था, परन्तु आज उसका क्षेत्र इतना भरा हुआ है कि वकालत पास करके लोग छोटी-छोटी 'मास्टरियों' के लिये दौड़ते हैं । इधर वस्तुओंका दाम बढ़ता जा रहा है और उधर इन शिक्षितोंके वेतनकी दर घटती जा रही है । जिस विज्ञानकी शिक्षा दी जाती है, वह व्यवहारसे कोसों दूर है, केवल 'पुस्तकी विज्ञान' से जीविकोपार्जनमें क्या सहायता मिल सकती है ? इन त्रुटियोंका अनुभव करके आजकल औद्योगिक शिक्षापर बड़ा जोर दिया जा रहा है, परन्तु वह भी इसी ढंगकी हो रही है कि उसे प्राप्त करनेवालेको भी किसी-न-किसी कारखानेकी शरण लेनी पड़ती है, स्वतन्त्र रूपसे वह अपना कोई काम चलाने योग्य नहीं हो पाता है ।

वर्तमान आर्थिक महासङ्कटके कितने ही कारण हैं । जहाँतक उसका आधुनिक शिक्षासे सम्बन्ध है, उसमें सबसे मुख्य बात यह है कि प्रत्येक व्यक्तिको उसकी योग्यतानुसार शिक्षा नहीं दी जा रही है । सब मनुष्योंका स्वभाव एक-सा नहीं होता, किसीकी प्रवृत्ति किसी ओर, तो किसीकी किसी ओर होती है । जिसकी जिस ओर प्रवृत्ति है, उसीमें अभ्यास करनेसे कुशलता प्राप्त होती है, जैसा कि शुक्राचार्यने लिखा है—

यां यां कलां समाश्रित्य निपुणो यो हि मानवः ।
नैपुण्यकरणे सम्यक् तां तां कुर्यात् स एव सः ॥

वंशागत काम सीखनेमें और भी सुगमता होती है । एक बढ़ईका लड़का बढ़ईगीरी जितनी शीघ्रता और सुगमतासे

सीखकर उसमें निपुण हो सकता है, उतना दूसरा नहीं; क्योंकि वंश-परम्परा और बचपनसे ही उसको उस कार्यके योग्य संस्कार बन जाते हैं । वर्तमान शिक्षामें इसका ध्यान न रखनेसे सर्वत्र धाँधली और सङ्घर्ष मचा हुआ है, जिसके फलस्वरूप बेकारीका विकट ताण्डव हो रहा है । पाश्चात्त्य मनोवैज्ञानिकों तथा शिक्षासुधारकोंको भी अब यह बात माननी पड़ रही है । थोड़े दिनोंसे अन्य विद्वानोंका भी इस ओर ध्यान आकृष्ट हुआ है । गतवर्ष ही लार्ड एल्टनकी एक पुस्तक प्रकाशित हुई है, जिसका नाम है 'सेण्ट जार्ज' । इङ्गलैण्डमें यह पुस्तक इतनी लोकप्रिय हुई कि थोड़े ही समयमें इसके तीन-चार संस्करण निकल गये । इसमें एक स्थानपर आप लिखते हैं कि 'परम्पराप्राप्त स्मृतिसे हम सब लोग परिचित हैं । पशु-पक्षियोंतकमें हम इसे देखते हैं । कुछ पक्षी उन विभिन्न मार्गोंसे भूमध्यसागर पार कर जाते हैं, जो उस सागरके अस्तित्वके पहले कभी भूमार्ग थे । बहुत-से पक्षी अपने घोंसलोंको, उन्हें बिना कभी देखे हुए, पूर्ववत् बना लेते हैं । मनुष्यमें भी यही बात है । कहा जाता है कि एक हीरा गढ़नेवालेके बननेमें पाँच पीढ़ियाँ लग जाती हैं । लङ्काशायरमें सूत कातनेवालेका लड़का, जिसने कभी उस नगर तथा वहाँके कारखानोंको देखातक नहीं है, जब वहाँ किसी पुतलीघरमें पहुँचता है, तब वह सूत और कपड़ेको ऐसे सँभालता है, जैसे कि वह उस कामसे बराबर परिचित हो । ऐसी दशामें यदि कोई मनुष्य अपने बाप-दादासे प्राप्त कार्यकी उपेक्षा करता है, तो वह जान-बूझकर अपने बहुमूल्य गुणोंको नष्ट कर रहा है ।' इस सिद्धान्तको पाश्चात्त्य विद्वान् अब समझ रहे हैं, पर अपनी वर्ण-व्यवस्थामें यह अतिप्राचीन कालसे सन्निहित है । इसलिये सबसे पहले कार्यों और व्यवसायोंका एक निश्चित विभाग करना होगा और फिर उसके अनुसार जो जिस व्यवसायके लिये अधिक-से-अधिक उपयुक्त है, उसे उसकी ही शिक्षा देनी पड़ेगी । इस तरह शिक्षाक्षेत्रमें भी वर्ण-विभागका अनुसरण करना होगा ।

वैज्ञानिक तथा औद्योगिक शिक्षाको भी अपने देशकी प्राचीन परिपाटीके अनुकूल बनाना पड़ेगा । विज्ञानने मशीनोंका आविष्कार किया, परन्तु इन मशीनोंने मनुष्यको ही एक मशीन बना डाला है । मशीनोंकी कृपासे पूँजीवादका सृजन हुआ, जिसके कारण सर्वत्र आज मालिक और मजदूरोंमें सङ्घर्ष चल रहा है । मशीनोंके चक्करमें व्यक्तियोंको अपनी कारीगरी या चतुराई दिखलानेका कोई अवसर ही न रहा । एक कारीगरको अपनी वस्तु समाप्त करते जो हर्ष होता है, उसका तो सर्वथा ही ह्रास हो गया । छोटे-बड़े सभी काम मशीनोंके अधीन होते चले जा रहे हैं, घरोंमें झाड़ूतक मशीनोंसे लगने लगी है । आज स्वतन्त्रताकी डींग हाँकनेवाला समाज जड़ मशीनोंके परतन्त्र हो रहा है । मशीनोंने जीवनका खर्च बेहद बढ़ा दिया है । यदि विज्ञानसे वास्तविक लाभ उठाना है तो पहले उसे उसके पाश्चात्त्य कुसंस्कारोंसे मुक्त करना होगा । इसके लिये सर्वप्रथम उसे भारतीय आध्यात्मिकताके अधीन करना होगा, जिसमें नरसंहारक न रहकर वह लोकोपकारक बने । फिर धनोपार्जनकी दृष्टिसे भारतीय परिस्थितियोंका पूरा ध्यान रखते हुए उसे अधिक व्यावहारिक बनाना पड़ेगा । इसके साथ ही इसकी सहायतासे लुप्त प्राचीन भारतीय विज्ञानको ढूँढ़कर निकालना होगा, जो कहीं अधिक सरल तथा पूर्ण था । उसमें कम-से-कम खर्चमें अधिक-से-अधिक चमत्कार दिखलाया जा सकता था । 'भारतीय प्राचीन यन्त्र-विज्ञान' (वर्ष २, अङ्क ३३-३४), 'तिब्बतका विज्ञान' (वर्ष ३, अङ्क ३८), 'पानीका पता लगाना' (वर्ष ४, अङ्क १६) आदि लेखोंमें प्राचीन भारतीय विज्ञानकी कुछ झलक दिखलायी जा चुकी है ।

मशीनोंके प्रवेशसे उद्योग-धंधोंकी भी बहुत-कुछ उपयोगिता नष्ट हो गयी है । आजकलकी औद्योगिक शिक्षामें अधिकतर मशीनोंसे ही काम सिखलाया जाता है । अपने यहाँके बढ़ई या लोहारके सारे औजार उसके झोलेमें रहते हैं, उनके द्वारा वह बढ़िया-से-बढ़िया चीज बना सकता है । जहाँ कहीं वह बैठ जाय, कुछ-न-कुछ कमा लेता है, परन्तु 'बढ़ई स्कूलों' के निकले हुए लड़कोंका बिना मशीनके काम न चलेगा । स्वयं उनके पास इतना रुपया नहीं कि वे बहुमूल्य मशीन खरीदकर अपना कारखाना खोल सकें । उन्हें भी झख मारकर किसी स्कूल या कारखानेमें नौकरी ढूँढ़नी पड़ती है । इन स्कूलोंमें जितना काम पाँच वर्षमें भी सिखाया नहीं जा सकता, उतना काम किसी एक चतुर बढ़ईके साथ रहनेसे साल ही भरमें सीखा जा सकता है । खेतीकी भी आजकल शिक्षा दी जा रही है, पर यहाँ भी मशीनोंका प्रवेश है । गरीब भारतीय किसानकी क्या हैसियत है कि वह विलायती हलों और मशीनोंसे खेती कर सके ? किसी किसानका लड़का इनमें पढ़कर क्या लाभ उठा सकता है ? वह तो जो कुछ जानता है, वह भी भूलकर चौपट कर देगा । इसके अतिरिक्त इन स्कूलोंमें किसी विषयकी पूरी शिक्षा नहीं दी

जाती है, केवल चञ्चुप्रवेश करा दिया जाता है, जिससे कोई लाभ नहीं होता है। भारतीय किसान यह भले ही न बता सके कि अमुक खाद देनेसे क्यों लाभ होता है, पर किस खादसे लाभ होता है, इसे वह अच्छी तरह जानता है। फिर इन विद्यालयोंमें एक अड़चन और है, इनमें भर्ती होनेके लिये भी यह आवश्यक है कि अमुक परीक्षा पास होना चाहिये। इस तरह सब कामोंके साथ साक्षरताका सम्बन्ध जोड़ दिया गया है, जिसके कारण इनकी सरलता नष्ट हो गयी है और व्यावहारिककी अपेक्षा पुस्तकी ज्ञान ही अधिक रह गया है। विद्या और कलाके भेदको दिखलाते हुए शुक्राचार्यने लिखा है कि जिसको एक मूक भी, जो वर्णोच्चारण भी नहीं कर सकता, कर सके, वह कला है—'शक्तो मूकोऽपि यत् कर्तुं कलासंज्ञं तु तत् स्मृतम्'। इस तरह बहुत-से कामोंमें साक्षरता नितान्त आवश्यक नहीं है, पर आजकल सबके साथ उसको लगाकर विषयोंको और भी जटिल तथा क्लिष्ट बना दिया गया है।

संस्कृत तथा फारसीके जो विद्यालय चल रहे हैं, उनसे निकलनेवालोंकी बेकारीका भी प्रश्न है। अध्यापकोंमें कितने लोग खप सकते हैं ? बाकी लोग क्या करेंगे ? यदि शिक्षाको सबके लिये सर्वाङ्गीण और उपयोगी बनाना है, तो व्यापक दृष्टिसे इन सभी प्रश्नोंपर विचार करना होगा।

शिक्षा और धर्म

'धर्म कुछ है ही नहीं' ऐसा माननेवालोंकी संख्या भगवान्‌की कृपासे भारतमें अभी नगण्य ही है। अधिकांश जनता आस्तिक तथा धार्मिक ही है, परन्तु धार्मिक शिक्षाकी ओर वह सर्वथा उदासीन है। यदि ऐसा न होता, तो वह आधुनिक शिक्षाको, जिसका धर्मसे कोई नाता ही नहीं है, एक दिन भी सहन न करती। साधारण जनताकी तो बात ही क्या, बड़े-बड़े पण्डितोंको, जो धर्मके संरक्षक माने जाते हैं, अपने बच्चोंको अङ्गरेजी शिक्षा देनेकी ही चिन्ता रहती है। प्राचीन कालमें प्रधान शिक्षा धर्मकी ही होती थी, अन्य विषय तो उसके केवल अङ्ग माने जाते थे। मुसलमानोंके शासनकालमें मकतब तथा मदरसोंमें भी यही बात जारी रही। परन्तु अङ्गरेजी स्कूल खुलनेके साथ शिक्षाका यह रूप बदला और उसको धर्मसे सर्वथा अलग कर दिया गया। इतना ही नहीं, उसका दृष्टिकोण ऐसा बनाया गया कि जिसमें भारतीयोंके हृदयमें उनके धार्मिक भाव किसी तरह पनपने ही न पायें। यहाँ यह बात ध्यानमें रखनेकी है कि पहले पाश्चात्त्य देशोंमें भी शिक्षाका रूप धार्मिक ही था। मध्यकालीन बड़े-बड़े विश्वविद्यालय पादरियोंको तैयार करनेहीके लिये खुले थे। जिन दिनों भारतमें ब्रिटिश-शासन स्थापित हो रहा था, उन दिनों भी ब्रिटेनमें शिक्षासे धर्मका सर्वथा बहिष्कार नहीं हुआ था। युद्धसे दिमाग कुछ ठिकाने आनेपर अब वहाँ सरकार ही धार्मिक शिक्षाका प्रबन्ध करने जा रही है, जैसा कि वर्ष ३ अङ्क ७ में दिखलाया जा चुका है। परन्तु भारतमें तो अङ्गरेजोंको पहले केवल सरकारी नौकरीके लिये अङ्गरेजी पढ़ाना था, दूसरे अपने शासनकी नींव दृढ़ करनेके लिये उन्हें भारतीयोंके हृदयसे उनके धर्म तथा संस्कृतिके प्रति श्रद्धा हटानी थी। इसलिये शिक्षा-व्यवस्थामें धर्मको अछूत समझा गया और यह किया गया 'धार्मिक तटस्थता'की नीतिकी ओटमें। परन्तु दूसरी ओर इन्हीं दिनों ईसाइयोंके स्कूल और कालेजोंमें विरोधी धर्मोंपर प्रत्यक्ष प्रहार हो रहे थे और उनमें सभी पढ़नेवालोंको 'बाइबिल'की शिक्षा दी जा रही थी। इनके द्वारा उन्हें ईसाई बनानेका कार्य अब भी चल रहा है। थोड़े ही दिनोंकी बात है कि 'बम्बई विश्वविद्यालय' को वहाँ लड़कियोंके एक ईसाई कालेजको उसकी ऐसी हरकतोंके लिये कड़ी चेतावनी देनी पड़ी थी। परन्तु ईसाईमत-प्रचारके लिये सरकारके हृदयमें सदा सहानुभूति रही है, और होना ठीक भी है; क्योंकि धार्मिक दृष्टिसे भारतसरकार 'ईसाई सरकार' ही है। यदि वास्तवमें वह तटस्थ रहना चाहती है, तो सब धर्मोंके प्रति उसका एकही-सा भाव तथा व्यवहार होना चाहिये और किसीको शिक्षाद्वारा एक दूसरेपर प्रहार करनेका अवसर न देना चाहिये।

सरकारकी नीतिका तो यह हाल है। इधर कुछ दिनोंसे विद्वानोंमें भी धार्मिक शिक्षापर विचार चल रहा है। जो इसको बिल्कुल व्यर्थ समझते हैं, यदि उनकी बात छोड़ दी जाय, तो इसके विरोधमें दो-तीन तर्क रह जाते हैं। पहले तो यह कहा जाता है कि धर्म श्रद्धाका विषय है और वह इतना व्यक्तिगत है कि उसकी अन्य विषयोंकी तरह शिक्षा नहीं दी जा सकती। फिर भारतमें इतने मत-मतान्तर हैं कि उन सबकी शिक्षाका प्रबन्ध करना असम्भव है। यदि सम्भव भी हो, तो वह वाञ्छनीय नहीं है; क्योंकि उससे परस्पर द्वेषकी वृद्धि होगी। तीसरे आधुनिक शिक्षाके आगे, जिसमें विज्ञानका जोर है, प्राचीन विश्वास क्या ठहर सकेंगे ? पढ़नेवालोंकी उनपर श्रद्धा तो होगी नहीं, उलटे प्राचीन धर्मोंकी पोल ही

खुलेगी । इसलिये शिक्षासे अलग रखनेहीमें उनकी कुशल है । ऐसे तर्कोंमें बल नहीं है । धर्म श्रद्धाका विषय अवश्य है, पर बुद्धिको उसने तलाक नहीं दे दी है, व्यक्तिगत होते हुए भी वह सामाजिक है, अपने शास्त्रोंमें तो वही समाजका आधार है । ऐसी दशामें उसकी भी शिक्षा हो सकती है । धार्मिक शिक्षासे परस्पर द्वेष फैलनेकी भी सम्भावना नहीं है । जिस समय हिन्दू-मुसलमान अपने-अपने धर्मकी शिक्षा पा रहे थे, तब आजकलकी अपेक्षा, जब बराबर एकतापर जोर दिया जा रहा है और दोनोंमें रोटी-बेटीका भी सम्बन्ध जोड़ा जा रहा है, कहीं अधिक मेल-मिलाप था । अब भी देखनेमें आता है कि प्राचीन विचारके कट्टर हिन्दू-मुसलमानोंमें बहुत कुछ एका है । ऐसी दशामें धार्मिक शिक्षासे परस्पर कलह बढ़ेगा यह भय निराधार है । विज्ञानका डर उन्हीं धर्मोंको हो सकता है, जिनका आधार कच्चा है । और धर्मोंकी तो हम नहीं कह सकते, पर सनातन वैदिक धर्म हर समय विज्ञानसे टक्कर लेनेके लिये तैयार है । हाँ, आवश्यकता है योग्य शिक्षकोंकी ।

कुछ दिनोंसे निजी स्कूल और कालेजोंमें धार्मिक शिक्षाका प्रबन्ध हुआ है । हम समझते हैं कि बहुत कुछ इस प्रबन्धने ही लोगोंके हृदयमें धार्मिक शिक्षाके प्रति अश्रद्धाका भाव भर दिया है । धार्मिक शिक्षा किस प्रकारकी होनी चाहिये, इसपर पूरा विचार ही नहीं किया गया है । उसके लिये कोई साधारण पण्डित रख दिया जाता है । विद्यार्थी सबसे अधिक उसीके क्लाससे गायब रहते हैं । उसकी कोई परीक्षा नहीं होती, इसलिये उन्हें इसकी चिन्ता भी नहीं रहती । यदि कुछ लड़के क्लासमें पहुँच भी जाते हैं, तो उनमेंसे कुछ तो बेचारे पण्डितकी हँसी उड़ानेका मजा लेते हैं और कुछ उस शिक्षाको भार समझकर थोड़ी देरतक बैठे रहते हैं । कई संस्थाओंके प्रबन्धक ही उसे उपेक्षाकी दृष्टिसे देखते हैं । धार्मिक शिक्षाकी दशा तो यह है और फिर कहा जाता है कि उससे लाभ क्या ?

धार्मिक शिक्षा किस प्रकारकी होनी चाहिये, इसपर विद्वानोंमें जो विचार हुआ है, उसमें भी बड़ा मतभेद है । प्रोफेसर वाडियाका, जिनका शिक्षासे गत ४० वर्षतक सम्बन्ध रहा है, बम्बईसे निकलनेवाले अङ्गरेजी मासिक पत्र 'आर्यन पाथ'के पिछले एक अङ्कमें 'भारतमें धार्मिक शिक्षा' पर एक लेख निकला है । उसमें आप लिखते हैं कि 'धार्मिक शिक्षाका सबसे अच्छा प्रकार यह होगा कि विभिन्न धर्मोंकी विशेषताओंको छोड़ दिया जाय और जो सबमें समान है, उसीकी शिक्षा दी जाय । इस तरह धार्मिक शिक्षापर जो परस्पर द्वेष फैलानेका दोषारोपण किया जाता है, उसके लिये स्थान न रहेगा और सब धर्मवालोंमें परस्पर सहानुभूति बढ़ेगी । मत, सम्प्रदाय भले ही अनेक हों, पर अन्ततः धर्म एक ही है ।' सम्भवतः उन्हींकी सलाहसे मैसूरके स्कूलोंमें पढ़ानेके लिये एक ऐसी पुस्तक भी सन् १९३७ में तैयार हुई, पर उसका प्रचार न हो सका । काशीके प्रसिद्ध डाक्टर भगवानदासजी इसके प्रबल समर्थक हैं और 'धर्मोंमें तात्त्विक एकता'-पर उनकी एक पुस्तक ही है । श्रीह्वाइटने ब्रिटेनमें धार्मिक शिक्षापर बहुत विचार किया है । 'चर्च और शिक्षा' नामक उनकी भी एक पुस्तक हालमें ही प्रकाशित हुई है, जिसमें उन्होंने धर्मोंके तुलनात्मक अध्ययनपर बड़ा जोर दिया है । धर्म क्या है, उसमें सामान्य और विशेषका क्या स्थान है, इन प्रश्नोंको हम यहाँ उठाना नहीं चाहते । उनपर पहले भी बहुत कुछ लिखा जा चुका है और बराबर लिखा ही जाता है । यहाँ तो प्रश्न यह है कि इस तरहकी शिक्षासे किसीको अपने धर्मका विशेष ज्ञान क्या होगा ? यदि वह अपने धार्मिक नित्यकृत्य ही न जान सका और अपने धार्मिक ग्रन्थोंका कुछ ज्ञान प्राप्त न कर सका, तो फिर उसकी शिक्षा धार्मिक ही क्या ? तुलनात्मक अध्ययन अवश्य होना चाहिये, इसे हम भी मानते हैं । प्राचीन शिक्षाक्रममें 'म्लेच्छ दर्शन'का अध्ययन भी रक्खा गया था । परन्तु इससे लाभ तभी हो सकता है, जब पहले अपने धर्मका विशेष अध्ययन कर लिया जाय । 'सब धर्म सत्य हैं' यह कहनेकी चाल पड़ गयी है । परन्तु यह बात सर्वथा नहीं, किसी अंशमें ही सत्य है । अधिकारानुसार उनमें भी भेद और तारतम्य है, इस दृष्टिसे विरोधका परिहार तथा परस्पर समन्वय स्थापित किया जा सकता है । पर यह उच्चकोटिका विषय है । सोचना तो यह है कि आरम्भसे बच्चोंको कैसी धार्मिक शिक्षा दी जाय । उस समय क्या उनमें तुलनाकी योग्यता होती है ? इस विचारधाराके प्रतिकूल साम्प्रदायिकोंके भाव हैं, जिसमें वे अपने सिवा दूसरे किसीकी सुनना ही नहीं चाहते हैं ।

वास्तवमें जो प्राचीन धर्म प्रचलित हैं, उनके अनुयायियोंकी पहले उसीमें शिक्षा होनी चाहिये, धार्मिक संस्कार पड़ जानेपर फिर उनका दृष्टिकोण तुलनात्मक अध्ययनद्वारा अधिक व्यापक बनाया जा सकता है । शिक्षा उन्हीं लोगोंके हाथमें रहनी चाहिये, जो शास्त्रोंके पूर्ण ज्ञाता हैं और जो विश्वका कल्याण चाहते हैं । तभी उससे वास्तविक लाभ होगा । आधुनिक शिक्षाका ऐसा दृष्टिकोण है कि उससे धार्मिक शिक्षाका मेल ही नहीं खाता है; इसलिये उसमें उसे

घुसेड़नेका फल उलटा ही होगा। हमारे यहाँ धर्मका भाव ही दूसरा है, वह तो सारे जीवनका दृष्टिकोण है, उसमें साहित्य, विज्ञान, कला, अर्थशास्त्र, राजनीति सभी कुछ आ जाते हैं। इसलिये यदि धार्मिक शिक्षा देना है, तो सारी शिक्षाव्यवस्थाको बदलना पड़ेगा, तब सफलता होगी। घरमें, बाहरमें, शिक्षासंस्थाओंमें जैसा कुछ वातावरण बँध रहा है, उसमें आजकल जैसी कुछ धार्मिक शिक्षा दी जा रही है, उसे पूछता ही कौन है?

शिक्षाके पुनर्निर्माणमें देशकी वर्तमान परिस्थिति देखते हुए हमें इन सभी बातोंपर विचार करना होगा।

शिक्षा और आचरण

अपने शास्त्रोंमें शीलपर बड़ा जोर दिया गया है। 'महाभारत' के 'शान्तिपर्व' में कहा गया है कि शीलसे तीनों लोक जीते जा सकते हैं, इसमें संशय नहीं है। शीलवान् सत्पुरुषके लिये कुछ भी असाध्य नहीं है—

शीलेन हि त्रयो लोकाः शक्या जेतुं न संशयः।
न हि किञ्चिदसाध्यं वै लोके शीलवतां सताम्॥

हमारे यहाँ शील धर्मसे भिन्न नहीं है, वह उसीका अङ्ग है और उसका निरूपण 'सामान्य धर्म' के अन्तर्गत मिलता है। विभिन्न धर्मशास्त्रोंमें कहीं १०, कहीं ८, कहीं ५, कहीं ४ सामान्य धर्म बतलाये गये हैं। यदि इन सबपर विचार किया जाय, तो निम्नलिखित ३७ सामान्य धर्म ठहरते हैं—सत्य, धृति (धैर्य), क्षमा, दम (मनको रोकना), ब्रह्मचर्य, अस्तेय (चोरी न करना), अलोभ, श्रद्धा (विश्वास), दान, शम (मनका चञ्चल न होना, शान्ति), शौच, इन्द्रियनिग्रह, दया, अहिंसा, आतिथ्य, तप, गुरुजनोंकी सेवा, अचापल (चञ्चलता न होना), मार्दव (हार्दिक कोमलता), सन्तोष, मङ्गल (अच्छे कामको सदा करना और अशुभ कामका त्याग), अक्रोध, प्रसाद (प्रसन्नता), परोपकार, अनायास (जिस कामसे पीड़ा हो उसे अधिक न करना), स्त्रीरक्षा, ह्री (लज्जा अर्थात् अनुचित कार्यसे निवृत्त रहनेकी चिन्ता), भृत्यभरण (पोष्यवर्गका पालन), संविभाग (जिसको जितना देना उचित है, उतना देना), अध्ययन, आत्मज्ञान, देवपूजन, ब्राह्मणपूजन, श्राद्ध, तीर्थानुसरण, धर्मयुद्ध और भगवद्भक्ति। इनमें मनुष्यके व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवनका सारा आचरण आ जाता है। प्राचीन शिक्षाव्यवस्थामें सबसे अधिक ध्यान आचरणपर रक्खा जाता था। गुरु अपने आदर्श जीवनसे उसको व्यावहारिक बनाता था और शिष्यको उसकी बराबर शिक्षा देता था। इसमें उसकी कठिन-से-कठिन परीक्षाएँ होती थीं और उनमें उत्तीर्ण होनेपर ही छात्रमें जीवनको सफल बनानेकी योग्यता आती थी।

शीलके सम्बन्धमें आजकल दो विचारधाराएँ चल रही हैं। एकके अनुसार वह धर्मसे भिन्न है, इसलिये उसकी शिक्षा धार्मिक शिक्षाके बिना भी हो सकती है। इसीको मानकर 'सदाचारकी शिक्षा' (मॉरल एजुकेशन) की चाल चल पड़ी है। दूसरी विचारधाराके अनुसार 'सदाचार' ही धर्म है, विशेष धर्म भेद-भाव फैलानेवाला व्यर्थका आडम्बर है। इन विचारधाराओंमें 'धर्म' और 'सदाचार' का बड़ा सङ्कुचित अर्थ लिया गया है। पर वास्तवमें दोनोंमें अकाट्य सम्बन्ध है, इनको कभी भी पृथक् नहीं किया जा सकता। कर्म, कर्मफल, फलदाता, पुनर्जन्म आदिको माने बिना सत्य, अहिंसा, अस्तेय आदिका मूल्य ही क्या? संसारमें दुर्जन ही अधिक फलते-फूलते देखे जाते हैं, फिर कोई इन शुष्क कर्तव्योंके चक्करमें पड़कर अपनी चार दिनकी जिन्दगीका मजा क्यों चौपट करे? मन्दिर, मसजिद, गिरजाघर आदिमें जाना और किसी प्रकारकी कुछ उपासना या संस्कार कर लेनामात्र ही धर्म नहीं है। उसी तरह बिना किसी एक सर्वनियन्ता ईश्वरको माने सदाचारका कोई दृढ़ आधार ही नहीं है। इसीलिये हमारे यहाँ सदाचार धर्मका ही अङ्ग माना गया है। इसको न समझकर प्रायः पाश्चात्त्य विद्वान् कह बैठते हैं कि हिन्दुओंके यहाँ 'आचारशास्त्र' (एथिक्स) है ही नहीं।

धर्मसे अलग करके जहाँ सदाचारकी शिक्षा दी गयी, कहीं भी सफल नहीं हुई। फ्रांसमें गत महायुद्धके बादसे स्कूलोंमें इसकी शिक्षा दी जाने लगी। परन्तु पता लगा कि वहाँ बालकोंको इसमें कुछ भी रुचि नहीं है। इसकी पढ़ाई नीरस होती है और लड़के सदा उसको टालनेका प्रयत्न किया करते हैं। सन् १९२१ में वहाँके एक नामी पत्रने लिखा था कि स्कूलोंमें अपराधी विद्यार्थियोंकी संख्या इतनी बढ़ रही है कि प्रत्येक स्कूलके पास एक जेल खोलनेकी आवश्यकता पड़ती है। इतना होते हुए भी हमें यह कहनेमें सङ्कोच नहीं होता कि आजकल हमारी अपेक्षा पाश्चात्त्योंमें शीलके कई लक्षण पाये जाते हैं, जिन्हींके कारण उनका ऐश्वर्य इतना बढ़ा है।

यद्यपि उनकी प्रवृत्ति धार्मिक नहीं है, तथापि जिस उद्देश्यको लेकर वे चलते हैं, उसमें वे दोषोंका प्रबल प्रतीकार करके सावधानीसे गुणविकास और कर्मण्यताको बढ़ाते रहते हैं। इसीलिये उनको लौकिक प्रयत्नोंमें सफलता मिलती है। परन्तु, आन्तरिक भावशुद्धि न होनेके कारण उनका ऐश्वर्य देखने ही भरको है। पारमार्थिक उन्नतिसे तो वे वञ्चित हैं ही, लौकिक ऐश्वर्यके भी वर्तमान महायुद्धमें लाले पड़ रहे हैं। इधर हम शिक्षित कहे जानेवालोंकी यह दशा हो रही है कि हम कहींके भी नहीं रहे हैं। विदेशियोंके दोषोंको तो हमने अपना लिया है, पर उनके गुणोंको ग्रहण नहीं किया है। इतना ही नहीं, उनके प्रभावमें पड़कर अपने जो कुछ बचे-खुचे गुण थे, उन्हें भी हम खो बैठे हैं।

आजकलके स्कूलोंमें पढ़नेवालोंके आचरणकी ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया जा रहा है। पहले तो गुरुओंमें ही हवा बिगड़ी हुई है, फिर छात्रोंका कहना ही क्या ? पढ़ाई भी इस प्रकारकी होती है, जिसमें उन्हें आचरणकी कोई शिक्षा नहीं मिलती है। उलटे उन्हें उसकी कोई आवश्यकता ही नहीं प्रतीत हो रही है। जहाँ फ्रायडके ये मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त पढ़ाये जा रहे हों कि कामवासनाओंको रोकना अहितकर है, वहाँ इन्द्रियनिग्रहको कौन पूछेगा ? 'विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम्' अर्थात् विद्यासे विनय और विनयसे पात्रता आती है। परन्तु आजकलके विद्यार्थियोंकी उद्दण्डताका कोई ठिकाना है ? सत्याग्रह-आन्दोलनोंने तो उनका दिमाग और भी फेर दिया है। अब तो वे गुरुजनोंकी आज्ञा न माननेमें प्रह्लादका उदाहरण देकर अपना व्यवहार भारतीय आदर्शानुसार बतलाने लगे हैं। हमारे शील, हमारे आचरणकी वर्तमान शिक्षाद्वारा जो दुर्गति हो रही है, वह प्रत्यक्ष है, उसपर अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। हमारे पतनका सबसे बड़ा यही कारण है।

स्कूल या कालेज छोड़ते समय लड़कोंको जो 'सार्टिफिकेट' दिया जाता है, उसमें 'आचरण' के लिये भी एक 'खाना' रहता है। बिना किसी प्रकारकी जाँचके उसमें 'अच्छा' लिख दिया जाता है। इस एक बातसे ही पता लगता है कि इन संस्थाओंमें आचरणको किस उदासीनतासे देखा जाता है। आधुनिक शिक्षा और विदेशियोंके सम्पर्कसे ऐसी हवा चल पड़ी है कि जो धार्मिकताका बराबर उद्घोष किया करते हैं, जिनसे पथप्रदर्शनकी हम आशा रखते हैं, वे भी नवीन प्रभावोंसे अपनेको अछूत नहीं रख सके हैं। इससे हमारी समस्या और भी जटिल हो गयी है। जबतक हममें शील, सदाचार नहीं आता, तबतक हमारा बराबर पतन होता रहेगा और हम दूसरोंकी ठोकरें खाते रहेंगे। यदि हमें वास्तविक उन्नति करना है, तो सबसे प्रथम धार्मिक शिक्षाद्वारा शीलवान् बननेका प्रयत्न करना होगा।

शिक्षाकी व्यावहारिक योजना

गत कई लेखोंमें हमने आधुनिक शिक्षाकी केवल दो-चार त्रुटियोंकी ओर ध्यान आकृष्ट किया है। विस्तारभयसे और अधिक लिखना हमारे लिये सम्भव नहीं है। संक्षेपमें हमें इतना ही कहना है कि आधुनिक शिक्षा सर्वथा दोषपूर्ण है और उससे हितकी अपेक्षा हमारा अहित ही अधिक होता है। कहा जा सकता है कि 'ठीक है, पर शिक्षाकी कोई दूसरी व्यावहारिक योजना भी तो होनी चाहिये। संस्कृत-पाठशाला, विद्यालय आदि तो प्राचीन कालसे चले आते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य कई प्रकारकी, जैसे गुरुकुल, ऋषिकुल, ब्रह्मचर्याश्रम, राष्ट्रीय विद्यालय, विश्वविद्यालय आदि शिक्षासंस्थाएँ स्थापित की गयीं, पर किसीमें भी जैसी सफलता होनी चाहिये, नहीं हुई। ऐसी दशामें जो व्यवस्था चल रही है, उसीमें आवश्यकतानुसार इधर-उधर कुछ संशोधन करके चलते रहने देना चाहिये।' दूसरे प्रकारकी शिक्षासंस्थाएँ सफल नहीं हुईं, यह हम भी मानते हैं। परन्तु इसके कारणोंपर भी तो विचार करना चाहिये। यदि ध्यानसे देखा जाय तो सबसे बड़ी बात यह है कि ऐसी प्रायः सभी संस्थाएँ किसी एक सिद्धान्तको लेकर नहीं चल रही हैं। आजकल सबसे बड़ा सङ्घर्ष प्राचीन तथा नवीन विचारोंमें है। जो प्राचीन है, सब अच्छा ही है, ऐसा नहीं कहा जा सकता—'पुराणमित्येव न साधु सर्वम्'। इसी तरह नवीन सर्वथा हेय है, यह भी नहीं कहा जा सकता। गुण-दोष दोनोंहीमें है, पर इसको मानते हुए भी कहना ही पड़ेगा कि दोनोंके दृष्टिकोणमें तात्त्विक भेद है। एक आध्यात्मिक, आस्तिक तथा शास्त्रीय है, तो दूसरा भौतिक, स्वतन्त्र तथा बुद्धिवादी है। ये एक साथ मिलकर कभी नहीं चल सकते, दोनोंका सम्पर्क होनेपर किसी एकका ही प्राबल्य रहेगा। जिन संस्थाओंका उल्लेख किया गया है, उनमें प्रायः दुहाई दी जाती है प्राचीनताकी, पर बोलबाला रहता है सदा नवीनताका ही। फल यह होता है कि दोनोंमेंसे किसीकी भी सिद्धि नहीं होती है। समयके फेरसे आज प्राचीनताका पराभव है, पर वह मिट नहीं सकती; क्योंकि उसका मूल

अत्यन्त सुदृढ़ है। साथ ही नवीनताकी उपेक्षा नहीं की जा सकती; क्योंकि उसका सर्वत्र प्राबल्य है। किसी शत्रुपर विजय पानेके लिये उसके गुण-दोषों, बलाबल, अस्त्र-शस्त्र तथा स्वयं अपनी ही इन बातोंका ज्ञान नितान्त आवश्यक है। इसी दृष्टिसे हमें नवीनताका भी अध्ययन करना चाहिये, उसके गुणोंको लेना चाहिये, परन्तु सदा उसको प्राचीनताके अधीन बनाते हुए। राष्ट्रीय कही जानेवाली शिक्षासंस्थाओंमें इसीका अभाव दीख पड़ता है। व्यक्त या अव्यक्तरूपसे उनमें आधुनिक भावोंकी ही नकल हो रही है। इसीसे स्पष्ट है कि जो कुछ हम कहते हैं, उसमें हमें स्वयं-विश्वास नहीं है। यदि हमने आधुनिक शिक्षाके दोषोंका सचमुच अनुभव किया होता, तो क्या हम अपने बालकोंको वही शिक्षा देते और स्वयं अपना रुपया लगाकर वैसी ही संस्थाएँ खोलते ? दूसरी बात यह है कि शिक्षासंस्थाओंकी सफलता निर्भर करती है सुयोग्य शिक्षकों तथा सञ्चालकोंपर और शिक्षकों तथा सञ्चालकोंकी योग्यता निर्भर करती है उनकी उचित शिक्षापर। जब शिक्षा ही बिगड़ी हुई है, तब सुयोग्य शिक्षक या सञ्चालक कहाँसे आये और बिना उनके शिक्षा कैसे सुधरे ? इस तरह एक कुचक्र चल पड़ा है, जिससे निकलनेका कोई प्रयत्न नहीं किया जा रहा है। फिर आजकल संस्थाएँ खोलना भी एक व्यवसाय बन गया है। उनके नामसे रुपया लेकर स्वार्थसिद्धि की जाती है। ऐसी दशामें यदि उन्हें सफलता नहीं प्राप्त होती है, तो इसमें आश्चर्य ही क्या ?

परन्तु कितने ही प्रयत्न विफल हुए; तो क्या इससे निराश होकर चुपचाप बैठ रहना चाहिये और आधुनिक शिक्षाको अपने विषैले प्रभावसे सारा जीवन कलुषित करने देना चाहिये ? शिक्षासुधारका प्रश्न ऐसा है कि वह टाला नहीं जा सकता। सब कुछ शिक्षापर ही निर्भर करता है। बिना उसको अपने अनुकूल बनाये अपनी ध्येयप्राप्तिके लिये हम किसी ओर कुछ भी प्रगति नहीं कर सकते। बिना उसके सुधारे क्या हमें स्वराज्य मिल सकता है ? यदि मिल भी गया; तो क्या हम उसकी रक्षा कर सकेंगे ? फिर, क्या वह स्वराज्य वास्तवमें स्वराज्य होगा ? इसी तरह बिना शिक्षाको अपनाये हुए क्या हम अपने धर्म, अपनी संस्कृतिका पुनरुद्धार कर सकते हैं ? इसलिये यदि हमने सचमुच यह अनुभव कर लिया है कि वर्तमान शिक्षासे हमारा किसी तरहका कल्याण नहीं है, तो उसका अन्त करनेके लिये हमें कटिबद्ध होना पड़ेगा। इसके प्रति उदासीनता, दीर्घसूत्रता हमारे लिये सब तरहसे घातक है। हम केवल ध्यान ही आकृष्ट कर सकते हैं, आगेका काम विद्वानोंका है। शिक्षाके सभी अङ्गोंपर संसारकी वर्तमान परिस्थिति और प्राचीन सिद्धान्तोंको ध्यानमें रखते हुए विचार करनेकी आवश्यकता है। जिन विद्वानोंने आधुनिक शिक्षाकी निस्सारता तथा उसके हानिकर प्रभावोंका अनुभव कर लिया है, उन्हें किसी एक स्थानपर मिलकर पहले आधारभूत सिद्धान्तोंको निश्चित कर लेना चाहिये। फिर एक स्थायी समितिद्वारा विभिन्न विषयोंके विशेषज्ञोंकी सहायतासे प्रत्येक अङ्गपर निष्पक्ष भावसे पूर्ण विचार करके व्यावहारिक योजना तैयार करनी चाहिये। यह योजना व्यापक होनी चाहिये, जिसमें अवसर आनेपर वह सर्वत्र लागू की जा सके। आज भारतमें सभी सम्प्रदायों, सभी जातियोंके लोग बसे हुए हैं, उन सबको अपने धर्म तथा अपनी संस्कृतिको विकसित करनेका अवसर देना चाहिये। अन्य धर्मोंके प्रति भारतकी उदारता सदासे प्रसिद्ध है, उसकी शिक्षा-योजना उसी उदारताके अनुरूप ही होनी चाहिये। सबके लिये पहले अपने धर्मग्रन्थोंकी शिक्षा होनी चाहिये। हिंदुओंके लिये संस्कृत, मुसलमानोंके लिये अरबी, फारसीकी शिक्षा अनिवार्य होनी चाहिये। इसी तरह शिक्षाको सर्वाङ्गीण तथा सर्वोपयोगी बनानेका प्रयत्न होना चाहिये। इसमें हिंदू, मुसलमान, ईसाई सभी अपना सहयोग प्रदान कर सकते हैं।

यह कार्य सहज नहीं है। इसमें बड़े समय और परिश्रमकी आवश्यकता है। इसका श्रीगणेश तो हो जाना चाहिये, पर इसकी पूर्तिकी प्रतीक्षामें बैठे रहनेसे काम न चलेगा। यदि ऐसा हुआ, तब तो फिर 'घड़ी भरमें घर जले और ढाई घड़ी भद्रा' वाली कहावत चरितार्थ होगी। शिक्षाके कुचक्रका हम पहले उल्लेख कर आये हैं, किसी तरह सर्वप्रथम उस कुचक्रसे हमें निकलना चाहिये। इसका एक ही उपाय है कि उसकी गतिको पहले रोका जाय, चाहे उससे तात्कालिक हानि ही क्यों न हो। ऐसा होनेहीपर एक निश्चित स्थानसे हम आगे बढ़ सकेंगे। जो संस्थाएँ सरकारी आर्थिक सहायताके आश्रित नहीं हैं, यदि उनमेंसे दो-चार भी सङ्घटित होकर वर्तमान पद्धतिका बहिष्कार कर दें और उसके साथ ही कुछ लोग यह निश्चित कर लें कि हम अपने बालकोंको इन्हींमें पढ़ायेंगे, तो फिर स्वतन्त्र शिक्षाकी नींव पड़ जायगी। संस्कृत-विद्यालय इसमें पहला कदम उठा सकते हैं। उनके सञ्चालकोंको हम अपनी बात सरलतासे समझा सकते हैं।

इसमें कुछ सफलता होनेपर दूसरे उसका अनुसरण करेंगे और इस तरह क्षेत्र बराबर विस्तृत होता जायगा। इन विद्यालयोंमें ऐसे अध्यापक उत्पन्न किये जा सकते हैं, जो दूसरे विद्यालयोंका उसी रीतिसे सञ्चालन कर सकें। इस तरह शिक्षाक्षेत्रमें एक ऐसा 'धर्मचक्र' चल सकता है, जो आगे चलकर सरकारी 'कुचक्र' नष्ट कर सकता है। एक बार क्षेत्रमें उत्तीर्ण होनेपर मार्ग आप ही सुस्पष्ट होता जायगा। यदि हमारा ध्येय पवित्र है, उसमें हमें पूर्ण विश्वास है, उसकी प्राप्तिके लिये हम त्याग करने, कष्ट सहनेके लिये तैयार हैं, तो कभी-न-कभी सफलता भी होगी। सबसे प्रथम भगवान्पर विश्वास करके कार्यक्षेत्रमें उतरना चाहिये, फिर तो वे ही पार लगायेंगे।

—'सिद्धान्त' से

प्रभुका खेल

(लेखक—'शान्त')

उस समय वासनाएँ शान्त हो जाती हैं, शान्तिमय संस्कारोंकी एकरस धारा बहने लगती है, असीम आनन्दके उद्रेकसे विषमताएँ शिथिल पड़ जाती हैं; दृष्टि और शरीर स्थिर हो जाते हैं, प्राण, नाडी और रुधिराभिसरणकी गति धीमी पड़ जाती है, रोम-रोम एक मीठी शीतलतासे भर जाता है; क्योंकि उस समय शुद्ध मन अन्तर्देशमें प्रवेश करता है।

विशेषतः उस सायंकालमें, जब सूर्यकी अनुरागमयी रश्मियोंका मधुर स्पर्श प्राप्त करके वसुन्धराके एक-एक कण अपनी चञ्चलता खोकर शान्ति-शय्यापर विश्रामका उपक्रम करते हैं, उस निस्तब्ध निशीथमें, जब समस्त प्रकृति प्रभुके उत्सङ्ग-सुखका अनुभव करके आत्मविस्मृत रहती है अथवा उस सुनहले प्रातःकालमें जब मलयशीतल मन्द सुगन्ध वायु प्राणोंमें नवीन जीवन और नवीन स्फूर्त्ति भरता रहता है। प्रत्येक शुद्ध मनको ऐसा अनुभव होता है कि मुझे कोई अन्तर्देशमें खींच रहा है—मुझे कोई बलात् ऊपर उठाकर आलिङ्गन करना चाहता है।

यह प्रेमका निमन्त्रण, यह प्रभुका सहज चुम्बन किसी विरले ही भाग्यवान्के अनुभवमें आता है और केवल उसीके अनुभवमें आता है, जिसका चित्त चिन्ताओंके भारसे अभिभूत नहीं हो रहा है। चिन्ताक्रान्त चित्त ऊर्ध्वगामी नहीं, अधोगामी होता है। इसलिये जिस चित्तमें शुभाशुभ कर्मकी एक भी वासना, जो स्थूल शरीर अथवा विचारसे पूर्ण होनेवाली है, रहती है, वह चित्त, ठीक वैसे ही जैसे मलिन लोह चुम्बकसे आकर्षित नहीं होता, उस प्रेमाह्वानको नहीं सुन पाता।

निरन्तर सावधानीकी आवश्यकता है। न जाने कब वह समय आ जाय और हम प्रमादग्रस्त हों। पल-पलमें आनेवाली सूर्यरश्मियोंको गिनते रहें, वायुकी एक भी तरङ्ग आँख बचाकर न निकल सके, न जाने उनके किस सूक्ष्मतम प्रदेशमें वह सन्देश आवे और हम बाहरी चकाचौंधमें ही मस्त रह जायँ। पवित्रता, प्रार्थना, कृतज्ञता और शान्तिकी गम्भीरतम स्थितिमें स्वयं प्रभु ही अपने भुजपाशमें बाँध लेते हैं और उनका अपना प्यारा जीव निरावरण होकर सर्वदाके लिये उनके हृदयसे एकमेक हो जाता है।

पवित्र चित्तमें ही कृतज्ञताका उदय होता है। कृतज्ञता अर्थात् मेरे प्रेम न करनेपर भी, सेवा न करनेपर भी और स्मरण न करनेपर भी उन्होंने मुझपर अनन्त प्रेमकी वर्षा की है, परम हितैषीसे भी बढ़कर सेवा की है और निरन्तर मुझपर अपनी आँखें रक्खी हैं। मेरे 'अस्ति' और 'नास्ति' दोनोंको ही उन्होंने बच्चोंका खिलवाड़ समझा है एवं मेरे 'सु' और 'कु' दोनों प्रकारके आचरणोंको ही अभिनय समझकर वे प्रसन्न हुए हैं। मेरा अभिमान था कि मैं उनसे प्रेम करता हूँ, मैं उनकी प्राप्तिका प्रयत्न करता हूँ। वास्तवमें मैं विषयोंमें इतना उलझा हुआ था कि उनके बार-बार पुकारनेपर भी उनके प्रेमकी अवहेलना करता रहा और उनसे दूर ही रहनेकी चेष्टा करता रहा। अब मुझे मालूम हुआ कि वह मेरी भूल थी। मैं उन्हींके प्रेममें सराबोर हूँ। प्रत्येक परिस्थिति और प्रत्येक घटना ही उनका प्रेमपरिप्लुत वरदान है। अब मेरा हृदय अपनेको 'प्रेमी' नहीं 'प्रियतम' जानकर उस परमशान्तिका अनुभव कर रहा है, जिसमें आनन्दकी पराकाष्ठा अपनी सेविका रहती है।

सृष्टिके सम्बन्धमें बड़े-बड़े विद्वानोंतककी धारणा भी

बहुत ही स्थूल है । वे सृष्टिको कर्मचक्रके निविड बन्धनसे विजडित एवं राग-द्वेष और पाप-पुण्यके द्वन्द्वोंसे आक्रान्त ही देखते हैं । इसीसे वे छोटे-मोटे ब्यौरोंमें प्रायः अस्त-व्यस्त रहते हैं । वास्तवमें ऐसी बात नहीं है । जिसे हम सृष्टिके रूपमें देखते हैं, वह सच्चिदानन्दस्वरूप है अथवा चिन्मात्रमें ही चिन्मय लीला-विलास है । इसके राग-द्वेष, पाप-पुण्य अभिनयमात्र अथवा प्रतीतिमात्र हैं; इसीसे इस सृष्टिमें कहीं भी चिन्ता करनेका स्थान या अवसर नहीं है । सब ठीक-ठीक हो रहा है—सब-के-सब इस जगन्नाटकमें 'निर्देशक' की इच्छाका अनुसरण कर रहे हैं । भक्तकी दृष्टिमें यह चिन्मयी लीला और ज्ञानीकी दृष्टिमें सच्चिदानन्दघन निज स्वरूप ही सब कुछ है । वास्तवमें उन्हींकी दृष्टि सच्ची दृष्टि है । ऐसा निश्चय होते ही संकल्पोंका प्रवाह मन्द और धीरे-धीरे बंद हो जाता है । बाहर सच्चिदानन्दघनकी एक रस-धारा है और भीतर परिपूर्ण सच्चिदानन्दस्वरूप है—इस ज्ञान या भावकी जागृतिमात्रसे विषयसंकल्पकी निवृत्ति और सच्चिदानन्दघनभावकी परिस्फूर्ति या अनुभूति होने लगती है। यही गाढ़ होकर प्रभुका साक्षात्कार कराती है । इसमें सगुण अथवा निर्गुणका कोई भेद नहीं है ।

पवित्र चित्त जब कृतज्ञतासे परिप्लुत हो जाता है, तब अन्तर्देशके गम्भीरतम प्रदेशसे प्रार्थनाकी प्रशान्त धारा प्रवाहित होने लगती है । ऐसे भाव स्वयं ही प्रस्फुरित हो उठते हैं—'प्रभो ! मैं अनादिकालसे तुम्हारी ही गोदमें हूँ—तुमने कभी एक क्षणके लिये भी मुझे अपनेसे दूर नहीं किया, तुम्हारी मङ्गलमयी सन्निधिमें रहनेपर भी, तुम्हारा मधुमय स्पर्श प्राप्त करते रहनेपर भी, मैं ऐसा मुग्ध हो गया—ऐसी बेहोशीमें मस्त हो गया कि मैं कहाँ हूँ और किससे खेल रहा हूँ ? यह बात सर्वथा भूल गयी मेरे स्वामी ! तुम्हारे सामने ही तुम्हारे करकमलोंकी छत्रछायामें ही तुम्हें भूलकर मैं भटकने लगा और तुम, मेरे लीलानटवर ! तुम ज्यों-के-त्यों मुसकराते रहे । ठीक था तुम्हारा मुसकराना भी, परन्तु मुझे सावधान तो कर देना था ? अच्छी बात, माना कि वह भी एक लीला ही थी । परन्तु अब, अब तो अपना पूरा पागलपन मेरी आँखोंके सामने नाच रहा है । कहाँ-कहाँ मैं भटका सुख-शान्तिकी खोजमें, जब कि मैं उनके मूल आश्रयमें ही निवास कर रहा था । अस्तु, अब मैं देख रहा हूँ तुम्हारी सारी खिलवाड़ ! अब कभी अंधा नहीं बनाना, नहीं होने देना । मैंने अज्ञान और अहंकारके वश होकर भला क्या-क्या अपराध नहीं किये हैं—उनको याद न करना ही अच्छा है, परन्तु कहीं उनकी पुनरावृत्ति न हो जाय इसके लिये वचन तो देना ही पड़ेगा । जो कुछ है सब तुम्हारा ही है, सब तुम्हीं हो फिर भी मैंने अपना मान जो रखा था, इसलिये सब फिरसे सौंपता हूँ—अपना होनेपर भी एक बार स्वीकार करनेकी लीला कर लो—नाथ ! लीला करनेमें तो तुम कभी संकोच नहीं करते हो । यह संसार, शरीर और प्राण तुम्हारे हैं, यह इन्द्रिय, मन और बुद्धि तुम्हारे हैं, मेरा जो कुछ ज्ञात या अज्ञात स्वरूप है—स्वयं मैं जो कुछ हूँ तुम्हारा हूँ। मेरे—'मैं' को, मेरे सर्वस्वको अपने प्रेमकी अजस्र बरसती हुई अनन्त धारामें बह-बिला जाने दो । केवल तुम रहो और तुम्हारा यह अनन्त प्रेम रहे । जिसमें यह सारा संसार डूब-उतरा रहा है और जिसकी घनतामें ही इसको स्थान मिला है तथा जिसके अस्तित्वसे ही यह अस्तित्ववाला हो रहा है। मेरा यह समर्पण मेरा समर्पण नहीं है, तुम्हारा स्वीकार ही इस रूपमें अभिव्यक्त हुआ है । ऐसा अनन्त स्वीकार—केवल तुम्हींने कर रक्खा है और केवल तुम्हींने कर रक्खा है । तुम्हारे स्वीकारके अतिरिक्त मैं और क्या हूँ ? मैं केवल तुम्हारा अन्तहीन स्वीकार हूँ ।'

जिस समय प्रेम और समर्पणकी भावनासे सम्पूर्ण जड़-चेतन जगत् आप्लावित और आप्यायित हो जाता है, शान्ति और आनन्दके महान् समुद्रके अतिरिक्त और कुछ नहीं रहता, उस समय परमात्माका वह दिव्य सन्देश प्राप्त होता है, जो केवल परमात्मा ही दे सकता है—जीवका परिमित ज्ञान जिसका आकलन करनेमें सर्वथा असमर्थ है । परमात्माके शब्दोंमें मेरे प्यारे आत्मा, मेरे प्यारे सर्वस्व, तुम कभी मुझसे बिछुड़े नहीं । तुम मेरे हृदय हो । भला, तुम्हें छोड़कर मैं कैसे रहता, कैसे रह सकता ! तुम जैसे अब मेरी गोदमें हो, ठीक वैसे ही तब भी थे । जैसे अब बात कर रहे हो, वैसे ही तब भी कर रहे थे । मैं ही सैकड़ों रूपोंमें तुमसे मिलता था, हजारों रूपोंमें तुम्हारे सामने आता था और मेरे ही लाखों रूपोंकी तुम्हारे मनमें सम्भावनाएँ थीं । था मैं ही, तुम पहचान नहीं रहे थे । मैं तुम्हारे साथ वैसे ही खेलना चाहता था, वैसे ही खेल रहा था—दुःखकी तो कोई बात ही नहीं थी ।

आनन्द ब्रह्मचर्यकी पीठ

(लेखक—श्रीवृजमोहनजी मिहिर)

पहले, जब आजकलकी भाँति दूषित वातावरण नहीं था, ब्रह्मचर्यकी रक्षा सुलभ थी और स्वतः ही हो जाया करती थी। उस समयका रहन-सहन, वेष-भूषा, आचार-विचार, शिक्षा-प्रणाली और सभ्यता आदि लोगोंको ब्रह्मचर्य-व्रतके धारण करनेमें सहायता पहुँचाते थे। आजकलकी परिस्थिति ठीक इसके विपरीत है। पहले बालजीवन पवित्र और सरल था। लोगोंका आहार-विहार नियमित था। वे सत्यके उपासक होते थे। अतः ब्रह्मचर्य-व्रतमें स्थित रहनेमें उन्हें कोई कठिनाई नहीं होती थी। ब्रह्मचर्य-व्रतको स्थायी बनानेके लिये आश्रम-धर्म भी उसका एक प्रधान अङ्ग था। प्राचीन कालके पुरुष गृहस्थाश्रममें केवल इन्द्रिय-सुखके लिये नहीं प्रवेश करते थे। विद्यार्थी-जीवन समाप्त करके विद्यालयसे निकलनेके पश्चात् जिनका उद्देश्य प्रवृत्ति-मार्गमें आकर सृष्टि उत्पन्न करना रहता था, केवल वे ही गृहस्थ-धर्म स्वीकार करते थे। गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेपर भी उनका जीवन विलासी नहीं होता था, प्रत्युत किसी मुख्य उद्देश्यकी पूर्तिके हेतु इस आश्रममें भी वे अपना रहन-सहन शुद्ध एवं संयमित रखते थे। अपने ही सदृश एक नूतन आकृतिको उत्पन्न करनेके निमित्तसे वे रति-रहस्यमें सम्मिलित होते थे, अन्यथा नहीं। जीवनमें केवल कुछ ही ऐसे अवसर होते थे, जब उन्हें अपनी शक्तिको बहिर्मुख करनेकी आवश्यकता पड़ती थी। सन्तान हो जानेके बाद उसके युवावस्था प्राप्त कर लेनेके पूर्व ही, वे गृहस्थाश्रम छोड़कर वानप्रस्थ आश्रममें प्रवेश करते थे। आजकलकी तरह उस समय ऐसी भद्दी प्रथा कहीं देखनेको भी नहीं थी कि एक ही परिवारके पिता और पुत्र दोनों चिरकालतक सन्तानोत्पत्तिके कार्यमें प्रवृत्त रहें।

आजकल जीविकाका प्रश्न संसारव्यापी विकट समस्या हो रही है। स्वतन्त्र देशोंने कृत्रिम उपायोंद्वारा इसके हल करनेका कुछ आयोजन किया है। लेकिन उन्हें फिर भी पूरी सफलता नहीं मिल रही है, भारतवर्षमें विदेशी सरकार होनेके कारण यह प्रश्न और भी कठिन हो रहा है। जिस समय भारतवर्षकी जन-संख्या कम थी और भूमि उर्वरा एवं रत्नगर्भा होनेके कारण भोजन, वस्त्र तथा जीवनकी अन्य आवश्यक सामग्रीका अभाव नहीं था; उस समय विवाहके शुभ अवसरपर वर-वधूको यह आशीर्वाद दिया जाता था कि वह दम्पति अनेक सन्तानोंसे सम्पन्न हो। देश तथा समाजकी उस समयकी स्थिति एवं आवश्यकताके अनुसार ऋषियों और शुभचिन्तकोंका यह आशीर्वाद उनके लिये शुभ वचन था। लेकिन वर्तमान परिवर्तित स्थितिमें वैसी शुभकामना दुःखका मुख्य कारण बन सकती है।

संसारके इस अशान्त वातावरणमें, देशमें भीषण गरीबी एवं आवश्यकतासे अधिक जनसंख्या हो जानेसे, यहाँके युवक-युवतियोंका युगके अनुसार यह मुख्य धर्म हो गया है कि वे जहाँतक हो सके—पूर्णरूपसे पवित्र रहकर अपनेको विवाह-बन्धनसे मुक्त रखनेका प्रयत्न करें। विवाह-बन्धनसे अपनेको अलग रखना तथा आचरणको पूर्ण, संयमशील बनाना चरित्रकी पवित्रताकी पराकाष्ठा है। मन और शरीर दोनोंसे ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करना निस्सन्देह बहुत ही कठिन है, लेकिन मन और शरीरके होम किये विना उसकी पूर्णता कदापि सम्भव नहीं है। इस सम्बन्धमें हमें इस बातको हृदयङ्गम करना चाहिये कि यदि मनुष्य और ऊपर उठना चाहता है तो यह आवश्यक है कि उसके मनके अंदर स्त्री और पुरुष भावकी कोई पृथक् सत्ता न रह जाय। स्त्री और पुरुषकी पृथक् सत्ता सृष्टिका कारण होती है, किन्तु जिस समय प्रकृति पुरुषमें विलीन हो जाती है उस समय उसकी सृजन-क्रियाका कार्य समाप्त हो जाता है। स्त्रियाँ प्रकृतिरूपिणी हैं। अतः मनुष्योंके लिये यह कहा जाता है कि वे प्रकृतिको देखते हुए उससे शनैः-शनैः अलग हो जानेकी कोशिश करें। इस सिद्धान्तको ही सामने रखकर प्राचीन कालमें स्त्री-पुरुषोंके लिये आश्रम-धर्मका आयोजन किया गया था। लेकिन आज भी यह जन-कल्याणके लिये लाभदायक एवं उपयोगी है। अतः आधुनिक चालके स्त्री-पुरुषोंको इस सिद्धान्तका मनन करके उससे लाभ उठाना चाहिये। इससे एक दूसरा लाभ यह भी होगा कि ऐसे स्त्री-पुरुष संसारकी आर्थिक समस्याके प्रश्नको हल करनेमें सहायक होंगे।

इस कठिन विधानको समझने तथा उसपर अमल करनेके लिये यह आवश्यक है कि उसमें हृदय और मन दोनोंका पूर्ण सहयोग हो। दोनोंके मेलसे कार्य आसान हो सकेगा। अन्यथा मनुष्य अपनी वास्तविक आवश्यकताको न समझकर या तो उसे बलात्कारसे दमन करनेकी कोशिश करेगा या अनर्गल भोगवासनाओंमें डूब जायगा। दोनों ही दशाएँ असङ्गत हैं। चरित्र कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जिसे बलात् किसी नियम अथवा

नियन्त्रणमें बाँधकर सुधारा जा सके। किसी भावनाको दमन करके जब कोई बात चरित्रमें लानेकी चेष्टा की जाती है तो उसका परिणाम प्रायः दुःख और क्लेश ही होता है।

चरित्र एक स्वाभाविक वस्तु है। इसको बिना किसी शर्त और दबावके समझना चाहिये। जब हमारा मन किसी भोगके प्रति लालायित है तो हमें उन बातोंके समझनेकी आवश्यकता है, जो हमें उस भोगको भोगनेके लिये बाध्य करती हैं, न कि उसके लिये बाह्य नियम और किसी प्रकारके नियन्त्रणकी। नियम और नियन्त्रणके अधीन होकर जो बात की जायगी उसमें कर्ताकी इच्छा, प्रसन्नता और उसके विचारकी कोई गम्भीरता न होगी। उस समय नियम और नियन्त्रणकी शृंखला केवल कुछ समयके लिये उस इच्छाका दमन करेगी। किन्तु अवसरके सम्मुख आनेपर पहले जितना इच्छाका दमन किया गया था, उससे भी अधिक वेगके साथ उसकी पूर्ति की जायगी। अतः चरित्र-सम्बन्धी बातें जबरदस्ती पालन की जानेवाली नहीं हैं।

मनुष्य जब अपने चरित्रमें किसी बातको लाना चाहता है तो उसको उसकी ऊपरी बातोंको समझनेकी उतनी चेष्टा नहीं करनी चाहिये; बल्कि वह उस इच्छाके रहस्यको समझे और उसकी गम्भीरता और आन्तरिक स्थिति समझते हुए अपनी इच्छाका विश्लेषण करे। जिस बातको मनुष्य अपने चरित्रमें लाना चाहता है, उसके प्रति उसकी पूरी रुचि होनी चाहिये; क्योंकि पूरी रुचिसे किसी बातको छोड़ने या अपनानेसे वह प्राणी उस बातको भलीप्रकार अपने चरित्रमें ला सकेगा। चरित्रके सम्बन्धमें इन बातोंका ध्यान रखते हुए जब कोई बात अपनायी जायगी, तो वह पूरी उतरेगी और उसका परिणाम भी अच्छा होगा। जिस विचारका जबरदस्ती दमन किया जाता है, उसका कालान्तरमें उभाड़ होता है। किन्तु ज्ञानसहित इच्छानुसार जो काम किया जाता है, उसके लिये प्रयास नहीं करना पड़ता। ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करनेके इच्छुकोंको इन मनोवैज्ञानिक तथ्योंका जानना आवश्यक है।

ब्रह्मचर्य-व्रतके पालकके लिये भोजनकी ओर भी ध्यान देनेकी जरूरत है। यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि जैसा भोजन किया जाता है, वैसा ही शरीर और मन बनता है। अतः ऐसा भोजन नहीं करना चाहिये, जो अंदरके तन्तुओंको उत्तेजित करे। अधिक सब्जी, मोटे आटेकी रोटी, कुछ चावल, ताजे फल, आधी छटाँकतक घी और आध सेरतक दूध ब्रह्मचर्य-पालकोंके लिये उत्तम भोजन है। कुछ भूख रखते हुए भोजन समाप्त करना चाहिये। रात्रिमें रोटी-सब्जीका सादा भोजन ही सूर्यास्त तक कर लेना लाभदायक है। ब्रह्मचारियोंके लिये रात्रिमें दूध-सेवन भी अहितकर है। बासी भोजन और मांसका सेवन कभी न किया जाय। गरम मसाला, मिर्च, गुड़, चीनी, नमक और तेल ब्रह्मचर्य-पालनके लिये हानिकर हैं। अतः इन्हें भी त्याज्य समझना चाहिये। नमकका उपयोग छोड़ देना मुश्किल जरूर है, किन्तु छोड़ दिया जाय तो विशेष हितकर है।

जो व्यक्ति स्वभाव और मनसे ब्रह्मचर्य पालन करना चाहते हैं, उन्हींको इस व्रतका अनुष्ठान करना चाहिये; क्योंकि ब्रह्मचारीका मन और शरीर दोनोंका पवित्र रहना आवश्यक है। मनका व्यापार शरीरके कार्यसे कहीं कठिन है। मनमें वासनाके रहते किसी अनुष्ठानके प्रति स्थिर रहनेके लिये यदि बलात्कार किया जायगा तो उसका परिणाम बहुत घातक होगा। इससे मनुष्यका चित्त उद्विग्न हो जाता है और जीवनकी सरसता नष्ट हो जाती है। मनमें किसी वासनाको रखते हुए ऊपरसे रोक-थाम करके शरीरद्वारा उसके विरुद्ध आचरण करनेपर प्राण-जगत्में बहुत बड़ा आघात पहुँचता है। वासनाको रखते हुए जिस किसी बातको शरीरद्वारा साधक रोकना चाहता है, उसका परिणाम प्रायः उससे उलटा होता है। मनमें उसकी वासनाका वेग प्राण-जगत्में स्पन्दनके कारण एक बलवान् संस्कार बनकर उसको सदा अनिष्ट पहुँचाया करेगा।

जैसा कि इस लेखमें ऊपर लिखा जा चुका है, स्त्री-सत्ताका पुरुषके अंदर विलीन हो जाना ही ब्रह्मचर्य-व्रतकी चरम सीमा है। लेकिन यह उच्च आदर्श इतना कठिन है कि इसके साधनेमें कोई विरला ही सफल हो सकता है। इससे नीचे उतरकर साधकको यदि इतनी सफलता भी मिल जाय कि स्त्रीकी आकृति उसके मनमें बसकर उसे उद्विग्न न कर सके, तो यह भी थोड़ी सफलता नहीं है। स्त्रियोंके प्रति राग छोड़ देनेसे ही यह सम्भव है, अन्यथा नहीं। स्त्रीका ख्याल रखते हुए उसके प्रति आकृष्ट हो जाना स्वाभाविक ही है।

यह प्रश्न हो सकता है कि जब यह व्रत इतना कठिन है तो मनुष्य इसका पालन कैसे कर सकता है। जितना कठिन यह प्रश्न है, उतना ही कठिन, यदि कुछ दिया जा सके, तो उसका उत्तर भी होगा।

स्त्रीकी बात तो जाने दीजिये, लोग छोटी-छोटी चीजोंके

प्रति आकृष्ट हो जाते हैं; फिर विवाह तो वयस्क स्त्री-पुरुषोंके लिये जीवनका बहुत बड़ा प्रलोभन जान पड़ता है । किसी अच्छे मकान, सुन्दर वस्त्र, उत्तम भोजन-सामग्री आदिको देखकर लोग इस कदर उनके प्रति आकृष्ट हो जाते हैं, मानो उनका व्यक्तित्व कोई चीज ही नहीं है । संसारकी छोटी-से-छोटी चीज उनके मनको अपने साथ उड़ा ले जाती है । पानेकी कोई आशा न होते हुए भी लोग इस कदर उसके पीछे पड़ते हैं कि मानो उनके पास अपनी कोई चीज़ है ही नहीं । किसी चीज़के चाहनेपर उसके न मिलनेपर मनकी यही दशा होती है । इन सब बातोंके मूलमें हमें एक ही कारण प्रतीत होता है कि हमलोग अंदरसे बहुत दीन हैं । इसीलिये मन चारों ओर दौड़ता है । लोगोंकी यह दयनीय दशा ही उनकी विपत्तिका मुख्य कारण है । संसारकी किसी वस्तुके चाहनेपर हमें मनको उसके प्रति अर्पित कर देना पड़ता है; फिर भी उसकी प्राप्ति सदा साध्य नहीं है । यदि इच्छित वस्तु प्राप्त भी कर ली गयी तो उसके उपभोगके लिये दूसरोंपर निर्भर करना ही सबसे बड़ी गरीबी है । बाह्य सभी सुखोंके लिये हमें उनके साथ रहना और चलना पड़ता है, जिसका अन्तिम परिणाम सदा दुःख है ।

यह हो सकता है कि बहुत-सी बातोंमें मनुष्य उसकी गहराईतक न पहुँच सकता हो, लेकिन सत्य कभी दो नहीं हो सकते । सत्य सबके लिये और सब स्थानपर एक है । इस हैसियतसे इसके रहस्यको समझनेपर प्रत्येक मनुष्य स्वाभाविक ढंगसे अपने जीवनमें यह अवश्य सोचेगा कि, क्या बाहरकी चीज़ोंसे सुख प्राप्त किया जा सकता है । उसका दुःख ही उसके सामने इस रहस्यको खोलता है । जब वह अपने दुःखके रहस्यको समझ लेगा तो वह बाहरकी चीज़ोंको छोड़कर अंदरके सुखकी खोज करेगा । ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करना उन्हींके लिये शक्य है जिनका मन बाहरके प्रलोभनोंमें न पड़कर अन्तर्मुख हो जाय । आत्मामें प्रतिष्ठित हो जानेपर फिर संसार उस व्यक्तिको अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर पाता । इसमें जो भी मनुष्य सफलता प्राप्त कर सके, उसीका जीवन धन्य है ।

ब्रह्मचारीका जीवन सर्वोत्तम है । आधुनिक कालमें संसारकी दुर्दशाको देखते हुए जो व्यक्ति इस व्रतका पालन करनेमें समर्थ होता है, वह केवल अपना ही कल्याण नहीं करता, बल्कि उससे सारे संसारका हित होता है । वह अपने आचरण और शुद्ध व्यवहार तथा आदर्श जीवनद्वारा समाजमें नवीन शक्तिका सञ्चार करेगा । उसका पवित्र जीवन दूसरोंके लिये आदर्शमय जीवनका एक ज्वलन्त उदाहरण होगा । ब्रह्मचारीका जीवन दीर्घसूत्री न होगा । शुद्ध मन और स्वस्थ शरीरवाला छोटा बालक जैसे प्रसन्न रहता है, वैसे ही ब्रह्मचारी भी आत्मानन्दमें निरत रहेगा । बालकके मनमें जैसे किसीके प्रति राग-द्वेष नहीं रहता, वैसे ही ब्रह्मचारीका मन भी वृत्तिशून्य होगा । समत्वकी भावना होनेसे ब्रह्मचारी सदा जगत्के कल्याण-सम्पादनमें लगा रहेगा । लेकिन न वह किसीके प्रति अनुराग दिखलायेगा और न किसीकी ओर आकृष्ट होगा । इस प्रकार ब्रह्मचारीका जीवन परम पवित्र और शुद्ध जीवन है ।

अब बहुत कठिन प्रश्न यह आता है कि ऐसा ब्रह्मचर्यमय जीवन कैसे व्यतीत किया जाय । सही बात तो यह है कि इसका कोई उत्तर नहीं दिया जा सकता । अपनी ओरसे यदि क्षेत्र तैयार नहीं कर लिया गया है तो दूसरोंका लेख इसमें कोई सहायता नहीं पहुँचा सकता । हाँ, जब किसी व्यक्तिने अपनी ओरसे ब्रह्मचर्य-व्रतकी धारणाको दृढ़ बना रक्खा है तो तदनुकूल दूसरोंके लेख या सत्सङ्गसे भी उसे सहायता मिलेगी । इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि जो मनुष्य आत्मानन्दमें स्थित नहीं रह सकता, उसके लिये ब्रह्मचर्य-व्रतकी कल्पना आकाशमें पुष्प देखनेके सदृश होगी । अतः यदि कोई व्यक्ति ब्रह्मचारी होना चाहता है तो उसे आत्मानन्दी होना चाहिये । इसके बिना ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन असम्भव है ।

इससे सम्बन्ध रखनेवाला दूसरा प्रश्न यह हो सकता है कि जो लोग इतनी कठिन तपश्चर्या नहीं कर सकते, उन्हें क्या करना चाहिये । इसका स्वाभाविक उत्तर यही हो सकता है कि वे गृहस्थाश्रम-धर्म स्वीकार करके मर्यादोचित जीवन व्यतीत करें । यह भी कोई आसान काम नहीं है । गृहस्थाश्रम-जीवन स्वीकार करनेका अर्थ है अपने ऊपर एक बहुत बड़ी जिम्मेदारीको लेना । केवल उसीको विवाह-बन्धनमें फँसनेका हक है जो सब प्रकारसे इसका पात्र हो अर्थात् जिसका मन बलवान् और शुद्ध है, शरीरद्वारा जो स्वस्थ है, जिसे कोई संक्रामक रोग नहीं है, जिसका परिवार भी ऐसे रोगोंसे मुक्त रहा हो, जिसके सम्मुख कठिन आर्थिक प्रश्न न हो, जिसका हृदय कोमल और दयालु हो और जो देखनेमें कुरूप न हो । इन बातोंके अतिरिक्त उसके अंदर समत्वकी भावना भी हो, ताकि वह जीवनके सुख-दुःखको सहन कर सके । जिनके अंदर ये सब गुण विद्यमान हैं, केवल वे ही विवाहके लिये उचित पात्र हैं । ऐसे दम्पति जो सृष्टिका रचनात्मक कार्य करेंगे, उससे संसार-

में शान्ति स्थापित होगी और लोगोंका जीवन सरल बनेगा। इस लेखमें मुझे एक और बातकी ओर ध्यान दिलाना उचित मालूम पड़ता है कि ऐसे दम्पति भी उतनी ही सन्तान उत्पन्न करें, जिनका वे भलीप्रकार पालन-पोषण कर सकें। भारतवर्षमें परिवारोंकी दशा आजकल बहुत ही शोचनीय है। अधिकतर तो ऐसे ही दम्पति हैं, जिन्होंने विवाहकी जिम्मेदारीको न समझकर इस भारको अपने ऊपर उठा लिया है। जिस कामके लिये वे सब प्रकारसे नाकाबिल थे, उसे अपने ऊपर लेकर उन्होंने अपना जीवन तथा समाजका जीवन बहुत ही कष्टमय बना दिया है। उनका सारा जीवन चिन्तामें और रोते-झीखते बीतता है। यह भी देखा जाता है कि जो लोग गरीब हैं; उनके यहाँ सन्तान अधिक होती हैं। गरीबके यहाँ अधिक सन्तानका होना दुःख-पर-दुःखका आना है। गरीबोंके यहाँ बच्चोंकी दुर्दशा देखकर जी भर आता है। कीड़े-मकोड़ोंकी भाँति वे घरमें इधर-उधर घूमा करते या पड़े रहते हैं। उनके तनपर न ठीक वस्त्र दिखलायी पड़ता है और न उनके शरीरमें भोजन ही पहुँचता है, जिससे उनके शरीरकी उचित उन्नति होकर उनके मन और बुद्धि विकसित हों। सुसम्पन्न परिवार या अन्य उन्नतिशील प्रदेशोंमें पशुओंके रखनेका जितना अच्छा प्रबन्ध है, उतना भी इन दयनीय बालकोंका इन गरीबोंके घर नहीं है। ऋतुके अनुसार पशुओंको भोजन दिया जाता है और उनकी रहनेकी जगहोंका आयोजन किया जाता है, किन्तु इन बालकोंके प्रति ऐसी उदार भावना कोसों दूर है। जाड़ा, गर्मी, बरसात——सभी वे एक-ही-दो वस्त्रोंमें बिता देते हैं। कितने तो ऐसे बालक भी दिखलायी पड़ते हैं, जिन्हें तन ढाँकनेके लिये सदा वस्त्र भी पर्याप्त नहीं मिलता। जैसी दशा उनके वस्त्रोंकी है, वैसी ही दशा उनके भोजन और मकानकी भी है। यदि थोड़ा-सा रूखा-सूखा भोजन मिल गया तो यही सब कुछ है। एक खाट और एक ओढ़नेमें दो-तीन बालक रात बिताते हैं। सोनेमें प्रकृति उनकी सहायता करती है कि लेटते ही उन्हें नींद आ जाती है और उनके रातके सात-आठ घंटे प्रगाढ़ निद्रामें बीत जाते हैं। इन बालकोंको देखकर किसे रोना न आयेगा!

प्राचीन कालमें विवाहका उद्देश्य परम पावन था, शुद्ध जीवन व्यतीत करनेका वह एक उचित माध्यम था। किन्तु इस समय इसके ठीक विपरीत विवाह करनेका अभिप्राय लोगोंकी दृष्टिमें काम-लिप्साको तृप्त करनेका एक साधनमात्र है। इस बातपर विचार करनेके लिये तो एक बिल्कुल ही स्वतन्त्र लेखकी आवश्यकता है। इस लेखमें तो सिर्फ ब्रह्मचर्य-व्रतके कुछ पहलुओंपर ही विचार किया गया है।

विवाहित स्त्री-पुरुषोंके लिये या जो लोग इस बन्धनमें अपनेको फँसाने जा रहे हैं, उन्हें अपने कष्टोंपर ध्यान देते हुए सजग होकर जीवन व्यतीत करना चाहिये। जिन्होंने बिना समझे अपने सिरपर इस जिम्मेदारीको ले लिया है, उन्हें अपना ध्यान इस ओर आकृष्ट करना चाहिये कि वे कम-से-कम सन्तान पैदा करें जिसकी वे उचित देख-भाल कर सकें। ऐसा करनेसे उनके कष्टमें कमी हो सकती है। नहीं तो जीवन कहींका न रह जायगा, और कष्ट दिनों-दिन बढ़ता ही जायगा। वैवाहिक जीवन विषय-भोगका जीवन नहीं है। प्राचीन कालमें सन्तान उत्पन्न करनेके एक निश्चित अभिप्रायसे ही वीर्यका क्षय किया जाता था, अन्यथा नहीं। उस समयके दम्पतिमें भोग-वासनाकी लिप्सा नहींके बराबर होती थी। सन्तानोत्पत्तिके अवसरके अतिरिक्त स्त्री-पुरुषका आचरण शुद्ध होता था। एक-दूसरेको कामभावकी दृष्टिसे नहीं देखते थे, बल्कि एक मित्र या आत्मीयकी दृष्टिसे। इन सब उच्च आदर्शोंके प्रति कहाँतक किसको सफलता मिल सकती है, बिल्कुल ही व्यक्तिगत प्रश्न है। इस सम्बन्धमें कुछ कहा नहीं जा सकता। लेकिन जो लोग संसारके दुःख अथवा अपने दुःखको देखकर सजग हो जायँगे उन्हें लाभ ही होगा। दुःखमें बिना सजग हुए उससे छुटकारा कभी नहीं मिलता। जो लोग दुःखसे सजग नहीं होते, उनका कहीं ठिकाना नहीं लगता।

एक बात और लिखकर यह लेख समाप्त किया जाता है। ऊपर बतलाया गया है कि पूर्ण ब्रह्मचारी वही हो सकता है, जो मन और शरीर दोनोंसे पवित्र हो। लेकिन यह एक महान् व्रत है; इसमें जो सफल हो सके, वही पुरुष है। जो लोग मन और शरीर दोनोंसे इस निर्मल व्रतको धारण करनेमें असमर्थ हैं, उन्हें कम-से-कम अपने कष्टोंका ख्याल करते हुए इतना तो अवश्य करना चाहिये कि शरीरद्वारा ब्रह्मचर्य-व्रतको धारण करें और सदा इस बातका प्रयत्न करते रहें कि उनका मन भी निर्मल होता जाय। गृहस्थ-जीवनके उत्तरदायित्वको ग्रहण करनेमें यदि कोई मनुष्य असमर्थ है तो उसको चाहिये कि कामिनीके प्रलोभनमें पड़कर अपने जीवनको कष्टमय, नीरस और अशान्त न बनावे। इस बातको सम्मुख रखकर ही यदि उसके अंदर विचारकी गम्भीरता और दृढ़ता होगी तो बहुत सम्भव है कि एक दिन वह एक सच्चा ब्रह्मचारी भी बन सके।

कामके पत्र

(१)

शान्ति भगवान्‌के आश्रयसे ही मिल सकती है

संसारकी बात तो ऐसी ही है। आप सच मानिये—भगवान्‌से रहित जगत्‌में गढ़े-ही-गढ़े, खाई-ही-खाई हैं। इसमें कहीं ऊँची जगह है ही नहीं, जहाँ मनुष्य सुखसे रह सके। एक गढ़ेमें पड़ा हुआ मनुष्य उससे दुखी होकर दूसरे गढ़ेकी चाह करता है और कदाचित् उससे निकलकर दूसरेमें गिर जाता है एवं फिर उन्हीं दुःखोंका सामना करता है। इसमें तो परमात्माका आश्रय, भगवद्भावका निश्चय, सर्वत्र एकमात्र भगवत्-सत्ताका अनुभव और भगवान्‌की लीलाका दर्शन करनेपर ही शान्ति मिलती है। फिर तो प्रत्येक गढ़ा एक सुन्दर सुरम्य आनन्दस्थलीके रूपमें परिणत हो जाता है। दुःख, सङ्कट, विपत्ति, असफलता—सभी सुख, शान्ति, सम्पत्ति और सफलताके रूपमें पलट जाते हैं। लोकदृष्टिमें बुरी-से-बुरी स्थिति भी फिर दुःखदायिनी नहीं होती। संहार और सृजन दोनों ही उनकी लीलाके दो अंग दीखते हैं। फिर लौकिक मान-अपमान, स्तुति-निन्दा, अनुकूलता-प्रतिकूलता, जीवन-मरण, लाभ-हानि, उत्थान-पतन—सभीमें लीलानन्दका अनुभव होता है। ऐसा हुए बिना—केवल जगत्‌को पकड़े रहकर मनुष्य यदि शान्ति, सुख और सफलता चाहता है तो वे उसके लिये आकाश-कुसुमके समान सदा असम्भव ही रहते हैं। दुःखालयमें सुख कैसा ? अनित्यमें नित्य कहाँसे आवे ? याद रखना चाहिये—जो मनुष्य केवल विषयोंमें सुख खोजता है, उसके जीवनका अन्त तीन बातोंमें होता है—अतृप्ति, असफलता और पापसंग्रह। इसलिये भगवान्‌को ही जीवनका लक्ष्य बनाकर भगवान्‌के लिये ही जगत्‌के यथायोग्य सब काम करने चाहिये। समस्त जीवन उनकी पूजाका उपकरण बन जाय। जीवनका प्रत्येक पल उनके प्रार्थना-ग्रन्थका एक-एक पृष्ठ बन जाय। तभी सुख-शान्ति और सच्ची स्थायी सफलताके दर्शन होंगे। मैंने खूब परीक्षा करके देखा है—भगवान्‌से रहित जगत्‌में बड़े-से-बड़े सुखों और भोगोंको प्राप्त सफल-जीवन समझे जानेवाले पुरुष भी महान् दुखी और सर्वथा असफल ही हैं। उनका हृदय सदैव अतृप्तिकी आगसे जलता रहता है। भोगोंसे तृप्ति कभी होती ही नहीं। इसके सिवा और भी नाना प्रकारके ऐसे दुःख, जिनकी दूसरे कल्पना भी नहीं कर सकते, उनके जीवन-संगी बने रहते हैं, जो सदा उन्हें सताया करते हैं। यह सत्य है।

(२)

प्रेमसे होनेवाला भजन

भगवान्‌में प्रेम होनेपर उनका नाम इतना प्रिय लगता है कि फिर भुलाये भी नहीं भूलता, छुड़ाये भी नहीं छूटता। भगवान्‌में प्रेम बढ़े इसके लिये भगवान्‌से प्रार्थना कीजिये और नाम-जप किसी भी भावसे करते चले जाइये। जब नाममें यथार्थ रुचि हो जायगी—नामकी पूरी मिठास आ जायगी; फिर तो नाम-जप अपने-आप होगा। फिर संख्याकी जरूरत नहीं होगी। संसार-सागरसे पार होनेका उपाय तो भगवान्‌का सहारा ही है। भगवान्‌ने कहा है—'जो मुझमें मन लगाकर मेरा भजन करते हैं, उनको संसार-सागरसे मैं स्वयं बहुत जल्दी पार कर देता हूँ।' भगवान् स्वयं पार करनेको तैयार हैं, फिर और क्या चाहिये। आप मन लगाकर भजन करनेकी चेष्टा कीजिये। असल बात तो यह है कि आप पार होनेकी बात भी क्यों सोचते हैं ? इस पार रहें या उस पार, यदि भगवान्‌का प्रेमसे भजन होता है तो दोनों ही पार उत्तम और आनन्दमय हैं। नरक-यन्त्रणा भोगते हुए भी यदि भजन हो तो उत्तम

है, तथा ऊँची-से-ऊँची गतिमें भी यदि भजन छूट जाय तो वह निकृष्ट और दुःखमयी है। इसीसे गोसाईंजीने कहा है—

अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहौं निरबान।
जनम जनम रति राम पद यह बरदान न आन॥

वे हमें इस संसार-सागरमें ही रक्खें, कोई आपत्ति नहीं; परन्तु हृदयमेंसे कभी निकलें नहीं, आँखोंसे कभी ओझल न हों। हमें मुक्तिसे क्या प्रयोजन है। हमें तो प्रयोजन होना चाहिये उनके पादपद्मोंसे, उनके प्रेमसे, उनके स्मरणसे; फिर चाहे वे कहीं, किसी भी हालतमें कैसे ही रक्खें।

एकान्तमें रहकर भगवान्‌का भजन करनेका मन होता है, सो यह तो मनकी उत्तम वासना है। परन्तु याद रहे, जंगलोंमें जानेसे ही प्रियतम श्रीकृष्ण नहीं मिलते। श्रीकृष्णको प्रियतमरूपसे प्राप्त करनेके लिये तो गोपी-हृदयकी जरूरत है। गोपी-हृदय प्राप्त करनेकी साधना कीजिये। सारा प्रेम सब जगहसे हटाकर भुक्ति और मुक्तिकी लालसा जरा भी न रखकर उनसे अहैतुक प्रेम कीजिये। दिन-रात उनका चिन्तन कीजिये। करते-करते उनकी कृपासे जब गोपी-हृदयकी प्राप्ति होगी तब प्रियतमरूपसे वे प्राप्त हो सकेंगे। घबराइये नहीं। परन्तु एक क्षण भी उनका विस्मरण न होने दीजिये।

(३)

भगवान्‌का महत्त्व

भगवान्‌की ओर चित्तका प्रवाह कम है और सांसारिक विषयों एवं प्रलोभनोंकी ओर अधिक है—यह अवश्य ही चिन्ताकी बात है। श्रीभगवान्‌में जिस दिन पूर्णरूपसे यह भाव हो जायगा कि भगवान्‌को भूलनेसे बढ़कर और कोई महान् हानि नहीं है, उस दिनसे फिर ऐसी बात नहीं होगी। किसी भी अधिक मूल्यवान् और अधिक महत्त्वकी वस्तुके लिये कम मूल्यकी या कम महत्त्वकी वस्तुका त्याग अनायास हो सकता है। भगवान्‌के समान बहुमूल्य और महत्त्वकी वस्तु और कौन-सी होगी। बुद्धिसे सोचनेपर ऐसा ही प्रतीत भी होता है; परन्तु इस तत्त्वपर पूरी श्रद्धा नहीं होती, इसीसे भगवान्‌को छोड़कर विषयोंकी ओर चित्तवृत्तियोंका प्रवाह होता है। भगवान्‌से प्रार्थना कीजिये कि वे कृपापूर्वक हमें श्रद्धा और विश्वासका दान करें। श्रीभगवान्‌का महत्त्व यथार्थतः जान लेनेपर अपना सब कुछ देकर भी उन्हें पानेमें उनकी कृपा ही कारण दिखायी देती है। भक्त समझता है और अनुभव करता है कि मैंने जो कुछ दिया है, उससे करोड़-गुना भी दिया जाता, तो भी थोड़ा था। अथवा उन्हें पानेके लिये जितना दुःख-कष्ट भोगा है, उससे करोड़-गुना भी भोगा जाता तो भी उनके मिलन-सुखके सामने उसकी करोड़वें हिस्सेकी भी कीमत न होती। त्याग या तपकी कीमत देकर कौन भगवान्‌को खरीद सकता है। उस अमूल्य निधिकी तुलना किसी दूसरी वस्तुसे की ही नहीं जा सकती। फिर तुच्छ भोगोंका त्याग तो तुच्छ-सी बात होगी। भला विचार तो कीजिये,—उनके समान सौन्दर्य, माधुर्य, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, श्री, यश और किसमें हैं। उनके समान प्रलोभनकी वस्तु और कौन-सी है? हमारा अभाग्य है जो हम उस दिव्य सुधा-सागरको छोड़कर विषय-विषकी ज्वालासे पूर्ण माया-मधुर विषयोंके पीछे पागल हो रहे हैं। उन मुनिजनमनमोहन निखिल आनन्द-रसनिर्यास, सौन्दर्य-माधुर्यके परमनिधि परम-धाम प्रियतमको छोड़कर क्षणविध्वंसी, अनित्य और असुख भोगोंकी प्राप्तिके लिये मृत्युकालतक तरसते रहते हैं। भगवान् हमारी मति पलटें। कातर प्रार्थना कीजिये। सच्ची कातर प्रार्थनाका उत्तर बहुत शीघ्र मिलता है।

एक बात और है बड़े महत्त्वकी, हो सके तो

कीजिये । जीवन-मरण, बन्धन-मुक्ति, क्या, क्यों और कबकी चिन्ताको छोड़कर दयामयकी अहैतुक दयापर निर्भर हो जाइये । बस, उसका चिन्तन हुआ करे और इस निर्भरतामें कभी त्रुटि न आने पावे । देखिये, आप क्यासे क्या हो जाते हैं और वह भी बहुत ही शीघ्र !

(४)

उत्साह रखना चाहिये

वर्तमान समय और परिस्थिति ऐसी है कि लोगोंके विचार और वृत्तियाँ अधिकांश बुरे मार्गकी ओर खिंच जाती हैं । परन्तु आपने तो बचपनसे ही अपने पिताजीकी छत्रच्छायामें रहकर धार्मिक शिक्षा ग्रहण की है और आपकी रुचि भी सदाचारपालनकी ओर है, इसलिये आप अवश्य ही दृढ़तापूर्वक बुरे विचारों और वृत्तियोंसे बचनेका प्रयत्न करेंगे, ऐसी आशा है । आजकलके स्कूल-कालेजोंकी अवस्था तो और भी भयंकर है । आपके·········ने आपको स्कूलसे अलग कर लिया, इससे आप उदास न हों । इसे भगवान्की कृपा समझें और घरपर ही सदाचार और सत्सङ्गसम्बन्धी पुस्तकोंका अध्ययन करके अपना ज्ञान बढ़ावें । कभी निराश एवं उदास न हों । सर्वदा उत्साह रक्खें । अपने भोजन, अध्ययन और घरके काम-काजको इतना नियमित और सात्त्विक बना लें कि उसमें एक क्षणके भी प्रमादको अवसर न रहे । ऐसा करनेसे आपका शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकारका स्वास्थ्य ठीक होने लगेगा । इन सब बातोंके साथ-ही-साथ यदि आप नियमितरूपसे भगवान्के नामका जप और उनके सामने अपने कष्टका निवेदन शुरू कर दें तो आपकी अधिकांश विपत्तियाँ स्वयं ही नष्ट हो जायँगी । आप अभी नौजवान हैं । आपकी रग-रगमें उत्साह और स्फूर्तिकी धारा दौड़ती रहनी चाहिये । भगवान्के वरद कर-कमलोंकी छत्रच्छाया सदा ही हमारे सिरपर है और वे निरन्तर हमारा कल्याण कर रहे हैं—ऐसा दृढ़ विश्वास रखिये और शोक-मोह छोड़कर निरन्तर प्रसन्न रहिये ।

× × × ×

(५)

पराभक्ति साधन नहीं है

ज्ञान और भक्तिके विषयमें आपका जैसा विचार है, वह बहुत ठीक है । ज्ञानकी साधना तो गौणी भक्ति है । इस भक्तिसे सम्पन्न पुरुषको ही श्रीमद्भगवद्गीतामें 'जिज्ञासु भक्त' कहा है । जिसे भगवान्की पराभक्ति प्राप्त है, वह तो ज्ञानी ही होता है । पराभक्ति स्वयं साध्य है । जिस प्रकार लोकमें एक महान् ऐश्वर्यशाली सम्राट् अपने प्रेमीको, उसकी इच्छा न होनेपर भी, स्वभावतः ही अपना गूढ़-से-गूढ़ रहस्य बता देता है, उसी प्रकार श्रीभगवान् अपने प्रेमी भक्तको भी स्वभावतः ही अपना परम ज्ञान दे देते हैं । इस प्रकार ज्ञानदानमें यद्यपि उसका प्रेम ही कारण होता है तथापि अपनी ओरसे उसके लिये उसकी तनिक भी प्रवृत्ति न होनेके कारण उसके प्रेमको ज्ञानका साधन कदापि नहीं कह सकते । उसका प्रधान लक्ष्य तो अपने प्रियतमसे प्रेम ही करना है । उसके लिये उसका तत्त्वज्ञान तो एक अन्यथासिद्ध पुरस्कारमात्र होता है । इस प्रकार प्राप्त हुए तत्त्वज्ञानका वह प्रेमी अपने प्रेमके सामने कुछ भी मूल्य नहीं करता और बलात्कारसे प्राप्त हुए इस ब्रह्मानन्दकी उपेक्षा करके वह नित्य प्रेमानन्दमें ही निमग्न रहता है । इसीसे कहा है—'मुक्ति निरादरि भगति लुभाने ।'

न किञ्चित् साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम ।
वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम् ॥

इसके सिवा एक बात और है । किसी भी सच्चे साधकको इस बहसमें ही नहीं पड़ना चाहिये कि कौन साधन बड़ा है और कौन छोटा । उसकी प्रवृत्ति जिस ओर हो, उसीमें उसे श्रद्धापूर्वक लगे रहना चाहिये । कालान्तरमें उसीके द्वारा उसे सब साधनोंका रहस्य

मालूम हो जायगा। आपका उद्देश्य यदि श्रीरघुनाथजीके चरणोंमें अनन्य प्रेम प्राप्त करना है तो आप इस पचड़ेमें न पड़कर उनका प्रेम प्राप्ति करनेका ही प्रयत्न करें। आपकी इच्छा न होनेपर भी वे आपको अपना सर्वस्व समर्पण कर देंगे। यदि आप इस आवश्यक कर्तव्यको भूलकर व्यर्थके खण्डन-मण्डनमें पड़ जायँगे तो न तो आपको प्रेम ही मिलेगा और न ज्ञान ही। अधिकारी-भेदसे सभी साधन अपनी-अपनी जगह प्रधान होते हैं। इसलिये किसीको भी ऊँचा-नीचा नहीं कहा जा सकता।

आशा है, मेरी इस प्रार्थनापर ध्यान देकर आप श्रीरामकृपाकी प्राप्तिका ही प्रयत्न करेंगे और इस प्रकारके वाद-विवादोंसे दूर रहेंगे। × × ×

(६)

भगवत्कृपाका सहज प्रवाह

····साधनमें अपनी जानमें त्रुटि न हो और फलकी कोई भी शर्त न रहे, यही तो साधनाका सच्चा परमार्थ है। भगवान्‌की सहज कृपाका प्रवाह हमारी ओर निरन्तर आ रहा है। हम बीचमें अपनी शर्तें रखकर उस प्रवाहकी स्वाभाविक कल्याणमयी गतिमें बाधक बन जाते हैं। वह जैसे आता है, उसे वैसे ही आने दिया जाय। उसका कैसा स्वरूप होगा, वह कब हमारे समीप पहुँचेगा, और वह किस प्रकारसे आवेगा—यह जाननेकी कोशिश नहीं करनी चाहिये। सब उन्हींपर छोड़ देना चाहिये। यह चाहना तो दोषकी बात नहीं कि हमें उनकी कृपा प्रत्यक्ष हो। परन्तु उसके स्वरूप, प्रकार और कालकी चिन्ता न करके उन कृपामयका ही चिन्तन अनवरत करना चाहिये। बिना किसी शर्तके अपनेको निरालम्ब मानकर छोड़ देना चाहिये उनके श्रीचरणोंकी कृपाके भरोसेपर। वे जब, जैसे, जो उचित समझेंगे, वही कल्याणमय होगा। हम अल्पमति अदूरदर्शी प्राणी कहाँतक सोच सकते हैं। हमारा सोचना निर्भ्रान्त होगा, यह आशा भी नहीं है। हमें सोचना चाहिये केवल उनको; फिर वे सोचेंगे हमारी बात। हमारा कल्याण किस बातमें है—यह भी वे ही सोचेंगे और 'कल्याण' का वह साधन भी वे ही जुटा देंगे। उनके समान सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, परम सुहृद् और कौन होगा? परन्तु भगवान्‌के भजनका प्रेमी तो इस तरहकी बात भी नहीं सोचता। उसके लिये तो भजन ही 'परम कल्याण' है, जिसे वह कर रहा है। बस, भगवान्‌का भजन छूटना ही उसके लिये महान् सङ्कटका प्रसङ्ग है—

'तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलता'—नारदजीका यह सूत्र इसी बातको बतलाता है। चाहना-पाना कुछ नहीं। कभी उनकी विस्मृति न हो।

× × × ×

(७)

सर्वोत्तम चाह

आपलोगोंसे तो नहीं ऊबा, अवश्य ही अपनी कमजोरियोंसे घबराता हूँ और इसीलिये सब काम छोड़कर एकान्तमें रहनेकी कामना भी प्रबल होती है। परन्तु मेरी कामनासे क्या होता है। आखिर नटवर जैसे नचाते हैं, वैसे ही नाचना पड़ता है। सन्तोषकी बात इतनी ही है कि उनके द्वारा उनके इच्छानुसार नचाये जानेमें सुख मिलता है और उनके मङ्गलविधानपर जरा भी क्षोभ न होकर प्रसन्नता होती है। यह भी उन्हींकी कृपा है। यह जानता हूँ—कहता हूँ—'करी गोपालकी सब होय। जो अपनो पुरुषारथ मानत अति झूँठो है सोय।' तथापि कामना भी होती है और तदनुसार उद्योग भी। फिर मनमें आता है कि यह कामना भी उन्हींकी प्रेरित है। मैं इसे छोड़नेका अभिमान करनेवाला भी कौन होता हूँ। तब फिर जो कुछ होता है—कभी-कभी उनके प्राणोल्लासकारी करकमलका स्पर्श पाकर, कभी-कभी उनकी मधुर मुसकानभरी मुख-छवि-

के दर्शन पाकर निहाल हो जाता हूँ और उनके पावन चरणोंमें लुट पड़ता हूँ—यह दशा है। आपको क्या लिखूँ। मनमें क्या-क्या आती है—इस बातको मनके मालिक अन्तर्यामी ही जानते हैं।

रही 'अवकाश हो और कष्ट न हो तो उपदेशप्रद बातें' लिखनेकी बात, सो अवकाश भी है, कष्ट भी नहीं होता, आलस्य अवश्य घेरे रहता है। परन्तु 'उपदेशप्रद' क्या लिखूँ, यह समझमें नहीं आता। जो कुछ भी कहना चाहता हूँ, इच्छा होती है यह देखनेकी कि वह बात मुझमें है या नहीं। और यदि नहीं है तो वह उपदेश पहले अपनेको ही करना चाहिये न? जो उपदेश अपने लिये नहीं होता, वह तो नाटकका अभिनयमात्र है। नाट्यमञ्चपर शङ्कराचार्य, चैतन्य और बुद्धका बड़ा सुन्दर पार्ट हो सकता है; परन्तु इससे अभिनेता वैसा ही है, यह नहीं माना जा सकता। श्रीगोस्वामीजी महाराजका एक पद लिखता हूँ। चाहता हूँ—ऐसा ही बन जाऊँ और आपसे भी प्रार्थना करता हूँ, आप भी ऐसे ही बननेकी कोशिश कीजिये। होगा तो भगवान्‌की कृपासे पूर्ण उनके मङ्गल-विधानसे ही!

यह बिनती रघुबीर गोसाँईं।
और आस बिस्वास भरोसो हरो जियकी जड़ताई॥
चहौं न सुगति सुमति संपति कछु रिधि सिधि बिपुल बड़ाई।
हेतुरहित अनुराग रामपद बढ़ु अनुदिन अधिकाई॥
कुटिल करम लै जाँहिं मोहि जहँ जहँ अपनी बरिआई।
तहँ तहँ जनि छिन छोह छाँड़ियो, कमठ अंडकी नाईं॥
या जगमें जहँ लगि या तनुकी प्रीति-प्रतीति-सगाई।
सो सब तुलसिदास प्रभुही सों होहिं सिमिटि इक ठाँईं॥

इसी प्रकारके भक्त वृत्रासुरके वचन हैं—

* अहं हरे तव पादैकमूल-
दासानुदासो भवितास्मि भूयः।
मनः स्मरेतासुपतेर्गुणांस्ते
गृणीत वाक् कर्म करोतु कायः॥
न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे॥
अजातपक्षा इव मातरं खगाः
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥
ममोत्तमश्लोकजनेषु सख्यं
संसारचक्रे भ्रमतः स्वकर्मभिः।
त्वन्मायया्ऽऽत्मात्मजदारगेहे-
ष्वासक्तचित्तस्य न नाथ भूयात्॥
(श्रीमद्भा० ६। ११। २४—२७)

—इनका अर्थ तो आप जानते ही हैं।

सचमुच इसीमें परमानन्द है, यही परमानन्द है। सारी शक्ति इसीकी ओर लगा देनी चाहिये। श्रीध्रुवजीने कहा है—

† नूनं विमुष्टमतयस्तव मायया ते
ये त्वां भवाप्ययविमोक्षणमन्यहेतोः।

---

* 'हे हरे! जो आपके श्रीचरणकमलोंके आश्रित भक्त हैं, मैं फिर उन्हींके दासोंका दास बनूँ। प्राणप्रियतम! मेरा मन आपके मङ्गलमय गुणोंका स्मरण करे, मेरी वाणी गुण-गान करे और शरीर सदा आपके सेवाकार्यमें लगा रहे। सर्वसौभाग्यनिधे! मैं आपको छोड़कर स्वर्ग, ब्रह्मलोक, सावभौम साम्राज्य, रसातलका आधिपत्य, योगकी सिद्धियाँ—यहाँतक कि मोक्ष भी नहीं चाहता। जैसे पक्षियोंके पंखहीन बच्चे अपनी माँकी बाट देखते रहते हैं, जैसे भूखे बछड़े अपनी माँका दूध पीनेके लिये आतुर रहते हैं और जैसे वियोगिनी पत्नी अपने परदेश गये हुए पतिसे मिलनेके लिये व्याकुल रहती है वैसे ही कमलनयन! मेरा मन आपके दर्शनके लिये छटपटा रहा है। प्रभो! मुझे अपने कर्मवश संसारचक्रमें जहाँ कहीं भी भटकना पड़े, वहीं-वहीं मेरी आपके प्यारे भक्तोंसे प्रीति रहे, भगवन्! जो लोग आपकी मायासे स्त्री-पुत्र और देह-गेहमें आसक्त हों, उन विषयी पुरुषोंसे मेरा कोई भी सम्बन्ध न हो।'

† हे प्रभो! इन शवतुल्य शरीरोंके द्वारा भोगा जानेवाला, इन्द्रिय और विषयोंसे उत्पन्न सुख तो नरकमें भी मिल जाता है। जो लोग इस विषय-सुखके लिये ललचाते रहते हैं और जन्म-मृत्युमय संसारसे छुड़ा देनेवाले कल्पवृक्षरूप आपकी उपासनाको भगवत्प्राप्तिके बदले दूसरे किसी उद्देश्यकी पूर्तिमें लगाते हैं, उनकी बुद्धि निश्चय ही आपकी मायाके द्वारा ठगी

अर्चन्ति कल्पकतरुं कुणपोपभोग्य-
मिच्छन्ति यत्स्पर्शजं निरयेऽपि नृणाम् ॥
या निर्वृतिस्तनुभृतां तव पादपद्म-
ध्यानाद्भवज्जनकथाश्रवणेन वा स्यात् ।
सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ मा भूत्
किन्त्वन्तकासिलुलितात्पततां विमानात् ॥
(श्रीमद्भा० ४ । ९ । ९-१०)

आपने लिखा 'मैं बड़ी-बड़ी बातें तो बना जाता हूँ लेकिन मुझसे थोड़ा-सा भी होता नहीं ।' सो आज तो मैंने ही बड़ी-बड़ी बातें बनायी हैं । होना भी सब उनके हाथ है । वे करायेंगे तभी होगा । हमें बस, उन्हींकी अनुकम्पाकी प्रतीक्षा करनी चाहिये । और हो सके तो नाम-स्मरण, नामोच्चारण किसी भी प्रकार करते रहना चाहिये ।

सचमुच 'मन' बड़ा प्रबल है और यह भी ठीक है कि वह आपका है भी नहीं । फिर आप क्यों चिन्ता करते हैं ? जिसका है, वह आप ही जैसा चाहता है, उसे बनाता है, रखता है । उसकी चीजपर उसीका अधिकार होना चाहिये न !

आपने बड़ा पत्र लिखकर मेरा 'अमूल्य समय लिया' मैंने व्याजसमेत उसे उगाह लिया है । आप जीतमें नहीं रहे ।

भैया ! मजाककी बात जाने दीजिये । असल बात तो यह है कि हमारा जीवन जा रहा है । हमारे सम्बन्धी, मित्र, बन्धु चले जा रहे हैं—मानव-जीवनको समाप्त करके । हमें इसे समाप्त होनेसे पहले ही भगवान्का बना देना चाहिये । अवश्य-अवश्य !

जरि जाहु सो जीवन जानकिनाथ जियै जगमें तुम्हरो बिनु ह्वै ॥

समस्त हिंदू भाइयोंसे आवश्यक निवेदन

आप जानते ही हैं कि हमारी सारी सामाजिक व्यवस्था श्रुति-स्मृतिद्वारा निर्धारित अटल सिद्धान्तोंके आधारपर परिनिष्ठित है । उसीके अनुसार चलनेसे हमारा इहलौकिक तथा पारलौकिक कल्याण हो सकता है । परन्तु अब उसको नष्ट करके बराबर बदलनेवाली न्यूनाधिक मर्यादाओंके आधारपर एक नवीन समाज व्यवस्थाके निर्माणका प्रयत्न किया जा रहा है । जिसमें भौतिक सुखकी आशाका प्रलोभनमात्र है । अभीतक तो विदेशी सरकार अंगरेजी शिक्षाद्वारा ही इसके लिये प्रयत्न कर रही थी; परन्तु अब वह प्रत्यक्षरूपसे हमारे धार्मिक, सामाजिक तथा कौटुम्बिक जीवनपर कुठाराघात करनेके लिये अग्रसर हो रही है । हिंदू कानूनोंका अंगरेजी भाषामें विधान तैयार करनेके लिये भारत-सरकारने एक हिंदू ला कमेटी नियुक्त की है, जो 'रावकमेटी'के नामसे प्रसिद्ध है । यह कमेटी हमारे शास्त्रीय नियमोंमें मनमाने परिवर्तन करके ब्रिटिश भारतके समस्त हिंदुओंके लिये समान कानून बनाने जा रही है । पहले तो इस कमेटीकी नियुक्ति ही सरकारकी अनधिकार चेष्टा है । भारत-सरकार या प्रान्तीय सरकारोंको न कभी ऐसा अधिकार प्राप्त था और न है, जिसके द्वारा वे हिंदुओंके निजी व्यवहारोंमें किसी प्रकारका परिवर्तन कर सकें । धार्मिक जीवनमें

गयी है । आपके चरणकमलोंका ध्यान करनेसे और आपके भक्तोंके चरित्र सुननेसे प्राणियोंको जो आनन्द प्राप्त होता है, वह निजानन्दस्वरूप ब्रह्ममें भी नहीं मिल सकता । फिर जिनको कालकी तलवार काटे डालती है उन स्वर्गके विमानों-से गिरनेवाले पुरुषोंको तो वह सुख मिल ही कैसे सकता है !

हस्तक्षेप न करनेकी नीतिकी सरकारने समय-समयपर घोषणा की है, पर अब वह इसीके विरुद्ध जा रही है। यदि सरकारका यह अधिकार मान लिया गया तो फिर हमारे धर्मशास्त्रके प्रामाण्यका ही अन्त हो जायगा। उसके स्थानपर नवशिक्षित हिंदू तथा अहिंदुओंद्वारा रचित एक विधानका प्रामाण्य रह जायगा, जिसको राजदण्डके भयसे सभीको मानना पड़ेगा। इस 'हिंदू ला कमेटी' की सलाहसे भारतसरकारने केन्द्रीय असेम्बलीमें 'हिंदू अप्रदत्त उत्तराधिकार' तथा 'हिंदू-विवाह' ये दो बिल पेश किये हैं। यदि ये दोनों पास हो गये तो हिंदूसमाजका विघटन और उसका विनाश अवश्यम्भावी है।

'अप्रदत्त उत्तराधिकार बिल'

इसके अनुसार सम्पत्तिपर स्त्रियोंको भी पूरा अधिकार दिया जा रहा है और उसमें लड़कियोंका भी हिस्सा लगाया जा रहा है। इसके परिणामस्वरूप (१) सम्पत्तिका दुरुपयोग होगा और बहुत-सी पैतृक सम्पत्ति एक कुटुम्बसे दूसरे कुटुम्बमें चली जायगी। (२) दायविभागमें वैदिक सिद्धान्तके स्थानपर कन्याको हिस्सा देनेवाला मुसलमानी सिद्धान्त प्रविष्ट हो जायगा। (३) भाई-बहिनोंमें भी कलह उत्पन्न होगा। जिससे सम्मिलित कुटुम्बकी संस्था एक-ही-दो पुस्तमें नष्ट हो जायगी। (४) क्रमशः पुरुषवर्ग निर्धन होता जायगा; और अन्ततः सारे समाज तथा संस्कृतिका विनाश हो जायगा। (५) आर्थिक स्वतन्त्रता मिल जानेसे स्त्रियोंमें उच्छृङ्खलताकी वृद्धि होगी, वर्णसंकरता बढ़ेगी, जिससे हिंदूसमाजमें सद्गुणोंका ह्रास और दुर्गुणोंका विकास होगा। (६) व्यभिचारके कारण पतिकी सम्पत्तिपर विधवाको अधिकार न मिलनेकी जो रुकावट है, उसके हट जानेसे, जैसा कि इस बिलमें रखा गया है, स्त्रियोंमें दुःशीलता बढ़ेगी। (७) मृत्युपत्र (वसीयतनामा) के द्वारा सम्पत्ति देनेका प्रचार बढ़ानेसे बेकार खर्च बढ़ेगा और अदालतोंकी झंझटें उठानी पड़ेंगी।

'हिंदू-विवाह-बिल'

विवाह-सम्बन्धमें अभीतक अपने यहाँ जितनी रुकावटें हैं, प्रायः सभीको इस बिलमें हटानेका प्रयत्न किया गया है। इसका फल यह होगा कि (१) विवाह-विषयमें स्वैरवृत्ति बढ़ेगी, (२) सवर्ण-असवर्णका भेद उठा देनेसे वर्णव्यवस्था अति शीघ्र नष्ट हो जायगी। (३) वैवाहिक बन्धन न रह जानेसे समाजका विघटन हो जायगा। (४) विवाह-विच्छेद (तलाक) अपरिहार्य हो जायगा। (५) स्त्रीके सदैव रोगिणी अथवा वन्ध्या होनेपर भी दूसरा विवाह न हो सकेगा। (६) मुसलमानोंके सम्बन्धमें ऐसा कोई प्रतिबन्ध न होनेसे भारतमें उनकी संख्या हिंदुओंकी अपेक्षा सदैव बढ़ती रहेगी।

उक्त संक्षिप्त विवेचनसे इन हिंदू कानूनोंके समाजपर घातक परिणामोंका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। 'हिंदू ला कमेटी' के बृहत् कार्यके यह दोनों बिल एक अंशमात्र हैं। आगे चलकर हमारे शास्त्रीय नियमोंमें और भी मनमाने परिवर्तन किये जा सकते हैं। यदि वेद और धर्मशास्त्रका अप्रामाण्य हिंदू मान्य कर लें तो हमारे धर्म, संस्कृति तथा समाजरचनाका आधार ही नष्ट हो जायगा। ऐसी दशामें इनका विरोध करना प्रत्येक हिंदूके लिये परमावश्यक है। केन्द्रीय धारासभाओंद्वारा नियुक्त कमेटीसे संशोधित 'हिंदू अप्रदत्त उत्तराधिकार बिल' लोकमत जाननेके लिये प्रान्तीय गजटोंमें प्रकाशित किया गया है। भारतसरकारने इसके लिये पहली जून सन् १९४४ तकका समय दिया है। गजटोंमें प्रकाशित सूचनाके अनुसार लोगोंको अपना मत पहले अपने यहाँकी प्रान्तीय सरकारोंको ही भेजना होगा। इसके लिये विभिन्न प्रान्तोंमें अलग-अलग तारीखें निश्चित की गयी हैं। इनको ध्यानमें रखते हुए १५ अप्रैल सन् १९४४ तक

प्रत्येक प्रान्तकी हिंदू जनताको अपना मत प्रकट करके अपनी प्रान्तीय सरकारको अवश्य सूचित कर देना चाहिये। सामूहिक रूपमें दो प्रकारसे मत प्रकट किया जा सकता है। एक तो यह है कि स्थान-स्थानपर सभाएँ की जायँ और उनमें निम्नलिखित प्रस्ताव पास करके सभापतिके हस्ताक्षरसहित उनकी तीन-तीन प्रतियाँ प्रान्तीय सरकारको भेज दी जायँ।

प्रस्ताव १—

'स्थान……के हिंदू निवासियोंकी यह सभा सर्वसम्मतिसे निश्चित करती है कि उसकी रायमें भारतसरकार या प्रान्तीय सरकारोंको न कभी कोई ऐसा अधिकार प्राप्त था और न है, जिसके द्वारा वे हिंदुओंके निजी कानूनोंमें कोई परिवर्तन कर सकें। अतः वर्तमान शासन-विधानके अनुसार संगठित केन्द्रीय सभाओंद्वारा हिंदू कानूनका अंग्रेजी भाषामें विधान तैयार करानेकी सरकारी नीति इस सभाकी रायमें अवैध तथा अत्यन्त निन्दनीय है।'

२—

'यह सभा निश्चित करती है कि प्रथम प्रस्तावको दृष्टिमें रखते हुए हिंदू कानूनविधान बनानेके लिये हिंदू ला कमेटीकी नियुक्ति भारतसरकारकी अनधिकार चेष्टा है जो सर्वथा अनुचित है। प्रस्तावित "हिंदू अप्रदत्त उत्तराधिकार" तथा 'हिंदू-विवाह' बिल धर्मशास्त्र-सिद्धान्तोंके प्रतिकूल हैं और उन वर्तमान हिंदू कानूनोंके भी विरुद्ध हैं, जिनके अनुसार ब्रिटिश भारतकी अदालतोंमें आजकल न्याय होता है। अतः भारतसरकारसे अनुरोध है कि वह इन दोनों बिलोंको वापस ले लेवें और भविष्यमें हिंदू-कानून-सम्बन्धी विधान बनानेके प्रयत्नको त्याग दें।'

सामूहिक विरोधका दूसरा प्रकार यह है कि हस्ताक्षरोंसहित विरोधपत्र प्रान्तीय सरकारोंको भेजा जाय। इसकी भी तीन-तीन प्रतियाँ भेजनी पड़ेंगी। विरोधपत्र निम्नलिखित प्रकारका होगा—

विरोध-पत्र

नीचे लिखे हस्ताक्षर करनेवाले हमलोग प्रार्थना करते हैं कि सरकार हमारे धार्मिक तथा सामाजिक जीवनमें हस्तक्षेप न करे, 'हिंदू ला कमेटी' को तोड़ दे और 'हिंदू अप्रदत्त उत्तराधिकार' तथा 'हिंदू-विवाह' बिल वापस ले लेवे।

क्रमाङ्क	पूरा नाम	पूरा पता	हस्ताक्षर

व्यक्तिगत रूपसे भी ऐसे पत्रकी तीन-तीन प्रतियाँ प्रान्तीय सरकारको भेजकर अपना मत प्रकट किया जा सकता है।

समय बहुत कम रह गया है। यदि इस अवसरपर हमने अपना कर्तव्य पालन न किया तो हमें इसके लिये सदा पछताना पड़ेगा।*

—गङ्गाशङ्कर मिश्र, एम्० ए०, सम्पादक 'सिद्धान्त'

* * *

---

* 'अप्रदत्त उत्तराधिकार बिल' का हिंदी-अनुवाद, अङ्गरेज़ी तथा हिंदीमें छपे हुए प्रस्ताव तथा विरोध-पत्र 'अखिल भारतीय धर्म-संघ' कार्यालय, गङ्गातरङ्ग, नगवा, बनारसको लिखनेसे निःशुल्क मिल सकते हैं।

सत्सङ्गके बिखरे वाक्य

(तृतीय माला)

(संग्रहकर्ता—एक सत्सङ्गी)

१ संत सबकी भलाई करें, केवल इतनी ही बात नहीं है। संतोंमें ऐसी शक्ति होती है कि उस शक्तिके संस्पर्शमें जो भी आ गया, उसका परम कल्याण हो जाता है, चाहे उसे यह मालूम हो या न हो।

२ संतका मिलना ही बड़ा दुर्लभ है, पर यदि वे मिल गये तो काम बन गया। उनके वस्तु-गुणसे ही काम बन जाता है। श्रद्धा होनेपर काम हो, इसमें कौन बड़ी बात है।

३ अमृतका संस्पर्श हुआ कि अमर हुए, उसी प्रकार किसी तरहसे भी संत-संस्पर्श हो गया तो कल्याण हो ही गया। संतको न पहचानकर भी उनकी सेवा करनेसे, उनके दर्शनसे कल्याण तो होता ही है, उनकी अवज्ञातक करने जाकर उनके संस्पर्शमें आनेका फल भी अन्तमें कल्याण ही है।

४ भागवतमें कहा गया है—

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥

—एक ओर पार्थिव भोग, स्वर्ग और मोक्ष तथा दूसरी ओर संतके सङ्गका एक क्षण; यह तुलना भी नहीं होती। ऐसा दुर्लभ संतोंका सङ्ग होता है।

५ संतका दर्शन होनेके लिये भगवान्की कृपा अपेक्षित है, और संत-दर्शन होनेपर भगवान्की कृपाकी अनुभूति होती है।

६ 'बिनु हरिकृपा मिलहिं नहिं संता'। भगवान्की कृपा हुए बिना संतका दर्शन ही नहीं होता।

७ संत और भगवान्में भेद नहीं है, नारदजीने यह बात कही है। 'तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्।'

८ 'भक्ति भक्त भगवंत गुरु, चतुर नाम बपु एक।'—यह है संतकी महिमा।

९ जिसके मनमें सच्चे संतसे मिलनेकी इच्छा हो, वह भगवान्से प्रार्थना करे और जो भगवान्की प्राप्ति चाहता हो, वह संतका सेवन करे।

१० संतके द्वारा ही भगवान्का माहात्म्य, स्वरूप, गुण, लीला आदि सुननेको मिल सकते हैं। इन सबका रहस्य जाननेके लिये संतके सिवा और कोई दूसरा उपाय नहीं है।

११ भगवान्से प्रार्थना करनी चाहिये कि हमें संत मिलें और संत मिलनेपर उनसे प्रार्थना करे कि आपको जो प्रिय-से-प्रिय चीज है, वही हमें भी प्राप्त हो। नरसीजीने भगवान् शङ्करको प्राप्त कर लेनेपर उनसे यह कहा था कि 'आपको जो सबसे प्रिय-से-प्रिय दुर्लभ वस्तु हो, उसीकी प्राप्ति हमें करा दें।' (तमने जे वल्लभ होय जे दुर्लभ, आपो रे प्रभुजी मुने दया रे आणी।) संक्षेपमें नरसीजीकी कथा इस प्रकार है—नरसीजी कीर्तनके बड़े प्रेमी थे, घरपर देरसे लौटते थे; भौजाई कटु-स्वभावकी थी, एक दिन बोली—'क्यों बड़े भक्त बने हो, भगवान्से क्यों नहीं मिलते?' नरसीजी बस, उसी समय घरसे निकल पड़े और एक शिवमन्दिरमें जाकर धरना दे दिया। चौदह दिन-रातके बाद शिवजीने दर्शन दिये। नरसीजीने उनसे प्रार्थना की और शिवजी उन्हें गोलोक धाममें ले गये। नरसीजीने वहाँ श्रीराधाकृष्णकी दिव्य लीलाओंका दर्शन किया। इस अनुभवका स्वयं नरसीजीने अपने ग्रन्थमें वर्णन किया है।

१२ शिव एवं विष्णुमें अन्तर नहीं है, लीलाके लिये एक ही भगवान् शिव एवं विष्णु बने हुए हैं।

१३ भक्त भगवान्के प्रेमकी चर्चामें ही रमता है, मोक्ष उसे नहीं सुहाता। इस प्रकार भगवत्प्रेमको अपना

सार-सर्वस्व बना लेनेवाले संतके कहीं दर्शन हो जायँ तो फिर आनन्दका क्या कहना ।

१४ संत मिलते हैं भगवत्कृपासे और पूर्ण भगवत्-कृपा सबपर सदा है ही; पर विश्वासकी कमी है, इसीलिये सारा दुःख है ।

१५ भगवान्ने कहा है—

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥

जिसने मुझे सुहृद् जान लिया, बस, उसे यह जाननेसे ही शान्ति मिल जाती है । कितनी बड़ी बात है ! भगवान् सबके सुहृद् हैं, मित्र हैं; पर हमलोग इस भगवद्वचनपर विश्वास नहीं करते ।

१६ कृपा और प्रेममें अन्तर है । कृपामें कुछ परायापन है, वह किसी गरीबपर होती है; पर प्रेममें निकटका सम्बन्ध होता है तथा सुहृद् एवं मित्रके सम्बन्धमें तो और भी निकटता होती है । भगवान् कहते हैं, मैं सुहृद् हूँ, सबका मित्र हूँ । भला, यह बात जिसने जान ली उसके आनन्दका क्या ठिकाना । भगवान् हमारे मित्र हैं, फिर क्या चाहिये । इस बातको जानते ही मनमें कितना गौरव होगा, कितनी शान्ति मिलेगी ? एक वायसरायसे दोस्ती होनेमें मनुष्य कितने गौरवका अनुभव करता है । फिर सर्वलोकमहेश्वर भगवान् हमारे मित्र हैं, यह जाननेपर कितनी शान्ति होगी ।

१७ भय इसीलिये है कि भगवान्पर विश्वास नहीं है । एक मामूली सिपाही साथ हो जानेपर हमारा भय जाता रहता है । फिर जिस क्षण यह विश्वास हो जाय कि सर्वेश्वर सर्वशक्तिमान् भगवान् नित्य-निरन्तर हमारे साथ हैं उसके बाद क्या भय रह सकता है ?

१८ बहुत सहज बात हमारे विश्वासके अभावके कारण कठिन हो रही है । भगवान्की पूर्ण कृपा है; उस कृपापर विश्वास होते ही सब काम बन जाय, बहुत सहजमें बन जाय । कृपापर विश्वास होते ही कृपा फूलने-फलने लग जाती है, संत एवं भगवान्को मिला देना ही कृपाका फूलना-फलना है ।

१९ संत सभी समय रहते हैं, उनका अभाव नहीं होता । संतका अभाव हो तो भगवान्का भी अभाव हो जाय जो कि असम्भव है । हाँ, संतोंकी संख्या घटती-बढ़ती रहती है । इस कलियुगमें भी संत हैं । भगवान्से प्रार्थना करनेपर उनके दर्शन हो सकते हैं ।

२० डर है, वह तो असंतोंसे ही है । संतोंसे डर किस बातका । माँकी गोदमें बच्चा चाहे जैसा व्यवहार करे । माँसे क्या बच्चेकी हानि होगी ?

२१ संतोंका शाप भी परम कल्याणके लिये ही होता है । बस, किसी प्रकार उनसे मिलना हो जाय; फिर तो काम अपने-आप हो जायगा; क्योंकि उनका मिलना अमोघ है ।

२२ संतकी पूरी-पूरी महिमा कोई कह नहीं सकता । संतका ध्यान भगवान् करते हैं । भगवान् श्रीकृष्ण एक बार ध्यानमें बैठे थे, धर्मराजने पीछे पूछा—'प्रभो ! आप उस समय क्या कर रहे थे ?' श्रीकृष्णने कहा—'ध्यान कर रहा था ।' धर्मराज—'किसका ध्यान कर रहे थे ?' श्रीकृष्ण—'भीष्म मेरा ध्यान कर रहे थे, इसलिये मैं भीष्मका ध्यान कर रहा था ।'

२३ जिन संतोंकी महिमा स्वयं भगवान् गाते हैं, उन संतोंकी महिमा कौन कह सकता है ।

२४ 'भरत सरिस को राम सनेही । जगु जप राम रामु जप जेही ॥' भरद्वाजजीने कहा—'भरत ! रामके दर्शनका फल है तुम्हारा दर्शन ! 'तेहि फल कर फल दरस तुम्हारा ।' भला, ऐसे संतोंकी महिमा कौन कह सकता है ।

२५ संतोंके चरणरजकी महिमा ऐसी है कि तीर्थ भी उस रजसे पवित्र होते हैं।

२६ संत तीर्थोंको भी तीर्थ बनाते हैं—'तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि।'

(नारदभक्तिसूत्र ६९)

२७ तीर्थ क्या चीज है? संतोंके रहनेका स्थान; जिस स्थानपर संत रहें, वही तीर्थ बन जाता है।

२८ संतोंके मुखसे जो निकल गया, वही सार्थक शास्त्र बन गया।

२९ संतोंने जो लिख दिया, वही कानून हो जाता है, उस कानूनको भगवान् मानते हैं। ऐसा इसलिये होता है कि संत भगवान्के सन्देश-वाहक होते हैं।

३० संतके हृदयमें आकर भगवान् निवास करते हैं, संत भगवान्की धर्मशाला हैं।

३१ भगवान्ने कहा है—'साधुजन मेरे हृदय-स्थानीय हैं और मैं साधुओंका हृदय हूँ।' ऐसे साधु-संतोंकी महिमा अकथनीय है।

३२ तनसे, मनसे, धनसे—सब प्रकारसे संतोंकी सेवा करे; पर ध्यानमें रक्खे कि सर्वोत्तम संत-सेवा है—संतोंकी आज्ञाओंका प्रसन्नतापूर्वक पालन करना।

३३ शास्त्रोंको मानना संतोंको मानना है।

३४ संतोंकी वाणीका अनुसरण करना हमारे लिये परम कल्याणका सधान है।

३५ एक आदमी है; वह संतके पास तो रहता है पर उनकी आज्ञाका पालन नहीं करता, ऐसे आदमीका कल्याण देरसे होता है।

३६ जिसके सङ्गसे अपने अंदर दैवी सम्पत्ति बढ़ती है, भगवान्के प्रति प्रेम उत्पन्न होता है, मनमें आनन्द-शान्ति बढ़ती है, उसे संत माननेमें आपत्ति नहीं है। यह संतकी मोटी कसौटी है। वस्तुतः सच्चे संतकी परीक्षा ही नहीं हो सकती।

३७ 'करी गोपालकी सब होय।' जो भगवान्ने रच रक्खा है, वही होगा। निमित्त भिन्न-भिन्न होंगे।

३८ मनुष्यको अपनी-अपनी बुरी-भली भावनाके कारण पाप-पुण्यकी प्राप्ति होती है।

३९ यदि अच्छी नीयत हो, शुभ भावना हो, किसीका भी बुरा करनेकी इच्छा न हो तो कर्म करने-वाला निर्दोष रहेगा। पर यदि नीयत बुरी है, मनमें बुराईकी भावना है तो यद्यपि होगा तो वही जो होना है, पर बुरी भावनाके कारण मनुष्य पापका भागी बन जायगा।

४० हमलोगोंको तामसिकताने आ घेरा है; रजोगुण, क्रियाशीलता भी होती तो भी एक बात थी।

४१ यदि मनमें डर न हो तो डरका हेतु होनेपर भी डर नहीं लगता। पर यदि मनमें डर है तो विना कारण भी डरके नये-नये हेतु पैदा हो जाते हैं। भूतका भय मनमें होनेपर झूठमूठ भूत पैदा हो जाता है।

४२ भगवान्पर विश्वास हो तो फिर सर्वत्र सभी परिस्थितियोंमें निर्भयता—आनन्द है, फिर मृत्युका भय भी जाता रहेगा।

४३ यदि ईश्वरकी इच्छा है कि इसे मरना होगा और ऐसे मरना होगा तो फिर बचना असम्भव है, फिर धैर्य, धर्म, साहस छोड़कर कुत्तेकी मौत क्यों मरते हो?

४४ आत्माको अमर समझो। इसे कोई भी किसी प्रकारकी हानि नहीं पहुँचा सकता। भगवान्के इस वचनपर विश्वास करो—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥

४५ देहका नाश अवश्यम्भावी है। कपड़ेका कोट जैसे फटता है, किसी दिन निश्चय फट जाता है, वैसे

ही यह चमड़ीका कोट भी तो निश्चय फटेगा ही। आत्मा अमर है फिर चिन्ता करते हुए क्यों मरें ?

४६ चिन्ता ही करनी है तो केवल भगवान्‌की करो। इस चिन्तासे जगत्‌की समस्त चिन्ताएँ मिट जायँगी।

४७ भगवान्‌की कृपापर विश्वास, आत्माकी अमरतापर विश्वास तथा तीसरी बात, अपने प्रारब्धपर विश्वास—अर्थात् बिना प्रारब्धके मृत्यु नहीं होगी——यदि इन तीन बातोंपर विश्वास है तो सुखसे मरोगे।

४८ आत्मबल चाहिये, शारीरिक बल इसके सामने परास्त हो जायगा।

४९ जिसका मन बुरी भावनाओंको दूर रखता है उसके सामने अपने-आप बुरी बातें बहुत कम आती हैं।

५० संसारमें घटना भले ही कुछ भी क्यों न हो, पर उसमें सुख-दुःखका होना हमारी भावनापर निर्भर है।

५१ यदि सचमुच भगवान्‌पर विश्वास हो तो फिर बड़े-से-बड़े भयके अवसरपर भी इस प्रकार बच जाओगे कि देखकर आश्चर्य होगा।

५२ हमारे मनमें जो भी अच्छे-बुरे विचार होते हैं, वे फैलते रहते हैं। हमारे मनमें यदि मङ्गलकी भावना हो तो हम जगत्‌को मङ्गल देंगे; बुरी भावना है तो जगत्‌के सारे वायुमण्डलमें बुरा भाव फैलायेंगे।

५३ हम स्वयं ऐसी चेष्टा करें कि हमारे मनमें भय उत्पन्न न हो, फिर जगत्‌को हम निर्भयताका दान देंगे।

५४ आत्माके अमरत्वपर विश्वास करनेसे भय तुम्हें छूतक नहीं सकेगा।

५५ भगवान्‌के राज्यमें अन्याय नहीं होता। फलके रूपमें बुरा-भला जो कुछ भी तुम्हें प्राप्त होता है, वह तुम्हारे ही किये हुए कर्मोंका फल है। तुम जिसे बुरे फलमें कारण समझकर वैरी मान रहे हो, वह तो केवल निमित्त बन गया है, फल तो तुम्हें अपने कर्मोंसे ही मिला है।

५६ किसीके अहितमें कभी भी निमित मत बनो।

५७ श्रीभगवान्‌का परम आश्रय प्राप्त कर लेनेसे बढ़कर ऊँचा लाभ कोई नहीं है।

५८ बड़े भाग्यवान् पुरुष ही भगवान्‌का परम आश्रय पानेके मार्गपर चलते हैं, और उनके पुण्यका तो पार ही नहीं है, जो इस स्थितिको प्राप्त कर लेते हैं।

५९ मार्गकी बात करना और बात है तथा मार्गपर चलना एवं चलकर भगवान्‌का आश्रय पा लेना और बात है।

६० एक व्यक्ति लड्डूकी बात सोचा करे, केवल बात-ही-बात करे; पर दूसरा लड्डूका सामान जुटाकर लड्डू बनाना प्रारम्भ कर दे तो बात करनेवाला तो यों ही रह जायगा और लड्डू बनानेवाला यदि लड्डू बन जायगा तो चख भी लेगा ही।

६१ साधनकी बातें करना और चीज है तथा साधनमें सचमुच लग जाना और चीज है।

६२ जो भगवान्‌के मार्गपर चलने लगता है, उसकी स्थिति बहुत ही विलक्षण हो जाती है तथा चलने लग जानेपर पहुँचना सहज हो जाता है।

६३ भगवान्‌की ओर लगे रहना बड़ा कठिन है। बड़े-बड़े विघ्न आते हैं, नीतिके नामपर, धर्मके नामपर, कर्तव्यके नामपर भी विघ्न आते हैं जो मनुष्यको भगवान्‌से हटा देते हैं।

६४ बहुत बार साधनाके नामपर विषयोंकी ओर गति होती है।

६५ सबसे पहली बात है—लक्ष्य स्थिर होना चाहिये। कहाँ जाना है, यह निश्चित होना चाहिये। एक नया आदमी है, कलकत्तेसे राजपूताना आना चाहता है। उसके मनमें दृढ़ निश्चय है कि राजपूताना जाना है। अब वह जहाँ-जहाँ गाड़ी बदलेगी बार-बार पूछकर, देख-भालकर उसी गाड़ीमें बैठेगा जो कि राजपूतानेकी ओर जाती है। सदा सावधान रहेगा कि कहीं दूसरी

जगहकी गाड़ीमें न बैठ जाऊँ। इसी प्रकार जो भगवान्की ओर चलता है, उसका यह निश्चय होता है कि मुझे भगवान्के पास जाना है और सदा सावधान रहता है कि रास्ता न भूल जाऊँ, अनुभवी पुरुषोंसे बार-बार पूछकर निश्चय करता रहता है कि रास्ता ठीक तो है न।

६६ सभी बुरे विचार एवं दुर्गुण भगवान्के मार्गपर चलना प्रारम्भ कर देनेपर अपने-आप छूट जायँगे। धन कमानेका उद्देश्य रखनेवाला धन-नाशकी कोई बात नहीं करता, एक पैसेके नाशको भी वह सह नहीं सकता। वैसे ही जो भगवान्को उद्देश्य बनाकर चलेगा, उसे भगवान्की प्राप्तिकी विरोधी बातें अच्छी ही नहीं लगेंगी। मामूली दुर्गुण भी उसे बहुत खलेंगे और वह उन्हें निकाल फेंकेगा।

६७ भगवान्के मार्गपर आना ही कठिन है। मार्गपर आ जानेपर तो सभी विघ्न नष्ट हो जाते हैं।

६८ भगवान्के सामने हुए कि सारे पाप कट जायँगे।

सनमुख होहिं जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

६९ भगवान्की ओर मुँह फेरते ही भगवान् स्वीकार कर लेते हैं, इतना ही नहीं, वे अपनेको ऋणी मानने लगते हैं। भगवान् श्रीरामने कहा है——विभीषणके पास मुझे ही चलकर जाना चाहिये था, पर वह तो मेरे पास चलकर आ गया, यह तो मुझपर उसका ऋण हो गया।

७० शरण दो प्रकारकी होती है——बाह्य शरण एवं आन्तरिक (शुद्ध) शरण।

७१ भगवान्की प्राप्तिके लिये यदि सभी चीजें छूटती हों तो भी परवा मत करो। जो सचमुच भगवान्को पानेके लिये भगवान्के मार्गपर चलता है, वह संसारके समस्त मोहको छोड़ देता है।

७२ विषयी और मुमुक्षुमें यही अन्तर है कि विषयीका सुख संसारकी ओर रहता है और मुमुक्षुका सुख भगवान्की ओर।

७३ विषयी और मुमुक्षु—दोनोंके मार्गमें सर्वथा विरोध रहता है। विषयी चाहता है संसारका सुख, मुमुक्षु सांसारिक सुखोंका त्याग करता है। विषयी चाहता है मान-सम्मान, मुमुक्षु मान-सम्मानसे दूर भागता है। जिस-जिस चीजको विषयी चाहता है, मुमुक्षु उस-उस चीजका त्याग करता है। विषयीका लक्ष्य होता है विषयभोग और मुमुक्षुके लक्ष्य होते हैं भगवान्।

७४ रामके लिये आरामका त्याग करो। भरतजीने रामके लिये आरामका सर्वथा त्याग कर दिया था।

७५ गुरु वसिष्ठ एवं माता कौसल्यातकने भरतको राज्य स्वीकार करनेके लिये बड़ा आग्रह किया। यहाँतक कह दिया कि 'बेटा! यह गुरुकी आज्ञा है, माताकी आज्ञा है, यह धर्म-पालन है।' पर भरत नहीं फँसे। साधकोंके जीवनमें भी धर्मके नामपर इसी प्रकारके प्रलोभन आते हैं।

७६ राज्यलक्ष्मी श्रीरामकी भोग्या थीं, फिर भरत उसे क्योंकर भोग सकते थे।

७७ लक्ष्मी भगवान्की भोग्या हैं; ये तुम्हारे पास हों तो उन्हें माँ समझकर इनकी सेवा करो; इन्हें भगवान्की सेवामें लगाते रहना ही इनकी सेवा करना है। इन्हें अपनी भोग्या मत समझो।

७८ तुम्हारे पास जो कुछ है उसमें केवल तुम्हारा ही नहीं, बहुतोंका हिस्सा है। सबको हिस्सा देकर जो बचे वही यज्ञावशेष है। उसे भोगो, उसे ही खाओ। वह अमृत है। ऐसा नहीं करते तो समझो तुम चोर हो, पापजीवन हो।

७९ सभी चीजें भगवान्की हैं, पर जब मनुष्य उन चीजोंको अपनी मान लेता है, तब फिर पाप आये बिना नहीं रहते।

८० मनुष्य विषयोंमें इतना रच-पच गया है कि कहीं कभी भगवान्को स्मरण करता भी है तो विषयोंके

लिये ही करता है। इस प्रकारके भगवत्स्मरणमें साध्य भगवान् नहीं हैं। साध्य तो विषय हैं और विषय-प्राप्तिके साधन भगवान् हैं। पर इस प्रकार विषयोंके लिये भी सचमुच भगवान्‌को भजनेवाले बहुत ही थोड़े होते हैं।

८१ सकामी भक्तोंमें यह दृढ़ विश्वास होता है कि भगवान् निश्चय ही मेरी कामना पूर्ण कर देंगे। वे एकमात्र भगवान्‌को ही अपनी कामना-पूर्तिके लिये अवलम्बन बनाते हैं।

८२ ध्रुवजीको राज्य चाहिये था, उन्होंने सब भरोसा छोड़कर भगवान्‌को पुकारा। इसी प्रकार यदि कोई विश्वासपूर्वक धनके लिये आज भी भगवान्‌को पुकारे तो भगवान् अवश्य सुनें। पर हमलोग धनके लिये दूसरा ही आश्रय लेते हैं। कुछ लोग अन्य पुरुषार्थके ऊपर निर्भर करते हैं और कुछ लोग तो चोरी, डकैती, पाप आदिको धन-प्राप्तिका साधन बनाते हैं। इन अन्तिम श्रेणीके लोगोंको धन तो तभी मिलता है जब कि प्रारब्धमें होता है। प्रारब्धमें नहीं होता तो नहीं मिलता, पर पाप इनके पल्ले बँध जाते हैं, जिनका फल दुःख और नरक मिलना निश्चित है।

८३ एक आदमी है। वह धन चाहता है, पर चाहता है भगवान्‌से। उसे धन भी मिलेगा और अन्तमें भगवान्‌की प्राप्ति भी होगी। धनके लिये भी केवल भगवान्‌का आश्रय लेना बड़ा कठिन है।

८४ यदि अनन्य-आश्रय भगवान्‌का हो तो जो कुछ भी हमारे लिये आवश्यक होगा भगवान् हमारे पास निश्चय ही उसे स्वयं पहुँचा देंगे। पर अनन्य-आश्रय ही नहीं होता। मन डिग जाता है, भगवान् करेंगे कि नहीं ऐसा सन्देह उत्पन्न हो जाता है, और दूसरे-दूसरे उपायोंका अवलम्बन करने लग जाते हैं।

८५ भगवान्‌पर पूरा विश्वास होनेपर भगवान्‌की ओरसे निश्चय योगक्षेमका निर्वाह होगा ही। नहीं होता है तो निश्चय ही विश्वासमें कमी है।

८६ भगवान्‌पर पूरी निष्ठा होनी चाहिये, फिर जिस प्रकार भगवान् द्रौपदीके लिये साड़ी बन गये, वैसी ही घटना आज भी हो सकती है।

८७ गजराजको भगवान्‌ने स्वयं आकर उबारा, धन्ना भक्तके खेतमें स्वयं भगवान् पधारे। माधवदासजी एक भक्त थे, उन्हें टट्टी लगती थी। भगवान्‌ने स्वयं अपने हाथोंसे उनका मल धोया। इस प्रकारकी घटना आज भी सम्भव है, पर भगवान्‌पर विश्वास नहीं, उनका आश्रय नहीं, इसीलिये यह बातें असम्भव-सी मालूम पड़ने लग जाती हैं।

८८ भगवान्‌में एक दोष है उन्हें दूसरा नहीं सुहाता। वे पूरी-पूरी निर्भरता चाहते हैं।

८९ वर्तमान युद्धसे लोग बहुत घबड़ाये हुए हैं, पर शान्तिका जो असली उपाय है उसे करते नहीं। शान्तिके लिये तीन बातें करें—

(१) मनसे अपने-आपको, अपनी समस्त वस्तुओंको भगवान्‌के अर्पण कर दें।

(२) 'हरिः शरणम्' इस मन्त्रका जप चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते निरन्तर करते रहें।

(३) भगवान्‌से प्रार्थना करें—'प्रभो! तुम्हें जो ठीक जँचे वही करो। हमारी चाह यदि तुम्हारी चाहके विपरीत हो तो उसे नष्ट कर दो। नाथ! तुम्हारी चाह मङ्गलमयी है, मैं तो भूल भी कर सकता हूँ नाथ! बच्चा यदि आगमें हाथ डालना चाहता है, तो क्या माँ हाथ डालने देती है? स्वामिन्! मैं भी बच्चेकी तरह अमङ्गलको मङ्गल मान सकता हूँ, पर तुम मेरी चाहकी ओर ध्यान मत दो, मुझे रोने दो, तुम अपनी चाह पूरी करो।'

९० यदि उपर्युक्त तीन बात करने लगें, तो निश्चित है—कभी अमङ्गल नहीं हो सकता।

९१ हम जिस बातमें अपना मङ्गल मानते हैं, कौन जानता है, उसमें शायद अमङ्गल-ही-अमङ्गल

भरा हो। पर भगवान् जानते हैं। जहाँ भगवान्पर छोड़ा कि वे बचा लेंगे। हमारी बुद्धि तो परिमित है। हम दूरकी बात नहीं सोच सकते, नहीं जानते, पर भगवान् सर्वज्ञ हैं, उनसे कभी भूल नहीं हो सकती। इसलिये अपना मङ्गल भगवान्पर छोड़ दो, इसीमें बुद्धिमानी है।

९२ हमारे हाथमें एक लड्डू है, ताजा है, मीठा, रसीला, सभी तरह सुन्दर है, पर उसमें संखिया मिला हुआ है; हम उसे नहीं जानते, हम केवल बाहरी सुन्दरतापर मुग्ध होते हैं। ऐसे ही बहुत बार, जिससे हमारी हानि होगी, उसमें हम मङ्गल मान बैठते हैं। ऐसी भूल हमसे होती ही है, उधर भगवान्से कुछ नहीं छिपा है, उनसे भूल होती ही नहीं।

९३ घर-घरमें कीर्तन कीजिये फिर अमङ्गल दूर हो जायगा।

९४ अर्जुनने प्रण किया, सूर्यास्त होनेके पहले-पहले जयद्रथको मार दूँगा, नहीं मारूँगा तो आगमें जलकर मर जाऊँगा। लोगोंने देखा——सूर्य अस्त हो गया, जयद्रथ नहीं मरा। अर्जुन चिता बनाकर जलनेके लिये तैयार हुए। सब भाई तमाशा देखनेके लिये आये। जयद्रथ भी आया; क्योंकि अब उसे अर्जुनका भय नहीं था। अर्जुनसे श्रीकृष्णने पूछा——'भैया अर्जुन! तुमने ऐसा प्रण क्यों किया था।' अर्जुनने कहा——'महाराज! आपके भरोसेपर!' श्रीकृष्णने कहा——'तो बाण सन्धान करो।' लोगोंने आश्चर्यसे देखा, अर्जुनने भी देखा, अभी तो सूर्य हैं, अस्त नहीं हुए हैं, अस्त होनेका भ्रम हो गया था। अर्जुनने बाण सन्धान किया और जयद्रथ मारा गया। भला यह बात किसीकी कल्पनामें भी आ सकती थी कि अस्त हुए सूर्य फिर उसी दिन उदय हो जायँगे? पर भगवान्के लिये कौन बड़ी बात है, वे असम्भवको सम्भव कर सकते हैं, उनपर विश्वास होना चाहिये।

९५ मनुष्यका यह एक स्वभाव-सा है कि वह दूसरेकी स्थितिमें सुख समझता है। वह सोचता है कि अमुक व्यक्तिके पास भोग-सुखकी इतनी सामग्रियाँ हैं, वह निश्चय सुखी होगा। ऐसा सोचकर वह वैसा बनना चाहता है। कहीं बन जाता है तो फिर सोचता है कि अरे यहाँ तो दुःख ही है; वे-वे चीजें और हों जैसी अमुकके पास हैं, तो सुखी होऊँ। यदि वे चीजें भी मिल गयीं तो फिर भी यही अनुभव करता है कि अरे सुख तो यहाँ भी नहीं है, यहाँ भी वही जलन है। इस प्रकार वह सुख खोजता रह जाता है पर उसे सुख नहीं मिलता। मिल भी नहीं सकता, क्योंकि यहाँ सुख हो तब न मिले। सुख तो भगवान्में है। भगवान्ने स्वयं कहा है—यह संसार अनित्य है, इसमें सुख है ही नहीं। सुख चाहिये तो हमारा भजन करो।

'अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥'

९६ जहाँ अभावका अनुभव होता है, वहाँ उसकी पूर्तिकी इच्छा होती है। उसके लिये चेष्टा होती है और उसकी पूर्तिके साथ-साथ ही कई नये अभावोंकी सृष्टि हो जाती है। लड़का नहीं है, लड़केका अभाव दुःख देता है। अब कहीं लड़का हो गया तो उसके पालन-पोषणके लिये धन चाहिये, उसका विवाह करना होगा, उसके लिये बहुत सामान चाहिये। इस प्रकार लड़केका अभाव तो दूर हुआ पर कई नये अभाव खड़े हो गये। बस, एक अभावकी पूर्ति हुई तो दूसरेकी पूर्तिमें लगे, तीसरेके होनेपर चौथेमें। इस तरह अभावकी पूर्ति करते-करते अनमोल मनुष्य-जीवन समाप्त हो जाता है। जिस जीवनसे परम दुर्लभ वस्तु भगवान् मिल सकते हैं, वह अभावोंकी पूर्ति करनेमें बीता और अभाव बने ही रहे। इससे बड़ी हानि और क्या होगी?

९७ अभावकी पूर्ति उद्देश्य हो जानेपर व्याकुलता उत्पन्न होती है और बुद्धि बिगड़कर कार्य-अकार्यका ज्ञान

नष्ट हो जाता है । इसलिये प्रत्येक अभावकी पूर्तिके साथ ही पापका ढेर भी संगृहीत हो जाता है । अब सोचिये केवल जीवन निष्फल ही नहीं हुआ, आगेके लिये पापका ढेर ढोकर साथ ले चले; जिसका फल दुःख-ही-दुःख है ।

९८ संसारमें सफलताकी पूजा होती है । सफल होनेपर तो साथियोंकी भरमार, पूजाकी भरमार रहेगी, पर असफल हुए तो फिर कोई भी नहीं पूछता ।

९९ मनमें स्कीमें बनाते रहें, पर मृत्यु आ गयी तो स्कीमें सब-की-सब धरी रह जायँगी । तीन साल पहलेकी बात है अपने धनको सत्कार्यमें लगानेके लिये एक बहुत बड़े धनी पुरुषने कई स्कीमें सोची थीं, पर कर नहीं पाये, मृत्यु हो गयी । इसीलिये शुभ कार्यको कल-पर मत रक्खो, शीघ्र-से-शीघ्र कर डालो ।

१०० भगवान् पूर्ण हैं, उन्हींमें आत्यन्तिक सुख है । वहाँ जरा भी अभाव नहीं है; उन्हें प्राप्त करो । उन्हें पा जानेपर सर्वथा, सब ओरसे पूर्ण हो जाओगे । अभाव सदाके लिये मिट जायगा । उन्हें एक वार पा लेनेपर फिर कभी उनसे वञ्चित नहीं रहोगे ।

१०१ तनसे, मनसे, धनसे—सब प्रकारसे केवल भगवान्का ही भजन करो । यही उन्हें पानेका उपाय है । मनुष्य-देह उन्हींको पानेके लिये मिली है ।'

१०२ पशुकी अपेक्षा भी मनुष्य पशु ज्यादा भयंकर है । पशुमें विवेक नहीं; पर मनुष्यमें विवेक है । मनुष्य होकर जब वह अपना विवेक पशुताके अभ्युदयमें लगाता है, तो संसारका जितना अनिष्ट होता है, उतना अनिष्ट पशु कर ही नहीं सकता ।

१०३ यदि जीव पतनसे बचना चाहता हो, तो उसे निश्चय ही भगवान्की ओर मुड़ना होगा ।

१०४ जो कुछ मनमें होता है वही बाहर निकलता है । यह जो महायुद्ध इस समय देख रहे हैं वह अकस्मात् आ टपका हो—यह बात नहीं । इसका मनके अंदर-ही-अंदर बहुत पहलेसे निर्माण हो रहा था; अब वह बाहर सामने आ गया है ।

१०५ यदि हम जगत्में सुख-शान्ति चाहते हैं तो अपने-अपने मनमें भगवान्को लावें । पहले वहाँ सुख-शान्ति होगी फिर वही सुख-शान्ति सबके सामने बाहर आ जायगी । हम मनमें भजते हैं पाप, अशान्ति, दुःख और दुर्भिक्षको, फिर सुख-शान्तिका विस्तार बाहर किस प्रकार हो ।

१०६ जिस प्रकारसे भी हो मनको पापसे अलग रक्खे ।

१०७ यदि कोई छायाको पकड़ना चाहे तो छाया और भी आगे-आगे बढ़ती चली जायगी, पर यदि सूर्यकी ओर मुँह करके कोई दौड़ने लग जाय तो छाया उसके पीछे-पीछे दौड़ने लग जाती है । इसी प्रकार संसारके सुख-ऐश्वर्यके पीछे दौड़नेपर वह आगे-आगे भागता चला जाता है, हाथ नहीं आता । पर यदि मनुष्य इनकी ओर पीठ करके भगवान्की ओर दौड़ता है तो ये सब उसके पीछे-पीछे दौड़ते हैं ।

१०८ जितना ही सुविधाओंको प्राप्त करनेका प्रयत्न होगा, उतनी ही असुविधाएँ होंगी ।

* * *

भगवान् श्रीकृष्ण ही सबके आदि हैं । वे अन्तर्यामी, सर्वेश्वर, समस्त यज्ञोंके भोक्ता, सबके द्वारा प्रशंसित, परम सत्य ॐकारस्वरूप हैं । वे ही सनातन व्यक्त एवं अव्यक्तस्वरूप हैं । वे असत् भी हैं और सत् भी हैं, वे सत्-असत् दोनों ही हैं और दोनोंसे परे भी हैं । वे ही विराट् विश्व भी हैं । उन्होंने ही स्थूल और सूक्ष्म दोनोंकी सृष्टि की है । वे ही सबके जीवनदाता, सर्वश्रेष्ठ और अविनाशी हैं । वे ही मङ्गलकारी, मङ्गलस्वरूप, सर्वव्यापक, सबके वाञ्छनीय, निष्पाप और परम पवित्र हैं ।

—महाभारत

* * *

सुदामाका स्वागत

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

पत्नीके आग्रह-अनुरोध तथा अपने भुवनमोहन सलोने बालसखाकी अनोखी छबिसे नेत्रोंको तृप्त करनेकी लालसासे सुदामा किसी प्रकार दो मुट्ठी चिउड़ाकी पोटली लेकर द्वारिका पहुँचे। उनके सखा सर्वेश होकर भी दीन-बन्धु ठहरे। अतएव वे उनका आतुर आलिङ्गन पाकर उनके अन्त:पुरमें पहुँच गये। सखाके निजी पर्यङ्कपर उन्हें आसन मिला।

द्वारिकाका वैभव, जिसमें लोकपालोंकी सब विभूतियाँ आकर एकत्र हो गयी थीं, संसारकी तो चर्चा ही व्यर्थ है। द्वारिकाने स्वर्गको सुधर्मा सभा और कल्पवृक्षसे सूना कर दिया था। उस वैभवमयी नगरीमें द्वारिकेशका भवन और उसमें भी उनकी प्रधान प्रिया श्रीरुक्मिणीजीका अन्त:पुर और वहाँ भी श्रीश्यामसुन्दरका पर्यङ्क। विश्वकी सारी विभूति, सम्पूर्ण सुषमा एवं समस्त लालित्य मानो साकार घनीभूत हो गया था।

मैल जमे, बिवाइयोंसे शतश: विदीर्ण चरण मानो ग्रीष्मका शुष्क सरोवर दरारोंसे मुख फाड़े खा जाना चाहता हो। घुटनेसे भी ऊपर ही मैली धोती, जो स्थान-स्थानपर पैबंद लगी और गाँठोंसे भरी थी। इतनेपर भी बेचारी शरीरको पूरा ढक नहीं सकती थी। उसमेंसे जानुओंका सूखा चमड़ा उतावलीसे बाहर आनेको झाँक रहा था—स्थान-स्थानसे। उस धोतीका भी बड़ा भाई उत्तरीय तो अपने अस्तित्वपर रो रहा था। सिरपर वह भी नहीं। हड्डीके ढाँचेपर चर्म मढ़ दिया गया था। नसें ऐसी उभड़ गयी थीं मानो किसीने ऊपरसे चिपका दी हो। रक्त-मांसका नाम नहीं। दुर्बलता, दरिद्रता एवं करुणाकी साकार प्रतिमा!

उन नटखटने किया क्या? दरिद्रता एवं कुरूप करुणाकी इस प्रतिमाको उस विभूति तथा सौन्दर्य-माधुर्यके घनीभावपर उठाकर अपने हाथोंसे स्थापित कर दिया। इसीलिये तो वे दीनबन्धु अनाथनाथके साथ श्रीपति सर्वेश हैं। यह क्या कम उपहास हुआ। नटखट ही क्या जो यहीं शान्त रहे? सुदामाको पता ही नहीं था कि अभी सोलह हजार एक सौ आठका चक्कर बाकी है।

पता नहीं होली थी कि नहीं; लेकिन बहुत दिनपर दो बाल-मित्र मिले थे। यही उनके लिये पर्याप्त था। आमोद, कौतुक आज न होगा तो कब होगा! श्यामसुन्दर ठहरे सदाके शरारती, उन्होंने रुक्मिणीजीको कुछ संकेत किया और नाटक प्रारम्भ हो गया।

सुदामा पलँगपर बैठे थे। उन्होंने स्नान-भोजन कर लिया था। मार्गका श्रम दूर हो चुका था। अब रुक्मिणीजीने आकर उनके श्रीचरणोंपर मस्तक रक्खा। सुदामा इतनी देरमें उनसे परिचित हो चुके थे। हाथ उठाकर आशीर्वाद दिया 'सौभाग्यवती, पुत्रवती, पतिप्रिया भव!' रुक्मिणीजी एक ओर हट गयीं। सत्यभामाजी आयीं। उन्होंने भी वैसे ही प्रणाम किया। सुदामाने परिचयके लिये सखाके मुखकी ओर दृष्टि की।

'ये आपके सखाकी—' श्यामसुन्दर मुसकराये।

'सौभाग्यवती, पुत्रवती, पतिप्रिया भव!' ब्राह्मणने आशीर्वाद दिया और वे भी हट गयीं। अब जाम्बवतीजीने चरणोंपर मस्तक रक्खा। विप्रने दृष्टि उठाकर सखासे फिर परिचय चाहा।

'ये भी!' सखाके मन्द मुसकानमें परिचय संक्षिप्त कर लिया। फिर वही आशीर्वाद मिला और उनके

हटनेपर सत्याजी आकर प्रणत हुईं । इस बार सखाकी ओर दृष्टि उठानेपर केवल सङ्केतसे संक्षिप्त उत्तर मिला 'हूँ !' बेचारे ब्राह्मणने आशीर्वाद दे दिया ।

दो, चार, छः—यह तो प्रणाम करनेवालोंका ताँता ही नहीं टूटता । 'कितनी रानियाँ हैं इनके ?' ब्राह्मणने मन-ही-मन कहा । परिचय-जिज्ञासाके उत्तरमें वही 'हूँ !' मिलते देख उन्होंने परिचय जाननेके लिये सखाकी ओर देखना छोड़ दिया और धड़ाधड़ आशीर्वाद देने लगे ।

दर्जन पूरी होते-होते ब्राह्मणको लगा कि उसका आशीर्वाद बहुत लंबा है और रानियोंका ताँता टूटता ही नहीं था । इसलिये उन्होंने अपने आशीर्वादका संक्षिप्त संस्करण किया 'पुत्रवती, पतिप्रिया भव !'

लगभग एक दर्जन प्रणाम और हुए । ब्राह्मण-देवता घबड़ाये । उन्होंने फिर आशीर्वादको संक्षिप्त किया 'पतिप्रिया भव !' लेकिन यहाँ तो रानियोंका ताँता लगा था । जब आशीर्वाद देते-देते थक गये तो केवल 'भव !' कहकर काम चलाने लगे और जब जिह्वाने सत्याग्रह कर दिया तो हाथ हिलाकर ही सन्तोष करना पड़ा । बेचारा वह दुर्बल हाथ भी कबतक साथ देता ? थक गया । सिर हिलाकर, नेत्रोंके संकेतसे आशीर्वाद देना प्रारम्भ हुआ । यहाँ भी पार पड़ता दीख नहीं पड़ा । शरीर बैठे रहनेमें भी असमर्थ होने लगा । ब्राह्मण झुँझला गये ।

'भाई ! तुम्हारी रानियोंकी संख्याका आदि-अन्त भी है या तुम्हारी ही भाँति वे भी अनन्त हैं ?' उन्होंने कातर वाणीसे पूछा ।

'नहीं-नहीं !' सखा मुसकराये—'अभी दो हजार सात सौ तेरहने प्रणाम किया है । रानियोंकी संख्या सिर्फ सोलह हजार एक सौ आठ है ।'

'बाप रे ।' सुदामा बहुत घबड़ाये । 'अब इस आशीर्वादसे पिण्ड कैसे छूटे ?' उन्होंने कहा—'संख्या तो चाहे जितनी बढ़े, कोई आपत्ति नहीं । वह खूब बढ़े; पर यह सबको आशीर्वाद……… ।' उन्होंने अपनी उलझन प्रकट की ।

सखा जोरसे हँस पड़े । रानियाँ भी मुसकरा पड़ीं । ब्रह्मण्यदेवको ब्राह्मणपर दया आयी । उन्होंने झट बीचमें उठकर विप्रके चरणोंपर अपना मस्तक रख दिया । सुदामा डरे 'इन्होंने एक संख्या और बढ़ा दी !' लेकिन किसीने हृदयमें कहा 'पति अपनी सभी पत्नियोंका प्रतिनिधि होता है ।' झट प्रसन्नतासे खिल उठे । आशीर्वाद दिया 'तुम्हारी सभी पत्नियाँ सौभाग्यवती, पुत्रवती और तुम्हें प्रिय हों ।' इस प्रकार उन्हें आशीर्वादसे छुट्टी मिली । सभी रानियोंने एक ही साथ अञ्जलि बाँधकर सिर झुका दिये ।

× × ×

'कल तो समय मिला नहीं, आज सब आपकी सेवा करनेका सौभाग्य चाहती हैं ।' नटखट सखाने भूमिका बनायी ।

सुदामाको स्नान करना था । वे विशाल सौधके प्राङ्गणमें अपने बालसखाका हाथ पकड़े पधारे । मध्यमें स्वर्णकी चौकी बिछी थी । उन्होंने उसपर चरण रक्खा ही था कि सारा प्राङ्गण तथा उसके चारों ओरके बरामदे सोलह हजार एक सौ आठ चल स्वर्णलतिकाओंके द्वारा झूम उठे । सौन्दर्य एवं सुरभि फटी पड़ती थी । किसीके हाथमें उबटन, किसीके चन्दन, किसीके तैल और किसीके करोंमें सुवासित जलसे पूर्ण स्वर्णकलश । विप्रके दर्शन रिक्तहस्त करनेकी धृष्टता किसीने नहीं की थी ।

ब्राह्मणने एक बार दृष्टि उठायी । 'उफ् ! इतनी भीड़, एक-एक बूँद भी जल डाले तो मेरा क्या होगा ?' वे बहुत डरे । उनके सखा हँस रहे थे । बड़ी ही नम्रतासे उन्होंने कहा 'समस्त विश्वकी श्रद्धाका विपुल उपहार ग्रहण करनेकी क्षमता तुम सर्वशक्तिमान्में

ही है। यह तीन हड्डियोंका कङ्काल पूजाके इस विराट् सम्भारको सह लेनेमें समर्थ नहीं।'

सखा क्यों उत्तर देने लगे? वे एक ओर खिसक गये। उस सुषमाकी भीड़ने कलकण्ठसे स्तुतिगान प्रारम्भ किया और साथ ही विप्राभिषेक भी। जैसे ही कुछ मृदु करोंने ब्राह्मणके शरीरपर उबटनका स्पर्श कराया—वे नेत्र बंद करके बैठ गये और लगे अपने नटखट सखाका ध्यान करने। उन्हें आशा नहीं थी कि वे इस चन्दन, तैल और जलके प्रवाहमेंसे निकलकर फिर खड़े होने योग्य रहेंगे।

उन्हें कोई कष्ट नहीं हुआ। उन्होंने नेत्र बंद किये-ही-किये अनुभव किया कि सुगन्धित उबटनके बीचमें शरीर आकण्ठ ढक दिया गया है। हाथ हिल नहीं सकते। वे डरे 'कहीं और उबटन चढ़ा तो नाक-आँख भी·········। उन्हें उबटन समाधि लेनी होगी।' पर ऐसा हुआ नहीं। उनके मस्तकपर तैलकी सुगन्धित धारा पड़ने लगी। शिवजीके ऊपर तो सब धाराबद्ध जल चढ़ाते हैं और यहाँ बहुमूल्य तैल-इत्र। विप्रने तनिक नेत्र खोले। आँगनमें इत्र मोरियोंमें उमड़ चला था। 'कहीं नेत्रोंमें न जाय।' उन्होंने नेत्र जोरसे बंद कर लिये। वैसे ही बोले 'ऐसी अखण्ड धारा चढ़ानी है तो शङ्करजीको पकड़ लाओ।' पर उस स्तोत्र-गानमें उनकी सुने कौन?

तैल-इत्र बंद हो गया और केशरिया चन्दन चढ़ने लगा। उबटनने तो कण्ठतक ही जकड़ा था, चन्दन दो-चार सेर मस्तकपर भी चढ़ ही गया। कुशल इतनी रही कि नाक और मुख ढकनेके पूर्व ही मस्तकपर जल-धारा पड़ी। मन्दोष्ण सुवासित जलकी कुछ पतली और कभी-कभी मोटी धारें मस्तकसे चरणोंतक पड़ रही थीं। शरीर थोड़ी ही देरमें थरथरा उठा। रोमाञ्च हो आया और तभी जलधारा और स्तुति-गान समाप्त हो गया। सहसा शान्ति हो गयी।

'ध्यान ही करते रहेंगे या वस्त्र भी बदलेंगे?' अपने करोंमें सुकोमल वस्त्रको लेकर उनका शरीर पोंछते हुए उनके सखा हँसते-हँसते कह रहे थे। अभी और कोई वस्तु न चढ़ने लगे, इसी भयसे विप्रने नेत्र खोले नहीं थे।

यह क्या? बाजीगरके खेलके समान हो गया। पूरा प्राङ्गण सुनसान पड़ा था। सखाके अतिरिक्त वहाँ कोई था नहीं। विप्रको भी इस परिहासपर हँसी आ गयी। उन्होंने वस्त्र बदले और पहलेसे प्रस्तुत दूसरे आसनपर एक कुसुम-कुञ्जमें सन्ध्या-पूजाके लिये बैठ गये।

× × ×

ऊपर कौशेय वस्त्रका मण्डप तना था। नीचे दुग्धोज्ज्वल चाँदनी बिछी थी। मध्यमें एक मृदुल आस्तरण-आस्तृत रत्नजटित स्वर्णचौकी रक्खी थी। रजत-पीठोंपर स्वर्णथालियोंमें विविध व्यञ्जन एवं जल-पात्र रक्खे थे। समस्त मण्डपमें थालियोंकी पंक्ति लगी थी। दो पंक्तियोंके मध्यमें जानेको स्थान था। प्रत्येक पंक्ति मध्यके रत्नपीठसे प्रारम्भ होती थी। हाथमें चँवर लिये श्यामसुन्दर स्वयं चँवर कर रहे थे। इस प्रकार सुदामा भोजन-स्थानके उस दिव्य मण्डपके द्वारपर पहुँचे।

'प्रत्येक रानीने अपनी योग्यताके अनुसार अपना थाल सजाया है। उन्होंने इन व्यञ्जनोंके बनानेमें किसी सेवकसे कोई सहायता नहीं ली है।' सखाने परिचय दिया।

ब्राह्मणके चरण द्वारपर ही रुक गये। 'द्वारिकेशकी प्रियाओंने स्वयं अपने कोमल करोंसे अग्निके सम्मुख बैठकर इस कङ्कालके लिये यह कष्ट किया है।' विप्र बड़े धर्मसङ्कटमें पड़े। 'जगदाधार जगन्नाथकी कुसुम-सुकुमार रानियाँ, जो स्वयं पुष्प-चयन करनेमें भी कष्ट पाती होंगी, महेन्द्र भी जिनकी कठोर भृकुटिसे काँपते हैं, सचराचर जिनकी चरण-रेणु मस्तकपर रखकर पवित्र

होता है, उन्होंने अग्निकी उष्णता और धूम्रकी नेत्रोंको पीड़ा देनेवाली कटुताकी चिन्ता न करके यह प्रसाद प्रस्तुत किया है। ब्राह्मणके लिये इतनी श्रद्धा! इतनी कष्टसहिष्णुता, इतना आदर?' वे गद्गद हो गये।

रानियोंकी श्रद्धा और कष्टको देखते वह प्रसाद जितना महान् था, थालियोंकी संख्याकी दृष्टिसे उतना ही विपुल भी। ब्राह्मणका हृदय बैठा जाता था। वे किसे छोड़ दें? इतने थालोंमेंसे एक-एक ग्रास तो क्या एक-एक दाना उठानेकी भी शक्ति यदि उनमें होती—कितने प्रसन्न होते वे?

द्वारपर ही घुटनोंके बल बैठकर उन्होंने भूमिपर मस्तक रख दिया।

'आप यह क्या कर रहे हैं?' हँसते हुए सखाने पूछा।

'मोहन!' विप्रके नेत्र भरे थे। 'इस दुर्बल शरीरमें इतनी भी शक्ति नहीं कि इन थालियोंके चारों ओर घूम आवे। इनमें जो रानियोंकी श्रद्धा और कष्टका प्रतीक है, उसे प्रणाम कर रहा हूँ।'

'आप आसनपर भी पधारेंगे या नहीं?' सखाने हँसकर कहा। 'क्या करूँगा वहाँ जाकर?' ब्राह्मण इस परिहाससे विचलित हो रहा था। 'आपने कोई भोजनका डौल तो किया नहीं है। इतनी लंबी थालियोंकी पंक्तिमें मैं दौड़ूँ या भोजन करूँ? मैं न कुम्भकर्ण हूँ, न अगस्त्य। न काल हूँ, न समुद्र। आपकी बुआके लड़के भीमसेन होते तो भी बात दूसरी थी। मेरा दुर्बल शरीर तो इतना हिल भी नहीं सकेगा कि इनमेंसे एक-एक दाना उठा सकूँ।'

'आप व्याख्यान देंगे या आसनपर चलेंगे?' श्यामने तनिक ठेला। चुपचाप जाकर सुदामा आसनपर बैठ गये।

'इन प्रसादके पात्रोंको कृतार्थ करें।' दोनों हाथ जोड़कर, बनावटी गाम्भीर्य दिखाते हुए सखाने कहा।

'बस कृपा करो!' ब्राह्मणने दोनों हाथ जोड़े और नेत्र बंद कर लिये। अब नटखटको दया आ गयी। पलक मारते विप्रके सामने एक थाल आ गया। सबसे बड़ा, सबसे सुन्दर, सबसे बहुमूल्य। उसीमें सब थालोंमेंसे एक-एक, दो-दो कण योगमायाने संग्रह कर दिये। रानियोंको सन्तोष हो गया। वे झटपट अपने-अपने थाल 'प्रसाद' समझकर उठा ले गयीं। ब्राह्मणने नेत्र खोले और छककर भोजन किया।

आचमन करनेपर एक ताम्बूलोंका पर्वत उन्हें दिखाया गया। झट उन्होंने नेत्र बंद करके एक ताम्बूल उठाया और मुखमें ले लिया। अबकी बार उन्होंने सखाको छका दिया था। दोनों खिलखिलाकर हँस पड़े।

× × ×

उत्तमासनपर दोनों बालमित्रोंका हास-परिहास चल ही रहा था कि हाथ जोड़कर श्रीरुक्मिणीजी सम्मुख उपस्थित हुईं। 'मेरा परम सौभाग्य है कि आप मेरे भवनको अपनी चरणरेणुसे पवित्र करते हैं!' उन्होंने स्तुति की।

'पर पता नहीं हमारे किस जन्मके पाप उदय हुए हैं कि हमारे सदन आपके श्रीचरणोंसे वञ्चित ही हैं।' सत्यभामाजीने पास ही खड़े होकर प्रार्थना की।

'मेरी बहिनें मेरे सौभाग्यपर ईर्षा करती हैं।' रुक्मिणीजी मुसकरायीं।

'ठीक भी तो है' श्यामसुन्दर हँसते-हँसते बोले—'आपको कम-से-कम एक-एक दिनकी सेवाका सौभाग्य तो सभीको देना चाहिये।' उन्होंने प्रस्ताव किया।

'एक-एक दिन सबको?' सुदामाने चौंककर पूछा।

'इसमें आपको सुविधा होगी। न कलशों जल चढ़ेगा और न थालियोंकी प्रदक्षिणा करनी होगी। एक-एक दिनमें सबको सभी प्रकारकी सेवा भी प्राप्त हो जायगी; और आपको कष्ट भी नहीं होगा।' नटनागर हँस रहे थे।

'सोलह हजार एक सौ आठ दिन। चौवालीस वर्षसे भी अधिक!' ब्राह्मणने चौंककर डरते हुए कहा।

'श्यामसुन्दर ! इतने दिनोंमें बेचारी ब्राह्मणी प्रतीक्षा करते-करते मर जायगी और सम्भवतः इस केवल एक-एक दिनके सत्कारको बीचमें ही छोड़कर यह दुर्बल ब्राह्मण भी·······!'

'तब जाने दें !' द्वारिकेशने मुख गम्भीर कर लिया।

'हमारे भवन चरण-रजसे भी वञ्चित ही रहेंगे ?' सत्यभामाजीने कुछ करुण-स्वरमें पूछा।

'हाँ—एक बार आप सब भवनोंमें हो आवें !' सखाने चटसे कह दिया।

'सब भवनोंमें हो आवें ! जैसे बच्चेका खेल है ! भवन भी तो थोड़े ही हैं न ?' विप्रने झुँझलाहटसे कहा।

'नहीं, नहीं, आपको पैदल नहीं दौड़ना होगा !' सखाने आश्वासन दिया, 'कोई है ? दारुकसे कहो मेरा रथ प्रस्तुत करे।' व्यवस्था होने लगी।

'और मैं सोलह हजार एक सौ आठ बार रथसे चढ़ा-उतरीका व्यायाम करूँ ?' ब्राह्मणकी झुँझलाहट दूर नहीं हुई थी।

अन्तमें, गरुड़का आह्वान हुआ और सुदामा पक्षिराजकी पीठपर आगे श्यामसुन्दरको बैठाकर पीछे बैठे उन्हें जोरसे पकड़कर। वह भी इस शर्तपर कि वे किसीके आँगनमें पक्षिराजकी पीठसे नहीं उतरेंगे।

ब्राह्मणके लिये यह पक्षि-यान था नवीन ही। वे डरते थे। जोरसे आगे बैठे सखाको दोनों हाथोंसे पकड़े थे। गरुड़ प्रत्येक राज्ञीके प्राङ्गणमें उतरते। वहाँ उनकी अर्घ्य, पाद्य, धूप, दीपसे पूजा होती। नैवेद्य वे ग्रहण करते नहीं थे। केवल लेकर गरुड़के आगे रख देते थे और गरुड़ इस प्रसादको क्यों छोड़ते। मालाएँ भी गरुड़के गलेमें ही सुदामा डाल देते थे। गरुड़ अधिक हो जानेपर उन्हें उड़ते-उड़ते ही समुद्रमें छोड़ आते थे। इस प्रकार सबके भवनोंको पक्षि-यानसे पवित्र करते-करते सुदामाको कई सप्ताहमें छुट्टी मिली।

अन्तमें उनके नटखट सखाने उन्हें द्वारिकासे विदा किया, उनकी उसी फटी लँगोटी और अँगोछेमें। कौशेय दुकूल वहीं छोड़कर उन्होंने अपनी फटी लँगोटी लगा ली थी और सखाने कोई आपत्ति की नहीं थी। स्वागत-सत्कार तो खूब हुआ; पर 'दक्षिणाभावे अक्षतम्' भी नहीं रहा। वे जो दो मुट्ठी तन्दुल ले आये थे, उसे भी छीनकर नटवरने खा लिया था। खाली हाथ ही लौटे।

× × ×

ब्राह्मणने रो-गाकर अपनी कुटियाके स्थानपर बने विराट् राजसदनमें प्रवेश किया। वे तो द्वारसे ही लौट जाते, पर उनकी पत्नीने देख लिया था और द्वारतक आकर वे अपने पतिदेवको ले गयीं। भीतर दासियोंका मेला लगा था। ब्राह्मणने पूछा 'कितनी हैं ये ?' पत्नीने हँसकर कहा 'सोलह हजार एक सौ आठ।'

इसी समय उन्हें भवनके पृष्ठभागमें कई मील लंबे-चौड़े घेरेमें गौएँ-गौएँ ही दृष्टि पड़ीं। सभीके खुर एवं सींग सोनेसे मढ़े थे। सब रत्नजटित झूलोंसे आच्छादित थीं। सबके समीप सुन्दर दो-तीन महीनेके बछड़े थे। सब हृष्ट-पुष्ट थीं।

ब्राह्मणने उल्लसित होकर कहा 'कितनी सुन्दर गौएँ हैं !'

पत्नीने मुसकराकर बताया 'हैं भी सोलह हजार एक सौ आठ।'

ब्राह्मण समझ गये यह सखाके पत्नियोंकी संख्या है। यह उन्हींकी दी हुई दक्षिणा है। जब सखाने यह वैभव दिया तो उनकी पत्नियाँ ब्राह्मणको एक-एक गौ और ब्राह्मणीको एक-एक दासी क्यों न दें !

उन्होंने देखा—उनके घरमें सोलह हजार एक सौ आठका साम्राज्य है। थाली, लोटा, छाता, खड़ाऊँ, रत्न आदि सभी उसी संख्यामें आ पहुँचे हैं। फिर भी वे द्वारिकाकी सजी हुई सोलह हजार एक सौ आठ थालियों, स्नानके उस सम्भार अथवा प्रणामकी उस अड़चनको भूल सकेंगे ?

यहाँकी संख्याएँ तो वहाँकी प्रतीक हैं।

भक्तकी निष्कृति

(गीत)

सन्ध्या समय चली मन्दिरको--गलियोंमें होती !
गिरा नकबेसरसे मोती !
पूजनके हित लिये थाल थी, थाल मध्य था दीप।
ऊँची-नीची चाल बचाती, पहुँची द्वार समीप॥
हृदयमें थी हर्षित होती !
गिरा नकबेसरसे मोती !
छू न कहीं धोखेमें जाऊँ, था शुचिताका भान।
उधर विकम्पित खुले पवनसे, था दीपकका ध्यान॥
जागती-सी थी मैं सोती !
गिरा नकबेसरसे मोती !
नकबेसरकी गूँज खुल गयी, इसी गलीके बीच।
थाली रख कैसे खोजूँ मैं, मची गलीमें कीच॥
खड़ी थी मैं नीरव रोती !
गिरा नकबेसरसे मोती !
उसी समय जीवनधन आये, देखा मेरा हाल।
समझ मर्म मनमें मुस्काये, मिला नेत्र तत्काल॥
न बोली—क्यों लज्जा खोती !
गिरा नकबेसरसे मोती !
अपना हाथ बढ़ाकर बोले, कर मीठा उपहास।
यह लो मोती पड़ा हुआ था, श्रीचरणोंके पास॥
चमकती थी जगमग जोती !
गिरा नकबेसरसे मोती !
फिर न गिर पड़े यही सोच है, कहकर इतनी बात।
नकबेसरमें मोती डाला, मधुर-मधुर मुस्कात॥
हटाकर घूँघटसे धोती !
गिरा नकबेसरसे मोती !
चले गये वे तब मैं पहुँची, इष्टदेवके द्वार।
विहँसी विमल मूर्ति साहबकी, मोती ओर निहार॥
भक्तकी निष्कृति यों होती !
गिरा नकबेसरसे मोती !

—शिवनारायण वर्मा

सूर और तुलसी

(लेखक--श्रीशम्भुप्रसादजी बहुगुना एम्० ए०)

तुलसी और सूर भारतीय प्राणोंके दो ऐसे अभिन्न अङ्ग हैं कि एकका नाम लेते ही दूसरेकी भावना भी सम्मुख आ जाती है। दोनोंके प्रति जनताकी इतनी अटूट श्रद्धा है कि किसीको भी वह दूसरा स्थान नहीं देना चाहती। भगवान् श्रीकृष्णकी बाल-लीलाके पदोंको यदि वह आनन्दमग्न होकर गाती है तो भगवान् रामका जीवनव्यापी आदर्श-चरित्र उसके सुख-दुःखका एकान्त संगी है। श्रीकृष्णके विरहमें रोती हुई गोपिकाओंकी विह्वलता यदि उसे कातर बना देती है तो सीताके विरहमें पशु-पक्षी, लता-कुञ्जोंसे प्रश्न करते, आँसू गिराते रामके साथ रोये बिना वह नहीं रह सकती। रासके रहस्यमय वर्णनसे यदि वह भ्रममें पड़ जाती है तो परब्रह्म रामका मानवकी भाँति बाल-चरित्र करना, सीताके लिये विरह-कातर होकर रोना, युद्धमें नाग-पाशसे बँध जानेपर गरुड़की सहायतासे मुक्त होना, लक्ष्मणके शक्ति लगनेपर मनुष्य-हृदयकी दुर्बलताकी चरम सीमापर पहुँचकर "जौं जनतेउँ बन बंधु बिछोहू। पिता बचन मनतेउँ नहिं ओहू॥"—कह बैठना उसे कम उलझनमें नहीं डाल देते। तुलसीकी 'बिनय-पत्रिका'में हृदयकी जो शान्ति उसे प्राप्त होती है, वह सूरके विनय-गर्भित पदोंमें भी उसे मिलती है। सूरको यदि 'गोपी-उद्धव-संवाद'में वह निर्गुण-भक्ति, योग-ज्ञानमार्ग आदिकी अपेक्षा सरल सगुण-भक्तिका समर्थन करते हुए देखती है तो 'लोमश-काकभुशुण्डि-संवाद'में वह तुलसीको भी सगुण-भक्तिको निर्गुण-भक्तिसे सरल और सरस प्रतिपादित करते पाती है। तुलसीमें यदि उसे जीवनकी गम्भीर व्यापकता मिलती है तो सूरमें जीवनके सरल आनन्द-पक्षकी गहरी तन्मयता। वह सूर और तुलसीको अपनी दो आँखोंके समान समझती है।

किन्तु काव्यके क्षेत्रमें कुछ लोग केवल इस कारण तुलसीको सूरसे अधिक सम्मान देते हैं कि उन्होंने जीवनके विभिन्न पार्श्वोंको सहृदयतासे अपनाया है, जब कि सूरने केवल बाल तथा यौवनकी ही शृङ्गारी लीलाओंका चित्रण किया है। प्रतिदिनके जीवनमें यह श्रेणी-विभाग चाहे उपयुक्त हो, किन्तु काव्यके क्षेत्रमें—जहाँ आनन्दानुभूति कराना ही अन्तिम उद्देश्य है—इस (श्रेणी-विभाग) का अधिक मूल्य नहीं है। चाहे जीवनका सर्वाङ्गीण चित्रण हो अथवा एकाङ्गी, यदि वह हमारे भावोंको रसकी अवस्थातक पहुँचानेमें समर्थ है तो उसे हम किसी तरह भी पिछड़ा हुआ नहीं कह सकते। जहाँ केवल आनन्दानुभूतिका ही प्रश्न है, वहाँ प्रधानता मुक्तककाव्यकी ही रहेगी; क्योंकि हृदय मानव-शरीरकी दुर्बलताके कारण — रसकी अवस्थामें अधिक समयतक रह नहीं सकता। किन्तु जब आनन्दके साथ, जीवनको उदात्त बनानेवाली शक्तियोंके समन्वयकी भी आवश्यकता समझी जायगी, तब एक भावनाको प्रधानता देनेवाला मुक्तक-काव्य काम न दे सकेगा, वरं प्रबन्ध-काव्यकी आवश्यकता पड़ेगी। प्रबन्ध-काव्यमें जीवनके विभिन्न पार्श्वोंके मार्मिक चित्र खींचकर कथा-प्रवाहके बलसे हृदयकी भावनाओंको दूरतक बहाया जा सकता है और साथ ही संपूर्ण जीवनको अपनानेके कारण तथा मार्मिक स्थलोंकी दुःखमय घटनाओंके भी अपने भव्यरूपमें होनेसे हृदयमें शक्तिका सञ्चार करनेकी अथाह शक्ति आ जाती है। किन्तु हृदयकी अधिक समयतक आनन्दावस्थामें रह सकनेकी क्षमता न होनेके कारण भावातिरेकके स्थल प्रबन्ध-काव्यमें भी एक प्रकारसे मुक्तकका ही रूप धारण

---

१. यहाँ योगियोंकी समाधि-अवस्थाके आनन्दसे नहीं वरं काव्यके आनन्दसे अभिप्राय है।

कर लेते हैं; क्योंकि तन्मयताकी पूर्ण अभिव्यक्ति उन्हें अपनेमें पूर्ण बना देती है और उनके लिये पूर्वापर-सम्बन्ध विशेष महत्त्वका नहीं रह जाता। वास्तवमें भावातिरेककी अभिव्यक्तिका स्वाभाविक साधन मुक्तक अथवा गीति-रचना ही है। सूर सरलता तथा व्यक्तिगत साधनाके भक्त थे, इसलिये उन्होंने गीति-काव्यकी रचना की और 'सूरसागर' प्रस्तुत हुआ। तुलसी व्यक्ति तथा समाज दोनोंका कल्याण चाहते हैं, इसलिये प्रबन्ध तथा मुक्तक—सभी प्रकारके काव्योंकी रचना करते हैं। तुलसीका 'रामचरितमानस' यदि हिन्दीका सर्वश्रेष्ठ प्रबन्ध-काव्य है तो 'सूरसागर' सर्वश्रेष्ठ गीति-काव्य; दोनोंकी अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। 'सागर' और 'मानस'में वही अन्तर है, जो सागर और मानसमें है।

सूरकी वाणी ही गीतोंके लिये थी, उन्होंने श्रीकृष्णकी एक-एक लीलाके पद गाये हैं। उनकी भक्ति-विह्वल तन्मयतासे उत्पन्न गीतोंमें रसोद्रेककी शक्ति न हो, यह असम्भव है। सूरका तो एक-एक पद कृष्ण-प्रेममें निरन्तर आँसू बहाती हुई एक-एक गोपिका है। क्या आँसुओंके इस प्रदेशमें रस नहीं? क्या वह खिलवाड़-मात्र है? आचार्य रामचन्द्र शुक्लने जिस समय कृष्ण-विरहमें रोती गोपियोंके प्रेमको अस्वाभाविक खिलवाड़-सा बतलाया, उस समय कदाचित् वे इस बातको भूल गये कि एकान्त-प्रेमीके लिये प्रेमकी गहन तल्लीनतामें आँगन भी विदेश हो जाता है। मिलन शरीरोंके सामीप्य मात्रपर तथा विरह उनके दूर होनेपर निर्भर नहीं है। उसमें हृदयकी भावनाका भी प्रश्न होता है। गोपियोंके विरहमें जो व्यथा छिपी है, उसे समझकर किसका हृदय शान्त रह सकता है। गोपी-हृदय सूरने जिस समय नीचेके पद गाये होंगे, क्या वे जी भरकर न रोये होंगे? और कौन ऐसा प्रेमी है, जो ऐसी स्थितिमें उनकी ही भाँति न रोने लगेगा?

आसमानमें आते हुए बादलोंकी सीमा नहीं, उनका कोई निश्चित मार्ग नहीं। जहाँ कहीं किसीको अवकाश मिल जाता है, वहींसे वह पृथ्वीको अपना सर्वस्व देकर आनन्दित करनेके लिये आकाशमें आ जाता है। पृथ्वीके द्रुम हरित हो उठे हैं, लताएँ उनसे हर्षमें भरकर मिल गयी हैं। प्रकृतिमें ये सब परिवर्तन हो गये हैं, किन्तु हृदयको आनन्दित करनेवाले घनश्यामका कहीं पता नहीं। उतनी दूर सुरलोकमें बसनेवाले, सदा दूसरोंके आश्रित रहनेवाले बादलोंतकको अपने प्रियजनों तथा आश्रितोंका ध्यान न भूला। पर मथुराके शासक श्रीकृष्णने उतने पास रहकर भी उन्हें भुला दिया! बादल अपनी अवधि जानकर लौट आये हैं, पर श्रीकृष्णके आनेकी कोई अवधि नहीं—

बरु ये बदराउ बरषन आए।
अपनी अवधि जानि, नँदनंदन! गरजि गगन घन छाए॥
सुनियत हैं सुरलोक बसत हैं, सेवक सदा पराए।
चातक कुलकी पीर जानि कै, जहँ तहँ ते उठि धाए॥
द्रुम किए हरित, हरषि मिलीं बल्ली, दादुर मृतक जिवाए।
छाए निबिड़ नीर तृन जहँ तहँ, पंछिन हू प्रतिभाए॥
समुझति नहिं सखि चूक आपनी बहुत दिवस हरि लाए।
सूरदास स्वामी करुनामय मधुबन बसि बिसराए॥

सूरका गोपी-हृदय इन सब बातोंको देख-समझकर विकल हो जाता है और वे उद्धवके हाथ श्रीकृष्णको सँदेसा भेजते हैं—

ऊधौ इतनी कहियो जाय।
अति कृसगात भई ये तुम बिनु परम दुखारी गाय॥
जल समूह बरसति दोउ आँखिनि, हूँकति लीने नाउँ।
जहाँ जहाँ गो दोहन कीनो, सूँघति सोई ठाउँ॥
परति पछार खाय छिन ही छिन, अति आतुर ह्वै दीन।
मानहुँ सूर काढ़ि डारी हैं बारि मध्य तें मीन॥

इधर तुलसीने भी रामके वियोगमें विकल पशुओंका वर्णन किया है। घोड़ोंकी दशा 'गीतावली' तथा 'मानस'में मार्मिक रीतिसे दिखायी गयी है।—गीतावलीमें

कौसल्याजी पथिकसे कहती हैं—'यदि तुम्हें कहीं मेरे राम मिलें तो उनसे मेरा सँदेसा कहना कि तुम एक बार आकर इन अपने प्रिय घोड़ोंकी दशा तो देख जाते। यद्यपि भरत सब प्रकारसे इनकी विशेष देख-रेख करते हैं, फिर भी तुम्हारे स्नेहकी थपकी न पाकर ये दिन-दिन झँवराते (दुबले पड़ते) जा रहे हैं। और सबसे अधिक सोच मुझे इन्हींका है—

राघौ ! एक बार फिरि आवौ।
ए बर बाजि बिलोकि आपने, बहुरो बनहि सिधावौ॥
जे पय प्याइ, पोखि कर पंकज, बार बार चुचुकारे।
क्यों जीवहिं, मेरे राम लाड़िले ! ते अब निपट बिसारे॥
भरत सौगुनी सार करत हैं, अति प्रिय जानि तिहारे।
तदपि दिनहिं दिन होत झाँवरे, मनहुँ कमल हिम-मारे॥
सुनहु पथिक ! जो राम मिलहिं बन, कहियो मातु-सँदेसो।
तुलसी मोहि और सबहिनतें इन्हको बड़ो अँदेसो॥

किन्तु यहाँ घोड़ोंकी विकलता उतनी प्रधान नहीं है, जितनी उस विकलताके प्रति कौसल्याकी वेदना। घोड़ोंकी विकलताको दिखलानेका प्रयत्न तुलसीने मानस (अयोध्याकाण्ड) में किया है। वे रामको बनमें छोड़कर घर आनेसे दुःखित हैं। रास्ता चलते नहीं बनता। वे तड़फड़ा रहे हैं, मानो रथमें जङ्गली पशु जोत दिये गये हों। चलते-चलते रुक जाते हैं। मुड़-मुड़कर पीछे देखने लगते हैं। जो किसीने राम-लक्ष्मण-सीताका नाम ले लिया तो वे हिनहिनाकर उसे स्नेहसे देखने लगते हैं। वे ऐसे विकल हैं जैसे मणिविहीन साँप—

चरफराहिं मग चलहिं न घोरे।
बन मृग मनहुँ आनि रथ जोरे॥
अड़ुकि परहिं फिरि हेरहिं पीछें।
राम बियोगि बिकल दुख तीछें॥
जो कह रामु लखनु बैदेही।
हिंकरि हिंकरि हित हेरहिं तेही॥
बाजि बिरह गति कहि किमि जाती।
बिनु मनि फनिक बिकल जेहि भाँती॥

किन्तु सूरके 'ऊधौ इतनी कहियो जाय' के पश्चात् गायोंकी दशाके वर्णनमें जो तीव्र व्यञ्जना है, वह न गीतावलीके उपर्युक्त वर्णनमें है और न मानसके। तुलसी विवेक और कर्तव्यकी गम्भीरतामें वियोगके आँसुओंको छिपा देते हैं; किन्तु सूर उन्हें खुलकर बरसनेका अवसर देते हैं। सूर कर्तव्याकर्तव्यके बन्धनसे मुक्त रहकर विरहकी विभिन्न दशाओंमें हृदयकी भावनाओंको मुखरित होने देते हैं, किन्तु तुलसी विरहके आँसुओंको कर्तव्यकी बलि-वेदीपर अर्पित कर उन्हें हृदयको परिष्कृत कर लोक-कल्याणकी ओर लगा देते हैं। दोनोंमें यह मौलिक अन्तर उनकी भिन्न-भिन्न भक्ति-पद्धति तथा जीवनके विभिन्न दृष्टिकोण होनेके कारण है।

गोपी-विरह-वर्णनकी भाँति सूरके श्रीकृष्ण-बाललीला तथा विनयके पद भी अद्वितीय हैं। 'बाल-सुषमा' की प्रत्येक रश्मिको मुक्त कुन्तलों एवं धूलि-धूसरित शोभाकी प्रत्येक मूक भावनाको सूरने वाणी दी है। 'बाल-प्रकृतिके वर्णनमें सूर सरलताकी उस अन्तस्तलीमें पहुँचे हैं, जहाँ सरलता चैतन्यमें विकसित होकर भी निष्पाप है, निष्प्रयोजन है, प्रपञ्चसे रहित है।' तुलसीने भी बाल-लीलाका वर्णन किया है; किन्तु उसमें सूरकी-सी स्वाभाविकता नहीं आ सकी है; क्योंकि तुलसी एक क्षणके लिये भी अपने रामके अलौकिकत्वको नहीं भुला सके हैं, जिसके कारण उनके रामके साथ मनुष्य-हृदयका पूर्ण तादात्म्य नहीं हो पाता। यदि एक क्षणके लिये भी तुलसी रामको केवल मानवरूपमें देख पाते तो गीतावलीमें उन्होंने बाल-लीलाका जो वर्णन किया है, वह सूरकी टक्करका अवश्य होता। वात्सल्यका कितना सुन्दर चित्रण नीचेके पदमें है, पर अलौकिकत्व यहाँ भी नहीं छूटा है—

'आजु अनरसे हैं भोरके, पय पियत न नीके ।
रहत न बैठे, ठाढ़े, पालने झुलावत हू,
रोवत राम मेरो सो सोच सबहीके ॥
देव, पितर, ग्रह पूजिये तुला तौलिये घीके ।
तदपि कबहुँ कबहुँक सखी ऐसेहि अरत
जब परत दृष्टि दुष्ट तीके ॥
बेगि बोलि कुलगुर, छुऔ माथे हाथ अमीके ।'
सुनत आइ ऋषि कुस हरे नरसिंह मंत्र पढ़े,
जो सुमिरत भय भीके ॥
जासु नाम सरबस सदासिव-पारबतीके ।
ताहि झरावति कौसिला, यह रीति
प्रीतिकी हिय हुलसति तुलसीके ॥

माथे हाथ ऋषि जब दियो राम किलकन लागे ।
महिमा समुझि, लीला बिलोकि गुरु सजल
नयन, तनु पुलक, रोम रोम जागे ॥
लिये गोद, धाए गोदतें, मोद मुनि मन अनुरागे ।
निरखि मातु हरषी हिये आली-ओट
कहति मृदु बचन प्रेमके-से पागे ॥
तुम्ह सुरतरु रघुबंसके, देत अभिमत माँगे ।
मेरे बिसेषि गति रावरी, तुलसी
प्रसाद जाके सकल अमंगल भागे ॥

अलौकिकत्वको सूर एकदम छोड़ ही गये हों, ऐसी बात नहीं है । उनके भी अनेक ऐसे पद हैं, जिनमें श्रीकृष्ण एक साथ ही लौकिक और अलौकिक दर्शाये गये हैं[१], किन्तु ऐसे पदोंमें मनुष्य-हृदय अधिक रमता नहीं है । जहाँ अलौकिकत्व बाधक होकर भावके सौन्दर्यको दबा नहीं देता, वहाँ हृदय सहज ही आनन्दकी धारामें प्रवाहित होने लगता है । 'मैया ! हौं नहिं माखन खायौ,' 'मैया ! कबहुँ बढ़ैगी चोटी,' 'मैया ! मोहि दाऊ बहुत खिझायौ,' 'मैया ! बहुत बुरौ बलदाऊ,' 'खेलन अब मोरि जात बलैयाँ'-जैसे पदोंको पढ़ते हुए पाठकके सम्मुख शिशु तथा बालकोंका स्वाभाविक चित्र नाचने लगता है । इसी भाँति श्रीकृष्णकी प्रेम-लीलाओंमें वह अपने ही हृदयके भावोंकी अभिव्यक्ति पाकर आनन्दित हो उठता है । जब उन लीलाओंमें हमें अपने ही जीवनकी आनन्दमयी घड़ियोंकी लीलाएँ दिखायी देती हैं, तब एक क्षणके लिये श्रीकृष्णके अलौकिकत्वको भूलकर भावमें तन्मय हो, हम आनन्दके उस लोकमें पहुँच जाते हैं, जहाँ सौन्दर्य-ही-सौन्दर्य तथा आनन्द-ही-आनन्द है । सूर तुलसीकी अपेक्षा, इस विशेषताके कारण, हमारे अधिक निकट आ जाते हैं । किन्तु इसी विशेषतामें मनुष्यकी वह दुर्बलता छिपी है, जो तन्मयताके अभावमें मनुष्यको पतनकी ओर ले जानेका कारण बन जाती है । आदर्श और मर्यादाके अभावसे कृष्ण-काव्यमें मनुष्यकी विकृत भावनाओंको भी आगे चलकर आश्रय मिलने लगा और इसीसे एक दिन भक्तोंके आराध्य श्रीराधा-कृष्ण भक्तिहीन लौकिक कवियोंकी रचनाओंके कामशास्त्र-पटु नायक-नायिका मात्र रह गये ।

दूसरी ओर तुलसीकी जिस दुर्बलताके कारण उनके रामसे हमारा पूर्ण तादात्म्य नहीं होने पाता, वही तुलसीके काव्यकी सबसे बड़ी जीवनदायिनी शक्ति है । अलौकिकत्वपूर्ण मर्यादाकी इस आदर्श सञ्जीवनीसे ही तुलसी पतनोन्मुखी जीवनको उत्थानकी ओर लगानेमें समर्थ होते हैं । मर्यादा और आदर्शवादिताकी इस जीवनदायिनी शक्तिकी तुलसीने सदैव रक्षा की है । किन्तु सूरने उसकी अधिक चिन्ता नहीं की । मर्यादा और आदर्शवादिताकी रक्षाके लिये तुलसीने उस सेवक-

---

[१] जसोदा ! तेरौ मुख हरि जोवै ।
कमल नैन हरि हिचकिनि रोवै, बंधन छोरि जसोवै ॥
जो तेरौ सुत खरौ अचगरौ, तऊ कोखि कौ जायौ ।
कहा भयौ जो घरके ढोटा चोरी माखन खायौ ॥
कोरी मटुकी दह्यौ जमायो, जाख न पूजन पायौ ।
तिहि घर देव पितर काहे कौ, जा घर कान्हर आयौ ॥
जाकौ नाम लेत भ्रम छूटै, कर्म फंद सब काटै ।
सो हरि प्रेम जेवरी बाँधे जननि साँटि लै डाटै ॥
दुखित जानि दोउ सुत कुबेर के तिन हित आपु बँधायौ ।
सूरदास प्रभु भक्तहेत ही देह धारि तहँ आयौ ॥

सेव्य-भावकी भक्तिको अपनाया, जिसमें स्वामीके ऐश्वर्य और सेवककी दीनताके कारण मर्यादा-उल्लङ्घन करनेकी सम्भावना ही नहीं रह जाती। स्वामीके ऐश्वर्य, शक्ति, शील, सौन्दर्यके सम्मुख सेवकको अपनी एक-एक दुर्बलता देखनेका अवसर मिलता है और हीनताजनित ग्लानिके आँसुओंसे उसका हृदय सदैव धुलता रहता है, वह अपना सारा दुःख परमात्माके भरोसे भूल जाता है। स्वामीके गौरवके विपरीत काम करनेकी भावना भी उसके मनमें नहीं आ सकती, समताका दावा करना तो दूर रहा।

समाजकी सभी चेतनाओंसे परिचित, लोकहितका ध्यान रखनेवाले तुलसीने सेवक-सेव्य-भावकी भक्तिके अतिरिक्त और किसी भावकी भक्तिको अपनाया ही नहीं। वरं चेतावनी देकर स्पष्ट शब्दोंमें काकभुशुण्डिके मुखसे (मानसमें) कहला भी दिया है——

सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि।
भजहु राम पद पंकज अस सिद्धांत बिचारि॥

सेवक-सेव्य-भावको अपनानेके कारण तुलसीका शृङ्गार भी मर्यादाकी भूमिपर प्रतिष्ठित है; किन्तु माधुर्य और सख्य-भावके उपासक सूर वात्सल्य और शृङ्गारमें इतने बहे हैं कि औचित्य-अनौचित्यका उन्हें ध्यान ही नहीं रहा। परन्तु इसके लिये वे दोषी नहीं ठहराये जा सकते। उन्होंने अपने सम्प्रदायके अनुसार ही रचनाएँ की हैं। उनकी रचनामें यह मनोवृत्ति स्वाभाविक थी। उसमें समाजके आदर्शकी दृष्टिसे भावना व्यक्त नहीं की गयी है, वरं उन्होंने तो भक्तोंको भगवान्के लिये सब बन्धनोंको त्याग देनेका सङ्केत किया है। यद्यपि गोपियाँ परकीया हैं, फिर भी भक्तोंको किस प्रकार भगवान्के सम्मुख सब कुछ त्याग देना चाहिये——यह दिखाने तथा व्यक्तिगत साधनाके लिये उनका लोक-मर्यादाहीन उन्मुक्त प्रेम आदर्श ही है। सूरदास स्वयं परम भक्त थे, नहीं तो उनके प्रति जनताकी इतनी श्रद्धा कभी न होती।

अतः तुलसी तथा सूर गङ्गा और यमुनाकी भाँति पवित्र तथा लोकहितकारी हैं। इनकी काव्य-धारा सगुण भक्तिके हिमालयसे निकलकर अपने-अपने क्षेत्रोंमें बढ़ती हुई अन्तमें सत्-चित्-आनन्द रसरूप असीमके भक्ति-सागरमें विलीन हो जाती हैं! अतीतसे जनताके हृदयोंमें श्रीराम और श्रीकृष्णकी जो मूर्ति प्रतिष्ठित थी, उसे सुन्दरतम रूप देकर अधिक व्यापक बनानेका श्रेय इन्हीं दोनों भागवत भक्त कवियोंको है।

* * *

जिनकी चेतनताके स्पर्शमात्रसे यह विश्व चेतन हो जाता है; किन्तु यह विश्व जिन्हें चेतनताका दान नहीं कर सकता—स्पर्श नहीं कर सकता, जो इसके सो जानेपर अर्थात् प्रलय हो जानेपर भी जागते रहते हैं, जिनको यह जान नहीं सकता, परन्तु जो इसको जानते हैं—वही परमात्मा हैं। यह सम्पूर्ण विश्व और इस विश्वमें रहनेवाले समस्त चर-अचर प्राणी—सब उन परमात्मासे ओतप्रोत हैं, भरे-पूरे हैं। इसलिये संसारके किसी भी पदार्थमें मोह न करके उसका त्याग करते हुए ही जीवन-निर्वाहमात्रके लिये भोग करना चाहिये। तृष्णाका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

—श्रीमद्भागवत

सृष्टिका सर्वप्रथम स्रोत एवं आर्योंका मूल स्थान भारतवर्ष

(लेखक—श्रीउमरावसिंहजी रावत, एम्० ए०)

लेखकके शीर्षकको देखकर पाठक चौंक पड़ेंगे और सम्भवतः इसे लेखकका दुःसाहस अथवा अनधिकार चेष्टा समझेंगे कि वह विद्वान् इतिहासकारोंकी निश्चित धारणाके प्रतिकूल कह रहा है। इतिहासके विद्वान् और पुरातत्त्ववेत्ता महानुभाव मुझे क्षमा करेंगे और मेरे इस लेखको सहृदयतापूर्ण सहानुभूतिके साथ पढ़कर उसपर अपना उदारतापूर्ण निर्णय देनेकी कृपा करेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है; क्योंकि मेरी यह धारणा सत्यके प्रतिकूल तो कदापि नहीं है, साधारण जन-मतके प्रतिकूल हो तो हो।

आदि-मानव-सृष्टिका श्रीगणेश कहाँ हुआ और आर्योंका मूल स्थान कहाँ था? इस प्रश्नको लेकर विद्वानोंमें बहुत ही अधिक मतभेद और खींचातानी रही; तथा उनमेंसे अधिकांशने अपने-अपने देशको ही यह गौरव प्रदान करनेका प्रयत्न किया। मुझपर भी कहीं यही दोषारोपण न हो जाय, इसलिये मैं पाठकोंको पहले ही सूचित कर देना चाहता हूँ कि मेरी इस धारणाके मूलमें प्रायः विदेशी एवं यूरोपीय विद्वानोंका ही समर्थन होगा। बहुत अधिक वाद-विवादके पश्चात् यूरोपीय इतिहासकारोंकी लगभग यह निश्चित धारणा-सी हो गयी है कि आर्योंका मूल स्थान मध्य एशिया था और वहींसे वे लोग चारों ओर फैले तथा उन्हींमेंसे एक दल भारतवर्षकी ओर बढ़ा और उसी दलके लोग वर्तमान आर्य-जातिके मूल पुरुष हुए। अतएव मैं अधिक विवादमें न पड़कर केवल इस धारणा और मान्यताका खण्डन करके युक्ति, अनुमान और प्रबल शब्द-प्रमाणोंसे यह प्रतिपादित करनेका प्रयत्न करूँगा कि विधाताकी सृष्टिका श्रीगणेश भारतवर्षसे ही हुआ और सभ्यताके चरमोत्कर्ष तक पहुँचकर आर्य-जाति यहींसे संसारके अन्य भागोंमें फैली। इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि सारी मानव-जातिका मूल स्रोत यहीं है, यद्यपि बहुत-से विद्वानोंकी यह भी राय है। यह सम्भव है कि एक ही समयपर या कुछ आगे-पीछे पृथ्वीके भिन्न-भिन्न भागोंमें मानव-सृष्टिका उद्भव हुआ हो और उन्हींके द्वारा भिन्न-भिन्न सभ्यताओं, संस्कृतियों और भाषाओंका विकास हुआ हो। मैं तो केवल इतना ही कहनेके लिये उद्यत हुआ हूँ कि वैदिक सभ्यताके पोषक आर्यों एवं आर्य-भाषा (संस्कृत आदि भारतीय भाषाएँ, प्राचीन फ़ारसी, लैटिन, ग्रीक तथा उनसे निकली हुई जर्मन, फ्रेंच, अंगरेजी आदि)-भाषियोंका मूल स्थान भारतवर्षका सप्तसिन्धु देश है, मध्य एशिया नहीं; यहींसे वे मध्य एशियाकी ओर और वहाँसे वे समस्त यूरोपमें फैले, मध्य एशियासे यहाँ नहीं आये। अब अपनी इस धारणा और मान्यताकी पुष्टिमें अन्य विद्वानोंकी सम्मति प्रस्तुत करनेके पूर्व मैं अपनी कुछ स्वतन्त्र युक्तियाँ पेश करूँगा।

(१) जब हमलोग मकान बनाते हैं तब पहले उसकी स्थितिपर विचार करते हैं, उसकी हरेक सुविधा-पर विचार करते हैं और उसे सब प्रकारसे सुरक्षित बनानेका प्रयत्न करते हैं। तो क्या यह कल्पना करना युक्तिसंगत नहीं है कि उस महान् कलाकारकी प्रकृति-नटीने मानव-सृष्टि-जैसा महत्त्वपूर्ण खेल रचनेके पहले इन सब बातोंपर विचार कर लिया होगा! सभी जानते हैं कि पृथ्वीतलपर भारतवर्ष ही एक ऐसा देश है, जहाँ जीवन-यात्राकी सभी सामग्री प्रचुर मात्रामें विद्यमान है। भयानक-से-भयानक गर्मी और कठोर-से-कठोर ठंड, अधिक-से-अधिक वर्षा और तड़फड़ा देनेवाली मरुस्थलीकी सूखी भयावनी लू, संसारकी सबसे ऊँची पर्वत-श्रेणियाँ और पातालस्पर्शी गभीर-से-गभीर नद-नदियाँ, सभी प्रकारकी ऋतुएँ, पेड़-पौधे, पुष्प-लताएँ, रत्न-धान्य, पशु-पक्षी, जीव-जन्तु आदि कोई भी चराचर

वस्तु ऐसी नहीं, जो यहाँ पर्याप्त परिमाणमें विद्यमान न हो या जिसका यहाँ नितान्त अभाव हो । यह देश अब भी सोनेकी चिड़िया कहलाता है और इसका गङ्गा-यमुनाका दोआब इस समय भी संसारका सबसे अधिक उपजाऊ प्रान्त है । इसके चारों ओर दुर्भेद्य हिमाच्छादित पर्वत-श्रेणियों तथा विस्तृत एवं गम्भीर सागर-महासागरोंका प्राकृतिक कोट बना हुआ है, जिसने सहस्रों वर्षोंतक भारतको सर्वप्रकारेण सुरक्षित रक्खा और जो अब भी साधारण आक्रमणोंसे इसे बहुत कुछ सुरक्षित रखे हुए है । संसृति-स्रोतके निस्सरणके लिये भला, इससे अधिक उपयुक्त स्थान और कौन हो सकता था ।

(२) अत्यन्त प्राचीन कालसे यहाँके प्रवासी आर्योंका यहाँ आगमन या आक्रमण ठीक वैसा ही है, जैसा सूर्यसे प्रादुर्भूत ग्रह-पिण्डोंका सूर्यके चारों ओर चक्कर लगाना—कभी अज्ञात प्रेमके आकर्षणसे और कभी निराशाजन्य क्रोधके आवेशसे, अथवा समुद्रके पानीकी भापसे बनी हुई बूँदोंका किसी-न-किसी रूपमें समुद्रकी ओर जाना अथवा परमात्माके अंशभूत जीवात्माओंका अज्ञात या ज्ञातभावसे परमात्माकी ओर बढ़ना अथवा दूध पीनेवाले बच्चोंका स्तनपानके उद्देश्यसे माताके शरीरसे चिपटना या मातापर झपटना ।

(३) सभी जानते हैं कि सूर्योदय पूर्व-दिशामें होता है; अतएव सृष्टिका अथवा ज्ञानरूपी सूर्यका उदय भी पूर्व-दिशामें ही होना चाहिये । इस सिद्धान्तपर यह शङ्का उठायी जा सकती है कि फिर 'क्यों न जापान आदि पूर्वी द्वीप-समूहों अथवा चीनके विस्तृत प्रान्तोंको ही सृष्टिका मूल स्थान माना जाय ?' परन्तु इस दलीलका पहली युक्तिसे सहज ही खण्डन हो जाता है । जापान आदि पूर्वी द्वीप-समूहोंमें तो जीवन-यात्राकी बहुत ही कम सुविधाएँ विद्यमान हैं और खतरे बहुत हैं; भारतकी तुलनामें चीन आदि देशोंकी भी यही स्थिति है । चीनकी सभ्यता अत्यन्त प्राचीन अवश्य है; परन्तु उसका प्रभाव भारतपर कभी नहीं पड़ा, जब कि भारतीय सभ्यताका प्रभाव उसपर पर्याप्त मात्रामें पड़ा है जैसा कि आगे चलकर दिखाया जायगा ।

(४) यह देश प्रकृति-देवीकी प्रियतम रङ्गस्थली होनेसे परमात्माको भी अत्यन्त प्रिय मालूम होता है; क्योंकि अधिकांश अवतारी पुरुषोंका आविर्भाव तथा अधिकांश प्रमुख धर्मोंका श्रीगणेश यहींसे हुआ । इस विषयमें तो सभी यूरोपीय विद्वान् भी एकमत हैं कि दर्शनशास्त्रमें इस देशकी बराबरी कोई भी देश नहीं कर सकता । प्रोफेसर मैक्समूलर साहब लिखते हैं कि 'जो राष्ट्र उन्नतिके उच्चतम शिखरपर स्थित होता है, जिस राष्ट्रमें भीतरी और बाहरी शत्रुओंके आक्रमणकी कुछ भी आशङ्का नहीं होती, जिस राष्ट्रके लोग धन-सम्पत्तिकी वृद्धिके साथ-ही-साथ अनेकों विद्या-मन्दिर और विश्व-विद्यालय स्थापित करके विना किसी विघ्न-बाधाके विद्याकी आलोचनामें मन लगा सकते हैं, उसी सभ्य समुन्नत राष्ट्रमें दर्शन-शास्त्रका आविर्भाव होता है ।' यदि यही बात है तो मानना होगा कि पृथ्वीमें केवल भारत ही एक ऐसा देश है, जहाँ लौकिक और दिव्य—दोनों प्रकारकी जीवन-यात्राके हेतु सम्पूर्ण सामग्री विद्यमान है और उसे किसी बातके लिये भी किसीका मुँह ताकनेकी आवश्यकता नहीं । तो भला, सृष्टिका श्रीगणेश करनेके लिये इससे अधिक उपयुक्त स्थान और कौन हो सकता था ।

संसारकी जन-संख्याका सबसे बड़ा भाग बौद्धमतावलम्बी है; उनके बाद ईसाइयों और हिंदुओंका नंबर आता है । बौद्धधर्म निश्चितरूपसे हिंदू-धर्मकी एक शाखा है । इस प्रकार यदि हम बौद्धोंको हिंदू ही मान लें तो हिंदू ही संसारकी बहुसंख्यक जाति होगी और इस व्यापक धर्मका मूल स्थान भारतवर्ष ही सिद्ध होगा और यदि यह बात सिद्ध की जा सके कि ईसाई-धर्म बौद्ध-धर्मकी ही एक शाखा है, तब तो कहना ही क्या ? रूसके नोटकि

नामक यात्रीको तिब्बतके हीमिस नामक मठमें ईसाका एक प्राचीन हस्तलिखित जीवन-चरित्र मिला है। वह पाली भाषामें है और बड़ी-बड़ी दो जिल्दोंमें समाप्त हुआ है। इस जीवनीसे मालूम हुआ है कि महात्मा ईसा १३-१४ वर्षकी उम्रमें अपने माँ-बापसे रूठकर घरसे भाग निकले और भारतवर्षमें आये। यहाँ वे राजगृह, काशी, जगन्नाथपुरी आदि स्थानोंमें घूमते रहे और आर्योंसे वैदिक-धर्मका अध्ययन करते रहे। तदनन्तर पाली-भाषा सीखकर वे शुद्ध बौद्ध हो गये और अपने देशमें लौटकर उन्होंने एक नये ही धर्मका प्रचार आरम्भ किया। इन दोनों धर्मोंके सिद्धान्तोंकी अद्भुत समानताको देखते हुए यह बात असंगत भी नहीं मालूम होती। इस प्रकार एक अत्यन्त व्यापक विश्व-धर्मके मूल-स्रोत वैदिक धर्म एवं भारतवर्ष ही ठहरते हैं। ब्राउन साहब भी २० फरवरी १८८४के 'डेली ट्रिब्यून' नामक पत्रमें लिखते हैं कि·······'हिंदू ही सारे संसारके साहित्य, धर्म और सभ्यताके जन्मदाता हैं।' इस प्रकार 'सारे संसारका साहित्य, धर्म और सभ्यताका जन्मदाता' भारतवर्ष मानव-सृष्टिका जन्मदाता न होगा तो कौन होगा!

(५) देवनागरी वर्णमालामें दन्त्य 'स' के बाद 'ह' आता है; क्योंकि जब हम श्वास लेते हैं तो 'सोऽहं' मन्त्रका अजपा जाप होता है अर्थात् 'स' के बाद 'ह' का उच्चारण होता है। दूसरी ओर हम देखते हैं कि वैदिक संस्कृत अथवा आधुनिक संस्कृतमें 'स' से प्रारम्भ होनेवाले शब्द पश्चिमी भाषाओं——जैसे प्राचीन फ़ारसी वा जेंद-अवस्ताके शब्दोंमें 'ह' से प्रारम्भ होने लगे——जैसे 'सप्तसिन्धु' से 'हफ्तहेंदु' 'सप्ताह' से 'हप्ता', 'सरयू' से 'हरयू', 'सरस्वती' से 'हरह्वती' आदि। इससे यह सिद्धान्त निकलता है कि ये दोनों प्रकारके आर्य——वैदिक आर्य 'सुर' और ईरानी आर्य 'असुर' (अहुर) पहले उस प्रदेशमें रहते थे, जहाँ उपर्युक्त शब्दोंका प्रारम्भ 'स' से होता था और वह प्रदेश भारतवर्ष ही है। तत्पश्चात् पश्चिमकी ओर बढ़ जानेपर जलवायु-परिवर्तनके कारण उन्हीं शब्दोंका उच्चारण वे 'ह' से करने लगे।

(६) इस विषयमें संसारके सभी विद्वान् एकमत हैं कि ऋग्वेद संसारका सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। उसमें गङ्गासे लेकर सिन्धुतकका सप्तसिन्धु देश अर्थात् गङ्गा, यमुना, सरस्वती, सतलज (शुतुद्रु), रावी (परुष्णी), चिनाव (चन्द्रभागा) और सिन्धु——इन सात नदियोंके देश 'आर्यावर्त', 'देवनिर्मित देश', 'देवताओंका देश' और 'सृष्टिका लीलाक्षेत्र'——इन नामोंसे अभिहित किया गया है। यह भी ध्यान रहे कि उपर्युक्त नदियोंका उल्लेखक्रम पूर्वसे पश्चिमकी ओर है और उपर्युक्त सात नदियोंके बाद कुभा नदी या अफगानिस्तानकी काबुल नदीका उल्लेख है अर्थात् ऋग्वेदके अनुसार यात्राकी दिशा गङ्गासे कुभाकी ओर है, कुभासे गङ्गाकी ओर नहीं। ऋग्वेदमें यह बात भी आयी है कि सरस्वती नदीके देशसे चलकर पहले पूर्व (प्राक्), तब पश्चिम (अप्राक्) और फिर उत्तर (उदक्) दिशाको हमने विजय किया और उपनिवेश बसाये। मैक्समूलर साहब भी लिखते हैं कि 'आर्य-जातिका देशान्तर-गमन सदा पश्चिमोत्तरकी ओर हुआ है।' छहों ऋतुओंकी विलास-भूमि भारतवर्ष ही है और ऋग्वेदसे यह प्रमाणित होता है कि हम छः ऋतुओंवाले देशमें उत्पन्न हुए थे, जहाँ प्रत्येक ऋतु दो महीनेतक रहती है——'षड् वा ऋतवो मासद्वयरूपाः·····।' हमारे मनुस्मृति आदि ग्रन्थोंमें तो 'ब्रह्मावर्त', 'ब्रह्मर्षिदेश', 'आर्यावर्त' आदिकी स्पष्ट सीमा निर्धारित कर दी गयी है।

(७) इसके अतिरिक्त संस्कृत-साहित्यमें एक भी ऐसा शब्द नहीं आता, जो आर्योंको विदेशी प्रमाणित कर सके, जैसा कि लार्ड एलफिन्स्टनने लिखा है। मध्य एशियाई-सिद्धान्तके कट्टर समर्थक मिस्टर म्यूर भी स्वीकार करते हैं कि 'जहाँतक मैं जानता हूँ, भारतीयोंकी वैदेशिक उत्पत्तिके सम्बन्धमें किसी संस्कृत पुस्तकमें यहाँतक कि अत्यन्त प्राचीन पुस्तकमें भी कोई स्पष्ट उल्लेख या संकेत नहीं है। यह कैसे सम्भव था कि प्रकृतिके अनन्य उपासक कवि अपनी जन्मभूमि (यदि वह भारतके बाहर कहीं होती) के सम्बन्धमें एक शब्द भी न लिखते, जब कि भारतीय चराचर जगत्की एक-एक वस्तुका——जैसे सरस्वती, सोम, उषा, मेघ आदि-

का उन्होंने सजीव और हृदयग्राही चित्र उपस्थित कर दिया है। इससे यही तो सिद्ध हुआ कि भारत ही उनकी मातृभूमि थी, अन्य कोई नहीं।'

(८) इसके विपरीत संसारके अन्य देशोंके इतिहासको देखनेसे तथा भूगर्भ-सम्बन्धी अन्वेषणोंसे पता चलता है कि सुदूर प्राचीन कालमें आर्यलोग भारतवर्षसे उन देशोंमें गये और अपनी सभ्यता, संस्कृति, कला-कौशल और पौराणिक गाथाओंको भी साथ लेते गये। भारतीय आर्योंकी सबसे अधिक समानता तो उन पारसी आर्योंसे है, जो वैदिक आर्योंसे मतभेद होनेके कारण वहाँ जाकर बस गये थे। मैक्समूलर साहब लिखते हैं कि— 'जोरास्ट्रियनोंने उत्तर भारतसे निकलकर अपना एक अलग उपनिवेश स्थापित किया और भारतीय आर्योंका घृणासे 'देव' नाम रक्खा और वैदिक आर्योंने उनका नाम 'असुर' रक्खा।' ऋग्वेद वा ऐतरेय ब्राह्मणमें इनके बीचके झगड़े 'देवासुर-संग्राम' का विस्तृत वर्णन या भड़कीला चित्र मिलता है। इन दोनों जातियोंके व्याकरण तथा कोष, १०० तककी संख्याओं, ३३ देवताओं, यज्ञोपवीत (वहाँ कास्ती क्रिया), अन्त्येष्टि-क्रिया, सोम (होम) रस, सात द्वीप, वहाँके सात किश्वर (कटिबन्ध), सृष्टिके केन्द्र (यहाँ सुमेरु, वहाँ एल्बुर्ज) की कल्पना तथा पौराणिक गाथाओंकी अद्भुत समानताको देखनेसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये दोनों जातियाँ वैदिक सभ्यताके देशमें ही उत्पन्न हुई थीं।' इसमें सन्देह नहीं कि सुदूर प्राचीन कालमें पाश्चात्त्य जातियों वा सभ्यताओंका प्रादुर्भाव और विकास इन्हीं पारसी आर्योंसे हुआ, जो उत्तर भारतसे ईरानकी ओर बढ़े थे। अतएव यूरोपीय विद्वानोंकी मध्य एशियाई कल्पना अस्वाभाविक नहीं कही जा सकती और उस कल्पनामें बहुत कुछ सत्यता भी है--असत्य अंश केवल इतना ही है, जो उन्होंने भारतीय वैदिक आर्योंका मूल स्थान भी मध्य एशिया ही ठहरा दिया, जिसका कारण अधूरी खोज-के आधारपर किया हुआ निर्णय ही है।

(९) जिस प्रकार ऊपर पारसी अवैदिक आर्योंके यूरोपीय उपनिवेश बसानेका उल्लेख किया गया है, उसी प्रकार भारतीय वैदिक आर्योंने भी आगे चलकर चीन, पूर्वी द्वीपसमूहों, अफ्रीका वा अमेरिकामें जाकर अपने उपनिवेश बसाये थे, पारसियोंको 'अवैदिक' आर्य कहनेका यह तात्पर्य नहीं कि वे सब बातोंमें 'वैदिक' आर्योंके विरोधी थे। कुछ मौलिक सिद्धान्तोंमें मतभेद होनेपर भी उनकी अन्य अद्भुत समानताओंका ऊपर उल्लेख हो ही चुका है। चीन तथा अमेरिकामें भारतीय उपनिवेशों एवं संस्कृतिकी स्थापनाके विषयमें विद्वानोंने बहुत खोज की है। विस्तारभयसे केवल चीन और उसकी सभ्यताका विशेष अध्ययन करनेवाले एक फ्रांसीसी विद्वान् प्रोफ़ेसर सर टेरियन डीलाकोपरी पी-एच्-डी., डी.लिट्. का चीनी उपनिवेश-सम्बन्धी मत दिया जायगा। वे महाशय लिखते हैं— 'ईसाके पूर्व सातवीं सदीमें भारतके योद्धाओं, निर्भय क्षत्रियों, उद्योगी वैश्यों एवं दूसरे हिंदू व्यापारियों और सौदागरोंने चीनके प्रदेशोंको आबाद किया था और उसके समुद्री तटपर शक्तिशालिनी नौ बस्तियाँ बसायी थीं; साथ ही उन्होंने वहाँ अपना सिक्का भी चलाया। ईसासे लगभग ६७५-६७० वर्ष पूर्व उन लोगोंने वहाँ एक ऐसी टकसाल खोल दी थी, जिसके धातुके सिक्कोंपर अङ्क खुदे रहते थे।' महात्मा बुद्धके पूर्व तथा पीछे चीनपर जो भारतीय प्रभाव पड़ा उससे तो इतिहासके विद्यार्थी परिचित ही हैं।

(१०) हमारे संस्कृत-साहित्यके अलावा टॉड साहबकृत राजस्थानके इतिहासमें भी एक स्थानपर लिखा है कि आर्यावर्तके अतिरिक्त और किसी देशमें सृष्टिके आरम्भका हिसाब नहीं पाया जाता।

(११) इञ्जील और कुरानसे भी आदम और हौआका अदनकी वाटिका (स्वर्गीय नन्दनवन) से निकलकर भारतवर्षमें आना प्रकट है अर्थात् मानव-जातिके मूल दम्पतीका आविर्भाव भारतमें ही हुआ।

(१२) सर वाल्टर रैलेने अपने 'जगत्के इतिहास'में लिखा है कि जलप्रलयके अनन्तर भारतवर्षमें ही वृक्ष-लता

आदिकी उत्पत्ति और मनुष्योंकी आबादी हुई थी ।'

(१३) विज्ञान और भूगर्भ-सम्बन्धी अन्वेषण भी भारतके ही पक्षमें अपनी सम्मति देते हैं । डाक्टर नेटलिंगकी भूगर्भ-सम्बन्धी अर्वाचीन खोजसे यही बात सिद्ध होती है । उन्हें पश्चिमोत्तर भारत तथा पंजाबके नमकके पहाड़में पृथ्वीके कुछ ऐसे परत मिले, जिनमें प्राचीनतम जीवनके नमूने विद्यमान थे । भारतके भूगर्भ-सम्बन्धी खोजके सुपरिण्टेंडेण्ट मिस्टर मिडलीकट-का वक्तव्य भी इस मतका समर्थन करता है ।

इस प्रकार पाठकोंको विदित हो गया होगा कि आर्योंके मूल स्थान-सम्बन्धी मेरी धारणाके समर्थनमें अनेक विद्वानोंके समुदायका जबर्दस्त हाथ है, जिनमें प्रोफेसर मैक्समूलर, डॉक्टर एनी बेसेंट, लुई जैकालियट, कर्जन, डब्ल्यू सी टेलर, क्रूजर आदि प्रमुख हैं । उनमेंसे कुछके मतका यत्र-तत्र उल्लेख हो चुका है । अब दो-एक विद्वान् और एक विदुषीके मतका उल्लेख करके मैं अपने वक्तव्यको समाप्त करूँगा ।

फ्रांसीसी विद्वान् क्रूजर साहब लिखते हैं—'यदि पृथ्वीपर कोई देश है, जो मानव-जातिका मूल स्थान या कम-से-कम आदि लीलाक्षेत्र होनेके गौरवका दावा न्यायत: कर सकता है····वह देश निस्सन्देह भारत ही है ।'

एक दूसरे फ्रांसीसी विद्वान् एम्. लुई जैकालियटकी राय है—'भारत संसारका मूल स्थान है; इस सार्वजनिक माताने अपनी सन्तानको नितान्त पश्चिमकी ओर भेजकर भी हमारे उत्पत्तिसम्बन्धी अमिट प्रमाणके रूपमें हमलोगोंको अपनी भाषा, अपने कानून, अपना चरित्र, अपना साहित्य और अपना धर्म प्रदान किया है।····प्राचीन कालके सारे मुहाविरे सुदूर प्राच्य देशसे ही निकले हैं ।····हमारी आधुनिक भाषाओंके मूल और उनकी धातुओंका पता वहाँ मिला है ।····मनुका प्रभाव मिस्री, हिब्रू, ग्रीक और रोमन कानूनमें विद्यमान है और उसकी भावना यूरोप-की हमारी सारी कानूनी व्यवस्थामें व्याप्त है ।'

थॉर्टन साहब फर्माते हैं—'आधुनिक सभ्यताके मूल स्थान यूनान और इटलीमें अर्द्धसभ्य लोगोंका ही निवास था, जब भारत समृद्धिमान् और गौरवपूर्ण बन चुका था ।'

मिसेज़ एनी बेसेंट लिखती हैं—'यूनान या रोमकी अपेक्षा भारत प्राचीनतर है ।'

यह भारत उस समय भी प्राचीन था जब मिस्रने जन्म ग्रहण किया था ।····यह भारत, जिसका इतिहास फारसके कार्यक्षेत्रमें अवतीर्ण होनेके बहुत पहले हजारों सदियोंतक पहुँच चुका था····।'

यहाँतक संक्षिप्त रूपसे यह विवेचन किया गया कि आर्यों—वैदिक अथवा अवैदिक (पारसी और अन्य पाश्चात्त्य आर्यभाषा-भाषी आर्य) का मूल स्थान भारतका प्रदेश है, जो ऋग्वेदमें सप्तसिन्धु और पारसियोंके धर्मग्रन्थ जेंद-अवस्तामें 'हफ्तहेंदु'के नामसे विख्यात है तथा जो गङ्गानदीसे लेकर पश्चिममें सिन्धु नदीतक फैला हुआ है; वे कहीं बाहरसे यहाँ नहीं आये, बल्कि यहींसे समय-समयपर—वैदिक-काल, उपनिषद्-काल, दर्शन-काल, रामायण-काल, महाभारत-काल, पौराणिक-काल और बौद्ध-कालमें—सप्तसिन्धुके पूर्वोत्तर, पश्चिमोत्तर और दक्षिणमें तथा संसारके अन्य भागोंमें फैले; और वहाँ जाकर उन्होंने विशाल वैदिक धर्म-वृक्षकी भिन्न-भिन्न शाखारूप सिद्धान्तोंके आधारपर भिन्न-भिन्न सभ्यताओंका विकास किया; सहस्रों वर्षोंतक अपनी मातृभूमि भारतके साथ उनका सम्पर्क और आदान-प्रदान रहा—कभी व्यापार और ज्ञानार्जनकी दृष्टिसे और कभी अपने भाइयोंके वैभवको देखकर ईर्ष्या या लोभवश आक्रमणकारीकी हैसियतसे । बस, यही है सारांश इस छोटे-से वक्तव्यका; और इसका उद्देश्य है साधारण अथवा विद्वान् पाठकोंके मस्तिष्कमें सन्तोष, सान्त्वना अथवा उथल-पुथल पैदा कर देना, ताकि विद्वत्समाज सरगर्मीके साथ एतद्विषयक अन्वेषणमें प्रवृत्त हो जाय ।

कल्याणके प्राप्य अङ्क

१	११ वें वर्षका वेदान्ताङ्क सपरिशिष्टाङ्क--	३)
२	,, ,, पूरी फाइलसहित	४≡)
३	१५ वें वर्षका साधनाङ्क	३॥)
४	१६ वें वर्षके अङ्क १०, ११, १२ प्रत्येकका	।)
५	१८ वें वर्षका संक्षिप्त वाल्मीकीय रामायणाङ्क	५≡)
	पूरे सालका चन्दा	५≡)

डाकखर्च मुफ्त

व्यवस्थापक — कल्याण, गोरखपुर

KALYANA-KALPATARU

1.	Vol. I., No. 1 God-Number	2-8-0
2.	Vol. I., Nos. 1 to 12	4-8-0
3.	Vol. II., Nos. 2 to 12	2-0-0
4.	Vol. III., Nos. 2 to 12	2-0-0
5.	Vol. IV., Nos. 2 to 12	2-0-0
6.	Vol. V., Nos. 2 & 4 to 12	2-0-0
7.	Vol. VI., No. 1 Dharma Tattwa Number	2-8-0
8.	Vol. X., No. 1 Sri Krishna Lila No.—II.	2-8-0
	Annual Subscription	4-8-0

Postage free

MANAGER—KALYANA-KALPATARU
GORAKHPUR

Regd. No. A. 175.

श्रीहरिः

श्रीवृन्दावन-महिमा

वृन्दाटवी सहजवीतसमस्तदोषा दोषाकरानपि गुणाकरतां नयन्ती ।
पोषाय मे सकलधर्मबहिष्कृतस्य शोषाय दुस्तरमहाघचयस्य भूयात् ॥
वृन्दाटवी बहुभवीयसुपुण्यपुञ्जान्नेत्रातिथीभवति यस्य महामहिम्नः ।
तस्येश्वरः सकलकर्म मृषा करोति ब्रह्मादयस्तमतिभक्तियुता नमन्ति ॥
वृन्दावने सकलपावनपावनेऽस्मिन् सर्वोत्तमोत्तमचरस्थिरसत्त्वजातौ ।
श्रीराधिकारमणभक्तिरसैककोशे तोषेन नित्यपरमेन कदा वसामि ॥
वृन्दावने स्थिरचराखिलसत्त्ववृन्दानन्दाम्बुधिस्नपनदिव्यमहाप्रभावे ।
भावेन केनचिदिहामृति ये वसन्ति ते सन्ति सर्वपरवैष्णवलोकमूर्ध्नि ॥

श्रीवृन्दावन-धाम स्वाभाविक ही समस्त दोषोंसे मुक्त है; यही नहीं, वह दोष-कोषोंको भी गुणागार बना देनेकी सामर्थ्य रखता है । यद्यपि सब प्रकारके धर्मोंने मेरा बहिष्कार कर दिया है——मुझसे नाता तोड़ लिया है, फिर भी मैं आशा करता हूँ कि मेरा वह सब प्रकारसे पोषण करेगा और मेरे दुस्तर महापातक-समुद्रको शीघ्र ही सुखा डालेगा । अनेक जन्मोंकी महान् पुण्य-राशि जब फलीभूत होती है, तभी श्रीवृन्दावन-धामके दर्शन होते हैं। किन्तु जिस महाभाग्यवान् पुरुषको श्रीवृन्दावन-धामके दर्शन हो जाते हैं, कर्म-फल-दाता ईश्वर उसके सारे सञ्चित कर्मोंको विफल कर देते हैं और ब्रह्मादिक भी अत्यन्त भक्तियुक्त होकर उसे नमन करते हैं । संसारमें जितनी भी पवित्र करनेवाली वस्तुएँ हैं, श्रीवृन्दावन-धाम उन सबको भी पवित्र करनेवाला है । चराचर जितने भी जीव श्रीवृन्दावनधाममें रहते हैं, वे संसारके समस्त जीवोंमें श्रेष्ठतम हैं । श्रीराधिका-रमण श्रीव्रजेन्द्रनन्दनके भक्ति-रसका तो यह भंडार ही है। अहा ! वह समय कब होगा, जब परम सन्तोषपूर्वक मैं नित्य इस वृन्दावन-भूमिमें निवास करूँगा ? इस वृन्दावनधामका ऐसा अलौकिक प्रभाव है कि इसमें निवास करनेवाले चराचर समस्त जीव-समूह आनन्द-समुद्रमें गोता लगाने लगते हैं । जो कोई भी किसी भी भावसे मृत्युपर्यन्त यहाँ रह जाते हैं, वे सर्वश्रेष्ठ वैष्णवधामके मुकुट-मणि बन जाते हैं ।

(श्रीवृन्दावनमहिमामृत)

LIBRARY,
GURUKULA KANGRI.

कल्याण

चैत्र २००१

LIBRARY,
GURUKULA KANGRI.

LIBRARY,
GURUKULA KANGRI.

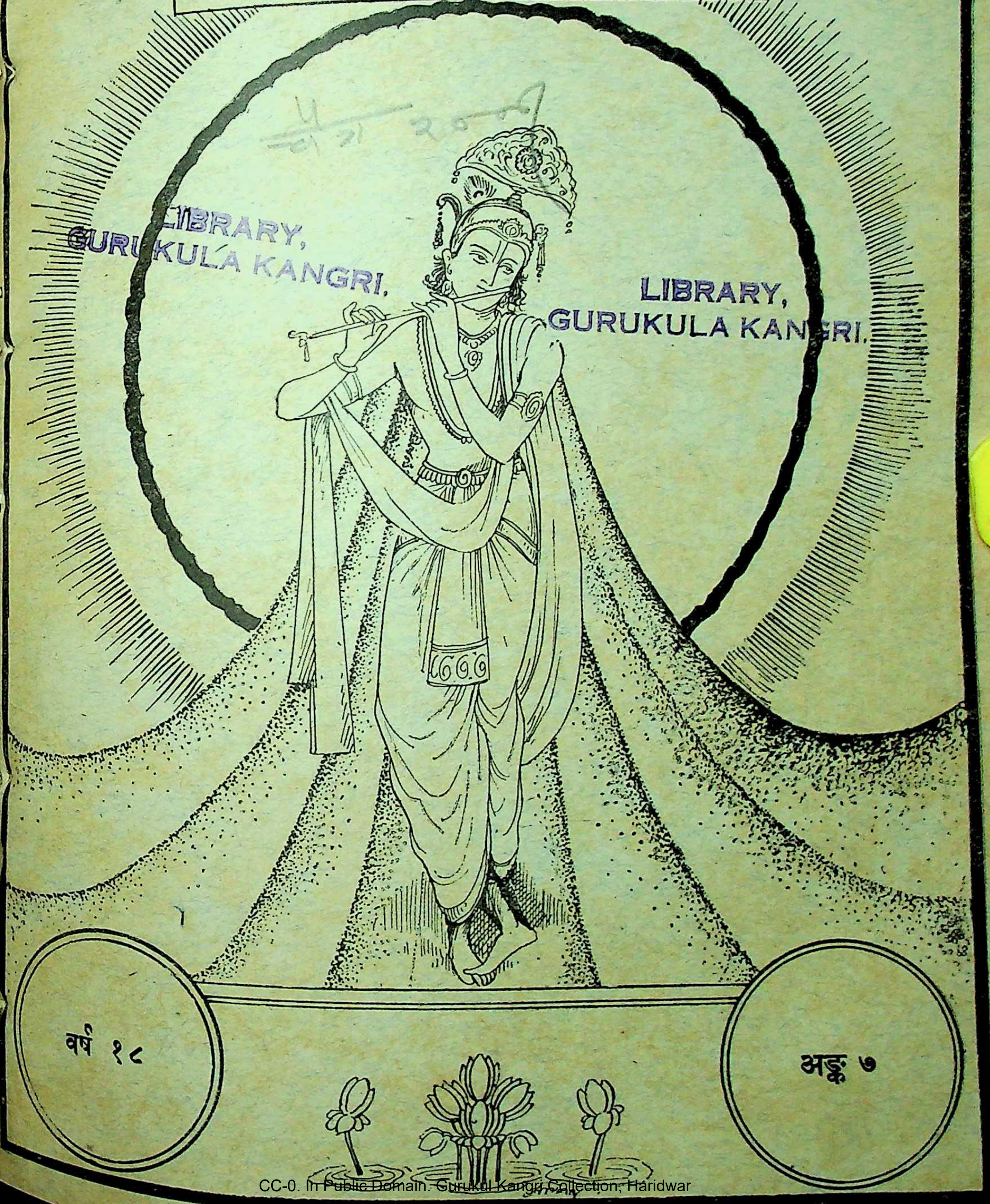

वर्ष १८

अङ्क ७

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
रघुपति राघव राजा राम। पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ आगारा ॥

[संस्करण ५५६००]

विषय-सूची

कल्याण अप्रैल सन् १९४४ की

विषय … पृष्ठ-संख्या

१–मित्रवत्सलता [कविता] (श्रीसूरदासजी) … … ८५७
२–प्रभु-स्तवन [कविता] (अनुवादक–श्रीमुंशीरामजी शर्मा, एम्० ए०, 'सोम') … ८५८
३–विचार-धारा (स्वामीजी श्रीशङ्करतीर्थ यतिजी महाराज) … … ८५९
४–विरह-सागरका चतुर नाविक (पं० श्रीगोविन्दप्रसादजी मिश्र) … … ८६५
५–गजेन्द्र-मोक्ष [कविता] (श्रीजगदीशशरणसिंहजी बी० ए०) … … ८६९
६–'क्या बताऊँ !' (पं०श्रीचन्द्रशेखरजी पाण्डेय एम्० ए०) … … ८७१
७–सङ्कीर्त्तन (श्रीसाकेतधामनिवासी श्रीबिन्दु ब्रह्मचारीजी महाराज) … … ८७२
८–गीताका तीसरा अध्याय—कर्मयोग (पं० श्रीमुरलीधरजी शर्मा, बी० ए०, बी० एल्०) ८७६
९–आध्यात्मिक उन्नति (श्रीरामानन्दजी ब्रह्मचारी) … … ८८२
१०–मङ्गल-झाँकी [कविता] (श्रीपरमेश्वरीलाल सन्थालिया) … … ८८५
११–मूर्ति या छविमें भगवान् (रायसाहेब श्रीकृष्णलालजी बाफणा, बी० ए०) … ८८६
१२–बलिदान [कविता] (पं० नन्दकिशोर झा, काव्यतीर्थ) … … ८८८
१३–चद्दरसे ज्ञान-वैराग्य आदिकी शिक्षा (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) … … ८९०
१४–संकीर्त्तनमें अन्तःक्रिया (रायबहादुर पंड्या श्रीवैजनाथजी बी० ए०) … … ८९७
१५–भगवत्कृपा (श्रीसुधांशुभूषणदेव शर्मा, एम्० ए०) … … ९०१
१६–आँख-मिचौनी [कविता] ('अनन्य' विशारद) … … ९०४
१७–सत्य सूत्र (श्रीरामावतारजी विद्याभास्कर) … … ९०५
१८–दुःख-सुखके हेतु [कविता] (श्रीसुगनचन्दजी 'फर्स्ट क्लास मैजिस्ट्रेट') … ९१०
१९–अपनेसे नीचेवालोंकी ओर देखो (प्रोफेसर श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०) … ९११
२०–व्रत-परिचय (पं० श्रीहनूमान्जी शर्मा) … … ९१३

वार्षिक मूल्य
भारतमें ५≡)
विदेशमें ७||=)
(शिलिङ्ग ११½)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें ।)
विदेशमें ।≡)
(८ पेंस)

Edited by H. P. Poddar and C. L. Goswami, M. A., Sastri
Printed and Published by Ghanshyamdas Jalan at the Gita Press, Gorakhpur, U. P. (India)

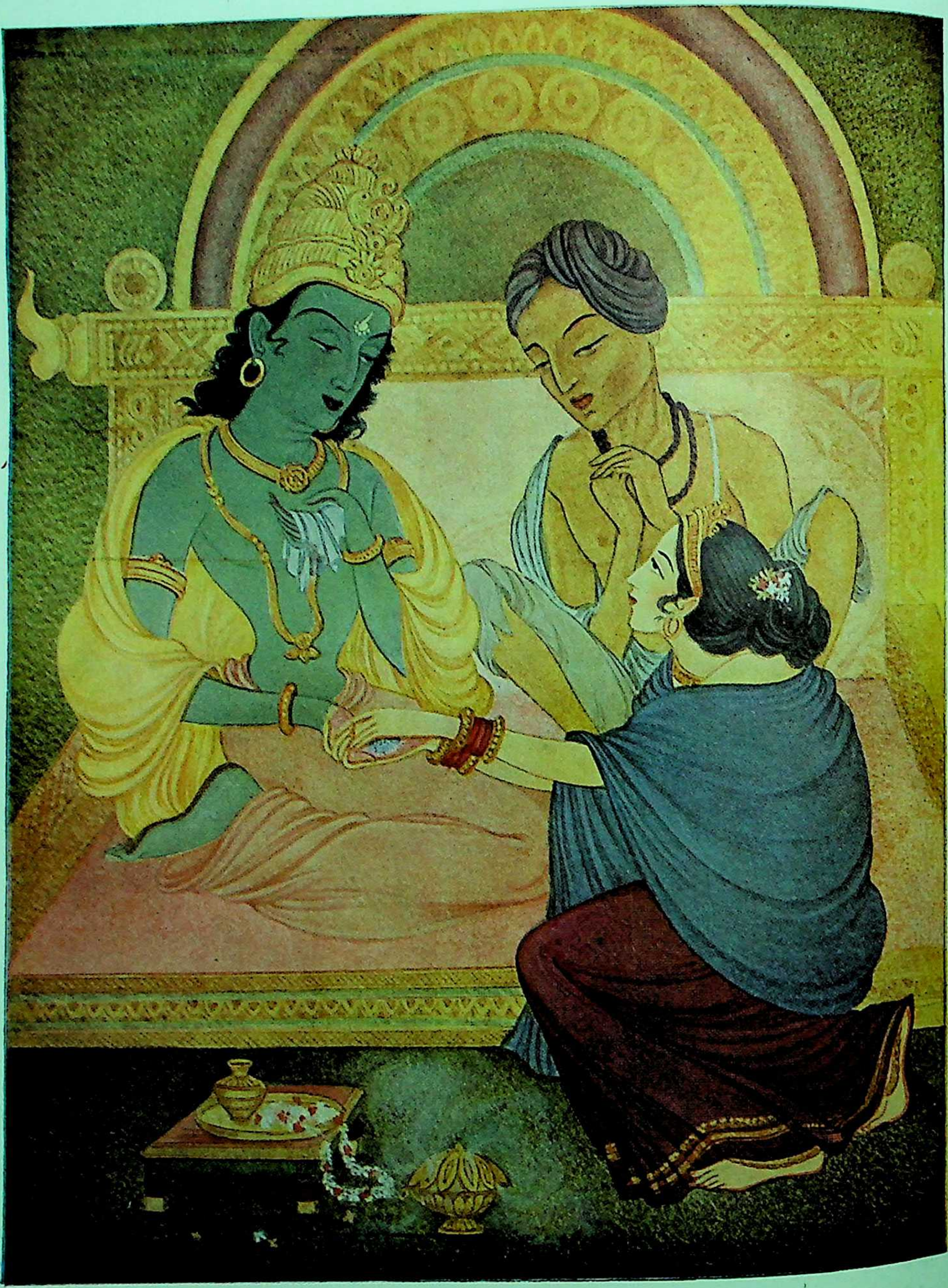

सुदामाके तन्दुल

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

रामाय रामभद्राय रामचन्द्राय वेधसे ।
रघुनाथाय नाथाय सीतायाः पतये नमः ॥

वर्ष १८ } गोरखपुर, अप्रैल १९४४, सौर चैत्र २००१ { संख्या ७
पूर्ण संख्या २११

मित्रवत्सलता

जदुपति देखि सुदामा आए ।
बिह्वल बिकल छीन दारिद बस,
करि प्रलाप रुक्मिनि समुझाए ॥ १ ॥
दृष्टि परे तें दिए संभाषन,
भुजा पसारि अंक लै आए ।
तंदुल देखि बहुत दुख उपज्यो,
माँगु सुदामा जो मन भाए ॥ २ ॥
भोजन करत गह्यो कर रुक्मिनि,
सोइ देहु जो मन न डुलावै ।
सूरदास प्रभु नव निधि दाता,
जापर कृपा सोइ जन पावै ॥ ३ ॥

—सूरदास

प्रभु-स्तवन

(अनुवादक—श्रीमुंशीरामजी शर्मा, एम्० ए०, 'सोम')

को नानाम वचसा सोम्याय, मनायुर्वा भवति वस्त उस्राः ।
क इन्द्रस्य युज्यं कः सखित्वं को भ्रात्रं वष्टि कवये क ऊती ॥
(ऋक् ४ । २५ । २)

कौन यहाँ, जो प्रभुके आगे वाणी द्वारा झुक जाये ?
कौन यहाँ, जो चिन्तन द्वारा प्रभुका रूप समझ पाये ?
कौन यहाँ, जो अनासक्त हो प्रभुकी गायोंको पाले ?
ज्ञान-किरण धारण कर मनमें बने इन्द्र इन्द्रियवाले ?
कौन यहाँ जो प्रभुका साथी, सखा, बन्धु बनना चाहे ?
कौन यहाँ जो उस कविके हित प्रीति-भक्ति रखना चाहे ?
अरे ! यहाँ विरले हैं ऐसे जो प्रभु-पथके पथिक बने ।
पार्थिवतासे पृथक ज्ञात-गुण-रसमें रहते सदा सने ॥

सुपर्णोऽसि गरुत्मान् पृष्ठे पृथिव्याः सीद भासान्तरिक्षमापृण ।
ज्योतिषा दिवमुत्तभान तेजसा दिश उद् दंह ॥ (यजु० १७ । ७२)

तू सुपर्ण, तू उड़नेवाला, तू शुभलक्षण-धनी रहा ।
तू महान्, तू गौरवशाली, तेरे यशका स्रोत बहा ॥
अरे ! बैठ तू भूमि-पृष्ठपर तू भूतलका स्वामी है ।
अन्तरिक्षको भर प्रकाशसे रवि भी तव अनुगामी है ॥
अरे ! और उठ, आत्मज्योतिसे ले द्युलोकको उठा अभी ।
आत्मतेजसे उन्नत कर दे, चमका दे ये दिशा सभी ॥

सत्यमिद् वा उ तं वयमिन्द्रं स्तवाम नानृतम् ।
महाँ असुन्वतो वधो भूरि ज्योतींषि सुन्वतो भद्रा इन्द्रस्य रातयः ॥
(ऋक् ८ । ६२ । १२)

भद्र हैं सदा इन्द्रके दान ।
मिथ्या नहीं, सत्य प्रभुके ही हमने गाये गान ॥
भूरि प्रकाश मिले याज्ञिकको, ज्ञान-विवेक-प्रसार ।
अपजन शील महा वध पावे, मिले न प्रभुका प्यार ॥
यज्ञ-विधान गान प्रभुके हैं, आत्मत्याग प्रभु-राग ।
त्याग-यागसे प्रभु मिलते हैं, मिट जाते दुख-दाग ॥
जब मैं और मिलें प्रभु मेरे, पूर्ण प्राप्ति हो साथ ।
तब तो करें प्रशंसा अरि भी, धन्य-धन्य हे नाथ ॥

विचार-धारा

(लेखक—स्वामीजी श्रीशङ्करतीर्थ यतिजी महाराज)

भगवती श्रुति कहती है—

'विचारान्मोक्षो भवति । तस्मात्सदा विचारयेत् ।'

(पैङ्गलोपनिषद्)

विचारके द्वारा मोक्ष होता है, अतएव सदा विचारमें लगे रहना चाहिये ।

'नानुसन्धेः परा पूजा ।' (योगशिखोपनिषद्)

अनुसन्धानसे बढ़कर कोई पूजा नहीं है ।

भगवान् श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं—

'नोत्पद्यते विना ज्ञानं विचारेणान्यसाधनैः ।'

(अपरोक्षानुभूति)

विचारके अतिरिक्त अन्य (कर्मादि) किसी साधनके द्वारा ज्ञानोदय नहीं हो सकता ।

अज्ञानयोगात् परमात्मनस्तव ह्यनात्मबन्धस्तत एव संसृतिः ।
तयोर्विवेकोदितबोधवह्निरज्ञानकार्यं प्रदहेत् समूलम् ॥

(विवेकचूडामणि ४९)

तुम परमात्मस्वरूप हो, परन्तु अज्ञानवश अनात्मवस्तुमें आत्मबुद्धि करनेके कारण तुम्हारा बन्धन हो रहा है, और इसी कारण तुम्हारा संसार-बन्धन है । आत्मा और अनात्माके विचारद्वारा उत्पन्न ज्ञानाग्नि उपर्युक्त अज्ञानके कार्यको अज्ञानके सहित भस्मीभूत कर डालती है ।

'प्रत्यग् ब्रह्मविचारपूर्वमुभयोरेकत्वबोधं विना ।
न कैवल्यं पुरुषस्य सिध्यति परब्रह्मात्मतालक्षणम् ।'

(सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह १७०)

परब्रह्मकी आत्मस्वरूपमें प्राप्तिरूप जो मोक्ष है, वह वेदान्तशास्त्रके द्वारा ब्रह्मके स्वरूपका विचार करते हुए जीव और ब्रह्मके अभेद ज्ञानके अतिरिक्त अन्य किसी उपायद्वारा नहीं प्राप्त हो सकता ।

त्रिपुरारहस्य, ज्ञानखण्ड, द्वितीयाध्यायमें भगवान् दत्तात्रेयने तपस्वी परशुरामको उपदेश देते समय विचारकी महिमा और अविचारकी निन्दा की है । भगवान् वसिष्ठदेवने श्रीरामचन्द्रजीको विचारकी महिमा सुनायी है । (योगवासिष्ठ, मुमुक्षुप्रकरणके चौदहवें सर्गमें देखिये ।)

यह हुई विचारकी महिमा और श्रेष्ठताकी प्रमाणयुक्त बात । भव-व्याधिकी महौषधि 'विचार' ज्ञानका ही दूसरा नाम है और ज्ञान केवल विद्याका ही दूसरा नाम है ।

अविरोधी पदार्थ कभी स्वजातीयके घातक या बाधक नहीं हो सकते । क्या अन्धकार कभी अन्धकारका नाश कर सकता है ? समान धर्मवाले पदार्थ परस्पर नाश करनेमें समर्थ नहीं होते । अतएव किसी पदार्थका नाश करनेके लिये उसके विरोधी पदार्थकी आवश्यकता पड़ती है । अतः सब प्रकारके अनर्थोंकी मूल कारण अविद्याको दूर करनेके लिये अविद्या-विरोधी विद्या (विचार) की सहायताके बिना दूसरा कोई उपाय नहीं है । जिस प्रकार अविद्या अनादि कालसे निरन्तर अविद्याकी सृष्टि करती आ रही है, विद्या भी उसी प्रकार अपने स्वभाववश अविद्या और उससे उत्पन्न संस्कारोंका नाश करती जाती है । प्रकाशके बिना अन्धकार कभी भी दूर नहीं हो सकता, तथा प्रकाशके सामने अन्धकार कभी नहीं ठहर सकता । विद्याके उदयसे नष्ट हुई अविद्याकी पुनरुत्पत्ति नहीं होती । अतएव अनर्थ स्वभाववाली अविद्याके अत्याचारोंसे छुटकारा पानेके लिये विद्या (ज्ञान) अर्थात् विचारका आश्रय अवश्य ही लेना पड़ेगा ।

अविद्या (आत्मा और अनात्माका परस्पर अध्यास) और तज्जनित संस्कारोंका नाश करनेवाला विचार क्या वस्तु है ? —'अहं ब्रह्मास्मि' इस अखण्डाकार वृत्तिमें स्थित हो जाना । यहाँ शङ्का हो सकती है कि अखण्डाकार वृत्ति भी तो एक प्रकारकी वृत्ति ही है, अतएव वह भी अविद्याका ही एक भाग है या उसके अन्तर्गत है । अतएव अविद्याके द्वारा अविद्याका नाश कैसे होगा ? इसका उत्तर यह है कि अखण्डाकार वृत्ति अविद्याके अन्तर्गत होते हुए भी विद्याकी अत्यधिक समीपताके कारण विद्याके गुणोंसे युक्त होती है, और विद्यारूपमें परिगणित और व्यवहृत होती है ।

भगवान् श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं कि—

'निर्विकारात्मबुद्धिश्च विद्येतीह प्रकीर्तिता ।'

(उपदेशसाहस्री १ । १२)

'मैं कूटस्थ निर्विकार आत्मा हूँ' इस प्रकारकी बुद्धि वेदान्त शास्त्रमें 'विद्या' नामसे प्रकीर्तित होती है ।

पञ्चदशीकार कहते हैं—

स्वयं भ्रमोऽपि संवादी यथा सम्यक् फलप्रदः ।
ब्रह्मतत्त्वोपासनादि तथा मुक्तिफलप्रदा ॥ (९ । ११)

जिस प्रकार फल-प्राप्तिके समय संवादिभ्रम स्वयं भ्रम होते हुए भी सम्यक् फल प्रदान करनेमें समर्थ होता है, उसी प्रकार ब्रह्मतत्त्वकी उपासना भी मुक्ति-फलकी प्राप्तिका कारण बनती है।

यथा संवादिविभ्रान्तिः फलकाले प्रमायते।
विद्यायते तथोपास्तिर्मुक्तिकालेऽतिपाकतः॥ (९।१२३)

जिस प्रकार फल-प्राप्तिके समय संवादिभ्रम भ्रम होते हुए भी प्रमाणरूपमें गृहीत होता है, उसी प्रकार परिपक्व निर्गुण उपासना भी मुक्तिकालमें तत्त्वज्ञानके समान हो जाती है।

अतएव, विचार (विद्या) के अविद्यान्तर्गत होते हुए भी अविद्या-विरोधी होनेके कारण वह अविद्या-निवृत्ति करनेमें समर्थ है, तथा मोक्षके अमोघ साधनके रूपमें परिणत होता है।

पञ्चदशीकार कहते हैं—

अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद परोक्षज्ञानमेव तत्।
अहं ब्रह्मेति चेद्वेद साक्षात्कारः स उच्यते॥

ज्ञान दो प्रकारका होता है—परोक्ष और साक्षात्कार (प्रत्यक्ष)। 'सच्चिदानन्द ब्रह्म सर्वत्र सर्वदा विद्यमान हैं' इस प्रकार अपने आत्मासे ब्रह्मको पृथक् रूपमें जाननेका नाम 'परोक्ष ज्ञान' है। और 'निर्विकल्प सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म ही मैं हूँ' इस प्रकार ब्रह्मको अभेद रूपमें अनुभव करनेका नाम 'साक्षात्कार' है। इस साक्षात्कारको ही 'अपरोक्ष ज्ञान' कहते हैं।

माँने कहा—'गुड़ मीठा होता है'। माँकी बातपर विश्वास करके गुड़को मीठा जानना गुड़का 'परोक्ष ज्ञान' कहलाता है। और जब गुड़ खाकर स्वयं उसका स्वाद अनुभव किया जाता है तब गुड़का 'अपरोक्ष ज्ञान' होता है।

इसी प्रकार गुरु-शास्त्रके द्वारा परमात्मा (ब्रह्म) के सत्-चित्-आनन्द स्वरूपको जाननेका नाम 'परोक्ष ब्रह्मज्ञान' है। और गुरु-शास्त्रके अनुग्रहसे विचारद्वारा सच्चिदानन्द ब्रह्मको अपना स्वरूप अनुभव करनेका नाम 'अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान' है।

कुलार्णवतन्त्रके पञ्चम खण्डमें लिखा है—

आगमोत्थं विवेकोत्थं द्विधा ज्ञानं प्रचक्षते।
शब्दब्रह्मागममयं परब्रह्म विवेकजम्॥
न वेदाध्ययनान्मुक्तिर्न शास्त्रपठनादपि।
ज्ञानादेव हि मुक्तिः स्यान्नान्यथा वीरवन्दिते॥

ज्ञान दो प्रकारका है—शास्त्रज (परोक्ष) और विवेकज (अपरोक्ष)। शास्त्रज ज्ञानके द्वारा शब्दब्रह्म जाना जाता है और विचारके द्वारा परब्रह्मका अपरोक्ष ज्ञान होता है। वेद-पाठ करनेसे ही मुक्ति नहीं मिलती या शास्त्रोंके पढ़नेसे ही मुक्ति नहीं होती। अपरोक्ष ज्ञानकी प्राप्तिसे ही मुक्ति होती है, ज्ञानके बिना अन्य किसी भी साधनासे मुक्ति नहीं प्राप्त होती।

इसी कारण वेद भगवान् कहते हैं—

'तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योः।' (ऋग्वेद १।१६७।२२)

उस परमात्माको (अपरोक्ष ज्ञानसे) जानकर मनुष्य मृत्यु-भयसे रहित हो जाता है।

'तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (यजु० ३१।१८)

उस परमात्माको अपरोक्ष भावसे जानकर मृत्युके हाथसे छुटकारा मिलता है, मुक्तिकी प्राप्ति होती है। मोक्षकी प्राप्तिके लिये इससे बढ़कर कोई दूसरा पथ नहीं है।

'तरति शोकमात्मवित्' (छान्दोग्य० ७।१।३)

'तरति शोकं तरति पाप्मानम्।' (मुण्डकोप० ३।२।९)

आत्मज्ञानी पुरुष जन्म-मृत्युरूप शोक-सागरसे पार हो जाते हैं।

'ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः।' (श्वेता० १।११)

ब्रह्मको अपनी आत्माके साथ अभिन्नरूपमें जाननेपर सारे बन्धन नष्ट हो जाते हैं—जीव मुक्ति प्राप्त करता है।

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादिप्रपञ्चो यः प्रकाशते।
तद् ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वबन्धैः प्रमुच्यते॥
(कैवल्योपनिषद्)

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति रूपमें जो जगत् प्रकाशित होता है, वह ब्रह्म है तथा वह ब्रह्म ही मैं हूँ—यह ज्ञान प्राप्त होनेपर सब बन्धनोंसे छुटकारा मिल जाता है।

जिस ब्रह्म आत्मामें यह जगत् रज्जुमें सर्पके समान प्रतीत होता है, वह आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप है। रज्जु-विषयक अज्ञान अन्धकारमें रज्जुको सर्परूपमें प्रतीत कराता है अथवा रज्जुमें सर्पकी प्रतीति कराता है। वस्तुतः रज्जु सर्परूप नहीं है अथवा रज्जुमें सर्प नहीं है। रज्जुमें सर्प पहले कभी था नहीं, भविष्यमें भी न रहेगा, वर्तमानमें भी नहीं है। रज्जुविषयक अज्ञान और मन्द अन्धकार आदि सहकारी कारणोंकी सहायतासे भ्रान्तिवश रज्जुमें सर्पकी प्रतीति होती है। जिस प्रकार रज्जुमें कल्पित सर्पकी सत्ता रज्जुसे भिन्न

नहीं है, जिस प्रकार शुक्तिमें (सीपीमें) कल्पित रजत (चाँदी) की सत्ता शुक्तिसे भिन्न नहीं होती, जिस प्रकार तन्तुकी सत्ता पटसे भिन्न नहीं होती, जिस प्रकार तरंग-फेन बुद्बुदादिकी सत्ता जलसे भिन्न नहीं है, जिस प्रकार सुवर्णके अलङ्कारादिकी सत्ता सुवर्णसे भिन्न नहीं होती, जिस प्रकार मरुभूमिमें कल्पित मृगजलकी सत्ता मरुस्थलसे भिन्न नहीं होती, जिस प्रकार आकाशमें नीलादि वर्णकी सत्ता आकाशसे भिन्न नहीं होती,—उसी प्रकार कल्पित देहादिकी सत्ता आत्मसत्तासे भिन्न नहीं है। देहादि समस्त जगत् केवल आत्मामें कल्पित हैं, असत्य हैं—केवल एक अद्वितीय आत्मा ही सत्य है। जिस प्रकार कङ्कणादि स्वर्णसे भिन्न और कुछ नहीं हैं; जिस प्रकार घटादि मृत्तिकासे भिन्न कुछ नहीं है—उसी प्रकार समस्त जगत् आत्मासे भिन्न कुछ नहीं है। जिस प्रकार मिथ्या कल्पित रजत शुक्तिकी सत्तामें सत्यवत् प्रतीत होता है, जिस प्रकार मिथ्या मृगतृष्णाका जल सूर्यकी किरणोंकी सत्तामें सत्यवत् भासित होता है, वस्तुतः ये सत्य नहीं हैं--उसी प्रकार सङ्कल्पमात्र जगत् आत्माकी सत्तामें केवल सत्यवत् प्रतीत होता है, वस्तुतः जगत् सत्य नहीं है, जगत्की निजी कोई सत्ता नहीं है।

'ब्रह्मभिन्नं सर्वं मिथ्या ब्रह्मभिन्नत्वात्।'

भगवान् श्रीकृष्ण श्रीमद्भगवद्गीतामें कहते हैं—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। (२।१९)

यह अनित्य असत्‌रूप जो भूत भौतिक नाम-रूपात्मक जगत् भासित हो रहा है, इसका वास्तविक अस्तित्व (विद्यमानता, सत्ता या स्थायित्व) नहीं है। जो एक, अद्वितीय, अज, अमर, आनन्दघन, परिपूर्ण, निरवयव, निष्क्रिय और सर्वव्यापी आत्मा है 'वही समस्त दृश्य प्रपञ्चमें सत्तारूपमें व्याप्त हो रहा है, इस आत्माका कभी अभाव नहीं होता, इसका कभी विनाश नहीं होता, कोई इस अव्यय स्वरूपका विनाश नहीं कर सकता; केवल आत्मा ही सदा सद्रूप है।

माण्डूक्यकारिकामें कहा गया है—

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा।
वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः॥
स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं तथा।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः॥

जो वस्तु उत्पत्तिके पूर्व न थी, तथा विनाशके पश्चात् नहीं रहेगी, वह वर्तमान कालमें भी वास्तविक नहीं है। परन्तु मिथ्या होकर भी वर्तमानमें सत्यवत् प्रतीत होती है। जिस प्रकार स्वप्नमें देखे गये हाथी, घोड़े तथा इन्द्रजालके रचित पदार्थ एवं गन्धर्वनगर—यह सब न होते हुए भी होनेके समान जान पड़ते हैं, उसी प्रकार यह जगत् भी न होते हुए प्रतीत होता है। ज्ञानी पुरुषोंने इस प्रकार अनुभव करके वेदान्तशास्त्रद्वारा देखा है कि केवल अद्वैत, अनन्तस्वरूप, सर्वव्यापी, अद्वितीय आत्मा ही सत्य है, और समस्त दृश्य-प्रपञ्च प्रतीतिमात्र है, तत्त्वतः नहीं है।

जिस प्रकार घट और मठ आदि आकाशके निवास-स्थान और भेदक दोनों होते हैं, उसी प्रकार देहादि भी अनन्तस्वरूप आत्माके निवास-स्थान और भेदक दोनों ही हैं। वस्तुतः जगत् मिथ्या मायाका कार्य होनेके कारण मिथ्या है—यह वेदान्तसिद्ध ज्ञान अनुभूत होनेपर जगत्के मिथ्यात्वको प्रमाणित करता है।

सत् ही दृष्टिगोचर होता है तथा सत्य वस्तुसे ही सुख-दुःख भोग होता है—ऐसा कोई नियम नहीं है। असत् भी दृष्टिगोचर होता है तथा उससे भी सुख-दुःख होते देखा जाता है। यद्यपि स्वप्न असत्य है तथापि वह दृष्टिगोचर होता है और स्वप्नमें सुख-दुःखका अनुभव होता है। यद्यपि शुक्तिमें कल्पित रजत तथा रज्जुमें कल्पित सर्प दोनों ही असत्य हैं, तथापि इन दोनों विषयोंमें सुख-दुःख होते देखे जाते हैं। मृगतृष्णाका जल और आकाशका नीलादि-वर्ण असत्य होते हुए भी दिखलायी देते हैं। उसी प्रकार जगत् असत्य होते हुए भी दृष्टिगोचर होता है। अतएव ऐसा कोई नियम नहीं है कि सत्य वस्तु ही दृष्टिगोचर हो और असत्य वस्तु न हो।

अच्छा, ईश्वरकी मायाद्वारा रचित इस असद्रूप जगत्की प्रतीति होनेपर भी हानि क्या है? इसकी निवृत्तिकी क्या आवश्यकता है? क्योंकि ईश्वरद्वारा रचित यह जगत् तो किसीके बन्धनका कारण नहीं है। जब जीव ईश्वररचित जगत्में सत्यबुद्धि स्थापन करके अपने मनके द्वारा द्वैतकी सृष्टि करता है, तभी यह जीवरचित द्वैत बन्धनका कारण बन जाता है, अतएव जीवका कर्त्तव्य है कि अपने रचे हुए प्रपञ्चकी निवृत्ति करे। ईश्वररचित प्रपञ्चकी निवृत्तिकी आवश्यकता ही कहाँ है?

ईश्वर-रचित देह, स्त्री, पुत्र-धनादिमें अहंता, ममताका

दृढ़ अध्यास ही (भावना ही) जीव-रचित बन्धनका (दुःखका) कारणरूप जगत् है। 'बन्धाय विषयासक्तिः' 'बन्धमोक्षौ मनः संस्थौ'। 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।'

यह देह किसीको भी बन्धनमें नहीं डालता, परन्तु इस देहमें जीव जो अहंता-ममताकी सृष्टि करता है, वही बन्धन है। अर्थात् मनरचित द्वैत ही दुःखका कारण है और वही बन्धनका हेतु है। ईश्वर-रचित बाह्य द्वैत-अद्वैत ज्ञानका बाधक नहीं है, वह तो गुरु और शास्त्रके द्वारा अद्वैतज्ञानकी प्राप्तिमें सहायक है। इसकी निवृत्तिके लिये इसको मिथ्या कल्पनारूप समझनेके अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं है। जीवकृत द्वैत ही बन्धनका कारण है, उसकी निवृत्तिके लिये ही पुरुषार्थ करना आवश्यक है।

जीवकृत द्वैत दो प्रकारका होता है--शास्त्रीय द्वैत और अशास्त्रीय द्वैत। वेदान्तशास्त्रके अनुसार प्रत्यक् ब्रह्मके एकत्व और विचारके श्रवण-मननादि साधनको शास्त्रीय द्वैत कहते हैं। सच्चिदानन्द ब्रह्मरूप प्रत्यगात्मामें जबतक दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान न हो जाय तबतक इस मनोमय शास्त्रीय द्वैतका त्याग करना उचित नहीं है। विद्यारण्य मुनि कहते हैं--

ग्रन्थमभ्यस्य मेधावी विचार्य च पुनः पुनः।
पलालमिव धान्यार्थी त्यजेद् ग्रन्थमशेषतः॥

(पञ्चदशी)

अर्थात् सदसद्विचारकुशल बुद्धिमान् पुरुष पहले वेदान्तशास्त्रका अभ्यास करते हैं; फिर पुनः-पुनः उसका विचार करते हैं अर्थात् परोक्ष और अपरोक्ष ज्ञानमें तत्पर होते हैं। पश्चात् जिस प्रकार चावलकी इच्छा करनेवाला व्यक्ति चावलको निकालकर भूसीको छोड़ देता है, उसी प्रकार वे भी तत्त्वको ग्रहण कर समग्र शास्त्रका त्याग कर देते हैं।

कुलार्णवतन्त्रमें भी लिखा है कि—

अभ्यस्य सर्वशास्त्राणि तत्त्वं ज्ञात्वा तु बुद्धिमान्।
पलालमिव धान्यार्थी सर्वशास्त्राणि सन्त्यजेत्॥

अन्यत्र कहा है कि, 'उत्तीर्णे तु गते पारे नौकायाः किं प्रयोजनम्।' अर्थात् नौकाकी सहायतासे नदीके पार पहुँच जानेपर नौकाकी आवश्यकता नहीं रहती।

यहाँ विचारकी सीमाका निर्देश किया गया है तथा दृढ़ बोध प्राप्त होनेपर 'शास्त्रीय बोध' त्याग करनेकी बात कही गयी है; परन्तु बोधके पश्चात् सद्विचार करनेका निषेध नहीं किया जाता। अतएव दृढ़ बोधोदयके उपरान्त भी, शास्त्रीय द्वैतको कल्पित जानकर भी शास्त्रीय सद्विचारमें कालक्षेप करनेमें कोई हानि नहीं है। वह साधु वाग्विलासके सदृश है।

और भी एक बात है। ज्ञानविचारकी सहायतासे आत्मतत्त्वमें स्थिति लाभ होनेके पश्चात् यदि इच्छा हो तो विचारज्ञानका त्याग कर दो, परन्तु उसके पहले नहीं। वस्तुकी प्राप्तिके बाद ज्ञानको त्याग करनेकी बात इसलिये कही जाती है कि ज्ञेय वस्तु स्वयं ही ज्ञानमय, प्रकाशमय है—ज्ञेयसे ज्ञान भिन्न नहीं है। 'ज्ञायत इति ज्ञानम्' न चाहनेपर भी तो ज्ञान रहेगा ही, क्योंकि ज्ञेय वस्तुके साथ ज्ञानका तो अभिन्न सम्बन्ध है। श्रीमद्भागवतमें ज्ञानको ईश्वरस्वरूप कहा गया है।

'मुक्तात्मभिः स्वहृदये परिभाविताय
ज्ञानात्मने भगवते नम ईश्वराय॥'

जहाँ 'ज्ञान'-त्यागकी बात कही गयी है 'ज्ञानेन ज्ञेयमालोक्य ज्ञानं पश्चात् परित्यजेत्' वहाँ ज्ञानशब्दसे परोक्ष ज्ञान अर्थात् साधनज्ञान विवक्षित है। (ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानम्) लौकिक विद्या, विचार, युक्ति, हेतुवाद आदि साधन-ज्ञानके अन्तर्गत हैं। ज्ञेय वस्तुकी प्राप्ति होनेपर वस्तुतः साधन-ज्ञानकी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। सूर्य स्वयं प्रकाशस्वरूप है, दीपक जलाकर उसे देखना नहीं पड़ता। सूर्यके उदय होनेतक ही दीपककी सार्थकता है, सूर्योदयके पश्चात् दीपककी आवश्यकता नहीं रहती। उसी प्रकार 'यावत् तत्त्वं न विन्दति' जबतक तत्त्वज्ञान नहीं हो जाता तबतक शास्त्रज्ञान, विचार, विवेक, वैराग्यादि साधनोंकी आवश्यकता है। तत्त्वज्ञान उदय होनेपर समस्त कार्य शेष हो जाते हैं। 'तस्य कार्यं न विद्यते'। जहाँ ब्रह्म स्वयं प्रकाशित है वहाँ ब्रह्मनिरूपणकी अथवा तत्त्वालोचनकी क्या आवश्यकता है?

कुलार्णवतन्त्रमें लिखा है—

यथामृतेन तृप्तस्य नाहारेण प्रयोजनम्।
तत्त्वज्ञस्य महेशानि न शास्त्रेण प्रयोजनम्॥

अर्थात् जो अमृतसे तृप्त है उसे दूसरे आहारकी आवश्यकता नहीं रहती है। हे महेशानि! तत्त्वज्ञ पुरुषको भी शास्त्रालोचनकी आवश्यकता नहीं रहती।

यथामृतेन तृप्तस्य पयसा किं प्रयोजनम् ।
एवं तत्परमं ज्ञात्वा वेदे नास्ति प्रयोजनम् ॥
ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः ।
न चास्ति किञ्चित् कर्त्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित् ॥
(उत्तरगीता)

अमृतपानसे तृप्त पुरुषको दुग्धपान करनेकी क्या आवश्यकता है ? उसी प्रकार परम पदार्थ ब्रह्मको जान लेनेपर वेदादि शास्त्रोंकी आलोचनाकी आवश्यकता नहीं रहती । ज्ञानामृत पान करके जो तृप्त हैं तथा जिन्होंने ब्रह्मसाक्षात्कार कर लिया है, इस प्रकारके आत्मतत्त्वज्ञ योगीको कोई भी कर्त्तव्य कर्म करनेके लिये नहीं रहता । यदि कोई इच्छापूर्वक विधि-निषेधात्मक कर्मानुष्ठानमें प्रवृत्त होता है, तो वह तत्त्वज्ञ नहीं है ।

अशास्त्रीय द्वैत दो प्रकारका होता है । पञ्चदशीमें लिखा है ।

अशास्त्रीयमपि द्वैतं तीव्रं मन्दमिति द्विधा ।
कामक्रोधादिकं तीव्रं मनोराज्यं तथेतरम् ॥४९॥
उभयं तत्त्वबोधात्प्राङ् निवार्यं बोधसिद्धये ।
शमः समाहितत्वञ्च साधनेषु श्रुतं यतः ॥५०॥
(द्वैत-विवेक)

अर्थात् तीव्र और मन्द भेदसे अशास्त्रीय द्वैत दो प्रकारका होता है । काम-क्रोधादि शत्रुओंको 'तीव्र अशास्त्रीय द्वैत' कहते हैं । मनोराज्यको, मनके सङ्कल्प-विकल्पको, मनश्चाञ्चल्यको 'मन्द अशास्त्रीय द्वैत' कहते हैं । बोधकी सिद्धि या ज्ञानकी प्राप्तिके लिये इन दोनों प्रकारके द्वैतको तत्त्व-विचारमें प्रवृत्त होनेके पहले ही त्याग करना आवश्यक है । क्योंकि गुरु और शास्त्रके मुखसे ऐसा सुना जाता है कि ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके साधनोंमें मन और इन्द्रियोंको वशीभूत रखना और चित्तको समाहित करना आवश्यक है ।

तत्त्व-बोधकी प्राप्तिके लिये शास्त्रमें अधिकारीको चार प्रकारका साधन करना आवश्यक है । वे चार प्रकारके साधन हैं—विवेक, वैराग्य, षट् सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व ।

(१) विवेक—कौन वस्तु सत्य और नित्य है, तथा कौन वस्तु मिथ्या और अनित्य है--इस विषयमें निश्चित धारणा विवेक है । आत्मा ही एकमात्र सत्य वस्तु है, क्योंकि आत्मा नित्य शुद्ध वस्तु है, इसका किसी प्रकारका विकार या रूपान्तर नहीं होता । तथा जगत् और जागतिक भोग मिथ्या और अनित्य हैं; क्योंकि जगत् मायाकी सृष्टि है, यह सदा परिवर्तित होती रहती है । इस प्रकारके दृढ़ निश्चयका नाम 'विवेक' है ।

(२) वैराग्य—जिसकी उत्पत्ति है उसका ध्वंस अवश्यम्भावी है, अर्थात् उसको अपने कारणमें लीन होना पड़ता है । आदिसृष्ट पुरुष सर्वलोकपितामह ब्रह्माका भी नाश होता है । महाप्रलयमें वह भी अपने कारणमें लीन हो जाते हैं । अतएव ब्रह्मा भी अनित्य हैं, नित्य नहीं हैं । तथा ब्रह्मलोक भी अनित्य है । देहसे लेकर ब्रह्मापर्यन्त समस्त भोग्य वस्तु अनित्य है, मिथ्या है । इस प्रकार पुनः-पुनः यावत् विषयोंमें दोषदर्शन करते हुए तथा गुरु और शास्त्रके मुखसे इनके दोषोंकी बात बारंबार श्रवण करके इस संसार तथा स्वर्गादि परलोक-सम्बन्धी सुखोंके भोगके विषयमें अनिच्छाको वैराग्य कहते हैं । विवेकका उदय होनेपर ही अर्थात् कौन वस्तु नित्य है, कौन अनित्य है, इस विषयमें निश्चय धारणा होनेपर ही मनुष्यको वैराग्य उत्पन्न होता है अर्थात् ऐहिक और पारलौकिक सुखके प्रति विराग उत्पन्न होता है तथा उसके फलस्वरूप अनित्य भोगका त्याग करके नित्य फल मुक्तिकी प्राप्तिके लिये सचेष्ट होता है ।

(३) शमदमादि षट् सम्पत्ति—

(क) शम—आन्तर इन्द्रियसंयम, मनःसंयम अर्थात् भोग-वासनाके त्यागको शम कहते हैं । विषयसे मनको निवृत्त किये विना चित्त स्थिर नहीं होता । चित्त स्थिर न होनेसे ध्यान और समाधिका अभ्यास नहीं हो सकता । इसलिये सबसे पहले मनःसंयमका अभ्यास करना चाहिये । मन अति चञ्चल है । विषयोंमें विचरण करना मनका स्वभाव है । अतएव मनको कोई-न-कोई विषय देना ही होगा । मुमुक्षु पुरुष मनको बाह्य विषयोंसे निवृत्त करके अपने ध्येय पदार्थमें स्थापित करनेका संयम करते हैं । इसे ही शम कहते हैं ।

(ख) दम—बाह्य इन्द्रियोंका संयम अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियोंके विषयमें प्रवृत्तिका निरोध दम है । मन बाह्येन्द्रियोंकी सहायतासे बाहर जाकर बहिर्जगत्के आपातमधुर विषयोंमें डूब जाता है । अतएव मनको अन्तर्जगत्में रखनेके लिये इन्द्रियोंके बाहर जानेके पथको रोकना पड़ता है । चित्तको स्थिर करनेके लिये जिस प्रकार शमके साधनकी आवश्यकता है, उसी प्रकार दमके साधनकी भी आवश्यकता

पड़ती है, क्योंकि इन्द्रियोंका द्वार रुद्ध होनेपर मन पुनः बाहर नहीं जा सकता ।

(ग) उपरति–विषय-चिन्तनरूप विषय-भोगसे चित्तका निरोध करना उपरति है । इन्द्रियोंकी सहायतासे बहिर्जगत्में न जाकर पूर्व अनुभूत विषयोंका स्मरण करते हुए मन चिन्तनद्वारा बाह्य विषयोंका उपभोग करता है । मनको इस प्रकार बाह्य वस्तुका उपभोग न करने देना ही उपरति है ।

(घ) तितिक्षा–सुख-दुःख, लाभ-हानि, शीत-उष्ण, मानापमान, स्तुति-निन्दा प्रभृति स्थूल और सूक्ष्म शरीरके द्वन्द्वोंके समूहको समानरूपसे ग्रहण करनेकी योग्यता तितिक्षा कहलाती है । आत्मा असङ्ग और निर्लिप्त है, आत्मा सुख-दुःखादिसे परे है । सुख-दुःखादि द्वन्द्व शरीरके धर्म हैं, आत्माके साथ इनका कोई सम्बन्ध नहीं, इनके द्वारा आत्माकी कोई लाभ-हानि नहीं होती । इस प्रकार विचारके द्वारा शीत-उष्ण, सुख-दुःख प्रभृति द्वन्द्वोंसे उदासीन रहकर इन सबको सहन करनेका नाम तितिक्षा है ।

(ङ) श्रद्धा–ब्रह्मनिष्ठ गुरुके द्वारा प्रदान किये गये उपदेशमें तथा शास्त्रोक्त वाक्यमें अटल विश्वासको श्रद्धा कहते हैं । श्रद्धा न रहनेपर आत्मदर्शनके लिये चित्त कभी समुत्सुक नहीं होता । शास्त्र-वचन और गुरुके द्वारा दिये गये उपदेशके ऊपर विश्वास करके महर्षियोंके चरण-चिह्नोंका अनुसरण करते हुए साधनानुष्ठान करनेसे ही आत्मस्वरूपकी उपलब्धि हो सकती है, नहीं तो आत्मदर्शनकी आशा दुराशामात्र है ।

(च) समाधान–सत्त्वगुणप्रधान निर्मल ईश्वरमें (सगुण-ब्रह्ममें) निरन्तर चित्तकी एकाग्रताको समाधान कहते हैं । शम, दम, उपरति, तितिक्षा तथा श्रद्धा––इन पाँच साधनाओंके अभ्यासके द्वारा चित्तके निर्मल होनेपर समाधान–साधन निष्पन्न होता है, अर्थात् चित्त एकाग्र (एकनिष्ठ, ब्रह्मनिष्ठ) होता है ।

(छ) मुमुक्षुत्व–जीव और ब्रह्म अभिन्न हैं, इस प्रकारके ज्ञानद्वारा मायाकल्पित भव-बन्धनसे मुक्त होनेकी तीव्र इच्छा अर्थात् मोक्ष-प्राप्तिके लिये दृढ़ और निरन्तर अभिलाषा मुमुक्षुत्व है । मायाके द्वारा कल्पित अहङ्कारसे लेकर देह-पर्यन्त सब वस्तुओंमें सत्यत्व-बुद्धि स्थापन करके तथा जीवात्मा और परमात्मामें भेद-बुद्धि करके जीव बद्धदशामें संसार-चक्रमें घूमता हुआ भटक रहा है । जीवात्मा और परमात्मा अभिन्न हैं––इस प्रकारका बोध होनेपर ही संसारमें सत्यत्व-बुद्धि नष्ट हो जाती है अर्थात् संसारकी सभी वस्तुएँ मिथ्या हैं, अज्ञान-कल्पित हैं, भ्रान्तिमात्र हैं––यह निश्चय हो जाता है ।

इस साधन-चतुष्टयका उपाय क्या है ? वराहोपनिषद्में लिखा है––

स्ववर्णाश्रमधर्मेण तपसा गुरुतोषणात् ।
साधनं प्रभवेत् पुंसां वैराग्यादिचतुष्टयम् ॥

अर्थात् अपने-अपने वर्णाश्रमधर्मोंका पालन, तपस्या और सेवाके द्वारा गुरुको सन्तुष्ट करनेसे वैराग्यादि साधन-चतुष्टयकी प्राप्ति होती है ।

आत्मज्ञानकी प्राप्तिके साधनोंमें तृतीय साधन है षट्सम्पत्ति । इनमें प्रथम साधन 'शम' है । इस साधनके द्वारा काम-क्रोधादिका त्यागरूप 'तीव्र अशास्त्रीय द्वैत' का त्याग हो जाता है । और छठे साधन समाधानके (चित्तकी एकाग्रताके) द्वारा मनोराज्य-त्यागरूप 'मन्द अशास्त्रीय द्वैत' का त्याग होता है । जिसमें वैराग्य और मुमुक्षुत्व तीव्रभावसे वर्तमान हैं, उन्हींके लिये शम-दमादि षट् सम्पत्ति अर्थवती और फलवती होती है । जिस पुरुषमें वैराग्य और मुमुक्षा नहीं है, उसमें यथार्थतः शम-दमादि नहीं रह सकते । अर्थात् वैराग्य और मुमुक्षासे रहित व्यक्तिमें जो शम-दमादि अनुष्ठान दृष्ट होते हैं, वे केवल दिखावामात्र हैं । उनसे कोई लाभ नहीं होता, बल्कि मिथ्याचार होनेके कारण वे पतनके कारण बनते हैं । काम-क्रोधादि और मनोराज्यकी निवृत्तिके बिना जीवन्मुक्तिके सुखका आस्वादन नहीं किया जा सकता । अतएव इन सबको निवृत्त कर, गुरु और शास्त्रके उपदेशके अनुसार कल्पित देहादिप्रपञ्चसे स्वतन्त्र अद्वितीय आत्माका अनुभव करनेपर, वर्तमान शरीरमें ही, विस्मृत कण्ठहारकी प्राप्तिके समान, मोक्ष-सुखकी प्राप्ति हो सकती है ।

[शेष आगे]

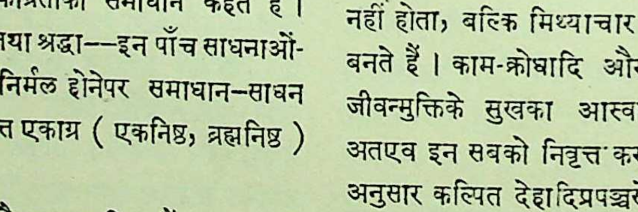

विरह-सागरका चतुर नाविक

(लेखक—पं० श्रीगोविन्दप्रसादजी मिश्र)

भगवान् श्रीरामचन्द्रके वियोगकी असह्य व्यथा सह सकनेमें असमर्थ, महाराज दशरथकी सारी इन्द्रियोंमें जब शिथिलता आ गयी, तब महारानी कौसल्याजीने आर्त होकर हाथ जोड़ विनय करते हुए कहा—

नाथ समुझि मन करिअ बिचारू। रामबियोग पयोधि अपारू॥
करनधार तुम्ह अवध जहाजू। चढ़ेउ सकल प्रिय पथिक समाजू॥
धीरज धरिअ त पाइअ पारू। नाहिं त बूड़िहि सब परिवारू॥

परन्तु दशरथजी प्रेम-नैयाको कथित विरह-सागरमें आगे न खे सके और पतवार हाथोंसे छोड़ते हुए कहने लगे—

यहि तनु राखि करब मैं काहा। जेहि न प्रेम पन मोर निबाहा॥

और इस असफल कर्णधारने कूदकर प्राण दे दिये। बस, सारी अयोध्या अनाथ और असहाय हो गयी। चारों ओरसे शोक-सागर उमड़ पड़ा। इधर विरहसागरमें नैया डाँवाडोल थी ही। उन्मत्त विरह-सागर अपनी उत्ताल तरङ्गोंकी चपेटसे अयोध्यावासियोंको त्रस्त कर ही रहा था। इनकी दशाका वर्णन करते हुए तुलसीदासजी कहते हैं—

……………………। बिषम बियोग न जाइ बखाना॥
नगर नारि नर ब्याकुल कैसे। निघटत नीर मीन गन जैसे॥
सहि न सके रघुबर बिरहागी। ……………………॥

आदि।

माताएँ रामजीकी विरह-वेदनाके साथ-साथ वैधव्यके शोकसे विकल हो रही थीं; सारे नर-नारियोंपर महान् विपत्ति टूट पड़ी थी, कोई किसीको ढाढस न बँधाता था। अयोध्या शोक और विरह दो सागरोंकी भयानक तरङ्गोंमें कभी डूबती, कभी उतराती थी। उधर कैकेयी अपने स्वार्थकी मस्तीमें नैयाको पतवारसे सूनी या भँवरकी ओर घसीटे लिये जा रही थी। किसीको परिणामका ज्ञान न था। उसी समय कुशलकवि तुलसी एक चतुर, गम्भीर, नीतिज्ञ, शीलवान् नाविकको खोजकर ले आते हैं और उस डूबती नैयाकी पतवार उसके हाथोंमें सौंप भीषण भँवरसे बचा लेते हैं। वह चतुर नाविक कौन था? वे थे महामना महात्मा भरत! जिन्हें संसार भगवान् श्रीरामचन्द्रके भाईके रूपमें पहचानता है।

भरतजी ननिहालसे लौटकर सीधे अपनी माता कैकेयीके महलमें पहुँचे। कैकेयीने सुना—पुत्र आ रहा है जिसके लिये इतना सब कुछ मैंने किया है।

आवत सुत सुनि कैकयनंदनि। हरषी रबिकुल जलरुह चंदनि॥

और आरती सजा दौड़कर द्वारपर ही जा पहुँची; माँको देखते ही भरतजी पूछते हैं—

कहु कहँ तात कहाँ सब माता। कहँ सिय राम लखन प्रिय भ्राता॥

'कपट नीर भरि नैन' माता कहने लगी—

…………………… तात बात मैं सकल सँवारी॥
कछुक काज बिधि बीच बिगारेउ। भूपति सुरपति पुर पग धारेउ॥

कैकेयीकी भावना थी कि भरत यह सुनकर सुखी होंगे, परन्तु हुआ कुछ और ही—

तात तात हा तात पुकारी। परेउ भूमितल ब्याकुल भारी॥

नगरवासियोंने जिस परिणामका अनुमान किया था, ठीक ही निकला—

'भरत की भूँजब राजपुर'

मूर्छासे उठकर भरतजी कारण पूछते हैं—माता! पिताजी अचानक स्वर्गलोक कैसे सिधार गये? कारणका ज्ञान होनेपर 'थकित रहे धरि मौन' बस, भरतजी वहीं अपनी माताको विरहसागरसे उठाकर बाहर बिठा देते हैं और पतवार अपने हाथों ले लेते हैं। भीषण रूप धारण कर उपयुक्त वचन कहते हैं—

हंसबंस दसरथ जनक राम लखन से भाइ।
जननी तू जननी भई बिधिसे काह बसाइ॥
पेड़ काटि तैं पल्लव सींचा। मीन जियन हित बारि उलीचा॥
……………………जन्मत काहे न मारसि मोही॥

बर माँगत तोहि भई न पीरा । गरि न जीह मुँह परे न कीरा ॥
भूप प्रतीति तोरि किमि कीन्ही । मरन काल बिधि मति हरि लीन्ही
को तू अहसि सत्य कहु मोही । भे अति अहित राम तेउ तोही ॥
राम बिरोधी हृदय ते प्रगट कीन्ह बिधि मोहिं ।
मो समान को पातकी बादि कहउँ कछु तोहिं ॥

और अन्तमें उस माताको जो विरह-व्यथाके इतिहाससे अनभिज्ञ थी, तिरस्कृत करके कह ही डाला—

'आँखि ओट उठि बैठउ जाई ।'

मैं तेरा मुँह भी नहीं देखना चाहता । इसके बाद उन्हें अपने भविष्यके कर्तव्यका ज्ञान आया और सीधे माता कौसल्याके पास पहुँचे । यह आवश्यक था कि जिसका सबसे अधिक रूपमें बिगाड़ हुआ था, जो पति और पुत्रके वियोगमें डूब-सी रही थी, जिसके हृदयमें यह भावना हो सकती थी कि भरत ही मेरे इन दुःखोंका मूल है, और आशङ्का थी कि वह आर्त होकर प्राण न दे दें । वहाँ पहुँचकर भरतजी अपना निवेदन आरम्भ करते हैं—

कैकइ कत जनमी जग माझा । जौं जनमित भइ काहे न बाँझा ॥
कुल कलंक जेहि जनमेउ मोही । अपजस भाजन प्रियजन द्रोही ॥
को त्रिभुवन मोहिं सरिस अभागी । गति असि तोरि मातु तेहि लागी
धिक मोहिं भयउँ बेनु बन आगी । दुसह दाह दुख दूषन भागी ॥
.... । मैं केवल सब अनरथ हेतू ॥

आदि ।

—कहकर अपना छलविहीन हृदय खोलकर माता कौसल्याके सामने रख दिया । भरत-से सरल-शुद्ध हृदय और नीतिज्ञके लिये यह उचित ही था, नहीं तो अनर्थ हो जाता । कौसल्याजी कहीं हाथसे चली जातीं और यदि उन्हें इतना ही गुमान हो गया होता कि भरत इस मन्त्रणामें है तो रामायण भी तुलसीकी दूसरी ओर चली जाती । इसीलिये भरतजी शपथ लेकर अपना बयान देते हैं—

छल बिहीन सुचि सरल सुबानी । बोलत भरत जोरि जुग पानी ॥
जे अघ मातु पिता सुत मारे । गाइ गोठ महिसुर पुर जारे ॥
जे अघ तिय बालक बध कीन्हे । मीत महीपति माहुर दीन्हे ॥
जे पातक उपपातक अहहीं । करम बचन मन भव कबि कहहीं ॥
ते पातक मोहि होहु बिधाता । जो यह होइ मोर मत माता ॥
जे परिहरि हरि हर चरन भजहिं भूतगन घोर ।
तिन की गति मोहिं देउ बिधि जो जननी मत मोर ॥

आर्त होकर बहुत कह डाला, कौसल्याजीका हृदय द्रवित होकर कह उठा—

मत तुम्हार यह जो जग कहहीं । सो सपनेउ सुख सुगति न लहहीं
अस कहि मातु भरत हिय लाए । थन पय स्रवहिं नयन जल छाए ॥

यहाँ कौसल्याजीके हृदयकी उज्ज्वलताका प्रमाण मिल जाता है और भरत निःशङ्क होकर आगे बढ़ते हैं । यदि तुलसी-से चतुर कविने अपनी माताकी अवहेलना करा रामकी मातासे यह न कहलवाया होता तो अयोध्याकी विरह-नैयाका नाविक-पद भरत न पाते और न जाने क्या अनर्थ हो गया होता ।

क्रिया-कर्मसे निपट जानेके अनन्तर राजसभा हुई, वसिष्ठजी अयोध्याकी प्रजाके समक्ष भरतको राज्य-भार सम्हालनेका अनुरोध करते हैं । धर्म, नीतियुक्त उपदेश देते हुए कहते हैं—(यह भरतकी परीक्षाका दूसरा समय था ।)

सुनहु भरत भावी प्रबल बिलखि कहेउ मुनिनाथ ।
हानि लाभ जीवन मरण जस अपजस बिधि हाथ ॥
अस बिचारि केहि दीजिय दोषू । ब्यरथ काहि पर कीजिय रोषू ॥
राय राजपद तुम्ह कहँ दीन्हा । पिता बचन फुर चाहिअ कीन्हा ॥
नृपहि बचन प्रिय नहिं प्रिय प्राना । करहु तात प्रिय बचन प्रमाना ॥
परसुराम पितु आग्या राखी । मारी मातु लोक सब साखी ॥

भावार्थ यह कि अपनी माताकी अवज्ञा की सो तो ठीक, पिताकी आज्ञा तुम्हारे वंशमें सब मानते आये हैं, अतः तुम भी राज्यपद लेकर अनुचित-उचितका विचार छोड़ अपना कर्तव्य निभाओ ।

बेद बिहित संमत सबही का । जेहि पितु देइ सो पावहि टीका ॥

कौसल्याजीने भी कहा—

पूत पथ्य गुरु आयसु अहई । .... ॥

माता और गुरुकी इतनी प्रभावशाली वक्तृता उस चतुर नाविकपर क्या असर डालती है, यह देखते ही

बनता है। वाह रे भरत! इस परीक्षामें भी तू सफलतासे उत्तीर्ण हो गया। पिताकी आज्ञा, माताका आग्रह, कौसल्याका अनुरोध, गुरुका उपदेश—इन सबको किस सुन्दरतासे अलग रख देता है। यदि यहाँ उलझ गया होता तो तुझे कौन पूछता। क्या ही सुन्दर शब्द हैं—

गुरु पितु मातु स्वामि हित बानी। सुनि मन मुदित करिय भल जानी॥
जद्यपि यह समुझत हौं नीके। तदपि होत परितोष न जी के॥
उत्तर देउ छमब अपराधू। दुखित दोष गुन गनहिं न साधू॥

पिताका स्वर्गवास, सियारामका वन-गमन और मुझे राज्य करनेके लिये सबका आग्रह, आप मेरा इसमें हित समझते हैं, मेरा हित केवल सीतापतिकी सेवामें निहित है; परन्तु उस निहितको माताकी कुटिलताने हर लिया। शोक-समाज लेकर मैं क्या राज्य कर सकूँगा? नहीं, बिना विरतिके ब्रह्म-विचार किस कामका। रुग्ण शरीरको बहु भोग सब व्यर्थ हैं। जैसे विना जीवके शरीर वैसा ही मेरा राज्य होगा, मेरी तो एक ही अभिलाषा, एक ही प्रार्थना और एक ही ध्येय है।

जाउँ राम पहिं आयसु देहू। एकहि आँक मोर हित एहू॥

धन्य भरत! तुम्हारे बिना यह कौन कह सकता था। फिर कहते हैं—किसी योग्य व्यक्तिको राज्य दीजिये। मोहवश यदि मुझे राज्य आपने दिया, तो अयोध्याका राज्य रसातलको चला जायगा।

बिन रघुबीर बिलोकिय बासू। रहे प्राण सहि जग उपहासू॥
कारण ते कारज कठिन होय दोष नहिं मोर॥

मेरा इससे अधिक क्या हित होगा। मेरा हित तो सब मेरी माताने ही बना दिया है। राम-सीयको वनमें भेज दिया, पिताको विदाकर वैधव्य सुख ले लिया और प्रजा तथा माताओंको शोक-सन्ताप दे दिया।

मोहि दीन्ह सुख सुजस सुराजू। कीन्ह कैकई सब कर काजू॥

मेरी सब बातें तो विधाताने ही बना दीं, आप वृथा ही प्रयास करते हैं।

कैकइ सुअन जोग जग जोई। चतुर बिरंचि दीन्ह मोहि सोई॥
मोहि बिनु को सचराचर माहीं। जेहि सियराम प्रान प्रिय नाहीं॥
परम हानि सब कहँ बड़ लाहू॥

मेरे दुर्दिन हैं, आपका दोष नहीं है। आप सब संशय—प्रेमवश जो उचित है, वही कह रहे हैं। सिवा सियारामके मुझे इस दुर्दैवसे निकालनेवाला कौन है? वे ही यह कह सकते हैं कि 'मोर मत नाहीं' मुझे जगके उपहासका डर नहीं, परलोकका भी सोच मुझे नहीं, परन्तु दुःख इतना ही है—मेरे लिये मेरे जीवनके सर्वस्व रामने सङ्कट सहे। मेरा अन्तमें यही कहना है—बिना रामके चरण देखे मेरे हृदयकी जलन न जायगी।

बिनु देखे सियराम पद जिय की जरन न जाहि।

फिर कहते हैं—

एकहि आँक इहहि मनमाहीं। प्रातकाल चलिहउँ प्रभु पाहीं॥

बस, यहींपर माताएँ, पुरजन, सभी लोग भरतको पतवार सौंप देते हैं और उन्हें विरहसागरका चतुर नाविक मान लेते हैं!

लोग बियोग बिषम बिष दागे। मंत्र सबीज सुनत जनु जागे॥

सब एक स्वरसे कहते हैं—

अवसि चलिय बन राम जहँ भरत मंत्र भल कीन्ह।
सोक-सिन्धु बूड़त सबहिं तुम अवलंबन दीन्ह॥

और यहीं कौसल्या महारानीके वचन हैं।

परिजन प्रजा सचिव सब अंबा। तुम ही सुत सबकर अवलंबा॥

यह वचन दशरथ-मरणके समयके—'करणधार तुम अवध जहाजू' के साथ भरतपर घट जाता है और भरतजी प्रातःकाल ही इस जहाजमें प्रिय पथिकोंको बिठाकर चित्रकूटको चल देते हैं। क्या ही अनोखा दृश्य है!

चित्रकूटकी राहमें नाविक (निषाद) बिना

पहचाने विरोधके साथ जहाजको रोकनेकी भूल करना चाहते हैं, पर कपटहीन नाविक अपनी क्षमतासे झूमता चला जाता है । फिर आगे चलकर लक्ष्मणजीको भ्रम होता है; परन्तु वहाँ भी इन्हींकी विजय होती है । परन्तु जगत् परीक्षा-पर-परीक्षा प्रतिक्षण करता रहता है । तीसरी बार भरत नाविककी परीक्षा चित्रकूटमें रामजीके समक्ष देते हैं । यहाँ भी तुलसी कहते हैं—

होत न भूतल भाउ भरत को । अचर सचर चर अचर करत को ॥
प्रेम अमिय मंदर बिरह भरत पयोधि गँभीर ।
मथि प्रगटे सुर साधुहित कृपासिन्धु रघुबीर ॥

भगवान् श्रीरामचन्द्रजी भी भरत-विरह-सागरका मन्थन करनेपर प्रेम-अमृत ही पाते हैं और जगत्-हितके लिये उसे अयोध्यावासियोंको सौंप देते हैं । परीक्षाके अन्तमें उन्हें चरण-पादुकाओंका प्रमाणपत्र दिया जाता है, जिसे लेकर भरत 'मगन मन' इतना बड़ा भार हँसते-हँसते अपने ऊपर लेकर अयोध्या लौट आते हैं ।

भरतजी-सा चतुर नाविक विरह-सागरमें अयोध्याके इस जहाजको झूमते हुए खेता चला जाता है । दो-चार दिन नहीं, बड़े लंबे चौदह बरस । किसीको खटक न पाये, ऐसा मस्त योग्य नाविक और कौन मिल सकता था, धन्य भरत ! राज्यमदको एक कोनेमें ढरका दिया । कई भँवर आये, कुशलतासे उनसे बचाकर नैया पार ले गया । खे गया ! खूब ही खे गया !! सौंपी कहाँ ! किसे ! चौदह बरस बाद—

रहा एक दिन अवधि कर अति आरत पुरलोग ।
राम बिरह सागर महँ भरत मगन मन होत ॥
बिप्ररूप धरि कपि तहँ आइ गयउ जनु पोत ॥

भगवान् श्रीरामचन्द्रके अनन्य सेवक—जिन्होंने भरतको इस विरहसागरकी नैया कुशलतासे खेते हुए, अयोध्यामें सञ्जीवनी लाते समय देखकर कहा था—

तव प्रताप उर राखि गुसाईं । जैहों रामबान की नाईं ॥

भरत बाहुबल सील गुन प्रभुपद प्रीति अपार ।
मनमहँ जात सराहत पुनि पुनि पवनकुमार ॥

वे परिचितपोत पवनकुमार भरतकी दशासे प्रभावित होकर कहते हैं—

जासु बिरह सोचहु दिन राती । रटहु निरंतर गुन गन पाँती ॥
रघुकुलतिलक सुजन सुख दाता । आयउ कुसल देव मुनि त्राता ॥
रिपु रन जीति सुजस सुर गावत । सीता अनुज सहित पुर आवत ॥

बस, भरत यहींपर संयोगके गम्भीर समुद्रमें इस जहाजको भगवान् श्रीरामचन्द्रजीको सौंपकर फिर विरहसागरमें किस सुन्दरतासे मग्न हो गये; संसार उसीकी यादकर करुण-रसकी उपासना करता है ।

भरतजी नगरवासी, माताओं और गुरुको साथ ले भगवान्के स्वागतको चल देते हैं । अहा ! क्या सुख है ! विरह-सागरका नाविक भवसागरके नाविकको अपना भार सौंपता है—

राजीव लोचन स्रवत जल तन ललित पुलकावलि बनी ।
अति प्रेम हृदय लगाइ अनुजहि मिले प्रभु त्रिभुअन धनी ॥
प्रभु मिलत अनुजहि सोह मो पहिं जात नहिं उपमा कही ।
जनु प्रेम अरु सिंगार तनु धरि मिले बर सुषमा लही ॥
बूझत कृपानिधि कुसल भरतहि बचन बेगि न आवई ।
सुनु सिवा सो सुख बचन मन ते भिन्न जान जो पावई ॥
अब कुसल कौसलनाथ आरत जानि जन दरसन दियो ।
बूड़त बिरह बारीस कृपानिधान मोहि कर गहि लियो ॥

भरत ! तुम्हें संसार पूजेगा ! परन्तु मूर्त्ति बनाकर नहीं, विरहसागरका चतुर नाविक समझकर !

जनरंजन भंजन भव भारू । रामसनेह सुधाकर सारू ॥
दुखदाह दारिद दंभ दूषन सुजस मिस अपहरत को ।
कलिकाल तुलसीसे सठन्हि हठि राम सनमुख करत को ॥

अगर भरत ! तुम न हुए होते तो इन चौदह वर्षोंमें अयोध्या ऊजड़ हो जाती । खाली विरह-सागर ही बहता होता ! वाह रे चतुर नाविक धन्य !

गजेन्द्र-मोक्ष

(रचयिता—श्रीजगदीशशरणसिंहजी बी० ए०)

क्षीरसागरके जलके मध्य,
एक था महाशैल अभिराम।
तीन थे उसमें शिखर विशाल,
इसीसे गिरि त्रिकूट था नाम॥१॥

विविध तरु-गुल्मोंसे वह पूर्ण,
सिन्धु-जल-धौत-चरण गिरिराज।
किया करता था सहज विमुग्ध,
आत्मशोभासे देव-समाज॥२॥

नाग, किन्नर, विद्याधर, सिद्ध,
सदा करते थे उसमें वास।
हुआ करता था उसपर नित्य,
अप्सराओंका प्रेम-विलास॥३॥

पार्श्वमें ही गिरिके रमणीक,
वरुणका था प्रसिद्ध उद्यान।
देव-बालाओंका प्रिय-क्षेत्र,
नाम था जिसका शुभ ऋतुमान्॥४॥

निकट ही क्रीड़ासर था एक,
परम सुन्दर, अपार गम्भीर।
सदा जिसमें शीतल स्वादिष्ट,
भरा रहता था निर्मल नीर॥५॥

खिले थे जलमें अगणित पुष्प,
कुमुद, उत्पल, शतदल अरविन्द।
कर रहे थे जिनपर गुंजार,
मधुर मधु-लोभी विपुल मिलिन्द॥६॥

सरोवर थे तटपर सर्वत्र,
खड़े थे बकुल, अशोक, रसाल।
वेत्र, कदली, कदम्बके कुंज,
कुन्द, बञ्जुल, मन्दार, तमाल॥७॥

विनत शाखाओंपर आसीन,
मुखर खग करते थे कल-गान।
नीर-विलुलित डालोंसे कूद,
किया करते थे कपि जल-पान॥८॥

निकट ही था अरण्य गम्भीर,
द्रुमावृत, दुर्गम, दीर्घ अपार।
व्याघ्र, वाराह, महिष, गज आदि,
नित्य करते थे जहाँ विहार॥९॥

धवल हिमगिरिके शिखर समान,
उच्च दृढ़ निर्भय बृहदाकार।
वहीं रहता था एक गजेन्द्र,
लिये अपना समस्त परिवार॥१०॥

साथमें लेकर करिणी-वृन्द,
घूमता था जब वह गजराज।
काँप उठती थी वनकी भूमि,
भीत होता था वन्य-समाज॥११॥

लिये निज हस्तिनियोंको सङ्ग,
एक दिन होकर प्रेम-विभोर।
केलि करनेके हेतु सवेग,
चला वह उस पुष्करकी ओर॥१२॥

देख सरकी निर्मल जल-राशि,
घ्राण करके सुवास मकरन्द।
वह चली अविरल मदकी धार,
हो उठा सहसा मत्त गयन्द॥१३॥

चतुर्दिक निर्भय होकर देख,
किया उसने प्रवेश सानन्द।
विलोडित करके वारि समस्त,
लगा करने विहार स्वच्छन्द॥१४॥

कमल-दल बिखरे टूटे नाल,
उड़ चले सारस, हंस, चकोर।
किलकते हुए भगे कपि दूर,
जा लगे पुष्करके उस छोर॥१५॥

अचानक आहट पाकर एक,
हटा गज पीछेको तत्काल।
ग्राहके वज्र-दंष्ट्रमें किन्तु,
फँसा था उसका चरण विशाल॥१६॥

मारता हुआ घोर चिग्घाड़,
लगाकर अपना पूरा जोर।
छोड़ अपने समूहका सङ्ग,
बढ़ा वह सत्वर तटकी ओर॥१७॥
साथ ही खिंचता आया ग्राह,
ग्राह वह पृथुल-काय बलवान।
ग्रसित था जिससे गजका पैर,
राहु-परिवेष्टित चन्द्र समान॥१८॥
कुण्डलित शुण्ड दबाकर ऊर्ध्व,
उठाया गजने अपना भाल।
और फिर करके दन्त-प्रहार,
किया उसने गर्जन विकराल॥१९॥
प्रलयके महाघोषके तुल्य,
आह! वह गर्जन था घनघोर।
ध्वनित हो उठा सकल तट-प्रान्त,
भगे मृग, तरुपर कुहके मोर॥२०॥
वेदना-पीड़ित होकर ग्राह,
हो गया और अधिक उद्दण्ड।
ले चला वह भी गजको खींच,
लगाकर अपनी शक्ति प्रचण्ड॥२१॥
तीव्र असि-फल-सी कर्कश पुच्छ,
घुमाकर अर्ध-मण्डलाकार।
सरोवरको करके विक्षुब्ध,
ग्राहने गजपर किया प्रहार॥२२॥
उभय थे महावीर वरिबंड,
उभय थे सम उद्धत, समक्रुद्ध।
हो रहे थे प्राणी भय-भीत,
देख जलचर-वनचरका युद्ध॥२३॥
हुआ लड़ते-लड़ते दिन अस्त,
आ गयी काली-काली रात।
रहे वे लड़ते दोनों वीर,
रात्रि भी बीती, हुआ प्रभात॥२४॥
गया क्रमशः सप्ताह व्यतीत,
मास भी बीता, बीता वर्ष।
अन्तमें वर्षोंके उपरान्त,
हो गया वह गज श्लथ-उत्कर्ष॥२५॥
विजयसे होकर परम प्रसन्न,
खींचता हुआ द्विरदको ग्राह।
ले चला महाकुण्डकी ओर,
भरा था जिसमें नीर अथाह॥६२॥
डूबने लगा द्विरद असहाय,
चढ़ चला क्रमशः ऊपर नीर।
लगे क्रन्दन करने करि-यूथ,
देख उसका जल-मग्न शरीर॥२७॥
रह गया करी-सुण्ड अवशेष,
एक क्षणमें ही था अवसान।
देखकर सहसा जलका चक्र,
आ गया चक्रपाणिका ध्यान॥२८॥
ध्यान था या आकर्षण-मन्त्र,
खिंच गया कमलापतिका ध्यान।
समझकर अपने जनकी पीर,
प्रकट हो गए वहीं भगवान॥२९॥
अहो प्रभुका शरणागत प्रेम,
कोटि रवि सम ज्योतिर्मय चक्र।
गिरा छप्‌से जलमें तत्काल,
हो गया खण्ड-खण्ड वह नक्र॥३०॥
उठाकर हाथोंपर गजराज,
निकाला जलसे बाहर धन्य!
पोंछकर पीताम्बरसे देह,
निवारण किया कष्ट क्षत-जन्य॥३१॥
झुका चरणोंपर गजका भाल,
हुई प्रभुकी वाणी गम्भीर—
'वत्स, उत्तिष्ठ!' अहो आश्चर्य!
हो गया गजका दिव्य शरीर॥३२॥
गरुडपर होकरके आसीन, हुए हरि, हरिजन अन्तर्द्धान।
दिशाओंमें गूँजा जय-नाद—'धन्य हैं भक्त, धन्य भगवान'॥३३॥

* * *

'क्या बताऊँ ?'

(लेखक—पं० श्रीचन्द्रशेखरजी पाण्डेय एम्० ए०)

सुन लिया हृदय ! तेरा भी उपाय सुन लिया ।

तू यही कहता है न कि एक दिन निर्भय होकर मैं राजभवनमें चली जाऊँ ?

किन्तु सोचती हूँ, उनके सामने खड़ी होकर क्या कहूँगी ?

यदि वे पूर्ववत् न मुसकराये और गंभीर मुद्रा ही बनाये रहे तो ?

तो क्या मैं खड़ी रह सकूँगी ?

मेरे गिर जानेपर वे सेवकोंसे कह देंगे कि इसको उठाकर ले जाओ और उपचार करो ।

सेवक न जाने क्या मनमें सोचेंगे ?

उनकी फहराती हुई मर्यादाकी श्वेत पताकामें कहीं तिल-सा छोटा काला धब्बा न लग जाय ।

जाने दे मूर्ख ! यह ठीक नहीं ।

किन्तु मन मसोसकर कबतक रह सकूँगी ?

जाऊँगी, अवश्य जाऊँगी ।

रोगीको तो यों भी वैद्यके पास जानेका अधिकार है किन्तु यदि वैद्यका ही दिया हुआ रोग हो तब तो निस्संकोच जाना चाहिये ।

उन्हें मेरी व्यथाका कुछ ध्यान नहीं तो मैं उनकी मर्यादाका क्यों ध्यान करूँ ?

किन्तु नहीं, नहीं, मैं क्या सोच रही हूँ ?

मेरी प्रसन्नता तो प्रियकी प्रसन्नतामें है ।

उन्हें अप्रसन्न करके या कष्ट देकर मैं कैसे प्रसन्न हो सकूँगी ?

सुनती हूँ प्रेम दोनों ओर पलता है ।

तो क्या मेरी व्यथाका अनुभव उन्हें होता होगा ?

क्या उन्हें भी विरह-पीड़ा होती होगी ?

तब तो इसकी परीक्षा लेने ही जाना पड़ेगा ।

कल अवश्य जाऊँगी ।

किन्तु यह साहस यहीं उठकर यहीं समाप्त हो जाता है । ऐसा निश्चय तो नित्य ही करती हूँ ।

मथुरामें दधि बेचने जानेका रहस्य भी यही है ।

एक दिन मनके अनेकों आग्रहपर साहस हुआ । राजपथपर चली गयी ।

राजभवन दूरसे देखते ही पैर लड़खड़ाने लगे, पसीनेसे सारा शरीर भीग गया ।

क्यों ?

न जाने क्यों ?

द्वार-प्रहरी चिरपरिचित शत्रु-से दिखायी पड़ने लगे ।

उल्टे पैरों भगी । फिर मथुरामें 'ले दही' पुकारने तकका साहस न हुआ ।

किन्तु इससे क्या ? कल तो अवश्य जाऊँगी ।

प्रहरी मेरा क्या कर लेंगे ?

कह दूँगी, मथुरेशसे·········

आह ! जिसको सदा कन्हैया कहती रही, उसके लिये अचानक मथुरेश मुँहसे निकल भी सकेगा या नहीं, इसमें सन्देह है ।

तब फिर ?

तब फिर ?

कठोर हृदय ! क्या तू निश्चय ही करवाना चाहता है ? तो सुन बताती हूँ ।

आह ! क्या···ब···ता····ऊँ ।

(बैठी-बैठी मूर्च्छित होकर लुढ़क जाती है)

सङ्कीर्तन

(लेखक—श्रीसाकेतधामनिवासी श्रीविन्दु ब्रह्मचारीजी महाराज)

यन्नामसंसर्गवशाद्विवर्णौ
नष्टस्वरौ मूर्द्धिगतौ स्वराणाम् ।
तद्रामपादौ हृदये निधाय
देही कथं नोर्ध्वगतिं प्रयाति ॥

कतिपय सज्जनोंके अन्तःकरणोंमें यह अनुपपत्ति उत्पन्न होती है, कि अभिधेय (अर्थ) और अभिधान (शब्द) में व्यवधान है, जैसे 'शर्करा' शब्द और शर्करा-संज्ञक माधुर्य-गुण-विशिष्ट वस्तुविशेष स्वयं शर्करा । 'शर्करा' कहनेसे उस वस्तु-विशेषका ज्ञान तो होता है, परन्तु शर्करा-सेवनसे जो तृप्तिरूप मनकी स्थिति उत्पन्न होती है, वह नहीं होती । दूसरी विप्रतिपत्ति न्याय-मतावलम्बियोंकी ओरसे यह होती है कि शब्द अनित्य है, क्योंकि वह आकाश-सम्भूत है; और भगवन्नाम भी शब्द ही है, अतएव अनित्य है । अब इन विप्रतिपत्तियोंपर विचार करें । इसमें सन्देह नहीं कि शर्करा और शर्करानामक द्रव्य-विशेषमें अन्तर है । 'शर्करा' कहनेसे मुँह मीठा नहीं होता, प्रत्युत शर्कराके आस्वादनसे वैसा होता है । अतएव 'शर्करा' शब्द और शर्करा वस्तुमें अवश्य अन्तर है । जितने शब्द हैं, वे व्यवहारार्थ कल्पित हैं । कुछ पदार्थके गुण-धर्मको लेकर और कुछ स्वतः कभी किसी कारण-विशेषसे प्रयोगमें आ गये हैं । इसी लक्ष्यसे यौगिक और रूढ-भेद हुए हैं । ऐसे सम्पूर्ण शब्द प्राकृत हैं, अतएव लौकिक हैं । वैदिक और लौकिक--दो भेद शब्दोंके प्रायः साथ-ही-साथ अज्ञात कालसे चले आते हैं । दोनों ही व्यापक हैं । ब्रह्मवेत्ता अपनी ब्राह्मी स्थितिमें आत्मोद्रेकरूपसे जिनका प्रयोग करता है, उन्हें वैदिक कहते हैं और लोकमें भी जो जनसाधारणसे प्रयुक्त होते हैं, वे लौकिक कहलाते हैं ।

हम देखते हैं कि जो जिस भावनामें निमग्न होकर उसमें व्याप्त सत्यका दर्शन कर लेता है, अतएव भावना-विशेषमें सिद्ध होता है, उसकी वाणीमें सत्य व्याप्त होता है । अतः उसमें प्रभाव होता है । उसके आश्रयसे उसके साध्य-तत्त्वमें प्रवेश होता है । इसी प्रकार पूर्ण सत्यका जिन्होंने दर्शन किया है, उनके वाक्य आप्त वाक्य कहलाते हैं और वे वैदिक प्रभाव रखते हैं । उस पूर्ण सत्यके वे अङ्गोपाङ्गरूप होते हैं, उसीके विकार होते हैं । उनका कारण वह पूर्ण सत्य है और वही आदि शब्द, परम वेद 'ओ३म्' और 'राम' नाम हैं । यावत् अर्थ हैं, वे उस परम अर्थ, पूर्ण अभिधेय सदंश ब्रह्मके ही विकार हैं और शब्द चिदंशके । जो कुछ भेद—परिच्छेद है, वह प्रकृतिमें है, क्योंकि उसमें देश-कालका बन्धन है । इसी हेतु प्राकृत अथवा लौकिक शब्दोंमें अभिधेय और अभिधानका अभेद नहीं हो सकता । नाम ही नामी नहीं होगा । परन्तु अखिल वाच्य-वाचकोंका परम कारण सच्चिद्रूप शब्द-ब्रह्म अभेद है और हर एक पहलूसे अभेद है । क्योंकि वह पूर्ण तथा व्यापक है । अतः उसमें और उसके नाममें भी भेद नहीं होगा । परमात्माके 'राम' नाममें यह विशेषता है कि वह स्वतः सच्चिदानन्द-बीज है । समस्त शब्द और अर्थ क्रमशः परमात्माके चिदंश और सदंशसे उत्पन्न हुए हैं, परन्तु 'राम' शब्द सच्चिद्के साथ आनन्दस्वरूप भी है, जैसा महारामायणमें भी कहा है—'रस्याकारमयो नादः' तथा—

चिद्वाचको रकारः स्यात् सद्वाच्योऽकार उच्यते ।
मकारानन्दकं वाच्यं सच्चिदानन्दमव्ययम् ॥

अतः 'राम' नाम स्वतः सच्चिदानन्दस्वरूप है । वह सच्चिदानन्द वस्तु भी है, अर्थात् स्वयं परमार्थ-तत्त्वभूत वाच्य भी है और वाचक भी । अतएव उसके अभिधेय और अभिधानमें भेद नहीं है ।

एकमेवाद्वितीय पूर्ण व्यापक सच्चिदानन्द बीज अतएव स्वयं परमार्थ-तत्त्व होनेसे राम-नाममें भेद सम्भव ही नहीं । प्रकृतिके त्रिगुणात्मिका अतएव भेदरूप सिद्ध होनेसे, देश-कालके द्वारा परिच्छिन्न होनेसे उसके नाम-रूपमें और समस्त कार्योंमें भेद होना स्वाभाविक है । यह दोष त्रिगुणातीत अप्राकृत शुद्ध दिव्य सच्चिदानन्द-तत्त्वमें नहीं हो सकता । उसका अभेद किसी प्रकार आवृत नहीं हो सकता । दूसरी बात यह है कि जो विषय जिस इन्द्रियका होता है, उसीसे उसका ग्रहण अथवा उपभोग हो सकता है, दूसरीसे नहीं । रूपका अनुभव नेत्रोंसे ही होता है, श्रोत्रोंसे नहीं; रसका अनुभव रसनासे ही हो सकता है, श्रोत्रादिसे नहीं । इसी प्रकार शब्दका सम्बन्ध वाणीसे और श्रोत्रसे है । अतएव उच्चारण और श्रवणसे ही उसका ग्रहण और अनुभव होता है । मधुर गायन सुनकर और गाकर ही हम उसका आनन्दानुभव करते हैं । उसके आस्वादनका यही प्रकार है । राम-नामका अकार सद्रूप है, अतएव वह अर्थ-समूहका कारण

परम अर्थ है। समस्त अर्थरूप विकारोंका लयास्पद है; रकार चिद्रूप है, जो शब्द-समूहका हेतु महानाद है और मकार आनन्द-बीज है। अस्तु, उस अव्यय, अद्वैत, स्वयं सच्चिदानन्द परम तत्त्वमें लौकिक अथवा प्राकृत शब्दोंके दोष कदापि संलग्न नहीं हो सकते। जीवका ही ज्ञान आवृत होता है, क्योंकि वह अल्प है। परन्तु ब्रह्मके पूर्ण होनेसे उसका ज्ञान अखण्डैकरस अबाधित है। इसी प्रकार शब्दब्रह्म राम-नाम अखिल एवं परमार्थस्वरूप, नित्य अनावृत और अबाध है। अन्य सभी शब्द जीवकी भाँति खिल अथवा अल्प हैं। उनसे शब्दब्रह्म राम-नाम अथवा प्रणवकी समानता नहीं हो सकती। वही सनातन शब्द-ब्रह्म राम-नाम चन्द्रार्काग्नि-बीज होनेसे जगत्-ब्रह्मका भी हेतु है—'हेतु कृसानु भानु हिमकर को।'

सगुण ब्रह्म भी मानवाकार होता है। परञ्च जीव-कुलसे वह विलक्षण होता है। उसकी शक्ति और प्रभाव अलौकिक होते हैं। वह पुरुष होनेपर भी पुरुषोत्तम है। इसी प्रकार यद्यपि ईश्वरके नाम-रूपादि भी लोकवत् प्राकृत-से प्रतीत होते हैं; परन्तु वे प्राकृत नहीं हैं, दिव्य सच्चिदानन्द हैं—जैसा वसिष्ठ-संहितामें निर्दिष्ट है—

रामस्य नाम रूपं च लीला धाम परात्परम्।
एतच्चतुष्टयं नित्यं सच्चिदानन्दविग्रहम्॥

वर्णोंको वेद 'अक्षर' कहते हैं, उनका स्वरूपतः नाश नहीं होता। वे नित्य हैं। यहाँ यह अनुपपत्ति उपस्थित की जा सकती है कि हम किसी पत्र या पट्टपर मसि आदिसे अक्षरोंको लिपिबद्ध करते हैं, अतः वे धुल और मिट सकते हैं। यह सही है, परन्तु ये उन दिव्य अक्षरोंकी केवल प्रतिकृतियाँ और प्रतिलिपियाँ हैं, जो धुल और मिट सकती हैं। उनके वास्तविक रूप दिव्य ज्योतिर्मय हैं। वे शरीरके अन्तर्गत जो कतिपय चक्र अथवा कमल हैं, उनके दलोंपर अङ्कित हैं। वे ध्वनि, शक्ति और ज्ञान-तत्त्वोंसे पूर्ण हैं। योगियोंको अन्तर्जगत्‌में उनका प्रत्यक्ष अनुभव होता है। दिव्य तत्त्व होनेसे शरीरके नष्ट होनेपर भी वे नष्ट नहीं होते। वे अक्षर हैं और शरीर क्षर हैं। विभिन्न ज्ञान-शक्तियोंके आकार ही अक्षर हैं और उनके अनुरूप ही ध्वनियाँ होती हैं। ग्रामोफोनके रेकार्डोंकी तरह उन चक्र-दलोंपर ज्ञान-तत्त्वभूत उन ध्वनियोंकी रेखाएँ अङ्कित होती हैं और अखण्डैकरस रूपसे निनादित हुआ करती हैं। वे अनाहत हैं, अतएव नित्य हैं। उनका तार कभी टूटता ही नहीं। इसीलिये उन्हें 'अनाहत' कहते हैं। वे अनन्तकी शक्तियाँ हैं। अनन्त कालतक ध्वनित होती चली जायँगी। न जाने कितने प्रलय होंगे, कितनी ही सृष्टियाँ होंगी; परन्तु वे वैसी ही रहेंगी। उनकी निरवच्छिन्न ध्रुव धारा कभी भङ्ग नहीं हो सकती। पाञ्चभौतिकता अथवा अदिव्यता ही क्षर है। उसमें जो ईश्वरीय सत्ता निवास करती है, वह दिव्य तथा नित्य है। पाञ्चभौतिक सृष्टिका लय होता है, नाश नहीं होता। इसीलिये उसे प्रलय कहते हैं। कार्य अपने कारणमें लीन हो जाते हैं।

शब्द आकाशका गुण है सही, परञ्च 'राम' शब्द अथवा प्रणव वैसा नहीं है। वह तो सच्चिदानन्दात्मक साक्षात् शब्द-ब्रह्म ही है, जो सनातन है और जगत्‌का कारण है। यह वह तत्त्व है, जिससे जगत्‌की उत्पत्ति, प्रवृत्ति और निवृत्ति होती है और अखिल ब्रह्माण्डोंके विधि-हरि-हरोंका जिससे आविर्भाव और जिसमें तिरोभाव होता रहता है।—

'बिधि हरि हर मय बेद प्रान सो। अगुन अनूपम गुन निधान सो॥

प्रणव-निनादसे ही सम्पूर्ण छन्दों अथवा वेदोंका आविर्भाव हुआ और उसीसे जगत् भी उत्पन्न हुआ। जैसे जीवन्मुक्तोंका मन भी एक प्रकारका मन ही होता है, परन्तु वह कुछ विलक्षण, अतएव चिदाकार मन होता है। भगवदीय देह भी कहने भरको देह होती है; परन्तु वह साधारण देहोंसे कुछ भिन्न ही देहि-देह-विभागरहित चिन्मय होती है। उसमें अपने कारणोंसहित समस्त ब्रह्माण्ड ही लयीभूत रहते हैं। जैसे कामधेनु, कल्पतरु, चिन्तामणि, हंसावतार और शेषनाग तिर्यक्कोटिसे विलक्षण ही अपनी सत्ता रखते हैं, जो लौकिक चर-अचर जीवोंसे अपूर्व ही होती है। उसी प्रकार राम-नाम या ॐ आकाश-सम्भूत साधारण शब्दोंसे विलक्षण, अतएव आकाशके कार्य नहीं हैं। यह भी लक्ष्य करने योग्य बात है कि विभिन्न उपकरण विभिन्न गुणोंके प्रकट करनेके साधनमात्र होते हैं। नेत्रोंकी ज्योति बाहरी प्रकाशकी सहायतासे उनमें (नेत्रोंमें) प्रस्फुटित होती है। नेत्रोंकी सृष्टि इस प्रकारकी हुई है कि वे ज्योति अथवा रूपको ग्रहण करते हैं। हृदयमें रसका संस्कार होता है, उद्दीपनसे वह विकसितमात्र होता है। जिसके प्रति प्रेमोद्भव होता है, वह पूर्वसे ही अङ्कित होता है। हृदय एक ऐसा यन्त्र है, जो प्रेम-साधनका पात्र है। उसके द्वारा प्रेम परिसाधित और सङ्घटित होता है। घंटेपर आघात होनेसे ध्वनि निकलती है। शङ्ख और वंशी फूँकनेसे शब्द होता है। वे ऐसे उपकरण हैं, जो ध्वनिका

आविर्भाव करते हैं, न कि उनमें ध्वनि भरी हुई होती है और निकलती है ।

इसी प्रकार आकाश एक ऐसा सूक्ष्म अथ च व्यापक तत्त्व है, जो शब्दको प्रस्फुटित करता है और दिशाएँ उसका वहन करती हैं । जैसे नेत्रोंका तेज या ज्योतिसे घनिष्ठ सम्बन्ध है, वैसे ही आकाशका शब्दसे निकटतम सम्बन्ध है । वह शब्दोंका धारक और वाहक है, माध्यम है । उसके व्यापक होनेसे उसमें शब्दब्रह्मकी शक्तियोंका सञ्चार होता है । अतएव आकाश शब्दका कारण नहीं है । प्रत्युत वह उपयुक्त क्षेत्र है, जिसमें ज्योति और शब्द विकसित होते हैं । वह द्युलोक है, ज्योतिर्जगत् है । ध्वनिका आवास है । ज्योति और ध्वनिका घनिष्ठ सम्बन्ध है–'ध्वनेरन्तर्गतं ज्योतिः ज्योतिषोऽन्तर्गतं ध्वनिः'—ध्वनिमें ज्योति है और ज्योतिमें ध्वनि है । शब्द चितिशक्तिके विकास हैं । चिति-शक्ति ही ज्ञान-शक्ति और वाग्देवी है । अतएव आकाशादि महाभूत चेतन शक्तिके कारण कदापि नहीं हो सकते । यह कहना कि आकाशके नाशसे शब्दका अभाव हो जाता है, वैसा ही है जैसे यह कहा जाय कि कानोंके फूट जानेसे शब्दोंका नाश हो जाता है । कानोंके फूट जानेपर केवल यह कहा जा सकता है कि शब्द-श्रवणके साधनका अभाव हो गया है । राम-नाम आत्माका निनाद है । आकाशके लीन हो जानेपर उसका अभाव कैसे हो सकता है । शब्द चिदंशका, अर्थ सदंशका एवं नाद आनन्दांशका विकास है । तीनोंका घनिष्ठ सम्बन्ध है और अभेद है । राम-नाम स्वयं सच्चिदानन्दस्वरूप है, सच्चिदानन्द-बीज है ! और सत्-चित्-आनन्दके योगसे निष्पन्न हुआ परम तत्त्व ही उसका अभिधेय है । दोनों अभिन्न हैं । पुनः महदाकाशके बाद भी दो आकाश और हैं--चिदाकाश और नित्याकाश, जो अविनाशी अतएव दिव्य हैं और केवल योगिगम्य हैं तथा जिनका प्राचीय कपिल-गीतामें निर्देश है--

तारकं च घटाकाशो मठाकाशश्च दण्डकम् ।
कुण्डलं महदाकाशश्चिदाकाशोऽर्द्धचन्द्रकम् ।
विन्दुराकाशसम्मुक्तं एवं चाकाशपञ्चकम् ॥

निराकाश ब्रह्मस्वरूप है, जिसे वेद 'ओं खं ब्रह्म' कहते हैं और जो सम्पूर्ण आकाशोंका परम कारण है । ये दिव्याकाशयुग्म (चिदाकाशोऽर्द्धचन्द्रकम, विन्दुराकाशसम्मुक्तम्) राम-नाम अथवा प्रणवके अधिष्ठान हैं । जिस तरह मठाकाशके नाशसे महदाकाशका नाश नहीं होता, उसी प्रकार महाकाशके नाशसे इन आकाशद्वयका नाश नहीं होता; क्योंकि ये अप्राकृतिक अतएव अपाञ्चभौतिक हैं । आकाशके गुण नहीं हैं । जैसे योगमायाके आश्रयसे भगवान् अवतरित होते हैं, वैसे ही उनका दिव्य नाम भी आकाशके आश्रयसे आविर्भूत होता है । वह प्रकृति-मण्डलमें उसके अवतरणका द्वारमात्र है । वस्तुतः आकाशसे जो आवाज होती है, उसे 'ध्वनि' कहते हैं, शब्द नहीं । शब्द तो चिदंशका ही विकार है, वह ज्ञानात्मक है । राम-नाम वह तत्त्व है, जो रकार-मकारसे व्यञ्जित होता है । जैसे स्थूल शरीरके आकारका ही सूक्ष्म शरीर होता है, वैसे ही लिपिबद्ध राम-नामके आकारका ही उसका दिव्य स्वरूप है । साधनसे उस आकारमें उत्तरोत्तर अद्भुत चमत्कारका उदय होता है, और अन्तमें नाम-नामीका स्वरूपतः अभेद दर्शन हो जाता है । जो राम-नामके वर्णोंका व्यङ्ग्य है, वही दिव्य सच्चिदानन्द राम-नाम है, वही शब्द-ब्रह्म है । वैयाकरणोंके पारिभाषिक स्फोटका तात्पर्य भी उसी ज्ञानमय प्रज्ञानानन्दस्वरूपमें पर्यवसित होता है । वर्ण और अर्थसे जो व्यञ्जित और लक्षित होता है, वही मुख्य शब्द है, शब्दका स्वरूप है, वह नित्य है। मनुष्यकी लेखनीसे विन्यस्त हुए और आकाशसे ध्वनित हुए शब्दोंके स्थूल रूपका आविर्भाव और तिरोभाव होता ही है और होगा ही । परन्तु इससे उनके दिव्य और वास्तविक आकार तथा स्वरूपका कदापि अस्वीकार नहीं किया जा सकता । जैसे श्रीराम-कृष्णादि अवतार अब इस लीला-विभूतिमें हमारे सामने नही हैं, उनका प्रत्यक्षमें अदर्शन है; परन्तु इससे उनकी दिव्यस्वरूप-स्थितिका अभाव नहीं होता । जैसे दशरथादिमें उनका जनकत्व लीलामात्रके लिये सिद्ध है, वैसे ही शब्द-ब्रह्म राम-नाम तथा आकाशके सम्बन्धमें समझना चाहिये ।

समस्त भगवन्नाम राम-नामके ही अङ्ग अथवा अंश हैं--'सहस्रनाम तत्तुल्यं रामनाम वरानने ।' भगवान् शङ्कर-का यह श्रीमुख-वचन अत्यन्त व्यापक है । गोस्वामीजी भी उसकी आवृत्ति करते हैं--'सहस नाम सम सुनि सिव बानी !' अतः भगवान्के सभी नाम कल्याणकारक और नित्य हैं--

राका रजनी भगति तव राम नाम सोइ सोम ।
अपर नाम उडगन बिमल बसहुँ भगत उर ब्योम ॥

भगवान्के हर एक नाममें भगवदीय दिव्य गुण सन्निहित हैं, वे सभी प्रकारके कल्याण करनेवाले हैं । उनके जप,

स्मरण और कीर्तनसे साधकमें उन भगवदीय दिव्य गुणों-का सञ्चार होता है।

अस्तु, अब मैं अपने पथका संशोधन करता हुआ अपने मुख्य लक्ष्यपर आता हूँ। भगवान्की नवधा भक्तिमें एक कीर्तन भी है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

यह भागवतकी नवधा भक्तिका क्रम है। मानसजीकी नवधा भक्तिका दूसरा क्रम है, 'दूसरि रति मम कथा प्रसंगा।' कीर्तन यशोगानको कहते हैं। भगवान्के दिव्य गुण-चरित्रोंका श्रद्धापूर्वक कथन करना ही कीर्तन है।

श्रीमन्मानसकार कथाप्रसङ्गकी रतिमें नाम-चरितके श्रवण और कीर्तन दोनोंको लेते हैं और गुण-कीर्तनको अलग लेते हैं। महर्षि वाल्मीकि भी निकेतोंका निर्देश करते हुए कहते हैं—

जस तुम्हार मानस बिमल हंसिनि जीहा जासु।
मुकुताहल गुनगन चुनइ राम बसहु हियँ तासु॥

इसमें भी कीर्तनका संकेत है। गीतामें श्रीमुख-वचन है—

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥

यहाँ भी कीर्तनसे भगवन्नाम-यशोगुणाख्यान ही अभिप्रेत है। कहीं 'हरिकीर्तनात्', कहीं 'नामसङ्कीर्तनं हरेः' इत्यादि उपदिष्ट हैं। तात्पर्य एक ही है, भगवान्के नाम-गुण-चरितका कथनोपकथन। नाम उसका तत्त्व है, स्वरूप उसका स्वत्व है, गुण उसका सत्त्व है और चरित उसका महत्त्व है एवं धाम उसका अस्तित्व है, प्रतिष्ठा है। चारोंका एकत्व है—नाम-रूपी बीजके ये शाखा-पत्र-पुष्प-फलके समान हैं। इसी हेतु—

ब्रह्म राम ते नाम बड़ बरदायक बरदानि।
राम चरित सत कोटि महँ लिय महेस जियँ जानि॥

'देखिअहिं रूप नाम आधीना। रूप ग्यान नहिं नाम बिहीना॥'
'समुझत सरिस नाम अरु नामी। प्रीति परस्पर प्रभु अनुगामी॥'
'अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी। उभय प्रबोधक चतुर दुभाषी॥'
'मोरें मत बड़ नाम दुहू तें। किए जेहिं जुग निज बस निज बूतें॥'
सुमिरिअ नाम रूप बिनु देखें। आवत हृदयँ सनेह बिसेषें॥
नाम निरूपन नाम जतन तें। साउ प्रगटत जिमि मोल रतन तें॥'

वेद भी कहते हैं—'यस्य नाम महद्यशः' तथा—

यथैव वटबीजस्थः प्राकृतश्च महाद्रुमः।
तथैव रामबीजस्थं जगदेतच्चराचरम्॥
रेफारूढा मूर्तयः स्युः शक्तयस्तिस्र एव च।

(रामतापिनी)

तात्पर्य यह कि शब्द-ब्रह्म ही जगद्ब्रह्मका कारण है, उसीका वह विकार है। शब्द स्वतन्त्र सनातन ब्रह्म है। शब्दाद्वैतके सिद्धान्तका श्रीमन्मानसकारने पूर्णतया प्रतिपादन किया है। रामतापिनी भी इससे सहमत है, जैसा पूर्वमें उदाहृत हुआ है। पूर्वमीमांसक और वैयाकरण भी इसीके पोषक हैं। शब्दब्रह्मकी निरपेक्ष स्वतन्त्रता उन्हें भी अभिमत है। अतः नाम-रूप अथवा पद-पदार्थका अभेद मानते हुए नामका अवलम्बन लेना सब प्रकार निरापद एवं सरल साधन है, सुगम तथा निष्कण्टक मार्ग है, और इस कलिमें तो वही मुख्य योग है। भगवान् पतञ्जलि भी निर्देश करते हैं—

'तज्जपस्तदर्थभावनम्' विशेषकर इस कलिमें तो यही मुख्य साधन है—'कलौ तद्धरिकीर्तनात्।'

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

नहिं कलि करम न भगति बिबेकू। राम नाम अवलंबन एकू॥

भगवन्नामका कीर्तन, चाहे वह अकेले हो अथवा सामूहिक रूपसे समारोहमें किया जाय, सर्व देश-कालमें सर्वश्रेष्ठ योग है। भगवान्में प्रीति उत्पन्न करनेका इससे बढ़कर कोई साधन ही नहीं है। वाणी चिति-शक्तिकी धारा है। उसका आश्रय ठीक-ठिकाने सीधे सच्चिदानन्दतक पहुँचा देनेमें अद्वितीय है।

यह निर्विवाद संवाद है। इसमें एक अपूर्व वैशिष्ट्य यह है कि इसमें श्रवण और कीर्तन साथ साथ होता है, जो चित्तको एकाग्र और तल्लीन करनेका एक ही सुकर उपाय है। सामूहिक कीर्तन कोई नवीन पद्धति नहीं है, यह पहलेसे ही चला आता है। भक्तराज प्रह्लादजी अपने सहपाठी बालकोंके साथ ही कीर्तन करते थे। वेदोंका पाठ भी सहयोग-पूर्वक होता ही है। वह भी शब्द-ब्रह्मका कीर्तन ही तो है। सामूहिक कीर्तन सामूहिक हितका विशेष रूपसे उदय करता है। यह विशेष लाभ है। हाँ, इतना अवश्य स्मरण रखनेकी बात है कि चाहे साधन कोई हो, बुद्धि अपने लक्ष्यमें स्थिर

रहे। यही वास्तविक योग अथवा साधन है। भक्तराज श्रीनामदेवजी अपने एक अभङ्गमें कहते हैं--

स्मरण करितां रामनाम ध्वनी। एकतां चिकणी पळेयम् ॥
नाम। पाठ करी राम कृष्ण हरी। होतिल कामारि ऋद्धि सिद्धि ॥

अर्थात् रामध्वनि कर्णगोचर होते ही यमका भय दूर हो जाता है। राम, कृष्ण, हरि—इन भगवन्नामोंका कीर्तन करनेवालेकी सेवामें ऋद्धि-सिद्धियाँ आकर उपस्थित हो जाती हैं। हरिनाम सम्पूर्ण ऐहिकामुष्मिक सुखोंका कारण है—'लोक लाहु परलोक निबाहू।' बंगालमें श्रीचैतन्य महाप्रभु तथा महाराष्ट्रमें श्रीतुकारामजी सामूहिक कीर्तनके प्रमुख प्रवर्तक हुए हैं। इन्होंने भक्ति-भागीरथीकी पुण्य धारा बहा दी, जिसमें आबाल-वृद्ध-वनिताके हृदय आप्लावित हो उठे और देशसे पाप-ताप एक सुदूर सीमातक पलायन कर गये। तबसे सामूहिक कीर्तन विशेषरूपसे चल पड़ा और सम्प्रति जनताका ध्यान पुनः उसकी ओर आकृष्ट हो चला है, जिसकी अत्यन्त आवश्यकता है।

गीताका तीसरा अध्याय—कर्मयोग

(लेखक—पं० श्रीमुरलीधरजी शर्मा, बी० ए०, बी० एल्०)

[गताङ्कसे आगे]

सब काम प्रकृतिके खेल हैं और आसक्तिका कारण अज्ञान है (गीता ३ । २७–२९)

यह कहा जा चुका है कि कर्म स्वतः किसीको नहीं बाँध सकता। आध्यात्मिक दृष्टिसे जीवको शोक, मोह और जन्म-मरणके बन्धनमें डालनेवाली दो वस्तु हैं—एक अहंता, जिसके अस्मिता, अहङ्कार, चिज्जडग्रन्थि आदि नाम हैं और दूसरी ममता, जिसे आसक्ति, सङ्ग, काम, फलाशा आदि शब्दोंसे कहा है। ये दोनों ही मायाके कार्य हैं, जिनका विनाश प्रकृति और पुरुषके विवेक-ज्ञानसे ही हो सकता है। इनसे छूटा कि जीवकी मुक्ति हुई--

तस्य हेतुरविद्या। तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्। विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः।

(पातञ्जलयोगदर्शन २ । २४–२६)

'ममता' या आसक्तिका वर्णन ऊपर हो चुका है। अब 'अहंता'—अहङ्कारका स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् कहते हैं—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥

(गीता ३ । २७)

अर्थात् '(वास्तवमें) सब कार्य हर तरहसे प्रकृतिके गुण ही कर रहे हैं, पर जिस आदमीका अन्तःकरण 'अहङ्कार' से मोहमें फँसा हुआ है, वह अपने आपको कर्ता समझता है।' कापिल सांख्यशास्त्र सृष्टिके दो मुख्य तत्त्वोंको मानता है—एक प्रकृति और दूसरा पुरुष। तमाम संसार इन दोनोंके 'संयोग' से पैदा होता है (गीता १३ । २६; योगदर्शन २ । १७)। इनमें प्रकृतिको स्व और पुरुषको स्वामी, प्रकृतिको दृश्य और पुरुषको द्रष्टा तथा प्रकृतिको भोग्य और पुरुषको भोक्ता कहते हैं। पुनश्च पुरुष चैतन्यरूप और प्रकृति जड या अचेतन, पुरुष अकर्ता व उदासीन और प्रकृति सर्वकार्यकर्त्री, पुरुष निर्गुण और प्रकृति गुणमयी यानी त्रिगुणात्मिका एवं पुरुष निर्विकार और प्रकृति प्रतिक्षण परिणामिनी है। सत्त्व, रज और तम—ये तीन प्रकृतिके गुण हैं—'सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः' (गीता १४। ५)। ये प्रतिक्षण कुछ-न-कुछ कार्य करते रहते हैं। सत्त्वगुण शान्त, लघु, निर्मल और प्रकाशक है; इससे सुख, ज्ञान आदि उत्तम कार्य होते हैं। रजोगुण चञ्चल, रागात्मक और क्रियाशील है, इससे तृष्णा, लोभ, दुःख, प्रवृत्ति, अशान्ति, कर्मक्षमता आदि कार्य पैदा होते हैं। तमोगुण गुरु, आवरणकर्ता और मोहमें डालनेवाला है; इससे निद्रा, आलस्य, मोह, प्रमाद आदि नीच कार्योंकी उत्पत्ति होती है। इन्हीं गुणोंकी रगड़-झगड़से महत्तत्त्व, अहङ्कार, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, श्रोत्र, चक्षु, त्वचा, जिह्वा, नासिका, हाथ, पैर, वाणी, गुदा और मूत्रेन्द्रिय--ये तेईस तत्त्व पैदा होते हैं (गीता १३ । ५, १९)। इनमें प्रकृति और पुरुषको जोड़नेसे सांख्यशास्त्रके पचीस तत्त्व सिद्ध हो जाते हैं। तेईस तत्त्व प्रकृतिकी

सन्तान हैं। पुरुष केवल और निर्विकार है। इनमें सांख्य-शास्त्रके परिभाषानुसार मूल प्रकृतिको 'प्रधान', 'अलिङ्ग', 'अव्यक्त', 'प्रसवधर्मिणी,' 'गुणक्षोभिणी', महत्तत्त्वको 'लिङ्गमात्र' और व्यष्टि महत्तत्त्वको 'बुद्धि' भी कहते हैं। मन, बुद्धि और अहङ्कारको 'अन्तःकरण,' शब्द आदि पाँच तत्त्वोंको 'पञ्चतन्मात्र,' 'सूक्ष्मभूत', 'अविशेष', 'विषय', 'इन्द्रिय-गोचर' और पृथ्वी आदि पाँच तत्त्वोंको 'पञ्चमहाभूत' या 'स्थूलभूत' कहा गया है। श्रोत्र, चक्षु आदि दस 'इन्द्रिय' हैं, जिनमें पहली पाँच 'ज्ञानेन्द्रिय' और शेष पाँच 'कर्मेन्द्रिय' कही गयी हैं। पञ्च महाभूत, दस इन्द्रिय और मन—इन सोलह तत्त्वोंको 'विकार' या 'विशेष' कहते हैं। यह सब सांख्यशास्त्रके अनुसार तत्त्वोंकी पारिभाषिक संज्ञा है। तीनों गुणोंमें कभी सत्त्व रजोगुण और तमोगुणको, कभी रजोगुण सत्त्व और तमोगुणको और कभी तमोगुण रजोगुण और सत्त्व-गुणको दबाकर बढ़ता रहता है (गीता १४ । १०)। पुरुष तटस्थ और अकर्ता है; वह साक्षीमात्र-द्रष्टा है (देखिये गीता २ । १९; ५ । १४-१५; १३ । २९, ३१)। सृष्टिके प्रारम्भसे प्रलयपर्यन्त जितने भी छोटे-बड़े उत्पत्ति-विनाशात्मक कार्य होते रहते हैं, वे सब गुणोंके पारस्परिक सङ्घर्षके परिणाम हैं (देखिये गी० १३ । २०; १४ । १९, २३; १८ । ५९)। प्रकृति स्वयं जड है; वह पुरुषके 'संयोग' के बिना कुछ कार्य नहीं कर सकती, इसलिये पुरुष उसका स्वामी कहा गया है। जिस प्रकार सैनिकोंकी विजय-पराजयसे राजाकी हार-जीत कही जाती है, वैसे ही प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये गये कार्योंका पुरुष 'कर्ता' कहा जाता है। वास्तवमें वह दूर बैठे हुए राजाकी तरह देखता ही है, करता नहीं (देखिये पातञ्जल-योगदर्शन, व्यासभाष्य २ । १८)। फिर भी अज्ञानके कारण मनुष्य झूठा अहङ्कार करता है कि 'अहं कर्ता'—'मैं कर्ता हूँ'। इस अहङ्कारके कारण यह आसक्ति पैदा होती है कि 'मैं अमुक कार्यको करता हूँ, इसलिये मुझको फलाँ-फलाँ फल मिले' इत्यादि। '(प्रकृतिके) गुण और उनके कार्योंसे आत्मा भिन्न है, इस तत्त्वको जिसने जान लिया है, वह पुरुष तो 'गुण ही गुणोंमें बर्त रहे हैं' ऐसा समझकर कभी कर्तृत्वाभिमान और फलाशा नहीं रखता। (इसके विपरीत) प्रकृतिके गुणोंसे मोहमें फँसे हुए अज्ञानी लोग गुण और उनके कार्योंमें आसक्त रहते हैं। उन कम समझ मन्द बुद्धिवाले आदमियोंको सर्वज्ञ पुरुष (स्वयं कर्म छोड़कर कर्ममार्गसे) विचलित न करे' (गी० ३ । २८, २९)। सारांश यह है कि ज्ञानी पुरुषको खुद कर्मसंन्यास करके दूसरोंको कर्मसे हटाना नहीं चाहिये, बल्कि अहंता-ममता छोड़कर स्वार्थरहित दृष्टिसे लोककल्याणके लिये स्वयं काम करते हुए दूसरोंसे भी वैसे ही कराना चाहिये।

भक्ति और निष्काम कर्मयोग (गी० ३ । ३०)

यह सच है कि आत्मा अकर्ता और उदासीन है तथा तमाम कार्य प्रकृतिके गुण ही कर रहे हैं, पर यह यथार्थ ज्ञान लाखों आदमियोंमेंसे किसी एकको होता है। अनादि मायाकी वासनाके संसर्गसे प्रभावित जीव प्रकृतिके कार्योंको अपना किया हुआ मानकर 'अहङ्कार' में फँस जाता है और बाह्यरूपेण अपनेसे सम्बन्ध रखनेवाले पदार्थों और जीवोंमें 'ममता' भी रखता है। अहंता और ममताका नाश ज्ञानके बिना और किसी दूसरे उपायसे नहीं हो सकता और ज्ञान हर एक आदमीको नहीं होता; वह तो बड़ा विकट मार्ग है—'दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति' (कठोपनिषद् १ । ३ । १४)। फिर और लोगोंके लिये बन्धनसे छूटनेका क्या उपाय है? केवल कर्मयोग भी कठिन है, क्योंकि इसमें भी अपनी बुद्धिके सहारे चलना पड़ता है। बुद्धि जरा गड़बड़ायी कि मार्ग छूटा। सुख-दुःखको समान समझना, सब काम करते हुए भी अपनेको कर्ता न मानना और सब शक्तियोंको लगाकर किये गये कामोंके फलकी आशा छोड़ देना—कोई मामूली खेल या हँसी-ठट्ठा नहीं है। बुद्धिको सम रखनेका काम कृपाणकी धारपर चलनेके समान विषम है। केवल ज्ञानयोग और केवल कर्मयोगकी कठिनाईको दूर करनेके लिये भक्तिके समावेशसे दोनोंका सामञ्जस्य करके ज्ञानमूलक भक्तिमिश्रित निष्काम कर्मयोगका प्रतिपादन करते हुए भगवान् अर्जुनसे बोले—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥
(गीता ३ । ३०)

अर्थात् 'सब कर्मोंको अध्यात्मबुद्धिसे मेरे अर्पण करके और फलाशा तथा ममताको छोड़कर निश्चिन्त हो युद्धमें लग जा। भगवान्ने निश्चिन्त होनेका उपाय बतलाया है आशा और ममताका त्याग; ममता और फलाशाको छोड़नेका उपाय पूर्वार्द्धमें बतलाया है—'सब कामोंको अध्यात्मबुद्धिसे मेरे अर्पण करो।' इस प्रणालीको 'ईश्वरार्पण-बुद्धिसे कर्म करना' कहते हैं। योगदर्शनकार महर्षि पतञ्जलिने इसको 'ईश्वर-

प्रणिधान' नाम दिया है। जिसका लक्षण व्यासभाष्यमें इस प्रकार किया गया है--

'ईश्वरप्रणिधानं तस्मिन् परमगुरौ सर्वकर्मार्पणम्।'

(यो० द० २ । ३२)

अर्थात् 'उस परमगुरु परमेश्वरमें सब कामोंको अर्पण करना 'ईश्वरप्रणिधान' है। पतञ्जलिने कहा है कि इस ईश्वरप्रणिधानसे योगकी पराकाष्ठा--समाधि सिद्ध हो जाती है, 'समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्' (यो० द० २ । ४५)। 'ईश्वरार्पण कर्म' या 'ब्रह्मार्पण कर्म' का स्वरूप इस प्रकार कहा गया है—

कामतोऽकामतो वापि यत्करोमि शुभाशुभम्।
तत्सर्वं त्वयि संन्यस्तं त्वत्प्रयुक्तः करोम्यहम्॥

अर्थात् '(हे ईश्वर!) इच्छासे या अनिच्छासे जो भी कुछ शुभ या अशुभ कर्म करता हूँ, वह सब तेरे अर्पण है। मैं तेरी प्रेरणासे काम करता हूँ।' कूर्मपुराणमें कई तरहके 'ईश्वरार्पण कर्म' बतलाये गये हैं। गीता स्वयं इस प्रकार कहती है—

'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥'

(गीता ९ । २७)

अर्थात् 'हे अर्जुन! भोजन, होम, दान, तप आदि जो भी कर्म तुम करते हो सबको मेरे अर्पण कर दो।' श्रीमद्भागवतमें भी इसी अभिप्रायको विस्तारसे ईश्वरार्पण कर्ममें दिखलाया गया है (११ । २ । ३६; ११ । ११ । २४)। इस ईश्वरार्पण बुद्धिसे किये गये कर्मोंके फलके विषयमें गीताका कथन है—

'शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।'

(९ । २८)

'इस प्रकार कार्य करनेसे कार्मोंके शुभ और अशुभ फलोंके बन्धनसे छूट जाओगे।' और भी--

'ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥'

(गीता ५ । १०)

अर्थात् 'जो आदमी आसक्ति छोड़कर 'ईश्वरार्पण कर्म' करता है, वह जलसे कमलके पत्तेकी तरह पाप-पुण्यसे लिप्त नहीं होता।' अहन्ता और ममताको छोड़नेका जटिल प्रश्न कितनी सरलता, सरसता और सुन्दरतासे हल कर दिया। ईश्वरार्पण कर्म करो, फिर जिम्मेवारी ईश्वरकी है। अधःपतनका कोई भय ही नहीं। निश्चिन्त और उद्वेगहीन रहनेका कैसा सुन्दर उपाय! स्वार्थ भी सिद्ध किया और परमार्थ भी; प्रपञ्च सेया और राम भी भजा; दीन और दुनिया—दोनोंकी सेवा की। इस भक्तियुक्त निष्काम कर्मयोगकी सतत उपासनासे कालान्तरमें शुद्ध सच्चिदानन्दघन परब्रह्मका ज्ञान हो जाता है और तदनन्तर तल्लीनता (देखिये—गीता ८ । १४-१६; ९ । २२, २७, २८; ११ । ५५; १८ । ४६, ५५-५८)। भक्त कर्मयोगीको भगवान्ने सर्वश्रेष्ठ बतलाया है—

'योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥'

(गीता ६ । ४७)

'सब योगियोंमें भी मैं उसे ही श्रेष्ठ मानता हूँ जो कि मन लगाकर श्रद्धापूर्वक मुझे भजता है।'

भक्तियुक्त कर्मयोगकी प्रशंसा (गीता० ३।३१-३२)

भगवान् कहते हैं—

'जो मनुष्य दोषदृष्टिको छोड़कर श्रद्धायुक्त हो मेरे उपर्युक्त मतके अनुसार काम करते हैं, वे कर्मोंके बन्धनसे मुक्त हो जाते हैं। (चूँकि भगवान्को जगच्चक्रकी स्थिति अभिप्रेत है, इसलिये जीवोंको अनन्त कालतक इसीमें पड़े रखनेके लिये बन्धनकारी 'कर्म' का उपदेश दिया है—इत्यादि) दोषदृष्टि रखकर जो मेरे मतानुसार बर्ताव नहीं करते, उन सर्वथा मूढ और मन्दबुद्धिवाले आदमियोंको तुम नष्ट हुए समझो।' इस प्रकार अन्वयव्यतिरेकसे किया गया ज्ञानमूलक भक्तियुक्त कर्मयोगका प्रतिपादन भगवान्को मुख्यतया अभिप्रेत है।

प्रकृतिकी प्रबलता और उसका दमन

(गीता ३ । ३३-३४)

उक्त फल-श्रुतिपर यह प्रश्न उठता है कि यदि यह मत ही सर्वश्रेष्ठ है तो फिर सब लोग उसे क्यों नहीं मानते! गीता इसका यों उत्तर देती है—'सब प्राणी अपनी-अपनी आदतपर चलते हैं; (और तो क्या, स्वयं) ज्ञानी भी अपनी

प्रकृतिका अनुवर्तन करता है। इसमें किसीकी जबर्दस्ती क्या काम देगी ?' (गी० ३ । ३३)। यदि ऐसा है तो उक्त मत-विरोधियोंकी निन्दा करना व्यर्थ है, क्योंकि सब आदतसे लाचार हैं। वास्तवमें अभिप्राय यह है कि प्रकृतिकी शक्ति अति महती है; वह ज्ञानीतकको डिगानेकी हिम्मत रखती है। परन्तु वह एकदम नहीं बदली जा सकती। दुर्दान्त घोड़ेकी तरह धीरे-धीरे उपायोंद्वारा ही उसका नियमन किया जा सकता है। राग और द्वेष—इन दो मनोवृत्तियोंके द्वारा ही प्रकृति अपना रूप प्रकट करती है। इनके निग्रहसे ही जीवकी प्रकृतिका नियन्त्रण हो सकता है। मनुष्यकी यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह सुखको चाहता है और दुःखसे घबराता है—'दुःखादुद्विजते सर्वः सर्वस्य सुखमीप्सितम्' (महाभारत शा० प० १३९ । ६१)। बहुधा ऐसा देखा जाता है कि काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, दुःख आदि कारणोंसे धर्म या कर्तव्यसे द्वेष और अधर्ममें राग हो जाता है, जिससे मनुष्य अधोगतिके अन्धकूपमें गिर पड़ता है, इसलिये गीताका उपदेश है—

'इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥
(३ । ३४)

अर्थात् '(नेत्र आदि) इन्द्रियोंका (रूप आदि) अनुकूल विषयमें राग और प्रतिकूल विषयमें द्वेष अवश्यम्भावी है, पर उन राग-द्वेषके वशमें नहीं होना चाहिये, क्योंकि वे मनुष्यके शत्रु हैं।' इनके कारण ही आदमी अपने सर्वस्व--धर्म--से च्युत हो जाता है या स्वधर्मको त्यागकर परधर्मको अपना लेता है, पर ये दोनों ही मनुष्यकी पतित अवस्थाएँ हैं, क्योंकि—

स्वधर्मपालन ही सर्वश्रेष्ठ है (गीता ३ । ३५)

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥
(गीता ३ । ३५)

'अपना धर्म कुछ गुणहीन होनेपर भी दूसरोंके गुणसम्पन्न धर्मसे अच्छा है। (दूसरेके धर्ममें रहकर जीनेकी अपेक्षा) अपने धर्ममें मर जाना भी उत्तम है, क्योंकि दूसरेके धर्ममें (अधःपतनका) डर रहता है। यह श्लोक थोड़ेसे पाठभेदसे मनुस्मृतिमें इस प्रकार मिलता है—

वरं स्वधर्मो विगुणो न पारक्यः स्वनुष्ठितः ।
परधर्मेण जीवन् हि सद्यः पतति जातितः ॥
(१० । ९७)

श्लोकका भाव अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह सब लोगोंको अपने-अपने धर्ममें पूर्ण श्रद्धासे तत्पर रहनेका आदेश करता है। इस भावनाके बिना मनुष्यमें सच्ची कर्तव्य-बुद्धि नहीं आ सकती और कर्तव्यबुद्धिके बिना कोई भी अनन्यभावसे स्वधर्मपरायण नहीं हो सकता। इसी विशेषताके कारण भगवान्ने इस प्रकरणका फिरसे अठारहवें अध्यायके अन्तमें विवेचन किया है और वहाँ इस श्लोकका पूर्वार्द्ध ज्यों-का त्यों आया है (१८ । ४५-४८; १८ । ४७)। यों देखा जाय तो सभी कामोंमें अग्निमें धूएँकी तरह कुछ-न-कुछ दोष मिल ही जाते हैं—'सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः (गीता १८ । ४८)। ब्राह्मणका धर्म सर्वोत्तम है, पर क्या उसमें दरिद्रता, प्रतिग्रह, अपरिग्रह, कष्टसहिष्णुता आदि दोष नहीं हैं ? क्या क्षत्रियके श्रेष्ठ धर्ममें युद्ध, प्रजापालन आदि कष्टकारक कर्म नहीं हैं ? वैश्यके उच्च और समृद्धिकारक धर्ममें देश-विदेशोंमें भटकते हुए जंगल, पहाड़ और समुद्रोंको लाँघकर धनको कमाना पड़ता है। क्या यह सरल धंधा है ?। शूद्रका परम धर्म 'सेवा' कष्टमय जरूर है, पर क्या संसारका कोई भी धर्म शुद्धचित्त और निष्काम भावनासे की गयी सेवाकी तुलनामें ठहर सकता है ? इस कारण भगवान्का कहना है—

'सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।'
(गीता १८ । ४८)

'हे अर्जुन ! कुछ दोषयुक्त होनेपर भी अपने स्वभावसिद्ध कर्मको नहीं छोड़ना चाहिये।' यदि यह व्यवस्था न हो तो किसी भी कठिनाईके आनेपर या दोषके दीखनेपर सब लोग अपना-अपना धर्म छोड़ बैठेंगे और मनमाने तरीकेसे काम करके अपने-आपको और साथ ही तमाम समाजको ऐहिक और पारलौकिक उन्नतिसे हटाकर अधोगतिकी तरफ़ अग्रसर करेंगे। इस अवसरपर एक शङ्का होती है कि अपने विगुण धर्मको भी दूसरेके सर्वाङ्गसुन्दर धर्मसे श्रेष्ठ मानना अपने-आपको जान-बूझकर धोखेमें डालना है। यह तो उन अन्धविश्वासी आदमियोंका-सा काम है जो 'खारे पानीको भी अपने बापके कूएँसे निकला हुआ होनेके कारण पीते हैं'—'तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाणाः क्षारं जलं कापुरुषाः पिबन्ति ।'

इसके समाधानके लिये गीताकारका कहना है कि जिसका जो धर्म या कर्तव्यकर्म है, वही उसके लिये श्रेष्ठ है, चाहे वह खुदको या और लोगोंको दोषयुक्त भी दीख पड़े; उसको छोड़ देना श्रेयस्कर नहीं है (गीता ३ । ३५; १८ । ४७, ४८) । उदाहरणार्थ, ब्राह्मणका कर्म ब्राह्मणके लिये श्रेष्ठ है और शूद्रका शूद्रके लिये; सिपाहीका धर्म सिपाहीके लिये श्रेयस्कर है और सेनापतिका सेनापतिके लिये । अपने कर्तव्यको छोड़कर सेनापतिके कामके लिये ललचानेवाला सिपाही अपने-आपको गिराता है और सेनामें अव्यवस्था उत्पन्न करनेका दोषी बनता है । ऐसी मनोवृत्तिसे व्यक्ति और जाति दोनोंकी हानि है । कर्तव्य-पालन ही परमात्माकी पूजा है(work is worship) जिससे मनुष्य परम कल्याणका भागी बनता है—

> यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
> स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥'
>
> (गीता १८ । ४६)

'जिस परमात्मासे सब जीवोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह सब जगत् व्याप्त है, उसकी अपने कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य सिद्धि प्राप्त कर लेता है ।' इससे यह सिद्ध हुआ कि 'धर्मके सम्बन्धमें नृप और रंक समान हैं । यदि राजा अपने धर्मका पालन नहीं करता है तो वह अधोगतिको प्राप्त होगा और यदि टूटी झोंपड़ीमें भी किसी तरह निर्वाह करनेवाला गरीब आदमी स्वधर्मारूढ़ है तो वह निःसन्देह सद्गतिका अधिकारी है । इस समग्र विवेचनसे यही सार निकलता है कि मोक्षका द्वार किसीके लिये भी बंद नहीं है और न उसका उपाय ही उतना कठिन है जितना कि लोग समझते और बतलाते हैं । यथाप्राप्त कर्मोंको फलाशा छोड़कर कर्तव्य-बुद्धिसे करो और उन्हें ईश्वरके अर्पण कर दो; फिर मोक्ष स्वयं उपस्थित हो जायगा ।

'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः' (गी० १८ । ४५) अर्थात् 'अपने-अपने कर्तव्य कर्ममें भलीभाँति लगा हुआ मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त कर लेता है ।' क्या इस साधनमें भी धनी गरीब और ऊँच-नीचके भेद-भावकी आवश्यकता है ? यह तो सबके लिये राजमार्ग है ।

आदमी पाप क्यों करता है ? (गीता ३ । ३६—३९)

उक्त प्रतिपादनसे अर्जुनके यह बात तो समझमें आ गयी कि उसके लिये स्वधर्मानुसार युद्ध करना ही श्रेयस्कर है, भीख माँगना नहीं; पर एक सर्वसामान्य शङ्का उत्पन्न हो गयी कि मनुष्य परम कल्याणकारी स्वधर्मसे च्युत होकर पापकी ओर क्यों दौड़ता है ? कारणके जान लेनेपर उसका प्रतीकार भी किया जा सकता है, इसलिये उसने भगवान्से पूछा—'हे कृष्ण ! मनुष्य अपनी इच्छा न रहनेपर भी (किसी दूसरेसे) बलपूर्वक लगाये हुएकी भाँति किसकी प्रेरणासे पाप करता है ?' (गी० ३ । ३६) । उत्तरमें भगवान्ने कहा—

> काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
> महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥
>
> (गीता ३ । ३७)

अर्थात् '(सब पापका कारण) यह काम यानी इच्छा या तृष्णा है । यही (किसी कारणसे रुकावट पड़नेपर) क्रोधके रूपमें परिणत हो जाता है । इसकी उत्पत्ति रजोगुणसे है । इसका आहार बड़ा भारी है । यह महापापी है । कल्याणमार्गमें इसे तुम अपना वैरी समझो ।' (गी० ३ । ३७) 'जिस प्रकार धूएँसे आग, मैलसे दर्पण और झिल्लीसे गर्भ ढका रहता है, उसी प्रकार कामसे ज्ञान ढका हुआ है । हे अर्जुन ! ज्ञानीका नित्य शत्रु यह दुष्पूर और अग्नितुल्य काम उसके ज्ञानपर पर्दा डाले रखता है (गी० ३ । ३८-३९) । इस प्रकरणमें 'काम' शब्द व्यापक अर्थमें व्यवहृत हुआ है; इसका अर्थ 'इच्छा' या 'फलाशा' है । बिना इच्छा या उद्देश्यके मूर्ख आदमीकी भी प्रवृत्ति नहीं होती—'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते'—

> अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित् ।
> यद् यद्धि कुरुते किञ्चित्तत्तत्कामस्य चेष्टितम् ॥
>
> (मनुस्मृति २ । ४)

अर्थात् 'बिना काम यानी इच्छाके कभी कोई क्रिया नहीं दीख पड़ती । मनुष्य जो-जो कर्म करता है, वह सब इच्छाहीका कार्य है ।' 'काम' के कारण ही मनुष्य शुभ और अशुभ कर्म करता है और तदनुसार वह भला या बुरा बन जाता है, इसलिये मनुष्यका बनना-बिगड़ना बहुत कुछ 'काम' पर निर्भर करता है । इसी अभिप्रायको ध्यानमें रखकर बृहदारण्यक उपनिषद्में कहा गया है—

> "अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुष इति । स यथाकामो भवति, तत्क्रतुर्भवति; यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते; यत्कर्म कुरुते, तदभिसम्पद्यते ।"
>
> (४ । ४ । ५)

अर्थात् 'कुछ आचार्योंका कहना है कि मनुष्य 'काममय' इच्छामय ही है, अर्थात् वह जैसा चाहे तैसा बन जाय'। जिस प्रकारकी उसकी इच्छा होती है, वैसा ही (समयान्तरमें) उसका निश्चय हो जाता है; जैसा निश्चय होता है, वैसा ही काम करता है और जैसा काम करता है, वैसा ही वह बन जाता है।' यही भाव गीताके प्रसिद्ध वचन 'श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः' (१७ । ३) में प्रतिपादित है। कामकी प्राप्तिमें यदि कोई बाधा डाले तो यही क्रोधके रूपमें परिणत हो जाता है—'कामात्क्रोधोऽभिजायते' (गी० २ । ६२)। काम और क्रोध ३४ वें श्लोकमें कहे गये राग और द्वेषके ही स्थूल रूप हैं। इन दोनोंमें भी काम प्रधान है, क्योंकि इसके बिना क्रोध उत्पन्न ही नहीं हो सकता और कामकी शान्तिसे क्रोध स्वतः शान्त हो जाता है। काम उत्तम और अधम दोनों तरहके पदार्थोंके विषयमें हो सकता है, जिनमें पहला उपादेय और दूसरा हेय है—'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ' (गी० ७ । ११) दुःख, लोभ, कर्मप्रवृत्ति आदिके जनक रजोगुणसे उत्पन्न होनेके कारण यह हमेशा दुःखमय और लोभ-क्रोध-मोहात्मक कार्योंमें लोगोंको ढकेलता रहता है (गी० १४ । ७, १२)। विषय-भोगोंको अनन्त कालतक पर्याप्त मात्रामें भोगनेपर भी किसी मनुष्यकी इच्छा पूर्ण नहीं हो सकती, इसलिये 'काम' को 'महाशन' (=पेटू), 'दुष्पूर' और 'अग्नितुल्य' कहा है। इस विषयमें चन्द्रवंशीय राजा ययातिकी कथा प्रसिद्ध है, जिसने अपने कनिष्ठ पुत्र पूरुसे युवावस्था माँगकर पूरे एक हजार वर्षतक विषयोंको भरपूर भोगनेके बाद यह असन्तोषमय उद्गार निकाला था—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥

(महाभारत आ० ७५ । ४९; भागवत ९ । १९ । १४)

अर्थात् 'विषयोंके उपभोगसे कभी किसीकी विषयेच्छा शान्त नहीं हो सकती। जैसे घृत, काष्ठ आदि हवनीय पदार्थोंके डालनेसे अग्नि बढ़ती है, वैसे ही सुखोपभोगसे विषयेच्छा अधिकाधिक बढ़ती जाती है।' यह प्रसिद्ध श्लोक मनुस्मृति और विष्णुपुराणमें भी अक्षरशः मिलता है (देखिये मनु० २ । ९४; वि० पु० ४ । १० । २३)। पुनश्च—

यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।
एकस्यापि न पर्याप्तं तस्मात्तृष्णां परित्यजेत् ॥

(विष्णुपुराण ४ । १० । २४)

अर्थात् 'पृथ्वीपर जो भी धन-धान्य और स्त्री-पशु हैं वे सब एक आदमीकी तृप्तिके लिये भी पर्याप्त नहीं हैं, इसलिये अतितृष्णाको छोड़ देना चाहिये।' आदमीकी इच्छा सांसारिक विषय-भोगोंकी तरफ़ क्यों होती है और उसका क्या फल होता है—इस विषयको कठोपनिषद्में दो मन्त्रोंके द्वारा समझाया गया है—

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भू-
स्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष-
दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥ १ ॥
पराचः कामाननुयन्ति बाला-
स्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम् ।
अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा
ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ॥ २ ॥

(कठोप० २ । १ । १-२)

अर्थात् 'विधाताने इन्द्रियोंको बहिर्मुख रचा है; इसलिये जीव बाह्य जगत्‌को तो देखता है, पर अन्तरात्माको नहीं देखता। ऐसा कोई ही धीर पुरुष होता है जो इन्द्रियोंकी बहिर्गामिनी वृत्तियोंको रोककर अन्तरात्माको देखे। अज्ञ पुरुष बाह्य विषयोंके पीछे दौड़ते हैं, इसलिये फैले हुए संसार-जालमें पड़ते हैं। इसके विपरीत, धीर मनुष्य केवल मोक्ष-तत्त्वको ही सनातन समझकर संसारमें अन्य क्षणभङ्गुर पदार्थोंकी चाहना नहीं करते।' यह 'काम' ही मनुष्यको बड़े-बड़े पाप-कार्योंमें प्रेरित करता है, इसलिये यह 'महापापी' है। अन्य मनुष्य यदा-कदा और ज्ञानी पुरुष सर्वदा कामके कारण अपने साधना-मार्गमें विघ्न-बाधाओंका अनुभव करते रहते हैं, इसलिये यह प्राणीमात्रका 'शत्रु' और ज्ञानीका 'नित्य शत्रु' है—'जहाँ राम तहँ काम नहि, जहाँ काम तहँ राम'। इससे अर्जुनके प्रश्नका उत्तर हो गया कि 'मनुष्यके ज्ञानको दबाकर काम ही उसे बलात्कारपूर्वक पापमें लगाता है।' कामके दमन करनेसे मनुष्य पापसे हटकर अपने विहित कर्तव्योंका यथाविधि पालन करनेमें समर्थ हो सकता है।

आध्यात्मिक उन्नति

(लेखक—श्रीरामानन्दजी ब्रह्मचारी)

विधाताकी विविध रचनाका अवलोकन करनेपर हमें जीवोंकी विभिन्न श्रेणियाँ दृष्टिगोचर होती हैं । प्रथम, जड जीव, जिनमें चेतनाका इतना अभाव प्रतीत होता है कि बहुत लोग उनको जीव-संज्ञा भी प्रदान नहीं करते । साधारण दृष्टिसे देखनेपर उनमें ज्ञान, भाव तथा क्रिया—तीनोंका अभाव है । दूसरे, वनस्पतियाँ; इनमें चेतनाके कतिपय चिह्न देख पड़ते हैं । इनके उत्पत्ति, वृद्धि तथा ह्रास हमारे लिये प्रत्यक्ष हैं । खिलना तथा मुरझा जाना, सोना तथा जगना, स्त्री-पुरुष-भेद और सुख तथा दु:खकी प्रतीति—इन बातोंके प्रमाण भी विशेषरूपसे पाये गये हैं । मांसाहारी पौधोंकी क्रिया भी ध्यान देनेयोग्य है । तीसरे, पशु; इनमें पौधोंसे कहीं अधिक चेतनताके चिह्न पाये जाते हैं । शत्रु-मित्रका भेद, घर-घाटके रास्तेका ज्ञान, क्रोध और प्रेमका बोध तथा वात्सल्यादि भाव इनमें विद्यमान होते हैं । पशु क्रुद्ध तथा प्रसन्न हो सकते हैं और संयोग-वियोग इनके लिये बड़े प्रभावजनक होते हैं । क्रियामें पशु वनस्पति जगत्से बहुत बढ़े-चढ़े हैं; इस बातके लिये प्रमाणकी अपेक्षा नहीं है । चतुर्थ, मनुष्य; ज्ञान, भाव तथा क्रियामें मनुष्य पशुओंसे बहुत आगे बढ़ा हुआ है, यह बात निर्विवाद सिद्ध है । इन चार श्रेणियोंके ऊपर भी कितनी सूक्ष्म श्रेणियाँ जीवोंकी हैं; इस बातका हम विचार नहीं करेंगे । हमें तो उस आधारपर अपने विचारोंको आश्रित करना है, जिसके विषयमें किसीको भी सन्देह न हो ।

चैतन्य अथवा चेतना हमें तीन प्रकारसे अभिव्यक्त होती दीख पड़ती है—ज्ञानशक्ति (cognition), भावशक्ति (Feeling) तथा संकल्पशक्ति अथवा क्रियाशक्ति (Willing or Conation) । चैतन्यकी उपस्थितिको हम इन्हीं तीनोंकी उपस्थितिके द्वारा जान पाते हैं; इससे भिन्न दूसरा कोई उपाय हमारे पास है ही नहीं । जिसमें हम इन तीनों लक्षणोंकी अधिक मात्रा पाते हैं, उसे हम अधिक चेतन कहते हैं और जिसमें कम, उसे कम चेतन अथवा अपेक्षाकृत जड कहते हैं । इसी कसौटीसे हम यह देखते हैं कि जड पदार्थ, वनस्पतिलोक, पशुजगत् तथा मनुष्यवर्ग क्रमशः अधिकाधिक चेतन हैं । चैतन्यकी अभिव्यक्तिमें मनुष्य सर्वश्रेष्ठ है ।

ऊपरके वर्णनसे यह स्पष्ट है कि इन चारों श्रेणियोंमें हम चेतनाकी क्रमशः बढ़ती हुई अभिव्यक्तिको पाते हैं । वह चेतना जिसने संकल्प किया था—'एकोऽहम्, बहु स्याम्, प्रजायेय' जो जड आवरणको ग्रहण कर पूर्णरूपेण छिप गयी थी, वह इस यात्रामें धीरे-धीरे अभिव्यक्तिके पथपर अग्रसर होती हुई दीखती है और मनुष्यमें यह उच्चतम सीमापर आ पहुँची है ।

इस चैतन्यकी अभिव्यक्ति अथवा विकासके साथ-साथ आकृतिका विकास होता है और यह स्वाभाविक ही है । अभिव्यक्तिके साधन हैं—इन्द्रियाँ (ज्ञानकी तथा कर्मकी) तथा मन और बुद्धि । मानुषिक चैतन्य (ज्ञान, भाव तथा क्रिया) को वानरकी इन्द्रियों, मन और बुद्धिसे प्रकट करना असम्भव है । इसी प्रकारसे पाशविक चैतन्यको वानस्पत शरीरद्वार प्रकट नहीं किया जा सकता । इसके विपरीत यदि पाशविक चैतन्यको मनुष्यशरीरसे अभिव्यक्त किया जाय तो सारी इन्द्रियों, मन तथा बुद्धिकी शक्तियोंका उपयोग नहीं हो पावेगा । अतः भगवद्-विधानसे ही जिस-जिस इन्द्रियकी आवश्यकता होती है, वह ठीक अवसरपर

प्रकट हो जाती है। साथ-ही-साथ शरीरका संस्थान तथा आकृतिभेद भी हो जाता है।

जडवाद (Materialism) का प्रतिपादन करनेवाले तथा आधुनिक विज्ञानवेत्ता विकासवादको मानते हैं। आकृति तथा इन्द्रियोंके विकासके कारणोंको ढूँढ निकालनेमें तथा विकासके नियमोंको निर्धारित करनेमें ही उनका विशेष प्रयास है। यही है भी उनके अन्वेषणका क्षेत्र। आध्यात्मिक दृष्टिकोणसे इसमें आपत्तिकी कोई गुंजाइश नहीं। हम उनसे केवल इतना अधिक मानते हैं कि बाह्य कारणोंसे ही विकास नहीं हो सकता, उनसे तो केवलमात्र विकासका तरीका जाना जाता है। इसका वास्तविक कारण कुछ और ही है। अभिव्यक्ति चेतनाका धर्म है, उसका स्वभाव है; यह उसकी नैसर्गिक लीला है। चैतन्य छिपा नहीं रह सकता। प्रकृतिके अचेतन पर्दोंको फाड़ करके, घनघोर घटाओंको चीरकर प्रकट होते हुए सूर्यके समान, चेतन भी अभिव्यक्त होता है। यह अभिव्यक्ति निर्विशेष चेतनमें विशेषता लाती है। वही एक बहुरूप, बहुमुखी, बहुज्ञान, भाव-क्रियासम्पन्न होकर अनेक हो जाता है। वह पूर्णता, जो उसके गर्भमें छिपी थी, अनेक रूपोंमें प्रकट होती है। इस चैतन्यकी पूर्णाभिव्यक्ति ही लीलामय रामकी दिव्यलीलाका उद्देश्य प्रतीत होता है। इसी लीलाके द्वारा वह अपनेमें पूर्ण होते हुए भी अनेक रूपोंमें अपनेको पूर्ण करना चाहते हैं। यह भागवती शक्तिकी, महामायाकी, महाकुण्डलिनीकी क्रिया है। उसीके प्रतापसे इस विश्वका अणु-अणु, सूक्ष्म-स्थूल, जड-जङ्गम प्राणिमात्र विकासकी महानदीके वेगसे बलात् पूर्णाभिव्यक्तिके सागरकी ओर खिंचे जा रहे हैं। व्यष्टि तथा समष्टि दोनों ही बढ़ते चले जा रहे हैं।

यह विकास हो तो रहा है, पर इसकी गति अतीव मन्द है। मनुष्य-योनि लाभ करनेतक चौरासी लाख योनियोंमेंसे हमारा क्रमावरोहण तो भगवान्‌की अन्तर्हित प्रेरणाके द्वारा स्वयमेव हो गया। उसके लिये न हम कुछ कर सकते थे, न हमने किया। मनुष्य-योनिमें हमें प्रथम बार यह सामर्थ्य प्राप्त हुआ है कि हम इस पूर्णत्वकी प्राप्तिमें सहायक हों और उसको शीघ्रातिशीघ्र लानेका यत्न करें। वह पूर्णत्व तो लाभ होगा ही कोई मानुषी, आसुरी अथवा दैवी शक्ति उसे सदैवके लिये रोक नहीं सकती; केवलमात्र उसके आगमनको विलम्बित कर सकती है। जो व्यक्ति यत्नशील होता है, वह उस अवस्थाको जल्दी ला सकता है। इसीके लिये सब साधनोंकी उपयोगिता है। यही आध्यात्मिक उन्नति है और यही है मानव-जन्मका उच्चातिउच्च उद्देश्य।

अब प्रश्न उपस्थित होता है— क्या है इस पूर्णत्वका स्वरूप ?

हमने देख लिया है कि ज्ञान, भाव तथा संकल्पशक्ति जड़, वनस्पति तथा पशुलोकसे क्रमशः विकसित होती हुई मनुष्यमें एक सीमाको प्राप्त हुई हैं। यह चैतन्यके विकासकी चरम सीमा नहीं है, उसकी भूमिकामात्र है। इस आधारपर आध्यात्मिक विकासके विशाल भवनका निर्माण होता है। यहाँसे विकासक्षेत्र अतिमानुषी अथवा दिव्य हो जाता है।

इस दिव्यीकरणका क्या परिणाम होता है, इस बातका विचार अब हम करेंगे। ज्ञान-शक्तिका आधार ज्ञानेन्द्रियाँ तथा बुद्धि हैं। (बुद्धिमें हम संस्कार-ग्राही मनको भी सम्मिलित कर लेते हैं)। आध्यात्मिक विकासके फलस्वरूप इन्द्रियोंका क्षेत्र सीमातीत-सा हो जाता है। साधारण व्यक्तिकी इन्द्रियाँ केवलमात्र स्थूल लोक और समक्ष स्थित पदार्थोंको ही प्रतीत कर सकती हैं। विकसित होनेपर हमें दिव्य इन्द्रियाँ प्राप्त होती हैं। उनकी गति सूक्ष्म लोकमें भी अबाध होती है और देश तथा कालका अन्तर भी उनके लिये नगण्य होता है।

मानुषिक बुद्धि अनुमानके द्वारा निर्णय करनेका प्रयत्न करती है। इन्द्रियोंके दिव्य होनेपर क्योंकि हमारी प्रतीतियोंका क्षेत्र अतिशय विशाल हो जाता है, इसलिये उस समय यदि केवल अनुमानका ही आश्रय हो, तो भी हमारे अनुमान पूर्वकी अपेक्षा कहीं अधिक सत्य होंगे। वास्तवमें आध्यात्मिक उन्नतिके साथ सामान्य प्रकारकी तर्कमयी बुद्धि शान्त हो जाती है और इसका स्थान आध्यात्मिक स्फुरणा (Intuition) ले लेती हैं। हमें सीधा ही ज्ञान होने लगता है। हम किसी विषयमें जानना चाहते हैं तो सत्य संकल्प उदित होते हैं। बीचवाली सारी प्रक्रिया लुप्त हो जाती है। हमारा ज्ञान अचूक तथा निश्चयात्मक होने लग जाता है। यह बुद्धिगत परिवर्तन धीरे-धीरे चरम सीमातक पहुँच जाता है।

मन अथवा हृदयको हमने भावनाओंका, सुख-दुःख, राग-द्वेष, काम-क्रोध, प्रेम-सेवा, वात्सल्य, सहानुभूति आदिका केन्द्र माना है। आध्यात्मिक विकाससे इसका भी कायाकल्प हो जाता है। मनोमय कोशके संशोधनके फलस्वरूप तामसिक तथा राजसिक स्पन्दन उसमें उद्भावित होने असम्भव हो जाते हैं और उनका स्थान सात्त्विक भाव ले लेते हैं। काम-क्रोधादि वृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं। प्रेम, सेवा, निःस्वार्थ भावादिका अकण्टक अक्षोभ्य साम्राज्य हमारे हृदयमें बन जाता है, जिससे शत्रु मित्र बनने लगते हैं। व्यक्ति आकर्षणका केन्द्र बन जाता है।

पहले मन सामान्य सुख तथा दुःखको प्रतीत करता था और सुखसे तथा दुःखसे प्रभावित हो जाता था। अपनी स्वाभाविकी स्थितिको खो देता था। आध्यात्मिक विकासके फलस्वरूप उसमें एक अलौकिक स्थिरता आ जाती है। प्रयत्न करनेपर भी वह सामान्य प्रतीति, जिसे सुख अथवा दुःख कहा जाता है, नहीं होती। समता सहज हो जाती है, उसके बनाये रखनेके लिये प्रयत्नकी आवश्यकता नहीं रह जाती। और भी, साधारण व्यक्तिके मनमें संकल्प-विकल्पकी उधेड़-बुन लगी रहती है। चेतनाके उच्चस्तरोंमें स्थिर होनेके फलस्वरूप यह उधेड़-बुन समाप्त हो जाती है। जब मनपर कोई विशेष दबाव न हो तो मन संकल्पशून्य रहता है। यही संतोंकी सहज समाधि है—'मन मूक हुआ फिर क्यों बोले'।

अब सङ्कल्प (क्रियाशक्ति) का विचार करते हैं। साधारण मानवका सङ्कल्प कभी सफल और कभी विफल होता है। आध्यात्मिक उन्नतिसे सङ्कल्प सदा सफल होने लगता है। व्यक्ति सत्यसङ्कल्प हो जाता है। उसका सङ्कल्प प्रकृतिके लिये मार्ग दिखाता है अथवा यों कहिये कि इन दोनोंमें सामञ्जस्य स्थापित हो जाता है। उसकी कामनाएँ शान्त हो जाती हैं और यदि कोई उदित होती है तो वह पूर्ण हो जाती है।

साधारण अवस्थाओंमें आध्यात्मिक उन्नतिका शरीरपर प्रभाव पड़ना आवश्यक है। हमारी जगी हुई आत्मसत्ता अर्थात् कुण्डलिनी चलकर हमारे शरीरका शोधन कर देती है! विजातीय द्रव्यका क्रमशः बहिष्कार होता चला जाता है। इससे हमारी प्राणशक्ति (Vitality) आगेसे बढ़ जाती है।

हमने ऊपरकी पंक्तियोंमें देख लिया है कि आत्मिक विकास ही वास्तविक आध्यात्मिक उन्नति है। यह एकाङ्गी उन्नति नहीं किन्तु सर्वाङ्गीण है। यही पूर्ण धर्म है। यह उन्नति 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः' इस धर्मके लक्षणको सर्वतः पूर्ण करती है। इस धर्मकी प्राप्तिकी कसौटी स्पष्ट ही है। हमारी बुद्धिकी शक्ति आगेसे बढ़ती चली जाय और धीरे-धीरे हम आत्मस्फूर्ति (Intuition) को प्राप्त करें। हमारा मन दिन-प्रति-दिन पहलेसे बलवत्तर तथा अधिक प्रेमपूर्ण

तरङ्गोंको प्रवाहित करे । सहानुभूति, निःस्वार्थता तथा सेवाकी, न केवल भावनाएँ ही जाग्रत् हों, बल्कि वह सफल क्रियाका रूप भी ग्रहण करने लगें । काम-क्रोधादिके विकारोंका शमन होता चला जाय । मनमें अधिक समता, प्रसन्नता तथा शान्तिका उदय हो । हमारा संकल्प प्रबल हो, नीची वृत्तियोंपर हम विजयी हों तथा अपने कार्यमें सफल हों ।

यह वास्तविक आध्यात्मिक उन्नतिके बाहर प्रकट होनेवाले लक्षण हैं । इनसे हम अपनी आध्यात्मिक उन्नतिकी तथा दूसरोंकी उन्नतिकी परख कर सकते हैं । इससे अधिक जो आन्तरिक चिह्न हैं, उनकी अचूकताका दम भरना कठिन है । वे रहस्यकी बातें हैं, उन्हें विरले समझ पाते हैं ।

आध्यात्मिक उन्नतिको प्रायः लोग जीवनसे पृथक् कर देते हैं । यह समझा जाता है कि इसे प्राप्त करनेके लिये दुनियाको छोड़ना आवश्यक है । परन्तु मेरी समझमें आध्यात्मिकता सबसे निराली वस्तु है । जीवनको सौन्दर्य, सौम्यता तथा शक्तिसे पूर्ण करना, इसे उच्च, पवित्र तथा आनन्दमय कर देना, दिव्य कर देना, समाज, देश, जाति और मानवमात्रमें निःस्वार्थ सेवा तथा सहानुभूतिके द्वारा सुखका साम्राज्य स्थापित कर देना इसका स्वाभाविक परिणाम है । आध्यात्मिकता मधुमयी मातृमूर्ति है । प्रेम इसका हृदय है । आत्मिक-स्फूर्ति इसका मस्तिष्क है । अबाध्य क्रियाशक्ति इसका सङ्कल्प है । सत्य तथा संयम इसकी सुदृढ़ टाँगें हैं । सेवा तथा आत्मत्याग इसकी भुजाएँ हैं । समताका रुधिर इसकी शिराओं तथा धमनियोंमें सतत प्रवाहित होता है । लौकिक लाभ तथा पारलौकिक मंगल इसकी सहचरियाँ हैं । आनन्दकी सहज सुवास इससे प्रवाहित होती रहती है । कौन व्यक्ति ऐसी माताकी मधुमयी गोदमें बैठना न चाहेगा ?

आज संसार पाशविकताका नग्न परिचय दे रहा है । क्रूरता तथा अशान्तिका चारों ओर अकण्टक साम्राज्य है । हाहाकारकी हृदयविदारिणी ध्वनि चारों ओर सुनायी दे रही है । इसका मूल कारण है आध्यात्मिकताका अभाव । आज यदि हमें शान्ति तथा आनन्दका साम्राज्य स्थापित करना है तो हमें आध्यात्मिक साधनका आश्रय लेना होगा ।

◆

मङ्गल-झाँकी

(राग भैरव)

लालके नैन बने अरसाने ।
बिथुरे बार बदन-बारिज पै लोचन-कोर ललाने ॥
जननी निरखि लाइ उर चूमति धोवति मन हरषाने ॥
उबटति चुपरि नहावति रचि रचि पोंछि बदन सुख माने ॥
अंग-अंग अँगराग लगावति चन्दन-मृगमद साने ॥
घुँघरारे कच मोर-मुकुट सिर केसर तिलक सोहाने ॥
लोल कपोलन पै द्युति कुण्डल दामिनि-सी दमकाने ॥
दुइ-दुइ दसन अरुन अधरन बिच किलकन यों छबि साने ॥
अरुन कमलपर मानहु जलकन पवन परस थिरकाने ॥

—परमेश्वरीलाल सन्थालिया

मूर्ति या छबिमें भगवान्

(लेखक—रायसाहेब श्रीकृष्णलालजी बाफणा, बी० ए०)

मूर्तिमें या छविमें भगवान् अथवा भगवद्-विभूतिका होना श्रद्धालुओंके लिये तो सहजमें ही माननीय है, किन्तु तर्क-बुद्धिवाले उसे मान लें, यह सहज नहीं । और यदि ऐसा मान भी लें तो भगवान्के इतने सुलभ होनेपर हमारी कामना उनके द्वारा तुरंत पूर्ण नहीं होती, इसका कारण क्या होगा—यह तर्क नयी खड़ी हो जाती है । मैं अपनी अल्प बुद्धिद्वारा वैज्ञानिक रीतिसे समझानेकी चेष्टा करूँगा कि मूर्ति एवं छवियोंमें भगवद्-विभूति किस तरह रहती है और उनसे हमारी कामनाएँ कैसे पूर्ण होती हैं और क्यों अपूर्ण रहती हैं ।

मानव-विज्ञान मनुष्यके इन्द्रियजनित ज्ञानपर निर्भर है । इसका अर्थ दूसरे शब्दोंमें यह हुआ कि वास्तवमें संसारके पदार्थ कुछ नहीं हैं; मनुष्यको एक अज्ञान-शक्तिद्वारा जैसा उसकी इन्द्रियाँ ज्ञान दिखाती हैं वैसा ही वह जगत्को मानता है । मनुष्यमें जो चेतना है, वही अपने सङ्कल्पके अनुरूप होकर सामने आती है । इसीसे कहा जाता है कि जैसा तुम विचार करोगे वैसे ही तुम बन जाओगे—अपनेको खुदा मानोगे तो खुदा बन जाओगे । ठीक है— जो आदमी अपनेको उत्तम मानता है, वह कार्य भी उत्तम ही करेगा । और उन कार्योंके संस्कारों एवं प्रभावोंसे वह उत्तम ही होता जायगा । इससे सिद्ध यह हुआ कि मूर्ति अथवा छविमें जब हम भगवान्की भावना करते हैं, तब वह भगवान् ही हो जाती है ।

दूसरी बात यह है कि ईश्वरका ऐश्वर्य यह तकाजा करता है कि उसे सर्वव्यापी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् होना चाहिये; तभी वह सत्, चित् और आनन्दमय हो सकेगा । जब वह ऐसा हो तो मूर्ति एवं छविमें भी वह स्वतः विद्यमान होगा ही । उसकी व्यापकता खण्डरूपसे तो है नहीं, वह तो आकाशवत् परिपूर्ण है; तब मूर्ति अथवा छवि उससे शून्य कैसे हो सकती है ?

तीसरे, ईश्वरीय शक्ति या विभूति जगत्के समस्त द्रव्यों एवं पदार्थोंमें, अंशरूपसे ही सही, निहित है: जैसे काष्ठमें अग्नि । वह अग्नि मन्थनसे प्रकट हो जाती है । इसी तरह मूर्ति या छविमें पूजनद्वारा ईश्वरीय विभूति जाग्रत्, एकत्रित एवं सङ्गठित होकर प्रकट हो सकती है । मूर्ति या छबि ईश्वरीय विभूतिके विग्रहरूप धारण कर व्यक्ति-विशेषके आकारमें प्रकट होनेका चिह्न ही तो है । सुतरां जैसे मलाबार वा महाबलेश्वर समुद्रके निकट होनेसे समुद्री हवा अर्थात् बरसाती हवाका केन्द्र है, जिससे वहाँ वर्षा ज्यादा होती है, उसी तरह मूर्ति या छबि भगवद्-विभूतिके पुञ्जका चिह्न होनेसे उससे सम्बन्धित होती है और उसमें भगवद्-विभूतिका आविर्भाव विशेष मात्रामें होता है ।

चौथे, जैसे जल, यों तो हवामें सर्वत्र विद्यमान रहता ही है और सूर्यकी रश्मियोंद्वारा उठता ही रहता है; किन्तु तेज घाम जलको ऊपर खिंचनेमें उत्तेजना देता है, जिससे हवामें जलकी मात्रा बढ़कर वर्षामें वृद्धि होती है, इसी तरह आराधना या पूजा-पाठसे भगवद्-विभूति, जो सामान्य रीतिसे सर्वत्र विद्यमान है, वृद्धिको प्राप्त होकर विशेष रूप धारण कर लेती है ।

उपर्युक्त विवेचनसे मूर्तियों एवं छवियोंमें भगवद्-विभूतिका विद्यमान होना बताया गया । पाठकोंको कदाचित् वह सुसङ्गत प्रतीत हुआ होगा, किन्तु जबतक वे मूर्तियाँ एवं छवियाँ प्रतिष्ठित नहीं होतीं, अर्थात्

जबतक पूजा एवं आराधनाके द्वारा उनमें भगवद्-आवेश नहीं कराया जाता तबतक उनमें भगवत्सत्ता गौण रूपसे—सामान्य रूपसे रहती है । अब रहा यह सवाल कि जब मूर्तियों एवं छवियोंमें भगवद्-आवेश हो गया, तब तो वे हमारी कामना अवश्य ही पूर्ण कर सकती हैं । फिर भी वे ऐसा क्यों नहीं करतीं ? इसका उत्तर यही है कि उनके भगवत्स्वरूप होनेके विषयमें हमारी धारणा परिपक्व नहीं होती । जब हमारा सङ्कल्प ही इच्छित रूप धारण करता है, तो उस सङ्कल्पमें जबतक कचाई रहेगी तबतक उसके अनुरूप क्रिया होनेमें भी त्रुटि ही रहेगी । दूसरी बात यह है कि जबतक हमारा संघर्षण अधूरा रहेगा, उसका फल ईश्वरीय विभूतिका प्राकट्य साङ्गोपाङ्ग कैसे होगा । तीव्र रगड़से ही तो आग प्रकट होती है । तीसरे, सारा वातावरण जबतक अनुकूल नहीं होगा, ईश्वरीय विभूतिका पूरा प्रादुर्भाव कैसे होगा ? चौथे, आह्वान जबतक ठीक नहीं होगा अर्थात् श्रद्धा-विश्वाससहित पूजा-पाठ, आराधन नहीं होगा तबतक भगवद्-आवेश पूर्ण रूपसे कैसे होगा । सुतरां जब भगवद्-विभूतिका प्राकट्य वा प्रादुर्भाव ही उचित मात्रामें नहीं होगा तब हमारी कामना उससे कैसे पूर्ण होगी । मूर्ति एवं छविमें प्रतिष्ठासे भगवद्-अंश तो आ जाता है, लेकिन हमको इच्छित फल देनेवाली शक्तिका आविर्भाव तो हमारे उचित परिश्रमसे ही होगा । मन्थन बिना घृत निकलेगा क्योंकर ? दूधमें घृत रहता ही है, पर वह निकलेगा मन्थनसे ।

एक फ़क़त मैं ही तेरी तसवीरका शायक नहीं ।
सारी दुनिया प्यार करती है तेरी तसवीरको ॥
सैकड़ों तसवीर देखी हैं हसीनोंने जहाँ ।
सबमें मैंने तुझको पाया, और तेरी तसवीरको ॥
किसने देखा है तुझे ? देखा है तेरे हुस्नको ।
उसने देखा है तुझे, देखा तेरी तसवीरको ॥
तेरे मिलनेकी न कुछ तदबीर हमसे बन पड़ी ।
हार कर हमने लिया करमें तेरी तसवीरको ॥
ओ सितमगर ! खुदनुमाया दिलके आइनेमें देख ।
दिलमें भी खिंचवा रखा हमने तेरी तसवीरको ॥
तेरी सूरतका बना बुत, हमने है सिजदा किया ।
बख़्श दी तूने बड़ाई जब तेरी तसवीरको ॥
जलवा गर जलवा तेरा फैला तेरी तसवीरसे ।
दीनो-दुनिया क्यों न फिर कह दें तेरी तसवीरको ॥
ध्यान और अनुराग होंगे प्राप्त ही तसवीरसे ।
क्यों नहीं मानूँ मैं रहबर ! फिर तेरी तसवीरको ॥
है मुसव्विर कौन जो खींचे भला खाका तेरा ।
तेरी ताक़त ही तो खिंचवाती तेरी तसवीरको ॥
तेरी नूरानी तजल्ली सह नहीं सकता बशर ।
बस, यही काफ़ी झुका दे सर तेरी तसवीरको ॥
जायँगे फिल वाक़ई उसके सुधर दोनों जहाँ ।
एक समझेगा तुझे जो और तेरी तसवीरको ॥
क्यों नहीं बेखुद हो वह, जिसने कि देखा हो तुझे ।
आफरी निकले ज़बाँसे जब तेरी तसवीरको ॥
राम, शिव और कृष्ण तीनों हैं तेरी तसवीरमें ।
सत्य-शिव-सुन्दर न क्यों मानूँ तेरी तसवीरको ॥
प्रेम, ज्ञान और कर्मके आदर्शका दर्शन कहूँ ।
सत-चित-आनन्ददाता या तेरी तसवीरको ॥
चाह इतनी सी मुझे है अब तो ऐ मेरे प्रभो !
तू मुझे देखा करे और मैं तेरी तसवीरको ॥

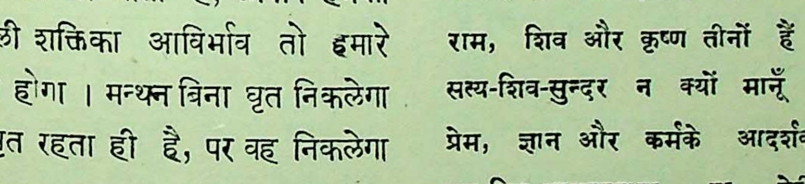

कराल कज्जला

(कहानी)

(लेखक-पं० नन्दकिशोर झा, काव्यतीर्थ)

उस महाकालकी कान्ता अति सदय-हृदय श्रीकाली ;
अति क्रूर कलेवरवाली नित करें जगत रखवाली ।
अति नीच जातिकी नारीका भी मन कितना ऊँचा
हो सकता है—यह देखे, कुछ सीखे विश्व समूचा ।
कोई 'कराल' नामक था अति नामी डाकू भारी ;
उसकी ही प्राणस्वरूपा थी सदय 'कज्जला' प्यारी ।
सचमुच कज्जल-सा ही तो उसका अति काला तन था ;
पर मक्खन-जैसा कोमल अति उज्ज्वल उसका मन था ।
पतिके दुष्कर्मोपार्जनसे खिन्न रहा करती थी ;
सुख-साधन पाकर भी वह अति दुःख सहा करती थी ।
जब-जब वह अवसर पाती तब-तब पतिको समझाती ;
पर क्रूरहृदय स्वामीको नहिं निजमनमें ला पाती ।
यह रात वसन्त अमाकी प्रायः अब बीत चली है ;
'पी कहाँ' कूक कोयलकी सुन पड़ती निकट भली है ।
एकान्त भवनमें दीपक करता है कुछ उजियाला ;
है शुभ्र सेजपर लेटी यह एक कज्जला बाला ।
'पी कहाँ हूक सी लेती यह है न अभी तक सोई ;
'पी कहाँ ?' सोचकर मनमें यह बार-बार है रोई ।
करवटपर करवट लेती आहें भरती जाती है ;
जलते उर अन्तरमें यह कुछ शान्ति नहीं पाती है ।
है अंग अंगमें इसके यौवनकी छवि लहराती ;
पर यह न समझ ले कोई—-यह मदन-जन्य दुख पाती ।
वह भूल चुकी है कबसे पापी पीड़क मन्मथको ;
नित सोच रही है अपने स्वामीके पाप-कुपथको ।
जग-पीड़क मदन वहाँपर है स्थान कहाँ कब पाता ;
जग-जगकी नित्य भलाईका भाव जहाँ लहराता ।
प्रियतमकी चिन्ता करती यों लेटी हुई अकेली ;
मनसिजकी-सी ही पीड़ा इसने कितनी है झेली ।
पैरोंकी आहट सहसा सुन पड़ी किसीकी ज्योंही ;
उठ बैठी खड़ी हुई झट स्वामीके सम्मुख त्योंही ।
मदमत्त भिल्लने सस्मित छातीसे उसे लगाया ;
फिर बाँह पकड़कर सुखसे शय्यापर पास बिठाया ।
वह लगा खोलने गठरी जो साथ अभी था लाया ;
उसके खुलनेसे पहले रोमाञ्च इधर हो आया ।
सुंदर-सा हार निकाला, कान्ताको ले दिखलाया ;
वह चमक न देख सकी वह दृगमें अन्धेरा छाया ।
बलपूर्वक उस अबलाको वह हार गया पहनाया ;
उस विवशाकी छातीपर विषधर मानो चढ़ आया ।
फिर और और आभूषण सब उसे गये दिखलाये ;
पर ज्योतिहीन-से उसके हत नयन देख क्या पाये !
जीवित पतिसहित चितापर जलती-सी तब वह बोली-
सद्भाव-रत्न-परिपूरित अन्तर्मञ्जूषा खोली-
'मेरे जीवन-धन ! स्वामी ! यह वस्तु कहाँ है पायी ?
हत कौन अभागी अबला इन क्रूर करोंमें आयी ।
तुम दयाहीनके कारण जिसने सर्वस्व गँवाया ।
उस मरतीको भी तुमसे हा ! जीवन नहिं मिल पाया ।
उसका भी कोई स्वामी प्रियतम होगा तुम-जैसा ;
कुछ सोचो—उसके मनपर अब बीता होगा कैसा ?'
'री पगली ! वह भी जीता क्या बचा हुआ है जगमें ?
निज द्विरागमनमें दोनों सो गये सदाको मगमें ।'
'हा ! अब मैं जी न सकूँगी ! स्वामी ! क्या करते जाते ।
घर बहुत उजाड़ बनाकर अपना घर भरते जाते !
कुछ सोचो प्यारे ! जगके प्रति काम तुम्हारा कैसा !
तुम अपने प्रति भी जगसे क्या सह सकते हो ऐसा ?'
'सहना क्या है अब बाकी ? मैंने भी खूब सहा है !
उसका ही प्रतिफल जगको अब मिल इस तरह रहा है ।
मैंने बचपनसे अबतक दर दरकी ठोकर खायी !
पर दयाशील मानवके मनमें कुछ दया न आयी !
लखपतियोंसे मुट्ठीभर भिक्षा भी यदि मिल पाती ;
तो मेरे द्वारा उनपर यह बला कभी क्या आती

भूखी माँके तनसे था जब दूध नहीं हो पाता ;
मेरा भाई दुनियामें आता, मुँह बा मर जाता !
असमय माँ-बाप यहींपर घुल-घुलकर हाय ! मरे हैं !
सबके पैरों पड़नेपर क्या उनके पेट भरे हैं !
उस दुखसे जाने कैसे मैं ही बच गया अभागा ।
थी बहन एक उसको भी क्या कहूँ—कौन ले भागा ?
दयनीय दयालु यही हैं तेरे इस जगके प्राणी !
तू यहाँ चाहती जीना बनकर देवी कल्याणी ?
मैं भी तुझ-सा ही बनकर यह काम नहीं यदि करता ;
तो तुझे मारता भूखों, रो-रोकर खुद भी मरता ।'
'अच्छा जीना है जी लो, मैं कितना और बकूँगी ?
यदि बन न सकी मैं देवी तो जगमें जी न सकूँगी ।
तुम भी चेतोगे पीछे, मरना है मुझे मरूँगी ;
अब स्वयं तुम्हारे पापोंका प्रायश्चित्त करूँगी ।'
'क्या मुझे पकड़वा दोगी ? अब तुझे यही क्या भाता ?'
'हा ! भूल रहे हो स्वामी ! मेरा तुमसे क्या नाता ?
सचमुच तुम नहीं समझते—मैं कौन तुम्हारी होती ?
यदि तुम्हें पकड़वा पाती तो अबतक क्यों मैं रोती !'
हँस कहा दस्युने—'प्यारी ! पागलपन मत दिखला तू ;
मैं पाप स्वयं सिर लेता, स्थिर मनसे मजे उड़ा तू ।
कल पुनः हमारे अनुचर दक्षिण-पथको जावेंगे ;
आशा है—वस्त्राभूषण कुछ और अधिक लावेंगे ।'
श्रम-मदसे वह अलसाया यह कह चल दिया कहींपर ;
पाषाणमूर्ति-सी देवी वह बैठी रही वहींपर ।
जब उठी वहाँसे सदया तब दिन कुछ था चढ़ आया ;
गृहकार्य नित्यका करना उसको न तनिक भी भाया ।
चुपके-से दासीद्वारा डोली-कहार मँगवाया ;
वर वस्त्राभूषण लेकर अपना शृंगार सजाया ।
दासीको कुछ समझाकर गङ्गा-नहानके मिससे ;
वह चली अकेली बाला, मनकी कह सकती किससे ?
उसको सन्ध्यातक दक्षिणके बाँध निकट था जाना ;
बढ़ चले कहार खुशीसे, उनको इनाम था पाना ।

× × × × ×

कर रहा कराल प्रतीक्षा अपनोंके अब आनेकी ;
पूरी आशा थी उसको—धन पूर्ण आज पानेकी ।
तत्काल वहींपर उसके अनुचर प्रमुदित सब आये ;
सरदार निकट ला रक्खे गहने जो थे वे लाये ।
गठरी करालने खोली, वर हार उठाया करमें,
आँखें तिरमिरा उठीं 'हा !' वह बोला सकरुण स्वरमें—
'सिंहल ! जिसकी ये चीजें, हैं क्या वह जगमें जीती ?
या मुझ पापीके कारण अब हाय ! सदाको बीती !'
'सिंहलके इन हाथोंसे वीरोंकी जानें जातीं ;
फिर वह असहाया अबला किस भाँति वहाँ बच पाती ?
वह तो मानो मरनेको उद्यत होकर थी आयी !
इन क्रूर करोंमें पड़कर भी हँसते जान गँवायी !'
सिंहलकी बातें सुनकर उसको मूर्च्छा हो आयी ;
अपने पापोंके फलसे पापीने मुँहकी खायी ।
अनुचरकी परिचर्यासे जब होश उसे हो आया ;
सर्वस्व लुटाकर उसने तब साधू-वेश बनाया ।
वनपथमें गङ्गातटपर कोई साधू रहता है ;
अपनेको पूछे जानेपर 'प्रियादास' कहता है ।
जंगलका भूला-भटका यात्री जो कोई आता ;
उसकी कुटियामें टिकनेकी सारी सुविधा पाता ।
है वहीं 'कज्जला-कूआँ' जिसका जल मीठा होता ;
उसके भीतर बहता है मानो गङ्गाका सोता ।
जो एक बार भी उसका जल किसी भाँति पी लेता ;
वह दयारूप बन जाता, जन-जन हित वह जी देता ।
यदि पूछ बैठता कोई—'यह किसका है खुदवाया ?'
'जिसके प्रभावसे डाकू जन-सेवक मैं बन पाया !'
कहते बाबाकी आँखोंमें आँसू थे भर आते ;
जिससे वक्ता श्रोता सब थे समाधिस्थ हो जाते । *

---

* पं० कार्तिकेयचरण मुखोपाध्यायकी 'शिक्षा' शीर्षक कहानीके आधारपर ।

चद्दरसे ज्ञान-वैराग्य आदिकी शिक्षा

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

जगत्‌में आजकल शिक्षक बहुत पाये जाते हैं, वास्तवमें शिक्षा लेनेवाले बहुत कम हैं। जहाँ-तहाँ उपदेशकोंकी—गुरुओंकी ही भरमार है, उपदेश सुनकर उससे लाभ उठानेवाले शिष्योंकी संख्या बहुत ही अल्प है। कवियोंने भी कहा है—'परोपदेशे पाण्डित्यं सर्वेषां सुकरं नृणाम्।' 'पर उपदेस कुसल बहुतेरे। जे आचरहिं ते नर न घनेरे॥' उपदेश देना जितना सहज है, उसका पालन करना उतना ही कठिन है। उपदेश अपने लिये होना चाहिये, दूसरोंके लिये नहीं। तभी हम उन्नति कर सकते हैं। पानी सदा नीचेकी ओर बहता है। ज्ञानकी प्राप्ति उसीको होती है, जो अभिमान छोड़कर शिक्षा प्राप्त करनेके लिये उत्सुक रहता है। जो शिक्षा प्राप्त करना चाहते हैं, उनके लिये शिक्षकोंकी कमी नहीं है। सच्चे गुरु योग्य शिष्यको स्वयं खोज लेते हैं। सच्चे जिज्ञासुके लिये स्वयं भगवान् गुरुके रूपमें प्रकट होकर उसे उपदेशके द्वारा कृतार्थ कर सकते हैं। सम्राट् परीक्षित् जब राज्य, परिवार एवं शरीरका मोह छोड़कर सब ओरसे चित्तको हटाकर ज्ञान-लाभके लिये, आत्म-कल्याणकी शिक्षाके लिये अन्न-जलका त्याग कर भगवती गङ्गाके पावन तटपर बैठ गये, उस समय उनकी ज्ञान-पिपासाको शान्त करनेके लिये, उन्हें मुक्तिका मार्ग दिखानेके लिये सब ओरसे बहुत-से ऋषि-मुनि अपने-आप उनके पास आने लगे। यहाँतक कि स्वयं शुकदेव मुनिको, जो इतने विरक्त थे कि एक गौ जितनी देरमें दुही जा सके, उतने समयसे अधिक बस्तीमें नहीं ठहरते थे तथा जो प्राय: निरन्तर समाधिमें ही स्थित रहते थे, उनके पास बिना बुलाये आकर सात दिनतक उन्हें श्रीमद्भागवतकी कथा सुनानी पड़ी। विद्वानोंकी मान्यता है कि श्रीशुक मुनिको नित्यदेह अथवा सिद्धदेह प्राप्त है, जिससे वे अब भी समय-समयपर प्रकट होकर अधिकारियोंको उपदेशके द्वारा कृतार्थ किया करते हैं। कहते हैं कि संत चरणदासजीको उन्होंने गुरुरूपसे दीक्षा दी थी, जैसा कि चरणदासजीके पदोंसे प्रकट होता है। भगवान् श्रीशङ्कराचार्यके परम गुरु आचार्य गौडपादको भी श्रीशुकदेवजीसे ही दीक्षा प्राप्त हुई थी—ऐसा सुना जाता है। स्वयं भगवान् श्रीशङ्कराचार्यको श्रीवेदव्यासजीने दर्शन दिये थे—ऐसा उनकी जीवनीमें लिखा है। देवर्षि नारदके वाल्मीकि, व्यास तथा ध्रुव आदिके पास स्वयं जाकर उन्हें उपदेश देनेकी बात प्रसिद्ध ही है।

इतना ही नहीं, शिक्षा लेनेवालेको जगत्‌की चर-अचर सभी वस्तुओंसे शिक्षा मिल सकती है। यह विश्व ही एक विश्वविद्यालय है। नदियाँ, समुद्र, वृक्ष, पर्वत, ग्रह, नक्षत्र, आकाश, पृथ्वी, वायु, पशु-पक्षी आदि नाना प्रकारके जीव—सभी हमें शिक्षा दे रहे हैं। श्रीमद्भागवतमें कथा आती है कि भगवान् दत्तात्रेयने चौबीस गुरु बनाये थे—जिनमें पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, समुद्र, अजगर, हाथी, हरिन, वेश्या, बालक, कुँआरी कन्या, साँप, कबूतर, मछली, पतिंगा, मकड़ी और मधुमक्खीतक शामिल थे। आज हम 'कल्याण'के पाठकोंको यह बतलायेंगे कि जिस चद्दरको हम अपने शरीरपर ओढ़ते हैं, उससे भी हमें ज्ञान, वैराग्य, योग, कर्म एवं भगवच्छरणागतिकी शिक्षा मिलती है।

पहले हम प्रभु-शरणागतिको ही लें। शरणागतिकी शास्त्रोंने बड़ी महिमा गायी है। गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्ति स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥
(१८ । ६२)

'अर्जुन ! तू सब प्रकारसे उसी ईश्वरकी शरण हो जा । उसकी कृपासे तू परम शान्ति एवं सनातन पदको प्राप्त होगा ।'

महाभारतके अन्तर्गत श्रीविष्णुसहस्रनाममें भीष्मपितामह महाराज युधिष्ठिरसे कहते हैं—

वासुदेवाश्रयो मर्त्यो वासुदेवपरायणः ।
सर्वपापविशुद्धात्मा याति ब्रह्म सनातनम् ॥१३०॥

'भगवान् वासुदेवका आश्रय ले लेनेपर तथा उन्हींके परायण हो जानेपर अन्तःकरणके सारे पाप धुल जाते हैं और मनुष्य सब प्रकारसे शुद्ध होकर सनातन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है ।'

योगदर्शनमें महर्षि पतञ्जलिके वाक्य हैं—

'ईश्वरप्रणिधानाद्वा ।' (१ । २३)

अर्थात् 'ईश्वरकी शरण ग्रहण करनेसे भी चित्तवृत्तियोंका निरोधरूप समाधि सिद्ध हो जाती है ।'

जिस शरणागतिकी शास्त्रोंमें ऐसी महिमा कही गयी है, एक मामूली चद्दर हमें उसीकी शिक्षा देती है । वह सर्वतोभावेन अपने मालिकके शरण हुई रहती है; सदा-सर्वदा एवं सर्वथा उसके अधीन रहती है । मालिक उसका चाहे जैसे उपयोग करे—उसे कंधेपर रख ले अथवा पैरोंपर डाल ले, शरीरपर ओढ़ ले अथवा खूँटीपर टाँग दे, तहियाकर बक्समें रख दे अथवा बेपरवाहीसे जमीनपर फेंक दे, किसीको दान कर दे या बेंच दे, पानीसे धो डाले अथवा कीचमें सान ले, फाड़कर चिथड़े-चिथड़े कर डाले अथवा जलाकर खाक कर दे—वह बदलेमें कुछ नहीं कहती । इस प्रकार चद्दर हमें आत्मसमर्पणका पाठ पढ़ाती है । हमें चाहिये कि हम भी चद्दरकी भाँति अपने प्रभुके सर्वथा अनुकूल बन जायँ—वह हमें जिस अवस्थामें रखे, उसीमें संतुष्ट रहें; उसकी इच्छामें अपनी इच्छाको विलीन कर दें; अपने व्यक्तित्वको भुला दें, अपनी स्वतन्त्र सत्ता खो दें । अपना सब कुछ उसीका समझें—यहाँतक कि अपने इन्द्रिय, मन, बुद्धि, प्राण और शरीरको भी उसीका मानें । जीवन-मृत्यु, सुख-दुःख, मान-अपमान, स्तुति-निन्दा, ऐश्वर्य-दरिद्रता—सबको प्रभुकी देन समझकर गले लगायें । ऐश्वर्य पाकर फूलें नहीं और घोर-से-घोर कष्ट पड़नेपर भी मुँहसे उफ न निकालें । संक्षेपमें यही आत्मसमर्पणका स्वरूप है ।

चद्दरसे हमें योगकी भी शिक्षा मिलती है । योगका अर्थ है चित्तवृत्तियोंका निरोध—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' (यो० सू० १ । २) । चित्तवृत्तियोंका निरोध हो जानेपर आत्मा अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है—'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।' (यो० सू० १ । ३) । जिस प्रकार चद्दर जहाँ हम उसे रख देते हैं, वहीं स्थिर होकर पड़ी रहती है, वहाँसे हिलती-डुलती नहीं—टस-से-मस भी नहीं होती, हमें भी चित्तकी वैसी ही अचल स्थिति प्राप्त कर लेनी चाहिये । गीतामें कहा है—

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥
(६ । १९)

'जिस प्रकार वायुरहित स्थानमें रखे हुए दीपककी लौ स्थिर रहती है, हिलती नहीं, परमात्माके ध्यानका अभ्यास करनेवाले योगीके निगृहीत चित्तकी भी वैसी ही स्थिति कही गयी है ।'

चद्दरसे हमें ज्ञानका उपदेश भी मिलता है । जिस किसी चद्दरको हम ले लें, उत्पत्तिके पूर्व वह नहीं थी और नाशके बाद भी नहीं रहेगी । इससे सिद्ध होता है कि बीचमें—स्थिति-कालमें भी वह नहीं है, केवल दिखायी भर देती है; क्योंकि जो वस्तु है, उसका किसी भी कालमें अभाव नहीं हो सकता और जो नहीं है, उसका किसी भी कालमें भाव नहीं हो सकता—यह निश्चित सिद्धान्त है । श्रीभगवान्ने गीतामें कहा है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥
(२।१६)

यदि चद्दर वास्तवमें होती तो उसका किसी भी कालमें अभाव नहीं होता। चद्दरका अभाव होता है, इसलिये वह है नहीं। जब वह है नहीं, तब जिस कालमें वह दिखायी देती है, उस कालमें भी वस्तुतः उसका अभाव ही है, वह भ्रमसे हमें सत् प्रतीत होती है। यही हाल हमारे शरीरका है। हमारा शरीर भी जन्मसे पहले नहीं था और मृत्युके बाद नहीं रहेगा। इससे सिद्ध होता है कि जिसे हम जीवनकाल कहते हैं, उसमें भी वह है नहीं, केवल भ्रमसे प्रतीत होता है। यदि होता तो उपर्युक्त सिद्धान्तके अनुसार उसका अभाव किसी भी कालमें सम्भव नहीं था। श्रीभगवान्ने गीतामें कहा है—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥
(२।२८)

जो वस्तु है ही नहीं, उसके लिये शोक कैसा?

इस प्रकार शरीर तो नाशवान् है ही। उसमें रहनेवाला आत्मा अजर एवं अमर है, शरीरका नाश हो जानेपर भी उसका नाश नहीं होता, जिस प्रकार चद्दरके फट जानेपर, उसे ओढ़नेवालेका कुछ भी नहीं बिगड़ता। श्रीभगवान् कहते हैं—

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति॥
अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य…………………॥
न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥
(गीता २।१७-१८; २०)

'उस आत्माको तो तू अविनाशी जान, जिससे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है। उस अविनाशी तत्त्वका कोई भी नाश नहीं कर सकता। उस नित्य अविनाशी एवं परिमाणरहित आत्मासे सम्बन्ध रखनेवाले इन शरीरोंको नाशवान् कहा गया है। शरीरोंकी भाँति यह आत्मा न जन्मता है और न कभी मरता है, और न यह होकर फिर होता है। क्योंकि यह जन्म-मृत्युसे रहित, सनातन एवं अनादि है; शरीरका नाश होनेपर भी इसका नाश नहीं होता।'

शरीर सब अनित्य एवं असत् हैं तथा आत्मा नित्य एवं सत् है—यह ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है। यह ज्ञान हो जानेपर मनुष्य शोकसे रहित हो जाता है। भगवान्ने गीतामें कहा है—

गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥
(२।११)

अर्थात् 'जिनका प्राणोंसे वियोग हो गया है और जिनके प्राण अभी नहीं निकले हैं—जो अभीतक जीवित हैं, उन दोनोंके लिये ही ज्ञानीजन शोक नहीं करते।' उनकी जीवन और मृत्युमें समदृष्टि होती है। वे जानते हैं कि शरीर तो रहनेवाली वस्तु है नहीं, उसका तो नाश अवश्यम्भावी है; क्योंकि वह वस्तुदृष्टिसे है ही नहीं, और आत्मा कभी मरता नहीं--उसका त्रिकालमें भी नाश नहीं होता। वह सदा स्थिर रहनेवाली वस्तु है। वस्तुतः आत्माके अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। आत्माके अतिरिक्त जो कुछ दीखता है, वह माया है—भ्रम है। इसी ज्ञानका नाम अद्वैत ज्ञान है। श्रुति भगवती कहती है कि इस अद्वैत तत्त्वका ज्ञान हो जानेपर शोक और मोहके लिये कोई कारण ही नहीं रह जाता, उनका सर्वथा सदाके लिये उच्छेद हो जाता है—'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।' इस अद्वैत ज्ञानकी शिक्षा हमें चद्दरसे किस प्रकार मिलती है—यह हम ऊपर बता आये हैं।

चद्दर हमें कर्मका उपदेश भी देती है। चद्दरका उपयोग त्वचाको शीत-उष्ण आदिसे बचानेमें है; वह न सूँघनेके काम आती है, न सुननेके और न चखनेके। वह केवल ओढ़ने-बिछाने आदिके काममें ही आती है। इसी प्रकार यह मनुष्य-शरीर दूसरोंकी सेवाके लिये बनाया गया है, इसका सेवाके कार्योंमें ही अधिक-से-अधिक उपयोग होना चाहिये। इसकी सत्ता चद्दरकी भाँति सबके उपयोगके लिये ही है। मनुष्य-शरीर ही एक ऐसा शरीर है जिससे देवता, ऋषि-मुनि, पितरों एवं भूत-प्रेतोंसे लेकर मनुष्यों, पशु-पक्षियों, कीट-पतङ्गों तथा वनस्पतियोंतककी सेवा हो सकती है। पञ्चमहायज्ञ इसी सेवाके प्रतीक हैं। यह जगत् आदान-प्रदानका क्षेत्र है। देवताओंसे लेकर पशु-पक्षियों एवं वनस्पतियोंतकके द्वारा मनुष्यजातिकी किसी-न-किसी रूपमें सेवा होती है। इस सेवाके बदलेमें मनुष्यको भी चाहिये कि वह अन्य समस्त प्राणियोंकी सेवा करे। श्रीभगवान्ने गीतामें कहा है—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥
देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥
इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥
अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥
एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥

(३ । १०—१६)

'भगवान् ब्रह्माजीने सृष्टिके आरम्भमें यज्ञके साथ-साथ मनुष्योंको उत्पन्न करके कहा कि 'इस यज्ञके द्वारा तुमलोग वृद्धिको प्राप्त होओ। यह तुमलोगोंके लिये इच्छित भोग प्रदान करनेवाला हो। तुमलोग इसके द्वारा देवताओंकी वृद्धि करो और देवतालोग तुम्हारी उन्नति करें। इस प्रकार निष्कामभावसे एक दूसरेकी उन्नति करते हुए तुमलोग मोक्षरूप परम कल्याणको प्राप्त होगे। यज्ञसे बढ़ाये हुए देवता तुम्हें इच्छित भोग प्रदान करेंगे। उनके द्वारा दिये हुए भोगोंको उन्हें बदलेमें कुछ भी न देकर जो भोगता है, वह तो चोर ही है। यज्ञके बाद जो बच रहे, उसीसे जीवन-निर्वाह करनेवाले सत्पुरुष सम्पूर्ण पापोंसे छूट जाते हैं। इसके विपरीत जो लोग केवल अपने लिये भोजन बनाते हैं, वे पाप खाते हैं। अन्नसे प्राणी उत्पन्न होते हैं, वर्षासे अन्नकी उत्पत्ति होती है। यज्ञसे वर्षा होती है। और यज्ञ कर्म (क्रिया) से निष्पन्न होता है। कर्मकी उत्पत्ति तू वेदसे जान। और वेदको तू अविनाशी परमात्मासे उत्पन्न जान। इसलिये सर्वव्यापक ब्रह्म नित्य यज्ञमें प्रतिष्ठित है। अर्जुन! इस प्रकार इस संसारमें चलाये हुए सृष्टि-चक्रके अनुकूल जो नहीं चलता, उसका जीवन पाप-जीवन है। इन्द्रियोंके भोगोंमें ही रमण करनेवाला वह मनुष्य व्यर्थ ही जीवन धारण करता है (उसका जीवन निरर्थक है, वह जीता हुआ भी मरेके समान ही है)।'

यज्ञका व्यापक अर्थ सेवा है। निष्काम सेवाकी ही बात यज्ञके नामसे ऊपर कही गयी है। यहाँ 'देवता' शब्दको समस्त प्राणियोंका उपलक्षण समझना चाहिये। देवताओंसे लेकर जगत्के समस्त चराचर जीव किसी-न-किसी रूपमें मनुष्यकी सेवा करते हैं। अतः मनुष्यका भी कर्तव्य है कि वह बदलेमें समस्त चराचर जीवोंकी निष्काम भावसे सेवा करे। देवताओंको यज्ञ, हवन, वैश्वदेव आदिसे सन्तुष्ट करे; ऋषियोंको स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञसे एवं ज्ञानके विस्तारद्वारा प्रसन्न करे; पितरोंको श्राद्ध-तर्पण आदिसे तृप्त करे; मनुष्योंको अन्न-जल, वस्त्र, आश्रयदान एवं अन्य प्रकारकी सेवाओं-

द्वारा सुख पहुँचाये; अन्य प्राणियोंका भी भक्षक न बनकर रक्षक बने, उनके आहार आदिकी समुचित व्यवस्था करे तथा उन्हें सब प्रकारकी सुविधाएँ दे तथा पेड़-पौधोंको भी जल आदि देकर उनकी रक्षा करे, उनका अनावश्यक क्षय न करे। इस प्रकार एक दूसरेकी सेवा करने और परस्पर सुख पहुँचानेसे सृष्टिकी व्यवस्था ठीक चलती है और संसारके सभी जीव सुखी रहते हैं, किसीको अनावश्यक कष्ट नहीं होता। यह विश्व जगत्पिता परमात्माका बृहत् परिवार है। यह तभी सुखी रह सकता है, जब इस परिवारके सभी अङ्ग एक दूसरेकी सहायता करें, परस्पर सुख पहुँचायें। जो ऐसा नहीं करता, दूसरोंसे सहायता लेता है; किन्तु बदलेमें दूसरोंकी सेवा नहीं करता, वह तो अपराधी और दण्डका पात्र है। यही बात गीताके उपर्युक्त श्लोकोंमें कही गयी है। हमारे शास्त्रोंने बलिवैश्वदेव एवं तर्पणमें देवताओंसे लेकर कीट-पतङ्गतकको अन्न एवं जल देनेका विधान किया है। यहाँतक कि हमारे यहाँ सन्ध्या-गायत्री आदि ईश्वरोपासना भी विश्व-कल्याणकी भावनासे ही करनेकी आज्ञा है।

इसके अतिरिक्त मनुष्य भगवान्‌की सृष्टिका सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। समस्त प्राणियोंकी रचना कर चुकनेपर भी जब विधाताको सन्तोष नहीं हुआ, तब उन्होंने मनुष्य-प्राणीको रचा। मनुष्यको भगवान्‌ने अपनी ही प्रतिकृति बनाया है। इस नाते भी प्राणिमात्रकी रक्षा करना, उन्हें सेवाके द्वारा सुख पहुँचाना ही मनुष्यका परम कर्तव्य है। कुछ लोग भूलसे ऐसा मान बैठते हैं कि संसारके समस्त प्राणी मनुष्यकी सेवाके लिये, उसे सुख पहुँचानेके लिये रचे गये हैं, वह उनका चाहे जैसे उपयोग कर सकता है। जगत्‌का मांसाहारी जन-समुदाय तो मनुष्येतर समस्त जीवोंकी सृष्टि मनुष्यकी क्षुधा-निवृत्तिके लिये, नहीं-नहीं, उसकी जिह्वाको सुख पहुँचानेके लिये ही मानता है। मनुष्यका इससे बड़ा पतन और क्या हो सकता है। मनुष्यकी सर्वश्रेष्ठता क्या इन्द्रिय-तृप्तिके द्वारा अपना स्वार्थ सिद्ध करनेमें ही है? तब तो वह जगत्‌का सर्वश्रेष्ठ प्राणी न होकर सर्वाधिक स्वार्थी अतएव सर्वापेक्षा नीच कहलानेका ही अधिकारी होगा। जिसमें स्वार्थकी मात्रा जितनी अधिक होगी, वह उतना ही नीच समझा जायगा। मनुष्य प्राणिजगत्‌में सर्वश्रेष्ठ तभी कहला सकता है, जब वह सबको सुख पहुँचानेकी चेष्टा करे। फिर जिह्वाके क्षणिक स्वादके लिये अथवा क्षुधा शान्त करनेके लिये भी किसी जीवकी हिंसा करना तो अत्यन्त नृशंस एवं घृणित कार्य है। इसका समर्थन कौन बुद्धिमान् एवं विवेकी मनुष्य कर सकता है।

मनुष्यके अङ्गोंकी बनावट देखकर भी कोई यह नहीं कह सकता कि मनुष्यको प्रकृतिने मांसाहारी बनाया है। मनुष्यकी तो बात ही अलग रहे, मनुष्येतर प्राणियोंमें भी हाथी, घोड़ा, गदहा, भैंसा, गौ, बंदर, हरिन, बकरा, भेड़, कबूतर, चूहा आदि अनेकों जीव ऐसे हैं जो वनस्पति तथा अन्न आदिसे ही अपना निर्वाह करते हैं और भूलकर भी मांसका सेवन नहीं करते। जब मनुष्येतर-सृष्टिमें भी ऐसी अनेकों योनियाँ हैं जो मांससे घृणा करती हैं, तब मनुष्यके सम्बन्धमें यह कहना कि मनुष्यको प्रकृतिने ही मांसाहारी बनाया है, अपनी बुद्धिका दीवाला निकालना है। सच तो यह है कि जिस प्रकार चंदरका उपयोग ओढ़ने-बिछानेमें ही है, सूँघने, सुनने अथवा चखनेमें नहीं, उसी प्रकार मनुष्य-जीवनकी चरितार्थता दूसरोंकी सेवा एवं उन्हें सुख पहुँचानेमें ही है, उनकी हिंसा करने अथवा उन्हें भक्षण करनेमें नहीं। इसके विपरीत जो लोग अन्य प्राणियोंकी हिंसा करनेमें ही मनुष्य-जीवनकी चरितार्थता समझते हैं, वे तो इस सुरदुर्लभ मनुष्य-जन्मका दुरुपयोग ही करते हैं। उन्हें पुनः यह मनुष्य-जीवन नहीं मिलता। उनकी

मृत्युके बाद जैसी दुर्गति होती है, उसका स्वयं श्रीभगवान्‌ने अपने श्रीमुखसे इस प्रकार वर्णन किया है। वे कहते हैं—

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥
(गीता १६। १९-२०)

'उन जीवद्रोही निर्दयी अधम मनुष्योंको मैं इस संसारमें बार-बार नीच आसुरी योनियोंमें ही डालता हूँ। अर्जुन! जन्म-जन्ममें आसुरी योनिको प्राप्त होकर ये अज्ञानी जीव मुझे पानेके बदले नरकरूप अधोगतिको ही प्राप्त होते हैं।'

मनुष्यकी उन्नति एवं अवनति उसीके हाथ है। अतः मनुष्यको चाहिये कि वह अपने कल्याणका, आध्यात्मिक उन्नतिका ही साधन करे, जान-बूझकर अपनेको अवनतिके गर्तमें न गिराये। श्रीभगवान्‌ने भी कहा है—'उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्।' (गीता ६। ५) अपने स्वरूपके अनुसार आचरण करना ही अपनेको उन्नत करना है और उसके विपरीत चेष्टा करना अपनेको मनुष्यत्वसे गिराना, अधोगतिमें ले जाना है। स्वार्थ-त्यागपूर्वक दूसरोंकी सेवा करना ही मनुष्यका वास्तविक स्वरूप है। जिस प्रकार गदहेको देखकर मनमें यही भाव उत्पन्न होता है कि यह कोई भारवाही पशु है, सिंहकी आकृतिसे ही यह पता लग जाता है कि यह कोई क्रूर एवं हिंसक जन्तु है, उसी प्रकार मनुष्यको देखनेसे यह पता चलता है कि इसे भगवान्‌ने दूसरोंकी सेवाके लिये, उन्हें सुख पहुँचानेके लिये ही रचा है। गोस्वामी तुलसीदासजीने पाप और पुण्यकी संक्षेपमें इस प्रकार व्याख्या की है—

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

इसे संस्कृतके निम्नलिखित पद्यका भावानुवाद कह सकते हैं—

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

कहना न होगा कि धर्म ही आत्माका उन्नायक है और पाप ही उसे नीचे गिरानेवाला—पातक है। श्रीभगवान्‌ने भी प्राणिमात्रके हितमें रत रहना अपनी प्राप्तिका अन्यतम उपाय बतलाया है—

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः।
(गीता १२। ४)

चद्दरसे हमें इस प्रकार सबके उपयोगी बननेकी शिक्षा मिलती है।

इसी प्रकार चद्दर हमें वैराग्यका भी उपदेश देती है। चद्दरका सदा-सर्वदा एक-सा रूप नहीं रहता। स्वभावतः परिणामी होनेके कारण वह प्रतिक्षण क्षीण होती रहती है और क्षीण होते-होते एक दिन सर्वथा नष्ट हो जाती है। यही दशा हमारे शरीरकी भी है, वह प्रतिक्षण मृत्युकी ओर जा रहा है। एक दिन ऐसा आयेगा जब वह सर्वथा शक्तिहीन एवं क्रियाहीन होकर पड़ जायगा और मिट्टीमें मिल जायगा। यही हाल संसारके अन्य पदार्थों—विषय-भोगोंका है। संसारके सभी विषय असत् एवं दुःखरूप हैं। हमने भ्रमसे उन्हें सत् एवं सुखरूप मान रक्खा है। यदि वे वास्तवमें सत् एवं सुखरूप होते तो सदा रहते और उनसे हमें सदैव सुख ही मिलता। परन्तु ऐसा देखनेमें नहीं आता। उदाहरणके लिये दूधको ले लीजिये। वह देखनेमें बहुत ही सुन्दर, स्वादु, आरोग्यकर और सुखदायक प्रतीत होता है। परन्तु जो स्वाद और गुण ताजे अथवा हालके गर्म किये हुए दूधमें पाया जाता है, वह बासी तथा ठंडे दूधमें नहीं पाया जाता। दो दिन पड़ा रहनेपर तो उसका स्वाद बिल्कुल बिगड़ जाता है और उसका गुण भी नष्ट हो जाता है। वही दस दिन पड़ा रहनेपर विष-तुल्य हो जायगा; उसका नाम, रूप, स्वाद और गुण—सब कुछ बदल जायगा।

न्यूनाधिक रूपमें यही दशा सभी विषयोंकी है। परिवर्तन और विनाश ही जगत्‌का रूप है।

जगत्‌के पदार्थोंमें सुखरूपता भी हमें भ्रमसे ही प्रतीत होती है, वास्तवमें तो वे सभी दुःखरूप ही हैं। उदाहरणके लिये एक पुष्पमालाको ले लीजिये। दो-चार बार सूँघनेमें तो वह अच्छी मालूम होती है, परन्तु अधिक देरतक उसे हम नाकसे सटाकर नहीं रख सकते। कुछ देरके बाद ऊबकर हम उसे अलग रख देते हैं। फिर यदि कोई जबर्दस्ती उसे हमारी नाकके पास ले जाना चाहेगा तो हम झुँझला उठेंगे और उसे मारने दौड़ेंगे। हमारे इस निर्वेदका क्या कारण है? यदि मालामें सुख होता तो हम उसे सदा-सर्वदा अपनी नाकसे सटाये रखते, एक क्षणके लिये भी उसे अलग नहीं करते। परन्तु बात कुछ दूसरी ही है। विषयोंमें हमें भ्रान्तिसे ही क्षणिक सुखकी प्रतीति होती है, परिणाममें वे दुःखरूप ही हैं। स्त्री-प्रसङ्ग आदिकी तो दुःखरूपता प्रकट ही है। उसमें एक बार क्षणभरके लिये सुखकी प्रतीति होती है; फिर ग्लानि, निर्वेद, क्लान्ति आदि ही हमारे हाथ लगते हैं। बल, वीर्य, तेज और बुद्धिका नाश तथा स्वास्थ्यकी हानि तो इससे प्रत्यक्ष ही होती है। इसका अधिक सेवन करनेसे मनुष्य रोगी और अल्पजीवी हो जाता है और शीघ्र ही कालका कवल बन जाता है; इसीलिये भगवान् गीतामें कहते हैं—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥

(९।३३)

अर्थात् 'इस अनित्य एवं दुःखरूप मनुष्य-जन्मको पाकर तू मेरा ही भजन कर।'

यह मनुष्य-जीवन अनित्य अर्थात् विनाशी है, यह प्रतिक्षण मृत्युकी ओर जा रहा है। न जाने कब हमें इससे हाथ धोना पड़े। है भी यह दुःखरूप, इसमें सुखकी प्रतीति भ्रमसे हो रही है। परन्तु क्षणभङ्गुर एवं दुःखरूप होनेपर भी यह मिलता बड़े पुण्योंसे है। क्योंकि नित्य सुखरूप भगवान्‌की प्राप्ति इसी अनित्य एवं दुःखरूप मनुष्य-शरीरसे सम्भव है। इसलिये इस दुर्लभ मानवदेहको पाकर यदि हम इससे भगवत्प्राप्तिरूप स्थायी और परम लाभ उठाना चाहें तो इसका एकमात्र उपाय है—भगवच्छरणागति, जिसका स्वरूप स्वयं भगवान्‌के शब्दोंमें इस प्रकार है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

(गीता १८।६५)

'तू निरन्तर मुझीमें चित्त लगाये रह, मेरा ही भक्त बन जा—मुझीसे प्रेम कर, मेरी ही सेवा-पूजा कर—मेरी ही आज्ञाओंका पालन कर तथा मुझीको नमस्कार कर—सब प्रकार मेरे अधीन हो जा। ऐसा करनेसे मैं तुझसे सच्चा वादा करता हूँ तू मुझीको प्राप्त होगा; क्योंकि तू मुझे बहुत प्यारा है।'

इस प्रकार एक मामूली चद्दरसे हमें भगवच्छरणागति, योग, ज्ञान, कर्म और वैराग्यकी अनुपम शिक्षा मिलती है। हम चाहें तो जगत्‌के समस्त पदार्थोंसे उत्तमोत्तम शिक्षा ले सकते हैं। किसी कविने क्या ही सुन्दर कहा है—

उत्तम विद्या लीजिए जदपि नीच पै होय।
पर्‍यो अपावन ठौर महँ कंचन तजै न कोय॥

संकीर्त्तनमें अन्तःक्रिया

(लेखक—रायबहादुर पंड्या श्रीवैजनाथजी बी० ए०)

इस विषयपर मैंने मार्च १९४१ के कल्याणमें एक लेख लिखा था। अभी हालमें झूसी, त्रिवेणी और वृन्दावनमें अखण्ड कीर्त्तन-यज्ञ हुए हैं, जिनमें देश-देशान्तरसे कीर्त्तन-मण्डलियाँ आयी थीं। ऐसे यज्ञ और स्थानोंमें भी होंगे; इसलिये संकीर्त्तनका शास्त्र या विज्ञान (Science) सबको माळूम होना आवश्यक है, ताकि संकीर्त्तनका प्रवाह ठीक मार्गसे बहकर योग्य फल उत्पन्न करे और मरुस्थलमें बहकर सूख न जाय। इस हेतुसे त्रिवेणी-महायज्ञके प्रसङ्गपर मैंने एक छोटा-सा व्याख्यान इस विषयपर दिया था, जिसका सार यहाँपर प्रकट किया जाता है, जिससे वह सब संकीर्त्तन-प्रेमियोंको ज्ञात हो जाय। मार्च ४१ के लेखकी बातोंको यहाँ नहीं दुहराया है।

श्रीमद्भागवत, नारदभक्तिसूत्र और (देखिये गीताप्रेस-का प्रेमदर्शन) पातञ्जल योगसूत्रादि अनुभवके ग्रन्थ हैं। इनमें लिखा है कि भक्ति या संकीर्त्तन करनेसे अमुक फल होना चाहिये। हर एक भक्तको और हर एक संकीर्त्तन-मण्डलको यह देखना चाहिये कि उनका बताया हुआ फल प्राप्त होता है या नहीं और नहीं होता तो क्यों? और वह कैसे प्राप्त हो? उसकी कौन-सी त्रुटियाँ हैं और उन्हें किस प्रकार मिटाना चाहिये?

नारदभक्तिसूत्रमें लिखा है कि "स कीर्त्यमानः शीघ्रमेवाविर्भवति अनुभावयति च भक्तान्" उसका कीर्त्तन करनेसे वह शीघ्र ही प्रकट होता है और अपने भक्तोंको अपना अनुभव कराता है। पतञ्जलिके योगसूत्रमें लिखा है कि ईश्वरका नाम प्रणव है, उसके जपसे और उसके अर्थकी भावनासे ईश्वरकी चेतना आती है और सब बाधाएँ दूर होती हैं। योगतत्त्वोपनिषद्में लिखा है कि 'पूर्वसञ्चित सब पापोंके नाशके लिये प्रणवको प्लुत मात्रामें जपे। प्रणव सर्वदोष हरण करनेवाला और सब विघ्न नाश करनेवाला मन्त्र है। उसके अभ्याससे सिद्धि आरम्भ होती है।' संन्यासोपनिषद्में लिखा है कि जो बारह हजार प्रणव जप प्रतिदिन करे तो उसे बारह मासमें परब्रह्म प्रकट होंगे। (श्लोक १०४)। श्रीमद्भागवतके स्कन्ध ११ अध्याय २ में लिखा है—

> **एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या**
> **जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।**
> **हसत्यथो रोदिति रौति गाय-**
> **त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः ॥४०॥**
> **भक्तिः परेशानुभवो विरक्ति-**
> **रन्यत्र चैष त्रिक एककालः।**
> **प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्यु-**
> **स्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम् ॥४२॥**

जो इस प्रकार भगवान्के प्रिय नामोंका कीर्तन करता है उसे उनमें अनुराग उत्पन्न होता है; उसका चित्त कोमल हो जाता है; वह जोरसे हँसता है या रोता है, कभी ऊँचे स्वरसे भगवान्को पुकारने लगता है तो कभी मधुर स्वरसे उनके गुणोंका गायन करता है; कभी भगवान्को अपने सामने देख उन्हें रिझानेके लिये नाचता है; और पागलकी तरह लोकाचारकी परवा नहीं करता। जैसे भोजन करनेवालेको प्रत्येक ग्रासके साथ तुष्टि या तृप्ति, पुष्टि या पोषण और क्षुधा-निवृत्ति—ये तीनों एक साथ होती जाती हैं, वैसे ही जो मनुष्य भगवान्का भजन करने लगता है उसे भजनके प्रत्येक क्षणमें भगवान्के प्रति प्रेम, अपने प्रेमास्पद प्रभुके स्वरूपका अनुभव और उनके अतिरिक्त अन्य वस्तुओंमें वैराग्य—इन तीनोंकी एक साथ प्राप्ति होती जाती है।

दूसरी जगह कहा है—

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥

हे नारद! मैं वैकुण्ठमें या योगियोंके हृदयमें नहीं रहता; पर मेरे भक्त जहाँ कीर्तन करते हैं, वहाँ उपस्थित रहता हूँ। क्राइस्टने भी कहा है कि जहाँ कहीं दो या तीन मेरे नामपर एकत्र होते हैं वहाँ मैं हाजिर रहता हूँ।

ये ऊपर लिखी बातें अनुभवपर आश्रित हैं। इन ग्रन्थकारोंको वे अनुभव हुई थीं और आज भी लोगोंको होती हैं। इसलिये प्रत्येक कीर्त्तन-मण्डलमें इनका अनुभव होना चाहिये। यदि नहीं होता तो किसी बातकी त्रुटि है। जैसे रासायनिक प्रयोगमें लिखा फल जब नहीं मिलता तो हम अपनी त्रुटिको ढूँढते हैं, वैसे ही हमें कीर्त्तनके विज्ञान (Science) को—शास्त्रको समझ लेना चाहिये, ताकि उसके नियमोंका पालन करनेसे उस अनुभवको हम प्राप्त कर सकें।

प्रथम बात यह ध्यानमें रखनी चाहिये कि प्रत्येक मनुष्यको एक-सा अनुभव नहीं हो सकता। कुछ-कुछ लोग ऐसे होते हैं, जिन्हें कुछ भी अनुभव शीघ्रतासे न होगा। प्रत्येक आठ-दस व्यक्तियोंमेंसे एक व्यक्ति ऐसा निकलना चाहिये, जिसे अनुभव जल्दीसे हो सकता है। पुरुषोंकी अपेक्षा स्त्रियोंको जल्दी अनुभव हो सकता है। इन सबका कारण है कर्मजन्य कोशोंकी नाजुक या स्थूल बनावट। जिन्होंने पूर्वजन्मोंमें आध्यात्मिक अभ्यास करके अपने कोश नाजुक बना लिये हैं, उन्हें अनुभव शीघ्र हो सकेगा। पतञ्जलिने योगसूत्रमें कहा है कि—'जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः', सिद्धियाँ जन्मसे, ओषधिसे, मन्त्रसे, तपसे या समाधिसे प्राप्त होती हैं। जिसके कोश इतने नाजुक हैं उसे भी इन अनुभवोंकी ओर ध्यान देना पड़ेगा, तभी उनका भान होगा, वरना नहीं। जैसे जहाँ बहुत शोर होता हो वहाँ वीणाके सूक्ष्म स्वर सुननेके लिये चित्तको चारों ओरसे खींचकर केवल वीणाके स्वरको सुननेके लिये एकाग्र करना पड़ता है। वैसे ही कीर्त्तनमें हमको इस बातपर एकाग्रता करनी चाहिये कि कीर्त्तनके कारण सूक्ष्म लोकोंमें क्या क्रिया हो रही है। चित्तको और विचारोंसे शून्य कर देनेपर और कल्पना करनेपर हमारे मनमें कदाचित् विचार आवे या हमें दीख पड़े कि श्रीकृष्ण मुरलीसहित या रामचन्द्रजी सीतासहित उपस्थित हैं। श्रीकृष्ण नाच रहे हैं, हमारे सामने उपस्थित हो हमें मुरलीका स्पर्श करा रहे हैं, आशीर्वाद दे रहे हैं, हमसे बात करते हैं या खेलते हैं इत्यादि। यदि ऐसा कुछ भान दो-तीन व्यक्तियोंको एक-सा ही हो तो मानना पड़ेगा कि उसमें सचमुचमें कुछ सत्य अवश्य है। जिस विग्रहका कीर्त्तन होगा, वही मूर्ति अन्तरङ्गमें दीख पड़ेगी। जैसे शिव-कीर्त्तनमें शिव, कृष्णकीर्त्तनमें कृष्ण, राधाकृष्णकीर्त्तनमें राधाकृष्ण। भगवद्गीतामें कहा है कि 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।' जो मुझको जिस भावसे भजते हैं, उन्हें मैं उसी भावसे मिलता हूँ।

मैंने ऊपर कल्पना शब्दका उपयोग किया है; परन्तु उससे भ्रममें न पड़ जाना चाहिये। जो सूक्ष्म लोकोंमें होता है, उसका भान हमें दो तरहसे हो सकता है—किसीकी आँखोंके आगे वैसा चित्र दीख पड़े या किसीके मनमें वैसा विचार ऊँचे कोशोंसे उतरे। यदि यह विचार दूसरोंके अनुभवसे मिलता है तो वह सत्यपर आश्रित है, निरी कल्पना नहीं है। पर आरम्भमें ऐसा विचार पानेके लिये हमें कल्पनासे सहायता लेनी पड़ती है। दीर्घ कालके अभ्याससे वह शक्ति दृढ़ होती है। आगे जाकर कल्पनाकी आवश्यकता न रहेगी; पर एकाग्र तो होना ही पड़ेगा। इस देखनेकी शक्तिको हमें अपनेमें विकसित करना पड़ेगा। उसके अनुभवसे हममें कीर्त्तनमें प्रेम बढ़ेगा, लगन बढ़ेगी—वरना हम

निरुत्साहित हो कीर्तनको छोड़ दे सकते हैं। मण्डलमें एक-दोको भी ऐसा अनुभव होनेसे दूसरोंका उत्साह बना रहेगा और बढ़ेगा भी।

प्रयागमें एक कीर्तन-सम्प्रदाय है, उसके सदस्य महादेवप्रसादजीने भजनोंकी एक पुस्तक 'बन्धु-गीताञ्जलि' छापी है। उसमें पृष्ठ ६१ में संकीर्तनका अनुभव इस प्रकार बताया है—

बताऊँ क्या तुम्हें देखा है क्या हरिनामके अन्दर।
न देखा या सुना था देखा जो हरिनामके अन्दर॥
गशीमें होश देखा होशमें यक बेहोशी देखी।
खुशी देखी है रोनेमें हरीके नामके अन्दर॥
बिना बिजली चमक देखी चमकमें महलका[1] देखा।
हरी होशे रुवाँ[2] देखा हरीके नामके अन्दर॥
बिना सूरतके सूरत थी वह सूरत थी बिना सूरत।
हरीको नाचते देखा हरीके नामके अन्दर॥
यहाँ की सी ज़मी देखी न ऐसा आस्माँ देखा।
वहाँ यक वसअते[3] लाइन्तहाँ[4] थी नामके अन्दर।
बताऊँ क्या वहाँ क्या दास पर किरपाकी वर्षा थी।
ज़बाँ क्या कह सके आनन्द था क्या नामके अन्दर॥

ऐसे ही अनुभव मैंने और स्वतन्त्र व्यक्तियोंसे भी सुने थे। इसलिये मेरा विश्वास है कि ऐसी कुछ क्रिया कीर्तनमें अवश्य होती है। इसके सिवा जब कीर्तन अच्छा होता है, जब उसमें प्रेमका प्रवाह विशेष होता है, जब समाँ अच्छा बँध जाता है, तब उस भक्तिको और भक्तिके प्रत्युत्तररूप आशीर्वादको देवता और सिद्ध पुरुष जगत्‌के कल्याणार्थ योग्य स्थानोंमें भेजते हैं, जिससे जगत्‌का कल्याण होता है। इसीलिये प्रत्येक कुटुम्बमें प्रतिदिन नियत समयपर कीर्त्तन होना आवश्यक है।

मनुष्य-वर्गके समान एक देववर्ग है। जिसे स्थूल शरीर नहीं है। इस देव-सृष्टिमें कीड़े-मकोड़ोंके समान छोटे, पशुओंके समान व्यक्तित्वरहित **और** मनुष्योंकी बराबरीके व्यक्तित्वको प्राप्त हुए (Individualized) देव तथा मनुष्योंसे बहुत ऊँची कोटिके देव भी रहते हैं। सब जगत्‌के ईश्वर इच्छानुकूल विकासमें संलग्न हैं। इनमें काम-क्रोध, भूख-प्यास, कुछ नहीं होती। इनके सूक्ष्म शरीर ही होते हैं, जो स्वयं प्रकाशमान रहते हैं। मनुष्योंके मनमें जैसी धर्म-अधर्मकी लड़ाई निरन्तर रहती है, वैसी इनमें नहीं होती। ये केवल ईश्वरकी इच्छासे प्रेरित होकर कार्य करते हैं। वे शान्ति-प्रिय रहते हैं और कलहसे, मनुष्यके नीचे विचारोंसे, बस्तीसे दूर भागते हैं। ये मनुष्यके साथ सहकारिता करना चाहते हैं। श्रीभगवद्‌गीतामें कहा है—

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥

देवोंकी भावना हम करें तो देवता हमारे साथ सहकारिता करेंगे, ऐसे परस्पर एक दूसरेकी भावना करते हुए दोनोंका परम श्रेय होगा। हर एक कीर्त्तनमें देवतालोग ऐसे खिंच आते हैं जैसे शहद या शक्करमें चींटी या मक्खी। वहाँ आकर वे हमारी भक्तिको ईश्वरतक पहुँचाते हैं और वहाँसे ईश्वरका आशीर्वाद लाकर हमलोगोंपर बरसाते हैं। भक्ति और उसके प्रत्युत्तरका आशीर्वाद ये दोनों साथ ही रहते हैं। ऐसा नहीं हो सकता कि प्रेम और भक्ति किये जायँ और प्रभुका आशीर्वाद न आवे। हम थोड़ी भी भक्ति करें; पर उसके प्रत्युत्तरमें आशीर्वादका पूर आवेगा। ईश्वरका प्रेमरूपी सूर्य हमें घेरे हुए है, पर हम अपने हृदयरूपी घरका दरवाजा नहीं खोलते हैं। उस ईश्वरके आशीर्वादरूपी सूर्यको थोड़ी भी गुंजाइश मिले तो हृदयरूपी बंद घरमें घुसकर वह कल्याणरूपी प्रकाश कर देता है। जैसे किसी भी मुद्राके दोनों पहलू साथ ही रहते हैं, वैसे भक्ति और आशीर्वादरूपी भक्तिका प्रत्युत्तर सदैव साथ रहते हैं। जहाँ हृदयसे

---

[1] बहुत सुन्दर, [2] याड़ो चेतनायुक्त हरि, [3] विस्तार, [4] अनन्त।

प्रेमयुक्त भक्ति निकली कि ईश्वरका आशीर्वाद आया। यह आशीर्वाद एक शक्ति (Energy, Power) है, जिसे थोड़े-से अभ्याससे हम जगत्के कल्याणार्थ भेज सकते हैं। इसे हम किसीके कल्याणमें न लगायें तो देवतालोग स्वयं जगत्के कल्याणार्थ वितरण कर देंगे।

पर भक्ति परमप्रेमरूपा होनी चाहिये और निष्काम होनी चाहिये। तुलसीदासजीने कहा है—

राम राम सब कोइ कहे, ठग ठाकुर औ चोर।
बिना प्रेम रीझें नहीं, तुलसी नवलकिशोर॥

प्रेम और भक्तिके साथ हमें ईश्वर-प्राप्तिकी तीव्र इच्छा, उनसे मिलनेकी परम उत्कण्ठा, हृदयकी पीड़ा होनी चाहिये, ताकि उससे प्रेरित होकर हमारे इष्टदेव हमारे कीर्त्तनमें खिंच आवें। ईश्वर हमारा प्रियतम तो होना ही चाहिये; पर हम भी उसके प्रियतम हैं (गीता ११। ४४)। संकीर्त्तनको सफल करनेवाले भाव नीचेके दोहोंसे प्रकट होंगे—

दादू पीर न ऊपजी, ना हम करी पुकार।
तातें साहिब ना मिला, दादू बीती वार॥
बिरहा पीव पठाइयाँ, कही साधु परमोधि।
जा घर ताला बेलियाँ, तिन लाओ तुम शोधि॥
(कबीरसाखी ८०)

प्रेम भक्ति माता रहे, ताला बेली अंग।
सदा सपीड़ा मन रहे, राम रमे हम संग॥

संकीर्त्तनमें जो ईश्वरका अनुभव है, वह छायामात्रका या अंशमात्रका अनुभव है; पर अभ्याससे वह अन्तमें परा शान्तिको पहुँचा देता है जैसा श्रीमद्भागवत (११। २२। ४३) में कहा है।

मेरी समझमें हर एक कीर्त्तन-मण्डलको ऊपर लिखी बातोंपर और पूर्वके लेखमें लिखी बातोंपर ध्यान देकर इष्टका अनुभव अवश्य प्राप्त करना चाहिये।

अब संकीर्त्तनके कुछ नियमोंको समझ लेना चाहिये। संकीर्त्तनका स्थान पवित्र हो और यदि हो सके तो दूसरे कार्योंमें या दूसरा सामान भरनेमें उसका उपयोग न हो। इस प्रकार वहाँका वातावरण भक्ति-युक्त बना रहेगा।

उसमें एक स्थानपर इष्टदेवकी मूर्ति या चित्र हो; उसका प्रतिदिन पुष्पोंद्वारा पूजन किया जाय। ऐसा केन्द्र होनेसे देवगण वहाँसे सरलतासे कार्य कर सकते हैं। संकीर्त्तनके समय यहाँ धूप जलानेसे सब घर पवित्र होगा। पूजार्थ दीप जलानेसे भी आशीर्वाद आनेमें सरलता होती है। संकीर्त्तनमें शामिल होनेवाले सब लोग सदाचारी, उत्साही, श्रद्धावान्, शान्त, पवित्र और आपसमें मित्रभाव रखनेवाले हों। यदि एक भी विरोधी भाववाला या दोष-दृष्टिवाला होगा तो उससे संकीर्त्तन-सिद्धिमें बाधा होगी। कीर्त्तन रात्रिको अच्छा होता है। दिनमें अशान्ति अधिक रहती है। सामूहिक कीर्त्तन विशेष बलवान् होता है। उसका हेतु जगत्-कल्याण हो, न कि कीर्त्तनकारोंका मोक्ष। नाम-संकीर्त्तन ही हो, भजनादिक कीर्त्तनकालमें न गाये जायँ। कीर्त्तनके अन्तमें थोड़ी देरतक शान्त बैठना चाहिये। सब कीर्त्तनवाले कीर्त्तनकी समाप्तितक बैठें, बीचमेंसे न उठ जायँ। कीर्त्तनके अन्तमें आरती करना आवश्यक है, ताकि सूक्ष्म लोकोंमें कीर्त्तनसे होती क्रिया बंद हो; जैसे हर पूजामें प्राणप्रतिष्ठाके बाद अन्तमें उत्थापना करना पड़ता है। तब देवगण अपना कार्य समाप्त कर देते हैं। कीर्त्तनका महामन्त्र 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे' है। इसके सिवा अपनी रुचिके अनुसार दूसरे मन्त्र भी बोले जा सकते हैं। कीर्त्तन-कालमें प्रेम-मग्न होकर इष्टमें तन्मय होनेका प्रयत्न करना चाहिये।

* * *

भगवत्कृपा

(लेखक—श्रीसुधांशुभूषणदेव शर्मा, एम० ए०)

प्रश्न–शास्त्र भगवान्‌को परम दयालु और सर्वभूतोंका सुहृद् कहते हैं; किन्तु संसारमें प्रत्यक्ष देखा जाता है कि बहुत-से कष्ट हैं और जीव दुखी हैं। इससे तो भगवान्‌की निष्ठुरता सिद्ध होती है, वे दयालु कैसे ?

उत्तर–एक बालक देखता है कि किसीको फोड़ा हुआ है और कोई डाक्टर उसे चीर रहा है। बीमार आदमी बुरी तरहसे चिल्लाता है, यहाँतक कि डाक्टरको गालियाँ भी दे रहा है। बालक जाकर दूसरोंसे कहता है कि डाक्टर साहब बड़े निष्ठुर हैं। तो क्या डाक्टर साहब सचमुच निष्ठुर हैं ? उनका उद्देश्य तो बीमार आदमीको नीरोग करना ही है। और फोड़ा अच्छा होनेके बाद बीमार आदमी भी डाक्टर साहबको दयालु माननेके लिये राजी हो जायगा। अज्ञानवश हमलोग भी असली तत्त्वको न जाननेके कारण इसी बालककी तरह भगवान्‌को निष्ठुर ठहराते हैं।

प्र०–किन्तु हम तो बालक नहीं हैं ?

उ०–जब हमलोगोंमें अज्ञता है, तब हम बालक नहीं तो और क्या हुए ?

प्र०–मान लिया, संसारके दुःख-कष्ट फोड़ेके समान हैं। लेकिन भगवान् फोड़ा पैदा ही क्यों करते हैं ? अगर फोड़ा न हो, तो चीरनेकी जरूरत भी न पड़े।

उ०–इसी प्रश्नमें तो अज्ञता भरी है। कोई व्यक्ति जो गणितमें बिलकुल अनभिज्ञ है, अगर पूछे Einstein की Theory of Relativity (आइनष्टाइनका आपेक्षिक तत्त्व) क्या है और कैसे आया, तो उसको क्या समझाया जाय ? उससे यही कहना पड़ेगा, 'भाई! पहले इसको समझनेके योग्य बनो, फिर ऐसा प्रश्न करना। अभी तुम्हारी समझमें नहीं आयगा।' आपने जो प्रश्न किया है, भगवान् फोड़ा पैदा क्यों करते हैं ? उसका उत्तर समझनेके लिये आपमें पहले योग्यता होनी चाहिये।

प्र०–मैं खैर अयोग्य ठहरा, लेकिन बड़े-बड़े विद्वान् भी तो ऐसा प्रश्न करते हैं। उनको आप क्या उत्तर देंगे ?

उ०-अगर किसीको इतिहासमें एम० ए० की पदवी प्राप्त हो तो क्या जरूरी है कि गणितमें भी उसका समान प्रवेश हो ? जिनको लोग संसारमें विद्वान् कहते हैं, क्या जरूरी है भगवत्तत्त्वमें भी उनकी गति हो ? अगर भगवत्तत्त्वमें उनका प्रवेश नहीं है तो इस विषयमें तो वे बालकके सदृश ही हैं, चाहे उनकी विद्वत्ताकी कितनी ही ख्याति क्यों न फैली हो।

प्र०–इससे क्या आपका यह मतलब है कि कोई प्रश्न ही न किया जाय ? फिर गीतामें क्यों लिखा है—'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया' (प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवाके द्वारा उसको जानो।)

उ०–मेरा यह मतलब नहीं है कि प्रश्न न किया जाय। मेरा कहना केवल इतना है कि सब प्रश्नोंके उत्तर सबको बोधगम्य नहीं हो सकते। हम अगर Newton के laws (न्यूटनके नियमों) को नहीं समझ सकते तो Newton के laws जैसे गलत नहीं हो जाते, वैसे ही अगर हम भगवान्‌की दयाको नहीं समझ सकते, तो भगवान् निर्दय नहीं सिद्ध हो जाते। आपने जो गीताका श्लोकार्द्ध उद्धृत किया है उसमें आपने 'परिप्रश्नेन' पर जोर दिया है, 'प्रणिपातेन' और 'सेवया' पर पूरा गौर नहीं किया है। प्रणिपात आप किसको करते हैं ? जिसपर श्रद्धा है। अर्थात् प्रश्नसे

पहले श्रद्धा होनी चाहिये । यदि आपके दिलमें पहलेहीसे यह भावना हो कि इस मनुष्यसे मैं अधिक जानता हूँ, तो उससे प्रश्न करना निरर्थक है । यदि श्रद्धा है तो भगवान् केवल प्रश्न करनेके लिये ही नहीं, परिप्रश्न अर्थात् चारों तरफसे प्रश्न करनेकी अनुमति देते हैं । फिर 'सेवया' पर विचार कीजिये । ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः (तत्त्ववेत्ता ज्ञानी लोग) हमारी कायिक सेवाके भूखे नहीं हैं । उनकी सेवा यही है कि उनके वचनोंका हम मनन करें और अपने आचरणोंसे उनके उपदेशको सार्थक बनावें । इसी सेवासे हम पूरा लाभ उठा सकते हैं । देखिये, गीताका शब्द-विन्यास । पहले प्रणिपात फिर परिप्रश्न और अन्तमें सेवा । प्रणिपातके बिना परिप्रश्न हानिकारक हो सकता है । इसलिये प्रणिपातको सबसे पहले रखा और बिना श्रवण-मनन-निदिध्यासन-रूप सेवाके परिप्रश्न लाभदायक नहीं हो सकता, इसलिये 'परिप्रश्नेन' के बाद 'सेवया' का प्रयोग हुआ है ।

प्र०—समझा कि मैं अभी भगवान्‌की दयाको समझने योग्य नहीं हूँ । तो कैसे योग्य बनूँ ?

उ०—मैं स्वयं भी तो योग्य नहीं हूँ । परन्तु जैसे मैट्रिकमें पढ़नेवाला छात्र निम्न श्रेणीके बच्चोंको मदद दे सकता है, वैसे ही दो-एक बात बतला सकता हूँ । पहली बात तो यह है कि विश्वास कीजिये 'भगवान् दयालु हैं ।'

प्र०—यह तो बड़ी कठिन बात है । यही विश्वास तो नहीं होता ।

उ०—आपने अंग्रेजी पढ़ी है न ? जब आपको सिखाया गया, 'यह A है', 'यह B है', तो आपको सीखनेमें थोड़ी-सी कठिनता मालूम हुई होगी । परन्तु आपको शिक्षकमें विश्वास था । आप सोचते थे, जब मास्टर साहब कह रहे हैं, 'यह A है' तो यह 'A' ही होगा । अगर उस समय आप अकड़ जाते कि यह 'A' नहीं है, यह 'क' है तो क्या सीखते ! विश्वास ही शिक्षा या उन्नतिका मूल है । आप विश्वास नहीं करेंगे तो कैसे काम चलेगा ?

प्र०—इस जडवादके युगमें विश्वासका स्थान बहुत ऊँचा नहीं है । लोक तर्क-शक्तिको अधिक कीमती मानते हैं । इसके सम्बन्धमें आप क्या कहते हैं ?

उ०—तर्कशक्तिके बिना तो हम जी भी सकते हैं; किन्तु विश्वासके बिना जीना असम्भव है । बच्चेको मातापर विश्वास है, छात्रको शिक्षकपर विश्वास है । मनुष्यपर मनुष्यको विश्वास करना पड़ता है, तभी व्यवहार चलता है । मान लीजिये, आप बाजारमें जाते हैं गेहूँ खरीदनेके लिये । अगर गेहूँवाला आपपर अविश्वास करे और आप गेहूँवालेपर, तो रुपये देनेके पहले वह आपको गेहूँ नहीं तौल सकता, और गेहूँ तौलनेके पहले आप रुपये नहीं दे सकते, तो सौदा कैसे होगा ? बड़े-बड़े वैज्ञानिक भी, जिनमें बुद्धिका सम्यक् विकास हुआ है, विश्वासके ही बलपर चलते हैं । नहीं तो वे Research (गवेषणा) कैसे करते हैं । उनको विश्वास है कि हमको हमारी गवेषणाका कुछ फल मिलेगा, तभी तो वे विज्ञानागारमें रात-दिन परिश्रम करते हैं । उस फलको वे पहलेसे नहीं देखे रहते, विश्वासके आधारपर ही उनको काम करना पड़ता है । इसी तरहसे हम भगवान्‌को पहलेसे देखे नहीं रहते । विश्वास करके ही उनकी आराधना करनी पड़ती है ।

प्र०—परन्तु असत्यमें विश्वास करनेसे हानि हो सकती है । क्या पता, जिसमें हम विश्वास करें वह सत्य है या असत्य ?

उ०—विश्वासमें सत्यासत्यका तर्क नहीं होता । यदि सन्देह ही रहा तो विश्वास कैसा ? जब आपने अंग्रेजी पढ़ना आरम्भ किया तो क्या जरा भी आप सन्देह करते थे कि यह A होगा कि नहीं ? आप

यही सोचते थे कि जब मास्टर साहबने बताया तो यह A ही है, चाहे मुझे याद रहे या न रहे ।

प्र०—कितने कुसंस्कार लोगोंमें हैं । उनमें वे विश्वास करते हैं । क्या आप इस विश्वासको अच्छा समझते हैं ?

उ०—नहीं । मैं उसको वस्तुतः विश्वास मानता ही नहीं । उसमें दृढ़ता नहीं है । मान लीजिये, किसीको यह विश्वास है कि पशुके बलिदानसे उसके लड़केकी बीमारी अच्छी हो जायगी । यदि उसका विश्वास-भाजन कोई व्यक्ति जोर देकर यह कहे कि ऐसा करनेसे तुम्हारे लड़केका सिर कट जायगा, तो वह कदापि पशुको बलि नहीं दे सकेगा । इससे प्रमाणित हुआ—पशुबलिमें उसका सच्चा विश्वास था ही नहीं ।

प्र०—यदि ऐसा पक्का विश्वास कर ले कि ईश्वर नहीं है, तो उसका क्या होगा ?

उ०—ऐसा पक्का विश्वास हो ही नहीं सकता । जो ईश्वरको नहीं मानते, वे भी अपने दिलपर यदि हाथ रखकर विचारें तो मालूम होगा कि कभी-न-कभी किसी अदृश्य शक्तिका अनुभव उन्होंने भी किया ही होगा । 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' जीव चेतन भगवान्का अंश है । मल, विक्षेप और आवरणसे वह चेतनता छिप सकती है, नष्ट नहीं हो सकती । इसलिये चेतन भगवान्को छोड़कर जीवको शान्ति नहीं मिल सकती । रुपयोंमें शान्ति नहीं, स्त्री-पुत्रोंमें शान्ति नहीं, लौकिक मान-बड़ाईमें शान्ति नहीं । धर्मके ढोंगमें भी शान्ति नहीं । चेतन जीवको जड पदार्थोंसे शान्तिकी आशा मृगतृष्णाके समान है । हमलोग सोचते हैं, धनमें यह सुख है, विषयमें वह सुख है, लेकिन धन-प्राप्ति या विषय-भोगके बाद पहलेकी ही तरह अशान्त रह जाते हैं । भगवान्में विश्वास ही शान्तिका प्रथम सोपान है ।

प्र०—अच्छा, विश्वास कर लिया कि भगवान् दयालु हैं । फिर ?

उ०—फिर इस विश्वासका पाठ करना होगा ।

प्र०—वह कैसे ?

उ०—यह अभ्यास करना होगा—ईश्वरके प्रत्येक विधानमें दया भरी है । इष्ट-प्राप्ति, अनिष्ट-प्राप्ति—सबमें ईश्वरकी दया है ।

प्र०—अनिष्ट-प्राप्तिमें भी ईश्वरकी दया ?

उ०—अनिष्ट-प्राप्तिमें ईश्वरकी विशेष दया है । प्रारब्धका क्षय, जडपदार्थोंमें वैराग्य, मनका निर्मल होना, अहङ्कारका नाश, पुरुषार्थकी परीक्षा इत्यादि अनेकों लाभ अनिष्ट-प्राप्तिसे ही होते हैं । माता जब बच्चेको नहलाती है और मैल साफ करती है, तो बालक रोता है, सोचता है—'माँ मुझे इतना कष्ट क्यों दे रही है ?' वैसे ही भगवान् जब हमें दुःखमें डालते हैं, तो हम कहते हैं कि भगवान् क्यों इतना कष्ट हमें दे रहे हैं । परन्तु जैसे माताके हृदयमें प्रेम है वैसे ही भगवान्के हृदयमें प्रेम है ।

प्र०—और फिर ?

उ०—और फिर, जैसे पाठ करते-करते अर्थ खुल जाते हैं, वैसे ही दयाका व्यवहार करते-करते दयाके रहस्य खुल जाते हैं । भगवान्ने कहा है—'ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ।' सब प्राणियोंपर दयाका बर्ताव करनेसे भगवान्की प्राप्ति होती है । हमलोग स्वयं तो हिंसासे भरे हुए हैं, और भगवान्को निर्दयीका सर्टिफिकेट दे बैठते हैं । पहले स्वयं तो दयालु बनो, फिर भगवान् दयालु हैं या नहीं—आप ही समझमें आ जायगा । और आखिरी बात तो यही है कि भगवान्की दयासे ही भगवान्की दयाका ज्ञान होता है ।

प्र०—अच्छा, ऐसी दो-एक बातें बताइये, जिनसे भगवान्की दया अनुभवमें आवे ।

उ०—भगवान् अनन्त शक्तिवाले हैं, इसलिये उनकी दया भी अनन्त है । हर एक बातमें इस दयाका अनुभव हो सकता है । पर एक बात याद रखनी है । हमलोगोंकी बुद्धि सीमित है । इस सीमित बुद्धिसे

भगवत्कृपाकी असीमता हम तौल नहीं सकते। यदि तौलने जायँगे तो कभी उनकी कृपाका प्रभाव नहीं समझ सकेंगे। हमारी बुद्धि तो एक जन्मकी बातोंपर भी ठीक निश्चय नहीं कर सकती। लेकिन भगवान् तो न जाने कितने जन्मोंका प्रबन्ध करते हैं। एक जन्ममें किसीकी दुर्गति देखकर भगवान्‌को निर्दय सिद्ध करना महान् मूर्खता है। भगवान्‌के सभी नियम कृपासे भरे हुए हैं। 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' के नियमको जरा देखिये। कोई व्यक्ति इस संसारमें नहीं मिलेगा जो आपको ठीक उसी तरहसे भजे, जैसे आप उसको भजते हैं। आप यदि किसीकी बुराई करें, तो उससे क्षमा मिलना आपके लिये दुष्कर होगा। लेकिन भगवान् तो महान् दुराचारीको भी अपनाते हैं और उसे साधु बना देते हैं। दुनियामें दाता बहुत हैं। परन्तु ऐसा कोई नहीं, जो भिक्षुकको अपने समान बना ले। भगवान् तो उसे अपना पदतक देनेको तैयार हैं। केवल यही नहीं, भक्त यदि भगवान्‌को अपनेसे बड़ा मानते हैं, तो भगवान् भी उनको अपनेसे बड़ा मानते हैं। कहाँतक वर्णन किया जाय, हमलोगोंसे यदि साधन नहीं हो सके और पुरुषार्थमें कमी मालूम हो तो भगवान् डंकेकी चोट कहते हैं—सब छोड़कर मेरी एककी शरणमें आ जाओ। मैं तुम्हें सब पापोंसे छुड़ा लूँगा, चिन्ता न करो।

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

भगवान्‌को न मानो, लेकिन उनकी आज्ञाको मानो तब भी भगवान् प्रसन्न रहते हैं। राग-द्वेषको छोड़ना भगवान्‌की आज्ञा है। यदि कोई राग-द्वेष छोड़ देता है, तो भगवान् उसे शान्ति देते ही हैं, 'मुझे नहीं मानता है' यह सोचकर उसको शान्तिसे वञ्चित नहीं रखते। इसका प्रमाण—

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥

और यदि आज्ञा पालन करनेकी शक्ति नहीं है, किन्तु भगवान्‌को मानते हैं एवं उनकी शरण लेते हैं तो भी भगवान् प्रसन्न रहते हैं। गीतामें अर्जुनको जब स्वजनवधके भयसे मोह हुआ, तब भगवदाज्ञापालन करनेकी सामर्थ्य अर्जुनमें कहाँ थी? परन्तु जब अर्जुन भगवान्‌की शरणमें गये, तो भगवान्‌ने सारा काम सम्हाल लिया। भला, ऐसे दयालु कौन होंगे? उनकी प्रत्येक चेष्टा दयामयी होती है। वे दयामूर्ति जो ठहरे! 'प्रभु-मूरति कृपामयी है।'

आँख-मिचौनो

तुझको पहचान न पाता,
कर कर विचार रह जाता।
बस इतना कह सकता हूँ,
तू अतिशय मुझको भाता॥ १॥
मेरे सूने आँगनमें,
तू जाने कब आ जाता।
मैं छूने हाथ बढ़ाता,
तू हँस पीछे हट जाता॥ २॥
क्यों मौन साध ली जाती?
जब भेंट चढ़ाने लाता।
क्या यही मनन होता है?
मैं कोई जाल बिछाता॥ ३॥
तव प्राप्ति हेतु मैंने भी,
अगणित उपाय कर डाले।
पर तू इतना चञ्चल है,
झट क्षितिज रेख बन जाता॥ ४॥
दीपक पतंगकी बातें,
मुझको निराश कर देतीं।
पर दीपक जड होकर भी,
जल कर विश्वास दिलाता॥ ५॥
तुझपर मतवाला होकर,
क्या गर्व 'अनन्य' करेगा।
जब तेरा ही आकर्षण,
यह सारा खेल खिलाता॥ ६॥

—'अनन्य' विशारद

सत्य सूत्र

(लेखक—श्रीरामावतारजी विद्याभास्कर)

१ सत्यके रूपमें ही ईश्वरकी प्राप्ति होती है ।

२ सत्यको पकड़नेवाला असत्यको पराजित कर चुकता है ।

३ असत्य कोई शक्ति नहीं है । सत्यसे पृथक् रहने अर्थात् सत्यसे विपरीत कार्य करनेका नाम ही असत्य है ।

४ सत्य मनुष्य-हृदयका पवित्र अनुभव है । अपने हृदयके पवित्र अनुभवसे विपरीत चलना असत्य है ।

५ जबतक मनुष्य सत्यको नहीं समझता, तबतक असत्यको ही शक्ति मान लेता है और ऊपर असत्यका अधिकार बैठा हुआ मान लेता है ।

६ जो मनुष्य असत्यके प्रभावमें आकर अपनेको दुखी बताता है, वह असत्यको छोड़ना नहीं चाहता ।

७ असत्यको छोड़नेका सङ्कल्प करना और सत्यको पकड़ना दोनों एक बात है ।

८ असत्य कभी सत्यसे लड़नेका साहस नहीं करता । वह सत्यसे लड़नेका अवसर आते ही मर जाता है ।

९ सत्यका पुजारी प्रत्येक समय अपने मनको परखता रहता है ।

१० सत्यका पुजारी अपने मनपर दोष और अपवित्रताको अधिकार नहीं करने देता ।

११ जो मनुष्य पहले तो दोष और अपवित्रताको अवसर दे देता हो और पीछेसे पछताता हो, वह सत्यका पुजारी नहीं है ।

१२ सत्यका पुजारी अपने पवित्र-हृदयरूपी क्षेत्रमें भलाईके बीज बोता रहता है ।

१३ जैसा मन होगा वैसे ही काम होंगे ।

१४ प्रत्येक काम पहले मनमें बनते हैं; फिर बाहर प्रकट होते हैं ।

१५ ऐसा कोई काम नहीं जो मनकी शक्तिसे बाहर हो ।

१६ मन केवल सत्यका भूखा है । वह असत्य संसारका भूखा नहीं है ।

१७ संसारके समस्त दुःख तथा कष्ट मनुष्योंसे सत्यको ढुँढ़वाना चाहते हैं ।

१८ मनकी भूख सत्यसे ही मिटती है ।

१९ अज्ञानी अपने मनकी सत्यकी भूखको न पहचानकर अपने दुःखों और कष्टोंको मिटानेके लिये असत्य संसारके पीछे दौड़ लगाते हैं ।

२० अपने मनको शान्त रखनेकी कुशलता संसारकी सबसे बड़ी विद्या है । इसे प्राप्त करो । इसके अति रिक्त शेष सब अविद्या है ।

२१ अपनेको सुधारनेवाला संसारका सबसे बड़ा सुधारक है ।

२२ अपनी चिकित्सा करनेवाला संसारका सबसे बड़ा वैद्य है ।

२३ मनुष्य अपने प्रत्येक क्षणको भले कार्यमें लगानेका उत्तरदायी है ।

२४ भागोंके पुष्ट होनेसे भवन अपने-आप पुष्ट हो जाता है । जीवनके छोटे-छोटे कार्योंको निर्दोष करोगे तो सारा जीवन अपने-आप सुधर जायगा ।

२५ छोटे कार्योंको छोटा समझकर उपेक्षा मत करो । छोटे कामोंको निर्दोष करना ही कुशलता है ।

२६ बड़े कामको अच्छा करनेके लिये छोटोंको बिगड़ जाने दोगे तो बड़ा भी बिगड़ जायगा ।

२७ कर्तव्यका छोटे-से-छोटा भाग शक्तिका मूल है । उसे पुष्ट करो ।

२८ चतुर शिल्पी वह है जो मूलको पुष्ट करता है । प्रत्येक मनुष्य अपने-अपने जीवनरूपी भवनका शिल्पी है ।

२९ सच्चा शिल्पी वह है जो अपने जीवनरूपी भवनको सत्यके ऊपर चुनकर खड़ा कर देता है ।

३० जो सत्यको अपने जीवनका मूल सिद्धान्त बना चुका होगा, उसका मन अटल आनन्दका घर होगा ।

३१ जिसके नयनोंमें सत्य बस जाता है । उसे सर्वत्र सत्य-ही-सत्य दीखने लगता है ।

३२ केवल असत्यसे लड़नेका सङ्कल्प कर लेनेसे ही सत्यका प्रेम प्रकट नहीं होता । सत्यका प्रेम तो सत्यको पकड़ लेनेसे ही प्रकट होता है ।

३३ यदि तुम सत्यसे प्रेम करना चाहोगे तो तुम्हें असत्यसे घृणा करनी ही पड़ेगी ।

३४ सत्यका यात्री केवल सत्यको ढूँढ़ता है ।

३५ सत्य मनमें है बाहर नहीं । उसे बाहर मत खोजो ।

३६ असत्य भी मनमें है बाहर नहीं।

३७ सत्य न तो पुस्तकोंमेंसे मिलेगा और न विद्वानोंकी बातोंमेंसे मिलेगा। जीवनके प्रत्येक अनुभवमें मनुष्यको सत्यका दर्शन होता है। जो उसे पकड़ना सीखेगा उसे सत्यका दर्शन होगा।

३८ सत्यके प्रेमीके पास निराशा कभी न आयगी।

३९ मृग-तृष्णा असत्य संसारमें ही रह सकती है। सत्यका संसार असत्य संसारसे निराला है। सत्यके संसारमें तो शान्ति देनेवाली अमृतकी धार बह रही है।

४० सत्य रक्षणीय स्थिति है, प्राप्तव्य नहीं। उसकी रक्षा करनी पड़ेगी, पाना नहीं पड़ेगा।

४१ सत्यको अप्राप्त मानकर उसकी प्राप्तिका यत्न करना भूल है।

४२ सत्यमें आरूढ़ हो जाना ही सत्यकी प्राप्तिका साधन है।

४३ इस संसारमें सत्य ही एक ऐसी वस्तु है जो एक बार हाथमें आकर फिर कभी नहीं छूट सकती।

४४ सत्यको पाना होगा तो पहले असत्यको छोड़ देना होगा।

४५ असत्यको छोड़ना ही सत्यको पाना हो जायगा।

४६ असत्यको छोड़ना ही आत्मसुधार है।

४७ आत्मसुधार सत्यकी सेवा है।

४८ प्रभुसे मिलना ही सेवा है।

४९ सेवा ही सत्यका साकार रूप है। सत्य सेवामें ही साकार होता है।

५० अपने जीवनका लक्ष्य ही अपना प्रभु है।

५१ सत्य ही मनुष्यके जीवनका लक्ष्य है, इसलिये सत्य ही मनुष्यका प्रभु है।

५२ सत्यका दर्शन बाह्य संसारमें कहीं न होगा; किन्तु अपने मनमें होगा।

५३ शुद्ध मनको ही सत्यका दर्शन हो सकेगा।

५४ वर्तमान क्षणमें ही सत्यकी रक्षा हो सकेगी। भविष्यमें सत्य मिलनेकी आशा मनुष्यकी महामूढता है।

५५ वर्तमानको असत्यमें बिताकर भविष्यमें सत्य पानेका उद्योग करना सदा सत्यहीन होकर सत्यप्रेमकी बनावटी मूरत लगाकर झूठा आत्म-सन्तोष पाना है।

५६ यदि तुम्हारे पास वर्तमानमें सत्य नहीं तो तुम्हारे पास कभी सत्य नहीं था और भविष्यमें भी उसकी प्राप्तिकी कोई आशा नहीं है।

५७ मनुष्य हृदयरूपी साधन अपने साथ सत्यको पानेकी स्वाभाविक शक्तिको लेकर आया है।

५८ शुद्ध मन ही इस मानवहृदयरूपी साधनको ठीक काममें ला सकता है, अशुद्ध मन नहीं ला सकता।

५९ साधनका सदुपयोग ही सिद्धि या लक्ष्य-प्राप्ति है।

६० यदि साधनमें ममता होगी तो साधनका सदुपयोग नहीं किया जा सकेगा।

६१ जबतक तुम्हें अपने साधनमें ममता होगी तबतक साधन तुम्हारे ही लक्ष्यको ढके रक्खेगा। तबतक तुम्हें लक्ष्य दिखानेवाली वस्तु ही तुम्हारे लक्ष्यको ढके रहेगी।

६२ अशुद्ध मन साधनोंमें ममता करके साधनोंका दुरुपयोग करता रहता है।

६३ अशुद्ध मन सत्यरूपी लक्ष्यसे बचकर देहका दुरुपयोग करता और सुख-दुःखके बन्धनमें फँस जाता है।

६४ भौतिक सुख-दुःखका बन्धन ही पराधीनता है।

६५ भौतिक सुखोंकी माँग ही सुख-दुःखका बन्धन है।

६६ साधनसे ममता हटाकर देखोगे तो तुम्हें तुम्हारे जीवनका लक्ष्य दीख जायगा।

६७ साधनोंसे ममता हटानेमें आलस्य करना असत्यका प्रेम या सत्यसे विमुखता है।

६८ सत्यको पकड़नेमें तत्परता न दिखाना मनुष्यका महान् आलस्य है।

६९ जीवनकी स्वाभाविक तपस्याको न मरने देना ही सत्यान्वेषणकी तत्परता है।

७० अपनी स्वाभाविक तपस्याको व्यर्थ कर डालना मनुष्यका महान् अज्ञान है।

७१ असत्‌को सत् समझ लेना 'अज्ञान' है।

७२ सत्य-असत्यका विचार करनेमें समर्थ होना 'ज्ञान' है।

७३ सत्यसे परिचित हो चुकनेपर ही सत्यासत्यका विचार हो सकता है, पहले नहीं।

७४ सत्यसे परिचित हो जाना ही मनकी शुद्धता है।

७५ सत्यको वर्तमान क्षणमें ही पहचान लेना होगा। इसी क्षण सत्यपर डट जाओ और सदा आनेवाले असत्यको सदा ही भगाते रहो। यही सदसद्विचारबुद्धि है।

७६ सदसद्विचार करना ही शुद्ध मनका स्वरूप है।

७७ सत्यकी कसौटीपर ही सत्यकी पहचान होती है।

७८ शुद्धताकी रक्षा करनेका मूल्य शुद्ध मन ही जानता है। अशुद्ध मनको यह मूल्य नहीं समझाया जा सकता।

७९ अशुद्ध मन अशुद्धताकी रक्षा करना जानता है।

८० अशुद्ध मन अशुद्धताकी कसौटीपर अपने त्याज्य-ग्राह्यको परखकर अशुद्धताको पकड़ लेता है ।

८१ असत्य ही अशुद्ध मनकी अशुद्धता है ।

८२ भौतिक पदार्थोंमें ममता रखना ही असत्य या अशुद्ध मनकी अशुद्धता है ।

८३ भौतिक पदार्थोंकी ममता 'स्वार्थ' कहलाती है ।

८४ अशुद्ध मन स्वार्थका दास बन जाता है और भौतिक सुख पानेको सुख और न पानेको दुःख मान बैठता है ।

८५ स्वार्थकी कसौटीपर स्वार्थकी ही परख हो सकती है ।

८६ स्वार्थी स्वार्थको पकड़कर बैठ जाता है और परमार्थको छोड़ देता है ।

८७ स्वार्थ ही असत्य है ।

८८ जीवनमें स्वार्थका न रह जाना ही मनुष्य-जीवनकी सत्य अवस्था है ।

८९ स्वार्थी स्वार्थाभावसे जिस वस्तुको छोड़कर भाग खड़ा होता है वही सत्य या परमार्थ है ।

९० स्वार्थका प्रेम होगा तो मनुष्यको सत्यको खोना ही पड़ेगा ।

९१ परमार्थका प्रेम होगा तो वह स्वार्थकी अवश्य उपेक्षा करायेगा ।

९२ परमार्थ ही सत्य है ।

९३ सत्यनिष्ठा ही सत्यका फल है । सत्यनिष्ठासे भिन्न सत्यका और कुछ फल नहीं मिलेगा ।

९४ सत्यका सत्यनिष्ठासे दूसरा कोई फल चाहना सत्यसे बचना और असत्यको पकड़ना है ।

९५ कर्तव्य-पालनसे किसी फलकी माँग करना मनुष्यकी असत्यनिष्ठा है ।

९६ मैंने कर्तव्य-पालन कर लिया, अब मैं धन्य हो गया—यह सन्तोष ही कर्तव्य-पालनका फल है ।

९७ कर्तव्यके समय मनमें फलेच्छा रखना कर्तव्यसे भ्रष्ट बन जाना है ।

९८ अपने-आपको फलके साथ बाँध देना असत्यरूपी परतन्त्रता है ।

९९ फलकी इच्छा न रहना स्वतन्त्रता है ।

१०० शुद्ध मन ही स्वतन्त्र है ।

१०१ भाव शुद्ध होनेको ही मनकी शुद्धता कहा जाता है ।

१०२ शुद्ध मन अपनी शुद्धताकी रक्षाके लिये इस साधनरूपी देहको शुभ कर्ममें लगाता है ।

१०३ मन शुद्ध होगा तो शुभ कर्म करना मनुष्यका स्वभाव हो जायगा ।

१०४ मन अशुद्ध होगा तो कर्म भी अशुद्ध होगा ।

१०५ अशुद्ध मनसे अच्छे काम होना बबूल बोकर आम खानेकी इच्छा है ।

१०६ मनुष्य-देहकी विशेषता इसीमें है कि वह अपने मनको शुद्ध रक्खे ।

१०७ सत्याचरणको किसी अवस्थाके आनेकी प्रतीक्षामें रोककर वर्तमानमें असत्याचरण करते रहना सत्याचरणका सुअवसर टालना है ।

१०८ सत्यको प्रत्येक मनुष्य समझ सकता है । मनुष्यतासे हीन ही उसे समझनेमें असमर्थ रहता है ।

१०९ सत्य सब अवस्थाओंके लिये समयोचित है ।

११० लक्ष्यहीन जीवन सत्यहीन जीवन है । उसमें सदा कामाग्नि सुलगती रहती है ।

१११ स्वतन्त्र मनमें रूप-रसादिकी कामाग्नि नहीं जल सकती ।

११२ स्वतन्त्र रखनेमें अपनेको अनन्त शक्तिमान् जान लेना आत्मशक्ति या स्वतन्त्रता है ।

११३ अपने दैनिक जीवनके प्रत्येक कामको सत्यकी कसौटीपर जाँचकर सत्य आचरण करना ही स्वतन्त्रता है ।

११४ सत्यसे च्युत जीवन स्वतन्त्रतासे हीन होनेके कारण दासोचित जीवन होता है ।

११५ असत्यको पददलित करना वीरता है ।

११६ असत्यका आदर या उसके सामने सिर झुकाना कापुरुषोंके योग्य भीरुता है ।

११७ मनुष्य सत्यके नामपर ही सर्वत्याग कर सकता है ।

११८ दृढ़ता सत्यनिष्ठामें ही हो सकती है ।

११९ सत्यके नामपर सर्वत्याग कर देना ही दृढ़ता है ।

१२० अपने आदर्शको सत्य समझ लेना ही 'आदर्शवाद' है ।

१२१ सत्यको ही अपना आदर्श बनाना 'सच्चा आदर्शवाद' है ।

१२२ आदर्शवादी ही सत्यवादी या आस्तिक है ।

१२३ आदर्शवादसे बचनेवाले नास्तिक हैं ।

१२४ आदर्श न रहना 'नास्तिकता' है ।

१२५ पवित्र जीवन ही 'जीवनका आदर्श' है ।

१२६ नास्तिक लंबे-चौड़े देहको देखते ही अपनेको

छोटे शरीरवाला शक्तिहीन मानकर दूसरोंकी सहायतासे निरापद बननेकी चिन्तामें डूबा रहता है।

१२७ नास्तिककी बुद्धि मनुष्यता या विदेहपनेकी महती शक्तिको नहीं समझ सकती।

१२८ नास्तिक मनोबलको नहीं समझ सकता।

१२९ नास्तिकका सम्पूर्ण बल भोग्य-पदार्थोंका संग्रह करनेमें व्यय होता और असफल हो जाता है।

१३० देहके भोग्य पदार्थोंको जीवनका लक्ष्य मान लेना 'स्वार्थ' कहलाता है।

१३१ स्वार्थके सामने पुरुषार्थ व्यर्थता है और भ्रम है।

१३२ धन-मान तथा देहकी सुखेच्छा स्वार्थरूपी भ्रम है।

१३३ स्वार्थ-त्याग मनुष्यकी अनुपम बुद्धिमत्ता है।

१३४ स्वार्थसे चिपटे रहना मनुष्यकी बुद्धिहीनताकी सूचना है।

१३५ स्वार्थरूपी शत्रुको न त्यागनेवाला मूढ नहीं है तो कौन है?

१३६ स्वार्थ-त्याग इतना कठिन नहीं है, जितना कि स्वार्थको शत्रु समझना। स्वार्थ दो गाढ़ मित्रोंको शत्रु बना देता है। यों स्वार्थ ही स्वार्थीका शत्रु हो जाता है।

१३७ स्वार्थकी सिद्धिका हर्ष और स्वार्थकी असिद्धिका शोक मनके विकार हैं। ये हर्ष और शोक स्वार्थीके विकृत मस्तिष्ककी बुद्धिहीनतासे उपजते हैं।

१३८ स्वार्थसे उदासी आती है और प्रसन्नता खोयी जाती है। स्वार्थीका मुख मुरझा जाता है।

१३९ प्रसन्नताके पास स्वार्थ नहीं रह सकता।

१४० स्वार्थ पूरा होनेपर प्रसन्न होनेकी आशा भूखा रहकर भूख मिटानेकी-सी इच्छा है।

१४१ प्रसन्न बन जानेसे ही स्वार्थ भागेगा।

१४२ आवश्यकताकी दासता ही 'स्वार्थ' है।

१४३ जो मुझे चाहिये वह मेरे पास है, जो मुझे नहीं चाहिये वह मेरे पास नहीं है—यही मनुष्यकी स्वार्थातीत, प्रसन्नता, पूर्णता या स्वार्थशून्यताकी अवस्था है।

१४४ मैं इस समय जो हूँ, अगलेमें भी यही रहूँगा, पिछलेमें भी यही रह चुका हूँ—यों अपने वर्तमान क्षणको ही भूत-भविष्यका निर्माता बनाकर रखना ही मनुष्यकी पूर्णता है।

१४५ प्रत्येक वर्तमान क्षण मनुष्यका सम्पूर्ण जीवन है। जो वर्तमान क्षणकी उपेक्षा करेगा, उसके सारे जीवनकी अवहेलना हो जायगी।

१४६ देह अनित्य है। इसका सदा परिवर्तन हो रहा है। परन्तु मनुष्यका मन नित्य है। यह परिवर्तनशील देहके साथ रहकर भी अपरिवर्तित रहता है। इसीको मनकी या आत्माकी नित्यता कहा जाता है।

१४७ नित्य अवस्थामें रहनेवाला मन 'सत्य' कहलाता है। देहकी अनित्य अवस्थाओंके पीछे लगनेवाला परिवर्तनशील प्रभावित मन 'असत्य' कहलाता है।

१४८ जो सत्यसे विपरीत है वही असत्य है।

१४९ असत्य कभी पलटकर सत्य नहीं बनेगा।

१५० सत्य भी कभी पलटकर असत्य नहीं बनेगा।

१५१ असत्यका मिट जाना ही 'सत्य' है।

१५२ सत्यका न दीखना ही 'असत्य' है।

१५३ यदि तुम इस मुहूर्तमें पूर्ण अभ्रान्त तथा आनन्दस्वरूप न हो चुके हो तो अगले क्षणमें भी नहीं हो सकोगे। और उससे अगलेमें भी नहीं हो सकोगे। तुम्हारे जीवनमें इस क्षणसे अधिक शुभ मुहूर्त कभी न आयेगा। इसलिये अच्छे कामको फिरके लिये न टालकर उसे अभी करनेके लिये दृढ़ हो जाओ।

१५४ जो तुम होना चाहो अभी बनो।

१५५ यदि तुम्हारी कुछ बननेकी इच्छा अधूरी हो तो निश्चय जानो कि तुम वह होना ही नहीं चाहते।

१५६ सब क्षण एक-से आ रहे हैं और जा रहे हैं। एकको खोओगे तो सभीको खो डालोगे। एककी रक्षा करोगे तो सभीकी रक्षा कर लोगे।

१५७ अभी असत्यमें हो तो भविष्यमें सत्यारूढ़ होनेकी निष्फल कल्पना क्यों करते हो?

१५८ असत्य कभी सत्य नहीं होता। आजका असत्य कलका भी असत्य है और सदाके लिये असत्य रहेगा।

१५९ यदि अब सत्यमें हो तो तुम असत्यमें कभी नहीं जा सकते। आजका सत्य कलका भी सत्य है और सदाका सत्य है।

१६० जो अपनेको अभी आनन्दका अधिकारी नहीं बना सकेगा, वह सदा आनन्दहीन रहेगा।

१६१ जो आज आनन्द भोग रहा है वही सदा आनन्द भोगेगा।

१६२ जो आज दुःख भोग रहा है, वह सदा दुःख-ही-दुःख भोगेगा।

१६३ आनन्द जब आता है तब पूर्णताको लेकर आता है।

१६४ आनन्दमें अल्पता और अधिकता कभी नहीं हो सकती।

१६५ आनन्दमें तुलना नहीं है। वह घटना-बढ़ना नहीं जानता।

१६६ आनन्दको खण्ड करके नहीं पाया जा सकता।

१६७ आनन्द आयेगा तो पूरा आयेगा।

१६८ पूर्ण आनन्दको पाकर मनुष्य आनन्दस्वरूप हो जाता है।

१६९ जो अपनेको पूर्णानन्दका अधिकारी नहीं बना सकेगा, संसारकी किसी भी आनन्द देनेवाली समझी हुई वस्तुसे उसकी आनन्दहीन अवस्था नहीं हटायी जा सकेगी।

१७० सत्यसे ऊँचा लक्ष्य और सत्यसे अधिक शक्तिशाली साधन नहीं हो सकता।

१७१ क्षुद्र लक्ष्यके साधन भी क्षुद्र होते हैं। उसके उद्यम भी क्षुद्र ही होते हैं।

१७२ महान् आदर्शके साधन तथा उद्यम सब महान् होते हैं।

१७३ जब स्वार्थ या असत्य लक्ष्य होगा तो साधन होंगे संसारी सुख-दुःखमें फँसानेवाले अनित्य पदार्थ।

१७४ जब मनुष्यका लक्ष्य सत्य होगा तब उसका साधन यह होगा कि भौतिक सुखोंपर लात मार दो और उसका उपाय यह होगा कि मनकी अप्रभावित अवस्थाकी रक्षा कर लो।

१७५ स्वार्थियोंमें परस्पर सदा खींचातानी चलती रहेगी।

१७६ सत्यारूढ़ मनुष्योंके कर्मक्षेत्रमें स्वार्थियोंके पैर नहीं गड़ सकेंगे।

१७७ हाथ, पैर आदि क्षुद्र इन्द्रियोंसे तो क्षुद्र वस्तु ही पायी जा सकती है। जहाँ ये इन्द्रियाँ व्यर्थ हो गयी हों, जहाँ मानसिक चैतन्य जागकर खड़ा हो गया हो, वही महान् है, वही स्वतन्त्र मनुष्यका लक्ष्य है, वही सत्य है।

१७८ विश्वाससे ही सत्य मिलता है, शङ्कासे नहीं। यदि अपने ऊपर विश्वास नहीं करोगे तो तुम्हें सत्य नहीं मिलेगा।

१७९ विश्वास सत्यसे परिचय कराने और मेल करा देनेवाला अचूक मित्र है।

१८० विश्वास सत्यसे मिलानेमें मन्त्र फूँकनेका-सा काम करता है।

१८१ विश्वास मनुष्यके कानमें कहता है कि ओ मनुष्य! तेरे विधाताने तुझे पवित्रता, शुद्धता तथा स्वतन्त्र विचार करनेकी शक्ति देकर उत्पन्न किया है। उसने तुझे पापी, दुखी और दूसरोंके पीछे भटकनेवाला बुद्धिहीन परतन्त्र मनुष्य बनाकर उत्पन्न नहीं किया।

१८२ विश्वास सत्यके लिये चाह और प्रेम उत्पन्न करता है।

१८३ विश्वास असत्य अवस्थामें रहना असम्भव बना डालता है।

१८४ विश्वास दुखियाका दुःख छीनकर उसके आँसू पोंछता है।

१८५ विश्वास असफल मनुष्यको उसकी वर्तमान परिस्थितिमेंसे ही सफलताका पगडंडी दिखाता है।

१८६ विश्वास ऐसी शक्ति है जो वर्तमान वातावरणमेंसे ही कष्टको पार करनेका कोई-न-कोई मार्ग निकालकर मनुष्यके सामने रख देता है।

१८७ विश्वास ही मनुष्यका ईश्वर है। विश्वास ही राक्षसोंका लोप करनेवाली ऐश्वरी शक्ति है।

१८८ ईश्वर विश्वासकी वाणीमें ही मनुष्यसे बोलता है। ईश्वर जिसे उठाना चाहता है उसके मनमें विश्वास डाल देता है।

१८९ विश्वास चलते-चलते गिर पड़नेवालोंका हाथ पकड़कर सहारा देता है और कहता है कि चलो, तुम चल सकते हो। चलो, तुम अपने शत्रुको जीत सकते हो। चलो, तुम अनन्त शक्तिमान् हो।

१९० विश्वास कहता है कि ओ मनुष्य! तेरी शक्तिकी कोई सीमा नहीं है। तेरे शक्ति दिखानेके अनन्त मार्ग हैं। तू अपनी शक्तिकी इस शरीररूपी बनावटी सीमासे घबराना छोड़ दे। तू पशुबल न होनेसे अपनेको उत्साहहीन मत कर। तू मनोबल दिखानेमें अनन्त शक्तिमान् है।

१९१ विश्वास मनुष्यके छोटे-से-छोटे कामोंमें महत्त्व उत्पन्न करके उससे कहता है कि हे मनुष्य! तुम छोटे नहीं हो, तुम महान् हो। तुम्हारा छोटा काम भी विश्वव्यापी महाशक्तिका ही एक अकाट्य भाग है।

१९२ विश्वास कहता है कि हे मनुष्य! तेरे जीवनमें किसी वस्तुकी न्यूनता नहीं है। तू पूर्ण है। तू विश्वास कर कि विश्वकी अनन्त शक्तिका अखण्ड भंडार प्रत्येक समय तेरी आवश्यकता पूरी करनेके लिये ललचाता फिर रहा है। तू साहस मत छोड़ और ईश्वरकी अनन्त शक्तिके भंडारकी ताली सँभाल ले।

१९३ विश्वास कहता है कि हे मनुष्य! तू दरिद्र, निर्बल,

पतित या दास नहीं है । तैंने अपने परमात्माकी ओरसे आँख फेरकर मनमें दरिद्रता, निर्बलता, पातित्य तथा दासताका ध्यान बसा लिया है । तू आँख खोलकर अपने भीतरले, सत्यरूपी विराट् कोषकी ओर देख और दबना छोड़ दे ।

१९४ विश्वास कहता है कि हे मनुष्य ! तू अपनेको संसारका सबसे बड़ा धनी और बलवान् समझ, तू सत्यको अपनाकर परमात्माकी सृष्टिकी सच्ची शोभा देख और अपने व्यावहारिक जीवनसे संसारको सचाईके महाकोषका पता दे दे ।

१९५ विश्वास मनुष्यको सत्याग्रही बनाकर कहता है कि यदि तेरे पास और कोई शस्त्र नहीं है तो तू अकेले अपने देहसे ही संसारभरके पशुबलके विरोधमें डटकर खड़ा हो जा ।

१९६ सत्याग्रहीका देह असत्यका विरोध करनेवाला अजेय दुर्ग है । सत्यारूढ़ अपनी अन्तिम चेतनातक इस दुर्गको दूसरेकी इच्छाका दास नहीं बनने दे सकता । वह अपने शरीरको दूसरेके धन-मान या यशोलिप्साका साधन नहीं बनने देता । वह दूसरेकी पापी इच्छाको अपने देहपर प्रयुक्त नहीं होने देता । वह अपने शरीरका अकेला प्रभु रहता है । वह दासोंके समान दूसरोंको अपने शरीरका स्वामी नहीं बनने देता ।

१९७ विघ्न-बाधाएँ सर्वव्यापक सत्यको सत्याग्रहियोंके रूपमें प्रकट कर देती हैं ।

१९८ अनन्त शाश्वत सत्य सृष्टिके प्रारम्भसे लेकर समयकी आवश्यकताके अनुसार सत्याग्रही महापुरुषोंके सान्त-रूपमें प्रकट होता चला आ रहा है ।

१९९ युग-युगके अवतारों, ऋषियों, मुनियों, तपस्वियोंने अपने-अपने जीवनोंमें सत्यको ही प्रकट किया है । ये सब सत्याग्रही थे । ये सब सत्यके सान्तरूप थे । इनके जीवन इसीलिये सुन्दर और चित्ताकर्षक थे कि उन्होंने अपने-अपने व्यावहारिक जीवनोंमें असत्यका मानमर्दन किया था ।

२०० असत्यका मानमर्दन ही सत्यका साकार रूप है ।

२०१ सत्यका पक्ष लेने और असत्यका विरोध करनेसे ही सत्यको साकार रूप प्राप्त होता है ।

* * *

दुःख-सुखके हेतु

तेरे दुखका यह कारण है तू अपने-आपको भूल गया !
पर-धनको अपना मान-मान उसके ऊपर तू फूल गया !!
दौलत चाहे कितनी भी हो पूरी न हविस होगी तेरी ,
क्या फ़िक्र ब्याजका करता है, हा ! हाथसे तेरे मूल गया !!
इस सुमनवाटिकाने तेरे मनको इतना ललचा-ललचा ,
काँटोंमें तुझको फँसा दिया पर दूर तेरेसे फूल गया !!
जब तनमें ताकत काफी थी कुछ ध्यान बुढ़ापेका न किया ,
मदमस्त हुआ तरुणाईमें बिल्कुल भविष्यको भूल गया !!
तू सुख तलाश करता है जहाँ वहाँ महादुःखका डेरा है ,
सुखकी इच्छा क्यों होती है तू इस रहस्यको भूल गया !!
तू आप सदा ही सुखमय है और सुख स्वभाव ही है तेरा ,
भवसागरसे तर जाय सुगन प्राणी इसके अनुकूल गया !!
यदि सच्ची खुशी चाहता है तो ढूँढ़ इसे अपने अंदर ,
पालन कर उसकी आज्ञाका अबतक जिसके प्रतिकूल गया !!

—सुगनचन्द (फर्स्टक्लास मैजिस्ट्रेट)

अपनेसे नीचेवालोंकी ओर देखो

(लेखक—प्रोफेसर श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०)

संसारके कुटिल प्रहारोंसे जब तुम उद्विग्न, अशान्त और व्याकुल हो उठो, कर्ममार्गमें अग्रसर होते हुए जब तुम्हारे पग थरथरा रहे हों, हृदय नैराश्यकी लपटोंसे झुलसकर मुर्झा गया हो, नेत्र घबराहटके धुएँसे धुँधले हो उठे हों, भयंकर आँधी-तूफ़ान आता दृष्टिगोचर होता हो, तो शान्ति और उत्साहके लिये अपनेसे नीचेवालोंकी ओर देखो और उनसे अपनी दशाकी तुलना करो ।

जब तुम्हें अपने-आपपर ग्लानि हो रही हो, कष्टोंके कारण अपने जीवनको धिक्कार रहे हो, क्षुब्ध, चिन्तित, सशङ्कित वृत्तिके शिकार हो रहे हो, जीवनको भारस्वरूप समझकर भय, फिक्र, असंतोष, कायरताके बोझसे दबे जा रहे हो, तो अपनेसे नीचेवालोंकी अवस्थाको देखो और उसपर विचार करो । संसारके अनेक व्यक्ति तुमसे निकृष्ट अवस्थामें पड़े हैं, कहीं अधिक दुखी हैं, प्रतिकूल परिस्थितियोंमें बँधे हैं, तुम्हारे मुकाबलेमें अपेक्षाकृत अधिक दीन-हीन कण्टकाकीर्ण जीवन व्यतीत कर रहे हैं, तुम्हारी अपेक्षा अत्यधिक विकट यन्त्रणाएँ भोग रहे हैं, क्लान्त हो-होकर सिर धुन रहे हैं । तुम तो कितनोंसे उत्तम हो, भाग्यवान् हो, अधिक प्रतिभासम्पन्न हो, अनेक आश्चर्यजनक गुप्त शक्तियोंके स्वामी हो । तुम्हारे पास अनेक ऐसे साधन प्रस्तुत हैं, जो तुम्हारेसे नीचेवालोंके पास नहीं हैं; फिर निराश क्यों होते हो, हिम्मत क्यों छोड़ रहे हो । मनुष्य इसलिये उत्पन्न नहीं हुआ है कि इस आनन्दमय जीवनको भारस्वरूप समझकर चिन्ताओंके बोझसे लदा रहे । तुम्हें यह प्रारम्भमें ही विश्वास कर लेना चाहिये कि भाग्य तुम्हारे अधीन है और पुरुषार्थसे ही तुम श्रेष्ठतम जीवनकी ओर अग्रसर हो सकते हो ।

तुम्हें कोई रोग हो गया है, पीड़ासे तुम अत्यन्त कातर, व्याकुल एवं अस्थिर हो उठे हो, मानसिक संघर्ष और अन्तर्द्वन्द्व तुम्हें अशान्त बना रहा है । अपनी विभिन्न आकाङ्क्षाओं तथा मनोभावनाओंके परस्पर-विरोधी रूपके फलस्वरूप तुम उद्विग्न हो उठे हो । किसी अज्ञात कोनेसे मानसिक व्यथा तुम्हें भयंकर असमंजसमें डाल रही है । आवेग उत्तरोत्तर वृद्धिपर है । अतृप्त आकाङ्क्षाएँ तुम्हें विकल बना रही हैं । इस अन्तर्द्वन्द्वकी रस्साकशीमें तुम तनिक अपनेसे नीचेवालोंकी तरफ़ देखो । तुम्हारे पास इन कष्टोंके होते हुए भी बहुत कुछ है । तुम हजारोंसे श्रेष्ठ हो । असंख्य व्यक्ति घोर शारीरिक, मानसिक तथा व्यावहारिक कष्टोंसे ग्रस्त हैं । तुम्हारी अपेक्षा कहीं अधिक दुखी, रोगी हैं, तुमसे भी निकृष्ट अवस्थामें पड़े हैं; फिर तुम अधीर क्यों होते हो ।

तुम पचास रुपये मासिक उपार्जन करते हो । अपनी पूर्ण शक्ति लगाकर भी तुम अधिक उत्पन्न नहीं कर पाते; फिर भी इधर-उधर हाथ-पाँव मारकर यह इच्छा रखते हो कि कुछ और उपार्जन कर लें । धन-लिप्सामें तुम न जाने उचित, अनुचित क्या-क्या कर बैठते हो और इसपर भी 'कुछ और' 'थोड़ा और' की तृष्णा लगी रहती है । तुम उसकी अतृप्त आकाङ्क्षामें समग्र जीवन अशान्त बना लेते हो और भयंकर मानसिक व्यथा सहते हो । ऐसे अतृप्तिके क्षणोंमें तुम उनकी ओर देखो, जो कठिनतापूर्वक भोजनकी सामग्री प्रस्तुत कर पाते हैं । जिन्हें दो समय पर्याप्त भोजन भी प्राप्त नहीं होता । जो थोड़ेसे पैसोंमें ही अपनी थोड़ी-सी आवश्यकताओंकी पूर्ति कर लेते हैं, और इसपर भी आनन्दमें जीवन व्यतीत कर रहे हैं ।

असन्तोषी व्यक्ति सदैव असंख्य क्षुद्र आवश्यकताओंकी शृङ्खलामें जकड़ा रहता है । सब कुछ होनेपर भी किसी अज्ञात वस्तुकी आवश्यकता उसके हृदयमें काँटेके समान सदैव खटकती रहती है । स्वार्थ-भावनाका लोमहर्षक दृश्य एक असन्तुष्टके अन्तरालके अन्तर्द्वन्द्वसे प्राप्त हो सकता है । विश्वका समस्त वैभव, कुबेरका अपरिमित भंडार, सुन्दर सुरम्य अट्टालिकाएँ, आकर्षक वस्त्राभूषण और सुस्वादु षट्रस भोजन भी एक असन्तोषीको सुखी नहीं बना सकते । किसी अज्ञात वस्तुकी आवश्यकताके कारण वह सदैव अतृप्तकी भावनाका शिकार रहता है ।

दूसरा व्यक्ति परिश्रम, अध्यवसाय और सतत परिश्रमसे जो कुछ थोड़ा-सा प्राप्त होता है, उसीमें आनन्दित रहता है । व्यर्थकी चेष्टाओं, अतृप्त अभिलाषाओं और वस्तुओंके

आकर्षणसे मानसिक शान्तिको भङ्ग नहीं होने देता । व्यर्थके वाद-विवादसे, अनर्गल प्रलापसे, वस्त्राभूषणकी तड़क-भड़कसे वह सदैव दूर रहता है । जो कुछ है उसीमें सन्तोषकी साँस ले 'हरीच्छा' कहकर शान्तिमय जीवन व्यतीत करता है । यही पुरुष आध्यात्मिक जगत्में सफलता प्राप्त करता है । इसका धन संतोष है । जिसे न कोई चुरा सकता है, न लूट सकता है । इसके जीवनमें शान्ति है, कार्यतत्परता है, संलग्नता है । संसारका अणु-अणु उसकी शान्तिमें सहायक है । उसके लिये संसार कर्म-भूमि है, जिसमें फलकी इच्छाको त्याग कर वह शान्तिपूर्वक अग्रसर हो रहा है । प्रवृत्तियाँ उच्छृङ्खल होकर उसे विकारग्रस्त नहीं करतीं ।

महात्मा डायोनीज़की अद्भुत सन्तोष-वृत्तिका पराक्रम देखिये । विजयोन्मत्त सिकन्दर महान्‌ने एक बार उनसे कहा—'आप मुझसे कुछ माँगिये' वाक्यमें अधिकांशतः घोर स्वार्थसे उत्पन्न उत्कट दम्भ झाँक रहा था । डायोनीज़ने कहा—'मुझे कुछ आवश्यकता नहीं है ।' सिकन्दरने पुनः वाक्य दोहराया । इस बार डायोनीज़ने बड़ी शान्तिपूर्वक उत्तर दिया—'कृपाकर मेरे सामनेकी धूपको आने दीजिये ।' डायोनीज़के सन्तोषसे पगे इस एक वाक्यने सिकन्दरका गर्व चूर्ण कर दिया था । उसने कहा था—'मैं विश्वविजय करके भी सन्तुष्ट नहीं हूँ; किन्तु घास-पातकी झोपड़ीमें रहनेवाला डायोनीज़ इस क्षुद्र कुटियामें मुझसे लाखगुना अधिक सन्तुष्ट है । उत्तम होता यदि मैं एक सम्राट्की अपेक्षा एक सन्तुष्ट साधु होता ।' यह है सन्तोषका प्रचण्ड प्रताप ।

विचार करो, सोचो, तुम्हारा मन संसारकी किन-किन क्षुद्र वस्तुओंमें बहक रहा है । तुम्हारे अन्तःकरणकी वृत्तिका प्रवाह किधर जा रहा है । तुम्हारी आवश्यकताएँ व्यर्थ ही तुम्हें किस ओर प्रेरित कर रही हैं । अपने स्वभावका निरीक्षण करो तो तुम्हें विदित होगा कि अनेक प्रकारके छोटे-छोटे प्रलोभन उत्पन्न होकर तुम्हारे अन्तःकरणमें क्षोभ उत्पन्न कर रहे हैं और तुम्हारी आध्यात्मिक शान्तिको नष्ट-भ्रष्ट कर रहे हैं । विविध अतृप्त आकाङ्क्षाओंका अन्तर्द्वन्द्व, परस्परविरोधी भावनाओंका ताण्डव, प्रवृत्तियोंका चक्र तुम्हारे समग्र जीवनपर अपना प्रभाव डालकर तुम्हें असुखी, अतृप्त और असमर्थ बना रहा है ।

मनको सन्तोषके शान्तिमय मार्गपर डाल दो, तभी तुम वाञ्छनीय मनःस्थिति उपस्थित कर सकोगे । अन्तर्द्वन्द्वसे मुक्तिका सबसे सरल उपाय यही है कि तुम, जिन-जिन प्रवृत्तियोंमें संघर्ष चलता है, उनकी मूल खोदकर उनके सच्चे स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करो । तदनन्तर उन मूल प्रवृत्तियोंको ऐसा स्वरूप प्रदान करो कि वे परस्परविरोधी न होकर एक दूसरेकी पूर्तिमें सहायक हों । यदि तुम इन विभिन्न प्रवृत्तियोंको संतोषके साथ मिला दो तो फल यह होगा कि फिर कोई संघर्ष तुम्हारे भीतर न रहेगा ।

संसारमें दुःख-सुख प्रायः सभीको भुगतने पड़ते हैं । चाहे किसी भी स्थितिका धन-धान्यसम्पन्न व्यक्ति हो, यदि वह रुपयेसे सुख खरीदना चाहता हो तो यह उसका भ्रम-मात्र है । जो व्यक्ति सदा-सर्वदा असम्भव कल्पनाओंके दास रहते हैं, स्वप्नोंके रंगीन संसारमें विचरण करते रहते हैं, वे अपने असन्तोषके कारण सदैव चिन्तित रहते हैं । जो मनुष्य सन्तोषद्वारा अपनी चित्तवृत्तियोंपर पूर्ण आधिपत्य कर लेता है, वही मानसिक आनन्दका अधिकारी बनता है । असन्तोष पशु-प्रवृत्ति उत्पन्न कर आसुरी-सम्पदाकी अभिवृद्धि करता है । संसारमें आज जो मार-काट मची है, दुःख-दैन्य फैल रहा है, उसका एकमात्र कारण विषम असन्तोष ही है । असन्तोष ईर्ष्या एवं स्पर्धा उत्पन्न करता है, दूसरोंके सुख-दुःख, सम्पत्ति अथवा मान-प्रतिष्ठाको देख-सुनकर मनमें प्रतिहिंसा उत्पन्न करता है ।

प्रमादरत मनुष्यकी तृष्णा लताकी भाँति बढ़ती ही जाती है, वह एक वस्तुसे दूसरी वस्तुतक इस तरह दौड़ता रहता है, जैसे वनमें बंदर एक फलके बाद दूसरे फलकी इच्छा करता है । इस दुर्जेय तृष्णाको जगत्में जो अधिकारमें कर लेता है, उसके शोक इस प्रकार झड़ जाते हैं जिस प्रकार कमलके पत्तेपरसे जलके विन्दु । भव-तृष्णाका उच्छेद कर देनेवाले शान्तचित्त व्यक्तिकी जन्म-परम्परा नष्ट हो जाती है, उसका पुनर्जन्म नहीं होता ।

व्रत-परिचय

(लेखक—पं० श्रीहनूमान्‌जी शर्मा)

(पापोंसे होनेवाले सब प्रकारके रोग और कष्टोंको दूर करनेवाले व्रत)

(१) **उपोद्घात**—पापजन्य रोगोंके दूर करनेवाले व्रतोंका परिचय देनेके पहले पापों और तज्जन्य रोगोंका दिग्दर्शन हो जानेसे व्रत-प्रेमी मनुष्योंको अपने इच्छित और यथोचित व्रत करनेमें सुविधा मिलती है—इसी विचारसे यहाँ 'उपोद्घात' दिया जाता है। किसी जन्ममें अधिक पाप हो जानेसे नारकीय दुःख भोगके पीछे भी मनुष्य-योनिमें उसका दुःखदायी फल रोगके रूपमें भोगना पड़ता है। परन्तु जो मनुष्य पाप नहीं करते, बल्कि पथ्य-भोजन, इन्द्रिय-रक्षण, सदाचार-पालन, गो-द्विज-देवादिकी भक्ति और स्वधर्ममें निरत रहते हैं, वे चाहे किसी भी वर्ण, आश्रम या अवस्थाके हों, उन्हें रोग नहीं होते; वे सदैव नीरोग रहते हैं। वास्तवमें रोगोंके मूल कारण पाप हैं और पापोंका प्रायश्चित्त करनेसे पाप और रोग दोनों क्षीण हो जाते हैं। प्रायश्चित्तमें स्नान, दान, व्रत, उपवास, जप, हवन और उपासना आदि मुख्य हैं। किसमें क्या करना चाहिये यह पापानुकूल प्रत्येक व्रतमें बतलाया गया है। 'पाप'—उपपातक, महापातक और अतिपातकरूपसे तीन प्रकारके होते हैं। उनका विवरण गत पूर्व अङ्कोंमें प्रकाशित हो चुका है। विशेषता यह है कि 'उपपातक' से यकृत, प्लीहा, शूल, श्वास, छर्दि, अजीर्ण और विसर्प आदि रोग होते हैं। 'महापातक' से कोढ़, अर्बुद, संग्रहणी और राजयक्ष्मा आदि होते हैं और 'अतिपातक' से जालंधर, भगंदर, नासूर, कृमिपरिवार और जलोदरादि होते हैं। देहधारियोंके शरीरमें वात, पित्त और कफ—ये तीन 'महादोष' हैं। ये जबतक समान रहें तबतक कोई उपद्रव नहीं होता, इनमें विषमता आनेसे दुःखदायी रोग हो जाते हैं। वे चाहे सह्य हों या असह्य, उनसे प्राणीमात्रको क्लेश होता ही है[1]। आयुर्वेदमें स्वाभाविक, आगन्तुक, कायकान्तर और कर्मदोषज[3]—ये चार प्रकारके रोग बतलाये हैं। इनमें भूख-प्यास, निद्रा, बुढ़ापा और मृत्यु—ये 'स्वाभाविक' हैं। काम-क्रोध, लोभ-मोह, भय, लज्जा, अभिमान, ईर्ष्या, दीनता, शोक, अपस्मार, पागलपन, भ्रम, तम, मूर्छा, संन्यास और भूतावेश आदि 'आगन्तुक' हैं। पाण्डुरोग, अंत्रवृद्धि, जलोदर और प्लीहा आदि 'कायकान्तर' हैं और पूर्वजन्ममें किये हुए पापजन्य सभी रोग 'कर्मदोषज' हैं। अथवा जो रोग दीखनेमें सरलसाध्य किन्तु बड़े-बड़े उपायोंसे भी छूटें नहीं—बढ़ते ही रहें या बहुत भयंकर अथवा असाध्य होकर भी साधारण-से उपायसे ही शान्त हो जायँ, वे 'कर्मदोषज' होते हैं। वास्तवमें पूर्वजन्मके पापोंकी जबतक निवृत्ति नहीं होती, तबतक कर्मदोषज कोई भी रोग उपाय करनेपर भी घटते नहीं, बढ़ते ही हैं। और जब सदनुष्ठानादिके द्वारा पापोंकी निवृत्ति हो जाती है, तब वे बढ़ते नहीं, घटते हैं। अतएव पापोंकी निवृत्तिके निमित्तसे 'पापसम्भूत सर्वरोगार्तिहर व्रत' अवश्य ही आरोग्यप्रद और श्रेयस्कर हैं।

(२) पापमूलक रोगोंमें सर्वप्रथम ज्वरकी गणना की जाती है। अन्य रोगोंकी अपेक्षा प्रत्येक प्राणी इससे अधिक पीडित होते हैं। ज्वरके आक्रमणको देवता और मनुष्य ही सह सकते हैं। इतर जीव तो इसके आक्रमणसे जीवित ही नहीं रह सकते। पूर्वाचार्योंका कथन है कि क्षय, पाप और मृत्यु ये ज्वरके ही प्रतिरूप हैं और इसकी उत्पत्ति भी दुष्कर्मोंसे ही होती है। तृष्णा, सन्ताप, अरुचि, अङ्गपीड़ा और हृदयकी वेदना—ये सब ज्वरकी शक्तियाँ हैं। समनस्क (मनसंयुक्त) शरीर ही ज्वरका अधिष्ठान है। और शारीरिक तथा मानसिक सन्ताप होना ही ज्वरका लक्षण है। ज्वर हुए पीछे जिन्हें किसी प्रकारका कष्ट न हो ऐसे प्राणी संसारमें नहीं हैं। प्रत्यक्ष देखनेमें आता है कि या तो रोगादिकी असह्य पीड़ासे ज्वर होता है या ज्वर हुए पीछे वह यथाक्रम दुश्चिकित्स्य होकर अन्य रोग उत्पन्न कर देता है। विशेषता यह है कि अन्य रोगोंकी अपेक्षा यह प्रत्येक प्राणीके रोम-रोममें व्याप्त हो जाता है। अतः प्रसङ्गवश यहाँ ज्वरका परिचय पहले दिया है। शास्त्रकारोंने ज्वरको

---

१. रोगास्तु दोषवैषम्यं दोषसाम्यमरोग्यता ।
रोगा दुःखस्य दातारो ज्वरप्रभृतयो हि ते ॥ (वाग्भट्ट)

२. यथाशास्त्रं तु निर्णीतो यथाव्याधि चिकित्सितः ।
न शमं याति यो व्याधिः स ज्ञेयो कर्मजो बुधैः ॥ (भाव)

३. स्वाभाविकागन्तुककायकान्तरा रोगा भवेयुः किल कर्मदोषजाः॥
(शार्ङ्गधरसंहिता)

४. रोगः पाप्मा ज्वरो व्याधिर्विकारो दुःखमामयः ।
यक्ष्मातङ्कगदाबाधशब्दाः पर्यायवाचिनः ॥ (मुक्तक)

‘रोगोंका[1] राजा’ कहा है। सुश्रुतने इसको रुद्रकोप[2]की अग्निसे उत्पन्न और सम्पूर्ण प्राणियोंको तपानेवाला बतलाया है। पुराणोंमें इसको [3]रुद्रसंभूत ‘रौद्री’ (उष्णज्वर) और विष्णुसंभूत ‘वैष्णवी’ (शीतज्वर) लिखा है। सूर्यारुणादिने[4] इसको यमके समान भयकारी, महाकाय, ऊर्ध्वकेश, ज्वलत्कान्ति, दीर्घरूप और तीन नेत्रोंवाला सूचित किया है। हरिवंशमें इसके तीन मस्तक, छः भुजा, नौ नेत्र और तीन चरण निर्दिष्ट किये हैं। और देवसंभूत होनेसे विदेहने [5]इसको पूजनीय बतलाया है। वैज्ञानिक दृष्टिसे देखा जाय तो ज्वर होनेपर ऐसी ही परिस्थिति प्रतीत हुआ करती है। इस विषयमें एक कथा भी है। उसमें कहा है कि ‘बाणासुरके साथ अनिरुद्धका युद्ध हुआ। उस समय इसी ज्वरने बलरामको पराजित किया और श्रीकृष्णको स्तम्भित बनाया था। इससे प्रसन्न होकर श्रीकृष्णने इसको सर्वगत होनेका वर दिया था।’ वास्तवमें बहुत-से रोगोंका लय और उदय ज्वरसे ही होता है। और जन्म-मरण या जीवनमें भी ज्वर रहता है। दूसरे शब्दोंमें यह भी कह सकते हैं कि अधिकांश रोगी और रोग ज्वरसे ही जीते और ज्वरसे ही मरते हैं। ज्वर प्राणीमात्रका प्राणान्तक, देह, इन्द्रिय और मनका सन्तापक और बल, वर्ण, ज्ञान तथा उत्साहको शिथिल करनेवाला है। पूर्वोक्त प्रसङ्गकी कथामें कहा गया है कि ‘श्रीकृष्णने ज्वरको तीन भागोंमें विभाजित करके एक भागको चौपायोंमें, दूसरे भागको स्थावरों (पर्वतादि) में और तीसरे भागको मनुष्योंमें लगाया था। विशेषता यह की गयी थी कि मनुष्योंके तीसरे भागका चतुर्थांश ज्वर पक्षियोंमें नियुक्त किया गया था। वृक्षोंकी[6] जड़ोंमें कीड़ा, पत्तोंमें पीलापन, फलोंमें विकार, कमलमें शीतलता, भूमिमें ऊषरता, जलमें सेंवाल या कुमुदिनी, मोरोंमें कलङ्गी, पर्वतोंमें गेरू और गोवंश (गाय, बैल एवं भैंस) में मृगी (या मूर्छा)—ये सब उसी ज्वरके रूप हैं।’ इस प्रकार प्रत्येक प्राणी और पदार्थोंमें ज्वरकी प्रवृत्ति होनेसे इसे रोगोंका राजा बतलाया है। अस्तु, शरीरगत वात, पित्त और कफके बिगड़ने, सुधरने या समान रहनेके अनुसार अनेक प्रकारका ज्वर होता है। उसमें जो ‘संतत[7]’ (सात, दस या बारह दिन निरन्तर बना रहे), ‘सतत[8]’ (दिन-रात बना रहे), ‘अन्येद्युष्क[9]’ (दिन-रातमें एक बार हो) ‘तृतीयक[10]’ (तीसरे दिन हो) और ‘चातुर्थिक[11]’ (चौथे दिन) हो, वह ‘विषम ज्वर’ माना गया है। [12]माधवने इसको भूतावेश बतलाया है और उसकी शान्तिके लिये पूजा और बलिदान निर्दिष्ट किये हैं। जिन कारणोंसे ज्वर होता है, उनमें अभिघात, अभिशाप, अभिचार, अहिताचरण, अगम्यागमन, मिथ्याहारविहार, अनुपयुक्त पुष्प-गन्ध या औषधगन्ध, अनुक्त औषध, ऋतु-विपर्यय, मिथ्याभय, महाशोक, बहुभोजन, विषव्रण, परिश्रम, मृतवत्सप्रसव, क्षय, अजीर्ण और दुग्धपूर्ण स्तन आदि मुख्य हैं। ज्वर और उसके वर्ण-भेद या उपाय आदि आयुर्वेदके मान्यतम ग्रन्थोंमें बहुत कुछ बतलाये गये हैं। अतः यहाँ उनके विषयमें और कुछ लिखनेकी अपेक्षा व्रतोपवासादिके द्वारा ज्वरादि रोगोंसे मुक्त होनेके साधन सूचित किये हैं। उनमें भी सर्वप्रथम ज्वरको ही लिया है।

(३) पापसम्भूत ज्वरहरव्रत (सूर्यारुण ४२)—दीर्घ कालके ज्वरसे आकुल हुए आतुरको चाहिये कि वह

---

१. देहेन्द्रियमनस्तापी सर्वरोगाग्रजो बली।
ज्वरः प्रधानो रोगाणामुक्तो भगवता पुरा॥ (माधव)

२. रुद्रकोपाग्निसंभूतः सर्वभूतप्रतापनः। (सुश्रुत)

३. प्रोक्तश्चोष्णज्वरो रौद्रः शीतलो वैष्णवज्वरः। (सविता)

४. ज्वरस्त्रिपादभव्यश्च दीर्घरूपो भयानकः।
बृहत्त्रिनेत्रैर्वदनैस्त्रिभिश्च दशनैर्दृढः॥
ऊर्ध्वकेशो महाकायो ज्वलत्कान्तिर्यमोपमः। (सूर्यारुण)

५. ज्वरस्तु पूजनैर्वापि सहसैवोपशाम्यति। (विदेह जनक)

६. नाना तिर्यग्योन्यादिषु च बहुविधैः श्रूयते। (माधवी)
पाकलः स तु नागानामभितापश्च वाजिनाम्।
गवामीश्वरसंज्ञश्च मानवानां ज्वरो मतः॥
अजावीनां प्रलापाख्यः करभे चालसो भवेत्।
हरिद्रो माहिषाणां तु मृगरोगो मृगेषु च॥
पक्षिणामभिघातस्तु मत्स्येष्विन्द्रे मदो मतः।
पक्षपातः पतङ्गानां व्यालेष्वाक्षिकसंज्ञकः॥(माधवटिप्पणी)

७. सन्ततः सततोऽन्येद्युस्तृतीयकश्चतुर्थकौ।
सप्ताहं वा दशाहं वा द्वादशाहमथापि वा॥
सन्तत्या यो विसर्गी स्यात्सन्ततः स निगद्यते।

८. अहोरात्रे सततको द्वौ कालावनुवर्तते।

९. अन्येद्युष्कस्त्वहोरात्रमेककालं प्रवर्तते।

१०. तृतीयकस्तृतीयेऽह्नि।

११. चतुर्थेऽह्नि चतुर्थकः।

१२. केचिद् भूताभिषङ्गोत्थं वदन्ति विषमज्वरम्। (माधव)

'रौद्री' (उष्णज्वर) की निवृत्तिके लिये अष्टमी अथवा चतुर्दशीको और 'वैष्णवी' (शीतज्वर) की निवृत्तिके लिये एकादशी या द्वादशीको अथवा रौद्री, वैष्णवी किसीके लिये भी महापर्वकी किसी भी तिथिको यथासामर्थ्य (यथावत् या मानसिक) प्रातःस्नानादिसे निवृत्त होकर कम्बलादिके शुभासनपर पूर्व या उत्तर मुख होकर बैठे और हाथमें जल, फल, गन्ध, अक्षत और पुष्प लेकर 'मम पापसम्भूतज्वरजनिताद्यनिष्टप्रशमनपूर्वकदीर्घायुष्यबलपुष्टिनैरुज्यादिसकलशुभफलप्राप्तिकामनया श्रीमहेश्वर वा महाविष्णुप्रीतये च रुद्रविष्णुपूजनपूर्वकज्वरपूजनं तद्व्रतं च करिष्ये ।' यह सङ्कल्प करके जितनी सामर्थ्य हो, उतने ही सुवर्णका पत्र बनवाकर उसमें उपर्युक्त प्रकारके यमोपम ज्वरका स्वरूप अङ्कित करावे और 'विष्णुमन्त्र' 'इदं विष्णु०' या 'सहस्रशीर्षा०' आदि १६ मन्त्रोंसे विष्णुका और रुद्र-मन्त्र 'नमः शम्भवाय०' या 'नमस्ते रुद्र०' के १६ मन्त्रोंसे रुद्रका पूजन करके उपर्युक्त ज्वर-मूर्त्तिको उनके समीपमें स्थापित करके उसका 'ॐ नमो महाज्वराय विष्णुरुद्रगणाय भीमसूर्त्तये सर्वलोकभयङ्कराय मम तापं हर हर स्वाहा' इस मन्त्रसे पूजन करे । और इसी मन्त्रके जितने बन सकें जप करके सफेद सरसोंसे उसका दशांश हवन करे । इसके पीछे सत्पात्र ब्राह्मणोंको भोजन कराकर सुवर्णकी दक्षिणा दे और स्वयं एकभुक्त व्रत करे । इस प्रकार एक, तीन या सात बार करनेसे ज्वर शान्त हो जाता है ।

(४) **सर्वज्वरहरव्रत** (सूर्यारुण ४२)–पूर्वोक्त शुभ समयमें यथापूर्व स्नानादि करनेके अनन्तर व्रत धारण करके सङ्कल्प करे और सामर्थ्य हो तो ५० पल (२ सौ तोला या २॥ सेर) ताँबेका और सामर्थ्य न हो तो मिट्टीका कलश लेकर उसको लाल वस्त्रसे भूषित करके उसमें घी, चीनी, शहद या गुड़ भरे और यथासामर्थ्य पञ्चरत्न अथवा उनके प्रतिनिधि अक्षत रक्खे । उसे रेशमी वस्त्रसे वेष्टित करके चावलोंके पुञ्जपर स्थापित करे । तदनन्तर विष्णु, रुद्र और ज्वरका गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करके उनके समीप बैठकर 'ॐ नमो महाज्वराय विष्णुरुद्रगणाय सर्वलोकभयङ्कराय मम तापं हर हर स्वाहा' इस मन्त्रका जप करके इसीसे हवन करे और ब्राह्मणोंको भोजन कराकर 'भस्मप्रहरणो रौद्रस्त्रिशिरास्त्र्यूर्ध्वलोचनः । दानेनानेन सुप्रीतो ज्वरः पातु सदा मम॥ एकान्तरं सन्निपातं तार्तीयकचतुर्थिकौ । पाक्षिकं मासिकं वापि सांवत्सरिकमेव च । नाशयेत्तां मम क्षिप्रं वासुदेवमहेश्वरौ ॥' इसका उच्चारण करके ज्वरमूर्तिका दान करे, तो ज्वरजनित सभी उपद्रव शान्त होते हैं ।

(५) **ज्वरहर बलिदानव्रत** (भैषज्यरत्नावली)–चिरकालीन ज्वरकी शान्तिके लिये अष्टमीके अपराह्णमें चावलोंके चूर्णसे मनुष्यकी आकृतिका पुतला बनाकर उसके हलदीका लेप करे । मुख, हृदय, कण्ठ और नाभिमें पीली कौड़ी लगावे, फिर खसके आसनपर विराजमान करके उसके चारों कोणोंमें पीले रंगकी चार पताका लगावे तथा उनके पास हलदीके रससे भरे हुए पीपलके पत्तोंके चार दोने रक्खे और 'मम चिरकालीनज्वरजनितपापतापादिप्रशमनार्थं ज्वरहरबलिदानं करिष्ये' यह सङ्कल्प करके पुतलेका पूजन करे । सायंकाल होनेपर ज्वरवाले मनुष्यकी 'ॐ नमो भगवते गरुडासनाय त्र्यम्बकाय स्वस्तिरस्तु स्वस्तिरस्तु स्वाहा । ॐ कं ठं यं सं वैनतेयाय नमः । ॐ ह्रीं क्षः क्षेत्रपालाय नमः । ॐ ठः ठः भो भो ज्वर शृणु शृणु हल हल गर्ज गर्ज नैमित्तिकं मौहूर्त्तिकं एकाहिकं द्व्याहिकं त्र्याहिकं चातुर्थिकं पाक्षिकादिकं च फट् हल हल मुञ्च मुञ्च भूम्यां गच्छ गच्छ स्वाहा ।' इस मन्त्रसे तीन या सात आरती उतारकर पूर्वोक्त पुतलेको मय पूजा-सामग्रीके किसी वृक्षके मूलमें या चौराहेमें या श्मशानमें रख आवे । इस प्रकार तीन दिन करे और तीनों ही दिनोंमें नक्तव्रत (रात्रिमें एक बार भोजन) करे । स्मरण रहे कि पुत्तलपूजन बीमारके दक्षिण भागके स्थानमें करना चाहिये । इससे ज्वरजात व्याधियाँ शीघ्र ही शान्त होती हैं ।

(६) **ज्वरहरतर्पणव्रत** (मन्त्रमहार्णव)–ज्वरवाले मनुष्यको चाहिये कि वह दशमी या सप्तमीके सुप्रभातमें प्रातःस्नानादि करनेके अनन्तर ताम्रपात्रमें जल, तिल, रँगे हुए लाल अक्षत और लाल पुष्प डालकर डाभके आसनपर पूर्वाभिमुख बैठे और अर्घामें अथवा अञ्जलीमें जल लेकर 'उष्ण' ज्वर हो तो 'योऽसौ सरस्वतीतीरे कुत्सगोत्रसमुद्भवः । त्रिरात्रज्वरदाहेन मृतो गोविन्दसंज्ञकः ॥ ज्वरापनुत्तये तस्मै ददाम्येतत्तिलोदकम् ।'—इस मन्त्रसे जल छोड़े और इस प्रकार १०८ बार तर्पण करे । और यदि शीतज्वर वा रात्रिज्वर हो तो 'गङ्गाया उत्तरे कूले अपुत्रस्तापसो मृतः । रात्रौ ज्वरविनाशाय तस्मै दद्यात्तिलोदकम् ॥' इस मन्त्रसे तर्पण करे । ज्वर यदि सामान्य हो तो १०८ बार और यदि विशेष हो अथवा बहुत दिनोंका हो तो ज्वरके अनुसार १०८ या १००१ अथवा १०००१ अञ्जली दे । इस प्रकार एक,

तीन, पाँच या सात दिन करे और एकभुक्त व्रत रक्खे ।

(७) ज्वरार्तिहरतन्त्रव्रत (भवानीसहस्रनाम)—रविवारके प्रातःकालमें काँसीके पात्रको जलसे भरकर उसमें सात सूई डाले और उनका गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करके सातोंको एकत्र कर 'ॐ वज्रहस्ता महाकाया वज्रपाणिर्महेश्वरी । हरेत् स्ववज्रतुण्डेन भूमिं गच्छ महाज्वर ॥' इस मन्त्रको उच्चारण करता हुआ सात बार घुमावे और फिर उनमेंसे एक सूई निकालकर भूमिमें गाड़ दे । इस प्रकार दूसरे दिन दूसरी और तीसरे दिन तीसरी आदि निकालकर सात दिनमें सातों सूइयाँ गाड़ दे और एकभुक्त व्रत करे । अथवा नागवल्लीदलमें दाड़िमकी लेखनी और कर्पूर, अगरु एवं कस्तूरी मिले हुए केसर-चन्दनसे 'वज्रदंष्ट्रो महाकायो वज्रपाणिर्महेश्वरः । वज्रत्वत्त्वर्वदेहस्य भुवं गच्छ महाज्वर ॥' यह मन्त्र लिखकर उसका गन्धादिसे पूजन करे और ज्वरवालेको खिला दे । अथवा 'ॐ कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने । प्रणतक्लेशनाशाय गोविन्दाय नमो नमः ॥' 'ॐ आपदामपहर्तारं दातारं सर्वसम्पदाम् । लोकाभिरामं श्रीरामं भूयो भूयो नमाम्यहम् ॥' इन दोनोंमेंसे किसी एकके १०८ या ज्वरानुसार न्यूनाधिक जप करे और 'अच्युतानन्तगोविन्दनामोच्चारणभेषजात् । नश्यन्ति सकला रोगाः सत्यं सत्यं वदाम्यहम् ॥' इसके उच्चारणसे तीन आचमन करे तो इन उपायोंसे एकान्तरा, तेजरा, चौथिया या नित्य रहनेवाला—सभी ज्वर शान्त हो जाते हैं । इनमें एकभुक्त व्रत करना चाहिये ।

(८) अतिसारहरव्रत (अनुष्ठान-प्रकाश)—यह रोग कर्मविपाकके अनुसार जलाशयादि नष्ट करनेके पापसे या आयुर्वेदके[1] अनुसार प्रमाणसे अधिक या गरिष्ठ अथवा अत्यन्त पतला या अत्यन्त स्थूल भोजन करने आदिसे होता है । अतिसारीको चाहिये कि वह शौचादिसे निवृत्त होकर 'सोऽग्निरसी०' मन्त्रका यथाशक्ति जप करके उसी मन्त्रसे दशांश हवन करे और एकभुक्त व्रत करके शक्तिके अनुसार सुवर्णका दान दे ।

(९) संग्रहणीशमनव्रत (शिवगीता)—प्रेमपूर्वक सद्वर्ताव करनेवाली श्रेष्ठ स्त्रीका त्याग करने या अतिसारमें कुपथ्य करनेसे उदरगत छटीकला (ग्रहणी) के नष्ट होनेसे 'संग्रहणी' होती है । इससे मुक्त होनेके लिये किसी पुनीत पर्वमें या शनिप्रदोष हो उस दिन प्रातःस्नानादिसे निवृत्त होकर शिवजीका पूजन करे और वहीं उनके समीपमें 'शिवसंकल्पसूक्त' (यज्जाग्रतो०, येन कर्माण्य०, यत्प्रज्ञान०, येनेदं भूतं०, यस्मिन्नृचः०, सुषारथि०——इन छः मन्त्रों)का १०८ जप करके सौंफ, मिर्च, इलायची और मिश्रीको घीमें भिगोकर पलाशकी समिधाओंमें अट्ठाईस आहुतियाँ दे और शहदमें सुवर्ण डालकर उसका दान करके नक्तव्रत करे । इस प्रकार दस दिन करनेके अनन्तर ग्यारहवें दिन यथाशक्ति अन्नदान करे, तो संग्रहणी शमन होती है ।

(१०) अर्शोहरव्रत (अनुष्ठान-प्रकाश)—जो मनुष्य वेतन[3] लेकर पढ़ाते, यजन करते, हवन करते या जपादि करते हैं, उनके अर्शरोग होता है । आयुर्वेदमें इसको त्रिदोषजन्य और परम्परासे आनेवाला बतलाया है । इसकी निवृत्तिके लिये चान्द्रायण व्रत करे और उन दिनोंमें प्रतिदिन आठ या अट्ठाईस पाठ आदित्यहृदयके करके शमीकी समिधा और घीसे हवन करे । इस प्रकार करनेसे अर्शरोग दूर होता है । एकभुक्त व्रत करना आवश्यक है ही ।

(११) अजीर्णहरव्रत (ऋग्वेदविधान)—बहुत दिनोंका अजीर्ण[4] भुक्त पदार्थोंके पाचन न होने आदि कारणोंसे होता है । इसके लिये 'अग्निरस्मि०' ऋचाके एक हजार जप और घृतप्लावित त्रिकुटा (सोंठ, मिरच और पीपल) की एक सौ आहुति देकर उपवास करे और दूसरे दिन वेदज्ञ ब्राह्मणको हविष्यान्नका भोजन कराकर पारण करे ।

(१२) मन्दाग्नि-उपशामनव्रत (वृद्धपराशर)—यदि मिल सके तो शुक्लपक्षके सप्तमी पुष्यार्क अथवा दशमी

---

[1] गुर्वतिस्निग्धतीक्ष्णोष्णद्रवस्थूलातिशीतलैः ।
विरुद्धाध्यशनाजीर्णैर्विषमैश्चातिभोजनैः ॥
(माधव)

[2] साध्वीं भार्यां च यो मर्त्यः परित्यजति कामतः ।
ग्रहणीरोगसंयुक्तः सदा भवति मानवः ॥
(शिवगीता)

[3] वेतनमादाय योऽध्यापयत्यर्चयति जुहोति जपति सोऽर्शोरोगवान् भवति ।

[4] यस्य भुक्तं न जीर्येत न तिष्ठेद् वा कथञ्चन ।
तस्मादजीर्णरोगोऽयं … … ॥
(पराशर)

अत्यम्बुपानाद्विषमाशनाच्च संधारणात् स्वप्नविपर्ययाच्च ।
कालेऽपि सात्म्यं लघु चापि भुक्तमन्नं न पाकं भजते नरस्य ॥
ईर्ष्याभयक्रोधपरिप्लुतेन लुब्धेन शुग्दैन्यनिपीडितेन ।
प्रद्वेषयुक्तेन च सेव्यमानमन्नं न सम्यक्परिपाकमेति ॥
(माधव)

गुरुवारको 'अग्निसूक्त' 'श्रीसूक्त' अथवा 'जातवेदसे' ऋचाके जप और चाँदीके मेष (मेढा) का दान करके पलाश (छीला) की समिधाओंमें घीसे हवन करे और एकभुक्त (किसी भी एक पदार्थको भक्षणकर) व्रत करे । इस प्रकार करनेसे मन्दाग्नि नष्ट हो जाती है । सूर्यारुणके कथनानुसार अभक्ष्य-भक्षणके दुष्प्रभावसे और आयुर्वेदके मतानुसार कफ-प्रकृतिसे मन्दाग्नि होती है ।

(१३) **विषूचिकोपशमनव्रत** (योगवाशिष्ठ)–दुष्ट भोजन[1], दुष्टारम्भ, दुष्टसंग, दुष्टस्थिति और दुर्देशवास या अजीर्णकी अवस्थामें उदर[2]के अंदर सूई गड़ने-जैसी पीड़ा होनेसे विषूचिका रोग (हैजा) होता है । इसको रोकनेके लिये मन्त्रशास्त्री धर्मप्राण साधकको चाहिये कि वह विषूचिकावाले बीमारको प्राण-दान देनेकी कामनासे तत्काल पवित्र होकर रोगीके उदरपर बायाँ हाथ रक्खे और दाहिने हाथसे 'ॐ ह्रीं ह्रीं रां रां विष्णुशक्तये नमः । ॐ नमो भगवति विष्णुशक्तिमेनाम् । ॐ हर हर नय नय पच पच मथ मथ उत्सादय दूरे कुरु स्वाहा । हिमवन्तं गच्छ जीव सः सः सः चन्द्रमण्डलगतोऽसि स्वाहा ।' इस मन्त्रसे हिमालयके उत्तर पार्श्वमें रहनेवाली कर्कशा कर्कटी राक्षसी (अथवा बीमारके प्लीहा पद्म या नाभिप्रदेशके उत्तर प्रदेशमें सूई गड़ानेके समान असह्नीय दर्द करनेवाली विषूचिका राक्षसी) का मार्जन करे और व्रत रक्खे । इस प्रकार जबतक वेगहीन न हो तबतक करता रहे । इससे विषूचिकावालेको शान्ति प्राप्त होती है ।

(१४) **पाण्डुरोगप्रशमनव्रत** (धर्मानुसन्धान)–देवता[3] और ब्राह्मण–इनके द्रव्यका अपहरण करने या वात, पित्त, कफ–इन तीनोंसे अथवा सन्निपातसे और मृद्भक्षण (मिट्टी खाने)से पाण्डुरोग होता है । इसके निवारणके निमित्त कृच्छ्रातिकृच्छ्र चान्द्रायण व्रत करके सुवर्णका दान दे और कूष्माण्डी हवन करे ।

(१५) **रक्तपित्तोपशमनव्रत** (धर्मानुसन्धान)–पूर्वजन्ममें वैद्यशास्त्रके पूर्णानुभवसे मदान्ध होकर आतुर भेषजमें युक्त औषधकी अपेक्षा अयुक्त प्रयुक्त करने अथवा इस जन्ममें धूपमें घूमने, अधिक श्रम करने, बहुत ज्यादा चलने, अधिक स्त्रीप्रसंग करने, नमक-मिर्च ज्यादा खाने अथवा कोप करने आदिसे रक्त-पित्त होता है । इसकी शान्तिके लिये स्नान करके 'ॐ अग्निं दूतं वृणीमहे०' आदि मन्त्रोंसे अग्निमें घी और खीरकी १०८ आहुति दे और घृतप्लावित पदार्थोंका एक बार भोजन करके व्रत करे ।

(१६) **राजयक्ष्मोपशमनव्रत** (धर्मशास्त्रपुराणायुर्वेदादि)–राजयक्ष्मा जन्मान्तरमें किये हुए महापापोंका द्योतक है । शार्तातपने[4] कहा है कि 'यह रोग साक्षात् ब्रह्महत्या करने या राजाको मारनेसे होता है ।' वास्तवमें अन्य रोगोंकी अपेक्षा राजयक्ष्मासे मनुष्यकी बड़ी दुर्दशा होती है । आयुर्वेदके मान्यतम ग्रन्थोंका मत है कि 'राजयक्ष्माको मिटानेवाली मुख्य औषध मृत्यु है । सद्वैद्य, सदौषध, सदुपचार और नियमपालक रोगी होनेपर भी राजयक्ष्मावाला रोगी अधिक-से-अधिक एक हजार दिन (२ वर्ष ९ महीने १० दिन) जीवित रह सकता है ।' इसके अतिरिक्त अन्य रोगी तो चार, छः या आठ मासमें ही मर जाते हैं । विशेषता यह है कि कफ, खाँसी और ज्वरके निरन्तर घर्षणसे मनुष्यका साङ्गोपाङ्ग शरीर शनैः-शनैः क्षय होकर क्षीणप्राय हो जाता है । और उसके रक्त, मज्जा, मांस और अस्थिपञ्जर-पर्यन्त सूख या घिस जाते हैं । आयुर्वेदके मतानुसार[5] वेगरोध (मल-मूत्रादिके आते हुए वेगको रोकने), क्षय (अत्यधिक स्त्री-प्रसंगादिके द्वारा रज और वीर्यका नाश करने), साहस (अपनेसे अधिक बलीके साथ युद्ध-कसरत या वैर करने अथवा बहुत भागने) और विषमाशन (समय-असमय; एक बार अनेक बार; कभी अल्पाहार, कभी अमिताहार) और कभी क्षुधा, तृषा या निद्राके बहुत दबानेपर भी उनको बलात्कारसे रोकने आदि कारणोंसे

---

१. दुर्भोजना दुरारम्भा मूर्खा दुःस्थितयश्च ये ।
दुर्देशवासिनो दुष्टास्तेषां हिंसां करिष्यति ॥
(यो० वा०)

२. सूचीभिरिव गात्राणि तुदन् संतिष्ठतेऽनिलः ।
यत्राजीर्णे च सा वैद्यैर्विषूची तु निगद्यते ॥ (माधव)

३. देवब्राह्मणद्रव्यापहारी पाण्डुरोगवान् । (अ० प्र०)

४. 'ब्रह्महा क्षयरोगी स्यात्' (शातातप)
ब्राह्मणं घातयेद् यस्तु पूर्वजन्मनि मानवः ।
मोहादकामतः सोऽपि क्षयरोगसमन्वितः ॥
राजघातकरः प्रोक्तो यः पूर्वं घातयेन्नृपम् ।
राजयक्ष्मान्वितः सोऽत्र तस्मिन् वयसि रोगवान् ॥
(सूर्यारुण)

५. वेगरोधात् क्षयाच्चैव साहसाद्विषमाशनात् ।
त्रिदोषाज्जायते यक्ष्मा गदो हेतुचतुष्टयात् ॥
(चरक)

राजयक्ष्मा[1] होता है। विशेषता यह है कि बहुव्ययसाध्य सर्वोत्कृष्ट औषध या उपचार करनेपर भी यह रोग घटता नहीं, प्रतिक्षण बढ़ता ही रहता है। और इसके विपरीत रोगी यह मानता है कि 'मैं अच्छा हो रहा हूँ।' इस विषयमें स्वयं सूर्य-नारायणने कहा है कि 'यह रोग[2] केवल औषध-सेवनसे क्षीण नहीं होता। इसके लिये औषध-सेवनके सिवा दान[3], दया, धर्म, दीनोपकार, गो-द्विज-देवादिका अर्चन, व्रत, जप, हवन और तप करने (अथवा शरीर और संसारसे निर्मोह होकर ईश्वर-स्मरणमें निरन्तर मन लगाने) की आवश्यकता है।

(१७) १–यक्ष्मान्तक सुवर्णकदली-दानव्रत (सूर्यारुण)–राजयक्ष्माके रोगीको चाहिये कि वह अपनी सामर्थ्यके अनुसार सुवर्णका कदली-वृक्ष बनवावे। जिसमें फल, पत्ते और मुकुल (फूलकी डोडी) यथावत् हों। यदि सामर्थ्य न हो तो साक्षात् कदली-वृक्ष मँगवावे। और शुभ दिनमें शौचादिसे निवृत्त होकर शुभासनपर पूर्वाभिमुख बैठकर 'मम जन्मान्तरीयपापजनितप्राणान्तकराजयक्ष्मोपशमनकामनया श्रीपरमेश्वरप्रीत्यर्थं सुवर्णकदली (ससुवर्ण-कदली वा)-दानं करिष्ये', यह सङ्कल्प करके विनिर्मित या सिञ्चित कदलीको वस्त्रादिसे भूषित कर पूजन करे और जप, तप, होम तथा व्रत आदि सम्पूर्ण कर्म समाप्त हुए पीछे आत्माको जाननेवाले धर्मप्राण दयावान् वृतस्थायी और पूजनीय पण्डितको सुपूजित कदलीका दान दे। उस समय 'हिरण्यगर्भ पुरुष परात्पर जगन्मय। रम्भादानेन देवेश क्षयं क्षपय मे प्रभो ॥' का उच्चारण करे। तत्पश्चात् विद्वान् ब्राह्मणोंसे पुण्याहवाचन कराकर उनको भोजन करावे और फिर शिष्ट तथा इष्ट मनुष्योंको भोजन कराकर व्रतको समाप्त करे। इस प्रकार करनेसे राजयक्ष्मा शान्त होता है।

(१७)२–यक्ष्मान्तक दान-व्रत (सूर्यारुण)–औषधोपचारादिसे यदि यक्ष्मा शान्त न हो तो ज्योतिःशास्त्रोक्त शुभ दिनमें प्रातःकालीन कृत्यसे निवृत्त होकर अपनी सामर्थ्यके अनुसार गौ, पृथ्वी, सुवर्ण, मिष्ठान्न, वस्त्र, जल, फल, लोह और तिल—इन सबका यथाविधि दान करे। यदि यह न बन सके तो लोहेके घड़ेमें तिल भरकर गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करके, उसे सत्पात्र प्रतिग्राहीको दे। अथवा—'आ ते रौद्रेण०' सूक्तके जप करके उसकी प्रत्येक ऋचासे आहुति दे और फिर शिवजीका उपस्थान करके 'त्र्यम्बकं यजामहे०' का एक मासतक जप करे। इससे भी रोग शान्त होता है।

(१८) यक्ष्मोत्पत्ति (कालिकापुराण)–क्षययक्ष्मा अथवा राजयक्ष्माके विषयमें कालिकापुराणकी कथाके श्रवण करनेसे अपूर्व लाभ होता है। कथा इस प्रकार है—'दक्षप्रजापतिके सत्ताईस कन्याएँ थीं। उनका चन्द्रमाके साथ विवाह हुआ। उनमें एकका नाम रोहिणी था; औरोंकी अपेक्षा चन्द्रदेव उससे अधिक प्रसन्न रहते थे। यह देखकर अन्य पत्नियोंने पितासे प्रार्थना की। तब दक्षने चन्द्रदेवको समझाया कि आप सबके साथ समान स्नेह रक्खें, किन्तु चन्द्रमाने ऐसा नहीं किया। तब दक्षप्रजापति बड़े क्रोधित हुए और उनके क्रोधानलसे राजयक्ष्मा उत्पन्न होकर चन्द्रमाके शरीरमें प्रविष्ट हो गया। फिर क्या था, चन्द्रदेव प्रतिदिन क्षीण होने लगे और उनका विश्वव्यापी सुप्रकाश भी घट गया। चन्द्रमाकी इस क्षीणकाय अवस्थासे संसारकी हानि समझकर ब्रह्माजीने उनके शरीरसे यक्ष्माको निकाल लिया और आज्ञा दी कि 'जो लोग स्त्रीके साथ अधिक सहवास करें उनके शरीरमें तुम सुखसे रहो। वहाँ मृत्युकी पुत्री तृष्णा तुम्हारी आज्ञामें रहेगी। वह तुम्हारे ही समान गुणवाली है। अतः तुम जो चाहोगे वह ही कर सकेगी। इसके सिवा जो लोग श्वास, कास और कफके रोगी होकर भी स्त्रीके साथ सहवास रक्खें, उनके शरीरमें भी तुम प्रविष्ट रहो और उनको प्रतिक्षण क्षीण करते रहो। जाओ, तुम यथेच्छ विचरण करो। तुम्हारा यह काम स्थायी रहेगा।'' ऐसा ही हुआ और अब अधिक हो रहा है।

(१९) यक्ष्मान्तक सानुष्ठान-व्रत (मुक्तकसंग्रह)–राजयक्ष्मांवाले रोगीको चाहिये कि वह सत्पात्र ब्राह्मणको बुलवाकर उससे त्र्यम्बक मन्त्रका पुरश्चरण करनेकी प्रार्थना करे और उसके स्वीकार करनेपर दृढ़ व्रतके साथ यह आशा करे कि इससे मैं अवश्य आरोग्य लाभ करूँगा। तत्पश्चात्

---

[1] राजश्चन्द्रमसो यस्मादभूदेषु किलामयः।
तस्मात्तं राजयक्ष्मेति प्रवदन्ति मनीषिणः॥
क्रियाक्षयकरत्वात्तु क्षय इत्युच्यते बुधैः।
संशोषणाद्रसादीनां शोष इत्यभिधीयते॥ (भाव)

[2] निष्कृत्या कर्मजन्मोत्थो दोषजस्त्वौषधेन हि॥
उभयाज्जायमानस्तु निष्कृत्यौषधसेवया।' (सूर्यारुण)

[3] दानैर्दयाभिरतिथिद्विजदेवतागोदेवार्चनप्रणतिभिश्च जपैस्तपोभिः।
इत्युक्तपुण्यनिचयैरपचीयमानं प्राक्पापजातमशुभं प्रशमं नयन्ति॥
(सूर्य)

सदनुष्ठानी ब्राह्मण शिवजीके मन्दिरमें बैठे और पार्थिव मूर्तिका निर्माण करे, फिर उसका पञ्चोपचार पूजन करके त्र्यम्बक मन्त्रका एक हजार जप करे। अथवा 'ॐ जूं सः अमुकं पालय पालय सः जूं ॐ' इस मन्त्रका १० हजार जप करे। जप करते समय शिवमूर्तिके अपलक दर्शन करता रहे और यह प्रार्थना करे कि 'हे मृत्युञ्जय! जिसके निमित्त मैं जप करता हूँ, उसका राजयक्ष्मासे कोई अनिष्ट न हो।' तत्पश्चात् पूजनके गन्ध-पुष्प और बिल्वपत्र लेकर रोगीके नेत्र, ललाट और हृदयमें लगाकर सिरहाने रख दे। इस प्रकार प्रतिदिन नवीन पत्र सिरहाने रखता रहे और पुराने निकालकर नदी आदिके प्रवाही जलमें डलवाता रहे। इस प्रकार करनेसे शीघ्र आरोग्य होता है।

(२०) श्वास-कास-कफ-रोगशमनव्रत (उमा-महेश्वरसंवाद)—पूर्व जन्मके परमोचित कार्यमें यथोचित अर्थव्ययके कार्योंको कृतघ्नरूपमें करनेसे श्वास-कासादिका कष्ट होता है। इसके लिये 'पिपीलिका-तनु' और 'यवमध्य' चान्द्रायण-व्रत करने चाहिये; और व्रत-समाप्तिमें पचास ब्राह्मणोंको यथेच्छ भोजन करवाना चाहिये। इसके करनेसे श्वास, कास, कफ और उष्णज्वर—ये सब शान्त होते हैं।

(२१) रोगत्रयोपशमनव्रत (महाभारत)—पूर्वोक्त श्वास, कास और कफसे मुक्त होनेके लिये वेदपाठी ब्राह्मणोंको बुलाकर उनसे शिवपूजनपूर्वक रुद्रपाठसहित सहस्रघटाभिषेक करावे और उसके समाप्त होनेपर पचास ब्राह्मणोंको उत्तम पदार्थोंका भोजन कराकर सबको समान रूपसे लाल[1] वस्त्र और सुवर्ण दे। अथवा अच्युत[2], अनन्त और गोविन्द—इन तीनों नामोंके तीस हजार आठ जप करे और सात्त्विक पदार्थोंको भगवान्के अर्पण करके नक्त-व्रत करे।

(२२) श्लेष्मान्तकव्रत (सूर्यारुण २३३)—जन्मान्तरमें दूसरेके पुत्रोंका हनन अथवा हरण करनेके पापसे मनुष्य कफरोगी होता है। उसकी निवृत्तिके निमित्त पंद्रह सेर अथवा बारह सौ तोला सीसेका गन्धाक्षतसे पूजन करके डाकसंज्ञक प्रतिग्राहीको दे और आप एकभुक्त व्रत करे। इससे आरोग्य होता है।

(२३) वातव्याध्युपशमनव्रत (वीरसिंहावलोकन)—देव और भूदेवोंके निमित्तकी उपजीविका या उनके धन-वस्त्रादिका अपहरण करने और स्वामीसे वैर रखनेसे वातजनित व्याधियाँ होती हैं। उनके उपशमनार्थ कृच्छ्राति-कृच्छ्र चान्द्रायण-व्रत करके 'वात आवातु०' मन्त्रके दस हजार जप करे।

(२४) धनुर्वातोपशमनव्रत (वीरसिंहावलोकन)—अक्षत योनिमें गमन करने अथवा परस्त्रीपर बलात्कार करनेसे शरीरकी सम्पूर्ण सन्धियोंमें ज्वर और धनुर्वातकी पीड़ा होती है। उसके लिये पुत्रवती काली भैंसका दान करे।

(२५) शूलरोगोपशमनव्रत (मन्त्रमहार्णव)—शान्त, गम्भीर और श्रुतिके अध्यापनमें समर्थ किन्तु अकिञ्चन और याचना करनेवाले ब्राह्मणको बुलाकर भी जो कुछ नहीं देता, वह जठर-शूलसे पीड़ित होता है। आयुर्वेदके मतानुसार कसरत करने, बहुत चलने, अधिक जगने, अति मैथुन करने, बहुत शीतल जल पीने, मूँग, अरहर, कोदों या सूखे पदार्थ खाने, भोजनपर भोजन करने, भिगोकर उगाये हुए तन्तुयुक्त मूँग, मोठ या चौंले खाने और मल-मूत्र-वीर्य या अपान वायुका वेग रोकने आदि कारणोंसे शूल रोग होता है। हारीतने इसकी जन्मकथा[3] इस प्रकार कही है कि 'कामदेवका नाश करनेके निमित्तसे शिवजीने त्रिशूल फेंका था। उससे भयभीत होकर कामदेव भगा और विष्णुके शरीरमें प्रविष्ट हो गया। तब विष्णुने हुंकारसे त्रिशूलको गिरा दिया और वह भूमण्डलमें आकर शूल नामसे विख्यात हुआ। पञ्चभूतात्मक देहधारी कुपथ्यादिवश उसीसे पीड़ित होते हैं। ऐसे त्रिशूलसम शूल-रोगसे शान्ति पानेकी इच्छावाला मनुष्य यथासामर्थ्य अन्नदान और 'नमस्ते रुद्र मन्यव०' का जप करे और दृढ़व्रती रहे।

---

[1] हिरण्यं रक्तवासांसि पञ्चाशद्विप्रभोजनम्।
सहस्रकलशस्नानं कुर्याद्रोगस्य शान्तये॥
(व्यास)

[2] अच्युतानन्तगोविन्देत्येतन्नामत्रयं द्विज।
अयुतत्रयसंख्याकं जपं कुर्याद्धि शान्तये॥
(शङ्करगीता)

[3] अनङ्गनाशाय हरस्त्रिशूलं मुमोच कोपान्मकरध्वजश्च।
तमापतन्तं सहसा निरीक्ष्य भयार्दितो विष्णुतनुं प्रविष्टः॥
स विष्णुहुङ्कारविमोहितात्मा पपात भूमौ प्रथितः स शूलः।
स पञ्चभूतानुगतः शरीरं प्रदूषयत्यस्य हि पूर्वसृष्टिः॥
(हारीतसंहिता)

[4] शूली परोपतापेन जायते वपुषा तनुः।
सोऽन्नदानं प्रकुर्वीत तथा रुद्रं जपेद् बुधः॥ (रुद्रविधान)

(२६) गुल्मोपशमनव्रत (अनुष्ठान-प्रकाश)–गुरुके हितकर वाक्योंका अहितकर अर्थ करने अथवा मिथ्याहार-विहारादिसे बिगड़े हुए वातादि दोष उदय होकर उदरके अंदर दोनों पसवाड़ोंमें और हृदय, नाभि तथा वस्तिस्थानमें गुल्म उत्पन्न करते हैं । उसके निवारणके निमित्त फाल्गुनके व्रतपरिचयमें बतलाये हुए क्रमके अनुसार एक महीनेका ‘पयोव्रत’ करे और ‘वात आयातु[1] भेषज०’ इस मन्त्रके दस हजार जप और इसी मन्त्रसे घी और खीरका हवन करे । इससे अनिष्टकर गुल्मका कष्ट दूर हो जाता है ।

(२७) उदरान्तरीय रोगोपशमनव्रत (मन्त्र-महार्णव)–जो [2]मनुष्य ब्रह्मा, विष्णु और महेशमें भेद मानते हैं, उनके उदरगत व्याधियाँ होती हैं । उनके निवारणके लिये कृच्छ्र और अतिकृच्छ्र चान्द्रायणव्रत, ‘उद्यन्भ्राज०’ के दस हजार जप और शिवजीका सहस्रघटाभिषेक करनेसे सम्पूर्ण व्याधियाँ दूर होती हैं ।

(२८) जलोदरहर[3]व्रत (महार्णव)—मिट्टी या भस्मसे माँजे हुए ताम्रादिके महापात्रको जलसे पूर्ण करके उसका पञ्चोपचार पूजन करे और उसी जलसे शिवजीका सहस्रघटाभिषेक करे तथा सौ ब्राह्मणोंको भोजन करावे । अथवा सोना, चाँदी, ताँबा और जलधेनुका दान करके गुड़, घी और गोधूमके पदार्थोंका एकभुक्त भोजन करे ।

(२९) प्लीहोदरहरव्रत (मन्त्रमहोदधि)–भृतकाध्यापक (नौकरी लेकर पढ़ानेवालों) के या कन्याको दूषित करनेवालोंके ‘प्लीहा’—एक प्रकारकी उदरग्रन्थि, जो पेटके पार्श्वभागमें होती है, अत्यन्त छोटी उत्पन्न होकर यथाक्रम बहुत बड़ी हो जाती है । आयुर्वेदके अनुसार विदाही (बहुत दाह करनेवाले) तथा अभिष्यन्दी (उदरगत रक्तछिद्र रोकनेवाले) अन्नादि पदार्थोंके निरन्तर खाते रहनेसे प्लीहा (तिल्ली) होती है और बेरके समानसे यथाक्रम बढ़कर तरबूजके समान हो जाती है । इसको घटानेके लिये अति पवित्रताके साथ ब्रह्मचर्यका पालन करके ‘यो यो हनूमन्त फलफलित धगधगित आयुराषफुरुडाह’—इस मन्त्रके दस हजार जप करे और फिर प्लीहावाले मनुष्यको सीधा लिटाकर उसके उदरपर नागवल्लीदल (नागरबेलके पत्ते) रक्खे । पत्तोंके ऊपर आठ तह किया हुआ कपड़ा रक्खे और कपड़ेके ऊपर सूखे बाँसके पतले-पतले टुकड़े रक्खे । इसके बाद बेरकी सूखी लकड़ी लेकर उसको जंगली पत्थरसे उत्पन्न की हुई आगसे जलावे और प्लीहावाले मनुष्यके पेटपर रखे हुए वंशशकल (बाँसके टुकड़ों) को उपर्युक्त हनुमन्मन्त्रके उच्चारणके साथ (उस जलती हुई लकड़ीसे) सात बार ताड़ित करे। इससे उदरगत प्लीहा शान्त होती है । उपर्युक्त विधान सात बार करना चाहिये ।

(३०) उदरगुल्महरव्रत (सूर्यारुण २९७)—इक्षुविकार (गुड़, सक्कर, चीनी और मिश्री) आदि चुरानेसे पेटके अंदर अनिर्ष्टकारी फोड़ा उत्पन्न होता है। इन दिनों उसकी ‘ट्यूमर’ नामसे प्रसिद्धि है और विशेषज्ञ वैद्य बड़ी सावधानीके साथ अस्त्रक्रियासे उसका निपात करते हैं । किसी स्त्रीके यह हो जाता है तब उसे गर्भस्थलीमें बालक होनेका जैसा आभास होता है और वह यथाक्रम उसी प्रकार बढ़ता है । परन्तु प्रसव-कालकी पूर्ण अवधि पूरी हो जानेपर भी कुछ न हो, तब उस उपद्रवका स्वरूप मालूम होता है । अस्तु उदरगुल्मके लिये सूर्यारुणमें लिखा है कि गुड़-धेनुका दान करके ‘मुञ्चामि०’ सूक्तके एक लाख जप और ‘वात आवातु भेषजं०’ से शाल्मली (सेमलवृक्ष) की समिधाओंमें घी और सक्करकी दस हजार आहुतियाँ देकर ब्राह्मणोंको भोजन करावे और स्वयं व्रत करे ।

(३१) कृमिलोदरहरव्रत (सूर्यारुण १२२)–जन्मान्तरके अभक्ष्य-भक्षणादि पापोंसे या उड़द, मैदा और गुड़के पदार्थ अथवा चने (छोले) आदिके अर्द्धपक्व शाक खाने आदिसे पेटमें कीड़े पड़ जाते हैं और उनका तत्काल प्रतिकार न हो तो वे दुमुँही सर्पिणीकी तरह बहुत बड़े हो जाते हैं । उनकी पीड़ासे मनुष्यकी भूख-प्यास घट जाती है और वह दुर्बल और अशक्त हो जाता है । ऐसे कीड़ोंको अनुभवी वैद्य तृषावर्द्धक उपचारोंसे निकालते हैं । धर्मशास्त्रोंमें इनकी शान्तिके लिये कार्तिक शुक्ला एकादशीसे पूर्णिमापर्यन्त निराहार भीष्मपञ्चक-व्रत करना हितकारी बताया है। वास्तवमें यह धर्म और कर्म दोनोंका साधक है ।

---

१. ॐ वात आयातु भेषजꣳ शंभूर्मयो भूर्नो हृदे प्राण आयूꣳषि तारिषत् । (अनुष्ठानप्रकाश)
२. यो ब्रह्मविष्णुरुद्राणां भेदमुत्तमभावतः । कुर्यात् स उदरव्याधियुक्तो भवति मानवः ॥ (शातातप)
३. सहस्रकलशस्नानं महादेवस्य कारयेत् । भोजयेच्च शतं विप्रान्मुच्यते किल्बिषात्ततः ॥ (महार्णव)
४. स्त्रीणामार्तवजो गुल्मो न पुंसामुपजायते । अन्यस्त्वसृग्भवो गुल्मः स्त्रीणां पुंसां च जायते ॥ (क्षारपाणि)
गुल्मिनामनिलः शान्तिरुपायैः सर्वशो विधिः । (चरक)
कुपिताऽनिलमूलत्वाद् गूढमूलोदयादपि । गुल्मवद्वा विशालत्वाद् गुल्म इत्यभिधीयते ॥ (सुश्रुत)
सञ्चितः क्रमशो गुल्मो महावास्तुपरिग्रहः । कृतमूलः शिरानद्धो यदा कूर्म इवोन्नतः ॥ (माधव)

कल्याणके नियम

उद्देश्य–भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचार-समन्वित लेखोंद्वारा जनताको कल्याणके पथपर पहुँचानेका प्रयत्न करना इसका उद्देश्य है।

नियम

(१) भगवद्भक्ति, भक्तचरित, ज्ञान, वैराग्य आदिका प्रतिपादन करनेवाले, ईश्वरपरक, कल्याणमार्गमें सहायक, अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत आक्षेपरहित लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयोंके लेख भेजनेका कोई सज्जन कष्ट न करें। लेखोंको घटाने-बढ़ाने और छापने अथवा न छापनेका अधिकार सम्पादकको है। अमुद्रित लेख बिना माँगे लौटाये नहीं जाते। **लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदाता नहीं हैं।**

(२) इसका डाकव्यय और विशेषाङ्कसहित अग्रिम वार्षिक मूल्य भारतवर्षमें ५≡) और भारतवर्षसे बाहरके लिये ७॥=) (११½ शिलिंग) नियत है। **बिना अग्रिम मूल्य प्राप्त हुए पत्र प्रायः नहीं भेजा जाता।**

(३) 'कल्याण'का १८वाँ वर्ष अक्टूबरसे आरम्भ होकर सितम्बरमें समाप्त होगा, अतः ग्राहक अक्टूबरसे ही बनाये जायँगे। वर्षके किसी भी महीनेमें ग्राहक बनाये जा सकते हैं, किन्तु अक्टूबरके अङ्कके बाद निकले हुए तबतकके सब अङ्क उन्हें लेने होंगे। 'कल्याण'के बीचके किसी अङ्कसे ग्राहक नहीं बनाये जाते; छः या तीन महीनेके लिये भी ग्राहक नहीं बनाये जाते।

(४) इसमें व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी दरमें प्रकाशित नहीं किये जाते।

(५) कार्यालयसे 'कल्याण' दो-तीन बार जाँच करके प्रत्येक ग्राहकके नामसे भेजा जाता है। यदि किसी मासका अङ्क समयपर न पहुँचे तो अपने डाकघरसे लिखा-पढ़ी करनी चाहिये। वहाँसे जो उत्तर मिले, वह हमें भेज देना चाहिये। डाकघरका जवाब शिकायती पत्रके साथ न आनेसे दूसरी प्रति बिना मूल्य मिलनेमें अड़चन हो सकती है।

(६) पता बदलनेकी सूचना कम-से-कम १५ दिन पहले कार्यालयमें पहुँच जानी चाहिये। **लिखते समय ग्राहक-संख्या, पुराना और नया नाम-पता साफ-साफ लिखना चाहिये।** महीने-दो-महीनोंके लिये बदलवाना हो, तो अपने पोस्टमास्टरको ही लिखकर प्रबन्ध कर लेना चाहिये। पता-बदलीकी सूचना न मिलनेपर अङ्क पुराने पतेसे चले जानेकी अवस्थामें दूसरी प्रति बिना मूल्य न भेजी जा सकेगी।

(७) अक्टूबरसे बननेवाले ग्राहकोंको रंग-बिरंगे चित्रोंवाला अक्टूबरका अङ्क (चालू वर्षका विशेषाङ्क) दिया जायगा। विशेषाङ्क ही अक्टूबरका तथा वर्षका पहला अङ्क होगा। फिर सितम्बरतक महीने-महीने नये अङ्क मिला करेंगे।

(८) चार आना एक संख्याका मूल्य मिलनेपर नमूना भेजा जाता है। ग्राहक बननेपर वह अङ्क न लें तो ।) बाद दिया जा सकता है।

आवश्यक सूचनाएँ

(९) 'कल्याण'में किसी प्रकारका कमीशन या 'कल्याण'की किसीको एजेन्सी देनेका नियम नहीं है।

(१०) पुराने अङ्क, फाइलें तथा विशेषाङ्क कम या रियायती मूल्यमें नहीं दिये जाते।

(११) ग्राहकोंको अपना नाम-पता स्पष्ट लिखनेके साथ-साथ **ग्राहक-संख्या** अवश्य लिखनी चाहिये।

(१२) पत्रके उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजना आवश्यक है।

(१३) ग्राहकोंको चंदा मनीआर्डरद्वारा भेजना चाहिये; वी० पी० भेजनी बंद कर दी गयी है। बिलसे भेजनेका नियम नहीं है।

(१४) प्रेस-विभाग और कल्याण-विभागको अलग-अलग समझकर अलग-अलग पत्र-व्यवहार करना और रुपया आदि भेजना चाहिये। **'कल्याण'के साथ पुस्तकें और चित्र नहीं भेजे जा सकते।** प्रेससे १) से कमकी वी० पी० प्रायः नहीं भेजी जाती।

(१५) चालू वर्षके विशेषाङ्कके बदले पिछले वर्षोंके विशेषाङ्क नहीं दिये जाते।

(१६) मनीआर्डरके कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, ग्राहक-नम्बर, पूरा पता आदि सब बातें साफ-साफ लिखनी चाहिये।

(१७) प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र, ग्राहक होनेकी सूचना, मनीआर्डर आदि **व्यवस्थापक "कल्याण" गोरखपुरके** नामसे और सम्पादन-विभागसे सम्बन्ध रखनेवाले पत्रादि **सम्पादक "कल्याण" गोरखपुरके** नामसे भेजने चाहिये।

(१८) स्वयं आकर ले जाने या एक साथ एकसे अधिक अङ्क रजिस्ट्रीसे या रेलसे मँगानेवालोंसे चंदा कुछ कम नहीं लिया जाता।

व्यवस्थापक—कल्याण, गोरखपुर

श्रीहरिः

मनुष्यका कर्तव्य

देहेऽस्थिमांसरुधिरेऽभिमतिं त्यज त्वं जायासुतादिषु सदा ममतां विमुञ्च ।
पश्यानिशं जगदिदं क्षणभङ्गनिष्ठं वैराग्यरागरसिको भव भक्तिनिष्ठः ॥
धर्मं भजस्व सततं त्यज लोकधर्मान् सेवस्व साधुपुरुषाञ्जहि कामतृष्णाम् ।
अन्यस्य दोषगुणचिन्तनमाशु मुक्त्वा सेवाकथारसमहो नितरां पिब त्वम् ॥

इस शरीरमें हाड़, मांस और खूनके अतिरिक्त क्या है । इस अशुद्ध, क्षणभङ्गुर एवं जड़ कायाको तू भूलसे अपना स्वरूप मान बैठा है । यह शरीर ही मैं हूँ—इस झूठे अभिमानको त्याग दे । तू सर्वथा शुद्ध, नित्य, चेतन आत्मा है । इसी प्रकार इस शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाले स्त्री-पुत्र आदिको तूने भूलसे अपना मान लिया है । ये वास्तवमें तेरे कुछ नहीं होते । इन्हें अपना मानना छोड़ दे । तभी तू सुखी रह सकेगा । अपने शरीर और उससे सम्बन्ध रखनेवाले स्त्री, पुत्र आदिकी तो बात ही क्या है, यह सारा जगत् ही पानीके बुदबुदेके समान अनित्य है, इसकी कोई सत्ता नहीं है । यह प्रतिक्षण बदलता रहता है । इससे मनको हटाकर वैराग्यमें प्रीति कर । उसीका रागी बन जा, उसीके रसका निरन्तर आस्वादन कर । उसमें जो सुख है, वह इन्द्रके पदमें भी नहीं है । जगत्से वैराग्य कर और भगवान्के चरणोंमें प्रीति जोड़ ले, उनकी भक्तिमें स्थिर हो जा । भगवान् ही तेरे एकमात्र प्रियतम हैं, उनकी भक्ति—उनकी सेवा ही तेरा परम कर्त्तव्य है । इसीका सदा पालन कर । अन्य लौकिक धर्मोंको यदि इसके पीछे छोड़ना भी पड़े, तो प्रसन्नतापूर्वक उनका त्याग कर दे । साधु पुरुषोंका ही निरन्तर सेवन कर । भोगोंकी लालसा छोड़ दे । उनसे तेरी तृप्ति कदापि नहीं होनेकी । दूसरोंके दोषों तथा गुणोंका चिन्तन तुरंत छोड़ दे । उससे तेरे मनमें राग-द्वेषकी वृद्धि होगी, जो पतनके मुख्य हेतु हैं । तू तो केवल भगवत्सेवामें लगा रह और उन्हींकी रसीली कथाओंका निरन्तर पान किया कर ।

(पद्मपुराण)

कल्याण

LIBRARY,
GURUKULA KANGRI.

२५-५-४४

~~वैशाख २०~~

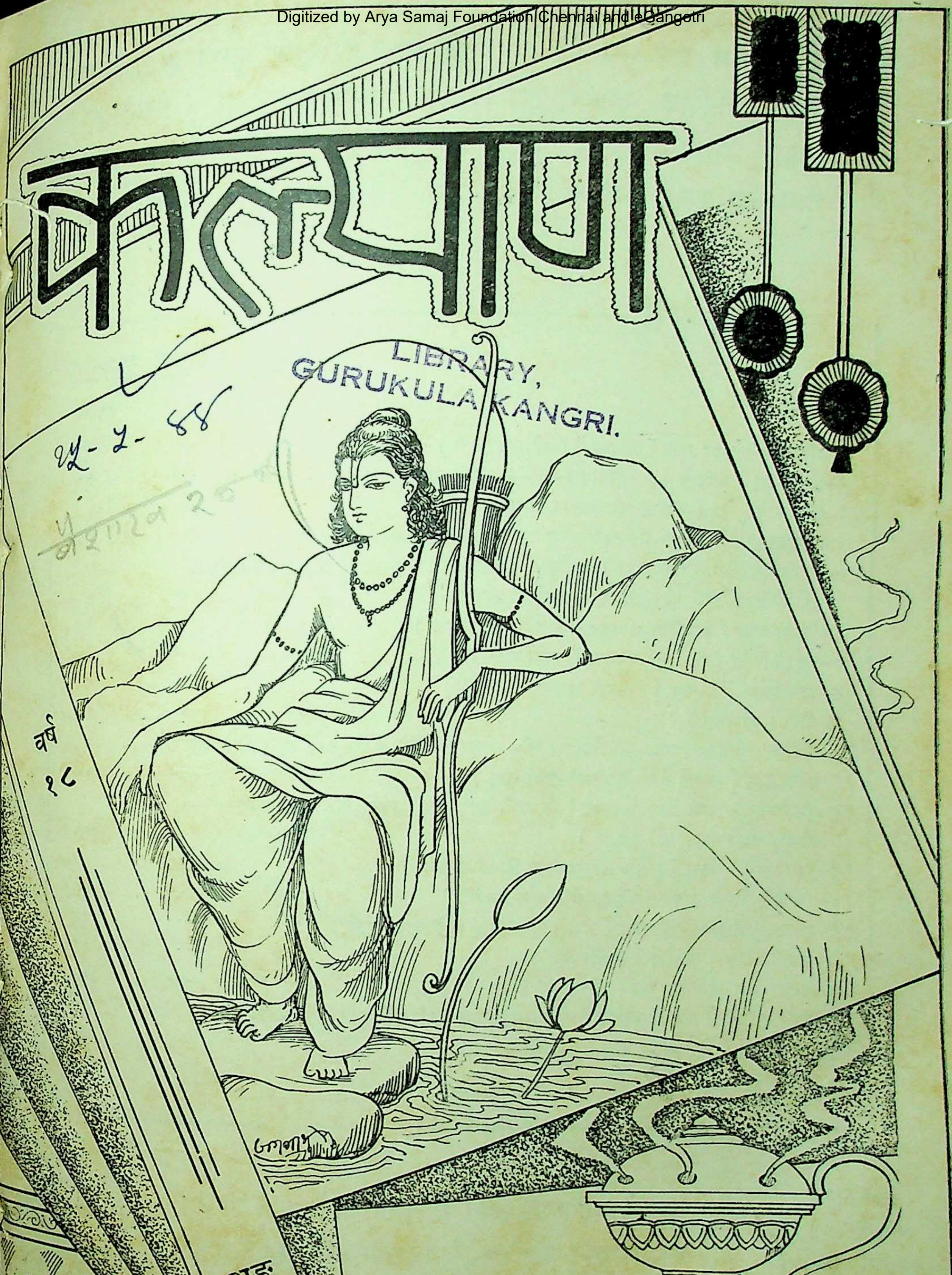

वर्ष
१८

अङ्क
८

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ आगारा ॥

[संस्करण ५५६००]

विषय-सूची

कल्याण मई सन् १९४५ की

विषय — पृष्ठ-संख्या

१–श्रीकृष्ण-कीर्तनका सुख [कविता] (श्रीसूरदासजी) ९२१
२–प्रभु-स्तवन [कविता] (अनुवादक–श्रीमुंशीरामजी शर्मा, एम्० ए०, 'सोम') ... ९२२
३–संत-वाणी (प्रेषक—भक्त श्रीरामशरणदासजी) ९२३
४–श्रीरामस्तवन [कविता] (साहित्यरत्न त्रिवेदी अखिलेश शर्मा) ९२५
५–वर्तमान परिस्थिति और हमारा कर्त्तव्य (श्रीमज्जगद्गुरु शङ्कराचार्य अनन्तश्रीविभूषित ज्योतिष्पीठाधीश्वर श्रीब्रह्मानन्द सरस्वतीजी महाराज) ९२६
६–विचार-धारा (स्वामीजी श्रीशङ्करतीर्थ यतिजी महाराज) ९३०
७–भर्तृहरिनिर्वेद (पं० श्रीविष्णुदत्तजी शर्मा बी० ए०) ९३४
८–दर्शनोल्लास [कविता] (काज़ी असरफ महमूद) ९३९
९–भीख (श्रीवसिष्ठ) ९४०
१०–गीताका तीसरा अध्याय—कर्मयोग (पं० श्रीमुरलीधरजी शर्मा, बी० ए०, बी० एल०) ९४६
११–तदाकारता [गीत] (श्रीशिवनारायणजी वर्मा) ९५०
१२–तुम स्वयं ही अपने मित्र और स्वयं ही अपने शत्रु हो (डाक्टर श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, डी० लिट्०) ९५१
१३–चेतावनी [कविता] (प्रो० श्रीमुरलीधरजी श्रीवास्तव्य) ९५४
१४–सत्सङ्गके बिखरे वाक्य (संग्रहकर्ता—एक सत्संगी) ९५५
१५–भगवान् श्रीरामके दर्शन प्राप्त करनेका उपाय (श्रीशिवप्रसादजी) ९६२
१६–जीवित मानव [कहानी] (श्री'चक्र') ९६७
१७–गोरक्षा और भगवान् बुद्ध (श्री'मधुप') ९७१
१८–भगवान् रामकी लोकप्रियताका एक प्रधान कारण (श्रीधर्मदेवजी शास्त्री, दर्शनकेशरी, पञ्चतीर्थ) ९७४
१९–व्रत-परिचय (पं० श्रीहनूमान्जी शर्मा) ९७५

वार्षिक मूल्य
भारतमें ५≡)
विदेशमें ७॥=)
(शिलिङ्ग ११½)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें ।)
विदेशमें ।≶),
(८ पेंस)

Edited by H. P. Poddar and C. L. Goswami, M. A., Sastri
Printed and Published by Ghanshyamdas Jalan at the Gita Press, Gorakhpur, U. P. (India)

LIBRARY,
GURUKULA KANGRI.

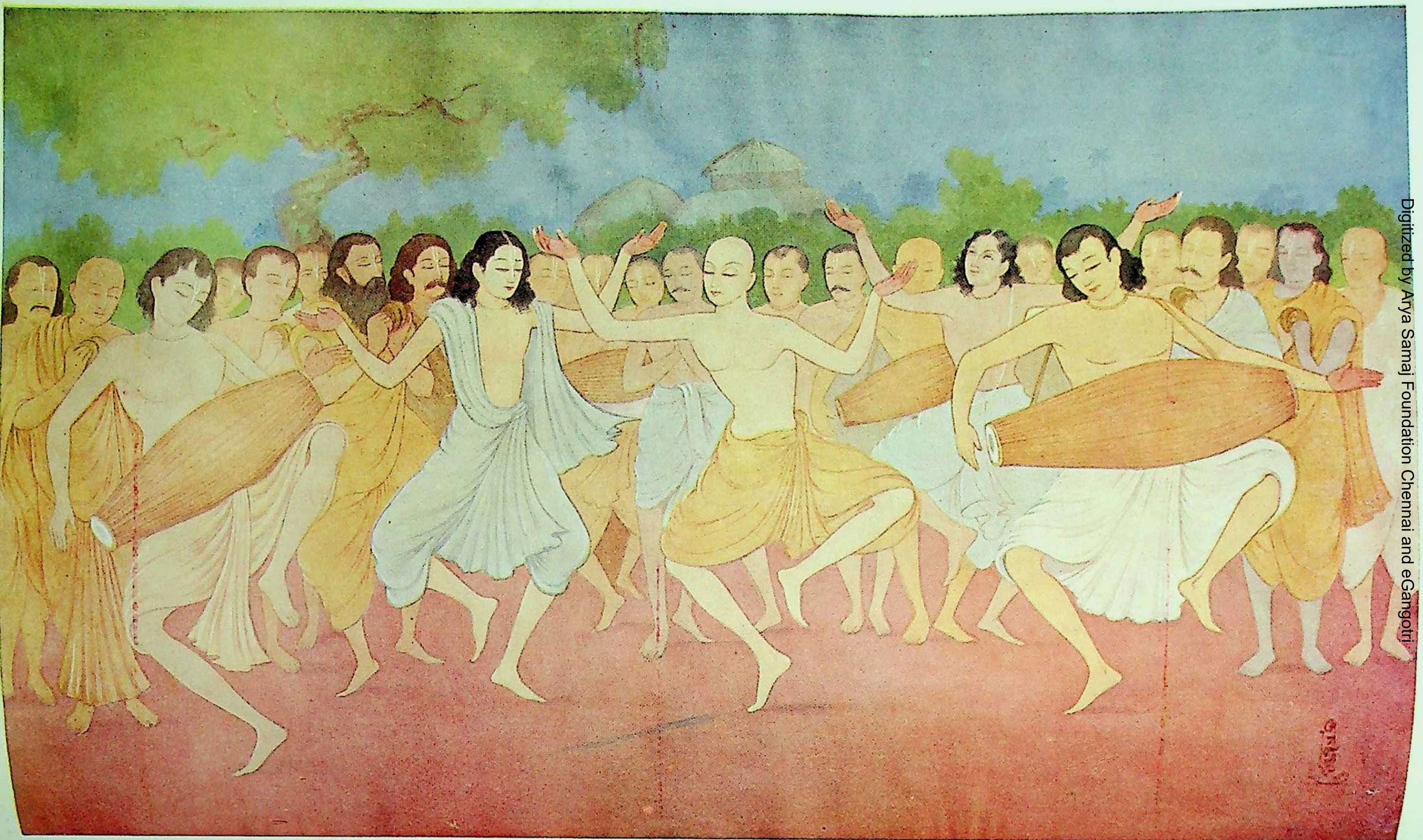

श्रीचैतन्यका नाम-संकीर्तन

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

LIBRARY, GURUKULA KANGRI.

रामाय रामभद्राय रामचन्द्राय वेधसे ।
रघुनाथाय नाथाय सीतायाः पतये नमः ॥

वर्ष १८ } गोरखपुर, मई १९४४, सौर वैशाख २००१ { संख्या ८
पूर्ण संख्या २१२

श्रीकृष्ण-कीर्तनका सुख

जो सुख होत गोपालहिं गाये ।
सो नहिं होत किये जप तप के, कोटिक तीरथ न्हाये ॥
दिये लेत नहिं चारि पदारथ, चरन कमल चित लाये ।
तीनि लोक तृन सम करि लेखत, नंदनँदन उर आये ॥
बंसीबट बृंदाबन जमुना, तजि बैकुंठ को जाये ।
सूरदास हरि को सुमिरन करि, बहुरि न भव चलि आये ॥

—सूरदासजी

प्रभु-स्तवन

(अनुवादक—श्रीमुंशीरामजी शर्मा, एम्० ए०, 'सोम')

यमग्ने मन्यसे रयिं सहसावन्नमर्त्य ।
तमा नो वाजसातये वि वो मदे यज्ञेषु चित्रमा भरा विवक्षसे ॥

(ऋक्० १० । २१ । ४)

जो मोहि जोग-विभव-भव माहीं । अमर देव ! हौं जानत नाहीं ॥
शक्ति-सिन्धु तुम परम सुजाना । विदित तुम्हहि मनकी गति नाना ॥
लावहु सोइ जो करहिं बल-लाहू । मनमहँ भरहिं उमंग-उछाहू ॥
पाइ विमल धन सोइ सुर-राऊ । करहुँ प्रसन्न तुम्हहि सत भाऊ ॥
महा महिम तुम पूज्य महेशा । गावत गुन नित शारद शेषा ॥

मूषो न शिश्ना व्यदन्ति माध्यः स्तोतारं ते शतक्रतो ।
सकृत्सु नो मघवन्निन्द्र मृडयाधा पितेव नो भव ॥

(ऋक्० १० । ३३ । ३)

मूषक ज्यों अन्नयुक्त सूतको है काटता । त्यों ही काटती हैं, ये चिकोटती हैं आधियाँ॥
मोह-मद, राग-द्वेष, काम-क्रोध कूदते । उछल-उछल दुःख-वारिधिमें बोरते ॥
विविध व्यथाएँ, नाना रोग, भय-चिन्ताएँ। व्याकुल बनाती हैं, जलाती बन ज्वालाएँ ॥
घेर लिया मुझको है देव, चारों ओरसे । बचनेका मार्ग मुझे सूझता न औरसे ॥
तेरे अतिरिक्त और कौन है जो आयगा । मुझे इस आपदासे आकर छुड़ायगा ॥
तूही मेरा पालक पिता है, सुत-भक्त मैं । सर्व-शक्ति-वैभवसे युक्त तू, अशक्त मैं ॥
एक बार आ जा, देव! एक बार गोदमें । मुझको बिठा ले, भर जाऊँ मैं प्रमोदमें ॥
तुझ-से पिताको पाके फिर मुझे पाना क्या । आधियोंसे, व्याधियोंसे फिर छूट जाना क्या ॥
अपना अपन जब अपनेमें व्यापना । फिर कैसी लाज यह, फिर कैसा काँपना ॥
एक तेरे पानेसे निहाल बन जाऊँगा । एक तेरी शक्तिसे सशक्त कहलाऊँगा ॥
कर दे मुझे तू सुखी, देव ! वरदान दे । मानसिक यातनासे शीघ्र मुझे त्राण दे ॥

संत-वाणी

(प्रेषक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

प० पू० श्रीस्वामी श्रीहरिबाबाजी महाराजके सदुपदेश

१–जो भक्त हैं, उनका चरित्र प्रभुसे भी रसीला है। प्रभुके सब गुण भक्तमें आ जाते हैं।

२–श्रीभगवन्नाम साक्षात् भगवान् ही हैं। जिस प्रकार श्रीभगवान्‌का अवतार श्रीराम और कृष्ण आदि रूपोंमें होता है, इसी प्रकार नाम भी भगवान्‌का अवतार ही है। नाम ही साक्षात् भगवान् हैं। बंगालमें नामको नाम-ब्रह्म कहकर पुकारते हैं। बहुत-से मन्दिर हमने देखे हैं, जिनमें ठाकुरजीकी जगह नाम-ठाकुरजीकी ही पूजा होती है। नामका तत्त्व सबसे उत्कृष्ट है। इस युगमें तो भक्तिकी ही महिमा सबसे बढ़कर है। भगवान्‌के नाममें अचिन्त्य शक्ति है। जिस प्रकार भगवान्‌में अचिन्त्य शक्ति है। उसी प्रकार नाममें भी अचिन्त्य शक्ति है, एक बार नामके उच्चारण करनेसे ही सब पाप नष्ट हो जाते हैं। नाम ही साक्षात् भगवान् हैं।

३–संसारी विद्या तो नामकी ही विद्या है। विद्या तो वही है जो श्रीकृष्णको मिला दे। जो जीवके पापोंको दूर करके श्रीकृष्णके सम्मुख कर देती है, वही असली विद्या है।

४–श्रीकृष्ण तो रस-स्वरूप हैं, प्रेम-स्वरूप हैं।

५–जो भक्त होते हैं, उनकी परीक्षा हुआ करती है; इससे भक्त दृढ हो जाते हैं और फिर वह प्रभुके कृपापात्र बन जाते हैं। जो छोटे भक्त होते हैं, उनकी छोटी परीक्षा होती है और जो बड़े होते हैं, उनकी बड़ी परीक्षा होती है। बड़े-बड़े भक्तोंके सामने अप्सराएँतक भेजी जाती हैं।

६–किसी भी जीवको नीचा मत समझो। अपनेको तृणसे भी नीचा समझो। जबतक हमारे हृदयमें सच्ची दीनता न होगी, तबतक कुछ न होगा। अभिमान ही सबसे बुरी चीज़ है। देखा गया है कि जो बड़े पण्डित होते हैं, वे औरोंको तो भगवन्नाम-कीर्तनका खूब उपदेश देते हैं; परन्तु स्वयं कीर्तनमें चुपचाप खड़े रहते हैं। वे अभिमानवश समझते हैं कि हम तो पण्डित हैं, विद्वान् हैं, हमें क्या? कीर्तन तो छोटे मनुष्योंका काम है।

७–याद रक्खो, तुम्हारी रक्षा करनेवाला यहाँपर कोई नहीं है। भगवान् ही रक्षा करनेवाले हैं। अपनी फिक्र तुम्हें आप ही करनी चाहिये।

८–जब भक्ति महारानीकी गोदमें जीव बैठ जाता है तो सचमुच ही उसका नया जन्म हो जाता है। भक्ति महारानीकी कृपासे उसमें अभिमानका नाम भी नहीं रहता।

९–भगवान्‌ने स्वयं अपने श्रीमुखसे देवर्षि श्रीनारदजीसे कहा है—

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥

भगवान् कहते हैं कि 'नारदजी! जहाँ भक्त मेरा कीर्तन करते हैं, मैं वहाँपर ही रहता हूँ।' भगवान्‌की ऐसी उदारता तो और कहीं भी देखनेमें नहीं आती।

१०–जितने भी ईश्वरप्राप्तिके मार्ग हैं, सभी ठीक हैं; परन्तु कलियुगमें तो केवल श्रीहरि-भक्ति ही सर्वोत्तम साधन है। जब आप छोटे बन जायँगे तभी आपपर प्रभुकी कृपा होगी।

११–जो मायासे निकले हैं, उनकी यही पहचान है कि वे अपनी हठ नहीं रखते। वे बच्चेके कहनेपर भी अपनी हठ नहीं रखते। नामके लेते ही अहंभाव छूट जाता है। अगर भगवान्‌की कृपा हो जाय तो अभिमान पास भी नहीं आ सकता।

१२–विश्वास ही भक्तिकी जान है। बिना विश्वासके क्या होगा ? कीर्तनमें बैठकर यह समझना चाहिये कि भगवान् हमारे सामने बैठे हैं।

१३–नामसे ही भगवान्‌की प्राप्ति होगी–यह विश्वासकी बात है। नाम ही साक्षात् भगवान् है, ऐसा सच्चा विश्वास होना चाहिये।

प० पू० श्रीबाबा श्रीरामदासजी महाराजके सदुपदेश

१–प्रश्न–श्रीमहाराजजी! हमें क्या करना चाहिये ?

उत्तर–राम-नाम कहो। हम और तो कुछ उपदेश जानते नहीं हैं; किन्तु नाम नामीकी कृपा बिना नहीं लिया जाता है। जब नामीकी कृपा होती है, तभी भगवान्‌का नाम लिया जाता है। देखो, बड़े-बड़े विद्वान् हैं। उन्होंने खूब शास्त्र भी पढ़े हैं और वे औरोंको उपदेश भी खूब देते हैं तथा शास्त्रार्थ भी खूब करते हैं; परन्तु आप रामका नाम नहीं लेते। इसका कारण क्या है ? यही कि उनपर भगवान्‌की कृपा नहीं है।

२–जो कुछ होता है, सब भगवान्‌की लीला होती है। प्रभु किसीकी तो प्रशंसा कराकर और किसीकी निन्दा कराकर उसके अभिमानको नष्ट करते हैं।

३–प्रश्न–महाराजजी! भगवान्‌का दर्शन कैसे हो ?

उत्तर–तुम तो खाली पूछते ही हो, भगवान्‌के दर्शनकी इच्छा तो तुम्हें है ही नहीं। भगवान्‌का नाम जपो, तभी भगवान्‌का दर्शन होगा। श्रीगोस्वामीजी महाराज कहते हैं—

देखिअ रूप नाम आधीना। रूप ग्यान नहिं नाम बिहीना॥

४–प्रश्न–भगवान्‌का नाम तो सब जपते हैं; फिर उन्हें दर्शन क्यों नहीं होता ?

उत्तर–उत्कण्ठा नहीं, नहीं तो अवश्य भगवान्‌का दर्शन हो। कभी सत्संगमें जानेसे थोड़ी-बहुत देरको हो भी गयी तो फिर वहाँसे उठनेपर वैसे ही रहे जैसे कि पहले थे।

५–प्रश्न–उत्कण्ठा कैसे हो ?

उत्तर–भगवान्‌का नाम जपो।

६–प्रश्न–इसमें भी भगवान्‌का ही नाम जपें ?

उत्तर–सब रोगोंकी जब एक ही दवा है, तब क्या किया जाय ?

७–मनुष्य-जन्म पाकर भी जिसने श्रीभगवान्‌से प्रेम नहीं किया, वह पशु है। बल्कि पशुसे भी गिरा हुआ है, क्योंकि पशुको तो ज्ञान नहीं होता।

८–भगवान्‌के नाममें प्रेम होना बड़ा कठिन है। श्रीकबीरदासजी कहते हैं कि भगवन्नाम जो सर्वोपरि धन है, वह तो कड़वा लगता है और यह दाम जो कुछ भी नहीं है, मीठा लगता है।

राम नाम कड़वा लगै मीठा लागे दाम।
दुविधामें दोनों गये माया मिली न राम॥

९–एक जगह श्रीदादूजी महाराजने कहा है कि–

दादू दुनिया बावरी कहै चाम सों राम।
ठोके पीटे ढाँगरे करे आपनो काम॥

श्रीदादूजी महाराज कहते हैं कि जिस प्रकार गाँवोंमें किसान जब कूआँ चलाते हैं तो वे जब कूएँमेंसे चमड़ेका चरस आ जाता है, तो कहते हैं कि आ गये रामजी। और फिर घर जाकर एक बार भी रामका नाम नहीं लेते। काम अपना करते हैं और रामका नाम लेते हैं।

१०–एक पतित भगवान्‌से किस प्रकार कहता है, सुनो–

बातन ही हो पतित पावन।
मोते काम परै जानोगे बिनु रन सूर कहावन॥
सतयुग, त्रेता, द्वापरहू के पतितन के गति आपी।
हमें उन्हें अंतर बहुत है, हम कलियुगके पापी॥
कोऊ टाँक द्वै टाँक, पनसेरा घड़ी बढ़ाई सेर।
हौं पतितन, में सबसे भारी ज्यों पहारन में मेरु॥

११–जो भगवद्भक्त है, वह अपने पितरोंको भी तार देता है और जो भक्त नहीं है, वह उन्हें भी गिरा देता है।

१२–जब कथा हो रही हो तो उसमें जो कोई विक्षेप करता है या बोलता है, उसे महान् पाप होता है। श्रीरामचन्द्रजीके चरित्रमें और संतोंके समागममें बोलनेसे तीन जन्मके पुण्य नष्ट हो जाते हैं। जो ऐसा पाप करता है, उसका पाप नहीं छूटेगा। प्रेमियोंके चित्तको दुखानेवालोंको अवश्य फल भोगना पड़ेगा। अगर इस जन्ममें नहीं भोगा तो अगले जन्ममें तो अवश्य ही भोगना पड़ेगा।

१३–श्रीसरकार भाव-प्रधान हैं। भक्तिमें भी भाव ही प्रधान होता है। अभी कुछ दिन हुए— एक भक्तजी थे। वे भगवान्‌को बालरूपसे लाड़ लड़ाया करते थे। एक दिन घरमें एक मनिहारिन चूड़ी पहनानेको आयी। उसने भक्तजीके घरमें सबको चूड़ी पहना दी और फिर बाहर आकर भक्तजीसे कहा कि चूड़ियोंके पौने दो रुपये दे दो। भक्तजीने उससे कहा कि घरमें छः स्त्रियाँ हैं, सातवीं स्त्री कहाँसे आ गयी। तू डेढ़ रुपया ले ले। मनिहारिनने कहा कि आप भक्त होकर भी बेईमानी करते हैं। मैंने तो सातोंको ही चूड़ियाँ पहनायी हैं। मैं तो पौने दो रुपये ही लूँगी। भक्तजी बड़े अचरजमें पड़े कि यह बात क्या है? रात्रिको स्वप्नमें श्रीलाड़लीजीने उनसे कहा कि जब तुम्हारे पुत्र रहते हैं तो मैंने [अर्थात् तुम्हारी पुत्रवधूने] यदि चूड़ियाँ पहन लीं तो क्या हो गया?

* * *

श्रीरामस्तवन

(रचयिता—साहित्यरत्न त्रिवेदी अखिलेश शर्मा)

(१)

जगमग जाहिरै सुजस जाकौ धाम धाम पुरुष पुरान देत रीझि कै स्वधामकौ।
'अखिलेस' बौना बौद्ध कोल कान्ह कच्छ मच्छ कीन्हो वपु कलकी नृसिंह भृगुरामकौ॥
अति अभिराम सुखदायक अकाम जौन जाम-जाम गावैं नित वेद जाके नामकौ।
प्यारौ मैथिलीकौ रखवारौ दीन-हीननकौ लोकनि तैं न्यारौ है सहारौ वाही रामकौ॥

(२)

कोमल अमल गात मञ्जु वारिजातहू तैं सिद्धि सरसात सील सुखमा अयनके।
दीह-दुखभञ्जन प्रभञ्जनतनैके प्रान मुनि-मनरंजन सुअंजन मयनके॥
'अखिलेस' तारक अधमके उधारक हैं असुरसँहारक औ सिन्धुके सयनके।
सब सुखदैन बैन मधुर कृपाके ऐन वन्दौ पद तेई राम राजिवनयनके॥

(३)

परसत जाकी धूरि गौतमी पुनीत भई मंजुल मराल मन-मानस महेसके।
'अखिलेस' जातैं कढ़ी पावन करनि गंग सुन्दर सुरंग पूजनीय मिथिलेसके॥
जाके लाय साधत समाधि सनकादि सिद्ध अंबल अनाथनके नाथ-विधि-सेसके।
जन-सुख-कन्दनके बिघन-निकन्दनके वन्दत चरन सोई राम अवधेसके॥

वर्तमान परिस्थिति और हमारा कर्तव्य

(लेखक—श्रीमज्जगद्गुरु शङ्कराचार्य अनन्तश्रीविभूषित ज्योतिष्पीठाधीश्वर श्रीब्रह्मानन्द सरस्वतीजी महाराज)

दुरदृष्ट-विशेष या धार्मिक प्रमादके कारण सच्छिक्षाका अभाव और कुशिक्षाका प्रसार संसारमें बढ़ गया, जिससे प्राणियोंकी धर्ममें अरुचि तथा अधर्ममें अधिकाधिक प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। फलतः आज संसारमें सर्वत्र अशान्ति ही दीख रही है। परस्पर भय, द्वेष और सङ्घर्षकी अभिवृद्धि हो रही है। विशेषतः भारतकी बहुत अधिक दुरवस्था हो रही है। ऐसी स्थितिमें देशके सभी हितैषियोंका परम कर्त्तव्य है कि अपने देश तथा सम्पूर्ण विश्वके हितकर, शास्त्रानुकूल सामयिक सफल उपायोंका निर्देश करें और उसपर एकमत होकर कार्यारम्भमें प्रयत्नशील हों। किसी कार्यारम्भमें सर्वप्रथम हेय, उपादेय, निदान, हान, उपादान, हानोपाय, उपादानोपाय, प्रतिबन्धक एवं उसके निवर्तक साधनोंका ज्ञान परमावश्यक होना है; क्योंकि साधारणतया सभी देशहितैषी एवं विश्वहितैषियोंका उद्देश्य अच्छा ही होता है, फिर भी समझके भेदसे मार्ग-भेद, वैमत्य तथा सङ्घर्ष उपस्थित हो जाता है, जिसका प्रत्यक्ष दुष्परिणाम हमारे सामने है। केवल भारतहीमें हजारों संस्थाएँ परस्पर विरुद्ध मत रखनेवाली हैं। ऐसी स्थितिमें कोई एक वस्तु अवश्य ऐसी होनी चाहिये, जो सम्पूर्ण विश्व एवं देशकी दृष्टिका केन्द्रबिन्दु हो तथा सर्वसम्मतिसे ग्राह्य एवं मान्य हो। उसीके आधारपर सङ्घटन और सामञ्जस्यकी स्थापना हो सकती है। उसीसे स्वार्थत्याग एवं सहिष्णुताकी भावना बढ़ सकती है। वह वस्तु कोई दूसरी नहीं हो सकती, ईश्वर और धर्म ही हो सकती है।

जब 'गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्' सब कुछ भगवान् ही हैं, तब आस्तिक-नास्तिक, हिंदू-मुसलमान, ईसाई-पारसी——सब-के-सब अपने भाई ही सिद्ध होते हैं। शास्त्रविश्वासी पुरुष तो मनुष्योंतक ही सीमित नहीं रहते, कीट-पतङ्ग आदि आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त प्राणिमात्रको परमेश्वरका ही स्वरूप मानते हैं। उनके मतसे जलमें जैसे तरङ्ग होते हैं, वैसे ही परमेश्वरमें जीवात्मा होते हैं। फिर तो सर्वत्र सहज भ्रातृभाव स्पष्ट ही है। यदि देश-सीमा, रंग, मजहब, धर्म आदि कृत्रिम वस्तुओंको आधार मानकर सङ्घटनकी आशा की जा सकती है, तो सहज स्वाभाविक भ्रातृभावको आधार मानकर सहिष्णुता, क्षमा, दया एवं न्यायको विस्तृत करके सङ्घटन क्यों नहीं हो सकता? इसके विपरीत हिंसा, असत्य, स्तेय आदिसे परस्पर शङ्का, सङ्घर्ष, विघटन उपस्थित होता है। इसलिये भी अहिंसा, अस्तेय, सत्य आदि धर्मोंकी भी आवश्यकता सुख-शान्तिके लिये प्राणिमात्रको अपेक्षित होती है। जब ईश्वर तथा धर्मकी भावनाका अनादर होनेसे विघटन होने लगता है, तभी निर्बलता बढ़ती है, सच्छिक्षा और सद्बुद्धिका प्रसार न होकर कुशिक्षा और कुबुद्धिका विस्तार होता है। बस, फिर अनर्थोंकी भरमार हो जाती है, अतः सम्पूर्ण अनर्थोंके मूलभूत अधर्मकी निवृत्ति एवं सर्वकल्याणके एकमात्र मूलकारण धर्मसे ही व्यक्ति, समाज, राष्ट्र तथा विश्वका लौकिक-पारलौकिक कल्याण होता है। अधर्मसे ही विघटन, वैमनस्य एवं पतन होता है। यद्यपि धर्म-अधर्मके विषयमें अनेक विप्रतिपत्तियाँ उठती हैं, तथापि धर्ममीमांसामें 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इस सूत्रके द्वारा यही ज्ञात होता है कि वैदिक विधि-वाक्योंसे बोधित सप्रयोजन कर्म, हलचल——शरीर, इन्द्रिय एवं बुद्धिसे होनेवाले कार्य—ही धर्म है। निषेधक वेदवाक्योंसे निषिद्ध अनिष्टकारी कर्म ही अधर्म है। धर्माधर्म अथवा कार्य-अकार्यकी व्यवस्थामें एकमात्र शास्त्र ही प्रमाण है, अतः शास्त्रद्वारा कर्तव्य-अकर्तव्य जानकर, अकर्तव्य-परिवर्जन और कर्तव्य-पालनमें प्रवृत्त होना चाहिये। इस दृष्टिसे शास्त्रसम्मत कर्म धर्म है और शास्त्रविरुद्ध कर्म अधर्म है। प्रत्यक्ष, अनुमानसे अज्ञात, अनर्थनिवर्तक एवं कल्याणप्रापक उपायोंको बतलानेके लिये ही वेदादि शास्त्रोंकी अपेक्षा होती है। सनातन धर्म ही नहीं, किन्तु कोई भी धर्मवादी धर्माधर्मको जाननेके लिये प्रत्यक्ष और अनुमानसे अतिरिक्त किसी आप्तवाक्यसमूहात्मक ग्रन्थको ही प्रमाण मानता है। भेद यही है कि दूसरे लोग किसी पुरुषको सर्वज्ञ मानकर उसके वचनको धर्माधर्ममें प्रमाण मानते हैं, तो वैदिकलोग वेदको अपौरुषेय मानकर उसे पुरुषाश्रित भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटव आदि दोषोंसे शून्य अतएव परम प्रमाण मानते हैं। शास्त्रोक्त धर्म, कर्म, मर्यादाओंका विरोध करके यत्किञ्चित् लाभ हो भी जाय, तो भी वह स्थायी नहीं होता। नीतितत्त्वके मनीषियोंका कहना है कि अतिक्लेशसे, शत्रुप्रणिपातसे, धर्मोल्लङ्घनसे जो अर्थ प्राप्त होता है, उसकी ओर ध्यान

कभी भी न देना चाहिये। जिस अर्थसे धर्म-अर्थकी वृद्धि होती हो, वही धर्मानुबन्ध, अर्थानुबन्ध अर्थ ग्राह्य है। जिस अर्थके आनेपर धर्म और अर्थको अन्तमें या प्रारम्भमें किसी तरह भी हानि पहुँचती है, वह अधर्मानुबन्ध, अनर्थानुबन्ध होनेसे अग्राह्य है। कहा जाता है कि मृत्यु और परलोककी चिन्तामें व्यस्त प्राणी किसी तरहकी उन्नति नहीं कर सकता, परन्तु आर्ष इतिहासोंको पढ़नेसे पता चलता है कि जब धार्मिकताका प्रसार था, तब संसारमें सर्वत्र शान्तिका साम्राज्य था, आज मौत और परलोकको भूल जानेसे ही बर्बरताका साम्राज्य है। प्राणी अपने क्षुद्र स्वार्थमें प्रमत्त होकर अहिंसा, सत्य, दया एवं मानवताका गला घोंटनेमें कुछ भी सङ्कोच नहीं करता। उन्हीं बाह्य भावनाओंका सञ्चार भारतमें भी जोरोंसे हो रहा है। भारत सम्पूर्ण विश्वका हृदय है। हृदयकी प्रसन्नतासे सम्पूर्ण शरीर स्वस्थ एवं प्रसन्न रहता है। हृदयकी अस्वस्थतासे सम्पूर्ण देह अस्वस्थ हो जाता है। इस दृष्टिसे जगद्गुरु भारतमें धार्मिकता, आध्यात्मिकताका ठीक-ठीक आदर होनेसे सभी जगह शान्ति हो सकती है। आज भी विभिन्न देशोंके विद्वान् इस सम्बन्धमें भारतका आदर करते हैं। धार्मिकताके बिना किसी भी देशमें केवल बाह्य शासनसे शान्ति एवं सुव्यवस्था नहीं हो सकती।

कोई भी शासक राष्ट्रकी आन्तर-बाह्य सभी हलचलोंको नियन्त्रित नहीं कर सकता, किन्तु धर्म-भावना ही हर समय राष्ट्रको नियन्त्रित रख सकती है। इसीलिये किन्हीं कार्योंमें शासकके भयसे नहीं, किन्तु धर्मके भयसे प्राणी उन्मार्गसे बचता है। इसके अतिरिक्त धर्म-भावनाके कमजोर हो जानेपर नैतिक उत्थान भी असम्भावित या अस्थायी ही होता है। विशेषरूपसे भारतमें आज स्वतन्त्रताका प्रश्न सबसे बड़ा है और वह उचित भी है। जब कीट, पतङ्ग आदि भी स्वतन्त्रता चाहते हैं, तब मनुष्यका वैसा चाहना अनुचित नहीं। परन्तु यह ध्यान रखना भी परमावश्यक है कि स्वतन्त्रताके मार्गसे ही स्वतन्त्रता-प्राप्तिका प्रयत्न उचित है। कोई भी बालक, जो स्वतन्त्रतापूर्वक सुखमय जीवन बिताना चाहे, उसे चाहिये कि वह माता-पिता तथा गुरुओंके परतन्त्र रहकर विद्वान्, बलवान् बननेका प्रयत्न करे। यदि ऐसा न करे, तो उसे स्वतन्त्रता मिल नहीं सकती, अपितु वह परतन्त्रताके बन्धनोंमें अधिक जकड़ उठेगा। ऐसे ही सङ्घटनके लिये भी स्वतन्त्रताको सीमित करना पड़ता है। व्यक्तिको समाजहितके लिये, समाजको राष्ट्रहितके लिये, राष्ट्रको विश्व-हितके लिये अपनी स्वतन्त्रताको सीमित रखना पड़ता है। किसी भी कुटुम्बको कुटुम्बपतिके पराधीन होना पड़ता है, किसी भी सेनाको सेनापतिके पराधीन होना पड़ता है, किसी भी राष्ट्रको शासन-समितिकी पराधीनता स्वीकार करनी पड़ती है। उचित परतन्त्रता या नियन्त्रण ही सच्ची स्वतन्त्रताका कारण हो सकता है और अनुचित स्वतन्त्रता परतन्त्रताका मूल है, अतएव वह स्वच्छन्दता ही कहलाती है। सामाजिक, धार्मिक नियमोंके परतन्त्र रहकर प्रयत्नशील प्राणी लौकिक बन्धनोंको तोड़कर, साथ ही जन्म-मरणके बन्धनोंको भी तोड़कर भगवत्प्राप्तिरूप परम स्वतन्त्रताको प्राप्त कर लेता है, जो कि सच्ची स्वतन्त्रता है। अतः अपनी सभ्यता, संस्कृति, धर्म-कर्म-मर्यादाका शास्त्रानुसार पालन करते हुए लौकिक स्वतन्त्रताका प्रयत्न ही सार्थक हो सकता है, सभ्यता, संस्कृति एवं धर्म-कर्मको सुरक्षित रखते हुए ही स्वतन्त्र होना महत्त्वपूर्ण है। एतदर्थ समाज एवं राष्ट्रको बुद्धिमान्, बलवान् और सङ्घटित करना परमावश्यक है।

शास्त्रानुसार सच्छिक्षासे सद्बुद्धि, सदिच्छा और सत्प्रयत्नसे पूर्ण सफलता प्राप्त हो सकती है। अतः सबसे पहले शिक्षाको शास्त्रानुसारिणी बनानेका प्रयत्न अपेक्षित है। वर्तमान शिक्षा-प्रणाली किसी तरहसे भी हमारी सभ्यताके अनुकूल नहीं है। स्कूलों, कालेजों एवं युनिवर्सिटियोंकी कुशिक्षाका ही प्रभाव है कि आज भारतीय युवक विदेशियों-जैसे बन गये हैं, अपने आर्ष इतिहासका अनादर करके अपने पूर्वजोंका भारतके बाहरसे आना मानते हैं, अपने ही शास्त्रों, तदुक्त धर्मों तथा तदनुयायी पूर्वजोंको असभ्यताका प्रतीक मानते हैं। संस्कृत-शिक्षापर भी दूषित परीक्षाप्रणालीका प्रभाव पड़ा है। पूर्वजोंने शिक्षाको शासनके हाथ इसीलिये नहीं दिया कि दुर्दैववश शासनके बदल जानेपर भी उसका प्रभाव शिक्षापर न पड़े, जिससे अपनी संस्कृतिको आँच न आये। प्रथम सदाचारों, सद्धर्मोंकी शिक्षाके साथ वेद-वेदाङ्गादि शास्त्रोंकी शिक्षा होनी चाहिये। कुछ प्रौढ़ अवस्था होनेपर नीतिशास्त्र, समाजशास्त्रके साथ-साथ विभिन्न परिस्थितिका भी ज्ञान कराया जाय। प्रारम्भमें शास्त्र एवं तदुक्त धर्ममें निष्ठा हो जानेपर किसी भी बाह्य विकृत वातावरणका प्रभाव न पड़ेगा। इस तरह राष्ट्रके बौद्धबल बढ़ानेके साथ व्यायाम आदिका प्रसार करके शारीरिक बल भी बढ़ानेका प्रयत्न होना आवश्यक है। शास्त्र और परिस्थितिका ठीक

ज्ञान होनेसे सङ्घटनके अनुकूल परस्पर सहानुभूति और सामञ्जस्यकी भावना अपने आप बढ़ सकती है। बुद्धिमान्, बलवान्, सङ्घटित राष्ट्र किसी परिस्थितिकी कठिनाइयोंको पार कर सकता है।

वैसे तो प्राणिमात्र परमेश्वरके अंश होनेसे परमार्थतः समान हैं, सभीका सङ्घटन, सामञ्जस्य अनायास साध्य हो सकता है, तथापि विश्व-सङ्घटनके पूर्व राष्ट्रिय सङ्घटन तथा सामाजिक सङ्घटन अपेक्षित है। उससे भी पहले कुटुम्बका सङ्घटन अपेक्षित है। अतः कुटुम्ब, समाज, सबका सङ्घटन अपेक्षित है। इस दृष्टिसे पारिवारिक सङ्घटनके साथ हिंदू-समाजका सङ्घटन परम अपेक्षित है।

बलवान्, बुद्धिमान् बननेके लिये सदाचारी, धर्मात्मा और धनवान् होना परमावश्यक है। गो-धन हमारे यहाँ सबसे बड़ा धन था। गो-पालनसे वैदिक-लौकिक सभी कर्मोंमें सुविधा होती थी। गो-पालनमें महान् पुण्यके साथ अनेक पापों, रोगों, उपद्रवोंकी निवृत्ति अकस्मात् ही हो जाती है। गो-पालनके लिये गोचरभूमि एवं गोशालाओंके प्रबन्धके साथ-साथ प्रत्येक कुटुम्बको धर्मबुद्धिसे गोपालनका प्रयत्न करना चाहिये। जैसे वृद्ध माँ-बापकी अहैतुकी भक्ति की जाती है, वैसे ही पुण्य समझकर गौकी सेवा करनी चाहिये। गो-पालनसे पवित्र खादद्वारा खेतीमें भी बड़े लाभकी आशा की जा सकती है। गो-धनकी कमीसे ही अन्नोंकी उपज कम होती जाती है।

लोग खेती छोड़कर नौकरीके लिये मारे-मारे फिरते हैं। पढ़ते समयसे ही युवकोंको नौकर बननेकी भावना होने लग जाती है, लड़कियाँ भी नौकरानी बननेकी लालसामें घरकी रानी होनेके गौरवको भूल जाती हैं। संसारमें जाल, फरेब और सङ्घर्षकी मात्रा बढ़ती है। हर एक व्यक्ति, हर एक समाज या राष्ट्र थोड़े परिश्रमसे किसी भी रास्तेसे अधिकाधिक दाम, आराम चाहता है, परिश्रम नहीं करना चाहता। इससे श्रमिकवर्ग उपेक्षणीय एवं निर्धन हो जाता है और दूसरा वर्ग धनवान् एवं आदरणीय होकर सङ्घर्षका सृजन करता है। इसीसे श्रेणी-सङ्घर्ष होता है। इतना ही नहीं, कल-कारखानोंकी सृष्टिके कारण ही संसारका धन सिमिटकर मुट्ठीभर व्यक्तियोंके हाथमें आ जाता है। इतना ही नहीं, कारखानोंसे उत्पन्न अधिक मालकी खपतके लिये दूसरे देशोंकी अपेक्षा होती है। माल पहुँचानेके लिये कोयले, पेट्रोलकी आवश्यकता होती है। इसीके लिये अन्तमें सङ्ग्राम चल पड़ता है। इन सम्पूर्ण सङ्घर्षोंके दूर करनेके लिये ही हिंदू-शास्त्रोंने वर्णव्यवस्था निश्चित की है, महायन्त्रोंके निर्माणका निषेध किया है, इससे सबको ही काम, दाम, आराम प्राप्त करनेका अवसर मिलेगा। अतः आज परमावश्यकता है कि एक वर्ण दूसरे वर्णकी जीविकाको ग्रहण न करे। आज अन्त्यजों, शूद्रों तथा और भी गरीबोंके सबसे उत्तम उद्धारका प्रकार यही है कि उनकी जीविकाओंका अपहरण न किया जाय। यदि चमड़ोंका व्यापार चमारोंको दे दिया जाय, तो उन्हें खाने-पीने, कुओं, औषधालयोंकी कमी नहीं हो सकती, उनको अपने उद्धारके लिये दूसरोंका मुहताज न होना पड़ेगा। इसी तरह यदि सफाई-विभागका सारा काम मेहतरोंको ही अर्पित किया जाय, तो उनकी भी सब शिकायतें दूर हो सकती हैं। नाइयों, धोबियों, तेलियों, लोहारों, बढ़इयोंको उनका काम दे दिया, तो वे सब सुखी एवं शान्त हो सकते हैं। परन्तु आज तो ब्राह्मणों एवं वैश्योंने 'शर्मा शू फैक्टरी', 'वर्मा वाशिङ्ग कम्पनी', 'गुप्ता ऑयल मिल्स' द्वारा चमड़ोंका, कपड़ा धोने आदिका व्यापार ले लिया है। इस तरह जब एकको दूसरेके व्यवसायकी आवश्यकता ही नहीं, तब सङ्घटन कैसा और फिर कैसा दलितोंका उद्धार? कुछ लोग कहते हैं कि वर्णव्यवस्थासे ही देशका पतन हुआ, क्योंकि एक विषयका पण्डित एकहीमें रह जाता है, दूसरेसे उसको परिचय ही नहीं रहता। परन्तु उन्हें यह भी ध्यान देना चाहिये कि सब ओर दौड़नेवाला व्यक्ति किसी भी विषयका यथार्थ ज्ञानवान् नहीं होगा। अव्यवस्थासे सङ्घर्ष स्पष्ट ही है। कुछ लोग वर्णव्यवस्थाको परमावश्यक बतलाते हुए भी उसे 'जन्मना' न मानकर केवल 'कर्मणा' मानते हैं, साथ ही शास्त्रके आधारपर उसे सिद्ध भी करना चाहते हैं। इसका सरल उत्तर यही है कि जन्मसे कर्मकी व्यवस्था न माननेपर कर्मके अनुसार वर्णव्यवस्था व्यवस्था ही नहीं, क्योंकि कर्मोंका नियामक कुछ भी न रहेगा। यदि गुण और स्वभावके अनुसार कर्मका निर्णय मानें, तो भी सङ्गत नहीं; क्योंकि दुःसङ्ग, सत्सङ्ग आदिके कारण गुणों एवं स्वभावोंमें अदल-बदल होता रहता है। कोई प्राणी कभी तपस्वी एवं सदाचारी रहता है, तो कभी वही दुराचारी हो जाता है। इसके अतिरिक्त कर्मोंके बदलनेपर वर्ण भी बदलता रहेगा, तो अपने आप कोई भी अपकृष्ट कर्मोंमें प्रवृत्त होना न चाहेगा। शास्त्रोंमें वर्णोंको उद्दिष्ट करके

कर्मोंका विधान किया गया है, कर्मोंको उद्दिष्ट करके वर्णोंका विधान कहीं भी नहीं मिलता। वर्णव्यवस्था 'जन्मना' ही समुचित है। अतः वर्णके अनुसार अपनी-अपनी जीविकासे ही निर्वाह करनेका आग्रह होना चाहिये, इससे बहुत समस्याएँ हल हो जायँगी।

पाकिस्तानका मूल है आर्योंका भारतके बाहरसे आनेका इतिहास। वह सर्वथा असङ्गत है। वेदों, आर्ष इतिहासों, आर्योंकी अनादि, पवित्र तीर्थसत्ताओंसे भारत आर्योंका अनादिसिद्ध देश है। परन्तु, इस योजनाको दूर करनेके लिये प्रस्तावमात्र पर्याप्त नहीं है। प्रथम शिक्षाको शास्त्रीय एवं वास्तविक बनाकर ऐतिहासिक भ्रमको दूर करना, समाजको सङ्घटित और बलवान् बनाना ही मुख्य उपाय है। निर्बलता भी मनुष्यका एक अपराध है, उसे अपना स्वत्व एवं न्याय न मिलनेमें उसकी निर्बलता ही कारण है। सामान्य रूपसे स्वत्व या न्याय निर्बलको माँगनेसे भी नहीं मिलता, बलवान् होनेपर क्या सर्वस्वापहारी, क्या अर्धापहारी, सब-के-सब स्वयं आपका चरणचुम्बन करते हुए आपको अर्पण करके अपने देश चले जायँगे।

वर्तमान स्थितिमें असेम्बलीमें 'अप्रदत्त उत्तराधिकार बिल' भी विशेषरूपसे विचारणीय है। प्रथम शासकोंकी बुद्धिमानीसे धर्मपर आक्षेप नहीं किया जाता था, परन्तु कुछ दिनोंसे सुधारकोंके प्रभावसे प्रभावित होकर शासकोंने तटस्थताकी नीतिको छोड़कर धर्मपर हस्तक्षेप करना प्रारम्भ कर दिया है। धर्मकी व्यवस्था किसीके भी द्वारा, चाहे वह कितना ही बुद्धिमान् हो, बनायी नहीं जाती, किन्तु अपौरुषेय वेद एवं तदनुकूल आर्ष ग्रन्थोंके आधारपर केवल जानकर काममें लायी जाती है। मर्मज्ञ आचार्य एवं विद्वन्मण्डल शास्त्रानुसार उसका निर्देशमात्र करते हैं। अतः शासकोंको समझा देना चाहिये कि यह आपकी अनधिकार चेष्टा है, इतना ही नहीं, हानिकारक भी है। जो शासक या नेता शास्त्रों एवं धर्मोंपर आक्रमण करता है, उसका मङ्गल नहीं होता।

इन सब उपद्रवोंको दूर करनेके लिये बहुत-से विद्यालयों, पत्र-पत्रिकाओं तथा सदाचारी निःस्पृह उपदेशकोंके द्वारा शास्त्रानुकूल वातावरण बनानेकी परमावश्यकता है। यह खेदका विषय है कि पुरातन सनातन सिद्धान्तका अनुसारी एक भी दैनिक-पत्र नहीं है। सर्वत्र रामायण, महाभारत एवं पुराणोंके मर्मज्ञ विद्वानोंद्वारा कथा होनी चाहिये। सन्ध्या, संस्कार आदिका भूरि-भूरि प्रचार होना चाहिये। प्रमादके कारण आज कितने ही त्रैवर्णिक संस्कारशून्य हैं, केवल उपनयन-संस्कार नाममात्रके लिये होता है। सन्ध्याकी स्थिति भी शोचनीय है, विद्वानोंमें भी सन्ध्यासम्बन्धी प्रमाद देखा जाता है। इसके लिये आचार्यों एवं पुरोहितोंको प्रोत्साहित करना चाहिये। उनके पढ़ने-पढ़ानेकी ठीक व्यवस्था होनी चाहिये।

हमें उपर्युक्त योजनाओंको सफल बनानेके लिये आदि, अन्त, मध्यमें हर क्षण परमेश्वरका ध्यान, भगवान्‌की प्रार्थनाका सहारा रखना चाहिये। जब प्राणीका अपना बल काम नहीं देता, तब परमेश्वर ही उसका सहारा रह जाता है। आज परमावश्यकता इस बातकी है कि सभी सम्प्रदायाचार्य, सभी आस्तिक संस्थाएँ, सभी विद्वान् सङ्घटित होकर परमेश्वरकी प्रार्थनापर जोर देते हुए यज्ञ, तप, दान, संस्कार तथा शिक्षाका प्रसार करते हुए देशको बुद्धिमान्, बलवान्, सङ्घटित करके अपना ही कल्याण नहीं, विश्वकल्याणके लिये अग्रसर हों।

(अखिल भारतवर्षीय धर्मसङ्घके तृतीयाधिवेशनके अध्यक्षपदसे दिये भाषणका सारांश)

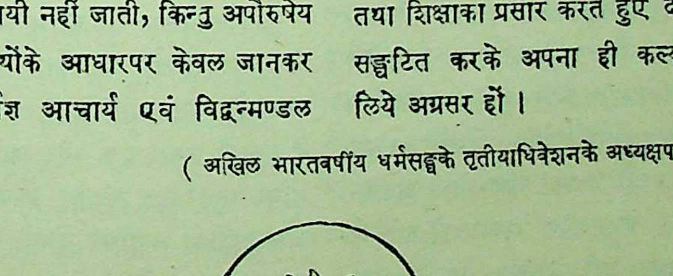

विचार-धारा

(लेखक—स्वामीजी श्रीशङ्करतीर्थ यतिजी महाराज)

[पूर्वप्रकाशितसे आगे]

सच्चिदानन्दस्वरूप आत्माके सर्वत्र अनुस्यूत होनेके कारण आत्माका अत्यन्ताभाव असम्भव है; क्योंकि द्वैत-वस्तु सत् अधिष्ठानके साथ तादात्म्यसे युक्त होकर ही असत् सिद्ध होती है; आत्मा अभावका प्रतियोगी नहीं है। देह, इन्द्रियादि ही अभावके प्रतियोगी हैं। अतएव देह, इन्द्रिय आदि आत्मा नहीं हैं। परन्तु स्वप्रकाश बोधस्वरूप आत्माके अद्वैत होते हुए भी अनादि, अनिर्वचनीय अविद्याके द्वारा कल्पित होनेके कारण देह-इन्द्रियादि अनिर्वचनीय हैं।

'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।' मायाको प्रकृति जानना चाहिये और मायावीको महेश्वर। 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।' परमेश्वर मायाके द्वारा विविध रूपोंमें ज्ञात होते हैं। 'अनृतेन हि प्रत्यूढाः, नीहारेण प्रावृता, भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः।' 'जीवगण मिथ्याभूत मायाके द्वारा उसी प्रकार ढके हैं, जिस प्रकार कुहरेके द्वारा पृथ्वी ढकी होती है, और तत्त्वज्ञानके होनेपर विश्वमाया निवृत्त हो जाती है।' इत्यादि श्रुतिके द्वारा अनिर्वाच्य, मिथ्या, तत्त्वज्ञानके द्वारा नाश होनेवाली माया और अविद्यारूप अज्ञान ही अपने और दूसरेके अध्यासका कारण है। आवरण और विक्षेपरूप कार्यके प्रवाहरूपसे अनादि होनेसे इनके कारण अज्ञानको भी अनादि स्वीकार करना पड़ता है। उत्पत्तिमें अनादित्व हेतु जिस प्रकार अन्योन्याश्रय-दोषसे दूषित नहीं होता, उसी प्रकार ज्ञप्ति अर्थात् ज्ञानमें भी दोष नहीं होता है, क्योंकि स्वप्रकाश आत्मा ही ज्ञान-स्वरूप है। परस्पराध्यास-का हेतु चिद् भी अचिद्-ग्रन्थिरूपमें अध्यास होता है। दोनोंमें एकका अध्यास स्वीकार करनेसे दूसरेकी अप्रतीति होती अर्थात् वह भ्रमका विषय ही नहीं होता। भ्रममें अध्यस्त वस्तुकी ही प्रतीति होती है। और समस्त बाधाओंकी अवधि-रूप चैतन्यको शेष रखकर पारस्परिक अध्यासको स्वीकार करनेसे शून्यवादकी आशङ्का नहीं रहती; क्योंकि जहाँ अध्यास होता है, वहीं सत्य और मिथ्याका भास होता है। अतएव पूर्व-पूर्व अध्यास पर-पर अहङ्कारादि अध्यासके कारण बनते हैं। यह अध्यास बीजाङ्कुरन्यायके समान अनादि है।

इस प्रकार अध्यासके सिद्ध होनेपर ही एक आत्माकी जीव और ईश्वरादि व्यवस्था तथा प्रमाण-प्रमेयादि प्रति-कर्मोंकी व्यवस्था संगत होती है। वार्तिककार कहते हैं कि अज्ञानरूप उपाधिविशिष्ट आत्मा अज्ञानके साथ तादात्म्यापन्न होकर अपने चिदाभासके साथ अविवेकके वश होकर अन्तर्यामी, साक्षी, जगत्-कारण कहलाता है; और बुद्धिरूप उपाधिविशिष्ट आत्मा बुद्धिके साथ तादात्म्य प्राप्त करके अपने चिदाभासके साथ अविवेकके वश जीव, कर्त्ता, भोक्ता और प्रमाता कहलाता है।

संक्षेप शारीरककार कहते हैं कि प्रत्येक देहमें बुद्धिकी भिन्नताके कारण बुद्धिस्थ चिदाभासमें भेद होनेसे चैतन्य भी भिन्नवत् प्रतीत होता है। परन्तु अज्ञान सब शरीरोंमें एक है। अतएव अज्ञानस्थ चिदाभासमें भेद न होनेके कारण अज्ञानके साथ तादात्म्यको प्राप्त साक्षी-चैतन्यमें कभी भी भेदकी प्रतीति नहीं होती।

अज्ञानके नानात्वके कारण जीवका भी नानात्व स्वीकार किया जाता है। प्रतिजीवके भेदसे प्रपञ्चका भी भेद स्वीकार किया जाता है; क्योंकि जीव ही अपने-अपने अज्ञानरूप उपाधिके कारण जगत्का उपादान बनता है। ईश्वर ही प्रपञ्चसहित जीवाश्रित अविद्याका अधिष्ठान है, अतः उसमें कारणत्वका आरोप किया जाता है, अर्थात् ईश्वरको जगत्का कारण कहा जाता है—इसीका नाम अवच्छेदवाद है।

जिस प्रकार एक ही आकाश घट और मठके उपाधियोग-से घटाकाश और मठाकाश नामसे पुकारा जाता है; परन्तु घट और मठ उपाधिके न रहनेपर एक महाकाश ही कहलाता है। उसी प्रकार एक और अद्वितीय तत्त्व 'माया' उपाधिके योगसे 'तत्' पद अर्थात् ईश्वर नामसे अभिहित होता है, और अविद्या उपाधिके योगसे 'त्वम्' पद अर्थात् जीव नामसे पुकारा जाता है। ईश्वर और जीवकी भिन्नता केवल उपाधिभेदके कारण है। ईश्वरकी समर्थता और जीवकी असमर्थता ही केवल उपाधिके भेदका हेतु है। इन दोनों प्रकारकी उपाधियोंका त्याग कर 'असि' पदके द्वारा 'तत्' और 'त्वम्' पदके योगमें एकतारूप एक अद्वितीय 'ब्रह्म'

सिद्ध होता है। भागत्यागलक्षणाके द्वारा, उपाधिका त्याग करनेपर जीव और ईश्वरके लक्ष्यकी—शुद्ध स्वयंप्रकाशरूप आत्मामें निष्ठाकी उपलब्धिके द्वारा कृतकृत्यता प्राप्त होती है।

वाक्य दो प्रकारके होते हैं--अवान्तर वाक्य और महावाक्य। 'स्वरूपबोधकवाक्यमवान्तरवाक्यम्' अर्थात् आत्माके स्वरूपबोधक वाक्यको अवान्तर वाक्य कहते हैं। यथा 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'। आत्मा सत्स्वरूप, ज्ञानस्वरूप और अनन्तस्वरूप है। 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'--आत्मा विज्ञान और आनन्दस्वरूप है।

'अभेदबोधकं वाक्यं महावाक्यम्'—अर्थात् जीव और ईश्वरके अभेदबोधक वाक्यका नाम महावाक्य है। यथा 'तत्त्वमसि' तत्' (ब्रह्म) 'त्वम्' (तुम जीव) 'असि' (हो)। 'ब्रह्माहमस्मि' 'ब्रह्म' (परमात्मा) 'अहम्' (मैं जीव) 'अस्मि' (हूँ)। 'अयमात्मा ब्रह्म'—'अयम्' (यह अपने अन्तःकरणमें अनुभूत) आत्मा ब्रह्म है। ये समस्त वाक्य जीव और ब्रह्मकी अभेदताके बोधक हैं। इन्हें महावाक्य कहते हैं।

पद या शब्दके विषयमें दो प्रकारसे ज्ञान होता है—शक्तिवृत्तिद्वारा और लक्षणावृत्तिद्वारा।

(१) शक्तिवृत्ति—मालिकने नौकरसे कहा—'घटमानय' घड़ा ला। इस स्थलमें 'घट' शब्दकी शक्ति कम्बुग्रीवादि आकारविशिष्ट पदार्थ-विशेषमें वर्तमान है। नौकर भी 'घट' शब्दका अर्थ जानता है। आज्ञा पाते ही वह एक घड़ा ले आता है। यहाँ शक्तिवृत्तिके द्वारा पदके अर्थका बोध हुआ। शब्दके साथ शब्दार्थके साक्षात् सम्बन्धको शब्दकी 'शक्तिवृत्ति' कहते हैं।

(२) जिस स्थलमें 'शक्तिवृत्ति' के द्वारा पदके अर्थका बोध नहीं होता, वहाँ लक्षणावृत्तिद्वारा पदार्थका बोध होता है। 'शक्यसम्बन्धो हि लक्षणा।' शक्ति (अर्थ) का जो आश्रय है, उसे वाक्य कहते हैं अर्थात् पद जिस अर्थका बोधक होता है, उस अर्थको 'शक्यार्थ' कहते हैं, अर्थात् शक्तिवृत्तिसे उत्पन्न शब्दके वाच्यार्थ या मुख्यार्थको 'शक्यार्थ' कहते हैं। इस शक्यार्थसे सम्बन्धित अर्थको 'लक्षणा' कहते हैं।

मानान्तरविरोधे तु मुख्यार्थस्यापरिग्रहे।
मुख्यार्थेनाविनाभूते प्रतीतिर्लक्षणोच्यते॥

(वाक्यवृत्तिः ४७)

अर्थात् अन्य प्रमाणके साथ विरोध उपस्थित होनेपर तथा मुख्य अर्थका ग्रहण न होनेपर और मुख्य अर्थके साथ अविनाभाव होनेपर (अर्थात् मुख्यार्थके बिना जिसकी सिद्धि न हो ऐसा होनेपर) उस प्रकारकी प्रतीति (प्रवृत्ति) को लक्षणा कहते हैं।

किसीने पूछा—'घोष (ग्वालाका घर) कहाँ है।' उत्तर मिला—'गङ्गायां घोषः'—अर्थात् गङ्गामें घोष है। यहाँ 'शक्तिवृत्ति'द्वारा अर्थ-बोध नहीं होता; क्योंकि 'गङ्गा' शब्दकी शक्ति (वाच्यार्थ, मुख्यार्थ) है देवनदीका जल-प्रवाह। जल-प्रवाहमें घर होना सम्भव नहीं है। यहाँ 'गङ्गा' पदका अर्थ है जल-प्रवाह; और जल-प्रवाहका सम्बन्ध गङ्गातटके साथ है, अतएव 'गङ्गा'का अर्थ 'गङ्गातट' ग्रहण करना होगा। ऐसे स्थलोंमें 'लक्षणाशक्ति' द्वारा अर्थ-बोध होता है। लक्षणावृत्तिसे उत्पन्न अर्थको शब्दका लक्ष्यार्थ कहते हैं।

लक्षणा तीन प्रकारकी होती है—जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा और जहदजहल्लक्षणा। जहदजहल्लक्षणाको भाग-त्याग-लक्षणा भी कहते हैं।

(१) जहल्लक्षणा—'वाच्यार्थं सर्वोपतया परित्यज्य तत्सम्बन्धिन्यर्थान्तरे वृत्तिर्जहल्लक्षणा।'

वाच्यार्थमखिलं त्यक्त्वा वृत्तिः स्याद् या तदन्विते।
गङ्गायां घोष इतिवज्जहती लक्षणा हि सा॥

अर्थात् जिस स्थलमें वाक्यके सम्पूर्ण अर्थको त्यागकर तत्सम्बन्धी अर्थको ग्रहण करना पड़ता है, वहाँ जहल्लक्षणा होती है। जिस प्रकार कोई कहता है कि 'गङ्गायां घोषः अस्ति' अर्थात् गङ्गामें अहीरोंके घर हैं। यहाँ 'गङ्गा' पदका अर्थ 'देवनदीका प्रवाह' है— और इस वाच्यार्थको पूर्णतः त्यागकर इसके साथ सम्बन्धित 'गङ्गा-तट' को ग्रहण करना होगा—तभी इस पदका यथार्थ अर्थ प्राप्त होगा। 'जहद्' शब्दका अर्थ है त्याग करना। यहाँ वाच्यार्थका त्याग किया गया है, अतः इसे जहती लक्षणा कहते हैं।

(२) अजहल्लक्षणा—'वाच्यार्थापरित्यागेन तत्सम्बन्धिन्यर्थान्तरे वृत्तिरजहल्लक्षणा।'

वाच्यार्थमपरित्यज्य वृत्तिरन्यार्थके तु या।
कथितेयमजहती शोणोऽयं धावतीतिवत्॥

अर्थात् जिस स्थलमें वाच्यार्थका त्याग न करके तत्सम्बन्धी अन्य अर्थको ग्रहण किया जाता है, वहाँ अजहल्लक्षणा होती है। जैसे कोई कहता है—'शोणोऽयं धावति।' यहाँ 'शोण' शब्दका वाच्यार्थ लाल रंग या गुण है। परन्तु गुण कहीं दौड़ नहीं सकता, गुणमें क्रिया नहीं रहती। अतएव इसका अर्थ, 'लाल रंगका घोड़ा दौड़ता है' मानना पड़ेगा। यहाँ 'लाल रंग' इस वाच्यार्थका त्याग न करके तत्सम्बन्धी अन्य अर्थ घोड़ा भी ग्रहण किया गया।

(३)जहदजहल्लक्षणा––(भागत्यागलक्षणा)'वाच्यार्थैकदेशपरित्यागेनैकदेशवृत्तिर्जहदजहल्लक्षणा।'

वाच्यार्थस्यैकदेशं च परित्यज्यैकदेशकम्।
या बोधयति सा ज्ञेया तृतीया भागलक्षणा॥

अर्थात् जिस स्थलमें वाच्यार्थका कोई विरोधी अंश त्यागकर तत्सम्बन्धी अविरोधी अंश-विशेषको ग्रहण करते हैं, वहाँ जहदजहल्लक्षणा होती है। जैसे, एक समय शिवराम नामक एक ब्राह्मणने काशी-यात्रा की थी। संयोगवश काशीधाममें काशीराजके साथ उनकी मित्रता हुई तथा राजाके आग्रहसे दो वर्षतक उन्होंने काशी-वास किया। फिर अनेकों तीर्थोंमें भ्रमण करके वे अपने घर लौट आये। इसके कई वर्ष बाद तीव्र वैराग्यवश उपर्युक्त काशीराज अपनी गद्दी और राज्यका त्याग करके साधु-वेषमें तीर्थाटनके लिये निकले। घूमते-घूमते दैवसंयोगसे वे शिवरामके ग्राम आ पहुँचे। वहाँ रात्रि व्यतीत करनेके विचारसे ग्रामस्थ देवमन्दिरमें उन्होंने आसन लगाया। शिवरामने देवदर्शनके लिये मन्दिरमें जाकर राजाको देखकर विचार करना शुरू किया––'काशीधाममें जिस राजाको मैंने देखा था, उन्हींके समान ये साधु दीख पड़ते हैं। दूसरे ही क्षण शिवरामको सन्देह उत्पन्न हुआ कि वे काशीराज तो बड़े ऐश्वर्य और प्रभावशाली थे, दुष्टोंका दमन और शिष्टोंका पालन करनेवाले थे, योग्य पुरुषोंका सत्कार करनेवाले थे, स्वतन्त्र पुरुष थे और काशी-वासी थे; और यह व्यक्ति तो उन सब लक्षणोंसे रहित है, असमर्थ और भिक्षुक है, यह सर्व प्रकार पराधीन जान पड़ता है, यह काशीराज कैसे हो सकता है? इस प्रकार सन्देह होनेपर शिवराम बार-बार राजाको देखने लगे। देखते-देखते मित्र काशीराजके शरीरके समस्त लक्षण उक्त विरक्त पुरुषके शरीरमें पाने लगे। तब शिवरामके मनमें कुछ विश्वास होने लगा कि हो सकता है कि ये वही काशीराज ही हों। फिर शिवराम उक्त वैराग्यवान् साधुके साथ बातचीत करने लगे। और बातचीतमें उन्हें जान लिया कि ये काशीराज ही हैं। फिर काशीधामसे आये हुए कई अन्य लोगोंके मुँहसे भी काशीराजके वैराग्य और राज्य-त्यागकी बात सुनकर शिवरामने निश्चय किया कि जिस काशीराजको मैंने काशीधाममें देखा था, ये विरक्त पुरुष वही हैं। तात्पर्य यह कि काशीधाममें देखे हुए काशीराजके वैभव और सामर्थ्यादिके साथ वर्तमान वैराग्यवान् पुरुषके साधु-वेष और असमर्थताकी तुलना नहीं हो सकती। परन्तु पूर्वदृष्ट देश, काल और अवस्थादि तथा वर्तमान देश, काल और अवस्थादिका परित्याग कर काशीधाममें दृष्ट राजाके शरीरमात्रको उस समय दृष्ट विरक्त पुरुषके शरीरमात्रके साथ तुलना करके शिवरामने काशीराजको पहचाना था। इस प्रकार विरोधी अंशका परित्याग कर अविरोधी अंशके ग्रहण करनेको 'जहदजहल्लक्षणा' कहते हैं।

'तत्त्वमसि' इस महावाक्यमें तीन पद हैं—तत्, त्वम्, असि। 'तत्' पदका वाच्यार्थ[*] सर्वज्ञत्वादि गुणयुक्त ईश्वर

---

[*] मायोपाधिर्जगद्योनिः सर्वज्ञत्वादिलक्षणः।
पारोक्ष्यशबलः सत्याद्यात्मकस्तत्पदाभिधः॥
(वाक्यवृत्तिः ४९)

माया जिसकी उपाधि है, जो जगत्‌का कारण है, सर्वज्ञत्व आदि जिसके लक्षण हैं, जो परोक्षत्वमिश्रित, सच्चिदानन्दस्वरूप है। वही तत्पदका वाच्यार्थ है।

देहेन्द्रियादिधर्मान् यः स्वात्मन्यारोपयन्मृषा।
कर्त्तृत्वाद्यभिमानी च वाच्यार्थस्त्वंपदस्य सः॥
(तत्त्वोपदेशः २३)

जो मिथ्याभूत देह, इन्द्रियादिके धर्मोंको आत्मामें आरोपित करके कर्त्तृत्व-भोक्तृत्व आदिका अभिमानी होता है, वही 'त्वम्' पदका वाच्यार्थ है।

वेदान्तवाक्यसंवेद्यं विश्वातीताक्षराद्वयम्।
विशुद्धं यत्स्वसंवेद्यं लक्ष्यार्थस्तत्पदस्य सः॥
(तत्त्वोपदेशः २५)

जो एकमात्र वेदान्त-वाक्यके द्वारा ज्ञेय है, जो विश्वसे अतीत, अविनाशी, अद्वितीय और विशुद्ध है, जो स्वयंप्रकाश है, वही तत्पदका लक्ष्यार्थ है।

चेतन है। 'त्वम्' पदका वाच्यार्थ अल्पज्ञत्वादि धर्मयुक्त जीव चेतन है। 'तत्' पद और 'त्वम्' पदके दो वाच्यार्थोंकी एकता नहीं हो सकती, क्योंकि ये वाच्यार्थ एक दूसरेके विरोधी हैं। परन्तु 'तत्' और 'त्वम्' पदके लक्ष्यार्थकी (जो गुणरहित केवल चैतन्यस्वरूप है) एकतामें कोई भी विरोध नहीं है। यह एकत्व या अभिन्नता जहदजहल्लक्षणाद्वारा सिद्ध होती है। 'तत्' पदके वाच्यार्थके एकदेश सर्वज्ञत्वादि गुणोंका परित्याग कर तथा 'त्वम्' पदके वाच्यार्थके एकदेश अल्पज्ञत्वादि धर्मोंको ग्रहण न करके, उभय पदके लक्ष्यार्थ चैतन्यस्वरूपको ग्रहण करनेसे ईश्वर और जीवकी एकता सिद्ध होती है। कहा भी है—

तत्त्वमस्यादिवाक्यं च तादात्म्यप्रतिपादने।
लक्ष्यौ तत्त्वंपदार्थौ द्वावुपादाय प्रवर्तते॥

(वाक्यवृत्तिः ४२)

अर्थात् 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य जब दोनोंके ऐक्यका प्रतिपादन करते हैं, तब वह ऐक्य 'तत्' और 'त्वम्' इन दोनों पदोंके लक्ष्यार्थको लेकर प्रवृत्त होता है। यहाँ लक्ष्यार्थ होता है—चैतन्य।

कार्यकारणवाच्यांशौ जीवेशौ यौ जहच्च तौ।
अजहच्च तयोर्लक्ष्यौ चिदंशावेकरूपिणौ॥

(सदाचारः २७)

अर्थात् कार्यरूपमें वाच्य जीव और कारणरूपमें वाच्य ईश्वर—इन दोनों अंशोंका परित्याग करके, दोनोंमें एकरूप जो चिदंश है, उसका परित्याग न करके चित्को ही लक्ष्य किया जाता है।

प्रत्यक्त्वादीन् परित्यज्य जीवधर्मांस्त्वमः पदात्॥
सर्वज्ञत्वपरोक्षादीन् परित्यज्य ततः पदात्।
शुद्धं कूटस्थमद्वैतं बोधयत्यादरात् परम्॥

(तत्त्वोपदेशः ४०-४१)

'त्वम्' पदके वाच्यार्थ जीवधर्म प्रत्यक्त्वादिको त्यागकर तथा 'तत्' पदके वाच्यार्थ सर्वज्ञत्व और परोक्षत्वादिको त्यागकर श्रुति आदरपूर्वक केवल शुद्ध, कूटस्थ, अद्वैत वस्तुको समझाती है।

'प्रथमं अवान्तरवाक्येभ्यः अनुभूतयोः शुद्धयोः जीवब्रह्मणोः तत्त्वमस्यादिवाक्ये मुख्यार्थान्वयानुपपत्त्या लक्षणया स्मरणोपपत्तिः।' (सिद्धान्तबिन्दुः १०)

अर्थात् अवान्तर वाक्योंसे (वेदान्त-सम्बन्धी महावाक्यसे भिन्न वाक्योंसे) अर्थात् 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि वाक्यद्वारा शुद्ध ब्रह्म तथा 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृदि अन्तर्ज्योतिः पुरुषः स वा अयमात्मा ब्रह्म' अर्थात् यह जो प्राणोंमें विज्ञानमय, हृदयमें अन्तर्ज्योतिः पुरुष विद्यमान है, वही आत्मा, वही ब्रह्म है। इत्यादि वाक्योंके द्वारा शुद्ध जीवका स्वरूप अनुभूत होनेपर 'तत्त्वमसि' महावाक्यके 'तत्' और 'त्वम्' पदके वाच्यार्थ (मुख्यार्थ) जो विशिष्टस्वरूप ईश्वर और विशिष्टस्वरूप जीव हैं, इस प्रकारके मुख्यार्थको ग्रहण नहीं किया जाता, अतः लक्षणाके द्वारा 'तत्' और 'त्वम्' पदका लक्ष्यार्थ जीव और ब्रह्मके शुद्धस्वरूपका स्मरण ही सङ्गत होता है, अर्थात् लक्षणाके द्वारा उपलब्ध दोनोंके शुद्धस्वरूपका ऐक्यरूप अन्वय ही ग्रहण किया जाता है।

जिस विद्वान् पुरुषने जहदजहल्लक्षणाके द्वारा महावाक्योंका विचार करके जीव और ईश्वरकी अभेदता (एकता) को निश्चय किया है, उनको ही तत्त्वज्ञान प्राप्त हुआ है, वही मुक्त पुरुष हैं।

तत्त्वमोः पदयोरैक्यमेव तत्त्वमसीत्यलम्।
इत्थमैक्यावबोधेन सम्यग् ज्ञानं दृढं नयैः॥

(तत्त्वोपदेशः ४२)

'तत्त्वमसि' यह श्रुति-वाक्य 'तत्' और 'त्वम्' पदके ऐक्यको सम्यक् रूपसे समझाता है। इस प्रकारका ऐक्यज्ञान उत्पन्न होनेपर युक्तिके द्वारा दृढ़ सम्यक् ज्ञान होता है।

श्रुत्याचार्यप्रसादेन दृढो बोधो यदा भवेत्।
निरस्ताशेषसंसारनिदानः पुरुषस्तदा॥

(वाक्यवृत्तिः ५०)

'जब श्रुति और आचार्यके अनुग्रहसे दृढ़ ज्ञान उत्पन्न होता है, तब मनुष्यकी यावत् संसारके कारणस्वरूप अविद्या दूर हो जाती है।'

देहेन्द्रियादिसाक्षी यस्तेभ्यो भाति विलक्षणः।
स्वयं बोधस्वरूपत्वाल्लक्ष्यार्थस्त्वंपदस्य च॥

जो देह, इन्द्रियादिका साक्षी है; देह, इन्द्रियादिसे विलक्षण भावमें (पृथक् भावमें) प्रकाश पाता है, जो स्वयं ज्ञान-स्वरूप है, वही 'त्वम्' पदका लक्ष्यार्थ है।

श्रुतिसिद्धान्तसारोऽयं तथैव त्वं स्वया धिया ।
संविचार्य निदिध्यास्य निजानन्दात्मकं परम् ॥
साक्षात्कृत्वा परिच्छिन्नाद्वैतब्रह्माक्षरं स्वयम् ।
जीवन्नेव विनिर्मुक्तो विश्रान्तः शान्तिमाश्रय ॥

(तत्त्वोपदेशः ८२-८३)

यही है समस्त वेदोंके सिद्धान्तोंका सारभूत तत्त्व । तुम अपनी बुद्धिके द्वारा अपने आनन्दस्वरूप परब्रह्मका सम्यक् विचार और ध्यान करके स्वयं अपरिच्छिन्न, अद्वैत अक्षर ब्रह्मका साक्षात्कार प्राप्त कर जीवन्मुक्त हो जाओ और विश्रामकी प्राप्ति करके शान्तिका अवलम्बन करो ।

महामुनि श्रीअष्टावक्र कहते हैं—

आत्मानमद्वयं कश्चिज्जानाति जगदीश्वरम् ।
यद्वेत्ति तत्स कुरुते न भयं तस्य कुत्रचित् ॥

(४ । ५)

येन दृष्टं परं ब्रह्म सोऽहं ब्रह्मेति चिन्तयेत् ।
किं चिन्तयति निश्चिन्तो द्वितीयं यो न पश्यति ॥

(१८ । १६)

ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञानद्वारा जो अद्वितीय परमात्माको आत्मस्वरूपमें जान सकता है, वह अभयपदमें प्रतिष्ठित होता है, द्वितीयके अभावसे उसे भयका कारण नहीं रह जाता । 'सोऽहं ब्रह्म' इस विचारके द्वारा जो परब्रह्मके दर्शनसे धन्य-धन्य हो जाता है, अपने आत्माके अतिरिक्त और कुछ दर्शन न रहनेके कारण वह निश्चिन्त होकर सुखस्वरूप हो जाता है ।

जिस प्रकार भूखकी निवृत्तिके लिये धानको ढेंकीमें कूटकर, भूसीको अलगकर उसके साररूप चावलको ग्रहण किया जाता है; उसी प्रकार महावाक्यके ईश्वर और जीवबोधक 'तत्' और 'त्वम्' पदसे 'जहदजहल्लक्षणा' द्वारा उपाधिरूप वाच्यार्थका त्याग कर निरुपाधिक लक्ष्यार्थका ग्रहण करनेसे मोक्षरूपी आत्मसुखकी प्राप्ति होती है । भगवान् शङ्कराचार्य कहते हैं—

यस्यैव स्फुरणं सदात्मकमसत्कल्पार्थकं भासते
साक्षात् तत्त्वमसीतिवेदवचसा यो बोधयत्याश्रितान् ।
यत्साक्षात्करणाद् भवेन्न पुनरावृत्तिर्भवाम्भोनिधौ
तस्मै श्रीगुरुमूर्त्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्त्तये ॥

जिसके स्फुरणसे यह जगत् असत् होते हुए भी सत्यवत् प्रकट होता है, जो 'तत्त्वमसि' वेदवाक्यद्वारा प्रतिपादित होता है तथा जिसको साक्षात् करनेपर भवसागरमें पुनरावर्तन नहीं करना पड़ता, उस श्रीदक्षिणामूर्त्ति श्रीगुरुदेवको नमस्कार करता हूँ ।

भर्तृहरिनिर्वेद

(लेखक—पं० श्रीविष्णुदत्तजी शर्मा बी० ए०)

यह निर्णयसागर-प्रेस, बम्बईकी 'काव्यमाला' का ग्रन्थ नं० २९ है, जिसके रचयिता श्रीहरिहरोपाध्याय हैं । इनके पिताका नाम माधव और माताका लक्ष्मीदेवी था—जैसा कि इन्हींके दूसरे ग्रन्थ 'हरिहरसुभाषित' में लिखा है । काव्यमालाके सम्पादकोंने, कदाचित् प्रसिद्धिके आधारपर, इनको मैथिल बतलाया है, परन्तु इनके समयका पता उनको नहीं लगा । कोल्हापुरकी नामशेष, अद्वितीय, संस्कृत मासिक पत्रिका 'संस्कृत चन्द्रिका' के विद्वान् उपसम्पादक स्वर्गवासी अप्पा शर्मा राशिवडेकर विद्यावाचस्पतिने इनको दाक्षिणात्य और इनका समय १५ वीं शताब्दीके पूर्व भागमें अनुमान किया है । यह नाटक ५ अङ्क, ३७ पृष्ठ और ≈)॥ के मूल्यका छोटा-सा है, परन्तु शान्तरसप्रधान, वैराग्यविषयक और सार-ही-सार है; कथा और उसका बन्धन दोनों ऐसे ही रोचक और रचना अक्षर-अक्षर ऐसी मनोहर है कि पाठकके चित्तको मानो कील देते हैं; विशेषकर वैराग्यका ऐसी विलक्षणतासे निरूपण किया है कि अक्षर-अक्षरमें चमत्कार है; और श्लोकोंका तो क्या कहना, वे तो अमूल्य हैं । आज हम पाठकोंका उसीसे मनोविनोद करते हैं ।

शतकत्रयके निर्माता और उज्जैनके राजा प्रसिद्ध भर्तृहरिकी रानी भानुमती ऐसी बीसोंबिस्वे सती थी

कि उसको पतिका पलभर भी आँखोंसे ओट होना यथार्थमें ऐसा असह्य होता था कि वह बड़ी बेचैन हो जाती थी। और जीती भी रहती थी, तो केवल उसके लौट आनेकी आसमें। एक दिन महलके नीचे किसी स्त्रीको पतिके साथ सती होनेके लिये जाते देखकर राजाने स्त्रियोंके पतिप्रेमकी सराहनामें वाह-वाह करते हुए रानीसे कहा कि देखो 'पतिकी विरहाग्निको न सहकर, कैसी चिताग्निपर चढ़ने जा रही है।' रानीने उत्तर दिया कि 'यह क्या पतिप्रेम रहा कि उसी क्षण तो विरहाग्निमें जल न गयी और इतनी देरके बाद चिताग्निमें जलने चली है।' राजाको रानीके इस सच्चे भावपर विश्वास न हुआ और उसने उसकी बातको पाखण्ड समझकर परीक्षा करनेकी ठान ली। वह शिकारको चल दिया और वहाँसे एक पुरुषके हाथ कहला भेजा कि राजाको हिंस्र पशुने मार डाला। यह समाचार रानीके कानोंतक पहुँचना था कि जिस अवस्थामें वह थी उसीमें तुरंत उसके प्राण-पखेरू उड़ गये और दूतके द्वारा समाचारको झूठा बतला दिये जानेपर भी वापस न लौटे।*

राजाने लौटनेपर जब सुना कि रानी सचमुच ही मर गयी, तो अपने कियेपर रोने लगा और उसको महलमें न पानेपर जब पता लगा कि उसकी रथी मसानको चली गयी, तो उधर भागा। कभी उसके गुणगान करता था तो कभी अपनेको धिक्कारता था; कभी रोता-पीटता था तो कभी मूर्च्छित होता था; परन्तु किसीके ढाढ़स देनेपर भी उसको ढाढ़स नहीं होता था। अमात्य देवतिलकके समझानेपर भी राजा न माना और उसने रानीकी दाह-क्रिया करनेसे भी मना कर दिया। इतनेमें एक घटना होती है जिसको, इस नाटकका सर्वस्व होनेसे, हम दृश्यके रूपमें ही देना उचित समझते हैं—

(राजा उन्मत्तावस्थामें आता है)

राजा—हे प्यारी काशिराजपुत्रि! तैंने तो पतिकी मृत्युका समाचारमात्र सुनते ही प्राण छोड़कर तीनों लोकोंमें स्त्रियोंका यश फैला ही दिया। मेरा शरीर ही शोचनीय रहेगा, यदि मैं इसको न छोड़ूँगा; क्योंकि जवान पुरुषोंके अपयशका जो यह नगारा बज गया है—उसका निवारण कैसे होगा?

अब तो मेरे लिये यही एक भली आस रही है कि यदि मैं इसको गोदमें रखकर मर जाऊँ तो इसकी लौसे दूसरे जन्ममें भी यह मुझे मिल जाय।

(बाहर)

हाय मेरी थाली, तू कहाँ गयी! हाय दई, तू कैसा मेरे प्रतिकूल हो गया कि मुझे छोड़, मेरी थालीको तैंने

---

* सतीत्वकी सबसे कठिन कसौटी तो चितामें जलना ही है जिसके ध्यानमात्रसे भी रोमाञ्च होता है, परन्तु सतीत्वके अंशमें ऐसी मृत्युसे भी कुछ न्यूनता नहीं आती, प्रत्युत मनुष्य-हृदयको तो सतियोंकी दूसरीकी अपेक्षा पहली मृत्यु कदापि इष्ट नहीं हो सकती। प्राचीन समयमें तो अगणित सतियाँ होती थीं, परन्तु इस पापयुगमें भी वर्ष-दो वर्षमें कहीं-न-कहीं ऐसे उदाहरण देखने-सुननेमें आ ही जाते हैं। संसारभरमें यह विशेषता आर्य देवियोंकी ही है और यह केवल सनातन वैदिक धर्मकी ही महिमा है। Sri Thomas Munroe कह गये हैं कि 'यह ब्राह्मण अथवा उच्च वर्णोंकी स्त्री है—यह कह देना ही उसके सतीत्वका परम प्रमाण है।' एक फारसीका कवि कह गया है कि 'प्रेमके विषयमें हिंदू स्त्रीके समान कोई पुरुष नहीं होता, क्योंकि बुझे दीपकपर मरनेवाला कोई पतङ्ग नहीं होता।' हालहीमें ता० १८।३।४४ के 'हिन्दुस्तान टाइम्स' में असोशियेटेड प्रेसका एक सतीकी भानुमतीकी-सी मृत्युके विषयमें संवाद छपा है—चक्रधरपुर (उड़ीसा) में डा० ऐस. दे, रिटायर्ड मैडिकल आफिसर ८ मार्चकी रातको शान्त हो गये। उनकी धर्मपत्नी, भरे हृदयसे, बिना आँसू, पास बैठी-बैठी उनके प्राणोंको निकलते हुए देखती रही। फिर चुपचाप उठी, मृत्युशय्याकी ओर चली, पूज्यभावसे सिरसे मृत पतिके पैर छुए और उनकी बगलमें लेट गयी। इतनेमें मृत्यु शान्त नींदकी भाँति उसपर छा गयी। दोनों एक ही रथीमें बड़े जलूसके साथ ले जाये गये और एक ही चितामें जलाये गये। —लेखक

नष्ट कर डाला। (इस प्रकार किसीके बेचैनीसे रोनेकी आवाज आती है ।)

राजा–(सुनकर)—यह तो मेरे-जैसे ही किसी शोकके मारेका आर्त्तविलाप जान पड़ता है । अच्छा, जाकर देखता हूँ (बाहर जाता है और परिजन पीछे लगते हैं) ।

राजा–(देखकर)—यह क्या बात है ? यह योगी तो मिट्टीकी टूटी थालीके शोकमें गिरा जाता है । अस्तु, इसको ढाढ़स देता हूँ ।

(योगी उसी दशामें आता है)

योगी–हाय ! मेरी थाली—इत्यादि पूर्वोक्त बोलकर रोता है ।

राजा–योगी ! धीरज धरो ।

योगी–(उसाँस भरकर)–कैसे धीरज धरूँ ? मेरी तो दूर-दूरके देशोंकी साथिन और अनेक गुण और स्नेहवाली थाली ही टूट गयी ।

राजा–(दयासे)—प्यारी तुच्छ वस्तुके भी नष्ट हो जानेसे किसको शोक नहीं होता ? फिर मेरे-जैसोंकी तो ऐसी आपत्तिमें क्या दशा होनी चाहिये ? तो भी योगीको समझाता हूँ । योगी ! इसके नष्ट हो जानेपर इतना सन्ताप क्यों करते हो ?

योगी–(आँसू भरकर)—तुम निठुर ऐसे क्या कहते हो ? अथवा तुम इसके गुणोंको क्या जानो ?

राजा–इसमें क्या-क्या गुण थे ?

योगी–हाय ! क्या-क्या गिनाऊँ । फिर भी कुछ गिनाता हूँ । मैं इसमें कंडे बटोरता था, आग लाता था, पानी लाता था, भीख लाता था, रखता था, ढकता था, पकाता था, खाता था, पानी पीता था और इसका सिरहाना लगाता था । हाय ! इस प्रकार यह मेरे लिये चिन्तामणि थी ।

राजा–ऐसा ही है । प्यारी वस्तुके गुणोंको कौन गिना सकता है ? स्नेहके कारण सब सुख-साधन उसीमें इकट्ठे हो जाते हैं । तो भी जब उपाय कुछ नहीं हो सकता, तो नष्ट वस्तुपर शोक नहीं करना चाहिये ।

योगी–मुझे अधिक कष्ट तो इस बातका है कि मैंने ही इसकी दृढ़ताकी परीक्षा करनेके लिये इसको गिरा दिया—–जिससे यह टूट गयी ।

राजा–(खेदसे) प्यारी वस्तुके अपने ही हाथों नष्ट कर देनेपर सचमुच सन्तापका अन्त नहीं होता, क्योंकि जिसका कष्टमात्र देखनेपर भी चित्तको मोह हो जाता है उसको हाथसे नष्ट कर देनेपर तो हताश प्राणी क्षणभर भी कैसे जी सकता है ? (आँसू गिराकर धैर्यसे) तो भी योगी ! भगवती भवितव्यता ही प्रिय (अनुकूल) अथवा विप्रिय (प्रतिकूल) वस्तुको बनाने-बिगाड़ने (अथवा मिलाने-बिछुड़ाने) की शक्ति रखती है, मनुष्यका क्या दोष है ?

(योगी अनसुनी करता हुआ, थालीके टुकड़ोंको छातीपर रखकर रोता है)

राजा–योगी ! रोओ मत । मैं तुमको इससे भी उत्तम मिट्टी, चाँदी अथवा सोनेकी थाली दे दूँगा ।

योगी–(कान बंदकर)–ऐसी खोटी बात मुँहसे मत निकालो । सुवर्णादिकी थालीको रहने दीजिये । मिट्टीकी थालीका ही ऐसा, अनर्थमय परिणाम हुआ, तो सुवर्णादिकी थालीका तो कैसा हो । फिर, यदि ऐसी छोटी-सी वस्तु मेरे लिये ऐसी अनर्थकी समुद्र हो गयी—–जो मदरूपी ग्राह, भयरूपी मगर, द्वेषरूपी भँवर और चञ्चलतारूपी तरङ्गोंसे छा रहा है—तो मैं तो इसमें डूबकर बड़ी आपत्तिमें पड़ा । और भी—यह भी तुम झूठ कहते हो कि इससे भी उत्तम थाली दे दूँगा । यह ऐसी छूनेमें चिकनी, आकृतिमें सुन्दर,

गहराई और चौड़ाईमें सुघड़ और बनावटमें दृढ़ थी कि दूसरी ऐसी कैसे हो सकती है ?

राजा–(वैराग्यसे)–गुणोंमें तो इससे भी बढ़-बढ़कर और सैकड़ों वस्तु सहजमें मिल सकती हैं, परन्तु स्नेहके कारण कोई भी वस्तु चित्तकी परम सन्तापकारी हो जाती है ! योगी ! यह वस्तु मुझे बहुत प्यारी है—यह बुद्धि उसकी सुन्दरताके कारण नहीं होती, किन्तु मोहसे ओतप्रोत स्नेहके कारण—जो गुणकी अपेक्षा नहीं करता ।

योगी–अरे मूर्ख ! इससे केवल मेरा स्नेह ही नहीं था, किन्तु मेरे शरीरका पालन-पोषण भी होता था ।

राजा–परन्तु यदि यह पात्र अभी नष्ट नहीं होता तो भी कितने समयतक टिकता ? यदि करोड़ कल्प, सौ कल्प, एक कल्प अथवा आधे कल्प भी यह टिक सकता, तो भी तुम्हारा शोक कुछ योग्य होता, परन्तु दो-तीन दिन टिकनेवाली वस्तुके नष्ट हो जानेपर क्यों शोक करना चाहिये ? शरीरके पालन-पोषण करनेवाली होनेके कारण भी शोक नहीं करना चाहिये; क्योंकि इस शरीरका हित करनेवाली होनेसे जो इन वस्तुओंका वियोग तुम्हारे सन्तापके लिये होता है—यह सब मनका खेल है; क्योंकि जो इस प्रकारकी विपत्तियोंका घर है और जिसकी उत्पत्ति ही दुष्ट है ऐसे इस शरीरसे जो दो-तीन पलके लिये हाथ-पानीका-सा संयोग हो जाता है—यही भ्रम है ।

योगी–तो भी लोग प्रतिकूलको छोड़ अनुकूलके पीछे क्यों लगते हैं ?

राजा–भ्रमसे, देखिये—विचारदृष्टिसे तो अनुकूल और प्रतिकूल विषयोंमें कोई भेद नहीं होता; क्योंकि जैसे पहलेके आनेपर सुख और नष्ट हो जानेपर कष्ट होता है, वैसे उलटे क्रमसे दूसरेके भी आनेपर कष्ट और नष्ट हो जानेपर सुख होता है । इसलिये मोह ही वस्तुको अनुकूल और प्रतिकूल बनाता है ।

योगी–यह मैं भी अच्छी तरह जानता हूँ, तो भी मेरा हृदय ऐसा कष्ट पा रहा है कि उसका कोई उपाय दिखायी नहीं देता ।

राजा–जो तुमको वस्तु-विचार है, तो भी वह तुम्हारा कष्ट दूर नहीं कर सकता, तो उपाय भी क्या है ?

योगी–इसका उपाय मर जाना ही है; क्योंकि जो मैं थालीको हृदयमें रखकर मर जाऊँगा, तो दूसरे जन्ममें भी यह मुझे मिल जायगी ।

राजा–(हँसकर)–संसारका मूल यह महामोह ही है, जिसके ऐसे दुःखमय दुष्ट खेल हैं ।

योगी–(कहकहा मारकर हँसता हुआ)—यह दूसरेको उपदेश देनेमें पण्डिताई दिखलाना ही तो मूर्खका काम है, जैसे अँधेरेमें बैठा हुआ दूसरेको दीपक दिखलावे ।

(राजा सिटपिटाकर नीचा मुँह करके विचारमें पड़ जाता है)

योगी–राजन् ! क्या विचार करते हो ?

राजा–भगवन् ! इसके सिवा और क्या कि आपने मेरे ही वचनोंसे मुझे उपदेश देकर मेरा यह शोक दूर कर दिया ।

योगी–ऐसा ही है । भगवती विन्ध्यवासिनीके दर्शन कर लौटनेपर जो मैंने तुम्हारा यह हाल सुना तो स्वाभाविक दयाभावसे तुमको यह ज्ञान करा दिया ।

राजा–तो मुझे निश्चय होता है कि आप श्रीगोरक्षनाथचरण हैं ।

योगी–ऐसा ही है ।

राजा–भगवन् ! आपने मुझे इस अंधे कुएँ (मोह अथवा संसार) से अच्छा निकाला ।

(पैरों पड़ता है)

(गोरखनाथ उठाते हैं)

राजा–(हाथ जोड़कर)—इससे आगे जो उपदेश देनेका हो उसको गुरु महाराज दें, जिससे फिर मैं ऐसे अनर्थको न पाऊँ ।

गोरक्षनाथ–वाह ! तुम्हारी चित्तभूमिको उत्कट दुःख-प्राप्तिरूप हलने जोत दिया और वस्तु-विवेकरूपी पानीने सींच दिया । इसलिये अब वह विज्ञानरूप बीज बोनेके योग्य हो गयी । सुनो—यह महामोहरूपी घोर अन्धकारकी जन्मभूमि संसार संकल्पसे उत्पन्न हुआ है। इसकी निवृत्ति चाहते हो तो इसकी जड़को उखाड़ दो । देश-कालसे अपरिच्छिन्न, सच्चिद्रूप जो ब्रह्म है वही तत्त्व (सार) है । उसका विचार करोगे तो तुम परमानन्द-पद पाओगे ।

राजा–भगवन् ! जिनका दूसरा नाम आशा है वे संकल्प मैंने छोड़े । अहा ! कलीकी ही अवस्थामें जिनकी सुगन्ध प्रत्येक दिशामें मोह फैला देती है और जिनके फलोंको चखनेसे मनुष्यका पतन हो जाता है, ऐसी जंगली विष-लताओंके समान आशाओंको वहीं तुरंत छोड़ देनेसे मैं तो कृतकृत्य हो गया, मोक्ष तो आगेकी बात है । किन्तु यह तत्त्व-विचार कैसे हो ?

गोरक्षनाथ–मनको विषयोंसे खींचकर शून्यमें लगा दो, तुम अपने-आप स्वप्रकाश आनन्दरूप आत्माको पा जाओगे ।

राजा–तो पासहीके निर्जन उपवनके एक भागमें जाकर उसका चिन्तन करता हूँ ।

(सब निकल गये)

राजा श्रीगोरखनाथकी शिक्षाके अनुसार साधना करने लगा और जब देवतिलक रानीके अग्नि-संस्कारकी आज्ञा लेने आया, तो राजाने यही उत्तर दिया कि 'तुम जानो और तुम्हारा राजकुमार जाने ।' अमात्यने श्रीगोरखनाथको उलाहना दिया कि 'आपने जो बिच्छू-काटेकी चिकित्सा काल-सर्पसे डसाकर की है, यह अच्छा नहीं किया ।' श्रीगोरखनाथने उत्तर दिया कि 'मुझे क्या उलाहना देते हो; तुम्हारी शक्ति हो तो राजाको इस वैराग्यसे हटा लो; मैं भी तुम्हारा साथ दूँगा ।' देवतिलकने राजाको क्रमसे समझाया कि 'आप राज्य, खजाना, पृथ्वी, राजपद और बान्धवोंको कैसे छोड़ते हैं ? शत्रु राज्य न छीन लेंगे ? राज्य-लक्ष्मीसे परलोक-साधन भी सुलभ होता है; जवानीमें जो आपने विषयभोग किये हैं उनकी तृष्णाको बुढ़ापेमें विज्ञान नहीं मिटा सकेगा'—और जैसे-जैसे उसने इन विषयोंके गुण वर्णन किये, वैसे-वैसे राजाने भी एक-एकके ऐसे दोष दिखलाये कि उससे उत्तर न बन पड़ा । श्रीगोरखनाथने देवतिलकके सन्तोष और राजाके वैराग्यकी परीक्षाके लिये, योगबलसे रानीको जिलाकर एकान्तमें राजासे मिला दिया । रानीने—जिसका आगे चलकर देवतिलक भी सहायक हो गया—कभी सहारा चाहनेके मिससे अङ्ग-स्पर्श चाहा, कभी भौंहें चढ़ायीं, कभी मुसकरायी, कभी राजा जनककी तरह घरहीमें विज्ञान-साधनाकी सम्मति दी, कभी उसका कपड़ा और कभी उसके हाथ पकड़े, कभी रोकर पैरों पड़ी, कभी आपसके पुराने भोगविलास स्मरण कराये और अन्तमें मोह उत्पन्न करनेके लिये राजकुमारको ही लाकर खड़ा कर दिया; पुत्रोंको स्वर्ग-सुखका साधन और निर्धनका शरीरभरण भी दुर्घट बतलाया । परन्तु राजा एक-एकमें दोष दिखलाता, मुँह फेरता, अपनेको छुड़ाता और भागता ही रहा और काम, लोभ, मोह—किसीमें न आया, किन्तु संसार, उसके विषय और सुखोंको तुच्छ और ब्रह्मानन्दको ही सब कुछ बतलाता रहा । जब श्रीगोरखनाथने देख लिया और दिखला दिया कि राजा सब मोक्षशाली जीवोंसे बढ़ निकला और अब राज्य

और रानीको अङ्गीकार नहीं कर सकता, तो देवतिलकको कह दिया कि 'राज्यपर राजकुमारको बिठा दो' और रानी विलाप करने लगी तो उससे कह दिया कि 'तेरे पतिके अमृतीकरण (मोक्षलाभ) के समय तेरा उससे मिलाप हो जायगा ।'

यह हमने नाटककी पूरी-पूरी कथा संक्षेपमें दे दी और जिस दृश्यने भर्तृहरिको भोगलिप्सु संसारीसे परम विरक्त मुमुक्षु कर दिया, उसका समग्र अनुवाद दे दिया । सबसे बढ़कर चमत्कार तो भर्तृहरिके वैराग्यविषयक उत्तरोंके श्लोकोंमें है, परन्तु उनका अनुवाद प्रायः सम्पूर्ण नाटकका ही अनुवाद हो जाता, जो अलग पुस्तकमें ही दिया जा सकता है । इसलिये जिनको उनका रस लेना हो वे संस्कृत नाटकमें ही पढ़ें अथवा सुनें ।

दर्शनोल्लास

(रचयिता—काज़ी असरफ महमूद)

ठुमुक ठुमुक पग
कुसुम-कुंज मग
चपल-चरण हरि आये,
हो ! हो ! चपल-चरण हरि आये ;
मेरे प्राण-भुलावन आये,
मेरे नयन-लुभावन आये ।
रिमिक झिमिक झिम
रिमिक झिमिक झिम
नर्तन-पद हरि आये,
हो ! हो ! नर्तन-पद हरि आये ;
मेरे प्राण-भुलावन आये,
मेरे नयन-लुभावन आये ।
कुंज कुंज हर
गीत-गुंज भर
भृंग-रंग हरि आये,
हो ! हो ! भृंग-रंग हरि आये ;
मेरे प्राण-भुलावन आये,
मेरे नयन-लुभावन आये ।
तरुण अरुण सम
चीर तुहिन-तम
तेज-पुंज हरि आये,
हो ! हो ! तेज-पुंज हरि आये ;
मेरे प्राण-भुलावन आये,
मेरे नयन-लुभावन आये ।
सुन्दर सजकर
सौम्य रूप धर
स्वप्न-सदृश हरि आये,
हो ! हो ! स्वप्न-सदृश हरि आये ;
मेरे प्राण-भुलावन आये,
मेरे नयन-लुभावन आये ।
सिर पर सुन्दर
मोर-मुकुट धर
हृदय-हरन हरि आये,
हो ! हो ! हृदय-हरन हरि आये ;
मेरे प्राण-भुलावन आये,
मेरे नयन-लुभावन आये ।
मन्द मधुर स्वर
मुरलि मुखर कर
मर्म-मथन हरि आये,
हो ! हो ! मर्म-मथन हरि आये ;
मेरे प्राण-भुलावन आये,
मेरे नयन-लुभावन आये ।
सकरुण क्रन्दन
सुन ब्रज-नन्दन
बन्धन मोचन आये,
हो ! हो ! बन्धन मोचन आये ;
मेरे प्राण-भुलावन आये,
मेरे नयन-लुभावन आये ।
भव-भय भंजन
भव-मन रंजन
भक्त-भवन हरि आये,
हो ! हो ! भक्त-भवन हरि आये ;
मेरे प्राण-भुलावन आये,
मेरे नयन-लुभावन आये ।

भीख

(लेखक—श्रीवसिष्ठ)

[पूर्वप्रकाशितसे आगे]

[ख]

माता ! मैया !! माँ !!!

माँ ! तुम हो ? माँ होकर कहती हो बेटेसे 'वर माँग' ? चलो, खैर; तुम आयीं तो । मैं जानता था, माँ ! तुम आओगी, जरूर आओगी । बेटे कपूत हो जाते हैं, माता कुमाता नहीं होती । माँ ! तुम्हें वह दिन याद है, जब मैं तुम्हारी कोखमें था ? न घर था न द्वार । न थे वन-उपवन । खेलनेके लिये न कुंज, न गलियाँ और न व्रज । न सखा थे, न चपला सखियाँ । माँ ! क्रीड़ाके लिये न जमुना थी और न हाट-बाजारवाली मथुरा । यह दुनिया-उनिया कुछ नहीं थी, माँ !

युग बीतनेपर मधु-मास आया और मधुवन हरा-भरा हो गया । समीर बहने लगा । गिरि-पर्वत, वृक्ष-लता झूमने लगे । पक्षी कलरव करने लगे । सब झूम-झूमकर गाने लगे 'आई बसंत बहार' माँ ! तुम्हारे मानससे जमुना बह निकली । तब तुमने घोंसला बनाया, घर छाया । मुझे प्रसव करके सूरज-चाँदसे मेरी आरती उतारने लगीं । दिन-रात मेरी देख-भाल ! मेरी टहलमें तुमने क्या नहीं किया । यही कथा तो तुमने मेरे जन्मकी कही थी !

माँ ! तुम्हारा घर गाँव, गाँवसे नगर और फिर दुनिया बन गया । तुम्हारी छातियोंका दूध पीकर मैं बड़ा हुआ । तुम स्नेह-ममताभरी आँखोंमें मुझे लिये फिरती रहीं । मैया ! तुम्हारी ममता, तुम्हारे हित और तुम्हारी टहलको मैं किस तरह तौलूँ ! एक ओर दुनियाको रख देनेपर भी तुम्हारी ममताका पलड़ा नीचा ही रहता है । तुम कटोरे भर-भर दूध पिलाती और मैं गाँव-गोठमें, वन-उपवनमें, अपने सखा-सखियोंके साथ बारहों महीने फाग खेलता । सदा वसन्त बनी रहती । गिरि-पर्वत, नदी-नाले, गङ्गा-जमुना सब पिचकारियाँ भरे खड़े रहते। फूल-पत्तीतक फाग खेलते ।

पर माँ ! अब इस चिन्ताकी राखमें लोटनेकी ही आदत पड़ गयी है । बार-बार कहता हूँ 'मन ! फाग खेल । दुनियामें आनन्द-ही-आनन्द है । सब मङ्गलमय है । मन ! उठ, पिचकारी सँभाल और फाग खेलने लग । तूने फाग खेलना छोड़ दिया है, इसीलिये तेरे हृदयकी बगिया मुरझा रही है, सूख रही है । मन ! तू खेलने लग जा । बस, रंग तेरे ऊपर बरसने लगेगा ! अरे मन ! तेरे पास जो कुछ है, उसे गुलाल बनाकर इन खिलाड़ियोंपर बखेर दे । स्नेह-जलमें घोलकर सबपर उँडेल दे । धन, सम्पत्ति, ज्ञान, बल—जो कुछ है, सबका गुलाल कर डाल । सबपर बखेर, सब कुछ उँडेल दे । झोलीका मुँह खोल दे, जिससे सब संगी-साथी मुट्ठी-भरकर, कुमकुमे भर-भर बाँटें और बखेरें । यदि कुछ नहीं है तो तू खुद ही गुलाल बन जा । खुद रंग बनकर स्नेह-जलमें समा जा और बिखर जा । खुले हाथों लुटा, छाजों भर-भर दे, जो पंसारी होली न खेलकर गुलालके टके कर रहे हैं, उन्हें पकड़कर व्रजमें रंग-शालामें खींच ला । उनके गुलालके तसलोंको रंग-भूमिमें बाँट दे, बखेर दे । वे गाली दें और मारें, पर तू खिलखिलाकर, 'भैया ! भैया !' कहकर उन्हें गुदगुदाये जा । दानकी, लुटानेकी होली खेल तो तेरी सूखी बगिया हरी हो जायगी । यह तो नन्दनवन है, अरे! यह अनन्त वसन्त है । अपनोंकी, गैरोंको अपना करके उनकी भूख मिटाकर जो तृप्ति होती है, वह खुद भोजन करनेसे नहीं होती । तेरी लूटसे, तेरी फागसे पाई-

पाईका हिसाब रखनेवाले, मायापर साँप बनकर फुफकारनेवाले उस पंसारी बनियेकी बगियामें भी अङ्कुर फूट निकलेंगे, जिसे माया-चिन्ताने सुखा दिया है।' पर माँ! यह मन मेरी सुनता ही नहीं। कहता है 'वह जल रही मेरी मायाकी चिता'। अरे! वह चिता नहीं है, सखियाँ रंग पका रही हैं। 'वे पड़ी हैं सखियोंकी लाशें।' अरे! वे लाश नहीं हैं, सखियाँ थककर सो गयी हैं। 'मेरा कान्ह जमुनामें डूब गया।' अरे! वह डूबा नहीं है–कभी डूबता भी नहीं है लालची, लोभी नाग-पंसारीको, उस बनियेको नाथने गया है। वह मायाकी ढेरीपर गुलाल बेच रहा है, फाग नहीं खेलता। पर माँ ? यह मन मेरी सुनता ही नहीं।

अरे! तुम खड़ी हो माँ ? खड़ी कबतक रहोगी। बैठ जाओ, यहीं राखपर। मगर इसमें कुछ हड्डियाँ हैं जो अबतक नहीं जलीं। देखकर बैठना।

क्या कहती हो ? मैं जानता हूँ, जो तुम कहना चाहती हो। और माँ! तुम भी जानती हो, जो मैंने करतूत की है। बातें उनसे छिपायी जाती हैं, जो जानते नहीं। तुम तो सब जानती हो, इसीलिये तो मैं संकोच छोड़कर चिट्ठा खोले बैठा हूँ। और जिनसे अपनी करतूत छिपाकर ऊँचा गिना जाता था या गिना जा सकता था, अब तो उनके सामने भी मैंने लंगोटी निकाल फेंकी है, जिससे मेरी कालिखको सारा संसार देख लें; और कोई तो मुझ अभागेपर करुणाके दो आँसू ढार दे या धिक्कारकी एक लात ही मार दे।

हाँ! तुमने उस दिन शुभ्र-चान्द्र शकुनोंमें, गुरुजनोंकी छत्रछायामें, सखियोंके मङ्गलाचारकी मधुर ध्वनिमें, मायाको मेरे हाथोंमें देकर कहा, 'लाल! यह तुम्हारी भावती है, इसे अपनी गलमाला बनाओ, बेटा! मेरे कुलको बढ़ाओ। मैंने तुम्हें प्रेमकी करुणाका पयदान कराया है। बेटा! उस करुणाकी बूँदको दरिया कर दो। दुनिया पीये और पिलाये।' मेरे हाथोंमें हाथ देकर माया—तो निहाल हो गयी; मगर मैंने उस गलमालाको हृदयमें न रखकर ठोकरोंमें डाल लिया। तुम्हारी बहू, तुम्हारी माया मैं अपने किस मुँहसे कहूँ, माँ! मुझे राहपर लाते-लाते हार गयीं, पर मैं न लौटा। जो मूर्ति पूजाके योग्य थी, जो मोहनी सिंगार और आदरके लिये तुमने मुझे दी थी, मैंने उसे कामुकताकी छुरीसे, कुन्द छुरीसे रेतना शुरू कर दिया।

मैंने तुमसे कहा था माँ! 'मैं तुम्हारे सुखके लिये मायाको घरमें ला रहा हूँ'। पर माँ! मैं इतना निर्लज्ज निकला कि मैंने तुम्हारे सदनको भी छोड़ दिया। छोड़ता भी क्यों नहीं, मुझे तो मधुरी मायाका वध करना था और कुन्द छुरीसे! अपने घरमें तुम ऐसा होने देतीं ? मैं भी अहङ्कारमें समझता था कि मैं मायापर रीझ रहा हूँ, पर माँ! सच बात तो यह है कि मैं मायाके हाड़-मांसपर रीझ रहा था। नहीं, उनपर भी नहीं रीझ रहा था। यदि उनपर ही रीझता तो नित नये सिंगारोंमें उसे सजाया करता। जिससे वह सदैव किशोरी, मनमोहिनी, रूपमाधुरी, छवि-तिलोत्तमा बनी रहे—ऐसी उधेड़-बुनमें लगा रहता। माँ! मैं तो उसका बाल भी बाँका न होने देता। भक्त पुजारीकी तरह उसकी छोटी-से-छोटी देख-भालको अपने जीवनका बड़े-से-बड़ा काम समझता और तुम मेरी तल्लीनतासे गद्गद होकर मेरे सखाओंको स्नेह-करुणा सिखाते हुए कहा करती 'भावतीके वे केश सलौने धूल-सने कर पोंछत भावतो चाह भरयो।'

पूजाकी किन भावनाओंसे कारीगरने मायाकी मूर्ति बनायी! सञ्चय और विकासने जो लुनाई उसमें उत्पन्न की, ब्रह्मचर्य और यौवनने जो ज्योति उसमें प्रकट की, मैं उसे रूप! रूप!! रूप!!! कहकर पीनेको आतुर हो गया। माँ! कलेजा थामकर सुन लो! मैंने तुम्हारी मायाको खा लिया है! तुम्हारी मायाका मांस नोच-

नोचकर खा गया हूँ, रूप पीनेकी ढोंग करके ! मायाका इतना अपमान क्या हो सकता था, यदि वह मेरे पाले न पड़ती ?

कुल-परिवार तो माँ ! प्रेम-स्नेहसे ही फूलते-फलते और बढ़ते हैं । प्रीतिसे, चावसे ही बालकोंकी रँग-रेलियाँ मिलती हैं, सँवार—सिंगारसे ही चाह और प्रीति बढ़ती है । पर मैंने तो सँवारको—सिंगारको बिगाड़ा है, रूपको क्षत किया है । उन वेष-भूषाओं, वस्त्रालङ्कारोंको बिगाड़नेसे भी नहीं चूका, जिन्हें वह स्नेहसे सँवारकर सिंगारका साथी बनाती थी ! माँ ! तुमने बकरीका विवाह भेड़ियेसे किया था !

माँ ! तुम्हारी मायाको खाकर मैंने इन सखियोंको, इन भोली किशोरियोंको छलना शुरू कर दिया । छल, बल और लालचसे मैंने इन्हें…………

'अरे बेटा ! तेरे भाई भी तो………'

'माँ ! बोलो मत । चुप रहो । यह अभागा तो आप ही मर रहा है, इसे भाइयोंकी दुर्दशा सुनाकर और अधमरा मत करो । चुप हो जाओ, माँ ! तुम्हारी बात सच भी हो, तो भी माँ ! इस सचको मत कहो । मुझे यही धीरज तो जिला रहा है कि मैं न सही मेरे भाई तो सुखी हैं, निर्मल हैं, निष्कलङ्क हैं । माँ ! मेरे इस नन्हेसे सुखको, इस धीरजको बचा रहने दो । मुझे यही सन्तोष है कि मेरे भाई ग्रामवासियोंको और माताओंको सुख दे रहे हैं । मेरे भाइयोंने मेरे लिये क्या नहीं किया ? वे कभी सारा राज्य मेरे हाथोंमें सौंपकर घर-बार छोड़ जंगलोंमें चले गये । कितनी बार उन्होंने गृह-सुख भूलकर अपना खून-पसीना एक किया, घर सँभाला और मुझे पढ़ा-लिखाकर आदमी बनाया । बड़ी चाहसे माँ ! वे दौड़-धूप करके मेरे लिये माया-बहूको ले आये । उस बहूने आप भूखी रहकर मुझे खिलाया । वह यह जानकर भी कि ये सुहागके गहने, उसके कौड़ी-कौड़ी करके जोड़े हुए मुट्ठीभर पैसे, किसी सौतकी भेंट चढ़ेंगे, मुझे देती रही । भाइयोंने मुँह मोड़ लिया । जब मैं उनकी लायी हुई बहूके मोलको न जान सका । माँ ! मेरे वे स्नेहशील भाई, संसारके सारे भाई सुखी हैं, निर्मल हैं, निष्कलङ्क हैं—यही कहो माँ ! यही कहो । मेरे जख्मोंका भंगूर कुछ तो भरे, तुम उनकी बुराई मत करो, माँ ! उनकी दुर्गति मत कहो । दया करो ।

मुझे याद नहीं, माँ ! कि मैं तुम्हारा जेठा पुत्र हूँ कि कनेठा । यदि जेठा हूँ तो माँ ! मेरा जन्म एक अभूतपूर्व मङ्गलाचारको लाया था । तुम्हें आशा लगी थी, उल्लास था कि मैं तुम्हारे नन्दनवनमें, उद्यान-उपवनमें, पुरी-नगरीमें पितरोंका तर्पण करूँगा । मैं तुम्हारी सृष्टिका श्रीगणेश था । आदि पुत्र था, आदम था । जिसकी पहली आशापर ही पानी फिर जाय, जिसका पहला आवा ही बिगड़ जाय, उसके संतापका, रोषका क्या पूछना और इसीलिये माँ ! तुम मुझसे रूठ गयी हो । और यदि मैं कनेठा हूँ तो अन्तमें तुम्हारा सारा स्नेह मुझपर ही उमड़ता रहा है । तुम मुझे सबसे अधिक चाहती रही हो । मुझे कुपथमें जाते देखकर तुम्हें रोष होना ही था । अपनोंके कुचाली होनेपर रोष आता ही है और मैं तो अपनोंमें सबसे अधिक लाड़ला था ।

माँ ! तुम मुझसे रूठ गयी हो, यह मैं जानता हूँ । मैंने ही तुम्हारे दूधको लजाया है । वह किया है जो किसी कपूतको भी न करना चाहिये था । माँ ! मैं किस मुँहसे कहूँ कि मैं तुम्हारा पूत हूँ । मैंने, आज कहते हुए धरतीमें गड़ा जाता हूँ, अपनी बहनोंके, सखियोंके मुँहमें भी कालख पोत दी है । माँ ! मैंने बहन मुदिता, सखी करुणाको कलङ्कित कर डाला है । इन्हींके साथ खेल-खेलकर मैं विनोद करता था । नन्ही-नन्ही बातोंपर मुदिता मुझे नचाती । भौंरा उड़ता अपने लिये, उसमें भी विनोद माननेके लिये मुदिता मुझे ले

उड़ती। राह-बाट चलते हुए संगी-साथी हँस-हँसकर बातें करते। मैं कुछ न समझता, पर मुदिता मेरे मुँह-होठोंपर नाचने लगती। खिलखिलाकर हँस पड़ती। मैं कुछ न समझकर भी सबके विनोदमें साझीदार होकर नाचता फिरता। करुणा कहती 'इस भूखीको दे-दे माखन-रोटी।' मैं भूखा होते हुए भी सब माखन दे देता। किसीकी ऊँ-ऊँ सुनता और करुणा मेरी आँखोंसे बह निकलती। कोकिला नित सिखाती—'यह कीजो, यह मत कीजो।' मैं कलिताके काँधे चढ़ बैठता, मुदिता होठोंपर नाचती और करुणा पलकें ढक देती। माँ! ऐसी प्यारी बहनोंका मैंने अनादर किया। उन्हें मारा, सताया, उनके मुँहमें कालिख पोतकर उनको कुलटा कर डाला है। कलिता आज कलह बन गयी है। मुदिता आज चिन्ता बनी मुझे जला रही है। करुणा क्रूरता बनकर हत्या कर रही है। माँ! जिस करुणाने बहूका पक्ष लेकर मेरे लाख-लाख निहोरे किये थे, वही करुणा डायन क्रूरता बन गयी है।

माँ! यह सब कुछ सही। पर क्या मैं सुखी हुआ हूँ? कुपथ्य किया और रोगी हो गया। क्या रोगी होना कुपथ्यका काफी दण्ड नहीं है, माँ! फिर तुम मेरा इलाज-मालजा, दवा-दरपन क्यों नहीं करतीं? मैं रोगी हो गया हूँ—मेरी कुचालों, करतूतोंका यही काफी दण्ड है। मैंने कुचालें चली हैं, कुपथमें गया हूँ—यह सब मुझे मालूम है। मालूम क्यों न हो, आखिर तुम्हारा ही तो पूत हूँ। तुम्हारा पूत होनेके नाते ही घोर कुकर्म करनेपर—अनन्त व्यथा भोग लेनेपर भी चेतना नष्ट नहीं हुई है। होश-हवास दुरुस्त हैं। पर माँ! रोगीकी तो गैर भी दवा-दारू कर देते हैं। जिनपर पैसा नहीं होता, वैद्य दया करके उनको मुफ्त गोलियाँ दे देते हैं। लोग धर्मार्थ औषधालय खोलते हैं रोगियोंके शरीर, दिल, दिमागको रोगमुक्त करनेके लिये। माँ! मेरा शरीर, दिल, दिमाग ही नहीं; मन-प्राण भी रोगी हो गये हैं। धर्मार्थ औषधालयोंमें शरीर, दिल, दिमागका इलाज-मालजा हो रहा है और संतोंके उपवनमें मन-प्राणका। माँ! यह न समझ कि मैं रोगमुक्त होना नहीं चाहता। इस व्यथासे मैं जितना तड़प रहा हूँ, उतना शायद ही कोई तड़पा होगा। मैं संतोंके उपवनमें जाता हूँ। वे बड़ी करुणासे, दयासे, स्नेह और प्रेमसे मेरी आत्माका इलाज-मालजा करते हैं। मीठे बोलोंमें पथ्य बताते हैं। उपवनसे निकलते ही चाँदनी-चौक पड़ता है, जहाँ कुपथ्योंकी दूकानें जगमगा रही हैं। तेरे सभी नगरोंमें वे चाँदनी-चौक बने हुए हैं, जहाँ कुपथ्योंका आकर्षण ललचा रहा है।

रसनामें सीठा-सीठा स्वाद, उदरमें क्षुधा, अङ्गोंमें थकान, सिरमें घुमेर, कमरमें पीड़ा, पैरोंमें लड़खड़ाहट और अन्तस्तलमें ज्वालाकी लपटें तथा चाँदनी-चौकके दलाल उपचारकोंका प्रेममय स्वागत! माँ! मैं छटपटाता हुआ उन दलालों, उपचारकोंके सेवा-सदनमें जा पड़ता हूँ। जहाँ वे मेरे थके, दुखते अङ्गोंको दबाकर, सहलाकर कहते हैं—'मयसे निशात हासिल है किस रूह स्याहको? इक गूना बेखुदी तुझे दिन-रात चाहिये।' चाँदनी-चौकके शुभचिन्तक डाक्टर मारफ़ियाका इन्जेक्शन दे देते हैं और मैं सो जाता हूँ रोगको, हलाहलको नस-नसमें भरे हुए। माँ! मैं अन्तस्तलकी लपटोंसे चैन पानेके लिये अंगारे खाता हूँ। अंगारोंसे माँ! दाह बढ़ जाती है और मैं संतोंके उपवनमें जाकर गिड़गिड़ाता हूँ—'प्रभो! चाँदनी-चौकमें मेरी तीमारदारी करनेवाला कोई नहीं। वहाँ मेरा उपचार नहीं होता। मुझे यहीं कहीं किसी कुटियाके बाहर एक कोनेमें जगह दे दीजियेगा।' उपवनमें काना-फूसी होती है, 'इसे संक्रामक रोग है। आश्रमके साधकोंको छूतका रोग लग जायगा।'' बहन ममता मेरी बाँह पकड़कर कहती है—'भैया!

तूने मुझे सता-सताकर पिंजर कर डाला । मेरी कभी नहीं मानी । मेरी आजकी बात तो मान ही ले । इन्होंने तेरा कुछ-न-कुछ भला ही किया है । इनका बिगाड़ तुझसे न हो, ऐसा कर लौट चल ।' निराशा बोली, 'बापू ! चलो, मैं राखसे तुम्हारे ज़ख्मोंको ढक दूँ, जिससे मक्खियाँ न काटें । बापू ! चलो, किसीकी सफ़ेद चादरको दाग़ लगानेसे क्या फ़ायदा ?' संतोंने कहा—'अभी कुछ दिन बाहर रहकर पथ्य कीजिये । धीरज रखिये । नीरोग होनेपर तुम्हें ज़रूर जगह मिलेगी ।' मैं लौट आया, माँ ! संतोंके उपवनसे । डाक्टरोंके अस्पतालोंमें रोगकी भयानक अवस्थामें ही रोगी 'इन्डोर-पेशेन्ट' बनाये जाते हैं और संतोंके उपवनमें रोगमुक्त होनेपर । पर, माँ ! किसीका कुछ दोष नहीं । अपने ही दिन खोटे हैं । जब बुरे दिन आते हैं, गायकी टाँग बछड़ेके बाँधनेके लिये खूँटा बन जाती है, जिससे वह माँका ही दूध न पी सके । ऊँटपर चढ़े हुएको कुत्ता काट लेता है । जब माँने ही दुतकार दिया, फिर कौन अपनाये । माँ ! जब मैं दुनियामें आया था, सबसे पहली जान-पहचान तुम्हींसे हुई थी । न पिताको जानता था, न भाई-बहनोंको और न किसी कुनबेवालेको । तुम्हारे नाते ही उनसे सम्बन्ध जुड़े थे । तुमसे अलग होकर आज मैं सबका बेगाना हो गया हूँ ।

सचमुच मेरे रक्तमें ही नहीं, मेरे श्वासमें भी विष है । जिसे छू जायगा मकड़ीके चेपकी तरह, उसके आँवले पड़ जायँगे । तभी तो संतोंने कहा था, 'नीरोग होनेपर तुम्हें ज़रूर जगह मिलेगी ।' पर, माँ ! मुझे तो तुमसे झगड़ना है । मैं दाहसे बचनेके लिये अंगारे खाता हूँ । रोगमुक्त होनेके लिये कुपथ्य करता हूँ और इसीलिये तुम रुष्ट हो । पर यह तो बताओ, माँ ! रोगी कहते किसे हैं ? माँ ! जब मैंने आँखें होते हुए ठोकरें खायीं तो अंधा हो जानेपर, आँख खो देनेपर अब देख-भालकर कैसे चलूँ ? तुम लाठी पकड़ती नहीं और मेरे आँखें हैं नहीं; ठोकरें न खाऊँ तो क्या करूँ । यह दुनिया हँसनेवालोंकी है । जो भाग्यवान् हैं, श्रीमन्त हैं—आनन्दमें, तुम्हारी स्नेह-गङ्गामें क्रीड़ा कर रहे हैं, तुम उन्हींकी देख-भाल करती हो । मेरी ख़बर क्यों लेने लगीं ।

माँ ! मुझे तीमारदारकी, उपचारककी ज़रूरत है जो मुझे कुपथ्योंसे रोके, पथ्य दे, जी बहलाये और धीरज दे । मुझे विश्वास दिलाये—"It is never too late to repent" (दिनभर भटककर साँझको लौटा हुआ भी भूला नहीं कहलाता) । जब मैं बालक था तब तुम दुतकार देतीं तो मेरे कुम्हलाये मुँहको देखकर अनेकों दौड़कर छातीसे लगा लेते । तब मैं एक खोया हुआ, पाया हुआ खिलौना था । किन्तु माँ ! अब मैं जहाँ जाता हूँ 'दूर हो, दूर हो' यही फटकार मिलती है । टूटी हुई जूतीका संसारमें कौन गाहक है ?

कैसे कहूँ, माँ ! तुम मेरी तीमारदारी करो । तुम्हारी दुनियाके बाजारोंको भी बुरा कैसे कह दूँ ? वहाँ तो सब कुछ मङ्गलमय है । तुम्हारे देहातोंकी कैसे निन्दा करूँ । वहाँ तो सब कुछ शिव है । वे सखियाँ-गोपियाँ, इन्द्र-दुहिताएँ तो वर्षाकी, जलकी शीतल धाराएँ हैं; पर मुझे तो उनके छूते ही शीत-ज्वर हो जाता है । वह बहूरानी तो संतोंके, प्राणियोंके जीवनकी सूर्य-किरण है । वही तो जल-थल, फूल-पत्ती, समस्त प्राणि-जगत्‌में जीवन ला रही है; पर उसके स्पर्शसे मेरा माथा ख़राब हो जाता है । आँखें दर्द करने लगती हैं, ताप चढ़ जाता है । वह शीतल समीर मेरे अंगोंमें वेदना उत्पन्न कर देती है, जो जड़-चेतनको स्फूर्ति दे रही है । दूध श्लेष्म पैदा करता है और मैं खाँसते-खाँसते रात बड़े बेचैनीसे काटता हूँ । माँ ! इस मन्दाग्निमें सब विष हो रहा है । और

इस मनकी आँखोंमें तो सचमुच पीलिया हो गया है। किसीका अपना स्वरूप दिखायी ही नहीं देता। पूज्यको भक्ष्य समझता हूँ। स्वार्थमें ऐसा अंधा हो रहा हूँ कि किसीको हथियाना चाहता हूँ तो किसीको मिटाना। कुछ ऐसा पागल-सा हो गया हूँ कि किसीको जहाँ-का-तहाँ रहने देना ही नहीं चाहता। जिसे हथियाना चाहता हूँ, उसे हथियाकर मिटा देता हूँ। शायद विकृत करना ही मेरा प्रेम है। पर असल बात संतोंके उपवनमें सुनी थी। वह है मेरा संक्रामक रोग। जो मेरे पाले पड़ता है, विकृत हो जाता है। जो मुझे प्राप्त होना नहीं चाहता, उसे विकृत करनेको इसलिये आतुर हो जाता हूँ कि उसे विकृत करके मुझे उसके हथियानेकी चाह न रहे। माँ! मैं पागल रुद्र हो रहा हूँ।

कहाँतक कहूँ! अपनी सब करतूत कहनेके लिये अनेक जीवन चाहिये। यह तो मेरे रोगका संक्षिप्त विवरण है। पर अब तुम आ गयी हो, इससे आशा बँधती है कि रोगका वेग अब शमनकी ओर है। तुम्हें घरके अनेक काम-काज देखने हैं। गाँव-भरकी देख-भाल करनी है। तुम, माँ! जाओ। नहीं तो घरभरमें गड़बड़ मच जायगी। हाँ, कुछ देती जाओ।

क्या लूँ? चाँदनी-चौककी कोई चीज? ना, माँ! यह सब मेरे लिये कुपथ्य है। और फिर मेरे वे स्नेहशील-भाई तुमसे झगड़ेंगे, कहेंगे—'उसे कुपथ्य देती है, अच्छा नहीं होने देती।' भाभियाँ कहेंगी—'माताजीका अपने चटोरे पूतपर विशेष लाड़ है। उसका पक्ष करती हैं। बालकोंको कुछ मिले या न मिले, पर लाड़लेके लिये तो अमरपुरीके पकवान भी ला देंगी।'

पड़ोसी कहेगा—'क्यों री! कुनबेवाली! घरमें दो राह चलती है? क्या ये तेरे जाये नहीं?'

गाँवका पंच न्याय बघारेगा—'ऐसा भी क्या? कमाऊ बैल और उड़ाऊ छैल एक ही रास?'

माँ! तुम्हारा इतना अपमान मैं नहीं सह सकूँगा। मैंने तुम्हारा जी तड़पाया है। ऐसा नहीं हो सकता कि दुनिया भी तुम्हें ताने देकर तुम्हारा जी तड़पाने लगे? इसलिये माँ! मुझे कुछ मत दो। जो दोगी, सब कुपथ्य होकर लगेगा। अपने कुपथ्यकी तो उतनी चिन्ता नहीं, पर तुम्हारे विश्व-परिवारमें कलह मच जायगी। मेरी भाभियाँ अपने-अपने चूल्हे अलग कर लेंगी। कुनबेके सब प्राणी बेगाने हो जायँगे। इसलिये मुझे कुछ मत दो।

माँ! जड वासनाओंने मुझे पागल कर दिया है। अचेतन नशोंने मुझे बेहोश कर रखा है। माँ! तुम तो चेतना हो। तुम तो बहुत कुछ कर सकती हो। एक पागलपन तुम भी पैदा कर दो कि मैं दिन-रात, सुबह-शाम, हर घड़ी 'माँ! माँ!' पुकारे जाऊँ और उस पुकारमें ऐसा डूबूँ कि मुझे यह याद भी न रहे कि मैं रोगी हूँ या नीरोग। और इन बाजारोंमें कुछ है भी या नहीं—यह नजर ही न पड़े। मैया! ऐसा पागल कर दो। करुणा और स्नेह तो तुम्हारा बरस ही रहा है। बस, मैया! ऐसा पागल कर दो। ऐसा पागल कर दो। मैया! माँ! जीया! ऐसा पागल कर दो कि 'माँ! माँ!' पुकारूँ। बस, 'माँ! माँ!' केवल 'माँ! माँ!' और मुझे अभिमान है तुम्हारा पूत होनेका—दीन नहीं हूँ बिल्कुल, इसलिये ले लो इस अहंकारको, मन-प्राण-शरीरको, मुझे भी, जो कुछ दिया है तुमने!

जो मन चाहे, करनेके लिये।

(क्रमशः)

गीताका तीसरा अध्याय—कर्मयोग

(लेखक—श्रीमुरलीधरजी शर्मा, बी० ए०, बी० एल्०)

[गताङ्कसे आगे]

पापके कारण कामको जीतनेका उपाय (गीता ३ । ४०–४३)

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥
तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥

(गीता ३ । ४०-४१)

‘इन्द्रिय, मन और बुद्धिको इस (काम) का वासस्थान कहा गया है । इनके द्वारा वह ज्ञानको आच्छादित करके जीवको नाना प्रकारसे मोहमें डालता रहता है, इसलिये हे अर्जुन ! तू पहले इन्द्रियोंको वशमें करके ज्ञान और विज्ञानको नष्ट करनेवाले इस पापीका वध कर डाल ।’ स्पर्श, श्रवण, दर्शन आदि ज्ञानेन्द्रियोंके व्यापार हैं । मनका व्यापार सङ्कल्प है और बुद्धिका निश्चय । बुद्धि, मन और इन्द्रियोंमें क्रमशः निश्चय, सङ्कल्प और दर्शन आदि व्यापारके द्वारा कामका आविर्भाव होता है, इसलिये बुद्धि प्रभृतिको ‘काम’ का घर कहा गया है । इनके संयमसे ‘काम’ काबूमें आ सकता है । विशेष विश्लेषणात्मक दृष्टिसे देखा जाय तो ज्ञात होगा कि काम संकल्पसे पैदा होता है—‘सङ्कल्पमूलः कामो वै’ (मनुस्मृति २ । ३); ‘सङ्गात्संजायते कामः’ (गीता २ । ६२); ‘सङ्कल्पमूला हि सर्वे कामाः’ (गीताशाङ्करभाष्य ६ । ४) और सङ्कल्पके दमनसे कामका नियमन हो जाता है—

काम जानामि ते मूलं सङ्कल्पात्त्वं हि जायसे ।
न त्वां सङ्कल्पयिष्यामि तेन मे न भविष्यसि ॥

(महाभारत शान्तिपर्व १७७ । २५)

अर्थात् ‘हे काम ! मैं तेरी जड़को जानता हूँ—तू सङ्कल्पसे उत्पन्न होता है; इसलिये मैं तेरा सङ्कल्प ही नहीं करूँगा, जिससे तू मेरे पास न आ सकेगा ।’ बृहदारण्यक उपनिषद्में कहा गया है कि काम और सङ्कल्प दोनों ही मनके धर्म हैं—

‘कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव ।’

(१ । ५ । ३)

अर्थात् ‘काम, संङ्कल्प, सन्देह, श्रद्धा, अश्रद्धा, धैर्य, चञ्चलता, लज्जा, बुद्धि और भय—ये सब मन ही (के कार्य) हैं ।’ सुतरां धर्मी मनके निग्रहसे इन सब मनोधर्मोंका निरोध स्वभावसिद्ध है, लेकिन मनको एक साथ नहीं रोका जा सकता और विशेषकर प्रारम्भिक अवस्थामें जब कि वह इन्द्रियोंको अपने-अपने विषयोंसे हटाये बिना किसी हालतमें नहीं रुकता; इसलिये गीताका कहना है कि ‘पहले-पहल इन्द्रियोंका संयम करो’ क्योंकि—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

(गीता २ । ६०-६१)

‘हे अर्जुन ! यत्न करनेवाले विद्वान् पुरुषके भी मनको प्रमथनशील इन्द्रियाँ बलात्कारसे चाहे जिस ओर खींच ले जाती हैं, इसलिये उनका संयम करके मनुष्य योगयुक्त और मत्परायण रहे । जिसकी इन्द्रियाँ वशमें हैं, उसकी बुद्धि स्थिर रहती है ।’ पुनश्च—

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥
तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

(गीता २ । ६७-६८)

‘विषयोंमें विचरनेवाली इन्द्रियोंमेंसे जिसके साथ भी मन हो जाता है, वह एक ही इन्द्रिय उसी प्रकार मनुष्यकी बुद्धिको हर ले जाती है जिस प्रकार जलमें वायु नौकाको खींच ले जाती है । इसलिये हे महाबाहु अर्जुन ! जिस मनुष्यकी इन्द्रियाँ सब विषयोंसे हटा ली गयी हैं, उसकी बुद्धि स्थिर है ।’ यही अर्थ गीता २ । ५८ में कहा गया है । मनुस्मृतिमें भी कहा है—

'बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ।'
(२।२१५)

'इन्द्रियोंका समूह बड़ा प्रबल है; वह विद्वान्‌को भी खींच लेता है।' इसलिये युक्तिपूर्वक उसका संयम करना चाहिये। (मनु० २।८८) 'इन्द्रिय-संयम' का यह अर्थ नहीं है कि इन्द्रियोंको हठपूर्वक विषयोंसे रोका जाय; बल्कि विषयोंमें दोष दिखाकर उनमें इन्द्रियोंको आसक्त न होने दिया जाय। उसका उपाय मनुने इस प्रकार कहा है—

न तथैतानि शक्यन्ते संनियन्तुमसेवया।
विषयेषु प्रजुष्टानि यथा ज्ञानेन नित्यशः॥
(मनु० २।९६)

अर्थात् 'विषयोंमें लगी हुई इन्द्रियोंका संयम विषयोंके परित्यागसे वैसा नहीं किया जा सकता, जैसा कि विषयोंमें दोष दिखलाकर यथार्थ ज्ञानसे।' जितेन्द्रियका लक्षण वहाँ ही ऐसा किया गया है—

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः।
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः॥
(२।९८)

अर्थात् 'सुनकर, छूकर, देखकर, खाकर और सूँघकर यानी नेत्र, कान, जिह्वा, त्वचा और नाक—इन पाँच ज्ञानेन्द्रियोंसे क्रमशः रूप, शब्द, रस, स्पर्श और गन्ध—पाँच विषयोंका उपभोग करके भी जो मनुष्य सुखी या दुखी नहीं होता, उसे 'जितेन्द्रिय' समझना चाहिये।' सारांश, जितेन्द्रिय मनुष्य भी और लोगोंकी तरह अपनी इन्द्रियोंसे व्यापार करेगा, पर वे (इन्द्रियाँ) राग-द्वेषशून्य और आसक्तिविहीन रहेंगी। इन्द्रियसंयमका फल चित्तकी प्रसन्नता और बुद्धिकी स्थिरता है। देखिये—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥
(गीता २।६४-६५)

'राग-द्वेषविहीन और अपने वशमें रहनेवाली इन्द्रियोंसे विषयोंको भोगता हुआ जितेन्द्रिय पुरुष खूब प्रसन्न-चित्त रहता है। प्रसन्नतासे मनुष्यके सब दुःख क्षीण हो जाते हैं। यह भी निश्चित है कि प्रसन्न चित्तवाले आदमीकी बुद्धि शीघ्र ही स्थिर हो जाती है। यह सही है कि बिना मनके संयोगके केवल इन्द्रियोंसे 'काम' का आविर्भाव नहीं होता। साथ ही यह भी सच है कि पहले नेत्र आदि ज्ञानेन्द्रियोंका रूप आदि विषयोंसे संयोग होता है, बादमें तैजस अन्तःकरण उन-उन विषयोंके रूपमें परिणत हो जाता है। इस प्रकार इन्द्रियोंकी बाह्य प्रवृत्तिके द्वारा ही मन और बुद्धिके व्यापार-सङ्कल्प और अध्यवसाय अनर्थके कारण बन जाते हैं। इसलिये यह कहना ठीक है कि पहले इन्द्रियोंका संयम किया जाय। उससे बुद्धि और मन दोनों स्वतः नियन्त्रणमें आ जायँगे। जितेन्द्रिय पुरुषके मनमें उत्पन्न होनेवाले 'काम' में विक्षेपात्मक और सङ्गजननी शक्ति नहीं रहती, इसलिये उसके कार्योंको 'निष्कामकर्म' कहते हैं। उनसे सुख-दुःख और पाप-पुण्य आदि फल नहीं होते—

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥
(गीता ५।७)

'जिस कर्मयोगीकी बुद्धि शुद्ध है, मन तथा इन्द्रियाँ वशमें हैं और जिसका आत्मा सब प्राणियोंका आत्मभूत हो चुका है वह काम करके भी उसके फलसे लिप्त नहीं होता।' भाव यह है कि मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके समुचित रूपसे वशमें होनेपर 'काम' अपना अधिकार नहीं जमा सकता, इसलिये अपने कल्याणको चाहनेवाला आदमी इन तीनोंका निग्रह करता रहे; पर यह तभी हो सकता है, जब कि मनुष्य इन तीनोंसे परेके तत्त्व आत्माको पहचान लेता है—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥
(गीता ३।४२-४३)

'(यदि तारतम्य दृष्टिसे देखा जाय तो स्थूल देह और अन्य बाह्य पदार्थोंकी अपेक्षा उनको जाननेवाली पाँच) 'ज्ञानेन्द्रियाँ' श्रेष्ठ हैं; इन्द्रियोंसे श्रेष्ठ (उनका प्रवर्तक सङ्कल्प-विकल्पात्मक) 'मन' है; मनसे श्रेष्ठ (उसका नियन्त्रण करनेवाली निश्चयात्मिका) 'बुद्धि' है और बुद्धिसे श्रेष्ठ (उसका प्रकाशक और साक्षीस्वरूप श्रुतिविदित) 'आत्मा' है। इस प्रकार जो बुद्धिसे भी श्रेष्ठ है, उस आत्माको पहचानकर और बुद्धिके द्वारा मनको वशमें करके, हे महाबाहु अर्जुन! तू कामरूपी दुर्जय शत्रुका नाश कर।' ४२ वाँ श्लोक निम्नलिखित कठोपनिषद्‌के मन्त्रका संक्षेप है—

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः ॥
(कठ० उ० १ । ३ । १०-११)

‘पञ्चज्ञानेन्द्रियोंसे उनके विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध श्रेष्ठ हैं; विषयोंसे श्रेष्ठ मन है, मनसे श्रेष्ठ व्यष्टि-बुद्धि और व्यष्टिबुद्धिसे श्रेष्ठ महत्तत्त्व या समष्टिबुद्धि है । महत्तत्त्वसे मूल प्रकृति श्रेष्ठ है और प्रकृतिसे पुरुष श्रेष्ठ है । पुरुषसे श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है; वह परा काष्ठा और परमगति है ।’ यही अर्थ इसी उपनिषद्‌में शब्दान्तरसे अन्यत्र भी वर्णित है (कठ० उ० २ । ३ । ७-८) । सूक्ष्मता, व्यापकता, अन्तरस्थता और चैतन्यके आधिक्यसे तथा कार्यकारणभावके कारण इनमेंसे एककी अपेक्षा दूसरेको श्रेष्ठ बतलाया है । ‘दृग्दृश्यविवेक’ में कुछ दूसरे ढंगसे श्रेष्ठताके प्रश्नको समझाया है—

रूपं दृश्यं लोचनं दृक् तद् दृश्यं दृक् तु मानसम् ।
दृश्या धीवृत्तयः साक्षी दृगेव न तु दृश्यते ॥
(दृ० वि० १)

अर्थात् ‘(सब सांसारिक पदार्थोंका) रूप दृश्य है और लोचन उसका द्रष्टा यानी देखनेवाला है । लोचन दृश्य है और मन (उसकी अन्धता, तीक्ष्णदृष्टि आदि धर्मोंका) द्रष्टा है । मनकी वृत्तियाँ दृश्य हैं और साक्षी पुरुष उनका द्रष्टा है । पुरुष द्रष्टा ही है, उसका द्रष्टा और कोई नहीं है ।’ ‘दृश्यकी अपेक्षा उसका द्रष्टा श्रेष्ठ होता है’ इस नियमसे आत्माका कोई द्रष्टा न होनेके कारण वह सर्वद्रष्टा सर्वश्रेष्ठ है । आत्मा, बुद्धि, मन, शरीर, इन्द्रिय और बाह्य सृष्टि-पदार्थोंकी पारस्परिक योग्यता और सम्बन्धको नीचे लिखे मन्त्रोंमें उपमा और रूपके द्वारा बड़ी रोचक रीतिसे समझाया गया है—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥
यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥
यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ॥
(कठ० उ० १ । ३ । ३-४, ६, ८)

अर्थात् ‘यह समझो कि शरीर रथ है, आत्मा रथका स्वामी है, बुद्धि सारथि, मन लगाम, इन्द्रिय घोड़े और शब्दादि विषय उनके मार्ग या मैदान हैं । शरीर, इन्द्रिय और मनसे युक्त आत्माको ‘भोक्ता’ कहते हैं । जिस आदमीकी बुद्धि उत्तम और चित्त संयत है, उसकी इन्द्रियाँ सारथिके उत्तम घोड़ोंकी तरह वशमें रहती हैं । ऐसा पवित्र आदमी उस परमपदको पहुँचता है, जहाँसे लौटकर फिर जन्म नहीं लेना पड़ता अर्थात् उसका मोक्ष हो जाता है ।’ इसके विपरीत——

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥
यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाशुचिः ।
न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति ॥
(कठ० उ० १ । ३ । ५, ७)

‘जो आदमी अविवेकी और असंयतचित्तवाला है, उसकी इन्द्रियाँ सारथिके दुष्ट घोड़ोंके समान वशमें नहीं आतीं । ऐसा मलिन जीव परमपदको न पाकर केवल जन्म-मरणके चक्रमें घूमता रहता है ।’ इससे साफ प्रकट है कि जब इन्द्रियरूपी घोड़ोंके सामने विषयरूपी मार्ग होगा तो वे दौड़ेंगे अवश्य; पर उन्हें काबूमें न रखनेसे वे जीवरूपी रथस्वामीको संसाररूपी खड्डेमें डाल देंगे और उसके शरीररूपी रथको भी नष्ट-भ्रष्ट कर देंगे । इसलिये बुद्धिरूपी सारथि उन इन्द्रियरूपी दुर्दान्त घोड़ोंको मनरूपी लगामसे संयममें रक्खे । इससे ज्ञात होता है कि सारथिरूप अध्यवसायात्मिका बुद्धि ही सर्वप्रधान है । वही सङ्कल्प-विकल्पात्मक मनको काबूमें करके उसके द्वारा इन्द्रियोंको रोक सकती है । इस बुद्धिसे भी श्रेष्ठ आत्मा है । जिसका ज्ञान हो जानेपर सब इच्छाएँ अनायास शान्त हो जाती हैं और जीव ‘आप्तकाम’ और ‘जीवन्मुक्त’ हो जाता है—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥
(कठ० उ० २ । ३ । १४)

‘जब (आत्मज्ञानके द्वारा) जीवके हृदयकी सब कामनाएँ छूट जाती हैं तो वह अमर हो जाता है और यहीं——जीवित अवस्थामें——ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है यानी जीवन्मुक्त बन जाता है ।

उपसंहार

आइये, एक बार उपर्युक्त बातोंका सिंहावलोकन कर लें। सृष्टिचक्रका यह अटल नियम है कि जबतक देहधारी जीवित अवस्थामें रहता है, वह कोई-न-कोई कर्म किसी-न-किसी रूपमें अवश्य करता रहेगा। देह-धारण और समाज-व्यवस्थाकी रक्षाके लिये कर्तव्य कर्म करते रहना आवश्यक ही नहीं, किन्तु अनिवार्य है। प्राप्त कर्मोंको हठपूर्वक छोड़ बैठनेसे किसीको सिद्धि नहीं मिल सकती। ऐसे निकम्मे आदमीका तो संसारमें जीना ही बेकार है। सारांश, जगच्चक्र—व्यक्ति और समाज—को सुव्यवस्थित रखनेके लिये प्रत्येक आदमी उत्तरदायी है। हाँ, ज्ञानी पुरुष अवश्य इस व्यापक नियमका अपवाद है। वह चाहे कर्म करे, चाहे न करे—उसकी स्वतन्त्रता है। कर्मसंन्यासके कारण वह दोषी नहीं ठहराया जा सकता; क्योंकि वह अपार स्वार्थसमुद्रको पार कर चुका है। नित्यतृप्त और आप्तकाम होनेपर भी ज्ञानसम्पन्न महापुरुषोंने अपने व्यक्तिगत प्रयोजनके लिये नहीं; किन्तु लोकसंग्रहार्थ कर्म किया है। व्यास, वसिष्ठ, जैगीषव्य, मनु, जनक, अश्वपति, भीष्म आदि ज्ञानी कर्मयोगियोंके उदाहरण सर्वत्र प्रसिद्ध हैं। और तो क्या, ज्ञानघन सर्वथा स्वतन्त्र स्वयं भगवान् भी लोगोंके सामने कर्मयोगका आदर्श रखनेके लिये कर्म करते हैं, क्योंकि सामान्य जनताकी आदत बड़े आदमियोंका अनुकरण और अनुसरण करनेकी हुआ करती है।

कर्मके विषयमें यह बात ध्यान देने योग्य है कि ज्ञान होनेके पूर्व प्रत्येक कर्मका फल भोगना ही पड़ता है, दूसरा कोई उपाय नहीं है। इस जन्ममें किये हुए कुछ कर्मोंका फल हम अब भोग लेते हैं, कुछ कर्मफल पूर्व-जन्मोंके भोगते हैं और इस जन्मके तथा पूर्वजन्मोंके अवशिष्ट कर्मोंके फलको भोगनेके लिये हम पुनर्जन्म धारण करते हैं। वहाँ भी यही कर्म और भोगका चक्र चलता रहता है। कर्मोंसे पैदा होनेवाले जन्म-मरणके प्रवाहको ही 'कर्मोंका बन्धन' कहते हैं। ऐसी अवस्थामें यह प्रश्न उठता है कि फिर कर्म करते रहनेसे मोक्ष कैसे मिल सकता है यानी कर्मोंके करते रहनेपर उनसे पैदा होनेवाले जन्म-मरणके बन्धनसे जीवका क्योंकर छुटकारा हो सकता है ? इस विषयमें यह समझ लेना चाहिये कि कर्म जड है; वह न किसीको बाँध सकता है और न छोड़ ही सकता है, इसलिये हठपूर्वक या अज्ञानसे कर्म छोड़नेसे किसीको सिद्धि या मुक्ति नहीं मिल सकती। कर्मोंको छोड़ने या न करनेसे मोक्ष-प्राप्ति होती तो पत्थर इसके सर्वप्रथम अधिकारी बनते। वास्तवमें बन्धनमें डालनेका कारण 'काम' यानी इच्छा है, न कि 'कर्म'। मनुष्य अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियोंको वशमें न रखनेके कारण अपनी इच्छापर नियन्त्रण नहीं कर सकता। इससे उसकी ज्ञानशक्ति शून्य हो जाती है और वह राग-द्वेषके भूलभुलैयेमें फँसकर अपने कर्तव्यपथसे च्युत हो जाता है। भ्रष्टज्ञान होनेपर जीव ममता और अहङ्कारके चक्करमें उलझकर स्वधर्मको छोड़ पापकर्मोंमें प्रवृत्त हो जाता है। इस प्रकार 'काम' ही मनुष्यके लिये तमाम अनर्थोंका मूल कारण है। यह भी सच है कि सबके लिये इच्छाका समूल नाश सम्भव नहीं है। उसके सतत प्रवाहको अनिष्ट दिशासे हटाकर उत्तम मार्गमें जरूर लगाया जा सकता है। फल-प्राप्तिकी इच्छासे स्वार्थके लिये नहीं, किन्तु कर्तव्य समझकर सुख-दुःख, हानि-लाभ, सिद्धि-असिद्धि—आदि सभी अनुकूल और प्रतिकूल अवस्थाओंमें समान रहते हुए अनासक्तिसे नियत कर्म करते रहना चाहिये। इस युक्तिसे कार्य करनेको ही 'निष्काम कर्म' 'फलाशारहित कर्म' 'अनासक्त कर्म' या 'कर्मयोग' कहते हैं। ये 'निष्काम कर्म' भावी जन्म-मरणके कारण नहीं होते। पीछेके प्रारब्ध कर्म भोगके द्वारा क्षीण हो जाते हैं। इस प्रकार मोक्षप्राप्तिमें किसी तरह भी बाधा उपस्थित नहीं होती। कर्मयोगके मार्गमें सुगमतासे नैष्कर्म्यसिद्धि प्राप्त करनेके लिये साधकको सब विहित कर्मोंको 'ईश्वरार्पणबुद्धि' से करना चाहिये, जिससे आसक्ति, अहंता और ममताका बन्धन स्वयं टूट जायगा और परमशान्ति प्राप्त होगी—

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥

(गीता २। ७१)

अर्थात् 'जो आसक्ति छोड़कर फलाशारहित हो अहंता और ममताको त्यागकर कर्म करता है, उसे शान्ति मिलती है।' यह भक्तिमिश्रित निष्काम कर्मयोग ही गीताका प्रतिपाद्य विषय है। कर्मकी अवश्यकर्तव्यता, अहंता, ममता और आसक्तिका त्याग, लोकसंग्रह, ईश्वरार्पण कर्म, कामकी प्रबलता और उसके दमनका उपाय—आदि सब

अङ्गोंसहित कर्मयोगका संक्षिप्त और सुचारुरूपसे सरल और असन्दिग्ध भाषामें प्रतिपादन होनेके कारण गीताका तीसरा अध्याय शिरोमणि है। गीताके अर्थको समझनेकी इच्छा रखनेवाले लोग इसे खूब ध्यान, श्रद्धा और विवेकपूर्वक पढ़ें, मनन करें और तदनुसार आचरण करें—यही हमारी प्रार्थना और इस लेखका उद्देश्य है। बस, अब हम यजुर्वेदके मन्त्रसे निबन्धका उपसंहार करते हैं—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥
(यजुर्वेद ४० । २)

अर्थात् 'मनुष्यको चाहिये कि वह काम करते हुए ही सौ वर्षतक जीनेकी इच्छा करे। इस प्रकार (निष्काम भावसे कर्तव्य करते हुए पुरुषको) कर्मोंके शुभाशुभ फलका लेप नहीं लगता। (कर्म-बन्धनसे बचनेका) इससे दूसरा कोई मार्ग नहीं है।'

(समाप्त)

तदाकारता

(गीत)

मिट गया मेरा नाम-निशान!
नवयौवनके नव प्रभातमें, नवल नयनकी राह।
मानसमें रख चित्र रामका, नित्य बढ़ायी चाह॥
चाहसे उपजी प्रीति पवित्र
सुविकसित हुआ रामका चित्र
बन गये स्वामी-सेवक मित्र
पलकोंमें पल-पलके द्वारा, किया देवका ध्यान!
मिट गया मेरा नाम-निशान!

(२)

एक दिवस सहसा देखा यों, नीरव है मम गात।
बोल रहा है स्वयं चित्र वह, मीठी-मीठी बात॥
कण्ठमें है माधुर्य महान
शब्दमें प्रकट ज्ञान-विज्ञान
सरसता स्वरमें प्रेम-प्रमान
उसी चित्रकी चित्रकलासे, गया रूप पहिचान!
मिट गया मेरा नाम-निशान!

(३)

सदा साथ रहनेके कारण, हुआ एक-सा ढंग।
दर्शन-पर्शनके कारणसे, हुआ एक-सा रंग॥
एक-सा चलन, एक-सा ज्ञान
एक-सी हँसी, एक मुसकान
किरनने पायी रविकी शान
कहीं न पाया इतना सुंदर, भक्ति-तत्त्व-विज्ञान!
मिट गया मेरा नाम-निशान!

—शिवनारायण वर्मा

तुम स्वयं ही अपने मित्र और स्वयं ही अपने शत्रु हो

(लेखक—डाक्टर श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, डी० लिट्०)

संसारके अनेक व्यक्तियोंमें न जाने क्योंकर यह निकृष्ट भावना दृढ़ हो गयी है कि बाह्य संसार उन्हें सुखी या दुखी करता है। दुनियावाले उन्हें कड़ुवे-मीठे अनुभव प्रदान करते हैं; भाग्य उनका विरोध करता है, प्रकृति उनपर शासन करती है; कोई ऐसी शक्तिशाली अदृश्य शक्ति है जो उन्हें जिधर चाहती है, घुमाती-फिराती है। वे उसके हाथमें एक खिलौनामात्र हैं।

ऐसे व्यक्ति अपने दुःखोंका कारण दूसरोंके सिर मढ़ते हैं। अन्य मनुष्योंको दोषी ठहराते हैं। वे क्षण-क्षण बदलती रहनेवाली घटनाओंसे हतोत्साह हो सदैव किसी-न-किसी बातकी शिकायत किया करते हैं। ऐसी दुर्बल इच्छा-शक्तिवाले मानव अन्योंकी विचार-धाराओंके दास होते हैं; दूसरे लोगोंकी रायपर अपना जीवन निर्माण करते हैं। उन्हें स्वयं अपने-आपपर, अपनी शक्तियोंपर, अपने संकल्पोंपर, अपनी विचार-धाराओंपर विश्वास नहीं होता। वे दूसरोंकी सहायता, सम्मति तथा सहानुभूतिकी प्रतीक्षा देखा करते हैं।

इस प्रकारके निराशावादी सदैव भाग्यको दोष देते रहते हैं। कहते हैं कि यदि अमुक वस्तु हमारे पास होती तो हम यह कर लेते, वह कर लेते। यदि अमुक अवसर हमें प्राप्त होता तो हम अमुक महान् कार्य सम्पन्न कर दिखाते। अमुक बाधा व्यवधान उपस्थित न करती तो हम भी ऊँचे उठ जाते; सुख, वैभव, प्रतिष्ठा, धन, मान इत्यादि प्राप्त कर लेते; सब कुछ कर दिखाते। इस प्रकारके दुर्बल चित्तवाले व्यक्ति अवसरकी ही प्रतीक्षामें सम्पूर्ण आयु व्यर्थ कर देते हैं। वे निज बुद्धि, विवेक और निजत्वको तिलाञ्जलि दे देते हैं। विचारोंकी यह परवशता उन्हें अग्रसर होनेसे रोकती है।

ऐसे परतन्त्र व्यक्तियोंको स्मरण रखना चाहिये कि मानव-प्रगति एवं उन्नतिका प्रथम सोपान आत्म-विश्वास है। जबतक मनुष्य अपना स्वामी स्वयं नहीं बन जाता, तबतक वह कदापि अभ्युदय नहीं कर सकता। संसारका कोई गुरु, कोई महान् ग्रन्थ, कोई उपदेश, कोई शक्ति मनुष्यकी उन्नति नहीं करा सकती, जबतक मनुष्य स्वयं विचार करना न जानता हो। विचार-स्वातन्त्र्य प्राप्त करनेसे ही सच्चा 'कल्याण' सम्भव है। दूसरोंके वश रहनेसे, उनके आज्ञानुसार कार्य करनेसे, दूसरोंके आश्रयपर निर्भर रहनेसे मनुष्य कुछ भी स्वयं निश्चय नहीं कर सकता। उसकी शक्तियाँ पङ्गु हो जाती हैं, उनकी कार्य-शक्तिपर भारी धक्का पहुँचता है और विकास रुक जाता है। जबतक वह स्वयं अपने पाँवोंपर खड़ा नहीं होता, स्वयं उन्नति करनेकी बात नहीं सोचता, स्वयं अपने हाथ-पाँव नहीं हिलाता, स्वयं अपना रास्ता तय नहीं करता, स्वयं अपना स्वामी नहीं बन जाता तबतक उसके जीवनका विकास सम्भव नहीं है।

मनुष्यका शत्रु संसारमें कोई भी नहीं है। संसारकी कोई चीज उसे हानि नहीं पहुँचा सकती। परमेश्वरने उसमें इतनी शक्ति भर दी है कि किसीकी यह शक्ति नहीं कि उसका पथ रोक ले और आगे न बढ़ने दे। उसमें वह दिव्य प्रकाश भरा है जो स्वयं सत्य पथका निर्देश करता चलता है। यदि कोई शत्रु है तो वह मनुष्य स्वयं ही है।

तुम स्वयं ही अपने मित्र और स्वयं ही अपने शत्रु हो। जब तुम निकृष्ट भावनामें रमण करने लगते हो तो स्वयं अपना सर्वनाश कर लेनेवाले भयंकर शत्रु बन जाते हो। व्यर्थकी कुकल्पनाको स्वयं बढ़ा-बढ़ाकर तुम अपना सर्वनाश कर लेते हो। राईको पर्वत-सदृश बना डालते हो, और तिलका ताड़ कर दिखाते हो। तनिक-सी साधारण बातमें शोक, संताप, क्लेश और

राग-द्वेषादिका गहन अन्धकार हृदय-प्रदेशमें फैला लेते हो। वहम, अज्ञान, विस्मृति, भय, निर्बलताको पालते-पालते तुम स्वयं खिन्न एवं उदास बनते हो। अपने आस-पासके व्यक्तियोंको भी क्षुब्ध करते हो और स्वयं भी अपने अन्तःकरणकी शान्तिको भङ्ग कर बैठते हो। भूल स्वयं अपने-आप करते हो और दूसरोंके मत्थे मढ़ते हो। स्वयं भी रोते हो और दूसरोंको भी रुलाते हो। दोषी स्वयं हो उसका आरोप सहजहीमें दूसरोंपर कर देते हो। निकृष्ट भावना तुम्हारे मस्तिष्कमें इतनी गहरी उतर गयी है कि तुम इधर-उधर सर्वत्र उसीकी प्रतिच्छाया देखते हो।

चुपचाप अपने विचारोंका निरीक्षण करो! देखो, तुम्हारे कुत्सित विचार, अन्धकारपूर्ण भावनाएँ, भ्रमात्मक कल्पनाएँ और अभद्र दुविधाएँ ही तुम्हारे जीवनका सर्वनाश कर रही हैं। तुमने स्वयं अपने-आपको उनके अधीन बना डाला है। महाबली आत्माके इर्द-गिर्द ये मज़बूत जंजीरें जकड़ दी हैं। तुमने अपना सब कुछ इनके हाथ बेच डाला है। अपनी मौलिकता, अपना निजत्व मानवताके इन दुर्धर्ष शत्रुओंको सौंप दिया है। तुम अन्धानुकरण करने लगे हो। तुमने अपनी विशेषता, अपनी महत्ता, अपनी महान् शक्तियाँ और निष्ठा काले बादलोंसे ढाँक दी हैं। अपने-आपको क्षुद्र, कमनसीब, दीन, गरीब, कमज़ोर कहनेसे तुम स्वयं ही वैसे बन गये हो। तुमने कमसमझीमें आकर अपना भाग्य फोड़ा है; अपनी जड़ स्वयं काटी है; आत्माके पुष्ट परमाणुओंको पङ्गु—शक्तिहीन बनाया है।

दोषी तुम स्वयं ही हो। आज तुम जिस परिस्थितिमें पड़े हो, जैसे कुछ तुम हो, जिस वातावरणमें तुम रहते हो, जैसे समय काट रहे हो, जिन-जिन बातोंसे क्षुब्ध, परेशान रहते हो—इनका उत्तरदायित्व तुम्हारे ऊपर है। अपने कर्मोंके तुम स्वयं ही उत्तरदाता हो। दूसरोंको दोषी क्यों ठहराते हो? दुनियाकी कोई ऐसी शक्ति नहीं जो तुम्हारा लाभ या हानि कर सकती हो। शक्तिके पुञ्ज तो तुम्हीं हो। तुम्हारी आत्मा उस शक्तिका केन्द्रस्थान है। तुम चाहो तो मनोबलद्वारा उस महत्-शक्तिपुञ्जको खोल सकते हो; चाहो तो ज्यों-का-त्यों पड़ा रहने दे सकते हो। यों ही पड़ा रहनेसे उसमें दूषित विचारोंका समावेश हो जायगा और तुम अपने शत्रु बन जाओगे।

संसारका प्रत्येक पुरुष अपने चारों ओर मकड़ीके जालेकी तरह एक विशेष वातावरण (Atmosphere) निर्माण करता है। निराश, दुखी और क्लान्त व्यक्ति स्वयं उसी प्रकारका अन्धकारपूर्ण वातावरण उपस्थित करता है। वह सर्वत्र अन्धकार और निर्बलताकी ही भयङ्करता विकीर्ण करता है तथा अन्यको भी उसीमें खींचता है। उसकी मानसिक क्रिया ऊपरसे नीचेकी ओर होती है। वह अज्ञानवश क्रमशः गहन अन्धकारमें विलीन हो स्वयं अपना सर्वनाश कर लेता है। इस विषम, दूषित एवं करुणाजनक वातावरणका जवाबदार वह स्वयं ही है।

दूसरा व्यक्ति अपने शुभ्र विचारद्वारा आनन्दमय वातावरणकी सृष्टि करता है। अनिष्ट मानसिक वृत्तियोंपर विजय प्राप्त कर शुभ भावनाओंका स्वागत करता है। पूर्ण स्वतन्त्र निर्भय होकर प्रत्येक परिस्थितिको अपने इच्छानुसार मोड़ लेता है। संसारका अणु-अणु उसे प्रसन्नता, सत्प्रेरणा, ज्ञान और अदम्य उत्साह प्रदान करता है। वह न किसीको दोष ही देता है, न व्यर्थकी निकम्मी विचारधारामें समय नष्ट करता है। न किसी अदृष्ट शक्तिकी शिकायत ही करता है। वह स्वयं विचारकर अपनी मौलिकता, विशेषता और गुप्त शक्तियोंकी महत्ता संसारमें प्रकट करता है। वह अपनी इन्द्रियों, मन, विचारों, इच्छाओं और कल्पनाओंका स्वयं स्वामी है। यह उनपर दृढ़तापूर्वक राज्य करता है। इसकी शक्ति अगम्य है। वह अजेय है। पुरुषार्थी है।

यदि तुम राजा हो तो अपने ही आत्म-बलके ऊपर; यदि तुम रंक हो तो इसके जिम्मेदार भी तुम स्वयं ही हो। तुम्हें क्या करना चाहिये ? किस ओर चलना अधिक उत्तम रहेगा ? तुम्हारी रुचिके अनुकूल कौन-सा कार्य है ? यह सब बातें तुम्हीं तय कर सकोगे। इन सब प्रश्नोंका उत्तर तुम्हींको देना होगा, दूसरा कोई नहीं दे सकता। दूसरेके आश्रयसे तुम कुछ भी प्राप्त न कर सकोगे। स्वयं अपना नाश कर लोगे। तुम्हें यह निश्चय कर लेना चाहिये कि अपने स्वयंके ही कार्योंसे ही हमारी रक्षा, उत्थान अथवा पतन होता है। जैसा हम चाहते हैं—चाहे वह भला हो या बुरा—शुभ हो या अशुभ—वैसा ही होता है। अतः अपने विचारोंपर सदैव तीखी नज़र रक्खो। सदैव देखते रहो वे किस ओर चल रहे हैं, तुम्हें किस ओर प्रेरित कर रहे हैं ?

मेरा तो यह दृढ़ निश्चय है कि जो युवक आत्म-संस्कारके दुष्कर कार्यमें सदैव दूसरोंका मुख निहारा करते हैं, बात-बातमें अन्य व्यक्तियोंसे पूछताछ किया करते हैं और उनके अनुयायी बना करते हैं वे आत्म-संस्कारके कार्यको कदापि पूर्ण नहीं कर सकते। यह क्षेत्र तो स्वतन्त्रताका है। इसमें प्रत्येक अपना भिन्न मार्ग ग्रहण करता है। उन्हें स्वयं विचार करना चाहिये; स्वयं अपनी मति स्थिर करनी चाहिये, स्वयं अपने आपपर निर्भर रहना चाहिये। प्रत्येक व्यक्तिका भाग्य स्वयं उसके हाथमें है। प्रत्येक मनुष्य चाहे तो अपनी सहायता कर सकता है। इसी सत्प्रेरणासे विजय प्राप्त होती है। इसी दिव्य चित्तवृत्तिके प्रभावसे हम भाँति-भाँतिके निकृष्ट प्रलोभनोंसे बचते हैं, कुवासनाओंका तिरस्कार करते हैं और महत्कार्योंको करनेमें अग्रसर हुआ करते हैं।

विचार करो, सोचो, तुम्हें अस्त-व्यस्त करनेवाला शत्रु कहाँ छिपा है ? तुम्हें अधीन, नगण्य, निश्चेष्ट कौन बना रहा है ? यह तुम्हारा अपने प्रति अविश्वास है। शङ्का, सन्देह, भय, संशय मानवका सर्वनाश करनेवाले भयङ्कर शत्रु हैं। ये मनुष्यको कहींका नहीं रहने देते। डरपोक, शङ्काशील मनुष्य पतनको प्राप्त होता है। उसका मार्ग प्रशस्त होनेके स्थानपर नित्य-प्रति कण्टकाकीर्ण एवं परम अन्धकारमय हो जाता है। तनिक सोचकर देखो—यदि किसी प्रतिभाशाली मनुष्यको यह विश्वास करा दिया जाय कि वह अति क्षुद्र है; कमज़ोर, असफल और निकृष्ट है, उसमें कुछ भी कामकी वस्तु नहीं है तो सचमुच कुछ दिनों बाद वह ऐसा ही हो जायगा। वह पतनको प्राप्त होगा और उसकी विघ्न-बाधाएँ बढ़ जायँगी, मन निषेधात्मक मरु-भूमि-सदृश हो जायगा, दृष्टि भी संकीर्ण हो जायगी। हमारी समस्त शक्तियाँ हमारे आत्मविश्वासपर, धर्म और अध्यवसाय-निष्ठा इत्यादिपर निर्भर करती हैं। अब यदि संशयद्वारा आत्मविश्वास नष्ट हो गया तो और रह ही क्या गया।

आत्मविश्वासका एक ही उपाय है—तुम अपनी श्रद्धा जाग्रत् करो। अन्तर्निहित श्रद्धाका अनुभव करो। यदि तुम्हारे अन्तःकरणमें श्रद्धाका भाव जाग्रत् है तो तुम स्वयं ही अपने मित्र हो; यदि वह लुप्त हो गया है तो तुम स्वयं ही अपने शत्रु हो। जीवन, वास्तविक जीवन श्रद्धासे प्राप्त होता है और संशयसे अन्त होता है। श्रद्धाविहीन जीवन शून्य-ही-शून्य है। श्रद्धायुक्त जीवन निर्विघ्न एवं सम्पूर्ण शक्तिशाली है। श्रद्धा ही मनुष्यको बड़ा या छोटा बनाती है। संसार तुम्हारा उतना ही आदर करता है जितनी श्रद्धाकी मात्रा तुम्हारे अन्तःकरणमें विद्यमान है।

तुम अपने जीवनका प्रत्येक अणु, परमाणु इस प्राणमय प्रवाह—श्रद्धासे विभोर कर लो। अपनी आँखसे आत्मविश्वासकी किरणें फेंको। अपनी वाणीसे श्रद्धा अनुप्राणित करो। अपनी वेष-भूषा, आचार-व्यवहार सभी-से श्रद्धा प्रकट करो।

प्रतिदिन नियत समयपर बैठकर श्रद्धाकी भावनापर चित्त एकाग्र करो। मनमें धीरे-धीरे विश्वासपूर्वक कहो—'मैं निर्विघ्न अग्रसर हो सकता हूँ। मेरा मार्ग कोई अवरुद्ध नहीं कर सकता। अब मेरा विश्वास हो गया है कि अन्य कोई शक्ति मेरी सहायता नहीं कर सकती। मेरा सबसे बड़ा सहायक मेरी आत्मामें छिपा बैठा है। मुझमें अदम्य शक्तियोंका भण्डार है। मैं अब उसीके प्रकाशमें दिव्यता लाभ कर रहा हूँ।' जितने विश्वाससे तुम यह स्वसंकेत (Ants Suggestion) भीतर खींचोगे। उतनी ही शक्ति तुम ग्रहण कर सकोगे।

तुम स्वयं ही अपने मित्र और स्वयं ही अपने शत्रु बन सकते हो। दोनों मार्ग तुम्हारे सामने पड़े हैं। निकृष्ट संशयकी विचारधारासे तुम सर्वनाश कर लोगे। उत्कृष्ट विश्वास एवं श्रद्धाकी भावनासे तुम महान् बन सकोगे। निश्चय करो कि तुम अपने मित्र बनना चाहते हो या शत्रु ?*

चेतावनी

(रचयिता—प्रो० श्रीमुरलीधरजी श्रीवास्तव्य)

छोड़ मोह-ममताका फेरा,
जिसने श्रीचरणोंको घेरा,
क्रान्ति भ्रान्तिसे पूर्ण विश्वमें शान्ति वही जन पावेगा।
धरा-धाम सब माया ममता
छोड़, अन्तमें होगी समता,
प्रभुको छोड़, भजन प्रभुताका कर, नर तू पछतावेगा।
जाग, जाग बजती है भेरी,
तुच्छ जीव, अब लगा न देरी,
प्रभुकी शरण छोड़ जगतीमें वास न करती शान्ति कहीं।
मायाबन्धन, मोह घनेरा,
आँखोंपर अज्ञान-अँधेरा,
चलती यहाँ द्वन्द्वकी चक्की, कहीं क्रान्ति है भ्रान्ति कहीं।
घेरे हैं बलवान प्रलोभन,
स्वप्न सदृश सुन्दर आकर्षण,
कब इस मोहन इन्द्रजालसे त्राण विश्वमें पावेगा ?
छोड़ विश्वके बन्धन सारे,
आवेगा जब प्रभुके द्वारे,
शरणागत हो अविनाशीसे जब तू लगन लगावेगा।

---

* लेखककी अप्रकाशित 'नया कदम उठाओ' नामक पुस्तकसे।

सत्सङ्गके बिखरे वाक्य

(चतुर्थ माला)

(संग्रहकर्ता—एक सत्संगी)

१ जबतक भगवान्‌की ओर मुख नहीं हो जाता, तबतक सुख एवं सुविधाएँ नहीं मिल सकतीं । यहीं मनुष्य भूल करता है, सुख एवं सुविधाएँ चाहता है, पर चलता है भगवान्‌की ओर पीठ देकर ।

२ यह याद कर लेनेकी बात है कि मनसे, वाणीसे, शरीरसे दिन-रात—चौबीसों घंटे ही निरन्तर भजन होता रहे ।

३ निरन्तर दिन-रात भजन हो—इसके लिये कुछ समय प्रतिदिन एकान्तमें बैठकर भजनका अभ्यास करे । मान लें यदि दो घंटे एकान्तमें बैठकर लगातार भजन करेंगे, तो फिर इससे शेष बाईस घंटेतक भजन करनेकी ताकत मिलती रहेगी ।

४ भगवद्भजनका सबसे सरल प्रकार है—भगवान्‌के नामका स्मरण—नामका जप । स्मरण न हो सके तो जीभसे ही निरन्तर नाम लेनेका अभ्यास करे । नामके द्वारा असम्भव सम्भव होता है ।

५ प्रत्येक मनुष्यको प्रतिदिन एकान्तमें बैठकर लगातार कम-से-कम दो घंटे नाम-जपका अवश्य अभ्यास करना चाहिये ।

६ प्रतिदिन कुछ समय भगवान्‌की प्रार्थनाके लिये भी नियत होना चाहिये । भगवान्‌की प्रार्थनामें, भगवान्‌की स्तुतिमें बड़ा बल है ।

७ भगवान्‌के स्तवनसे भगवान्‌के गुणोंकी स्मृति होती है ।

८ भगवान्‌के स्तवनमें सबसे पहली चीज है—भगवान्‌पर अटल विश्वास ।

९ प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर भगवान्‌से प्रार्थना करे और माँगे—प्रभो ! आज समस्त दिन आपकी अनुकूलतामें ही बीते ।

१० सर्वोत्तम काम है—दिन-रात भजन करना ।

११ यदि मनुष्य चेष्टा रक्खे तो एक लाख नाम-जप, नहीं सही—पचास हजार नाम-जप तो बहुत आसानीसे कर सकता है ।

१२ नाम लेते-लेते अन्तरके मलका नाश होता है, फिर नामका स्वाद प्रकट होता है । नाममें स्वाद आ जानेपर तो फिर नाम छूटना मुश्किल हो जाता है ।

१३ भजन-स्मरणमें रस आ जानेपर यदि कभी क्षणभर भी भगवान्‌की विस्मृति होती है, तो महान् व्याकुलता होती है ।

१४ निरन्तर भजनका अभ्यास नहीं हो जानेतक नियमपूर्वक भजन करनेकी आवश्यकता है ।

१५ नामकी पूँजी खरी पूँजी है । यह जिसके पास है—उसे यमराजका भय नहीं है ।

१६ संकेतसे—परिहाससे भी यदि भगवान्‌का नाम जीभपर आ गया तो सब पाप जल जाते हैं (भा० ६ । २ । १४) ।

१७ जहाँ भगवान्‌का नाम होता है—वहाँ यमदूत नहीं आ सकते ।

१८ इस कलियुगमें भगवान्‌के नाम लेनेवाले तथा दूसरेसे लिवानेवाले अत्यन्त भाग्यवान् एवं कृतार्थ हैं—

ते सभाग्या मनुष्येषु कृतार्था नृप निश्चितम् ।
स्मरन्ति स्मारयन्ति ये हरेर्नाम कलौ युगे ॥

१९ यदि सचमुच भगवान्‌का नाम होने लग जाय तो विपत्ति सम्पत्तिके रूपमें परिणत हो जाय ।

२० भागवतमें आया है—

'कलियुगमें और सब दोष-ही-दोष हैं, पर एक महान् गुण है, वह यह है कि इस युगमें भगवान्के नाम-कीर्तनसे ही परमकल्याण हो जाता है (१२ । ३ । ५१)।

२१ गोस्वामी तुलसीदासजीने तो यहाँतक कह दिया है कि—

तुलसी जाके बदन ते धोखेहु निकसत राम ।
ताके पगकी पगतरी मोरे तनुको चाम ॥

धन्य है इस नाम-प्रेमको !

२२ गोस्वामी तुलसीदासजीने भगवान् शङ्करकी साक्षी देकर, शपथ लेकर नामकी महिमा घोषित की है—

संकर साखि जो राखि कहौं कछु तौ जरि जीह गरौ ।
अपनो भलो राम नामहि ते तुलसिहि समुझि परौ ॥

२३ समस्त विश्व भगवान्का नाटक है——खेल है । भगवान्के इस खेलमें भी सब रस होने चाहिये । इस समय वर्तमान युद्धके रूपमें ध्वंसकी लीला चल रही है । इस नाट्य-मञ्चपर सृजन-संहारकी लीला चलती ही रहती है ।

२४ सारी किताबको पढ़नेके लिये—एक-एक पन्ना उलटना ही पड़ेगा । एकके उलटनेके बाद ही दूसरा पन्ना सामने आयगा । यह जीवन भी भगवान्की लीलारूप किताबका एक पन्ना है । इस जीवनका नाश पन्ना उलटनामात्र है । दूसरा जीवन——दूसरी लीला सामने आनेके लिये ही यह पन्ना उलटना है अर्थात् जीवन बदलना है ।

२५ एकरस भगवान् पलटते नहीं । प्रकृतिमें तो हेर-फेर होता ही रहेगा ।

२६ संसारमें भगवान् और उनकी लीलाको देखोगे तो सदा परमसुख——परम आनन्द ही सर्वत्र दीखेगा । पर उनको एवं उनकी लीलाको न देखकर बदलते हुए दृश्योंको ही केवल देखोगे तो फिर यह संसार तुम्हारे लिये दुःखालय है, तुम्हें विनाश-ही-विनाश, दुःख-ही-दुःख दीखेगा ।

२७ इन सब बदलते हुए दृश्योंके अन्तरालमें जो भगवान् हैं उन्हें छोड़कर इन प्रतिपल बदलते हुए दृश्योंमें चिपटे रहकर सुख चाहना तो हिमालयमें रहकर गर्मी चाहना है, जो कि असम्भव है ।

२८ जगत्के दो रूप हैं । या तो अनन्त आनन्दमय या दुःखमय । जो समस्त जगत्में भगवान् एवं समस्त जगत्को भगवान्में देखता है, उसके लिये यह सर्वथा सब ओरसे अनन्त आनन्दमय है । जो भगवान्को छोड़कर जगत्को देखता है, उसके लिये यह सब ओरसे दुःखमय है ।

२९ जगत्में सब कुछ भगवान्की शक्तिसे उन्हींके किये होता है । मनुष्य तो निमित्त बनता है ।

३० जब मनुष्य असफल होता है, तब उसका दोष भगवान्के सिरपर मढ़ता है, भगवान्को कोसता है । पर सफल होनेपर उसका श्रेय अपने ऊपर ले लेता है । कहता है कि हमने किया । वास्तवमें सफलता और असफलता भगवान्की की हुई होती है ।

३१ भगवान्को जिसके द्वारा जो नाट्य करवाना होता है——उसको वह करना ही पड़ता है । करना पड़ेगा ही । वह इससे बच नहीं सकता । वह करनेके लिये बाध्य है । अतः यदि अभिमान नहीं हो तो फिर कुछ डर नहीं है । मनुष्य अभिमान कर बैठता है, इसीसे नीचे गिरता है । अभिमान न करके वह कठपुतली बन जाय । कठपुतली नचानेवालेके इशारेपर नाचती है, इसी प्रकार भगवान्के इशारेपर नाचे ।

३२ भगवान्के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण कर देनेमें शुभ एवं अशुभ सभी कर्मोंका ही अर्पण हो जाता है। जैसे एक मकान है, यदि वह पूरा-का-पूरा मकान

किसी राजाको अर्पण कर दिया जाय तो फिर मकानमें जो कूड़ा है, उसकी सफाईका भार भी राजापर ही आ जाता है। इसी प्रकार पूर्ण समर्पण कर देनेवाले भक्तके पाप भी भगवान्के अर्पण हो जाते हैं। फिर उन पापोंको भगवान् ही धोते हैं।

३३ भगवान्की शरणमें गये कि सारे पाप कट गये।

३४ परमहंस रामकृष्णने कहा है कि सिद्ध महापुरुष सिद्ध आलू, सिद्ध बैंगनकी तरह होते हैं। अर्थात् सिद्ध (सिजाये हुए) आलू एवं बैंगन नरम हो जाते हैं, उनमें कड़ापन तनिक भी नहीं होता। वैसे ही सिद्ध महापुरुष भी सर्वथा अहङ्कारशून्य विनम्र हो जाते हैं।

३५ मनुष्यकी स्वाभाविक मनोवृत्ति यह होती है कि अच्छेका श्रेय अपने ऊपर लेना चाहता है तथा बुरेका दायित्व दूसरेके माथे मँढ़ना चाहता है। यह नहीं होकर, ऐसा होना चाहिये कि अच्छा दूसरेके सिर मँढ़े और बुरेका दायित्व अपने ऊपर ले ले।

३६ तुम जो दूसरेसे चाहते हो, वही दूसरेको पहले तुम दो, तब तुम्हें अनन्तगुणा होकर वही मिलेगा। सेवा चाहते हो तो सेवा करो। मान चाहते हो तो मान दो। यश चाहते हो तो यश दो। ठीक समझ लो। दुःख देते हो, तुम्हें बदलेमें दुःख ही मिलेगा। अपमान करते हो, बदलेमें अपमान ही मिलेगा। तुम जो दोगे, वही तुम्हें मिलेगा।

३७ यदि तुम सबसे सुख पाना चाहते हो, तो बिना ही चाहे दूसरोंको सुख पहुँचाया करो। फिर निश्चय समझो—दूसरोंसे बिना ही चाहे तुम्हें सुख मिलेगा।

३८ भगवत्-शरणागतिका स्वरूप क्या है? हमारा सब कुछ भगवान्का कर देना अर्थात् यह निश्चय हो जाना कि मैंने अपनी चीज तथा अपने-आपको भगवान्को दे डाला। अब सोचो, बदलेमें तुम्हें क्या मिलता है। विश्वकी समस्त चीजोंके सहित भगवान् अपने-आपको तुम्हें दे डालते हैं। भला, यह कितने नफेका काम है, तुम कितने बड़े लाभमें हो। इसपर भी मज़ा यह है कि तुमने तो वही चीज़ दी है, जो भगवान्की ही थी। पर भगवान् अपनी चीज़को ही पाकर तुम्हें अपने-आपको दे डालते हैं।

३९ भगवान् यह नहीं देखते कि इसने कौन-सी चीज़ कितनी मात्रामें अर्पण की है। वे देखते हैं तुम्हारे मनका भाव। यदि तुम्हारे पास केवल एक कम्बल है, तो बस उस कम्बलको एवं अपने अहङ्कारको भगवान्के चरणोंमें अर्पण कर दो—इसीके बदले भगवान् अपने-आपको तुम्हें दे डालेंगे। कितना सस्ता सौदा है!

४० भगवान्के प्रति समर्पित हो जानेमें अहङ्कार बाधक होता है। यह अहङ्कार छूटता है भगवान्की दयासे। भगवान्की दया हमें प्राप्त है ही। अतः बार-बार निश्चय करो—'हम भगवान्के हैं। भगवान्का हाथ हमारे ऊपर है। भगवान्की बड़ी कृपा है।' यह केवल माननेकी ही बात नहीं है, असलमें यही बात है। भगवान्की पूर्ण कृपा है ही। निश्चय करो। निश्चय करते-करते कृपाका अनुभव हुआ कि पूर्णरूपसे भगवच्चरणोंमें समर्पित हो जाओगे।

४१ सारे साधनोंका प्राण है—भगवान्का नाम। 'नाम रामको अंक है, सब साधन हैं सून।' अतः खूब भजन करो और दूसरोंसे करवाओ।

४२ मनुष्य सदा डरता रहता है। अपमानका, अकीर्त्तिका, शरीरनाशका डर उसे घेरे रहता है। वह कभी निर्भय नहीं हो पाता। पर यदि वह भगवान्की शरण ले ले तो फिर सर्वथा निर्भय हो जाय। भगवान् रामने कहा है कि 'जो एक बार मेरी शरण ले लेता है उसे मैं सबसे अभय कर देता हूँ—यह मेरा व्रत है।'

४३ मनुष्य यहाँ उस वस्तुको पानेके लिये आया है, जिसे पाकर कह सके कि मैं अमर हो गया हूँ। वह वस्तु है भगवान्‌की प्राप्ति—भगवत्प्रेमकी प्राप्ति।

४४ सृजन और संहारकी लीला चलती रहती है। बच्चा है, वह जवान होगा, बूढ़ा होगा और फिर मर जायगा। यह नहीं हो तो फिर शैशव, यौवन और बुढ़ापेकी लीला कैसे देखनेको मिले। ऐसा न होनेसे तो जगत्‌की शोभा ही न रहे।

४५ भगवान्‌की प्राप्ति ही इस जीवनका लक्ष्य है। यहाँ बड़े-छोटे बनते रहनेमें कुछ भी नहीं धरा है। न जाने—हम कितनी बार इन्द्र बने होंगे और कितनी बार चींटे!

४६ स्वाँगके अनुसार जो पार्ट हमें मिला है—हम करें; पर यह याद रक्खें कि यह नाटक है और अपने खेलको खूब अच्छी तरह खेलकर मालिकको रिझाना है।

४७ हम इसीलिये बार-बार घबड़ा उठते हैं कि इस संसार-नाटकके पीछे छिपे हुए भगवान्‌को नहीं देखते।

४८ जीवनके लक्ष्य होने चाहिये थे—भगवान्। पर हो रहे हैं—सांसारिक विषय। इसीलिये पद-पदपर भय एवं दुःख हैं। लक्ष्य बदलो, फिर सर्वत्र आनन्द-ही-आनन्द है।

४९ अभय पद है भगवान्‌के श्रीचरण। उन्हें प्राप्त करो। उनकी ओर बढ़नेका उपाय है निरन्तर भगवान्‌का नाम लेना, भगवान्‌की लीलाओंका गान करना और सत्सङ्ग करना।

५० सबसे पहले अपने घरको झाड़ो। तुम्हारा मन तुम्हारा घर है। इसे साफ करो। दुनियाको ठीक करनेकी चेष्टा छोड़ दो—

तेरे भावें जो करो, भलो बुरो संसार।
'नारायण' तू बैठ कर, अपनो भवन बुहार॥

५१ मनुष्यसे यही भूल होती है कि दुनियाको सुधारना चाहता है, पर खुद सुधरना नहीं चाहता।

५२ मनुष्य यदि अपने दोषोंकी ओर देखने लग जाय तो फिर उसे दुनियाके दोषोंको देखनेकी फुरसत ही नहीं मिले।

५३ जबतक मनमें कामना है, लोभ है, तबतक पापसे बचना बड़ा ही कठिन है।

५४ दूसरेके साधारण दोषके लिये भी मनुष्य उसे दण्ड देना चाहता है, पर यह नहीं विचारता कि वह स्वयं यही दोष करता है।

५५ मनुष्यके हाथमें जबतक अधिकार रहता है, तबतक वह अपने दोषोंको देख ही नहीं पाता।

५६ मनुष्य पुण्यका फल—सुख चाहता है, पर पुण्य नहीं करना चाहता। और पापका फल—दुःख नहीं चाहता; पर पाप नहीं छोड़ना चाहता। इसीलिये सुख नहीं मिलता और दुःख भोगना ही पड़ता है।

५७ याद रखिये—चोरीका पैसा कभी भी घरमें नहीं रहेगा। इतना ही नहीं, वह बहुत दुःख देकर जायगा।

५८ बुरे कर्मका फल अच्छा हो ही नहीं सकता। बुरा कर्म करते हुए जो किसीको फलते-फूलते देखा जाता है, वह उसके इस बुरे कर्मका फल नहीं है। वह तो पूर्वके किसी शुभ कर्मका फल है जो अभी प्रकट हुआ है। अभी जो वह बुरा कर्म कर रहा है, उसका फल तो आगे चलकर मिलेगा।

५९ पाप करते समय मनुष्य यह भूल जाता है कि इसका फल क्या मिलेगा।

६० नरकोंका वर्णन लोग सुनते नहीं। जो सुनते हैं—वे भी उसपर विश्वास नहीं करते। पर सच मानिये यह वर्णन बिल्कुल सत्य है और पाप करनेवालोंको वहाँ जाना ही पड़ता है।

६१ मनुष्य मोहवश यह कह बैठता है कि अमुक काम नहीं करेंगे तो घरका निर्वाह कैसे होगा ? यह भ्रम छोड़ देना चाहिये । निर्वाह तो भगवान् करते हैं, मनुष्य तो व्यर्थका गर्व करता है ।

६२ तुम कह देते हो कि घरवालोंके लिये यह पाप कर रहा हूँ । पर याद रक्खो—घरवाले पापमें हिस्सा नहीं बँटायेंगे । अपने किये पापोंके लिये तुम्हें ही दण्ड भोगना होगा । देखो—जब तुम बीमार पड़ते हो अत्यन्त पीड़ा होती है तब चाहनेपर भी क्या कोई उसमें हिस्सा बँटा सकता है ।

६३ परचर्चा, परनिन्दा—सुननेमें बड़ी मीठी मालूम होती है; पर है बहुत बुरी । इससे सर्वथा बचो ।

६४ कानोंको लगाओ भगवान्के नाम, गुण, लीला, चरित्र आदिके सुननेमें । आँखोंको लगाओ भगवान्की मूर्तियोंके दर्शन करनेमें । यह नहीं करके, यदि परचर्चा-परनिन्दा सुनते हो, बुरे-बुरे दृश्योंको देखते हो तो इतनी बड़ी हानि हो रही है कि अभी तो उसकी कल्पना भी नहीं है, पर पीछे बहुत पछताना पड़ेगा ।

६५ बेमतलब बोलना छोड़ दो । कामभर बोल लो, बाकी समय भगवान्के नामका जप करो ।

६६—इन्द्रियोंके द्वारा ही पापके दृश्य मनमें आते हैं, इसलिये भूलकर भी इन्द्रियोंको बहिर्मुख मत होने दो । सब तरहसे उन्हें भगवान्में लगाये रखनेकी चेष्टा करो । यह चेष्टा रात-दिन — निरन्तर करनेकी चीज़ है ।

६७ बुरी चीजोंको आग और साँपकी तरह मानकर उनसे बचते—डरते रहो ।

६८ विषयासक्ति—मनका बड़ा भारी रोग है । यह रोग मिटेगा—बार-बार सभी इन्द्रियोंको भगवान्में लगाते रहनेसे ।

६९ जो मनुष्य अपनी उन्नति चाहता है, उसे चाहिये कि वह दूसरोंमें गुण देखनेकी आदत डाले ।

७० जब मनुष्यमें पराया दोष देखनेकी बान पड़ जाती है तो दोष हुए बिना भी उसे दूसरोंमें दोष दीखने लग जाते हैं ।

७१ रोग मिटानेके लिये तीन बातें होनी चाहिये—

> (१) कुपथ्यका त्याग, (२) सुपथ्यका सेवन और (३) ओषधिका सेवन ।

इसी प्रकार भवरोगको मिटानेके लिये तीन बातें होनी चाहिये—

> (१) पापका त्याग—यही कुपथ्यका त्याग है । (२) दैवी सम्पदाका अर्जन—यही सुपथ्यका सेवन है । (३) भगवान्का भजन—यही परम ओषधि है ।

७२ कलियुगका प्रधान शस्त्र है—कपट । कलियुग कपटके पीछे चलता है ।

७३ दो चीज़ कलके लिये मत रक्खो—एक भजन, दूसरा दान ।

७४ जो भगवत्प्रेमी जन हैं, वे ही बड़भागी हैं तथा जिसके पास भजनरूपी धन नहीं है, असलमें वही निर्धन है ।

७५ भाग्यवान् भगवत्प्रेमी लक्ष्मीके भोगोंको उल्टीकी तरह त्याग देता है । 'तजत बमन इव नर बड़भागी ।'

७६ यदि कहीं भगवान् लक्ष्मी दे ही दें तो फिर भरतजीकी तरह ही उससे सम्बन्ध रक्खे । रामायणमें कहा है—'चंचरीक जिमि चंपक बागा ।' जिस प्रकार भौंरा चम्पाके वनमें रहकर भी किसी भी चम्पाके फूलपर नहीं बैठता, उसी प्रकार भरतजी अयोध्याके ऐश्वर्यसे निर्लिप्त रहे । ठीक इसी प्रकार भोगोंसे निर्लिप्त रहे । भगवान्की अर्द्धाङ्गिनी लक्ष्मी मैयाको भगवान्की सेवामें ही संलग्न रक्खे ।

७७ मनुष्य घरकी एक-एक चीज़पर अपना अधिकार मानता है, पर मरनेपर क्या होता है ? कफ़नके लिये कपड़ेके एक टुकड़ेपर भी उसका अधिकार नहीं है । वह भी बाजारसे आता है। सोचिये, मनुष्य कितने भ्रममें पड़ा है ।

७८ चाहे अरबपति हो या दरिद्र—शरीर तो मिट्टीमें मिलेगा ही ।

७९ कमाया हुआ धन तो यहीं रह जाता है । पर कमानेके समय जो पाप हुआ, उसका दुरुपयोग करते समय जो पाप हुआ—वह मनुष्यके साथ जाता है तथा दुःख—महान् दुःख देता है ।

८० कोई अपनेको मूर्ख नहीं समझता; पर जिसका जीवन भोगोंकी सेवामें जा रहा है, असलमें वह महामूर्ख है ।

८१ वही बुद्धिमान् है जो भोगोंमें नहीं रमता ।

८२ संसारमें जितने भी विषय-भोग हैं—भोगते समय तो वे अमृततुल्य सुखदायक प्रतीत होते हैं; पर परिणाममें वे निश्चय ही विषके समान दुःख देनेवाले होते हैं । कपड़े, गहने, आराम, नामकीर्ति आदि समस्त भोगोंकी यही दशा है ।

८३ मान लें—किसीके पास बीस मकान हो गये । तो इससे क्या हुआ ? क्या वह बीसोंमें एक साथ सोता है ? नहीं सोता—उसे तो वही साढ़े तीन हाथ जगह ही सोनेको मिलती है । केवल यह अभिमान पल्ले बँध जाता है कि मैं बीस मकानोंका मालिक हूँ । मरनेके बाद मकान तो यहीं रह जायँगे और वह इन्हें छोड़कर चला जायगा । मकानोंमें मन फँसा रहनेके कारण मरते दमतक चिन्ता बनी रही, रात-दिन सोचमें डूबे रहे और अन्तमें मालिकी भी निश्चय छिन जायगी । सोचो, मनुष्य इन तुच्छ विषयोंमें मन फँसाकर कितनी मूर्खता करता है ।

८४ सुख-दुःख मनकी कल्पना है । एक आदमी है । बराबर गद्देपर बैठनेकी बान है । दिन पलटे । धन गया । अब गद्दे नहीं हैं, पालपर बैठना पड़ता है । अब पालपर तो हमलोग रोज ही बैठते हैं । किसीको दुःख नहीं होता । पर वह यदि कल्पना कर ले कि 'हाय ! मेरे दिन ऐसे खराब हो गये कि मुझे पालपर बैठना पड़ता है ।' तो दुखी हो जाता है । यह नहीं करके सोच ले कि—पालपर बैठना तो बहुत ही उत्तम बात है—सादगीसे जीवन बितानेका चिह्न है तो बस, सुखी हो जाता है । अतः सुख-दुःख गद्दे एवं पालमें नहीं हैं, वे हैं मनकी कल्पनामें ।

८५ चाहे कोई बड़े-से-बड़ा आदमी हो, संत हो, महात्मा हो । पर स्त्री-जातिको चाहिये कि उसका स्पर्श न करे । अपने पतिको छोड़कर युवतीको किसी भी पुरुषका स्पर्श कभी भी नहीं करना चाहिये।

८६ पुरुषको चाहिये कि पर-स्त्रीमें मातृभाव अथवा भगवद्भाव करे । उसे अभ्यास करना चाहिये कि जहाँतक हो सके पर-स्त्रीका मुख दीखे ही नहीं ।

८७ ज्योतिको देखकर पतङ्ग उसकी ओर दौड़ता है और जहाँ समीप गया तथा उस रूपको अपनाना चाहा कि जलकर खाक हो गया । विषयोंकी ओर मन चलनेपर हमलोगोंकी यही दशा होती है ।

८८ जिस प्रकार धर्मशालामें रहा जाता है, वैसे ही संसारमें रहो । धर्मशालामें रहनेवालेको चाहिये कि वहाँके आदमियोंसे प्रेम रक्खे । जहाँतक संभव हो, उनकी सेवा करे । ऐसा करनेसे वह भी सुख पायगा । इसी प्रकार मंसारको धर्मशाला मानकर सबसे प्रेम करो, जहाँतक हो सबकी सेवा करो । फिर तुम सुख पाओगे ।

८९ मनुष्य-शरीर धर्मशाला है । हमलोग मुसाफिर हैं । कुछ देरके लिये ठहरे हुए हैं । फिर घर पहुँचनेके

लिये यात्रामें चल पड़ेंगे। भगवान्‌के पास पहुँचना ही घर पहुँचना है। इस बातको भूलकर कहीं धर्मशालाको ही अपना घर मान लोगे तो धर्मशाला तो छूटेगी ही प्रत्युत फौजदारीका मुकदमा चलेगा, फँस जाओगे। ऐसी मूर्खता मत करो।

९० जहाँ स्वार्थ है वहीं वैर होता है। त्यागमें वैर नहीं होता। भगवान् राम कहते हैं—'भरत! राज्य तुम्हारा है। पिताजी दे गये, तुम राज्य भोगो।' भरत कहते हैं—'राज्य आपका है। मेरा हो ही नहीं सकता।' अब वहाँ लड़ाई कैसे हो?

९१ राग और द्वेष विवेककी आँखको बदल देते हैं। जहाँ राग होगा—वहाँ दोष भी गुण दीखेगा। जहाँ द्वेष होगा—वहाँ गुण भी दोष दीखेगा।

९२ यदि हमारे मन-वाणीसे बुरे कर्म होते हैं तो यह मान लेना चाहिये कि निश्चय ही हमारे मनमें बुराई भरी है।

९३ संसारमें भोग प्राप्त हो जाना उन्नति नहीं है। जिसका हृदय उन्नत है, मन शुद्ध है, जिसके मनमें भगवान् बसते हैं—वही असलमें उन्नति है, उसीने अपनी असली उन्नति की है।

९४ जिसके मनमें बुरे विचार बसते हैं, उसे समझना चाहिये कि मेरे मनमें चोर, वैरी एवं साँप बसते हैं—ये मुझे मार डालेंगे। अतः इन्हें जिस-किसी प्रकारसे भी बाहर निकाल फेंके अथवा अंदर-ही-अंदर इन्हें नष्ट कर दे।

९५ मानसरोग सबसे बड़ा रोग है। शरीरका रोग तो इसी जीवनमें दुःख देगा, पर मानसरोग तो मरनेके बाद भी साथ जायगा। मनकी मृत्यु तथा कर्मोंका नाश एक साथ होता है।

९६ मनुष्य-जन्ममें ही मनुष्य अपने मनकी गंदगी सर्वथा मिटा दे सकता है। वह मनुष्य-जन्म हमलोगोंको प्राप्त है। भगवन्नामरूप अग्निसे मनकी सारी गंदगीको जला डालिये।

९७ किसीके प्रति वैरकी भावना लेकर मत मरो। नहीं तो, यह वैरकी भावना जन्मान्तरमें भी तुम्हारे साथ जायगी और तुम्हें जलाती रहेगी। न मालूम कैसी-कैसी बीभत्स यन्त्रणामयी पिशाचयोनिमें भटकना पड़ेगा।

९८ अपने मनका दोष ही दूसरोंपर आरोपित होता है। दो जवान भाई-बहिन आपसमें बातचीत कर रहे हैं, तो हम सोचेंगे कि अवश्य ही ये दोनों बुरी नीयतको लेकर बातचीत कर रहे हैं।

९९ पराया कोई नहीं है। यह अपने-परायेकी सीमा हमारी अपनी बाँधी हुई है।

१०० मनकी गंदगीको मिटानेके तीन उपाय हैं—(१) भगवान्‌के नामका जप, (२) स्वाध्याय एवं सत्सङ्गके द्वारा अच्छी बातोंको मनमें भरना और (३) दूसरोंका दोष देखना सर्वथा छोड़ देना। सर्वथा नहीं छोड़ सके तो जहाँतक हो, कम-से-कम दोष देखनेकी चेष्टा करना।

१०१ देखा-देखी बुरे आचरणोंको लोग अपना लेते हैं। वैसे ही तुम यदि शुभ आचरण करना आरम्भ करोगे तो उसे भी लोग देखा-देखी करने लग जायँगे। अतः स्वयं शुभका आचरण पहले करना आरम्भ कर दो, फिर शुभका विस्तार होगा।

१०२ हमें दूसरे कामोंके लिये समय मिल जाता है, पर भजनके लिये नहीं। ऐसा इसलिये होता है कि भगवान्‌का भजन, भगवान्‌की सेवा हमारे लिये बहुत ही कम महत्त्वकी वस्तु हो गयी है।

१०३ भगवान्‌को भूल जानेका नतीजा कितना बुरा है, इसका अभी पता नहीं है। जब यहाँसे चले

जायँगे, पापोंका ढेर साथ लेकर तथा वहाँ यातना-देह पाकर नरककी यन्त्रणा भोगनी पड़ेगी—तब पता लगेगा ।

१०४ भोगोंमें जो सुखका प्रकाश दीखता है, वह जलानेवाला है । शान्ति देनेवाला नहीं है । उसकी चकाचौंधमें मत फँसो ।

१०५ जबतक शरीर ठीक है, इन्द्रियाँ ठीक-ठीक काम कर रही हैं, तभीतक मनको भजनमें लगानेका अभ्यास कर लो । शरीर बीमार हो जानेपर, इन्द्रियोंकी शक्तियाँ क्षीण हो जानेपर मनको भजनमें लगानेका अभ्यास करना बड़ा ही कठिन है ।

१०६ बुरे कामोंमें अपनी शक्तिको खर्च करना—बहुत बड़े दुःखको निमन्त्रण देकर बुलाना है । इसलिये भूलकर भी किसी बुरे कर्ममें हाथ मत डालो । बुरे कर्मकी मोटी परिभाषा यह मान लो कि जिस कर्मसे भगवान्‌से मन हटता हो, वही बुरा कर्म है ।

१०७ इन्द्रियोंको बुरे कर्ममें लग जानेके बहुत-से साधन प्राप्त होते रहते हैं । मनुष्य यदि सावधान रहे तो बच सकता है । स्वयं सावधान रहनेपर भगवान्‌की सहायता तो मिलती ही है ।

१०८—प्रतिकूलता प्राप्त होनेपर दुखी एवं अनुकूलता प्राप्त होनेपर मनुष्य सुखी होते हैं । पर मनुष्यको सोचना चाहिये कि इससे परे एक ऐसी स्थिति है जहाँ यह सुख-दुःख नहीं है—वहाँ अनुकूलता-प्रतिकूलता नहीं है—केवल एकरस आनन्द-ही-आनन्द है । आनन्द-ही-आनन्द ।

भगवान् श्रीरामके दर्शन प्राप्त करनेका उपाय

(लेखक—श्रीशिवप्रसादजी)

'संतोंकी उच्छिष्ट मात्र है मेरी बानी ।
जानूँ उसका भेद भला क्या मैं अज्ञानी ॥
आकर चारि लाख चौरासी । जाति जीव जल थल नभ बासी ॥
सीय राममय सब जग जानी । करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी ॥
जानि कृपाकर किंकर मोहू । सब मिलि करहु छाड़ि छल छोहू ॥

गुरुजनोंके चरणोंका स्मरण करके तथा भगवान् शङ्कर और हनुमान्‌जी आदि श्रीरामचन्द्रजीके भक्तोंका ध्यान करके आज सर्वसाधारणके कल्याणके लिये श्रीरामचन्द्रजीके दर्शनोंका श्रुति-सम्मत उपाय लिख रहा हूँ । यद्यपि पद्धतिकारोंने इस विधिको सर्वथा गुप्त रखनेका आदेश दिया है और अनधिकारियोंके सम्मुख प्रकट करनेका बार-बार निषेध किया है, फिर भी यह विचारकर कि 'कल्याण' का कोई भी पाठक अनधिकारी नहीं हो सकता, इस अत्यन्त गुह्य विधिको विस्तारपूर्वक लिख रहा हूँ । मैं भक्त नहीं, भक्तोंकी चरणरज स्पर्श करनेका अधिकारी भी नहीं; केवल अपनी लेखनीको पवित्र करनेके उद्देश्यसे शास्त्रोंकी बात लिख रहा हूँ । मेरी तो यही रट है—

तुलसी जाके बदन ते, धोखेहु निकसत 'राम' ।
ताके पगकी पगतरी, मेरे तनको चाम ॥

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके दर्शन करनेके लिये जब हृदयमें अत्यन्त उत्कण्ठा हो, तब किसी शुभ दिन और शुभ लग्नपर गणपति, भगवान् शङ्कर तथा हनुमान्‌जीका ध्यान करके और यथालब्ध उपचारोंसे उनका पूजन करके उनसे प्रार्थना करनी चाहिये—'आप तीनों भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके भक्तशिरोमणि हैं तथा श्रीरामचन्द्रजीके भक्तोंके मार्गकी समस्त विघ्न-बाधाओंको दूर करनेवाले हैं । आपके चरणोंका ध्यान करके मैं श्रीरामचन्द्रजीके दर्शन प्राप्त करनेका उपाय करना चाहता हूँ । आप मेरी सहायता करें, जिससे मुझे भगवान्‌के दर्शन शीघ्र ही प्राप्त हों ।'

इस प्रकार प्रार्थना करके नदीके तीर, गोशाला अथवा पवित्र गृहमें ब्रह्मकूर्चका विधान करे । गोमूत्र, गोबर, दूध, दही, घी और कुशाका जल—ये पवित्र और पापनाशक कहे जाते हैं । ब्रह्मकूर्चका विधान करने-

वालेको उचित है कि काली गौका मूत्र, सफेद गौका गोबर, ताँबेके रंगकी गौका दूध, लाल गौका दही और कपिला गौका घी ले। यदि इतने रंगोंकी गायें न मिल सकें तो केवल कपिला गौका ही गोमूत्र आदि पाँचों वस्तुएँ ग्रहण कर ले। १ पल (१ तोले) गोमूत्र, आधे अँगूठेभर गोबर, ७ पल दूध, ३ पल दही, १ पल घी और १ पल कुशाका जल ग्रहण करे। गायत्री-मन्त्रसे गोमूत्र, 'गन्धद्वारां०' मन्त्रसे गोबर, 'आप्यायस्व०' मन्त्रसे दूध, 'दधिक्राव्णो०' मन्त्रसे दही, 'तेजोऽसि शुक्र०' मन्त्रसे घी और 'देवस्य त्वा०' मन्त्रसे कुशाका जल ग्रहण करे। इस प्रकार ऋचाओंसे पवित्र किये हुए पञ्चगव्यको अग्निके पास रखे। 'आपो हि ष्ठा०' मन्त्रसे गोमूत्रादिको चलावे, 'मा नस्तोके०' मन्त्रसे अभिमन्त्रित करे, 'इरावती०', 'इदं विष्णु०', 'मा नस्तोके०' और 'शंवती०'—इन ऋचाओंद्वारा अग्रभागसे युक्त सात हरी कुशाओंसे पञ्चगव्यका होम करे। होमसे बचे हुए पञ्चगव्यको ओङ्कार पढ़कर मिलाये। ओङ्कारका उच्चारण करके मथे। ओङ्कार पढ़कर उठावे और ओङ्कारका उच्चारण करके पीये। स्त्री और शूद्र यह सारी प्रक्रिया, किसी विद्वान् ब्राह्मणसे करायें। यदि स्वयं करना चाहें तो वेदमन्त्रोंके स्थानपर 'नमः शिवाय' इस पञ्चाक्षर महामन्त्रसे सारी प्रक्रिया करें और ओङ्कारके स्थानपर भी 'नमः शिवाय' का ही प्रयोग करें। जैसे अग्नि काष्ठको जला देती है, उसी प्रकार यह ब्रह्मकूर्च त्वचा और हड्डियोंमें टिके हुए पापोंको जला देता है। देवताओंसे अधिष्ठित होनेके कारण ब्रह्मकूर्च तीनों लोकोंमें पवित्र है। ब्रह्मकूर्चसे एक दिन पूर्व, ब्रह्मकूर्चके दिन और उसके एक दिन पश्चात्—इन तीनों दिनोंमें उपवास करनेसे कलियुगके महान् पापी मनुष्य भी पवित्र हो जाते हैं।

इस प्रकार ब्रह्मकूर्च करके वैदिक अथवा तान्त्रिक या पौराणिक मन्त्रोंद्वारा पार्थिव-पूजन करे। पार्थिव-पूजनका विधान 'कल्याण'के शिवाङ्कमें प्रो० रामदासजी गौड़के लेखमें दिया हुआ है, संक्षेपमें उसे यहाँ दुहराया जाता है। 'हराय नमः' इस मन्त्रसे मृत्तिका ग्रहण करे, 'महेश्वराय नमः' इस मन्त्रसे पार्थिवेश्वरका निर्माण करे। 'पशुपतये नमः' इस मन्त्रसे प्राणप्रतिष्ठा करे। 'शिवाय नमः' इस मन्त्रसे पञ्चोपचार पूजन करे और 'महादेवाय नमः' इस मन्त्रसे विसर्जन करे। इस प्रकार पार्थिव-पूजन करे। पूजन करते समय राम और शिव दोनोंको एक ही अथवा एक दूसरेका परम भक्त समझे। इस प्रकारकी भावनासे पार्थिवेश्वरकी पूजा करके लगातार नौ दिनतक विधिपूर्वक वाल्मीकिरामायणका अथवा तुलसी-रामायणका पूजन और पाठ करे। यदि स्वयं पारायण करनेमें अशक्त हो तो किसी राम-भक्त अथवा शिव-भक्त विद्वान् ब्राह्मणसे विधिपूर्वक रामायणकी कथा श्रवण करे। कथाकी समाप्तिपर नित्य 'भए प्रगट कृपाला दीनदयाला कौसल्या हितकारी' इत्यादिद्वारा आरती करे।

नित्य रात्रिमें महानिशा (१½ पहर रात्रि बीतनेसे लेकर १½ पहर रात्रि रहनेके पहले) के समय पार्थिव-पूजन करके—

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवन्तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमञ्ज्योतिषाञ्ज्योतिरेकन्तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥

—इस मन्त्रका यथाशक्ति जप करता रहे। स्त्री और शूद्र गीताजीके इस मन्त्रका जप करें—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥

इस प्रकार नव दिनोंतक रामायणका पारायण या श्रवण करे और रात्रिमें उपर्युक्त मन्त्रोंका जप करनेके पश्चात् अगले दिन प्रातःकालकी सन्ध्या करके नीचे लिखे मन्त्रोंका पारायण करे। यह पारायण प्रतिदिन तीनों सन्ध्याओंमें कम-से-कम एक बार होना चाहिये।

जो अशक्त हो वह केवल दोनों सन्ध्याओंमें करे। पारायणसे पहले विधिपूर्वक यह विनियोग पढ़े—

ॐ एतेषां सप्तचत्वारिंशन्मन्त्राणां परब्रह्म भगवान् रामचन्द्र ऋषिर्गाथाछन्दांसि, श्रीभगवान् रामचन्द्रो देवता श्रीभगवद्रामचन्द्रदर्शनप्राप्त्यर्थे विनियोगः।

ऋष्यादि-न्यास करनेके पश्चात् 'ॐ रामाय नमः' इस षडक्षर मन्त्रका न्यास करे। इसके पश्चात् भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका ध्यान करे—

कालाम्भोधरकान्तिकान्तमनिशं वीरासनाध्यासितं
मुद्रां ज्ञानमयीं दधानमपरं हस्ताम्बुजं जानुनि।
सीतां पार्श्वगतां सरोरुहकरां विद्युन्निभां राघवं
पश्यन्तं मुकुटाङ्गदादिविविधाकल्पोज्ज्वलाङ्गं भजे॥

इस प्रकार भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका ध्यान करके श्रीभगवान् शङ्कर तथा हनुमान्‌जीसे हृदयमें प्रार्थना करता हुआ नीचे लिखी हुई गाथाओंका पाठ करे—

अथ हैनं भारद्वाजो याज्ञवल्क्यमुवाचाथ कैर्मन्त्रैः स्तुतः श्रीरामचन्द्रः प्रीतो भवति। स्वात्मानं दर्शयति तान्नो ब्रूहि भगवन्निति, स होवाच याज्ञवल्क्यः॥ पूर्वं सत्यलोके श्रीरामचन्द्रेणैवं शिक्षितो ब्रह्मा पुनरेतया गाथया नमस्करोति।

विश्वरूपधरं विष्णुं नारायणमनामयम्।
पूर्णानन्दैकविज्ञानं परब्रह्मस्वरूपिणम्।
मनसा संस्मरन् ब्रह्म तुष्टाव परमेश्वरम्॥

ॐ यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैतपरमानन्द आत्मा यत्परं ब्रह्म भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः॥ १॥

ॐ यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैतपरमानन्द आत्मा यश्चाखण्डैकरसात्मा भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः॥ २॥

ॐ यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैतपरमानन्द आत्मा यच्च ब्रह्मानन्दामृतं भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः॥ ३॥

ॐ यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैतपरमानन्द आत्मा यत्तारकं ब्रह्म भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः॥ ४॥

ॐ यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैतपरमानन्द आत्मा यो ब्रह्मा विष्णुर्महेश्वरो यः सर्वदेवात्मा भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः॥ ५॥

ॐ यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैतपरमानन्द आत्मा ये सर्वे वेदाः साङ्गाः सशाखाः सेतिहासपुराणा भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः॥६॥

ॐ यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैतपरमानन्द आत्मा यो जीवान्तरात्मा भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः॥ ७॥

ॐ यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैतपरमानन्द आत्मा यः सर्वभूतान्तरात्मा भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः॥ ८॥

ॐ यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैतपरमानन्द आत्मा ये देवासुरमनुष्यादिभावा भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः॥ ९॥

ॐ यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैतपरमानन्द आत्मा ये मत्स्यकूर्माद्यवतारा भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः॥ १०॥

ॐ यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैतपरमानन्द आत्मा योऽन्तःकरणचतुष्टयात्मा भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः॥ ११॥

ॐ यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैतपरमानन्द आत्मा यश्च प्राणो भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः॥ १२॥

ॐ यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैतपरमानन्द आत्मा यश्च यमो भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः॥ १३॥

ॐ यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैतपरमानन्द आत्मा यश्चान्तको भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः॥ १४॥

ॐ यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैतपरमानन्द आत्मा यश्च मृत्युर्भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः॥ १५॥

ॐ यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैत-

परमानन्द आत्मा यच्चामृतं भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः ॥ १६ ॥

ॐ यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैतपरमानन्द आत्मा यानि च पञ्च महाभूतानि भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः ॥ १७ ॥

ॐ यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैतपरमानन्द आत्मा यः स्थावरजङ्गमात्मा भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः ॥ १८ ॥

ॐ यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैतपरमानन्द आत्मा ये पञ्चाग्नयो भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः ॥१९॥

ॐ यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैतपरमानन्द आत्मा याः सप्त महाव्याहृतयो भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः ॥ २० ॥

ॐ यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैतपरमानन्द आत्मा या विद्या भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः ॥ २१ ॥

ॐ यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैतपरमानन्द आत्मा या सरस्वती भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः ॥ २२ ॥

ॐ यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैतपरमानन्द आत्मा या लक्ष्मीर्भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः ॥ २३ ॥

ॐ यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैतपरमानन्द आत्मा या गौरी भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः ॥ २४ ॥

ॐ यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैतपरमानन्द आत्मा या जानकी भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः ॥ २५ ॥

ॐ यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैतपरमानन्द आत्मा यच्च त्रैलोक्यं भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः ॥ २६ ॥

ॐ यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैतपरमानन्द आत्मा यः सूर्यो भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः ॥ २७ ॥

ॐ यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैतपरमानन्द आत्मा यः सोमो भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः ॥ २८ ॥

ॐ यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैतपरमानन्द आत्मा यानि च नक्षत्राणि भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः ॥ २९ ॥

ॐ यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैतपरमानन्द आत्मा ये च नवग्रहा भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ३० ॥

ॐ यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैतपरमानन्द आत्मा ये चाष्टौ लोकपाला भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ३१ ॥

ॐ यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैतपरमानन्द आत्मा ये चाष्टौ वसवो भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ३२ ॥

ॐ यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैतपरमानन्द आत्मा ये चैकादश रुद्रा भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ३३ ॥

ॐ यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैतपरमानन्द आत्मा ये च द्वादशादित्या भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ३४ ॥

ॐ यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैतपरमानन्द आत्मा यच्च भूतं भव्यं भविष्यद्भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ३५ ॥

ॐ यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैतपरमानन्द आत्मा यद्ब्रह्माण्डस्य बहिर्व्याप्तं भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ३६ ॥

ॐ यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैतपरमानन्द आत्मा यो हिरण्यगर्भो भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ३७ ॥

ॐ यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैतपरमानन्द आत्मा या प्रकृतिर्भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ३८ ॥

ॐ यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैतपरमानन्द आत्मा यश्चोङ्कारो भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै

नमो नमः ॥ ३९ ॥

ॐ यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैतपरमानन्द आत्मा याश्चतस्रोऽर्धमात्रा भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ४० ॥

ॐ यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैतपरमानन्द आत्मा यः परमपुरुषो भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ४१ ॥

ॐ यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैतपरमानन्द आत्मा यश्च महेश्वरो भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ४२ ॥

ॐ यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैतपरमानन्द आत्मा यश्च महादेवो भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ४३ ॥

ॐ यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैतपरमानन्द आत्मा य ॐ नमो भगवते वासुदेवाय भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ४४ ॥

ॐ यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैतपरमानन्द आत्मा यो महाविष्णुर्भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ४५ ॥

ॐ यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैतपरमानन्द आत्मा यः परमात्मा भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ४६ ॥

ॐ यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैतपरमानन्द आत्मा यो विज्ञानात्मा भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ४७ ॥

ॐ यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैतपरमानन्द आत्मा यः सच्चिदानन्दाद्वैतैकचिदात्मा भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः ॥ इति तान् ब्रह्माब्रवीत् । सप्तचत्वारिंशन्मन्त्रैर्नित्यं देवं स्तुवध्वम् । ततो देवः प्रीतो भवति । स्वात्मानं दर्शयति । तस्माद्य एतैर्मन्त्रैर्नित्यं देवं स्तौति स देवं पश्यति । सोऽमृतत्वं च गच्छतीति ॥

इन गाथाओंके साथ जो श्रीरामके षडक्षर मन्त्रका जप करता है वह अग्नि, वायु, आदित्य, सोम, ब्रह्मा, विष्णु और रुद्रके समान पवित्र हो जाता है। वह सब देवताओंका जाननेवाला होता है। उसे सारे यज्ञोंका फल प्राप्त होता है। उसे इतिहास, पुराण, रुद्राष्टाध्यायी आदिके एक लाख जपका फल प्राप्त होता है। प्रणवके दस हजार करोड़ (एक खरब) जपका फल प्राप्त होता है। एक लाख गायत्री-जपका फल तो केवल श्रीरामचन्द्रजीके षडक्षर मन्त्रका स्मरण करनेसे ही प्राप्त होता है। वह व्यक्ति जो षडक्षरसहित उपर्युक्त गाथाओंका पाठ करता है, वह अपनी दस पहलेकी तथा दस पीछेकी पीढ़ियोंको तारनेवाला होता है। वह पङ्क्तिपावन हो जाता है। वह महान् बन जाता है। अमृतत्वको प्राप्त होता है। इस प्रकार उपर्युक्त गाथाओं और षडक्षर मन्त्रकी श्रीरामोत्तरतापिन्युपनिषद्में बड़ी प्रशंसा की गयी है।

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके दर्शन प्राप्त करनेकी उपर्युक्त विधिसे अनेकों श्रद्धालु व्यक्तियोंको अभीष्ट फल प्राप्त हुआ है। 'कल्याण' के पाठक भी इसे करके स्वयं देखें। यदि एक बार करनेसे दर्शन न हो तो समझना चाहिये कि अभी पूर्वजन्मके पापोंका क्षय नहीं हुआ। इस विधिको तबतक करते रहना चाहिये जबतक अभीष्ट-सिद्धि न हो। चैत्र तथा आश्विनके नवरात्रोंमें इस विधिके करनेसे शीघ्र सिद्धि प्राप्त होती देखी गयी है। इस विधिके सम्बन्धमें विशेष जानकारी प्राप्त करनेकी इच्छावाले सज्जन 'कल्याण' द्वारा मुझसे पत्रव्यवहार कर सकते हैं।

जीवित मानव

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

मैं पहलेकी बात कह रहा हूँ—बहुत पहलेकी । उस समयकी जब संसारमें आज-जैसे दो पैरके कीड़ोंकी भरमार नहीं थी । जब ये मशीनोंके लौह-दानव दुर्बल शरीरोंका रक्तपान कर गर्व-गर्जन नहीं करते थे । जब बाह्य चाकचिक्यमें अन्तरके नरकको अन्तर्हित किये प्रासादपूर्ण नगर धराका भार नहीं बढ़ाते थे । जब स्वार्थ एवं विलासके पैरोंके नीचे मानवता कुचली नहीं गयी थी ।

मैं उस स्वर्णिम पूर्वकी बात कहता हूँ, जब हरित-भरित शस्यश्यामला पृथ्वीदेवी पुष्पित-फलित विटपों एवं लताकुञ्जोंसे परिपूर्ण थी । जब जहाँ-तहाँ कल-कल करती सरिता या झरनोंके समीप फूस अथवा मृत्तिकाकी कुटीरें ही मानवके लिये पर्याप्त थीं । कहीं-कहीं दस-पाँच एकत्र कुटीरें भी थीं । आप चाहें तो उन्हें ग्राम कह सकते हैं । उनमें रहते थे मानव—जंगलके फल-मूल और कहीं-कहीं जंगली पशुओंके मांसपर निर्भर रहनेवाले मानव । पशु-पालन उन्होंने सीख लिया था और यत्र-तत्र हाथसे पृथ्वी खोदकर बीज डालनेकी प्रथा भी प्रारम्भ हो गयी थी । ऐसे ही एक ग्रामकी मैं बात कह रहा हूँ ।

वह एक ग्राम था । एक नीलम-जैसे जलको लिये छोटी-सी नदी एक ओर बहती थी । वर्षा-ऋतुके अतिरिक्त उसमें बराबर कटिपर्यन्त जल प्रवाहित होता था । एक ओर थोड़ी भूमि खोद ली गयी थी और उसमें कुछ हरे-हरे पौधे उग चुके थे । खूब बड़ा एक घेरा बनाया गया था, पाले हुए पशुओंको रखनेके लिये । इन सबके चारों ओर कँटीले वृक्षोंकी डालियों, पत्थरों और लकड़ीसे एक परिखा बनायी गयी थी । यह थी ग्रामकी किलेबंदी । जिसमें वन-पशु अचानक आकर पशुओं एवं बच्चोंको हानि न पहुँचावें ।

झोंपड़े थे कुल गिने हुए एक दर्जन और वे भी इस प्रकार बने थे जिसमें बीचका बड़ा झोंपड़ा उनके द्वारा घिरा हुआ था । बीचका झोंपड़ा था ग्रामके चौधरीका । प्रत्येक झोंपड़ेमें चमड़े, रस्सियाँ, वल्कल, बाँस और नारियलके बर्तन, धनुष-बाणोंसे भरे तूणीर, कुल्हाड़ी, कुदाल और भाले—इसी प्रकारकी सामग्री रक्खी थी । छोटे बच्चे नदी-तीरपर या पशुओंके साथ क्रीड़ा करते रहते थे । पुरुष वनमें फल एकत्र करने और आखेटका कार्य करते थे । स्त्रियाँ ग्रामके भीतरकी स्वच्छता, पशुओंकी देखभाल तथा गृहकार्य कर लेती थीं । साथ ही वे ग्रामकी रक्षा भी करती थीं । पुरुषोंकी अनुपस्थितिमें आये हुए रीछ, चीते आदि खूँखार पशु उनके हाथोंसे फेंके भालोंसे बचकर निकल जायँ, ऐसा कदाचित् ही हो सकता था ।

× × × ×

(२)

शीत, धूप एवं वर्षाने उसके शरीरको कुछ साँवला कर दिया था, नहीं तो वह गौर वर्णका था । दाढ़ी और सिरके चाँदी-जैसे सफेद बढ़े हुए केशोंने उसके झुर्री पड़े मुखको और भी भव्य बना दिया था । यद्यपि माता धरित्री उसे क्रोड़ीमें लेकर भगवान् भुवनभास्करकी पचास परिक्रमा पूरी कर चुकी थीं, फिर भी उसके सुपुष्ट भुजदण्ड अभी शिथिल नहीं हुए थे । उसकी गठीली मांस-पेशियाँ अभी भी उसे स्फूर्तिमान् बनाये थीं और अब भी वनके भयंकर जन्तु उसके धनुषकी टङ्कारसे तथा ग्रामके युवक उसकी कठोर मुखमुद्रासे काँप उठते थे ।

अपने झोंपड़ेके सामने बनाये चबूतरेपर, जिसपर वह प्रायः न्याय करनेके लिये ही बैठता था, आज बहुत कठोर होकर बैठा था। नित्यप्रतिसे कहीं अधिक तथा असाधारण कठोर होकर! ग्रामके सभी व्यक्ति उसकी आज्ञासे एकत्र किये गये थे—बिना कारण बतलाये। सब भीत थे, सब चिन्तित थे। पता नहीं, आज चौधरी किसपर अप्रसन्न हैं। उनकी अप्रसन्नताका सीधा अर्थ था किसी-न-किसीको अपने प्यारे प्राण उस मनुष्य-भक्षी वृक्षको भेंट करने होंगे। वहाँ एक ही दण्ड होता था—अपराधी ग्रामके बाहर लगे मांस-भक्षी वृक्षपर बलात् फेंक दिया जाता। उस असुर-वृक्षकी डालियाँ पल मारते झुककर उसे कस लेतीं और काँटेदार पत्तोंसे वह ढक जाता। फिर उसकी अस्थियाँ ही तब उज्ज्वल होकर गिरतीं, जब वह वृक्ष अपने पत्तोंके काँटोंसे उस जीवके रक्त-मांस-प्रभृतिका अन्तिम बिन्दुतक शोषण कर चुका होता। उस वृक्षके नीचे पड़ी अस्थियोंके ढेरको देखकर अच्छे-अच्छोंका हृदय काँप उठता था। आज सभी ग्रामवासियोंके मानस नेत्र उसी वृक्षकी बीभत्स यातना देखकर कुण्ठित हो रहे थे।

चौधरीने एक बार सबकी ओर देखा। सबने मस्तक झुका लिये थे। 'ग्रामके सब लोग आ गये हैं' चौधरी यही देख रहा था। पासमें पड़े धनुषको एक बार उसने उठाया, देखा और रख दिया। तरकस उठाया, उसमेंसे बाण निकाले, उनका परीक्षण किया और फिर सबको यथास्थान रख दिया। इसी प्रकार उसने भाले, चमड़ेकी रस्सी और कुल्हाड़ीको भी देखा। ग्रामके लोग चुपचाप सब देख रहे थे। उनकी समझमें नहीं आ रहा था कि उनके सरदारको आज क्या हो गया है। सबसे अन्तमें उसने उठाया अपने सामने रक्खा हुआ एक मरे हुए जंगली बाघका ताजा निकाला होनेके कारण रक्तसे भीगा चमड़ा। बहुत साधारण-सी बात थी। आज ही ग्रामके लड़कोंने इसे चौधरीको भेंट किया था। विशेषता थी तो इतनी ही कि कई लड़कोंने मिलकर, बिना किसी ऐसे हथियारके, जो बाघके चमड़ेको काटे या छेदे, बाघको मार डाला था। इस प्रकारका यह पहला आखेट था; इसीसे वह चौधरीको भेंट किया गया था।

× × × ×

(३)

'पशु भी इतना क्रूर नहीं होता।' चौधरी गम्भीर हो चला था। उसने मस्तक ऊपर उठाकर कहा, 'छिः तुम मनुष्य हो? इतनी नीचतापूर्वक एक पशुको मारकर तुम्हें मानवताके नामपर कलङ्क लगानेका क्या अधिकार था? तुमलोगों-जैसे नृशंस क्यों पृथ्वीका भार बढ़ावें?' वह क्रोधसे काँपने लगा था। हाथकी मुट्ठियाँ कठोरसे कठोरतर होती जा रही थीं।

बात सबकी समझमें आ गयी। बाघ जिस रास्ते पानी पीने जाता था, उस रास्तेपर कटहल-जैसे गाढ़े दूधवाले एक जंगली वृक्षके दूधको खूब चौड़े-चौड़े पत्तोंपर अच्छी प्रकार लगाकर गाँवके लड़कोंने दूरतक बिछा दिया था। बाघ आया, दूध लगे पत्ते उसके पंजोंमें चिपक गये। पंजे साफ करनेके लिये उसने उसे मुखपर रगड़ा। इस प्रकार बार-बार करनेसे उसके दोनों नेत्र दूध लगे पत्तोंसे ढँक गये और पंजे भी पत्ते भर जानेसे बेकार हो गये। झाड़ियोंमें छिपे लड़कोंने जब देखा कि बाघ पूरी तरह अंधा और पंजोंसे बेकार हो गया है तो डंडे लेकर निकल पड़े और उसे घेरकर उन्हीं डंडोंसे मार डाला। एक पशुको इतना असहाय बनाकर मारनेपर वह चौधरी क्रुद्ध था।

'मुर्दो! जब कि तुम्हें उचित था कि बाघ असावधान या सोता होता तो उसे सावधान करते, तुमने उसे धोखा देकर मारा?' चौधरी गर्जन कर रहा

था। 'मैं उस नीचको जानना चाहता हूँ जिसके पापपूर्ण मस्तिष्कमें यह बात पैदा हुई और जिसने अपने साथियोंको पथ-भ्रष्ट किया।' उसने लड़कोंकी ओर दृष्टि डाली।

सब निस्तब्ध थे। किसीने मस्तक ऊपर नहीं उठाया। 'उसे पुरस्कार मिलेगा।' चौधरीने तनिक मृदु स्वरमें कहा, 'वह मेरा उत्तराधिकारी बनेगा। जो उस अधमका नाम बतलावेगा।' लेकिन वे जंगली मानव इतने नीच नहीं थे। वे मानव थे और उसीके समकक्ष मानव, जो आज एक पशुकी निर्दय हत्यापर आपेसे बाहर हो रहा था। फिर क्या, वे अपनेमेंसे ही एकके प्रति विश्वासघात करते?

'ओह! तुमलोग एक अपराधीको छिपाना चाहते हो?' अपनी विकट हँसीके साथ उस बुड्ढेने धनुष उठाया। प्रत्यञ्चा चढ़ाकर उसने तरकसमेंसे एक बाण उसपर रक्खा। 'यह घोर विषसे बुझा है, इतना भयंकर बाण आजतक किसीने बनाया या कोई बनाता है—सो मैं नहीं जानता। मैंने भी क्रूर और पापी शत्रुके लिये, जो अचानक आकर प्राणसंकट उपस्थित करे, उसीके लिये इसे बनाया था। आज मैं इसे चढ़ाता हूँ। जिसमें साहस हो सामने आवे या इन सब लड़कोंको मैं इस विषैले बाणका लक्ष्य बनाऊँगा। यदि तुम इन्हें विषसे मरते नहीं देखना चाहते तो बाँधो और उस पेड़के पास ले चलो!'

'अपने ही बच्चोंको बाँधना होगा! लेकिन किया क्या जाय? चौधरी ठीक मार्गपर है। इतनी क्रूरता करनेवाले जीवित रहनेका अधिकार भी क्या रखते हैं?' सबने अपने अश्रुभरे मुख नीचे कर लिये।

'चलो बाँधो!' चौधरीने कड़ककर कहा। सबके हाथोंमें रस्सियाँ आ गयीं और वे बच्चे उनके सम्मुख स्वतः आकर खड़े हो गये।

× × × ×

(४)

'आपलोग ठहरें!' चौधरीके घरमेंसे निकलकर एक पंद्रह वर्षका बालक दौड़ता हुआ आया और उसने अपनी घुँघराली अलकोंको समेटकर कानोंके पीछे डालते हुए गम्भीरतासे कहा। उसका एकहरा शरीर, गौर वर्ण, बड़े-बड़े नेत्र और सलोना हँसता मुख लोगोंको प्रभावित किये बिना न रहा। फिर उसने चौधरीकी ओर मुख फेरा, 'पिताजी! अपराध तो मेरा है।' उसकी वाणीमें न कम्प था, न भय और न दैन्य ही। 'मैंने ही यह युक्ति सोची और कौतूहलवश साथियोंको प्रेरित किया। उन्हें समझाकर पथभ्रष्ट तो मैंने किया है। निश्चय ही यह एक जघन्य कृत्य है, जो मैंने बालचापल्यवश कर डाला है। मैं इसके लिये बहुत दुखी हूँ और दण्डके लिये प्रस्तुत भी! इन बेचारे निरपराधोंको क्यों बाँधा जाय?'

'उत्कच! तुम?' चौधरीका मुख फीका हो गया। एक बार वह हतप्रभ होकर चौंका, पर दूसरे ही क्षण उसने अपनेको सँभाल लिया। पूर्ववत् कठोर होकर उसने दुहराया 'तुमने यह घृणित काम किया है?'

'जी हाँ! मुझसे ही यह अपराध हो गया है।' उत्कच शान्त था।

'बाँधो इसे!' पुत्रस्नेहको ठुकराकर चौधरीने कहा।

'इसकी आवश्यकता न होगी!' उत्कचने लोगोंको चौंका दिया। 'मैं स्वयं ही उस वृक्षपर जाकर कूद पड़नेको तैयार हूँ।' वह उधर मुड़ पड़ा।

'इतना साहस! इतना धैर्य।' लोगोंमें कानाफूसी होने लगी।

'ऐसा नहीं हो सकता।' बच्चोंके समूहने एकस्वरसे कहा। उन्होंने उत्कचको पकड़कर रोक लिया था। 'भैया उत्कचने उस बाघको एक डंडा भी मारा नहीं था।' वे चौधरीसे न्याय चाहते थे। 'केवल सलाह-

मात्र उन्होंने दिया था । अपराध तो हमलोगोंने किया है ।'

इतनेमें ही स्त्रियोंकी भीड़ हो गयी । माताओंने बच्चोंको गोदमें छिपा लिया और वे रोने-चिल्लाने लगीं ।

चौधरीको यह सब सह्य नहीं था । उसने चिल्लाकर कहा, 'तब उत्कचके साथ इन सबको उस वृक्षपर फेंक दो ।'

× × × ×

(५)

'ऐसा नहीं हो सकता ।' एक ऊँचा तरुण सामने आया । 'मुझे इस धृष्टताके लिये आप क्षमा करें ।' चौधरी चौंक पड़ा । जीवनमें पहली बार उसे प्रत्युत्तर मिला था । उसने क्रोधसे जलते हुए पूछा, 'ऐसा नहीं हो सकता ?'

'जी हाँ, ऐसा नहीं हो सकता ।' तरुणका स्वर नम्र किन्तु दृढ़ था । 'इन भोले बच्चोंने जो कुछ भी किया है—बाल-स्वभावके कारण अज्ञानवश ही किया है । इसके लिये इन्हें इतना कठोर दण्ड नहीं होना चाहिये । यदि वे अपराधी हैं और उन्होंने एक पशुकी निर्दय हत्या की है तो क्या साथ ही उन्होंने अभी-अभी असीम धैर्य और मैत्रीका परिचय नहीं दिया है ? क्या सहचरोंके लिये इस प्रकार हँसते हुए अपनेको न्यौछावर कर देनेवाले इन होनहारोंको एक पशुके लिये मिटा दिया जा सकता है ? कभी नहीं ।'

'कभी नहीं !' उसके साथ ही ग्रामके दूसरे लोगोंने चिल्लाकर दुहराया ।

'तो आपलोग विद्रोह करना चाहते हैं ?' चौधरी कुछ धीमा पड़ चुका था ।

'जी नहीं !' दूसरे कुछ कहें, इससे पूर्व ही उसी तरुणने कहा, 'हम केवल इन बच्चोंके अनोखे साहस और उत्कचके त्यागका पुरस्कार देना चाहते हैं । हम अपने अग्रणीसे नम्रतापूर्वक प्रार्थना करना चाहते हैं कि इन्हें क्षमा किया जाय ।'

'यदि मैं इसे स्वीकार न करूँ तो ?' चौधरीका स्वर शान्त हो गया था ।

'तो हमें असीम कष्ट होगा !' तरुणका स्वर आर्द्र हो चला था । 'हम आपसे क्षमा चाहेंगे और अपने कर्तव्यका पालन करेंगे ।'

'कर्तव्य कौन-सा ?' चौधरीने बीचमें रोका ।

'हम इन बच्चोंको बीचमें कर लेंगे । प्रिय उत्कचसे अनुरोध करेंगे कि वह हमारा अग्रणी बने और आपके संरक्षण एवं कृपासे प्राप्त इन गृहों तथा पशुओंको छोड़कर कहीं दूसरे अनुकूल स्थानको ढूँढ़ने जायँगे ।' तरुणने वाक्य पूरा किया ।

'पर मेरा यह बाण'……चौधरी कुछ कहना चाहता था ।

'वह धनुषसे फिर त्रोणमें पहुँच जायगा ।' तरुणने बीचमें ही विश्वस्त स्वरमें कहा । 'प्रतिरोधहीन हमलोगोंपर इस बाणको छोड़नेके लिये आपके हाथ बढ़ेंगे—इसे मैं नहीं स्वीकार कर सकता । हमारे अग्रणीका हृदय इतना कठोर है, इसे मैं मान नहीं सकता ।'

'यह सब कुछ नहीं ।' चौधरीने धनुष-बाण फेंक दिया । 'जिन लोगोंने मुझे यह पद और अधिकार दिया है, उसे छीननेका भी अधिकार उनको है । यदि आपलोग मेरे रक्षणमें नहीं रहना चाहते तो मैं स्वयं इस पदको छोड़ता हूँ । आप अपना चौधरी चुन लें ।'

'और आप ?' आश्चर्यसे सब पुकार उठे ।

'मैंने आजतक कहकर पलटना नहीं सीखा है ।' चौधरी दृढ़ और शान्त स्वरमें कह रहा था । 'आप लोग जिन्हें क्षमा करना चाहते हैं, मुझ अकेलेको क्या अधिकार है कि मैं उन्हें दण्ड दूँ । इन बच्चोंकी धीरता भी उन्हें क्षमा कर देनेको बाध्य करती है ।

पर—अपराध उत्कचका है और उत्कच मेरा पुत्र है, अतः पुत्रका अपराध पिताका ही हुआ । उस पशुकी निर्दय हत्या—उसका तड़प-तड़पकर प्राण-त्याग—उफ ! मैं स्वयं इसका प्रायश्चित्त करूँगा ।'

कोई कुछ कहे, इससे पूर्व ही चौधरी चबूतरेसे कूदा और दौड़ पड़ा । लोग हक्के-बक्के-से रह गये । वह सीधा उधर जा रहा था, जिधर वह मांस-भक्षी वृक्ष था । लोग दौड़े सही, पर आज बूढ़े चौधरीके साथ दौड़ना सरल नहीं था । वह दौड़ता ही गया और उस वृक्षपर जाकर कूद पड़ा । वृक्षकी पत्तोंसे भरी डालियाँ झुकीं और उन्होंने चौधरीको चारों ओरसे छिपा लिया ।

(६)

चौधरीका शरीर रक्तसे भीग गया था । काँटोंसे छिदे घावोंसे रक्तके फवारे-से निकल रहे थे । फिर भी चौधरीके मुखपर वेदनाका नाम न था । उसने अपने लोगों तथा उत्कचसे केवल एक वाक्य कहा, 'तुमलोग मानव हो, तुम्हें जीवित मानव रहना चाहिये । यदि तुम्हारे भीतरकी मानवता मर जाय तो तुम जीते हुए भी मृत हो जाओगे ।'

इसी समय वह मांस-भक्षी वृक्ष धड़ामसे गिर पड़ा । चौधरीके भागनेपर एक तरुणने चौधरीका वह धनुष और भयंकर विषबुझा बाण उठा लिया था । चौधरीको बचानेके लिये उसने वह बाण वृक्षकी जड़में मारा था । उसीके विषसे वृक्षकी डालियाँ मुरझा गयी थीं और चौधरीका काँटोंसे बिंधा शरीर उनके पंजेसे छूट गया था । विषकी गर्मीसे पेड़ शुष्कप्राय होकर गिर पड़ा ।

लोगोंने देखा—उनके बीचमें चौधरीका वह शरीर चेष्टाहीन पड़ा है । यद्यपि चौधरीका शरीर अब निर्जीव था—फिर भी वह उन लोगोंके लिये गौरवास्पद था; क्योंकि वह एक जीवित-मानवका शरीर था ।

गोरक्षा और भगवान् बुद्ध

(लेखक—श्री 'मधुप')

गोरक्षाके विषयमें भगवान् बुद्धके विचार

दुःखकी बात है कि आज बर्मा आदि बौद्ध देशोंके निवासी गो-मांसका भक्षण करते हैं । उनके इस कदाचारको देखकर भारतवासी समझते हैं कि बौद्ध भाई प्रायः गोमांस-भक्षी होते हैं और भगवान् बुद्धने अवश्य ही गोहत्याके विरुद्ध कोई विशेष बात नहीं कही होगी । किन्तु वास्तवमें तथ्य इसके सर्वथा विपरीत है । भगवान् बुद्धके हृदयमें गौओंके प्रति अटूट श्रद्धा और दया थी । भगवान् बुद्धने जहाँ समस्त संसारके जीवोंकी रक्षापर जोर दिया है, वहाँ गो-रक्षापर विशेषरूपसे बल दिया है । गौके विषयमें उनकी भावनाका वर्णन खुद्दक-निकाय-अन्तर्गत सुत्तनिपातके 'ब्राह्मणधम्मियसुत्त' तथा 'अट्ठ-कथा' में विशेषरूपसे मिलता है । इस वर्णनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् बुद्धने अपने समयमें भी गोहिंसाको रोकनेका पूर्ण प्रयत्न किया था ।

'ब्राह्मणधम्मियसुत्त' श्लोक १३ में भगवान् बुद्धने स्पष्ट कहा है—

यथा माता-पिता भाता, अञ्ञे वापि च जातका ।
गावो नो परमा मित्ता, यासु जायन्ति ओसधा ॥

अर्थात् जैसे माता, पिता, भाई और दूसरे बन्धु हैं, वैसे ही गौएँ हमारी परम मित्र हैं, जिनसे कि ओषधियाँ पैदा होती हैं ।

भगवान् बुद्धकी गौओंके विषयमें यह बड़ी ही प्रशंसनीय उच्च भावना है ।

भगवान् बुद्धने पुराने ऋषियों एवं तपस्वियोंके आचरणके विषयमें अपने उद्गार 'ब्राह्मणधम्मियसुत्त' में इस प्रकार प्रकट किये हैं—

'पुराने ऋषि संयमी और तपस्वी होते थे। वे पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंसे मन हटाकर ज्ञान-ध्यानमें अपना समय व्यतीत करते थे। वे पशु, सोना-चाँदी या अनाजका संग्रह नहीं करते थे। वास्तवमें स्वाध्याय ही उनका धन-धान्य था और ब्राह्मणोचित गुण—मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा आदि ही उनके कोष थे। वे अड़तालीस वर्षतक कुमार रहकर पूर्ण ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करते थे और उसके बाद विवाह करते थे। वे ब्रह्मचर्य, शील, सरलता, नम्रता, तप, कोमलता, करुणा और क्षमाकी प्रशंसा करते थे। उनमें सर्वोत्तम, दृढ़ पराक्रमी ब्रह्मा थे, जिन्होंने स्वप्नमें भी स्त्री-संग नहीं किया। वे चावल, शय्या, वस्त्र, घी और तेलकी भिक्षा करके धर्मके अनुसार यज्ञ करते थे। यज्ञमें गौको वे नहीं मारते थे। *

जैसे माता-पिता, भाई और दूसरे बन्धु हमारे हैं, वैसे ही गौएँ भी हमारी परम मित्र हैं। गौसे ओषधियाँ भी उत्पन्न होती हैं। गौ अन्न, बल, रूप और सुखके देनेवाली हैं, यह जानकर ही गौकी रक्षा करते थे। जब वे सुकुमार, महाकाय, वर्णवान्, यशस्वी ब्राह्मण अपने धर्म, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यको जानते हुए अपने-अपने धर्मका पालन करते रहे, तबतक संसारमें प्रजा सुखसे रही।'

प्राचीन ब्राह्मणों तथा गौओंके विषयमें भगवान् बुद्धके ये उद्गार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं और हमें गोरक्षाके महत्त्वको बतलाते हैं। भगवान् बुद्धने गोहिंसाके विषयमें यहाँतक कहा है——

''संसारमें पहले केवल तीन रोग थे——इच्छा, भूख और वृद्धावस्था। किन्तु जबसे हिंसा होने लगी, तबसे वे बढ़कर अट्ठानवें हो गये।*

भगवान् बुद्धने गोहिंसाके प्रति स्पष्ट शब्दोंमें कहा था—

एवमेसो अनुधम्मो, पोराणो विञ्ञु गरहितो।

अर्थात् यह गोहिंसा इस प्रकार प्राचीन विद्वानों-द्वारा निन्दित नीच कर्म है।

भगवान् बुद्धके पश्चात्—

बौद्ध-इतिहासको देखनेसे पता चलता है कि भगवान् बुद्धके निर्वाणके कई सौ वर्ष बाद भी कुछ धर्मानुयायियोंमें वही उत्तेजना रही। बौद्धलोग गोहिंसाको रोकनेका भरसक प्रयत्न करते रहे। सन् १३५२ ई० में बर्मास्थित विजयपुराके राजा सीहसूरके प्रधान मन्त्री श्रीमहाचतुरङ्ग बलने 'लोकनीति' नामक एक ग्रन्थकी रचना की है। जान पड़ता है कि बर्मामें उस समय भी गोहिंसा बराबर बढ़ती जाती थी। अतएव उन्होंने उसको रोकनेके लिये गोमांसको निम्नशब्दोंमें त्याज्य ठहराया—

'ये च खादन्ति गोमंसं, मातु मंसं व खादये।'
(लोकनीति ७। १५)

अर्थात् जो गायके मांसको खाते हैं, वे अपनी माताका मांस खावें। उन्होंने बैलोंकी भी उपेक्षा नहीं की, बैलोंकी हत्यासे दयार्द्र होकर उन्होंने कहा—

गोणा हिसब्ब गिहीनं, पोसका भोगदायका।
तस्मा हि माता पितू व, मानये सक्करेय्य च॥
(लोकनीति ७। १४)

अर्थात् बैल ही सब गृहस्थोंके भोगदाता तथा पुष्ट करनेवाले होते हैं। इसलिये उनको माता-पिताके समान मानकर उनकी पूजा करनी चाहिये।

इधर बौद्ध-प्रधान देशों और विशेषकर बर्मामें मांस-भक्षणका खूब प्रचार है। आजकलके बर्मावासी तो

---

* अन्नदा बलदा चेता, वण्णदा सुखदा तथा।
एतमत्थवसं ञत्वा, नास्सु गावो हनिंसु ते॥१४॥
—ये ही अन्न, बल, वर्ण, रूप तथा सुखकी दाता हैं—इस बातको जानकर ही वे गौको नहीं मारते थे।

* तयोरोगा पुरे आसुं, इच्छा अनसनं जरा।
पसूनं च समारम्भा, अट्ठनावुतिमागमुं॥२८॥

सर्वभक्षी समझे जाते हैं और गो-मांससे भी घृणा नहीं करते। अतएव वहाँ सदा ही गोहिंसाको रोकनेका प्रयत्न होता रहा। अभी पिछले दिनों महास्थविर लेडी सयानो डी-लिट्ने बर्मामें बढ़ती हुई गो-मांस खानेकी प्रवृत्तिको रोकनेका पूर्ण प्रयत्न किया। उन्होंने भगवान् बुद्धके 'ब्राह्मणधम्मियसुत्त' आदि उपदेशोंको बौद्ध जनताके सामने रखकर उनको गो-मांसका त्याग करनेकी प्रेरणा की, जिसमें उनको बहुत कुछ सफलता मिली।

आजकी स्थिति

आज हम फिर नवीन युगका श्रीगणेश कर रहे हैं। आज हम प्राचीन बृहत्तर भारतके स्वप्न देखकर भारतीय आर्य-धर्मका पालन करनेवाले संसारभरके निवासियोंके साथ प्रेम-बन्धनमें बँधना चाहते हैं। यही कारण है कि सारनाथमें बौद्धोंके पास एक इंच भर जमीन न होते हुए भी वहाँ बौद्धोंका एक 'आर्य-संघाराम' तथा एक विशाल मन्दिर बन गया। इसी कारण आज भारतकी नवीन विभूति भगवान् सत्य-नारायण, शिव और शक्तिके मन्दिरकी बगलमें ही बौद्ध-मन्दिर भी बना हुआ दीख पड़ता है। आज संसारके तुलनात्मक विद्वान् बौद्ध ग्रन्थोंके अंदरसे उपदेशक तत्त्व ढूँढ़-ढूँढ़कर उनको जनताके पास पहुँचा रहे हैं। ऐसी स्थितिमें यदि हमारे एक भाईमें त्रुटि भी है तो हम उसको भगवान् बुद्धके पवित्र वचनकी याद दिलाकर प्रेमसे समझावेंगे। जिससे वे अपने उस दोषको समझकर स्वयं ही छोड़ दें; और निरामिषभोजी होकर अपनी आत्माको पवित्र करें।

सारांश यह है कि भगवान् बुद्धकी एतद्विषयक आज्ञा बिल्कुल स्पष्ट है और वे गो-मांसके अत्यन्त विरोधी हैं। आशा है कि हमारे भारतवासी भाई भगवान् बुद्धके इन स्पष्ट वचनोंको जानकर उनके विषयमें अपनी धारणाको ठीक कर लेंगे और भूमण्डलपर फैले हुए सनातनी, आर्य-समाजी, सिख, जैन, बौद्ध आदि ७० करोड़ सभी आर्य-हिंदूधर्मी एक हैं, इनमें कोई भेद नहीं है, ऐसा समझेंगे।*

सब्बे तसन्ति दण्डस्स, सब्बे भायन्ति मच्चुनो।
अत्तानं उपमं कत्वा, न हनेय्य न घातये॥

'दण्डसे सभी डरते हैं, मृत्युसे सभी भयभीत होते हैं। औरोंको भी अपने ही-जैसा समझकर न उनका हनन करे, न घात करे।' —संगृहीत।

* * *

---

* 'संघे शक्तिः कलौ युगे' वर्तमान समयमें सङ्गठित शक्तिद्वारा ही जातियाँ जीवित रह सकती हैं। क्षुद्र विचार, अज्ञान, निर्बलता, भेदभाव, असङ्गठनसे तथा अपने प्राचीन गौरवको भुला देनेसे ही, संसारकी प्रायः आधी प्रजा अर्थात् भगवान् बुद्धके उपदेशोंको आदरकी दृष्टिसे देखनेवाले सत्तर कोटि आर्यलोग पददलित और दीन-हीन हो रहे हैं। अतः एक-एक आर्य-हिंदूधर्मीका कर्तव्य है कि वह अपने खोये हुए प्राचीन-गौरव, समृद्धि, शक्ति, विद्या, बल, बुद्धि, सुख-साम्राज्य, कीर्ति तथा उच्चपदको शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त कर लेनेके लिये सर्वथा दृढ़सङ्कल्प होकर प्रयत्न करे। इसीसे शरीर और आत्मा, धन और धर्म, इस लोक और परलोक, स्वर्ग और मोक्ष—सबकी सिद्धि हो सकती है तथा वर्तमान महान् दुःख-समुदायोंसे छुटकारा मिल सकता है।

हिंसाके द्वारा विश्वभरमें दुःखोंका सागर उमड़ चला है। हमारे धर्ममें अहिंसाको परम धर्म माना है। ऐसा विचारकर 'अहिंसा-धर्म' का पालन और प्रचार करना परम आवश्यक है। जो किसीको जीवन-दान नहीं दे सकता, उसको किसी भी प्राणीका जीवन नष्ट करनेका अधिकार कैसे हो सकता है? अतः हिंसा करना अप्राकृतिक, नियम व नीतिके विरुद्ध प्रणाली है। चटोरे, पेटू, लोभी या पराये सत्त्वको अन्यायसे हड़पनेवाले लोगोंने ही हिंसाका सहारा ले रक्खा है, पर यह सर्वथा अधोगतिमें ले जानेवाला है। फिर गौ-जैसी सर्वोत्तम, सर्वजन-हितकारिणी, सब समयमें सब प्रकारसे लाभ पहुँचानेवाली पशु-जातिकी हिंसा करना तो मनुष्य-जातिके जीवनपर ही कुठाराघात करने-जैसा है। विश्वके सर्वोत्तम ग्रन्थरत्न 'भगवद्गीता' में भी 'अभय' को ही दैवी सम्पदाका सर्वप्रथम गुण बताया गया है। स्वयं निर्भय रहना, सबको अभय देना तथा भयरहित सर्वोच्चम पदकी प्राप्ति करना ही सबके जीवनका परम ध्येय महात्माओंने वर्णन किया है।

भगवान् रामकी लोकप्रियताका एक प्रधान कारण

(लेखक—श्रीधर्मदेवजी शास्त्री, दर्शनकेशरी, पञ्चतीर्थ)

वेदसे लेकर गीतातकमें जिस आर्यधर्मका प्रतिपादन है, उसका व्यावहारिक, निदर्शनात्मक सजीव रूप श्रीरामचरित्रमें है; इसलिये भगवान् रामका जीवन हिंदूधर्मका मूर्तिरूप है। भारतीय धर्मका जन्म और विकास कुटुम्बमें होता है। कौटुम्बिक जीवनने ही आजके मानव-समाजका रूप निर्माण किया है। जिस भारतीय दर्शनके आधारपर सामाजिक जीवनकी भित्ति बनी है, उस दर्शनकी प्रयोगशाला कुटुम्ब ही है। कुटुम्बमें जो शिक्षा अनायास बालक-बालिकाको मिलती है, वह बाहरके विश्वविद्यालयोंमें नहीं मिल सकती। कुटुम्ब एक वह इकाई है, जिसका व्यापक रूप 'वसुधैव कुटुम्बकम्' में होता है। कुटुम्ब वस्तुतः महान् विद्यापीठ है। 'कुल-धर्म' ही 'विश्व-धर्म' का जनक है और कुल-धर्मका सच्चा निर्वाह न होनेपर मनुष्य विश्वके प्रति अपने कर्तव्यका पालन नहीं कर सकता। यह एक ठोस सत्य है।

मनुष्य एक होनेपर अनेक है। वह पुत्र भी है, पिता भी। वह पति, भाई, शिष्य, गुरु, राजा, प्रजा, मित्र, स्वामी, सेवक आदि अनेक रूपोंमें समाजमें दीखता है। इसके अतिरिक्त शारीरिक रूपसे छोटा, बड़ा, शिशु, युवा, वृद्ध, स्वस्थ, अस्वस्थ, दुःखी, सुखी आदि अनेक रूपोंमें दृष्टिगोचर होता है। मानसिक रूपसे भी वह एक-सा नहीं रहता। इससे भी अधिक भेद मनुष्यके जीवनमें कालके कारण होता है। कभी वह आकाशमें उड़ता है तो कभी पातालमें भी उसे स्थान नहीं मिलता। कभी राजा, तो दूसरे समय रंकसे भी गया-बीता। व्यावहारिक जीवनमें यह सब भिन्न और विरोधी स्थितियाँ किस मनुष्य (स्त्री-पुरुष) के सम्मुख उपस्थित नहीं होतीं। उस दशामें मनुष्यको किस प्रकारसे व्यवहार करना चाहिये ? इस प्रश्नका सजीव निरूपण भगवान् रामके चरित्रमें है; इसलिये वाल्मीकीय रामायण विश्व-साहित्यका अमर ग्रन्थ है। यदि आप पुत्र हो तो रामके समान—पिता-माताके आज्ञाकारी बनो, यदि भाई हो तो रामके ही समान भाई बनो, किसी भी स्थितिमें भाईपर अविश्वास न करो ! भरतकी भाँति बड़े भाईको पिताके समान समझो। भाई-बहिन, माता-पिता, सेवक-सम्बन्धी—इनका समुदाय ही कुटुम्ब है। सबके प्रति मनुष्यका कर्तव्य है—कर्तव्य-पालन करते हुए यह ध्यान रखना कि दूसरेके प्रति कर्तव्य-पालनमें बाधा या कमी न पड़े। जीवनका यह संतुलन ही कुटुम्ब-जीवन है। जीवन भी संतुलनका ही नाम है। भगवान् श्रीकृष्णने 'समत्वं योग उच्यते' इन शब्दोंमें इसी सत्यका प्रतिपादन किया है। इस संतुलनात्मक योगकी भी सच्ची शिक्षा मनुष्यको कुटुम्बमें ही मिलती है। हिंदू-धर्मकी रीढ़की हड्डी वर्णव्यवस्था है। वह भी कौटुम्बिक जीवनमें ही सम्भव है। कौटुम्बिक जीवन और ग्राम-संस्था—इन दोनोंको यदि समाप्त कर दिया जाय तो फिर भारतीय धर्म टिक ही नहीं सकता—

आज कुटुम्ब-जीवन संकटमें है। व्यक्तिगत—स्वतन्त्रताके नामपर आज जिस उच्छृङ्खलताको प्रश्रय मिल रहा है तथा युवक और युवतियोंमें कामुकताकी जो बाढ़ आ गयी है। ये दोनों ही कौटुम्बिक जीवनको

समाप्त करनेवाले महान् शत्रु हैं। इससे भी बढ़कर पश्चिमकी जो दार्शनिक धारा हमारे देशमें बह रही है, उसके आधारपर अनेक व्यक्ति यह सोचने लगे हैं कि कुटुम्ब मानव-समाजकी उन्नतिमें बाधक है। ऐसे लोग यह भी कहते हैं कि विवाह-प्रथा भी हेय है, स्वतन्त्र-प्रेमके प्रतिपादक इन लोगोंकी यदि चल गयी तो मानव-समाज नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा। हमारा तो विश्वास है कि आजतककी मनुष्यकी उन्नतिका प्रधान कारण कुटुम्ब है। कुटुम्ब समाजका मूल है। भगवान् श्रीरामने कुटुम्बके लिये ही राज्यके स्थानपर वनवास स्वीकार किया था। भगवान् राम जो आज हिंदू-हृदयमें विराजमान हैं, उसका एक प्रधान कारण यह भी है।

व्रत-परिचय

(लेखक—पं० श्रीहनूमानूजी शर्मा)

[गतांकसे आगे]

(पापसम्भूत सर्वरोगार्तिहरव्रत)

(१८)

(३२) मूत्रकृच्छ्रोपशमनव्रत (मन्त्रमहार्णव)–इस रोगके रोगीको चाहिये कि वह प्रातःस्नानादिसे निवृत्त होनेके अनन्तर शुभासनपर पूर्वाभिमुख बैठ करके 'मम मूत्रकृच्छ्रादिप्रशमनपूर्वकमायुरारोग्यैश्वर्याभिवृद्ध्यर्थं पुरुषसूक्तस्य सहस्रनामस्तोत्रस्य च यथासंख्यापरिमितपाठानहं करिष्ये।' यह संकल्प करके उक्त दोनों पुरुषसूक्त और विष्णुसहस्रनामके पृथक-पृथक् पाठ करे।

(३३) मूत्रकृच्छ्र[1]हरव्रत (सूर्यारुण २१५)–जो मनुष्य ब्राह्मण-कुलमें जन्म लेकर गौड़ी, माध्वी और यवसंभूत सुराका पान करते हैं उनके मूत्रकृच्छ्र होता है अथवा तीक्ष्ण भोजन, रूक्ष भोजन, सुरापान, घोड़ेकी सवारी, चक्रवाकादिका मांस और भोजन-पर-भोजन करने आदिसे मूत्रकृच्छ्र होता है। इसकी निवृत्तिके निमित्त सुवर्णका अष्टदल कमल बनाकर उसके मध्यमें महाप्रभु ब्रह्माजीका आवाहनादि षोडशोपचारोंद्वारा पूजन करके सात्त्विक पदार्थोंका एक समय भोजन करे और इस प्रकार प्रत्येक शुक्ल पक्षकी द्वितीयाको करता रहे।

(३४) बहुमूत्रहरव्रत (सूर्यारुण १३७)—लोभवश दुग्धादि पदार्थोंको चुराने या उनको नष्ट-भ्रष्ट करनेसे बहुमूत्र होता है। उसकी निवृत्तिके लिये काश्यपके कथनानुसार 'दुग्धधेनु' का दान और नक्तव्रत (रात्रिमें एक बार भोजन) करना चाहिये।

(३५) अश्मर्युपशमनव्रत (मुक्तकसंग्रह)–पूर्वजन्मके अगम्यागमनादि महापापोंके प्रभावसे अथवा वात, पित्त, कफ और शुक्रके विकृत होनेसे अश्मरीका आक्रमण होता है। उसके प्रतीकारके लिये–ज्योतिःशास्त्रोक्त शुभ मुहूर्तमें प्रातःस्नानादि नित्यकर्मसे निवृत्त होकर 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥' इस मन्त्रका १० हजार बार जप करे और पलाश (छीला) की समिधाओंमें घीसे इसी मन्त्रकी १ हजार आहुति दे तथा दूध पीकर रहते हुए ईश्वरका स्मरण करे।

(३६) प्रमेहरोगोप[1]शमनव्रत (अनु० प्रकाश)–यह रोग अनेक प्रकारका होता है। धर्मशास्त्रोंके अनुसार किसी भी जन्ममें माता, सास, गुरुपत्नी, रानी तथा मित्र-मातामें गमन करनेसे 'मधुमेह', भ्रातृभार्या (भौजाई) में गमन करनेसे 'जलमेह', भगिनीमें गमन करनेसे 'इक्षु' (रस) मेह, अमा, पूर्णिमा या ग्रहणमें स्त्री-प्रसंग करने तथा

---

[1] व्यायामतीक्ष्णौषधरुक्षमद्यप्रसंगनित्यद्रुतपृष्ठमानात्।
आनूपमांसाद्यशनादजीर्णात् स्युर्मूत्रकृच्छ्रः··· ॥
(माधव)

[1] आस्यासुखं स्वप्नसुखं दधीनि ग्राम्यौदकानूपरसाः पयांसि।
नवान्नपानं गुडवैकृतं च प्रमेहहेतुः··· ॥
(माधव)

कन्यामें गमन करनेसे 'बालमेह', चाण्डाली या मेहतरी आदिमें गमन करनेसे 'व्याधिकर सर्वप्रमेह' और तिर्यग्योनि (पशु आदि)में गमन करनेसे 'शूलप्रयुक्त प्रमेह' होता है। आयुर्वेदके अनुसार सुखकी उपस्थिति, सुखकी निद्रा, सुखप्रद (स्त्रीप्रसङ्गकारी) स्वप्न और दूध-दही या नवीन अन्न-जल खाने-पीने आदिसे प्रमेह होता है। इसकी निवृत्तिके लिये यथायोग्य–क्षुधा और तृषा (भूख-प्यास) दोनों त्याग कर निराहार तीन उपवास, तीन यवमध्य, तीन चान्द्रायण तथा तीन कृच्छ्रचान्द्रायण, पुरुषसूक्त और सहस्रनामके पाठ करे और अधिक पाप (या पाप और रोग दोनों) हों तो प्रतिदिन 'आ ते रुद्र०' सूक्तसे घीकी एक हजार आहुति, सुवर्ण-धेनुका दान और चालीस ब्राह्मणोंको भोजन करावे। इससे सब प्रमेह शान्त होते हैं।

(३७) **प्रदरोपशमनव्रत** (मन्त्रमहार्णव)–रक्त और श्वेत दो प्रकारका प्रदर होता है। रक्तमें स्त्रीकी जननेन्द्रियसे रक्त और श्वेतमें रज (जिसको स्त्रियाँ धौले गिरते मानती हैं) बहता रहता है। पूर्वजन्ममें गर्भस्रावादि या भ्रूणहत्या करने अथवा बालकोंके मारनेसे रक्त या श्वेत प्रदर होता है। इनमें 'रक्तप्रदर' प्राणान्तक और 'श्वेतप्रदर' स्त्रीत्वनाशक होता है। इनके निमित्त जितनी सामर्थ्य हो उतनेभर सुवर्णका यज्ञोपवीत बनवाकर माघ, फाल्गुन या वैशाखकी शुक्ल त्रयोदशीको प्रातःस्नानादिसे निश्चिन्त होकर व्रत धारण करे। और पूर्वाभिमुख बैठकर सुवर्णनिर्मित यज्ञोपवीतका पूजन करके उसे दीन एवं सदाचारी ब्राह्मणको दे। अथवा भौम या शुक्रवारके दिन प्रबालभस्म और मुक्ताभस्मको शहदमें मिलाकर 'अग्निर्मूर्धा दिवः०' और 'अन्नात्परिस्रुतो०' से घीके साथ १०८ आहुति देकर ब्राह्मणोंको घी तथा खीरका भोजन करावे और उनको विदा करके पति-पुत्रादिसहित स्वयं भोजन करे।

(३८) **प्रदरहरव्रत** (मन्त्रमहार्णव)–पूर्वजन्ममें माँ-बाप, भाई या गुरुजनोंके साथ स्पर्धा (डाह) रखने आदि कारणोंसे प्रदर होता है। एतन्निमित्त 'तद्विष्णो०' इस मन्त्रका प्रतिदिन एक हजार जप और चान्द्रायणव्रत करे तथा घी और शहदयुक्त अन्नका दान करके सात्त्विक पदार्थोंका एक समय भोजन करे।

(३९) **श्वयथु (शोथ) रोगहरव्रत** (महार्णव)–पर्वतकी तलहटीमें, नदी आदिके तीरमें या छायाकी जगह (वृक्षादिके मूल) में मल-मूत्र या खखार आदि त्यागनेके पापसे श्वयथु रोग होता है (इसको कोई-कोई दमा भी मानते हैं)। इसकी शान्तिके लिये 'स९ इदं वो विश्वतः शरीर०' का ३०११८ बार जप करे और 'आपो हि ष्ठा मयोभुवः०' आदिसे चरु (खीर) और घीकी एक हजार आहुति दे तथा उपवास करे।

(४०) **वृषणव्याधिविघातकव्रत** (विष्णुधर्मोत्तर)–भगिनीमें अज्ञानवश गमन करे तो उसको तीन चान्द्रायणव्रत करने चाहिये और यदि ज्ञानपूर्वक करे तो कृच्छ्रचान्द्रायण करना चाहिये, तथा ज्ञानपूर्वक भी बहुत दिनोंतक करे तो उसे अपना देह त्याग देना चाहिये। [उपर्युक्त पापोंसे ही वृषण-व्याधि होती है]।

(४१) **गण्डमालाशमनव्रत**[1] (अनु० प्रकाश)–गुरुसे द्वेष रखने और दूसरोंका चित्त दुखानेसे या मेद और कफके कारणसे गण्डमाल (काँख, कंधा, गला या सन्धि-प्रदेशादिमें बेर या आमलेके समान छोटी-बड़ी गंड (गूगड़ी) होती है। इसके निमित्त चान्द्रायणव्रत और पुरुषसूक्तके एक हजार पाठ करे।

(४२) **गलगण्डहरव्रत**[2] (सूर्यारुण २७१)–अध्यापक तथा गुरुके साथ प्रवञ्चनात्मक व्यवहार करने या गलेमें वात, कफ और मेद होनेसे उसके दोनों ओर गलगण्ड (गलसूंडे) हो जाते हैं। इनकी शान्तिके लिये ताँबाके पात्रमें यथाशक्ति काले तिल भरकर उनके ऊपर मोतियोंकी माला रखे और उसे पञ्चोपचारोंसे पूजन करके शुद्धहृदय (निष्कपट) सदाचारी तथा धनहीन ब्राह्मणको दान दे और ग्रहशान्ति करे। इससे गलगण्ड शान्त होता है। व्रत करना भी आवश्यक है ही।

(४३) **बभ्रुमण्डलहरव्रत** (सूर्यारुण २६२)–यह रोग बभ्रुघात (नेवलेकी हत्या) आदि दोषोंसे उत्पन्न होता है। इसमें शरीरपर नेवलेकी आकृतिके चिह्न चकते या गुल्म हो जाते हैं और उनसे स्वास्थ्य खराब होकर आकृति

---

[1] कर्कन्धुकोलामलकप्रमाणैः कक्षांसमन्यागलवंक्षणेषु।
मेदःकफाभ्यां चिरमन्दपाकैः स्याद्गण्डमाला…॥
(माधव)

[2] वातः कफश्चापि गले प्रदुष्टो मन्ये समाश्रित्य तथैव मेदः।
कुर्वन्ति गण्डं क्रमशस्त्रलिङ्गैः समन्वितं तं गलगण्डमाहुः॥
(माधव)

बिगड़ जाती है। इसके लिये यथाशक्ति सोना लेकर उसका नेवला बनवावे और व्रतपूर्वक उसकी पूजा करके ब्राह्मणको दान कर दे।

(४४) औदुम्बरहरव्रत (सूर्यारुण २३८)—जन्मान्तरमें ताँबाका अपहरण करनेसे शरीरमें औदुम्बरका उदय होता है। रोगीको चाहिये कि वह व्रत करके ताम्रदान करे।

(४५) पादचक्रहरव्रत (सूर्यारुण २५७)—जन्मान्तरमें श्वानकी हत्या करनेसे पादचक्र (पाँवोंमें चक्र-जैसे चिह्न) हो जाते हैं। उनके लिये वेदवेत्ता विद्वान्‌को यथाशक्ति सुवर्ण देकर उसके चरणोदकसे उस चक्र-चिह्नको धोना चाहिये।

(४६) कुष्ठरोगोपशमनव्रत (भगवान् शङ्कर)—राजयक्ष्मादिके समान यह रोग भी पूर्वजन्ममें किये हुए अगणित जीवोंकी हत्या-जैसे महापापोंका परिणाम है। किसी मनुष्यके शरीरमें इस रोगका एक छींटा भी दीख जाय तो उसके प्रति जनसमाजकी अश्रद्धा और अरुचि हो जाती है।……आयुर्वेदके अनुसार यह रोग अठारह प्रकारका होता है तथा शरीरगत वात, पित्त और कफके कुपित होने एवं रक्त-मांस-त्वचा और जलके बिगड़ जानेसे इसका उदय होता है।……उन अठारह भेदोंमेंसे कपाल, उदुम्बर, मण्डल, सिध्म, काकणक, पुण्डरीक और ऋक्षजिह्वा—ये सात 'महाकुष्ठ' माने गये हैं। और एक कुष्ठ, गजचर्म, चर्मदल, विचर्चिक, विपादिक, पाषा, कच्छु, विस्फोटक, दद्रु, किट्टिश और अलसक—ये ग्यारह 'क्षुद्रकुष्ठ' हैं।……इनमें किस दोषसे कौन-सा कुष्ठ होता तथा किस प्रकार और कैसा कष्ट देता है यह आयुर्वेदके मान्यतम ग्रन्थोंमें विस्तारके साथ बतलाया गया है तथा वहीं इसको दूर करनेके लिये पृथक्-पृथक् उपाय भी बताये गये हैं। परन्तु बहुत-से मनुष्योंकी कोढ़, अनेक उपाय करनेपर भी नहीं मिटती—बढ़ती ही जाती है। इससे जान पड़ता है, उनके पूर्वकृत पापोंकी निवृत्ति नहीं हुई है।…… कर्मविपाकसंग्रहमें कुष्ठकी उत्पत्तिके मुख्य कारण इस प्रकार बतलाये गये हैं—पूर्वजन्ममें गौ-ब्राह्मणादिकी हत्या करने, घर, खेती या जन्तुओंको जलाने तथा दीन-हीन या अपाहिज (लूले-लँगड़े, अंधे-बहरे और असमर्थ) आदिका सर्वस्व हरण करने आदि कारणोंसे कुष्ठ होता है। पापकी मात्राके अनुसार ही कुष्ठ-रोगकी भी मात्रा होती है।……और कोढ़ी मनुष्योंके साथ खाने-पीने, उनके वस्त्रादि धारण करने तथा उनके श्वासोच्छ्वासका स्पर्श होने आदिसे यह रोग एकसे दूसरेमें प्रविष्ट होता है।……वास्तवमें इससे बचते रहना ही अच्छा है। यदि इसमें रोगीके साथ आहार-विहारादिका सम्बन्ध रखा जाय तो यह एकसे दूसरेमें और दूसरेसे तीसरेमें फैल जाता है।……सूर्यारुणने इसके प्रतीकारका यह उपाय बतलाया है कि रोगीकी जितनी सामर्थ्य हो उतनी तौलके सुवर्णका वृषभ (नन्दिकेश्वर) बनवाकर उसको रेशमी वस्त्रोंसे सुशोभित करे। फिर गन्ध-पुष्पादिसे चर्चित करके 'मम पूर्वजन्मार्जितसमस्तपापनिरसनपूर्वकं प्रस्तुतकुष्ठोपशमनकामनया शिवप्रीतये सुवर्णवृषभं वयोवृद्धाय वेदाभ्यासिने सत्पात्रब्राह्मणायाहं दास्ये' इस संकल्पके साथ उसका दान करे और रात्रिमें एक समय भोजन करे।

(४७) विभिन्न कुष्ठोपहरव्रत (महाभारत)—जलजन्तु (मच्छी, कछुए, मकर, मगर मच्छ और सुर्गाई) आदिके प्राण लेने अथवा वस्त्रादिको लूटने आदिसे 'श्वेतकुष्ठ' होता है। इसके लिये सान्तपनव्रत करे।……न्यायपूर्वक अपराधका निर्णय किये बिना ही निर्दोषपर दोषारोपण करके उसे अनुचित दण्ड देनेसे मुखमण्डलपर 'कृष्णकुष्ठ' होता है। उसके लिये कृच्छ्रातिकृच्छ्र चान्द्रायणव्रत करे।……क्षुद्र (छोटे) जीवोंका वध करनेसे मुखविवर्णकर (मुखको मधुमक्खियोंके छत्ते-जैसा कुरूप बनानेवाला) 'कुष्ठ' होता है। उसके लिये अतिकृच्छ्र चान्द्रायणव्रत करके रजत-वृषभ (चाँदीके बैल—नन्दिकेश्वर) का दान करना चाहिये।…… ब्रह्महत्या करनेसे 'पाण्डुकुष्ठ' होता है। उसके लिये यथोचित स्नान, दान, जप, तप (उपवास), ईश्वरस्मरण और विष्णुपूजन आदि सत्कर्म करनेके अनन्तर शालग्रामजीकी मूर्तिको काष्ठासनादिमें सुस्थिर करके उनको जलपूर्ण एक सहस्र कलशोंसे स्नान करावे। साथ ही पुरुषसूक्तके पाठ तथा प्रत्येक कलशके साथ विष्णुसहस्रनामके एक-एक नामका 'ॐ विष्णवे नमः' इत्यादिरूपसे उच्चारण करता रहे और अभिषेक समाप्त होनेपर पचास ब्राह्मणोंको उत्तम पदार्थोंका भोजन करवाकर स्वयं एक समय भोजन करे।……पूर्वजन्ममें गौ-ब्राह्मणोंका घात करनेके महापापसे मनुष्यके शरीरमें 'गलितकुष्ठ' होता है, जिसमेंसे रक्त, जल और चेप सदैव झरते रहते हैं। हाथ, पाँव, अङ्गुली, अँगूठे, भौंह, पीठ और कटि आदि सम्पूर्ण अङ्गोंमें घात, क्षत या फूटे हुए फोड़े-जैसे चिह्न हो जाते हैं और उनमेंसे दुर्गन्ध निकलती रहती है। यह कोढ़ आमरण रहता है। बल्कि संसर्गदोषवश उसकी मृत्युके पश्चात् बेटे-पोतेतकके शरीरमें भी उसका उदय

होता है ।……इसकी पीड़ासे मुक्त होने या शान्ति-लाभ करनेके लिये यथासामर्थ्य सोना या चाँदीका कालपुरुष बनवावे । उसके चक्राकार गोलवृत्तमें बहुत-सी किरणें भी हों और देखनेमें ग्रह, तारा या सूर्य-जैसा मालूम हो । तदनन्तर उसको वस्त्रसे ढकी हुई चौकीपर विराजमान कर गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करे और वेदज्ञ, विधिज्ञ एवं बहुज्ञ ब्राह्मणको भोजन कराकर उसका यथाविधि दान करे ।……इसी तरह अधिक मात्रामें चाँदीकी अनेक बार चोरी करनेमें 'चित्रकुष्ठ' होता है । उसमें मनुष्यके शरीरमें सर्वत्र ही चित्र-विचित्र सफेद धब्बे हो जाते हैं, जिनसे उसका स्वरूप बिगड़ जाता है । उक्त पापका परिहार करनेके लिये कुरुक्षेत्रमें जाकर तीन प्राजापत्यव्रत करे और व्रतके दिनोंमें अपनी शक्तिके अनुसार तीन पल (लगभग बारह तोला) सुवर्णमेंसे प्रतिदिन थोड़ा-थोड़ा असमर्थ मनुष्योंको दान दे ।

(४८) अर्बुदहरव्रत (हिन्दीविश्वकोश)–यह रोग किसी अंशमें कुष्ठके ही समान है; यह फोड़ेके रूपमें प्रकट होता है और चमड़ेके नीचे मांस, नस, नाडी या हड्डी आदिमें उत्पन्न होकर स्वतन्त्र रूपसे बढ़ता है । यदि यह साधारण हो तो उचित उपायसे रुक जाता है और यदि रक्तमें जा पहुँचे या उसके होनेके बाद रक्तमें कोई दोष आ जाय तो फिर यह किसी सामान्य उपायसे नहीं मिटता है ।… अर्बुदका उदय प्रायः कान, नाक, जीभ, मस्तिष्क, यकृत् (जिगर), वक्षःस्थल, मूत्राशय, गर्भाशय, अण्डाधार अथवा योनिके अंदर और जेरके समीपमें होता है । स्त्रियोंके भीतर यह रोग गर्भगत बालकके समान क्रमशः बढ़ता है और समय पूरा होनेपर पुत्रप्रसवके बदले प्राणान्तकारी हो जाता है । इस रोगकी शान्तिके लिये नियमपूर्वक चार प्राजापत्यव्रत करे और यथाशक्ति सप्तधान्योंका दान दे ।

(४९) वर्वराङ्गत्वहरव्रत (सूर्यारुण २३८)–लोहादिके हरणसे वर्वराङ्ग होता है । इसकी निवृत्तिके लिये प्राजापत्य-व्रत करके सौ पल (लगभग पाँच सेर) लोहेका दान और निराहार उपवास करे । इससे एक या तीन बारमें शरीरकी शुद्धि हो जाती है ।

(५०) कण्डूरोगोपशमनव्रत (सूर्यारुण १८१)–कुत्सित पापोंके कारण कण्डू (खाज-खुजली या धरड़दाद) होता है । इसके लिये सुवर्णके लक्ष्मीनारायण और गणेशजी बनवावे और उनका षोडशोपचारसे पूजन करके यथाविधि दान और व्रत करे ।

(५१) गजचर्महरव्रत (सूर्यारुण २४०)–जन्मान्तरमें गजाधिपति होकर गजको मरवा डालनेसे गजचर्मका रोग होता है । यह भी कोढ़की ही श्रेणीमें है । इसमें चर्मके ऊपर खाज और उसके नीचे अनेक चींटियोंके काटने-जैसा दर्द होता है । इसकी निवृत्तिके लिये यथाशक्ति सुवर्णके गणेशजी बनवाकर पूजन करे और उन्हींके सम्मुख बैठकर 'ओं वक्रतुण्डाय हुं' इस मन्त्रका प्रतिदिन दस हजार जप और एक हजार आहुति दे तथा एक ब्राह्मणको प्रतिदिन मोदक (लड्डू आदि) भोजन करवाकर स्वयं एकभुक्त व्रत करे । इस प्रकार इक्कीस दिन करके उस सुवर्णप्रतिमाका दान करे तो उससे गजचर्म मिट जाता है ।

(५२) दद्रुहरव्रत (सूर्यारुण २९६)-गौ, ब्राह्मण और देवता आदिके स्थानमें, सर्वसाधारणके बैठने-उठनेके स्थानोंमें, नद, नदी, तालाब या किसी भी जलाशयमें अथवा पुण्य करनेके स्थान, मकान या तीर्थोंमें मल-मूत्रादिका त्याग करनेसे 'दद्रु' (दाद) रोग होता है । इसकी निवृत्तिके लिये सुवर्णमय चतुर्भुज शिवजी, द्विभुज पार्वतीजी और चाँदीका नन्दिकेश्वर (नाँदिया) तथा घण्टा बनवाकर वेदपाठी ब्राह्मणसे पूजन करावे । और 'सर्वेश्वराय विद्महे शूलहस्ताय धीमहि तन्नो रुद्रः प्रचोदयात् ।' अथवा 'त्र्यम्बकं यजामहे०' या 'ॐ नमः शिवाय' के जप और इनके दशांश हवन करके दारिद्र्यग्रस्त, धर्मज्ञ एवं परिवारयुक्त ब्राह्मणको उपर्युक्त शिव-पार्वती, नाँदिया और घण्टाका अन्य सामग्रियोंसहित दान करे । दान देते समय यह प्रार्थना करे कि 'कैलासवासी भगवानुमया सहितः परः । त्रिनेत्रश्च हरो दद्रुरोगमाशु व्यपोहतु ॥' इसके बाद दान लेनेवालेको विदा करे ।

(५३) लूताजनित रोगहरव्रत (सूर्यारुण ५७०)-अज्ञानवश सगोत्रीका वध करनेसे लूता (मकड़ी) के विषसे उत्पन्न फोड़ा-फुंसी वा खाज होती है । उसके उपशमनार्थ तीर्थस्थानमें जाकर स्नान-ध्यान और जप करना चाहिये ।

(५४) कृष्णगुल्मोपशमनव्रत (सूर्यारुण १४२)-पूर्वजन्मके किये हुए महिषी-वधादि पापोंसे पीडाकारक कृष्ण-गुल्म (काली गूमडी) का रोग होता है । यदि पापाधिक्य हो तो इसकी भीषणता बहुत बढ़ जाती है और इससे प्राणान्त हो जाता है । इसकी शान्तिके लिये विधिपूर्वक भैंसका दान करे और दो कंबल भी ब्राह्मणको दे ।

(५५) अन्त्रवृद्धिविरोधकव्रत (सूर्यारुण ७७५)-

यह रोग गुह्यस्थान (या उदर) आदिके अंदर उत्पन्न होता है। इसके लिये कृच्छ्रातिकृच्छ्रव्रत करके सौ ब्राह्मणोंको भोजन करावे, महिषी (भैंस) का दान करे, 'उद्यन्ति०' मन्त्रका जप और उसके दशांशका हवन एवं उपवास करे। इसके करनेसे अन्त्रवृद्धि रुक जाती है।

(५६) मेदहरव्रत (सूर्यारुण ९४१)–पूर्वजन्ममें दधि-दुग्धादिके अपहरण करनेसे मेद (मांसग्रन्थि) का रोग होता है। यह समूचे शरीरमें किसी भी जगह अत्यन्त सूक्ष्म रूपसे उत्पन्न होकर पीछे बहुत बड़ा हो जाता है और नाभि, नेत्र, मस्तक या गले आदिमें कटहलकी भाँति बढ़कर बड़ा संताप देता है। उसके निवारणके लिये व्रत करके दुग्ध-धेनुका दान करे।

(५७) श्लीपदहरव्रत (सूर्यारुण ८७)–यह रोग पाँवोंमें होता है। इससे हाथीके-जैसे पाँव हो जाते हैं। एतन्निमित्त चान्द्रायण या अतिकृच्छ्र चान्द्रायण करना चाहिये।

(५८) शीर्षरोगोपशमनव्रत (अनु० प्रकाश)–गुरुजनोंके साथ विरोध या विवाद करने आदिसे शिरोरोग होते हैं। उनके लिये 'उद्यन्नद्ये०' ऋचाका जप और कूष्माण्डीका हवन करके उपवास करे। अथवा सुवर्णमय यज्ञोपवीतको दान दे।

(५९) खल्वाटत्वहरव्रत (सूर्यारुण)–स्त्री हो या पुरुष; परनिन्दा करनेसे मस्तकके बाल उड़ जाते हैं। इस पापकी निवृत्तिके लिये धेनु और कम्बल दान करे।

(६०) नेत्ररोगोपशमनव्रत (मन्त्रमहार्णव)–दूसरेकी दृष्टिका नाश करने, कामान्ध होकर परस्त्रियोंको देखने और झूठे ही (बिना वैद्यक पढ़े) वैद्य बन जाने आदिसे अथवा गर्मीसे संतप्त[1] होकर जलस्नान करने, दूरकी वस्तु देखने, दिनमें सोकर रातमें जागने, नेत्रोंमें बाफ या पसीना गिरने, धूल पड़ने या धुआँ लगने आदि कारणोंसे नेत्ररोग होते हैं।…उन्हें दूर करनेके लिये चान्द्रायण और पराकव्रत करके 'ॐ वर्चोदा असि वर्चो मे देहि।' इस मन्त्रका जप करे और घीमें कुछ सुवर्ण डालकर अग्निमें घीकी आहुति दे तथा सुवर्ण सत्पात्रको दे देवे; और लाल शर्करा, गो-धूम तथा घीके बने हुए पदार्थका एक बार भोजन करे।…अथवा 'सूर्यारुण १३३' के लेखानुसार कुरुक्षेत्र-जैसे तीर्थमें जाकर घृत-धेनुका दान करे।

(६१) रात्र्यन्धत्वहरव्रत (सूर्यारुण १२८)–जन्मान्तरमें दूसरेका उच्छिष्ट भोजन करने अथवा बिडालादिका खाया हुआ खानेसे रात्र्यन्धत्व (रतौंधी) होता है। इसकी निवृत्तिके लिये यथारुचि गोमूत्र पीये और ब्राह्मणोंको भोजन करावे। इस प्रकार एक-दो या तीन बार करे। यदि स्त्रीके रतौंधी हो तो उसको भी गोमूत्र पान करना चाहिये।

(६२) नेत्रपूयहरव्रत (कर्मविपाकसंग्रह)–मैथुन-निरत मिथुनके निरीक्षणसे नेत्रोंमें पूयरोग हो जाता है। उससे आँखोंमें चेप, पानी या गीड़ आता रहता है और उनके कोए फूल जाते हैं। इनके लिये यथाशक्ति जप, होम और व्रत करके सुवर्णमयी सूर्यप्रतिमाको त्रिपादी (तिपाई) पर सुस्थिर करके रखे तथा गन्धाक्षत-पुष्प और दूध डाले हुए शुद्ध जलसे ताँबाका कलश भरकर सूर्यमूर्तिको स्नान करावे। इस प्रकार एक हजार कलश चढ़ावे और प्रति-कलशके साथ 'ज्योतिःप्रदाय सूर्याय नमः' बोलता रहे। अथवा आदित्यहृदयका पाठ करता रहे। इस प्रकार सहस्र कलशोंद्वारा अभिषेक करनेके पश्चात् ब्राह्मणोंको भोजन करावे।

(६३) नेत्रगतसर्वरोगोपशमनव्रत (चाक्षुषी विद्या)–नेत्रज्योति कम हो जाने, दृष्टिमें दोष आ जाने, फूला, चौंधिया या आधाशीशी आदिसे नेत्रोंमें खराबी आ जाने आदिकी निवृत्तिके लिये 'नेत्रोपनिषद्'* के एक हजार पाठ

---

[1] उष्णाभितप्तस्य जलप्रवेशाद्दूरेक्षणात् स्वप्नविपर्य्याच्च।
स्वेदाद्रजोधूमनिषेवणाच्चेति०' (माधव)

* 'नेत्रोपनिषद्' अथातश्चाक्षुषीं पठितसिद्धविद्यां चक्षूरोगहरां व्याख्यास्यामो यया चक्षूरोगाः सर्वतो नश्यन्ति। चक्षुषो दीप्तिर्भवति। अस्याश्चाक्षुषविद्याया अहिर्बुध्न्य ऋषिः, गायत्रीच्छन्दः, सविता देवता, चक्षूरोगनिवृत्तये जपे विनियोगः। ॐ चक्षुश्चक्षुश्चक्षुस्तेजः स्थिरो भव। मां पाहि त्वरितं चक्षूरोगान् शमय शमय मम जातरूपं तेजो दर्शय दर्शय यथाहमन्धो न स्यां तथा कृपया कल्याणं कुरु कुरु मम यानि यानि पूर्वजन्मोपार्जितानि चक्षुःप्रतिरोधकदुष्कृतानि तानि सर्वाणि निर्मूलय निर्मूलय। ॐ नमश्चक्षुस्तेजोदात्रे दिव्यभास्कराय ॐ नमः करुणाकरामृताय। ॐ नमो भगवते सूर्यायाक्षितेजसे नमः। खेचराय नमः। महते नमः। रजसे नमः। तमसे नमः। असतो मां सद् गमय। तमसो मां ज्योतिर्गमय। मृत्योर्मामृतं गमय। उष्णो भगवान् शुचिरूपः। हंसो भगवान् शुचिरप्रतिरूपः। य इमां चाक्षुष्मतीं विद्यां ब्राह्मणो नित्यमधीते। न तस्याक्षिरोगो

करवाकर सूर्यनारायणकी उपासना और रविवारका व्रत करना चाहिये ।

(६४) नेत्रादिसर्वरोगहरव्रत (शौनकव्याख्या)– ताँबेके पात्रको जलसे पूर्ण करके उसमें लाल चन्दन और लाल पुष्प तथा लाल अक्षत डाले और उस जलसे अर्घा अथवा दोनों हाथोंकी अञ्जली भरकर 'ॐ उद्यन्नद्य मित्रमह सूर्यं तर्पयामि १ यह मन्त्र बोलकर सूर्यके सम्मुख छोड़ दे । इसी प्रकार 'ॐ आरोहन्नुत्तरां दिशं सूर्यं तर्पयामि २ ॐ हृद्रोगं मम सूर्य सूर्यं तर्पयामि ३ ॐ हरिमाणं च नाशय सूर्यं तर्पयामि ४ ॐ शुकेषु हरिमाणं सूर्यं तर्पयामि ५ रोपणाकासु दध्मसि सूर्यं तर्पयामि ६ अथो हारिद्रवेषुवे सूर्यं तर्पयामि ७ ॐ हरिमाणं निदध्मास सूर्यं तर्पयामि ८ ॐ उदगादयमादित्यः सूर्यं तर्पयामि ९ ॐ विश्वेन सहसा सह सूर्यं तर्पयामि १० ॐ द्विषन्तं मह्यं रंधयन् सूर्यं तर्पयामि ११ ॐमोमहं द्विषतेरधं सूर्यं तर्पयामि । इनके उच्चारणसे सूर्यके सम्मुख जल छोड़े ।……'इसके पीछे उपर्युक्त 'उद्यन्नद्य मित्रमह आरोहन्नुत्तरां दिशं सूर्यं तर्पयामि' कहकर सूर्यके सम्मुख जल छोड़े । और इस प्रकार दो-दोके उच्चारणसे दूसरी बार और फिर उक्त 'उद्यन्नद्य०' आदि चार-चार पदके एक-एक करके 'सूर्यं तर्पयामि' कहते हुए तीसरी बार जल छोड़े । इसमें पहलेमें बारह, दूसरेमें छः और तीसरेमें तीन जलाञ्जलि दी जाती है । ये सम्पूर्ण तीन ऋचा हैं । जिनके बारह पदोंसे बारह, दो-दोके युगलसे छः और चार-चारके पूरे मन्त्रसे तीन जलाञ्जलियाँ दी जाती हैं ।…… इस तर्पणसे नेत्रसम्बन्धी सर्वरोगोंका शमन तो होता ही है किन्तु श्रद्धाके साथ पाद-ऋचाओंसे बारह बार, अर्धऋचाओंसे दस बार, सर्वऋचाओंसे तीन बार, सार्धऋचासे दो बार और तीनों ऋचाओंसे एक बारकी कुल चौबीस जलाञ्जलि देकर तर्पण करनेसे नेत्ररोग[1], ज्वररोग, विस्फोटक और सर्पविषतक दूर हो जाते हैं । परन्तु यह ध्यान रखना आवश्यक है कि सामान्य या कठिन-जैसा रोग अथवा विष हो उसीके अनुसार[1] अट्ठाईस या एक सौ आठ बार तर्पण करे ।

(६५) एकाक्षिगतनेत्ररोगोपशमनव्रत (मुक्तकसंग्रह)–एक नेत्रके दृष्टिदोषकी शान्तिके लिये रजतमय शुक्रमूर्तिका गन्धाक्षतादिसे पूजन करके तत्समीपमें बैठकर 'शुक्रज्योतिश्च०' इस ऋचाका एक सहस्र बार जप करके इसी मन्त्रसे पलाशकी समिधाओंको गायके घीमें डुबोकर उनकी एक सौ आहुति दे और हविष्यान्न (जौ, गेहूँ या चावल) का एक समय भोजन करे । इस प्रकार इक्कीस, इक्यावन या सौ व्रत करनेसे एक नेत्रके रोगकी शान्ति होती है ।

(६६) कर्णरोगोपशमनव्रत (मन्त्रमहार्णव)- माता, पिता और गुरु तथा गौ, ब्राह्मण और देवता इनकी निन्दा सुननेसे कर्णरोग होता है । उसकी निवृत्तिके लिये चार कृच्छ्रव्रत करके सौरमन्त्र (पूर्वोक्त 'उद्यन्नद्य०' इन तीनों ऋचा) के जप और उसके दशांशका हवन करके ब्राह्मणोंको भोजन करावे तथा सुवर्णसहित लाल वस्त्रोंका दान करे ।

(६७) वधिरत्वहरव्रत (सूर्यारुण तीन सौ इकीस सोलह सौ तिरसठ)–पूर्वजन्ममें अपनी पत्नीकी माता (सास) को मारनेसे दूसरे जन्ममें वधिरत्व (बहरापन) प्राप्त होता है । उसके लिये चान्द्रायणव्रत करके सुवर्णसहित पुस्तकका दान करनेसे वधिरत्व दूर होता है ।

(६८) नासारोगहरव्रत (मन्त्रमहार्णव)–लवणादिका अपहरण करनेके पापसे नाकके रोग होते हैं; उनके उपशमनार्थ 'उद्यन्नद्यादि०' तीनों ऋचाओंका एक सौ आठ बार जप करके आठ या अट्ठाईस अथवा एक सौ आठ आहुति देकर ब्राह्मणको भोजन करावे और स्वयं गोदान करे ।

(६९) मुखरोगहरव्रत (महार्णव)—झूठी गवाही देनेसे मुखमें रोग होते हैं । इनकी शान्तिके लिये कृच्छ्रातिकृच्छ्र चान्द्रायणव्रत करके गायत्रीके अयुत (दस हजार) जप और कूष्माण्डी हवन करे तथा चावलोंका दान करके भात खाकर एकभक्त व्रत करे ।

(७०) मूकत्वहरव्रत (सूर्यारुण २०१)–पूर्वजन्ममें

भवति । न तस्य कुलेऽन्धो भवति । अष्टौ ब्राह्मणान् ग्राहयित्वा विद्यासिद्धिर्भवति । ॐ विश्वरूपं घृणितं जातवेदसं हिरण्मयं ज्योतिर्मयम् । ज्योतीरूपं तपन्तं सहस्ररश्मिभिः शतधा वर्तमानः । पुरः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः । 'ॐ नमो भगवते आदित्याय अवाग्वादिने स्वाहा ।' इति

(अ० शा० उ०)

[1] उद्यन्नद्येति मन्त्रोऽयं सौरः पापप्रणाशनः ।
रोगघ्नश्च विषघ्नश्च भुक्तिमुक्तिफलप्रदः ॥

(शौनक)

[1] 'अस्य सकलस्यापि तर्पणप्रयोगस्य व्याध्यनुसारेणाष्टाविंशतिरष्टोत्तरशतमित्याद्यावृत्तिः कल्पनीया ।'

(अनु० प्रकाश)

भाईकी हत्या और विद्वानोंसे विवाद करनेके पापसे मनुष्य मूक (गूँगा) होता है । इसके निमित्त माघशुक्ला पञ्चमी या पूर्णिमाको प्रातःस्नानादिके पश्चात् चौकीपर अष्टदल कमल लिखे और उसके ऊपर षट्शास्त्रोंसहित ऋगादि चारों वेदोंकी स्थापना करके उनका पञ्चोपचारसे पूजन करावे । और फिर चार या छः अथवा दस ब्राह्मणोंको मीठे पकवान भोजन कराकर उन्हें यथायोग्य पूजित पुस्तकें अर्पण करे । इस व्रतमें पूजाके प्रारम्भका संकल्प तथा मन्त्रोंका उच्चारण मूकके पिता या आचार्यको करना चाहिये ।

(७१) **कण्ठगतरोगहरव्रत** (सूर्यारुण ११६)–लोगोंको लोभवश ठगने या जलाशयके समीपमें बैठे हुए बगुलोंको मारनेसे उत्पन्न हुए कण्ठरोगकी शान्तिके लिये सफेद रंगकी पयस्विनी गौका दान करना चाहिये; इससे आरोग्य-लाभ होता है ।

(७२) **दुर्गन्धनाशकव्रत** (सूर्यारुण ६९०)–मोहवश माक्षिक मधु (शहद) का हरण करने या मधुका क्रय-विक्रय करनेसे मुखमें अथवा सर्वांगमें दुर्गन्ध होती है । उसकी शान्तिके लिये अमावस्या, पूर्णिमा या व्यतीपातादिके दिन मधुधेनुका दान करके उपवास करे ।

(७३) **अपस्मारहरव्रत** (महार्णव)–गुरु तथा मालिकके प्रतिकूल आचरण करने आदिसे अपस्मार (मृगी) रोग होता है । इसकी निवृत्तिके लिये चान्द्रायणव्रत करके 'सदसस्पति' मन्त्रसे चरु और घीकी आहुति दे । अथवा 'कया नश्चित्र०' मन्त्रका दस हजार बार जप करके एक हजार आहुति और एक सौ जलाञ्जलि (तर्पण) करे ।

(७४) **भगन्दररोगोपशमनव्रत** (पद्मपुराण)–जो मनुष्य धर्मकी शपथके साथ लोक-कल्याणकारी कर्मका आरम्भ करके उसमें बाधा उपस्थित होनेके लिये अधर्मकारी काम करे या अपने गोत्रकी स्त्रीके साथ प्रसंग करे; उसको भगंदर रोग होता है । इसके निमित्त मेष (मेंढा) का विधिपूर्वक दान करके एकभुक्त व्रत करना चाहिये ।

(७५) **भगन्दरहरदानव्रत** (सूर्यारुण ८५)–माघ या वैशाखके शुक्लपक्षमें सप्तमी रविवारको प्रातःस्नानादि करनेके पश्चात् आकके पत्तेके आसनपर बैठकर सूर्याभिमुख हो यथाशक्ति सोना, चाँदी या ताँबेके पात्रमें गायका घी भरे और उसमें यथासम्भव माणिक्य आदि रत्नोंके कण डालकर गन्धादिसे पूजन करे । पीछे सूर्यादि ग्रहोंके मन्त्रोंसे आठ, अठाईस या एक सौ आठ आहुति देकर उक्त घृतपूर्ण पात्रका दान करे । दान देते समय 'आदित्यादिग्रहाः सर्वे नवरत्नप्रदानतः । विनाशयन्तु मे दोषान् क्षिप्रमेव भगन्दरम् ॥' इस मन्त्रको पढ़े ।

(७६) **गुदरोगहरव्रत** (सूर्यारुण १७५)–रोगीको चाहिये कि वह श्रावण शुक्ल प्रतिपदसे भाद्रपदी अमावास्यापर्यन्त या अन्य किसी भी सुअवसरमें एक मासतक विष्णु और शिवका वेदोक्त मन्त्रोंसे षोडशोपचारोंद्वारा पूजन करे, गौका दान दे और प्राजापत्यव्रत करके सुपूजित मूर्ति वेदवेत्ता विद्वान्‌को अर्पण करे । इस प्रकार करनेसे गुदामें या उसके आस-पास होनेवाले रोग शान्त हो जाते हैं ।

(७७) **पङ्गुत्वहरव्रत** (सूर्यारुण ५१८)–पूर्वजन्ममें कुक्कुट (मुर्गा) आदिके मारनेवाले मनुष्य पङ्गु होते हैं । उनको चाहिये कि वे सुवर्णादिका दान करके पक्षियोंका पालन करें ।

(७८) **पङ्गुरोगहरव्रत** (सूर्यारुण १३३२)–यदि पूर्वजन्ममें शृगाल (गीदड़) की हत्या की गयी हो तो दूसरे जन्ममें हत्यारे मनुष्यको पङ्गु होना पड़ता है । उस हत्याके पापसे छुटकारा पानेके लिये सुवर्णयुक्त घोड़ेका दान और व्रत करे ।

(७९) **कुब्जत्वहरव्रत** (सूर्यारुण १६५०)–जन्मान्तरमें किये हुए शश, मृग या मूषकादिके घातजन्य पापसे मनुष्योंको कुब्जत्व प्राप्त होता है । इस दोषको दूर करनेके लिये व्रत करके विधिपूर्वक सोपस्कर (वस्त्राभूषणादि-सहित) शय्याका दान करे ।

(८०) **कुनखत्वहरव्रत** (सूर्यारुण २६२)–सुवर्णका अपहरण करनेसे कुनख रोग होता है । उसकी निवृत्तिके निमित्त कार्तिक मासमें चान्द्रायणव्रत और राममन्त्रके जप करने चाहिये ।

(८१) **दन्तहीनत्वदोषहरव्रत** (सूर्यारुण १८७१—१८७५)–किसी जन्ममें वराहकी हत्या करनेसे मनुष्योंको दन्तहीनत्व दोष प्राप्त होता है । उस पापकी निवृत्तिके लिये घीमें यथाशक्ति सुवर्ण डालकर उसका दान करे । या ताँबाके कलशको घृतपूर्ण करके गरीबको दे ।

(८२) **शीर्षव्रणहरव्रत** (सूर्यारुण १९१९)–

जन्मान्तरमें नारिकेल (नारियल या श्रीफलों) के अपहरण करनेसे मुखमण्डलको शोभाहीन बनानेवाला शीर्षव्रण होता है। उसके निवारणके निमित्त शिवजीके मन्दिरमें जाकर उनका यथाविधि पूजन करे और नारियलका फल चढ़ावे। इसी प्रकार पार्वतीजीकी भी यथावत् पूजा करे। फिर हाथ जोड़कर 'यन्मया नारिकेलानि हृत्वा पापमुपार्जितम्। अर्चितो भगवान् रुद्रो भवान्या भयभञ्जनः ॥ यथाशक्ति च दानाद्यैर्भवन्तोऽपि च पूजिताः। कर्मणानेन मे नाशमुपैतु शिरसो व्रणः ॥' इस मन्त्रसे प्रार्थना करके फलाहार करे।

(८३) **शेफसव्रणहरव्रत** (सूर्यारुण १९२०)–म्लेच्छ-स्त्रियोंमें अभिगमन करनेसे इन्द्रियके अग्रभागपर शूकोत्थ (इन्द्रियको दीर्घ करनेवाला दुष्टव्रण) होता है। इसके होनेसे शुक्र, मूत्र और पुरीषादिके त्यागमें बड़ी असुविधा होती है। भरतने लिखा है कि रेतस्रावके समय शेफससञ्चित जलस्राव हो जाता है। इस अनिष्टकर व्रणको दूर करनेके लिये शुक्लपक्षकी द्वादशीको सूर्योदयसे पहले किसी स्वच्छ जलवाले जलाशयपर जाकर प्रातःस्नानादि करनेके अनन्तर हाथमें जल, फल और गन्धाक्षत लेकर 'मम तिलजीतिप्रसिद्धशूकोत्थशेफसव्रणनिरसनपूर्वकं मेढ्रगतसर्वरोगप्रशान्तये च श्रीवरुणदेवमहं पूजयिष्ये।' यह संकल्प करके वरुणका यथाविधि पूजन करे और यजुर्वेदके विद्वान् ब्राह्मणको गौ देकर फलाहारपूर्वक व्रत करे।

(८४) **योनिगतव्रणहरव्रत** (मन्त्रमहार्णव)–पतिके परलोकवासके पश्चात् जो स्त्रियाँ परपुरुषके साथ सहवास करती हैं उनके मूत्रद्वारमें ऐसा व्रण होता है जिससे सहवासके अनन्तर उनको बड़ी पीड़ा होती है। इस पापकी शान्तिके लिये नील वृषका दान करके घी, तिल और शर्कराका हवन करे।

(८५) **स्त्रीस्तनस्फोटकहरव्रत** (ऋग्वेदविधान)–पतिकी उपस्थितिमें परपुरुषसे प्रेम करनेके पापसे परिणाममें उसके स्तनपर फोड़ा और मूत्रद्वारसे रक्तस्राव होता है। उसकी शान्तिके लिये पाँचों लवण (सींधा, साँभर, विड़, संचर और श्याम), हल्दी, धान्य और वस्त्रादिके साथ सुपूजित गौका दान करे।

(८६) **वातकृतरक्तस्रावहरव्रत** (वृद्धबौधायन)–सवर्णामें गमन करनेसे वातकृतरक्तस्राव होता है। उसके लिये छः वर्षोंतक कृच्छ्रव्रत करना चाहिये।

(८७) **गर्भस्रावहरव्रत** (शातातप)– पूर्वजन्ममें दूसरी स्त्रियोंके गर्भस्राव कराकर भ्रूणहत्या करानेके पापसे स्त्रियोंके गर्भस्राव होता है। इसके लिये सोनेका यज्ञोपवीत बनवाकर दान दे।

(८८) **सुतहीनत्वदोषहरव्रत** (सूर्यारुण ९६)–पराये पुत्रोंका प्राणान्त करनेके पापसे पुत्रहीनता प्राप्त होती है। इसकी निवृत्तिके लिये सोनेके पात्रमें सगर्भा स्त्रीका चित्र बनवाकर उसका पूजन करे और 'आर्यामिनां च सौवर्णी वस्त्राढ्यां विधिदैवताम्। ददेऽहं विप्रमुख्याय पूजिताय विधानतः ॥ गर्भपातनजाद्दोषात्पूर्वपापविशुद्धये।' इसका उच्चारण करके सत्पात्रको दे। इसके अतिरिक्त गायत्री अथवा त्र्यम्बक मन्त्रके पचीस सौ जप और व्रत करनेके अनन्तर हवन और ब्राह्मण-भोजन करावे।

(८९) **बन्ध्यात्वहरगौरीव्रत** (सूर्यारुण १७४, ३४७, ३८८)–यदि ब्राह्मणी होकर वैश्यके साथ या वैश्या होकर शूद्रके साथ सहवास करे तो वह दूसरे जन्ममें बन्ध्या होती है। इस पापकी शान्तिके लिये मार्गशीर्ष शुक्लपक्षमें प्रतिपदासे प्रारम्भ करके सोलह दिनतक गौरीपूजनके साथ एकभुक्त व्रत करे तथा 'बन्ध्यत्वहरगौर्यै नमः।' इस मन्त्रका प्रतिदिन सोलह हजार जप करे। तत्पश्चात् समाप्तिके दिन तिल-तैलपूर्ण सोलह दीपक जलाकर गौरीके सम्मुख रख दे और रातमें जागरण करे। फिर दूसरे दिन सोलह दम्पती (ब्राह्मण-ब्राह्मणी) को भोजन करवाकर सोलह सौभाग्याष्टक दान करे।

(९०) **षण्ढत्वहरव्रत** (सूर्यारुण २४३)–अविवाहित षोडशवर्षीया कुमारिकाके साथ बलात्कार करनेसे मनुष्य षण्ढ (हींजड़े) होते हैं। उनको चाहिये कि वे प्रतिदिन बाणलिङ्ग (नर्मदेश्वर) का पूजन करके व्रत करें।

(९१) **उन्मादरोगहरव्रत** (सूर्यारुण २२७-२३३)–यदि पुरुष यौवनसे उन्मत्त होकर अबलाओंपर बलात्कार करे या स्त्री स्वच्छन्दरूपमें रहकर सर्वत्र विचरे तो उन्माद रोग (पागलपन) होता है। इसकी निवृत्तिके लिये व्रत करके सुवर्णके ब्रह्माजीका और ताँबेके मृगका पूजन करे। साथ ही गायत्रीका जप तथा हवन करे।

(९२) **जालन्धररोगहरछायापात्रविधानव्रत** (कर्मकौस्तुभ)–चौसठ पलके परिमाणवाले कांस्यपात्रको घृतसे पूर्ण करके उसमें सुवर्णके कण डाल दे; फिर उस घीमें

अपने सम्पूर्ण शरीरकी छायाको देखकर उसका दान करे। देते समय 'आयुर्बलं यशो वर्च आज्यं स्वर्णं तथामृतम्। आधारं तेजसां यस्मादतः शान्तिं प्रयच्छ मे ॥' इस मन्त्रका उच्चारण करे। इसके बाद व्रत करके यथाशक्ति दुग्धपान करके उपवास करे।

(९३) **सर्वव्याधिहरव्रत** (शातातपादि)–श्रेष्ठ पात्रमें उत्तम श्रेणीके चावल भरकर उसे वस्त्रसे ढक दे। फिर उसमें हर प्रकारकी व्याधियोंके उपस्थित होनेकी भावना करके उनका गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करे। साथ ही विद्वान् ब्राह्मणका पूजन करके उस तण्डुलसे भरे हुए पात्रको श्रद्धाके साथ उसे दान दे, उस समय 'ये मां रोगाः प्रबाधन्ते देहस्थाः सततं मम। गृह्णीष्व प्रतिरूपेण तान् रोगान् द्विजसत्तम ॥' इस श्लोकका उच्चारण करे। तदनन्तर प्रतिग्राहीको यथाशक्ति वस्त्राभूषण, भोजन और दक्षिणा आदि देकर विदा करे। इससे सम्पूर्ण रोग शान्त होते हैं।

(९४) **प्रसवपीडाहरव्रत** (संस्कार-प्रकाश)–पलाश-पत्रके दोनेमें एक पल (लगभग चार तोला) तिलका तैल भरकर दूर्वाके इक्कीस पत्रोंद्वारा प्रदक्षिण-क्रमसे उसका आलोडन करे (दूर्वाङ्कुरोंको तैलमें घुमावे)। उस समय प्रत्येक बारके आलोडनमें 'हिमवत्युत्तरे पार्श्वे शबरी नाम यक्षिणी। तस्या नूपुरशब्देन विशल्या स्यात्तु गर्भिणी ॥' इस मन्त्रका उच्चारण करता रहे। इक्कीस बार जप हो जानेपर उसमेंसे थोड़ा-सा तैल गर्भिणीको पिलावे और स्वयं उपवास करके उक्त मन्त्रका जप करे। इससे सुखपूर्वक प्रसव होता है और गर्भावस्थाकी पीड़ा मिट जाती है।

'परिशिष्ट'

लोकहितकरव्रत

(९५) **अनावृष्ट्युपशामनविधानव्रत** (शारदा-तिलक)–किसी भी शुभ दिनमें विद्वान्, सदाचारी और सत्कर्मोंका अनुष्ठान करनेवाले वयोवृद्ध ब्राह्मणोंको बुलाकर उनका षोडशोपचारसे पूजन करे। फिर उनके समक्ष वस्त्राच्छादित वेदीपर अष्टदल कमलके मध्यभागमें सूर्यकी, उसके पूर्वमें इन्द्रकी और पश्चिममें वरुणकी स्थापना करके उनका षोडशोपचारद्वारा पूजन करे। तथा फिर उपस्थित ब्राह्मणोंसे अनावृष्टिहर और सद्योवृष्टिकर उत्तम अनुष्ठान करनेकी प्रार्थना करे। तब धर्मप्राण यजमानकी प्रार्थनाको सफल करनेकी दृढ आशा हृदयमें रखकर सम्पूर्ण अनुष्ठानी ब्राह्मण अपने आसनोंपर बैठकर 'ॐ ध्रुवा सुत्वा स क्षितिषु[1] क्षियंतो व्यस्मत्पाशं[2] वरुणो मुमोचत्[3]। अवोवन् माना आदिते[4]रुपस्थाद्यूयं पात[5] स्वस्तिभिः सदा नः[6] ॥' इस मन्त्रके अङ्गन्यासादिपूर्वक एक लाख जप करे। अङ्गन्यास और करन्यासादिमें उक्त ऋचाके जो छः खण्ड हैं, उन्हींसे क्रमशः १ हृदय, २ शिर, ३ शिखा, ४ दोनों भुजा, ५ दोनों नेत्र और ६ दोनों हाथोंका स्पर्श करे। अन्तिम यानी छटे खण्ड—'स्वस्तिभिः सदा नः' का उच्चारण करके 'अस्त्राय फट्' कहते हुए ताली बजानी चाहिये। यही अङ्गन्यास है। इसी प्रकार १ अङ्गुष्ठ, २ तर्जनी, ३ मध्यमा, ४ अनामिका, ५ कनिष्ठा और ६ करतल एवं करपृष्ठोंका स्पर्श करे। यह करन्यास है। इसके अतिरिक्त उक्त 'ध्रुवा सुत्वा॰' मन्त्रके बयालीस वर्णोंमेंसे एक-एक वर्णसे सर्वाङ्गन्यास करके ध्यान करे। ध्यान यह है—'चन्द्रप्रभं पङ्कजसन्निषण्णं पाशाङ्कुशाभीतिवरं दधानम्। मुक्ताविभूषाञ्चितसर्वगात्रं ध्यायेत्प्रसन्नं वरुणं विभूत्यै ॥' इस प्रकार ध्यान करनेके पश्चात् पाँच, सात, नौ या तेरह ब्राह्मण एकाग्रचित्त होकर जप करें और एक, पाँच या चौबीस लाख जितना जप करना हो उसका हिसाब लगाकर प्रतिदिन उसी प्रमाणसे जप करते हुए नियत दिनोंतक अनुष्ठान करें। अनुष्ठानके दिनोंमें भूशयन और ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए क्रोधादिका त्याग करें। प्रतिदिन एकभुक्त (किसी एक ही पदार्थका) या एकभक्त (एक बार) भोजन करें।

(९६) **वृष्टिप्रदव्रत** (बृहद्दग्विधान)–उस मनुष्यको धन्य कहना चाहिये जिसके धन-रत्नादिसे भरे हुए सौ ऊँट, सौ ऊँटनी, पुत्र, पत्नी और पुत्रवधू आदि सभी एक-एक करके बाढ़में बह गये तो भी उसने वर्षाके विषयमें यही कहा कि 'वर्षा तो बरषी भली, होनी हो सो होय।' वास्तवमें संसारके जितने भी पदार्थ और प्राणी हैं, वे सतभरकी वर्षासे ही सस्ते, सुलभ और सुखी हो जाते हैं तथा अवसरपर वर्षा न होनेसे ही सब महँगे, दुर्लभ और दुखी हो जाते हैं। अतः वृष्टिके निमित्त नियमपालनपूर्वक व्रतविधानादिका करना-कराना नितान्त आवश्यक है।······व्रतीको चाहिये कि वह जलद अथवा वारुणयोगमें प्रातःस्नानादि करके गीले वस्त्र धारण किये सूर्यके सम्मुख शुभासनपर बैठे। काम-क्रोधादिका त्याग करे तथा ब्रह्मचर्यका पालन और भूशयन करते हुए निराहार रहे। यथोचित वर्षाके अतिशीघ्र होनेकी आशा, विश्वास और अनुरागको अपने अन्तःकरणमें सुस्थिर करके हाथमें जल, फल, गन्धाक्षत और पुष्प लेकर 'मम

समस्तलोकोपकारकामनासिध्यर्थं वृष्टिप्राप्तये ऋग्वेदीय 'अच्छावदेति०' सूक्तस्यानुष्ठानमहं करिष्ये ।' यह सङ्कल्प करके……१ 'अच्छावदत०', २ 'विवृक्षान्हन्ति०', ३ 'रथीव कशया०', ४ 'प्रवाता वान्ति०', ५ 'यस्य व्रते०', ६ 'दिवो नो वृष्टिं०', ७ 'अभिक्रन्दस्तनय०', ८ 'महान्तं कोश०', ९ 'यत्पर्जन्य कनिक्रदत्०' और १० 'अवर्षीर्वर्षं०' इस सूक्तसे अथवा इसकी प्रत्येक ऋचासे अयुतवेतसी (आम्लवेत जिसको कुछ लोग जलबेत कहते हैं) की दस हजार समिधाओंको, जिनकी लंबाई एक बित्तेसे कम न हो, घी और दूधमें प्लावित करके सूक्त अथवा ऋचाके साथ-साथ 'पर्जन्याय स्वाहा' कहकर हवन करे। इस प्रकार भूख-प्यास और जागरणका कष्ट सहन करते हुए अथक परिश्रम और उत्साहसे युक्त होकर (अधिक-से-अधिक) पाँच राततक जप और हवन करे। यदि हो सके तो आप अकेले ही सारी रात जागकर अनुष्ठान करे, न हो सके तो तीन अन्य व्यक्तियोंको सहायक बना ले। एक-एक आदमी एक-एक प्रहर अनुष्ठानमें लगे रहें। इस प्रकार पाँच राततक अखण्ड अनुष्ठान चालू रक्खे। ऐसा करनेसे निश्चय ही भारी वृष्टि होती है। (उपर्युक्त सूक्त अथवा इसकी दस ऋचाएँ तथा पहले भी जो मन्त्र अथवा ऋचाएँ आयी हैं उनको, विस्तारभयसे यहाँ संकेतरूपमें लिखा गया है। यदि किसीको इस समय इन मन्त्रोंकी आवश्यकता हो तो वे ऋग्वेद, यजुर्वेद, अनुष्ठानप्रकाश और वीरसिंहावलोकनमें, जो बंबईवेंकटेश्वर-प्रेस आदिमें मिल सकते हैं, इनका अवलोकन करें।)

(९७) महामारीशमनविधानव्रत (ब्रह्मवैवर्त)–राजाओंके किये हुए महापापोंके प्रभावसे प्रजामें महामारी-जैसे दारुण और असहनीय उपद्रव हुआ करते हैं, उनके उपशमनार्थ स्वयं राजा या सम्पूर्ण प्रजा अथवा कोई भी धर्मप्राण महापुरुष अकेला या सामूहिक रूपसे अनुष्ठान करे। ऐसा अनुष्ठान नगर, ग्राम या बस्तीके मध्यभागमें होना चाहिये। अथवा सद्गृहस्थ पुरुष अपने-अपने घरोंमें ही अनुष्ठान कर सकते हैं। इसके लिये नृसिंहपुराणके अनुसार 'नृसिंहमन्त्र' के जप, अनुष्ठानप्रकाशादिके अनुसार महामृत्युञ्जय जप; सौ, हजार या दस हजार दुर्गापाठ; रुद्र, अतिरुद्र और महारुद्रादिके विधान; भैरव-भैरवी आदिकी उपासना; चौराहोंमें तिल, घी, चीनी और अमृता आदि विषघ्न ओषधियोंका एक लक्ष हवन, नौ दिनोंतक श्रीराम-नाम-कीर्तन, यथाशक्ति दान, धर्म और ब्राह्मण-भोजन आदि उपाय बतलाये गये हैं। इनके अनुष्ठानसे महामारी या महोग्रज्वर आदिके उपद्रव शान्त होते हैं। इस विषयमें 'सुश्रुत' का सिद्धान्त सर्वोत्तम प्रतीत होता है। उसने कहा है कि 'देशत्यागाज्जपाद्धोमान्महामारी प्रशाम्यति'* इसी प्रकार प्लेगके विषयमें देवीभागवतके प्रसिद्ध टीकाकार 'नीलकण्ठ आचार्य' ने लिखा है कि—'मूषकं पतितोत्थं च मृतं दृष्ट्वा च यद्गृहे। तद्गृहं तत्क्षणं त्यक्त्वा सकुटुम्बो वनं व्रजेत् ॥'† इन सबमें नियमानुसार रहना और ईश्वरका स्मरण करना सर्वोत्कृष्ट है।

(९८) सर्वरोगनाशकधर्मराजव्रत (मन्त्रमहोदधि)-कोई भी रोग किसी भी औषधोपचारसे शान्त न हुआ हो तो प्रातःस्नानादिके पश्चात् पवित्रावस्थामें रहकर 'ॐ क्रौं ह्रीं आं वैवस्वताय धर्मराजाय भक्तानुग्रहकृते नमः' इस मन्त्रका पूर्णतया अभ्यास करके मन-ही-मन अखण्ड जप करता रहे; इससे सम्पूर्ण पाप, ताप और रोग दूर होते हैं।

(९९) सर्वरोगहरचित्रगुप्तव्रत (मन्त्रमहोदधि)-'ॐ नमो विचित्राय धर्मलेखकाय यमवाहिकाधिकारिणे मृत्युं जन्म संपत्प्रलयं कथय कथय स्वाहा।' इस मन्त्रका दस हजारसे अधिक जप करनेपर हर प्रकारके रोग-दोषादि शान्त होते हैं।

(१००) कलिमलहरश्रीकृष्णव्रत (सूर्यारुण ३०९)-जिस वर्षमें भाद्रपदकी कृष्णाष्टमी अर्धरात्रव्यापिनी हो और उसके साथ बुधवार रोहिणीनक्षत्र तथा शुभ योग हों उस वर्षके उस पावन पर्वके दिन प्रातःकाल तीर्थादिके जलसे या कूँएके तुरंत निकाले हुए पानीसे स्नान करके सन्ध्या-वन्दनादि नित्यकर्म करनेके पश्चात् उपवास करके 'ॐ क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय नमः' इस मन्त्रका दिनभर मानस जप करता रहे और सायंकालमें श्रीकृष्णका उत्साहपूर्वक उत्सव करके गायन, वादन और नर्तन करके जागरण करे। फिर दूसरे दिन व्रतका विसर्जन करके पारणा करे तो इस व्रतके प्रभावसे भवसागरसम्भूत सम्पूर्ण बाधाएँ और पापसम्भूत सम्पूर्ण रोग-दोष शान्त होकर अपूर्व सुख-सौभाग्यादिकी प्राप्ति होती है।

पापसम्भूतसर्वरोगार्तिहरव्रत समाप्त।

---

* जहाँ महामारी फैली हो उस स्थान या गाँवको छोड़कर हट जाने और जप तथा हवन करनेसे महामारी शान्त हो जाती है।

† जिस घरमें चूहेको गिरकर—उछलकर प्राण-त्याग करते देखा जाय, उसे छोड़कर कुटुम्बसहित वनमें (शून्य स्थानमें) चले जाना चाहिये।

श्रीहरिः

सं० वाल्मीकीय रामायणांक और मानसांक

—समाप्त हो चुके हैं, अतः कोई सज्जन इनके लिये रुपये भेजनेका कष्ट न करें। इनके लिये आये हुए मनीआर्डर लौटाये जा रहे हैं।

विशेषांक स्टाकमें न रहनेके कारण चालू वर्षके और ग्राहक अब नहीं बनाये जा सकते।

कल्याणके पुराने प्राप्य अङ्क

१	वेदान्ताङ्क सपरिशिष्टाङ्क—११ वें वर्षका विशेषाङ्क	... ...	३)
२	,, ,, पूरी फाइलसहित	... ...	४≡)
३	साधनाङ्क—१५ वें वर्षका विशेषाङ्क	... ...	३॥)
४	१६ वें वर्षके अङ्क १०, ११, १२ प्रत्येकका	... ...	।)

डाकखर्च मुफ्त

व्यवस्थापक—कल्याण, गोरखपुर

KALYANA-KALPATARU

1.	Vol. I.,	No. 1 God-Number	... ...	2-8-0
2.	Vol. I.,	Nos. 1 to 12	... ...	4-8-0
3.	Vol. II.,	Nos. 2 to 12	... ...	2-0-0
4.	Vol. III.,	Nos. 2 to 12	... ...	2-0-0
5.	Vol. IV.,	Nos. 2 to 12	... ...	2-0-0
6.	Vol. V.,	Nos. 2 & 4 to 12	... ...	2-0-0
7.	Vol. VI.,	No. 1 Dharma Tattwa Number	... ...	2-8-0
8.	Vol. X.,	No. 1 Sri Krishna Lila No.—II.	... ...	2-8-0
	Annual Subscription		... ...	4-8-0

Postage free

MANAGER—KALYANA-KALPATARU
GORAKHPUR

श्रीहरिः

मनुष्योंके तीस धर्म

सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमो दमः । अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम् ॥
सन्तोषः समदृक्सेवा ग्राम्येहोपरमः शनैः । नृणां विपर्ययेहेक्षा मौनमात्मविमर्शनम् ॥
अन्नाद्यादेः संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्हतः । तेष्वात्मदेवताबुद्धिः सुतरां नृषु पाण्डव ॥
श्रवणं कीर्त्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः । सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम् ॥
नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः । त्रिंशल्लक्षणवान् राजन् सर्वात्मा येन तुष्यति ॥

सत्य, दया, स्वधर्मपालनके लिये कष्ट सहना, पवित्रता, शीत-उष्ण आदिको सहना, उचित-अनुचितका विचार, मन एवं इन्द्रियोंको काबूमें रखना, सब प्रकारकी हिंसासे दूर रहना, वीर्यरक्षा करना, निषिद्ध कर्मोंका त्याग करना तथा अपनी कमाईका कुछ अंश दान करना, वेद-शास्त्रोंका नियमितरूपसे अध्ययन करना तथा भगवान्के नामका जप-कीर्तन करना, सरलता, सन्तोष, समदर्शी महात्माओंकी सेवा करना, धीरे-धीरे सांसारिक भोगोंकी चेष्टासे विरत होना, मनुष्यके अभिमानपूर्ण प्रयत्नोंका फल प्रायः उल्टा ही होता है—ऐसा विचार, मननशीलता, आत्मचिन्तन, प्राणिमात्रमें अन्न आदि जीवनोपयोगी सामग्रीका यथायोग्य विभाग करना, उनमें और विशेषकर मनुष्योंमें अपने आत्माका अथवा इष्टदेवका भाव रखना, महात्माओंके परम आश्रय भगवान् श्रीकृष्णके नाम-गुणोंका श्रवण और जोर-जोरसे उच्चारण करना, उनका निरन्तर स्मरण करना, उनकी सेवा-पूजा और वन्दना करना, उनके प्रति दास एवं मित्रका-सा भाव रखना तथा उन्हें आत्मसमर्पण करना—यह सभी मनुष्योंका सर्वश्रेष्ठ धर्म कहा गया है । धर्मके इन तीस लक्षणोंके पालनसे विश्वात्मा भगवान् प्रसन्न होते हैं ।

(श्रीमद्भागवत ७ । ११ । ८—१२)

कल्याण

१०-६-४४

ज्येष्ठ २०

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी

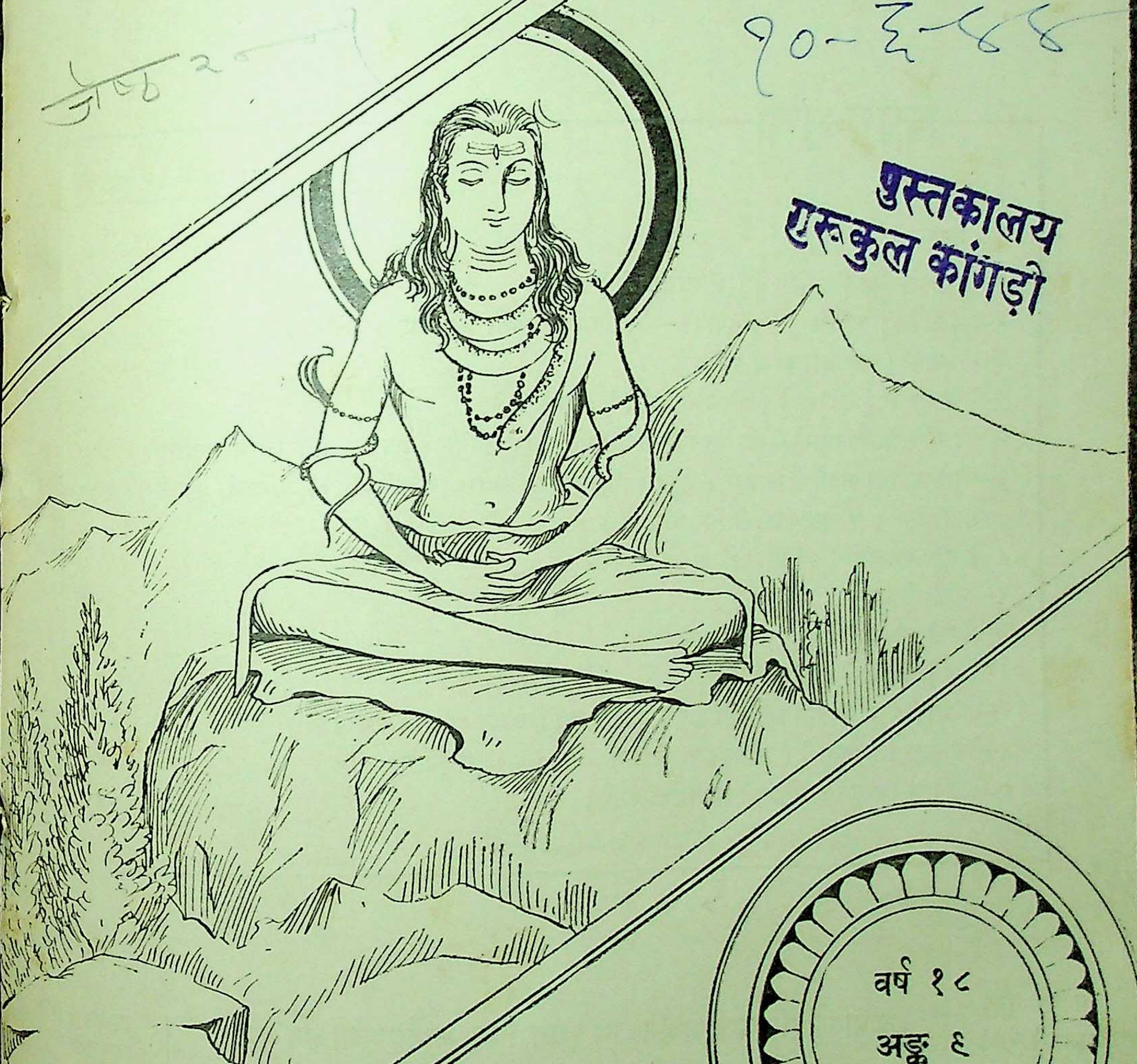

वर्ष १८

अङ्क ६

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ आगारा ॥

[संस्करण ५५६००]

विषय-सूची

कल्याण जून सन् १९४४ की

विषय ... पृष्ठ-संख्या
१–मुरलीका टोना [कविता] (श्रीसूरदासजी) ९८५
२–प्रभु-स्तवन [कविता] (अनुवादक–श्रीमुंशीरामजी शर्मा, एम्० ए०, 'सोम') ... ९८६
३–संत-वाणी (एक महात्माका प्रसाद) ९८७
४–'मन मेरे !' [कविता] (बहिन गायत्रीदेवी बाजोरिया) ९८९
५–वेदान्तशिरोमणि स्वामीजी श्रीरामानुजाचार्यजी महाराजके उपदेश (प्रेषक––भक्त रामशरणदासजी) ९९०
६–श्रीभगवान्‌का अप्राकृत आकार (पण्डित श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, एम्० ए०, आचार्य, शास्त्री) ९९३
७–उदार बनो (श्रीरामावतारजी विद्याभास्कर) १०००
८–परमार्थ-पत्रावली (श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र) १००४
९–प्रतीक्षा [कविता] ('नेह') १०१६
१०–उनकी क्रीड़ा (श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी) १०१७
११–पूजा [कहानी] (श्री'चक्र') १०२२
१२–गोरक्षाकी परम आवश्यकता और उसके कुछ उपाय (लाला श्रीहरिदेवसहायजी) ... १०२४
१३–सेवा-कुञ्ज [कविता] (श्रीजगन्नाथप्रसादजी, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०) ... १०३८
१४–गीता-तत्त्व-चिन्तन (श्रीशुकदेवप्रसादजी वर्मा) १०४०

वार्षिक मूल्य
भारतमें ५≡)
विदेशमें ७॥=)
(शिलिङ्ग ११½)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें ।)
विदेशमें ।≶)
(८ पेंस)

Edited by H. P. Poddar and C. L. Goswami, M. A., Sastri
Printed and Published by Ghanshyamdas Jalan at the Gita Press, Gorakhpur, U. P. (India)

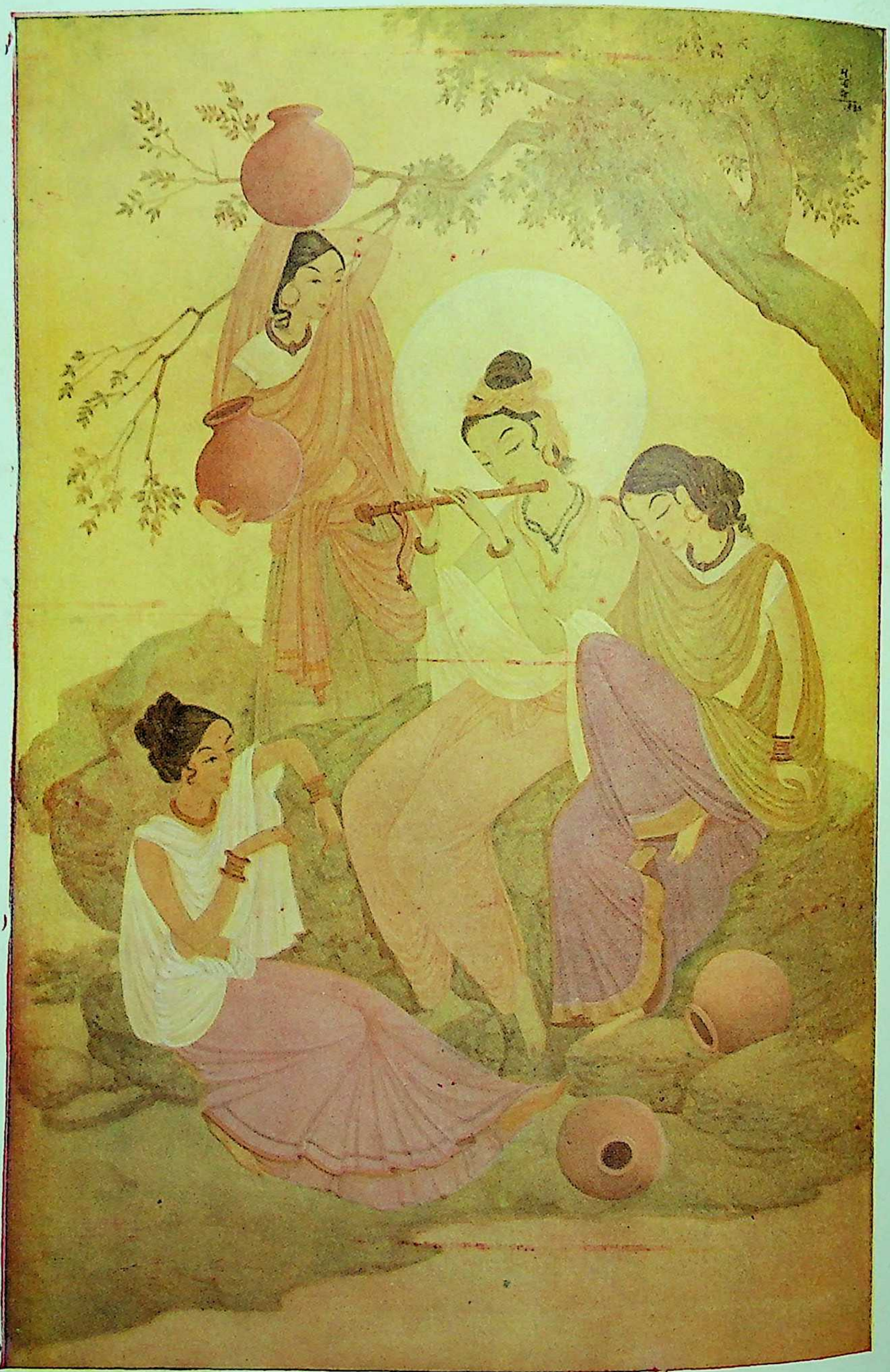

मुरलीकी मोहनी

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

रामाय रामभद्राय रामचन्द्राय वेधसे ।
रघुनाथाय नाथाय सीतायाः पतये नमः ॥

वर्ष १८ } गोरखपुर, जून १९४४, सौर ज्येष्ठ २००१ { संख्या ९
पूर्ण संख्या २१३

मुरलीका टोना

अँखियनकी सुधि भूलि गई ।
स्याम अधर मृदु सुनत मुरलिका चकृत नारि भई ॥
जो जैसें सो तैसेहिं रहि गइ, सुख दुख कहेउ न जाई ।
लिखी चित्र की-सी ह्वै गईं इकटक पल बिसराई ॥
काहू सुधि, काहू सुधि नाहीं सहज मुरलिका आन ।
भवन रवनकी सुधि न रही तनु सुनत सब्द बहु कान ॥
अँखियन ते मुरली अति प्यारी, वह बैरनि यह सोति ।
सूर परस्पर कहत गोपिका जहँ उपजी उदभौति ॥

—सूरदासजी

प्रभु-स्तवन

(अनुवादक–श्रीमुंशीरामजी शर्मा, एम्० ए०, 'सोम')

वयं घा ते त्वे इद्विन्द्र विप्रा अपि ष्मसि।
न हि त्वदन्यः पुरुहूत कश्चन मघवन्नस्ति मर्डिता॥

(ऋक्० ८। ६६। १३)

हम तेरे तू नाथ हमारा।
तेरे बनकर सुखी हुए हम बही शान्तिकी अभिनव धारा॥
अब सब कर्म ज्ञानकी बातें तेरे आश्रयसे चमकेंगी,
अन्तःशक्ति बुद्धि वर वाणी अपना सुगम विकास करेंगी।
तेरे अवलम्बनको पाकर मिला अमित धन, भूति निराली,
तुझसे अन्य नहीं जगतीमें कोई सुखप्रद वैभवशाली।
सबने तुझको–केवल तुझको–बार-बार बहु बार पुकारा॥

यद्याव इन्द्र ते शतं शतं भूमीरुत स्युः।
न त्वा वज्रिन्त्सहस्रं सूर्या अनु न जातमष्ट रोदसी॥

(ऋक्० ८। ७०। ५)

ये शत शत द्युलोक मिलकर क्या तेरी समता कर सकते?
तू अनन्त तू महामहिम, ये तेरी सीमामें रहते॥
अरे एक क्या शत सूर्योंमें तेरा-जैसा तेज नहीं,
ऐसी विस्तृत भूमि अनेकों पावें तेरा पार कहीं?
यह ब्रह्माण्ड विशाल रोदसी तेरी थाह न लगा सके।
तुझे नापने चले, बीचमें स्वयं नपेसे रहे रुके॥
तू अनन्त, तू अगम, अगोचर, तू अनन्त ज्ञानी दानी।
हम अति क्षुद्र बँधे सीमामें तुझे न पा सकते मानी॥

न पापासो मनामहे नारायासो न जल्हवः।
यदिन्न्विन्द्रं वृषणं सचा सुते सखायं कृणवामहै॥

(ऋक्० ८। ६१। ११)

तेरा आराधन करनेमें जो निष्पाप, ज्वलन्त, उदार।
यज्ञ कर्ममें तन्मय होकर पाते तेरा सख्य अपार॥
तू अभीष्ट फलदाता सन्तत, तू सुखवर्षक कान्त कृपालु।
चमक रहा है तेरा वैभव तू दानी, तू दिव्य दयालु॥

संत-वाणी

(एक महात्माका प्रसाद)

प्रश्न—कृपया भगवान्‌के अखण्ड स्वरूप और एकरसका वर्णन कीजिये ।

उत्तर—श्रीभगवान्‌के अखण्ड स्वरूप और एकरसका वर्णन भला खण्डवाली वाणी कैसे कर सकती है तथा खण्डवाले श्रवण ही उसे कैसे सुन सकते हैं । भगवान्‌के स्वरूपका वर्णन करनेमें भगवान् भी असमर्थ हो जायँगे, क्योंकि वर्णन करनेके साधन भगवान् स्वयं अपनेमेंसे ही उत्पन्न करेंगे । यह अखण्ड सत्य है कि जिससे जो चीज उत्पन्न होगी, उसकी अपेक्षा वह सीमित होगी । उस सीमित साधनसे असीमका वर्णन कैसे होगा ? जिसके सामने अनेक खण्ड उपस्थित हैं, वही अखण्ड है, जो अखण्ड है वही एकरस है । जिससे अनेक रस उत्पन्न होकर विलीन हो जाते हैं, वही एकरस है । जिस रसके आनेपर सभी रस नीरस हो जाते हैं, वही एकरस है । जिससे सभी रस सत्ता पाते हैं, वही एकरस है । जिसका किसी भी प्रकार त्याग नहीं हो सकता, वही अखण्ड एकरस है । जिसके बिना सभी अपूर्ण हैं, वही अखण्ड है । खण्ड होकर अर्थात् अखण्डसे भिन्न होकर कोई अखण्डको नहीं जान सकता । खण्डसे मिलकर खण्डको नहीं जान सकता । अखण्डका ज्ञान अखण्ड होनेपर और खण्डका ज्ञान खण्डसे भिन्न होनेपर सम्भव है, और किसी प्रकार नहीं । जो प्राणी अखण्डसे भिन्न होकर अखण्डको जाननेका प्रयत्न करता है, वह केवल बुद्धिका व्यायाम करता है । जिसको खण्डका ज्ञान होता है, उसीको अखण्डका ज्ञान हो जाता है; क्योंकि अखण्डका ज्ञान होते ही खण्ड अखण्डमें विलीन हो जाता है और एक अखण्ड शेष बच रहता है । अर्थात् सब कुछ विलीन होनेपर जो शेष रहता है, वही अखण्ड है । अखण्ड 'है' को और खण्ड 'नहीं' को कहा जाता है । 'नहीं' का ज्ञान होते ही 'नहीं' निवृत्त हो जाता है और 'है' का ज्ञान होते ही 'है' से एकता हो जाती है । एकता होनेपर वर्णन नहीं हो सकता । विचार-दृष्टिसे देखिये, आँखने आँखको कभी नहीं देखा । भक्त होकर भगवान्‌का वर्णन भक्तिके स्वरूपमें प्रकट होता है । अर्थात् 'भक्ति' भगवान्‌के स्वरूपका वर्णन है जो सिखायी नहीं जा सकती, जिसका कथन नहीं हो सकता । भक्त होनेपर अपने-आप जो भक्ति उत्पन्न होती है, वही भगवत्-स्वरूपका वर्णन है । श्रीभगवान् तो सर्वकालमें अखण्ड ही हैं; खण्डके स्वरूपमें प्राकट्य होनेपर भी जो अखण्ड ही रहते हैं, वही भगवान् हैं । न मालूम कबतक आपलोग वाणी और कानको अपना बना-बनाकर जीवित रक्खेंगे ? भगवान्‌का वर्णन करते ही वाणी आपकी नहीं रहेगी और श्रवण करते ही श्रवण आपके नहीं रहेंगे । जब ये आपके नहीं रहेंगे, तब न श्रवण रहेंगे, न वाणी रहेगी । ये सब बेचारे इसीलिये जीवित हैं कि इन्होंने अभी वह नहीं किया, जो इन्हें करना चाहिये । यह अखण्ड नियम है कि कार्य समाप्त होनेपर कर्ता शेष नहीं रहता । अब आप इन बेचारों (श्रवण, वाणी आदि) पर कृपा कीजिये और इन्हें वह करने दीजिये कि जिससे ये अपना कार्य समाप्त करके लक्ष्यको प्राप्त हों । आप अपनी आसक्तिकी पूर्तिके लिये कबतक इनको इनके कामसे वञ्चित रक्खेंगे ? जब प्राणी इन्द्रिय आदि यन्त्रोंसे रागयुक्त कार्य नहीं लेता, तब वे बेचारे अपने-आप भगवान्‌के अखण्ड स्वरूपका वर्णन कर कृतकृत्य हो जाते हैं । वाणी और श्रवण सदा ही समीप रहते हैं, क्योंकि बोलनेपर सुनना और सुननेपर बोलना होता ही रहता है । आप यदि

भगवान्‌के अखण्ड स्वरूपका वर्णन करना तथा उसे सुनना चाहते हैं तो वाणी, श्रवण आदिको अपने खण्ड स्वरूपके वर्णनमें न लगाइये। जब आप इनको अपने कामसे खाली कर देंगे, तब सच मानिये, ये आपको श्रीभगवान्‌के स्वरूपका वर्णन तथा श्रवण अपने-आप करायेंगे, तब आप सुनियेगा। श्रीभगवान्‌के स्वरूपका वर्णन भगवान्‌के आनेपर ही हो सकता है, वियोगमें नहीं। वियोग-कालमें तो भक्तके हृदयमें भगवान्‌के प्रेमकी प्रतीक्षाकी अग्नि प्रज्वलित रहती है। उस विरहाग्निसे तपी हुई वाणी आदि सभी भगवान्‌की सत्तासे ही सत्ता पाकर भगवान्‌के अखण्ड स्वरूपका वर्णन करेंगे, तब आप सुनियेगा। मन-इन्द्रिय आदि सभी यन्त्र उसीका वर्णन करते हैं, जिसका आप सुनना पसंद करते हैं। आप श्रीभगवान्‌से भिन्न और किसीका वर्णन सुनना पसंद न कीजिये, तब वे आपको स्वयं श्रीभगवान्‌के ही वर्णन सुनावेंगे। साधारण प्राणी भिन्न-भिन्न प्रकारकी क्रियाओंके लेप चढ़ा-चढ़ाकर स्वाभाविक प्रेमपात्रकी विरहाग्निको प्रज्वलित नहीं होने देते। वे भगवान्‌के बहानेसे क्रियाजन्य रसकी आसक्तिकी पूर्ति करते रहते हैं। भगवान्‌के होकर भगवान्‌का स्वरूप क्या है, यह प्रश्न क्या अर्थ रखता है? गहराईसे देखिये, प्यासने कभी नहीं पूछा, पानी क्या है। भूखने किसीसे नहीं पूछा भोजन क्या है। पानी पाकर प्यास तृप्त हो गयी, भोजन पाकर भूख तृप्त हो गयी। तृप्त होनेपर पानी और प्यासकी भिन्नता तथा भूख और भोजनकी भिन्नता शेष नहीं रहती। भगवान्‌का स्वरूप क्या है, यह प्रश्न उसी प्राणीका हो सकता है कि जिसने सद्भावपूर्वक भगवान्‌के होकर रहनेका संकल्प नहीं किया। अर्थात् जो भगवान्‌का होकर नहीं रहता, वही यह प्रश्न कर सकता है। इसका उत्तर यही है कि भगवान्‌का अखण्ड एकरस स्वरूप वही है कि जिसके बिना तुमको अपनी अपूर्णताका अनुभव है; क्योंकि न्यूनताकी दशामें जो आवश्यकता होती है, वही भगवान्‌का अखण्ड स्वरूप है। जिस प्रकार विषयीकी जो इच्छा होती है, वही विषयकी सत्ता होती है। अर्थात् विषयीकी इच्छासे भिन्न विषय और कुछ नहीं। उसी प्रकार प्राणीकी स्वाभाविक आवश्यकतासे भिन्न श्रीभगवान्‌की सत्ता और कुछ नहीं। विषय-इच्छाका जन्म प्रमाद तथा रागसे होता है। राग निवृत्त होनेपर स्वाभाविक आवश्यकता जाग्रत् होती है। स्वाभाविक आवश्यकताकी जागृति अग्निके समान है, जो प्रमादरूपी लकड़ीको जलाकर श्रीभगवान्‌से मिला देती है। राग निवृत्त होनेपर इन्द्रिय आदि सभी यन्त्र विषयोंका गुणगान एवं श्रवण करना अपने-आप बंद कर देते हैं। विषयोंका गुणगान बंद होते ही स्वाभाविक भगवद्-गुणानुवाद उत्पन्न होता है। जो अपने-आप उत्पन्न होता है, उसमें करनेका भाव नहीं आता। देखिये, भोजन अपने-आप पचता है, किसीको नहीं भास होता कि मैं पचाता हूँ। अपने-आप होनेवाली प्रवृत्ति श्रीभगवान्‌की सत्तासे स्वयं होती रहती है। अतः श्रीभगवान् स्वयं भक्त होकर आप अपना गुणानुवाद करते हैं। विभक्त होकर विषयी प्राणी श्रीभगवान्‌के स्वरूपका गुणानुवाद किसी भी प्रकार नहीं कर सकता। भक्त होकर पतित-से-पतित प्राणी भी भगवद्-गुणानुवादके योग्य हो जाता है। जिस प्रकार सभी प्रकारकी लकड़ियाँ अग्निकी होकर तद्रूप हो जाती हैं। अग्नि किसी भी लकड़ीको अग्नि बनानेसे इन्कार नहीं करता। उसी प्रकार श्रीभगवान् किसी भी प्राणीको अपनानेके लिये इन्कार नहीं करते। भला, यदि भगवान्‌का स्वरूप अखण्ड एकरस नहीं होता तो क्या वे सबको अपना सकते थे? कदापि नहीं। भक्त होते ही भक्त होनेसे पूर्वकी अहंता परिवर्तित हो जाती

है। अहंता परिवर्तित होते ही प्रवृत्ति बदल जाती है; क्योंकि अहंताके विपरीत प्रवृत्ति नहीं होती। अतः श्रीभगवान्का स्वरूप क्या है, यह जाननेके लिये एकमात्र यही उपाय है कि प्राणी सद्भावपूर्वक श्रीभगवान्का हो जावे। अहंता परिवर्तित हुए बिना जो कुछ चेष्टा होगी, वह देखनेमें कितनी ही पवित्र आस्तिकतायुक्त क्यों न हो, उसका अर्थ निर्जीव मशीनकी भाँति होगा, एवं अभिनयके स्वरूपमें होगा; क्योंकि अहंताके विपरीत प्रवृत्ति प्राणीका जीवन नहीं हो सकता। अतः मनुष्य भक्त होकर ही श्रीभगवान्को जान सकता है और केवल एकमात्र भगवान्का होकर ही भक्त हो सकता है।

'मन मेरे ?'

(लेखिका—बहिन गायत्रीदेवी बाजोरिया)

तुझको जान लिया मन मेरे !
तू मन ! पलभर शान्त न होता !
व्यर्थ वादमें निशि-दिन खोता !!
भोगोंकी आशा-तृष्णाके—
बलपर चलता साँझ-सवेरे !
तुझको जान लिया मन मेरे !!
ऊबड़-खाबड़ जगके पथपर !
ठोकर खा-खा, रहता तत्पर !!
क्या जाने जीवनकी आशा—
—में संशय करता मन मेरे !
तुझको जान लिया मन मेरे !!
कैसे तुझको मैं समझाऊँ ?
अपने दिलका दर्द सुनाऊँ !!
इस कारागृहके कोनेमें—
इच्छाएँ रहती हैं घेरे !
तुझको जान लिया मन मेरे !!
समझ जगको कोरा सपना ।
यहाँ नहीं कोई भी अपना ॥
शून्य पंथके पथिक नहीं ये—
पथमें साथी होंगे तेरे !
तुझको जान लिया मन मेरे !!

वेदान्तशिरोमणि स्वामीजी श्रीरामानुजाचार्यजी महाराजके उपदेश

(प्रेषक—भक्त रामशरणदासजी)

१ राग-द्वेषवाले चित्तमें कभी गोविन्द आ ही नहीं सकते। निर्मल मनवाले ही उसे पाते हैं। भला स्वच्छ निर्मल सरोवरमें रहनेवाले हंस कभी कीचड़में कैसे रह सकते हैं? भगवान् कहते हैं—

निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहिं कपट छल छिद्र न भावा॥

२ जहाँ बोध होगा, वहीं विनय होगी और जहाँ बोध नहीं, वहाँपर विनय भी नहीं। जब घड़ा भर जाता है तो बैठ जाता है, नव जाता है और जो घड़ा भरा नहीं, वही उछला करता है।

३ समस्त शास्त्रोंका निचोड़ है कि परात्पर ब्रह्ममें रति होना, भक्ति होना। वह कायम कैसे रहे, स्थिर कैसे रहे? तो कहा है कि अपने-अपने वर्णाश्रमधर्मानुकूल चलना अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सबका आलस्य छोड़कर अपने-अपने कर्म करना। इसीसे भक्ति कायम रह सकती है।

४ इष्टमें गाढ़ तृष्णा होना ही भक्तिका लक्षण है। जैसे-जैसे भजन होता जाता है, वैसे-वैसे ही दुर्वासना भी दूर होती जाती है। हंस कभी गंदे जलमें नहीं रहता, इसी प्रकार भक्ति भी किसी दुर्वासनायुक्त मनमें नहीं रहती।

५ दुःसंगसे ऐसे बचना चाहिये, ऐसे भागना चाहिये, जैसे छोड़नेपर तीर भागता है। व्यर्थ भाषण और कठोर वचन यह वाचिक हिंसा है।

६ जो भगवद्भक्त होते हैं, उनकी सभी देवी-देवता माँकी तरह रक्षा करते हैं, अनायास ही वह सबका प्यारा हो जाता है।

७ भोग-रोगकी वासना ही पिशाचिनी है। जबतक यह हृदयमें है तबतक प्रेमाभक्ति कहाँ?

८ याद रक्खो, कहीं सिर मुँड़ाकर पहले ही बाबाजी न बन जाना। पहले किसी अच्छे आचार्यके पास रहकर, किसी संतके पास रहकर कुछ अभ्यास करना चाहिये। पहले ही एकान्तमें जाकर बैठ जाओगे तो ध्यान रखना प्रकृतिदेवी कभी गेंदकी तरह उछाल न दे।

९ भगवान् जिसकी रक्षा करते हैं तो ऐसे नहीं करते हैं—जैसे ग्वाला लट्ठ लिये गौओंके पीछे-पीछे फिरा करता है। जिसकी रक्षा करते हैं, उसकी बुद्धि शुद्ध कर देते हैं। फिर उससे शुभ-पुण्य कर्म ही बनते हैं।

१० जबतक शरीरमें बल है, तबतक परोपकार करो। परन्तु परोपकार करते हुए भी भगवदाराधन बहुत जरूरी है।

११ वर्णाश्रमधर्मका पालन करना बहुत आवश्यक है। यद्यपि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और अन्त्यज प्रभृति सबमें आत्मा एक समान है, तथापि अनादि पुण्य-पापरूप कर्म सम्बन्ध होनेसे कर्मानुरूप ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अन्त्यजादि देह-सम्बन्ध होनेसे ब्राह्मणादिको वेदादि पढ़नेका अधिकार और शूद्रादिके लिये शास्त्र निषेध करता है। जैसे यज्ञाग्नि और चिताग्निमें अग्निपना समान होनेपर भी शुभ कार्यमें यज्ञशालासे ही अग्नि लायी जाती है, श्मशानादिसे नहीं। जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यका अन्न ग्राह्य है और शूद्रादि और अन्त्यज प्रभृतिका अन्न निषिद्ध है। पराशर-स्मृतिका वचन है कि गौका ही पूजन होगा और गौका ही दूध ग्राह्य है और गदही चाहे सीधी भी हो वह पूजनीय नहीं है और न उसका दूध ही ग्राह्य है।

१२ भगवत्-कृपासे जिनको दिव्य ज्ञान प्राप्त है, उनको सभी वस्तुओंमें परमात्मा दर्शन देते हैं। संत श्रीनामदेवजी महाराजको सब जगह भगवान्की ही मङ्गलमूर्तिके दर्शन होते रहे। एक बार संत नामदेवजी

अपने घरमें सोये हुए थे। इसी बीचमें एक कुत्ता घरमें घुसकर चूल्हेमें सो गया। अकस्मात् उसको छींक आयी और उसने कान फटफटाये, जिससे संतजीकी निद्रा खुल गयी। उसी समय आपने अपने सिरहानेसे मँजीरा लिया और उसे बजाते हुए प्रभुके ध्यानमें मग्न होकर यह पद गाया—

आये मेरे अँधेरे घरके मदन राई।
चाकी चाटै चूपन खाई॥
तुम गुरु गरुग प्रभुजूकी चालि।
पूँछ हलै ज्यों जौ की बालि॥
चूल्है माहिं जू प्रभुजू की सेज।
दीके कीनो अधिकै तेज॥
कातिकमें जु प्रभुजीको भोग।
लै लै लकुट खिजावैं लोग॥
तीन पाप प्रभु मेटन योग।
नामदेव स्वामी बन्यो संयोग॥

इतना सुनकर भगवान् पाण्डुरंग शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म धारण किये प्रकट हो गये।

१३ **विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।**
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

विद्याविनयसम्पन्न ब्राह्मणमें, गौ, हाथी, कुत्ता और श्वपचादिमें अत्यन्त विषमाकार तथा प्रतीयमान आत्मामें पण्डित अर्थात् आत्माके यथार्थ ज्ञानवाले सर्वत्र समदर्शी होते हैं। विषमाकार तो प्रकृतिका है, आत्माका नहीं। आत्मा तो सर्वत्र एक समान है, ऐसा ही ज्ञानी-लोग देखते हैं। आत्मदर्शन ऐसा ही होगा और शरीरगत व्यवहार वर्णाश्रमादि सदाचारके अनुकूल ही होना चाहिये। महर्षि श्रीश्रीपाराशरजी श्रीविष्णुपुराणमें कहते हैं—

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।
विष्णुराराध्यते पन्था नान्यस्तत्तोषकारकः॥

वर्णाश्रमका आचार करनेवाले पुरुषोंद्वारा ही परमपुरुष परमात्माका आराधन किया जाता है। वर्णाश्रमधर्मके आचरण करते हुए ही परमात्माकी भक्ति प्रभुके संतोषकी हेतु होती है। दूसरोंका आचरण उनके संतोषका हेतु नहीं है; गीतामें भगवान् स्वयं कह रहे हैं—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥
(१८।४५)

अपने-अपने वर्णाश्रमधर्मको पालन करते हुए ही मनुष्य सिद्धिको प्राप्त होते हैं। भगवान् और भी आगे कहते हैं—

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।
(१८।४६)

अपने वर्णाश्रमधर्मके द्वारा परमात्माकी सेवा करता हुआ मनुष्य सिद्धिको प्राप्त होता है; इसीलिये भगवान् 'समदर्शिनः' कहते हैं, 'समवर्तिनः' नहीं कहते। बर्ताव अपने वर्णाश्रमके अनुकूल ही होता है और वही होना भी चाहिये।

१४ संसार अज्ञानियोंके लिये दुःखरूप है और ज्ञानियोंके लिये कहीं कभी दुःखका लेश ही नहीं है।

१५ कोरी-बातोंसे कुछ नहीं होता। 'तत्त्वमसि-तत्त्वमसि' खूब रात-दिन रट रहे हैं, पर इधर मुकदमेबाजी भी खूब चल रही है। जिस प्रकार घरमें कल्पवृक्षका चित्र हो तो भी भूखों मरना पड़ता है, क्योंकि चित्रसे कुछ नहीं होता। इसी प्रकार जबानी 'तत्त्वमसि-तत्त्वमसि' रटनेसे भी कुछ नहीं होगा। कलिपावनावतार श्रीश्रीगोस्वामीजी कहते हैं—

तुलसिदास हरि गुरु करुना बिनु बिमल बिबेक न होई।
बिनु बिबेक संसार घोर निधि पार न पावै कोई॥

श्रीहरिगुरुचरणाश्रय बिना कुछ न होगा। जिस प्रकार 'सर्प भी झूठा और जहर भी झूठा' ऐसे कहते रहनेसे कुछ नहीं होगा, जबतक कि गारुड़ मन्त्र सिद्ध न हो जाय, ऐसा न हो कि तुम तो इसे झूठा ही कहते रहो और सर्प एकदम् डस जाय। इसी प्रकार इस संसारको 'झूठा है, झूठा है' कहनेमात्रसे कुछ नहीं होगा जबतक कि श्रीहरिगुरु-कृपा प्राप्त नहीं हो जायगी।

१६ हिंसा करनेवाले, चोरी करनेवाले, व्यभिचार करनेवालेके हृदयमें तो ईश्वर प्रकटरूपसे हैं ही नहीं। श्रीश्यामसुन्दरकी मधुर छटा तो भक्तोंके हृदयमें ही है। दुष्टोंके हृदयमें तो वे काँटेकी तरह क्लेशरूपमें ही प्रकट होते हैं।

१७ छबीला नटनागर जबतक हृदयमें न लगेगा तबतक कुछ नहीं होगा। कोरे निराकार ईश्वरसे कुछ न होगा।

१८ विषयोंमें आसक्ति होना ही बन्धन है और विषयोंसे चित्तका हट जाना ही मुक्ति है। संतोंमें आसक्ति होनी चाहिये। संतोंमें आसक्ति क्यों होनी चाहिये, इसलिये कि संतगोष्ठीमें नित्य श्रीकृष्णचर्चा परस्पर होती रहती है।

१९ राग-द्वेषसे दूषित हृदयमें जनार्दन ठहर ही नहीं सकते।

२० जबतक शुद्ध सत्त्वगुण न होगा, तबतक विषयोंमें दोष-दर्शन नहीं होगा।

२१ प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त्तमें, जब कि मीठी-मीठी नींद आ रही हो, शास्त्रकी आज्ञा माननेवालोंको उठना पड़ेगा और फिर आत्मचिन्तनमें लगना होगा।

२२ बेटेका क्या होगा, स्त्रीका क्या होगा, घरका क्या होगा, इसीकी तो फिक्र है। परन्तु मेरा क्या होगा? इसकी कुछ भी फिक्र नहीं है। यही आश्चर्य है।

२३ यह शरीर भी एक प्रकारसे गुरु है। यह कहता है कि मैं तो बराबर क्षीण होता ही रहूँगा, तुम मेरी क्यों व्यर्थ सेवा करते हो? मैं तो तुम्हें धोखा देता ही रहूँगा; तुम इससे कुछ काम लो।

२४ जो भी वस्तु है, सभी नश्वर है; इसीलिये वैराग्यकी जरूरत है। गोस्वामीजी महाराज कहते हैं।

अरब खरब लों द्रव्य है उदय अस्त लों राज।
तुलसी जब यहाँ मरन है फिर आवै केहि काज॥

२५ मनुष्य-शरीर बड़ा दुर्लभ है। देवता भी इसे सराहते हैं; क्योंकि मनुष्य-जन्म चौरासी लाख योनियोंके बाद मिलता है। तो भी इस शरीरका गिरना जरूरी है। पाँच सौ रोग तो महर्षि चरकने गिनाये हैं। और भी न जाने कितने-कितने रोग इसमें भरे हैं। क्षणभर भी यदि सत्संगका लाभ प्राप्त हो जाय तो भी इस जीवका कल्याण हो सकता है।

२६ जहाँ वैष्णव-सभा जुटी हुई हो, वहाँ सबको एक ही देखते हुए एक बार प्रणाम कर लेना चाहिये; क्योंकि—

भक्ति भक्त भगवंत गुरु चतुर नाम बपु एक।
इनके पद बन्दन किये नासैं बिघ्न अनेक॥

एक ही तत्त्व समझते हैं तो सब वैष्णवोंको एक साथ ही प्रणाम हो जाता है।

२७ जितना काँटा अंदर है, उतनी ही सुई जब अंदर जायगी तभी वह निकल सकेगा। इसी प्रकार जितना राग संसारमें है, उतना ही राग श्रीगोविन्दमें होगा तभी कुछ होगा। दिनभर तो संसारमें रमे रहे और थोड़ी देर माला हाथमें ले ली और समझ लिया कि हमारी मुक्ति हो गयी। यह कैसे हो सकता है?

ऐरनकी चोरी करै, करे सुईका दान।
कोठे चढ़के देखते, कब आवे बिमान॥

२८ श्रीश्रीगोपालजी सभी जगह हैं। एक पुजारीजी श्रीठाकुरजीकी पूजा कर रहे थे। सामने एक कुत्ता आ गया। पुजारी डंडा लेकर उसे मारनेको भागे और उसकी कमरपर एक डंडा जमा दिया। जब वापस आये तो ठाकुरजीने कहा कि तुमने मेरे डंडा मारा है और उसका निशान देखो मेरी पीठपर है। पुजारीजीने कहा कि महाराज! मैंने तो डंडा आपके नहीं मारा, कुत्तेके मारा था। ठाकुरजीने कहा कि क्या मैं कुत्तेमें नहीं हूँ?

श्रीभगवान्‌का अप्राकृत आकार

(लेखक—पण्डित श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, एम्० ए०, आचार्य, शास्त्री)

'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्' इत्यादि अनेक श्रौत वचनोंने परब्रह्म परमात्माका प्रकृतिसे परत्व बताते हुए और 'आदित्यवर्ण' आदि शब्दोंसे उसके रंग-रूपका निर्देश करते हुए कहा है कि उस महापुरुषका ज्ञान प्राप्त करके ही जीव अमरत्व लाभ कर सकता है, क्योंकि इसके अतिरिक्त निस्तारका कोई अन्य उपाय नहीं है।

श्रुतिने जिस प्रकार—

'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' (मुण्डक० १।१।१०)
'सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः' (बृहदा० ५।४)
'सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति'(बृहदा० ५।८)

—इत्यादि वचनोंमें ईश्वरीय सर्वज्ञता, सर्वाधिपत्य आदि गुणोंका निर्देश किया है। उसी प्रकार—

'यत्ते रूपं कल्याणतमम्' (ईशावास्य० १६)
'यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णम्'(मुण्डक० ३।१।३)
'तस्य हैतस्य रूपम्' (बृहदा० २।३।६)
'तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्'(मुण्डक० ३।२।३)

—आदि वाक्योंमें ईश्वरीय रूपका भी निर्देश किया है।

आचार्य रामानुजने श्रीभगवान्‌के रूपका जो प्रतिपादन किया है, उसके कुछ उद्धरण दिग्दर्शनार्थ नीचे दिये जाते हैं—

(१) **'यथा ज्ञानादयः परस्य ब्रह्मणः स्वरूपतया निर्देशात् स्वरूपभूतगुणाः, तथा इदमपि रूपं श्रुत्या स्वरूपतया निर्देशात् स्वरूपभूतम्।'** (वेदार्थसंग्रह)

अर्थात् जिस प्रकार ज्ञानानन्दादि गुण परब्रह्मके स्वरूपभूत गुण हैं, उसी प्रकार यह रूप भी स्वरूप ही है; क्योंकि श्रुतिने इसे भी स्वरूप कहकर निर्देश किया है। 'इदमपि रूपम्' से भगवान्‌की कर-चरण-नयन-वदनादिमती व्यक्तिकी ओर संकेत है।

(२) **'परस्य ब्रह्मणः प्राकृतहेयगुणान् प्राकृतहेयदेहसम्बन्धं तन्मूलकर्मवश्यतासम्बन्धं च प्रतिषिध्य कल्याणगुणान् कल्याणरूपं च वदन्ति। तदिदं स्वाभाविकमेव रूपम्···।'** (श्रीभाष्य)

अर्थात् श्रुतियोंके वाक्य यही उद्घोषित करते हैं कि परब्रह्मके गुण प्रकृतिविकार नहीं हैं—हेय नहीं हैं; और न उनका वपु ही प्राकृत और हेय है। इसके विपरीत परब्रह्मके गुण कल्याण-गुण हैं और उनका विग्रह कल्याण-विग्रह है। भगवान्‌का यह रूप स्वाभाविक है।

(३) **'स्वमेव रूपं देवमनुष्यादिसजातीयसंस्थानं कुर्वन्नात्मसंकल्पेन देवादिरूपः संभवामि।'**
(गीताभाष्य)

अर्थात् मैं श्रीकृष्ण अपने ही रूपको देव-मनुष्य आदिके आकारका बनाता हुआ देवादिरूपमें अवतीर्ण होता हूँ।

श्रीभाष्यमें जिनको कल्याणगुण और कल्याणरूप बताया है, वेदार्थसंग्रहमें उन्हींको स्वरूपभूत गुण और स्वरूपभूत रूप बताया है। श्रीभाष्योक्त 'स्वाभाविकमेव रूपम्' यह पदावली विशेष ध्यान देनेयोग्य है। भावका अर्थ है सत्ता। सत्ता दो प्रकारकी होती है—स्वकीय और परकीय। स्वकीय सत्ता ही दूसरे शब्दोंमें स्वभाव कही जाती है। श्रीभगवान्‌की कर-चरणवती व्यक्ति स्वाभाविक है—स्वसत्तात्मक है; आगन्तुक, परकीय, प्राकृत, त्रिगुणमयी नहीं है। यह व्यक्ति केवल सत्त्वगुणमयी है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि रजस्तमःस्पृष्ट सत्त्वकी तो वहाँ कल्पना भी नहीं हो सकती।

साम्प्रदायिकोंमें एक सूक्ति प्रचलित है—

'किमात्मिका भगवतो व्यक्तिः ? यदात्मको भगवान्। किमात्मको भगवान् ? ज्ञानात्मको भगवान्।'

१६ हिंसा करनेवाले, चोरी करनेवाले, व्यभिचार करनेवालेके हृदयमें तो ईश्वर प्रकटरूपसे हैं ही नहीं। श्रीश्यामसुन्दरकी मधुर छटा तो भक्तोंके हृदयमें ही है। दुष्टोंके हृदयमें तो वे काँटेकी तरह क्लेशरूपमें ही प्रकट होते हैं।

१७ छबीला नटनागर जबतक हृदयमें न लगेगा तबतक कुछ नहीं होगा। कोरे निराकार ईश्वरसे कुछ न होगा।

१८ विषयोंमें आसक्ति होना ही बन्धन है और विषयोंसे चित्तका हट जाना ही मुक्ति है। संतोंमें आसक्ति होनी चाहिये। संतोंमें आसक्ति क्यों होनी चाहिये, इसलिये कि संतगोष्ठीमें नित्य श्रीकृष्णचर्चा परस्पर होती रहती है।

१९ राग-द्वेषसे दूषित हृदयमें जनार्दन ठहर ही नहीं सकते।

२० जबतक शुद्ध सत्त्वगुण न होगा, तबतक विषयोंमें दोष-दर्शन नहीं होगा।

२१ प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त्तमें, जब कि मीठी-मीठी नींद आ रही हो, शास्त्रकी आज्ञा माननेवालोंको उठना पड़ेगा और फिर आत्मचिन्तनमें लगना होगा।

२२ बेटेका क्या होगा, स्त्रीका क्या होगा, घरका क्या होगा, इसीकी तो फिक्र है। परन्तु मेरा क्या होगा? इसकी कुछ भी फिक्र नहीं है। यही आश्चर्य है।

२३ यह शरीर भी एक प्रकारसे गुरु है। यह कहता है कि मैं तो बराबर क्षीण होता ही रहूँगा, तुम मेरी क्यों व्यर्थ सेवा करते हो? मैं तो तुम्हें धोखा देता ही रहूँगा; तुम इससे कुछ काम लो।

२४ जो भी वस्तु है, सभी नश्वर है; इसीलिये वैराग्यकी जरूरत है। गोस्वामीजी महाराज कहते हैं।

अरब खरब लों द्रव्य है उदय अस्त लों राज।
तुलसी जब यहाँ मरन है फिर आवै केहि काज॥

२५ मनुष्य-शरीर बड़ा दुर्लभ है। देवता भी इसे सराहते हैं; क्योंकि मनुष्य-जन्म चौरासी लाख योनियोंके बाद मिलता है। तो भी इस शरीरका गिरना जरूरी है। पाँच सौ रोग तो महर्षि चरकने गिनाये हैं। और भी न जाने कितने-कितने रोग इसमें भरे हैं। क्षणभर भी यदि सत्संगका लाभ प्राप्त हो जाय तो भी इस जीवका कल्याण हो सकता है।

२६ जहाँ वैष्णव-सभा जुटी हुई हो, वहाँ सबको एक ही देखते हुए एक बार प्रणाम कर लेना चाहिये; क्योंकि—

भक्ति भक्त भगवंत गुरु चतुर नाम बपु एक।
इनके पद बन्दन किये नासैं बिघ्न अनेक॥

एक ही तत्त्व समझते हैं तो सब वैष्णवोंको एक साथ ही प्रणाम हो जाता है।

२७ जितना काँटा अंदर है, उतनी ही सुई जब अंदर जायगी तभी वह निकल सकेगा। इसी प्रकार जितना राग संसारमें है, उतना ही राग श्रीगोविन्दमें होगा तभी कुछ होगा। दिनभर तो संसारमें रमे रहे और थोड़ी देर माला हाथमें ले ली और समझ लिया कि हमारी मुक्ति हो गयी। यह कैसे हो सकता है?

ऐरनकी चोरी करै, करे सुईका दान।
कोठे चढ़के देखते, कब आवे बिमान॥

२८ श्रीश्रीगोपालजी सभी जगह हैं। एक पुजारीजी श्रीठाकुरजीकी पूजा कर रहे थे। सामने एक कुत्ता आ गया। पुजारी डंडा लेकर उसे मारनेको भागे और उसकी कमरपर एक डंडा जमा दिया। जब वापस आये तो ठाकुरजीने कहा कि तुमने मेरे डंडा मारा है और उसका निशान देखो मेरी पीठपर है। पुजारीजीने कहा कि महाराज! मैंने तो डंडा आपके नहीं मारा, कुत्तेके मारा था। ठाकुरजीने कहा कि क्या मैं कुत्तेमें नहीं हूँ?

श्रीभगवान्‌का अप्राकृत आकार

(लेखक—पण्डित श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, एम्० ए०, आचार्य, शास्त्री)

'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्' इत्यादि अनेक श्रौत वचनोंने परब्रह्म परमात्माका प्रकृतिसे परत्व बताते हुए और 'आदित्यवर्ण' आदि शब्दोंसे उसके रंग-रूपका निर्देश करते हुए कहा है कि उस महापुरुषका ज्ञान प्राप्त करके ही जीव अमरत्व लाभ कर सकता है, क्योंकि इसके अतिरिक्त निस्तारका कोई अन्य उपाय नहीं है ।

श्रुतिने जिस प्रकार——

'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' (मुण्डक० १ । १ । १०)
'सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः' (बृहदा० ५ । ४)
'सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति'(बृहदा० ५।८)

—इत्यादि वचनोंमें ईश्वरीय सर्वज्ञता, सर्वाधिपत्य आदि गुणोंका निर्देश किया है । उसी प्रकार——

'यत्ते रूपं कल्याणतमम्' (ईशावास्य० १६)
'यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णम्'(मुण्डक० ३।१।३)
'तस्य हैतस्य रूपम्' (बृहदा० २ । ३ । ६)
'तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्'(मुण्डक० ३।२।३)

—आदि वाक्योंमें ईश्वरीय रूपका भी निर्देश किया है।

आचार्य रामानुजने श्रीभगवान्‌के रूपका जो प्रतिपादन किया है, उसके कुछ उद्धरण दिग्दर्शनार्थ नीचे दिये जाते हैं——

(१) **'यथा ज्ञानादयः परस्य ब्रह्मणः स्वरूपतया निर्देशात् स्वरूपभूतगुणाः, तथा इदमपि रूपं श्रुत्या स्वरूपतया निर्देशात् स्वरूपभूतम् ।'** (वेदार्थसंग्रह)

अर्थात् जिस प्रकार ज्ञानानन्दादि गुण परब्रह्मके स्वरूपभूत गुण हैं, उसी प्रकार यह रूप भी स्वरूप ही है; क्योंकि श्रुतिने इसे भी स्वरूप कहकर निर्देश किया है । 'इदमपि रूपम्' से भगवान्‌की कर-चरण-नयन-वदनादिमती व्यक्तिकी ओर संकेत है ।

(२) **'परस्य ब्रह्मणः प्राकृतहेयगुणान् प्राकृतहेयदेहसम्बन्धं तन्मूलकर्मवश्यतासम्बन्धं च प्रतिषिध्य कल्याणगुणान् कल्याणरूपं च वदन्ति । तदिदं स्वाभाविकमेव रूपम्··· ।'** (श्रीभाष्य)

अर्थात् श्रुतियोंके वाक्य यही उद्घोषित करते हैं कि परब्रह्मके गुण प्रकृतिविकार नहीं हैं—हेय नहीं हैं; और न उनका वपु ही प्राकृत और हेय है । इसके विपरीत परब्रह्मके गुण कल्याण-गुण हैं और उनका विग्रह कल्याण-विग्रह है । भगवान्‌का यह रूप स्वाभाविक है ।

(३) **'स्वमेव रूपं देवमनुष्यादिसजातीयसंस्थानं कुर्वन्नात्मसंकल्पेन देवादिरूपः संभवामि ।'** (गीताभाष्य)

अर्थात् मैं श्रीकृष्ण अपने ही रूपको देव-मनुष्य आदिके आकारका बनाता हुआ देवादिरूपमें अवतीर्ण होता हूँ ।

श्रीभाष्यमें जिनको कल्याणगुण और कल्याणरूप बताया है, वेदार्थसंग्रहमें उन्हींको स्वरूपभूत गुण और स्वरूपभूत रूप बताया है । श्रीभाष्योक्त 'स्वाभाविकमेव रूपम्' यह पदावली विशेष ध्यान देनेयोग्य है । भावका अर्थ है सत्ता । सत्ता दो प्रकारकी होती है—स्वकीय और परकीय । स्वकीय सत्ता ही दूसरे शब्दोंमें स्वभाव कही जाती है । श्रीभगवान्‌की कर-चरणवती व्यक्ति स्वाभाविक है——स्वसत्तात्मक है; आगन्तुक, परकीय, प्राकृत, त्रिगुणमयी नहीं है । यह व्यक्ति केवल सत्त्वगुणमयी है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि रजस्तमःस्पृष्ट सत्त्वकी तो वहाँ कल्पना भी नहीं हो सकती ।

साम्प्रदायिकोंमें एक सूक्ति प्रचलित है——

'किमात्मिका भगवतो व्यक्तिः ? यदात्मको भगवान् । किमात्मको भगवान् ? ज्ञानात्मको भगवान् ।'

इससे भी यही सिद्ध होता है कि भगवद्व्यक्ति भगवत्स्वरूप ही है। भगवान्की सत्ता शुद्ध है; उसमें अणुमात्र भी तत्त्वान्तरका सम्पर्क नहीं है। शुद्ध सत्ता ही शुद्ध तत्त्व कही जाती है। सत्ता और सत्त्व समानार्थक शब्द हैं। भगवान्के विख्यात 'सच्चिदानन्द नामका प्रथमांश 'सत्' ही है। इसी सत्को शुद्ध तत्त्व, शुद्ध सत्त्व, विशुद्ध तत्त्व, विशुद्ध सत्त्व कहा जाता है। जब यह कहा जाता है कि भगवान् विशुद्ध सत्त्व हैं तब यह समझना उचित नहीं है कि भगवान् प्राकृत गुणत्रयमें प्रथम सत्त्वगुणनामक गुणसे उपहित हैं। शास्त्रने बार-बार श्रीभगवान्में प्राकृत हेय गुणोंका प्रतिषेध किया है—

'सत्त्वादयो न सन्तीशे यत्र च प्राकृता गुणाः।'
(विष्णुपुराण)

जब ज्ञान, आनन्द आदि गुण भी भगवत्स्वरूप ही हैं तो ज्ञानमूर्ति, आनन्दमूर्ति, ज्ञानविग्रह, आनन्दविग्रह आदि शब्दोंसे भगवान्का निर्देश उचित ही है। यों तो भगवान्में अनन्त कल्याणगुण हैं और उन्हें निखिलगुणमूर्तिमान् कहा भी जाता है—

'रागद्वेषातिनिर्मुक्तसमस्तगुणमूर्तिमान्'
(सात्त्वतसंहिता ७ । २५)

तथापि उनमें छः मुख्य हैं। इसीसे भगवान्को षाड्गुण्यविग्रह कहा जाता है—

'षाड्गुण्यविग्रहं देवं भास्वज्ज्वलनतेजसम्।'
(सात्त्वतसंहिता १ । २५)

कर-चरणादिमान् भगवद्-रूपके भगवत्स्वरूपभूत होनेके कारण उस रूपका सत्, शुद्ध सत्त्व, विशुद्ध सत्त्व, सत्य, सदात्मक, शुद्धसत्त्वात्मक, विशुद्धसत्त्वात्मक, सत्यात्मक, सत्स्वरूप, सत्यस्वरूप आदि शब्दोंसे निर्देश करना उचित है। इसी प्रकार उस रूपको ज्ञानात्मक, ज्ञानमय, विज्ञानमय, चित्, चिन्मय, चिदात्मक, संवित्, संविदात्मक, आनन्द, आनन्दात्मक, आनन्दमय आदि शब्दोंसे लक्षित करना भी शास्त्रीय ही है। ऐसे सभी शब्दोंके भावोंको सूचित करनेके लिये भक्तगण 'सच्चिदानन्दघन' शब्दका प्रयोग किया करते हैं, जिसका अर्थ है सच्चिदानन्द-मूर्ति। घन शब्दका अर्थ है मूर्ति—

'घनो मूर्त्तौ' (अष्टाध्यायी ३ । ३ । ७७)

सद्घन, चिद्घन, आनन्दघन, सच्चिद्घन, सदानन्दघन, चिदानन्दघन शब्दोंसे भी भगवद्रूपका निर्देश होता है।

जीवका प्राकृत देह जिस प्रकार जीवात्मासे भिन्न होता है, उस प्रकार परब्रह्म परमात्माका वपु परब्रह्म परमात्मासे भिन्न नहीं होता। जब भगवद्वपु भगवत्स्वरूप ही है तब उसमें देह और देहीके भेदकी कल्पनाके लिये अवकाश ही नहीं रह जाता है—

'देहदेहिभिदा चैव नेश्वरे विद्यते क्वचित्।'
(पद्मपुराण)

इसीलिये भगवान्के सभी श्रीविग्रहोंके लिये शास्त्रमें कहा है कि वे आपादमस्तक परमानन्दमूर्त्ति और केवल ज्ञानमय होते हैं—

'परमानन्दसन्दोहा ज्ञानमात्राश्च सर्वतः।'
(वाराहपुराण)

प्राकृत तत्त्वोंसे रचित देहेन्द्रियोंकी सहायताके विना ब्रह्म किस प्रकार बोद्धा, मन्ता, श्रोता, स्प्रष्टा, द्रष्टा, रसयिता, घ्राता हो सकते हैं ? ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये। परमात्माका द्रष्टृत्वादि व्यापार इन्द्रियोंपर निर्भर न होकर सर्वज्ञ और सत्यसंकल्प होनेके कारण स्वभावसे ही स्वयमेव होता है। शब्दादिके साक्षात्कारके लिये जीवको श्रोत्रादि इन्द्रियोंकी आवश्यकता है; क्योंकि अविद्याके कारण उसका स्वाभाविक ज्ञान बद्धावस्थामें तिरोहित रहता है, किन्तु परब्रह्मका शब्दादि साक्षात्कार स्वयमेव होता है।

प्राक्तन वासनाओंसे वासितान्तःकरण जीवोंके लिये निरिन्द्रिय भगवान्‌के रूपादि-साक्षात्कारकी बात दुर्गम है, किन्तु शास्त्रीय भावनासे चित्तको भावित करनेपर यह विषय सुगम हो जाता है।

प्राकृत सृष्टिके विकासमें राजसाहंकारसहकृत सात्त्विकाहंकारसे मन आदि एकादश इन्द्रियाँ उत्पन्न हुआ करती हैं। इस सिद्धान्तके निश्चित हो जानेपर कि इन्द्रियोंका विकास अहंकारसे होता है, उस भगवत्तत्त्वमें इन्द्रियोंकी कल्पना ही कैसे हो सकती है, जिसमें कि अहंकार-जनक महत्तत्त्वकी जननी प्रकृति ही नहीं है? जब मूल ही नहीं, तब पत्र-पुष्प कैसे? मूलप्रकृतिसे होता है महत्तत्त्व, महत्तत्त्वसे होता है अहंकार और अहंकारसे होती हैं इन्द्रियाँ। जब भगवद्विग्रह अप्राकृत है, उसमें प्रकृतिका सम्बन्ध ही नहीं है, तब प्रकृत्युत्थ इन्द्रियाँ उसमें कहाँसे आ जायँगी? भगवद्विग्रह चिदानन्दका आकारमात्र है। उस विग्रहमें प्राकृत कल्पनाओंका आरोप अनुचित है। जब भगवान्‌में सात्त्विकाहंकारोत्थ एकादश इन्द्रियोंकी ही सिद्धि नहीं हो सकती तब तामसाहंकारोत्थ स्थूल शरीरकी तो चर्चा ही क्या?

श्रीनारायण भगवान्‌के दोनों नयन, गम्भीर जलमें सरस नालपर लगे हुए और सूर्यकी किरणोंसे विकसित कमलके दलके समान कमनीय हैं—

(१) **तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी।**
(छान्दोग्य० १।६।७)
(२) **यद् भक्त्या पुण्डरीकाक्षं स्तवैरर्चेन्नरः सदा।**
(महाभारत अनुशासनपर्व)
(३) **नमस्ते पुण्डरीकाक्ष शङ्खचक्रगदाधर।**
(विष्णुपुराण १।४।१२)
(४) **जितं ते पुण्डरीकाक्ष वासुदेवामितद्युते।**
(सात्त्वतसंहिता ७।२५)

श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके अन्य माधुर्यका वर्णन शास्त्रमें स्थान-स्थानपर किया गया है। दिग्दर्शनार्थ कुछ वचन यहाँ दिये जाते हैं—

नारायण नमस्तेऽस्तु पुण्डरीकायतेक्षण।
सुभ्रूललाट सुनस सुस्मिताधरविद्रुम॥
पीनवृत्तायतभुज श्रीवत्सकृतभूषण।
तनुमध्य महावक्षः पद्मनाभ नमोऽस्तु ते॥
विलासविक्रमाक्रान्त त्रैलोक्यचरणाम्बुज।
नमस्ते पीतवसन स्फुरन्मकरकुण्डल॥
स्फुरत्किरीटकेयूरहारकौस्तुभभूषण।
(ब्रह्मतन्त्र)

देवर्षि नारदने राजकुमार ध्रुवको जिस रूपका निरूपण किया था वह इस प्रकार है—

प्रसादाभिमुखं शश्वत्प्रसन्नवदनेक्षणम्।
सुनासं सुभ्रुवं चारुकपोलं सुरसुन्दरम्॥
तरुणं रमणीयाङ्गमरुणोष्ठेक्षणाधरम्।
प्रणताश्रयणं नृम्णं शरण्यं करुणार्णवम्॥
श्रीवत्साङ्कं घनश्यामं पुरुषं वनमालिनम्।
शङ्खचक्रगदापद्मैरभिव्यक्तचतुर्भुजम्॥
किरीटिनं कुण्डलिनं केयूरवलयान्वितम्।
कौस्तुभाभरणग्रीवं पीतकौशेयवाससम्॥
काञ्चीकलापपर्यस्तं लसत्काञ्चननूपुरम्।
दर्शनीयतमं शान्तं मनोनयनवर्धनम्॥
पद्भ्यां नखमणिश्रेण्या विलसद्भ्यां समर्चताम्।
हृत्पद्मकर्णिकाधिष्ण्यमाक्रम्यात्मन्यवस्थितम्॥
(श्रीमद्भा० ४।८।४५—५०)

श्रीभगवान्‌की रूपमाधुरीका इस प्रकारका वर्णन वास्तविक है, कल्पनामात्र नहीं—

न ह्यरूपाया देवताया रूपमुपदिश्यते यथाभूतवादि हि शास्त्रम्। (वेदार्थसंग्रह)

अर्थात् परदेवता नारायण साकार हैं तभी तो शास्त्र उन्हें साकार बताता है; ऐसा नहीं कि लोकप्रतारणार्थ व्यर्थ ही निराकारको साकार बताया जा रहा है; क्योंकि बात जैसी है, शास्त्र वैसी ही कहता है। शास्त्र जीवको सन्मार्गकी ओर ही अग्रसर करता है; क्योंकि

वह जीवको इतना प्यार करता है, जितना सहस्रों माता-पिता भी नहीं कर सकते—

मातापितृसहस्रेभ्योऽपि वत्सलतरं शास्त्रम् ।
(गीताभाष्यमें रामानुज)

तभी तो उसने जीवके कल्याणके लिये श्रीभगवान्के मधुरातिमधुर रूपका मधुर-मधुर पदावलीमें प्रतिपादन किया है ।

आचार्य रामानुजके शब्दोंमें श्रीमन्नारायणका वह दिव्यरूप—

‘अनवधिकातिशयसौन्दर्याहृताशेषमनोदृष्टिवृत्ति, लावण्यामृतपूरिताशेषचराचरभूतजात, अत्यद्भुताचिन्त्यनित्ययौवन, पुष्पहाससुकुमार, पुण्यगन्धवासितानन्तदिगन्तराल, त्रैलोक्याक्रमणप्रवृत्तगम्भीरभाव, करुणानुरागमधुरलोचनावलोकिताश्रितवर्ग’ है ।

श्रीभगवान्का दिव्यरूप अतिशय मधुर है । उसका सभी कुछ—अङ्ग-प्रत्यङ्ग—आनन्दमय होनेके कारण मधुरिमामय है । आचार्य वल्लभके शब्दोंमें केवल यही कहा जा सकता है कि—

अधरं मधुरं वदनं मधुरं
नयनं मधुरं हसितं मधुरम् ।
हृदयं मधुरं गमनं मधुरं
मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ॥१॥
वचनं मधुरं चरितं मधुरं
वसनं मधुरं वलितं मधुरम् ।
चलितं मधुरं भ्रमितं मधुरं
मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ॥२॥
(मधुराष्टक)

और कविवर लीलाशुकके शब्दोंमें—

मधुरं मधुरं वपुरस्य विभो-
र्मधुरं मधुरं वदनं मधुरम् ।
मधुगन्धि मृदुस्मितमेतदहो
मधुरं मधुरं मधुरं मधुरम् ॥
(श्रीकृष्णकर्णामृत १ । ९१)

श्रीभगवान्का वर्ण श्याम है । श्यामका तात्पर्य नीलसे है । नील और श्यामको संस्कृत वाङ्मयमें पर्याय माना गया है—

कृष्णो नीलासितश्यामकालश्यामलमेचकाः ।
(अमरकोष १ । ५ । १४)

नीलके स्थानपर श्यामका प्रयोग किया जाता है, यथा—

इन्दीवरदलश्याममिन्दिरानन्दकन्दलम् ।
वन्दारुजनमन्दारं वन्देऽहं यदुनन्दनम् ॥

एवं श्यामके स्थानपर नीलका, यथा—

स्वकर्णविभ्राजितकुण्डलोल्लसत्-
कपोलनीलालकमण्डिताननाम् ।
(श्रीमद्भा० ८ । १२ । २०)

भगवद्वपुकी नीलिमा शास्त्रमें स्थान-स्थानपर उपवर्णित है, दिग्दर्शनार्थ—

अतसीपुष्पसंकाशं पीतवाससमच्युतम् ।
ये नमस्यन्ति गोविन्दं न तेषां विद्यते भयम् ॥
(महाभारत शान्तिपर्व ४७ । ९०)

अर्थात् अतसी=अलसीके कुसुमके समान वर्णवाले, कनकाम्बरधारी, अच्युत गोविन्दको जो प्रणाम करते हैं, वे निर्भय हो जाते हैं ।

अवतार-विग्रहमें भी भगवान्का यही वर्ण रहता है—

फुल्लेन्दीवरपत्राभं चतुर्बाहुमुदीक्ष्य तम् ।
श्रीवत्सवक्षसं जातं तुष्टावानकदुन्दुभिः ॥
(विष्णुपुराण ५ । ३ । ८)

अर्थात् विकसित नील-कमलके दलके समान वर्णवाले, चतुर्भुज, श्रीवत्साङ्कित वक्षःस्थलवाले भगवान्को पुत्ररूपमें अवतीर्ण देखकर वसुदेवजी स्तुति करने लगे ।

इस भगवन्नीलिमाकी उपमा शरद्गगन, केकि-कण्ठ, इन्द्रनील आदिसे दी जाती है ।

श्रीविग्रहसे चतुर्दिक् स्वर्णरश्मियाँ विकीर्ण हुआ करती हैं—

आ प्रणखात् सर्व एव सुवर्णः।
(छान्दोग्य० १ । ६७)

इसी हेतुसे भगवान् स्वर्णाभ कहे जाते हैं—

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णम्।
(मुण्डकोपनिषद् ३ । १ । ३)

श्रीजानकी माताने हनुमान्‌जीसे श्रीरघुनाथजीकी कुशल पूछते हुए उनके सुवर्णके समान वर्णवाले मुखका स्मरण किया था—

कच्चिन्न तद्धेमसमानवर्णं
तस्याननं पद्मसमानगन्धि।
(रामायण ५ । ३६ । २८)

इससे पूर्व हनुमान्‌जीने श्रीरामका परिचय देते हुए उनकी स्वर्णाभताका उल्लेख किया है—

स सुवर्णच्छविः श्रीमान् रामः श्यामो महायशाः।
(रामायण ५ । ३५ । २२)

इनमें तथा एतादृश अन्य शास्त्रोक्त वचनोंमें—

श्रुत्युक्त 'सर्व एव सुवर्णः', 'रुक्मवर्णम्' 'आदित्यवर्णम्', 'यथा माहारजनं वासः।'

--आदि वचनावलीका ही भाव भगवान्‌की सुवर्णच्छविताके विषयमें प्रदर्शित हुआ है।

वर्णतः नील होनेपर भी श्रीभगवान् निज अङ्गसे विनिःसृत आभाके कारण ही हेमाभ हैं।

कभी-कभी वह हेमाभ आभा इतनी प्रकाशमान होती है कि विग्रहनीलिमा मृदु विदित होने लगती है, जैसे सूर्यके उज्ज्वल प्रकाशसे गगनकी नीलिमा। उस समय भगवद्विग्रह 'सान्द्रपयोदसौभग', 'सान्द्राम्बुदाभ' और 'नीलजीमूतसंकाश' प्रतीत होता है।

हिरण्यवर्णा श्रीलक्ष्मीजीके सान्निध्यमें तो भगवान्‌का इन्द्रनीलके समान नील वर्ण मरकतके समान हरित प्रतीत होने लगता है—

नमो मरकतश्यामवपुषेऽधिगतश्रिये।
केशवाय नमस्तुभ्यं नमस्ते पीतवाससे॥
(श्रीमद्भा० ८ । १६ । ३५)

पीत एवं नील वर्णोंके मिश्रणसे हरित वर्ण होता है, यह वैज्ञानिक सिद्धान्त है।

यद्यपि लीलानिमित्त ऊरीकृत व्यूहादि रूपोंमें श्रीभगवान्‌के सित-पीत-रक्त आदि विविध वर्ण भी हैं—

यथा पाण्ड्वाविकम्, यथेन्द्रगोपः, यथाग्न्यर्चिः, यथा पुण्डरीकम्, यथा सकृद्विद्युतम्।
(बृहदारण्यक० २ । ३ । ६)

तथापि उनका प्रधान वर्ण नील ही है।

भगवान्‌के श्रीविग्रहमें 'श्री'का निवास है। भगवान्‌की शक्तिका नाम श्री है। 'श्रयते हरिम् इति श्रीः।' श्री नित्य ही भगवदाश्रया हैं—

श्रियं देवीं मदाश्रयाम्।
(श्रीमद्भा० ८ । ४ । २०)

श्रीका ही दूसरा नाम लक्ष्मी है, जैसा कि ऋग्वेदीय श्रीसूक्तके प्रथम मन्त्रोक्त—

चन्द्रां हिरण्मयीं लक्ष्मीम्।

इस वचनसे, और निम्नाङ्कित भागवतवचनोंकी एकवाक्यतासे विदित है—

श्रिया विलोकिता देवाः सप्रजापतयः प्रजाः।
शीलादिगुणसम्पन्ना लेभिरे निर्वृतिं पराम्॥

निःसत्त्वा लोलुपा राजन् निरुद्योगा गतत्रपाः।
यदा चोपेक्षिता लक्ष्म्या बभूवुर्दैत्यदानवाः॥
(८ । ८ । २८-२९)

भगवान् नारायण अनन्त शक्तियोंके आवास हैं और लक्ष्मीजी उन समस्त शक्तियोंकी समुदाय—

मूर्ति—समष्टि—हैं। वे नारायणकी अनपायिनी शक्ति हैं, अतएव नारायणविग्रहके साथ लक्ष्मीविग्रहका ध्यान कर्तव्य है। यदि दो शक्तियोंके साथ नारायणका ध्यान अभीष्ट हो तो श्री और लक्ष्मीके साथ करना चाहिये। उस दशामें चिच्छक्ति श्री हैं और आनन्दशक्ति लक्ष्मी हैं—

श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ।
(यजुर्वेद ३१। २२)

यदि तीन शक्तियोंके साथ नारायणका ध्यान अभीष्ट हो तो श्री, भू और लीलाके साथ करना चाहिये। भू सच्छक्ति हैं। 'भू सत्तायाम्।' और लीलाशब्द आनन्दका सूचक है। इस प्रकार सत्, चित् और आनन्द नामकी तीन शक्तियोंके साथ नारायणका ध्यान सम्पन्न होता है—

चतुर्भुजमुदाराङ्गं श्यामं पद्मनिभेक्षणम्।
श्रीभूमिलीलासहितं चिन्तयेच्च सदा हृदि॥
(भारद्वाजसंहिता ३। ४८)

यदि चार शक्तियोंके साथ नारायणका ध्यान करना हो तो लक्ष्मी, कीर्त्ति, जया और मायाके साथ करना चाहिये—

लक्ष्मीः कीर्त्तिर्जया माया देव्यस्तस्याश्रिताः सदा।
(जयाख्यसंहिता ६। ७७)

अथवा भागवतके—

पुष्ट्या श्रिया कीर्त्यजयाऽखिलर्द्धिभि-
र्निषेव्यमाणं परमेष्ठिनां पतिम्।
(१०। ८९। ५७)

इस श्लोकके अनुसार पुष्टि, श्री, कीर्त्ति और जयाके साथ करना चाहिये।

यदि सात शक्तियोंके साथ नारायणका ध्यान करना हो तो गीताके—

कीर्त्तिः श्रीर्वाक् च नारीणां
स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा।

इस वचनके अनुसार कीर्त्ति, श्री, वाणी, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमाके साथ करना चाहिये।

यदि आठ शक्तियोंके साथ नारायणका ध्यान करना हो तो श्रीरुक्मिणी, सत्यभामा, जाम्बवती, सत्या, भद्रा, नाग्नजिती, कालिन्दी और मित्रविन्दाके साथ करना चाहिये।

यदि बारह शक्तियोंके साथ नारायणका ध्यान करना हो तो भागवतके—

श्रिया पुष्ट्या गिरा कान्त्या कीर्त्या तुष्ट्येलयोर्जया।
विद्ययाविद्यया शक्त्या मायया च निषेवितम्॥
(१०। ३९। ५५)

इस वचनके अनुसार श्री, पुष्टि, वाणी, कान्ति, कीर्त्ति, तुष्टि, इला, ऊर्जा, विद्या, अविद्या, शक्ति और मायाके साथ करना चाहिये।

यदि और भी अधिक शक्तियोंके साथ नारायणका ध्यान करना हो तो १६१०८ दिव्य मूर्त्तियोंकी भावना करनी चाहिये जो कि उपासनाकाण्डकी ऋचाओंकी अधिष्ठात्री चिन्मयविग्रहा देवियाँ हैं। भगवच्छक्तियाँ भगवद्विग्रहमें ही लीन रहती हैं। उपासना-समयमें ऐसी भावना कर्त्तव्य है कि वे शक्तियाँ श्रीविग्रहसे प्रकट हो रही हैं—

ततो भगवतो विष्णोर्भासा भास्वरविग्रहात्।
लक्ष्म्यादीर्निस्सृता ध्यायेत् स्फुलिङ्गनिचया यथा॥
(जयाख्यसंहिता १३। १०५—६)

ये सब लक्ष्मीजीकी विलासमूर्त्तियाँ हैं। लक्ष्मीजी ही इन सबमें प्रधान हैं।

लक्ष्मीजी सुवर्णवर्णा, परमकान्तिमती और अतिशय सुन्दरी हैं। वे स्मितवदना, कमलानना और कमलदलनयना हैं। श्रीनारायणका-सा पीताम्बर उनको प्रिय है—

'समुद्रः पीतकौशेयवाससी समुपाहरत्।'
(श्रीमद्भा० ८। ८। १५)

वे चतुर्भुजा हैं। प्रथम करयुगलमें कमलयुगल लिये हुए हैं। द्वितीय दक्षिण पाणिसे अभय और वामपाणिसे वर दे रही हैं। किरीट, कुण्डल, केयूर, कटक, ग्रैवेय, हेमहार, कमलमाला, काञ्ची, नूपुर आदि विभूषणोंसे विभूषिता हैं। कमलासनपर विराजमान हैं और स्यन्दन उनका प्रिय यान है। वे दयामयी, उदार, यशस्विनी, देवजुष्टा, सर्वलोकेश्वरी, दुराधर्षा और त्रिभुवन-वैभवकारिणी हैं। माधवी, माधवप्रिया, हरिवल्लभा, विष्णुपत्नी, विष्णुप्रियसखी, रमा, इन्दिरा आदि श्रीलक्ष्मीदेवीके नामान्तर हैं। धन-धान्य, गाय-घोड़े, पुत्र-कलत्र, बन्धु-बान्धव, दास-दासी, आरोग्य और शतायुष्यप्रभृति सकल कामनाओंको पूर्ण करनेवाली हैं, एवं अपने वात्सल्यमय पतितपावन अवलोकनसे चरणाश्रितोंको नारायणके पदपद्मोंकी आराधनामें अग्रसर करनेवाली हैं। श्रीसम्प्रदायकी आद्य प्रवर्त्तिका हैं।

शक्ति और शक्तिमान्‌का अभेद है, अतएव श्री और विष्णु एक ही हैं। विष्णुसे श्री भिन्न नहीं हैं। वे भगवान्‌से कभी वियुक्त नहीं हैं—

अनपायिनी भगवती श्रीः साक्षादात्मनो हरेः।
(श्रीमद्भा० १२। ११। २०)

विष्णु सर्वव्यापक हैं और उनकी शक्ति जगन्माता श्री भी सर्वव्यापिका हैं—

नित्यैव सा जगन्माता विष्णोः श्रीरनपायिनी।
यथा सर्वगतो विष्णुस्तथैवेयं द्विजोत्तम॥
(विष्णुपुराण)

त्वयैतद् विष्णुना चाम्ब जगद् व्याप्तं चराचरम्।
(अग्निपुराण २३७। १०)

अवतार-रूपमें भी श्री भगवान्‌की सहायिका होती हैं। रामरूपमें वही सीता हैं और कृष्णरूपमें वही रुक्मिणी हैं। जब भगवान् देवताओंमें अवतीर्ण होते हैं तब श्री भी देवीरूप धारण कर लेती हैं और जब भगवान् मनुष्यलोकमें मानवाकृति धारण करते हैं तब श्री भी मानवाकृतिमती बन जाती हैं—

एवं यदा जगत्स्वामी देवदेवो जनार्दनः।
अवतारं करोत्येष तदा श्रीस्तत्सहायिनी॥
राघवत्वेऽभवत्सीता रुक्मिणी कृष्णजन्मनि।
(विष्णुपुराण १। ९। १४२-१४४)

'सीता लक्ष्मीर्भवान् विष्णुः।'
(रामायण ६। ११७। २९)

श्री और श्रीमान् अभिन्न और एकतत्त्व होनेपर भी भक्तानुग्रहविग्रह रूपमें भिन्नवत् प्रतीत होते हैं। लक्ष्मीनारायण, सीताराम, राधाकृष्ण आदि रूप परतत्त्वके ही लीलानिमित्तक दो-दो रूप हैं, किन्तु युगल रूपमें अनन्यता है—

अनन्या हि मया सीता भास्करेण यथा प्रभा।
(रामायण ६। ११८। २०)

प्रभा एवं प्रभावन सूर्य जिस प्रकार अनन्य और अभिन्न हैं उसी प्रकार लक्ष्मी और नारायण अनन्य और अभिन्न हैं। जिस प्रकार तरङ्गराशि समुद्रसे अनन्य और अभिन्न हैं, उसी प्रकार लक्ष्मीजी नारायणसे अनन्य और अभिन्न हैं—

सूर्यस्य रश्मयो यद्वदूर्मयश्चाम्बुधेरिव।
सर्वैश्वर्यप्रभावेण कमला श्रीपतेस्तथा॥
(जयाख्यसंहिता ६। ७८)

ज्योत्स्नाका निवास जिस प्रकार राकेशमें है, उसी प्रकार श्रीका निवास योगियोंके ध्यानास्पद भगवद्वपुमें ही है—

का त्वन्या त्वामृते देवि सर्वयज्ञमयं वपुः।
अध्यास्ते देवदेवस्य योगिचिन्त्यं गदाभृतः॥
(अग्निपुराण २३७। ६)

भगवान्‌के दिव्य वपुमें भी वक्षःस्थल ही श्रीकी आवासभूमि है—

तस्याः श्रियस्त्रिजगतो जनको जनन्या
वक्षो निवासमकरोत् परमं विभूतेः।
(श्रीमद्भा० ८ । ८ । २५)

‘श्यामे पृथावुरसि शोभितया श्रिया’
(श्रीमद्भा० ३ । १५ । ३९)

जब श्री और विष्णु विभिन्न रूपोंमें व्यक्त होते हैं तब श्री वात्सल्य-मूर्ति अम्बा हैं और विष्णु जगत्-पिता हैं—

त्वमम्बा सर्वभूतानां देवदेवो हरिः पिता।
(अग्निपुराण २३७ । १०)

श्री नहीं हैं भिन्न तुमसे नाथ ! तुम ही हो रमा।
इस रूपमें जगके पिता, उस रूपमें हो विश्व-मा॥
तुम बसो मेरे हृदयमें देव ! यह वर-दान दो।
मेरे विनत सिरपर प्रभो ! हे नाथ ! अपना हाथ दो॥

उदार बनो

(लेखक—श्रीरामावतारजी विद्याभास्कर)

जो प्रसन्न रहता है, वही उदार है।

मनुष्यमें प्रसन्न रहनेकी इच्छा स्वभावसे है। परन्तु अज्ञानी मनुष्य यह नहीं पहचानता कि सच्ची प्रसन्नता क्या है ? वह इस अज्ञानसे प्रसन्न रहनेके नाम ले-लेकर प्रसन्नताको रोकनेवाली वस्तुओंकी इच्छा कर बैठता है और अप्रसन्नताको अपना लेता है।

जिन वस्तुओंको पानेसे इन्द्रियोंको सुख और न पानेसे उन्हें दुःख होता है, अज्ञानी मनुष्य उन वस्तुओंको पाकर थोड़ी देरके लिये अपनेको प्रसन्न मान लेता है और उनके नष्ट हो जानेपर फिर दुःख मानने लगता है।

थोड़ी देरका सुख ही तो संसारका वह दुःख है, जिसने सुखका स्वाँग बना रक्खा है और सारे संसारको ठग रक्खा है। इस थोड़ी देरके सुखने मनुष्य-जीवनकी सुन्दरता नष्ट कर डाली है।

थोड़ी देरकी प्रसन्नता ही मनुष्यकी ठगनी है। यही अप्रसन्नताका सच्चा रूप है। थोड़ी देरकी प्रसन्नताने ही संसारकी प्रसन्नता छीनी है। यदि मनुष्य इस थोड़ी देरकी झूठी प्रसन्नताके पीछे न पड़ता, तो उसे सच्ची प्रसन्नता हाथ लग जाती।

अज्ञानीने भूलसे यह मान लिया कि संसारके पदार्थोंमें मनुष्यको प्रसन्न करनेकी शक्ति है। परन्तु सच्ची बात यह है कि उनमें मनुष्यको प्रसन्न करनेकी शक्ति नहीं है। अपनेको प्रसन्न रखनेकी शक्ति तो मनुष्यके ही मनमें है; और वह शक्ति उसकी शुद्धता है। संसार कान खोलकर सुन ले कि मनको शुद्ध रक्खे बिना संसारमें कोई भी कभी भी लाख प्रयत्न करके भी प्रसन्न नहीं रह सकता।

जब मनुष्य भूलसे कुछ पदार्थोंमें अपनेको प्रसन्न करनेकी शक्ति मान लेता है, तब वह उन्हें अपना-अपना कर सदा दुःख-ही-दुःख भोगता रहता है। वह मधुमें लिपटी हुई मक्खीके समान अपनेको पदार्थोंके साथ चिपटा लेता है और उनके बन्धनमें बँधकर दुःख भोगता रहता है। अज्ञानीको लुभानेवाली वस्तु इस संसारमें सर्वत्र भरी पड़ी हैं। यहाँ उनकी कोई न्यूनता नहीं है। अज्ञानी पद-पदपर लोभमें फँसता चला जाता है। वह जिधर आँख डालता है, उधर ही उसे लुभानेकी वस्तु दीखती हैं। वे उसे अपनी ओर खींचती हैं, वे उसे बुलाती हैं, वह उनके जालमें फँस जाता है और वे उसे सदा दुखी रखती हैं।

लुभानेवाली वस्तुएँ संसारमें थीं तो इसलिये कि मनुष्य उन्हें देखकर उत्पन्न होनेवाली अधीरतासे लड़ा करता, धीरज रखना सीखता और प्रसन्न रहा करता; परन्तु अज्ञानी ईश्वरकी जगत्की रचना करनेवाली इस शुभ इच्छाको नहीं पहचानता। उसने उन्हें देखकर अपना मन ढीला छोड़ दिया। उसने अपनेको उन्हें भोगनेके लिये विवश मान लिया। उसने केवल एक बात देखी और इनके जालमें बँध गया कि ये पदार्थ आँखोंसे देखनेमें अच्छे लगते हैं, हाथसे छूनेमें सुखदायी प्रतीत होते हैं और जीभसे चखनेमें स्वादिष्ठ जान पड़ते हैं। वह केवल इन ऊपरकी बातोंपर मोहित हो गया और आगे सोचना छोड़कर इन्हींमें फँसा रह गया।

यदि वह आगे सोचता तो उसे दीखता कि आँख, नाक, कान, त्वचा आदि इन्द्रियोंको सुख देनेवाले पदार्थ इन इन्द्रियोंको चाहे थोड़ा-सा सुख देते हों; परन्तु ये मनका सुख तो छीन ही लेते हैं। ये मनकी क्या बुरी अवस्था कर डालते हैं। उसे तो ये सुखी नहीं कर सकते। मनुष्यको

अपने देहसे बढ़कर मनको सुखी रखना था। ये पदार्थ मनको अपने लोभमें फँसाकर चञ्चल अर्थात् दुखी बना देते हैं। ये पदार्थ तो मनका सुख छीन लेते हैं।

मनकी चञ्चलता ही दुःख है। मनका चञ्चल हो जाना ही मनुष्यके दुःखका सच्चा स्वरूप है।

यदि तुम अपने जीवनको सुखमें काटना चाहते हो तो मनके इस चञ्चलतारूपी दुःखको पहचानना सीख लो। जब कभी जहाँ कहीं अपने मनको चञ्चल होता पाओ, वहीं उसे दुखी पहचानो। चञ्चलताको हटाकर सुख पाया करो। देखो, यह दुःख बाहर नहीं रहता। यह दुःख मनुष्यके मनमें रहता है। इस दुःखको बाहरसे नहीं, भीतरसे हटाना पड़ता है।

जबतक मनको मनचाही वस्तु नहीं मिलती, तबतक तो वह निश्चय ही चञ्चल रहता है। जब उसे मनचाही वस्तु मिल जाती है, तब भी वह चञ्चल ही रहता है। तब वह उसे भोगनेमें चञ्चल रहता है। वह उसे भोगनेके पीछे भी चञ्चल हो जाता है। भोगनेके पीछे जब वह वस्तु नष्ट होने लगती है या नष्ट हो जाती है, तब वह उसे फिर पानेके लिये चञ्चल और अधीर हो उठता है। वह आशामें दुखी, मिलनेमें दुखी और नष्ट हो जानेपर भी दुखी रहता है।

मनमें इस प्रकारकी चाह पालना ही दुःख या अप्रसन्नता है। यह तो शत्रुको पालना है।

चाह मनुष्यके मनका ऐसा भयंकर रोग या शत्रु है, जो ऊपरसे देखनेमें मीठा लगता है। इसके फंदेमें फँसा हुआ मनुष्य दिन-रात अपनी सुखकी माँग मिटानेके काममें इतना उलझ जाता है कि वह 'मैं मनुष्य हूँ' इस बातको भुला देता है। वह अपने विधाताके इस सन्देशको भूल जाता है कि तू मनुष्य है और जा मनुष्यका-सा जीवन बिताकर आ। वह अपने जीवनके ऊँचे उद्देश्यको भूल जाता है।

बालको! तुम उदार बननेके लिये तो प्रसन्न रहो और प्रसन्न रहनेके लिये चाहको अपने मनमें मत रहने दो। चाहको छोड़नेसे दूसरा प्रसन्न रहनेका कोई मार्ग आजतक संसारने नहीं निकाला।

जो मनुष्य सुखकी माँग पूरी करनेके काममें फँस जाता है, फिर उसे कोई मनुष्योचित कर्तव्य नहीं सूझता। फिर उसे कोई अच्छे-से-अच्छा कामतक नहीं भाता। सुखकी माँग वह राक्षसी है, जो निरपराध दूसरोंका गलातक काटनेमें संकोच नहीं करती। इस सुखेच्छाने ही संसारमें अशान्ति फैला रक्खी है। यदि संसारमें शान्ति लानी होगी तो मनुष्योंको अपनी-अपनी सुखेच्छा दबानी पड़ेगी। सुखेच्छासे रहित लोगोंके बलसे ही संसारमें और समाजमें शान्ति रह सकती है। अच्छे काम केवल उस मनुष्यको भाते हैं, जो अपनी सुखेच्छाओंकी दासता छोड़ देता है।

पहले तो अपने मनमें इच्छा उत्पन्न होने देना और फिर उसे मिटानेमें लग जाना—यह व्यर्थका या मूढताका काम है। यह तो ऐसा काम है, जैसे कोई पहले तो कीच-गारा लगा ले और फिर उसे धोता फिरे। अच्छा हो कि कीच-गारा पहले ही न लगाया जाय।

जिस वस्तुको मिटाना पड़े उसे उत्पन्न न होने देना बड़ी बुद्धिमत्ताका काम है। पहले तो चाहको उत्पन्न होने देना और फिर उसे मिटानेकी चिन्तामें पड़ जाना—इससे तो यही अच्छा है कि चाहको उत्पन्न होते ही मार डाला जाय।

यदि तुम अपने जीवनमें एक बार भी चाहको मार डालोगे, तो वह सदाके लिये मर जायगी और तुम प्रसन्नताके लिये बिना कुछ किये सदा प्रसन्न रहने लगोगे।

सदा प्रसन्न रहनेकी कलाको पा जाना, संसारकी सबसे बड़ी चतुराई और संसारका सबसे बड़ा काम है।

क्योंकि चाह उत्पन्न हो रही है, केवल इसी कारण बिना विचारे उसे मिटानेमें जुट पड़ना—अपनेको अप्रसन्न करना है।

चाहको उत्पन्न न होने देकर उसे सदाके लिये मिटा डालना ही प्रसन्न जीवन बितानेकी विधि या प्रसन्नता है।

अपनी प्रसन्नताकी रक्षा करना अर्थात् उसे खण्डित न होने देना मनुष्यका मुख्य कर्तव्य है।

अपनी अप्रसन्नताको बढ़ाते चले जाना मनुष्यके लिये अकर्तव्य है।

जिस मनुष्यके मनमें अप्रसन्नता रहती है, वह किसीके भी साथ अच्छा बर्ताव नहीं कर सकता।

मनको अप्रसन्न रखकर दूसरोंके साथ जो बर्ताव किया जाता है, उसको उदारताका उलटा द्वेष, शत्रुता या वैर कहा जाता है।

अपने मनमें अप्रसन्नता उत्पन्न होने देना बड़ा भारी पाप है । यह मनुष्यका आत्मघात है । जो अपने मनमें अप्रसन्नता उत्पन्न होने देता है, उसको संसारमें मनकी चाह मिटाना ही केवल एक काम दीखता है ।

जो मनुष्य अपनी इच्छा मिटानेके स्वार्थको लेकर दूसरोंके साथ बर्ताव करता है, वह उन (दूसरों) को भी अपनी चाह मिटानेका साधन बना लेता है । वह दूसरोंसे भौतिक लाभ उठानेके पीछे इतना विवेकहीन हो जाता है कि उनसे अपनी चाह मिटानेकी वस्तु छीन लेना चाहता है । इस प्रकारकी भावनाएँ 'स्वार्थ' कहाती हैं ।

स्वार्थ भी वही बात है, मनकी चाह भी वही बात है और अप्रसन्नता भी उसे ही कहा जाता है । स्वार्थके मिटनेसे ही उदारता आती है ।

मनुष्य अपने मनमें चाह रखकर उसे मिटानेके लिये जितने पदार्थ इकट्ठे करता है, उनसे उसकी चाह नहीं मिटती, किन्तु और अधिक बढ़ जाती है ।

चाहको पालनेवाले मनुष्य धन-संपत्ति इकट्ठा कर-करके अपने सुख बढ़ानेमें लगे रहते हैं । सुख बढ़ानेमें लगे हुए मनुष्य कुछ पदार्थोंको अपने सुखके साधन मानकर उन्हींसे लिपटकर बैठ जाते हैं । वे उनके नष्ट होनेके डरसे दुखी रहते हैं और नष्ट होनेपर तो बहुत ही दुखी होते हैं । ऐसे मनुष्य बड़े-बड़े मकान बनाते हैं, बहुत-से अच्छे वस्त्र पहनते हैं, बहुत-से रमणीक स्वादिष्ट तथा इन्द्रियोंको सुखदायक समझे हुए पदार्थ इकट्ठे करके सुखी होना चाहते हैं । मनुष्य सुखी होनेके नामसे जिन-जिन वस्तुओंको अपनाते हैं, उनसे उन्हें सुख नहीं मिलता; किन्तु सुखको बढ़ानेकी इच्छा जाग उठती है । जो अपना सुख बढ़ानेकी इच्छा करता है वह दुखी रहता है । अपना सुख अधिक करूँ—इस इच्छासे मनुष्य सदा ही दुखी रहता है ।

सुख पाकर भी मनुष्यको शान्ति नहीं मिलती किन्तु सुख बढ़ानेकी इच्छा होती है । जब कि सुख पानेसे भी शान्ति नहीं मिलती, जब कि उससे उसकी इच्छा और अधिक भड़क उठती है, तब यह बात मनुष्यकी समझमें आ जानी चाहिये थी कि सुखकी चाहमें सुख नहीं है अर्थात् सुख चाहनेसे सुख नहीं मिलेगा । या यों कहें कि सुख चाहना सुख पानेका मार्ग नहीं है; क्योंकि यह चाह तो मनुष्यको चञ्चल और पागल बना डालती है । सुखको तो आकर मनुष्यको शान्त और स्थिरबुद्धि करना चाहिये था । यदि वह आ गया होता तो मनुष्य शान्त और स्थिरबुद्धि हो जाता । मनुष्यके शान्त और स्थिरबुद्धि न होनेसे ही यह पता चलता है कि उसे अभीतक यथार्थ सुख नहीं मिला ।

यदि मिले हुए सुखसे सुखकी चाह न मिटती देखो, प्रत्युत उसे और अधिक बढ़ती देखो तो तुरंत उस सुखके सुख होनेपर संदेह करो । अच्छा करो कि ऐसे सुखसे सुखका नाम ही छीन लो । ऐसा सुख सुख नहीं है; किन्तु दुःख ही सुखका मोहन रूप धारण करके तुमको ठग रहा है ।

शान्तिका न आना ही तो सच्चा दुःख है । जब किसी वस्तुको पाकर तुम्हारे मनमें शान्ति न आती हो तब उस शान्ति न आनेको ही दुःख समझो । मनुष्यको शान्ति न मिले, यही उसका दुःख है ।

दुःख और चिन्ताका एक ही अर्थ है । भोगने या सुखेच्छा पूरी करनेवाले पदार्थ मुझे अधिक-से-अधिक किस प्रकार मिलें ? और अधिक-से-अधिक किस प्रकार मेरे पास टिकें ? ऐसी चिन्ताका मनमें बने रहना ही मनुष्यका दुःख है । यह दुःख पशुओंको नहीं होता । यह दुःख ही मनुष्यकी अशान्ति है । यह अशान्ति पशुओंपर नहीं है ।

यदि मनुष्य अपनेको इस अशान्तिसे बचा ले तो वह उदार बन जाय । जिसने अपनेको इस अशान्तिसे बचानेकी कला सीख ली, वह उदार है ।

जो सदा सुखी रहेगा वही उदार रह सकता है । जो स्वयं दुखिया है, वह उदार नहीं हो सकता । दुखिया मनुष्य चाहे आकाश चूमनेवाले विशाल भवन बना ले, चाहे उनमें बैठकर सुखके धोखेमें आकर खिल-खिलाकर हँस ले, गप्पे मार ले, तब भी इससे क्या होगा ? जिसके मनमें दुःख बसा है, उसे इन सब बातोंसे भी सुख नहीं मिलेगा; क्योंकि

सुख बढ़ानेकी चिन्ता नामका महादुःख तो उसके मनके भीतर घुसा ही बैठा है। वह उसके जीको जला रहा है और उसे दुखिया बना रहा है।

दुःख शरीरकी वस्तु नहीं है। दुःख तो मनकी बात है। मनुष्यका दुःख तो उसके मनका चिन्तामें फँस जाना है। मनमें सुख बढ़ानेकी इच्छा ही दुःख है। मनमें सुख बढ़ानेकी चिन्ता रहेगी तो सारा जीवन नीरस हो जायगा।

संसारके मूर्ख लोग सुख बढ़ानेकी इच्छा या चिन्ता नामके दुःखसे घायल हैं। चितामें मनुष्यका देह मरनेके पश्चात् जलता है, चिन्तामें वह जीवनभर जलता रहता है। ये सब चिन्ताके घायल लोग अपना घाव भरनेके लिये जीवनभर दूसरोंके सुख-साधन छीननेमें लगे रहते हैं। ये मांस मुँहमें पकड़े हुए कौएके पीछे भागनेवाले कौओंके समान एक दूसरेके साथ कठोर-से-कठोर बर्ताव करनेमें संकोच नहीं करते।

लोभी हो और डाकू न हो——यह असंभव है। लोभी हो और डाका न डाले——यह असंभव है। वह गुप्त उपायोंसे काम ले तो डाकेको छिपा सकता है; पर वह डाका अवश्य डालेगा। लोभी मनुष्य अपने घरवालोंतकको लूटकर अपना लोभ पूरा करता है और स्वयं भी दूसरे लोभियोंको लोभ पूरा करनेका साधन बनता है। लोभी हो और दूसरोंका आखेट न करे और स्वयं दूसरोंका आखेट न बने—यह असंभव है। लोभियोंका जो परस्परमें व्यवहार होता है, उसे ही 'शत्रुता' कहते हैं। लोभने ही शत्रुताको उत्पन्न किया है। यद्यपि ये लोभी लोग अपनी शत्रुताको सब समय बाहर प्रकट नहीं करते; परन्तु ये अवसर मिलते ही एक दूसरेके खुल्लमखुल्ला शत्रु बन जाते हैं। जो कभी भी किसीका शत्रु बन सकता है, वह सदा ही उसका शत्रु है। ये एक दूसरेके सुख-साधनोंको बलपूर्वक भी ले लेते हैं। चोरीसे भी उठाते हैं, डाकेसे भी लूट लेते हैं और गुप्त उपायोंसे भी छीन लेते हैं। ये जीवनभर इन्हीं कामोंमें लगे रहते हैं। इन लोगोंका सारा जीवन लूट-खसोटमें ही समाप्त हो जाता है। क्या मनुष्यका जीवन अपने साथियों और पड़ोसियोंकी लूट-खसोट करनेके लिये ही बना है?

इन लोगोंके लूट-खसोटके उपाय ऊपरसे देखनेमें चाहे जितने भोले-भाले और भले दीखते हों; परन्तु वे सब चोरी हैं, वे सब लुटेरापन हैं और वे सब अनधिकार हैं। क्या मनुष्यका जीवन ऐसे-ऐसे नीच काम करनेके लिये ही बना है?

एक बात अच्छी प्रकार समझमें आ गयी कि अपने मनमें सुखकी चाह रखनेवाला मनुष्य कभी किसीसे अच्छा बर्ताव नहीं कर सकता। सुखकी चाहवाले मनुष्यसे दूसरोंके साथ अच्छे बर्तावकी आशा कभी मत करो। वह जिसके साथ जो कुछ बर्ताव करेगा, उसमें सबसे पहले अपने सुखका ध्यान रक्खेगा। अपने सुखका ध्यान रखकर दूसरोंके साथ बर्ताव करना ही वैर या अनुदारता है। सुखकी चाह मनुष्यको निर्वैर या उदार नहीं रहने देगी।

जिस सुखकी चाह मनुष्यको उदार नहीं रहने देती, जिस सुखकी चाहसे मनुष्य एक दूसरेको यहाँतक कि घरवालोंतकको लूटते नहीं लजाता और दूसरोंसे लुटना सह लेता है, उस सुखको सुख मत मानो। उसे तो ठगिया मानो और भूलकर भी उसकी इच्छा मत करो।

रूपवान् रसीले स्पर्श सुख देनेवाले आदि-आदि पदार्थोंको भोगनेकी इच्छा करना ही सुखकी चाह कहाती है। यह वह चाह है जो मनुष्यको मनुष्य नहीं रहने देती और उसमें महत्ता नहीं आने देती। यदि तुम उदार बनना चाहो तो इन बाहरवाले पदार्थोंकी इच्छाको त्यागो। इस इच्छाको त्याग देनेके पीछे तुम जो भी कुछ करोगे, वह सब उदारता कहायगा। उसे ही मनकी सरल, उच्च तथा प्रसन्न अवस्थाकी रक्षा करना कहेंगे। उसे ही कर्तव्यपरायणता कहेंगे और उसे ही प्रसन्न रहना भी कहेंगे।

अपने मनको प्रसन्न रखना ही उदारता है।
अपने मनको अप्रसन्न न होने देना उदारता है।
जिसने प्रसन्न रहना सीख लिया, वही उदार है।

परमार्थ-पत्रावली

(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

महोदय ! प्रेमपूर्वक हरिस्मरण ! आपका पत्र यथासमय मिला। समाचार ज्ञात हुए। आपके प्रश्नोंका उत्तर इस प्रकार है—

(१) मनुष्यके द्वारा जो पाप-पुण्य किये जाते हैं, वे उसके स्वभावकी प्रेरणासे यानी प्रकृतिके अनुसार होते हैं। जिसकी प्रकृति शुद्ध-सात्त्विक है, उसके द्वारा अच्छे कर्म होते हैं और जिसकी प्रकृतिमें रजोगुण-तमोगुण अधिक हैं, उसके द्वारा पाप-कर्म अधिक होते हैं। चेष्टा करनेसे मनुष्य अपनी प्रकृतिका सुधार कर सकता है। भगवान्‌के नाम-जपसे, सदाचारी संत पुरुषोंके सङ्गसे, श्रेष्ठ पुरुषोंके वचनोंका श्रवण और अध्ययन करके, उनके अनुसार साधन करनेसे तथा भगवान्‌की कृपासे प्रकृतिका सुधार शीघ्र हो सकता है। पाप-कर्म भगवान् कराते हैं, यह मानना सर्वथा भूल है। भगवान् तो हर प्रकारसे हमलोगोंको पापोंसे बचानेमें सहायक हैं। पाप करते समय भी हमें चेतावनी मिलती रहती है। पापका फल दुःख भुगताकर भी भगवान् चेतावनी देते हैं। इतनेपर भी मनुष्य अपनी आदत और आसक्तिके वशीभूत होकर पापोंमें प्रवृत्त रहता है। इसमें भगवान्‌का क्या दोष है ?

सब कुछ भगवान्‌की दयासे होता है। भगवान्‌की कृपाके बिना कुछ भी नहीं हो सकता। भगवान् नट हैं, हमलोग अपना-अपना पार्ट दिखानेके लिये यहाँ आये हैं। यह मानकर भगवान्‌के हुक्मके माफिक अपने-अपने स्वाँगका पूर्णरूपसे खेल दिखाना और उसमें आसक्त होकर सुखी-दुखी न होना—ऐसा करना तो बहुत ही उत्तम है। इसमें पापकर्मकी बात कहाँ है ? ऐसा माननेवाला तो भगवान्‌की आज्ञाका ही पालन करेगा। वह भगवान्‌से विरुद्ध निषिद्धाचरण कैसे कर सकता है ? ऐसे भक्त क्या करते हैं, उनका कैसा भाव होता है ? इसे देखना हो तो गीतातत्त्वाङ्क अध्याय १२ श्लोक १३ से २० तक देखिये।

अजामिल पहले भगवान्‌का भक्त था। फिर कुसंगसे पापमें प्रवृत्त हो गया। अन्त समयमें अपने पुत्रका नाम नारायण उच्चारण करते-करते उसका लक्ष्य भगवान्‌की तरफ चला गया। इसी कारण भगवान्‌ने उसको यमदूतोंसे बचाया और पुनः उसे अपनी भक्तिमें लगाकर उसका उद्धार किया। अन्तकालके स्मरणका विशेष महत्त्व है। (गीता अध्याय ८ श्लोक ५ देखना चाहिये) भगवान्‌की कृपासे बिगड़ी बन जाती है, यह सर्वथा सत्य है और तुलसीदासजीका भी यह कहना बिल्कुल यथार्थ है कि 'जापर कृपा राम की होई। तापर कृपा करइ सब कोई ॥' परन्तु भगवान्‌की दयाका प्रकाश भगवान्‌पर भरोसा करके उनकी शरण जानेपर ही होता है, अन्यथा उसका अनुभव नहीं होता।

(२) मुझे भगवान्‌का साक्षात्कार हुआ है या नहीं—यह व्यक्तिगत बात है। इस प्रश्नका उत्तर देनेमें मैं लाचार हूँ।

(३) भजन-कीर्तनमें मन लगनेका उपाय पूछा, सो जिन सज्जनोंका भजन-कीर्तनमें मन लगता है, जो भगवान्‌के प्रेमी भक्त हैं, उनका संग करनेसे, उनके द्वारा भगवान्‌के गुण और प्रभावकी बात सुननेसे। पहले-पहल मन न लगनेपर भी भजन-कीर्तनका अभ्यास करते रहनेसे तथा बार-बार भगवान्‌से इसके लिये प्रार्थना करनेसे भजन-कीर्तनमें मन लग सकता है।

आपका मन जो यह चाहता है कि हर वक्त भगवान्‌का भजन मन-ही-मन होता रहे, यह बहुत ही

अच्छी चाह है । यह इच्छा जितनी प्रबल हो उतनी ही अच्छी है । इसकी वृद्धि होनेसे सहज ही मन भगवान्‌के भजनमें लग सकता है । इसी तरह भगवान्‌का ध्यान भी अपने-आप हो सकता है । इसमें बलात्कार करनेकी कुछ भी जरूरत नहीं है । बस, इस चाहको ही बढ़ानेकी जरूरत है । फिर तो सब काम अपने-आप बन जायगा । इसमें निराश होनेकी कोई बात नहीं है ।

आपकी उम्र चौदह सालकी है । आप एकान्तमें रहकर भजन करना चाहते हैं, सो यह मन बड़ा पाजी है । हर तरहसे धोखा दिया करता है; अतः अभी ऐसा न करके घरमें रहते हुए और घरका काम-काज भी यथाधिकार करते हुए आपको भजनका अभ्यास बढ़ाना चाहिये । साथ ही भगवान्‌के भजन-ध्यानकी इच्छाको उत्कट बनाना चाहिये । संसारसे प्रेम हटाकर भगवान्‌में प्रेम जोड़ना चाहिये । रात्रिमें डर लगता है, यह आपकी गलती है—भगवान् सब जगह मौजूद हैं, फिर डर किस बातका ?

आपने लिखा कि भगवान्‌की गोदमें बैठना असम्भव है, सो असम्भव नहीं है । भगवान् तो अपने भक्तको गोदमें बैठानेके लिये हर वक्त तैयार हैं ।

आपने लिखा कि कलहका बाजार बहुत गरम है, इससे हृदय बिंधता रहता है । सो भगवान्‌में प्रेम होनेपर कलहकी हवा अपने-आप शान्त हो सकती है ।

आपने लिखा कि दुनियामें पापी-ही-पापी भरे पड़े हैं, सो ऐसा खयाल नहीं रखना चाहिये । दूसरोंके अवगुण न देखकर अपने ही अवगुणोंकी तरफ देखना चाहिये और उनका सुधार करना चाहिये । दूसरोंके गुणोंकी खोज करनी चाहिये । यही सुधारका रास्ता है । मेरी और भाई हनुमानप्रसादकी बड़ाई लिखी, सो ऐसा नहीं लिखना चाहिये । इस समय भी संसारमें विश्वासपूर्वक खोज करनेपर बहुत महात्मा और धर्मात्मा मिल सकते हैं । हमलोग तो साधारण मनुष्य हैं ।

किसी मनुष्यने जो भगवान्‌के विषयमें आपको निराशाकी बात कही, सो उनकी गलती है । सम्भव है वे इस विषयमें अनभिज्ञ हों । किसी जातिविशेषकी भाँति भगवान् धोखेबाज़ नहीं हैं । वे तो सर्वथा हमारे हितैषी हैं । ऐसे बेसमझ मनुष्यकी बात सुनकर आपको चिन्ता क्यों होनी चाहिये ।

आपको ईश्वरका जो कुछ भरोसा है, उसे और भी बढ़ाना चाहिये । इस मार्गमें विश्वास ही सबसे बढ़कर सहायक है ।

पीलीभीतमें श्रीहरिसंकीर्तनका उत्सव मनाया गया, सो बहुत ही अच्छा हुआ । अवसर न मिलनेके कारण मैं नहीं जा सका । वहाँकी जनता मुझे चाहती है, यह उन लोगोंके प्रेमकी बात है । मैं इसके लिये उनका आभारी हूँ ।

(४) अच्छे और बुरे कर्मोंका फल इस लोकमें सुख और दुःखके भोगरूपमें मिलता है । इसके सिवा लोकान्तर-में भी स्वर्ग और नरककी प्राप्ति होती है । दोनों तरहसे ही कर्मोंका भोग होता है ।

(५) आत्मा नित्य है, शरीर नाशवान् है । शरीरका नाश होनेपर आत्माका नाश नहीं होता । शरीरका परिवर्तन हो जाता है ।

जन्म-जन्मान्तरोंमें किये हुए कर्मोंका फल भोगनेके लिये जीवको नाना प्रकारकी योनियोंमें जन्म लेना पड़ता है । जबतक भगवान्‌से मिलना नहीं होता, तबतक इसका इस आवागमनके चक्रसे पिण्ड नहीं छूटता ।

आपको जो 'हे नाथ नारायण वासुदेव, श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे ।' यह पद अच्छा लगता है और इसीका जप करनेकी आप चेष्टा करते हैं, सो बड़ी अच्छी बात है । इसी अभ्यासको खूब बढ़ाना चाहिये ।

श्रीमान् शीलजीसे आपकी बातचीत हुई और उन्होंने जो आपसे कहा—वह बहुत ठीक है । भगवान् तो त्रिकाल सत्य हैं, उनको मानना क्या है ।

(२)

महोदय ! प्रेमपूर्वक हरिस्मरण । आपका पत्र मिला, समाचार मालूम हुए । किसीको आशीर्वाद या सामर्थ्य देनेकी न तो मुझमें शक्ति है और न अधिकार ही है । मनके संशय, भ्रम और कुवासना तो भगवान्का भजन, ध्यान और सत्संग करनेपर भगवान्की दयासे ही नष्ट हो सकते हैं । मैं तो एक साधारण मनुष्य हूँ । मुझसे प्रार्थना करनेसे ऐसी गरज पूरी नहीं हो सकती । इसके लिये तो भगवान्से ही प्रार्थना करते रहना चाहिये ।

आपने लिखा कि ब्रह्मज्ञानी और ईश्वरमें कोई भेद नहीं है, सो जो कोई ब्रह्मज्ञानी हैं, उनको मेरा बार-बार नमस्कार है । ईश्वरकी बराबरी दूसरा कोई भी नहीं कर सकता । ईश्वर तो ईश्वर ही हैं । वे सर्वसमर्थ हैं । रामायणमें जो संतोंकी महिमाका वर्णन है और उनको रामसे भी अधिक बताया गया है, उसका अभिप्राय दूसरा है । उनका वह महत्त्व रामके ही महत्त्वको बढ़ानेके लिये है । वैसे संतोंके दर्शन दुर्लभ हैं ।

आपके प्रश्नोंका उत्तर अपनी समझ और शास्त्र-पद्धतिके अनुसार लिखा जाता है । अगर इससे आपके मनमें सन्तोष हो सके तो बड़ी अच्छी बात है ।

(१) गुरु गोविन्दसिंहजीने जो यह कहा कि 'मुझे जो ईश्वर कहेगा, वह नरकमें पड़ेगा' यह बहुत ही उचित कहा । महापुरुषोंको ऐसा ही कहना चाहिये । जो साधु अथवा भगवान्के भक्त कहानेवाले लोग भगवान्की जगह अपने शरीरकी पूजा कराते हैं, वे वास्तवमें साधु, महात्मा या भक्त नहीं हैं । वे तो प्रत्यक्ष ही दम्भी और लोगोंको धोखा देनेवाले हैं । शास्त्रोंमें जो सर्वत्र ब्रह्मबुद्धि करनेके लिये कहा गया है, वह बात दूसरी है । उसका यह अभिप्राय नहीं है कि माता-पिता, भाई-बहन और स्त्रीके साथ यथायोग्य व्यवहार भी मत करो । शास्त्रका तो यह अभिप्राय है कि दृश्य जगत्को अध्यारोपित समझकर उससे आसक्ति हटाओ और एक ब्रह्मको ही सबका अधिष्ठान समझकर उससे प्रेम कर उसीका श्रवण, मनन और निदिध्यासन करो । इसमें किसी व्यक्ति-विशेषको ईश्वरसे बढ़कर माननेकी बात नहीं है । गुरुको ईश्वरके समान माननेके लिये कहनेका खास अभिप्राय यही है कि उसके उपदेशको शिष्य श्रद्धापूर्वक काममें लावे । सच्चे संत न तो किसीसे पूजा कराते हैं और न ईश्वरकी बराबरी ही करते हैं । वे तो अपनेको सदा सबका सेवक ही समझते हैं । ईश्वरकी जगह अपने शरीरको पुजवाना तो स्वार्थी आदमियोंका काम है ।

(२) आपने जिस दोहेका अर्थ पूछा और शङ्का की, वह किसी प्रामाणिक ग्रन्थका वचन तो है नहीं, साधारण वाणी है । लिखनेका भाव यह मालूम होता है कि 'गुरु-मन्त्रका त्याग करनेवाला दरिद्री हो जाता है । गुरुकी अवज्ञा करना उसे मारनेके समान पाप है । 'गुरु-मन्त्रका त्याग करनेवाला सिद्ध भी नरकमें जाता है ।' यहाँ यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि जो भगवत्-प्राप्त सिद्ध महापुरुष होते हैं, वे स्वप्नमें भी नरकगामी नहीं हो सकते । साथ ही यह भी समझ लेना चाहिये कि वे गुरुमन्त्रका त्याग करें—ऐसी सम्भावना भी नहीं है; क्योंकि उनमें इसका कोई हेतु ही नहीं रहता । अतः यह कहना इस तरहके सिद्धोंके विषयमें समझना चाहिये, जो मामूली सांसारिक सिद्धियोंकी चमक-दमक दिखाकर अपने आपको सिद्ध-महात्मा प्रसिद्ध करके लोगोंको ठगते फिरते हैं । ऐसे पाखण्डी मनुष्य ही गुरुकी अवज्ञा करके गुरु-से अधिक अपनी पूजा करवानेके लिये अनेक प्रकारकी

चेष्टा किया करते हैं। उनके लिये ग्रन्थकारका कहना उचित ही है; क्योंकि ऐसे पाखण्डियोंके लिये ही तो नरक बनाये गये हैं। सदाचारी मुमुक्षु कभी नरकमें नहीं जाता और वह भूलकर भी सच्चे गुरुका अपमान या अवज्ञा नहीं करता। हाँ, किसी पाखण्डीको पहले भूलसे गुरु मान लिया हो और पीछे पता चल गया हो, तो ऐसी हालतमें ऐसे दम्भी गुरुका तो त्याग करना उचित ही है। यह बात स्वयं श्रीहनूमान्जीने कपटसे साधु और गुरु बननेवाले कालनेमिको मारकर चरितार्थ कर दिखायी है।

(३) जिस प्रकार सगुण भगवान्‌की मूर्तिका भजन, ध्यान करनेका विधान है, उस प्रकार सुषुप्तिका ध्यान करना विधेय नहीं है। सुषुप्ति-अवस्था तो महान् तमोगुणी और अज्ञानावस्था है। उसका क्या ध्यान किया जाय? उस प्रकारकी वृत्ति बनानेसे तो मनुष्यका उलटा अधःपतन होगा। गीतामें कहा भी है कि 'अधो गच्छन्ति तामसाः'।

(४) परब्रह्म निर्गुण निराकार परमात्मा ही जड जगत्‌के रूपमें स्थित है—यह बात तो ज्ञानसे समझकर जडका बाध करके सर्वत्र परमात्मबुद्धि करनेके लिये कही गयी है, सांसारिक व्यवहारके लिये नहीं। शास्त्रका उद्देश्य चेतनको जड बनाना नहीं है, जडको ही वास्तवमें चेतन समझनेके लिये कहना है

(५) आपका यह प्रश्न ठीक समझमें नहीं आता। सुषुप्ति-अवस्था तो कोई ध्यान करने योग्य वस्तु ही नहीं है। मूर्तिका ध्यान शास्त्रविधिसे किया जा सकता है।

(६) किसी मनुष्यको प्रचलित प्रणालीके अनुसार गुरु बनाना सद्‌गति या ब्रह्म-प्राप्तिके लिये अनिवार्य नहीं है। आजकलके जमानेमें सच्चे गुरुओंका अभाव-सा ही हो गया है। अधिकांशमें गुरुडम बढ़ानेवाले पाखण्डियोंकी ही भरमार है। ब्रह्मज्ञानका सम्बन्ध तो अन्तःकरणकी शुद्धिसे है। सबके गुरु तो परमपिता परमात्मा स्वभावसे ही हैं। उनका कभी अभाव होता नहीं। उनकी वाणी भी गीताजीमें और दूसरे-दूसरे शास्त्रोंमें भरी हुई है। उसपर परमश्रद्धा करके उसके अनुसार साधन करनेपर अपने-आप ही ब्रह्मज्ञान हो सकता है। यह बात जरूर है कि यदि सौभाग्यसे कोई सच्चे महात्मा सिद्ध पुरुष या ऊँचे दर्जेका साधक गुरुरूपसे प्राप्त हो जायँ तो साधनमें बहुत ही सुगमता हो जाती है और मनुष्य शीघ्र ही परमात्माको प्राप्त कर सकता है। गुरु-सहायताके विना कुछ समय अधिक लग सकता है।

(७) आपने जो ब्रह्म-प्राप्तिके तीन उपाय लिखे, उनमेंसे किसी एकके द्वारा या तीनोंके द्वारा भी ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकता। ब्रह्मज्ञान न तो केवल उपनिषद्, गीता, विष्णुसहस्रनामादि शास्त्रोंको पढ़ने मात्रसे होता है, न किसीको गुरु मानने या स्वीकार करनेसे होता है और न किसीके अनुमोदन करनेसे या केवल महावाक्य सुनानेसे ही होता है। वह तो गीता, उपनिषद् और संत महापुरुषोंके उपदेशपर श्रद्धा करके उसके अनुसार आचरण और साधन करनेसे, अन्तःकरण शुद्ध होनेपर ही होता है। अतः मनुष्यको उचित है कि वह भजन, ध्यान, सेवा और सत्संगमें अधिक-से-अधिक मन लगावे और भगवत्-चिन्तनको कभी न छोड़े।

(८) अपने-आपको गुरु न माननेवाले और गुरु बननेके योग्य न बतानेवाले संतको कोई साधक अपने मनमें गुरु मानकर उनके उपदेशोंसे आध्यात्मिक लाभ उठाना चाहे, तो बड़ी खुशीसे उठा सकता है। इसमें कोई आपत्ति नहीं है। यह साधककी श्रद्धाका विषय है। उसकी सच्ची श्रद्धा होगी और वह उस संतके कहनेके अनुसार तत्परतासे साधनमें लगा रहेगा तो बहुत लाभ उठा सकता है। यह रास्ता गलत नहीं है।

(३)

महोदय ! हरिस्मरण । आपका पत्र यथासमय मिला, समाचार माळूम हुए । इस समय यहाँ स्वर्गाश्रममें सत्संग चलता है । आपके प्रश्नोंका उत्तर इस प्रकार है—

श्रीशालग्रामजीका पूजन एक साथ बहुतसी मूर्तियाँ रखकर किया जा सकता है । इसका विधान पद्मपुराणके पातालखण्डमें आया है । यह पूजन करनेवालेकी रुचिपर निर्भर है कि वह अपनी पूजामें कितनी ही मूर्तियाँ रक्खे ।

शालग्रामजीमें कोई विष्णु, कोई राम, कोई नृसिंह, कोई कृष्ण और कोई गिरधर-गोपालकी भावना रखकर पूजा करते हैं, सो सभी उचित है; क्योंकि एक ही परमेश्वरके अनेक रूप हैं; अतः भक्त अपने किसी भी इष्टकी भावना शालग्रामशिलामें कर सकता है । ऐसा करना अनुचित नहीं है ।

इसी तरह मन्दिरोंमें भी जिस देवताका वह खास मन्दिर हो उसके सिवा श्रीशालग्रामजीकी भी पूजा की जाय तो कोई अनुचित नहीं है । इसपर जो एतराज करते हैं, उनकी भूल है ।

शालग्रामशिलामें भगवान्‌की उपासना कबसे आरम्भ हुई—इसका कुछ पता नहीं है । इसे तो सदासे ही समझना चाहिये । तुलसी भगवान्‌की प्रिय वस्तु है, यह शास्त्रोक्त बात है । पुराणोंमें इसकी कथा दूसरी तरहसे पायी जाती है; परन्तु उसका रहस्य ठीक समझमें नहीं आता । अतः यही मानना उचित माळूम होता है कि यह भगवान्‌की प्रिय वस्तुओंमेंसे एक है; क्योंकि इसमें अधिक-से-अधिक सात्त्विक गुण भरे हुए हैं ।

अन्य उपासक भी यदि शालग्राममें अपने इष्टदेवकी भावना करके उनका चरणोदक लें, तो मेरी समझमें कोई अनुचित बात नहीं है । विष्णुमें और परब्रह्म परमात्मामें कोई भेद नहीं है, साम्प्रदायिक कल्पनामें मेरा अनुराग नहीं है । वेद और स्मृतियोंमें एक ही ईश्वरका अनेक रूपमें प्रकट होना बताया गया है । अतः श्रीराम, श्रीकृष्ण और श्रीविष्णु—इनमें किसी प्रकारके भेदकी कल्पना उचित नहीं माळूम होती ।

वास्तवमें भगवान् भोगके भूखे नहीं हैं । वे तो भावनाके यानी प्रेमके भूखे हैं । उनका प्रेमी भक्त प्रेमपूर्वक जो कुछ भी पत्र-पुष्प-फल या जल उनको समर्पण करता है, उसे वे बड़े आदरसे आरोगते हैं । अतः यह कहना नहीं बनता कि बिना तुलसीदलके भगवान् भोग नहीं आरोगते । यह तो अपनी-अपनी श्रद्धाकी बात है । भगवान्‌ने तो विदुरके घर केलोंके छिल्कोंका भोग भी बड़ी प्रसन्नताके साथ लगाया । फिर दूसरे भोगकी बात कौन कहे ? यही तो भगवान्‌की विशेषता है । इस विषयपर गीतातत्त्वाङ्कमें नवें अध्यायके २६ वें श्लोककी टीका देखनी चाहिये । तुलसीदल भगवान्‌के चरणोंमें भी चढ़ाये जा सकते हैं और भोगमें भी सम्मिलित किये जा सकते हैं । हाँ, यह बात अवश्य है कि जिन पत्तोंको चरणोंपर चढ़ा दिया जाय, उनको नैवेद्यमें नहीं देना चाहिये तथा एक बार चढ़ाये हुए पत्तोंको दुबारा नहीं चढ़ाना चाहिये ।

माला और तिलकोंकी सभी बातें साम्प्रदायिक हैं । अतः इनके लिये इतना ही लिख देना यथेष्ट है कि जिसको जिस सम्प्रदायकी मान्यता हो, उसके लिये उसीके नियमोंका पालन करना ठीक है । जो इन साम्प्रदायिक बातोंमें पड़ना न चाहे, वह स्वतन्त्र है ।

भगवान् किसी सम्प्रदायके ठेकेमें बँधे नहीं हैं । उनकी दया सबपर समान है । जो कोई भी उनको प्रेमपूर्वक भजता है, वही उनको पा लेता है; फिर वह चाहे किसी वर्ण और किसी भी आश्रममें रहनेवाला या किसी भी सम्प्रदायको माननेवाला क्यों न हो । तथा स्त्री, पुरुष, बालक या बूढ़ा किसी भी अवस्थामें क्यों न

हो। भगवान् तो उसके हृदयका विश्वास और प्रेम देखते हैं। उनको तो भावकी आवश्यकता है। उनके सामने ऊपरके बाहरी चिह्नोंकी कोई कीमत नहीं है।

विष्णु, महाविष्णु और राधावल्लभ भगवान् श्रीकृष्ण—इनमें वस्तुतः कोई अन्तर नहीं है। किसी भी एक-की उपासना उस एक ही ब्रह्मकी उपासना है और सबका एक ही फल है, इसमें भेद मानकर झगड़ा बढ़ाना गल्ती है।

आपने लिखा कि नाराज न होना, उत्तर अवश्य देना—सो इसमें नाराज होनेकी तो कोई बात ही नहीं है। आपने तो बहुत ही अच्छी बातें पूछी हैं।

तुलसी, शालग्राम और तिलकका विषय 'कल्याण'में समालोचनाके तौरपर लिखना ठीक मालूम नहीं होता; क्योंकि किसी भी सम्प्रदायका खण्डन-मण्डन करके किसी-के दिलको चोट पहुँचाना 'कल्याण'का उद्देश्य नहीं है। 'कल्याण' तो सभी साधकोंको यथासाध्य मदद देना ही अपना काम समझता है।

अनन्य उपासनावालोंको सन्ध्यादि नित्यकर्म भगवान्की आज्ञापालनके रूपमें अवश्य करने चाहिये।

(४)

महोदय ! प्रेमपूर्वक हरिस्मरण। आपका पत्र गीताप्रेस, गोरखपुरके मारफत यथासमय मिला। समाचार विदित हुए। आपके प्रश्नोंका उत्तर इस प्रकार है—

१ (क) संक्षिप्त हिंदी वाल्मीकीय रामायणका नवाह्निक पाठ अनुष्ठानके रूपमें करना मेरी समझमें विधि-संगत नहीं है। किसी खास कार्यके लिये नियमित पाठ तो संस्कृत रामायणका ही होना चाहिये। वही शास्त्रानुकूल है।

(ख) जिनको संस्कृत ठीक तरहसे समझमें आती है, उनको जितना लाभ असल रामायणसे होता है, उतना लाभ तो इसके श्रवण-पठनसे नहीं होगा। परन्तु जो लोग संस्कृत नहीं समझते, भगवान्के चरित्रोंमें जिनका प्रेम है और जो यह जानना चाहते हैं कि श्रीवाल्मीकिजीने भगवान्के चरित्रोंका वर्णन किस प्रकार किया है, उनके लिये यह ग्रन्थ अवश्य ही बहुत लाभप्रद है। इसका पाठ करना और सुनना-सुनाना तो किसी अंशमें संस्कृतका भाव नहीं समझनेवालोंके लिये मूल ग्रन्थकी अपेक्षा भी अधिक लाभप्रद सिद्ध हो सकता है; क्योंकि पूरी रामायणका विस्तार बहुत है। काव्य-ग्रन्थ होनेके कारण उसमें प्रकृतिकी शोभा और युद्धका वर्णन भी विस्तारसे आ जाता है। इसमें जो विषय अधिक उपयोगी नहीं समझे गये, वे छोड़ दिये गये हैं। अतः इसके पठन और श्रवणसे थोड़े समयमें ही भगवान्की मुख्य-मुख्य लीलाओंका ज्ञान सहजमें ही हो जाता है—यह इसकी विशेषता है।

(ग) इस प्रश्नका उत्तर कुछ तो ऊपरके उत्तरमें आ ही जाता है। रही यह बात कि यह किस बातमें कम है, सो सकाम अनुष्ठानकी जो विधि सांसारिक फलोंके लिये शास्त्रोंमें बतायी गयी है, उसमें इसका दर्जा कम हो सकता है।

(२) वाल्मीकीय रामायणके पाठ-श्रवणका सर्वोत्तम महीना पूछा, सो मेरी रायमें तो जिस भाईकी जिस महीनेमें इसका पठन, श्रवण करनेकी लालसा हो, उसके लिये वही सर्वोत्तम है; क्योंकि भगवान्के चरित्र सुनने और पढ़नेका मौका भगवान्की ही दयासे मिलता है।

(३) पाठकर्ता पण्डित यदि निष्कामभावसे, भगवत्प्रेमसे ही कथा सुनानेवाला हो, तब तो गरीब-श्रद्धालु श्रोताको द्रव्य देनेकी कोई जरूरत नहीं है; क्योंकि भगवान्की कथाका बदला धनसे थोड़े ही चुकाया जा सकता है। यदि पाठ करनेवालेकी यही

जीविका हो और उसकी कुछ सेवा करनी हो तो अपनी शक्तिके अनुसार जो कुछ पत्र-पुष्प दे सके, दे देना ही यथेष्ट है। अधिक भार तो धनिकोंपर ही रहना चाहिये।

(४) (क) ग्रन्थको ऊँचे आसनपर रखकर पढ़ना ग्रन्थका सम्मान है। इससे ग्रन्थपर प्रेम और श्रद्धा बढ़ती है। अतः इसे अनिवार्य समझना ही अच्छा है।

(ख) इसका उत्तर ऊपर आ गया है।

(ग) हाथमें पुस्तक रखकर पाठ करना निष्फल तो नहीं हो सकता; परन्तु किसी आसनपर रखकर भक्ति-भावसे पाठ करना अधिक लाभप्रद अवश्य है।

(घ) इसका उत्तर (ग) में आ गया, अतः यह प्रश्न नहीं बनता।

(५) किसी अनुष्ठानमें सामूहिक रूपसे स्त्री और पुरुषोंका एक साथ सम्मिलित होकर बैठना और पाठ करना—मेरी समझमें ठीक नहीं है। स्त्रियोंको स्त्रियोंके समुदायमें और पुरुषोंको पुरुषोंके समुदायमें बैठना अच्छा है।

(६) पाठके निश्चित दिनोंके बीचमें यदि किसी कारणवश स्थान, समय अथवा दोनोंका परिवर्तन करना ही पड़े तो किया जा सकता है। ऐसा करनेसे मनमें थोड़ा विक्षेप होता है। क्षति या दोष—जो कुछ समझिये, आता है। अतः यदि परिवर्तन न करनेसे ही काम चल सके, तो परिवर्तन न करना ही अच्छा है। और कोई बात नहीं, प्रधानता तो श्रद्धा-प्रेमकी है। समय और स्थानकी नहीं। यदि स्थान और समयका परिवर्तन करनेसे श्रोता और वक्ताको अधिक शान्ति मिलती हो, तो ऐसा परिवर्तन उलटा लाभप्रद हो जाता है।

(७) जिनका यज्ञोपवीत-संस्कार हो गया है, उनको कम-से-कम सन्ध्योपासन और एक माला गायत्री-जप प्रतिदिन अवश्य करना चाहिये। शेष समय यदि किसीका प्रेम हो तो रामचरितमानसके पाठमें ही लगा सकता है। यह धर्मानुकूल ही है। भगवान्की लीलाओंका अध्ययन करनेसे बढ़कर धर्म क्या हो सकता है।

(८) मन्दिरमें खिड़की रखनेकी मनाही है या नहीं; अगर है तो क्यों? इस बातका मुझे पता नहीं है; मेरी रायमें तो खिड़की रखनेमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये।

(९) गायत्री-मन्त्रका जप व्यक्तिगत होते हुए भी उसमें जो बहुवचनकी क्रियाका प्रयोग किया गया है, वह इस उद्देश्यसे किया गया है कि दूसरे भाई भी जो उसी मन्त्रका जप करनेवाले हैं, उन सबकी प्रार्थना सम्मिलित समझी जाय। अतः कोई हानिकी बात नहीं है, अनुचित नहीं है।

(१०) श्रीहनूमान्जीके विषयमें वैज्ञानिक सिद्धान्तसे जो आपने तर्क पेश किया है, उसका ठीक-ठीक उत्तर समझमें नहीं आया। इसका कोई दूसरा ही अर्थ हो सकता है। सम्भव है, वह रूप हमारी समझमें न आया हो। सूर्यलोकको कोई निगल सके—यह तो सम्भव नहीं।

(११) पाण्डवोंने वेष और नाम बदलकर विराटनगरमें निवास किया, इसमें न तो अधर्म था, न मिथ्या वचन ही थे; क्योंकि बारह महीनोंतक अज्ञातवास करनेकी उनकी प्रतिज्ञा थी। उसका पालन करनेके लिये उनके पुरोहितने उनको दूसरे नाम रखनेकी आज्ञा दी थी। अतः उनका इस प्रकार निवास धर्मयुक्त ही था। यदि वे किसीका बुरा करनेके लिये ऐसा करते तो धर्म नहीं माना जा सकता था। उनका उद्देश्य विशुद्ध था। धर्मका निर्णय क्रियाकी अपेक्षा

भावपर ही अधिक निर्भर है । इसके प्रमाणस्वरूप आप देखिये—अश्वत्थामाके मारे जानेका समाचार युधिष्ठिरने द्रोणाचार्यको प्रकारान्तरसे ही दिया; परन्तु वह युधिष्ठिरके लिये अधर्म माना गया । विराटनगरमें छिपकर रहना या नाम बदलना अधर्म नहीं समझा गया ।

(५)

बहिन····देवीजी ! सादर हरिस्मरण । आपका पत्र यथासमय मिल गया था; परन्तु समय न मिलनेके कारण उत्तर देनेमें विलम्ब हुआ । इसके लिये किसी प्रकारका खेद नहीं करना चाहिये ।

× × × ×

आपने पूछा कि गीता अठारह अध्यायका पाठ अगर पंद्रह दिनमें पूरा किया जाय तो माहात्म्यका पाठ प्रतिदिन करना चाहिये या आरम्भमें अथवा अन्तमें ? उसका उत्तर यह है कि माहात्म्यका पाठ प्रतिदिन करनेकी जरूरत नहीं है । पंद्रह दिनमें जब गीताका पाठ पूरा हो, तब किया जा सकता है । यदि भोजनसे पहले समय नहीं मिलता हो, तो भोजनके बाद किसी निश्चित समयपर गीता-पाठ करनेका नियम बनाया जा सकता है ।

आपने पूछा कि ऊपरकी सात बातें कौन-सी हैं, मुझे उनकी खबर नहीं है, उनका पालन कैसे करना चाहिये ? इसका उत्तर है कि वे तो उसी पत्रमें ऊपर लिखी होंगी । उसीमें खोजनी चाहिये । संभवतः ये ही सात बातें होंगी ।

१ भगवान्‌को याद रखना, २ उनका ध्यान करना, ३ सत्संग करना, ४ सबकी यथायोग्य सेवा करना, ५ सत्यभाषण, ६ ब्रह्मचर्यका पालन और ७ सदाचार । ये ही सात बातें हो सकती हैं ।

आपने पत्रका उत्तर देनेमें देर होनेका कारण लिखा, सो मालूम हुआ । आप गोकुल, मथुरा, वृन्दावन, गिरिराज, नाथद्वारा आदि तीर्थ-स्थानोंमें भ्रमण करके आयीं, सो आनन्दकी बात है । वृन्दावनमें श्रीनारायण स्वामी नहीं मिले सो मालूम हुआ । श्रीनारायण स्वामी यहाँ पधारे हुए हैं । एक या दो दिनमें उनका विचार श्रीउत्तरकाशी जानेका है ।

मेरे विषयमें किसी भाईने आपसे जो बातें कहीं वे तो उनका विश्वास है । मैं तो एक साधारण मनुष्य हूँ । हाँ, यह बात अवश्य है कि यहाँ सत्संगके लिये बहुत-से भाई और बहिनें इस समय इकट्ठे होते हैं । समय भगवान्‌के भजन-स्मरणमें ही अधिक व्यतीत होता है । इस कारण वातावरण बहुत ही अच्छा रहता है । इस प्रकारके सत्संगका अवसर भगवान्‌की दयासे ही मिलता है ।

आपके पति रोज एक माला 'ॐ नमः शिवाय' इस मन्त्रको जपते हैं, सो बहुत अच्छी बात है । भगवान्‌के अनेक नाम हैं, उनमें जिसको जो रुचिकर हो, उसके लिये वही हितकर है । आपने लिखा कि मुझे ध्यानमें बैठना सिखाया जाता है । परन्तु बहुत समय ध्यानमें बैठना रुचिकर नहीं होता । शरीर दुखने लग जाता है, सारा दिन चलते-फिरते, उठते-बैठते और काम करते-करते नाम-जप करना रुचता है, सो यह बहुत अच्छी बात है । प्रेमपूर्वक ऐसा करते-करते भगवान्‌का ध्यान भी इसी तरह हर वक्त अपने-आप होने लग जाता है । उसके लिये कोई अलग साधन नहीं करना पड़ता । निरन्तर नाम-जपमें बड़ी भारी शक्ति है ।

आपने लिखा कि एक जगह बैठकर विधिके साथ मन्त्रका जप करनेसे जप बहुत थोड़ा होता है, मन टिकता नहीं । उसकी अपेक्षा भगवान्‌के स्वरूपके सामने विनय और विरहके कीर्तन गानेमें मन एकाग्र होता है । बहुत देरतक एक जगह नहीं बैठ सकती ।

अतः क्या करना चाहिये ? सो इसका जवाब यह है कि भगवान् तो प्रेमके भूखे हैं, वे जितने प्रेमसे प्रसन्न होते हैं, उतने ऊपरके उपचारोंसे नहीं होते। अतः आपको जो रुचता है, जैसे आप करती हैं, वही ठीक है। मेरी रायमें आपने जो अपने साधनका ढंग लिखा है, वह आपके लिये बहुत अच्छा है। कलियुगमें भगवान्के नामकी महिमा अपार है। प्रेमसे ही भगवान् दर्शन देते हैं।

आपसे जो वे कहते हैं कि अमुक विधिसे जप करनेपर देवताओंके दर्शन होंगे, उसके बाद ऐसा होगा, वैसा होगा। वे भाई आपके प्रेमभावको नहीं समझते, अतः उनकी बातका खयाल नहीं करना चाहिये। आपके मनमें जो केवल भगवान् श्रीकृष्णके ही दर्शनकी इच्छा है, दूसरे किसी देवताके दर्शन आप नहीं चाहतीं—यह बड़े ही सौभाग्यकी बात है। भगवान् इस बातसे बहुत प्रसन्न हैं।

आपको भगवान्का जो भी एक नाम अधिक-से-अधिक प्रिय लगता हो, उसीका निरन्तर जप करते रहनेकी चेष्टा रखना, हर समय भगवान्को याद रखना, अपनी दीनता और विरह-व्याकुलता भगवान्को निवेदन करते रहना और उनकी परम दयाके अनुभवकी बाट देखते रहना, उनके हरेक विधानमें, मधुर कृपा भरी हुई समझकर बार-बार प्रसन्न होना और कभी किसी कारणसे उनकी विस्मृति हो जाय तो बड़ी भारी हानि समझना—ये ही साधन आपके लिये मेरी रायमें अच्छे हैं।

(६)

प्रेमपूर्वक हरिस्मरण ! तुम्हारा पत्र यथासमय मिला, समाचार विदित हुए। तुम्हारी इच्छा भगवान्की तरफ बढ़नेकी है, तो यह बड़े सौभाग्यकी बात है। इस इच्छाको प्रबल करना ही भगवान्की ओर बढ़नेका सुन्दर उपाय है।

यह सर्वथा सत्य है कि मनुष्यजीवन अमूल्य और बड़ा ही दुर्लभ है। यह भगवान्की परम कृपासे ही जीवको मिलता है। इसका एक क्षण भी भगवान्की स्मृतिके बिना नहीं जाने देना चाहिये। यही इसका सदुपयोग है। मनुष्यजन्मके अमूल्य समयको व्यर्थ खोना बड़ी भारी मूर्खता है।

भजनको श्रीकृष्णार्पण करनेके विषयमें पूछा ! सो वास्तवमें तो भजनका फल न चाहना भगवान्में प्रेम बढ़ानेके उद्देश्यसे या उनके दर्शनोंके लिये ही भजन करना उनके अर्पण करना ही है। मालाके अन्तमें आचमनीसे जल छोड़ना तो एक प्रकारसे मालाकी पूर्तिका संकेत है, अतः यह हरेक मालाकी पूर्तिपर किया जाना ठीक ही है। और प्रत्येक मालाके अन्तमें एक बार जल छोड़ देना ही काफी है। इस समय स्वयं आचमन करनेकी आवश्यकता नहीं है। हाँ, जब मनुष्य किसी स्थानमें बैठकर स्थिर चित्तसे भगवान्के नामका जप करना आरम्भ करे तो उस समय पहले तीन बार आचमन करके और प्राणायाम करके पीछे जप करना आरम्भ करे, ऐसी रीति शास्त्रोंमें बतायी गयी है।

ध्यान और स्तोत्रके बाद जल छोड़नेकी कोई खास आवश्यकता नहीं है।

भगवान्को स्नान कराके विधि-विधानसे धूप-दीप आदिके द्वारा पूजन करनेके बाद पहले स्तुति-प्रार्थना करनी चाहिये और अन्तमें नाम-जप तथा ध्यान करना चाहिये। भगवान्को भोग या तो अपने हाथसे तैयार की हुई शुद्ध वस्तुका लगाना चाहिये, नहीं तो किसमिस, बादाम, मिशरी आदिका लगा देना चाहिये। बाजारमें बनी हुई मिठाईका भोग लगाना ठीक नहीं है। शामको भी भोग लगाया जाय तो अच्छी बात है, कोई हानि नहीं है। वस्त्रोंके विषयमें पूछा, सो जैसा तुम करती हो, वही ठीक है। इसमें परिवर्तनकी जरूरत नहीं है।

शिवलिङ्गके विषयमें बड़ोंका मना करना बहुत उचित है। स्त्रियोंके लिये शिवलिङ्ग पूजना शास्त्रमें मना है। इस विषयमें बड़ोंकी बात अवश्य माननी चाहिये और पूजा अपने इष्टदेवकी ही प्रधानतया करनी चाहिये। इष्टदेव एक परमेश्वर ही होना चाहिये। उसका स्वरूप अपनी रुचिके अनुसार माना जा सकता है। दूसरे देवताओंका पूजन भगवान्‌की आज्ञा मानकर अतिथि-पूजनकी भाँति करना चाहिये। इष्टदेव बहुत नहीं हुआ करते। अतः सब देवताओंका पादावसेचन जल एक साथ नहीं मिलाना चाहिये।

पूजाके कपड़े रोज साबुनसे साफ करनेकी जरूरत नहीं है। जलसे अवश्य धो लेने चाहिये। मैले हो जानेपर कभी-कभी साबुनसे भी साफ कर लेने चाहिये।

चर्खा चलाना, घरमें सबको सुख पहुँचानेके लिये घरका काम-धंधा भी करना—यह स्त्रियोंका धर्म है; परन्तु हरेक काम करते समय भगवान्‌को याद रखना चाहिये। भगवान्‌को कभी नहीं भूलना चाहिये।

गाजर आदि खानेके विषयमें पूछा, सो जो-जो तामसी वस्तुएँ शास्त्रमें निषिद्ध बतायी गयी हैं, उनको नहीं खाना चाहिये। वे अन्तःकरणको मोहित करके भजनमें विक्षेप करती हैं। बिना पैसोंके अपने घरवालोंके सिवा दूसरेकी वस्तु नहीं लेनी चाहिये। दूसरेका हक स्वीकार करना सकामभाव है और साधनमें बाधक है।

सांसारिक वस्तुओंके लिये भगवान्‌के सामने भी माँग पेश नहीं करनी चाहिये। ऐसा करनेसे भजनका दर्जा कमजोर होता है। चाहे कितना भी कष्ट सहन क्यों न करना पड़े, हर्षके साथ उसे भगवान्‌का भेजा हुआ पुरस्कार समझकर सहन करना चाहिये और भगवान्‌से कुछ भी याचना नहीं करनी चाहिये।

धार्मिक पुस्तकोंमें अपने हकका पैसा खर्च करना बहुत अच्छा है। यह फजूल खर्च किसी हालतमें नहीं है। जो इसे फजूल खर्च बताते हैं, वे इसके महत्त्वको नहीं जानते।

नयी डायरीमें भूलें न लिखनी पड़ें। ऐसा खयाल रखनेका विचार लिखा, सो बहुत ही उत्तम है।

अपने हाथसे सूत कातकर कपड़ा बनाकर भेजनेके विषयमें पूछा, सो मैं इस तरह किसीका भेजा हुआ कपड़ा नहीं लेता; क्योंकि मैं एक वैश्य हूँ। अतः कपड़ा तैयार करके तुम या तो भगवान्‌के काममें लगा देना या स्वयं अपने काममें या अपने घरवालोंके काममें लगा देना।

सूतक-पातकके समय भगवान्‌की पूजा मानसिक करनी चाहिये। गीता, भागवतका पाठ करनेमें कोई अड़चन नहीं है, वह हरेक अवस्थामें किया जा सकता है।

एक जगहसे दूसरी जगह जाना हो, तब यदि भगवान्‌की मूर्ति साथमें हो और रास्तेमें अवकाश मिल सके, तब तो जैसे घरमें पूजा रोज की जाती है, वैसे ही करनी चाहिये। यदि इस प्रकार सुयोग न मिले, तो मानसिक पूजन करना चाहिये। बीमारीमें यदि स्नान करनेकी शक्ति न हो, तो मानसिक पूजन करना ही ठीक है।

ठंढके दिनोंमें पूजाके कमरेमें सोया जा सकता है। बिस्तरेपर भी सोनेमें अड़चन नहीं है; पर यह खयाल रखना चाहिये कि भगवान्‌का आसन अपने बिस्तरेसे ऊँचा हो और भगवान्‌की मूर्ति पैरोंकी तरफ न रहे। बल्कि दाहिनी तरफ रहे।

सारा समय नियमोंके अनुसार भगवत्-भजनमें ही लगाना चाहिये। अगर बीचमें सहेलियाँ आ जायँ तो उनके साथ भी भगवान्‌के विषयकी बात-चीत करनी चाहिये और उनको भी भगवान्‌की भक्तिमें लगानेकी चेष्टा करनी चाहिये।

ब्याज न खानेसे घरवाले नाराज हों तो उनको नम्रतासे समझाकर प्रसन्न कर लेना चाहिये । यदि वे अनजानमें खिला दें तो उनको विनयपूर्वक उलाहना देना चाहिये एवं फिर ऐसा न करनेके लिये प्रार्थना करनी चाहिये ।

शादी, विवाह, होली, दिवालीके अवसरपर मदिरा पीनेकी रिवाज बहुत ही बुरी है । इस आदतको अवश्य ही बड़े जोशके साथ छोड़ देना चाहिये । अगर उसकी तरफ मन जाता हो तो इसे महान् पाप समझकर मनको रोकना चाहिये और इसके लिये भगवान्से भी प्रार्थना करनी चाहिये ताकि यह पाप कभी न बने । मदिरापान बड़ा घोर पाप है । इससे भगवत्-भजनमें बहुत बाधा पड़ती है । तमोगुण बढ़ता है । काम जाग्रत होता है । आचरण भ्रष्ट हो जाते हैं । अतः इस पापसे अवश्य ही बचना चाहिये ।

(७)

महोदय !

सादर प्रेमपूर्वक हरिस्मरण । आपका पत्र मिला, समाचार मालूम हुए । आपको हिंदी भाषा लिखने नहीं आता, इस कारण अपनी शङ्काएँ उर्दूमें लिखीं, सो अच्छी बात है । मैंने आपके पत्रका हिंदीमें अनुवाद कराकर पढ़ लिया है ।

× × ×

(१) आप जो यह समझते थे कि जो कुछ भी सुख या दुःख प्राप्त होता है, वह हमारे कर्मानुसार होता है तथा जो कुछ होता है, वह ईश्वरकी ओरसे हमारे लिये अच्छा और हमारी बेहतरीके लिये ही होता है, सो यह समझना आपका बहुत ही उचित और लाभप्रद था । अतः अब भी उसे छोड़ना नहीं चाहिये । बल्कि अब उस निश्चयको और भी दृढ़ करना चाहिये ।

आपके दो पुत्र थे, उनमेंसे एकके मर जानेपर आपके विश्वासमें कोई अन्तर नहीं आया; पर इस बार दूसरे पुत्रकी मृत्युके दुःखमें आपकी विचारधारा स्थिर न रह सकी, सो ऐसा नहीं होना चाहिये । परमेश्वरकी प्रत्येक क्रियामें दया भरी रहती है, वे किस प्रकार किस बहानेसे हमारा क्या हित करना चाहते हैं—यह सहज ही समझमें नहीं आता; क्योंकि हमारी बुद्धि मायासे ढकी हुई है । अतः जो भी सुख या दुःखकी घटना प्रारब्धके अनुसार प्राप्त हो उसमें भगवान्की परम दया मानकर सन्तोष रखना चाहिये और भगवान्के भजन-स्मरणमें पहलेसे भी अधिक मन लगाना चाहिये । ऐसा करते रहनेसे शीघ्र ही उनकी दयाका रहस्य भी किसी अंशमें समझमें आ सकता है ।

आपने लिखा कि मुझे शान्ति नहीं हुई, अभावका बोध होता है, मनमें ऐसा खेद होता है—मानो कुछ खोया गया है, सो आपका लिखना ठीक है । आसक्ति और मोहके कारण ऐसा होता है; परन्तु वास्तवमें यह किसी तरह भी उचित नहीं है । संसार नाशवान् है, इसका वियोग अनिवार्य है और इसमें जो सुख प्रतीत होता है, वह भी भ्रमसे ही होता है । वास्तवमें तो यह दुःखोंसे ही भरा हुआ है । अतः बड़ी-छोटी सभी प्रकारकी विपत्तियोंमें भगवान्की दयाका अनुभव करके संसारकी असारतापर विचार करके इससे विरक्त होकर भगवान्में प्रेम बढ़ाना चाहिये और अपना जीवन भगवान्के भजन-स्मरणमें लगाकर सफल बनाना चाहिये । मनुष्य-शरीर बार-बार नहीं मिलता । समय बड़ा ही मूल्यवान् है । इसे संसारकी व्यर्थ चिन्तामें नहीं खोना चाहिये ।

(२) आपका यह खयाल बिल्कुल ठीक है कि—प्राणी दुनियामें अपने निश्चित श्वासतक ही रहता है तथा एक दूसरेके साथ जितना सुख-दुःख-भोगका सम्बन्ध होता है, उतना भोगता है । उसके बाद अपने-अपने रास्ते चले जाते हैं ।

एक या दो सालका लड़का इस जन्ममें कोई पाप नहीं करता—यह ठीक है; परन्तु मनुष्य-जन्म मिलना और छोटी उम्रमें मर जाना यह इस जन्मके कर्मोंका फल नहीं है। यह तो उसके पूर्वजन्मके कर्मोंका फल भुगताया जाता है। मनुष्य-देहका पूरा लाभ तो परमात्माकी प्राप्ति है। उसे बड़ी उम्र पानेवाले भी कहाँ उठा पाते हैं। वे भी तो ऐसे ही चले ही जाते हैं; फिर क्या किया जाय। इसमें घरवालोंका कोई दोष नहीं है; क्योंकि मृत्युसे किसीको बचा लेना या उसकी आयु बढ़ा लेना—घरवालोंके हाथकी बात नहीं है। घरवालोंका तो यह कर्तव्य है कि अपने घरका कोई प्राणी मनुष्यशरीरको छोड़ रहा हो, तो उस समय वह चाहे कितना ही छोटा और नासमझ क्यों न होवे, उसका मनुष्य-जन्म सफल बनानेमें सहायक बनें अर्थात् उसे भगवान्का नाम, गुण और प्रभाव अन्तकालतक सुनाते रहें।

(३) आपका यह खयाल बिल्कुल ठीक है कि बिना कारण यानी अपने पिछले कर्मोंके कोई भी जीव दुनियामें नहीं आता और नहीं जाता। अपने कर्मानुसार ही मनुष्य छोटी या बड़ी उम्रमें मरता है। इस विषयमें और भी जो कुछ आपने लिखा—वह भी ठीक है।

(४) छोटे बालककी सद्गति या मुक्तिका उपाय आपने पूछा, सो इसके विषयमें मैंने उसकी मृत्युके समय जो घरवालोंका कर्तव्य होता है, वह तो ऊपर लिख ही चुका हूँ। फिर भी मरनेके बाद यदि कोई उसके निमित्तसे भगवान्का भजन-स्मरण करे तो अवश्य उसकी शान्तिमें सहायक हो सकता है।

ईश्वरपर विश्वासको दृढ़ बनानेके लिये मेरी समझमें संतोंका जीवनचरित्र पढ़ना या सुनना बहुत ही लाभप्रद है। उन्होंने किस प्रकार भगवान्पर दृढ़ विश्वास रक्खा और उसका क्या परिणाम हुआ—यह बात बार-बार कानोंमें पड़नेपर वैसा ही दृढ़ विश्वास रखनेकी उमंग मनुष्यके मनमें स्वाभाविक ही उठा करती है। इसके सिवा भगवान्के गुणानुवाद सुननेसे और भजन-स्मरणसे भी ईश्वरपर विश्वास बढ़ सकता है।

आशा है कि इस उत्तरसे आपको किसी अंशमें संतोष मिलेगा और भी जो कुछ इस विषयमें पूछना है, निःसंकोच होकर पूछ सकते हैं।

(८)

महोदय! सादर विनयपूर्वक हरिस्मरण। आपका पत्र मिला, समाचार मालूम हुए। आप मुझे साष्टाङ्ग प्रणाम लिखते हैं और अन्यान्य बहुत-से बड़ाईके शब्दोंका प्रयोग करते हैं—यह सर्वथा अनुचित है। ऐसा नहीं करना चाहिये। मैं तो एक साधारण वैश्यबालक हूँ, आप ब्राह्मण हैं—इस तरहके समाचार लिखकर मुझे संकोचमें नहीं डालना चाहिये।

(१) आपने जो संतोंकी बड़ाई लिखी वह तो उचित ही है; परन्तु इस प्रकारके संत मिलने ही कठिन हैं। अगर आप मुझे ही वैसे संतोंका स्थान देकर ऐसे समाचार लिखते हों तो वैसा संत मैं नहीं हूँ। किसीको आज्ञा देनेका या उपदेश देनेका मेरा क्यों अधिकार है। प्रेमी भाई लोग सत्संगके लिये मेरे पास आते हैं, इससे तो मुझे भी लाभ ही है; क्योंकि इस बहाने भगवान्के गुणानुवाद सुनने और कहनेका शुभ अवसर मिल जाता है। अतः इसे मैं उन सत्संगी भाइयोंकी और भगवान्की दया मानता हूँ। आप मेरा संग चाहते हैं, यह आपके प्रेमकी बात है।

(२) आपने लिखा कि 'बिन गुरु भवनिधि तरे न कोई' साथ ही यह भी लिखा कि मुझे कोई सद्गुरु नहीं मिला, सो यह समय बड़ा ही विकट है। इस घोर कलिकालमें प्रथम तो श्रेष्ठ महापुरुष संसारमें ही बहुत कम हैं और जो हैं, उनको पहचानना बड़ा कठिन है, क्योंकि दम्भ बहुत बढ़ गया है। इस समय तो समस्त गुरुओंके गुरु परम पिता परमेश्वरको ही अपना गुरु और पथप्रदर्शक मानकर और सदाचारी

सत्संगी भाइयोंका परामर्श लेकर गीतादिमें लिखी हुई भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार तत्परतासे साधनमें लग जाना ही श्रेयस्कर है। आपने मेरी शरण लेनेकी बात लिखी सो शरण तो भगवान्‌की लेनी चाहिये। न तो मुझमें किसीको शरण देनेकी सामर्थ्य है और न अधिकार ही।

(३) सांसारिक कार्योंको भजनमें बाधक लिखा, सो वास्तवमें कार्य बाधक नहीं हैं। बाधक है विषयोंकी आसक्ति। अतः उससे छूटनेके लिये भगवान्‌के नाम-जपका अभ्यास करना चाहिये। भगवान् और उनके भक्तोंके चरित्र सुनने और पढ़ने चाहिये। निष्कामभावसे दुखियोंकी सेवा करनी चाहिये। ऐसा करनेसे जैसे-जैसे अन्तःकरण शुद्ध होता जायगा, वैसे-वैसे साधन बढ़ता जायगा और साधनमें रस आने लगेगा; फिर साधन कठिन नहीं मालूम होगा।

(४) साधनके लिये घर छोड़कर संन्यासी बननेमें कोई लाभ नहीं है। जबतक मनुष्यकी विषयोंमें आसक्ति है वह चाहे घरमें रहे, चाहे वनमें, कभी सुखी नहीं हो सकता। अतः घरमें रहकर ही उपर्युक्त प्रकारसे तत्परताके साथ साधन करना चाहिये।

(५) कामदेवके आक्रमणके विषयमें लिखा, सो इसकी शान्ति भगवान्‌का भजन करनेसे और विषयोंमें वैराग्य होनेपर ही हो सकती है। व्यभिचार बड़ा भारी पाप है; इसलिये अगर किसी प्रकार भी सदाचारमें कलंक लगनेका डर हो तो विवाह न करनेकी अपेक्षा विवाह कर लेना अच्छा है।

(६) मित्रका क्या कार्य है, उसके लिये आप चिन्तित क्यों हैं ? पूरी बात समझमें नहीं आयी। बिना समझे मैं क्या सलाह दे सकता हूँ। कृपाका भरोसा तो भगवान्‌की ही रखना चाहिये।

प्रार्थना तो भगवान्‌से करनी चाहिये। मैं न तो भगवान् हूँ और न इस प्रकारका महात्मा ही कि जिसके सामने प्रार्थना करनेमात्रसे किसीका कार्य पूर्ण हो जाय। अतः आपसे यही प्रार्थना है कि भगवान्‌पर विश्वास बढ़ाना चाहिये और उन्हींसे प्रार्थना करनी चाहिये। वे परम समर्थ हैं, सब कुछ कर सकते हैं। जरूरत है प्रेम और विश्वासकी।

* * *

प्रतीक्षा

प्राणधन प्यारे नन्दकिशोर, न आए जो दुखिया की ओर।
तुम्हें समझा था अतिशय-सदय, किन्तु तुम निकले बड़े कठोर॥
देव! यह कब का बैठा दास निरखता मग को ही अनिमेष।
प्रति क्षण होता है आभास 'आज आते होंगे प्राणेश'॥
पिरो कर मृदु भावों के पुष्प बनाया है आशा-हिय-हार।
इसी में तो मैंने प्राणेश! इकट्ठा कर डाला सब प्यार॥
तुम्हारी स्मृति का यह उपहार और मम आशाओं का हार।
शुष्क यदि हुआ जोहते बाट, हुई समझो जीवन की हार॥
प्रतीक्षा करते-करते नाथ! घटा-सी उठती नयनों-बीच।
बरसते दुख के आँसू और व्यथाओं की मच जाती कीच॥
देख कर मेरी दुर्गति आज, हृदय भी करता है उपहास।
प्रेम को समझे था सुख-स्रोत किन्तु उसमें करता विष वास॥
न जीने में है अब कुछ सार, निठुर! यह लख तेरे व्यवहार।
अरे! यह होता है अनुमान, प्रेम है विष की बुझी कटार॥

'नेह'

उनकी क्रीड़ा

(लेखक--श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)

यो दुर्विमर्शपथया निजमाययेदं
सृष्ट्वा गुणान् विभजते तदनुप्रविष्टः ।
तस्मै नमो दुरवबोधविहारतन्त्र-
संसारचक्रगतये परमेश्वराय ॥*

यह जगत् प्रभुकी क्रीड़ास्थली है । इसमें वे नाना रूपोंसे नाना भाँतिकी क्रीड़ाएँ करते हैं । सृष्टिके आदिमें जब कुछ नहीं था, तब उन्होंने अपनी कमलके समान बड़ी-बड़ी आँखोंको फाड़कर चारों ओर देखा । सर्वत्र शान्ति थी, सर्वत्र शून्यका साम्राज्य था, वे सोते-सोते ऊब गये थे । योगनिद्रासे भी उन्हें थकान-सी मालूम पड़ने लगी । अब उन्हें खेलकी इच्छा हुई । स्वतस्तृप्त आत्मारमणको भी इच्छा, यह कैसी विपरीत बात है ? यही तो बात है । वे ही अनुकूल, प्रतिकूल सबके जनक हैं । उनके लिये न कोई कर्तव्य न अकर्तव्य । उनके लिये सभी अनुकूल हैं, सभी प्रतिकूल ।

देखते-ही-देखते खेलका साज-सामान बनने लगा; क्योंकि क्रीड़ा एकत्वमें नहीं होती । खेलनेके लिये अनेक चाहिये । वह एक-से अनेक हो गया । उसने अपने बहुत-से रूप बना लिये, वही क्रीड़ाका साज-सामान बन गया । उसीने खेलनेवालोंके अनेक रूप धारण कर लिये । बस खेल शुरू हो गया ।

दार्शनिकोंने उसमें अनेक तर्क लगाये । वैज्ञानिकोंने उसमें सूक्ष्मताका अन्वेषण किया । विद्वानोंने उसकी क्रीड़ाके ऊपर अनेकों शास्त्र बनाये । वह हँसता रहा, मुसकराता रहा, कुछ बोला नहीं । उसने इच्छा की, आकाश बन गया । उसमें वायु चलने लगी, प्रकाश हो गया । गरमी लगने लगी, जल बन गया । गीला हो गया, पृथ्वी बन गयी—यही तो क्रीडाक्षेत्रोंमें होता है । अजी ! पहले प्रकाश क्यों आया ? चाँदनी ही पहले क्यों तानी गयी ? छिड़काव बादमें क्यों हुआ ? इसीपर लोग माथापच्ची करते हैं, करें । खिलाड़ीको ये प्रश्न व्यर्थ-से लगते हैं, उसे इनसे कोई प्रयोजन नहीं ।

खेलनेवालेने रखी हुई गेंद स्वाभाविक उठा ली है । अपना दुपट्टा उठाकर ओढ़ लिया, टोपी लगा ली, जूती पहन ली, खेलनेको चल दिया । उसके सब काम स्वाभाविक हैं; किन्तु विवेचना करनेवाले उसीपर तर्क करते हैं । पहले दुपट्टा बायें हाथसे ही क्यों उठाया ? टोपी तनिक टेढ़ी क्यों लगायी ? लगाकर चार कदम बायीं ओर क्यों चला ? बस ये ही प्रश्न इतने जटिल बन जाते हैं कि लोग इन्हींपर मस्तिष्क खपाते रहते हैं । अरे ! यह तो स्वभाव है, क्रीडा करनेवालेकी इच्छा है ।

इस जगत्‌को हम भगवान्‌की क्रीडाभूमि और समस्त प्रपञ्चको उनके खेलका साज-सामान मान लें तो न फिर कोई झंझट है, न वाद-विवाद है । भगवान् अनेक तरहसे खेल रहे हैं । उनकी क्रीडामें न कोई सम्भव, न असम्भव । आज लोग गर्व करते हैं—हमने इंजन बनाया, तार बनाये, हम यह कर देते हैं, वह कर देते हैं । मैं कहता हूँ—तुम पृथ्वीका एक कण बना सकते हो ? जलकी एक बूँद बना सकते हो ? विद्युत्‌की एक किरण तैयार कर सकते हो ? वायुका एक श्वास उत्पन्न कर सकते हो ? नहीं, तो सब व्यर्थ है । मायामें क्या सम्भव, क्या असम्भव ? सभी सम्भव है, सभी असम्भव है ।

---

* जो अपनी अचिन्त्यगति मायासे इस संसारको रचकर उसमें अनुप्रविष्ट हो जाते हैं तथा कर्म और कर्मफलका विभाग करते हैं । जिनकी अगम्य लीलाएँ, जिनके चित्र-विचित्र खेल, इस संसाररूपी चक्रकी गतिका प्रधान हेतु हैं, उन परमेश्वरको नमस्कार है ।

वे हरि खेल रहे हैं। आदिशक्ति महामायाके साथ वे स्वयं नाचते हैं। महामाया ताली बजाकर उन्हें नचा रही है।

नाचे नँदलाल नचावे वाकी मैया।

वे स्वयं नाचते हैं और चराचर प्रकृतिके साथ क्रीडा करते हैं। कभी स्वयं बैठ जाते हैं— सबको नचाते हैं।

सबहिं नचावत राम गुसाईं। बध्यो जीव मर्कट की नाईं॥

नाचना-नचाना, गाना-गवाना—इसीका नाम रास है। यह रास अनादिकालसे हो रहा है, अनन्तकालतक होता रहेगा। इसका न आदि है; न अन्त, न मध्य, न अवसान। चल रहा है, चलता रहा है, चलता रहेगा। हम सब उसीकी प्रेरणासे कर्म कर रहे हैं, क्रीड़ा कर रहे हैं। क्रीड़ा सुखके लिये होती है— आनन्दके लिये होती है। हम रोज प्रत्यक्ष देखते हैं— खेलमें हमें सभी चीजें प्रसन्न करनेके लिये ही होती हैं। विदूषक आकर हँसीकी बातें करता है, हमें प्रसन्नता होती है, हँस जाते हैं। फिर एक नायिका आकर रोती है, तड़फड़ाती है, मूर्तिमयी करुणाका रूप दिखाकर दर्शकोंको रुला देती है। सबकी आँखोंसे आँसू बहने लगते हैं। फिर भी हम आनन्दसे उछल पड़ते हैं, वाह-वाह बड़ा सुन्दर अभिनय किया। कमाल कर दिया। आज तो बड़ा आनन्द आया। कभी किसीका सिर कटता है, हम ताली बजा देते हैं। किसीपर विपत्ति आती है, हम उत्सुक होकर उसका परिणाम देखने लगते हैं। सारांश यही है कि नाटकमें जो भी हो— सभीमें हमें सुख है, सभीमें आनन्द है। दुःख तभी होता है, जब पात्र अपना अभिनय तत्परतासे नहीं करते। इसी तरह यह जगत् तो आनन्दकी जगह है। खेलनेका स्थान है, क्रीडास्थली है, क्रीड़ाका क्षेत्र है, इसमें जो दुखी होते हैं, चिन्तित होते हैं, व्यग्र बने रहते हैं उन्होंने अपनेको ही कर्ता मान रखा है, वे स्वयं इस नाटकके दर्शक न बनकर अपनेको सूत्रधार समझे बैठे हैं। अरे! सूत्रधार तो वे ही हरि हैं। वे जो भी कुछ करते हैं, जिससे जो भी कुछ करा रहे हैं, सब वे ही करा रहे हैं। तुम उनकी क्रीड़ामेंसे अपनापन हटा लो, अपनेको सूत्रधारके सिंहासनसे हटाकर दर्शकोंकी श्रेणीमें कर लो। तब तुम्हें नाटकका असली सुख मिलेगा। सूत्रधार तो नाटकका निर्माता है। उसके लिये न कोई हर्षकी बात है न विस्मयकी। उसीने तो नाटकका निर्माण किया है। वह उसका आदि, मध्य, अन्त— सब जानता है। तुम उसकी बराबरी मत करो, नहीं तो दुखी होगे। तुम तुम्हीं हो, वह वही है। तुम खेल देखो, आनन्द करो, सुखी रहो या उसकी इच्छासे तुम भी खेल करने लगो। बस, आनन्द-ही-आनन्द है, सुख-ही-सुख है। खेलको खेल ही समझो, जहाँ इसमें सत्यकी भावना हुई कि तुम दुखी और अशान्त हुए। सूत्रधार ही सत्य है, बाकी तो सब उसीका निर्माण किया हुआ खेल है। उसमें न सत्यता है, न असत्यता। सत्यता तो है ही नहीं; क्योंकि वह बनता-बिगड़ता रहता है। असत्यता भी कहें तो कैसे कहें; क्योंकि सत्यस्वरूपकी बनायी सभी चीजें सत्य हैं, सत्यसे असत्यका निर्माण हो नहीं सकता। अतः तुम इसकी सत्यता-असत्यताके झमेलेमें पड़ो ही नहीं। इसे तो सूत्रधारपर छोड़ दो। तुम तो खेलको खेल समझो और सदा ठहाका मारकर हँसते रहो। खूब हँसो, हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाय। जोरसे हँसो, कहकहा मारकर हँसो, हँसते-हँसते पेटमें बल पड़ जाय, आँखोंमें आँसू आ जाय। खुलकर हँसो, लज्जा-संकोच छोड़कर हँसो, हँसनेमें भय मत करो। अरे! हँसना, खेलना यही तो क्रीड़ामें आनन्द है, यही तो मजा है। हँसे बिना खेल कैसा? भगवान् हँसकर ही तो जीवोंको फँसा लेते हैं! 'हासो जनोन्मादकरी च माया' यही तो उनका जादू है। अतः जगत्में आकर जो रोया, वह हतभागी

है, कर्महीन है। अरे ! रोना क्यों ? रोवे वह, जिसकी नानी मर जाय। हमें तो हँसना है, हमारी नानी—महामाया-आद्याशक्ति तो कभी मरती नहीं, वह तो अमर है। हमारे परम पिता भी उसके साथ खेलते हैं फिर हमें रोनेसे क्या काम ?

अच्छा, यदि रोना ही है तो हँसते-हँसते रोओ, कबीरकी तरह रोओ ! कबीरने गाया है 'कबीर हँसना दूर कर रोनेसे कर प्रीत' उनका रोना नानी मरनेका रोना नहीं है। नाटकमें करुणाका रोना है, वह तो हँसीके लिये ही है, सुखके लिये ही है। अतः मनमें कभी म्लानता न लाओ, इस क्रीड़ाको देखकर हँसो और ऐसे हँसो कि हँसते-हँसते ही विदा हो।

आप कहेंगे—जो क्रीड़ा कर रहे हैं, वे सभीको दिखायी तो देते नहीं। यह कैसी क्रीड़ा है ? वाहजी, वाह ! यह भी खूब प्रश्न किया। नाटककार तो छिपा ही रहता है, सूत्रधार रंगमञ्चपर कभी ही आता है। वह तो छिपकर समस्त नाटकका सञ्चालन कर रहा है। यह कबड्डीका खेल नहीं है, आँख-मिचौनीका खेल है। कृष्ण ग्वालबालोंके साथ खेल कर रहे हैं, 'दाम ! तू भी आ, सुदाम ! तू भी आ जा' सभी मिल जाते हैं। 'सब आँखें बंद कर लो, मैं वृन्दावनकी कुञ्जोंमें छिपा जाता हूँ। तुम सब मुझको ढूँढ़ना।' यह कहकर वृन्दावनचन्द्र वहीं पासकी निकुञ्जमें छिप गया। कोस-दो कोस—सौ-दो सौ गज वे नहीं गये। पासमें, बिल्कुल पासमें—जहाँसे सबका ढूँढ़ना देख सकें, वे छिप गये। अब सखा उन्हें ढूँढ़ रहे हैं—कोई गहवरवन जाता है तो कोई भाण्डीरवन, कोई वेलवन तो कोई तमालवन। सब भटक रहे हैं, सब दौड़ रहे हैं। सूर्य-चन्द्रकी तरह चक्कर लगा रहे हैं। किसलिये—अपने प्यारेको खोजनेके लिये। क्यों खोज रहे हैं ? क्या प्रयोजन है ? अरे ! प्रयोजन क्या ! खेल है, आँख-मिचौनीकी लीला है; वह तो छिपकर ही बन सकते हैं। स्वयं छिप गये हैं, सखा उन्हें ढूँढ़ रहे हैं। कोई पूर्व जाता है, कोई पश्चिमकी परिक्रमा करता है, कोई उत्तरके तीर्थोंमें भटकता है, कोई दक्षिणके वन-उपवनोंमें खोज कर रहा है। श्यामसुन्दर समीप ही छिपे-छिपे हँस रहे हैं। किसी चतुर सखाकी दृष्टि पड़ गयी, उसने जाकर पल्ला पकड़ लिया, क्यों जी, यहाँ छिपे बैठे हो ? तब वह मुँहपर उँगली रखकर कहता है—'अरे ! चुप, बस, तू भी मेरे पास आ जा।' उसके लिये खेल खतम हो जाता है। उस सखाका दौड़ना-धूपना, घूमना, खोजना, चक्कर लगाना बंद हो जाता है। वह भी हँसता-हँसता दूसरोंको देखता है।

एक छोटा सखा है, नन्हा-सा बच्चा है, बहुत दौड़ नहीं सकता। प्रत्येक निकुञ्जोंमें जा नहीं सकता; क्योंकि वृन्दावनकी कुञ्जें कटीली हैं और जमीन ककरीली है। छोटा सखा एक दम शिशु है। वह रो पड़ता है, श्यामसुन्दर ! अब मैं तुम्हें स्वयं न खोज सकूँगा। तुम ही मेरे पास आ जाओ। तब वह हँसता हुआ, मुसकराता हुआ, दौड़कर आकर अपनी नन्ही-नन्ही कोमल उँगलियोंसे उसकी आँखें बंद कर लेता है। अरे ! घबड़ाता क्यों है ? रोता क्यों है, मेरे यार ! मैं कहीं दूर थोड़ा ही गया हूँ।

'मुझको क्या ढूँढे बंदे ! मैं तो तेरे पासमें' तब दोनों खिलखिलाकर हँस पड़ते हैं, खेल खतम हो जाता है।

इसी तरह जगत्में यह आँखमिचौनीका खेल हो रहा है। खेलको खेल समझनेमें ही सुख है, कल्याण है। यदि अपने पुरुषार्थसे तुम कन्हैयाको ढूँढ़ सको तो भी खेल खतम हो जायगा। स्वयं पता न लगा सको तो जिसने पता लगा लिया है, उसीके बताये मार्गपर चले जाओ या आर्त होकर उसे पुकारो, वह स्वयं दौड़ा आवेगा। उसका भी छिपनेमें कोई अन्य प्रयोजन

नहीं, वह भी क्रीड़ा ही कर रहा है, विनोदके लिये ही छिपा है, उसे इसीमें आनन्द है ।

जिस प्रकार हमारे प्रभुको खेल प्रिय है, उसी तरह हम सब भी खेलको पसंद करते हैं । पिताके गुण पुत्रमें आने ही चाहिये । आज सभी लोग खेल ही तो कर रहे हैं । कोई घर बना रहा है । कोई युद्ध कर रहा है । कोई पढ़ने जा रहा है । कोई व्यापार कर रहा है । कोई एक दूसरेको प्यार कर रहा है, एक दूसरेके लिये तड़प रहा है । बच्चोंके खेलमें भी तो यही सब होता है । बच्चेका एक मिट्टीका खिलौना फोड़ दीजिये—रोते-रोते घरभरको उठा लेगा, घरभरमें आफत मचा देगा। उसके लिये वह क्लेश उतना ही बड़ा है, जितना एक सम्राट्को राज्य नष्ट होनेपर होता है । बात दोनों एक ही हैं । साम्राज्य भी खिलौना है, मिट्टीका खिलौना भी खिलौना है । बच्चेको एक छोटा-सा सुन्दर खिलौना लाकर दे दीजिये। इतना खुश होगा, जितना एक गरीब भूमण्डलका राज्य पानेपर खुश हो सकता है । दोनों ही बच्चे हैं, दोनों ही नादान हैं, दोनों ही खिलौनोंसे सुखी होनेवाले हैं, दोनों ही खिलौने मायिक तथा नाशवान् हैं । हम बच्चोंके खेलको देखकर उसकी हँसी उड़ाते हैं, उसकी अवहेलना करते हैं; किन्तु स्वयं नहीं समझते कि हम भी उसी तरहके बच्चे हैं । हम भी तो खेल ही कर रहे हैं ।

यह जगत् त्रिगुणात्मक है । इसकी तीन धाराएँ सनातन हैं, तीनों ही उन्हींकी हैं । तीनोंमें वे ही खेल रहे हैं । जो सात्त्विक प्रकृतिके लोग हैं, वे भजनमें, ध्यानमें, सत्संगमें, एकान्तवासमें रहकर खेलते हैं । उन्हें संसारी पदार्थोंकी अपेक्षा नहीं । शरीर-निर्वाहको कुछ चाहिये । उनकी लड़ाई किसी लौकिक पदार्थके लिये नहीं है । वे आत्मसुखमें रमण करनेके लिये आत्माका आलोचन-प्रत्यालोचन करते हैं । जो राजस प्रकृतिके हैं, उन्हें सांसारिक ऐश्वर्य चाहिये । उसका राज्य हमें मिले, वह शासन ठीक नहीं करता, 'इसका प्रबन्ध जन-मतके अनुकूल हो' वह शासक कमजोर है उसे हटाकर दूसरा शासक बनाओ—इस प्रकार उनका सुख धन, ऐश्वर्य और विभूतिके उपभोगमें है । जो तामस प्रकृतिके हैं उनको विषयोंमें ही सुख है । यही उनका ध्येय है । वहाँसे लूट, यहाँसे चोरी कर, उसे मार, यह भोग कर, वह ला—बस, इसीमें दस्युधर्मका पालन करते हुए संसारी भोग पदार्थोंमें ही लिप्त रहना । उनका सुख भौतिक सुख है ।

इसी तरह यह जगत् त्रिगुणात्मक है, तीनों गुणोंके संयोगसे यह चल रहा है । सभा-सम्मेलनोंमें यही सब होता है । तामस प्रकृतिके लोग इकट्ठे होकर मांस, मद्य, व्यभिचार, चोरी, जुआके षड्यन्त्र रचते हैं । सब परस्परमें इकट्ठे होकर इन्हींके लिये वाद-विवाद तथा कलह करते हैं । उनके सम्मिलनका सार यही है । राजस प्रकृतिके लोग मिलकर राजनैतिक मन्त्रणाएँ, राजस मनोरञ्जन तथा राजनैतिक व्याख्यान करते हैं । सात्त्विक प्रकृतिके लोग भजन, कीर्तन, सत्संग, कथावार्ता, यज्ञ-याग आदिके महोत्सव करके उन्हींमें सुखकी खोज करते हैं ।

कुछ लोग दम्भके लिये, कुछ मान-प्रतिष्ठाके लिये, कुछ लोग द्वेषसे, ईर्ष्यासे भी करते हैं । यह भावोंका संकर है । कहीं कोई गुण बढ़ता है, कहीं कोई घटता है ।

हम कुछ भी खेल करें, यदि हमारा लक्ष्य परमार्थ है, यदि श्रीहरि हमारे खेलके ध्येय हैं तो वह खेल यथार्थ खेल है । यदि प्रभुका स्थान इन मायिक पदार्थोंने ले लिया है तो हम खेल-ही-खेलमें भटक गये हैं ।

भगवान्का नाम-कीर्तन, गुणकीर्तन, लीलाकीर्तन यही सच्चा खेल है । इससे छिपे हुए भगवान् प्रकट हो जाते

हैं और यह संसार हमें विस्मृत सा हो जाता है। जबतक जगत् सत्य प्रतीत होता है तबतक भगवान् नहीं दिखायी देते। जब भगवान् दीख जाते हैं तो यह जगत् अपने-आप अदृश्य हो जाता है। इन मायिक पदार्थोंके बिना—किसी प्रकारके नशा, अमल या मादक द्रव्यके बिना जहाँ भगवन्नाम-गुण-लीला-कीर्तन सुनते-सुनते हमें आत्मविस्मृति हो जाय, वही प्रभुका सच्चा खेल है। जो जीव कुछ कालको भी उसमें सम्मिलित हो जाता है, वह उतने समयके लिये सांसारिक त्रिविध तापोंसे मुक्त हो जाता है। उसे एक अलौकिक आनन्दका अनुभव होने लगता है।

जहाँ मनुष्योंके अहङ्कृति न हो या कम-से-कम हो, वहाँ प्रभुकी प्रत्यक्ष लीला दिखायी देती है। उस कार्यमें जो भी जाता है, वह अपनेको एक अलौकिक छायामें स्थित अनुभव करता है। काम सभी एक-से हैं, सभीमें प्रपञ्चकी छाया है, सभीमें वे ही पञ्चभूतोंके पदार्थ हैं। वे ही पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाशके बने खिलौने हैं; किन्तु उनमें भाव ही प्रधान है। जहाँ जितनी ही कम अहङ्कृति होगी, वहाँ उतना ही अधिक रस होगा। सुदामाके तन्दुलोंमें क्या था, अपनेपनका अभाव। मेरा यह उपहार कुछ नहीं है। प्रभुने कहा—'नहीं सब कुछ है।' दुर्योधनके यहाँ किस चीजकी कमी थी, कितने पदार्थ थे; किन्तु उसमें अहङ्कृति थी। इतने आडम्बरसे सजाये हुए भी प्रभुने ठुकरा दिये। सबके घट-घटकी वे प्रभु जानते हैं।

समस्त उत्सव, समस्त लीला, समस्त कार्योंका ध्येय यही है कि हम इन लौकिक पदार्थोंसे ऊपर उठकर प्रभुकी ओर बढ़ सकें। यदि इन महोत्सवोंमें हमें निरन्तर भगवत्-स्मृति होती रहती है, प्रत्येक काममें भगवान्का वरद हस्त दिखायी देता है, तब तो इन सबका करना सार्थक है। नहीं तो जैसे और कार्य, वैसे ही ये कार्य। सबका मूल भगवत्-स्मृति है, समस्त क्रीड़ाके आदि, मध्य और अन्तमें हमें प्रभु-ही-प्रभु दिखायी दें तो हमें शोक, मोह—कुछ भी बाधा न दे सकेंगे। यदि हम भगवान्को भूलकर विषयोंमें आसक्त हो गये तब तो उनकी मायामें भूल गये।

यह जो कुछ दिखायी दे रहा है, यह त्रिगुणात्मक जगत् सब उनकी लीला है, सब उनका खेल है, हम सब उनकी प्रेरणासे, उनके आदेशसे उन्हें खोज रहे हैं। जगत्के माने ही हैं जो चलता-फिरता रहे। यह चलन किसलिये है? अपने प्रियतमकी खोजके लिये, अपने जीवन-सर्वस्वसे मिलनेके लिये; जगत्के यावत् पदार्थ हैं, सब चल रहे हैं अनन्तकी ओर। किसी-न-किसी दिन भूलते-भटकते सब उसीके समीप पहुँचेंगे। सबका प्रयत्न उसीके लिये है। जानमें, अनजानमें—सब उसी महासागरसे मिलने दौड़ रहे हैं।

इस क्रीड़ाको क्रीड़ा समझना ही उनकी ओर तेजीसे बढ़ना है। इसमें सत्यका समावेश करना ही उनसे दूर भटकना है। इसलिये मेरे प्यारे बन्धुओ! आओ और उस अनादि-अनन्तकी खोज करो। हँसते-हँसते किलकारियाँ मारते हुए उन्हें खोजो। न खोज सको तो उनके लिये रोओ, आर्त होकर पुकारो। वे श्यामसुन्दर तुम्हें अपनी छातीसे चिपटा लेंगे और फिर तुम प्रत्यक्षमें उनका दर्शन-स्पर्श प्राप्त कर सकोगे। श्रीकृष्ण ही नटनागर नट हैं। जगत् ही उनकी क्रीड़ास्थली रंगमञ्च है। चराचर जगत्के जीव ही उनके क्रीड़ापात्र हैं। जगत्के यावन्मात्र व्यापार ही उनके क्रीड़ा-प्रसंग हैं। वे उसमें अन्तर्यामीरूपसे, गुरुरूपसे, आचार्यरूपसे, प्रतिभारूपसे, कभी-कभी प्रत्यक्षरूपसे भी प्रकट होकर खेलते हैं फिर छिप जाते हैं। उनकी क्रीड़ाकी ओर दृष्टि देनेमें ही कल्याण है, नहीं तो अकल्याण-ही-अकल्याण है। इसीलिये भगवान्ने स्वयं अपने श्रीमुखसे कहा है—

तस्माद् देहमिमं लब्ध्वा ज्ञानविज्ञानसंभवम्।
गुणसङ्गं विनिर्धूय मां भजन्तु विचक्षणाः॥

पूजा

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

'सब प्रजाजन उपस्थित हो गये ?'

'श्रीमान्‌की आज्ञा तथा जगत्पतिके दर्शनके सौभाग्यको कौन अतिक्रमण कर सकता है महाराज ? किन्तु…।'

'किन्तु—किन्तु परन्तु क्या मन्त्रीप्रवर ? यह किन्तु क्या ?' आनर्त महाराज कुछ चञ्चल एवं उद्विग्न हो उठे। 'क्या मेरे किसी पूर्वपाप अथवा दुर्भाग्यसे भगवान् इधरसे नहीं पधारेंगे ? उन्होंने मार्ग बदल दिया है ? आह ! मैं इतना अधम हूँ कि उनके श्रीचरणोंमें दो पुष्प भी नहीं चढ़ा पाऊँगा !'

'आप व्यर्थ आकुल होते हैं। भगवान् इधरसे ही पधार रहे हैं।' हाथ जोड़कर वृद्ध मन्त्रीने कहा। 'दूतोंने समाचार दिया है कि प्रभुकी मध्याह्नसन्ध्या अपनी ही सीमामें होगी।'

'तब किन्तु क्या ?' आश्वस्त होकर महाराजने पूछा।

'महाराज ! मेरा कुछ और ही अर्थ था। वह सोमपीड़ बढ़ई…।'

'ओह, वह श्रद्धामय वृद्ध।' महाराजने मन्त्रीको बीचमें ही रोका।

'वह सबसे प्रथम प्रभुके श्रीचरणोंमें अपना उपहार रखना चाहता है। उसे ऐसा कर लेने दो ! उन चरणोंमें राजा और भिक्षुकका भेद नहीं। वहाँ केवल प्रेम ही पुरस्कृत होता है और हमें यह स्वीकार कर ही लेना चाहिये कि वह वृद्ध इस मार्गमें हम सबका नरेश है। उसे सम्मानपूर्वक सबसे पहले पूजन करने दो।'

'पर वह आये भी तो श्रीमान्।' मन्त्रीने नम्रतासे कहा।

'वह नहीं आया ?' महाराज जैसे आकाशसे गिरे।

'जी ! वह नहीं आया और आना चाहता भी नहीं।' मन्त्रीने बहुत ही नम्रतासे उत्तर दिया। 'मेरे विश्वस्त जनोंने मुझे सूचित किया है।'

'ऐसा हो नहीं सकता।' महाराजके स्वरमें विचित्र आश्चर्य था। 'मन्त्रीवर ! तुम जानते हो उस वृद्धको ! भगवान्‌के हस्तिनापुर जानेका समाचार पाकर ही वह प्रेमोन्मत्त हो गया था। उसी दिनसे उसने मार्गके तोरणद्वार बनाने प्रारम्भ कर दिये थे। कल मध्यरात्रि-तक वह सिंहासन सजानेमें लगा था। मेरा तो पूर्ण विश्वास है कि उसीके प्रेमके कारण प्रभुने इधरसे द्वारिका जाना निश्चित किया है।'

'श्रीमान् उचित ही कहते हैं।' मन्त्रीने कहा। 'उसने कुछ भी पारिश्रमिक हमलोगोंके बार-बार आग्रह करनेपर भी ग्रहण नहीं किया है। साथ ही वह इतना श्रम न करता तो यह तोरणद्वार इतना सुन्दर बन भी न पाता।'

'तब वह प्रभुके ठीक आगमनके समय उपस्थित न हो, यह कैसे हो सकता है ?' महाराजका गला भर आया था। 'तुम स्वयं जाकर ले आओ उसे।'

'जो आज्ञा।' राजकीय रथ लेकर प्रधान मन्त्री उस बढ़ईको लेने चल पड़े।

(२)

एक फूसकी झोपड़ी है। फूसकी दीवार और फूसके छप्पर। गोबरसे लिपी-पुती स्वच्छ। एक कोनेमें बढ़ईके औजार समेटकर रक्खे हैं। एक ओर पुआल

पड़ा है और एक केलेके पत्तेपर पुष्पोंकी वनमाला, चावल, चन्दन सजा रक्खा है। ताँबेके लोटेमें सम्भवतः जल होगा।

पूजाका सब उपहार तो सजा है; पर पुजारी सावधान हो तब न? मन्त्रीने रथ उसी झोपड़ीके द्वारपर रोक दिया। उन्होंने देखा——बूढ़ा हाथमें तुलसीकी माला लिये सामनेके तुलसी-चबूतरेपर लगी श्रीतुलसीजीको ध्यानसे देख रहा है। हाथमें माला स्थिर पड़ी है और नेत्रोंसे अविरल अश्रुप्रवाह चल रहा है।

'आपको महाराज स्मरण कर रहे हैं।' मन्त्रीके वचनोंसे उसकी तन्मयता भंग हुई। सकपकाकर उसने दोनों हाथ जोड़ लिये और इस प्रकार मन्त्रीके मुखकी ओर देखने लगा मानो कुछ सुना ही नहीं।

'श्रीद्वारिकाधीशके दर्शनोंके लिये आपको ले चलने मैं रथ लेकर आया हूँ। प्रभु पहुँचनेहीवाले हैं।' मन्त्रीने आग्रह किया।

'आपने व्यर्थ कष्ट किया।' वृद्धकी अञ्जलि बँधी थी और उसके स्वरमें अत्यधिक नम्रता थी। 'हम इस प्रकार महाराजाओंकी भाँति प्रभुके दर्शन नहीं करते।'

'तब किस प्रकार आप दर्शन करेंगे?' मन्त्री आश्चर्यचकित था।

'जब वे मेरे द्वारपर आवेंगे।' वृद्धने सरलतासे कहा। इस बूढ़ेके गर्वपर मन्त्री हँसीको रोक न सके। 'जो राजसूयमें प्रथम पूज्य माने गये। जो महाराजके आग्रहपर भी राजसदनमें आनेकी प्रार्थनाको अस्वीकृत कर चुके हैं। जिनके दर्शनके निमित्त स्वयं महाराज सीमातक दौड़े गये हैं। वे इस झोपड़ीके द्वारपर आवेंगे?' मन्त्रीको इस गर्वसे अरुचि हुई। उन्होंने पीठ फेर ली। पता नहीं उन्होंने सुना भी या नहीं। वृद्धने कहा—'दीनोंके द्वारपर दीनबन्धुको छोड़कर और कौन आवेगा?'

रथ जैसे आया था, वैसे ही लौट गया।

गरुड़ध्वज दृष्टि पड़ा। कोलाहल मच गया। सब लोग दौड़े। स्वयं महाराज पैदल पूजाका थाल लिये आगे-आगे बालकोंकी भाँति दौड़ रहे थे। 'यह क्या! रथ तो दूसरी ओर मुड़ पड़ा! भगवान् उधर कहाँ जा रहे हैं?' लोग आश्चर्यपूर्वक उधर ही चलने लगे!

'रोको दारुक!' प्रभुने सारथिको आज्ञा दी और वह चारों कर्पूरगौर अश्व वहीं स्थिर हो गये।

वृद्ध बढ़ई कुछ समझ सके, तबतक तो रथमेंसे कूदकर मयूरमुकुटधारी एक नीलोज्ज्वल ज्योति उसके सम्मुख खड़ी हो गयी। एक बार मुख ऊपर उठाकर देखा। खड़े होनेका भी तो अवकाश नहीं मिला था। वैसे ही मस्तक उन कमलाकरलालित चरणोंपर लुढ़क गया!

महाराज, मन्त्री, सामन्त, सेनापति प्रभृति सभी धीरे-धीरे पहुँच गये। सब आश्चर्यसे एवं संकोचसे प्रभुके रथके पास ही खड़े थे। दीनबन्धु दीनके द्वार-पर खड़े थे और दीन उनके श्रीचरणोंपर पड़ा था। पूजाकी सामग्री केलेके पत्तेपर धरी ही रही। उसे छूनेका अवकाश एवं स्मृति किसे?

बहुत देर हो गयी। न तो प्रभु हिले और न वृद्ध। बड़े संकोचसे हाथ जोड़कर दारुकने कहा, 'महाभाग! प्रभु कबसे खड़े हैं। पूजा तो कर लो!'

'दारुक! पूजा तो हो गयी।' उन कमलनेत्रोंसे दो बिन्दु उस वृद्धके मस्तकपर पड़े! जीव-ब्रह्मकी एकतासे बड़ी पूजा क्या है? वह पूजा तो सचमुच ही हो गयी थी। श्रीचरणोंपर वृद्धका शरीर ही पड़ा था। वह तो श्यामसुन्दरसे एक हो चुका था!

* * *

गोरक्षाकी परम आवश्यकता और उसके कुछ उपाय

(लेखक—लाला श्रीहरिदेवसहायजी)

हमारे देशसे गायका ऐसा ही सम्बन्ध है, जैसा जीवात्माका शरीरसे। गाय हमारे जीवनका मुख्य आधार है। देशके अनुमान पचासी फीसदी लोगोंका गुजारा खेतीके सहारे है। खेतीका प्रधान साधन है गोवंश। बैल न हों, कम या कमजोर हों तो खेती नहीं हो सकती। बोझा ढोने, रहट, कुएँ चलाने और गाँवोंमें सवारीके लिये भी बैलोंकी जरूरत है। देशके लोगोंकी बड़ी संख्या, जो मांस नहीं खाती, उनका स्वास्थ्य तथा शक्ति कायम रखने और बढ़ानेका एकमात्र साधन है दूध और दूधसे बनी चीजें—घी, मक्खन, दही, छाछ आदि। देशके लोगोंकी आर्थिक तथा शारीरिक उन्नतिका प्रधान सहारा गोवंश है। गोवंशकी संख्या तथा शक्ति जितनी अधिक बढ़ेगी, देशके लोग उतने ही सुखी, सम्पन्न, बलवान् तथा स्वस्थ होंगे। पर हमारे देशमें दिनोंदिन गायोंकी संख्या तथा उनकी दूध देनेकी शक्ति घटती ही जा रही है।

गायोंकी संख्या तथा शक्तिमें कमी—

गायोंकी संख्या मालूम करनेका एकमात्र आधार सरकारी रिपोर्ट हैं। १९२० से पहले तो देशभरमें कोई ठीक-ठीक पशु-गणना ही नहीं हुई। भारतसरकारने १९१६ में सारे देशकी पशुगणना करानेका निर्णय किया। सर्वप्रथम यह गणना दिसम्बर १९१९ से अप्रैल १९२० तक हुई। इसके पीछे पाँचवें साल गणना करानेका निश्चय हुआ; पर यह भी सब प्रान्तोंकी ठीक-ठीक नहीं हो सकी। १९३५ में युक्तप्रदेश तथा उड़ीसाकी और १९४० में बंगाल, बिहार एवं उड़ीसाकी ठीक न हुई। पिछले अङ्कोंसे ही काम चलाया गया। पिछली या १९३५ तककी भारतसरकारकी पशुगणना-रिपोर्ट नहीं मिलती, केवल १९४० की मिलती है। पहलेके कुछ अङ्क भारतसरकारकी दूध तथा खाल-रिपोर्टों और कुछ अन्य प्रसिद्ध पुस्तकोंसे लिये हैं। इनके अनुसार हमारे देशमें जन-संख्या दिन-दिन अधिक तथा गो-संख्या कम होती जा रही है। ब्रिटिश भारत तथा देशकी नौ मुख्य रियासतोंके अङ्क इस प्रकार हैं—

	१९२०	१९४०	कम या अधिक
दूध देनेवाली गायोंकी संख्या	४३३६००००,	३८७५००००	१०½ प्रतिशत कम
	१९२१	१९४१	
जन-संख्या	२७४५४००००,	३३३२२००००	२१½ प्रतिशत अधिक

इस गणनाके अनुसार पिछले २० वर्षोंमें प्रति सैकड़े १०॥ गाय कम हो गयी तथा मनुष्योंकी संख्या प्रति सैकड़ा २१॥ बढ़ी है। मनुष्योंकी बढ़ी हुई संख्याको दृष्टिमें रखते हुए ३२ प्रतिशत गायोंकी कमी हो गयी, जिसे पूरा करनेके लिये १॥ करोड़से अधिक गायें चाहिये। सन् १९३५ में ब्रिटिश तथा रियासती सारे भारतवर्षमें दूध देनेवाली गायोंकी संख्या ४५४९०००० थी, जो १९४० में केवल ३९४००००० रह गयी। इन पाँच वर्षोंमें ही ६०९००००की कमी आयी। पंजाब प्रान्त, जो देशका सबसे उपजाऊ भाग है। जहाँ हरियाणा, साहीवाल तथा धन्नि गायोंकी प्रसिद्ध नस्लें हैं, इस पाँच दरियाओंके प्रान्तमें भी गायोंकी संख्या कम होती जा रही है, जैसा कि नीचे लिखे अङ्कोंसे प्रकट होता है—

	१९०९*	१९४०	कम या अधिक
ब्रिटिश पंजाबकी कुल गायोंकी संख्या	३३८३६४२	२४०७४९०	२९॥ प्रतिशत कमी
	१९११	१९४२	
जन-संख्या	१९५७९०४७	२८४१८८१९	४५॥ प्रतिशत अधिक

इन तीस वर्षोंमें ९७६१५२ या २९॥ प्रतिशत गायोंकी कमी हो गयी; पर मनुष्य ८९३९७७२ या ४५॥ प्रतिशत बढ़ गये।

१९३५ से १९४० तककी संख्या—

	१९३५	१९४०	कम या अधिक
ब्रिटिश पंजाब गो-संख्या	९७९००००	९२५२५६२	५॥ प्रतिशत कम
	१९३१	१९४१	
जन-संख्या	२३५८०८६४	२८४१८८१९	२०॥ प्रतिशत अधिक

---

* १९०९ की गो-गणनाके अङ्क सरकारी मिलिटरी फार्म लाहौरके मैनेजर ला० भगवानदासजीकी पुस्तक गोपालनके पृष्ठ १९८ से लिये गये हैं और शेष सरकारी रिपोर्टोंसे।

सन् १९३५ से १९४० तकके समयमें ही ५३७४३८ या ५॥ प्रतिशत गाय या बैल कम हो गये और जन-संख्या २०॥ प्रतिशत बढ़ गयी ।

हरियागा नस्लकी गायोंके मुख्य स्थान हिसार जिलेमें तो गोवंशकी बहुत ही कमी हुई, जैसा कि सरकारी हिसार गेजेटियरके पृष्ठ २ तथा ८८ पर लिखे अङ्कोंसे प्रकट है ।

	१८९३-९४	१९४०	कम या अधिक
गो-संख्या	१८१४८३	६७२१८	६२॥ प्रतिशत कम
जन-संख्या	७७६००६	१००६७०९	३०॥ प्रतिशत अधिक

इन पचास सालोंमें ११४२६५ या ६२॥ प्रतिसैकड़ा गायोंकी कमी हो गयी और जन-संख्या २३०७०३ या ३० प्रतिसैकड़ा बढ़ गयी । १८९३-९४ में सौ आदमियोंके पीछे २३ गायें थीं, १९४० में केवल ७ रह गयीं । पिछले २० वर्षोंका हिसाब भी देखिये ।

	१९२०	१९४१	कम या अधिक
गाय	१२९५६१	६७२१८	४८ प्रतिशत कमी
बैल तथा साँड़	१०६५९४	५९६५७	४४ प्रतिशत कमी.
जन-संख्या	८१६८१०	१००६७०९	२३॥ प्रतिशत अधिक

सन् १९२० से १९४० तक ६२३४३ या ४८ गायों और ४६९३७ या प्रतिशत ४४ की कमी हुई । प्रतिशत इन्हीं २० सालोंमें जनसंख्या १८९८९९ या. २३॥ प्रतिशत बढ़ गयी ।

जो हिसार युक्तप्रदेश, पंजाब तथा देशके अन्यान्य भागोंको खेतीके लिये बैल देता था, वहाँ आज उसकी अपनी जमीनके लिये भी काफी बैल नहीं रहे । हिसार जिलेमें खेतीके लायक अनुमान एक करोड़, बत्तीस लाख कच्चे बीघे या ४४ लाख पक्के बीघे जमीन है । इसके लिये साँड़ोंको छोड़कर बैल केवल ५८१३७ हैं, जिनसे २९०६८ हल हुए, और २६५५६ ऊँट हैं, उन्हें शामिल कर लिया जाय तो भी इस गणनाके अनुसार कुल हल ५५६२४ होते हैं । बैल तथा ऊँटोंकी वर्तमान शक्तिको देखते हुए एक हलपर अधिक-से-अधिक एक सौ बीघे कच्चे खेती हो सकती है अतः खेतीके लायक जमीनके लिये कम-से-कम एक लाख बैल और चाहिये ।

ऊपर लिखे अङ्कोंसे, जो प्रायः सरकारी रिपोर्टोंसे लिये गये हैं, पता लगता है कि देशभरमें गायोंकी संख्या दिन-प्रति-दिन बहुत कम तथा मनुष्योंकी संख्या बढ़ती जा रही है । गोवंशकी संख्या तो कम हुई ही । गायोंकी दूध देने तथा बैलोंकी हल-गाड़ी खींचनेकी शक्तिमें भी कमी आयी । ३५० वर्ष पहले ही अकबर बादशाहके समयमें गाय २० सेरसे अधिक दूध देती थी (आईने अकबरी पृ० १९९) तथा बैल घोड़ोंसे भी तेज चलनेवाले होते थे । बैल २४ घण्टेमें १२० मील चलते थे (आईने अकबरी पृ० १४९) । उन्हीं दिनों प्रसिद्ध जैन साधु हरिविजयसूरिने 'हरिसौभाग्यम्' नामक एक संस्कृत महाकाव्य लिखा है, जिसमें गुजरातकी ३२ सेर दूध देनेवाली गायोंका उल्लेख किया है । भारतसरकार दूध-रिपोर्टके पृ० २१ पर लिखा है कि भारतीय गायोंकी दूध देनेकी शक्ति कम हो गयी । अबसे कुल बीस-तीस वर्ष पहले अच्छी गायों तथा भैंसोंका मिलना जितना सरल था, आज उतना नहीं । भैंसोंकी अपेक्षा गायोंकी शक्तिमें अधिक कमी हुई । सरकारी पशुशालाओंके बड़े अफसर लेफ्टेनेण्ट कर्नल नेटसन साहब लिखते हैं—'पंद्रह-बीस वर्ष पहले अमृतसरमें काफी तादादमें साहीवाल गायें बिका करती थीं, हरियाणोंमें भी बहुत-सी गायें मामूली भावपर आतीं । ये दोनों झरने अब सूख गये ।' प्रसिद्ध पशु-विशेषज्ञ मि० विलयम स्मिथ महोदय कहते हैं कि 'मैं हिंदुस्तानमें १६॥ वर्षोंसे हूँ, पशुपालनके धंधेसे मेरा निकट सम्बन्ध रहा है । मेरा यह विचारपूर्वक मत है कि मेरे आनेके बादसे यहाँ पशुओंकी अवनति हुई है । १६ वर्ष पहले जैसे अच्छे गाय-बैल मिलते थे वैसे अब कितने ही दाम देनेपर भी नहीं मिलते ।' यह प्रत्यक्ष है कि बीस वर्ष पहले ही १० सेर दूधकी गायोंका मिलना साधारण बात थी । आज बहुत तलाश करनेपर ही कहीं मिलती हैं । सुन्दर-सुडौल और बलवान् बैल तो प्रायः देखनेमें ही नहीं आते ।

संसारके अन्यान्य देशोंमें गोवंशकी स्थिति

हमारे देशकी तरह संसारके अन्यान्य देशोंमें गायों-बैलोंकी अधिक जरूरत नहीं; क्योंकि वहाँ खेती बैलोंसे नहीं, घोड़ों तथा मशीनोंसे ही होती है । वहाँके लोग निरामिषभोजी भी नहीं, उनका प्रधान आहार मांस है । फिर भी वहाँ गायोंकी संख्या तथा शक्ति और दूधका उत्पादन हमारे देशकी अपेक्षा बहुत अधिक है । गोवंशकी उन्नतिके लिये

वहाँके लोगों तथा सरकारोंने बहुत काम किया है। १९३५ से १९४० तकके कुछ देशोंके अङ्क भारतसरकारकी पशु-गणना-रिपोर्ट १९४० में दिये हैं।

नाम देश	गोवंश १९३५	१९४०	कम या अधिक
दक्षिणी अफ्रीका	१०५७५०००	१२०६००००	१४ प्रतिशत अधिक
पोलैंड	९७५९०००	१०५५४०००	८ ,, ,,
इंगलैंड	८६५९०००	८८१९०००	१८ ,, ,,
जर्मनी	१८९३८०००	१९९०००००	५ ,, ,,
भारतवर्ष	४५४९००००	३९४०००००	१३ ,, कम

भारतसरकारकी दूध-रिपोर्टके पृ० ६४ पर डेनमार्क देशकी गायोंकी बाबत ये अङ्क दिये हैं।

	१९००	१९३४
दूध देनेवाली गायोंकी संख्या	१०७५०००	१७१६०००
प्रति गाय वार्षिक दूध --	४८५० पौंड	७०५५ पौंड

इन अङ्कोंके अनुसार डेनमार्कमें ३४ वर्षोंमें ६४१००० गायोंकी संख्या बढ़ी, और प्रत्येक गाय सालाना २२०५ पौंड या ११०२॥ सेर अधिक दूध देने लगी। इसी सरकारी रिपोर्टके पृ० ६४-६५ पर लिखा है कि १९२३ में लिनलियगो कमीशनकी रिपोर्टके अनुसार इङ्गलैण्डमें दूधकी पैदावार पिछले चालीस वर्षोंमें दुगुनी हो गयी, दूध इतना अधिक हुआ कि सन् १९३७ में इंगलैण्डकी सरकारने 'अधिक दूध पीओ' आन्दोलन करनेके लिये ही ६० हजार पौंड यानी ९ लाख रुपये खर्च किये (पृ० ७६)। अमेरिकामें सालाना प्रति मनुष्य दूधकी खपत ८४७ पौंडसे बढ़कर १००० पौंड हो गयी। लेटविया जैसे छोटे-से देशमें १९३० से १९३५ तक दूधकी पैदावार ३० प्रतिशत बढ़ी, जब कि जन-संख्या केवल २॥ प्रतिशत ही अधिक हुई।

आस्ट्रेलियाने गोवंशके इतिहासमें एक अनोखी ही बात कर दी। अठारहवीं शताब्दीके आरम्भमें बोटानीके गवर्नरने बाहरसे एक साँड़, चार गायें और एक बछड़ा मँगवाया। सन् १९०६ में गणना हुई तो वहाँ ८१७८०० गायें थीं, और आज वहाँ सब तरहकी अच्छी नसलकी गायोंका पालन होता है तथा दूसरे देशोंकी माँग रहती है। इङ्गलैण्डने तरह-तरहकी गायोंकी नसल बनाने तथा सुधारनेका काम किया। वहाँके बादशाहतकने अपनी निजी गायें तथा साँड़ रखे और उन्हें नुमाइशोंमें भेजा। अमेरिकामें कितने ही गोपाल कई-कई हजार गायें रखते हैं। मि० हिटसनके पास ५० हजार, मि० जाननिलसके पास ३० हजार गायें बतायी गयी हैं। वहाँके अन्यान्य गोपालोंके पास भी हजारों गायें हैं।

भारतवर्षके मुकाबिलेमें अन्यान्य देशोंका गोवंश तथा दूधका उत्पादन

अन्यान्य देशोंकी जन-संख्या तथा गायें कितने वर्षोंमें कितनी बढ़ीं या कम हुईं, इसके तो ठीक-ठीक अङ्क नहीं मिले; पर दूधकी खपत तथा कुछ देशोंकी पशु-संख्याके जो अङ्क मिले हैं उनसे अनुमान लगाया जा सकता है। दूध-रिपोर्टके पृ० ६२ पर संसारके प्रायः देशोंमें प्रति मनुष्य प्रतिदिन जितने दूधकी खपत है, उसकी बाबत नीचे लिखे अङ्क दिये हैं—

देश	प्रतिदिन प्रति मनुष्य दूधकी खपत
कैनेडा	२८ छटाँक
न्यूजीलैंड	२७॥ ,,
स्विजरलैंड	२४॥ ,,
आस्ट्रेलिया	२२ ,,
इंगलैंड	२० ,,
जर्मनी	१७॥ ,,
अमेरिका	१७॥ ,,
भारतवर्ष	३ ,,

इन अङ्कोंसे प्रकट है कि संसारके प्रायः देशोंमें हमारी अपेक्षा बहुत अधिक दूध पीया जाता है। जैसे कैनेडा प्रति आदमी १।॥ सेर, इंगलैंड १। सेर, अमेरिका १ सेरसे अधिक, पर भारतवर्ष केवल ३ छटाँक ही। जिस देशमें अधिक दूध खपता है, वहाँ दूध देनेवाली गायोंकी संख्या तथा शक्तिका अधिक होना जरूरी है। उन देशोंमें दूध केवल गायोंका ही होता है। हमारी तरह पशुओंके आधारपर गुजारा करनेवाले हालैंड तथा डेनमार्ककी पशु-संख्या तथा दूधकी उत्पत्तिका वर्णन इसी रिपोर्टके पृ० १२५ पर निम्नलिखित हैं--

देश	दूध देनेवाले पशुओंकी संख्या प्रति वर्ग मील	प्रतिदिन दूधका उत्पादन प्रति वर्ग मील
भारतवर्ष	४२	१ मन ३ सेर
हालैंड	१०९	२७ मन १८ सेर
डेनमार्क	९७	२२ मन २६ सेर

हमारे देशसे इन देशोंमें दुगुनेसे अधिक गायें हैं तथा बीस गुणसे अधिक दूध उत्पन्न होता है। प्रति गाय सालाना दूधकी औसत इसी रिपोर्टके पृ० २९७ पर इस प्रकार लिखा है—

देश	सालाना प्रति गाय दूधकी औसत
डेनमार्क	८७ मन २२॥ सेर
स्वीजरलैंड	८१ मन ९ सेर
बैल्जियम	७६ मन ४॥ सेर
इंगलैंड	६९ मन २८ सेर
जर्मनी	६६ मन १२॥ सेर
भारतवर्ष	६ मन २२॥ सेर

अन्यान्य देशोंमें प्रत्येक गाय औसतन सालाना हमारे देशकी अपेक्षा १० गुनेसे १४ गुनेतक अधिक दूध देती है।

गोवंशके ह्राससे हमारी हानि—

दूध और दूधसे बनी चीजें भी मक्खन, दही, छाछ, इत्यादि मनुष्यके मुख्य तथा पूर्ण भोजन हैं। जिन देशोंके लोग मांसभोजी हैं, उन्हें भी दूधकी आवश्यकता रहती है। जो मांस नहीं खाते, उनके शरीर तथा स्वास्थ्यको कायम रखनेका साधन तो एकमात्र दूध ही है, दूध भैंस, गाय तथा बकरी, भेड़ इत्यादि पशुओंका भी होता है; पर स्वास्थ्यकी दृष्टिसे गायका दूध ही सबसे अच्छा होता है। दूधके अतिरिक्त गायसे ही बैल होते हैं; इसलिये गायके दूधकी प्रधानता है। संसारके प्रायः सभी देशोंमें गायका ही दूध होता है। भैंस तो वहाँ हैं ही नहीं, या कहीं हैं तो नाममात्रको। गायोंकी संख्या तथा दूध देनेकी शक्ति कम होनेके कारण हमारे देशके नवयुवकोंको तो क्या, बच्चोंको भी पूरा दूध नहीं मिलता। छाछकी भी कमी है। दूध कम पीने या न पीनेके कारण शरीरमें रोगोंको रोकनेकी शक्ति नहीं रहती। कमजोरीके कारण भाँति-भाँतिकी बीमारियाँ कष्ट देती तथा मृत्युके मुखमें डालती रहती हैं। दिनोंदिन तपेदिक, संग्रहणी, जिगर बढ़ना इत्यादि रोग बढ़ रहे हैं। एक बुखार ही लाखों आदमियोंको सालाना कालके गालमें पहुँचा देता है। कलकत्ता हाईकोर्टके जज सरजॉन उडरफ महोदयने गो-दूधकी कमीके कारण केवल तपेदिककी बाबत लिखा है कि १९०२ में तपेदिकके ३८४३५ रोगी रजिस्टर हुए थे, १९१९ में बढ़कर उनकी संख्या १००१९२ हो गयी। कोई घर नहीं, जिसमें किसी-न-किसी रोगका रोगी नहीं। दूसरे देशोंकी अपेक्षा हमारे यहाँ मृत्यु-संख्या भी अधिक तथा आयु कम होती जा रही है, जैसे कि नीचेके अङ्कोंसे प्रकट है—

प्रतिवर्ष एक हजार आदमियोंपर मृत्यु-संख्या—

देश	एक सालकी कम आयुके बालक	कुल मनुष्य
भारतवर्ष	२६१	३८
जापान	०	२१
इंगलैंड	१७२	१७
डेनमार्क	१३६	१५
न्यूजीलैंड	३२	९

दूध न मिलने या कम मिलनेके कारण हमारे देशमें संसारके सब देशोंसे अधिक मृत्युसंख्या है। उम्र भी कम होती जा रही हैं। 'आयुर्वै घृतम्' घी आयु है, वह मिलना दुर्लभ हो गया है।

जब इस देशके लोगोंको काफी घी-दूध मिलता था तब आयु अधिक होती थी। गाँव-गाँवमें बड़े-बूढ़ोंकी संख्या अधिक थी। सौ वर्ष पहले ही हमारे देशमें प्रति मनुष्य आयुकी औसत ४० वर्षसे अधिक थी, पर आज २३ सालसे भी कम रह गयी। जब कि संसारके लोगोंकी औसत आयु हमसे कहीं अधिक है, जैसे इंगलैंड ५३ वर्ष, जापान ४४ वर्ष। हमारे देशमें भी जिन इलाकोंमें अब भी कुछ अच्छी गायें हैं, जहाँ कुछ अधिक घी-दूध होता है, वहाँके लोग अन्य प्रान्तोंकी अपेक्षा अधिक बलवान् तथा स्वस्थ होते हैं। सरकारी दूध-रिपोर्टके पृ० ५६ पर लिखा है कि सिन्ध, पंजाब, राजपूताना, मध्यभारतकी रियासतें, काठियावाड़; गुजरात तथा युक्तप्रदेशमें देशकी कुल जन-संख्याके ४२ प्रतिशत आदमी बसते हैं। पर यहाँ देशके कुल दूधकी पैदावारका ७४ प्रति सैकड़ा दूध होता है। बम्बई; मध्यप्रदेश, हैदराबाद, मद्रास, मैसूर और दक्षिणी भारतकी अन्य रियासतोंमें देशकी कुल जन-संख्याके ३७ प्रतिशत आदमी बसते तथा दूध केवल १७ प्रतिशत होता है। बंगाल और आसाममें १८ प्रतिशत आदमी बसते हैं तथा दूध ६ प्रतिशत होता है। सिन्ध, पंजाब, राजपूताना इत्यादिमें जहाँ अधिक दूध होता है, लोग देशके दूसरे प्रान्तोंकी अपेक्षा अधिक स्वस्थ तथा बलवान् हैं। यह सिद्ध है कि इस देशके लोगोंकी शक्ति तथा स्वास्थ्यका एकमात्र आधार दूध है और दूध

गायसे मिलता है । गायोंकी जितनी उन्नति होगी, देशके लोगोंका स्वास्थ्य, शक्ति तथा आयु उतनी ही अधिक बढ़ेगी ।

दूसरे देशोंके अधिकांश लोगोंका आधार खेती नहीं, उनकी प्रधान आजीविका दस्तकारी है । इंगलैंडके केवल २० और जर्मनीके ३५ आदमियोंका खेतीपर निर्वाह है, पर हमारे देशके सौमें ८५ के करीब आदमियोंका निर्वाह खेतीके सहारे है । अन्य देशोंमें घोड़ों तथा मशीनोंसे खेती होती है; पर हमारे देशमें खेतीका आधार बैल ही है । बैलोंकी शक्ति कम होती जा रही है । संख्या भी इतनी नहीं कि जिसमें अच्छी तरह खेती की जा सके । सन् १९४० के अङ्क नहीं मिले, पर सरकारी संख्या-रिपोर्ट १९३१ के अनुसार ब्रिटिश भारतमें २२९११५२३६ एकड़ (एक एकड़ ४।। बीघे कच्चे) में खेती बोयी गयी । १५४०१६७२६ एकड़ जमीन, जो खेतीके योग्य थी, पड़ी रही । कुल ३८ करोड़ एकड़ जमीन, खेतीके लिये थी । इन दस सालोंमें हवेलीयल प्रोजैक्ट तथा शारदा नहरके कारण और भी खेती बढ़ी होगी । पर १९४० की सरकारी पशुगणनाके अनुसार इसमें खेती करनेके लिये भी काफी बैल नहीं । बैलों, ऊँटों, भैंसोंके कुल हलोंकी संख्या १९४० में १८७३९०४८ है । देशके अधिकांश भागोंमें केवल हिसारकी तरह एक सौ बीघे कच्चे जमीन खेती करनेकी शक्ति नहीं । वहाँकी जमीन सख्त भी है । वहाँके कमजोर बैलोंकी शक्ति तथा सख्त जमीन इत्यादि बातोंका विचार करते हुए प्रतिहल १० एकड़ या ४७।। बीघे कच्चेसे अधिक अच्छी तरह खेती नहीं की जा सकती । ब्रिटिश भारतकी कुल खेतीके लायक जमीनके लिये तीन करोड़, अस्सी लाख हल चाहिये । पर हैं एक करोड़, सतासी लाख । अनुमान दो करोड़ हलों या चार करोड़ बैलोंकी कमी है । बीज बोनेसे पहले जितनी बार हल चलाकर जमीनका जोतना जरूरी है, बैलोंकी शक्ति कम होनेके कारण वह नहीं हो पाता । जमीनकी पूरी पैदावार नहीं मिलती । कुएँ और रहट चलानेके लिये भी काफी बैल नहीं । बैलोंकी कमीके कारण जमीनसे उतनी पैदावार नहीं मिलती, जितनी मिलनी चाहिये । जब गाय ही कम होती जा रही हैं तो काफी तथा अच्छे बैल कहाँसे मिलेंगे ! जिन दिनों खेतीके लिये काफी तथा अच्छे बैल मिलते थे, ठीक तरहपर खेती होती थी । तब इस देशके लोग इतना अधिक अन्न पैदा करते थे, जो उनके लिये ही काफी नहीं होता, अन्यान्य देशोंके लोगोंका पेट भी भरता था । पर आज अन्नकी कमीके कारण इसी देशके लाखों मनुष्य भूखों मरते हैं । अन्यान्य देशोंने दूधके लिये गायोंकी संख्या तथा शक्ति बढ़ानेका यत्न किया, पर हमारे अभागे देशमें न काफी संख्या है, न दूध देनेकी शक्ति और न खेतीके लिये काफी और बलवान् बैल ही । जिन देशोंमें जमीन-जुताई तथा खादका ठीक प्रबन्ध है, वहाँ अन्न हमसे बहुत अधिक उत्पन्न होता है—जैसे बैलजियममें प्रतिएकड़ ३८ मन, डेनमार्कमें ३६ मन, जर्मनीमें ३३ मन, इंगलैण्डमें ३२ मन, फ्रांसमें २० मन; पर हमारे अभागे भारतवर्षमें ८।। मन ही ।

हिंदू, बौद्ध, जैन तथा मुस्लिम समयमें गायोंकी हालत

गायकी इन्हीं दिनोंमें बुरी हालत हुई है या पहले भी ऐसी ही थी ? इस प्रश्नका उत्तर प्राचीन पुस्तकोंमें तथा इस समयके अंग्रेज और दूसरे लेखकोंद्वारा दिया गया है । मुस्लिम समयतक गायका असाधारण महत्त्व था । हिंदुओंके ईश्वरीय अपौरुषेय ग्रन्थ वेद हैं—वेदोंमें गाय और बैलकी प्रशंसा और उपयोगिताके मन्त्र भरे हैं । ऋग्वेदमें कहा है—

गौर्मे माता वृषभः पिता मे दिवं शर्म जगती मे प्रतिष्ठा ।

गाय मेरी माता और साँड़ मेरा पिता है । ये मुझे इस संसार और स्वर्गका सुख प्रदान करें ।

आ गावो अग्मन्नुत भद्रमक्रन्त्सीदन्तु गोष्ठे रणयन्त्वस्मे ।
प्रजावतीः पुरुरूपा इह स्युरिन्द्राय पूर्वीरुषसो दुहानाः ॥
(ऋ० ६ । २८ । १)

विविध रंगोंकी गायें हमारे घरोंमें आकर हमारा सब प्रकारका कल्याण करें तथा हमारी गोशालामें बैठकर सुखसे रहें । वे बहुत-से बछड़े-बछड़ी उत्पन्न करें और यज्ञादि कर्मोंके लिये सदा दूध देती रहें ।

यूयं गावो मेदयथा कृशं चिदश्रीरं चित्कृणुथा सुप्रतीकम् ।
भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो बृहद्वो वय उच्यते सभासु ॥
(ऋ० ६ । २८ । ६)

गौओ ! तुम दुबलों-पतलोंको मोटा बना दो । कुरूप और कुलक्षणको भी सुरूप एवं सुलक्षण बना दो । अपने मङ्गलमय रम्भारवसे हमारे घरको भी मङ्गलमय बना दो ।

बड़े-बड़े यज्ञोंमें लोग तुम्हें बहुत-सा अन्न और चारा आदि देकर प्रसन्न करते हैं ।*

प्रजापतिर्मह्यमेता रराणो विश्वैर्देवैः पितृभिः संविदानः ।
शिवाः सतीरुप नो गोष्ठमाकस्तासां वयं प्रजया सं सदेम ॥
(ऋ० १० । १६९ । ४)

प्रजापति हमलोगोंको गायें दें और सारे देवताओं तथा पितरोंसे एकमत होकर हमारी गोशालाके समीप कल्याणमयी गौओंको उपस्थित करें । जिससे हम उनके और उनके बछड़े-बछड़ियोंके साथ हमारा प्रेम और ममताका व्यवहार हो—उन्हें पाकर हम सुखी हों ।

महाभारतको पाँचवाँ वेद कहते हैं । उसमें तो गायोंकी महिमा, महत्ता और उपादेयतापर अध्यायों-के-अध्याय लिखे गये हैं । कुछ वचन देखिये—महर्षि च्यवन महाराज नहुषसे कहते हैं—

गोभिस्तुल्यं न पश्यामि धनं किञ्चिदिहाच्युत ॥
(अनु० ५१ । २६)

राजन् ! मैं इस पृथ्वीमें गायके समान और कोई भी धन नहीं देखता ।

गावो लक्ष्म्याः सदा मूलं गोषु पाप्मा न विद्यते ।
अन्नमेव सदा गावो देवानां परमं हविः ॥
अमृतं ह्यव्ययं दिव्यं क्षरन्ति च वहन्ति च ।
अमृतायतनं चैताः सर्वलोकनमस्कृताः ॥
गावः कामदुहो देव्यो नान्यत् किञ्चित् परं स्मृतम् ॥
(अनु० ५१ । २८, ३०, ३३)

लक्ष्मीकी मूल सदा-सर्वदा गाय ही है । गायोंमें कोई भी पाप नहीं है । गायें सदा मनुष्योंको अन्न और देवताओंको श्रेष्ठ हवि देती हैं । गाय नित्य ही अमृत धारण करती, झरती और दूहनेपर बहाती हैं । वे अमृतकी भण्डार हैं । इसीलिये सब लोग उन्हें नमस्कार करते हैं । गायें समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाली देवी हैं । उनसे श्रेष्ठ और कुछ भी नहीं है ।

महात्मा भीष्मपितामहके महाराज युधिष्ठिरके प्रति वचन हैं—

पयसा हविषा दध्ना शकृता चाथ चर्मणा ।
अस्थिभिश्चोपकुर्वन्ति शृङ्गैर्वालैश्च भारत ॥
नासां शीतातपौ स्यातां सदैताः कर्म कुर्वते ।
न वर्षविषयं वापि दुःखमासां भवत्युत ॥
(अ० ६६ । ३९, ४१)

युधिष्ठिर ! गायें जीते-जी दूध, दही एवं घीसे—यहाँतक कि अपने गोबरसे भी और मरनेके बाद अपने चमड़े, हड्डियों, सींगों तथा रोओंतकसे हमारा उपकार करती हैं । वे सर्दी-गर्मीकी परवा न करके सदा हमारा काम ही करती रहती हैं—यहाँतक कि उन्हें वर्षासे भी कोई कष्ट नहीं होता ।

गावो लोकांस्तारयन्ति क्षरन्त्यो
गावश्चान्नं संजनयन्ति लोके ।
(७१ । ५२)

गायें दूध देकर मनुष्योंको अनेक कष्टोंसे उबारती हैं । गायें ही अपने पुत्र बैलोंके द्वारा पृथ्वीमें अन्न उत्पन्न करती हैं ।

प्राप्त्या पुष्ट्या लोकसंरक्षणेन
गावस्तुल्याः सूर्यपादैः पृथिव्याम् ॥
(७१ । ५४)

गायें पृथ्वीपर सूर्यकी किरणोंकी भाँति मनुष्योंको अभीष्ट वस्तु प्रदान करती हैं, उनका पोषण करती हैं तथा समस्त जगत्की रक्षा करती हैं ।

मातरः सर्वभूतानां गावः सर्वसुखप्रदाः ।
वृद्धिमाकाङ्क्षता नित्यं गावः कार्याः प्रदक्षिणाः ॥
… … … … … … … … … ।
मङ्गलायतनं देव्यस्तस्मात्पूज्याः सदैव हि ॥
(६९ । ७-८)

गायें सम्पूर्ण जीवोंकी माता हैं, वे उन्हें सब प्रकारके सुख देती हैं । जो मनुष्य अपना अभ्युदय चाहता हो, उसे नित्य गौओंकी प्रदक्षिणा करनी चाहिये तथा सदा उनके अनुकूल आचरण करना चाहिये ।………गायें सम्पूर्ण मङ्गलोंकी खान हैं, उनका सदा देवताओंकी भाँति पूजन करना चाहिये ।

ऊर्जस्विन्य ऊर्जमेधाश्च यज्ञे
गर्भोऽमृतस्य जगतोऽस्य प्रतिष्ठा ।
क्षिते रोहः प्रवहः शश्वदेव…………॥
(७६ । १०)

गायें हमारा बल एवं उत्साह बढ़ानेवाली, प्रज्ञावर्धिनी,

---

* यह मन्त्र अथर्ववेदमें भी पाया जाता है ।

यज्ञमें यज्ञ-साधन घृतरूप अमृतको उत्पन्न करनेवाली तथा सम्पूर्ण जगत्की आधारभूता हैं। वे अपने गोबरद्वारा पृथ्वीको उपजाऊ बनाती हैं तथा जगत्में सुख-शान्तिकी धारा बहाती हैं।

इमाँल्लोकान् भरिष्यन्ति हविषा प्रस्नवेण च।
आसामैश्वर्यमिच्छन्ति सर्वेऽमृतमयं शुभम्॥
(७७। २६, २७)

गायें दूध एवं घीसे मनुष्योंका भरण-पोषण करेंगी—इस आशासे सभी लोग इनकी वृद्धि चाहते हैं; क्योंकि इनकी वृद्धिसे ही हमारा कल्याण होता है तथा हमें अमृततुल्य घीकी प्राप्ति होती है।

गावः प्रतिष्ठा भूतानां गावः स्वस्त्ययनं महत्।
गावो सूतं च भव्यं च गावः पुष्टिः सनातनी॥
गावो लक्ष्म्यास्तथा मूलं गोषु दत्तं न नश्यति।
....।
गावो यज्ञस्य हि फलं गोषु यज्ञाः प्रतिष्ठिताः।
(७७। ५। ६, ८)

गायें ही सम्पूर्ण जीवोंकी आधारभूता हैं, वे हमारे लिये महान् मङ्गलकी खान हैं। जितने जीव पहले हो चुके हैं तथा जो आगे होनेवाले हैं, उन सबका जीवन गायें ही हैं। गायें ही सदा हमारा पोषण करती हैं। गायें ही ऐश्वर्यकी जड़ हैं, गौओंके निमित्त, उनकी रक्षाके लिये दिया हुआ दान अक्षय हो जाता है, वह कभी निष्फल नहीं जाता। यज्ञके फलरूपमें गायोंकी वृद्धि होती है और यज्ञ गायोंपर ही निर्भर करते हैं।

पितामह ब्रह्माजी देवराज इन्द्रसे कहते हैं—

धारयन्ति प्रजाश्चैव पयसा हविषा तथा।
एतासां तनयाश्चापि कृषियोगमुपासते॥
जनयन्ति च धान्यानि बीजानि विविधानि च।
ततो यज्ञाः प्रवर्तन्ते हव्यं कव्यं च सर्वशः॥
पयो दधि घृतं चैव पुण्याश्चैताः सुराधिप।
वहन्ति विविधान् भारान् क्षुत्तृष्णापरिपीडिताः।
मुनींश्च धारयन्तीह प्रजाश्चैवापि कर्मणा॥
(अनु० ८३। १८—२१)

गायें दूध और घीसे प्रजाको जीवनदान देती रहती हैं। इनके पुत्र बैल भी खेतीके भिन्न-भिन्न कार्योंको चलाते हैं और नाना प्रकारके अनाज तथा खाद्य पदार्थोंको उत्पन्न करते हैं। उन्हींसे यज्ञ सम्पन्न होते हैं तथा दूध, दही, घी आदि देवकर्म और पितृकर्मके लिये उपयोगी सामग्रियाँ प्राप्त होती हैं। देवराज! ये गायें बड़ी पवित्र हैं। ये तथा इनके पुत्र बैल भूख-प्याससे पीड़ित रहकर भी हमारे भारोंको ढोते हैं और अपनी सेवाओंसे मुनियोंका तथा सारी प्रजाका पालन-पोषण करते हैं।

विक्रयार्थं हि यो हिंस्याद्भक्षयेद्वा निरंकुशः।
घातयानं हि पुरुषं येऽनुमन्येयुरर्थिनः॥
घातकः खादको वापि तथा यश्चानुमन्यते।
यावन्ति तस्या रोमाणि तावद्वर्षाणि मज्जति॥
(अनु० ७४। ३-४)

जो मनुष्य (गाय या उसके शरीरसे बनी हुई चीजें) बेचनेके लिये गायकी हिंसा करता है, जो निरङ्कुश होकर खाता है और जो धनके लोभसे इनका अनुमोदन करते हैं। वह गायको मारनेवाला, खानेवाला और गोहत्याका अनुमोदन करनेवाला—ये सभी गायके शरीरमें जितने रोम होते हैं, उतने वर्षोंतक नरकमें पचते रहते हैं।

अर्जुनने गोरक्षाके लिये बारह वर्ष वनके कष्ट सहे, राजा दुर्योधन, विराट और नन्दके पास हजारों-लाखों गायें थीं जिनकी वर्षमें गिनती होती। बड़े-बड़े राजा भी गायोंकी उन्नति तथा इलाजके तरीके जानते थे। सहदेवजी जब विराटके यहाँ भेष बदलकर रहे तब उन्होंने कहा था, 'राजन्! मैं साँड़ोंके अच्छे लक्षण जानता हूँ, जिनका मूत्र सूँघनेसे ही बाझ गाय बच्चा पैदा कर देती है।' गाय किसी मूल्यपर भी देनेका रिवाज न था। महर्षि जमदग्निने सहस्रार्जुनको गाय नहीं दी, पर प्राण दे दिये; महर्षि वशिष्ठने अनेक कष्ट उठाये पर विश्वामित्रको गाय न दी। गायके मुकाबलेकी कोई चीज नहीं, कहा है कि 'धनं तु गोधनं धान्यं स्वर्णादीनि वृथैव हि' गाय और अनाज दो ही धन हैं, सोना आदि तो व्यर्थ है। महाराजा दिलीपने नन्दिनी गौकी सेवाके लिये अपने राजपाट तथा प्राणोंतककी परवा न की। भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं गायोंको चराया।

हिंदुओंके गोत्र उन्हीं महापुरुषोंके नामपर चले, जिन्होंने गायकी रक्षा की। आर्य शब्द तो बना ही है गायके सम्बन्धसे। हिंदुओंकी बड़ी संख्या गायके शरीरमें देवताओंका निवास तथा बैलके सींगपर पृथ्वीका भार मानती है। हिंदू-समयमें गायोंका बड़ा महत्त्व रहा।

महात्मा बुद्धने कहा है 'जिस प्रकार माँ, बाप, भाई और मित्र हैं, इसी प्रकार गाय हमारी परम मित्र है जिसमें मृतसंजीवनी ओषधियाँ मिलती हैं। देव, पितर, इन्द्र, असुर, राक्षस सभी गायकी विपत्ति देखकर बोल उठे यह तो महान् अधर्म है। पहले तीन रोग थे—इच्छा, भूख तथा बुढ़ापा पर पशुको मारना शुरू किया इस लिये ९८ रोग हो गये।'

भगवान् बुद्धके समय गायें इतनी अधिक थीं कि बुद्ध महाराजके शिष्य धनञ्जय सेठने अपनी पुत्री विशाखाके विवाहमें तीन कोस लंबी तथा एक सौ चालीस हाथ चौड़ी जगहमें जितनी गायें आ सकती थीं, दहेजमें दे दी; जिसमें लाखों गायें थीं।

जैनधर्मके चौवीसवें तथा अन्तिम तीर्थङ्कर श्रीमहावीर स्वामीके दस मुख्य उपासकोंमेंसे राजग्रहीके महाशतक और बाराणसीके चूलनी पिताके पास अस्सी-अस्सी हजार गायें थीं। चम्पाके कामदेव, वाराणसीके सुदिव, काम्पिल्यके कुण्ड और मैलिक तथा आलफियाके चूल शतकके पास साठ-साठ हजार, वाणिया ग्रामके आनन्द श्रावस्तीके नन्दिनी पिता तथा शालिनी पिताके पास चालीस-चालीस हजार गायें थीं। आनन्दश्रावकने महावीर स्वामीके पास जब श्रावकव्रत लिया, तब उसके परिग्रह परिमाणमें उसका गोधन ही चालीस हजार गायोंका माना गया था।

मुसलमानोंके समयमें भी गायोंकी कुछ अच्छी हालत रही। सन् १२९७ के निकट जब इलाउद्दीन खिलजीका शासन था, जो अच्छा नहीं कहलाया; फिर भी, उस समय गायोंकी अधिकताके कारण एक पैसेका १४॥ छटांक या एक रुपयेका एक मन अठारह सेर मक्खन बिकता था। गेहूँ एक पैसेके दो सेर आते थे, जैसा कि बरणीने तारीखे-फिरोजशाहमें लिखा है। कितने ही मुसल्मान बादशाहोंके समय गो-हत्या कतई बंद रही। भोपालके पुस्तकालयमें प्रसिद्ध मुगल बादशाह बाबरका एक फरमान मौजूद है जो बादशाहने अपनी औलादको लिखा है। 'तुमको चाहिये कि अपने हृदयको धार्मिक पक्षपातसे रहित करके प्रत्येक धर्मके नियमके अनुसार इनका न्याय करो और विशेषकर गो-हत्यासे परहेज करो।' अकबर बादशाहने तारीख जिलहिज सन् ३१ शाहीको एक फरमान जारी करते हुए आज्ञा दी कि—"सब पशु ईश्वरके बनाये हुए हैं और सबसे एक-न-एक लाभ होता है। इन सबमें गायकी जाति, चाहे वह मादा हो या नर, असंख्य लाभ देनेवाली है; क्योंकि मनुष्य सब अन्न खाकर जीते हैं। अनाज बिना खेती किये पैदा नहीं हो सकता। खेती हल चलानेसे ही हो सकती है और हलोंका चलाना बैलोंपर ही निर्भर है। इससे स्पष्ट है कि सब संसार और मनुष्यों तथा पशुओंके जीवनका आधार यह गो-जाति है। इसलिये हमारे साम्राज्यमें गोहत्याकी रस्म बिल्कुल न रहे।" मोहम्मदशाह और जहाँगीरने भी गो-हत्या बंद करनेके फरमान निकाले। शाहआलमने १३ जीहलहजा ३१ मोल्लाको फरमान निकाला कि 'गाय और बैल बेशुमार फायदा और लाभ रखते हैं। मनुष्य और पशुओंका जीवन अन्न, घास और चारेपर निर्भर है और ये दोनों चीजें खेतीके बिना मिल नहीं सकतीं। खेती गाय-बैलके बिना कठिन है। बस, गाय-बैलपर संसारकी जनसंख्या और मनुष्यका जीवन निर्भर है। इस बातको ध्यानमें रखकर मेरे अधीन साम्राज्यमें गोहत्याका रिवाज बिल्कुल न हो और वह सर्वथा मिटा दिया जाय।' इन फर्मानोंके पालनके सबूतमें प्रसिद्ध इतिहासकार सर विलियम हंटर महोदयने लिखा है कि मुगलराज्यके दो सौ सालमें भारतमें गो-वध नहीं हुआ।' मि० विन्सैण्ट स्मिथ साहेब 'भारतके प्राचीन इतिहास' नामक पुस्तकमें लिखते हैं कि 'अकबरने अपने बड़े साम्राज्यमें गो-वध करनेवालोंके लिये प्राणदण्डकी व्यवस्था की थी। पहलेके बड़े-बड़े बादशाहोंने ही नहीं, अठारहवीं शताब्दीमें ही मैसूरके नवाब टीपू सुलतानने बड़ी कोशिश करके वहाँकी प्रसिद्ध गायों नस्ल 'अमृतमहल' को कायम रक्खा तथा उन्नत किया। 'अमृतमहल' नाम रक्खा।

यह ठीक है कि कुछ मुसलमान बादशाहोंके समय गो-हत्या होती रही, पर बहुत ही कम। अबकी तरह बढ़ी हुई व्यापारिक हत्या नहीं होती थी। गायोंकी अधिकता तथा अच्छाईके कारण मुसलमानोंके समयमें दूध-घीकी अधिकता रही, जिसके कारण मुस्लिम राज्यकालके अन्तिम दिनोंमें भी एक रुपयेका ४५ सेर दूध तथा एक रुपयेमें १०॥ सेर घी मिलता था। इतिहास तथा हालातसे यह सिद्ध होता है कि मुसलमान बादशाहोंके समय आजकी अपेक्षा गायोंकी संख्या और हालत कई गुना अधिक तथा अच्छी थी।

गोवंशको नुकसान क्यों पहुँचा ?

जबतक हमारे जीवनसे जीवित गायका ही सम्बन्ध रहा तथा गायोंको चरनेके लिये जमीन खाली मिलती रही, तब-तक गोवंशको नुकसान नहीं पहुँचा पर जब हमारे नित्यके

काममें अपने-आप मरी हुई नहीं, कसाईद्वारा मारी हुई गायके चमड़े, चर्बी, खून और हड्डीका ब्यापार बढ़ा। मारी हुई गायका मूल्य जीवित गायसे अधिक हो गया। वनस्पति घी, दूध, पाउडर तथा मक्खन निकले, सप्रेटेका प्रभाव पड़ा। घरेलू दस्तकारियोंके बरबाद होने तथा अफीम, चाय, तम्बाकू आदिकी बढ़ी हुई खेतीसे गोचरभूमि रुक गयी। सरकारी जंगल-विभागकी नीतिसे गायोंका खुला चरना रोक दिया गया। देशके पढ़े-लिखे तथा समझदार कहलानेवाले लोगोंने और सरकारने गायकी परवा न की। तबसे गायको नुकसान पहुँचना शुरू हुआ। १५० वर्ष पहलेतक हमारे भोजन-वस्त्र तथा नित्य व्यवहारकी कोई चीज ऐसी न थी जिसके लिये मारी हुई गायोंके चमड़े इत्यादिकी जरूरत पड़े, यहाँतक कि किसी समय खड़ाऊका तो आम रिवाज था ही, जूते भी मूँजके बनते थे, जैसे कि व्याकरण-ग्रन्थ अष्टाध्यायीके 'ऋषभोपानहोर्ञ्यः' (५-१-१४) सूत्रसे 'औपानह्यः मुञ्जः' (मुञ्जका जूता) पदकी सिद्धि की गयी है। व्याकरण प्रायः उन्हीं शब्दोंको बताता है जिनका सर्वसाधारणमें रिवाज हो। जब जूतेतकके लिये चमड़ेका व्यवहार नहीं था तो खून, चर्बी इत्यादिका उपयोग कहाँ? चमड़ा भी अपने-आप मरी हुई गायका ही काममें लाया जाता। पर आज तो चमड़ा सिरतक पहुँच गया। सभ्य कहलानेवाले लोगोंका कोई ऐसा घर न होगा जहाँ दर्जनों जूते और सूटकेस, अटैचीकैस आदि न हों। जहाँ मनों चमड़ा मोटरकार, घोड़ागाड़ीके सामानमें न लगा हो। भारतसरकारकी खाल रिपोर्ट १९४३के पृष्ठ ५० के अनुसार यहाँ सालाना गायकी २ करोड़ १० हजार खालें तैयार होती हैं, जिनमेंसे ५२ लाख ७० हजार कसाईखानोंमें मारी हुई गायोंकी हैं। यह सरकारी अङ्क हैं। जो गायें बिना लाइसैन्सके कसाईखानों या घरोंमें मारी जाती हैं, वे इनमें शामिल नहीं हैं। उन्हें शामिल कर लिया जाय तो यह संख्या और भी बहुत अधिक हो जाती है। इसके अतिरिक्त ५७ लाख १० हजार भैंसोंकी खालें होती हैं, जिनमेंसे १३ लाख ३० हजार कसाइयोंद्वारा मारी हुई हैं; सरकारी हिसाबसे सालाना २५७२०००० खालें तैयार होती हैं, जिनका मूल्य इस समय छः करोड़ रुपये हैं। इन सबकी हमारे देशके लिये जरूरत नहीं। १०३४४००० खालें, जिनका मूल्य ४ करोड़ २५ लाख है, अन्य देशोंमें भेजी जाती हैं, सिर्फ १ करोड़ ६० लाख रुपयेकी यहाँ काम आती है। इस रिपोर्टके पृ० ३८ पर लिखा है कि सन् १९२३-२४ में बछड़ोंकी आठ लाख खालें बाहर गयीं। सरकारी खाल-रिपोर्टके पृ० २८ पर लिखा है कि भारतीय खालें बाहर भेजनेका काम सबसे पहले सन् १६४४ में शुरू हुआ, सन् १८३० तक मामूली रहा। केवल एक लाख खालें ही बाहर गयीं, पर १८५० से खालें बाहर भेजनेका व्यापार तेजीसे बढ़ा; इसी साल बंगालसे ४४ लाख खालें बाहर भेजी गयीं। पृ० ५८ पर लिखा है कि इन दिनों गायकी हलकी खालोंको देनेवाला सबसे बड़ा देश भारतवर्ष ही है। भैंसकी खालें प्राप्त करनेका तो यही एकमात्र साधन है। हमारे देशमें गाय यहाँकी चमड़ेकी बढ़ी हुई आवश्यकताके लिये ही नहीं, विदेशोंको चमड़ा भेजनेके लिये भी मारी जाती है।* चमड़ेके अतिरिक्त गायकी हड्डी, चर्बी, मांस, खून, सींगें तथा खुरोंकी भी कम माँग नहीं हैं। हड्डी, खुर तथा सींग प्रायः खादके काम आते हैं, मारी हुई गायके अन्य भागोंसे सरेस, कुनैन तथा अन्य दवाईकी गोलियोंको वेपवाद बनानेके लिये सामान, अनेकों दवाइयों तथा फोयेके लिये जैलटीन, पेपसीन, दवाई तथा पनीर तैयार करनेकी रैनट नामकी चीज गायकी आँतसे तैयार होती है। चीनी साफ करनेकी चीजें तथा प्रसियन ब्लू नाम स्याही बनती है। मोमबत्तियोंके अतिरिक्त लाखों मन चर्बी कपड़ेमें माँड़ी देनेके काममें आती हैं। 'गोरक्षा-कल्पतरु' पुस्तक (जिसकी भूमिका महात्मा गाँधीजीने लिखी है) के

---

* 'विश्वबन्धु' लाहौर ता० १० अप्रैल १९४४ में छपा है कि सन् १९३९ में रोसनलाल आनन्द एम० ए० से महकमा इन्डस्ट्रीके डाइरेक्टरके आज्ञानुसार पञ्जाबमें चमड़ेके रँगनेके कारबारपर एक रिपोर्ट लिखी है। जिसमें लिखा है कि जिस प्रकार भेड़ और बकरियोंके गर्भ गिराकर उनके बच्चोंकी खालोंका व्यापार जारी है, इसी प्रकार गर्भिणी गायोंको मारकर उनके पेटके बच्चोंका चमड़ा, जिसकी माँग रोज बढ़ रही है, भेजा जा रहा है। इन चमड़ोंको गोसल्ला कहते हैं। आप लिखते हैं कि यह कारबार देशके लिये भारी हानि पहुँचानेवाला है। देहलीमें एक आढ़तीकी दुकानमें मैने ८०० ऐसे बच्चोंकी खालें देखी हैं। और इस प्रकार दूसरे गोदामोंमें इससे भी कहीं अधिक होंगी। आढ़तीने यह नहीं बतलाया कि यह कहाँसे आयी हैं, परन्तु एक कसाईने बतलाया है कि उत्तम-से-उत्तम गायोंको इस प्रकार मारकर भी लाभ उठाया जा सकता है। आठ-दस सेर दूध देनेवाली गर्भवती गायको कत्ल करके भी नफा उठाया जा रहा है। जब हमने यह पैरा पढ़ा तो रोंगटे खड़े हो गये। बहुत-से आदमी इस खतरेको सुनकर बेचैन हो जाते हैं।

पृष्ठ १५ पर लिखा है कि कसाईखानोंमें लहूको पकाकर उसकी बुकनी तैयार की जाती है। वह शायद आसाममें चाय तथा काफीके खेतोंमें खादके तौरपर काममें लायी जाती है और बाकी बची हुई विदेशोंको भेजी जाती है। सन् १९२२ में २२४०० मन बुकनी सिलोन भेजी गयी। यह बुकनी यूरोपमें भी भेजी जाती है और वहाँ उससे आल्बुमन खादके पदार्थ और पोटाशियम सामनाइक बनानेका काम लिया जाता है। मांस सुखाकर बाहर भेजा जाता रहा है। यहाँ भी बहुत उसकी खपत है। चमड़े, हड्डी आदिके बढ़ते हुए खर्चके लिये दिनोंदिन गोहत्या अधिक होती जा रही है। 'सनातनधर्म-प्रतिनिधिसभा' के लेखके अनुसार पंजाबके मन्त्री सरदार बलदेवसिंहजीने एक सवालका उत्तर देते हुए पंजाबमें गो-हत्याके अङ्क इस प्रकार बतलाये हैं—

सन्	१९३९-४०	१९४१-४२	कितनी अधिक
गाय मारी गयीं	७७७७१	८८४१५	१०६४४ ,,
बैल मारे गये	६७७७	१६१८७	९४१० ,,

दो सालोंमें ही पंजाबमें २० हजार अधिक गाय, बैल मारे गये, चमड़े, चर्बी आदिकी बढ़ी हुई खपतसे तो जीवितकी अपेक्षा मारी हुई गायका मूल्य अधिक बढ़ा। वनस्पति घी, दूध, पाउडर और कच्चे दूधसे मक्खन निकालकर बेच सप्रेटेके प्रचार और व्यवहारने भी जीवित गायकी जरूरत और मूल्य कम कर दिया। वनस्पति घी आदिकी मिलावटने शुद्ध घी-दूधको मुकाबलेमें न ठहरने दिया। गाय रखना जब लाभदायक न रहा तो गायका रखना कठिन हो गया। महात्मा गांधीजीने 'हरिजनसेवक' पत्र जनवरी सन् १९४०में लिखा था, भारतके पशुधनकी रक्षाका सवाल एक बड़ी पेचीदगियोंसे भरी हुई आर्थिक समस्या है। इन पेचीदगियोंमेंसे एक घीकी मिलावट सदासे रही है। पिछले कुछ वर्षोंसे यह खतरा बढ़ता जा रहा है। इसका कारण देशमें सस्ते वनस्पति तेलका आना है। असली घी बाजारसे जाता रहा तो गाड़ी और हल चलानेके लिये पशुओंकी नसूल सुधारे और दूध, घीका काम किये बगैर खेतीका धंधा असम्भव हो जायगा, फिर तो पशुपालन कमाईके धंधेकी बजाय दिल बहलानेकी चीज रह जायगी।' भारतसरकारकी दूध-रिपोर्टके पृ० ५३ पर लिखा है कि वनस्पति घीके कारण शुद्ध घीके भाव नीचे गिर रहे हैं, यह वनस्पति अधिकतर मिलावटके काम आता है। शुद्ध घीकी रक्षाके लिये सरकारको मिलावट बंद करनेका सख्त कानून बनाना चाहिये। पृ० ११३ पर लिखा है। उस समय जब सरकारी तजबेंके फार्मपर दूध -)॥ सेर तथा घी एक रुपया साढ़े दस आने सेर पड़ता था, तब गाँवके दूध पैदा करनेवालेको दूधका मूल्य सवा आने सेर तथा घीके दाम एक रुपये सेर मिलते थे, इससे यह सिद्ध है कि वनस्पति घी आदिके मुकाबला होनेके कारण शुद्ध दूध, घीके पैदा करनेवालेको नुकसान पहुँचता है, जो पशुओंकी हानिका एक प्रधान कारण बनता है।

मोटर-लारियों और बोझ ढोनेके मोटर-ठेलोंने बैलगाड़ियोंके रोजगारको धक्का पहुँचाया। हल चलानेसे बचे हुए दिनोंमें बैलोंकी जो कमाई थी, जिससे बैलोंको लाभ पहुँचता था, वह न रही। बैलोंको रखनेका खर्च बढ़ा गया। यह भी एक नुकसानका कारण बन गया।

गायोंके नुकसानका तीसरा कारण गोचरभूमिकी कमी है। देश तथा विदेशके बड़े-बड़े कारखानोंसे बनी सस्ती चीजोंके मुकाबलेमें यहाँकी घरेलू देहाती दस्तकारियाँ नहीं ठहर सकीं। जो लोग दस्तकारीके द्वारा गुजारा करते थे, खेती ही उनके जीवनका एकमात्र आधार रह गया। देशमें खेतीपर गुजारा करनेवालोंकी तादाद बढ़ी। खेतीके लिये जमीन चाहिये, अतः गोचरभूमिकी जमीन भी जोत ली गयी। १५० साल पहले तो आधेसे भी कम लोग खेतीपर गुजारा करते थे। सरकारी हिसाबसे सन् १८८१ में ही ५८ प्रतिशत लोगोंका गुजारा खेतीपर था। पर आज तो १०० में ८५ से अधिक खेतीके सहारे हैं। संसारके अन्य स्वतन्त्र देशोंमें जमीनसे गुजारा करनेवालोंकी संख्या बढ़ी नहीं, वरं कम हुई है। जर्मनीमें जमीनपर निर्वाह करनेवाले १८७५ और १९१९ के बीच ६१ से ३८, तथा इंगलैंडमें १८७१ और १९२० के बीच ३८ से २० ही रह गये। जिन देशोंमें खेतीपर निर्वाह करनेवालोंकी संख्या घटी तथा दस्तकारीसे निर्वाह करनेवालोंकी बढ़ी, वहाँ तो खेती करने और पशु चरनेके लिये काफी जमीन मिली और हमारे देशमें खेतीपर निर्वाह करनेवालोंकी तादाद बढ़नेके कारण गुजारे लायक भी जमीन नहीं रह गयी। गोचरभूमिके लिये तो नाममात्र ही बची। संसारके अन्यान्य देशोंमें गोचरभूमिके लिये हमसे बहुत अधिक जमीन पड़ती है—जैसे अमेरिकामें १६ एकड़ जमीन पीछे एक एकड़, जर्मनी तथा जापानमें ६ पीछे एक २, इंगलैंड तथा न्यूजीलैंडमें ३ के पीछे १ एकड़

गोचर है, पर हमारे देशमें तो २७ एकड़पर केवल १ एकड़ ही है । अमेरिकामें प्रति पशु १२ एकड़, न्यूजीलैंडमें आठ, जापानमें ७, तथा इंगलैंडमें ३॥ एकड़ जमीन है । पर अभागे भारतमें प्रति पशु पूरा एक एकड़ भी गोचर नहीं । प्रसिद्ध इतिहासकार सर विलियम हण्टरसाहब लिखते हैं—'यहाँ खेती बढ़ती और गोचर घटता जाता है । बेचारे पशुके लिये दिन-पर-दिन मुश्किलके दिन आते जा रहे हैं । गोचर तथा पशुओंके चारेकी कमीका दूसरा बड़ा कारण उन चीजोंकी खेती है, जो यहाँके लोगोंके लिये जीवनोपयोगी नहीं। जैसे जूट, अफीम, चाय, काफी, तम्बाकू आदि । भारत-सरकारकी १९३१ की अङ्क रिपोर्टके अनुसार हमारे देशमें जूटकी खेती ३४०२२५४ एकड़, अफीम ४२५६२ एकड़, काफी ९२३४९ एकड़, चाय ७७४६८३ एकड़, तम्बाकू १११२१८३ एकड़, अन्य २५१८३ एकड़ हुई । इस अनुमानसे ५६॥ लाख एकड़में इन्हीं चीजों-जैसी जमीन ठीक करके अन्न बोया जाय तो वह ५॥ करोड़ मनसे कम न होगा, जिससे वार्षिक ५० लाख मनुष्यों और १० लाखसे अधिक गायोंके प्राण बच सकते हैं । इन चीजोंकी खपत भी प्रायः इस देशमें नहीं, बाहरके अन्य देशोंमें ही रहती है । जैसे भारतसरकारकी अङ्क रिपोर्टके अनुसार १९३०-३१ में ही २३॥ करोड़ रुपयेकी चाय, एक करोड़का तम्बाकू, ४४६ करोड़ रुपयेका जूट और २ करोड़ रुपयेकी काफी बाहर विदेशोंमें भेजी गयी ।

गो-वंशकी कमीका चौथा कारण है बड़े-बड़े शहरोंमें अच्छी गायोंका ले जाया जाना और दूध देना बंद होनेपर उनका कसाइयोंके हाथ बिककर खतम हो जाना । कलकत्ता कारपोरेशनके प्रधान मि० वेहन लिखते हैं कि कलकत्तेके ग्वाले देशकी उत्तम गायोंका सत्यानाश करते हैं । गायोंपर ऐसे जुल्म किये जाते हैं कि वे छःसे आठ मासतक दूध देनेमें पूरे तौरपर बाँझ बन जाती हैं । जो बाँझ नहीं होतीं वह कमजोरीके कारण ग्याभिन नहीं हो सकतीं । इसलिये कसाईके घर पहुँच जाती हैं । फल यह होता है कि आठ-दस वर्षतक उपकारी जीवन बितानेकी जगह ये गायें केवल दो ही वर्ष बछड़े देती हैं, जिनमेंसे एक तो अवश्य कसाईके हाथ लगता है । यह अत्याचार देशकी उत्तम गायोंपर निरन्तर होता रहता है । सरकारी दूधशालाओंके विशेषज्ञ मि० स्मिथ कहते हैं कि पिछले १५ सालोंमें इस तरह चार बड़े शहरोंमें ढाई लाख जवान गाय-भैंसोंका वध हुआ है ।

मि० आई साटिवड—"भारतमें गाय रखना" नाम पुस्तकमें लिखते हैं कि हिंदुस्तानके शहरोंमें ढोरोंकी बड़ी छिछालेदर हो रही है । ऐसी दुर्दशा संसारके किसी देशमें नहीं होती । इस कारणसे स्थिति गम्भीर हो गयी है । 'जीवदयामण्डली' बम्बईद्वारा प्रकाशित "गायका महत्त्व" नामक पुस्तक पृष्ठ ५४ पर बड़े शहरोंमें होनेवाले गोवधके अङ्क दिये हैं । कलकत्ता, जो भारतका सबसे बड़ा शहर है, यहाँ और उसके निकटवर्ती हवड़ाको मिलाकर सालाना ९६७७५ गायों और ४४४७ भैंसोंकी हत्या होती है । दूसरे दर्जेके नगर बम्बईमें सालाना ३३७२३ गाय और १३०३५ भैंसें मारी जाती हैं । हरियाने शाहीवाल तथा देशकी अन्यान्य नस्लोंकी अच्छी-से-अच्छी गायें कलकत्ते जाकर तथा अच्छी भैंसों और गायोंकी बड़ी संख्या बम्बई जाकर यों समाप्त हो जाती है । ऐसा ही हाल दूसरे बड़े-बड़े शहरोंका है । जो नगर किसी समय देशकी जनताके सम्मुख सभ्यता तथा संस्कृतिका आदर्श रखते थे वे ही आज उत्तम गायों, भैंसोंको समाप्त करनेके अड्डे बने हुए हैं ।

गायोंके नुकसानका पाँचवाँ कारण है अच्छी नस्लके साँड़ों और गायोंकी कमी या अभाव । दूधकी कमी या नस्लकी परवा न करते हुए गायका प्रायः सारा दूध निकाल लिया जाता है । बछड़े-बछड़ीको उनका अपना हक भी नहीं मिलता । कम दूध मिलनेके कारण बछड़े-बछड़ी कमजोर होते जा रहे हैं और नस्ल दिन-प्रति-दिन खराब होती जा रही है । जिन दिनों दूधकी अधिकता थी, बछड़े-बछड़ी आवश्यक दूध पीते थे और नस्ल अच्छी होती थी । हिसारके सरकारी फार्ममें जिन दिनों आजकी तरह दूधका व्यापार न था, बछड़े-बछड़ी पर्याप्त दूध पीते थे, तब यहाँकी नस्ल देशभरमें प्रसिद्ध थी । बछड़े तो इतने बलवान् होते थे कि फार्मकी दीवारको फाँद जाते थे । इसी कारण सरकारको फिरसे दीवारें ऊँची करानी पड़ी थीं । पर आज उसी फार्मके साँड उतने अच्छे नहीं हैं । दूधके न मिलने या कम मिलनेसे बछड़े-बछड़ी कमजोर हो गये । बछड़ी गाय बनकर कम दूध देती हैं और बछड़े भी अच्छे साँड तथा बलवान् बैल नहीं बनते ।

गोवंशके ह्रास या कमीका सबसे बड़ा कारण है सरकार तथा देशके पढ़े-लिखे समझदार कहलानेवाले लोगोंकी गोवंशके प्रति लापरवाही । जहाँकी सरकारने पशुओंकी

उन्नतिपर ध्यान दिया, वहाँ गायोंकी संख्या तथा दूध देनेकी शक्ति बढ़ी। उन सरकारोंने गायकी उन्नतिपर खर्च भी अधिक किया। सरकारी खाल-रिपोर्ट पृ० १७ पर लिखा है कि अमेरिका तथा अन्यान्य राज्योंने अपनी गायकी उन्नतिपर सालाना प्रतिगाय एक रुपया खर्च किया। पर भारतसरकारने सालाना प्रतिपशु खर्च किये केवल दो पैसे। अन्यान्य सरकारोंने शुद्ध घी-दूधमें नकली चीजोंकी मिलावट कड़े-कड़े कानून बनाकर बंद किया। सरकारी मूँगफली रिपोर्टमें लिखा है कि केनेडा तथा दक्षिणी अफ्रीकाकी सरकारोंने तो वनस्पति घी—जैसी चीजोंका बनना तथा बिकना कतई बंद कर दिया। डेनमार्ककी सरकारने तो जब आवश्यकता हुई, अखबारोंमें वनस्पतिके विज्ञापन छपना तथा प्रचारतक बन्द कर दिया। यहाँकी सरकार परवा करती तो गायोंकी इतनी बुरी हालत न होती। शिक्षित और समझदार लोगोंका तो गायसे मानो कोई सम्बन्ध ही नहीं रहा। भगवान् श्रीकृष्णका तो गाय चराते तथा राजा दिलीपका गायके पीछे-पीछे फिरते जरा भी महत्त्व न घटा। पर आजके समझदार शिक्षित सज्जन गाय चराना तो दूर रहा, उसकी देख-रेख रखनेसे भी नफरत करते हैं। उन्हें गायोंको चारातक डालनेमें लज्जा आती है। गायकी रक्षा और सेवा तो एक ओर रही। चमड़ा, चर्बी, हड्डी इत्यादि जिनके लिये प्रायः गायें मारी जाती हैं या चाय, काफी, वनस्पति घी, आदि चीजोंका जिनके प्रभावसे गायको नुकसान पहुँचता है, अधिक व्यवहार भी ये समझदार और शिक्षित कहलानेवाले सज्जन ही करते हैं। यदि देशके प्रभावशाली समझदार तथा शिक्षित लोग गायकी परवा करते तो आज गोवंशकी यह दुर्दशा न होती।

गोवंश कैसे बचे तथा उन्नत हो—

गायके नुकसानको देखकर देशके गोभक्त लोगोंमें गोरक्षाके कुछ विचार उत्पन्न हुए हैं। बीकानेर, जयपुर, जोधपुर, अलवर, पटियाला जींद आदि रियासतोंने अपने किसानों तथा पशुओंके लाभको दृष्टिमें रखते हुए पशुओंका अपनी रियासतसे बाहर जाना रोक दिया है। जगह-जगह गाँवोंके लोगोंने गायोंको बाहरके व्यापारियोंके हाथ न बेचनेके लिये पंचायतें कीं। हिसार तथा रोहतकके डि० बोर्डने अपने मेलोंमें दो सालसे कम आयुके बछड़ोंको बेचना बंद किया। शहरोंमें भी कुछ लोग स्वयं पास रखने लगे। सरकारने भी एक ढीला-सा कानून बनाया। ये सब ठीक हैं। इनसे कुछ-न-कुछ लाभ ही होगा, पर जबतक हम लगातार गायोंकी रक्षा तथा सेवाके कामपर न लगे रहेंगे, यह भावना भी बहुत दिन न ठहरेगी। इसलिये जरूरी है कि जो लोग धार्मिक, आर्थिक या अन्य किसी भी दृष्टिसे भी गायकी रक्षा और उन्नति चाहते हैं, वे गोरक्षाका असली काम करनेके लिये नीचे लिखी बातोंपर विचार करनेकी अवश्य कृपा करें।

(१) गोवंशकी जो संख्या आज है वह कम न हो वरं बढ़े। इसके लिये गाँव-गाँव और शहर-शहरमें पंचायतें करवाकर गायों-बछड़ोंका बाहरके व्यापारियोंके हाथ बेचना बंद किया जाय। जान-पहचानके उन्हीं ग्राहकोंको गायें बेची जायँ जो अपने घर रखें। एक बार ही पंचायत करवानेसे स्थायी लाभ न होगा, इन पंचायतोंके फैसलेपर अमल होता रहे। इसके लिये भजनमंडलियों तथा प्रचारकोंद्वारा गोरक्षा तथा व्यापारीके हाथ गाय न बेचनेका प्रचार लगातार जारी रक्खा जाय। सालमें एक बार ज़िले या इलाकेके प्रभावशाली सज्जन कई-कई गाँवोंकी किसी बड़े बीचके गाँवमें पंचायत करके लोगोंको गोरक्षाके लिये समझावें और प्रेरणा करें। पूरी कोशिश हो कि एक भी गाय या बछड़ा बाहरके व्यापारियोंको न बेचा जावे। व्यापारी जो गाय ले जायगा वह अवश्य हो कसाईखाने पहुँचेगी। पशुओंके व्यापारीके हाथ या कसाईको सीधा बेचना बराबर है। धनाढ्य लोग गायोंकी संख्या बढ़ानेके लिये स्वयं गायें रखें। अच्छी गायोंकी पूरी-पूरी कीमत दें, जिससे कि वे व्यापारी या कसाईके हाथ न जा सकें।

(२) गायोंकी केवल संख्या बढ़ानेसे ही काम न चलेगा नसल अच्छी बनानेके लिये भी पूरी-पूरी कोशिश करनी होगी। अधिक दूध देनेवाली गायों तथा बलवान् साँड और बैल मालिकके लिये नुकसान नहीं पर लाभ देनेवाले होते हैं। आज-कल तो अच्छी गायें और अच्छे बैल भी मारे जाते हैं। पर अधिकतर कम दूध देनेवाली गायें और कमजोर बछड़े ही कसाईखाने पहुँचते हैं। मद्रासमें सालाना प्रति सैकड़ा २१॥ तथा बंगालमें १६ गायें मारी जाती या मरती हैं, क्योंकि वहाँ बहुत ही कम दूधकी गाय हैं। पर पंजाबमें जहाँ अधिक दूध देनेवाली गाय हैं, प्रति सैकड़ा ८ ही मारी जाती या मरती हैं। इसलिये जरूरी है कि गायोंकी दूध देनेकी शक्ति बढ़े, बैल और साँड बलवान् हों। अच्छे साँड

रखनेका प्रचार तथा प्रबन्ध किया जाय । अच्छी नस्लके बछड़े तथा बछड़ियोंको उनकी माताओंका जितना दूध उन्हें चाहिये, पिलाया जाय । गोशालाएँ अच्छी नस्लकी गायोंका दूध उनके बच्चोंको ही पिलावें, धनवान् लोग जिस तरह स्कूल, कालेज, अस्पताल तथा अन्यान्य सेवाके कार्योंमें रुपये खर्च करते हैं, उसी तरह गायोंकी रक्षा और उन्नतिके लिये भी खर्च करें । गायोंकी नस्ल सुधारनेके लिये गोशालाओंके द्वारा या अलग स्वयं अपनी देख-रेखमें अच्छी नस्लकी गाय तथा साँड़ रखने, बछड़े तथा बछड़ियोंको पूरा दूध पिलाने, उसके बाद बचे हुए दूधको निजके व्यवहारमें लाने या बेचनेका प्रबन्ध करें । जो बछड़ी इस तरह पूरा दूध पियेगी, वह बड़ी शक्तिशालिनी होगी । ऐसी बछड़ी अच्छे साँड़से,—जो अच्छे साँड़की औलाद है और अपनी माँका पूरा दूध पी चुका है, मिलायी जायगी तो गाय बनकर अपनी माँ गायसे कम-से-कम सवाया दूध देगी और उसकी औलाद डेढ़ा दूध देगी; जैसे पहली गाय दस सेर दूध देती होगी तो उसकी बेटी साढ़े बारह सेर और पोती सोलह सेरके करीब देगी । इसी तरह आगेकी नस्लोंमें दूध बढ़ता जायगा । अन्यान्य देशोंमें भी गायोंकी दूध देनेकी शक्ति बढ़ानेके लिये नस्ल अच्छी करनेकी ही कोशिश की गयी । अमेरिकामें सन् १८५०में प्रति गाय सालाना ७१८ सेर दूध देती थी, वहाँकी सरकारने तथा लोगोंने नस्ल सुधारनेकी कोशिश की, फल यह हुआ कि सन् १९२५ में प्रति गाय सालाना दूधकी औसत २२५० सेर हो गयी । पूरा दूध पिलाकर अच्छी नस्लके जो बछड़े तैयार किये जावें, उन्हें जहाँतक हो, साँड़ ही छोड़नेका प्रबन्ध हो । गाँवके लोगोंकी अच्छी हालत हो तो वे मूल्य देकर खरीद लें, अन्यथा इलाकेमें धनाढ्य लोग उस बछड़ेको खरीदकर साँड़ छोड़ दें । उस साँड़के दाने-चारेका पूरा प्रबन्ध हो । हमारे शास्त्रोंमें लिखा है 'वृषोत्सर्गादृते नान्यत्पुण्यमस्ति महीतले' अर्थात् संसारमें साँड़ छोड़नेसे बढ़कर अन्य पुण्य नहीं है । साँड़के छोड़नेका पुण्य 'अश्वमेध यज्ञ' जैसा माना गया है । वृद्ध आदमीके मरनेपर १७ वें दिन साँड़ छोड़नेकी विशेष विधि है, जिसे 'वृषोत्सर्ग यज्ञ' कहा जाता है । पारस्कर गृह्यसूत्रके तीसरे काण्डकी नवीं कण्डिकामें अच्छे साँड़के लक्षण लिखे हैं । साँड़ बहुत अच्छा ही छोड़ना चाहिये । बहुत-से लोग वृषोत्सर्गके नामपर कमजोर बछड़ोंको छोड़ देते हैं, जिनका पुण्य नहीं, पाप होता है । इन कमजोर साँड़ोंद्वारा पैदा हुई गाय बहुत कम दूध देती तथा बैल हल चलाने, बोझा ढोनेकी शक्ति नहीं रखते । उनकी बड़ी संख्या कसाईखाने ही जाती है । इसलिये पंचायती तौरपर कमजोर साँड़ोंका छोड़ना बंद किया जाय । जो कमजोर, बूढ़े या बीमार साँड़ हों वे उचित खर्च देकर गोशालामें रखे जायँ । एक भी कमजोर साँड़ ग्याभिन होनेवाली गायोंमें न रखा जाय । अच्छे साँड़का जितना लाभ या पुण्य है, कमजोर साँड़से उतना या उससे भी अधिक नुकसान या पाप समझना चाहिये । बड़े-बड़े शहरोंको जो आज गोहत्याके अड्डे बने हुए हैं, गोरक्षाके केन्द्र बनानेके लिये गोशालाएँ या गोभक्त सज्जन दूधके व्यापारको अपने हाथमें लें और शहरके लोगोंको शुद्ध दूध देनेके लिये दुग्धशालाएँ खोलें । धनवान् या जिन लोगोंके पास साधन हों, वे निजकी गाय रक्खें । जब गाय दूधसे सूख जावें तो उन्हें शहरसे बाहर रखनेका प्रबन्ध किया जावे । जबतक गाय बच्चा न दें—वहीं रहे । सब खर्च गायका मालिक दे । गोशालाएँ अलग, यह प्रबन्ध कर सकें तो अच्छा है । शहरके लोगोंको शुद्ध दूध मिले तथा गोहत्या भी न हो; यह आवश्यक कार्य है । बरतनमें छेद हो तो उसमें जितना ही पानी डालते जाओ, कोई लाभ न होगा, इसी तरह जिन चीजों या कार्योंके लिये गोवध होता है, उनका भी जहाँतक हो सके, व्यवहार बंद करना भी अति आवश्यक है । लाखों गाय केवल चमड़े, चर्बी आदिके लिये ही मारी जाती हैं । उनका व्यवहार कभी न किया जावे । यह ठीक है जिन लोगोंको स्वार्थवश देशके लोगोंकी भलाई नहीं चाहते या जो गोहत्याको धार्मिक पाप नहीं समझते, उनकी गोहत्या बंद करनेमें हम असमर्थ हैं । पर करोड़ों पुरुष, जो गायका आर्थिक ही नहीं धार्मिक महत्व भी मानते हैं । यह गायमें देवताओंका निवास मानते हैं तथा उनके लिये मरनेपर वैतरणी पार करनेका एकमात्र सहारा गाय ही है—वे जिन चीजोंके लिये गाय मारी जाती है उनका व्यवहार तथा व्यापार न करें, चमड़ेके सामान तथा अन्यान्य चीजोंका, जिनके लिये भी गाय मारी जाती हों, उपयोग न करें । वनस्पति घी आदि जो गोवंशके नुकसानके कारण हैं, उनका व्यवहार तथा व्यापार न करें । संदेह हो कि इस चीजके लिये गाय मारी जाती हैं या नहीं, तो विशेषज्ञोंद्वारा जाँच करा ली जाय । सरकारी कानूनकी तरह धर्म तथा स्वास्थ्यका कानून संदेहका लाभ चीज व्यवहार करनेवालेको नहीं देता । जैसे हम कुत्ते या अन्य किसीके द्वारा भोजनकी चीज

जूठी होने या जहरका संदेह होनेपर नहीं खाते, इसी तरह जिन चीजोंके बारेमें हमारा यह संदेह भी हो कि इस चीजके व्यवहार-व्यापार या इस कामके करनेसे गायें मारी जाती हैं, उनका व्यवहार हमें कदापि नहीं करना चाहिये। पर जिन चीजोंमें संदेह नहीं, प्रत्यक्ष जानते हैं कि इनके तैयार करनेमें गोहत्या होती है, उनका व्यवहार तो हमें भूलकर भी कभी नहीं करना चाहिये। जैसे चमड़ा न आकाशसे गिरता है न वृक्षोंके लगता है और न पृथ्वीसे उत्पन्न होता है; चमड़ा होता ही है पशुओंसे। अच्छे-बढ़िये जूते तथा अन्य चमड़ेके सामानके लिये तो गायका चमड़ा ही आवश्यक होता है। क्रोम (Chrome) चमड़ा तो गायको खास तरीकेपर मारनेसे बनता है। काफ, लैदर या बछड़ेके चमड़ेके जूते इसी नामसे बिकते हैं। इतना होनेपर भी हमें न चमड़ेके व्यवहारसे परहेज है, न उसके व्यापारसे। जो लोग स्वयं गोहत्याका कारण बने हुए हैं, उन्हें चाहिये कि स्वयं गोहत्यारे कारणोंका व्यवहार-व्यापार तथा कार्य बंद करें। जिन-जिन चीजोंके तैयार करनेमें गोहत्या होती है या जिनसे गायोंको नुकसान पहुँचता है, उनका व्यवहार तथा व्यापार न करनेके लिये पूरा-पूरा प्रचार करना अति आवश्यक है।

पाँचवाँ तथा सबसे आवश्यक उपाय है देशके पढ़े-लिखे समझदार महानुभाव सज्जन गोरक्षा तथा गोसेवाके कामको अपनायें। देशके खेती करनेवाले तथा गोशालाओंको चलानेवाले गोभक्त, जिन्होंने इस बुरे समयमें भी कष्ट उठाकर गायोंको रक्खा, गोरक्षाकी भावना बनाये रक्खी, उनका उत्साह बढ़ाया जाय। उनके साथ मिलकर, ऐसा न हो सके तो अलग जिस तरह आज हाईस्कूल, कालेज, अस्पतालोंके चलाने तथा अनेक संस्थाओंके प्रचारपर रुपया तथा शक्ति खर्च की जाती है, उसी तरह या उससे भी अधिक धन, शक्ति तथा परिश्रम गायोंकी उन्नति तथा देशमें गोरक्षाके प्रचारपर लगाया जावे। गोवंशकी उन्नतिका कार्य देशके लिये आजके कालेज, अस्पताल आदिसे कम आवश्यक नहीं है। इन अंग्रेजी स्कूल-कालेजोंसे तो सम्भव है देशके लोगोंकी संस्कृति, सभ्यता तथा आचार-व्यवहारको लाभके बदले कुछ हानि ही पहुँचती हो। पर गायोंकी उन्नतिसे तो लाभ-ही-लाभ होगा। देशके लोगोंकी आर्थिक तथा शारीरिक अवस्था सुधरेगी, संस्कृति सभ्यता बचेगी, और सच्ची धार्मिक भावना बढ़ेगी।

गाय ही क्यों ?

गाय मनुष्यके बिना जीवित रह सकती है पर मनुष्यका जीवन तो गोवंशपर ही निर्भर करता है। इसलिये प्राचीन कालसे सब देशोंमें गायका महत्त्व रहा है। हमारे देशमें पहलेके ऋषि-मुनि महात्माओंने ही नहीं, इस समयके महापुरुषोंने भी गायके महत्त्वकी ओर लोगोंका ध्यान दिलाया। स्वामी दयानन्दजी सरस्वतीने गोरक्षाके लिये 'गो-करुणानिधि' अलग पुस्तक लिखी थी, जिसमें एक गोवंशके दिये हुए दूध तथा अन्नसे ४१०४४० मनुष्योंका पालन एक बारके भोजनसे लिखा है। गायके लाभ बतलाते हुए उन्होंने 'गोरक्षिणी सभा' कायम करनेका आदेश दिया था। वैदिक यज्ञोंका तो बड़ा आधार ही है घी-दूध-अन्नादि हविके पदार्थ, जिनके लिये गाय चाहिये। महात्मा गांधीजीने २९ जनवरी सन् १९२५ के 'यङ्गइण्डिया' में लिखा है—'मैं गोरक्षाके सवालको स्वराज्यके बराबर महत्त्वका प्रश्न ही नहीं समझता; किन्तु मेरी धारणा है कि गोरक्षाका सवाल स्वराज्यसे भी अधिक महत्त्व रखता है। जबतक हम गायको बचानेका कोई उपाय ढूँढ़ नहीं निकालते, तबतक स्वराज्यका कोई अर्थ ही न कहा जायगा। गोवध और मनुष्यवध मेरी रायमें एक ही सिक्केके दो पहलू हैं।' महात्माजीने अपने 'नवजीवन' तथा 'हरिजनसेवक' में कितने ही लेख गोरक्षाके सम्बन्धमें लिखे हैं। दिल्लीके प्रसिद्ध हकीम अजमलखाँ साहबने सन् १९१९में अखिल भारतीय 'मुस्लिमलीग' के अमृतसर अधिवेशनमें गायका महत्त्व बतलाते हुए गोरक्षाके लिये विशेष जोर दिया था तथा गोरक्षाके लिये लीगने प्रस्ताव भी पास किया था। जिन सज्जनोंको भी हमारे देशकी अवस्थाका कुछ ज्ञान था या है, जो देशकी उन्नति चाहते हैं, उन सबने गोवंशकी रक्षा तथा वृद्धिकी ओर हमारा ध्यान दिलाया है। हमारा कर्तव्य है कि गोरक्षा तथा गोसेवाके लिये कार्य करें। यदि एक साथ सारी गायोंकी रक्षा नहीं कर सकते तो जितना हो सके उतना काम करें। एक-एक बूँद मिलकर ही समुद्र भरता है। हम भी हर-एक कामको, चाहे वह छोटा हो या बड़ा; करते हुए गायके लाभको दृष्टिमें रखें तो गायको बहुत लाभ पहुँचेगा। साहस, धैर्य तथा परिश्रमसे गोसेवाके कामपर लग जावें तो अपने-आप गोसेवाका सीधा तथा सहज मार्ग निकल आयगा। जो स्वयं साहस, धैर्य तथा परिश्रमके साथ कार्यमें लगते हैं, भगवान् भी उन्हींकी सहायता करते हैं।

सेवा-कुञ्ज

(रचयिता—श्रीजगन्नाथप्रसादजी, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०)

यह छोटे-से कुंजमें छोटा-सा मन्दिर, राधिकाजीका है धाम सखे !
कलिकालके ग्रीष्म प्रचण्डमें भी, रमते हैं यहाँ घनश्याम सखे !
मन नाच उठेगा मयूर समान, जो देखो यहाँका ललाम सखे !
पर वृक्ष यहाँके कटीले सभी, नहीं कायरोंका यहाँ काम सखे !

यह काँटोंकी झाड़ियाँ हैं इसमें, चल केवल प्रेमी जनोंको मिला।
यह काँटोंकी झाड़ियाँ हैं इसमें, कल केवल प्रेमी जनोंको मिला॥
यह काँटोंकी झाड़ियाँ हैं इसमें, बल केवल प्रेमी जनोंको मिला।
यह काँटोंकी झाड़ियाँ हैं इसका, फल केवल प्रेमी जनोंको मिला॥

चिर-सेवा यहाँका प्रसाद सखे ! जिससे निधि कोई महान नहीं।
इस सेवा-निकुंजके प्रेमियोंको, चिर मुक्ति कोई वरदान नहीं॥
भगवान भी सेवा यहाँ करते, गुरुताका यहाँपर स्थान नहीं।
भगवान औ भक्तके बीच यहाँ, रह जाता कोई व्यवधान नहीं॥

यह बालक कृष्णकी क्रीड़ास्थली, लघुता ही यहाँपर सार्थक है।
यह वृक्ष औ मन्दिरकी लघुता, उसी बालपनेहीका स्मारक हैं॥
लघुता ही यहाँपर है गुरुता, लघुता ही सुमार्ग प्रदर्शक है।
लघुता ही यहाँपर नायिका है, लघुता ही यहाँपर नायक है॥

यहाँ वृक्षोंमें ऐसी उँचाई नहीं, जिसे बन्धुतासे अनजान कहें।
यहाँ मन्दिर ऐसा विशाल नहीं, जिसे दीनताका अपमान कहें॥
इसके करुणामें नहीं गुरुता, जिसे अन्तर या व्यवधान कहें।
यहाँ मानवके अपनानेका यत्न, जिसे हर भाँति महान कहें॥

निज मित्र घनिष्ठके तुल्य यहाँ, चुटकी नित काँटे लिया करते हैं।
रुकनेके लिये अनुरोध सदा, वह खींच दुकूल किया करते हैं॥
कभी प्रेम-परीक्षा लिया करते, कभी प्रेम-प्रसाद दिया करते हैं।
जिन हाथोंसे ज़ख्म किया करते, उन्हीं हाथोंसे ज़ख्म सिया करते हैं॥

इस ठौर गलेसे मिले हैं गले, इस ठौर है वाँहोंमें वाँहें पड़ीं।
विटपावलियाँ किस उत्सुकतासे, यहाँपर रासके हेतु खड़ीं॥
इन्हें रास विना कभी चैन नहीं, इनकी घनश्यामसे आँखें लड़ीं।
पर छोटीसे होंगी कभी न वड़ी, यह वालपनेपर ऐसी अड़ीं॥

तरु गूँथते फूलोंसे केश नहीं, तरु गूँथते काँटोंसे केश यहाँ।
वस एक वड़प्पनके अतिरिक्त, किसीसे नहीं कुछ द्वेष यहाँ॥
जिसने शिर ऊँचा किया जितना, उसको उतना मिला क्लेश यहाँ।
जिसने शिर नीचा किया जितना, उसका उतना ही प्रवेश यहाँ॥

ये हैं काँटे नहीं, ये हैं काँटे नहीं, पर उत्तम फूलके मूल हैं ये।
निकले थे जो गोपियोंके दिलसे, उर अन्तरके वही शूल हैं ये॥
सव ज्ञान निछावर हो जिसपर, इस जीवनकी वही भूल हैं ये।
घनश्याम-वियोगमें सूखके काँटे हुए जो अरे वही फूल हैं ये॥

इन काँटोंको तोड़के फेंको नहीं, इन्हें सींचा करो नित देकर पानी।
व्रज गोपिकाओंके अलौकिक प्रेमकी, शेष रहे अव ये ही निशानी॥
किस भाँति वे फूलसे काँटा हुईं, इसकी सुनना यदि मंजु कहानी।
इनकी लघु झाड़ियोंकी लघु छायाकी, तो कर स्वीकृत लो मेहमानी॥

हर राहीको रोकके गोपियाँ जैसे थीं पूछती श्यामका हाल सखे!
सवके गलेमें निज वाँहें ये काँटे भी देते उसी सम डाल सखे!
सवके दिलोंमें व्रजगोपियोंके चुभ जाते थे जैसे सवाल सखे!
उसी भाँति ये काँटे भी हैं चुभते, इनको नहिं यों ही दो टाल सखे!

इससे हमको यह पाठ मिला है कि प्रेममें भोग-विलास नहीं।
जहाँ ज्ञान ही ज्ञान है प्रेम नहीं, वहाँ उन्नति और विकास नहीं॥
जहाँ क्रीड़ा ही क्रीड़ा है पीड़ा नहीं, वहाँ माधवका सहवास नहीं।
जहाँ फूल ही फूल हैं शूल नहीं, वहाँ सौरभ औ मधुमास नहीं॥

गीता-तत्त्व-चिन्तन

(लेखक—श्रीशुकदेवप्रसादजी वर्मा)

यह बुद्धिवादका युग है। बुद्धिवाद आजका युगधर्म है। हम किसी भी पदार्थका जब चिन्तन करने लगते हैं तब उसके सम्बन्धके सम्पूर्ण विधि-निषेधपर विचार करते हैं। यद्यपि यह बात सर्वथा सत्य है कि संसारके एक कणका—तृणके एक अङ्गका—भी पूर्ण ज्ञान हम नहीं प्राप्त कर सकते; तथापि आज प्रायः प्रत्येक भौतिक पदार्थके सम्बन्धमें पृथक्-पृथक् शास्त्रोंकी रचना हुई है। उद्भिज्जगत्, जीव-जगत्, सूर्यमण्डल तथा अन्य गम्भीर विषयोंपर मनुष्यने यथासम्भव पूर्णरूपसे विचार किया है। उद्भिद्-शास्त्र, जीव-शास्त्र, पदार्थ-विज्ञान, रसायन-शास्त्र, समाज-विज्ञान, अर्थ-विज्ञान, अनर्थ-विज्ञान (?) आदि दृश्य-जगत्के प्रायः सभी पदार्थोंका हमने वैज्ञानिक ढंगसे अध्ययन किया है, अध्ययनका कुछ निश्चयात्मक विचार स्थिर किया है और उनको कार्यान्वित भी किया है। इतना होनेपर भी मनुष्यकी विवशता यह है कि तृणको लेकर वह बहुत बातें बना जाता है; परन्तु तृणको नहीं बना पाता। चिन्तन करते-करते अणु, परमाणु, प्रोटोप्लाज्म, एलेक्ट्रन, पॅट्रन आदि तत्त्वोंका पता लगाकर हमने अनेकों विचार-धाराएँ संसारके मनोलोकमें प्रवाहित कर दी हैं। हमने यह पता लगा लिया है कि जीव-कोषमें १$\frac{१}{४}$ करोड़ अणु रहते हैं। मैनरा नामके एक बैकटीरियाका व्यास $\frac{१}{४००००}$ इंचका होता है—इसका पता हमने लगा लिया है। कारलायलने यह जान लिया था कि एक पाषाणको दूसरे पाषाणपर पटकनेसे पृथ्वीकी आकर्षण शक्ति बदल जाती है। हमने यह भी अनुमान लगा लिया है कि एक घन इंचमें २१०० महाशङ्ख अणु रह सकते हैं। हमने यह भी पता लगा लिया है कि प्रकाशकी गति एक सेकंडमें १ लाख ८६ मील है और इसी हिसाबसे सूर्यका प्रकाश पृथ्वीपर ८ मिनटमें पहुँचता है। बुध आदि तारोंका प्रकाश कई दिनोंमें पृथ्वीपर पहुँचता है। अल्फा सेंटार (Alpha centre) नामक तारेका प्रकाश पृथ्वीपर तीन वर्षके पश्चात् आता है। साइरसकी ज्योति २० वर्षोंमें और आकाशगङ्गाके ताराओंकी ज्योति दो सहस्र वर्षोंमें पृथ्वीपर आती है। कितने तारे ऐसे हैं, जिनका प्रकाश अबतक पृथ्वी-तलपर पहुँच नहीं पाया। हमने यह भी अनुमान कर लिया है कि कोयलाके बननेमें ८ लाख वर्ष लगते हैं। चार्ल्स लॉयल नामक तत्त्ववेत्ताने यह पता लगाया है कि खल्लीकी बनावटके हिसाबसे पृथ्वीको वर्तमान अवस्थामें पहुँचनेमें २० करोड़ वर्ष लगे हैं, इस विशाल सृष्टिका पता लगा लिया है हमने। मछलियोंकी हड्डियोंके विश्लेषणसे जाना गया है कि आजसे ३ करोड़ ४० लाख वर्ष पहले मछलियाँ पृथ्वीपर थीं। जीव-विज्ञानका पण्डित हैकल लिखता है कि जीवनके आरम्भसे मनुष्य-योनितक पहुँचनेमें जीवको ५६ लाख ७३ हजार योनियोंको पार करना पड़ता है। आर्य-पण्डितोंने माना है ८४ लाख योनियाँ हैं और पृथ्वीकी आयु १९७२९४९०४२ वर्षकी है। बस! इसके बाद आपको अनुमानसे ही काम लेना पड़ेगा।

इस अल्पविवेचनसे ही हम जानते हैं कि इस विशाल जगत्की सभी दृश्य बातोंपर हमने पूरा विचार किया है। इन विषयोंका पृथक्-पृथक् विज्ञान है। वे विज्ञान-शास्त्र हमारी अक्षय निधियाँ हैं। उनके रचयिता हमारे धरोहर हैं; परन्तु इन सभी ज्ञान-विज्ञानसे ऊपर-ऊपर उठकर एक और ज्ञान है, एक और विज्ञान है। उसका नाम जीवन-विज्ञान (Science of life) है । इस विराट् सृष्टिमें मनुष्यका क्या स्थान है, उसका उससे क्या सम्बन्ध है, उसको किस प्रकार अपना सम्बन्ध इस दृश्य-जगत्से स्थापित करना चाहिये, इस सृष्टिके अन्तराल—इसके अन्तःकरणके अन्तःस्थलमें—कोई अक्षय पद तो नहीं है ? कोई उद्दाम लालसा तो नहीं है ? कोई उदात्त प्रवृत्ति तो नहीं है ? और यदि है तो उसके साथ मनुष्यका क्या सम्बन्ध है ?— इत्यादि प्रश्नोंके उत्तरके लिये जिस शास्त्रकी रचना की गयी है, वह ब्रह्म-विद्याशास्त्र है और वही ब्रह्म-विद्या गीताका प्रतिपाद्य विषय है । गीता जीवन-शास्त्र है । गीता Science of life है । गीता मानव-मङ्गलकी प्रतिष्ठित प्रतिमूर्ति है । गीताका ज्ञान कल्याणका आदि स्रोत है, सृष्टिके तत्त्वका उद्गम-स्थान है और मानव-मनको अभयदान देनेवाला है । गीताका ज्ञान मानव-जीवनकी गायत्री है और दृश्य-जगत्की व्याहृति । यह शब्दब्रह्मका प्रतीक है । यह अभयङ्करी धर्मनीतिकी जननी है और शङ्करी व्यवहार-नीतिका परम प्रतिष्ठित प्रतीक है ।

तो, मनुष्य किस तत्त्वको इस विशाल जगत्में ढूँढ़ता है ? और क्यों ढूँढ़ता है ? तथा मनुष्य है ही क्या ? डा० सन्दरलैंडने अपनी पुस्तकमें एक अन्वेषणका वर्णन किया है । अमेरिकाके किसी वैज्ञानिकने इस बातका पता लगानेके लिये कुछ अन्वेषण करना चाहा । एक बड़े विद्वान्के शवकी, जिसकी मृत्यु हृदयकी गति रुक जानेसे थोड़ी ही देर पहले हुई थी, परीक्षा ली । उस शवको आगमें डालकर भस्म बना दिया गया और उस वैज्ञानिकने अपनी प्रयोगशालामें उस भस्मका विश्लेषण किया । वह कहता है कि उसके अन्वेषणसे मुझे थोड़ा फौस्फेट, थोड़ा लोहा, थोड़ा पोटास और थोड़ा क्षार मिला । फौस्फेटसे कुछ सलाइयाँ, लोहेसे ५–७ काँटियाँ और पोटाससे ऐसे ही कुछ पदार्थ बन सकते हैं । उस वैज्ञानिकके हिसाबसे इन सब पदार्थोंका मूल्य कुछ शिलिङ्ग होते हैं, डा० सन्दालैंडने प्रश्न किया है कि क्या मनुष्यका यही मूल्य है ? बस, कुछ शिलिङ्ग ? वह तत्त्व जो उस मनुष्यकी मृत्युके समय उसके शरीरसे निकल गया है, किसी मूल्यपर आँका जा सकता है ? संसारकी सारी भौतिक विभूतियोंके मूल्यपर भी वह नहीं आँका जा सकता । आजकल संसारमें सबसे बहुमूल्य पदार्थ रेडियम है, परन्तु क्या रेडियमकी सम्पूर्ण निधिसे भी उस तत्त्वको प्राप्त किया जा सकता है । प्रश्न है, वह तत्त्व क्या है ? और उसका इस जगत्के—इस विशाल जगत्के साथ क्या सम्बन्ध है ? इस प्रश्नका उत्तर गीतासे मिलेगा । यह प्रश्न शाश्वत रूपसे मानवसमाजके साथ सदा-सर्वदा उपस्थित होता रहा है, मानो मानव-मस्तिष्क ही इस साँचेका बना हो कि स्वयमेव यह प्रश्न उपस्थित होता रहे । इसी विज्ञानका प्रतिपादन गीतामें किया गया है ।

परन्तु मनुष्यका ज्ञान कितना संकुचित है ! वह कुछ भी नहीं जानता और जितना वह जानता है, उतना ही अनजान बनता चला जाता है ।

हम जानते थे इल्मसे कुछ जानेंगे ।
जाना तो यह जाना कि न जाना कुछ भी ॥

The more I learn, the more I know.
The more I know, the more I know that I know nothing.

जब हमारी आँखें संसारसे ओझल हो जायँगी तभी हम वास्तविक सत्ताके दर्शन कर सकेंगे । आँख बंद करनेपर छोटे-से मस्तिष्कमें पहाड़ समा जाता है ।

गुम हो जब रहबर तभी राहे खुदा पैदा हो ।

थोड़ा विचार कीजिये, चलिये हम सब किसी पहाड़को देखने चलें । उसके दृश्यको हृदयङ्गम करें ।

उसका ज्ञान प्राप्त करें । उसको जानें । ज्ञानप्राप्तिके साधन हमारी इन्द्रियाँ हैं । यदि इन्द्रियोंमें भेद पड़ जाय तो ज्ञानमें भी भेद पड़ जायगा । इन्द्रियोंमें काल और देशसे भेद पड़ जाता है, जब हमलोग पहाड़से आधे मीलकी दूरीपर थे तो उसके सम्बन्धमें हमारा जैसा ज्ञान था, वैसा ही पहाड़से एक फर्लागकी दूरीपर नहीं रहता । अधिक समीप पहुँचनेपर दूसरा ही ज्ञान हो जाता है । उसके पद-प्रदेशपर पहुँचनेसे तीसरा ज्ञान हो जाता है । उस पहाड़पर चढ़नेपर हमारा ज्ञान और भी बदल जाता है और ज्यों-ज्यों हम पहाड़के विषयमें जानते जाते हैं, त्यों-त्यों हमारे ज्ञानका स्वरूप बदलता जाता है । काश, हम पहाड़में मिल जाते और उसमें अपना दिल रख देते और तब अनुभव करते कि पहाड़का ज्ञान कैसा है । वास्तवमें तभी हम पहाड़के ज्ञानको समझ पाते । उस पहाड़के सम्बन्धमें हमारा वही ज्ञान सत्य होता । और तब, तब क्या हम उस ज्ञानका बखान कर पाते ? महात्मा गांधीका यह कथन शाश्वत सत्य है कि पूर्ण ज्ञानका बखान मूक वाणीसे होता है । यदि तुम पूर्ण सत्य कहना चाहते हो तो मूक हो जाओ । यह बात भूलनेकी नहीं कि मनुष्यका ज्ञान कितना अपूर्ण होता है । यूरोपका आदि दार्शनिक पिथागोरस कहता है कि मनुष्य एक नदीमें दो बार डुबकी नहीं लगा सकता, एक इन्द्रधनुषको एक ही बार देख सकेगा । क्षण-क्षणमें जब हम ही बदलते रहते हैं तो हमारा ज्ञान भी तो बदलता रहेगा । और जबतक यह क्रम प्रवाहरूपसे बना रहेगा तबतक हम प्रवाहमें चक्कर काटते रहेंगे । अतः हमारे ज्ञानकी पूर्णता तभी प्राप्त होगी जब हमारे मनसे सम्बद्ध और सम्बन्धका द्वैत मिट जाय, कार्य और कारणका भेद नष्ट हो जाय, आत्मा-परमात्माका भेद न रहे । गीता कहती है कि 'जगत्से परेकी भी प्रकृति मेरी ही है । सारे जगत्का मूल और अन्त मैं ही हूँ । मुझसे परे कुछ नहीं है । मुझसे ही सारी प्रजा निकली है । सारी विभूति मेरा ही तत्त्व है । मैं सब भूतोंमें स्थित हूँ । मैं ही आदि हूँ, मध्य हूँ और अन्त हूँ । सूर्यकी ज्योति मैं हूँ । मैं ही योनि हूँ और मैं ही गर्भ स्थापित करनेवाला हूँ । मैं ही हूँ और कुछ नहीं है ।' यह 'एकोऽहम्' का सिद्धान्त विज्ञानका भी निचोड़ है । विज्ञान भी इसी दिशाका बटोही बन गया है । वह भी यही कहता है* । गीता कहती है—'यज्ञ मैं हूँ, स्वधा मैं हूँ, पितर मैं हूँ, पितरोंको दिया हुआ अन्न मैं हूँ, औषध मैं हूँ और उससे उत्पन्न हुआ अन्न मैं हूँ, मैं ही मन्त्र हूँ, घृत मैं हूँ, अग्नि मैं हूँ, आहुति मैं हूँ, पिता, माता, धाता, पितामह—सब मैं हूँ । ज्ञान मैं हूँ, ज्ञेय मैं हूँ' गति, पोषक, प्रभु, साक्षी, निवास,

---

* This theory is based upon a metaphysical theory of cansation-namely that like causes produce like effects. A cause is regarded as a potential effect. Even before the casual operation, the effects exist in the identity with the cause. The function of the casual operation is not to produce anything new but to actualise the cause with the effect or to exhibit manifestly in the effect what was already contained in the cause. There can be no inter-action between unlikes, for in that case the inter-action would hence to be supposed to bring into being effects which were not contained in either of the two casual elements or in the inter-action itsef. Again, if inter-action is supposed to be extreneous relation, then being a relation it would be outside the casual entities and whatever is outside the casual entities would be incapable of entering into them; so the relations will have to be conceived as having no relata at their two ends and this would baffle the

शरण, सखा, उत्पत्ति, प्रलय, स्थिति, निधान, अव्यय, बीज सब—मैं हूँ ।' यहाँ सम्बद्ध और सम्बन्ध, गुण और गुणी—सब एक हो जाता है। गीता कहती है कि 'सबसे परम अक्षर, कभी भी नष्ट न होनेवाला तत्त्व मैं हूँ। प्रत्येक वस्तुका मूल भाव अध्यात्म कहा जाता है। अक्षर तत्त्वसे ही चर-अचर पदार्थोंकी उत्पत्ति होती है। जिसके ज्ञानसे भिन्न-भिन्न प्राणियोंमें एक ही अभिन्न अविभक्त—एवं अव्ययभाव तथा तत्त्व दीख पड़ता है, वही सात्त्विक ज्ञान है। उत्तम पुरुष क्षर और अक्षर दोनोंसे भिन्न है। वही मैं हूँ, वही ब्रह्म है, मैं ही ब्रह्म हूँ; वही परमात्मा है। मैं हीं त्रैलोक्यमें प्रवेश कर उसका पोषण करता हूँ। मैं ही वह तत्त्व हूँ, जो अनादि, सबसे परेका ब्रह्म, सत्‌से परे, असत्‌से परे और सब भूतोंके भीतर रहनेवाला है। वही सब भूतोंका आदि, मध्य और अन्त है। वही तत्त्व सब प्राणियोंमें रहकर उन्हें चलाता है।' गीताका यह वैज्ञानिक तत्त्व-चिन्तन कई हजार वर्षों पहले लेखबद्ध किया जा चुका था। वर्तमान समयमें विज्ञानके अन्वेषणके फलस्वरूप अब एक नवीन सिद्धान्त निश्चित किया गया है, जिसको 'अविनाशी तत्त्व' (Indistructibility of matter) का सिद्धान्त कहते हैं और कहते हैं कि सृष्टि उसी तत्त्वका व्यापार है, जिसको Cosmic Reflex Action कहते हैं। गीताके अनुसार यह अविनाशी तत्त्व चेतन है। प्रकृति चेतन ब्रह्मकी शक्तिके प्रकट होनेका नाम है। सतत परिवर्तनशील संसारका होना परम सत्ताका आध्यात्मिक स्वभाव है। विश्व कोई पृथक् सत्ता नहीं है। यह परम सत्ता स्वयं चेतन है! यह स्वयं कारण और स्वयं कार्य है। वेदान्तकी परिभाषामें ब्रह्म इसका 'अभिन्न निमित्तोपादान' कारण कहा जाता है। छः-का अङ्क बनानेमें तीन और दोका गुणा करना पड़ता है (३×२=६)। इस छःमें तीन और दो समान भावसे व्यक्त हैं, छःकी सत्तासे भिन्न नहीं। ऐसी ही दशा आत्मा और परमात्माकी है। ब्रह्म ही मूल उपादान है। गीताकी परिभाषामें वह निर्गुण है, अगोचर है, कल्पनातीत है, अक्षर है, अव्यय है, अखण्ड है, निराकार है, अपरिच्छिन्न है, व्यापक है, अनामय है, अनन्त है, अविनाशी है, चेतन है, निर्मल है और सर्वव्यापक है। यह सिद्धान्त कम-से-कम पाँच हज़ार वर्षके अनुभवका फल है। पाँच सौ वर्षोंके अनुभवका नहीं।

गीताने इस महान् तत्त्वका प्रतिपादन कर, व्यष्टि और समष्टिमें इस तत्त्वकी व्यापकता बतलाकर, दोनोंमें एकता स्थापित कर दी है और बतलाया है कि मनुष्य उस तत्त्वका, जो उसमें और सारे विश्वमें एक-सा ओत-प्रोत है, साक्षात्कार करे। ६ठे अध्यायके ३० वें श्लोकमें कहा गया है कि 'जो मुझको सब स्थानोंमें और सबको मुझमें देखता है, उससे मैं कभी भी नहीं बिछुड़ता

---

very nature of relation. Thus relations can not have any separate existence from the relata. It is the different aspects and manifestations of the relata that are interpreted as relations. Relations are thus certain constructions that are made by us by which the relata are held apart and connected in certain manner which is called relations. This analytico-Synthetic function of the mind which manifests the mere relata is related and all relationed States of mind are technically called Vikalpa. Since the concept of relations is abolished, the problem of the relation of substance, attributes and notion does not also arise. Attributes are but modes of the substance and substance is also a mode of the attributes. The distinction of substance and attributes and their natural relation of inherence are due to the constructive function of the mind, the Vikalpa. They are one and the same. The apparent difference is only due to different types of the constructive emphasis of the mind.

और न वही मुझसे दूर रहता है ।' ८ वें अध्यायके ७ वें श्लोकमें कहा गया है कि 'मुझमें मन और बुद्धि अर्पण करनेसे मनुष्य मुझमें आ मिलता है ।' ९वें अध्यायके ३४ वें श्लोकमें कहा गया है कि 'मुझमें मन लगा, मेरा भक्त बन, मेरी पूजा कर और मुझको नमस्कार कर ।' बारहवें अध्यायके २ रे श्लोकमें कहा गया है कि 'मुझमें मन लगाकर सदा युक्तचित्त हो परम श्रद्धासे मेरी उपासना कर ।' इसी अध्यायके ३ रे श्लोकमें कहा गया है कि 'अव्यक्त, सर्वव्यापी, अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल और नित्य अक्षर ब्रह्मकी उपासना कर ।' १४ वें श्लोकमें कहा गया है कि 'अपने मन और बुद्धिको मुझमें अर्पण कर ।' १३वें अध्यायके १० वें श्लोकमें कहा गया है कि 'मुझमें अनन्य भक्तिसे अटल भाव रख ।' आगे ३० वें श्लोकमें कहा गया है कि 'जब सब भूतोंका पृथक्त्व अर्थात् नानात्व 'एक' दीखने लगे और इस 'एक' से ही सब विस्तार दीखने लगे, तभी ब्रह्म प्राप्त हुआ समझना ।' पंद्रहवें अध्यायके १९ वें श्लोकमें कहा है कि 'जो मोह छोड़कर मुझे ही पुरुषोत्तम समझता है, वही मुझे प्राप्त होता है ।' १८ वें अध्यायके ६५ वें श्लोकमें कहा है कि 'मुझमें अपना मन लगा, मेरा भक्त बन, मेरा भजन कर और मेरी वन्दना कर ।' उक्त उद्धरणोंसे यह ज्ञात हो जायगा कि मनुष्यको ब्रह्मसे एकता स्थापित कराना ही गीताके उपदेशका सार है ।

अबतक जो कुछ कहा गया है उसमें तीन बातें मिलती हैं—

(१) गीता जीवन-विज्ञान (Science of life) है ।

(२) गीताने सृष्टिके अन्तरालमें एक, अव्यक्त, कूटस्थ और चेतन सत्ताका प्रतिपादन किया है ।

(३) गीता मनुष्यको उस सत्तासे एकात्मता स्थापित करनेका सन्देश देती है ।

आगे चलकर गीताने ब्रह्मसे एकात्मता स्थापित करनेका मार्ग बतलाया है । पूर्ण जीवनके लिये गीताने एक योजना दे रक्खी है । वह सर्वाङ्गपूर्ण योजना है । इस योजनाके अनुसार जीवन बनानेसे ही मनुष्य तत्त्व-दर्शन कर पूर्णता प्राप्त कर सकता है ।

जब हम किसी तत्त्वको साधना चाहते हैं तो हम प्रयोगशालामें जाते हैं । नाना प्रकारके यन्त्रोंकी सहायतासे भिन्न-भिन्न रसोंका विश्लेषण, सम्मिश्रण, प्रस्फुटन और पृथक्करण करते हैं और तब कहीं किसी रासायनिक सत्य और भौतिक तत्त्वका पता लगाते हैं; परन्तु इस अक्षर, अविनाशी और चेतन तत्त्वके विश्लेषण, एकीकरण, समीकरण और पर्यवेक्षणके लिये जिस प्रयोगशालामें प्रवेश करनेका सन्देश गीता देती है, बिना उसमें प्रवेश किये उस तत्त्वका साक्षात्कार कैसे होगा ? आप प्रयोगशालामें प्रवेश भी न करें और तत्त्वके अस्तित्वपर सन्देह भी करें—यह तो किसी भी तत्त्वके अन्वेषणकी वैज्ञानिक पद्धति नहीं है । गीता छठे अध्यायके १० वें, ११ वें, १२ वें और १३ वें श्लोकोंमें अन्वेषणकी पद्धति बतलाती है । वह कहती है कि 'एकान्तमें अकेला रहकर चित्त और आत्माका संयम करे । किसी भी काम-वासनाको न रखकर, पाश छोड़कर, शुद्ध स्थानमें—जो न बहुत ऊँचा हो और न बहुत नीचा—ऐसा आसन लगा चित्तकी वृत्तियोंके व्यापारको रोककर, मनको एकाग्र कर, आत्मशुद्धिके लिये योगका अभ्यास करे । पीठ, मस्तक और गर्दनको सम करके, सीधी खड़ी रेखामें निश्चल करके, स्थिर होता हुआ, इधर-उधर न देखता हुआ, सीधी दृष्टि जमाकर, निडर हो, शान्त अन्तःकरणसे, ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करता हुआ, मनका संयमन कर, ब्रह्ममें चित्त लगा, ब्रह्मपरायण होता हुआ ब्रह्मसे युक्त हो जाय—'युक्त आसीत

मत्परः' । ज्यों ही मनुष्य इस पथका पथिक बननेका एक बार निश्चय कर लेगा, त्यों ही उसके बाह्य लक्षण बदल जायँगे । उसके व्यावहारिक जीवनमें परिवर्तन आ जायगा, उसमें दैवी सम्पत्तिका उद्भव होता जायगा तथा आसुरी सम्पत्तिका पराभव और नाश । उसमें निर्भयता, सत्य, अक्रोध, कर्मफल-त्याग, शान्ति, उदारता, दया, शुद्ध-सात्त्विक-वृत्ति, दान, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, अतृष्णा, मृदुता, बुरे कर्मोंसे पृथक्ता, अचपलता, तेजस्विता, क्षमा, धृति, शुद्धता, मैत्रीभाव, मानहीनता; शत्रु और मित्रमें, मान और अपमानमें, सर्दी-गर्मीमें, सुख-दुःखमें, प्रशंसा और निन्दामें समभाव, अनासक्ति, मितभाषण, सन्तोष, चित्तकी स्थिरता, अनिकेतता आदि सद्गुणोंका उदय होने लगेगा और दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, पारुष्य, निष्ठुरता और अहंकार आदि आसुरी सम्पत्तिका अस्त । मनुष्य ऐसा बनता जायगा कि न वह किसीसे द्वेष करेगा । और न उससे कोई द्वेष करेगा । उसके वचनोंमें उद्वेग न होगा । उसका आहार-विहार युक्त और नियमित हो जायगा । इस प्रकारके जीवन-परिवर्तनसे वह अकाट्य रीतिसे अपने कर्तव्याकर्तव्यका निश्चय किया करेगा और पुनः कार्याकार्यकी व्यवस्था करके लोक-संग्रहके लिये अग्रसर होता जायगा । आत्माकी शुद्धावस्थाके अनुभवहीका नाम ब्रह्मज्ञान है । गीताकी इस योजनारूपी सूर्यमण्डलमें निष्काम कर्म सूर्य है । गीताकथित ज्ञान, कर्म और भक्तिमें विरोध नहीं । प्रत्येक कार्यमें ज्ञान, कर्म और भक्ति—तीनों उसी प्रकार विद्यमान हैं, जैसे सृष्टिके किसी भी पदार्थमें सत्त्व, रज और तम विद्यमान हैं । ज्ञान, कर्म और भक्ति पृथक्-पृथक् सत्ता नहीं । ज्ञान-प्रधान मार्गको ज्ञानमार्ग, कर्म-प्रधान मार्गको कर्ममार्ग और भक्ति-प्रधान मार्गको भक्तिमार्ग नाम दिया जाता है । ज्ञानी भक्त होता है और भक्त ज्ञानी । कर्मयोगी और ज्ञानी दोनों एक हैं । भक्तिके अभावमें ज्ञान नीरस और कर्म पङ्गु बन जाता है । भक्तिकी मर्यादा कदाचित् पाश्चात्त्य बुद्धिवाद भी मानने लगा है । इसीलिये फ्रांसीसी योगी पॉलरिचार्डने अपनी पुस्तक Scourge of Christ में लिखा है कि 'The living faith of the Dead has become a dead faith of the living'.

मनुष्य जब उक्त योजनाको जीवनमें उतार लेता है, तभी वह ब्रह्मलीन हो जाता है । उस समय उसकी अवस्था ब्रह्मकी अवस्था हो जाती है । भेद मिट जाता है । द्वैत नष्ट हो जाता है और मैं-तूका, आत्मा-अनात्माका भाव जाता रहता है । यही ब्रह्मलीनावस्था है । अन्तिम पूर्णता (Eschatological aspect of the ultimate real) यही है । इस अवस्थामें पहुँच जानेपर प्रलयसे व्यथा अथवा प्रलयकी व्यथा नहीं होती । इस अवस्थामें पहुँचनेपर पुनरागमन नहीं होता । वहाँ न सूर्य है, न चाँद, न अग्नि है, न वायु । इन सबोंसे बहुत ऊपर वह है । नकारात्मिका भाषामें ही कदाचित् उसका—उस अवस्थाका—वर्णन हो सके । उपनिषदोंने इसी भाषामें उसका वर्णन किया है । This can be indicated by negation of all attributes. It is neither gross nor minute; neither short nor long; neither redness nor moisture; neither shadow nor darkness; neither air nor ether; neither taste nor smell; unattached, non-luminous, without eyes and ears, without vocal organ or mind, without vital organ or matter, without measure, without interior or exterior. भगवान् शङ्करने इसीका वर्णन इस प्रकार किया है—

न भूमिर्न तोयं न तेजो न वायु-
र्न खं नेन्द्रियं वा न तेषां समूहः ।
अनैकान्तिकत्वात् सुषुप्त्यैकसिद्ध-
स्तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥

न वर्णा न वर्णाश्रमाचारधर्मा
न मे धारणाध्यानयोगादयोऽपि ।
न माता पिता वा न देवो न लोका
न वेदा न यज्ञा न तीर्थं ब्रुवन्ति ॥
न सांख्यं न शैवं न तत्पाञ्चरात्रं
न जैनं न मीमांसकादिर्मतिर्वा ।
विशिष्टानुभूत्या विशुद्धात्मकत्वा-
त्तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥
न शुक्लं न कृष्णं न रक्तं न पीतं
न कुब्जं न पीनं न ह्रस्वं न दीर्घम् ।
अरूपं तथा ज्योतिराकारकत्वा-
त्तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥
न चोर्ध्वं न चाधो न चान्तर्न बाह्यं
न मध्यं न तीर्थं न पूर्वापरं वा ।
वियद्व्यापकत्वादखण्डैकरूप-
स्तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥
न शास्ता न शास्त्रं न शिष्यो न शिक्षा
न च त्वं न चाहं न चायं प्रपञ्चः ।
स्वरूपावबोद्धुर्विकल्पासहिष्णु-
स्तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥

इसी अवस्थाका वर्णन सूफी संतोंने नीचे लिखे ढंगसे किया है, जिसका गान स्वामी राम मस्त होकर किया करते थे—

ख़बरे तहैय्युर इश्क सुन नजनू रहा न परी रही
न तो तू रहा न तो मैं रहा जो रही सो बेख़बरी रही।
शाहेबेखुदीने अता किया मुझे जब लेवास बैरहनगो
न ख़िरदकी बख़िया गिरी रही नजनूकी पर्दादरी रही ॥
वह जो होशो अक़्ो हवाश थे तेरे इक निगहने उड़ा दिये
कि शराबे सद्कहे आर्ज़ू ख़ुमे दिलमें थी सो भरी रही ।
चली सिम्त ग़ैबकी एक हवा कि चमन ग़रूरका जल गया
बलेशमए ख़्वाना जलाके सब गुले सुर्ख़ साही हरी रही ॥
वह अजब घड़ी थी कि जिस घड़ी लिया दर्स नुसख़ये इश्कका
कि किताब अक़्की ताक़पर जो धरी सो यों ही धरी रही ।
तेरे जोशो हैरत हुश्नका असर इस क़दरसे यहाँ हुआ
न तो आईनेमें जला रही, न परीमें जलवागरी रही ॥
किया ख़ाक आतिशे इश्कने दिले बेनवाय सराज़को
न हज़र रहा न ख़तर रहा जो रही सो बेख़तरी रही ।

गीता हमें इसी अनन्तकी ओर ले जाती है। गीता व्यावहारिक जगत्के लिये एक सन्देहनिवारक कोष—गांधीजीके शब्दोंमें a dictionary of reference in case of doubts है । ज्यों-ज्यों दैवी सम्पत्तिका उदय हमारे जीवनमें होता जायगा, त्यों-त्यों संसारसे शोषण, दमन, विषमता, अत्याचार, असाम्य तथा अभावका लोप होता जायगा। जो नियम व्यक्तिके लिये लागू है, वही समाज और राष्ट्रके लिये भी लागू है। वर्तमान समाज-शास्त्रका यही उपसंहार है कि वह व्यक्ति धन्य है, जो समाजमें लय हो जाय; वह समाज धन्य है, जो राष्ट्रमें लय हो जाय; वह राष्ट्र धन्य है, जो मानव-समाजमें लय हो जाय और वह मानव-समाज धन्य है, जिसका प्रत्येक व्यक्ति भगवन्मय हो जाय (Blessed is the individual who fulfills himself in the Society, blessed is the Society which fulfills itself in the nation; blessed is the nation which fulfills itself in the humanity and blessed, thrice blessed, is the humanity that fulfills itself in "God-in-Man." God-in-man के ये ही लक्षण हैं जिनका वर्णन दैवी सम्पत्तिके नामसे किया गया है । गीता कहती है कि दैवी सम्पत्तिका सञ्चय मनुष्य करे ।

If half the power that fills the world
with terror
And, half the wealth bestowed on
camps and courts,
Given to redeem the human minds
from error
There would be no use of arsenals
and forts.

गीताके सम्बन्धमें एक विशेष बात है। और वह है 'अनासक्ति' एवं 'कर्मफलत्याग'। यह गीताकी अपूर्वता है। कर्मफलत्याग मनुष्यको कर्मके बन्धनसे मुक्त रखता है। असंग भावसे कर्मके लिये कर्म करनेसे कर्मका बन्धन छूट जाता है। कर्मप्रधान मार्ग ही गीताका सिद्धान्त-मार्ग है। गीताकी अपूर्वता यह है कि इसमें कर्म-फलत्यागपर विशेष जोर दिया गया है। संसारमें रहकर सब अपना निश्चित कर्म करे; परन्तु उसके फलमें संग न रखे; फल त्यागकर कर्म करनेकी युक्ति गीताने बतलायी है।

लोक-संग्रह—लोक-कल्याणके लिये इस लोकमें सदा-सर्वदा कर्म करना, सतत जाग्रत् रहकर, निष्काम भावसे, अनासक्त बुद्धिसे, अपना निश्चित कर्म करते जाना, किसी भी कर्मको बुरा न समझना 'सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।'—गीताके उपदेश हैं। गीता कहती है कि आसक्तिरहित होकर, धीरे-धीरे अभ्याससे, वैराग्यबुद्धिसे लोक-कल्याणका निश्चित कार्य करता चल। मनुष्य इसी प्रकार क्रमशः कर्म-बन्धनसे मुक्त हो जायगा। गीता कहती है कि 'मनुष्य बलवान् इन्द्रियोंको अभ्याससे वशमें करे। इन्द्रियाँ बहुत बलवान् होती हैं। बलपूर्वक रोककर उसकी उद्दण्डताको और गतिशील बनाना ठीक नहीं। इन्द्रियोंको वशमें करनेका अर्थ है—उसके रसको मार देना। हम इन्द्रियोंके लिये न हों, इन्द्रियाँ हमारे लिये हों—हमारे वशमें हों। इनकी वासनाओंके अनुसार ही यदि इनको विषय मिलते जायँ तो भी इनकी उद्दण्डता बढ़ती ही जाती है। परन्तु होता है यह कि ज्यों-ज्यों वासना अधिक होती जाती है, त्यों-त्यों विषय प्रबल होते जाते हैं।

'मिटै न काम अगिन तुलसी कहुँ विषयभोग बहु घी ते।'

तो सर्वदा सतत जाग्रत् हो मनुष्य अपना निश्चित कार्य करे। 'मामनुस्मर युध्य च'—आशावादका सन्देश है। आशावादका (Optimism) और निराशावाद (Pessimism) की व्याख्या करते हुए एक दार्शनिकने कहा है कि आशावादी कठिनाईमें कार्यक्रम ढूँढ़ निकालता है और निराशावादी कार्यक्रम रहनेपर भी कठिनाईका अनुभव करता है। (An optimist is he who finds opportunity in every difficulty. And a pessimist is he who finds difficulty in every opportunity) गीता सदा मनुष्यको आशावादका सन्देश देती है।

'हे अर्जुन! सङ्कटके इस प्रसङ्गपर तेरे मनमें कश्मल कहाँसे आ गया। जिसका सत्पुरुषोंने कभी आचरण नहीं किया, जो अधोगतिको पहुँचानेवाला है और जो दुष्कृतिकारक है। हे पार्थ! ऐसा नामर्द मत बन। यह तुझे शोभा नहीं देता। अरे! शत्रुओंको तपा देनेवाले अर्जुन! अन्तःकरणकी क्षुद्र दुर्बलताओंको छोड़कर युद्धके लिये खड़ा हो जा।'

संसारमें रहना एक कला है और गीता उसी कलाका विज्ञान है। स्वामी रामकृष्ण कहा करते थे कि संसारमें उसी प्रकार रहना चाहिये जैसे किसी गृहस्थकी गृहिणी घरमें रहती है। ढेंकीमें धान कुटा जा रहा है। वह धान उसकानेके लिये ओखलके पास बैठी है। मूसलकी चोटें ओखलके धानपर धड़ाधड़ पड़ रही हैं और ओखलमें हाथ डालकर वह धान उसकाती जाती है। साथ-साथ बच्चेको दूध पिलाती जाती है। लोगोंसे बातें करती जाती है। घरके नौकरोंको आदेश भी देती जा रही है और कभी-कभी गीत भी गा लेती है। यह सब करती जाती है; परन्तु उसका हाथ मूसलकी चोटसे नहीं कटता। क्यों? इसलिये कि उसका मन एक स्थानपर टिका है—युक्त हो गया है और युक्त हो जानेसे उसके कार्योंमें कुशलता आ गयी है (योगः कर्मसु कौशलम्)। इसी प्रकार मनुष्य आत्म-

युक्त होकर (मय्यर्पितमनोबुद्धिः) सङ्ग छोड़कर (सङ्गरहितम्), युक्त होकर (योगयुक्तो भवार्जुन) कर्ममें कुशलता (योगः कर्मसु कौशलम्) प्राप्त करे ।

गीता नय-निधान है, गीता महान् बल है । गीता महतो महीयान् है । गीता गतिदायक, गीता मतिदायक, अहमितिकी स्मृतिदायक और प्रतिक्षण जागृतिदायक है । गीताका ज्ञान अमर विज्ञानका ज्ञान है, जो मानव-जातिके लिये मृत्युञ्जय-शक्ति प्रदान करता है । इसके ज्ञानका प्रसाद बहुत दिनोंसे संसारमें था । इसकी व्यापकता सर्वमान्य थी, इसका गान छठी शताब्दीमें कम्बोज देशमें होता था । सातवीं शताब्दीमें टर्क लोग हिडम्बकी कथा अपने बच्चोंको सुनाया करते थे, जिससे उनके बच्चे वीर बनें । आश्चर्य नहीं उस समय गीताकी शिक्षासे वे भी परिचित रहे हों । गीता सर्वसाधारणके लिये पथ-प्रदीप है । साधारणतः प्रथम छः अध्यायोंमें बतलाया गया है कि साधकका संसारके प्रति कैसा दृष्टिकोण होना चाहिये । पुनः पाँच अध्यायोंमें बतलाया गया है कि संसारकी कूटस्थ सत्ता ब्रह्म क्या है और अन्तिम सात अध्यायोंमें बतलाया गया है कि साधनाका ढंग कैसा होना चाहिये । गीता कार्यका बाह्यरूप नहीं देखती, यह भाव देखती है । आर्य-धर्मके उत्तमतर ज्ञानकी कुंजी है गीता । गीता आत्मसमर्पणका तत्त्व बतलाती है । गीता पूर्ण मनुष्यका अस्तित्व मानती है । आज भी संसारकी कोई भी ऐसी जीवित भाषा नहीं, जिसमें इसका अनुवाद नहीं हुआ हो—चाहे वह भाषा दायेंसे लिखी जाय, चाहे बायेंसे । अफलातून अपनेको तन्मीम हिंदूके शिष्योंमेंसे एक क्षुद्र शिष्य समझता था । उसने तन्मीम हिंदकी विद्वत्ता और योग्यताका विशद वर्णन किया है । कहा जाता है कि यह तन्मीम हिन्द व्यासकी शिष्य-परम्परासे उनका एक शिष्य था । गीताका फारसी अनुवाद जब यूरोपमें पहुँचा तो वहाँके विद्वान् चकित हो गये । शलगऊ नामका दार्शनिक इसको देखकर स्तम्भित हो गया । इससे शोपनहारको असीम शान्ति मिली थी । मेज़िनीके जीवनपर इसके उपदेशका बहुत प्रभाव पड़ा था । उसने अपनी पुस्तक Duty of man और Faith in the future में इसकी छाप रख छोड़ी है । थोरो कहता था कि 'मैं गीताके पवित्र जलमें प्रतिदिन स्नान करता हूँ । वर्तमान कालकी पुस्तकोंमें यह सबसे बढ़-चढ़कर है । जिस कालमें यह पुस्तक लिखी गयी होगी, वह कितना असाधारण होगा ।' कारलायल जब अमेरिका गये थे, तब उन्होंने इमर्सनसे भेंट की थी । चलते समय इमर्सनने भेंटस्वरूप एक पुस्तक कारलायलको दी थी । वह पुस्तक गीता थी । जब कवीन्द्र पिछली बार अमेरिका गये थे, तो उन्होंने महात्मा थोरोके घरपर जाकर उस घरके दर्शन किये । घरके स्वामीसे कवीन्द्रने यह जानना चाहा कि महात्मा थोरो किस वस्तुको सबसे अधिक प्यार करते थे । गृहस्वामीने एक पुस्तक दिखलाकर कहा कि इसी वस्तुको अधिक प्यार करते थे और उनकी स्मृतिकी रक्षाके लिये वह पुस्तक सुरक्षित पूज्यभावसे रखी गयी थी । उत्कण्ठापूर्वक कवीन्द्रने जब उस पुस्तकको देखा तो वह पुस्तक गीता थी । डाक्टर महमूद साहबसे जर्मनीके एक विद्वान्ने पूछा—'आपने गीता पढ़ी है ?' डाक्टर साहबका उत्तर नहींमें पाकर उस जर्मन विद्वान्ने कहा—'अब मैं समझ गया कि भारतवर्ष परतन्त्र क्यों है ।' उसीके आग्रहसे डाक्टर साहबने गीता पढ़ी ।

भगवान्से प्रार्थना है कि वह हम सबको ऐसा बल दे कि हम सब लोग गीता-ज्ञानकी गङ्गामें प्रतिदिन गोता लगाकर पावन बनें, जिससे हमारा भविष्य हिमालयसे अधिक उच्च, ज्योत्स्नासे अधिक उज्ज्वल और सूर्यसे अधिक प्रबल हो ।

सं० वाल्मीकीय रामायणाङ्कके समाप्त हो जानेके कारण चालू वर्षके और ग्राहक नहीं बनानेकी सूचना गत अङ्कमें दी जानेपर भी उसके लिये मनीआर्डर बराबर आ रहे हैं, जिन्हें लौटाना पड़ता है और ग्राहकोंको व्यर्थ व्यय तथा श्रम होता है। चालू वर्षके अधिकांश साधारण अङ्क भी समाप्त हो चुके हैं।

कल्याणके पुराने विशेषाङ्कोंमेंसे भी केवल थोड़ेसे साधनाङ्क और वेदान्ताङ्क ही बचे हैं, जिनके मूल्य क्रमशः ३।।) और ३) हैं। वेदान्ताङ्कसहित उस वर्षकी पूरी फाइल भी ४≡) में मिल सकती है।

ग्राहकोंकी सेवामें पुनः प्रार्थना है कि जो अङ्क स्टाकमें न हों उनके लिये चन्दा भेजनेका कष्ट न करें।

व्यवस्थापक—कल्याण, गोरखपुर

Regd. No. A. 175.

धर्म ही जीवका सच्चा बान्धव है

नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः ।
न पुत्रदारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः ॥
एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते ।
एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम् ॥
मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्टसमं क्षितौ ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति ॥
तस्माद्धर्मं सहायार्थं नित्यं संचिनुयाच्छनैः ।
धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम् ॥

मृत्युके बाद जीवकी सहायता न तो माता-पिता कर सकते हैं, न स्त्री-पुत्र और न कुटुम्बी ही कर सकते हैं । केवल धर्म ही उसका सहायक होता है । जीव अकेला ही जन्मता है और अकेला ही मरता है । जन्म-मृत्युके कष्ट उसे अकेले ही भोगने पड़ते हैं । पाप और पुण्यका फल भी वह अकेला ही भोगता है । प्राण निकल जानेपर निर्जीव शरीरको लकड़ीके टुकड़े अथवा मिट्टीके ढेलेकी तरह छोड़कर भाई-बन्धु उल्टे पैरों लौट आते हैं, कोई उसके साथ नहीं जाता । केवल धर्म उसका वहाँ भी साथ नहीं छोड़ता । इसलिये मनुष्यको चाहिये कि वह धीरे-धीरे नित्य कुछ-न-कुछ शुभकर्मोंका संग्रह अवश्य करता रहे, जिससे वे अगले जीवनमें उसके काम आ सकें । धर्मकी सहायतासे मनुष्य घोर नरकोंके भी पार जा सकता है ।

(मनुस्मृति ४ । २३९-२४२)

कल्याण

आषाढ़ २००५

८-6-48

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी

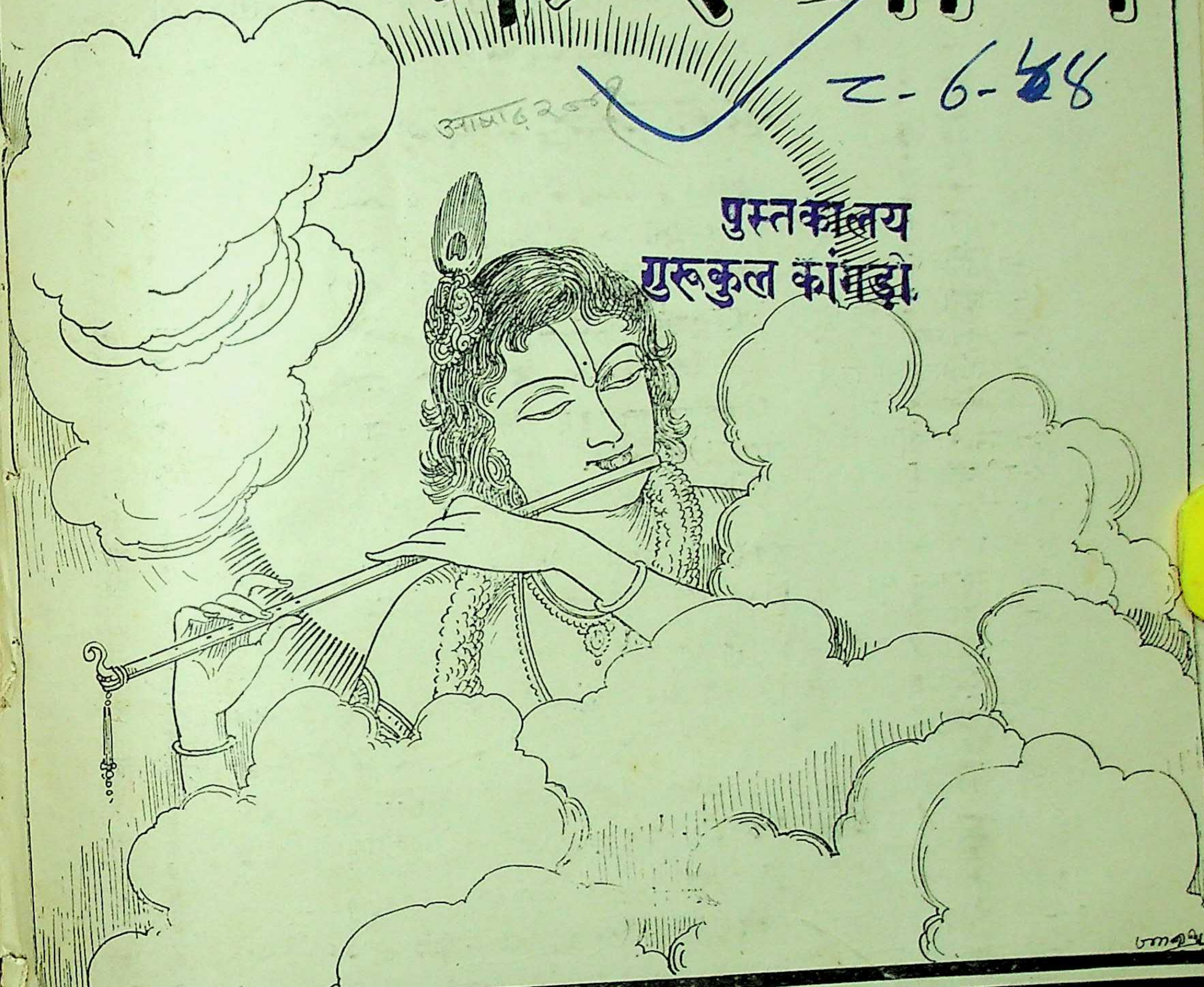

वर्ष १८ ▲ अङ्क १०

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ आगारा ॥

[संस्करण ५५६००]

विषय-सूची

कल्याण जुलाई सन् १९४५ की

विषय — पृष्ठ-संख्या

१–बालकृष्णका ध्यान [कविता] (श्रीसूरदासजी) … … १०४९
२–प्रभु-स्तवन [कविता] (अनुवादक–श्रीमुंशीरामजी शर्मा, एम्० ए०, 'सोम') … १०५०
३–मानवकी सर्वोत्कृष्ट प्रवृत्ति (प्रेषक—श्रीसम्पतकुमारजी) … … १०५१
४–सुख-शान्तिकी प्राप्ति कैसे हो ? (प्रेषक—भक्त श्रीरामशरणदासजी) … … १०५४
५–आदर्श भक्त हनुमान् (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) … … १०५६
६–श्रीभगवान्‌के दिव्य गुण (पण्डित श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, एम्० ए०, आचार्य, शास्त्री) … १०६५
७–नवधा भक्ति [कहानी] (श्री 'चक्र') … … १०६७
८–टूटी आशा [कविता] (त्रिदण्डी) … … १०७१
९–काल-प्रभावमें शङ्का-समाधान (स्वामी श्रीकृष्णानन्दजी महाराज) … … १०७२
१०–'मानस'में सेवा-भावका निरूपण (श्रीमहेश्वरप्रसादजी) … … १०७५
११–श्रीराम-नाम-महिमा [कविता] (श्रीतुलसीदासजी) … … १०८०
१२–आनन्दधामकी खोज (श्रीविश्वबन्धुजी 'सत्यार्थी') … … १०८१
१३–भूला पथिक (श्रीपरमानन्दजी जोशी) … … १०८२
१४–विचार (श्रीकृष्णलालजी वर्मा) … … १०८६
१५–हृदय-बोध [कविता] (समर्थ स्वामी श्रीरामदासके 'मनांचेश्लोक'का अनुवाद) … १०८७
१६–प्रभुकी अहैतुकी कृपा [कहानी] (मुखिया श्रीविद्यासागरजी) … … १०८९
१७–डाकूको उपदेश (बहिन ओपल मैक्काय) … … १०९१
१८–हंसवाहना सरस्वती आजकल मयूरवाहना कैसे हो गयीं ? (देवर्षिभट्ट श्रीमथुरानाथजी शास्त्री, साहित्याचार्य) … … १०९५
१९–विजयी कौन ? दुनिया किसकी ? (डाक्टर रामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, डी० लिट्०) … १०९९
२०–एक सतीका संक्षिप्त आदर्श चरित्र (पं० श्रीभवानीशरणजी त्रिपाठी, साहित्यरत्न) … ११०२
२१–वर्तमान समयके षट् रिपु (श्रीअगरचन्दजी नाहटा) … … ११०४
२२–कामके पत्र … … ११०६
२३–धनकी अन्धपूजा(श्रीरमणलाल बसंतलाल देसाई) … … ११०८
२४–सत्सङ्गके बिखरे वाक्य—(संग्रहकर्त्ता—एक सत्सङ्गी) … … ११०९

वार्षिक मूल्य
भारतमें ५≡)
विदेशमें ७||=)
(शिलिङ्ग ११½)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें ।)
विदेशमें ।≥)
(८ पेंस)

Edited by H. P. Poddar and C. L. Goswami, M. A., Sastri
Printed and Published by Ghanshyamdas Jalan at the Gita Press, Gorakhpur, U. P. (India)

श्रीहरिः

‘कल्याण’ एवं ‘कल्याण-कल्पतरु’के पाठक-पाठिकाओंसे निवेदन

कल्याणके पाठकोंको विदित होगा कि भारत-सरकारने हालमें ही कागजोंके नियन्त्रणकी एक आज्ञा निकाली है, जो गत १२ जूनसे ही समस्त ब्रिटिश भारतमें लागू हो चुकी है, यद्यपि उसका पूरा विवरण हमें प्रान्तीय गजटके द्वारा लगभग जून मासके अन्तमें देखनेको मिला। इस नवीन आज्ञाके अनुसार गतवर्ष हम जितना कागज खर्च कर चुके हैं, अब हम उसका तीस प्रतिशत अर्थात् तृतीयांशसे भी कम खर्च करनेके अधिकारी होंगे। मासिक पत्र तथा पुस्तकोंको मिलाकर हम सामान्य वर्षोंमें प्रतिवर्ष लगभग ३०० टन कागज खर्च करते आये हैं। परन्तु सन् १९४३ में कई मासतक मीलोंका ९० प्रतिशत कागज सरकारद्वारा ले लिये जानेके कारण हमें पिछले वर्षोंकी अपेक्षा कम कागज मिल सका। यदि हमें इस वर्ष सन् १९४३ की खपतका तीस प्रतिशत कागज मिला, जैसा कि सरकारी आज्ञाका अभिप्राय प्रतीत होता है, तो हमारे सारे प्रकाशनकार्यके ही सहसा बंद हो जानेकी नौबत आ जायगी। क्योंकि वैसी स्थितिमें हमें प्रतिमास ४ टनसे भी कम काग़ज़ मिला करेगा, जब कि आजकल हमारी औसत मासिक खपत २५ टनके आसपास है।

पुस्तकों और कल्याण-कल्पतरुकी बात तो अलग रही, ‘कल्याण’के केवल साधारण अङ्कोंके लिये ही प्रतिमास लगभग ६ टन कागज चाहिये। इसके अतिरिक्त आगामी दो अङ्कोंके बाद ही हमें नवीन वर्षका प्रवेशाङ्क निकालना है, जो विशेषाङ्क होनेके नाते सदाकी भाँति साधारण अङ्कोंकी अपेक्षा बृहत् आकारका होना चाहिये। और यदि उसे इस वर्ष जितना छोटा भी निकाला जाय तो उसके लिये लगभग ५० टन कागज चाहिये।

उपर्युक्त वस्तुस्थितिसे हमारे प्रेमी पाठक भलीभाँति समझ सकेंगे कि कागजके नियन्त्रणकी नवीन आज्ञाके कारण हमारी स्थिति भविष्यके सम्बन्धमें बिल्कुल अनिश्चित हो गयी है और यदि गवर्नमेंटने हमें इस सम्बन्धमें कुछ विशेष सुविधाएँ नहीं दीं तो हमें कार्य-सञ्चालनमें बड़ी भारी कठिनाईका सामना करना पड़ेगा। हमारी सन् १९४३ की खपतके अनुसार हमें जिस अनुपातमें कागज मिलेगा, उससे न तो हमारे मासिकपत्र ही वर्तमानरूपमें चल सकते हैं और न पुस्तकें ही छप सकती हैं। सरकारकी इस नवीन आज्ञाके विरुद्ध देश भरमें आवाज उठायी जा रही है; क्योंकि इससे सारे मुद्रण-व्यवसायको ही धक्का पहुँचनेकी आशङ्का है। इस आवाजके फलस्वरूप गवर्नमेंट अपनी आज्ञापर पुनर्विचार करनेके लिये तैयार होती है या नहीं, यह बात कुछ ही सप्ताहोंमें हमारे सामने आ जायगी।

हमारे मासिक-पत्रों और पुस्तकोंमें तो केवल अध्यात्म-सम्बन्धी बातें ही रहती हैं और इस प्रकार हमारी स्थिति अन्य सामयिक पत्रों एवं पुस्तक-प्रकाशकोंसे कुछ भिन्न है। इस बातको लेकर हम अधिकारियोंसे प्रार्थना करने जा रहे हैं कि वे हमारी आवश्यकताओंपर विशेषरूपसे विचार करें। यदि हमारे प्रेमी पाठक भी हमारी इस कार्यमें कुछ सहायता कर सकें तो हमें और भी बल मिल सकता है। अतः जिन महानुभावोंका सरकारी क्षेत्रमें कुछ प्रभाव हो या जिनकी बात आदरपूर्वक सुनी जाती हो या जो और-और द्वारोंसे हमारी बात अधिकारियोंतक पहुँचा सकते हों, उनसे हमारी प्रार्थना है कि वे अधिकारियोंसे कह-सुनकर ऐसा प्रयत्न करें जिससे हमें प्रतिमास कम-से-कम २० टन कागज खर्च करनेकी आज्ञा मिल सके। इतने कागजसे हमारे मासिकपत्रों और पुस्तकोंका काम चल जायगा। आशा है कि अपने प्रेमी पाठकोंकी सद्भावना एवं सहयोगसे हम इस संकटको पार करनेमें समर्थ हो सकेंगे। परन्तु यदि हमारा प्रयत्न सफल न हुआ और यदि भगवान्‌की यही इच्छा हुई तो हमें बाध्य होकर दोनों मासिक-पत्रोंको बंद करना पड़ेगा।

हनुमानप्रसाद पोद्दार
सम्पादक

प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकोंके लिये सूचना

जिन सज्जनोंके पास वेद, पुराण, महाभारत, रामायण, गीता, स्मृति, तन्त्र, ज्योतिष, काव्य, व्याकरण, वैद्यक, शैव-शाक्त और वैष्णव-सम्प्रदायकी या अन्य किसी भी विषयकी संस्कृत, प्राकृत या हिन्दी भाषाकी प्राचीन हस्तलिखित सचित्र या अचित्र पुस्तकें हों, और जो उन्हें सुरक्षित रखनेके लिये बिना मूल्य या उचित मूल्यपर देना चाहते हों, वे नीचे लिखे पतेपर पूरा विवरण भेजकर पत्रव्यवहार करें।

हनुमानप्रसाद पोद्दार
सम्पादक—'कल्याण'
पो० रतनगढ़ (बीकानेर स्टेट)

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण

रामाय रामभद्राय रामचन्द्राय वेधसे ।
रघुनाथाय नाथाय सीतायाः पतये नमः ॥

वर्ष १८ } गोरखपुर, जुलाई १९४४, सौर आषाढ़ २००१ { संख्या १०
पूर्ण संख्या २१४

बालकृष्णका ध्यान

सोभित कर नवनीत लिएँ ।
घुटुरुनि चलत रेनु तनु मंडित, मुख दधि लेप किएँ ॥ १ ॥
चारु कपोल लोल लोचन गोरोचन तिलक दिएँ ।
लट लटकनि मनु मत्त मधुप गन मादक मधुहि पिएँ ॥ २ ॥
कठुला कंठ बज्र केहरि नख राजत रुचिर हिएँ ।
धन्य सूर एको पल इहिं सुख का सत कल्प जिएँ ॥ ३ ॥

—सूरदासजी

प्रभु-स्तवन

(अनुवादक—श्रीमुंशीरामजी शर्मा, एम्० ए०, 'सोम')

स नः पप्रिः पारयाति स्वस्ति नावा पुरुहूतः ।
इन्द्रो विश्वा अति द्विषः ॥
(ऋक्० ८ । १६ । ११)

वे पूरक पूरण करतार !
चरण-शरण-नौकासे कर दें कुशलसहित मुझको भी पार ॥
क्या जाने कितने विपन्न जन उनको कब-कब चुके पुकार ।
बार-बार उनकी छायामें पाया भक्तोंने उद्धार ॥
आज आ गयी बारी मेरी, खड़ा हुआ हूँ उनके द्वार ।
द्वेष दमन कर, शत्रु शमन कर, पार लगा दें मुझे उबार ॥

स नः शक्रश्चिदा शकद्दानवाँ अन्तराभरः ।
इन्द्रो विश्वाभिरूतिभिः ॥
(ऋक्० ८ । ३२ । १२)

मिले हमें प्रभुका वरदान !
वे अनन्त बलशाली कर दें मुझको भी कुछ शक्ति प्रदान ॥
वे औढरदानी प्रसिद्ध हैं उनका फैला दान महान ।
वे भर देते अन्तस्तलके अन्तरको दे मङ्गल-ज्ञान ॥
उनकी रक्षाशक्ति मिले, नित करे दोष-त्रुटियोंसे त्राण ।
पालन करें, तृप्तिसे भर दें, हो मेरा वाञ्छित कल्याण ॥

मानवकी सर्वोत्कृष्ट प्रवृत्ति

(अनन्तश्रीसमलङ्कृत श्रीश्रीजगद्गुरु श्रीमच्छङ्कराचार्यजी महाराज,ज्योतिष्पीठाधीश्वरके उपदेशके आधारपर)

यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि मानवमें, अपने पार्श्ववर्त्ती जनसमूहके सम्मुख, सबकी अपेक्षा अपनेको ही अधिक जानकार, प्रतिभाशाली और सुन्दर समझने एवं प्रदर्शित करनेकी जन्मजात प्रवृत्ति रहती है। पश्चिमका मानव तो, इस अनुभूतिसे औदास्य प्रकट कर लेनेमात्रको ही अपना कर्त्तव्य समझ चुप हो रहता है; किन्तु भारतका आध्यात्मिक मस्तिष्क इसमें एक रहस्य खोज लेता है। पञ्च-महाभूतोंके संघात इस स्थूल शरीरमें जो एक सत्य, शिव और सुन्दर महान् तत्त्व सन्निविष्ट है, उसीका स्थूल—दृष्ट किन्तु स्वाभाविक परिणाम ही उक्त मनोवृत्तिका मूल है।

यद्यपि वह महान् तत्त्व, जीवके भौतिक शरीर-सम्बन्धी अज्ञानजनित 'अहम्' (Egoism) के कारण, अपने स्वाभाविक स्वरूपकी अनुभूति नहीं करने पाता; किन्तु फिर भी वह उत्कर्षकी ओर—जो उसकी स्वभावगत वृत्ति ही है, गतिमय रहकर अपनी महत्ता और अपने अस्तित्वका परिचय देता रहता है। एक रूपक उक्त कथनके लिये पर्याप्त होगा। एक चक्रवर्त्ती सम्राट्, सामयिक झंझावातोंसे प्रताडित होकर, भिक्षुककी स्थितिको प्राप्त हो गया है। अब मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणसे उसके स्वभावका निरीक्षण कीजिये। आप देखेंगे कि उसकी आँखोंका मर्यादित गाम्भीर्य, उसके मुखमण्डलका स्वाभाविक दर्प, यहाँतक कि उसकी समयोचित दीन वाणीमें अन्तर्हित आज्ञार्थक ध्वनि, उसके सम्राट्त्वके परिचायक होंगे।

रूपकके अनुसार जिस प्रकार भिक्षुकके दीन-वेषमें स्पष्टतः 'सम्राट्त्व' कर्त्तव्यरत बना रहता है, उसी प्रकार सत्य, शिव और सुन्दर तत्त्व स्थूल-देहमें बद्ध रहकर भी प्रत्येक क्षण अपनी महत्ताकी ओर ही उन्मुख रहता है। फलतः मानवमें उक्त मनोवृत्तिकी सृष्टि हो जाती है। वास्तवमें यह वृत्ति भी एक महान् वस्तु है; क्योंकि जिस तत्वसे इसका उद्भव होता है, वह पार्श्ववर्त्ती 'भौतिकों' से उतना ही महान् है, जितना कि राजमहल, सिंहासन, प्रजाजन और राजकर्मचारियोंसे परिवृत सम्राट्—जिसके एक-एक भ्रूनिक्षेपसे ये पार्श्ववर्तिनी वस्तुएँ विनष्ट और पुनर्निर्मित की जा सकती हैं—उन वस्तुओंसे महान् है।

हमने देखा कि मनोवृत्ति तो वास्तवमें स्वाभाविक और महान् है; किन्तु उसके पूर्त्यर्थक परिणाम बड़े भयानक हैं—बन्धनकारक हैं; क्योंकि उसीके आधारपर अज्ञान, माया या पाश्चात्त्य आध्यात्मिकोंके मतमें अज्ञानजनित अहमितिका मूर्त्तरूप 'शैतान' अपने आकर्षक जाल फैलाकर, उस मनोवृत्तिकी पूर्ति एक सर्वथा विलक्षण और विपरीत ढंगसे करता है। उसीके प्रभावमें आकर मानव सत्यत्वकी चरम सिद्धिके लिये 'विकासवादों' के भित्तिहीन सिद्धान्त गढ़ता है, रोचक-भयानक शब्दाडम्बरोंकी व्याख्यामें उलझकर लक्ष्य-भ्रष्ट हो जाता है। शिवत्वकी प्राप्तिके लिये अनेकों अन्धविश्वासों—खाद्य-पेय पदार्थोंमें महापुरुषोंके मांस-रक्तकी भावना करता है, छुरी-काँटों और साबुन-ब्रिलियण्टायनोंके समान आधिभौतिक वस्तुओंका प्रश्रय लेता है; और सुन्दरत्वकी सीमा अतिक्रमित करनेके लिये भाँति-भाँतिके अङ्गरागों, चूर्णों और आभूषणोंकी रचना करता है। वह पूरा भौतिकवादी हो उठता है। फलतः आसुरी वृत्तियोंका प्रत्यक्ष पोषण होनेसे, वे उत्तेजित होती हैं और विश्व अज्ञान, हिंसा, क्रूरता और अनाचारिताका क्रीड़ास्थल

बन जाता है । कितना भयङ्कर परिणाम है मानवकी महान् और स्वाभाविक वृत्तियोंके अस्वाभाविक उपशमनका !!

यह अस्वाभाविक प्रवाह यहीं समाप्त नहीं हो जाता; किन्तु जिस प्रकार एक निर्मल कान्त स्वर्णखण्ड-पर, अज्ञानमूलक मलकी कल्पना करके, कोई स्वर्णकार पॉलिश फेर-फेरकर, उसे अपेक्षाकृत मलिनतर ही करता जाता है—यहाँतक कि एक दिन उसपर मलिनताका पर्वत खड़ा कर देता है, उसी प्रकार अज्ञानी मानव उन्हीं विकासवादों, छुरी-काँटों और अङ्गरागोंके गम्भीरतम आलोचनमें संलग्न रहकर, सत्यत्व, शिवत्व और सुन्दरत्वकी स्वाभाविक निर्मल कान्तिपर क्रमबद्ध मलिनताका पर्वत जमा करनेका अथक प्रयत्न करते-करते उसे असीम बना देता है—'ज्यों-ज्यों सुरझि भज्यौ चहै, त्यौं-त्यौं अरुझत जाय' वाली गति हो जाती है ।

अब हमें वास्तविक उपशमनका मार्ग ढूँढ़ना है । सबसे पहले यह जान लेना चाहिये कि सत्य, शिव और सुन्दरकी चरमावस्थाको ही भारतीय शास्त्रकार 'मुक्ति', 'निर्वाण', 'परमपद' और भावुक भक्त 'वैकुण्ठ', 'गोलोक', 'कैलास' आदिकी प्राप्तिके रूपमें देखते आये हैं । अर्थात् मानवकी उस स्वाभाविक मनोवृत्तिकी परिपूर्णता मोक्ष—बन्धनहीनतामें ही है । बन्धनहीन होकर ही वह चिर सुन्दर, चिर पवित्र और चिर सत्यके मूलस्वरूपकी उपलब्धि कर सकता है । और यह 'मोक्ष' मानवके अन्तःकरणकी पूर्ण शुद्धिका परिणाम है । इसीलिये भारतीय अध्यात्म अन्तःकरणके समूल संशयोन्मूलनपर अत्यधिक महत्त्व देता है; बिना उसके मुक्ति मानता ही नहीं । अन्तः-करणकी शुद्धि (संशयोंका आत्यन्तिक उन्मूलन) किन्हीं बाह्य, भौतिक उपकरणोंद्वारा हो नहीं सकती; उसके लिये तो एक निश्चयात्मक विवेक चाहिये, जो बिना किसी अन्तर्मुखी, सरल और स्वाभाविक प्रक्रियाके सम्भव नहीं है । यह विवेक संशयोन्मूलन कर देगा; फलतः सारी मलिनता, सारे कल्मष, सारी कुरूपता और अपवित्रता एक ही साथ दूर हो जायँगी । मानव भौतिक उपकरणोंसे थककर, आध्यात्मिक उपकरणोंका आश्रय इसी विवेककी प्राप्तिके लिये लिया करता है । सारे धर्म, दर्शन, वेद, पुराण, बाइबिल और कुरान इसी संघर्षके परिणाम हैं—जो कि मानवकी दैव (स्वाभाविक) और दानव (अस्वाभाविक) वृत्तियोंमें अनवरत रूपसे होता रहता है ।

अब हमें संशयोन्मूलन, विवेक-प्राप्ति और उसीके परिणामस्वरूप अपनी जन्मजात प्रवृत्तिकी स्वाभाविक पूर्त्तिके लिये कौन-से परम व्यावहारिक और सरलतम साधनका प्रयोग करना चाहिये—यह प्रश्न साधारणतः प्रत्येक कल्याणाभिलाषी पुरुषके मस्तिष्कमें प्रादुर्भूत हुआ करता है ।

सबसे पहले यह जान लेना चाहिये कि आत्म-कल्याणके दो स्थूल भेद हैं । पहला तो इस दृश्य जगत्के स्थूल कार्य-कलापोंमें साफल्य प्राप्त करना और दूसरा अदृष्ट जगत्—परलोकके लिये संबल एकत्रित करते रहना, जिसका आश्रय लेकर हम शान्तिमय परमपदकी प्राप्तिके लिये भूमिका-निर्माण करते रहें । अब जिस एक ही साधनसे आत्म-कल्याणके इन दोनों अङ्गोंकी सम्मिलित पूर्ति हो सके, उसीको हमें परम व्यावहारिक समझना चाहिये । पहले हमें आत्म-कल्याणका लौकिक दृष्टिकोण समझ लेना चाहिये ।

हमारे जीवनमें व्यावहारिक सत्यताकी रक्षा होती रहे, शारीरिक स्वास्थ्य, सौन्दर्य और श्रीकी वृद्धि होती रहे, साम्पत्तिक आवश्यकताओंकी पूर्त्ति होती रहे और हृदयमें एक शान्तिप्रद पवित्र कल्पना कार्यरत रहा करे, तो यही कल्याणका लौकिक साफल्य कहा

जायगा। यहाँपर एक बात और ध्यान देनेकी है—वह यह कि सांसारिक व्यर्थ-चिन्ताओंसे भ्रम, भ्रमसे असत्यता, निर्बलता, श्रीहीनता; और इन सबसे अशान्तिकी उत्पत्ति हुआ करती है। अशान्तिके कारण ही हम जीवनभर असन्तुष्ट, खोये-से और दुखी बने रहते हैं। तात्पर्य यह है कि सारे अनर्थोंका मूल सांसारिक व्यर्थ चिन्ताएँ ही हैं। यदि इनसे दूर रहा जाय तो उक्त अनर्थोंके केन्द्रस्थल हम न बन सकेंगे। परिणाम यह होगा कि स्वाभाविक ही हमें आत्म-कल्याणकी लौकिक रूप-रेखाकी प्राप्तिमें सफलता होगी।

वह एक ही साधन, जिससे कि लौकिक और पारलौकिक सफलताओंका विघ्न-मूल व्यर्थ-चिन्तन नष्ट हुआ करता है—तन्मयतापूर्वक भगवन्नामस्मरण ही है। इस साधनका प्रश्रय लेकर न हमें योगके असंभाव्य-से काठिन्यसे लोहा लेना पड़ता है और न अपने लौकिक व्यवहारोंमें ही किसी भी प्रकारका व्याघात पहुँचनेकी संभावना रहती है। जीवनभर इसी साधनका संबल लेकर हम सारे विघ्नों, चिन्ताओं, शारीरिक-मानसिक कष्टों या अनेकों तरहकी अपवित्रताओंसे सामना कर विजय प्राप्त कर सकते हैं।

नाम-स्मरणको वैज्ञानिक दृष्टिकोणसे देखनेका प्रयत्न करनेपर आप उक्त कथनकी सत्यता स्वीकार करेंगे। सारे विकार—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर जिनका प्रतिनिधित्व करते हैं,—एक विचित्र आवेशके कारण उत्पन्न होते हैं। आवेश हृदयके दौर्बल्यके कारण उसीके आनुपातिकरूपमें उत्पन्न होता है; अर्थात् जिसका हृदय जितना ही अधिक दुर्बल होता है, उसमें उतनी ही मात्रा और शीघ्रतासे उक्त आवेश उत्पन्न हुआ करते हैं। यदि हम हृदयको अपेक्षाकृत दृढ़ बनाते जायँ, अधिक सहिष्णु बनाते जायँ तो आवेश भी उसी अनुपातमें कम होते जायँगे। सत्यता और विश्वासपूर्वक अधिकाधिक समयतक नाम-स्मरण करनेसे चिन्ता-मुक्ति तो होती ही है, साथ ही हृदयका दौर्बल्य भी दूर होता है। व्यर्थ-चिन्तन ही हार्दिक दुर्बलताका भी तो मूल है।

एक ही चिन्तनमें अपने मन-प्राण नियोजित कर देनेपर स्वाभाविक ही आप व्यर्थ-चिन्तनसे छुटकारा पा जायँगे; क्योंकि आपके पास अनेक अन्तःकरण तो हैं ही नहीं। फलतः कल्याणके दोनों अङ्गोंकी पूर्त्ति सत्वर गतिसे होती रहेगी और मानवकी वह आत्म-सर्वोत्कृष्टतात्मक वृत्ति अपने स्वाभाविक पूर्यर्थक सहायक-को पाकर, अपने मूल स्वरूपकी प्राप्तिकी ओर तीव्र-वेगसे गतिशील हो जायगी। माया, अज्ञान, शैतान—सब प्रताडित और पराजित होकर अपने सारे आकर्षक उपकरणों, शब्दाडम्बरों, अङ्गरागों और छुरी-काँटोंको समेटकर रास्ता नापेंगे। मुखमण्डल एक दैवी श्रीसे समुद्भासित हो जायगा और हृदय एक अभूतपूर्व, अपूर्व शान्तिसे अनुप्लावित होने लगेगा। हमारी वह जन्मजात प्रवृत्ति शान्त होकर, भौतिक आडम्बरोंसे उपरत होकर सच्ची मानवताका स्वरूप धारण कर लेगी।

एक ही वर्षतक सत्यतापूर्वक, नियमपूर्वक, तन्मयतापूर्वक, भगवन्नाम-स्मरण करके स्वयं अनुभूति प्राप्त कीजिये—प्रत्यक्षमें प्रमाण क्या ?

—सम्पतकुमार

* * *

सुख-शान्तिकी प्राप्ति कैसे हो ?

[विरक्त महात्मा श्रीस्वामीजी श्रीअद्वैतानन्दजी महाराजके उपदेश]

(प्रेषक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

जीवमात्र सुख चाहते हैं। ऐसा कोई भी नहीं मिलेगा कि जो सुख न चाहता हो; पर यह सुख कहाँ मिलेगा, यह विचार कोई नहीं करता। इसीलिये सभी संसारी स्त्री, पुत्र, धन आदि पदार्थोंमें सुखकी आशा करते हुए उनके उपार्जनमें रात-दिन लगे रहते हैं। परन्तु जिन मनुष्योंको ये सब वस्तुएँ प्राप्त हैं, वे भी सुखी नहीं देखे जाते। हमने बड़े-बड़े राजा और रानियोंको भी, जिनके कि स्त्री, पुत्र, धन, माल आदि सब मौजूद हैं, रोते हुए देखा है। इन पदार्थोंमें सुख होता तो वे भला क्यों रोते ? लोग इन्हें दुखी देखकर भी यह नहीं विचारते कि जब इनको ही सुख नहीं है तो फिर उन वस्तुओंके मिलनेसे हमको ही कैसे सुख मिलेगा ? प्रथम तो ये वस्तुएँ सबको मिलनी ही दुर्लभ हैं और यदि मिल भी गयीं तो ये दुःखसे सनी हुई और नाशवान् हैं। इससे उनसे सुख कदापि नहीं मिल सकता।

अब यह विचारना चाहिये कि वह कौन-सी वस्तु है जो सदा एकरस रहती है ? तो कहना पड़ेगा कि वह वस्तु है—श्रीभगवान् और उन्हींके मिलनेसे नित्य आनन्द मिल सकेगा। पूज्यपाद प्रातःस्मरणीय श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी महाराजने कहा है—

सुखी मीन जहँ नीर अगाधा। जिमि हरि सरन न एकउ बाधा॥

जब यह निश्चय हो गया कि संसारमें सुख नहीं है, सुख तो भगवान्में ही है, तब भगवान्की प्राप्तिका ही प्रयत्न करना चाहिये।

जब हमने यह निश्चय कर लिया कि भगवान् सुखरूप हैं और संसार अनित्य तथा दुःखरूप है तो हमें अब भगवान्की प्राप्तिकी युक्ति जाननी चाहिये। सब संतों तथा महात्माओंसे और सद्ग्रन्थोंसे पता लगता है कि भगवान् यदि मिल सकते हैं तो प्रेमसे मिल सकते हैं। श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी महाराजने भी रामायणमें कहा है—

रामहि केवल प्रेम पिआरा। जानि लेहु जो जाननि हारा॥

एक प्रख्यात संतने लोगोंको उपदेश किया कि प्रेमसे भगवान्की प्राप्ति होती है। तब लोगोंने आपसे कहा कि स्वामीजी! भगवान्की प्राप्ति प्रेमसे ही होती है, तो यह तो हम तब जानें कि आप शेरके सामने जायँ और वह आपको न खाये और प्रेम करने लगे। स्वामीजी यह सुनकर और उन्हें अपने साथ लेकर एक जंगलमें गये और सब लोग तो पेड़ोंपर चढ़ गये और देखने लगे कि अब क्या तमाशा होता है ? स्वामीजी नीचे खड़े रहे। इतनेमें जंगलमेंसे दहाड़ता हुआ एक शेर आया और वह स्वामीजीके सामने आकर चुप होकर खड़ा हो गया। स्वामीजीने शेरको अपने प्रभुका रूप समझकर उसकी ओर प्रेमभरी दृष्टिसे देखा और उसे छातीसे लगानेको ज्यों ही हाथ बढ़ाया त्यों ही वह फौरन स्वामीजीके चरणोंमें कुत्तेकी तरह लोट गया। यह दृश्य देखकर लोगोंने उनके चरणोंपर गिरकर मान लिया कि प्रेमसे ही श्रीभगवानकी प्राप्ति हो सकती है। जब यह निश्चय हो गया कि प्रेमसे ही भगवत्प्राप्ति होती है तो प्रश्न होता है कि प्रेम कैसे प्राप्त होगा ?

बिना अन्तःकरण शुद्ध हुए ईश्वरमें प्रेम नहीं हो सकता। अन्तःकरण उन्हीं पुरुषोंका शुद्ध होगा

जो ठीक-ठीक अपने-अपने वर्णाश्रमकी क्रिया करेंगे। जैसे भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराजने कहा है—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।

× × × ×

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥

गोस्वामी तुलसीदासजी महाराजने भी कहा है—

धर्म ते बिरति जोग ते ग्याना । ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना ॥

देखो, सर्व संत-महात्माओंका तथा आर्षग्रन्थोंका अभिप्राय यही है कि जो पुरुष अपने वर्णाश्रमकी ठीक-ठीक क्रिया करता है, उसका अन्तःकरण शुद्ध होता है; क्योंकि वर्णाश्रमकी क्रिया करनेसे ही अन्न शुद्ध पैदा होता है, शुद्ध अन्न खानेसे मन शुद्ध होता है और शुद्ध मनकी यही पहचान है कि मन भगवान्के चरणोंमें लगे। किसी संतने कहा है कि मन दो प्रकारका होता है—शुद्ध और अशुद्ध। अशुद्ध मन नाना कामनाओंवाला होता है और शुद्ध मनमें सिर्फ एक भगवत्प्राप्तिकी ही कामना होती है। इसीको प्रेम या अनुराग कहते हैं। गोस्वामीजी महाराज कहते हैं—

मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा। किएँ कोटि जप जोग बिरागा॥

बिना प्रेमके चाहे जितने यज्ञ, दान, तप किये जायँ, भगवत्प्राप्ति नहीं हो सकती। हाँ, यज्ञ-दानादिका फल अवश्य मिलेगा। इसलिये जिन पुरुषोंको श्रीभगवत्प्राप्तिकी इच्छा हो, उनको अपने सनातनधर्मके अनुकूल वर्णाश्रमकी क्रिया करके योग्यता प्राप्त करनी चाहिये। इसके अतिरिक्त और कोई दूसरा उपाय नहीं है। जैसे भूखे पुरुषको बिना भोजनके और किसी उपायसे शान्ति नहीं मिल सकती, चाहे उसे कोई कितना ही रुपया दे, तमाशा दिखलाये या उसे नाना प्रकारकी सुगन्धित वस्तुएँ दे—किसीसे भी उसकी तृप्ति नहीं होगी।

जैसे गेहूँसे गेहूँ ही उत्पन्न होता है, वैसे ही सतियोंसे सत्पुरुषोंकी उत्पत्ति होगी। सती उसीको कहते हैं कि जो एक पतिपर निष्ठा करनेवाली हो। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराजने भी रामचरितमानसमें कहा है—

उत्तम के अस बस मन माहीं। सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं॥

देखो, तुम्हारे घरमें—भारतवर्षमें ऐसी-ऐसी पतिव्रताएँ हुई हैं कि जिनका आजतक नाम हो रहा है और उन्हींके पुत्रोंका भी यशोगान हो रहा है। जैसे सती मदालसा, सुनीति, सावित्री, सीता, पार्वती, दमयन्ती, गान्धारी आदि-आदि। इनका और इनके पुत्रोंका बड़ी श्रद्धासे नाम लिया जाता है। जो माताएँ आजकलके मनुष्योंके बहकावेमें आकर सतीधर्मका त्याग करेंगी और उनसे जो वर्णसंकर सन्तान पैदा होगी, उनसे उनके स्वर्गादिमें स्थित पितर भी गिर जायँगे।

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥
संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥
(गीता १ । ४१-४२)

अतएव अपने सनातनधर्मकी जो रीतियाँ हैं, उन्हींके अनुकूल स्त्री-पुरुषोंको व्यवहार करना चाहिये। इसीसे अन्तःकरण शुद्ध होता है और भगवत्प्रेम तथा श्रीभगवान्की प्राप्ति होकर वास्तविक सुख-शान्ति मिलती है।

आदर्श भक्त हनुमान्

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

श्रीहनुमान्जी भगवान् श्रीरामके सर्वोत्तम दास-भक्त हैं। आपका जन्म वायुदेवके अंशसे और माता अञ्जनीके गर्भसे हुआ था। श्रीहनुमान्जी बालब्रह्मचारी, महावीर, अतिशय बलवान्, बड़े बुद्धिमान्, चतुर-शिरोमणि, विद्वान्, सेवाधर्मके आचार्य, सर्वथा निर्भय, सत्यवादी, स्वामिभक्त, भगवान्के तत्त्व, रहस्य, गुण और प्रभावको भली प्रकार जाननेवाले, महाविरक्त, परम प्रेमी और सदाचारी हैं। आप युद्ध-विद्यामें बड़े ही निपुण, इच्छानुसार रूप धारण करनेमें समर्थ तथा भगवान्के नाम, गुण, स्वरूप और लीलाके बड़े ही रसिक हैं। कहा जाता है कि अब भी जहाँ श्रीरामकी कथा या कीर्तन होता है, वहाँ श्रीहनुमान्जी किसी-न-किसी वेषमें उपस्थित रहते ही हैं। श्रद्धा न होनेके कारण लोग उन्हें पहचान नहीं पाते।

श्रीहनुमान्जीके गुण अपार हैं, भगवान् और उनके भक्तोंके गुणोंका वर्णन कोई भी मनुष्य कैसे कर सकता है। इस विषयमें जो कुछ भी लिखा जाय, वह बहुत ही थोड़ा है। यहाँ संक्षेपमें श्रीहनुमान्जीके चरित्रोंद्वारा उनके गुणोंका कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है।

पहले-पहल जब पम्पा-सरोवरपर श्रीराम और लक्ष्मणसे श्रीहनुमान्जी मिले हैं, वह प्रसंग देखनेसे मालूम होता है कि श्रीहनुमान्जीमें विनय, विद्वत्ता, चतुरता, दीनता, प्रेम और श्रद्धा आदि गुण बड़े ही विलक्षण हैं।

अपने मन्त्रियोंके सहित ऋष्यमूक-पर्वतपर बैठे हुए सुग्रीवकी दृष्टि पम्पा-सरोवरकी ओर जाती है, तो वे क्या देखते हैं कि हाथोंमें धनुष-बाण लिये हुए बड़े सुन्दर, विशालबाहु, महापराक्रमी दो वीर पुरुष इस ओर आ रहे हैं। उन्हें देखते ही सुग्रीव भयभीत होकर श्रीहनुमान्जीसे कहते हैं कि 'हनुमान्! तुम जाकर इनकी परीक्षा करो। यदि ये वालीके भेजे हुए हों तो मुझे इशारेसे समझा देना, जिससे मैं इस पर्वतको छोड़कर तुरंत ही भाग जाऊँ।'

सुग्रीवकी आज्ञा पाकर आप ब्रह्मचारीका रूप धरकर वहाँ जाते हैं और श्रीरामचन्द्रजीको प्रणाम करके उनसे प्रश्न करते हैं। मानस-रामायणमें श्रीतुलसीदासजी उनके प्रश्नका यों वर्णन करते हैं—

को तुम्ह स्यामल गौर सरीरा। छत्री रूप फिरहु बन बीरा॥
कठिन भूमि कोमल पद गामी। कवन हेतु बिचरहु बन स्वामी॥
की तुम्ह तीनि देव महँ कोऊ। नर नारायन की तुम्ह दोऊ॥

× × × ×

जग कारन तारन भव भंजन धरनी भार।
की तुम्ह अखिल भुवन पति लीन्ह मनुज अवतार॥

अध्यात्मरामायणमें भी करीब-करीब ऐसा ही वर्णन है। इसके सिवा वहाँ श्रीरामचन्द्रजी भाई श्रीलक्ष्मणसे हनुमान्जीकी विद्वत्ताकी सराहना करते हुए कहते हैं—

'लक्ष्मण! देखो, यह ब्रह्मचारीके वेषमें कैसा सुन्दर भाषण करता है, अवश्य ही इसने सम्पूर्ण शब्द-शास्त्र बहुत प्रकारसे पढ़ा है। इसने इतनी बातें कहीं, किन्तु इसके बोलनेमें कहीं कोई भी अशुद्धि नहीं आयी।'

वाल्मीकीय रामायणमें तो श्रीरामने यहाँतक कहा है कि 'इसने अवश्य ही सब वेदोंका अभ्यास किया है, नहीं तो यह इस प्रकारका भाषण कैसे कर सकता।' इसके सिवा और भी बहुत प्रकारसे श्रीहनुमान्जीके वचनोंकी सराहना करते हुए वे अन्तमें कहते हैं कि जिस राजाके पास ऐसे बुद्धिमान् दूत हों, उसके समस्त

कार्य दूतकी बातचीतसे ही सिद्ध हो जाया करते हैं !

रामचरितमानसमें आगेका वर्णन बड़ा ही प्रेमपूर्ण है—

भगवान् श्रीरामचन्द्रजी अपना समस्त परिचय देकर श्रीहनुमान्‌जीसे पूछते हैं कि 'हे ब्राह्मण ! बतलाइये, आप कौन हैं ?' यह सुनते ही हनुमान्‌जी श्रीरामको भलीभाँति पहचानकर तुरंत ही उनके चरणोंमें गिर पड़ते हैं, उनका शरीर पुलकित हो जाता है, मुखसे बोला नहीं जाता, टकटकी लगाकर भगवान्‌की रूप-माधुरी और विचित्र वेषको निहारने लगते हैं । कैसा अलौकिक प्रेम है ! फिर धैर्य धारण करके भगवान्‌से कहते हैं—

मोर न्याउ मैं पूछा साँईं । तुम्ह पूछहु कस नर की नाईं ॥
तव माया बस फिरउँ भुलाना । ताते मैं नहिं प्रभु पहिचाना ॥
एकु मैं मंद मोहबस कुटिलहृदय अग्यान ।
पुनि प्रभु मोहि बिसारेउ दीनबंधु भगवान ॥
जदपि नाथ बहु अवगुन मोरें । सेवक प्रभुहि परै जनि भोरें ॥

कितना प्रेम और दैन्यभाव है । इसके बाद विनयपूर्वक सुग्रीवकी परिस्थिति बतलाकर दोनों भाइयोंको अपनी पीठपर चढ़ाकर वे सुग्रीवके पास ले जाते हैं । वहाँ दोनों ओरकी सब बातें सुनाकर अग्निदेवकी साक्षीमें श्रीराम और सुग्रीवकी मित्रता करा देते हैं । बालीका वध करके भगवान् राम भाई लक्ष्मणके सहित प्रवर्षण-पर्वतपर निवास कर वर्षा-ऋतुका समय व्यतीत करते हैं । उधर सुग्रीव राज्य, ऐश्वर्य और स्त्री आदिके मिल जानेसे भोगोंमें फँसकर भगवान्‌के कार्यको भूल जाते हैं । यह देखकर श्रीहनुमान्‌जी राजनीतिके अनुसार सुग्रीवको भगवान्‌के कार्यकी स्मृति कराते हैं और उनकी आज्ञा लेकर वानरोंको बुलानेके लिये देश-देशान्तरोंमें दूत भेजते हैं । कैसी बुद्धिमानी है !

इसके बाद जब श्रीसीताजीकी खोजके लिये सब दिशाओंमें वानरोंको भेजनेकी बातचीत हो रही थी, उस समयका वर्णन श्रीवाल्मीकीय रामायणमें देखनेसे मालूम होता है कि सुग्रीवका श्रीहनुमान्‌जीपर कितना भरोसा और विश्वास था, तथा भगवान् श्रीरामको भी उनकी कार्यकुशलतापर कितना विश्वास था । वहाँ श्रीरामके सामने ही सुग्रीव हनुमान्‌से कहते हैं—

न भूमौ नान्तरिक्षे वा नाम्बरे नामरालये ।
नाप्सु वा गतिभङ्गं ते पश्यामि हरिपुङ्गव ॥
सासुराः सहगन्धर्वाः सनागनरदेवताः ।
विदिताः सर्वलोकास्ते ससागरधराधराः ॥
गतिर्वेगश्च तेजश्च लाघवं च महाकपे ।
पितुस्ते सदृशं वीर मारुतस्य महौजसः ॥
तेजसा वापि ते भूतं न समं भुवि विद्यते ।
तद्यथा लभ्यते सीता तत्त्वमेवानुचिन्तय ॥
त्वय्येव हनुमन्नस्ति बलं बुद्धिः पराक्रमः ।
देशकालानुवृत्तिश्च नयश्च नयपण्डित ॥
(किष्किन्धा० ४४ । ३-७)

'कपिश्रेष्ठ ! पृथ्वी, अन्तरिक्ष, आकाश, देवलोक अथवा जलमें कहीं भी तुम्हारी गतिका अवरोध नहीं देखा जाता । देवता, असुर, गन्धर्व, नाग, मनुष्य इनके समस्त लोकोंका समुद्र और पर्वतोंसहित तुम्हें भलीभाँति ज्ञान है । महाकपे ! तुम्हारी गति, वेग, तेज और फुर्ती—तुम्हारे महान् बलशाली पिता वायुके समान हैं । वीर ! इस भूमण्डलपर कोई भी प्राणी तेजमें तुम्हारी समानता करनेवाला नहीं है; अतः जिस प्रकार सीता मिल सके, वह उपाय तुम्हीं सोचकर बताओ । तुम नीति-शास्त्रके पण्डित हो; बल, बुद्धि, पराक्रम, देश-कालका अनुसरण और नीतिपूर्ण बर्ताव—ये सब एक साथ तुममें पाये जाते हैं ।'

इस प्रकार सुग्रीवकी बातें सुनकर भगवान् श्रीराम हनुमान्‌जीकी ओर देखकर अपना कार्य सिद्ध हुआ ही

समझने लगे। उन्होंने मन-ही-मन अत्यन्त प्रसन्न होकर अपने नामके अक्षरोंसे युक्त एक अँगूठी हनुमान्‌जीके हाथमें देकर कहा—

अनेन त्वां हरिश्रेष्ठ चिह्नेन जनकात्मजा।
मत्सकाशादनुप्राप्तमनुद्विग्नानुपश्यति ॥
व्यवसायश्च ते वीर सत्त्वयुक्तश्च विक्रमः।
सुग्रीवस्य च संदेशः सिद्धिं कथयतीव मे ॥
(किष्किन्धा० ४४ । १३-१४)

'कपिश्रेष्ठ! इस चिह्नके द्वारा जनकनन्दिनी सीताको यह विश्वास हो जायगा कि तुम मेरे पाससे ही गये हो। तब वह निर्भय होकर तुम्हारी ओर देख सकेगी। वीरवर! तुम्हारा उद्योग, धैर्य और पराक्रम तथा सुग्रीवका संदेश मुझे इस बातकी सूचना दे रहे हैं कि तुम्हारे द्वारा इस कार्यकी सिद्धि अवश्य होगी।'

अध्यात्मरामायणमें भी प्रायः इसी प्रकार श्रीरामने हनुमान्‌जीके गुणोंकी बड़ाई की है। वहाँ निशानीके रूपमें अपनी मुद्रिका देकर भगवान् श्रीराम हनुमान्‌जीसे कहते हैं—

अस्मिन् कार्ये प्रमाणं हि त्वमेव कपिसत्तम।
जानामि सत्त्वं ते सर्वं गच्छ पन्थाः शुभस्तव ॥
(४ । ६ । २९)

'कपिश्रेष्ठ! इस कार्यमें तुम्हीं समर्थ हो। मैं तुम्हारा समस्त पराक्रम भलीभाँति जानता हूँ। अच्छा, जाओ; तुम्हारा मार्ग कल्याणकारक हो।'

इसके बाद जब जाम्बवान् और अङ्गद आदि वानरोंके साथ हनुमान्‌जी श्रीसीताजीकी खोज करते-करते समुद्रके किनारे पहुँचते हैं और श्रीसीताका अनुसन्धान न मिलनेके कारण शोकाकुल होकर सब वहीं अनशन-व्रत लेकर बैठ जाते हैं, तब गृध्रराज सम्पातीसे बातचीत होनेपर उन्हें यह पता लगता है कि सौ योजन समुद्रके पार लङ्कापुरीमें राक्षसराज रावण रहता है, वहाँ अपनी अशोकवाटिकामें उसने सीताको छिपा रखा है। तब सब वानर एक जगह बैठकर परस्पर समुद्र लाँघनेका विचार करने लगे। अङ्गदके पूछनेपर सभीने अपनी-अपनी सामर्थ्यका परिचय दिया; परन्तु श्रीहनुमान्‌जी चुप साधे बैठे ही रहे। कैसी निरभिमानता है! यह प्रसङ्ग श्रीवाल्मीकीय रामायणमें बड़ा ही रोचक और विस्तृत है। वहाँ जाम्बवान्‌ने श्रीहनुमान्‌जीकी बुद्धि, बल, तेज, पराक्रम, विद्या और वीरताका बड़ा ही विचित्र चित्रण किया है। वे कहते हैं—

वीर वानरलोकस्य सर्वशास्त्रविदां वर।
तूष्णीमेकान्तमाश्रित्य हनूमन् किं न जल्पसि ॥
... ...
रामलक्ष्मणयोश्चापि तेजसा च बलेन च ॥
... ...
गरुत्मानिव विख्यात उत्तमः सर्वपक्षिणाम् ॥
× × ×
पक्षयोर्यद्बलं तस्य भुजवीर्यबलं तव।
विक्रमश्चापि तेजश्च न ते तेनापहीयते ॥
बलं बुद्धिश्च तेजश्च सत्त्वं च हरिपुङ्गव।
विशिष्टं सर्वभूतेषु किमात्मानं न बुध्यसे ॥
(किष्किन्धा० ६६ । २-७)

'सम्पूर्ण शास्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ तथा वानर-जगत्‌के अद्वितीय वीर हनुमान्! तुम कैसे एकान्तमें आकर चुप साधे बैठे हो? कुछ बोलते क्यों नहीं? तुम तो तेज और बलमें श्रीराम और लक्ष्मणके समान हो। गमन-शक्तिमें विनतापुत्र महाबली गरुडके समान विख्यात हो। उनकी पाँखोंमें जो बल है, वही बल, वही पराक्रम तुम्हारी इन भुजाओंमें भी है। तुम्हारे अंदर समस्त प्राणियोंसे बढ़कर बल, बुद्धि, तेज और धैर्य हैं; फिर तुम अपना स्वरूप क्यों नहीं पहचानते?'

इसके बाद जाम्बवान् उनके जन्मकी कथा सुनाते

हैं तथा बाल्यावस्थाके पराक्रम और वरदानकी बात कहकर उनके बलकी स्मृति दिलाते हुए अन्तमें कहते हैं—

उत्तिष्ठ हरिशार्दूल लङ्घयस्व महार्णवम् ।
परा हि सर्वभूतानां हनुमन् या गतिस्तव ॥
विषण्णा हरयः सर्वे हनुमन् किमुपेक्षसे ।
विक्रमस्व महावेग विष्णुस्त्रीन्विक्रमानिव ॥
(किष्किन्धा० ६६ । ३६-३७)

'वानरश्रेष्ठ हनुमान् ! उठो और इस महासागरको लाँघ जाओ । तुम्हारी गति सभी प्राणियोंसे बढ़कर है । सभी वानर चिन्तामें पड़े हैं और तुम इनकी उपेक्षा करते हो, यह क्या बात है ? तुम्हारा वेग महान् है । जैसे भगवान् विष्णुने (पृथ्वीको नापनेके लिये) तीन डगें भरी थीं, उसी प्रकार तुम छलाँग मारकर समुद्रके उस पार चले जाओ ।' इतना सुनते ही श्रीहनुमान्‌जी तुरंत ही समुद्र लाँघनेके लिये अपना शरीर बढ़ाने लगे ।

रामचरितमानसमें भी इसी आशयका वर्णन है । वहाँ अङ्गदको धैर्य देनेके बाद जाम्बवान् हनुमान्‌जीसे कहते हैं—

कहइ रीछपति सुनु हनुमाना । का चुप साधि रहेहु बलवाना ॥
पवन तनय बल पवन समाना । बुधि बिबेक बिग्यान निधाना॥
कवन सो काज कठिन जग माहीं । जो नहिं होइ तात तुम्ह पाहीं॥
राम काज लगि तव अवतारा । सुनतहिं भयउ पर्बताकारा ॥
कनक बरन तन तेज बिराजा । मानहुँ अपर गिरिन्ह कर राजा ॥

अध्यात्मरामायणमें भी प्रायः इसी तरहका वर्णन है । इसके सिवा पर्वताकार रूप धारण करनेके अनन्तर वहाँ श्रीहनुमान्‌जी कहते हैं—

लङ्घयित्वा जलनिधिं कृत्वा लङ्कां च भस्मसात् ॥
रावणं सकुलं हत्वाऽऽनेष्ये जनकनन्दिनीम् ।
यद्वा बद्ध्वा गले रज्ज्वा रावणं वामपाणिना ॥
लङ्कां सपर्वतां धृत्वा रामस्याग्रे क्षिपाम्यहम् ।
यद्वा दृष्ट्वैव यास्यामि जानकीं शुभलक्षणाम् ॥
(४ । ९ । २२—२४)

'वानरो ! मैं समुद्रको लाँघकर लङ्काको भस्म कर डालूँगा और रावणको कुलसहित मारकर श्रीजनकनन्दिनीको ले आऊँगा । अथवा कहो तो रावणके गलेमें रस्सी डालकर तथा लङ्काको त्रिकूट-पर्वत-सहित बायें हाथपर उठाकर भगवान् रामके आगे ला रखूँ ? या शुभलक्षणा श्रीजानकीजीको देखकर ही चला आऊँ ?'

कितना आत्मबल है ! इसपर जाम्बवान्‌ने कहा—'वीर ! तुम्हारा शुभ हो, तुम केवल शुभलक्षणा श्रीजानकीजीको जीती-जागती देखकर ही चले आओ ।'

समुद्रको लाँघनेके लिये तैयार होकर आपने वानरोंसे जो वचन कहे हैं, उनसे यह पता चलता है कि आपका श्रीरामनामपर बड़ा ही दृढ़ विश्वास था । आप भगवान् श्रीरामके गुण, प्रभाव और तत्त्वको भलीभाँति जानते थे तथा श्रीराममें आपका अविचल प्रेम था । अध्यात्मरामायणमें यह प्रसङ्ग इस प्रकार है—

... ...

पश्यन्तु वानराः सर्वे गच्छन्तं मां विहायसा ॥
अमोघं रामनिर्मुक्तं महाबाणमिवाखिलाः ।
पश्याम्यद्यैव रामस्य पत्नीं जनकनन्दिनीम् ॥
कृतार्थोऽहं कृतार्थोऽहं पुनः पश्यामि राघवम् ।
प्राणप्रयाणसमये यस्य नाम सकृत् स्मरन् ॥
नरस्तीर्त्वा भवाम्भोधिमपारं याति तत्पदम् ।
किं पुनस्तस्य दूतोऽहं तदङ्गाङ्गुलिमुद्रिकः ॥
तमेव हृदये ध्यात्वा लङ्घयाम्यद्य वारिधिम् ।
(५ । १ । २—६)

'वानरो ! तुमलोग इधर देखो, मैं भगवान् रामद्वारा छोड़े हुए अमोघ बाणकी भाँति आकाशमार्गसे जा रहा हूँ । मैं आज ही रामप्रिया जनकनन्दिनी श्रीसीताजीके

दर्शन करूँगा । निश्चय ही अब मैं कृतकृत्य हो चुका; क्योंकि यह कार्य पूरा करके फिर श्रीरघुनाथजीका दर्शन करूँगा । प्राण निकलनेके समय जिनके नामका एक बार स्मरण करनेसे ही मनुष्य अपार संसार-सागरको पारकर उनके परमधामको चला जाता है, उन्हीं भगवान् श्रीरामका दूत, उनके हाथकी मुद्रिका लिये हुए, हृदयमें उन्हींका ध्यान करता हुआ मैं यदि इस छोटे-से समुद्रको लाँघ जाऊँ तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ।'

समुद्र लाँघनेके लिये श्रीहनुमान्‌जीने जो भयानक रूप धारण किया था, उसका वर्णन वाल्मीकीय रामायणमें विस्तारपूर्वक है । यहाँ उसका दिग्दर्शन मात्र कराया जाता है । वहाँ लिखा है—

... ...

ववृधे रामवृद्ध्यर्थं समुद्र इव पर्वसु ॥
निष्प्रमाणशरीरः सँल्लिलङ्घयिषुरर्णवम् ।
बाहुभ्यां पीडयामास चरणाभ्यां च पर्वतम् ॥
स चचालाचलश्चाशु मुहूर्त्तं कपिपीडितः ।
तरूणां पुष्पिताग्राणां सर्वं पुष्पमशातयत् ॥

× × ×

तमूरुवेगोन्मथिताः सालाश्चान्ये नगोत्तमाः ।
अनुजग्मुर्हनूमन्तं सैन्या इव महीपतिम् ॥

'जिस प्रकार पूर्णिमाके दिन समुद्र बढ़ता है, उसी प्रकार भगवान् श्रीरामके कार्यकी सिद्धिके लिये हनुमान् बढ़ने लगे । समुद्र लाँघनेकी इच्छासे उन्होंने अपने शरीरको बेहद बढ़ा लिया और अपनी भुजाओं एवं चरणोंसे उस पर्वतको दबाया तो वह पर्वत काँप उठा । उसपर उगे हुए वृक्षोंके समस्त फूल झड़ गये । जब उन्होंने उछाल मारी तो पर्वतपर उगे हुए साल तथा दूसरे वृक्ष इधर-उधर गिर गये । उनकी जाँघोंके वेगसे टूटे हुए वृक्ष इस प्रकार उनके पीछे चले जैसे राजाके पीछे सेना चलती है ।'

इसके सिवा वहाँपर श्रीहनुमान्‌जीके स्वरूपका आलङ्कारिक भाषामें बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया गया है । वहाँ लिखा है कि उस समय श्रीहनुमान्‌जीकी दस योजन चौड़ी और तीस योजन लंबी परछाईं वेगके कारण समुद्रमें बड़ी सुन्दर जान पड़ती थी । वे परम तेजस्वी, महाकाय कपिवर आकाशमें आलम्बनहीन पंखवाले पर्वतकी भाँति जान पड़ते थे । इससे उनकी लंबाई-चौड़ाईके विस्तारका कुछ पता चलता है ।

यह देखकर मैनाक-पर्वत उनसे विश्राम लेनेके लिये अनेक प्रकारसे प्रार्थना करता है, परन्तु भगवान् श्रीरामका कार्य पूरा किये बिना आपको विश्राम कहाँ! आप उसे केवल स्पर्शमात्र करके ही आगे बढ़ जाते हैं ।

रामचरितमानसमें श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

जेहिं गिरि चरन देइ हनुमंता । चलेउ सो गा पाताल तुरंता ॥
जिमि अमोघ रघुपति कर बाना । एही भाँति चलेउ हनुमाना ॥
जलनिधि रघुपति दूत बिचारी । तैं मैनाक होहि श्रमहारी ॥
हनूमान तेहि परसा कर पुनि कीन्ह प्रनाम ।
राम काजु कीन्हें बिनु मोहि कहाँ बिश्राम ॥

सुरसाको अपने बुद्धि-बलका परिचय देकर आगे जाते-जाते जब समुद्रपर आपकी दृष्टि पड़ती है तो क्या देखते हैं कि एक विशालकाय प्राणी समुद्रके जलपर पड़ा हुआ है । उस विकरालवदना राक्षसीको देखकर वे सोचने लगे—कपिराज सुग्रीवने जिस महापराक्रमी छायाग्राही अद्भुत जीवकी बात कही थी, वह निःसन्देह यही है । ऐसा निश्चय करके उन्होंने अपने शरीरको बढ़ाया । हनुमान्‌जीके शरीरको बढ़ता देखकर सिंहिका भी अपना भयानक मुख फैलाकर हनुमान्‌जीकी ओर दौड़ी । तब हनुमान्‌जी छोटा रूप बनाकर उसके मुखमें गिर पड़े और अपने नखोंसे उसके मर्मस्थलोंको फाड़ डाला । इस प्रकार कुशलता और धैर्यपूर्वक उसे मारकर फिर पहलेकी

भाँति आगे बढ़ गये। कैसा विचित्र कार्यकौशल, धैर्य और साहस है!

इस प्रकार समुद्रको पार करके आप त्रिकूट-पर्वतपर जा उतरे। बिना विश्राम सौ योजनके समुद्रको लाँघनेपर भी आपके शरीरमें किसी प्रकारकी थकावट नहीं आयी। वहाँसे उन्होंने भलीभाँति लङ्काका निरीक्षण किया। फिर लङ्काके समीप जाकर उसके भीतर प्रवेश करनेके विषयमें खूब विचार करके अन्तमें यह निश्चय किया कि रात्रिके समय छोटा रूप बनाकर इसमें प्रवेश करना ठीक होगा। इसके बाद सन्ध्याकालमें जब आप छोटा-सा रूप धारण करके लङ्कापुरीमें प्रवेश करने लगे, तब द्वारपर लङ्कापुरीकी अधिष्ठात्री लंकिनी राक्षसीने उनको देख लिया। उसने श्रीहनुमान्‌जीको डाँट-डपटकर जब उनको लात मारी, तब आपने अपने बायें हाथका एक मुक्का उसके शरीरपर मारा। उसके लगते ही वह रुधिर उगलती हुई पृथ्वीपर गिर पड़ी। फिर उठकर ब्रह्माजीकी बातको स्मरण करके हनुमान्‌जीकी स्तुति करने लगी। और अन्तमें बोली—

धन्याहमप्यद्य चिराय राघव-
स्मृतिर्ममासीद्भवपाशमोचिनी।
तद्भक्तसङ्गोऽप्यतिदुर्लभो मम
प्रसीदतां दाशरथिः सदा हृदि॥
(अध्यात्म० ५। १। ५७)

'आज मैं धन्य हूँ जो चिरकालके बाद मुझे संसार-बन्धनका नाश करनेवाली रघुनाथजीकी स्मृति प्राप्त हुई तथा उनके भक्तका सङ्ग जो अति दुर्लभ है, वह भी मिला। वे दशरथपुत्र श्रीराम सदा ही मेरे हृदयमें प्रसन्नतापूर्वक निवास करें।' रामचरितमानसमें यह प्रसङ्ग इस प्रकार है—

हनुमान्‌जीके प्रहारसे व्याकुल होकर गिर पड़नेके बाद सावधान होकर लंकिनी कहती है—

तात मोर अति पुन्य बहूता। देखेउँ नयन राम कर दूता॥
तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥

इसके बाद हनुमान्‌जी छोटा-सा रूप धारण कर लङ्कापुरीमें सीताकी खोज करते-करते बहुत-से राक्षसोंके घरमें घूम-फिरकर रावणके महलमें जाते हैं। वहाँ रावणके महलकी विचित्र रचना देखते-देखते पुष्पक-विमानको आश्चर्ययुक्त होकर देखते हैं। इसके बाद जिस समय उन्होंने सीताको पहचाननेके लिये रावणके महलमें रावणकी स्त्रियोंको देखकर अपने मनकी स्थितिका वर्णन किया है, उसे देखनेसे यह पता चलता है कि आपकी ब्रह्मचर्य-निष्ठा कितनी ऊँची थी, परस्त्री-दर्शनको आप कितना बुरा समझते थे, आपका कितना सुन्दर विशुद्ध भाव था। वाल्मीकीय रामायणकी कथा है कि जब हनुमान्‌जीने रावणके महलका कोना-कोना छान डाला, परन्तु उन्हें जानकी कहीं दिखायी नहीं पड़ी, उस समय सीताको खोजनेके उद्देश्यसे स्त्रियोंको देखते-देखते उनके मनमें धर्म-भयसे शङ्का हुई। वे सोचने लगे, 'इस प्रकार अन्तःपुरमें सोयी हुई परायी स्त्रियोंको देखना तो मेरे धर्मको एकदम नष्ट कर देगा; परन्तु इन परस्त्रियोंको मैंने कामबुद्धिसे नहीं देखा है। इस दृश्यसे मेरे मनमें तनिक भी विकार नहीं हुआ। समस्त इन्द्रियोंकी अच्छी-बुरी प्रवृत्तियोंका कारण मन ही है और मेरा मन सर्वथा निर्विकार है। इसके सिवा सीताजीको दूसरे तरीकेसे मैं खोज भी नहीं सकता। स्त्रियोंको ढूँढ़ते समय स्त्रियोंके ही बीचमें ढूँढ़ना पड़ता है'—इत्यादि। ऐसे सुन्दर विचार और ऐसा विशुद्ध भाव आपके ही उपयुक्त है।

साधकोंको इससे विशेष शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये और विकट स्थितिमें भी अपने मनमें किसी प्रकारका भी विकार नहीं आने देना चाहिये। वाल्मीकीय

रामायणमें सीताकी खोजका बड़ा ही विचित्र और विस्तृत वर्णन है। यहाँ उसमेंसे बहुत ही थोड़े-से प्रसङ्गका दिग्दर्शनमात्र कराया गया है।

रामचरितमानसमें लिखा है कि सीताको खोजनेके लिये लङ्कामें घूमते-घूमते हनुमान्‌जीकी दृष्टि एक सुन्दर भवनपर पड़ती है, जिसपर भगवान् श्रीरामके आयुध अङ्कित किये हुए हैं। तुलसीके पौधे उसकी शोभा बढ़ा रहे हैं। यह देखकर आप सोचने लगते हैं कि यहाँ तो राक्षसोंका ही निवास है, यहाँ सज्जन पुरुष क्यों निवास करने लगे। उसी समय विभीषण जाग उठते हैं और बार-बार श्रीराम-नामका स्मरण करते हैं। यह देखकर हनुमान्‌जीने सोचा कि निःसन्देह यह कोई भगवान्‌का भक्त है, इससे जरूर पहचान करनी चाहिये। साधुसे कभी कार्यकी हानि नहीं हो सकती।

बिप्ररूप धरि बचन सुनाए। सुनत बिभीषन उठि तहँ आए॥
करि प्रनाम पूँछी कुसलाई। बिप्र कहहु निज कथा बुझाई॥
की तुम्ह हरि दासन्ह महँ कोई। मोरे हृदयँ प्रीति अति होई॥
की तुम्ह रामु दीन अनुरागी। आयहु मोहि करन बड़भागी॥
तब हनुमंत कही सब रामकथा निज नाम।
सुनत जुगल तन पुलक मन मगन सुमिरि गुन ग्राम॥

भगवान्‌के भक्तोंमें परस्पर स्वाभाविक प्रेम कैसा होना चाहिये, इसका यहाँ बड़ा ही सुन्दर चित्र खींचा गया है। विभीषण कहते हैं—

तात कबहुँ मोहि जानि अनाथा। करिहहिं कृपा भानुकुल नाथा॥
तामस तनु कछु साधन नाहीं। प्रीति न पद सरोज मन माहीं॥
अब मोहि भा भरोस हनुमंता। बिनु हरिकृपा मिलहिं नहिं संता॥

तब हनुमान्‌जी कहते हैं—

सुनहु बिभीषन प्रभु कै रीती। करहिं सदा सेवक पर प्रीती॥
कहहु कवन मैं परम कुलीना। कपि चंचल सबही बिधि हीना॥
अस मैं अधम सखा सुनु मोहू पर रघुबीर।
कीन्ही कृपा सुमिरि गुन भरे बिलोचन नीर॥
जानत हूँ अस स्वामि बिसारी। फिरहिं ते काहे न होहिं दुखारी॥
एहि बिधि कहत राम गुन ग्रामा। पावा अनिर्बाच्य बिश्रामा॥

कितना सुन्दर दैन्यभाव, अतुलित विश्वास और अनन्य भगवत्प्रेम है। इसके बाद विभीषणसे सब खबर पाकर हनुमान्‌जी अशोकवाटिकामें जाकर श्रीसीताजीको देखते हैं और मन-ही-मन उनको प्रणाम करते हैं।

अशोकवाटिकामें जाकर श्रीसीताजीसे मिलनेके लिये हनुमान्‌जीने कितनी बुद्धिमानी और युक्तियोंसे काम लिया है, इसका वर्णन वाल्मीकीय रामायणमें बहुत विस्तृत है। वहाँ लिखा है कि बहुत तरहकी युक्तियाँ लगाकर सीताजीसे मिलनेका उपाय सोचते-सोचते अन्तमें हनुमान्‌जी बड़ी सावधानीके साथ एक सघन वृक्षके पत्तोंमें छिपकर बैठ जाते हैं। वहींसे सब ओर दृष्टि घुमाकर देखते हैं। देखते-देखते उनकी दृष्टि सीतापर पड़ती है। उसे देखकर बहुत-से चिह्नोंद्वारा अनुमान लगाकर यह निश्चय करते हैं कि यही जनकनन्दिनी सीता हैं। वहाँ उन्होंने सीताके रहन-सहन और स्वभावका बड़ा ही विचित्र चित्रण किया है। वे सीताके गहनोंको देखकर यह अनुमान लगाते हैं कि भगवान् श्रीरामने सीताजीके अंगोंमें जिन-जिन आभूषणोंकी चर्चा की थी, वे सभी इनके अंगोंमें दिखायी देते हैं। इनमें केवल वे ही नहीं दिखलायी दे रहे हैं जो इन्होंने ऋष्यमूक-पर्वतपर गिरा दिये थे।

इसी प्रकार उनके रूप और गुणोंको देखकर बड़ी बुद्धिमानीसे उन्होंने यह निश्चय कर लिया कि निःसन्देह यही सीता हैं। यह निश्चय हो जानेपर उनको श्रीसीताजीके दुःखसे बड़ा दुःख हुआ और वे मन-ही-मन बहुत विलाप करने लगे।

इसके बाद सीतासे किस प्रकार बातचीत करनी चाहिये, किस समय और कैसे मिलना चाहिये, किस प्रकार उन्हें विश्वास दिलाना चाहिये कि मैं श्रीरामचन्द्रजीका दास हूँ—इस विषयपर भी आपने बड़ी

विचारकुशलता प्रकट की है। ठीक उसी समय रावण बहुत-सी राक्षसियोंको साथ लेकर वहाँ पहुँच जाता है। वह सीताको अनेक प्रकारसे भय दिखलाकर अपने अधीन करनेकी चेष्टा करता है, पर सीता किसी तरह भी अपने निश्चयसे विचलित नहीं होतीं। अन्तमें रावण चला जाता है। तब उसके आज्ञानुसार राक्षसियाँ अनेक प्रकारसे सीताको भय दिखलाती हैं। उसी समय त्रिजटा नामकी राक्षसी अपने स्वप्नकी बात कहकर सीताको धैर्य देती है और उसकी बातें सुनकर वे घोर राक्षसियाँ भी शान्त हो जाती हैं। सीता विरहसे व्याकुल होकर विलाप करने लग जाती हैं।

तब हनुमान्‌जी सीतासे मिलनेका उपयुक्त मौका देखकर अपने पूर्वनिश्चित विचारके अनुसार श्रीरामकी कथाका वर्णन करने लग जाते हैं। श्रीरघुनाथजीका आद्योपान्त समस्त चरित्र सुनकर सीताको बड़ा विस्मय हुआ। अध्यात्मरामायणमें लिखा है कि अन्तमें उन्होंने सोचा कि यह स्वप्न या भ्रम तो नहीं है। ऐसा विचार करके वे कहने लगीं—

येन मे कर्णपीयूषं वचनं समुदीरितम्।
स दृश्यतां महाभागः प्रियवादी ममाग्रतः॥
(५।३।१८)

'जिन्होंने मेरे कानोंको अमृतके समान प्रिय लगनेवाले वचन सुनाये, वे प्रियभाषी महाभाग मेरे सामने प्रकट हों।'

ये वचन सुनकर आप माता सीताके सामने बड़ी विनयके साथ खड़े हो जाते हैं और हाथ जोड़कर उन्हें प्रणाम करते हैं। अकस्मात् एक वानरको अपने सामने खड़ा देखकर सीताके मनमें यह शङ्का होती है कि कहीं रावण तो मुझे छलनेके लिये नहीं आ गया है। यह सोचकर वे नीचेकी ओर मुख किये हुए ही बैठी रहती हैं। रामचरितमानसमें उस समय श्रीहनुमान्‌जीके वचन इस प्रकार हैं—

राम दूत मैं मातु जानकी। सत्य सपथ करुना निधान की॥
यह मुद्रिका मातु मैं आनी। दीन्हि राम तुम्ह कहँ सहिदानी॥

इसके बाद श्रीजानकीजीके पूछनेपर उन्होंने जिस प्रकार वानरराज सुग्रीवके साथ भगवान् श्रीरामकी मित्रता हुई, वह सारी कथा विस्तारपूर्वक सुना दी तथा श्रीराम और लक्ष्मणके शारीरिक चिह्नोंका एवं उनके गुण और स्वभावका भी वर्णन किया। ये सब बातें सुनकर जानकीजीको बड़ी प्रसन्नता हुई। इस प्रसङ्गका वर्णन श्रीवाल्मीकीय रामायणमें बड़ा विस्तृत और रोचक है।

रामचरितमानसमें श्रीतुलसीदासजीने बहुत ही संक्षेपमें इस प्रकार कहा है—

कपि के बचन सप्रेम सुनि उपजा मन बिस्वास।
जाना मन क्रम बचन यह कृपासिंधु कर दास॥
हरिजन जानि प्रीति अति गाढ़ी। सजल नयन पुलकावलि बाढ़ी॥

इसके बाद श्रीसीताजी हनुमान्‌जीसे कहती हैं—

बूड़त बिरह जलधि हनुमाना। भयहु तात मो कहुँ जल जाना॥
अब कहु कुसल जाउँ बलिहारी। अनुज सहित सुख भवन खरारी॥
कोमलचित कृपाल रघुराई। कपि केहि हेतु धरी निठुराई॥
सहज बानि सेवक सुखदायक। कबहुँक सुरति करत रघुनायक॥
कबहुँ नयन मम सीतल ताता। होइहहिं निरखि स्याम मृदु गाता॥
बचनु न आव नयन भरे बारी। अहह नाथ हौं निपट बिसारी॥

इस प्रकार सीताको विरह-व्याकुल देखकर हनुमान्‌जी कहते हैं—

मातु कुसल प्रभु अनुज समेता। तव दुख दुखी सुकृपा निकेता॥
जनि जननी मानहु जियँ ऊना। तुम्ह ते प्रेमु राम के दूना॥
रघुपति कर संदेसु अब सुनु जननी धरि धीर।
अस कहि कपि गदगद भयउ भरे बिलोचन नीर॥

इसके बाद बड़ी बुद्धिमानीके साथ श्रीरामके प्रेम और विरह-व्याकुलताकी बात श्रीहनुमान्‌जीने माता सीताको सुनायी। अन्तमें कहा कि श्रीरामचन्द्रजीने कहा है—

तत्त्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मनु मोरा॥
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं॥

इस प्रकार श्रीरामका प्रेमपूर्ण सन्देश सुनकर सीता

प्रेममें मग्न हो गयीं, उन्हें अपने शरीरका भी भान नहीं रहा। तब हनुमान्‌जी फिर कहते हैं—

डर आनहु रघुपति प्रभुताई। सुनि मम बचन तजहु कदराई॥
निसिचर निकर पतंग सम रघुपति बान कृसानु।
जननी हृदयँ धीर धरु जरे निसाचर जानु॥

ये सब बातें सुनकर जब जानकीजीने यह कहा कि 'सब वानर तो तुम्हारे ही जैसे होंगे। राक्षसगण बड़े भयानक और विकराल हैं। इन सबको तुमलोग कैसे जीत सकोगे, मेरे मनमें यह सन्देह हो रहा है।' यह सुनकर हनुमान्‌जीने अपना भयानक पर्वताकार रूप सीताको दिखलाकर अपना छिपा हुआ प्रभाव प्रकट कर दिया। उसे देखते ही सीताके मनमें विश्वास हो गया।

तब हनुमान्‌जीने बड़ी दीनताके साथ सीताजीसे कहा—

सुनु माता साखामृग नहिं बल बुद्धि बिसाल।
प्रभु प्रताप तें गरुड़हि खाइ परम लघु ब्याल॥

इस प्रकार भक्ति, प्रताप, तेज और बलसे भरे हुए हनुमान्‌जीके वचनोंको सुनकर सीताको बहुत सन्तोष हुआ। सीताने प्रसन्न होकर हनुमान्‌जीको बहुत-से वरदान दिये। साथ ही यह भी कहा कि भगवान् श्रीराम तुमपर कृपा करेंगे। यह बात सुनते ही हनुमान्‌जी प्रेममें मग्न हो गये और बार-बार चरणोंमें प्रणाम करके हाथ जोड़े हुए बोले—

अब कृतकृत्य भयउँ मैं माता। आसिष तव अमोघ बिख्याता॥

इससे यह प्रकट होता है कि हनुमान्‌जीका श्रीरघुनाथजीके चरणोंमें कितना गूढ़ प्रेम है।

अध्यात्मरामायणमें लिखा है कि बातों-ही-बातोंमें सीताजीने जब यह पूछा कि 'वानर-सेनाके सहित श्रीराम इस बड़े भारी समुद्रको पार कर यहाँ कैसे आ सकेंगे?' तब हनुमान्‌जी कहते हैं—

हनूमानाह मे स्कन्धावारुह्य पुरुषर्षभौ।
आयास्यतः ससैन्यश्च सुग्रीवो वानरेश्वरः॥
विहायसा क्षणेनैव तीर्त्वा वारिधिमाततम्॥

'वे दोनों नरश्रेष्ठ मेरे कंधोंपर चढ़कर आ जायँगे और समस्त सेनाके सहित सुग्रीव भी आकाशमार्गसे क्षणमात्रमें ही इस महासमुद्रसे पार होकर आ जायँगे।'

इस प्रसङ्गसे भी श्रीहनुमान्‌जीके बल, वीर्य और साहसका परिचय मिलता है। इसके बाद माता सीतासे आज्ञा लेकर अशोक-वाटिकाके फल खाकर श्रीहनुमान्‌जीने अपने स्वामी श्रीरामका विशेष कार्य करनेकी इच्छासे अशोकवाटिकाके वृक्षोंको तहस-नहस करके समस्त वाटिकाको विध्वंस कर दिया। यह समाचार पाकर रावणने अपनी बड़ी भारी सेना और अक्षयकुमारको भेजा। उन सबके साथ हनुमान्‌जीका बड़ा भयंकर संग्राम हुआ। बड़ी वीरता और युद्धकौशलसे उन्होंने अनायास ही जम्बुमाली, मन्त्रीके सात पुत्रों, पाँच सेनापतियों और अक्षयकुमारको मार डाला। इस युद्धके प्रसङ्गसे श्रीहनुमान्‌जीका अतुलित बल-पौरुष और युद्ध-कौशल स्पष्ट व्यक्त होता है। श्रीवाल्मीकीय रामायणमें इसका बड़ा सुन्दर वर्णन है। श्रीहनुमान्‌जीके अतुलित पराक्रमका चित्र खींचते हुए वहाँ लिखा है—

तलेनाभ्यहनत् कांश्चित् पादैः कांश्चित्परंतपः।
मुष्टिभिश्चाहनत्कांश्चिन्नखैः कांश्चिद्व्यदारयत्॥
प्रममाथोरसा कांश्चिदूरुभ्यामपरानपि।
केचित्तस्यैव नादेन तत्रैव पतिता भुवि॥
(सुन्दर० ४५। १२-१३)

'हनुमान्‌जीने उन राक्षसोंमेंसे किसीको थप्पड़ मारकर गिरा दिया, कितनोंको पैरोंसे कुचल डाला, कइयोंका मुक्कोंसे काम तमाम कर दिया और बहुतोंको नखोंसे फाड़ डाला। कुछको छातीसे रगड़कर उनका कचूमर निकाल दिया तो किन्हीं-किन्हींको दोनों जाँघोंसे दबोचकर पीस डाला। कितने ही राक्षसोंका तो उनकी भयानक गर्जनासे ही प्राणान्त हो गया।'—इत्यादि।

(शेष फिर)

श्रीभगवान्‌के दिव्य गुण

(लेखक—पण्डित श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, एम्० ए०, आचाय, शास्त्री)

श्रीभगवान् अनन्तगुणावलीसे विभूषित हैं। उनके वे गुण दिव्य हैं, स्वाभाविक हैं। जिस प्रकार लवणमें लावण्य स्वाभाविक है अथवा जिस प्रकार सितामें माधुर्य स्वाभाविक है, उसी प्रकार भगवान्‌के निरतिशय गुण भी स्वाभाविक हैं, स्वरूपभूत हैं, आगन्तुक नहीं—

गुणैः स्वरूपभूतैस्तु गुण्यसौ हरिरीश्वरः।
(ब्रह्मतर्क)

वे दिव्य गुण समस्त हेय गुणोंसे विरुद्ध हैं। हेय गुणोंका तात्पर्य प्राकृत गुणोंसे है। सत्त्व, रज और तम प्राकृत गुण हैं—

सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्नात्मनो गुणाः।
(भागवत)

ये तीनों ही गुण भगवान्‌में नहीं हैं—

सत्त्वादयो न सन्तीशे यत्र च प्राकृता गुणाः।
स शुद्धः सर्वशुद्धेभ्यः पुमानाद्यः प्रसीदतु॥
(विष्णुपुराण)

अतएव भगवान् निर्गुण कहलाते हैं—

ह्लादतापकरी मिश्रा त्वयि नो गुणवर्जिते।
(विष्णुपुराण)

प्रकृति-गुणरहित होनेसे भगवान् निर्गुण हैं और आत्म-गुणसहित होनेसे वे सगुण हैं। भगवान्‌के अप्राकृत, दिव्य कल्याणगुणोंसे विमुग्ध होकर ऐसे-ऐसे महामुनि भी, जो कि चिज्जडग्रन्थिको खोलकर आत्माराम बन गये हैं, उरुक्रम भगवान्‌की अहैतुकी सेवा किया करते हैं—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः॥
(भागवत)

भगवान्‌के गुणोंको शेष और शारदा भी पूर्णरूपसे नहीं कह सकते—

विष्णोर्नु वीर्यगणनां कतमोऽर्हतीह। (ऋग्वेद)
गुणात्मनस्तेऽपि गुणान् विमातुं
हितावतीर्णस्य क ईशिरेऽस्य।
कालेन यैर्वा विमिताः सुकल्पै-
र्भूपांसवः खे मिहिका द्युभासः॥
(भागवत)

वे गुण सत्य, ज्ञान, आनन्द, सत्यकामता, सत्य-सङ्कल्पता आदि अनन्त हैं—

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। (तैत्तिरीयोपनिषद्)
विज्ञानमानन्दं ब्रह्म। (बृहदारण्यक०)
यः सर्वज्ञः सर्ववित्। (मुण्डकोपनिषद्)
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्। (तैत्तिरीयोपनिषद्)
सत्यकामः सत्यसंकल्पः। (छान्दोग्य०)
ह्लादिनी सन्धिनी संवित्। (विष्णुपुराण)

भगवान्‌के सौशील्य, वात्सल्य, माधुर्य आदि अनन्त गुणोंमेंसे भक्तगण छः गुणोंको मुख्य मानते हैं।

नमस्ते वासुदेवाय शान्तानन्तचिदात्मने।
अजिताय नमस्तुभ्यं षाड्गुण्यनिधये नमः॥

और—

शान्ताय सुविशुद्धाय तेजसे परमात्मने।
नमः सर्वगुणातीतषाड्गुण्यायातिवेधसे॥
(ब्रह्मतन्त्र)

पाञ्चरात्रके अनुसार ये छः गुण हैं—१ ज्ञान, २ बल, ३ ऐश्वर्य, ४ वीर्य, ५ शक्ति और ६ ओज—

त्रिभिर्ज्ञानबलैश्वर्यवीर्यशक्त्योजसां गुणैः।
(ब्रह्मतन्त्र)

विष्णुपुराणका वचन है कि ज्ञानादि गुणषट्कको भग कहते हैं—

ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः।
भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः॥

स्थानान्तरमें—१ ऐश्वर्य, २ ज्ञान, ३ कीर्त्ति, ४ कान्ति, ५ धर्म और ६ वैराग्यको भग कहा गया है—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य ज्ञानस्य यशसः श्रियः।
धर्मवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीङ्गना॥
(विष्णुपुराण)

ये छः गुण जिनमें पूर्ण होते हैं, वे ही वास्तवमें भगवान् हैं। ऋषि-महर्षि आदिके लिये भगवान् शब्दका प्रयोग औपचारिक है—

तत्र पूज्यपदार्थोक्तिपरिभाषासमन्वितः ।
शब्दोऽयं नोपचारेण त्वन्यत्र ह्युपचारतः ॥

(विष्णुपुराण)

समस्त वस्तुओंका युगपत् साक्षात्कार ज्ञान कहलाता है। श्रीभगवान् वर्त्तमान तो क्या, समग्र अतीत और अनागतको भी जानते हैं—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥

(गीता ४ । ५)

लीला करते हुए भगवान् जीवोंको अज्ञानिवत् प्रतीत होते हैं, किन्तु किसी भी लीलामें उनका ज्ञान लुप्त नहीं होता। सीताजीके रावणद्वारा हरण किये जानेपर भगवान् श्रीराम रो रहे थे और उन्हें इधर-उधर ढूँढ़ रहे थे। पार्वतीजीको यह दृश्य देखकर श्रीरामकी विज्ञानघनतामें सन्देह हुआ, तब शिवजीकी अनुमति लेकर श्रीरामकी परीक्षा लेनेके लिये वे सीताजीका रूप धारण कर उनके सम्मुख उपस्थित हुईं। श्रीराम तत्क्षण पार्वतीजीको प्रणाम कर बोले—'कहिये, माताजी ! आज बिना शिवजीके यहाँ वनमें कैसे विचरण कर रही हैं ?'

धारण करनेवाले गुणको बल कहते हैं। विविध चेतनाचेतन स्थावर-जङ्गम विश्व-ब्रह्माण्ड-निचय भगवान्के बलके लवलेशसे ही विधृत हैं—

एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः। एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठतः ॥

(बृहदारण्यक०)

नियमन-सामर्थ्य ऐश्वर्य है। पृथिव्यादि आत्मान्त वस्तुजातका नियमन भगवान्के ऐश्वर्यसे ही हो रहा है—

यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः.........य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥

(बृहदारण्यकोपनिषद्)

किसी प्रकारका विकार न होना वीर्य है। इसी गुणसे भगवान् अच्युत कहलाते हैं। दुग्धकी दधिभावापत्ति विकार है। यही परिणाम है जो कि प्रकृतिके साम्राज्यमें सर्वत्र अधिगत है। प्रकृतिसे परे होनेके कारण भगवान् निर्विकार हैं। अनेक रूप धारण करना विकार नहीं कहलाता; जैसे सुवर्णका कुण्डल बनना अथवा कटक बनना सुवर्णका विकार न होकर केवल उसका संस्थान-भेद है, क्योंकि कुण्डलावस्थामें अथवा कटकावस्थामें भी सुवर्णत्व अव्याहत रहता है। इसी प्रकार भगवान् धनुर्बाणधर श्रीरामरूपमें हों अथवा मुरली-मनोहर श्रीकृष्णरूपमें, उनका प्रकृतिपरत्व अक्षुण्ण रहता है।

अघटितको घटित करनेवाला अथवा असम्भवको भी सम्भव करनेवाला गुण शक्ति है। पर्वतको राई और राईको पर्वत बना देना इत्यादि शक्तिके विलास हैं।

योगियोंको भी चमत्कृत करनेवाला भगवान्का विचित्र कार्य-कलापकौशल, उनकी अवाङ्मनसगोचर शक्तिका ही व्यापार है—

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ।

पराभिभवसामर्थ्य ओज कहलाता है। इसीको तेज कहते हैं। इसी गुणसे भगवान् दुरासद, दुराधर्ष और दुरतिक्रम रिपुचक्रका अनायास दमन कर लेते हैं। दुर्योधनादि अनेक प्रतिपक्षी महारथी कौरवसभामें सन्धिसन्देशहारी श्रीकृष्णको वशमें करना चाहते थे, परन्तु उनके अलौकिक ओजसे सब-के-सब स्तब्ध और किंकर्त्तव्यविमूढ़ रह गये।

श्रीभगवान्के दिव्य गुणोंकी ऐसी ही महिमा है।

नवधा भक्ति

श्रवण

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

जिन्ह के श्रवन समुद्र समाना। कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना॥
भरहिं निरंतर होहिं न पूरे। तिन्ह के हिय तुम्ह कहुँ गृह रूरे॥

'तुम दोनों क्या कह रहे थे ?'

'कुछ भी तो नहीं ! यों ही हँसी कर रहे थे ।'

'तुम छिपा रहे हो !'

'हाँ, छिपा ही रहे हैं ! हम एक संतकी चर्चा कर रहे थे !' अन्तमें हम दोनों खूब जोरसे हँस पड़ते, यह सफेद झूठ बोलकर ।

'अच्छा, मत बताओ !' मुझे बड़ा खेद होता ये भरे शब्द सुनकर । मुख फेर लेता । जानता था कि वे छोटे-छोटे नेत्र भर आये होंगे ।

आरम्भमें जब मैं यहाँ रहने लगा था, ये शब्द मुझे बहुत चकित करते थे । बहुत दुखी होता था इनसे । बहुत देरतक समझाता था उनको । धीरे-धीरे अभ्यस्त होता गया । फिर मैंने भी उपेक्षा प्रारम्भ की । दूसरा कोई उपाय था भी नहीं ।

पता नहीं, क्यों यह बात उनकी समझमें ही नहीं आती कि हमारी चर्चा सदा संतों और भगवान्‌को लेकर ही नहीं होती । हम अभी ऐसे साधु नहीं । हँसी-मजाक, मित्रवर्ग, आस-पास और काम-काजके बहुत-से दूसरे विषय भी हैं हमारी चर्चाके लिये । उनके घरमें या अन्यत्र कहीं भी दो क्षणके लिये जानेपर हमने कोई बात की और उन्होंने दूरसे हिलते होठ देखे, प्रश्न प्रारम्भ हो गये ।

मेरा घर तो न होनेके बराबर है । लगभग तीन वर्षसे अपने इन्हीं मित्रके घर रहता हूँ । अब तो इसे ही मैंने घर समझ लिया है । वे मेरे सुहृद्‌की माता हैं—बस । उनकी हुलिया न दूँगा । मैं उन्हें माताजी कहता हूँ । उनका ध्यान मेरे ही मनमें रहने दीजिये । उससे आपका कुछ बनना-बिगड़ना है नहीं । हम दोनों मित्र प्रायः साथ ही रहते, खाते-पीते और कहीं बाहर जाना हुआ तो साथ ही जाते हैं ।

माताजी नहीं चाहतीं कि हम घरसे कहीं दूर जायँ । हम जब स्नानादि करने लगते हैं, उसी समय झटपट वे भी स्नान कर लेती हैं । साथ ही भोजन कर लेती हैं । ऐसा न हो कि हम भगवच्चर्चा करने लगें और वे उपस्थित न हो सकें ! इसका उन्हें बड़ा भय रहता है । दिनभर ही नहीं, रात्रिके दस-ग्यारह बजेतक बाहर दरवाजेपर ही बैठी रहती हैं । रात्रिमें जब हम नींद लेने लगते हैं, तब वे कहीं उठकर जाती हैं ।

उन्हें कोई किसी कामसे घरमें बुलाये या उनसे कुछ पूछे, यह बहुत अखरता है । जहाँतक हो सकता है, टाल-मटोल कर जाती हैं । विवश होकर कभी उठना पड़ता है तो उस समय उनकी भाव-भंगी देखनेयोग्य होती है । मानो उनका प्रत्येक रोम कहता है—'कहाँकी विपत्ति आयी ।'

मेरा एक खड़ाऊँ लेकर वे बैठ जाती हैं । यही उनका आसन है । निकट मिल जाता है । कोई बाहरका आदमी आता दिखायी पड़ा तो प्रश्न हो जाता है—'कौन आ रहा है ?' अर्थात् 'मुझे बैठे रहना चाहिये, घर चले जाना चाहिये या दालानमें ही हो रहनेसे काम चल जायगा ? मित्रोंमेंसे कोई हुआ तो वे प्रसन्न हो जायँगी; क्योंकि तब सत्संगकी आशा हो

जाती है। कोई ऐसे भी हैं जो दुनियाभरकी बातें करेंगे और कुछ मध्यमें 'भजन कैसे हो ?' भी पूछ लेंगे। माताजी ऐसोंको जानती हैं। दालानमेंसे वे सुनती रहेंगी कान लगाये। कुछ आते हैं इधर-उधरकी हाँकनेवाले। तब वे घर चली जायँगी। उनके कान या नेत्र सावधान रहेंगे। उनके जाते ही वे आ जायँगी। 'कहाँका घनचक्कर आ गया था!' कहना नहीं होगा कि ऐसे लोगोंका आना उन्हें तनिक भी पसंद नहीं।

चुपचाप बैठी रहती हैं। उन्हें न कुछ पूछना रहता और न कहना। कुछ पूछना या कहना हो भी तो संकोचके कारण सप्ताह बीत जाते हैं उसे मनमें ही। हमलोग इधर-उधरकी बातें करते रहेंगे और वे सिर झुकाये बैठी रहेंगी। जैसे ही भगवच्चर्चा या किसी साधु-संतका नाम आया, बोलनेवालेके मुखपर उनके नेत्र जम जायँगे। मानो वे कह रही हों—'अब तुम ठीक कर रहे हो! व्यर्थकी बातोंमें न पड़कर प्रभुके गुणगानमें ही क्यों नहीं लगे रहते ?'

गीता, भागवत—इतना तो नियमतः चलता है। कुछ और भी रहता ही है। माताजीको दिनभर यों ही नहीं बैठे रहना पड़ता। उनकी परितृप्ति कहाँ है ? ऐसा नैष्ठिक श्रोता कोई मेरे देखनेमें नहीं आया। उन्हें कुछ-न-कुछ सुनते ही रहना चाहिये, चाहे वह दो सौ बार सुनी बात हो। उनके नेत्र और कान यही कहते मिलेंगे 'कितनी सुन्दर कथा है!' उनमें वही प्यास, वही उत्सुकता मैंने सदा देखी है जो किसी रामायणीसे एक गूढ़ चौपाईका अर्थ पूछनेके पश्चात् किसी ग्रामीणमें होती है। केवल वह भगवान् या उनके भक्तोंकी चर्चा भर होनी चाहिये। रामायणकी चौपाइयाँ वह किसीके मुखसे उतनी ही सावधानीसे सुनती हैं, जितनी सावधानीसे अपने पुत्रके मुखसे भागवतके श्लोकार्थ।

× × ×

(२)

'माताजी कहाँ हैं ?'

'वृन्दावन गयी हैं! उन्हें गये तो आज एक महीना हो गया।'

मैं चौंका नहीं। जानता हूँ कि अब घरपर उनका मन लगता नहीं। उन्हें कुछ सुननेको यहाँ नहीं मिलता। मैं आज पूरे एक वर्षपर घर आया हूँ और मेरे मित्र बीचमें चार दिनके लिये आ चुके हैं। हम दोनोंने एक वर्ष पूर्व साथ ही प्रस्थान किया था। भाग्यने पृथक् कर दिया, पर घर कोई लौटा नहीं। अब वहाँ स्थिर रहनेकी कोई सम्भावना नहीं।

माताजी क्या करें ? इस नन्हेसे गाँवमें सब अपने-अपने धंधेमें लगे रहते हैं। उन्हें कौन रामायण सुनायेगा ? वे कुछ पढ़ तो लेती हैं; अब दिनभर रामायण, भक्तमाल और ऐसी ही दूसरी पुस्तकोंके पीछे पड़ी रहती हैं। पर दृष्टि दुर्बल हो गयी है। थकावट आ जाती है नेत्रोंमें। पढ़नेमें उतना आनन्द भी तो नहीं आता, जितना सुननेमें आता है।

गङ्गाकिनारे दो मीलपर एक साधु रहते हैं। उन्हें घरसे आटा-दाल प्रायः भेज दिया जाता है। इस वृद्धावस्थामें भी माताजी प्रातः उतनी दूर स्नान करने जाती हैं। उन्होंने अपना साथ बना लिया है। कुछ और भी स्त्रियाँ स्नान करने जाती हैं। वहाँ साधु रामायण सुनाते हैं। वृद्ध हैं, पढ़े-लिखे नहीं; फिर भी किसी प्रकार रामायण पढ़ लेते हैं। अयोध्या, मिथिला, चित्रकूटकी कथाएँ या साधुओंके चमत्कार खूब सुनाते हैं। वहाँ बैठनेको बहुत थोड़ा समय है। साथकी

स्त्रियाँ रुक नहीं सकतीं और अकेले आना इधर लोकाचारके विरुद्ध है। क्या हानि? थोड़ा समय तो मिलता है।

किसी-न-किसी वृद्धाको माताजी प्रस्तुत कर लेती हैं साथके लिये। काशी, प्रयाग, वृन्दावनमें अब उनके महीनेभरसे अधिक रहनेमें भी असुविधा नहीं। कहीं कोई सम्बन्धी हैं, कहीं मैं और कहीं मेरे मित्र (उनके पुत्र)। वे अब घर रहना ही नहीं चाहतीं। घरपर न रहनेसे कोई हानि होती है, यह उनके मनसे जाने कबकी निकल गयी है।

मैंने एक बार उन्हें वृन्दावनमें देखा। प्रातः पाँच बजे वे पहुँच जाती थीं कीर्तनमें। दिनमें कोई प्रोग्राम उनसे छूटता नहीं। कोई प्रोग्राम न चल रहा हो तो कहीं दो-चारकी टोली बैठी अवश्य कुछ चर्चा कर रही होगी। माताजी ऐसी ही किसी टोलीके पास पीछे एक ओर सिकुड़ी मिल जायँगी। उन्हें पता है कि किन-किन महात्माओंके पास सत्संग चलता रहता है।

उनको अपने कार्य तो कुछ रहते ही नहीं। कब स्नानादिसे वे छुट्टी पा लेती हैं, कुछ पता नहीं। सबसे कम समय लगता है उन्हें। सुनना जो रहता है। सुनना—बराबर सुनना।

× × × ×

'आज घरमें लड़ाई हो गयी दीखती है!' माताजी उदास थीं और मैं जानता हूँ कि भाभीसे उनकी पटती नहीं। आज अवश्य कुछ हो गया होगा।

'घरमें तो नहीं, मनमें लड़ाई हो गयी है!' मैं यह भी जानता हूँ कि माताजी अब बात-बातपर झुँझलातीं नहीं। वे अपनी ही समालोचना अधिक करने लगी हैं।

'भाभीने कुछ कहा क्या?' मेरा सन्तोष नहीं हुआ था।

उन्होंने कुछ नहीं कहा। यदि कह भी दें तो मुझे सुन लेना चाहिये! घरका सारा काम करती हैं, यदि झुँझला जायँ तो क्या मुझे नहीं चुप रहना चाहिये?' मैंने देखा कि बात तो कुछ है।

'बात क्या हुई?'

'बात तो कुछ नहीं; पर मेरे सिर क्यों दुर्वासा सवार रहते हैं?' क्रोधका उन्होंने यह नाम रख लिया है।

धीरे-धीरे पता लगा कि वे रामायणमें 'क्रोध पाप कर मूल' पढ़कर चौंकी हैं। इतना सुनना, इतना पढ़ना और उसपर भी मनन! मैं कम आश्चर्यमें नहीं था। वैसे माताजी पहले भी जब कभी कुछ बड़े संकोचसे पूछती थीं तो उनका प्रश्न इतना गम्भीर होता था कि कभी-कभी मैं कह पड़ता 'आप तो इन्हीं बातोंका स्वप्न भी देखती होंगी।'

उन्हें सुननेसे तृप्ति नहीं, सुनने या पढ़नेसे अवकाश नहीं; फिर भी उसे वे हृदयमें रखती जाती हैं! उसपर मनन भी कर लेती हैं। आश्चर्य करनेकी कोई बात है नहीं। ऐसा न होता तो उनका वह क्षण-क्षणपर रुष्ट होनेवाला स्वभाव इतना गम्भीर और शान्त न बन गया होता। वे इतनी उदार और अतिथि-सत्कारकी पक्षपातिनी न हो गयी होतीं।

'तूने क्या खाया है?' गाँवमें प्रायः गरीबोंके घर हैं। मजदूरोंके लड़कोंको दोनों समय भोजन कहाँ? माताजी पूछ लेती हैं प्रायः और उस लड़केको कुछ-न-कुछ मिल भी जाता है। यह क्या देहातमें उसके लिये, जिसने सदासे काम लेना ही सीखा हो, छोटा परिवर्तन है?

उनमें कितने परिवर्तन हो गये, सम्भवतः उन्हें स्वयं पता नहीं है। यह सब हो गया प्रयासके बिना ही, मैं ऐसा नहीं मानता। इतना सुनना और फिर उसे सोचना क्या छोटा प्रयास है ?

× × × ×

(३)

'यह ढोल कहाँ बज रहा है ?' मैं इस बार डेढ़ वर्षपर लौटा था।

'घरमें कीर्तन हो रहा है।' पता लग गया कि माताजीने लगभग छः महीनेसे यह कीर्तन प्रारम्भ कराया है। अपने-अपने घर सबको भोजनादि कराके स्त्रियाँ यहाँ एकत्र हो जाती हैं नौ-दस बजे, और दो-तीन घंटे रात्रिमें झाँझ-ढोल बजाकर वे कीर्तन करती हैं।

'कल तो अखण्ड कीर्तन है। प्रत्येक पूर्णिमाको अष्ट प्रहरका अखण्ड होता है !' मुझे आशा नहीं थी कि इस दस घरके ग्राममें केवल स्त्रियाँ अखण्ड कीर्तन भी चला सकती हैं। मजदूरोंकी स्त्रियोंको इतना अवकाश नहीं और ब्राह्मणोंके कुल चार-पाँच घर हैं। पता लगा कि यहाँ ड्यूटीका प्रश्न ही नहीं। सब बैठ जाती हैं और बारी-बारीसे अपने घरोंमें रोटी बनाकर घरके लोगोंको खिला भी आती हैं। जब प्रत्येक बीस घंटे बैठे तो अखण्ड कीर्तनमें क्या बाधा ?

'घरपर रहना तो पड़ता ही है। तुम दोनों तो पुरुष हो, पर झाड़कर छू हो गये !' माताजीने कुछ दुःखित होकर कहा। 'मुझे तो एकाध महीने ही कहीं रहनेको मिल पाता है। यहाँ भगवान्का नाम सुननेको मिल जाय, इसलिये यह किया है। थोड़ी देर रामायण भी होती है।'

मुझे किसी संतका एक दोहा स्मरण आ रहा था—

सुनिबेको फल गुनब है, गुनिबे को फल ग्यान।
ग्यान को फल हरिनाम है, कह स्रुति संत पुरान॥

ज्ञानकी बात तो मैं नहीं जानता; पर उस ज्ञानका फल यहाँ अवश्य मैं देख रहा हूँ। फलके पश्चात् पेड़ पानेकी आवश्यकता रह भी नहीं जाती।

'आपको कोई विचित्र अनुभव हुए हैं ?' मैंने सहज ही पूछ लिया।

'मैं प्रायः स्वप्न देखती हूँ कि बहुत-से महात्मा जुटे हैं। कोई एक बड़े तेजस्वी महात्मा, सम्भवतः······ बीचकी चौकीपर बड़ी सुन्दर माला पहने बैठे हैं और कुछ उपदेश कर रहे हैं। भक्तोंकी भीड़ लगी है।' माताजीको बहुधा वे उपदेश भी स्मरण रहते थे।

'तो आप स्वप्नमें भी सत्सङ्ग ही करती हैं !' मैं हँस पड़ा। 'शायद मरनेके पश्चात् भी भगवान्को आपके लिये सत्संगकी व्यवस्था करनी पड़े !' मैंने व्यंग ही किया था।

'वे तुम दोनोंकी भाँति खिसक नहीं जायँगे !' माताजीके नेत्र भर गये।

'दिनभर आप उनके पास एक खड़ाऊँपर बैठी उनकी ओर ताकती रहेंगी कि वे कुछ सुनाते ही रहें तो वे भी ऊबकर खिसक जायँगे !' माताजीको मैं दुःखित नहीं करना चाहता था, पर बात बेढंगी निकल गयी। वे खड़ाऊँपरसे नीचे उतर गयीं और मेरी ओर भरे नेत्रोंसे देखने लगीं। खड़ाऊँ उन्होंने मेरे सामने नीचे रख दी खाटके।

'उनके पास बहुत-से महात्मा हैं। आपको कुछ सुनानेके लिये आपके अखण्ड कीर्तनकी भाँति वे उनकी ड्यूटी बाँध देंगे !' मेरे लिये वह दृष्टि असह्य हो रही थी। मैंने देखा कि मेरे चातुर्यका प्रभाव पड़ा नहीं।

'अच्छा, कभी आपने भगवान्को भी देखा है ?' मैं किसी भी प्रकार उनका ध्यान दूसरी ओर करना चाहता था। यह युक्ति काम दे गयी।

'तुमसे क्या छिपाना है ।' एक बार उन्होंने नेत्र झुकाये, दो क्षण गम्भीर रहीं । बड़ा संकोच लगता था जैसे उन्हें । अन्तमें अपने आप ही उन्होंने कुछ निश्चय करके कहा—'उस दिन यहाँ सुमन्त्रका लौटना और महाराज दशरथका वैकुण्ठवास पढ़ा गया था । रोते-रोते ही सो गयी थी ।' रोना तो उनके लिये साधारण बात है । नेत्र तो भरे ही रहते हैं ।

'पता नहीं कब नींद खुल गयी । नेत्र खोले नहीं, पर अच्छी प्रकार जग गयी थी, यह स्मरण है ।' माताजी एक ही नींदमें बारहसे पाँच बजा देती हैं । बारहसे पहले सोतीं नहीं । कीर्तन जो होता रहता है । पाँच बजे उठ बैठती हैं । हो सकता है, उस दिन जल्दी सो गयी हों ।

'ऐसा लगा कि कोई गोदमें सो रहा है । हाथोंसे टटोला । चिकना, सुकुमार—कोई डेढ़-दो वर्षका बालक-जैसा । नेत्र खोलनेकी याद नहीं रही । खूब टटोलकर देखा । कैसा स्पर्श था ? क्या कहूँ ! हृदयसे लगा लिया और फिर नींद आ गयी ।' माताजीके नेत्रोंसे झड़ी लग गयी ।

'अच्छा, आप सावधानीसे सोयें ! वे माताकी गोद छोड़ और कहीं न सोते होंगे !' मेरे नेत्र सूखे नहीं थे ।

'ऐसे भाग्य कहाँ !' वे हिचकी ले रही थीं ।

'आप मानें या न मानें; पर इस गोदको छोड़कर उन्हें कहीं भी अच्छी नींद आती न होगी ।' माताजी तो यह माननेको तैयार नहीं थीं । आपकी क्या सम्मति है ? क्या मैंने झूठ कहा था ?

टूटी आशा

आशा ठगिनीने खूब ठगा !
रजतपूर्ण औरोंका 'चम-चम' मेरी आँखों बीच रँगा ।
छोड़ दिया रघुवरका दामन,
बारह मास दिखाता सावन;
क्षण भरका विलास बढ़ करके—
गरल हो गया—था मनभावन !
सोया हुआ बहुत दिनका मन सुखका सपना देख जगा,
आशा ठगिनीने खूब ठगा !
दौड़ पड़ा पागलपन मेरा,
रोका-समझाया बहुतेरा,
रमा वासनाके महलोंमें—
तोड़ तंग 'कुटिया' का घेरा !
बरजा, समझाया, जब घेरा, तब वह गहरे रंग रँगा;
आशा ठगिनीने खूब ठगा !

—त्रिदण्डी

काल-प्रभावमें शङ्का-समाधान

(लेखक—स्वामी श्रीकृष्णानन्दजी महाराज)

शङ्का—सत्ययुग आदि कालमें जीवोंके कर्मोंके अनुसार परिवर्तन होता है या ईश्वरकी इच्छाके अनुसार ? यदि युगोंके प्रभावके वैचित्र्यमें ईश्वर कारण है, तो जीवोंकी कुप्रकृतिपर जीवोंको दोष न देकर ईश्वरको ही दोष देना चाहिये । शास्त्रमें ईश्वरको सब दोषोंसे मुक्त और जीवका कारण माना गया है । फिर यह बात समझमें नहीं आती कि जीवोंके भीतर कर्म करनेकी वासना और प्रवृत्ति एक बार (सत्ययुगमें) सदाचारकी ओर जाकर फिर वासना एवं प्रवृत्तिमें क्रमशः परिवर्तन होते-होते कदाचारमें आ जाती है तथा पुनः युग-परिवर्तन होनेपर कदाचारसे सदाचारमें आ जाती है । इस प्रकार निश्चित नियमके अनुसार घटीयन्त्रवत् जीवोंमें वासना, विचार और प्रवृत्ति होते हैं, तो जीवोंको इस प्रवृत्तिका दोषभागी क्यों ठहराया जाय ? प्रत्येक जीव एक समय पुण्यकर्मोंकी ओर अग्रसर होकर सुखी बने और फिर गिरते-गिरते अत्यन्त पतित होकर महादुःख उठाये । पुनः ऊपर चढ़े । जब यह क्रम एक-दो या दस-बीस जीवोंके लिये नहीं, बल्कि समग्र सृष्टिके लिये है, तब जीवोंको अपराधी नहीं मानना चाहिये ।

समाधान—संसार अनादि है । इस संसारमें बार-बार जगत्‌के आविर्भाव और तिरोभाव होते रहते हैं । आविर्भावके लिये निश्चित समय आनेपर जगन्नियन्ता जीवोंके कर्मोंके अनुसार जगत्‌की रचना करते हैं । जीवोंके कर्मोंका विचार किये बिना सृष्टि-रचना नहीं की जाती । अतः ईश्वरमें विषमता आदि दोष नहीं हैं । यह बात 'वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयति' इस सूत्रसे व्यासभगवान्‌ने दर्शायी है । जिस तरह व्रीहि, यव आदिकी सृष्टिमें वर्षा साधारण कारण है और व्रीहि आदिकी विषमतामें उस बीजके भीतर अवस्थित सामर्थ्य असाधारण कारण है, उसी तरह देव-मनुष्यादि, सुखी-दुखी आदि या सुसंस्कार-कुसंस्काररूप विषम सृष्टिमें ईश्वर साधारण कारण और जीवोंके कर्मोंके संस्कार असाधारण कारण हैं; अतः विषम सृष्टिकी रचनामें ईश्वरको दोष नहीं देना चाहिये ।

सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि—ये चारों युग क्रमशः सृष्टि-नियमके अनुसार प्रवर्तित होते हैं । इन युगोंमें संसारके रूपान्तरके अनुरूप धर्माधर्मकी न्यूनाधिकता होती रहती है । इनका मानव-समाजपर प्रभाव पड़ता है । ऐसा मनु महाराजने निम्न वचनसे दर्शाया है—

चतुष्पात् सकलो धर्मः सत्यं चैव कृते युगे ।
नाधर्मेणागमः कश्चिन्मनुष्यान् प्रति वर्तते ॥
इतरेष्वागमाद्धर्मः पादशस्त्ववरोपितः ।
चौरिकानृतमायाभिर्धर्मश्चापैति पादशः ॥

सत्ययुगमें धर्म सब कलाओंसे युक्त अर्थात् तप, शौच, दया और सत्य अथवा तप, ज्ञान, यज्ञ और दान—इन चारों अङ्गोंसे पूर्ण रहता है । अधर्मका आश्रय लेने या शास्त्रमर्यादाका उल्लङ्घन करनेका विचार अधिकारी मनुष्योंके हृदयमें उपस्थित नहीं होता ।

अन्य त्रेता, द्वापर और कलियुगमें याग आदि धर्म शनैः-शनैः हीन होता जाता है तथा धन, विद्या आदिकी प्राप्तिमें धर्मके एक-एक पाद (अंश) का ह्रास होता जाता है । अर्थात् असत्य, चोरी और कपट आदिका विचार शनै-शनैः अधिकाधिक बढ़ता जाता है ।

यही विचार श्रीमद्भागवतके तृतीय स्कन्धके ११ वें अध्यायमें व्यास भगवान्‌ने भी व्यक्त किया है । जिस तरह शिशिर, ग्रीष्म, वर्षा आदि ऋतुएँ नियमपूर्वक बदलती रहती हैं, दिन और रात्रि क्रमशः आते-जाते रहते हैं तथा सृष्टिका आविर्भाव और तिरोभाव नियमित होता रहता है, उसी तरह सृष्टिके नियमानुसार सत्य, त्रेता, द्वापर और कलियुग-रूपसे काल-क्रीड़ा होती रहती है । जैसे हेमन्त और शिशिर ऋतुमें शीत, वसन्त और ग्रीष्ममें गर्मी तथा वर्षा और शरद्‌में बारिशकी उत्पत्ति हो जाती है । उसी तरह सत्य, त्रेता, द्वापर और कलियुगमें धर्म-अधर्मके विचार और बर्तावकी न्यूनाधिकता होती रहती है । परन्तु जैसे गर्मी और बारिशसे बचनेके लिये योग्य प्रबन्ध हो सकता है, वैसे ही कालके प्रभावसे उत्पन्न प्रतिकूल लालसा, विचार और बर्तावसे भी संरक्षण हो सकता है । श्रीहरिने जिस तरह ठण्ड, गर्मी आदिसे रक्षा करनेके स्थूल साधन बनाये हैं, उस तरह काल-प्रभावके दोषसे बचनेके लिये भक्ति, ज्ञान, सत्य, सदाचार आदि साधनोंका बोध दिया है । यदि कोई मनुष्य शीत, गर्मी और बारिशसे रक्षा करनेके साधनोंका

उपयोग न करे तो उसमें ईश्वरको दोषी नहीं कह सकेंगे; इसी तरह मनुष्य कलिकालरूप भेड़ियेसे बचनेके लिये यदि भक्ति आदि साधनोंका उपयोग न करें तो उसमें ईश्वरको दोष नहीं दे सकेंगे।

संसारमें पामर (शास्त्रको न माननेवाले दुराचारी), विषयी (फलभोगकी इच्छावाले सकामी), मुमुक्षु (सब प्रकारके सुखोंसे उपराम होकर आत्म-सुखकी प्राप्ति चाहनेवाले) और मुक्त (आत्मज्ञानी)—ये चार प्रकारके मनुष्य बनाये गये हैं। इनमेंसे पामर मनुष्योंको छोड़कर शेष व्यक्तियोंपर धर्मशास्त्रका विधान लागू होता है। पामरोंके हृदयमें दुष्ट वासनाएँ रहनेसे वे धर्मशास्त्रके नियमोंका पालन नहीं कर सकते। वे धर्म और धर्मानुकूल कर्मोंसे उत्पन्न सुखकी चाहवाले न होनेसे सत्ययुगमें भी धर्म-जनित सुखको नहीं पा सकते। विषयी मनुष्य फलभोगकी चाहना करते हैं, तथापि सत्ययुगमें काल-प्रभावसे प्रभावित रहनेके कारण स्वेच्छासे अधर्मकी ओर गति करनेका विचार नहीं करते। क्वचित् पामरोंके सहवाससे प्रमादवश या आपत्तिवश भूल हो जाय तो वह संभावित है। शेष रहे मुमुक्षु और मुक्तजन, ये तो कलियुगमें भी अधर्मका आश्रय नहीं लेते।

यह अविचल नियम है कि समयका लाभ अधिकारीको ही मिलता है, अनधिकारीको नहीं। एवं सामयिक प्रकोपसे हानि भी प्रभावित व्यक्तियोंकी ही होती है। अर्थात् सत्ययुगमें पामरोंको धर्म-मार्गके ग्रहणकी इच्छा नहीं होती और अन्य युगोंमें शुद्ध हृदयवाले मुमुक्षु और मुक्तोंको अधर्मकी ओर जानेका विचार भी नहीं होता। इस बातकी पुष्टि श्रीमद्भागवतके निम्न वचनसे भी होती है—

> अभ्यर्थितस्तदा तस्मै स्थानानि कलये ददौ।
> द्यूतं पानं स्त्रियः सूना यत्राधर्मश्चतुर्विधः॥
> पुनश्च याचमानाय जातरूपमदात् प्रभुः।
> ततोऽनृतं मदं कामं रजो वैरं च पञ्चमम्॥
> अमूनि पञ्च स्थानानि ह्यधर्मप्रभवः कलिः।
> औत्तरेयेण दत्तानि न्यवसत्तन्निदेशकृत्॥
> अथैतानि न सेवेत बुभूषुः पुरुषः क्वचित्।

'कलियुगने जब राजा परीक्षित्से प्रार्थना की, तब परीक्षित् राजाने उसे रहनेके लिये जुआ, मद्यपान, स्त्री और हिंसा—ये स्थान दिये। अर्थात् जुएमें असत्यरूपसे, मद्यपानमें मदरूपसे, स्त्रियोंमें रति-लालसा या सङ्गरूपसे और हिंसामें दयानाशक क्रूरतारूपसे अधर्म अवस्थित होता है। पुनः प्रार्थना करनेपर उन्होंने उसे सुवर्णरूप (आसक्ति-उत्पादक धन) स्थान दिया, जिससे उसके द्वारा असत्य, मद, काम और रजोगुणकी प्रेरणासे होनेवाली हिंसा और वैरवृत्ति—ये पाँच स्थान मिले। इन पञ्चस्थानोंमें राजाके आज्ञानुसार अधर्मका कारणरूप कलि रहता है। इसलिये अपना कल्याण चाहनेवाले पुरुषको इन वृत्तियोंका धारण या इन पदार्थोंका सेवन नहीं करना चाहिये।' पुनः आगे कहा है—

> किं नु बालेषु शूरेण कलिना धीरभीरुणा।
> अप्रमत्तः प्रमत्तेषु यो वृको नृषु वर्त्तते॥

'यह कलि बालकों (ज्ञानमें बालक, अधीर या अज्ञानीजनों) के साथ तो शूरवीर बनकर बर्ताव करता है, और धीर (ज्ञानी) पुरुषोंसे भयभीत रहता है। यह प्रमादी पुरुषोंके सामने अप्रमादी भेड़ियेकी तरह रहता है। (किन्तु सदाचारसम्पन्न धीर मनुष्यके सामने बकरीके समान बन जाता है।) इससे धीर पुरुषोंकी क्या हानि हो सकती है।'

सत्ययुगमें भी पामर मनुष्य रहते थे। वे अपनी पामरताको नहीं छोड़ सकते थे। देव-दानवोंका युद्ध, विविध प्रकारके राक्षस-असुरोंका वर्णन वेद आदि शास्त्रोंमें मिलता है। इससे विदित होता है कि उस समय भी पामरोंकी आबादी थी। वे सदाचारी धार्मिक जनताको हानि भी पहुँचाते ही रहते थे। उनके हृदयमें अधर्मके संस्कार दृढ़ होनेसे उनको (अनधिकारी होनेसे) सत्ययुगके काल-प्रभावसे धर्मका लाभ नहीं मिलता था। हृदयमें कुसंस्कार रहनेसे वे सदाचारका ग्रहण नहीं कर सकते थे। इसी तरह इस कलियुगमें भी केवल पामर जनता कलिकालसे प्रभावित होती है, सदाचारसम्पन्न पुरुष कदापि व्यथित नहीं होते। इस समय संसारमें पामरोंकी आबादी ही अधिक है। वर्तमान कालमें संसारकी जनसंख्या लगभग दो सौ कोटि है। उनमेंसे केवल एक-दो कोटि जनताको ही विषयी कह सकेंगे। अधिकांश मनुष्य पामर हैं, इसलिये सामान्यतः सभीको काल-प्रभावसे प्रभावित लिखा है। जैसे एक मन बालुका (बालू) में चार-छः छटाँक शक्कर मिला देनेपर भी सब बालुका ही भासती है, शक्कर दृष्टिमें नहीं आ सकती, उसी तरह पामरोंकी संख्या अत्यधिक होनेके कारण 'सब जनता कलिकालसे प्रभावित है' ऐसा कहा जाता है।

वर्तमानमें पाश्चात्त्य प्रदेशवासी पामरजन जो काल-प्रभावसे संमोहित हैं, वे सत्य और असत्यके बलसे देह,

कुटुम्ब और मर्यादित प्रान्तकी रक्षा और उन्नति करना अपना कर्त्तव्य मानते हैं एवं दूसरोंको चाहे जितना दुःख हो, उसकी परवा नहीं करते । यह उनकी मान्यता उचित नहीं है । पामरोंके कुसंस्कारका फल है । इस बर्तावसे संसारमें शान्ति कदापि स्थापित नहीं हो सकेगी । ऐसा बर्ताव करनेवाले दण्डके भागी होते हैं । ईश्वर उन सबको कर्मके परिपाक-कालमें योग्य समयपर निःसन्देह दण्ड देंगे ।

पाश्चात्त्य प्रदेशवासी अपनेको बड़े बुद्धिमान् और सभ्य कहते हैं । उनकी सभ्यता एस्किमो जातिपर हुए अत्याचारोंसे सुस्पष्ट हो जाती है । एस्किमो जाति स्विडन, नार्वे और फिनलैंडके उत्तरीय प्रदेशमें रहती है । उस जातिमें 'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्' इस नियमका आग्रहपूर्वक पालन होता था । उन लोगोंका स्वभाव सरल और निष्कपट बच्चोंका-सा था । वे कभी झूठ नहीं बोलते थे एवं न कभी चोरी करते थे । किसी व्यक्तिके वस्त्र, लकड़ी आदि वस्तु किसी स्थानमें वर्षोंतक पड़ी रहे, तो भी दूसरा कोई उसे हाथ न लगाता था । उस देशमें कुछ वर्षोंसे पाश्चात्त्य प्रदेशवासियोंका प्रवेश हुआ है; ये सभ्य लोग बलात्कारसे अपने आचार-विचार, धर्म, व्यापार आदि उनपर लादकर उनको सुधारनेका प्रयत्न कर रहे हैं । इसलिये उनके सरल हृदयमें दूषित संस्कार उत्पन्न होने लगे हैं । उनके स्वास्थ्य, जातीय शुद्धता, धैर्य, स्वाभाविक निष्कपट-वृत्ति—इन सबमें कुछ-कुछ भेद होने लग गया है । उनको पाश्चात्त्य सभ्यताने भ्रष्ट किया है । पहले उस देशके निवासियोंका जीवन सत्ययुगके मनुष्योंका-सा था, वहाँ अब कलिका साम्राज्य फैलने लगा है । पापियोंके संसर्गसे अज्ञानी मनुष्योंके हृदयमें किस तरह कलि प्रवेश कर जाता है, यह इस उदाहरणसे स्पष्ट हो जाता है ।

वर्तमानमें कलिकालके कारण पाश्चात्त्य सभ्यता संसारमें सर्वत्र फैली है । पाश्चात्त्य समाजने संसारको परतन्त्र बना दिया है एवं भारत आदि देशोंपर विविध प्रकारकी आपत्तियोंका भार डाल दिया है । ऐसे समय सामान्य जनतामें धर्म-विमुखता उपस्थित हो, यह स्वाभाविक है; तथापि इस प्रवृत्तिमें ईश्वरको अपराधी नहीं कह सकेंगे ।

कोई पाप-पुण्य तो व्यक्ति-विशेषके होते हैं और कोई समाजकी वृत्तिसे उत्पन्न होते हैं । व्यक्ति-विशेषके पाप-पुण्योंका फल व्यक्ति भोगते हैं तथा समाजके पाप-पुण्योंका फल कर्म करनेवाले और उनकी सम्पत्तिका उपभोग करनेवाले भावी समाजको भी मिलता है । यदि समाज और व्यक्ति अपनी भूल सुधारकर योग्य प्रायश्चित्त कर लें तथा श्रीहरिकी शरणमें रहें, तो भावी दुःखसे बच सकते हैं ।

यद्यपि संसार-व्यापी काल (काल-प्रभाव) को बदल देनेमें जीव असमर्थ हैं, तथापि अपनी रक्षा करनेके लिये तो समर्थ हैं ही । जैसे ग्रीष्म ऋतुमें मध्याह्नकालमें बाहर जानेके समय सिरपर छतरी और पैरोंमें पादत्राण धारण कर लें तो उष्णतासे बहुत अंशमें बच सकते हैं, वैसे ही इस आपत्ति-कालमें भी भक्ति, धैर्य, वासनाकी न्यूनता और सदाचार आदि साधनोंके द्वारा साधक अपना बचाव कर सकता है ।

जीव कर्ममें प्रवृत्त होनेके पहले विवेक-शक्तिसे निर्णय कर सकता है कि अमुक कर्म मेरे लिये हितावह है और अमुक हानिकर । जो जीव स्थूल स्वार्थके लिये केवल ऐहिक दृष्टिसे निर्णय करता है, वह कुप्रवृत्तिमें प्रवर्तित हो जाता है एवं जो सदसद् विवेकबुद्धिसे विचार कर प्रवृत्त होता है, वह कदापि कुपथगामी होनेकी इच्छा नहीं करता । जो जीव दुष्ट वासनाओंके वशीभूत होकर अनुचित या निषिद्ध कर्ममें प्रवृत्त होता है, उसको कर्मोंका फल पराधीन होकर भोगना पड़ता है । यह स्मरण रहे कि जीव कर्म करनेमें अनेकांशमें स्वतन्त्र होनेपर भी फल भोगनेमें परतन्त्र है ।

जीवोंको जन्म-मरण, शुभ-अशुभ गति और सुख-दुःखकी प्राप्ति अपने-अपने कर्मोंके अनुसार ही होती हैं; कर्मके अतिरिक्त इनका और कोई कारण नहीं है—ऐसा व्यासभगवान्ने श्रीमद्भागवतमें कहा है—

जीवितं मरणं जन्तोर्गतिः स्वेनैव कर्मणा ।
राजंस्ततोऽन्यो नास्त्यस्य प्रदाता सुखदुःखयोः ॥

'सब जीव सुसंस्कारसम्पन्न बनकर भावी दुःखोंसे मुक्त हों और पारमार्थिक कल्याणकी प्राप्ति कर सकें—ऐसी प्रेरणा अन्तर्यामी महापुरुष सबके अन्तःकरणमें करें ।' यही श्रीहरिसे मेरी हार्दिक प्रार्थना है ।

* * *

'मानस' में सेवा-भावका निरूपण

(लेखक—श्रीमहेश्वरप्रसादजी)

सठ सेवक की प्रीति रुचि रखिहहिं राम कृपालु।
उपल किए जलजान जेहिं सचिव सुमति कपि भालु॥
हौंहु कहावत सबु कहत राम सहत उपहास।
साहिब सीतानाथ सो सेवक तुलसीदास॥

—श्रीरामचरितमानस

गुरुवर गोस्वामी तुलसीदासजीकी भक्ति राम-भक्ति थी। राम-भक्तिकी यह भारी विशेषता है कि उसमें केवल सेवा-भावका ही स्फुरण हो सकता है। बात यह है कि राम दशरथके पुत्र थे और एक चक्रवर्ती राजा थे। राज-दरबारमें किसीको नौकरी ही मिल सकती है, चाहे कोई भी क्यों न हो। पर जब वह राजाकी शरणमें रहना चाहता है तो उसे सर्वप्रथम अपनी सेवाओंसे राजाको प्रसन्न करना ही पड़ेगा। फिर भी तारीफ यह है कि सब कुछ करते हुए भी मालिकके सामने जानेमें अदब-कायदेका ध्यान रखना पड़ेगा। क्या गोस्वामीजी विनय-पत्रिकाके सभी भजन रामको ही नहीं लिख सकते थे? पर नहीं। उन्होंने रामके शाही दरबारकी कद्रको बिगाड़ना नहीं चाहा और नहीं चाहा लोक-व्यवस्थाको भङ्ग करना। इतनेपर भी उनकी भक्तिकी अनन्यता सभी भक्तोंसे अधिक बनी रही। इससे बढ़कर भक्तिकी अनन्यता अब दूसरी क्या हो सकती है कि तुलसीने अपनी वाणीका उपयोग सिवा रामके अन्यत्र कहीं किया ही नहीं। वैसे तो उन्होंने छोटी-मोटी पचीसों पुस्तकें लिखीं और उन सभीका उद्देश्य उन्होंने रामसे जुड़ा रखा। पर खुलकर राम-चरित्र वर्णन करनेके लिये उन्होंने सात विभिन्न छन्दोंके रामायण लिखे। 'शिवसिंह सरोज' में उन रामायणोंके नाम इस प्रकार दिये हैं—चौपाई रामायण, कवितावली, गीतावली, छन्दावली, बरवै, दोहावली तथा कुण्डलिया। कहना नहीं होगा कि एक चौपाई रामायण अर्थात् श्रीरामचरित-मानसके ही द्वारा तुलसीका सम्पूर्ण व्यक्तित्व प्रकाशित हो जाता है। रामके विशद चरित्रको लेकर 'मानस' के विस्तृत क्षेत्रमें तुलसीने उसे पूर्णतः अङ्कित किया है। तुलसीकी दृष्टिमें 'राम-सा बड़ा' और 'तुलसी-सा छोटा' कोई नहीं दीखा। रामकी महत्ता और रामकी उदारताको कविने इस ढंगसे सजाया, जिसे देख सबका हृदय स्वयमेव उनकी ओर झुक गया और सबने रामकी सेवामें ही अपनेको धन्य मान लिया।

आचार्योंने 'माधुर्य' को सबसे उत्तम भाव माना है। 'मानस' में इस भावकी उपासना महारानी सीताको प्राप्त है। पर मानसकारने सीता-जैसी दाम्पत्याधिकारिणीको भी एक सेविकाके रूपमें घोषित किया है। रामकी पत्नी प्रियासे अधिक सेविका है। इसकी रक्षा गोस्वामीजीद्वारा हम आरम्भसे लेकर अन्ततक पाते हैं। प्रथम अवसर सीताको जयमाल पहनानेके समय मिलता है। इधर जयमाल 'प्रेम बिबस पहिराइ न जाई' और उधर—

गौतम तिय गति सुरति करि नहिं परसत पग पानि।

चरण-सेवाकी गूढ़-भावना राम-वन-गमनके समय अत्यधिक व्यञ्जित हुई है। राम लाख सीख देते हैं कि सीता घर रह जायँ। सास-ससुर सबकी इच्छा है कि सीता यदि ठहर जायँ तो 'होइ प्रान अवलंबा'। लेकिन रामकी भार्याकी तो अन्तिम साध थी—रामकी सेवा—चरण-सेवा। देखिये, वह किन शब्दोंमें रामसे निवेदन कर रही हैं—

मोहि मग चलत न होइहि हारी। छिनु छिनु चरन सरोज निहारी॥
सबहि भाँति पिय सेवा करिहौं। मारग जनित सकल श्रम हरिहौं॥
पाय पखारि बैठि तरु छाहीं। करिहउँ बाउ मुदित मन माहीं॥
श्रम कन सहित स्याम तनु देखें। कहँ दुख समउ प्रान पति पेखें॥
सम महि तृन तरु पल्लव डासी। पाय पलोटिहि सब निसि दासी॥

दासीकी दासत्व-भावना लङ्कामें भी न छूटी। हनुमान्‌से भेंट होते ही सीताने कातर-भावसे पूछा है—

सहज बानि सेवक सुखदायक। कबहुँक सुरति करत रघुनायक॥

जब कि सीता अच्छी तरह जानती थीं कि वे रामकी सच्ची सेविका हैं और रामकी स्वाभाविक बान है सेवकको सुख देना, तब क्यों न राम उन्हें याद करते होंगे! और तो और, सीताकी सेवा-भावना उस समयतक बनी रही, जब कि वे महारानी हो गयीं और राम महाराजा हो गये। आर्यललनाके निम्न कर्त्तव्य ध्यान देने योग्य हैं—

जानति कृपासिंधु प्रभुताई। सेवति चरन कमल मन लाई॥
यद्यपि गृहँ सेवक सेवकिनी। बिपुल सदा सेवा बिधि गुनी॥
निज कर गृह परिचरजा करई। रामचंद्र आयसु अनुसरई॥
जेहि बिधि कृपासिंधु सुख मानइ। सोइ कर श्रीसेवा बिधि जानइ॥

माधुर्यके बाद 'वात्सल्य'का स्थान आता है। वात्सल्य-भावकी उपासना कौसल्या और दशरथको इष्ट थी। राम उनके पुत्र थे। वे रामपर पुत्रभाव रखा भी करते थे और उस भावसे रामको प्रसन्नता भी थी। पर 'मानस'में 'वात्सल्य' की जड़ सेवा ही मानी गयी है। 'मानस'में जिस कथाका वर्णन हुआ है, उस कथाके आधार विष्णु राम नहीं हैं—वे हैं 'राम ब्रह्म चिन्मय अबिनासी।' अतः ऐसे पुत्रकी विनय इस प्रकार की जाती है—

सुनु सेवक सुरतरु सुरधेनू। बिधि हरि हर बंदित पद रेनू॥
सेवत सुलभ सकल सुखदायक। प्रनतपाल सचराचर नायक॥

× × × ×

जे निज भगत नाथ तव अहहीं। जो सुख पावहिं जो गति लहहीं॥

सोइ सुख सोइ गति सोइ भगति सोइ निज चरन सनेहु।
सोइ बिबेक सोइ रहनि प्रभु हमहि कृपा करि देहु॥

जनक और सुनयनाने तो रामके चरणारविन्दको पखार लिया है, जिसे देख 'जनक जय जय सब कहई।' इतना ही नहीं, प्रत्युत फिर भी—

बहुरि राम पद पंकज धोए। जे हर हृदय कमल महँ गोए॥

× × × ×

अस कहि रही चरन गहि रानी। प्रेम पंक जनु गिरा समानी॥

माता-पिताके बराबर स्थान पानेवाला गुरु कहा जाता है। रामके वसिष्ठजी गुरु थे। राम उन्हें नियमानुसार प्रणाम करते थे और लोक-व्यवस्थाकी रक्षा करते थे। गुरुजी ये सब कुछ जानते थे और जानकर भी इसमें मुदित थे। शायद इसीका उन्हें लोभ भी था, नहीं तो 'उपरोहित्य कर्म अति मंदा' लेता ही कौन ? जीवनभर अपना अमूल्य स्नेह वसिष्ठने रखा और जब रामके निजधाम जानेके समय आये तो उन्होंने एक बात छिपा न रक्खी। गुरु वसिष्ठ रामके सेवक वसिष्ठ बन गये और निश्चय किया—

आगम निगम पुरान अनेका। पढ़े सुने कर फल प्रभु एका॥
तव पद पंकज प्रीति निरंतर। सब साधन कर यह फल सुंदर॥

× × × ×

सोइ सर्बग्य तग्य सोइ पंडित। सोइ गुन गृह बिग्यान अखंडित॥
दच्छ सकल लच्छन जुत सोई। जाकें पद सरोज रति होई॥

नाथ एक बर मागउँ राम कृपा करि देहु।
जनम जनम प्रभु पद कमल कबहुँ घटै जनि नेहु॥

वसिष्ठके समान रामके कुछ और भी गुरुजन थे, जिनका उनके ऊपर अमूल्य वात्सल्यस्नेह रहता था, रहना चाहिये था। सर्वप्रथम विश्वामित्रको ही लीजिये——जो राजर्षिसे ब्रह्मर्षि हो गये थे तथा जिनको वसिष्ठ इतना सम्मानित कर चुके थे। अतः ऐसे विश्वामित्र भी रामको निम्नाङ्कित उद्देश्यसे देखनेके लिये जाते हैं—

एहूँ मिस देखौं पद जाई। करि बिनती आनौं दोउ भाई॥
ग्यान बिराग सकल गुन अयना। सो प्रभु मैं देखब भरि नयना॥

'मानस'में नारदजीका स्थान भी अपने ढंगका निराला है। नारद राजर्षि अथवा ब्रह्मर्षि ही नहीं थे बल्कि देवर्षि थे। मोहवश एक बार उन्हें क्षोभ हो गया था, जिसे भगवान्‌ने शीघ्र ही दूर कर दिया; क्योंकि उन्होंने बार-बार कहा है——'पन हमार सेवक हितकारी' और इधर नारदजी रामके वास्तविक सेवक थे। नारदजी जब रामके सेवाभावकी विशिष्टता समझ गये हैं, तब उन्होंने आर्तभावसे रामसे कहा है—

कहहु कवन प्रभु कै असि रीती। सेवक पर ममता अरु प्रीती॥

रामको वन जाते समय अनेकों मुनियोंसे भेंट हुई है। क्रमशः उनके सेवाभावकी झाँकी कीजिये। चित्रकूटमें सर्वप्रथम वाल्मीकिसे राम मिलते हैं। राम उनसे अपने निवास करनेयोग्य स्थान पूछते हैं। इसपर अनेक प्रकारके भावोंका स्थान बताते हुए वाल्मीकि अन्तमें रामके चरण-सेवाभावके ही स्थानको सर्वोत्कृष्ट कहते हैं। देखिये—

सबु करि मागहिं एक फलु राम चरन रति होउ।
तिन्ह के मन मंदिर बसहु सिय रघुनंदन दोउ॥

अत्रिजीकी लंबी-चौड़ी प्रार्थनाका क्या मतलब निकलता है ? वह यही न कि—

'चरन सरोरुह नाथ जनि कबहुँ तजै मति मोरि।'

फिर उन सुतीक्ष्णकी क्या आराधना थी ? अगस्त्यजीके प्रिय शिष्य सुतीक्ष्णजी जो कुछ करते थे, वह सभी 'रामचरणार्पणमस्तु' कर देते थे। गोस्वामीजीने उसके लिये यहाँतक कह डाला है—

मन क्रम बचन राम पद सेवक। सपनेहुँ आन भरोस न देवक॥

और उनकी लालसा क्या थी——यह देखिये—

सहित अनुज मोहि राम गोसाईं। मिलिहहिं निज सेवकको नाईं॥

विशेषता यह कि 'सेवक' कहलानेमें सुतीक्ष्णको गौरव था। अतः उन्होंने अपने इस आत्माभिमानको बढ़ानेका वरदान माँगा है, कहा है—

'अस अभिमान जाइ जनि भोरें। मैं सेवक रघुपति पति मोरें॥'

यह हुआ शिष्यका हाल। अब गुरुकी दशा देखिये। जिसका शिष्य ऐसा, उसका गुरु कैसा होगा—आसानीसे पता लग सकता है। दण्ड-प्रणामके अनन्तर अगस्त्यजीसे राम पूछते हैं—राक्षसोंके मारनेके मन्त्र। इसपर मुनि उनकी वन्दना करने लगते हैं और गौरवयुक्त वाणीमें कहते हैं—

संतत दासन्ह देहु बड़ाई। तातें मोहि पूँछेहु रघुराई॥

रामके प्रति सनकादि ऋषियोंका भाव भी सेवाका ही था। रामके राज्याभिषेकके पश्चात् उन्होंने आकर बड़े प्रेमसे रामकी अभ्यर्थना की है। वैसे तो समय-समयपर सभी बड़े मुनि रामसे आकर मिल जाया करते थे और स्वयं सनकादि भी अनेकों बार रामसे मिल चुके थे; किन्तु स्पष्टरूपेण अपनी भावनाको व्यक्त करनेका अवसर उन्हें पहले नहीं मिला था। यह अवसर उन्हें मिला कब, जब राम निश्चिन्त होकर उपवनमें भ्राताओंके साथ बैठे थे। उस समय उन महान् महर्षियोंने खुले आम कह दिया—

भव बारिधि कुंभज रघुनायक। सेवत सुलभ सकल सुख दायक॥

यहाँ ध्यान देनेकी बात यह है कि राम सेवासे ही सुलभ हैं। और देवता चाहे अन्य भावसे भी प्रसन्न हो जायँ; पर रामको प्रसन्न करनेके लिये उनकी सेवा ही यथेष्ट और सफलीभूत होगी। दार्शनिक भक्त तुलसीदासजीने 'मानस'में रामकी सेवा-भावनाकी पुष्टि प्रत्येक पात्रके द्वारा करायी है। यहाँतक मैंने 'माधुर्य' और 'वात्सल्य'के भावुकोंद्वारा सेवा-भावनाका समर्थन दिखाया है, आगे शेष भावोंमें भी इसीका प्रतिपादन दिखाया जायगा, यद्यपि आवश्यक है केवल तीन ऊपरके ही भावोंमें सेवाकी झलक दिखाना। क्योंकि सेवा-भाव और शान्त-भावमें तो सेवाके अवश्य ही दर्शन होंगे, होते हैं। दास्य-भावका भक्त तो सेवक है ही। यदि और भावोंका भक्त भी सेवक हो जाय, तब विशेषता है।

'माधुर्य' और 'वात्सल्य' के बाद 'सख्य' का स्थान आता है। रामके सखाओंकी कमी नहीं। पहले तो उनके घरमें ही उनके तीन अनुज हैं, जो उनके प्रिय सखा हैं। राम उनके साथ 'भोजन सयन केलि लरिकाई' आदि सब कुछ करते हैं, किये हैं; पर उन्होंने रामको कोरा सखा ही नहीं माना है। वे रामको स्वामीके रूपमें देखा करते थे और अपनेको उनके दास, टहलुआ और सेवक समझते थे। बताइये न कि भरतसे बढ़कर रामका दास कौन होगा, जिनका सिद्धान्त था—'साधन सिद्धि राम पग नेहू'। रामके अनुजोंमें सबसे बड़े सेवक हैं भरत। उनके सेवा-भावके अनमोल वाक्य 'मानस'को अनुप्राणित किये हुए हैं। कुछ बानगी लीजिये—

(क) हित हमार सियपति सेवकाई। सो हरि लीन्ह मातु कुटिलाई॥
(ख) अरिहुक अनभल कीन्ह न रामा। मैं सिसु सेवक जद्यपि बामा॥
(ग) अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहउँ निरबान।
जनम जनम रति राम पद यह बरदानु न आन॥
(घ) उतर देइ सुनि स्वामि रजाई। सो सेवक लखि लाज लजाई॥
(च) सिसु सेवक आयसु अनुगामी। जानि मोहि सिख देइअ स्वामी॥
(छ) आगम निगम प्रसिद्ध पुराना। सेवा धरम कठिन जग जाना॥
(ज) सहज सनेह स्वामि सेवकाई। स्वारथ छल फल चारि बिहाई॥
(झ) जो सेवक साहिबहि सँकोची। निज हित चहइ तासु मति पोची॥

भरतकी सेवा-भावनाका ही प्रताप था कि देवताओंके गुरु भरतसे भयभीत होकर इन्द्रको सेवा-भावका विशद निरूपण कर दिखाने लगे। यथा—

सुनु सुरेस उपदेसु हमारा। रामहि सेवकु परम पिआरा॥
मानत सुखु सेवक सेवकाई। सेवक बैर बैरु अधिकाई॥
× × × ×
राम सदा सेवक रुचि राखी। बेद पुरान साधु सुर साखी॥
× × × ×
आन उपाय न देखिअ देवा। मानत राम सुसेवक सेवा॥
× × × ×
सीतापति सेवक सेवकाई। कामधेनु सय सरिस सुहाई॥

रामको भी भरतकी दृढ़ सेवा-भावनाका खूब पता था। यह क्योंकर हो सकता है कि सेवक सेवा करता रहे और उसका पता स्वामीको न हो। राम भरतको 'निज सेवक तन मानस बानी' जानते थे और खूब प्यार भी करते थे। यही कारण है कि ज्यों ही रावण मारा गया है, भरतके लिये राम व्याकुल हो गये हैं। धन्य रे भरत!!

तापस बेष गात कृस जपत निरंतर मोहि।
देखौं बेगि सो जतनु करु सखा निहोरउँ तोहि॥

बीतें अवधि जाउँ जौं जिअत न पावउँ बीर ।
सुमिरत अनुज प्रीति प्रभु पुनि पुनि पुलक सरीर ॥

दूसरे भाई लक्ष्मणने तो अपना समस्त जीवन ही रामकी सेवामें समर्पण कर दिया है । रामकी सेवाका सुयोग जितना लक्ष्मण पा सके थे, उतना कोई नहीं । बात यह थी कि लक्ष्मणने रामका साथ आदिसे लेकर अन्ततक दिया था । वन-गमनके समय जरा राम अपने साथ ले जानेसे रोक रहे थे कि तुरत ही परम सेवक लक्ष्मणने—

उतरु न आवत प्रेम बस गहे चरन अकुलाइ ।
नाथ दासु मैं स्वामि तुम्ह तजहु त काह बसाइ ॥

भरतसे तनिक भी लक्ष्मणकी सेवा-भावना हीन नहीं थी । विभिन्नता इतनी ही थी कि लक्ष्मणका स्वभाव तनिक उग्र था और भरतका शान्त । पर दोनों रामके प्रिय सेवक थे । लक्ष्मणकी उग्रताका इसीसे अंदाज लगा लीजिये किं वे भरतागमनकी बात सुनकर अपनी सेवा-भावना किस प्रकार जता रहे हैं—

बिनु पूछे कछु कहउँ गोसाईं । सेवकु समयँ न ढीठ ढिठाईं ॥

और—

आजु राम सेवक जसु लेऊँ । भरतहि समर सिखावन देऊँ ॥

पर जब उनकी व्यग्रता शान्त होती है, तब राम-सेवाका वह उज्ज्वल दृष्टान्त लक्ष्मण पेश करते हैं, जिसे देखकर हृदय द्रवित हो जाता है । लक्ष्मण रामकी सेवामें लगे हैं, जबतक भरत आकर प्रणाम करने लगते हैं । उस समयकी विचित्र दशा है । तुलसीसे उस दशाका वर्णन नहीं होता । पर वाह रे लक्ष्मणका सेवा-धर्म ! धन्य है !!

मिलि न जाइ नहिं गुदरत बनई । सुकबि लखन मन की गति भनई ॥
रहे राखि सेवा पर भारू । चढ़ी चंग जनु खैंच खेलारू ॥

यह ठीक है कि शत्रुघ्नको लक्ष्मण-सा सेवा करनेका सुयोग न मिल सका था । इसका कारण रामका साहचर्याभाव ही था । पर ज्यों ही रामकी राजगद्दी हुई कि शत्रुघ्नको अन्य अनुजोंकी तरह सेवाका अधिकार मिल गया । राजगद्दीके ही समयका दृश्य देखिये और निरीक्षण कीजिये कि शत्रुघ्नको कौन-सा काम सौंपा गया है—

भरतादि अनुज बिभीषनांगद हनुमदादि समेत ते ।
गहें छत्र चामर ब्यजन धनु असि चर्म सक्ति बिराजते ॥

जब कि भरतके हाथमें छत्र और लक्ष्मणके हाथमें चँवर है, शत्रुघ्नके हाथमें पंखा है । इनके सिवा रामके कुछ और सखा हैं, जो उनके 'समर सागर कहँ बेरे' बन गये थे और क्रमशः कुछ-न-कुछ हाथमें लेकर आज भी सेवामें तत्पर हैं । उनमें सुग्रीव रामके पहले सखा थे । जंगलमें पहली मैत्री रामकी सुग्रीवसे ही हुई थी । सुग्रीवको स्वप्नमें भी यह आशा न थी कि राम उनसे मित्रता करेंगे । वे कहते थे 'करिहहिं बिधि मो सन ये प्रीती ?' पर रामने उनसे मित्रता की और 'जे न मित्र दुख होहिं दुखारी' के अनुसार उनके दुःख-भारको टाल भी दिया । सुग्रीवके दुःखको सुनते ही—

सुनि सेवक दुख दीन दयाला । फरकि उठीं दोउ भुजा बिसाला ॥

सुग्रीव सखा होते हुए भी रामके सेवक थे और राम सेवकका दुःख देख नहीं सकते । आप पूछेंगे कि मित्रताका सम्बन्ध तो रामको पहलेसे ज्ञात था, अतः इसी सम्बन्धके जरिये क्यों न दुःख टालनेकी उन्होंने प्रतिज्ञा की । उत्तरमें निवेदन है कि रामकी प्रतिज्ञाके पूर्व ही सुग्रीवने अपनी 'सेवकाई' की प्रतिज्ञा कर ली थी । सीता-हरणका समाचार सुनकर सुग्रीवने स्पष्ट शब्दोंमें कह दिया था—

सब प्रकार करिहउँ सेवकाई । जेहि बिधि मिलिहि जानकी माई ॥

सुग्रीव सखाकी 'सेवकाई' के बाद विभीषण सखाकी सेवकाई आती है । उसकी सेवकाई प्रारम्भमें यह हुई कि जब हनुमान् सीताको खोजनेके लिये गये थे, तभी 'जुगुति बिभीषन सकल सुनाई ।' यह सब कुछ करते हुए भी विभीषणको अपनी सेवा-भावनामें कमी दीखती थी, जिसके भयसे उन्होंने हनुमान्‌से पूछा है—

'तात कबहुँ मोहि जानि अनाथा । करिहहिं कृपा भानुकुल नाथा ॥'

हनुमान्‌ने विभीषणकी सेवा-भावनाकी परम प्रशंसा करते हुए कहा—

सुनहु बिभीषन प्रभु कै रीती । करहिं सदा सेवक पर प्रीती ॥

सख्य-भावके नीचे सेवा-भावका स्थान आता है । सेवाके दृढ़ भक्त 'मानसमें' हनुमान् हैं । हनुमान्‌का अवतार ही रामकी सेवा करनेके लिये हुआ है । जैसे राम सुस्वामी हैं, वैसे ही हनुमान् सुसेवक हैं । रामको जैसे सेवककी आवश्यकता थी, भाग्यसे उन्हें वैसा ही सेवक मिल गया था । हनुमान्‌को पाकर राम सपरिवार प्रसन्न थे । यहाँतक कि हनुमान्‌की सेवासे रीझकर राम और उनका समस्त परिवार उनका ऋणी हो गया था । उदाहरणतः कुछ वाक्य लीजिये—

राम-वाक्य--

सुनु कपि तोहि समान उपकारी । नहिं कोउ सुर नर मुनि तनु धारी ॥
प्रति उपकार करौं का तोरा । सनमुख होइ न सकत मन मोरा॥
सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं । देखेउँ करि बिचार मन माहीं ॥

भरत-वाक्य--

एहि संदेस सरिस जग माहीं । करि बिचार देखेउँ कछु नाहीं ॥
नाहिन तात उरिन मैं तोही । अब प्रभु चरित सुनावहु मोही ॥

सीता-वाक्य—

अति हरष मन तन पुलक लोचन सजल कह पुनि पुनि रमा ।
का देउँ तोहि त्रैलोक महुँ कपि किमपि नहिं बानी समा ॥

ऐसे स्वामी और सेवकका मिलन अचानक जंगलमें हो जाता है । राम सीताको खोजने जा रहे हैं कि हनुमान् उधरसे आ पहुँचते हैं । हनुमान् विप्रवेषमें हैं और रामसे उनका परिचय पूछते हैं । जब राम अपना परिचय बता देते हैं तो हनुमान्के परिचयकी जिज्ञासा करते हैं । इसपर हनुमान् अपनी सेवा-भावनाकी काफी सफाई दे जाते हैं और स्वामीको अपनी सेवाके वचनसे निरुत्तर कर देते हैं । सचमुच निम्न प्रश्नका उत्तर रामके पास कहाँ था ?—

जदपि नाथ बहु अवगुन मोरें । सेवक प्रभुहि परै जनि भोरें ॥

हनुमान्की सेवा-भावनाका जहाँतक उल्लेख किया जाय, थोड़ा ही है । उसका पार तो कोई पा ही नहीं सकता; क्योंकि वह अवर्णनीय है । समकालीन लोग उसका वर्णन करके थक गये, फिर दूसरोंकी तो बात ही क्या । राम और उनके घरवालोंने तो जहाँतक बखान करते बना किया ही, बाहर भी सर्वत्र हनुमान्की सेवाकी तारीफ की गयी । जरठ जाम्बवान्ने रामसे यों कहा—

नाथ पवनसुत कीन्हि जो करनी । सहसहुँ मुख न जाइ सो बरनी ॥

भालुओंके राजाने ही नहीं, प्रत्युत वानरोंके राजाने भी कहा—

पुन्य पुंज तुम्ह पवनकुमारा । सेवहु जाइ कृपा आगारा ॥

मन्दोदरी भी रामके सेवकको पहचानती थी, क्योंकि रामके सेवककी ख्याति बहुत दूरतक फैलती है । उसने रावणको समझाते समय कहा है—

अंगद हनुमत अनुचर जाके । रन बाँकुरे बीर अति बाँके ॥

हनुमान्के समान ही अङ्गद भी रामके सेवक थे । यह भले ही हो सकता है कि अङ्गदके कार्य हनुमान्से कुछ दूसरे प्रकारके हों । पर 'मानस'में उक्त दोनों सेवक परम धन्य हैं । अङ्गदको तो उनके पिताने ही रामका दास बना दिया था । बालीने मरते समय कहा था—

यह तनय मम सम बिनय बल कल्यानप्रद प्रभु लीजिए ।
गहि बाहँ सुर नर नाह आपन दास अंगद कीजिए ॥

पिताके वचनको अङ्गदने सदैव याद रखा । रामका दासानुदासतक कहलानेमें भी अङ्गदको गर्व था । रावणसे संवाद करते समय उन्होंने अपनेको 'मैं रघुपति सेवक कर दूता' ही घोषित किया है । और राज्याभिषेक होनेके अनन्तर अङ्गदकी कभी इच्छा नहीं रही कि रामकी सेवा छोड़कर घर जायँ । उन्होंने अपनी अभिलाषाको इस प्रकार व्यक्त किया है—

नीचि टहल गृह कै सब करिहउँ । पद पंकज बिलोकि भव तरिहउँ ॥

'मानस'में सेवा-भावका एक उपासक है केवट । केवट जिसने रामचरणको पखारा था दूसरा है और निषादराज अर्थात् गुह दूसरा ही है । गुहको सखा-भावका उपासक कहा जा सकता है, जिसने रामको बहुत दूरतक जंगलमें साथ दिया था और जो रामके साथ अयोध्यामें भी आया था । केवटका सम्बन्ध रामसे सिर्फ गङ्गातटपरतक ही है । उतनेमें ही उसने सेवा-भावका बड़ा अटपटा सम्बन्ध दिखा दिया है । क्या ?

पद कमल धोइ चढ़ाइ नाव न नाथ उतराई चहौं ।
मोहि राम राउरि आन दसरथ सपथ सब साची कहौं ॥
बरु तीर मारहुँ लखनु पै जब लगि न पाय पखारिहौं ॥
तब लगि न तुलसीदास नाथ कृपालु पारु उतारिहौं ॥

इस अटपटे सेवकके प्रेमको प्रकट करनेवाली है एक अटपटी सेविका, जो न मालूम कितने दिनोंसे रामके 'चरन-कमल-रज'को चाह रही थी । रामने ज्यों ही चरणका स्पर्श किया कि 'प्रगट भई तप पुंज सही ।' अधिकांश सेवक रामको वनमें ही मिले हैं । वहाँ जितने कोल-किरात थे, सभी रामके सेवक बने हुए थे और रामकी आज्ञाकी बाट जोह रहे थे । ऐसे सेवक घर-के-घर देखिये—

हम सेवक परिवार समेता । नाथ न सकुचब आयसु देता ॥

रामके सेवकोंकी बाढ़ तब आ गयी, जब 'पदुम अठारह जूथप बंदर' जुटे और उसमें इतने बंदर जुटे कि--'सो मूरख जो करन चह लेखा' । और इतने सभी बंदर रामके सच्चे सेवक थे । सभी सेवक बननेमें अपना सौभाग्य मान रहे थे । परस्पर वे कह रहे थे—

हम सब सेवक अति बड़भागी । संतत सगुन ब्रह्म अनुरागी ॥

शान्त-भावसे रामकी सेवा करनेवालोंमें उनकी प्रजा हैं । रामकी जितनी प्रजा हैं, सभी रामके सेवक हैं । यह कोई कहे कि अपने मनसे अथवा यों ही सभी सेवा-भाव लिये हुए हों सो बात नहीं । रामको स्वयं सेवा-भाव ही प्रिय है । इसकी स्थान-स्थानपर उन्होंने कई बार चर्चा की है । प्रजाओंके बीच तो उन्होंने घोषणा की है--

सोइ सेवक प्रियतम मम सोई । मम अनुसासन मानइ जोई ॥'

इस प्रकार सखाओंके बीचमें भी उन्होंने कहा था--

तुम्ह अति कीन्हि मोरि सेवकाई । मुख पर केहि बिधि करौं बड़ाई ॥

× × × ×

ताते मोहि तुम्ह अति प्रिय लागे । मम हित लागि भवन सुख त्यागे ॥
अनुज राज संपति बैदेही । देह गेह परिवार सनेही ॥
सब मम प्रिय नहिं तुमहिं समाना । मृषा न कहउँ मोर यह बाना ॥
सब के प्रिय सेवक यह नीती । मोरें अधिक दास पर प्रीती ॥

काकभुशुण्डिजीको तो रामने रटा दिया था—

मम माया संभव संसारा । जीव चराचर बिबिध प्रकारा ॥
सब मम प्रिय सब मम उपजाए । सब ते अधिक मनुज मोहि भाए ॥
तिन्ह महँ द्विज द्विज महँ श्रुतिधारी । तिन्ह महुँ निगम धरम अनुसारी ॥
तिन्ह महँ प्रिय बिरक्त पुनि ग्यानी । ग्यानिहु ते अति प्रिय बिग्यानी ॥
तिन्ह ते पुनि मोहि प्रिय निज दासा । जेहि गति मोरि न दूसरि आसा ॥
पुनि पुनि सत्य कहउँ तोहि पाहीं । मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं ॥

× × × ×

सुचि सुसील सेवक सुमति प्रिय कहु काहि न लाग ?

इसीका परिणाम यह हुआ कि काकने गरुड़से अन्तमें कह ही दिया--

'सेवक सेब्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि ।'

और—

'तरहिं न बिनु सेएँ मम स्वामी । राम नमामि नमामि नमामी ॥'

इधर शङ्करजीने पार्वतीको समझा दिया—

सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा । सेवत जाहि सदा मुनि धीरा ॥

× × × ×

सोइ प्रभु मोर चराचर स्वामी । रघुबर सब उर अंतरजामी ॥

रामने जिस-जिसको सेवा-भावनाकी महत्ता बतायी है, उसने खूब अच्छी तरहसे उसे कण्ठस्थ कर लिया है । वैसे तो राम सबके लिये समान हैं, पर सेवकके लिये उनकी खास निगाह रहती है । हनुमान्से उन्होंने सेवा-भावकी जब व्यापक परिभाषा बतायी—

समदरसी मोहि कह सब कोऊ । सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ ॥
सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत ।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत ॥

—तो हनुमान्की जहाँतक दृष्टि जाती थी, वहाँतक उन्हें रामकी सेवामें चराचर ही दीखता था । यथा—

कह मारुत सुत सुनहु प्रभु ससि तुम्हार निज दास ।
तव मूरति बिधु उर बसति सोइ स्यामता अभास ॥

सियावर रामचन्द्रकी जय !

श्रीराम-नाम-महिमा

राम जपु, राम जपु, राम जपु, बावरे !
घोर भव नीरनिधि नाम निज नाव रे ॥ १ ॥
एक ही साधन सब रिद्धि सिद्धि साधि रे ॥
ग्रसे कलिरोग जोग संजम समाधि रे ॥ २ ॥
भलो जो है, पोच जो है, दाहिनो जो बाम रे ॥
राम नाम ही सों अंत सब ही को काम रे ॥ ३ ॥
जग नभ-बाटिका रही है फलि फूलि रे ॥
धुआँ के से धौरहर देखि तूँ न भूलि रे ॥ ४ ॥
राम-नाम छाँड़ि जो भरोसो करै और रे ॥
तुलसी परोसो त्यागि मागै कूर कौर रे ॥ ५ ॥

आनन्दधामकी खोज

(लेखक–श्रीविश्वबन्धुजी 'सत्यार्थी')

यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति । भूमानं भगवो विजिज्ञास इति ॥

(छा० उ० ७ । २३ । १)

सुखस्वरूप शान्तिनिकेतन प्रभु ही हैं। प्रभुके सिवा जो कुछ भी है वह असत्, मिथ्या, क्षणभङ्गुर और दुःखसे परिपूर्ण है। ईश्वरको छोड़कर जो अनित्य पदार्थोंमें सुख ढूँढ़ते हैं, वे दुःख ही पाते हैं। इसलिये सुख और शान्तिके लिये भगवान्‌की ही खोज करनी चाहिये।

भौतिक पदार्थोंमें सुख होता तो वह सभीको उपलब्ध होना चाहिये था, परन्तु ऐसा नहीं है। एक वस्तु जो एक व्यक्तिको अच्छी लगती है, वही दूसरेको बुरी लगती है। प्रायः जिसे जिस वस्तुका अभ्यास पड़ गया है, उसे वही अच्छी लगती है। इसका कारण यह है कि बार-बारके अभ्याससे चित्तकी वृत्तियाँ उस पदार्थमें एकत्रित हो जाती हैं, जिससे उस भूमाका आनन्द, जो सर्वत्र परिपूर्ण है—जिसको आत्मा, परमात्मा, भगवान्, ईश्वर, ब्रह्मके नामसे पुकारते हैं, आने लगता है। अज्ञानवश भोगी उस पदार्थमें ही आनन्दको समझता है और उसके लिये बेचैन हो जाता है और इसी प्रकार अज्ञानमें पड़ा रहता है। जैसे किसी मनुष्यने अफीम, तंबाकू, गाँजा आदि खाने-पीनेकी आदत डाल ली है। जब इनमेंसे कोई भी वस्तु नहीं मिलती तो वह बेचैन हो जाता है और प्राप्त होनेपर खा-पीकर आनन्दित होता है। यदि इन वस्तुओंमें सुख होता तो इनको खाने-पीनेका जिनको अभ्यास नहीं है, उन्हें भी इनके खाने-पीनेपर सुख होना चाहिये था। परन्तु इसके विपरीत उन्हें चक्कर, घुमेड़ आने लगते हैं और वमनतक हो जाता है। कितने ही पागल होकर मृत्युके ग्रास बन गये। इसलिये सिद्ध है कि प्रकृतिके किसी भी पदार्थमें सुख नहीं है—केवल मनके एकाग्र होनेसे ही आत्माका आनन्द आने लगता है, जिसको मनुष्य मूर्खतावश उस पदार्थमें समझता है।

अतः जिसको सुख-शान्ति-आनन्दकी अभिलाषा है, उसे प्रभुकी ही खोज करनी चाहिये। चाहे उसको आत्मरूपसे खोजो, चाहे परमात्मरूपसे—बात एक ही है। बिना आत्माके शान्ति कहीं भी नहीं है। चतुर विवेकी पुरुषोंको आत्माकी ही खोज करनी चाहिये। जिन्होंने प्रभुको ढूँढ़ा है, आत्मज्ञानको प्राप्त किया है, उन्होंने ही शान्तिको पाया है।

जिन खोजा तिन पाइया गहरे पानी पैठ ।
हौं बौरी बूड़त डरी रही किनारे बैठ ॥

जिन्होंने तीनों प्रकारकी एषणाओंको त्यागकर प्रभुकी सच्चे मनसे खोज की है, उन्होंने ही उस शान्तिनिकेतन आनन्दसिन्धुको पाया है। आनन्दके इच्छुक बहुत-से पागल भी ढूँढ़ने गये, परन्तु भयभीत होकर एषणाओंको न त्याग सके। इसलिये किनारेपर ही रह गये अर्थात् प्रभुको न पा सके। प्रभुको पानेके लिये सर्वस्वकी आहुति देनी पड़ती है। समस्त कामनाओंको छोड़ना होता है। मनको सब ओरसे हटाकर प्रभुमें ही लगाना होता है। तभी प्रभुकी प्राप्ति होती है।

भूला पथिक

(लेखक—श्रीपरमानन्दजी जोशी)

'पिताजी ! मायापुरीमें आजकल मेला लगा है; आज्ञा हो तो देख आऊँ, आजसे उसका अन्तिम दिवस (कलिकाल) प्रारम्भ हो चुका है ।'

'बेटा ! बात तो ठीक है, किन्तु दर्शनीय तो संतपुर है; जो दृश्य और आनन्द तुम्हें वहाँ प्राप्त होगा, वह मायापुरीके किसी भी भागमें नहीं होगा । संतपुर मायापुरीसे कोई भिन्न स्थान नहीं, उसीका एक हिस्सा है; किन्तु स्वभावसे ही वह उससे विलक्षण और अलग है । अवसर निकालकर अवश्य उसके दर्शन करते आना । देखो, बेटा ! मायापुरी बड़ी भुलावनी, लुभावनी विशाल नगरी है । उसमें जो कुछ सुन्दर और मधुर दीखता है, वह असलमें है बड़ा ही भयानक और विषपूर्ण । सँभल-सँभलकर जाना, ऐसा न हो कि कहीं रास्ता भूल जाओ—कहीं उसमें फँसकर अपनी दुर्दशा करा बैठो ।'

'ठीक है, पिताजी !' कहता हुआ पथिक अपनी राह हो लिया ।

अपने गाँवसे बाहर हो वह एक ऐसी जगह आ पहुँचा जहाँ दो मार्ग मिल रहे थे । वह सोच रहा था—किधर जाऊँ ? विचाराधीन खड़ा था । दोनों मार्गोंपर दृष्टि डाली । दक्षिणकी ओर मायापुरी जानेवाले रास्तेपर पथिकने देखा । चारों ओर चित्ताकर्षक हरियाली—वन, वृक्ष, लता, फल, फूल आदिकी सौरभसे अभिभूत हो मलयानिल अठखेलियाँ कर रहा था, अजीब मस्ती थी—उन्माद था । पक्षिगण वृक्षोंकी टहनियोंपर बैठे मधुर तान अलाप रहे थे, मानो अभ्यागत पथिकका स्वागत-गान कर रहे हों । फिर पथिकने उत्तरकी ओर दृष्टि डाली । देखा—वीरान जंगल शून्यताको लिये लेट रहा था; वसुन्धरा ऊसर थी—न पेड़ न पौधा, न फूल न पत्ते । केवल भीमकाय शिलाएँ दैत्योंकी भाँति मुँह बाये मार्गके आसपास पड़ी थीं । अग्निकी चिनगारियोंकी तरह चमकते बालूके मैदान । पथिक रहस्य समझता ही कैसे ? वह तो उन्मत्त था । मायापुरी देखूँगा—यही उसकी लगन थी । वह आपातरमणीय इन्द्रिय-मधुर दृश्यपर लुभ गया । सुनसान उत्तरमार्गकी छिपी सुन्दरताको न देख सका । वह दक्षिण पथकी ओर बढ़ा । राहमें उसे फल-फूलोंसे लदे बाग-बगीचे, वन-उपवन दिखायी दिये । वह प्रसन्न हो फूला नहीं समाता था । कितना सुन्दर, कितना मधुर ! 'वाह वाह'की ध्वनि ही उसके मुँहसे निकलती जाती । वह बढ़ता जा रहा था । अब वह मार्गका वह भाग तय कर रहा था, जहाँ भीषण चीत्कारें उठ रही थीं, जलती चिताओंकी चटचटकी आवाज धीरे-धीरे पवनके मन्द झकोरोंमें सुनायी पड़ती थी । शृगाल, उल्लू, गीदड़, गीध, चील, कौवे आदि चिल्ला रहे थे । किन्तु पथिकका ध्यान उस ओर नहीं था; उसे तो मायापुरीके पवन-स्पर्शने मस्त बना रखा था ।

पथिक पहुँच गया मायापुरीमें । नदी-किनारा था । मेला ठाठका लगा था । अनेकों आकृतियोंके मनुष्य भाँति-भाँतिके वस्त्रालङ्कार पहने, नाना प्रकारकी कल्लोल-क्रीडा करते दीख पड़ते थे । कोई हँसता था, कोई रोता; कोई नाचता, गाता, तमतमाता और खिलखिलाता था, तो कोई मुसकराता, डरता, खेलता, कूदता, सोता और जागता था । मेलेमें बड़े जोरोंका कोलाहल मच रहा था । पथिक आश्चर्यचकित था, किन्तु आनन्दित भी; क्योंकि उसने ऐसा खेल पहले कभी नहीं देखा था । पास ही एक छोटी-सी बड़ी सुन्दर कुटिया थी । उसमें एक रमणी खड़ी थी, मानो वह उसीके स्वागतके लिये

आयी हो। पथिकने उसकी आज्ञा पा अपना साज-सामान वहीं रख दिया। रमणी बड़ी उम्रकी नहीं थी। वह थी षोडशवर्षीया—अप्रतिम सुन्दरी! नाम था माया। पथिक उसके पास टिक गया। इतनेमें रंग-बिरंगी आकृतिवाले देहधारी कुटीमें प्रवेश करने लगे। पथिक उनकी संख्या देख घबराया। उसने मायासे पूछा—'माया! ये कौन हैं?'····इतने········! माया मुसकराकर बोली—"पथिक! चिन्ता न करो, ये मेरे निकटतम बन्धु-बान्धव हैं; वैसे तो सारी मायापुरी ही मेरी रिश्तेदार है। देखो, अब मैं इनका परिचय देती हूँ········वह कान्तिमान् स्वरूपवाला मेरा भाई काम है। इसे भिन्न-भिन्न स्थानोंमें भिन्न-भिन्न नामोंसे लोग पुकारते हैं। इसका जन्म-नाम 'कन्दर्प' है। इसके पीछे खड़ा हुआ लाल-लाल नेत्रोंवाला मेरा छोटा भाई क्रोध है। मोटा-ताजा, भरे बदनवाला, जिसकी आँखें विस्फारित-सी दीख पड़ती हैं—मेरा भाई मद है। उसके पास जो सुन्दर-से दो पुरुष खड़े हैं, मेरे भाई लोभ और मोह हैं। और वे बालाएँ, जो मुसकरा रही हैं, मेरी बहिनें ईर्ष्या, असहिष्णुता, अनुदारता, कृतघ्नता और निर्दयता हैं।" सबका परिचय पा पथिक प्रसन्न हुआ और वे भी पथिकको देख प्रसन्न हुए।

(१)

पथिककी यात्राका था प्रथम दिवस। अतिथिके लिये नाना प्रकारके भोजन तैयार हुए। सबने एक साथ मिल भोजन-पान किया। पथिक, माया तथा माया-परिवारमें अब प्रेम अपनी जड़ जमाने लगा। माया और पथिकमें तो प्रेम इतना प्रबल हो गया कि वे एक-दूसरेसे अभिन्न हो गये। भोजनोपरान्त राग-रंगकी तैयारियाँ होने लगीं। पथिक मायापुरीके भीषण कोलाहलके मध्य मायाकी कमनीय कुटीमें मेलेकी बहार लूट रहा था। माया पथिककी हर इच्छाको पूर्ण करती। काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह आदि सब उसकी अभिलाषाओंकी पूर्तिमें सहायता देने लगे। पथिक जो इच्छा करता, माया उसे पूरा करनेका साधन इकट्ठा करती। माया और उसके बन्धु-बान्धव अतिथिकी सेवा-शुश्रूषामें निरन्तर लगे रहते। पथिक मस्त था। अपने घर ब्रह्मपुरको भूल चुका था। यद्यपि यह उसकी यात्राका प्रथम ही दिवस था।

(२)

आज पथिककी यात्राका दूसरा दिन प्रारम्भ हुआ। मायाके साथ वह मायापुरीकी सैर कर रहा था। उसके आगे-पीछे, आस-पास माया, मायाके भाई-बहिन और मायापुरीके नवपरिचित अन्य साथी थे। सब मेलेकी बहार लूट रहे थे। पथिक अनेकों सौदे करता—कभी सोने-चाँदीकी दूकानपर जाता तो कभी हीरे-पन्ने, जवाहिरातकी। कभी अन्नागारमें जाता तो कभी कपड़ेकी दूकानपर। कहीं वणिक्से बात करता तो कहीं ब्राह्मणसे। जिस किसी वस्तुको देखता, उसका दिल ललचा जाता; उसे अपनी बनानेकी कोशिश करता, खरीदता, लेता-देता—सब कुछ करता। फिर भी उसकी इच्छा पूरी नहीं होती। यदि कुछ होती भी तो उसके साथी और नयी-नयी वस्तुएँ बतलाकर उसे ललचा देते। वह आप खुश होता और उन्हें भी खुश रखता। अब वह उस दूकानके पास आ पहुँचा, जहाँ मनुष्योंका एक बड़ा जमघट लगा था। माया एकाएक बोली, 'प्रिय पथिक! कभी इस दूकानको देखा था? यहाँकी वस्तुका भी कभी स्वाद लिया था?' पथिकके निषेध करनेपर माया उसका हाथ पकड़कर दूकानपर ले गयी। स्वर्णपात्र था, जिसमें छलछलाता छलक रहा था रँगीला पानी। पथिकने पूछा—'माया! यह क्या है?' 'यह है मायापुरीके सुन्दर दृश्योंको देखकर अतुलानन्द अनुभव करानेवाला विलास-नीर;' मायाने कहा। 'क्या इसी नीरमें वे दृश्य छिपे पड़े हैं?' उत्सुक पथिकने फिर पूछा। माया मुसकराकर बोली—'दृश्य ही नहीं, सारी मायापुरी ही इसके

अंदर छिपी है । इसे पीओ, मस्त हो जाओगे । घूँट उतारो; देखो, विशाल वैभव प्राप्त होगा ।' पथिककी घूँट प्रारम्भ हुई । एक, दो, चार, छः । अब तो पात्र-पर-पात्र उँडेले जाने लगे । छका पथिक मायाके साथ दूकानसे बाहर आया—बोला, 'माया ! तुम बहुत सुन्दर मालूम हो रही हो, ये दूकानें अपूर्व तेजसे चमक रही हैं ।' इसी समय मार्गपर एक अधेड़ मनुष्य पथिकको अपने पास आनेका इशारा कर रहा था । पथिक हँसकर बोला —'देखो माया ! वह भद्दी-सी आकृतिवाला मनुष्य मुझे अपनी ओर आनेका इशारा कर रहा है । उसका मेरा कोई परिचय नहीं, फिर उसका मुझसे क्या काम ?' माया उसे देख पहचान गयी—वह संतपुरका निवासी था । 'हूँ, जाने दो; चलो, किसी औरकी भूलमें तुम्हें बुलाता है ।' पथिकने देखा, उस अधेड़ने उसे तीन बार आनेका इशारा किया । किन्तु पथिक तो मायाके साथ बेसुध हो रहा था । इस प्रकार उसका दूसरा दिन भी मायाके सहवासमें बीत गया ।

(३)

आज पथिक तीसरे दिनमें पैर रख रहा था । मेला अब आधेसे अधिक उठ चुका था । पथिकको सूनेपनका-सा आभास हो रहा था । माया उसके मनकी बात ताड़ गयी । बोली—'अतिथि ! आज मैं तुम्हें मायापुरीका राजमार्ग दिखलाऊँगी ।' वह पुनः प्रसन्न हो गया । 'माया ! तुम्हारे साथ मुझे अपूर्व आनन्द मिला,' पथिकने कहा । बात काटती हुई माया बोली—'चलो, सन्ध्या हो रही है; मायापुरीकी प्रत्येक वस्तु देख लो, कहीं ऐसा न हो कि फिर आना पड़े ।' मायाके साथ वह फिर भ्रममें पड़ा चल दिया । उसने मायापुरीमें वारविलासिनी, वधशाला, मधुशाला, द्यूत-महल और कपटमन्दिर आदि भव्य दृश्योंको देखा । अब वह राजमार्गपर आया । सामने राजमहल सुशोभित था । देखते ही मुग्ध हो गया—'कितना सुन्दर ! कितना रमणीय !! वाह रे शिल्पी !!!' कहते पथिकने सहज भावसे पूछा—'यह राजमहल किसने बनाया ?' 'ब्रह्मपुरके स्वामीकी अध्यक्षतामें यह बना है ।' मायाने प्रत्युत्तर दिया । 'आह, मैंने तो इसकी कल्पनातक नहीं की थी कि हमारे शरीरके ही समान कोई ऐसी गगनचुम्बी अट्टालिका भी इस भूमण्डलपर विराजमान है । क्या बना है ! हमारे-इसमें कोई भिन्नता नहीं; फिर यह इतना विशाल और मैं इतना छोटा·······,' 'हाँ-हाँ' बीचमें ही फिर बात काटती हुई माया बोल उठी । इस डरसे कि कहीं पथिक वास्तविकता न जान ले । 'इसमें रहता कौन है ?' पथिकने पूछा । अब उसकी जिज्ञासाको दबाना उचित न समझकर मायाने सच्चा प्रत्युत्तर दिया, 'इसका सचा स्वामी तो राजा आत्माराम है; किन्तु उसे माया रानीने अंधा कर रखा है और स्वयं सम्राज्ञी बन शासन कर रही है ।' 'अंधा क्यों कर दिया ?' पथिकने पूछा । 'इसे मत पूछो, उसकी एक विस्तृत कहानी है । संक्षेपमें कह देती हूँ—वह उसके मोहमें अपने आपको भूल गया । मौका पाकर माया सम्राज्ञीने उसे अन्धा कर दिया और अपने पास दासके समान रख लिया । संतपुरमें अनेकों धन्वन्तरि-से वैद्य हैं, जिनकी जड़ी-बूटी तो क्या—संगतिमात्रसे उसकी दशा सुधर सकती है; किन्तु सम्राज्ञी मायाके जादूके प्रभावसे नगरीका बच्चा भी चूँतक नहीं करता । नगरदुर्गके द्वारपर अज्ञानका भारी पहरा लगा है; मायारानी जितनी ही सुन्दरी है, उतनी ही प्रभावशालिनी भी है । चलो, अब लौट चलें ।' पथिकने देखा सब कुछ, मायाने अब कुछ समझाया भी; पर उससे कुछ न बन पड़ा । क्योंकि वह तो मायाके मोहमें सारी सुध-बुध खो चुका था । मायाके साथ विलास-कुटीपर लौटा, पुनः आनन्दसागरकी ऊर्मियोंमें निमज्जित हो वैसे ही खिलखिला उठा जैसे बुझते दियेकी ज्योति । यह उसका तीसरा दिन था ।

(४)

चौथे दिनकी किरणें फूटीं । मेला समाप्त हो चला था । कोलाहल शान्त हो चुका था । पथिक भी थक गया था । आज उसका प्रस्थान-दिवस था । ''माया ! अब मैं जाता हूँ····तुम्हें छोड़ते मुझे दुःख होता है । हृदय तुम्हारी ही गोदमें छिपा रहना चाहता है । कैसे करूँ ? क्या करूँ ?···कैसे जाऊँ ? ये बन्धु-बान्धव··· कैसे छोड़ूँ ? नहीं छूटते, किन्तु पिताकी आज्ञा !···'' कहते-कहते पथिकका गला रुँध गया । वह फूट-फूटकर रोने लगा । 'यह कुटी ! ये मित्र ! ये रिश्तेदार !··· माया !!···' हिचकियाँ दे-दे पथिक रोने लगा । माया चित्तविकला-सी थी । उसकी भी आँखोंसे आँसू टपक रहे थे । मोहको देखा, पथिक चिल्ला उठा । 'तृष्णा !!!'···पथिक रवाना हुआ ! सभी उसके पीछे हो लिये गाँवकी सीमातक पहुँचाने । पथिकका हृदय वज्र-सा भारी था, ओठ सूख रहे थे । शरीर डंठलकी तरह हो चुका था । पथ सूझ नहीं रहा था, पाँव पीछेकी ओर पड़ रहे थे । गाँवकी सीमापर पहुँचते ही पथिकने नदीके उस पार लकड़ीका ढेर जमा देखा । उसपर किसीका शव अस्थिपञ्जरके रूपमें पड़ा था । चिताके पीछे एक विशालकाय दैत्य अपने बड़े-बड़े दाँतोंको कटकटाता लाल-लाल नेत्रोंसे शवकी ओर घूर-घूरकर देखता हुआ भयानक हँसी हँस रहा था । उसके हाथमें एक जलती उल्का थी । उसे देख भयभीत हो पथिक बोल उठा—''माया ! वह विकरालमूर्ति कौन है ?' बुढ़िया-सी हँसती माया पीछेसे खिः-खिः कर उठी । शब्दान्तर देख पथिकने पीछे मुड़कर मायाकी ओर देखा,······लावण्य अदृश्य !····राक्षसी-रूपमें विशालकाया ! कृष्णवर्णा ! धवलकेशा ! जर्जर-काया ! कंकाल !! दो-चार बड़े-बड़े दाँत मुँहसे बाहर निकले हुए, आँखें सुदूर अस्थिपंजरमें धँसी हुईं, गालोंमें कुएँ-से गहरे खड्डे······विकराल !······भयंकर !! 'माया, काम, मोह, लोभ, क्रोध, मद—अरे ! सभी ऐसे हो गये !···' कहता पथिक घबरा उठा । 'मेरे पीछे मेरे शरीरसे चिपकनेका प्रयास करती यह कौन ?'··· पथिक बड़बड़ा उठा । 'वृद्धावस्था' उत्तर मिला···। 'आह ! मरा ।' पथिक भागने लगा । उसके पीछे माया और सारे बन्धु-बान्धव अपने-अपने विकरालरूपमें दौड़ने लगे, मानो सब उसे खा जाना चाहते हों । पथिककी आवाज बैठ रही थी । पक्षिसमूह चिल्ला उठा । बड़ा-सा तूफान उठता दिखायी पड़ने लगा । पथिक पसीने-पसीने हो रहा था । उसके पैर लड़खड़ाने लगे । कहाँ-तक भागता···धड़ामसे पृथ्वीपर गिर पड़ा—पिता ! पिता ! पुकारता हुआ । इतनेमें आकाशमार्गसे पवनको चीरती ध्वनि आयी—ध्वनि चैतन्यशीला थी, डूबतेको तिनकेके समान और बुझते दीपको स्नेहके समान थी । 'कौन ? तुम कौन हो ? पशु हो, पक्षी हो या मनुष्य ?' उत्तर देते हुए पथिकने कहा—'मनुष्य हूँ महाराज ! आपकी आज्ञासे मायापुरीको देखने गया था—लौट आया हूँ ।'

'घबराये-से क्यों हो ? क्या उकता गये ?' ध्वनि बोली ।

पथिकका गला बैठ गया, धीरेसे बोला—'दया कीजिये, देव···' 'दया ? दया मेरी सृष्टिमें है, किन्तु वह मायापुरीके मोल नहीं बिकती । पुरुष ! अपने कर्मोंके फल तुम्हें भोगने होंगे ।' ध्वनि आयी । 'भूल हुई, क्षमा हो, भगवन् ! जल्दी कीजिये, मेरे पीछे सैकड़ों राक्षस लगे हैं; वे मेरे ही थे, किन्तु आज मेरे प्राणोंके ग्राहक बन गये हैं ।'—पथिकने कहा ।

'क्षमा अज्ञानमें किये पापके लिये होती है । मनुष्य ! तुम तो सचेत थे, मैंने सब कुछ समझा दिया था न ।' ध्वनिने कड़ककर कहा ।

'जी, हाँ ! किन्तु कुतूहल, जिज्ञासा और इच्छामें मैं सब कुछ भूल चुका था, महाराज !' पथिकने उत्तर दिया ।

'फिर भूल रहे हो, पथिक ! मैंने तुम्हें और भी कुछ कहा था । संतपुर देख आये ?'

'नहीं, महाराज ! समय नहीं मिला ।'

'समय था और उस समय तुम्हें सचेत करनेके हेतु एक अधेड़को भी भेजा गया था; उसने इशारा भी किया था, तुमने उसे देखा था ?'

'जी हाँ, महाराज ! जब मैं गृहस्थाश्रममें था ।'

'फिर तुम उसके पास क्यों नहीं गये ? उसका प्रत्येक संकेत तुम्हें सचेत करनेके लिये ही था। तुम दोषी हो, पापका प्रायश्चित्त करना होगा । पिता पुत्रको पातकीके रूपमें नहीं देख सकता । यदि मायापुरीके संतपुरमें जा उसके वाणीघाटका स्नान कर लेते तो मायापुरीका सब आवरण धुलकर साफ हो जाता ।'

पथिक छटपटा रहा था । गुप्त ध्वनिमें कर्कशता आ रही थी । आश्रयका ठौर नहीं था । निराश था, आँखोंके सामने अँधेरा छा गया । धूलिधूसरित नेत्रोंकी क्षीण ज्योतिमें पथिकने देखा—वही दैत्य जो शवके पास था, उसके सिरहाने खड़ा था । उसकी जीभ लपलपा रही थी, मुँह लारसे द्रवीभूत था, दाँत खड्गकी धारके समान तेज थे । पथिक घबरा उठा—'पिता ! पिता !' भूल गया । चिल्ला उठा—'माया ! माया···माया !!'

'काल ! पुतलेको सँभालो, मेरा अंश मुझमें आ गया ।' इतना कहती ध्वनि शान्त हो गयी । कालने दोनों हाथोंसे पथिकके शरीरको पकड़ा । एक झिझकीमें हड्डियोंका भूसा हो गया । पथिककी यात्रा चौथे दिनके साथ समाप्त हुई । माया, मोह आदि सभी कालके साथ बैठ मांस भक्षण कर रहे थे । चील, कौवे, गीध, गीदड़—चारों ओर चिल्ला रहे थे ।

विचार

(लेखक—श्रीकृष्णलालजी वर्मा)

जैसे विचार होते हैं, वैसे ही आचार भी होते हैं । जैसी इच्छा होती है, वैसा ही फल भी मिलता है । उच्चातिउच्च दशा विचारोंसे प्राप्त होती है और नीचातिनीच स्थिति भी विचारोंसे ही मिलती है ।

उच्च विचार करना आमका वृक्ष बोना है । आमका वृक्ष देरमें किन्तु मधुर फल देता है । वह बोनेवालेहीको मधुर फल और शीतल छाया नहीं देता, बल्कि उन सभीको देता है जो उसके पास जाते हैं । इसी तरह सद्विचारोंका फल भी देरमें, पर मधुर मिलता है । सद्विचार कर्त्ताको ही शान्ति और सुख नहीं देते, बल्कि उन सभीको देते हैं जो उसके सम्पर्कमें आते हैं।

असद्विचार काँटोंकी जंगली झाड़ीके समान हैं । वह झाड़ी उसके बोनेवालेको ही काँटे नहीं चुभोती, बल्कि उन सबको भी चुभोती है जो जानमें या अजानमें उसके पास जाते हैं । इसी तरह असद्विचार उनके कर्त्ताको ही दुःख और संकटमें नहीं डालते, बल्कि उन सबको भी डालते हैं जो उनके सम्पर्कमें आते हैं ।

सद्‌विचार गरुड़के समान वेगवान् और शक्तिशाली होते हैं । उनपर सवार होकर मनुष्य सभी उत्तम पदार्थ पा सकता है; जीवनको शुद्ध, सात्त्विक और पवित्र बना सकता है और गरुड़ारोही श्रीहरिके पाद-पद्मोंमें लीन हो सकता है ।

मनसा, वाचा, कर्मणा सत्यकी उपासना सद्विचार-फल है; दुखियोंके दुःख देखकर उन्हें दुःखमुक्त करनेका प्रयत्न करना सद्विचार-फल है; अपनेसे अधिक दुखीको देखकर अपने दुःखको भुलाना सद्विचार-फल है; नास्तिकको आस्तिक बनानेमें असफल होकर भी उसको प्रभुका एक मार्ग-भूला बालक समझना और मदद करते रहना सद्विचार-फल है; अनाचारीको भी दयापूर्वक सदाचारी बनानेके प्रयत्नमें अपना सर्वस्व लगा देना और उसे सद्बुद्धि प्रदान करनेकी प्रार्थना करना सद्विचार-फल है ।

जिसको सद्विचार-फलकी प्राप्ति हुई है, उसके लिये समझना चाहिये कि वह प्रभुका परम भक्त है और उसकी संगतिमें रहकर अपना कल्याण करनेके विचार परम सुखदायी हैं, मङ्गलकर्त्ता हैं और अपने तथा दूसरे—सबके लिये हितकारी हैं।

हृदय-बोध

(समर्थ स्वामी श्रीरामदासके 'मनांचेश्लोक' का अनुवाद)

गुणाधीश जिनका गणाधीश नाम,
प्रथम रूप निर्गुणके उनको प्रणाम।
नमो शारदा, मूल जो वाक्स्वरूप;
दिखे रामका मार्ग अक्षय अनूप ॥ १ ॥

सुजन मन ! अगर रामके पथमें जाओ,
तो तुम श्रीहरीको सहजमें ही पाओ।
जो हो लोकमें निन्द्य, तुम उसको छोड़ो;
जो हो वन्द्य, उस तत्त्वसे भाव जोड़ो ॥ २ ॥

सबेरे सदा रामका ध्यान कीजै,
तथा कण्ठसे रामका नाम लीजै।
सदाचारको जो नहीं त्यागता है,
जगत्में वही नर कहाता बड़ा है ॥ ३ ॥

हृदय ! वासना दुष्ट-कामा न होवे,
हृदय ! पापकी बुद्धिको तू न ढोवे।
हृदय ! धर्मकी नीतिको तू न त्यागे,
हृदय ! सद्विवेक-प्रभा नित्य जागे ॥ ४ ॥

सदा पाप-संकल्पको दूर कीजै,
सदा सत्य-संकल्पपै चित्त दीजै।
विषय-वासना-कल्पना भी न आवे,
विकारी यहाँ लोक-निन्दा ही पावे ॥ ५ ॥

करो क्रोधको दूर, है खेदकारी;
तथा काम त्यागो, बड़ा है विकारी।
न हो मत्त मदसे कि है नाशकारी,
हटा भार द दम्भ-मत्सरका भारी ॥ ६ ॥

सदा चित्तमें धैर्यको ही गहो रे,
कड़ी बात भी शान्तिसे ही सहो रे।
सदा नम्र वाणी सभीसे कहो रे,
सभीको इसी भाँति आनन्द दो रे ॥ ७ ॥

मिटे तो मिटे तन, न यश मिटने पाये,
सुजन मन ! करो काम ऐसे सुहाये।
पिसो चाहे चन्दन-से तुम कष्ट सहकर,
करो शान्त-सन्तुष्ट सज्जनका अन्तर ॥ ८ ॥

परद्रव्य-इच्छा न कर, चित्त मेरे !
अति स्वार्थ भी पापका मूल है रे।
पड़ें भोगने पाप वह कर्म खोटा,
न मनकी हुई तो बड़ा दुःख होता ॥ ९ ॥

सदा-सर्वदा राममें प्रीति कीजै,
स्वयं चित्तसे दुःखको त्याग दीजै।
जो हो देहका कष्ट, सुख उसमें मानो;
विवेकस्वरूपी सदा निजको जानो ॥१०॥

यहाँ कौन है सर्व सुख जो कि पा ले,
तुही चित्तमें शोध ऐसा लगा ले।
किया पूर्व-संचित हृदय ! कर्म जैसा,
हुआ प्रात है तुमको अब भोग वैसा ॥ ११ ॥

हृदय ! चित्तमें दुःखको मत बुला रे,
हृदय ! सर्वथा शोक-चिन्ता न ला रे।
विवेकी ! हटा देह-बुद्धित्व रोग,
विदेहीपनेसे परामुक्ति-भोग ॥१२॥

हुआ हाल लङ्केशका, चित्त ! क्या ही,
हुई राज्यकी एक पलमें तबाही।
इसीसे बुरी वासना डाल पीछे,
लगा जा रहा है बली काल पीछे ॥ १३ ॥

मिला कर्मका योग, जग जन्म पाया;
गिरा अन्तमें, कालके मुँह समाया।
बड़े-से-बड़े भी गये मृत्यु-पथपर,
कई जीव जन्मे, कई मर चुके नर ॥१४॥

हृदय ! भूमि है सत्य ही मृत्यु-घेरा,
सभी किन्तु कहते कि 'मैं और मेरा'।
स्वयंको चिरंजीव जो मानते थे,
भगे; साथ कुछ भी न ले जा सके वे ॥ १५ ॥

मरा एक, उसका करे अन्य शोक;
अकस्मात वह भी चला अन्य लोक।
कभी लोभ पूरा हुआ क्षोभदाता?
इसीसे पुनर्जन्म है जीव पाता ॥१६॥

हृदय ! व्यर्थ चिन्ता कहाँतक करेगा?
जो कुछ होनेवाला है, होके रहेगा।
मिले कर्मके योगसे भोग जानो;
विरहमें दुखी हो, उसे मूर्ख मानो ॥ १७ ॥

बिना रामके अन्य आशा कहाँसे,
न तू मानुषी कीर्तिके गीत गा रे।
निगम-आगमोंने जिसे है बखाना,
उसे ही कथन कर बनेगा सयाना ॥१८॥

हृदय ! सर्वथा सत्यको तू न छोड़,
हृदय ! सर्वथा झूठसे चित्त मोड़।
हृदय ! सत्य-ही-सत्य बातें बखान;
हृदय ! झूठ बातें हटा, बात मान ॥ १९ ॥

बड़ा कष्ट होगा, पड़े गर्भमें जो;
बचो जन्मके बन्धसे, शक्य हो तो।
कड़ी जेल है, गर्भमें जो समाता;
अधोमुख पड़ा जीव बहु दुःख पाता ॥२०॥

हृदय ! त्याग दे वासना-फेर सारा,
हृदय ! छोड़ दे कामना द्रव्य-दारा।
हृदय ! गर्भकी यातना है महान;
मिलें राम, कर यत्न ऐसे, सुजान ॥ २१ ॥

करो हित हमारा, सुजन मन ! ये खास,
कि हो रामका चित्तमें दृढ़ निवास।
पवन-सुतके स्वामी महाराज हैं वे,
जगन्नाथ उद्धार जनका करेंगे ॥२२॥

बिना रामके और बातें वृथा हैं,
वृथा बोलनेमें कहो, सुख कहाँ है?
मरण हर घड़ी है निकट आता जाता,
मरणके समय कौन तुझको छुड़ाता ॥ २३ ॥

बिना रामके व्यर्थ क्यों कष्ट झेले,
वृथा विश्वके स्वप्नमें मूढ़ ! खेले।
सदा-सर्वदा नाम मुखमें बसा दे,
अहंता महा पापिनी है, नसा दे ॥२४॥

न मेरे कहेका बुरा मान तू, मन !
नहीं तो मिलेंगे कहाँ रघुके नन्दन।
सुखोंकी घड़ीमें मिले सुख भले ही,
मगर आगे खो देगा सब कुछ ही, देही ॥ २५ ॥

किया देहरक्षार्थ तूने न क्या-क्या?
उड़ा सब, दिया कालने जब तड़ाका।
इसीसे सदा रामकी भक्ति कर तू,
कि निश्चिन्त बन और भवसे न डर तू ॥२६॥

हुआ भवके भयसे है क्यों भीत, कायर !
तू डर छोड़कर धैर्य मनमें सदा धर।
है श्रीराम-से नाथका हाथ सिरपर,
तो फिर यमके भी कोपका डर हो क्योंकर ॥२७॥

प्रभुकी अहैतुकी कृपा

[कहानी]

(लेखक—मुखिया श्रीविद्यासागरजी)

(१)

फतहगढ़के सेठ रामगोपालजीका नियम था कि जबतक किसी अतिथिको भोजन न करा लेते, तबतक स्वयं भोजन न करते थे। वे एक भक्त साहूकार थे। लखपती सेठ थे। पर लक्ष्मीसे वे जलसे कमल-पत्रके समान विलग रहते थे। उनके दो लड़के थे। गृहलक्ष्मी थी। घरपर तीन नौकर रहते थे। एक नौकर जोधाका यह काम था कि वह प्रतिदिन किसी-न-किसी अतिथिको सेठजीके यहाँ भोजन कराने लिवा लाया करे। अतिथिके मानी यह कि वह फतहगढ़ शहरका निवासी न हो। कई अतिथि मिल जायँ तो और भी अच्छा, नहीं तो प्रतिदिन एक अतिथिका मिलना अनिवार्य था।

एक दिन शामके चार बज गये, परन्तु कोई अतिथि न मिला। जोधाने चार चक्कर शहरके लगाये, पर बेकार। अतिथि मिलते थे और जोधा उनको निमन्त्रण भी देता; पर कोई कुछ कह देता और कोई कुछ। एकने कहा—'मैं भोजन करके शहरमें आया हूँ।' दूसरेने कहा—'मेरे पास क्या कमी है कि जो दूसरेके यहाँ रोटी माँगता फिरूँ?' तीसरेने कहा—'जान न पहचान, बड़े मियाँ सलाम! मैं तुम्हारे साथ चलूँ और तुम ले जाओ मुझे कहीं गुंडोंके अड्डेपर! भोजन एक तरफ—जो कुछ मेरे पास लट्टू-पट्टू है, उसे भी छिनवा लो। अच्छा रोजगार सीखा है तुम्हारे मालिकने! लंबी काटो! मैं चकमेमें आनेवाला आसामी नहीं।'

बड़ी कठिनतासे एक महात्माको साथ लेकर जोधा हवेलीपर गया। महात्माजीको देखकर सेठजी बहुत खुश हुए और बोले—

सेठ—आइये, महाराज! आपकी कुटी कहाँ है?

महात्मा—भागलपुर जिलेमें।

सेठ—आपका शरीर किस जातिका है?

महात्मा—ब्राह्मण।

सेठ—कितने दिनोंसे आप फ़कीरी करते हैं?

महात्मा—तीस सालसे।

सेठ—अब आपकी क्या अवस्था है?

महात्मा—सत्तर सालकी।

सेठ—आपने सब तीर्थ किये होंगे?

महात्मा—हाँ।

सेठ—इधर किधर जानेका विचार है?

महात्मा—बिठूरके ब्रह्माजीका दर्शन करने जा रहा हूँ।

सेठ—आपने अनेक सिद्धोंकी संगत पायी होगी?

महात्मा—अवश्य।

सेठ—आप शिक्षित मालूम पड़ते हैं।

महात्मा—हिंदी, उर्दू, फ़ारसी, संस्कृत, बँगला, गुजराती और गुरुमुखी जानता हूँ।

सेठ—धन्य भाग, जो आपके दर्शन हुए। अब आज्ञा कीजिये कि आपके लिये कच्चा खाना मँगवाऊँ या पक्का। दोनों प्रकारके भोजन ब्राह्मण रसोईदारके बनाये हुए तैयार हैं।

महात्मा—पक्का भोजन ठीक है।

सेठजीके आज्ञानुसार एक पत्तलमें महात्माजीको पक्का भोजन परोसा गया।

बिना भोग लगाये ही महात्माजी भोजन करने लगे।

(२)

सेठ—आपने भोग नहीं लगाया?

महात्मा—कैसा भोग?

सेठ—आपने परमात्माका नाम भी नहीं लिया। हिंदुओंमें कायदा है कि भोजन करते समय भगवान्‌को अर्पण करके भोजन करते हैं। मुसलमानोंमें कायदा है कि खाना खाते समय 'बिस्मिल्लाह' कहते हैं।

महात्मा–यह सब ढोंग है।

सेठ–क्या आप परमात्माको नहीं मानते हैं ?

महात्मा–कहाँ है परमात्मा ? दिखलाओ !

सेठ–तो आप नास्तिक हैं ?

महात्मा–जी हाँ।

सेठ–(झल्लाकर) नास्तिकको मैं भोजन नहीं दे सकता। राम ! राम ! आज महापाप हो गया। आप पण्डित नहीं—मूर्ख हैं। आप महात्मा नहीं—बदमाश हैं। आपका तीर्थगमन बेकार है। आपका सत्संग व्यर्थ है। आप पापी हैं—निशाचर हैं।

इतना कहकर सेठजीने जोधाको बुलाया। जब वह आया तो कड़ककर बोले—'क्यों रे ! तुझे यही पाखण्डी मिला था, जो ईश्वरको नहीं मानता ? मैं इसकी सूरत नहीं देखना चाहता। इस महापापी राक्षसकी पत्तल उठाकर बाहर कुत्तोंको फेंक दे और इसे गरदन पकड़कर अभी मेरे मकानसे बाहर निकाल दे।'

जोधाने बाबाजीपर धावा बोल दिया। उनकी पत्तल फेंक दी। बेचारे आधी ही पूड़ी खा पाये थे। कान पकड़कर उस नास्तिक बाबाको घरसे बाहर ढकेल दिया गया।

(३)

सेठजीने जोधाको फिर भेजा कि किसी आस्तिक अतिथिको ले आये। बेचारा फिर भागा। एक घंटे बाद जोधा लौटा। साथ थे एक बाबाजी। वह रामनामी कपड़ा ओढ़े थे। गलेमें तुलसी-माला लटक रही थी। मस्तकपर रामानन्दी तिलक थे। सेठने कहा—'यह अतिथि ठीक है !'

पूछनेपर बाबाजीने कच्चा भोजन माँगा। पत्तल परोसी गयी। बाबाजीने भोग लगाया। कहा—'धन्य भगवान् ! जय हो गोपालजीकी। परमात्मा ! आप बड़े दयालु हो। सेठजीकी जय हो। बाल-बच्चे हरे-भरे रहें। महिमा महाप्रसादकी—पावो भोग लगाय। जय सीतारामकी। लक्ष्मीनारायणकी जय। गुरूजीकी जय। संत-सतीकी जय। दाताकी जय। जगद्गुरु दत्तकी जय !'

भोग लगाकर बाबाजी भोजन करने लगे। सेठजीने कहा—'इसी तरह भोग लगाया जाता है। इसी तरहके बाबाजी ठीक होते हैं। वह मरभुखा नास्तिक बड़ा पाजी था। पक्का भोजन चाहिये और ईश्वरका नाम लेते छाती फटती थी। जिसने इतना अच्छा भोजन दिया, उस प्रभुको धन्यवादतक नहीं ! साधू काहेका, सवादू था।'

भोजन करके जब बाबाजी चलने लगे, तब सेठजीने एक रुपया नज़र दिया। बाबाजी आशीर्वादकी वर्षा करके चले गये।

इसके बाद सेठजीने भोजन किया।

(४)

रातको सेठजीने रामायण तथा गीताका पाठ किया और बिनय-पत्रिकाके पद गाये। सब लोगोंने मिलकर संकीर्तन किया। बच्चे और सेठानी भी उस कीर्तनमें शामिल हुईं। यह रोजका नियम था। इसके बाद ठाकुरजीकी आरती हुई।

जब रात ज्यादा हुई और सेठजी पलँगपर जा लेटे, तब उनके हृदयमें एक आकाशवाणी हुई—

'रामगोपाल ! तुमने जिस नास्तिकको भूखा भगा दिया था, जानता है, उसको आज मैं सत्तर सालसे लगातार भोजन देता आ रहा हूँ ? तुम जिसका पालन एक दिन भी न कर सके—उसका पालन मैं सत्तर सालसे कर रहा हूँ। तुम मेरे कैसे भक्त हो ?'

सेठजीने कहा—'प्रभो ! आप सबके परम सुहृद् हैं, हम सबपर अहैतुकी कृपा रखते हैं। मेरी गलती क्षमा कीजिये। वास्तवमें मुझसे भूल हुई। नास्तिक और आस्तिक दोनोंका पालन आप करते हैं। इसीको कहते हैं—अहैतुकी कृपा। आप सबपर निःस्वार्थ तथा हार्दिक स्नेह रखते हैं। बाप अपने नालायक लड़केको भी रोटी देता है।'

डाकूको उपदेश

(लेखिका—बहिन ओपल मैक्काय)

हैज़लने अपने टाइपराइटरके सामने बैठे-बैठे ही अपनी गर्दनको पीछेकी ओर मोड़ा और शान्त मुद्रासे नवागत पुरुषकी ओर देखा । वह अभी-अभी उसके भोजनागारमें घुसा ही था ।

'ओहो ! आप भीतर कैसे आ गये ?' उसने मधुर स्वरमें पूछा । 'मैं समझ रही थी कि दरवाजेपर ताला लगा है ।'

आगन्तुक अपने पैरोंको और भी दूर-दूर रखकर खड़ा हो गया । उस समय उसके खड़े होनेका ढंग वैसा ही मालूम होता था जैसा कि किसी चलचित्रके डाकूका हो सकता है । वह अपनी बंदूकको डाकुओंके ढंगपर आगे किये हुए था । हैज़लकी दृष्टिसे यह नहीं प्रतीत होता था कि वह उस मनुष्यके अंदर, उसकी बंदूकमें अथवा उसके वहाँ होनेमें भी कोई असाधारण बात देख रही हो । वह उसकी ओर देखकर मुसकरायी । उसकी मुसकराहटमें सौन्दर्य था । उसमें आन्तरिक सौन्दर्यके सौम्य किन्तु तेजोमय प्रकाशके साथ-साथ समझका—प्रज्ञाका सम्मिश्रण था ।

आगन्तुक कुछ सकपकाया, किन्तु उसने अल्हड़पनसे उत्तर दिया—'मैं शयनागारकी एक खिड़कीमेंसे घुस आया । उसकी जालीपर कीलें जड़ी हुई थीं, इसलिये मैंने उसे काट डाला ।' इससे सारी बात स्पष्ट हो जाती थी । उस समय हैज़लको डर जाना चाहिये था । इसके विपरीत वह हँसने लगी ।

'ओहो ! आपको कितना कष्ट हुआ ? यदि आपने घंटी बजा दी होती तो मैं सामनेके दरवाजेपर चली आती । क्या आप मेरी जालीको नष्ट किये बिना मुख्यद्वारपर मुझे नहीं लूट सकते थे ? आजकल नयी जालीका मिलना कठिन होगा, क्योंकि युद्धसम्बन्धी उद्योगके लिये लोहेकी आवश्यकता है ।'

इस प्रकार हैज़लको मालूम हो गया था कि आगन्तुक डाकू है ! आगन्तुकको उसकी गति-विधि रहस्यपूर्ण प्रतीत हुई । वह इतना समय व्यर्थ गँवा देनेपर मन-ही-मन झुँझलाने लगा ।

'देवि !' उसने अनखभरे स्वरमें कहा, 'मुख्यद्वारपर किसीको थोड़े ही लूटा जाता है, ऐसा करना जोखिमका काम है । मुझे तुम्हारा धन और तुम्हारे जेवर चाहिये, परन्तु मुझे पकड़ा जाना अभीष्ट नहीं । अब जल्दी करो, उन्हें लाकर मेरे हवाले करो ।'

हैज़लने पुनः डाकूकी ओर देखा । वह अब भी शान्त, अब भी सौम्य थी । 'कृपया बैठ जाइये,' उसने अपने बगलमें रखी हुई एक कुर्सीकी ओर संकेत किया । 'मैं आपकी बंदूकसे अथवा आपसे डरती नहीं हूँ ।'

डाकूने क्रोधभरे नेत्रोंसे उसकी ओर एक दृष्टि फेंकी और अपनी मुखमुद्रा विकृत बना ली । 'मैं दिल्लगी नहीं कर रहा हूँ । मुझे तुम्हें अपनी गोलीका शिकार बनानेमें भी झिझक नहीं होगी ।' डाकूने उससे कहा ।

'मैं जानती हूँ, आपको झिझक नहीं होगी,' हैज़लने उसकी बातका समर्थन करते हुए कहा । 'परन्तु मैं फिर भी वही बात कहती हूँ कि 'मुझे आपका या आपकी बंदूकका भय नहीं है ।'

डाकूकी कठोर मुद्रा विलीन हो गयी । हैज़लका कथन सत्य था । उस महिलाको डाकूसे उतना भी भय नहीं था जितना एक म्याऊँके बच्चेसे हो सकता था । डाकू हैरान था ।

'मुझे बताओ, तुम्हारे भयभीत न होनेका क्या कारण है ?' डाकूने अपनी बंदूक नीची कर ली और जहाँ हैज़लने उसे बैठनेको कहा था, वहीं वह बैठ गया ।

हैज़लकी मुखाकृति बदली नहीं। उसपर सान्त्वनाका कोई चिह्न नहीं था। वही मधुर शान्ति अक्षुण्णरूपसे विराजमान थी। डाकूके प्रति वही शिष्टता एवं आदरका भाव दिखलाते हुए, जो वह किसी मित्रके प्रति दिखलाती, उसने उत्तर दिया—

'महाशय! मैं भयभीत इसलिये नहीं हूँ कि मुझमें भगवान्‌के विश्वासकी ज्योति जगमगा रही है। न केवल अपनी रक्षाके विषयमें (क्योंकि बिना किसी प्रकारकी शारीरिक क्षति पहुँचे मेरी आपसे भेंट ही न होती) अपितु इस अनुभवमें भी मेरा विश्वास है कि सभी परिस्थितियोंका तत्सम्बद्ध लोगोंके लिये कुछ-न-कुछ अर्थ अवश्य होता है। हमलोगोंका जो इस प्रकार समागम हुआ है, वह काकतालीय न्यायसे नहीं हुआ है, अपितु अदृष्टकी प्रेरणासे हुआ है। हमलोगोंकी चेतनाके किसी अपूर्ण अंशको पूर्ण करनेके लिये आपको मेरी आवश्यकता थी या मुझे आपकी अपेक्षा थी। यदि गोलीसे मारा जाना या अपनी सम्पत्तिका कुछ अंश खो देना मेरे कर्ममें लिखा होता तो मैं स्वेच्छासे आपको अपनेपर गोली चलाने देती। इसलिये कि आपका मेरी वस्तुओंपर कोई अधिकार नहीं है, अन्यथा वैधरूपसे वे आपके पास चली आयी होतीं—मुझमें इतना साहस है कि अपने एक शरीरको बचानेके लिये मैं अन्यायको चुपचाप नहीं सह सकती।'

''कर्म' तथा 'अपने एक शरीर' से आपका क्या अभिप्राय है?''

'कर्मका अर्थ है—जगत्‌का न्यायानुकूल शासन। अपने एक शरीरसे मेरा अभिप्राय यह है कि मैंने आपकी ही भाँति दूसरे-दूसरे जन्मोंमें अनेकों शरीर धारण किये हैं। यदि मैं यह न जानती कि किसी आत्माकी (जो हम सबका वास्तविक स्वरूप है) वास्तविक स्थिति कोई नहीं बतला सकता तो मुझे आपके समान शिक्षित प्रतीत होनेवाले तथा मूलतः अच्छे संस्कारोंमें पले हुए मनुष्यको आज इस प्रकार अपने यहाँ पाकर आश्चर्य होता।'

'यदि आप अपने अन्तिम कथनका अभिप्राय समझायेंगी तो मैं आपको बतलाऊँगा कि मैंने डाकूका पेशा क्यों ग्रहण किया। किसी आत्माकी स्थिति आप नहीं जानतीं—इसका क्या कारण है? मुझे इस विषयमें कुतूहल हो रहा है।'

'मैं नहीं जानती, इससे क्या। जो लोग क्रमशः आगे बढ़ते-बढ़ते स्थूलशरीरसे ऊपर उठ गये हैं और जो हमारे-जैसे विद्यार्थियोंकी आवश्यकताओंको ठीक उसी प्रकार जान सकते हैं जैसे स्कूलोंमें पढ़ाये जानेवाले विषयोंकी शिक्षा देनेवाला शिक्षक अपने उच्च ज्ञानके द्वारा प्रत्येक छात्रकी कमजोरियों एवं शक्तियोंको जानता है और उनसे आगे बढ़ जाता है, वे आत्माकी स्थितिको जान लेते हैं। यह बात जानी हुई है कि कोई आत्मा कई दिशाओंमें चाहे बहुत आगे बढ़ी हुई हो, फिर भी उसकी स्थिति उस जगह हो सकती है, जहाँसे दूसरी आत्माने अपनी यात्रा प्रारम्भ की हो। यही कारण है कि अध्यात्म-विद्याका कोई भी जिज्ञासु किसी दूसरे मनुष्यकी स्थितिको आँकनेका प्रयत्न नहीं करता। हमलोग अच्छी तरह जानते हैं कि किसी भी मनुष्यकी वास्तविक स्थितिका अनुमान उसकी बाह्य स्थितिसे नहीं लगाया जा सकता। हमारे महान् पुरुषोंमेंसे किसीमें उस कोटिकी सहृदयताकी कमी हो सकती है, जिसे दयाकी पराकाष्ठा कहते हैं। उस गुणका चरम सीमातक विकास करनेके लिये वह लोगोंकी दृष्टिमें नीच कुलमें जन्म ले सकता है। आप डाकू इसलिये हैं कि कोई बात आपको ठीक नहीं प्रतीत होती अथवा इसलिये कि आप भ्रान्तिमें हैं अथवा दोनों बातें हैं।'

डाकू क्षणभर कुछ सोचता रहा और तब उसने अपनी बंदूक मेजपर इस तरह रख दी मानो वह

उसके मार्गमें बाधक हो रही थी। उसकी लंबी-लंबी उँगलियाँ निरुद्देश्यभावसे टाइपराइटरकी मेजपर रखी हुई एक पुस्तिकाके पन्ने उलटने लगीं। 'आप ठीक कहती हैं। मैं संगीतज्ञ हूँ या यों कहिये कि था, और मुझे इधर तो इतनी ख्याति प्राप्त कर लेनेकी आवश्यकता प्रतीत होने लगी कि मैं जिस स्थितिमें था, उसी स्थितिमें रहकर गाना-बजाना बेरोक-टोक कर सकूँ। उधर मैं इतना भी नहीं कमा पाता था कि जिससे स्वस्थतापूर्वक रह सकता अथवा इस सन्दिग्ध अवसरकी प्रतीक्षा करता हुआ अपना अभ्यास चालू रख सकता। इन्हीं दोनों बातोंके कारण मैं अधीर हो उठा। बस, उस अधीरताका यह परिणाम है कि इस रूपमें आप मुझे देख रही हैं। अपना खाता बराबर करनेके लिये मैं कई मनुष्योंको लूट चुका हूँ। वे सभी आपकी तरह धनवान् एवं सुसंस्कृत मनुष्य थे।'

'मुझे आशा है आप इस बातको देख सकेंगे कि खाता बराबर करनेके बदले आप पहलेसे कहीं अधिक ऋणी हो गये हैं। हमारी सामाजिक व्यवस्थामें बहुत कुछ सुधारकी आवश्यकता है, इस बातको हम सब लोग जानते हैं; परन्तु हमें सिद्धान्तोंपर आक्रमण करना चाहिये, व्यक्तियोंपर नहीं। जातियों तथा राष्ट्रोंमें जागृति हो रही है। व्यक्ति आगे बढ़ रहे हैं, जातियाँ समष्टिरूपसे तथा व्यष्टिरूपसे भी आगे बढ़ रही हैं; हम सब परस्पर ओतप्रोत हैं। राष्ट्र महाद्वीपोंमें, महाद्वीप ग्रहोंमें, ग्रह ग्रहोंके समुदायों अथवा ब्रह्माण्डोंमें जुड़े हुए हैं। आप प्राकृतिक क्षेत्रमें युगपरिवर्तनों एवं जीवोंकी श्रेणियोंसे तो परिचित हैं ही, क्यों, हैं न ?'

'हाँ, मैं परिचित तो हूँ और आपने जो कुछ कहा है, उसे समझता भी हूँ, यद्यपि मुझे यह पता नहीं है कि मैं यह सब कैसे समझ पाता हूँ। मुझे ऐसी कोई बात कभी नहीं सिखायी गयी।'

हैज़ल मुसकरायी। 'आपके इस वाक्यमें मैं इतना संशोधन करूँगी कि इस जन्ममें आपको ऐसी कोई बात नहीं सिखायी गयी; क्योंकि आपने शिक्षाके द्वारा अथवा शिक्षा एवं समस्याओंके द्वारा इन तथ्योंका पता पहले न लगा लिया होता तो आप इन्हें इतना जल्दी न समझ पाते।'

'मुझे एक बात और बताइये। मैं सत्यको बराबर स्वीकार करता जा रहा हूँ। जब आपको भय नहीं है, तब आपने अपने दरवाज़ेपर ताला क्यों लगाया ?'

'केवल सामान्य सतर्कताकी दृष्टिसे। बहुधा सन्नद्धता कवचका काम दे जाती है। प्रकृति गाफिल नहीं है। जब मनुष्य किसी घटनाकी सम्भावनाको समझकर अपनी शक्तिके अनुसार उसका प्रतीकार भी कर सकता है, तब इस बातपर सहज ही विश्वास किया जा सकता है कि इस प्रकारकी घटनाएँ पहलेसे निश्चित हो सकती हैं। क्या आप नहीं देखते कि आपकी आत्मा यहाँ आपको एक प्रकारसे अन्तिम पराजयके लिये ही ले आयी थी; क्योंकि अपराध-विषयक आपका अनुभव परिपक्व हो गया होगा।'

'हाँ, मैं देख रहा हूँ; परन्तु मेरी समझमें यह बात नहीं आ रही है कि इतनी विवेकसम्पन्न होनेपर भी आप मुझे अपने समान क्यों समझती हैं। क्या आप मेरी आजकी हरकतपर नाराज़ नहीं हैं ?'

'निश्चय ही मैं आपके आजके कार्यका विरोध करती हूँ। समझना और समर्थन करना दो अलग-अलग बातें हैं। मैं आपके कार्योंको समझती हूँ; परन्तु निश्चित रूपसे जिस बातको आप नहीं समझ रहे हैं, वह यह है कि इस घटनाके प्रति मेरा कोई निजी राग-द्वेष नहीं है। अपने बर्तावके मैं दो हेतु बता सकती हूँ। प्रथम तो कदाचित् किसी पूर्वजन्ममें मैंने आपके साथ अच्छा बर्ताव नहीं किया था, जिसके कारण मेरा आपके साथ इस प्रकार धैर्यपूर्वक व्यवहार करना

आवश्यक था । दूसरी बात यह है कि कोई किसी भी प्रकारका ज्ञान रखता हो—चाहे वह स्कूलोंमें प्राप्त ज्ञान हो अथवा बोधरूप ज्ञान—वह उसे जिज्ञासुको वितरण करनेसे इनकार नहीं कर सकता। यदि वह ऐसा करे तो सम्भव है उसे उतने ही समयके लिये लक्ष्यकी ओर ले जानेवाली ज्ञानकी आगेकी सीढ़ियोंसे वञ्चित रहना पड़े ! आप देखते हैं मेरे मनमें खीझ नहीं है । क्या आपको याद है कि छोटी कक्षाओंको पढ़ानेवाले किसी स्कूलके अध्यापकने गणितके किसी प्रश्नका ठीक उत्तर न दे सकनेके कारण अपने छात्रके प्रति व्यक्तिगत द्वेषका भाव प्रकट किया हो ? नहीं-नहीं, ऐसा न करके वह बालककी भूलको बतला देता है, जिससे वह अगली बार दशमलवका चिह्न ठीक स्थानपर रखना जान जाता है ।' हैज़ल अपनी कुर्सीपरसे उठकर खड़ी हो गयी ।

'मैंने अपने लेखमें क्या लिखा है, उसे आप देख जाइये । मेरे बच्चे जब यह समझते हैं कि मेरे लेखको और भी सुन्दर बनाया जा सकता है, उस समय वे अपने सुझाव पेश करना चाहते हैं । आप मेरे लिये वही काम कर सकते हैं; क्योंकि समय रहते इसे डाकमें चला जाना चाहिये और मैं बच्चोंके लौटनेकी बाट नहीं देखूँगी । मैं आपको गरम चा पिलाती हूँ और उसके बाद आप इसे डाकमें छोड़ दीजियेगा । क्या आप मेरे लिये यह काम नहीं कर सकेंगे ?'

आगन्तुक उसके लेखको, जो अभीतक टाइपराइटरपर ही था, पढ़ना शुरू कर चुका था ।

'अपने आपको भूल जाना—आत्मविस्मृति ही कलाका मूल है । विश्वके प्रति मनुष्यका, जो उसका एक अंश है, क्या भाव है—इसे व्यक्त करनेके लिये उसके आत्माके मूलसे जो दिव्य प्रेरणा—जो उदात्त भावोंकी बाढ़ आती है, वह जबतक उसके अहंभावको उसके व्यष्टिभावको बहा नहीं ले जाती, तबतक उच्च कलाका आविर्भाव नहीं होता ।'

नवागत पुरुष टाइपराइटरके सामने पूर्ण निश्चल भावसे बैठा रहा । अपने लेखका भाव सुस्पष्ट करनेके लिये हैज़ल उस पत्रिकामें एक तैलचित्रकी प्रतिकृति भी भेजना चाहती थी । आगन्तुकने उसकी ओर देखा। वह अपनी कुर्सीको पीछे ढकेलकर धीरेसे पियानो बाजेके पास गया । शीघ्र ही उस वाद्यमेंसे ऐसी संगीत-ध्वनि प्रवाहित हुई कि ऐसा प्रतीत होने लगा मानो समस्त लोकोंके जीव अपना-अपना व्यापार छोड़कर उसे सुननेको बाध्य हो जायँगे । हैज़ल रेफ्रीजरेटर (खाद्य पदार्थोंको ताजा बनाये रखनेका यन्त्र) पर टेका देकर खड़ी रही । उसकी आँखोंसे आँसू बहते जाते थे । विलक्षण संगीत था । स्वर, लय और राग—सब कुछ मधुर, सजीव, उदात्त और प्राणयुक्त था । हैज़लने ऐसा उत्कृष्ट संगीत पहले कभी नहीं सुना था ।

संगीतध्वनि सहसा बंद हो गयी । हैज़ल फुर्तीसे भीतर गयी । आगन्तुक बाजेपर टेका दिये कुछ आगेकी ओर झुका हुआ था और हैज़ल जान गयी थी कि वह चल बसा था । हैज़लने उसके घने सुनहले बालोंपर हाथ रखा और मनमें उसकी स्मृतिको सुरक्षित रखते हुए भगवान्से उसके 'कल्याणकी प्रार्थना की ! इसके बाद वह लौट गयी और बंदूकको एक दराज़में ले जाकर रख दिया । बाजेके तख्तेपर एक स्वरलिपि थी, जिसपर आगन्तुकका नाम था और जिसे उसने अपने कोटकी जेबमेंसे निकालकर रखा था, परन्तु जिसे वह बाजेपर नहीं बजा पाया था । हैज़लने उसकी ओर एक दृष्टि डाली और एक डाक्टरको टेलीफोन किया । ठीक उसी समय उसके लड़के और लड़कीने कमरेमें प्रवेश किया । उनके प्रश्नका उत्तर देते हुए उसने कहा—'मेरे इन मित्रपर हृद्रोगका आक्रमण हो गया है और मैंने एक डाक्टरको बुलाया है ।'

—(रोज़ीक्रूशन मैगेजीन)

हंसवाहना सरस्वती आजकल मयूरवाहना कैसे हो गयीं ?

[साहित्यिक खोज]

(लेखक—देवर्षिभट्ट श्रीमथुरानाथजी शास्त्री साहित्याचार्य)

केवल उपासक-सम्प्रदायमें ही नहीं, भारतीय साहित्यमात्रमें प्रसिद्ध है कि ज्ञानकी अधिष्ठात्री देवता भगवती सरस्वती वाणीकी नायक हैं। इसीलिये चाहे वैष्णव हों चाहे शैव, सभी कवि सबसे पहले सरस्वतीकी वन्दना करते हैं। बालकोंकी पाठ्यपुस्तकें जैसे—'नत्वा[१] सरस्वतीं देवीं' आदिसे प्रारम्भ की जाती हैं, वैसे ही साहित्यके ग्रन्थ भी 'सरस्वत्येवैषा[२] घटयति यथेष्टं भगवती' इत्यादि वचनोंमें समाप्त किये जाते हैं। सरस्वती श्वेत कमलपर विराजमान हैं, चन्द्रमाके समान श्वेत कान्तिवाली और श्वेत वस्त्र धारण किये हैं, हाथमें 'कच्छपी' नामकी वीणा लिये हुए हैं, इत्यादि वर्णन साहित्यमें सुप्रसिद्ध है। प्राचीन वर्णनोंमें सरस्वतीके वाहनका प्रसङ्ग अत्यावश्यक न था। इसीलिये पुराने काव्य, नाटक आदिसे संग्रह करके बनाये 'सुभाषितरत्नभाण्डागार' में सरस्वतीके तेरह मङ्गलाचरण दिये हैं, किन्तु एकमें भी उनके वाहनका प्रसङ्ग नहीं। महाकवि राजशेखरकी 'काव्यमीमांसा'में भगवती सरस्वती अपने काव्यरूपी पुत्रके अन्वेषणके लिये दूर-दूर यात्रा करती हैं; किन्तु कहीं उन्हें वाहनकी जरूरत नहीं पड़ी। किन्तु यह बात अवश्य है कि कवियोंके वर्णनोंमें जहाँ-जहाँ सरस्वतीके वाहनकी चर्चा आयी है, वहाँ यह हंस ही लिया गया है।

केवल कवियोंके वर्णनोंमें ही नहीं, पूजापद्धतियोंमें भी जहाँ-जहाँ सरस्वतीका ध्यान आता है, वहाँ-वहाँ वाहनके प्रसङ्गमें हंसका ही उल्लेख मिलता है। 'शब्दार्थचिन्तामणि' कोषमें सरस्वतीके ध्यानका यह पद्य है—

वाणीं पूर्णनिशाकरोज्ज्वलमुखीं कर्पूरकुन्दप्रभां
चन्द्रार्द्धाङ्कितमस्तकां निजकरैः संबिभ्रतीमादरात् ।
वीणामक्षगुणं सुधाढ्यकलशं विद्याञ्च तुङ्गस्तनीं
दिव्यैराभरणैर्विभूषिततनुं हंसाधिरूढां भजे ॥

केवल यहीं नहीं, 'दक्षिणामूर्तिसंहिता' में भी सरस्वतीका हंस ही वाहन माना गया है—

हंसारूढा हरहसितहारेन्दुकुन्दावदाता
वाणी मन्दस्मिततरमुखी मौलिबद्धेन्दुरेखा ।
विद्यावीणामृतमयघटाक्षस्रजा दीप्तहस्ता
शुभ्राब्जस्था भवदभिमतप्राप्तये भारती स्यात् ॥

केवल वर्णनोंमें ही नहीं, अत्यन्त पुराने चित्रोंमें भी सरस्वतीका हंस ही वाहन देखा गया है। कलाभवनोंमें अत्यन्त पुराने दाक्षिणात्य चित्र और बङ्गदेशीय चित्रोंमें भी आप देखेंगे कि सर्वत्र सरस्वतीका हंस ही वाहन अङ्कित है। यह प्रसङ्ग प्रमाणोंका उल्लेख करते समय आगे भी आयेगा। किन्तु यह सब कुछ अब पुराने समयकी सामग्री होती जा रही है। संस्कृतसाहित्यसेवी मुखसे चाहे कुछ भी कहते रहें; किन्तु क्या उत्तरभारतमें और क्या दक्षिण भारतमें—सभी जगह भगवती सरस्वती आजकल मयूरवाहना हो गयी हैं; क्योंकि सरस्वती-पूजोत्सवोंमें जहाँ-जहाँ सरस्वतीका चित्र देखा जाता है, वहाँ-वहाँ हंसको उड़ाकर इस मयूरका ही कब्जा पाया जाता है। वसन्त-पूजापर 'मराठा क्लब'में मुझे निमन्त्रण था। वहाँ प्रधान स्थानपर राजा रविवर्माका लिखा सरस्वतीका चित्र ही विराजित था, जिसमें कलकलवाहिनी नदीके तटपर वीणाको झंकृत करती हुई सरस्वती देवी प्रसन्न मुखसे चित्रित की गयी थीं। उनके समीपही में मयूर खड़ा था। आश्चर्य तो यह था कि उसी समय विद्यार्थियोंने स्तुति गायी—

वाणीं पूर्णनिशाकरोज्ज्वलमुखीं कर्पूरकुन्दप्रभां
चन्द्रार्द्धाङ्कितमस्तकां निजकरैः संबिभ्रतीमादरात् ।
वीणामक्षगुणं सुधाढ्यकलशं विद्याञ्च तुङ्गस्तनीं
दिव्यैराभरणैर्विभूषिततनुं हंसाधिरूढां भजे ॥

सामने मयूर प्रत्यक्ष दिखलायी दे रहा था; तो भी स्तुति पढ़ी जा रही थी 'हंसाधिरूढां भजे ।'

छापेखानोंमें जो सरस्वतीके 'ब्लाक' हैं, उनमें भी भगवती सरस्वती मयूरपर ही बैठी हैं, मानो हंस पुराना हो चुका है, इसलिये उसे छुट्टी दे दी गयी है। प्रेस ही आजकल साहित्यके प्रचारके प्रधान साधन गिने जाते हैं और वहाँ भगवती

---

१. लघुकौमुदी । २. मनोरथोंको यह भगवती सरस्वती ही संघटित करती है । (ध्वन्यालोकका उपसंहार)

सरस्वतीने हंसको छोड़कर मयूरपर ही कृपा की है। आप देखेंगे कि प्रेसोंमें सरस्वतीके ब्लाकचित्रोंमें कहीं सरस्वती नाचते हुए मोरपर बैठी हैं और कहीं वह मोर सरस्वतीके समीप खड़ा है। बेचारा हंस तो पुराने इतिहासकी सामग्री होने जा रहा है। प्राचीन साहित्य-सेवियोंको कदाचित् स्मरण होगा कि बहुत पुराने 'भारतमित्र'में बाबू बालमुकुन्द गुप्तने शिक्षासुधारपर एक व्यङ्ग्य-चित्र दिया था। जिसमें लार्ड कर्ज़न सरस्वतीके हंसको उड़ाते हुए कह रहे हैं 'डैम वीणा! फूलिश हंस! जाओ। मैं सरस्वतीको अब नया शृङ्गार दूँगा' इत्यादि। वह व्यङ्ग्य-चित्र मानो अब सत्य हो रहा है।

मयूर देवीका वाहन नहीं, यह मैं नहीं कहता। मयूर भी भगवतीका वाहन है; किन्तु वे सरस्वती नहीं। वे हैं कौमारी शक्ति—

'कौमारी शक्तिहस्ता च मयूरवरवाहना।'
'माहेश्वरी वृषारूढा कौमारी शिखिवाहना।'

संस्कृत-साहित्यमें सरस्वतीको ब्रह्माजीकी पत्नी माना गया है—

सिद्धान्तं सर्वविद्यानां शुद्धान्तं[1] परमेष्ठिनः।
शोणाधरमहः किञ्चिद्वीणाधरमुपास्महे॥
आशासु राशीभवदङ्गवल्ली-
भासैव दासीकृतदुग्धसिन्धुम्।
मन्दस्मितैर्निन्दितशारदेन्दुं
वन्देऽरविन्दासन[2]सुन्दरि त्वाम्॥

भागवत आदि पुराणोंमें ब्रह्माकी पुत्री भी वाग्देवीको माना है, जैसे—

वाचं दुहितरं तन्वीं स्वयंभूर्हरतीं मनः।
अकामां चकमे क्षत्तः सकाम इति नः श्रुतम्॥

किन्तु यह इतिहास नहीं, यह है एक वैज्ञानिक रहस्य। अस्तु, ब्रह्मवैवर्त पुराणके प्रकृति-खण्डमें पञ्चमाध्यायमें सरस्वती भगवान् नारायणकी पत्नी हैं। गङ्गा और लक्ष्मी उनकी सपत्नियाँ हैं। वहाँ सरस्वतीकी अपेक्षा भगवान् नारायणका गङ्गामें अधिक प्रेम मालूम होता है, अतएव ईर्ष्याके कारण गङ्गाको वे शाप देती हैं। साथ-साथ बीच बचाव करनेवाली लक्ष्मीको भी। किन्तु गङ्गा भी क्रुद्ध होकर उन्हें शाप देती हैं। भगवान् नारायण आपसमें कलह करनेके कारण सभी पत्नियोंपर अप्रसन्न होकर उन्हें शापका दण्ड देते हैं। सरस्वतीके प्रति आपका शाप है—

गङ्गाशापेन कलया भारतं गच्छ भारति।
कलहस्य फलं भुङ्क्ष्व सपत्नीभ्यां सहाच्युते॥
स्वयं च ब्रह्मसदने ब्रह्मणः कामिनी भव।
गङ्गा यातु शिवस्थानमत्र पद्मैव तिष्ठतु॥

'गङ्गाके शापसे सरस्वती! तुम अंशके द्वारा तो भारतमें जाओ और अपनी सपत्नियोंके साथ कलह करनेका फल भोगो; और स्वयं तुम ब्रह्मलोकमें ब्रह्माकी स्त्री बनो। गङ्गा शिवजीके पास जायँ, यहाँ केवल लक्ष्मी ही रहेंगी।'

सरस्वतीने अपने अपराधसे पछताकर भगवान्से प्रार्थना की—

विदायं देहि मे नाथ दुष्टाया जन्मशोधनम्।
सत्स्वामिना परित्यक्ताः कुतो जीवन्ति काः स्त्रियः।
देहत्यागं करिष्यामि योगेन भारतेऽद्भुतम्॥

'नाथ! अपराधिनी मुझको अपने अपराधकी शुद्धिके लिये बिदा दीजिये। प्रिय स्वामीसे त्याग किये जानेपर कोई भी स्त्रियाँ कैसे जी सकती हैं। मैं अब भारतमें योगके द्वारा देहत्याग करूँगी।' इसपर भगवती पद्माने मध्यस्थ होकर नारायणसे शाप हटानेकी प्रार्थना की। भगवान्ने भी अनुकूल होकर कहा—

भारती यातु कलया सरिद्रूपा च भारते।
अर्द्धांशा ब्रह्मसदनं स्वयं तिष्ठतु मद्गृहे॥

'अच्छा, एक कलासे नदीका रूप धारण कर सरस्वती भारतमें जायँ और आधे अंशसे ब्रह्मलोकमें रहें, बाकी स्वयं सरस्वती यहीं मेरे पास रहें।'

इन कारणोंसे सरस्वतीका हंसवाहना होना तो प्रमाणसिद्ध हो सकता है; किन्तु उनका वाहन मयूर हो, इसका तो कोई भी प्रसङ्ग नहीं। किन्तु आप देखते होंगे कि हंसको बिदा देकर सरस्वतीके वाहनका चार्ज आजकल मयूरने ले रखा है। यह क्यों हुआ, इस विषयका विचार करनेपर विचारशीलोंको अवश्य कौतुक होगा। हालहीमें 'भाण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना' के अध्यक्ष श्रीयुत पी० के० गोड महोदयने 'ओरिएण्टल इण्डियन आर्ट सोसाइटी (कलकत्ता)' पत्रमें इस विषयपर कुछ खोज

---

[1] परमेष्ठिनः (ब्रह्माजीका) अन्तःपुर (जनाना)। [2] अरविन्दासन (कमलासन ब्रह्माकी) सुन्दरी (पत्नी)।

प्रकाशित की है। उसका कुछ सार नीचे दिया जाता है—

संस्कृत-साहित्यमें हंस और सरस्वतीके अनेक प्रसङ्ग मिलते हैं। हरिदास भट्टाचार्यने 'विद्याकी देवी सरस्वती (Saraswati the Goddess of Learning)' नामक निबन्धमें हज़ारसे ऊपर वर्षोंका इतिहास दिखाकर सरस्वतीके साथ हंस, कमल, वीणा आदिका प्रसङ्ग समझाया है। वहाँ यह भी प्रसङ्ग है कि कई जातियोंमें सरस्वती श्वेतसर्प अथवा हंसके रूपमें पूजी जाती हैं। ऐलिस गेटी (Alice Getty) ने 'उत्तरीय बुद्धधर्मके देवता' नामक पुस्तकमें सरस्वतीका वाहन मयूर जरूर लिखा है; किन्तु ध्यान रहे, वह है बौद्धोंकी देवता।

१५८३ ईस्वीके हस्तलिखित 'द्रव्यावलिनिघण्टु' में सरस्वतीका एक चित्र मिला है, जिसमें सरस्वतीका हंस ही वाहन है।

सरस्वतीं तां सितपद्मकीरौ
वीणां च पुस्तं च करे दधानाम्।

—इत्यादि पद्य चित्रके साथ किसीने विना सम्बन्ध ही जोड़ दिया है। १६१३ ईस्वीमें मुस्लिम इतिहासलेखक सिकन्दर बिन मोहम्मदने गुजरातका इतिहास लिखा है। उसमें सुलतानकी प्रिय नर्तकी चम्पाबाईके द्वारा सरस्वतीके अभिनयका भी प्रसङ्ग आया है। वहाँ भी सरस्वतीका वाहन हंस ही है, मयूर नहीं।

जैन लेखक नेमिदत्तने १५३० ईस्वीमें अपने 'आराधना-कथा-कोष' में निम्नलिखित पद्यसे सरस्वतीको मयूरवाहना लिखा है—

श्रीमच्चारुमयूरवाहनपरा पद्मासना निर्मला
मिथ्याध्वान्तभरप्रणाशविलसद्भास्वत्प्रभाभासुरा।
भव्याम्भोरुहवनप्रमोदजननी सन्मार्गसंदर्शिनी
देवेन्द्रादिसमर्चिता जिनपते जीयात्सतां भारती॥

इस जैन ग्रन्थकारने १५२९ में 'श्रीपालचरित' बनाया। इसलिये यह मानना चाहिये कि सबसे पहले मयूरवाहना सरस्वतीका प्रसङ्ग १५३० ईस्वीमें सुनायी पड़ा। एम्० आर० मजुमदारने पंद्रहवीं शताब्दीके हस्तलिखित गीतगोविन्दमें स्थित सरस्वतीके एक चित्रका हवाला दिया है, जिसमें सरस्वतीके चरणोंके पास हंस चित्रित है। इसी तरह प्रो० ब्राउन (W. N. Brown) ने अपनी 'कालका-कथा' नामक पुस्तकमें सरस्वतीके एक चित्रका वर्णन दिया है। उसमें भी सरस्वतीके समीप हंस ही है, मयूर नहीं। यह भी चित्र पंद्रहवीं शताब्दीका है।

ब्राउनने इस निबन्धमें ग्यारहवीं शताब्दीकी तालपत्रपर लिखी एक पुस्तकमें स्थित सरस्वतीके चित्रका हवाला दिया है, जिसमें सरस्वतीके ऊपरके हाथोंमें कमल और नीचेके हस्तोंमें स्फटिकमाला और पुस्तक दी हुई हैं। देवीके सामने इसमें हंस है। कितने ही ऐतिहासिक इसे महावीरकी शासनदेवीका चित्र बतलाते हैं और कई चक्रेश्वरीका, जो प्रथम तीर्थङ्करकी शासनदेवी है।

काश्मीरक कवि कह्लण राजतरङ्गिणी (ईस्वी सन् ११४८) के प्रथम भाग पृ० ३५ में स्वयं सरस्वतीका ही श्वेत हंसके रूपमें वर्णन करता है—

देवी भेडगिरेः शृङ्गे गङ्गोद्भेदशुचौ स्वयम्।
सरोऽन्तर्दृश्यते यत्र हंसरूपा सरस्वती॥

कह्लणके द्वारा हंसके रूपमें सरस्वतीका यह चित्रण सरस्वतीके साथ हंस और सरस्का अति निकट सम्बन्ध सूचित करता है, जिसके कारण उसको 'सरस्-वती' यह पदवी मिली। ऊपरके अवतरणोंसे विदित हुआ होगा कि सरस्वतीका हंसवाहना होना इतिहाससे प्रमाणित है।

जितेन्द्रनाथ बनर्जीने सरस्वतीके हंसवाहना होनेमें पुराने सिक्कोंका भी प्रमाण दिया है। कलकत्तेके म्यूज़ियममें गुप्तकालिक सुवर्णमुद्रा (मोहर) पर एलन (Allen) साहबने लक्ष्मी देवीका एक चित्र बतलाया था; किन्तु हंसके निशानसे बनर्जी महोदयने 'यह सरस्वतीका चित्र है' यह सिद्ध किया। यदि बनर्जी महोदयका कथन सत्य है तो सरस्वतीके हंसवाहना होनेमें छठी शताब्दीका भी एक और प्रमाण मिल जाता है, जो ऊपरके बारहवीं शताब्दीके चित्रोंसे अच्छी तरह परिपुष्ट हो जाता है।

१४ वीं शताब्दीमें विद्यारण्यने शृङ्गेरीमें विद्यामन्दिर बनवाया, और वहाँ सरस्वतीकी मूर्ति भी स्थापित की। किन्तु उस मूर्तिमें सरस्वतीका कोई वाहन नहीं है। बी० सी० भट्टाचार्यने 'जैन मूर्ति-विद्या (Jain I conography)'

नामक निबन्धमें जैनोंकी श्रुतदेवी वा सरस्वतीका वर्णन दिया है—'श्वेताम्बरोंके अनुसार यह देवी हंसपर बैठी है। चार हाथोंमें कमल, वर, पुस्तक और माला लिये हुए है। दिगम्बरोंके ग्रन्थोंमें यह मयूरवाहना है। दिगम्बरोंने हंसके स्थानमें मयूर माना है। दिगम्बरोंके विचारानुसार महामानसी यक्षिणी, अथवा विद्यादेवी मयूर-माला-पुस्तकादि चिह्न धारण करती है'—इत्यादि।

समयके क्रमसे ऊपर उद्धृत किये प्रमाणोंके द्वारा स्पष्ट प्रतीत होता है कि ब्राह्मणों एवं बौद्धोंके ग्रन्थोंमें भगवती सरस्वतीका हंस ही वाहन पाया जाता है। सबसे पहले जैनोंने, खास करके दिगम्बर जैनोंने ही सरस्वतीको मयूरवाहना लिखा है। भारतमें वह भी समय आ चुका है जब कि दिगम्बर जैनोंका चारों तरफ़ अक्षुण्ण प्रभाव छाया हुआ था। दक्षिण और गुजरातमें तो सैकड़ों वर्ष बीत जाने तथा नाना धर्मोंका आधिपत्य हो जानेपर भी आजतक जैनप्रभाव ज्यों-का-त्यों बना हुआ है। हमारे जयपुर राज्यको ही लीजिये। यहाँ केवल नगरमें ही नहीं, राजधानीके बाहर प्रायः सभी स्थानोंमें जैनोंके देवमन्दिर और 'उपासरे' आज दिन जीर्णावस्थामें भी पूर्व समयके अपने पूर्ण प्रभावकी सूचना देते हैं। इससे स्पष्ट अनुमान किया जा सकता है कि यह वर्तमान कालकी मयूरवाहना सरस्वती ब्राह्मणकालिक मूर्तिनिर्माण-कलाके ऊपर जैन-कालिक मूर्ति-कलाकी सम्पूर्ण विजयका ही परिणाम है। दक्षिणादि देशोंमें मूर्तिचित्रण-कलापर जैनकलाका वह स्थायी प्रभाव पड़ा कि जिससे प्रसिद्ध चित्रकार राजा रविवर्माने भी सरस्वतीको मयूरवाहना ही अङ्कित किया।

राजा रविवर्माके चित्रोंकी भारतमें उस समय कितनी ख्याति हुई, यह कौन नहीं जानता। बस, राजा रविवर्माके चित्रोंके प्रभावके कारण छापाखानोंमें भी यह मूर्तिकलाका नवीन परिवर्तन अलक्षितरूपसे स्थान पा गया। फिर क्या था, प्रेसके ब्लाकोंका देशमात्रमें प्रचार होनेके कारण भारतके कोने-कोनेमें भगवती सरस्वतीके साथ मधुरदर्शन इस मयूरका भी नवीन सम्बन्ध स्थापित हो गया। आज बङ्ग आदि देशोंमें [जहाँ दाक्षिणात्य चित्रकलाका इतना प्रसार न हुआ] कहीं-कहीं बेचारे इस हंसको सरस्वतीकी सेवामें उपस्थित होनेका अवसर मिलता है।

जैनग्रन्थोंमें मयूरवाहना सरस्वतीके सम्बन्धमें स्थान स्थानपर प्रमाण मिलते हैं। दशम शताब्दीमें शोभनके द्वारा बनाये 'स्तुतिचतुर्विंशतिका' ग्रन्थमें सरस्वतीकी स्तुति बड़ी सुन्दर है-- जिसमें यमकका अद्भुत चमत्कार है--

भारति द्राग् जिनेन्द्राणां नवनौरक्षतारिके।
संसाराम्भोनिधावस्मानवनौ रक्ष तारिके॥

आदि।

कापडियाद्वारा सूरतसे नवीन-सम्पादित 'शोभन' ग्रन्थमें एक रंगीन चित्र भी दिया है, जिसमें पादलिप्तसूरिरचित 'निर्वाणकलिका' के निम्नलिखित लेखके साथ भगवती सरस्वती मयूरपर ही बैठी हुई चित्रित हैं--

प्रज्ञप्तिं श्वेतवर्णां मयूरवाहनां चतुर्भुजां वरदशक्तियुक्त-दक्षिणकरां मातुलिङ्गशक्तियुक्तवामहस्तां चेति। (पृ० १८४)

शोभनने सरस्वती (प्रज्ञप्ति) को स्पष्ट ही मयूरवाहना लिखा है--

केकिस्था वः क्रियाच्छक्तिकरा लाभानयाचिता।
प्रज्ञप्तिर्नूतनाम्भोजकरा लाभानयाचिता॥

शोभनके भ्राता धनपालने (ईस्वी सन् ९७२) इसपर टीका की है—'केकिस्था मयूरस्था वः युष्माकम्' इत्यादि।
कापडिया महोदयने जैनोंकी मयूरवाहना सरस्वतीके सम्बन्धमें और भी उद्धरण दिये हैं--

शक्तिसरोरुहहस्ता मयूरकृतयानलीलया कलिता।
प्रज्ञप्तिर्विज्ञप्तिं शृणोतु नः कमलपत्राभा॥

—आदि।

सरस्वतीके वाहनके सम्बन्धमें साहित्यमें जो-जो प्रसङ्ग मिले, उन्हींकी इस निबन्धमें चर्चा की गयी है। भारतके बाहरके देशोंमें सरस्वतीके मूर्तिनिर्माणमें भी शिल्पसम्बन्धी परस्पर विलक्षणता पायी जाती है। यदि शिल्प और कलाकी दृष्टिसे बारीक विचार किया जाय तो भारतीय मूर्ति-निर्माण-विद्यापर भी विदेशीय मूर्तिनिर्माण-विद्याका बहुत कुछ प्रभाव पड़ा है, इस अनुमानके लिये भी पर्याप्त सामग्री मिलती है। अस्तु, संस्कृतपण्डित और तान्त्रिक विद्वानोंके सम्मुख यह नयी गवेषणा और उस सम्बन्धमें मेरे विचार संक्षेपसे उपस्थित कर दिये हैं। मुझे पूर्ण विश्वास है कि जिन महानुभावोंका इस विषयमें अधिक परिचय है, वे उस सम्बन्धकी सूचना देकर जिज्ञासुओंका उपकार करेंगे।

* * *

---

[1] इस निबन्धमें अंग्रेजीके सम्बन्धकी सहायता बाबू गुमानमल वर्मा बी० ए० से मिली है।

विजयी कौन ? दुनिया किसकी ?

(लेखक—डाक्टर रामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, डी० लिट्०)

संसारमें वे ही व्यक्ति विजय लाभ करते हैं जो 'निष्फलता' शब्दको अपने अन्तःकरणसे बहिष्कृत कर देते हैं, उसका ध्यान, चिन्तन अथवा कल्पनातक नहीं करते, उस ओरसे मुँह मोड़कर सदा-सर्वदा निजकार्य-सिद्धि, सफलता, विजयकी परम परिपुष्ट साधनाकी ओर ही अपनी समस्त शक्ति उन्मुख रखते हैं। जिन व्यक्तियोंमें निश्चयबल जाग्रत् हो जाता है, उनमें लक्ष्य-सिद्धि तथा विघ्न-बाधाओंको परास्त करनेकी दृढ़ता भी आ जाती है। वे एक बार जो कार्य करनेका निश्चय कर लेते हैं, उसमें अन्ततक दृढ़ता एवं धैर्यपूर्वक डटे रहते हैं। इस प्रकार चट्टानकी तरह दृढ़ और निश्चयवाले व्यक्ति ही संसारमें कुछ कार्य कर सकते हैं।

तुम अपने विषयमें कैसे विचार रखते हो? अशक्य, संशय, असंभव-जैसे पंगुकारी घृणित शब्दोंको आज ही अपने कोषसे निकाल दो। यदि संसारमें कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न करना चाहते हो तो कमहिम्मतीको मनके देशसे निकाल दो और साग्रह निश्चयकी धारणा करो। धैर्य, शौर्य, निश्चय एवं निर्भयताकी दिव्य पूँजीद्वारा तुम विजयी हो सकते हो।

तुम्हारी इच्छा होती है कि हम विद्वान् बनें, मजबूत बनें, व्यापारमें धन संग्रह करें, आध्यात्मिक जगत्में दिव्य बल संग्रह करें, पर इन सब इच्छाओंकी पूर्ति नहीं हो पाती। इसका क्या कारण है? कारण यही है कि तुम्हारा निश्चय कमजोर है, तुम अपना इरादा इतना मज़बूत नहीं बनाते कि कार्यसिद्धि हो जाय। जहाँ एक-दो साधारण-सी कठिनाइयाँ उपस्थित हुईं, कार्य कठिन प्रतीत हुआ कि तुम उससे पीछा छुड़ानेकी सोचने लगते हो। तुम्हारा मन कहता है—'कौन इस टेढ़े कामको करे, इसमें तो बड़ी झंझट है; हम तो व्यर्थ इसमें पड़े, यों ही चलते-चलते एक व्यर्थकी बला मोल ले ली। छोड़ो इस झमेलेको। कौन इन पचड़ोंमें पड़े।' इस प्रकारकी ऊलजलूल बातें सोचकर तुम अपने कार्यमें शिथिलता ले आते हो। तुम्हारा निश्चय ढीला हो जाता है, विचार-शक्ति अत्यन्त पंगु हो उठती है। तुम्हारा सामर्थ्य भी नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है।

'इसको कौन करे; भला, इससे क्या होना जाना है; कार्य तो कठिन प्रतीत होता है'—जब इस प्रकारके विचार तुम्हारे मस्तिष्कमें उत्पन्न होते हैं तब वे तुम्हारे शरीरमें दुर्बलता उत्पन्न कर देते हैं। शरीरकी रही-सही शक्ति भी चूस लेते हैं। मनुष्यको परवश बना डालते हैं। दुर्बलताके ऐसे थोथे विचार संसारके मनुष्योंको अग्रसर नहीं होने देते।

तनिक अपने जीवनकी ओर देखो। तुम आज किस अवस्थामें पड़े हो? यह अवस्था तुम्हारी किसने बनायी है? तुममें तथा एक उन्नत व्यक्तिमें क्या अन्तर है? यह फर्क क्यों है? कौन तुम्हें अग्रसर होनेसे रोक रहा है? इन सब प्रश्नोंका यदि तुम सचाईसे उत्तर दोगे तो यही प्रतीत होगा कि शक्तियाँ तो तुममें भी पड़ी हैं, किन्तु उन्हें विकसित होनेका अवसर ही नहीं प्राप्त हुआ। होता कैसे? तुमने इस तत्त्वपर कभी गहन चिन्तन ही नहीं किया।

प्रकृतिका यह कठोर नियम है कि जो व्यक्ति नित्यप्रति अपनी शक्तियोंको अधिकाधिक विकसित करनेमें लगे रहते हैं, व्यर्थ समय नष्ट करनेके बदले निरंतर अपनी योग्यता, बुद्धि, चातुर्य (Tact) की अभिवृद्धिमें संलग्न रहते हैं; प्रत्येक दिन कुछ नवीन तत्त्व, कुछ लाभदायक नियम, कुछ प्रगतिशील प्रसङ्गकी खोजमें अग्रसर होते हैं, उन्हें इच्छित फलकी प्राप्ति अवश्य होती

है। योग्य पुरुषकी संसारमें सदैव माँग है। सुपात्र चाहे कुछ विलम्बसे ही सही, किन्तु ऊँचा उठे बिना कदापि नहीं रह सकता। आज न सही, यदि तुमने सच्ची ठोस योग्यता प्राप्त कर ली है तो कल तुम अवश्य ऊँचे उठ जाओगे। अतः विजय प्राप्त करनेके लिये तुम जिस स्थानपर भी हो, आजसे ही अपनी योग्यता बढ़ानेका प्रयत्न करो। पहले अपने कार्यको पूर्णरूपसे समझ लो; मन लगाकर परिश्रमसे उसके विषयमें जो कुछ भी ज्ञान प्राप्त हो सके, कर डालो। तदुपरान्त अपने कार्यसे जो ऊँचा कार्य है, उसे सीखना प्रारम्भ करो। क्रमशः उसमें पूर्णताके लिये प्रयत्न करो। लगे रहो, लगे रहनेसे एक दिन तुम अपने इच्छित स्थानपर अवश्य पहुँच जाओगे। यदि तुम्हारी उच्चाभिलाषाकी अग्नि प्रज्वलित रही तो तुम अवश्य सामान्य स्थितिसे ऊपर उठ जाओगे।

एक पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकने लिखा है—Never be self-satisfied. Aim higher and higher. Master your own job as soon as possible; and then master that of the man higher up. The post of responsibility at the top is only closed to the man who never wills to reach it. अर्थात् कभी अपने सुधारसे संतुष्ट न हो अधिकाधिक उच्चाभिलाषी बनो। सर्वप्रथम शीघ्रातिशीघ्र अपने कार्यमें दक्षता प्राप्त करो। फिर अपनेसे आगेवालेके कार्यमें अनुभव प्राप्त करो। उत्तरदायित्वके स्थान उन्हींके लिये निश्चित होते हैं, जो सदैव उनके लिये प्रयत्नशील रहते हैं।

दुनिया परिश्रमीकी है। अधिकांश व्यक्ति बिना श्रमके ही विजय-सफलता इत्यादिके सपने देखा करते हैं। बिना प्रयत्न किये ये सपने सपने ही रह जाते हैं। तुम अपने निश्चयबलको बढ़ाते रहो। 'भरेको सब भरते हैं'—यदि तुम किसी विशिष्ट प्रकारका बल सञ्चय कर लोगे तो उसकी उत्तरोत्तर वृद्धि ही होती जायगी। विजयके लिये आरम्भमें थोड़े-से बलका सञ्चय यथेष्ट है। यदि तुम यह प्रारम्भिक बल किसी प्रकार प्राप्त कर लो तो उसके साथ और बल स्वयं आकर्षित होकर चला आयेगा। मनुष्यके जीवनमें एक ऐसा अवसर अवश्य आता है कि यदि उसके पास सञ्चित बल हो तो वह अनायास ही ऊँचा उठ जाता है। संसारमें जिन-जिन व्यक्तियोंने ऋद्धि प्राप्त की है, उनमें आवश्यकतासे अधिक बल-सञ्चय था। उन्होंने अपने फुरसतके समयमें अपनी बहुत-सी सुप्त शक्तियोंको जाग्रत् कर लिया था; फिर वे क्रमशः उन्हें विकसित करते रहे। अनेक साधारण श्रेणीके व्यक्ति आवश्यकतासे अधिक बलका सञ्चय करनेके कारण ही उन्नतिके सर्वोच्च शिखरपर पहुँचे हैं।

दूसरी श्रेणीके व्यक्ति वे हैं, जो विपत्तिका सामना करनेकी शक्तिके कारण केवल अपने अदम्य उत्साहके बलपर विजय लाभ कर सके हैं। वे विपत्तिसे दबे नहीं, निरन्तर संघर्ष करते रहे। प्रतिकूलताको उन्होंने अपने दृढ़ निश्चयबलसे परास्त कर दिया और स्थिर निष्ठासे प्रगतिशील होते रहे। उस मनुष्यकी सदैव पराजय होती है, जिसमें इतना ही बल होता है कि ज्यों-त्यों करके व्यवहार चला सके। उससे अधिक कष्टसाध्य, उत्तरदायित्वका, या ऊँची योग्यताका कार्य होना असम्भव नहीं तो दुःसाध्य तो अवश्य है; क्योंकि उसमें इतनी सामर्थ्य ही नहीं होती। प्रत्येक मनुष्यके जीवनमें अवसर तो अवश्यमेव आते हैं; ऐसे अवसरोंपर योग्यतावाले व्यक्ति ऊँचे उठ ही जाते हैं। आँधी-तूफ़ानमें भी वे दृढ़ एवं मज़बूत खड़े रहते हैं। इसके विपरीत सामान्य योग्यतावाले जहाँ-के-तहाँ पड़े रह जाते हैं।

हमारे भीतर जितनी शक्ति प्रस्तुत है, सदैव उससे न्यून ही व्यय करना उचित है। यदि जितना संग्रह किया है उतना ही खर्च कर डाला तो विपत्ति एवं प्रतिकूलतासे मुठभेड़ करनेके लिये शक्ति कहाँसे आयगी ? अतएव

अपनी शक्तिका व्यय इस क्रमसे करना चाहिये कि नित्य थोड़ा-बहुत अपने पास संगृहीत रहे ।

विजय-प्राप्तिका सबसे सुगम उपाय तो यह है कि तुम जिस क्षेत्रमें पदार्पण करो, उसकी चोटीपर चढ़ जानेका दृढ़ निश्चय बना लो । सामान्य स्थितिमें सन्तोष न मानकर प्रशंसनीय स्थितिपर चढ़नेका उद्योग करते रहो । अपने अफसरोंका अपने ऊपर विश्वास दृढ़ होने दो । तभी तुम उत्तरदायित्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर सकोगे । जिस कार्यमें जितना उत्तरदायित्व है, उतनी ही अधिक आय, प्रशंसा या कदर है । जिस कार्यमें जितनी कठिनाई है, उतना ही लाभ है। फिर कठिनाईसे क्यों भयभीत होते हो ? उसे प्रसन्नतासे स्वीकार करो; फिर देखोगे कि दुनिया तुम्हारी ही है ।

मनुष्य अपनी अन्तरात्मामें अपने उद्देश्योंकी सिद्धिके लिये जितना अपने संकल्पोंको मजबूत करता है, उतना ही उसमें विजय लाभ करानेवाली शक्तिकी जागृति होती है । पहले लक्ष्य ऊँचा करो, फिर परिश्रमद्वारा साधन प्राप्त करो, क्रमशः अपने सत्संकल्पोंको पुष्ट करते रहो, वर्तमान स्थितिसे कदापि संतोष न करो; बस, तुम विजय प्राप्त कर लोगे ।

एक बार एक शिष्यने अपने गुरुजीके पास जाकर विजय-प्राप्तिका उपाय पूछा । गुरुजीने उत्तर दिया, 'शक्ति, संकल्प और साधनाका फल विजय है; वही करो ।' शिष्यने उत्तर दिया 'महाराज ! क्या बताऊँ, कोई मेरी सहायता ही नहीं करता; मैं किस प्रकार शक्ति सञ्चय कर सकता हूँ ।' गुरुने कहा, 'जबतक तुम अपने पाँवोंपर खड़े होना नहीं सीख लेते, तबतक सफलताकी बात भूल जाओ; क्योंकि विजय अपने बलसे ही मिला करती है ।'

जबतक आत्मश्रद्धा एवं आत्मनिर्भरता जाग्रत् नहीं होती, तबतक मनुष्य सफलताकी शक्तियोंको ठीक स्थानपर कदापि केन्द्रित नहीं कर सकता । जबतक वह अपना स्वामी स्वयं नहीं बन जाता, उसका कल्याण कभी सम्भव नहीं । स्वतन्त्रतासे कार्य करनेपर ही उसकी आत्मशक्तियाँ (अपूर्वता, संकल्प, सामर्थ्य, कुशलता) पूर्ण विकसित होकर विजयश्रीसे भेंट करा सकती हैं । मनकी व्यग्रता या उद्विग्नताकी स्थिति आत्मश्रद्धाकी स्थिति नहीं है । पर्वतकी तरह दृढ़ निश्चय-बलवालेकी पूर्ण परिपुष्ट निश्चयात्मक स्थिति ही आत्मश्रद्धाकी यथार्थ समुचित मानसिक स्थिति है । इस प्रकारकी निश्चयात्मिका दृढ़तावाला व्यक्ति संसारके क्षुद्र थपेड़ोंमें व्यग्र होकर व्यर्थ अपनी मानसिक शान्तिको भंग नहीं करता, प्रत्युत निरन्तर अधिकाधिक मजबूतीसे कदम बढ़ाता है ।

निज अन्तःकरणकी क्रियाका सूक्ष्म अध्ययन करो । क्या तुम जन्मभर अन्य व्यक्तियोंका आश्रय देखते रहोगे ? क्या तुम सदैव दूसरोंकी इच्छानुकूल प्रवृत्तिमें ही अपनी मौलिकताकी इतिश्री कर दोगे ? क्या तुम अन्य मनुष्योंद्वारा निर्मित मार्गपर ही घिसटते रहोगे ? क्या तुमने अपने भाग्यकी बागडोर किसी अन्य व्यक्तिके हाथमें पकड़ा दी है ? यदि तुमने ऐसा कर दिया है तो सचमुच तुमने भयंकर भूल की है ।

परतन्त्रताकी दशामें मनुष्यकी आध्यात्मिक शक्तियोंका विकास नहीं होता । जब व्यक्ति स्वतन्त्रताके उत्कृष्ट महापथका पथिक बन जाता है, तभी उसका उत्थान प्रारम्भ होता है । स्वतन्त्रताकी अवस्थामें उसमें उन दिव्य प्रेरणाओंका उदय होता है, जो जीवनको नवीन रूप प्रदान करती हैं । पहले जहाँ वह अन्धकारमें पड़ा था, अब जगत् उसकी ओर आशाकी दृष्टिसे देखता है । प्रत्येक मनुष्यकी उन्नतिका एक पृथक् मार्ग होता है । स्वतन्त्रताकी उन्मुक्त अवस्थामें वह दूसरोंका अनुकरणमात्र नहीं करता, प्रत्युत अपना निर्दिष्ट मार्ग स्वयं खोज निकालता है ।

* * *

एक सतीका संक्षिप्त आदर्श चरित्र

(लेखक—पं० श्रीभवानीशरणजी त्रिपाठी साहित्यरत्न)

आर्योंके त्याग और तपश्चर्यामय जीवनसे सिञ्चित होकर पल्लवित तथा पुष्पित भारतीय संस्कृति ऐसे-ऐसे आदर्शोंके निर्माणकी एक जीवित कहानी है, जिनसे अनुप्राणित होकर विश्वमें युगान्तर उपस्थित करनेवाली महान् आत्माओंका आविर्भाव हुआ है। जिस प्रकार यहाँ भगवान् राम, कृष्ण, बुद्ध आदिने सामाजिक दुरवस्थाके सुधारमें योग देकर भूतलपर स्वर्ग स्थापित करनेका महत्त्वपूर्ण तथा श्रेयस्कर कार्य किया, उसी प्रकार सीता, सावित्री आदि देवियोंने भी मातृ-जातिकी शक्ति और महत्त्वका सौन्दर्यपूर्ण परिचय देकर अपने मञ्जुल आलोकसे जगतीकी पापमयी पृष्ठ-भूमि आलोकित की थी। मानव तथा मानवीकी यह कल्याणमयी क्रिया, जिसके द्वारा जीवनमें उच्चतम भावों, विचारों और कर्मोंकी प्राणप्रतिष्ठा हुई, भारतीय इतिहासकी एक ऐसी अपूर्व घटना है, जो हठात् मनुष्यके हृदयमें उसके अतीतकी दिव्य स्मृति जाग्रत् कर देती है और उस स्मृतिकी प्रतिक्रियासे प्रभावित होकर आज भी भारतीय समाजके अधिकांश सदस्य अपना कर्त्तव्य निर्णय करनेका प्रयत्न करते हैं।

नारीका सतीत्व उसका प्राणोंसे भी प्रिय-धर्म तथा भारतीय संस्कृतिके आदर्श-निर्माणका एक ज्वलन्त उदाहरण है, जिसे चरितार्थ करनेके लिये वीराङ्गनाओंने अपने मृत पतिके साथ चितार्चियोंका सहर्ष चुम्बन किया है। राजस्थानकी भूमिका कण-कण सतियोंकी भस्मका नव्य रूप है, जिसपर प्रत्येक विचारशील भारतीयको गर्व है। धन्य है इस देशका वह गौरवमय प्राचीन काल, जिसमें समूह-की-समूह वीरबालाएँ एक साथ गाती-बजाती और हँसती हुई मृत्युका मङ्गलमय आलिङ्गन करनेके लिये चितामें प्रवेश करती थीं। भारतीय महिलाओंका यह प्राणोत्सर्ग संसारके इतिहासमें अद्वितीय है। किन्हीं-किन्हींने तो अपने पतिकी मृत्युके पश्चात् चितामें प्रविष्ट हो अपने शरीरसे ही अग्नितत्त्वको जाग्रत् करके प्रज्वलित किया था और जगतीको इस अपूर्वकल्पित दृश्यसे आश्चर्यचकित कर दिया था। यदि अहम्मन्यताका सर्वथा परित्याग कर आजका मानव फिर एक वार शुद्ध संकल्पसे आदर्श जीवन-निर्माणका कार्य प्रारम्भ कर दे तो वैधानिक प्रतिबन्धोंकी विकटता तथा आधुनिक सभ्यताके इस नवीन युगमें भी, जब कि हमारा दृष्टिकोण एकदम वैज्ञानिक तथा भौतिक हो गया है, ऐसी घटनाएँ भी होंगी ही, जिनसे पर्याप्त लाभ उठाया जा सकता है। प्रस्तुत चरित्र इसी प्रकारका है, जिसे हुए अभी दो ही वर्ष बीते हैं।

युक्त प्रान्तकी पुण्यभूमिमें बाँदा नामका एक जिला है। उसकी बबेरू नामकी तहसीलमें बाघा एक छोटा-सा गाँव है। उसी गाँवमें श्रीकामताप्रसादजी निगम नामके एक भगवद्भक्त, धर्मपरायण एवं सच्चरित्र व्यक्ति रहते थे। भगवान् शङ्करकी पूजा तथा भक्तिचिन्तामणि श्रीरामचरितमानसका पाठ उनकी दिनचर्याका प्रधान अङ्ग था। प्रभुकी कृपासे उनका दाम्पत्य-जीवन अत्यन्त सुखद और रम्य था। निश्छल भक्ति तथा पवित्रतामय आचरणने उनमें एक दिव्य आत्मविश्वासको जगा दिया था। २१ वीं जून ४१ को उन्हें थोड़ा-सा ज्वर आया। उसके दूसरे दिन प्रातःकाल ७ बजे उन्होंने अपनी पति-भक्तिपरायणा साध्वी स्त्रीको बुलाकर अपनी अन्तिम महायात्राका सन्देश सुना दिया। शान्त और गम्भीर मुद्रासे निःसृत उनका यह सन्देश उनके आत्मविश्वासका प्रतीक था। रमणीने इसे नियतिकी वैचित्र्यपूर्ण क्रीड़ाका अङ्ग मानकर सतीसुलभ सरलता और दृढ़तासे पतिकी इस अन्तिम वाणीका अभिनन्दन करते हुए कहा, 'तो नाथ! मैं भी आपके साथ चलती हूँ।' कुछ समयतक इसी प्रकार प्रसन्नतापूर्वक वार्तालाप करनेके पश्चात् निगमजीने 'जय श्रीराम' कहा और इस कथनके साथ ही अपनी इहलीला समाप्त की।

तत्काल उनकी चिरसहयोगिनी देवीने विधिवत् शृङ्गार किया, अनेकानेक व्यञ्जनोंसे श्रीठाकुरजीको

आग लगायी और श्रीमहादेवकी पूजा की। उन्होंने प्रसाद अपने मृत पतिके मुखसे स्पर्श कराकर अपने मुखपर रखा। इस आकस्मिक मृत्युका समाचार बिजलीकी तरह सारे गाँवमें फैल गया और थोड़ी ही देरमें गाँवके सब लोग उद्विग्न-से होकर एकत्र हो गये। वहाँ निगमजीकी धर्मपत्नीका यह अद्भुत कृत्य देखकर कौतूहलवश लोगोंने उनसे इसका कारण पूछा। उन्होंने इस प्रश्नका उत्तर देनेके बदले आदेश दिया कि गाँवकी सङ्कीर्तनमण्डली तुरत बुलायी जाय। सङ्कीर्तनमण्डली आयी, देवीजीने केसरिया साड़ी पहनी और हाथमें सुमिरनी ली। उनके केश खुले थे, लटकी केवल एक गुत्थी बँधी थी। गाँवकी प्रदक्षिणा करने चलीं वे 'रामनाम सत्य है' का निरन्तर जप करते और अत्यन्त तीव्र गतिसे, जिससे गाँवके अन्य लोगों और सङ्कीर्तनमण्डलीको दौड़ते हुए चलना पड़ता था। गाँवका परिक्रमण समाप्त हुआ। तत्पश्चात् वे देवीके मन्दिरको चलीं, जिसे पाँच-सात वर्ष पूर्व उन्होंने स्वयं बनवाकर मूर्तिकी स्थापना करायी थी। वहाँ उन्होंने बड़े मधुर स्वरोंमें देवीके गीत गाये और भावावेशमें ललित नर्तन भी किया। यह दृश्य देखकर तो दर्शक स्तब्ध रह गये। उन्हें क्या पता था कि ये सब कृत्य देवीके महाभिप्रयाणकी भूमिकास्वरूप थे। देवीजीका पूजन भी समाप्त हुआ।

सब प्रारम्भिक कृत्योंकी समाप्तिके पश्चात् वह शवके पास आयीं। रथी बड़े समारोहसे निकाली गयी। उसके पीछे देवीजी 'राम नाम सत्य है' की रट लगा रही थीं और उनके पीछे ग्रामीण जनता कीर्तनमण्डली तथा दर्शक थे। गाँव सड़कके पास ही था, इसलिये बहुत-से पथिक भी इस जनसमागममें सम्मिलित होते रहे। अन्तमें गाँवके बाहर कुछ दूरपर एक वासुदेवजीके वृक्षके नीचे रथी विशाल जनसमूहके बीच रख दी गयी तथा चिता सुसज्जित की गयी।

सर्वप्रथम देवीजीने थोड़ी देरतक सूर्यदेवकी वन्दना की। फिर पतिका मस्तक अपनी गोदमें लेकर चितामें बैठ गयीं। फिर पूर्ववत् मधुर स्वरसे उनका 'राम नाम सत्य है' वाला जप प्रारम्भ हुआ। इस समय वे अपने समस्त आभूषण अमुक-अमुकके लिये कहकर फेंकने लगीं। लोगोंने प्रश्न किया, 'चितामें आग लगा दी जाय?' इसपर देवीने ठहरनेका सङ्केत किया। इतनेमें उन्होंने अपने शरीरका अग्नितत्त्व जाग्रत् किया। चरण-नखसे अग्निदेवका प्राकट्य हुआ। उनके प्रज्वलित क्रोडमें चिता दिखायी पड़ी। जलती हुई लपटोंमें देवीका तेजोमय स्वरूप प्रचण्ड चण्डिकाकी भाँति दिखायी पड़ा। फिर वे षोडशवर्षीया युवतीकी भाँति दृष्टिगोचर हुईं। जबतक कि चरणकी ओरसे जलकर उनके शरीरका ऊपरी भाग पतिकी गोदमें न गिरा तबतक उनका 'राम नाम सत्य है' वाला जप स्पष्ट शब्दोंमें सुनायी पड़ता रहा। शरीरमें जो कपड़े थे, वे भी तबतक दीखते रहे। अग्निदेवका कार्य समाप्त हुआ। देवीजीका नश्वर शरीर पतिके साथ ही जलकर भस्म हुआ और वे? वे तो अमर हो गयीं—मनुष्योंके मनमें, हृदयमें, वचनमें। प्रायः सात बजे प्रातः उनकी मृत्यु हुई थी और नौ बजेतक अर्थात् दो ही घंटोंमें ये सारी क्रियाएँ समाप्त हुईं।

देवीके कथनानुसार शङ्करजीकी मूर्ति, जिसे वे तथा उनके पति पूजते थे, उनकी बहूके पास झाँसी भेज दी गयी। उनका दिव्य परिवार आज भी है, जिसके प्रायः सभी व्यक्ति धर्मपरायण और उदार हैं।

बिना अग्निके चिताका जल जाना, सम्भव है, बीसवीं शताब्दीके नव्य वातावरणमें पले कुछ लोगोंको अलौकिक जान पड़े; किन्तु सतीत्वके बलसे सती स्त्रियोंके लिये यह एक साधारण कार्य है।

धन्य है वह कुल, धन्य है वह प्रान्त तथा धन्य है वह ग्राम, जहाँ इस रमणीरत्नने जन्म लिया था।*

---

* इस लेखको आये बहुत दिन हो गये। घटना बहुत विलक्षण होनेसे देरसे छपनेमें भी लाभ ही है। —सम्पादक

वर्तमान समयके षट् रिपु

(लेखक—श्रीअगरचन्दजी नाहटा)

प्राचीन ऋषियोंने काम-क्रोधादि षट् रिपुओंसे बचनेके लिये उपदेश दिया है और वह सर्वथा उचित ही है; परन्तु वर्तमान कालमें हमारे यहाँ छः बड़े प्रबल और ही भूत पैदा हो गये हैं, जो प्राणियोंको अपने जालमें जकड़कर बड़ी कदर्थना करते हैं । इस लेखमें उन्हींका सक्षेपमें परिचय कराया जा रहा है । आशा है, विवेकीजन अपने कल्याणके लिये इनसे बचते रहनेका प्रयत्न करेंगे एवं इनके अधीन मानवोंको उनके इन शत्रुओंका परिचय कराके उनसे अलग रहनेकी—जूझकर उन्हें अपनेसे दूर भगानेकी सलाह देंगे । वे षट् रिपु इस प्रकार हैं—१ फूट, २ सट्टा, ३ फैशन, ४ नशा, ५ मुकदमेबाजी और ६ व्यभिचार । अब इनका संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है—

१ फूट—शास्त्रोंमें कहा है—'सङ्घे शक्तिः कलौ युगे' अर्थात् कलियुगमें संघटन एक बड़ी भारी शक्ति है; पर हमारे भारतमें इसका नितान्त अभाव है और फूटका ही बोल-बाला है । जाति-जातिमें तो क्या, घर-घरमें कलहका साम्राज्य है । धर्म, जो कि सबको एक सूत्रमें बाँधनेका परम साधन है, मत-मतान्तरोंमें बँटकर फूटको और अधिक बढ़ा रहा है । पहले जमानेके ग्रन्थोंको पढ़नेसे ज्ञात होता है कि उस समय इतनी फूट नहीं थी । एक-दूसरेसे हिल-मिलकर रहनेकी प्रथा थी । दलबंदियाँ होती थीं, पर आजकी तरह भाई-भाईमें, बाप-बेटेमें वैमनस्य प्रायः नहीं था । इसीसे उस समयके लोगोंमें भाईचारा विस्तृत था । लोग एक-दूसरेके दुःख-दर्दमें शामिल होते थे । परोपकारकी वृत्ति अधिक मात्रामें थी । व्यक्तिगत स्वार्थकी मात्रा कम होकर बड़े-बड़े विशाल परिवार प्रेमसे रहते थे; पर आज फूटने हमारा सर्वस्व लूट लिया है ।

२ पहलेके जमानेमें परिश्रमप्रधान पुरुषार्थ एक आजीविकाका साधन था; पर आज सट्टेबाजीने लाखों मनुष्योंको आलसी एवं अपव्ययी बना डाला है । गाढ़े परिश्रमकी कमाईका खर्च करते समय भी बड़ा विचार होता था; पर अब तो 'दो बाये, चार खाये, तेरह लगाये' इत्यादि जबानकी लपालपसे ही धन बरसने लगा समझते हैं, तब शरीरको कष्ट देने और पूँजी लगानेकी आवश्यकता ही क्या है । आज प्रत्येक नगरमें देखिये, सट्टेबाजीका बाजार गरम है । सारे शहरमें चहल-पहल, भीड़-भाड़, हो-हल्ला वहीं नजर आयेगा, जहाँ सट्टा होता है । मर्दोंकी कौन कहे, अब तो घरकी औरतेंतक चाँदीका, पाटका, आखरोंका और न जाने अन्य कितने प्रकारके सट्टे करनेमें प्रवीण हैं और कर रही हैं । सट्टेमें धन आते देर नहीं लगती और परिश्रम भी कुछ नहीं होता, अतः वह धन आते ही पानीकी तरह बेतरह खर्च किया जाता है; पर चले जानेपर दीवाला निकाल घरका घाटा बाजारमें बाँट दिया जाता है । सट्टेबाजीमें दुश्चिन्ता और अशान्ति हर समय बनी रहती है, इससे स्वास्थ्यपर भी बड़ा बुरा असर पड़ता है । बुरी संगत मिलनेसे अनेकों दुर्गुण घर कर लेते हैं । जीभकी चाट इतनी बढ़ जाती है कि चलते-फिरते, स्वादिष्ट वस्तुओंपर, चाहे वे स्वास्थ्यको नष्ट करनेवाली क्यों न हों, परन्तु दो-चार रुपये रोज खर्च कर डालना साधारण-सी बात हो जाती है । मुफ्तका पैसा आया, कई लुच्चे-लफंगे बाबू साहबके हाजरिये बन गये । वे भी माल उड़ाते हैं, तथा घरके बच्चोंकी आदत भी प्रारम्भसे ही बिगड़ जाती है । इस प्रकार जीवनकी बड़ी भारी बरबादी इस सट्टेबाजीने कर दी, यह हम सबके प्रत्यक्ष है ।

३ आधुनिक दूषित शिक्षा-प्रणालीके कारण फैशन-

का फितूर हम सबपर सवार हो गया है। घरकी स्थिति चाहे कैसी ही हो, हमको तो फैशनदेवीके प्रेरणानुसार अपव्यय करना ही पड़ता है। पहले जमानेके लोग पाँच-सात-रुपया महीना कमाकर भी अपना जीवन सन्तोष एवं शान्तिसे बिताते थे, पर आज पचास एवं सौ रुपया मासिक-तक पानेवाले व्यक्तियोंके सिरपर हर समय ऋणका बोझ लदा रहता है। इसका प्रधान कारण अपव्यय है। पहले प्राय: सभी लोग साधारण रोगोंका इलाज स्वयं घरमें ही कर लेते थे, वह भी साधारण जड़ी-बूटी और घरेलू सुलभ पदार्थोंसे ही; पर आज थोड़ी-सी किसीके कोई गड़बड़ी हुई और दौड़े डाक्टर साहबको लाने। फैशनवाले व्यक्तियोंके द्रव्यका ही अपव्यय नहीं होता, समय और जीवनका भी अपव्यय होता है। पुरानी परिपाटीके व्यक्ति अपने पूजा-पाठ करनेमें काफी समय लगाते थे; पर आज हमारे फैशनके गुलाम बाबू साहबोंको पूजा-पाठ करनेका अवकाश ही कहाँसे मिले। उठते ही बीड़ी-सिगरेट पीनेमें समय लगता है, साबुन लगाने, टुथ-पावडरको रगड़ने, केश सँवारने और रोज नाईका काम करनेमें ही आफिसका समय हो जाता है। उठते भी तो सूर्योदयके पीछे हैं। फैशनद्वारा होनेवाली दुर्गति सर्वविदित है। हमारी देवियाँ भी वैसी ही हो चली हैं—उन्हें पतिकी कमाईकी क्या चिन्ता, रोज नयी-नयी साड़ी लाओ, शौकका सामान मँगाओ, सिनेमा दिखाने ले जाओ। बच्चेको खिलानेके लिये भी नौकर चाहिये। घरका कामकाज तो करे ही कौन। कहाँतक लिखा जाय।

४ आज सौमें नब्बे पुरुष नशेके शिकार हैं। किसीको बीड़ी-सिगरेट-चिलमके धुएँका नशा है तो किसीका चाय बिना काम नहीं चलता। अफीम, भाँग, चरस, गाँजा और मदिराका भी बोल-बाला है। हिसाब करके देखा जाय तो एक-एक नशेके पीछे करोड़ों रुपये खराब होते हैं और स्वास्थ्यकी बरबादी तो निश्चित ही है। मैंने हजारों मजदूरी और दूसरे शुद्र कर्म करके पेट भरनेवाले गरीबोंकी ओर लक्ष्य किया तो उनकी बरबादीका प्रधान कारण नशा ही प्रतीत हुआ। दिनभर गाढ़ा परिश्रम कर चार-छः आने या कुछ ज्यादा पैसे कमाये; पर शाम हुई और गाँजेका दम लगाने तथा शराब पीनेमें कमाई पूरी हुई। उनकी आर्थिक दशा सुधरे तो कैसे? घरका दारिद्र्य दूर हो तो कैसे? बच्चे-स्त्री घरमें भूखों मर रहे हैं, पर नशेबाजके लिये तो कहावत प्रसिद्ध है 'घरका जाने मर गया, आप करे आनन्द।' ओह! नशा बड़ा भारी शत्रु है।

५ मुकदमेबाजी वर्तमान सभ्यताकी देन है। आप कचहरी जाकर इसका मजा देखिये—गरीब-अमीर सबकी मन्दिर-मसजिद आज कचहरी है। साधारण तुच्छ बातोंके पीछे हजारों-लाखों स्वाहा हो रहा है। जिसको चसका लग गया—बस, अपना नहीं तो पराया ही सही, मामला चले बिना नींद नहीं आती। झूठी गवाहियाँ देते-देते कइयोंकी जिंदगी बीत जाती है। झूठके बिना मामला चलता भी तो नहीं। धर्म गँवाओ, धनका नाश करो और हैरान हो। तीन-तीन मजे इस रिपुराजमें है। फिर छूटे भी कैसे? हमारी बुद्धिका यहाँ दीवाला निकल जाता है।

६ व्यभिचार—यद्यपि प्राचीन षट् रिपुओंके अन्तर्गत कामका ही; यह भेद है; पर आज उसके प्रचार एवं परिणतिमें बड़ा भेद हो गया है। पर-स्त्रीगमनका इतना अधिक प्रसार पूर्वकालमें नहीं था। 'काम' शब्द विषयभोगकी लिप्सा (स्वस्त्री-सम्बन्धी) में ही प्राय: सीमित था; पर आजका वातावरण तो इतना दूषित हो चला है कि कुछ कहते ही नहीं बनता। यदि यह पाप-प्रवाह जल्दी नहीं रुका तो सती स्त्री और स्वदार-संतोषी ब्रह्मचारी पुरुषका नाम केवल ग्रन्थोंमें रह जायगा। शहरोंमें ही नहीं, अब इस रोगने ग्रामोंमें भी अड्डा जमा

लिया है। मुझे लिखनेमें संकोच होता है, परिस्थिति भयंकर नजर आ रही है। पाठक स्वयं विचार लें। मुझे बड़ा परिताप होता है, जब मैं साधु, महन्त और त्यागी कहे जानेवाले लोगोंको भी इसी कीचड़में फँसे देखता हूँ, जिनके विषयमें स्वप्नमें भी ऐसी आशा नहीं की जाती थी। बारीकीसे परीक्षा करनेपर उनमें भी यह असम्भव-सी बात सम्भव नजर आयी। जो बातें पहले सर्वथा असम्भव मानी जाती थीं, वही पत्रोंमें आये दिन पढ़नेमें आती हैं और सुनायी पड़ती हैं। ऐसे-ऐसे बीभत्स काण्ड निरंकुशताके साथ हो रहे हैं कि उनको लिखते हाथ काँपता है—उनकी स्मृतिमात्रसे ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं।

आजके हमारे दूषित वातावरणका अंदाजा लगाना टेढ़ी खीर है। अभी ताजी ही बात है कि रेलगाड़ीके पाखानोंमें भयंकर अश्लील लेख लिखे देखे। पतनकी हद हो गयी। गाड़ीमें तीन ब्राह्मण मेरे पास बैठे थे, उनसे कई ग्रामोंके दूषित वातावरण और स्त्री-पुरुषोंके दूषित चरित्रोंको सुनकर बड़ा खेद हुआ। घर-घरमें व्यभिचारकी वृद्धि हो रही है। विषय-वासनाको उत्तेजित करनेवाले समस्त कारणोंपर गम्भीर विचार कर समाजका उस ओर विशेषरूपसे ध्यान आकृष्ट करनेके उचित उपाय खोज निकालने और बचावके तरीकोंका प्रचार करनेकी बड़ी आवश्यकता है। होली धाँय-धाँय करती हुई जल रही है। वातावरणको पवित्र बनानेकी ओर हम सभीको कटिबद्ध हो जाना चाहिये। अपने-अपने मुहल्ले, जाति और ग्राममें सदाचारी पुरुषोंके शिष्टमण्डलद्वारा इसके रोकनेका पूरा प्रयत्न करना परमावश्यक है।

कामके पत्र

असुर मानव

आपका कृपापत्र मिला। संसारकी वर्तमान दुर्दशापर मैं लिखूँ। यों तो सब भगवान्‌का ही विधान है; परन्तु लौकिक दृष्टिसे तो आज सारा संसार एक-दूसरेके विनाशमें लगा है। जल, थल और आकाश—आज सभी विषाग्निकी वर्षासे संत्रस्त हैं। सारा भूमण्डल सर्वविनाशी बमोंकी गड़गड़ाहटसे काँप रहा है। अग्निदेवताकी ज्वालामयी लपटोंसे सभी जले-भुने जा रहे हैं। मनुष्य आज अपनी मानवताको मारकर असुर—पिशाच बन गया है। लाखों-करोड़ों निरीह नर-नारी मृत्युके मुखमें जा रहे हैं, कोई गोलोंकी मारसे तो कोई पेटकी ज्वालासे। उधर लड़ाकू लोग अपनी रक्त-पिपासाका अकाण्ड ताण्डव कर रहे हैं, तो इधर अर्थगृध्र सुसभ्य मानव-प्राणी सभ्यताभरी डकैती करके अपनी रुधिरप्रदिग्ध भोगलालसाको बढ़ा रहे हैं। अपने-ही-जैसे नर-नारी अभावकी आगमें जलते रहें, सब भयानक शस्त्रोंके शिकार हो जायँ, सबके घर-द्वार राखके ढेर बन जायँ एवं मृत्युकी रक्त जिह्वा पतियों, पुत्रों, पिताओंका रक्त पान कर नारी-जगत्‌को नरक-यन्त्रणा भोगनेके लिये बाध्य कर दे; पर हम सुरक्षित रहें और इन मरनेवालोंकी मृत्यु-समाधिपर—श्मशानकी विस्तृत भस्मराशिपर हमारे स्वर्ण-प्रासाद निर्मित हों तथा हम धन-सम्मानसे सुसज्जित होकर उसमें थिरक-थिरककर नाचें। यह मानवकी पैशाचिकता——उसकी राक्षसी वृत्ति नहीं तो और क्या है?

विज्ञानके महारथी भी आज अपनी सारी सृजन-शक्तिको महानाशके प्रयासमें लगा रहे हैं। किस साधनसे कम-से-कम समयमें अल्पायाससे ही अधिक-से-अधिक जनपदोंका—नगरोंका ध्वंस-साधन हो और निरीह नर-नारी कालके कराल गालमें जायँ—इन महारथियोंके महान् मस्तिष्क आज उसीकी खोजमें लगे हैं। मानो महारुद्रकी रौद्र इच्छाकी पूर्तिका इन्होंने ठेका ही

ले लिया है। देश-के-देश उजाड़कर उनके खँडहरोंमें ये अपने विज्ञानकी कीर्ति-पताका फहराना चाहते हैं। यह विज्ञान-जगत्का राक्षसीपन नहीं तो और क्या है ?

विद्वानोंकी विद्वत्ता, नीतिज्ञोंकी नीति और विभिन्न मतवादियोंकी गवेषणापूर्ण प्रवृत्ति—सभी मानवताकी हत्याका अभूतपूर्व प्रयास कर रहे हैं। ईश्वर और धर्मकी दुहाई देनेवाले भी आज अपने ईश्वरसे पर-पक्षका संहार और अपना विस्तार चाहते हैं। मानो भिन्न-भिन्न कई परमेश्वर एक-दूसरेका पक्ष समर्थन करते हैं। सभी आसुरी सम्पत्तिको पाकर उन्मत्त हो रहे हैं। इसका परिणाम बड़ा ही भयानक होगा। किसकी हार होगी और किसकी जीत, इसका पता तो सर्वज्ञ परमेश्वरको है। परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि मानवताका संहार होनेपर दुःखकी ऐसी ज्वाला भड़केगी, जो सबकी सारी उछल-कूद मिटाकर उन्हें भस्म कर देगी। इसीके साथ असुर मानवका विनाश होगा। तभी जगत्में फिर सुख-शान्तिके दर्शन हो सकेंगे।

गीतामें भगवान्ने असुर मानवकी मति, आसुरी वृत्ति और गतिका बड़ा ही सजीव चित्र चित्रित किया है। उसका कुछ अंश यह है—

वे असुर मानव क्या करना उचित है और क्या छोड़ना, इसको नहीं जानते। उनमें न पवित्रता होती है, न शुद्ध आचार और न सत्य ही। वे जगत्को बिना आसरे, सारहीन, ईश्वरहीन और स्त्री-पुरुषके संयोगसे, केवल भोग-सुखके लिये ही बना हुआ मानते हैं। इस प्रकारके दृष्टिकोणको धारण करके वे नष्टाशय और मन्द बुद्धि अत्यन्त क्रूर कर्म करते हुए जगत्के अहित और विनाशके लिये ही पैदा होते हैं। उनके जीवन दम्भ, अभिमान और मदसे पूर्ण एवं कभी पूरी न होनेवाली कामनाओंसे घिरे रहते हैं। अज्ञानवश वे असुर मानव आसुरी आग्रहको पकड़कर और भ्रष्ट-चरित्र होकर जगत्में भटकते हैं। मरते दमतक वे अनगिनत चिन्ताओंमें चूर रहते हैं। बस, किसी भी तरह मनमाने विषयोंको प्राप्त करना और उन्हें भोगना—एकमात्र यही उनका निश्चित सिद्धान्त होता है। वे आशा—दुराशाकी सैकड़ों फाँसियोंसे बँधे होते हैं। काम और क्रोधपर ही वे निर्भर करते हैं और विषय-भोगोंके लिये अन्यायपूर्ण उपायोंसे अर्थ-संग्रहमें लगे रहते हैं। वे यही सोचा करते हैं कि आज यह मिल गया, कल वह भी मिल जायगा। हमारे पास इतना धनैश्वर्य तो हो ही गया है, शेष और भी हो ही जायगा। आज इस वैरीको मारा, शेष शत्रुओंको भी हम धूलमें मिलाकर ही छोड़ेंगे। हम ही तो सबके सञ्चालक और नियामक ईश्वर हैं। सबको हमारे ही इशारेपर चलना पड़ता है। ऐश्वर्यका भोग, तमाम सिद्धियाँ, शक्ति और सुख—सब हमारे ही हिस्सेमें तो आये हैं। हम बड़े धनी हैं, हमारे पीछे विशाल जनता है, है कौन दूसरा हमारी बराबरीका। यज्ञ और दानसे हम देवता और दुखियोंको तृप्त कर देंगे। वे असुर मानव इस प्रकार अज्ञानविमोहित, अनेकों प्रकारसे विभ्रान्तचित्त, मोह-जालसे समावृत और भोग-विषयोंमें अत्यन्त आसक्त होकर अन्तमें भयानक नरकोंमें पड़ते और उनकी जहरीली गंदगीमें पचते हैं। वे असुर मानव अपनेको ही सबसे अधिक सम्मान्य मानते और सफलताके घमंडमें चूर हुए निरन्तर धन, मान और मदकी गुलामीमें लगे रहते हैं और इसी तामसी वृत्तिसे वे मनमाने कार्योंको यज्ञका नाम देकर छाती फुलाते हैं। अहंकार, भौतिक बल, दर्प, काम और क्रोध ही उनके अवलम्बन होते हैं। वे दूसरोंकी निन्दामें—पर-दोषदर्शनमें निरत रहकर सबके शरीरोंमें स्थित अन्तर्यामी मुझ भगवान्से ही द्वेष करने लगते हैं। ऐसे द्वेषमूर्ति, पापपरायण, निर्दय नराधमोंको मैं (भगवान्) बार-बार दुःखपूर्ण आसुरी योनियोंमें डालता हूँ। (गीता अध्याय १६, श्लोक ७ से १९ तक देखने चाहिये।)

अब आजके असुर मानवसे उपर्युक्त लक्षणोंको मिलाकर देखिये।

धनकी अन्धपूजा

(लेखक—श्रीरमणलाल बसंतलाल देसाई)

मेरे समीप एक पुष्प पड़ा है; साथ ही एक रुपया भी पड़ा है।

रुपया न जाय, इसके लिये मैं सावधानी रखता हूँ; पुष्पको कोई ले जाय तो मैं उसे ले जाने देता हूँ।

परन्तु मेरे सामने एक महाप्रश्न आ खड़ा होता है।

'पसंद कर ले! जीवनभर तुझे एक ही वस्तु मिलेगी, पुष्प या रुपया।'

मैं क्या पसंद करूँगा?

पुष्प; रुपया नहीं। जिस जीवनमें बिना पुष्पका रुपयोंका ढेर सामने आनेवाला हो, उस जीवनमें सौरभ कहाँ?

आज एक रुपयेके चाहे दो सेर गुलाब मिलते हों; परन्तु यह रुपया जिस दिन एक भी गुलाब न दिला सकेगा, उस दिन किसका मूल्य अधिक होगा?

गुलाबका ही। हम जरा सच्चा मूल्य आँकनेका प्रयत्न करें।

मेरे पास धनका ढेर है। मैं रेतीके कछारमें चला जा रहा हूँ। मुझे प्यास लगती है। यह प्यास उग्र हो उठती है। पैसे-दो-पैसेमें सामान्यतः जलका एक घड़ा प्राप्त करनेवाला मैं दो रुपये, दो हजार रुपये, दो करोड़ या दो अरब रुपये देकर जलका एक प्याला प्राप्त करना चाहता हूँ।

पानीके प्यालेकी कीमत मेरे धनभण्डारसे बढ़ जाती है। यहाँ किसका मूल्य अधिक है? करोड़पति धनवान्का या पानीका प्याला प्राप्त करनेवाले किसी बनजारेका?

बंगाल या उड़ीसाके उपवासियोंसे पूछो—

तुझे सेरभर चावल दूँ या सेरभर सोनेकी मुहरें? वह मनभर सोनेकी मोहरोंको ठोकर मारकर एक सेर चावल झड़प लेगा।

जीवनकी पहली जरूरत—अन्न; धन नहीं।

सन्तानरहित एक धनीने गाँवमें रहनेवाले एक सम्बन्धीके बालकको शहरमें अपने भव्य भवनमें बुलाया। झोंपड़ीमें रहनेवाला वह बालक बिना माँ-बापके महलमें झूरने लगा। झोंपड़ीपर वापस पहुँचा, तब उसके चेहरेपर प्रकाश दिखायी दिया।

महल झोंपड़ीसे ज्यादा बड़ा, अधिक मूल्यवान्, अधिक सुख-सुविधासे युक्त, पर उस बालकके लिये नहीं। बालकके मन उसकी झोंपड़ी ही अधिक प्रशस्त है, अधिक मूल्यवान् है और अधिक सुखप्रद है। सुख-सुविधाका मूल्य बालकके मन दूसरा ही है।

एक गायिका नवाबी दरबारके मुजरेमें गाकर हजारोंका इनाम पाती है, पर अजमेरकी दरगाहमें बिना इनाम मनसे गाती है। इन दोनों संगीतोंके भेदपर भी ध्यान दिया है? बिना इनामका संगीत ज्यादा बढ़िया होता है। कारण?

नवाबी दरबारमें संगीतका मूल्य है।

अजमेर-शरीफकी दरगाहके पासका संगीत अमूल्य है, इसीलिये वह बढ़िया है।

यों रुपयेसे पुष्प बढ़िया, पैसोंसे पानी बढ़िया, धनसे अन्न बढ़िया, महलसे झोंपड़ी बढ़िया और भाड़ेके संगीतकी अपेक्षा दिलका संगीत बढ़िया।

इतना होनेपर भी हमारा यह युग धन-पूजक बन गया है। धन—माल, सुख, साधन और सुविधाकी अदला-बदली करनेका बाट—अनाज, कपड़ा, मकानकी अदला-बदली करनेवाली तकड़ी; इस तकड़ीको—इस बाटको देवता बनाकर हमलोग बुतपरस्त हो गये हैं और इस झूठे देवताके पूजनमें सुख, सुविधा और सन्तोष—सब कुछ खो बैठे हैं।

छोटा-सा साधन हमारी सिद्धि बन गया है। जादूगर धनको फुलकेकी तरह फुलाते हैं और वह फुलका पानीके बुदबुदेकी तरह फूट जाता है।

यह धन विपुल बन गया है, सर्वत्र फिरनेवाला बन गया है—इतनेपर भी आज सर्वत्र दुर्भिक्ष फैल रहा है! जगत्की भूख मिट जाय, इतना अनाज होनेपर भी जगत् भूखों मरता है! धन-पूजाका यह

एक परिणाम। चायके बगीचोंकी कथा सुनी है? धन-पूजनने धनको मानव-रुधिरसे रँग दिया है; बगीचोंको वह कसाईखाना बना रहा है।

सब सुखसे रह सकें—इतनी जमीन है, इतने मकान हैं, इतना सामान है; इतनेपर भी जगत्‌के असंख्य मनुष्योंके रहनेके लिये घर नहीं है, पहननेको वस्त्र नहीं है और खानेको दाना नहीं है। कारण यही कि धनका ढेर जमा करके उसपर धनी लोग नाग बनकर चढ़ बैठे हैं।

खादी पहनकर, असहयोगका नाम लेकर तालियाँ पिटवानेवाले अनेकों कथित देशसेवक—आज धन-पूजनमें युद्ध-पूजन कर रहे हैं। उनकी शरम सूख गयी है। हमारे आस-पास हम उन्हें देख सकते हैं।

और इसी धन-भक्ति—अन्ध धन-भक्तिमें तेल, लोहा, रबड़ और कोयलेके ठेकेदार जगत्‌में महाभारत रचाकर करोड़ों मनुष्योंको तबाह कर रहे हैं।

जगत्‌को संस्कारी बनानेवाले स्मरणीय पुरुषोंमें भी कोई धनी था क्या?

ईसामसीह—गरीब-से-गरीब यहूदी था।

बुद्ध—राज-पाट छोड़कर अपनी खुशीसे बना हुआ एक भिक्षु था।

मुहम्मद—उपवास करनेवाला एक फकीर था।

शङ्कर—सातवें वर्षमें ही संन्यास ग्रहण करनेवाला एक अकिञ्चन ब्राह्मण था।

धनकी अन्धपूजा धनको राक्षस—Moloch बना देती है, और धनकी सच्ची कीमत धनको लक्ष्मी बनाती है।

आज तो धन संहारका, सन्तापका, अश्रुओंका और असूयाका मूल झरना बन गया है। इसके आस-पास चन्द्रमाकी चाँदनी नहीं, अमावसकी कालिमा है। आजका धन शापित धन है।

आजका मेरा संकल्प है—

जो धन रुधिरसे सना हो, आँसुओंसे भींगा हो, असूयाकी कालिमासे कलुषित हो, जो सबके काममें न आनेवाला इक़लखोर हो, उस धनका मुझे स्पर्श न मिले।

चाहे मैं भूखा होऊँ, घरविहीन होऊँ, वैभवहीन होऊँ; आजके इस काले धनसे धनी होनेकी अपेक्षा धनहीन उपवासी होनेमें अधिक गौरव है। ('शारदा' से)

सत्सङ्गके बिखरे वाक्य

(संग्रहकर्ता—एक सत्सङ्गी)

१ तुम पिछले अनन्त जन्मोंमें न मालूम कितने माता-पिताओंकी स्नेहभरी गोदमें खेले हो, कितनी पति-प्राणा प्रेमिकाओंके प्रेमरसमें डूबे हो, कितने पुत्र-पौत्रोंको वात्सल्यभावसे हृदयमें धारण कर चुके हो और कितने मित्र-सुहृदोंके स्नेहसे सुखी हो चुके हो। क्या आज भी उन लोगोंके साथ तुम अपने आत्माका कोई सम्बन्ध मानते हो? असलमें यहाँके सभी सम्बन्ध आरोपित हैं। एक सरायमें यात्रियोंका दल इकट्ठा हो गया है। समयपर अपने-अपने रास्ते चला जायगा।

२ यहाँका सम्बन्ध बालूकी भीतकी तरह अस्थिर है। इस सम्बन्धमें वास्तविक आत्मीयता नहीं है। यह सम्बन्ध है रूप-रसादि इन्द्रिय-विषयोंको लेकर—स्वार्थ, अभिमान और अज्ञानको लेकर। प्रेममय प्रकाशमय सनातन पुण्यधाममें इस सम्बन्धकी कोई गणना ही नहीं है।

३ यहाँके प्रिय सम्बन्धी—स्त्री-स्वामी, पुत्र-कन्या आदि वस्तुतः तुम्हारे आत्मीय नहीं हैं। वे हैं तुम्हें आध्यात्मिक जगत्‌तक पहुँचानेमें और विशुद्ध प्रेमप्राप्तिके अधिकारी बनानेमें सहायक और अवलम्बनरूप।

४ यह प्रपञ्च आत्माकी विलासभूमि नहीं है, यह है आत्मनियन्त्रण, आत्मशुद्धि और आत्मज्ञानका विद्यालय।

५ जगत्‌में कौन साधु है और कौन असाधु, कौन भोगी है और कौन त्यागी, कौन महान् है और कौन क्षुद्र, कौन पण्डित है और कौन मूर्ख, कौन बुद्धिमान् है और कौन अबोध, कौन धनी है और कौन दरिद्र—

इसका पूरा पता लगना बड़ा कठिन है। न मालूम किस वेषमें कैसी-कैसी चेष्टाएँ चल रही हैं।

६ जगत्को लीलामयकी विचित्र लीला मानकर सुखी होओ और यह निश्चय करो कि जो इस सारे जगत्में अनुस्यूत है, जो इसका एकमात्र आधार है, जो इसके पहले भी था और पीछे भी रहेगा, जो इसके अंदर भी है और बाहर—बहुत परे भी, जो अनादि है, अनन्त है, वही असलमें लीलाके रूपमें भी प्रकट हो रहा है। उसे पहचान लेनेपर फिर साधु-असाधु, और अपने-परायेको अलग जाननेकी जरूरत नहीं रहेगी।

७ परोपकारकी न दूकान खोलो, न उसपर अभिमान करो। मनुष्य जाता है परोपकार करनेका व्रत लेकर, और खोजने लगता है आत्मप्रतिष्ठा, आत्मपूजा और आत्म-सम्मान। यह परोपकार नहीं, विडम्बनामात्र है—छलमात्र है।

८ उपदेश और ज्ञानके प्रचारका ठेका भी मत लो—पता नहीं, व्यक्तित्वकी पूजाकी छिपी लालसा ही इसमें कारण हो।

९ भगवान्का स्मरण करो; उनके सामने कातर-भावसे रोओ, प्रार्थना करो—'भगवन्! मैंने हजारों अपराध किये हैं और अब भी कर ही रहा हूँ। मधुसूदन! मुझे अपना खरीदा हुआ गुलाम समझकर मेरे अपराधोंको क्षमा करो। प्रभो! मुझे पवित्र बनाकर अपने परमधामकी राहपर ले आना तुम्हारी कृपाका ही काम है। मैं तो डूबा जा रहा हूँ अघ-सागरमें, भटक रहा हूँ भयानक भवारण्यमें! बचाओ—मेरे स्वामी! बचाओ।'

१० अभिमान छोड़कर जो सच्ची प्रार्थना करता है, उसकी प्रार्थना भगवान् उसी क्षण सुनते हैं। पर मनुष्य प्रार्थनाके समय भी दम्भ करता है। वह अपने अपराधों और दोषोंके लिये कभी दुखी होता ही नहीं, उन्हें देखता ही नहीं; फिर कपटभरी कथापर भगवान् भला, कैसे रीझें?

११ भगवान्का नाम महान् महिमामय है। नाम और नामीमें वस्तुतः कुछ भी भेद नहीं है।

१२ **नामचिन्तामणिः कृष्णश्चैतन्यरसविग्रहः।**
पूर्णः शुद्धो नित्यमुक्तोऽभिन्नात्मा नामनामिनोः॥

नामचिन्तामणि ही श्रीकृष्ण है; वह चैतन्य, रसविग्रह, पूर्ण, पवित्र और नित्यमुक्त है। नाम और नामी दोनों अभिन्न हैं।

१३ जो मनुष्य सचमुच भगवान्के नामका आश्रय ले लेता है वही भाग्यवान् है, वही सुखी है और वही सच्चा साधक है।

१४ जिसकी जीभ और चित्तवृत्ति भगवन्नाममें लगी है, वही साधु है, उसका जीवन धन्य है और उसका सत्सङ्ग सभीको वाञ्छनीय है।

१५ जिसकी जिह्वा निरन्तर पतितपावन हरिनाम-की रट लगाती रहती है, वह चाण्डाल होनेपर भी सबसे श्रेष्ठ है; क्योंकि वही प्रभुका प्यारा है।

१६ भगवान्के नाम-कीर्तनसे पापोंका नाश ही नहीं होता। पापनाशके लिये तो शास्त्रोंमें अनेकों प्रायश्चित्त बतलाये हैं।

१७ नामसे मोक्षकी आकाङ्क्षा भी मिट जाती है; क्योंकि मोक्षमें प्रियतमके नाम-गुणका कीर्तन कहाँ।

१८ श्रीहरिदास महाराजने कहा था—

केह बोले नाम हैते होय पापक्षय।
केह बोले नाम हैते मोक्ष लाभ हय॥
हरिदास कहे नामेर ए दूइ फल न हे।
नामेर फले कृष्णपदे प्रेम उपजये॥

नामका फल तो है पञ्चम पुरुषार्थ—श्रीकृष्णप्रेमकी प्राप्ति। पापनाश और मुक्ति तो नामके आनुषङ्गिक फलमात्र है; जैसे सूर्यके उदय होनेपर प्रकाश होता ही है।

१९ जैसे जगत्के प्रकाशक प्रभाकरके प्रकट होते ही जगत्का सारा अन्धकार नष्ट हो जाता है, वैसे ही नामरूपी सूर्यके उदय होते ही पाप-समूह समूल नष्ट हो जाते हैं। भगवान्का नाम अज्ञान-समुद्रसे तरनेके लिये तरणिके समान है। ऐसे जगमङ्गलकारी हरिनामकी जय हो! 'जयति जगन्मङ्गलं हरेर्नाम।'

२० धर्म क्या है और अधर्म क्या, पुण्य क्या है और पाप क्या, नित्य क्या है और अनित्य क्या, सत् क्या है और असत् क्या, पवित्र क्या है और अपवित्र क्या, सुख क्या है और दुःख क्या—जब पूरा विश्लेषण करके बुद्धि इन चीजोंके असली स्वरूपको प्रत्यक्ष करा दे, इनका यथार्थ अनुभव करा दे, तब समझना चाहिये कि विवेक जगा है।

२१ जब मनुष्य यह जान लेता है कि भगवान् ही एकमात्र आनन्दस्वरूप हैं, उनकी प्राप्ति ही जीवनका परम और चरम ध्येय है, तभी विवेककी जागृति समझनी चाहिये।

२२ विवेकका पूर्ण उदय होते ही वैराग्य आता है। जब क्षणभङ्गुर अनित्य विषयोंसे चित्त हट जाता है, दुःखयोनि इन्द्रियसुखोंके प्रति विरक्ति हो जाती है, धरतीके धन-माल मल-से माळ्म होने लगते हैं, घर-द्वार धर्मशाला-से लगते हैं, परिवार-कुटुम्ब प्याऊपर इकट्ठे होनेवाले बटोही दीखते हैं, मौज-शौकसे मन परे भागता है, यश-कीर्तिकी चाहसे कोई भी काम नहीं रहता, ऐश्वर्य-अधिकार-प्रभुत्व आदिकी बातें कानोंको कभी सुहातीं ही नहीं, मानकी मनसा मर जाती है, परचर्चा और परनिन्दा सुननेमें बड़ा क्लेश होता है, मानापमान और स्तुति-निन्दाका भय भाग जाता है, न किसीकी चाह होती है न परवा, न अपेक्षा होती है न उपेक्षा, न कोई शत्रु होता है न मित्र, सन्तोष-शान्तिका साम्राज्य छा जाता है, दिन-रात केवल भगवत्स्मरण और भगवद्गुणगानकी ही इच्छा और चेष्टा बढ़ती रहती है, तभी समझना चाहिये कि वैराग्यदेवका शुभागमन हुआ है।

२३ मनुष्य सुख चाहता है, पर जानता नहीं सुख क्या है। जिसको वह सुख कहता है, वह वस्तुतः दुःखका ही प्रकार—भेदमात्र है।' या यों कहना चाहिये कि वह दुःखका अग्रदूत है।

२४ सुख आते ही पुकारकर कहता है कि 'देखो, दुःख अपने पूरे दलको लेकर मेरे पीछे ही आ रहा है।' इसीसे जो सुख खोजता है, उसे दुःख मिलता है और जो सुखके सिरपर लात मारता है, दुःख स्वयं दुखी होकर उसके समीपसे भाग जाता है।

२५ सुखकी चाह ही दुःखका आवाहन है और सुखकी अनिच्छा ही दुःखका दम निकाल देती है।

२६ सुखकी वासना ही बन्धनका प्रधान कारण है। गरीबीमें जब विषय-सुखकी वासना सीमित रहती है, तब उतना ही बन्धन भी कम होता है।

२७ जब सुखकी चाह कम होती है, तब उतनी ही चिन्ता भी कम होती है। जहाँ भोग-विलासरूप सुखकी स्पृहा आयी कि चारों ओरसे फंदे पड़ने लगे।

२८ मनुष्य स्वयं ही अपनी मूर्खतासे बँधता है और दुःखको बुलाकर उसकी आगमें जलता है।

२९ जगत्के सम्बन्धोंका और प्रसिद्धिका प्रसार अशान्ति और दुःखका महान् हेतु है। शान्ति चाहते हो तो सम्बन्ध कम करो और छिपे रहनेकी व्यवस्था करो। जितना ही अधिक सम्बन्ध और सुनाम होगा, उतनी ही अधिक अशान्ति और क्षोभकी उत्ताल तरङ्गें उठेंगी, विरह और विनाशका भयानक दुःख सामने आयेगा, बदनामीके भयका भूत सदा ही सताता रहेगा।

३० जिस संसारमें चार दिन ही रहना है, उसमें सम्बन्ध बढ़ाना और नाम कमाना मूर्खता ही तो है।

३१ भक्तिसे ही असली भक्ति आती है । भक्तिमें प्रधान वस्तु है—भजन ! भजनसे दो काम पहले होते हैं—क्लेशोंका नाश और शुभकी प्राप्ति । इसीसे भक्तिको 'क्लेशघ्नी' और 'शुभदा' कहते हैं ।

३२ क्लेश पाँच हैं—अविद्या (उलटी समझ), अस्मिता (मैंपना), राग (भोगोंमें चित्तकी फँसावट), द्वेष (पदार्थोंमें प्रतिकूल-भावना करके उनके नाशकी इच्छा) और अभिनिवेश (मृत्युकी भयानक भीति)। शुभ हैं—विवेक (सीधी समझ), विनय (अपनेको कुछ भी न मानकर भगवान्‌को ही सब कुछ मानना), वैराग्य (भोगोंसे चित्तकी विरक्ति), प्रेम (सबसे निःस्वार्थ सौहार्द) और अमृतत्व (आत्माकी अमरताका प्रत्यक्ष निश्चय ! भजनसे उपर्युक्त पाँचों क्लेशोंका नाश और शुभोंकी प्राप्ति होती है । इनका फल होता है—भगवच्चरणोंमें एकान्त रति !

३३ भजन दो प्रकारका होता है—निष्ठापूर्ण और निष्ठारहित । निष्ठापूर्ण भजन निष्ठारहित सतत भजनका फल है ।

३४ निष्ठारहित भजनमें देखा-देखी आरम्भमें तो उत्साह होता है—पर कुछ ही समय बाद निराशा और निरुत्साह आ जाता है । कभी मन भजन करना चाहता है और कभी भोगोंकी प्राप्ति । कभी घरसे भागना चाहता है तो कभी घरमें अत्यन्त रम जाता है । कभी वैराग्य-सा आता है तो कभी आसक्ति बढ़ जाती है । भजनमें कभी सुख-सा दीखता है तो कभी चित्त ऊबने लगता है । कभी भगवान्‌में श्रद्धा और विश्वास बढ़ते-से दीखते हैं तो कभी भगवान्‌की उपेक्षा होकर भोगोंकी अपेक्षा हो जाती है । यों ज्वारभाटा आता रहता है; पर यदि मनुष्य सत्सङ्गका आसरा पकड़े रहता है तो भजन छूटता नहीं, और भजनकी स्वाभाविक महिमा शेषमें सारी उधेड़बुनको मिटाकर भजनको निष्ठापूर्ण बना देती है । फिर तो भजनमें रुचि, सुख, रस और प्रीतिका इतना विस्तार हो जाता है कि छोड़नेपर भी भजन नहीं छूट सकता ।

३५ जैसे भी हो, उत्साह-अनुत्साह, आशा-निराशा, सिद्धि-असिद्धि, अनुकूल परिणाम और विपरीत परिणामकी परवा न करके भजन करते ही रहो !

३६ भक्तिपथमें पाँच बड़े काँटे हैं—इनसे बचो और इन्हें उखाड़ फेंकनेका जतन करो—

जातिविद्यामहत्त्वं च रूपं यौवनमेव च ।
यत्नेन परिहर्तव्याः पञ्चैते भक्तिकण्टकाः ॥

ऊँची जातिका अभिमान, विद्याका घमंड, धन-ऐश्वर्य और पद-गौरवका महत्त्व, शरीरका सौन्दर्य और उछलती जवानी ! यही पाँच काँटे हैं ।

३७ नित्य भगवान्‌का गुणगान करो—नहीं तो तुम्हारी जीभ मेंढ़ककी जीभ है ।

३८ नित्य भगवान्‌के गुणगणोंका श्रवण करो । काले बादलोंसे घिरा हुआ दिन दुर्दिन नहीं है । दुर्दिन तो वस्तुतः वह है, जिसमें तुम्हारे कान भगवान्‌की गुणसुधाके अनवरत पानसे वञ्चित रहते हैं—

यदच्युतकथालापकर्णपीयूषवर्जितम् ।
तद् दिनं दुर्दिनं मन्ये मेघाच्छन्नं न दुर्दिनम् ॥

प्राण-प्रयाणके पाथेय, संसार-रोगकी अचूक औषध और रोग-शोकका हरण करनेवाले तो बस, हरिनामके दो अक्षर ही हैं—

प्राणप्रयाणपाथेयं संसारव्याधिभेषजम् ।
रोगशोकहरं पुंसां हरिरित्यक्षरद्वयम् ॥

३९ किसीकी निन्दा न करो, न कर्कश वाक्य ही बोलो; सम्मान, सत्य और हितकी बात ही कहो । सभी लोग तुम्हारी नम्रता और अपना हित चाहते हैं ।

४० किसीकी खुशामद मत करो । खुशामदीके मुँह और मनमें सदा ही भेद रहता है । फूट तो उसका साथी बन जाता है ।

कल्याणकी पुरानी फाइलों तथा विशेषाङ्कोंका ब्योरा

(इनमें ग्राहकोंको कमीशन नहीं दिया जायगा । डाकखर्च हमारा लगेगा)

पुराने अङ्कोंमेंसे केवल निम्नलिखित अङ्क ही प्राप्य हैं। इनके सिवा और कोई विशेषाङ्क या साधारण अङ्क प्राप्य नहीं है ।

११ वें वर्षका विशेषाङ्क (वेदान्ताङ्क) सपरिशिष्टाङ्क मूल्य ३), पूरी फाइल वेदान्ताङ्कसहित अ० ४≶) ।

१२ वें वर्षका विशेषाङ्क (संत-अङ्क) नहीं है । फुटकर अङ्क केवल २, ३ और १२ हैं, मूल्य ।) प्रति ।

१५ वें वर्षका विशेषाङ्क (साधनाङ्क) मूल्य ३॥), साधारण अङ्क २, ३, ४, हैं, मूल्य ।) प्रति ।

१६ वें वर्षका विशेषाङ्क (भागवताङ्क) नहीं है । साधारण अङ्क केवल १०, ११, १२ हैं, मूल्य ।) प्रति ।

☞ १८ वें (चालू) वर्षका विशेषाङ्क (संक्षिप्त वाल्मीकीय रामायणाङ्क) नहीं है ।

व्यवस्थापक— **कल्याण-कार्यालय, गोरखपुर**

THE KALYANA-KALPATARU

(English Edition of the Kalyan)

Special Numbers and Old Files for Sale

1. Vol. I., 1934 (Complete file of 12 numbers including the Special issue, GOD NUMBER) pp. 836; Illustrations 63; Unbound Rs. 4-8-0
   The GOD NUMBER of the Kalyana-Kalpataru 1934, pp. 307, Illus. 41; Unbound Rs. 2-8-0
2. Vol. II., (only 11 ordinary issues, excluding the Special issue, the Gita Number) Unbound Rs. 2-0-0
3. Vol. III., (only 11 ordinary issues, excluding Special issue, the Vedanta Number) Unbound Rs. 2-0-0
4. Vol. IV., (only 11 ordinary issues, excluding Special issue, the Krishna Number) Unbound Rs. 2-0-0
5. Vol. V., (Special issue, The Divine Name Number out of stock) ordinary issues, 2, 4, 5, 6, 7, 8, 9, 10, 11 & 12. Each 0-5-0
6. Vol. VI., Special issue The DHARMA TATTWA NUMBER Unbound Rs. 2-8-0
7. Vol. VII., (Special issue The Yoga Number out of stock)
8. Vol. VIII., (Special issue The Bhakta Number out of stock) ordinary issues 7, 9, 10, 11 & 12. Each 0-5-0
9. Vol. IX., (Special issue Shri Krishna Lila Number—I out of stock)
10. Vol. X., (Special issue Shri Krishna Lila Number—II) Unbound Rs. 2-8-0
11. Vol. X., (Current year subscription including Special Shri Krishna Lila Number —II) Rs. 4-8-0

The Manager—
KALYANA-KALPATARU, GORAKHPUR (India)

Postage free in all cases.

Regd. No. A. 175.

श्रीहरिः

मनुष्यका परम धर्म

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।
अहैतुक्यप्रतिहता ययाऽऽत्मा संप्रसीदति ॥
वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः ।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम् ॥
धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः ।
नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ॥

मनुष्योंके लिये सबसे बड़ा धर्म वही है, जिससे भगवान् श्रीकृष्णमें भक्ति हो; भक्ति भी ऐसी, जिसमें किसी प्रकारकी कामना न हो और जो नित्य-निरन्तर बनी रहे, जिसकी धारा कहीं भी टूटे नहीं । ऐसी भक्तिसे हृदय आनन्दस्वरूप परमात्माकी उपलब्धि करके कृतकृत्य हो जाता है । भगवान् श्रीकृष्णमें भक्ति होते ही, अनन्य प्रेमसे उनमें चित्त जोड़ते ही विशुद्ध ज्ञान और वैराग्यका आविर्भाव हो जाता है । धर्मका ठीक-ठीक अनुष्ठान करनेपर भी यदि मनुष्यके हृदयमें भगवान्‌की लीला-कथाओंके प्रति अनुरागका उदय न हो तो ऐसा समझना चाहिये कि वह केवल श्रम-ही-श्रम है ।

(श्रीमद्भा० १ । २ । ६-८)

कल्याण

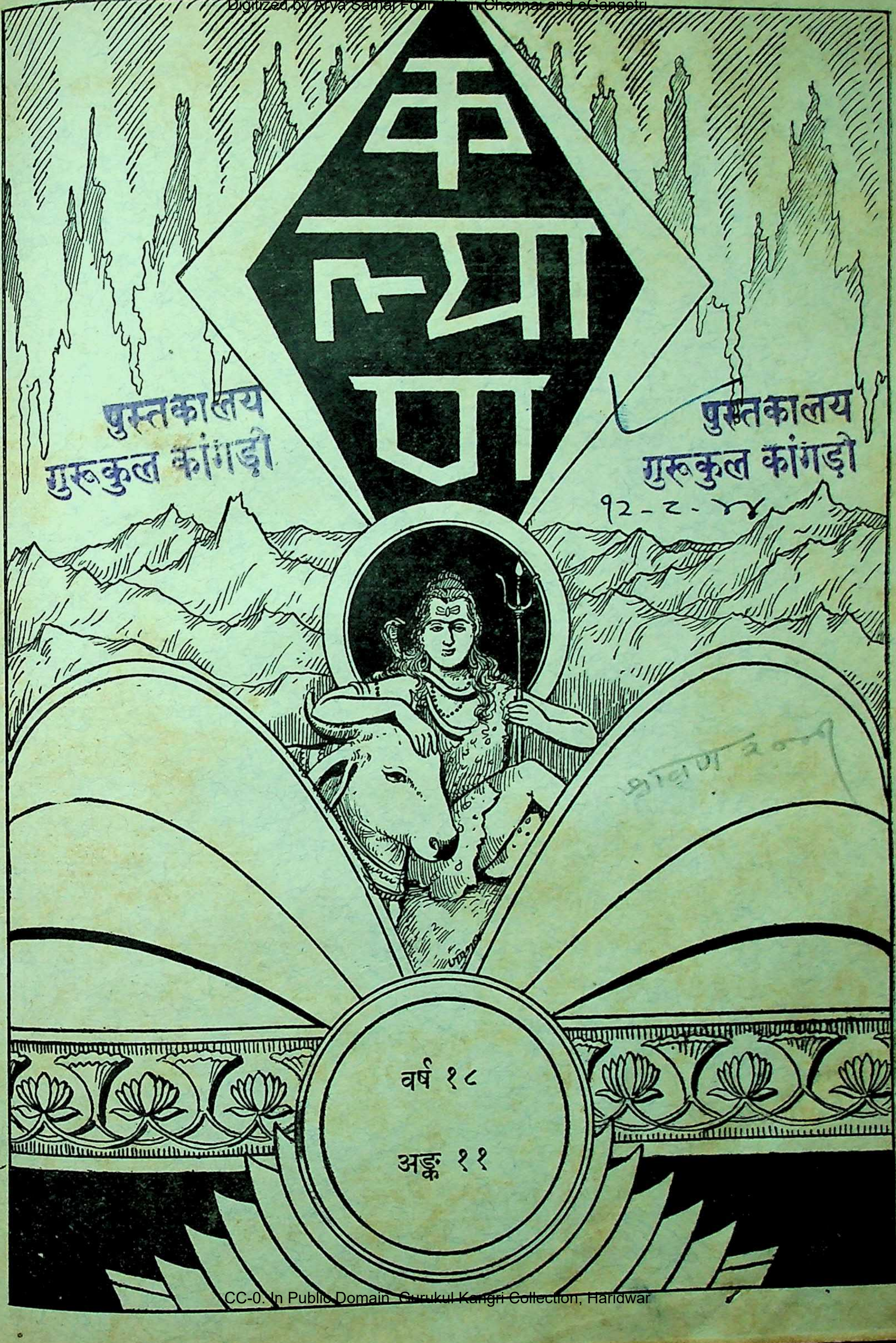

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी
१२-८-५४

श्रावण २०११

वर्ष १८

अङ्क ११

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ आगारा ॥

[संस्करण ५५६००]

कल्याणके

वेदान्ताङ्क और साधनाङ्क

—समाप्त हो गये हैं, अतः अब कोई सज्जन इनके लिये रुपये न भेजें।

वेदान्ताङ्कके आगेके फुटकर अङ्क सं० ३ से १२ तकके कुछ पूरे सेट मिल सकते हैं। दाम डाकव्यय और रजिस्ट्री खर्चसहित १।।) मात्र।

गीतातत्त्वाङ्कका चौथा संस्करण

पृष्ठ-सं० १०७२, चित्र केवल दो बहुरंगे, मूल्य ३।।) मात्र।

व्यवस्थापक—कल्याण, गोरखपुर

केवल गीता-परीक्षा-समितिके परीक्षार्थियोंके लिये

गीतातत्त्वाङ्क (दो खण्डोंमें)

पूर्वार्द्ध—पाठविधि, नम्र निवेदन और गीता अध्याय १ से ९ तककी टीका, एक सुन्दर तिरंगा चित्र, पृष्ठ-सं० ४७०, मूल्य १), डाकखर्च अलग।

उत्तरार्द्ध—गीता अध्याय १० से १८ की टीका, पृष्ठ-सं० ३४६, मूल्य १), डाकखर्च अलग।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, गोरखपुर

वार्षिक मूल्य
भारतमें ५≡)
विदेशमें ७॥=)
(शिलिङ्ग ११½)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें ।)
विदेशमें ।≡)
(८ पेंस)

Edited by H. P. Poddar and C. L. Goswami, M. A., Sastri
Printed and Published by Ghanshyamdas Jalan at the Gita Press, Gorakhpur, U. P. (India)

विषय-सूची

विषय पृष्ठ-संख्या
१–कौतुक ही कपि कुधर लियो है [कविता] (श्रीतुलसीदासजी) ··· ११११३
२–प्रभु-स्तवन [कविता] (अनुवादक—श्रीमुंशीरामजी शर्मा, एम्० ए०, 'सोम') ··· ११११४
३–संत-वाणी (एक महात्माका प्रसाद) ··· १११५
४–हिंदूधर्म—उसका शरीर और आत्मा (श्रीअक्षय-कुमार वन्द्योपाध्याय, एम्० ए०) ··· १११७
५–आदर्श भक्त हनुमान् (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ··· ··· ११२४
६–थकित जीवन [कविता] (श्रीसुदर्शनसिंहजी) ··· ११२९
७–अमृत और विष (अज्ञात) ··· ११३०
८–पतित-पावन (श्रीहरिश्चन्द्रजी अष्ठाना 'प्रेम') ··· ११३०
९–युगल-किशोर [कविता] (श्रीआत्माराम देवकर) ··· ··· ११३३
१०–भगवत्तत्त्व (साधु रामसुखदासजी) ··· ११३४
११–दीनता [कविता] (श्रीसूरदासजी) ··· ११४१
१२–परमार्थ-पत्रावली (श्रीजयदयालजी गोयन्दका-के पत्र) ··· ११४२
१३–श्रीभगवान्के परिकर-परिच्छद-परिवार और उनका परमपद (पण्डित श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, एम्० ए०, आचार्य, शास्त्री, साहित्यरत्न) ··· ११४६
१४–'भूले हुए जीवके प्रति' [कविता] (करीमबख्श) ··· ११५०
१५–नवधा भक्ति [कहानी] (श्री'चक्र') ··· ११५१
१६–सत्सङ्गके बिखरे वाक्य (संग्रहकर्त्ता—एक सत्सङ्गी) ··· ११५५
१७–अपने हितैषी बनो (प्रो० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, डी० लिट्०) ··· ११५९
१८–कुटिल और असत्य शिक्षा (इतिहासका ग्रेजुएट) ११६३
१९–गृहस्थाश्रम और पवित्र आचरण (डा० मुहम्मद हाफिज सय्यद एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० लिट्०) ··· ११६८
२०–वर्तमान (श्रीरामानन्दजी ब्रह्मचारी) ··· ११७५
२१–'अपनी भगति दे भगवान' [कविता] (श्रीसूरदासजी) ··· ११७६

* * *

प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकोंके लिये सूचना

जिन सज्जनोंके पास वेद, पुराण, महाभारत, रामायण, गीता, स्मृति, तन्त्र, ज्योतिष, काव्य, व्याकरण, वैद्यक, शैव-शाक्त और वैष्णव-सम्प्रदायकी या अन्य किसी भी विषयकी संस्कृत, प्राकृत या हिन्दी भाषाकी प्राचीन हस्तलिखित सचित्र या अचित्र पुस्तकें हों, और जो उन्हें सुरक्षित रखनेके लिये बिना मूल्य या उचित मूल्यपर देना चाहते हों, वे नीचे लिखे पतेपर पूरा विवरण भेजकर पत्रव्यवहार करें।

हनुमानप्रसाद पोद्दार

सम्पादक—'कल्याण'

पो० रतनगढ़ (बीकानेर स्टेट)

* * *

पुराने और नये ग्राहकोंको सूचना

कल्याणका वार्षिक मूल्य १) घटाकर ४≡) कर दिया गया

यह अठारहवें वर्षका ग्यारहवाँ अङ्क है। अगले सितम्बर मासमें इस वर्षका मूल्य समाप्त हो जायगा।

आगामी वर्षके विशेषांकके लिये संक्षिप्त वाल्मीकीय रामायणांककी तरह केवल भाषामें 'संक्षिप्त पद्मपुराणांक'की तैयारी की गयी थी परन्तु अकस्मात् भारत-सरकारद्वारा कागज-नियन्त्रण (मितव्ययता) आज्ञा प्रकाशित हो जानेसे एक बार सारी स्थिति अनिश्चित हो गयी। प्रयत्न किया जा रहा है कि सरकार हमें अधिक नहीं तो लगभग ३५० पृष्ठका ही विशेषाङ्क निकालनेकी स्वीकृति दे दे और 'संक्षिप्त पद्मपुराणांक'का जो अंश बच रहे उसे आगेके साधारण अङ्कोंमें प्रतिमास दे दिया जाय जो अङ्क वर्तमान अङ्कसे छोटे होंगे। यदि विशेषाङ्ककी स्वीकृति न मिली तो उस अवस्थामें यह सोचा जा रहा है कि या तो साधारण मासिक अङ्कोंमें ही संक्षिप्त पद्मपुराण दे दिया जाय अथवा आजकलकी तरह केवल लेखादि देकर ही प्रतिमास अङ्क निकलते रहें। इस विषयकी निश्चित सूचना अगले अङ्कमें दी जा सकती है।

ग्राहकोंको वार्षिक मूल्य ४≡) बहुत शीघ्र मनीआर्डरद्वारा भेज देना चाहिये। मनीआर्डर-फार्म इसी अङ्कके अन्तमें लगा है। पिछले दो सालसे वी० पी० नहीं भेजी जाती है, केवल मनीआर्डर भेजनेवालोंको ही ग्राहक बनाया जाता है; अतः जिन्हें ग्राहक बनना हो वे मनीआर्डर शीघ्र भेज देनेकी कृपा करें।

व्यवस्थापक—कल्याण, गोरखपुर

आवश्यक सूचना

'धर्म-विरोधी बिलों' पर प्रान्तीय सरकारोंको मत भेजनेकी अवधि समाप्त हो चुकी है। पर "सेक्रेटरी लेजिस्लेटिव डिपार्टमेण्ट, भारत-सरकार, नई दिल्ली"को विरोध-पत्र अक्टूबर सन् १९४४के अन्ततक भेजे जा सकते हैं। यदि आप अपने धर्म, अपनी जातिकी रक्षा करना चाहते हैं तो अधिकाधिक संख्यामें विरोध बराबर भेजते रहिये। विशेष जानकारीके लिये "धर्मसङ्घ-कार्यालय, गङ्गातरङ्ग-नगवा, बनारस" को लिखिये।

गङ्गाशङ्कर मिश्र,
सम्पादक, 'सिद्धान्त'

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी

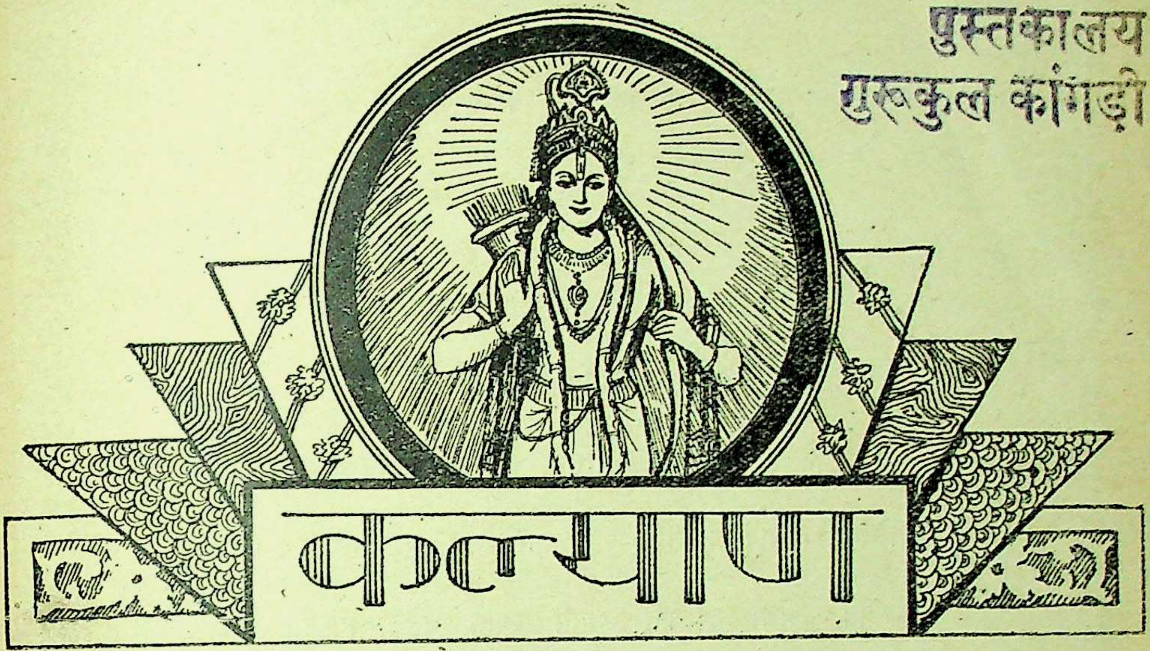

रामाय रामभद्राय रामचन्द्राय वेधसे ।
रघुनाथाय नाथाय सीतायाः पतये नमः ॥

वर्ष १८ } गोरखपुर, अगस्त १९४४, सौर श्रावण २००१ { संख्या ११
पूर्ण संख्या २१५

कौतुक ही कपि कुधर लियो है

कौतुक ही कपि कुधर लियो है ।
चल्यो नभ नाइ माथ रघुनाथहि, सरिस न बेग बियो है ॥
देख्यो जात जानि निसिचर, बिनु फर सर हयो हियो है ।
पर्‍यो कहि राम, पवन राख्यो गिरि, पुर तेहि तेज पियो है ॥
जाइ भरत भरि अंक भेंटि निज, जीवन-दान दियो है ।
दुख लघु लषन मरम-घायल सुनि, सुख बड़ो कीस जियो है ॥
आयसु इतहि, स्वामि-संकट उत, परत न कछू कियो है ।
तुलसिदास बिदर्‍यो अकास, सो कैसे के जात सियो है ॥

—तुलसीदासजी

प्रभु-स्तवन

(अनुवादक—श्रीमुंशीरामजी शर्मा, एम्० ए०, 'सोम')

अग्निं मन्द्रं पुरुप्रियं शीरं पावकशोचिषम् ।
हृद्भिर्मन्द्रेभिरीमहे ॥

(ऋक्० ८ । ४३ । ३१)

प्रिय प्रभुको आज आओ, जगायें-रिझायें ॥

अपना प्यारा, सबका प्यारा, प्रियसे भी प्रिय, परम दुलारा ।
जगभरकी आँखोंका तारा, न्यारा शोभा-साज ॥ आओ···॥

जिसकी मस्ती मस्त बनाती—उर-उरमें मधु लहर उठाती ।
हर्षित आनन्दित गति भाती, लाती पुलक-समाज ॥ आओ···॥

जिसकी पावन दीप्ति निराली, कण-कणमें क्षण भरनेवाली ।
नखसे शिखतक सुषमाशाली, लाली रही विराज ॥ आओ···॥

मधुमय प्रभु हित मधुमय उर ले, हर्षोल्लास हृदयमें भर ले ।
मन्द्र मस्त मादक गुरु स्वर ले, कर ले पूरण काज ॥ आओ···॥

त्वामग्ने मनीषिणस्त्वां हिन्वन्ति चित्तिभिः ।
त्वां वर्धन्तु नो गिरः ॥

(ऋक्० ८ । ४४ । १९)

मनीषी मनके मालिक तुम्हें बढ़ाते मनन-शक्तिके साथ ।
अन्य चित-शुद्धि लिये निष्काम कर्मसे गाते तव गुण-गाथ ॥
इन्हींकी आहुतियोंसे देव ! सदा बनते संतृप्त-प्रदीप्त ।
बढ़ायें तुझको तज अहमेव हमारे मंत्र-पाठ स्तुति-गीत ॥

संत-वाणी

(एक महात्माका प्रसाद)

विश्वास-मार्ग तथा विचार-मार्ग—दो स्वतन्त्र मार्ग हैं। विश्वासमें विचारके लिये और विचारमें विश्वासके लिये कोई स्थान नहीं है। विचारशील प्रथम जानता है, पश्चात् मानता है, अर्थात् जाननेके पश्चात् भक्त होता है। विचार उदय होता है, किया नहीं जाता। विचारके उदय होते ही अविचार समूल नष्ट हो जाता है। अविचार मिटते ही साधक, साधन तथा सिद्धि—इन तीनोंमें एकता हो जाती है। जिज्ञासुके लिये आनन्दघन भगवान्का विचारके स्वरूपमें स्वयं प्राकट्य होता है। अतः विचार किया नहीं जाता, अपने-आप होता है। जिज्ञासु वही है, जो अपनी अनुभूतिके अनुरूप सदोष सत्ताका त्याग करनेमें समर्थ है। अर्थात् जिज्ञासु कभी अपनी दृष्टिसे देखे हुए दोषोंके साथ सम्बन्ध नहीं रखता। यह नियम है कि जो प्राणी अपने ज्ञानका आदर करता है उसे—अर्थात् ज्ञान और कर्मकी एकता होनेपर ज्ञान भगवान्की कृपासे अपने-आप हो जाता है। अतः विचारशील भी विश्वास-मार्गीकी भाँति भगवान्की ही कृपासे सफलता पाता है। केवल बुद्धिके व्यायामका नाम विचार नहीं है।

विश्वास-मार्गी वही प्राणी हो सकता है, जो आस्तिकतासे इन्कार नहीं करता। अर्थात् जिसने हृदय तथा मस्तिष्क दोनोंसे भली प्रकार सद्भावपूर्वक यह निश्चय कर लिया है कि भगवान् अवश्य हैं, उसे इस बातके जाननेकी कोई आवश्यकता नहीं कि भगवान् सविशेष हैं या निर्विशेष। वह काम तो भगवान्का है कि वे अपने भक्तकी पूर्तिके लिये अपने-आप अपनेको प्रकाशित करें, जिस प्रकार दीपक अपनेको प्रकाशित कर पतिंगेको अपनेमें विलीन कर लेता है। यदि दीपक स्वयं अपनेको प्रकाशित न करता तो पतिंगा आकर्षित कदापि न होता। हाँ, यह अवश्य है कि पतिंगेके हृदयमें दीपककी रुचि विद्यमान थी। उसी प्रकार भक्तके हृदयमें जैसी रुचि विद्यमान है, उसके अनुरूप भगवान्का प्राकट्य अपने-आप होगा। भक्तका केवल यही परम धर्म है कि वह सद्भावपूर्वक उनका हो जाय। यदि भक्तकी अहंतामें साकारभाव शेष है तो भगवान्का सगुण प्राकट्य अवश्य होगा। यदि भक्तकी अहंतामें साकारभाव निःशेष हो गया है तो भगवान् भक्तके लिये तत्त्व-ज्ञानके स्वरूपमें प्रकट होंगे। मेरा विश्वास है कि भक्तको भगवान्के विषयमें अपनी ओरसे कोई कार्टून (Cartoon) नहीं बनाना चाहिये और न यह सीमित धारणा ही बनानी चाहिये कि भगवान् सविशेष नहीं हैं। भगवान् अनन्त हैं, सविशेष भी हैं, निर्विशेष भी हैं और दोनोंसे परे भी हैं। यह अलौकिकता केवल भगवत्-तत्त्वमें ही है कि उसके विषयमें कोई भी सीमित धारणा निर्धारित नहीं की जा सकती।

जब दोनों प्रकारकी बातें हृदयमें हलचल कर रही हों, ऐसी दशामें साधकको केवल भगवान्का स्मरण करना चाहिये अर्थात् उसके हृदयमें व्याकुलता उत्पन्न होनी चाहिये। साधारण प्राणी केवल जपको स्मरण मानते हैं। पर जप और स्मरणमें भेद है। जपमें क्रियाकी अधिकता और भावकी न्यूनता होती है। स्मरणमें शुद्ध भावकी अधिकता और क्रिया लेशमात्र होती है। अर्थात् स्मरणमें केवल भावकी प्रबलता होती है। जप केवल भगवान्की स्वीकृतिसे हो सकता है; परन्तु स्मरण तबतक नहीं हो सकता जबतक प्राणी सद्भावपूर्वक उनका न हो जाय। क्योंकि स्मरण सम्बन्धके विना किसी भी प्रकार नहीं हो सकता। जबतक स्मरण न उत्पन्न हो तबतक जप करना परम अनिवार्य है। जप

सगुण भी है, निर्गुण भी है । जपकी क्रिया सगुण है, अर्थ निर्गुण है । जप करनेसे सम्बन्ध करनेकी शक्ति आ जायगी । सम्बन्ध होते ही विरहाग्नि प्रज्वलित होगी, जो सभी विकारोंको जला देगी । व्याकुलताके बिना न तो सगुण ब्रह्मका साक्षात्कार होता है, न तत्त्व-ज्ञान । व्याकुलतारहित निर्जीव यन्त्रकी भाँति साधन करना क्रिया-परिवर्त्तनसे भिन्न कुछ अर्थ नहीं रखता । आस्तिकता कर्म नहीं है; कर्मसे तो भोगकी प्राप्ति होती है, आस्तिकता प्राणीका जीवन है । शुभकर्म भोगके यथार्थ ज्ञान करानेका साधन है । अशुभकर्मसे तो भोग भी प्राप्त नहीं होते । शुभकर्मसे तो संसारका यथार्थ ज्ञान होता है और आस्तिकता उत्पन्न होनेकी शक्ति आ जाती है । अतः बर्तमान परिस्थितिका सदुपयोग कर भगवान्‌का निरन्तर स्मरण करना चाहिये ।

× × × ×

(२)

हठयोग तथा राजयोगमें केवल यही अन्तर है कि हठयोग प्रथम प्राणका निरोध करनेका प्रयत्न करता है तथा राजयोग प्रथम मनका निरोध करनेका प्रयत्न करता है । मनके निरोधसे प्राणका निरोध अपने-आप हो जाता है और प्राणके निरोधसे मन अपने-आप दब जाता है । अतः विचारशील प्राणी प्राणनिरोधकी अपेक्षा मन-निरोधपर अधिक ध्यान देते हैं । मनका निरोध प्रेमपात्रके नाते वर्तमान परिस्थितिका सदुपयोग करनेसे एवं एक कालमें एक ही कार्य करनेसे, कार्य करते समय पूरी शक्ति लगा देनेसे तथा वासनाओंके त्यागसे, आगे-पीछेका व्यर्थ चिन्तन न करनेसे और कार्यके अन्तमें कार्यसे सम्बन्धविच्छेद कर देनेसे अपने-आप हो जाता है । मनका निरोध होनेपर छिपी हुई शक्तियोंका विकास होने लगता है ।

यदि प्राणी प्रथम साधन अर्थात् जिसको उसने आरम्भ किया है, उस कार्यको ठीक-ठीक कर लेता है तो उससे आगे आनेवाला साधन अपने-आप उत्पन्न हो जाता है । जिस प्रकार जीवनकी पूर्णता मृत्युमें बदलती है, उसी प्रकार प्रत्येक साधन आगामी साधनमें अपने-आप बदल जाता है । अर्थात् जब साधक अपनी योग्यताके अनुसार किसी भी साधनको आरम्भ कर देता है तो आवश्यक साधन तथा शक्तियाँ अपने-आप प्रकट होने लगती हैं ।

आध्यात्मिक उन्नति तथा भौतिक उन्नतिमें यही अन्तर है कि आध्यात्मिक उन्नतिका साधक योग्यतानुसार साधन आरम्भ करते ही स्वतन्त्रतापूर्वक सफलता प्राप्त करता है, क्योंकि आध्यात्मिक उन्नति निजकी सम्पत्ति है । भौतिक उन्नतिका साधक प्रत्येक स्तर (Stage) पर कुछ-न-कुछ बाह्य सहायता एवं परतन्त्रताका अनुभव करता है । इसी कारण भौतिक उन्नतिमें सदैव परतन्त्रता बनी रहती है; क्योंकि उसका जन्म ही परतन्त्रतासे होता है ।

सच बात तो यह है कि आध्यात्मिक उन्नति प्राणी सर्वदा स्वतन्त्रतापूर्वक कर सकता है; क्योंकि स्वतन्त्रताका साधन परतन्त्र कदापि नहीं हो सकता । अतः आप अपनी योग्यतानुसार अपने मन-इन्द्रिय आदिको सबसे हटा लो । सब ओरसे हटानेपर आपको अपनेमें अपने प्रेम-पात्रका अनुभव होगा ।

संसारसे सच्ची निराशा एवं अपनेको सब ओरसे हटा लेना आध्यात्मिक उन्नतिका सर्वोत्कृष्ट सुगम साधन है ।

हिंदूधर्म—उसका शरीर और आत्मा

(लेखक—श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय, एम्० ए०)

१. हिंदूधर्म स्वतन्त्रता-पोषक धर्म है

प्रत्येक सत्यान्वेषीको यह स्पष्टतया विदित है कि हिंदूधर्मका स्वरूप ईश्वर, आत्मा, सृष्टि एवं मानव-जीवनके ध्येयके सम्बन्धमें किसी वादविशेषको स्वीकार करना, किन्हीं विशिष्ट क्रियाओंका अनुष्ठान तथा बाह्य आचारोंका पालन एवं उपासनाकी विशिष्ट पद्धतियोंका अनुसरण अथवा किसी खास पैगंबर अथवा ईश्वरीय दूतको बिना ननु-नच किये प्रमाण मानना नहीं है। इन सब प्रश्नोंके विषयमें हिंदूधर्म मानवीय बुद्धि एवं हृदय दोनोंको पूर्ण स्वतन्त्रता देता है। ईश्वरको जगत्का कर्त्ता एवं नियन्ता न मानना, आत्माको नित्य एवं चेतन तत्त्व स्वीकार न करना तथा मुक्तिको आत्माकी शाश्वत आनन्दमयी स्थिति अङ्गीकार न करना भी हिंदूधर्मकी दृष्टिमें कोई अक्षम्य अपराध नहीं माना गया है। हिंदूधर्मने ऐसे लोगोंको भी अवतार अथवा ऋषि माननेमें आगा-पीछा नहीं किया, जिन्होंने ईश्वर तथा आत्माके अस्तित्वको स्वीकार नहीं किया; किन्तु जो वैसे महान् आध्यात्मिक पुरुष थे। हिंदूधर्मका कभी यह तकाजा नहीं रहा कि मानवीय विचार, भावना तथा इच्छाशक्तिपर अनुचित रोक-टोक लगायी जाय।

इसके विपरीत हिंदूधर्मने सदा इस बातको डंकेकी चोट कहा है कि मनुष्य स्वरूपतः सभी बन्धनोंसे मुक्त है और अपने स्वतन्त्र पुरुषार्थके बलसे पूर्ण स्वातन्त्र्य प्राप्त करना ही उसके जीवनका सर्वोच्च आदर्श है। हिंदूधर्मकी यह मान्यता है कि यद्यपि स्वतन्त्रतापर मनुष्यका जन्मसिद्ध अधिकार है, फिर भी इस जगत्में बाह्य एवं आन्तरिक—शारीरिक एवं मानसिक—परिस्थितियाँ दुर्भाग्यवश उसकी इस स्वतन्त्रताको कम कर देती हैं; अतः प्रत्येक मनुष्यका ध्येय यह होना चाहिये कि जितनी स्वतन्त्रता उसे प्राप्त है, उसका वह पूर्ण स्वतन्त्रता—सब प्रकारके बन्धनों एवं उपाधियोंसे मुक्ति—पानेके लिये उपयोग करे। इसीलिये हिंदूधर्म मानवीय आत्माके निर्बाध विकासपर किसी प्रकारका निग्रहपूर्ण नियन्त्रण नहीं लगा सकता; बल्कि वह प्रत्येक पुरुष, स्त्री एवं बच्चेकी बुद्धिको अन्धकारसे मुक्त करनेकी चेष्टा करता है, जिससे वह आदर्श स्वतन्त्रता प्राप्त करनेके लिये अपनी अधिकृत स्वतन्त्रताका समुचित उपयोग कर सके। इसलिये हिंदूधर्म किसीको किन्हीं विशिष्ट मतवादों, उपासनाके प्रकारों अथवा बाह्य आचारोंको ग्रहण करनेके लिये बाध्य नहीं करता। इसके फलस्वरूप हिंदूधर्मकी सीमाके अंदर हमें असंख्य सम्प्रदाय देखनेको मिलते हैं, जिनके परात्पर-तत्त्व एवं परमोपास्यके सम्बन्धमें भिन्न-भिन्न मत हैं तथा जिनमें साधनाके भिन्न-भिन्न प्रकार तथा भिन्न-भिन्न क्रियाकलाप, आचार एवं रीति-रिवाज पाये जाते हैं। परन्तु क्या इसका अर्थ यह है कि हिंदूधर्म इतने सम्प्रदायोंका एक निर्जीव समुदायमात्र है, उसमें एकता अथवा स्वतन्त्र जीवन है ही नहीं? नहीं, ऐसी बात कदापि नहीं है। हिंदूधर्मका एक शरीर और एक ही आत्मा है। वह एक अमर प्राणी है, जिसके शरीरमें ये सब भेद संघटित एवं समन्वित रहते हैं और जिसकी आत्मा उन सबको अनुप्राणित एवं आलोकित करती रहती है। अवयव अवयवीसे सम्बद्ध रहकर विकसित एवं नवीन होते रहते हैं। अवयवी उन्हें सम्बद्ध रखता है और वे उसका महत्त्व बढ़ाते रहते हैं।

२. हिंदूधर्मका शरीर

हिंदूधर्मके शरीरकी ओर दृष्टि डालनेपर हमें कुछ ऐसे विशेष लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं, जो हिंदुओंके सभी सम्प्रदायोंमें समानरूपसे पाये जाते हैं और जो उन्हें एक सूत्रमें बाँधे रखते हैं। हिंदूधर्मकी आत्माने इन बाहरी सामान्य लक्षणोंमें तथा उनके भीतरसे अपनेको प्रकट कर रखा है।

(क) भारतकी राष्ट्रीय संस्कृतिके प्रति आदरभाव

पहली मुख्य विशेषता है—हिंदुओंके सभी सम्प्रदायोंका भारतकी सदा-विकासोन्मुख राष्ट्रीय संस्कृतिके प्रति आदरका भाव। सभी हिंदुओंका वेदोंमें, जिनपर उनका समान अधिकार है, अमर विश्वास है। प्राचीन भारतीय ऋषियोंने बुद्धि, नीति, कला एवं अध्यात्मके क्षेत्रमें जो सबसे बड़ी करामातें कर दिखायी हैं, वेद उनके वाङ्मय प्रतीक हैं। उनका जीवन सादा, हृदय पवित्र तथा शरीर और मन निष्पाप थे तथा 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' एवं पूर्ण स्वतन्त्रताके लिये उन्होंने सच्ची खोज की थी। इन्हीं सब कारणोंसे वे मनुष्यकी बौद्धिक चेतनाके समक्ष विश्वात्मा भगवान्को प्रकट करनेके लिये उपयुक्त माध्यम बने हुए थे। वेदोंमें एक

ही दिव्य मानव, एक मसीहे, एक अवतार या एक पैगंबरके ही उपदेश नहीं हैं। उनका दर्शन प्राचीन भारतकी अनेक प्रबुद्ध आत्माओंको हुआ था। भारतके सर्वश्रेष्ठ मस्तिष्कोंने उनकी परस्पर तुलना करके उनकी एकवाक्यता तथा उनके अनुभवकी परीक्षा की और उन्हें हिंदू-समाज, हिंदूधर्म एवं हिंदू-संस्कृतिकी सुदृढ़ भित्ति बनाया। उन्हें प्रमाण माननेका अर्थ है—भारतीय आत्माके विकासकी आदिम एवं पवित्रतम भूमिकाओंमें भारत-माताके अंदर जो कुछ उत्तम-से-उत्तम बातें थीं, उन्हें निःसङ्कोच स्वीकार करना।

परन्तु भारतीय प्रतिभाकी इन प्राचीनतम करामातोंके प्रति स्वाभाविक आदरभाव ही हिंदुओंकी एकताका एकमात्र कारण नहीं है। रामायण, महाभारत, स्मृतिग्रन्थ, तन्त्र, पुराण एवं दर्शनोंके प्रति, जो देशके परवर्ती प्रबुद्धतम मस्तिष्कोंकी कृतियाँ हैं, हिंदुओंके सभी सम्प्रदायोंका महान् आदर है। भारतीय जीवन और संस्कृतिके सभी विभागोंमें विचारों एवं आदर्शोंको लेकर जो भी उन्नति हुई है—धार्मिक कला और साहित्य, विज्ञान और दर्शन, धर्मशास्त्र एवं कर्मकाण्ड तथा पारिवारिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक व्यवस्थाओंके द्वारा भिन्न-भिन्न रूपोंमें भारतीय आत्माका जो क्रमिक विकास हुआ है, ये सब ग्रन्थ उसीके प्रतीक हैं। हिंदूजाति अतीतके गौरवको तथा अपने प्रति उसकी देनको कभी अस्वीकार नहीं करती। दूसरी ओर उसने प्राचीन शास्त्रोंके वाचिक अर्थके प्रति अथवा प्राचीन आचारोंके बाह्यरूपके प्रति अनुचित पक्षपात कभी नहीं दिखलाया, किन्तु अपनेको परिवर्तित स्थितिके अनुकूल बनकर सदा ही सनातनधर्मका सचाईके साथ अनुगमन करनेकी चेष्टा की है। हिंदूलोग अतीतके गौरवको सिर झुकाते हुए भी वर्तमान कालमें विचार एवं क्रियाके स्वातन्त्र्यकी कदापि उपेक्षा नहीं करते तथा अपनी धारणाके अनुसार समुज्ज्वल भविष्यकी ओर आगे बढ़नेसे भी नहीं चूकते। हिंदुओंकी शास्त्रोंमें श्रद्धाका स्वरूप क्या है? अत्यन्त प्राचीनकालसे लेकर भारतीय इतिहासके अत्यन्त अर्वाचीन सृजनोन्मुख कालतक भारतने ऊँचे-से-ऊँचा तथा उत्तम-से-उत्तम जो कुछ भी काम कर दिखाया है, उसके प्रति ठोस आदरका भाव एवं उसे बिना ननु-नच किये प्रमाण मानना।

(ख) राष्ट्रके संत-महात्माओं एवं वीरोंके प्रति श्रद्धा

महान् हिंदू-समाजके सभी वर्गोंमें एकताके उपर्युक्त बलवान् सूत्रके अतिरिक्त उनमें भारतके राष्ट्रीय संत-महात्माओं एवं वीरोंके प्रति—उन यशस्वी ऐतिहासिक व्यक्तियोंके प्रति, जिन्होंने भारतीय प्रगतिकी किसी भी भूमिकामें उसके धार्मिक, नैतिक, सामाजिक, राजनीतिक अथवा बौद्धिक जीवनपर किसी भी प्रकारका स्थायी प्रभाव डाला है—ठोस व्यक्तिगत आदरभाव भी है। वसिष्ठ और विश्वामित्र, मनु और याज्ञवल्क्य, नारद और कपिल, पराशर और व्यास आदि प्राचीन भारतीय महर्षियोंने; बुद्ध और शङ्कर, पारसनाथ और गोरखनाथ, चैतन्य और नानक, रामानुज और रामानन्द, कबीर और तुलसीदास प्रभृति महान् संतों एवं युगप्रवर्तकोंने; भगवान् राम और भगवान् कृष्ण, जनक और हरिश्चन्द्र, भीष्म और अर्जुन, ध्रुव और प्रह्लाद आदि विख्यात राष्ट्रीय वीरों एवं राजर्षियोंने तथा भगवती सीता और सावित्री, जगज्जननी सती और उमा, मैत्रेयी और गार्गी प्रभृति भारतकी आदर्श महिलाओंने अपनेको हिंदू कहलानेवाले सभी पुरुषों एवं स्त्रियोंके हृदयपर अटल नैतिक एवं आध्यात्मिक प्रभुत्व स्थापित कर लिया है। सिद्धान्तों एवं जीवनचर्यामें बहुविध अन्तर होनेपर भी सामान्यतः हिंदूमात्र प्रेरणाके इन शाश्वत सर्वसुलभ स्रोतोंसे प्रेरणाएँ ग्रहण करते हैं और अपनेको इन्हींके कुटुम्बीरूपमें अनुभव करते हैं। इस प्रकारके सभी आदर्श पुरुषों एवं देवियोंकी स्मृति—जो दिन-प्रतिदिन, मास-प्रतिमास और वर्ष-प्रतिवर्ष विभिन्न प्रकारके उत्सवों एवं धार्मिक अनुष्ठानों तथा उनसे सम्बन्ध रखनेवाले पौराणिक आख्यानों एवं ऐतिहासिक घटनाओंकी कथाओं, यात्राओं, अभिनयों एवं अन्य उल्लासपूर्ण खेल-तमाशोंके द्वारा जाग्रत् ही नहीं अपितु अधिक जाज्वल्यमान एवं ताजी रखी जाती है,—सभी युगोंमें तथा देशके सभी भागोंमें, हिंदू-समाज एवं धर्मके सभी अवयवोंमें सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक एकता बनाये रखती है तथा उसे और भी सुदृढ़ बनाती है। इतना ही नहीं, वह उनमें इस भावको भी जाग्रत् करती है कि सृष्टिके आरम्भसे ही उनमें अमर जीवनकी एक अविच्छिन्न धारा प्रवाहित हो रही है। हिंदूजाति उन यशस्वी व्यक्तियोंको, जिन्होंने सनातन तथ्योंको अपने जीवनमें उतारा है, उन तथ्योंके सम्बन्धमें कोरे वादों एवं कल्पनाओंकी अपेक्षा अधिक महत्त्व देती है।

(ग) राष्ट्रीय महत्त्वके स्थानोंका आदर

हिंदुओंके सभी सम्प्रदायोंमें एकता बनाये रखनेवाला तीसरा सूत्र भारतके राष्ट्रीय महत्त्वके स्थानोंके प्रति पवित्रताकी बुद्धि है । ये स्थान, जो इस महान् देशके सभी भागोंमें—नगरों एवं वनोंमें, नदियों तथा सरोवरोंमें, पर्वतों एवं उपत्यकाओंमें, बिखरे पड़े हैं, तीर्थ माने जाते हैं । प्रत्येक हिंदू, चाहे वह किसी भी सम्प्रदाय अथवा जातिका क्यों न हो, अपने शरीर एवं अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये अपनी स्थितिके अनुसार इनमेंसे अधिक-से-अधिक तीर्थोंकी यात्रा करना अपने जीवनका एक प्रधान धार्मिक कर्त्तव्य समझता है । इन तीर्थोंकी यात्रा करनेमें हिंदूलोग शैव, शाक्त, वैष्णव, बौद्ध अथवा जैन तीर्थोंमें कोई भेदबुद्धि नहीं करते । वे सभी भारत-माताके प्रत्येक बच्चेकी दृष्टिमें पवित्र हैं ।

ये तीर्थ क्या हैं ? अयोध्या, मथुरा, काशी, द्वारका, पुरी, उज्जयिनी आदि किसी-न-किसी समय भारतके कुछ महान् प्रतापशाली राज्योंकी प्रसिद्ध राजधानियाँ थीं और राजनीतिक महत्त्वको खो देनेके बाद भी इतनी शताब्दियोंसे भारतीय संस्कृति एवं सभ्यताके महान् केन्द्रोंके रूपमें अपने गौरवको बनाये हुए हैं और भारतीय जीवनकी विभिन्न दिशाओंपर स्थायी ढंगका जोरदार प्रभाव डाले हुए हैं । दूसरे प्रकारके तीर्थ भारतकी मुख्य-मुख्य नदियाँ हैं, जो भिन्न-भिन्न प्रान्तोंमें बँटी हुई हैं एवं उनमें परस्पर सम्बन्ध स्थापित किये हुए हैं तथा जो सभी वर्गोंके लोगोंके लिये सुख-समृद्धि, पवित्रता एवं बलका कारण बनी हुई हैं । गङ्गा, यमुना, गोदावरी, सरस्वती, नर्मदा, सिन्धु और कावेरी—इन सात पवित्र नदियोंका प्रत्येक हिंदूको प्रतिदिन अपने स्नान अथवा पीनेके जलमें आवाहन करना सिखाया जाता है । देशके किसी भी नगण्य कोनेमें स्थित किसी भी छोटे-से गाँवमें वह क्यों न रहता हो, उसे यह बात याद रखनी होती है कि मैं महान् और पवित्र भारत-देशका निवासी हूँ और जिस जलमें मैं स्नान करता हूँ या जिसे मैं पीता हूँ अथवा भगवान्‌को चढ़ाता हूँ या जिससे मैं अपने पितरोंका तर्पण करता हूँ, वह मातृभूमिकी सम्पूर्ण पवित्र नदियोंका सम्मिलित जल है । इसी प्रकार हिमालय, विन्ध्याचल, नीलगिरि इत्यादि महान् पर्वत, जो उसे अपनी महान् जन्मभूमिके सौन्दर्य, भव्यता एवं [illegible]का स्मरण दिलाते हैं; वृन्दावन, दण्डकारण्य, नैमिषारण्य आदि महान् वन, जिनमें प्राचीन तपोवनों एवं वनस्थित विश्व-विद्यालयों तथा राष्ट्रीय वीरोंके साहसपूर्ण कार्यों एवं राष्ट्रीय देव-देवियोंकी आनन्ददायिनी क्रीड़ाओंकी स्मृतियाँ निहित हैं; द्वैपायन, पुष्कर, मानस, पम्पा, नारायण आदि महान् सरोवर, जो अनेकों राष्ट्रीय संतों एवं धर्माचार्योंकी स्मृतिसे पूत हैं—प्रत्येक हिंदू इन सबका तीर्थोंके रूपमें स्मरण करता है, जहाँका सारा वातावरण आध्यात्मिकतासे सराबोर रहता है ।

जो-जो स्थानविशेष भारतके पूज्य संत-महात्माओंकी तपस्या अथवा आध्यात्मिक साधनासे पवित्र हो चुके हैं अथवा महान् राष्ट्रीय वीरों अथवा ऋषिकल्प विद्वानोंकी उदार कृतियोंसे गौरवको प्राप्त कर चुके हैं अथवा जो राजनीतिक, सामाजिक, नैतिक, बौद्धिक अथवा धार्मिक दृष्टियोंसे ऐतिहासिक महत्त्व रखनेवाली महती घटनाओंके कारण चिरस्मरणीय हो गये हैं अथवा जिन्होंने अपने प्रभावोत्पादक प्राकृतिक सौन्दर्य एवं भव्यतासे लोगोंका ध्यान आकर्षित किया है, वे सामान्यतः सभी हिंदुओंके लिये तीर्थरूप हैं, चाहे उनके धार्मिक सिद्धान्त अथवा सामाजिक रीति-रिवाज अथवा आचरणसम्बन्धी नियम कैसे भी क्यों न हों । इस प्रकार अपने सारे प्राकृतिक एवं अर्जित गौरव तथा अपने अतीत, वर्तमान एवं भविष्यको लिये हुए समग्र भारतवर्षका प्रत्येक हिंदूकी दृष्टिमें एक आध्यात्मिक अर्थ है । प्रत्येक हिंदू बच्चा करीब-करीब अनजानमें ही भारतवर्षको आदरपूर्वक एक सुन्दर एवं महान् सजीव व्यक्ति—अपनी सन्तानोंके प्रति वात्सल्य एवं करुणासे पूर्ण तथा उनकी सब प्रकारके अनिष्टोंसे रक्षा करनेकी शक्ति एवं साधनोंसे सम्पन्न भगवती जगदम्बाके रूपमें स्मरण करना सीख जाता है । भारतके समस्त सम्प्रदायों एवं जातियोंको हिंदूधर्मकी सर्वसंग्राहक भुजाओंके भीतर एक सूत्रमें पिरोने तथा उनके जीवन एवं संस्कृतिको एक विशेष रूप देनेमें यह भाव कितना प्रबल सहायक है—इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है ।

३. हिंदूधर्म और भारतवर्ष

इस प्रकार भारतमाताके प्रति इस सजीव बुद्धिको हिंदूधर्मका शाश्वत एवं नित्य-नूतन शरीर कहा जा सकता है । हिंदूधर्मका व्यापक रूप जो सभी सम्प्रदायोंके हिंदुओंकी बुद्धिमें उतरा हुआ है और जिसका उनके धार्मिक सिद्धान्तों, सामाजिक प्रथाओं एवं दार्शनिक मतवादोंसे कोई सम्बन्ध

नहीं है, उसका स्वरूप है—भारतकी नैतिक, बौद्धिक, ललित कला-सम्बन्धी, सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक सम्पत्तिमें जो कुछ भी अच्छा और महान् है, उदात्त और सुन्दर है तथा महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी है, उसे पवित्र मानना एवं आध्यात्मिक रूप देना। जो कोई भी भारतमाताको अपने जीवनकी अधिष्ठात्री देवीके रूपमें स्वीकार करता है, वह हिंदू कहलानेका न्यायतः अधिकारी है। हिंदूधर्म अपने कलेवरके अंदर इस देशकी तथा बाहरकी सभी सभ्य एवं जंगली जातियों तथा सभी धार्मिक सम्प्रदायों एवं सामाजिक संघटनोंको उनके धार्मिक सिद्धान्तों, भावनाओं एवं आचारोंकी तथा उनके सामाजिक विचारों, रीतियों और रिवाजोंकी विशेषताओंको मिटाये बिना ही हजम कर जानेकी शक्ति रखता है और उसने अतीत कालमें ऐसा किया भी है। शर्त यही है कि वे भारतके गौरवपर गर्व करना सीख जायँ, उनकी दृष्टि वस्तुतः भारतीय हो जाय और वे भारतकी आत्मासे अनुप्राणित हों, जो नैतिक, बौद्धिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक साधनाके विभिन्न रूपोंद्वारा अतिप्राचीन कालसे अपनेको चरितार्थ कर रही है।

यह स्पष्ट है कि भारतको अलग-अलग कई देशोंमें विभाजित करनेकी बात कोई भी हिंदू स्वीकार करना तो दूर रहा, शान्तिपूर्वक सोच भी नहीं सकता। इस विचारसे उसके हृदयको वैसा ही आघात पहुँचता है, जैसा अपनी माताके शरीरको खण्ड-खण्ड करनेके विचारसे पहुँच सकता है। इस विषयमें उसकी भावना उसकी आत्माके स्तरमें गहरी पैठी हुई है। भारतको खण्ड-खण्ड कर देनेका अर्थ है—हिंदू जातिकी मृत्यु। हिंदुओंका अस्तित्व ही भारतकी एकताके भाव—भारत एक सजीव आध्यात्मिक सत्ता है, इस भावके साथ सम्बद्ध है। हिंदू एक दूसरेके साथ एक ही माताके बच्चोंके रूपमें सम्बद्ध हैं, जो उनके लौकिक एवं पारलौकिक जीवनको उदात्त एवं पूर्ण बनानेके लिये उन्हें भौतिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक—सभी प्रकारका भोजन देती है। भारतमाताकी पूजा एवं सम्मान तो अपने-अपने ढंगसे हिंदूधर्मके अन्तर्गत सारे धार्मिक सम्प्रदाय करते हैं और अपनी नैतिक एवं आध्यात्मिक उन्नतिके लिये वे उसीसे प्रेरणा ग्रहण करते हैं। प्रत्येक हिंदूका आध्यात्मिक ध्येय है—अपनी व्यष्टि आत्माका भारतकी आत्माके साथ ऐक्यबोध करना; क्योंकि उसकी दृष्टिमें भारतकी आत्मा विश्वात्माकी अत्यन्त तेजस्वी अभिव्यक्ति है। हिंदुओंकी दृष्टिमें भारत निरा भौतिक देश—भौतिक जगत्का एक क्षुद्रांश ही नहीं है, अपितु विश्वात्माका एक विशिष्ट शरीर है और इस रूपमें वह आध्यात्मिकताका सनातन स्रोत है। इसी देशमें भगवान् प्रत्येक युग-पर्ययमें भ्रान्त एवं मूढ़ जगत्को दिव्य आलोक देने तथा उसे शान्ति, सामञ्जस्य, एकता एवं आनन्दका सच्चा मार्ग दिखलानेके लिये विशेषरूपसे प्रकट होते हैं।

४. हिंदूधर्मकी आत्मा

अब हिंदूधर्मकी आत्माके सम्बन्धमें कुछ शब्द कहूँगा। यह स्पष्ट है कि हिंदूधर्मकी आत्माका मनुष्यकी अपूर्ण भाषामें पूर्णतया निर्देश नहीं किया जा सकता। बौद्धिक ज्ञान, सामाजिक प्रथा, धार्मिक सिद्धान्त आदिमें महान् अन्तर रहते हुए भी हम एक ही आत्माको सभी सम्प्रदायोंके हिंदुओंकी दृष्टि तथा व्यापारको अनुप्राणित एवं आलोकित करते हुए अनुभव कर सकते हैं; परन्तु इन सभी भेदोंमें तथा उनके भीतरसे अपनेको अभिव्यक्त करनेवाली इस अमर आत्माकी तर्कशास्त्रानुमोदित परिभाषा नहीं की जा सकती। अन्य साम्प्रदायिक मजहबोंकी भाँति हिंदूधर्म भी यदि विशिष्ट पैगम्बरोंके नपे-तुले उपदेशोंसे आविर्भूत होता, यदि विशिष्ट आचार्य-परम्पराके द्वारा उपदिष्ट निश्चित सिद्धान्तोंके आधारपर ही इसकी स्थापना हुई होती तो इसकी आत्माका उन उपदेशों अथवा सिद्धान्तोंकी भाषामें निर्देश किया जा सकता था। परन्तु हिंदूधर्ममें ऐसी कोई मान्यताएँ नहीं हैं, जिन्हें उसका प्राण कहा जा सके। उसकी आत्मा किन्हीं ईश्वरके भेजे हुए दिव्य मानवके द्वारा सदाके लिये निर्धारित किन्हीं सिद्धान्तों, किन्हीं नियमों एवं कानूनों, किन्हीं विचारों, भावनाओं तथा क्रियाकलापोंके अंदर बद्ध नहीं है। हिंदूधर्मकी आत्मा स्वयं अपनेको अभिव्यक्त कर रही है—स्वयं उन्नत, स्वयं विकसित हो रही है। युग-युगमें मनुष्योंकी बाहरी परिस्थितिमें तथा उनकी शारीरिक एवं मानसिक योग्यतामें जो कुछ परिवर्तन होता है, उसके अनुकूल हिंदूधर्मकी आत्मा अपनी एकता तथा विशेषताको बिना खोये हुए विचारों, भावनाओं एवं क्रियाकलापोंकी समयोचित धाराओंके रूपमें अपनेको अभिव्यक्त करती आ रही है। यदि हम उसका किन्हीं ऐसे दार्शनिक अथवा धार्मिक सम्प्रदायों, नैतिक नियमों अथवा सामाजिक प्रथाओंकी भाषामें निर्देश करना चाहें, जो उससे निकले हैं और जो उसके द्वारा अनुप्राणित एवं आलोकित हैं, तो हमारी वह परिभाषा निश्चय ही एकदेशीय, अपूर्ण एवं बाह्य होगी।

आत्माकी अपरोक्ष अनुभूति हो सकती है, परन्तु उसका किसी माध्यमके द्वारा निर्देश नहीं किया जा सकता। हाँ, उसकी अभिव्यक्तिके सार्वभौम प्रकारोंका विमर्श करनेसे हम उसकी मानसिक कल्पना अवश्य कर सकते हैं।

(क) जीवन एवं जगत्‌के प्रति आध्यात्मिक दृष्टि

हिंदूधर्मके आत्माकी जो सबसे प्रधान एवं विशिष्ट अभिव्यक्ति मालूम होती है, वह है जीवन एवं जगत्‌के प्रति आध्यात्मिक दृष्टि। हिंदुओंका जीवन मुख्यतया आध्यात्मिक जीवन है। हिंदुओंकी दृष्टिमें मनुष्य विवेकबुद्धि, नैतिक भावना अथवा आध्यात्मिक भावनासे युक्त प्राणी नहीं है; वह तो सूक्ष्मविशिष्ट स्थूलदेहधारी चेतन आत्मा है। आध्यात्मिक स्वरूप ही मनुष्यका वास्तविक स्वरूप माना जाता है; आधिभौतिक स्वरूप, मनोमय स्वरूप, बौद्धिक स्वरूप तथा नैतिक स्वरूप भी उसके अधीन माने जाते हैं। वे उसकी अभिव्यक्तिके क्षेत्र, इस वैचित्र्यमय जगत्‌में उसकी स्वानुभूति एवं चरितार्थताके उपकरण हैं, उसके अन्तर्निहित परम आदर्शके अनुवर्ती हैं। बन्धन और अपूर्णता, राग और द्वेष, शोक और चिन्ता, जन्म और मृत्यु सूक्ष्मविशिष्ट स्थूलशरीरके पीछे लगे हुए हैं। परन्तु आत्मा, जो इस शरीरका स्वामी है और जो इसके अंदर तथा इसके द्वारा स्वरूप-लाभ करता है, शाश्वत एवं अमर है; वह स्वरूपतः शुद्ध, सुन्दर एवं आनन्दमय तथा सब प्रकारके बन्धनों एवं सीमाओंसे परे है। आत्मा इस शरीरको अपना स्वरूप मान बैठा है, इसीसे वह दुःख पाता है। इस सूक्ष्मविशिष्ट स्थूलशरीरकी माँगोंको यदि हम जीवनमें प्रधानता देने लग जायँ तो दुःख अवश्यम्भावी है। आत्माका ध्येय होना चाहिये—इन माँगोंको संयत करना तथा उदात्त बनाना, जीवनकी सब माँगोंको आध्यात्मिक आदर्शके अनुकूल बनाना तथा क्रमशः इस सम्पूर्ण शरीरको चिन्मय बनाना। शरीर, मन एवं इन्द्रियोंका उनके सम्पूर्ण कार्यक्षेत्रोंमें आत्माके द्वारा शासन होना चाहिये, ताकि आध्यात्मिक जीवनमें अन्तर्हित आदर्शकी सिद्धि इसी जगत्‌में हो सके।

इसीलिये हिंदू-संस्कृतिके समस्त विभागोंका धर्मके द्वारा शासन एवं समन्वय होता है। धर्मका वास्तविक अर्थ है—इस शरीरमें आत्माके नित्यशुद्ध, सुन्दर, आनन्दमय एवं चेतन स्वरूपका क्रमशः अनुभव करना। कला और साहित्य, विज्ञान और दर्शन, राजनीति और अर्थशास्त्र, पारिवारिक एवं सामाजिक संघटन, कानून और रिवाज, सम्पत्ति तथा शारीरिक सुविधाओंके उत्पादन एवं विभाजनकी विधियाँ—हिंदू इन सबको सामान्यतः मानवजातिकी आध्यात्मिक साधनाकी विभिन्न शाखाएँ मानता है और हिंदुओंके जीवनमें इन सबका सार्वभौम आध्यात्मिक आदर्शके द्वारा नियन्त्रण होता है। एक सच्चे हिंदू-परिवारमें पति-पत्नीका, माता-पिता और सन्तानका तथा भाइयों और बहिनोंका परस्पर सम्बन्ध एक आध्यात्मिक सम्बन्ध होता है और उन्हें आध्यात्मिक दृष्टिसे ही एक-दूसरेके प्रति अपने कर्तव्यका पालन करना सिखाया जाता है। सामाजिक एवं राजनीतिक क्षेत्रोंमें भी समाज एवं राज्यके अङ्गोंका परस्पर सम्बन्ध आध्यात्मिक होता है और पूर्णताकी प्राप्तिके लिये ही प्रत्येक अङ्गको अपने सामाजिक एवं राजनीतिक कर्तव्योंका पालन करना होता है। अभिमानशून्य-हृदयसे समाज एवं राष्ट्रके हित-साधनमें योग देनेसे, समाजरूपी महान् शरीरकी सेवामें लौकिक स्वार्थोंकी बलि देनेसे ही मनुष्य आध्यात्मिक पूर्णताकी योग्यता प्राप्त करता है—ऐसा माना जाता है।

जड प्रकृतिकी अपेक्षा चेतन आत्माकी, भौतिक उन्नतिकी अपेक्षा आध्यात्मिक उन्नतिकी प्रधानतामें हिंदुओंका जो यह सार्वभौम विश्वास है, वही हिंदू-समाजकी वर्णाश्रम-व्यवस्थाकी आधार-शिला है। हिंदुओंकी सामाजिक व्यवस्थामें ब्राह्मणों एवं संन्यासियोंके शीर्षस्थानीय होनेका यही अर्थ है कि सभी वर्गोंके हिंदू भौतिक उत्कर्षकी अपेक्षा आध्यात्मिक श्रेष्ठताको स्वेच्छासे ऊँचा मानते हैं। देशकी राजनीतिक, नैतिक, सैनिक एवं आर्थिक सत्ताएँ स्वेच्छासे स्वीकार की हुई अकिञ्चनता तथा आध्यात्मिक उत्कर्षकी गौरवमयी महिमाके आगे नतमस्तक होकर उसकी सेवामें लग जाती हैं।

हिंदुओंकी बुद्धि विभिन्न श्रेणियोंके चराचर प्राणियोंसे युक्त इस सम्पूर्ण विश्वको आध्यात्मिक दृष्टिसे देखती है। यह जगत् चिन्मय है, यह भगवान्‌का विराट् देह है। जगत्‌की सारी वस्तुएँ और घटनाएँ भगवान्‌की ही अभिव्यक्तियाँ मानी जाती हैं। भगवान्‌के वास्तविक स्वरूपके सम्बन्धमें दार्शनिकों एवं संतोंमें मतभेद हो सकता है। परन्तु जनसाधारणका हार्दिक विश्वास तो यह है कि जगत्‌का स्वरूप केवल वही नहीं है जो इन्द्रियोंके अनुभवमें आता है, किन्तु उसके पीछे एक चिन्मय आधार है, प्रतीयमान जगत्‌के प्रत्येक पदार्थका एक आध्यात्मिक अर्थ है और जगत्‌में काम करनेवाली सम्पूर्ण शक्तियाँ एक आध्यात्मिक उद्देश्यके द्वारा नियन्त्रित हैं और एक चिन्मय इच्छाशक्तिकी अभिव्यक्तियाँ हैं। सभी हिंदू जगत्‌को अजर-अमर माताके रूपमें नमन करते हैं, जो सम्पूर्ण जीवोंको उत्पन्न करके

उनका प्रेम एवं आनन्दके साथ पोषण करती है। यह प्रतीयमान विश्व, जो देखनेमें असंख्य प्रकारकी वस्तुओं एवं घटनाओंसे बना हुआ है, हिंदुओंकी दृष्टिमें एक सजीव व्यक्ति है, जो असंख्य रूपोंमें अभिव्यक्त एक ही आत्मा, एक ही उद्देश्य, एक ही नियमसे अनुप्राणित एवं ओतप्रोत है। हिंदू अपने हृदयमें विश्वकी महत्ता एवं सौन्दर्यका अनुभव करते हैं तथा उसे माताके रूपमें पूजते हैं। विश्वके चिन्मय स्वरूपकी पूर्ण अनुभूति ही उनके चिन्मय स्वरूपकी पूर्णता है। जीवन एवं जगत्‌के प्रति यह आध्यात्मिक दृष्टि हिंदूधर्मके आत्माकी अभिव्यक्ति है।

(ख) जगत्‌के नैतिक शासनमें विश्वास

हिंदूधर्मके आत्माकी दूसरी महान् अभिव्यक्ति हिंदुओंका यह विश्वास है कि जगत्‌के आभ्यन्तर शासनमें नैतिक विधानकी प्रधानता है। हिंदूमात्र इस नैसर्गिक विश्वाससे अनुप्राणित हैं कि एक न्यायपूर्ण विधान जगत्‌के जीवोंमें सुख-दुःख, सम्पत्ति और दरिद्रता, बल और निर्बलता, विवेक और मूढ़ता, उच्चाकांक्षाओं और नीच प्रवृत्तियों, उदात्त भावनाओं एवं नीच मनोविकारों तथा अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियोंका विभाजन करता है। जीव-जगत्‌में भौतिक कार्य-कारणभाव नैतिक कार्य-कारणभावके सर्वथा अधीन एवं उसीके द्वारा नियन्त्रित है। प्रत्येक व्यक्ति अपने शुभाशुभ कर्मोंका अनिवार्य फल भोगता है। अतः अपने कर्त्तव्यका मार्ग निश्चित करनेमें हिंदू इसी बातका विचार करते हैं कि वह शुभ है अथवा अशुभ, उसका नैतिक परिणाम शुभ होगा या अशुभ, वह शास्त्रोक्त नैतिक नियमोंके अनुकूल है या नहीं; वे केवल अथवा मुख्यतया इस बातका विचार नहीं करते कि भौतिक दृष्टिसे तथा भौतिक कार्य-कारणभावके विचारसे उस कर्मसे तात्कालिक लाभ होगा या हानि। उनके कर्मोंका नियन्त्रण अधिकतर नैतिक विचारसे होता है, लौकिक लाभकी दृष्टिसे नहीं। नैतिक कार्य-कारण-भाव या कर्मके विधानमें विश्वास हिंदूधर्मका एक मुख्य सिद्धान्त है। इस विश्वासका अर्थ यह है कि मनुष्य स्वयं अपने भाग्यका निर्माता है, अकेला वही अपने सुख-दुःखके लिये, अपनी मनोवृत्तियोंके लिये तथा अपने जीवनमें आनेवाले अनुकूल अवसरों तथा विघ्न-बाधाओंके लिये जिम्मेवार है। यह विश्वास उसे यह सिखलाता है कि किसी दूसरेके प्रति जिसके पास अधिक सम्पत्ति हो तथा जो अधिक आराम भोगता हो, अथवा जिसे अधिक पद-प्रतिष्ठा प्राप्त हो, ईर्ष्या, द्वेष या वैरका भाव मत रखो; क्योंकि यह उसके पिछले कर्मोंका फल है। वह उसे अपनी स्थितिको सुधारनेके लिये दूसरोंके साथ कटुतापूर्ण प्रतिस्पर्द्धा करनेसे रोकता है; क्योंकि वह जानता है कि जो कुछ अनुकूलताएँ उसे प्राप्त हैं, यदि वह उनका समुचित उपयोग करे और अपने चरित्रको उन्नत बनाये तो उसे नैतिक विधानके अनुसार ठीक समयपर अपने शुभ कर्मोंका फल अवश्य मिलेगा। जगत्‌के नैतिक शासनमें विश्वासके साथ-साथ तथा उसीसे पूरा-पूरा मेल खाता हुआ हिंदुओंका दूसरा विश्वास पूर्वजन्मके सिद्धान्तमें है। मनुष्यका जीवन उसके वर्तमान भौतिक शरीरके जन्मसे नहीं प्रारम्भ होता और न उस शरीरकी मृत्युके साथ उसका अन्त होता है। कर्मका विधान ही प्रत्येक जीवनका नियन्त्रण करता है। वर्तमान जीवनमें उसे जो योनि, जैसी योग्यता और जो अनुकूलताएँ प्राप्त हैं, वे सब उसके प्राक्तन कर्मोंके नैतिक फल हैं। उसके जो कर्म वर्तमान जीवनमें फलीभूत नहीं होते, वे भावी जन्मोंमें फलीभूत होंगे। प्रत्येक व्यक्तिको आत्मविकास एवं आत्माकी पूर्णताके लिये बार-बार अवसर दिये जाते हैं। यह विश्वास प्रत्येक हिंदूको पूर्णता एवं आनन्दकी आशासे भर देता है और उसे वर्तमान जीवनकी विपत्तियोंको सहन करनेकी शक्ति प्रदान करता है।

(ग) मुक्तिका सिद्धान्त

हिंदूधर्मकी आत्मा एक दूसरे उच्च सिद्धान्तके रूपमें अपनेको अभिव्यक्त करती है। वह यह है कि मानवीय आत्माकी चरम आकाङ्क्षा इतनी ऊँची है कि वह इस परिवर्तनशील जगत्‌के सीमित भोगोंसे पूर्ण नहीं हो सकती तथा उसकी स्थायी पूर्ति कर्मबन्धनसे, प्रतीयमान जगत्‌के सुख-दुःखोंसे तथा सब प्रकारकी सीमाओं एवं उपाधियोंसे सर्वथा छूटनेमें ही है। हिंदुओंके विश्वासके अनुसार सब प्रकारकी सीमाओंको लाँघ जाना, जगत्‌के नैतिक शासनसे और उसके फलस्वरूप जन्म-मृत्यु एवं आपेक्षिक सुख-दुःखोंके चक्रसे भी छूटकर ईश्वरीय पूर्णता—निरतिशय आनन्दकी नित्यस्थिति प्राप्त करना मानवीय आत्माका नैसर्गिक अधिकार है। अपनी संसारयात्राका अन्त करनेके लिये तथा अपने सांसारिक जीवनके परम उद्देश्यको पूर्ण करनेके लिये यह आवश्यक है कि मानवीय आत्मा अपनेको अज्ञान और अहङ्कारसे, इच्छाओं एवं वासनाओंसे, सांसारिक प्रतिष्ठा एवं समृद्धिकी आसक्तिसे, भौतिक दृष्टि एवं दूसरोंके साथ प्रतिस्पर्द्धाके भावसे मुक्त करे तथा निरतिशय ज्ञान, निःस्वार्थ प्रेम, अविचल शान्ति, कल्मषहीन पवित्रता एवं सौम्यता तथा समस्त भूतोंके साथ अभेदबुद्धि सम्पादन करे

और इस प्रकार भगवान्‌के साथ अभेद स्थापित करे । प्रत्येक हिंदूकी सर्वोच्च आकाङ्क्षा यही होती है ।

(घ) भगवान्‌का सर्वग्राही स्वरूप

अन्ततोगत्वा मैं हिंदूधर्मका एक महत्त्वपूर्ण स्वरूप बतला देना चाहता हूँ, जिसके कारण धर्मोन्माद या धर्मान्धता हिंदुओंकी बुद्धिमें गहरी जड़ नहीं जमा सकती । ईश्वर एवं मुक्तिके सम्बन्धमें हिंदुओंकी ऐसी मान्यता है कि जिसमें सभी मतोंका समावेश हो जाता है । हिंदूधर्म अधिकारपूर्वक यह कभी नहीं कहता कि ईश्वरका स्वरूप बस, यही है—इससे भिन्न नहीं; वह इस बातकी घोषणा नहीं करता कि अमुक संत अथवा पैगंबरकी अन्तर्दृष्टि अथवा प्रज्ञाने परात्पर वस्तुके स्वरूपका पूर्णरूपसे आकलन किया है । वह यह भी नहीं कहता कि परमोपास्यरूपसे साकार भगवान्‌की सत्तामें विश्वास करना मानवीय आत्माकी आध्यात्मिक पूर्णताके लिये अनिवार्य है ।

अवश्य ही ऐसा प्रतीत होता है कि ईश्वरके स्वरूपके सम्बन्धमें तीन मुख्य सिद्धान्त हैं, जो हिंदू-संस्कृतिके प्रभावमें जन्मे एवं पले हुए प्रत्येक पुरुष एवं स्त्रीके हृदयमें—चाहे वह विद्वान् हो या अनपढ़—काम करते हैं । पहली मान्यता है निर्विशेष ब्रह्मपरक । इस रूपमें वे ही सब कुछ—एकमात्र तत्त्व माने जाते हैं । एक परमात्माके अतिरिक्त दूसरा परमात्मा नहीं है । केवल इतनी ही बात नहीं, अपितु एक परमात्माके अतिरिक्त और किसीकी सत्ता ही नहीं है । सारी सोपाधिक सत्ताएँ उस एक निरुपाधिक स्वतःसिद्ध सत्ताके आभासमात्र हैं । भीतर-बाहर—सर्वत्र जो कुछ प्रतीत होता है, उसमें एकमात्र उन्हींको देखना—यही सच्चा ज्ञान है । वे निर्गुण हैं, क्योंकि गुणोंके साथ सम्बन्धोंका होना अनिवार्य है और जहाँ सम्बन्ध हैं, वहाँ उनसे सम्बद्ध अन्य वस्तुएँ भी होनी ही चाहिये । जो एक एवं अद्वितीय है, वह निर्गुण, नित्य, अपरिच्छिन्न एवं निर्विशेष तो होगा ही । सभी प्रातिभासिक सत्ताएँ स्वरूपतः उनसे अभिन्न हैं ।

दूसरी मान्यता है परमेश्वरके विषयमें । इस रूपमें वे समस्त जीवों एवं इन्द्रियगोचर पदार्थोंके तथा अनन्त भेदोंसे युक्त अखिल विश्वके अधीश्वर हैं । इस सापेक्षरूपमें वे जगत्‌की सम्पूर्ण परिच्छिन्न एवं अनित्य वस्तुओंके उत्पादक, नियन्ता एवं संहारक हैं । वे अनन्त शक्ति, ज्ञान एवं सौम्यता तथा अनन्त प्रकारके उत्तम गुणोंसे सदा सम्पन्न हैं, जिनके कारण सभी सत्पुरुष गाढ़ भक्ति एवं श्रद्धासे उनकी वन्दना करते हैं । परन्तु उनका कोई निश्चित नाम अथवा रूप नहीं है । वे समस्त नाम-रूपात्मक हैं । चूँकि नाम और रूपकी सहायताके बिना मनुष्यके लिये चिन्तन सम्भव नहीं है, अतः उनका चिन्तन एवं उपासना करनेके लिये मनुष्य किसी भी नाम अथवा रूपका उपयोग कर सकता है । किसी भी नाम या रूपको, जो मनुष्यके चित्तमें जगदीश्वर भगवान्‌के सर्वैश्वर्यपूर्ण स्वरूपकी स्फूर्त्ति कर सकता हो, हिंदू भगवन्नाम अथवा भगवद्रूप मान लेता है । प्रत्येक हिंदूका विश्वास है कि ऐसे सभी रूप अतीन्द्रिय भगवान्‌के इन्द्रियगोचर रूप हैं । भगवान्‌के विषयमें कौन-सी मान्यता कहाँतक पूर्ण है, यह स्वाभाविक ही इस बातपर निर्भर करता है कि उपासकका बौद्धिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास कहाँतक हुआ है ।

तीसरे, सभी हिंदुओंका यह नैसर्गिक विश्वास है कि एक ही परमेश्वर इस जगत्‌में अनेक देवताओंके रूपमें अपनेको अभिव्यक्त किये रहते हैं । इनमेंसे प्रत्येक देवताके सम्बन्धमें यह माना जाता है कि साक्षात् परमेश्वर ही एक विशिष्ट शरीर धारण करके उस रूपमें प्रकट हैं और उसी शरीरमें उनके ऐश्वर्य, ज्ञान, सौम्यता, श्री, सौन्दर्य एवं तेजकी विशिष्ट कलाएँ प्रकट रहती हैं । इन देवताओंके विभिन्न नाम और विभिन्न रूप हो सकते हैं और उनके द्वारा विभिन्न शक्तियों एवं गुणोंका प्रकाश हो सकता है । परन्तु स्वरूपतः वे एक-दूसरेसे अभिन्न हैं; क्योंकि उन सबमें एक ही परमात्माका निवास है तथा एक ही परमात्मा उनमें तथा उनके द्वारा भिन्न-भिन्न लीलाएँ करते हैं । हिंदुओंकी दृष्टिमें भगवान्‌के ये सभी रूप विज्ञानमय एवं चिन्मय जगत्‌में कम-से-कम उतने ही सत्य हैं जितने इस प्रतीयमान जगत्‌में परिच्छिन्न जीव एवं इन्द्रियगोचर पदार्थ सत्य हैं । अतः कोई व्यक्ति अथवा समुदाय अथवा जाति चाहे किन्हीं भी देवताओंकी उपासना करे, अथवा जगदीश्वरकी किसी भी नाम-रूपसे आराधना की जाय, हिंदू इस प्रकारकी उपासना अथवा इस प्रकारके किसी उपासकके प्रति द्वेषका भाव नहीं रख सकते । इसलिये धर्मोन्माद, जो बहुधा नीचातिनीच पाशविक विकारोंकी अपेक्षा अधिक गिरानेवाला एवं भयावह होता है, हिंदुओंके चित्तमें कभी जड़ नहीं पकड़ सकता ।

इस प्रकार हिंदूधर्मकी आत्मा अपने-आपको सार्वभौम धार्मिक दृष्टिके रूपमें तथा ईश्वरसम्बन्धी सभी विवेकपूर्ण मान्यताओं तथा सब प्रकारकी आध्यात्मिक साधनाओंके समादरके रूपमें अभिव्यक्त करती है । अतः हिंदूधर्म ही विश्वधर्मका सच्चा नमूना है ।

आदर्श भक्त हनुमान्

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

[गताङ्कसे आगे]

जब बचे-खुचे राक्षसोंसे रावणको यह खबर मिली कि मन्त्रीके सातों पुत्र और प्रधान-प्रधान प्रायः सभी राक्षस मारे गये, पाँचों सेनापति तथा अक्षयकुमार भी मारा गया, तब उसने इन्द्रजित्‌को उत्साहित करके हनुमान्‌जीको पकड़ लानेके लिये भेजा। मेघनाद और हनुमान्‌जीका बड़ा भयंकर युद्ध हुआ। अन्तमें जब उसने श्रीहनुमान्‌जीको बाँधनेके लिये ब्रह्मास्त्र छोड़ा, तब ब्रह्माजीका सम्मान रखनेके लिये वे उससे बँध गये। उन्होंने सोचा कि राक्षसोंद्वारा पकड़े जानेमें भी मेरा लाभ ही है; क्योंकि इससे मुझे राक्षसराज रावणके साथ बातचीत करनेका अवसर मिलेगा। यह सोचकर वे निश्चेष्ट हो गये। तब राक्षसलोगोंने नाना प्रकारके रस्सोंसे हनुमान्‌जीको अच्छी प्रकार बाँध लिया। ऐसा करनेसे ब्रह्मास्त्रका प्रभाव नहीं रहा। इस प्रकार ब्रह्मास्त्रसे मुक्त हो जानेपर भी परम चतुर हनुमान्‌जीने ऐसा बर्ताव किया मानो इस बातको वे जानते ही न हों।

अध्यात्मरामायणमें लिखा है कि इसके बाद हनुमान्‌जी रावणकी सभामें लाये गये, वहाँ पहुँचकर उन्होंने समस्त सभाके बीचमें बड़ी सज-धजके साथ राजसिंहासनपर बैठे हुए रावणको देखा। हनुमान्‌जी-को देखकर रावणको मन-ही-मन बड़ी चिन्ता हुई। वह सोचने लगा कि यह भयंकर वानर कौन है, क्या साक्षात् शिवजीके गण भगवान् नन्दीश्वर ही तो वानरका रूप धारण कर नहीं आ गये हैं। इस प्रकार बहुत-सी तर्कणा करनेके बाद रावणने प्रहस्तसे कहा—

प्रहस्त पृच्छैनमसौ किमागतः
किमत्र कार्यं कुत एव वानरः।
वनं किमर्थं सकलं विनाशितं
हताः किमर्थं मम राक्षसा बलात्॥
(५।४।५)

‘प्रहस्त! इस वानरसे पूछो, यह यहाँ क्यों आया है? यहाँ इसका क्या काम है? यह आया कहाँसे है? तथा इसने मेरा समस्त बगीचा क्यों नष्ट कर डाला? और मेरे राक्षस वीरोंको बलात्कारसे क्यों मार डाला?’

प्रहस्तने श्रीहनुमान्‌जीसे सारी बातें सत्य-सत्य कहनेके लिये अनुरोध किया, तब आपने बड़ी राजनीतिके साथ उत्तर दिया। मनमें भगवान्‌का स्मरण करके वे कहने लगे—

शृणु स्फुटं देवगणाद्यमित्र हे
रामस्य दूतोऽहमशेषहृत्स्थितेः।
यस्याखिलेशस्य हृताधुना त्वया
भार्या स्वनाशाय शुनेव सद्धविः॥
(५।४।८)

‘देवादिकोंके शत्रु रावण! तुम साफ-साफ सुनो—कुत्ता जिस प्रकार विशुद्ध हविको चुरा ले जाता है, उसी प्रकार तुमने अपना नाश करानेके लिये जिन अखिलेश्वरकी साध्वी भार्याको हर लिया है, मैं उन्हीं सर्वान्तर्यामी भगवान् रामका दूत हूँ।’ वाल्मीकीय रामायणमें इस प्रसङ्गका विस्तृत वर्णन है। वहाँ हनुमान्‌जी कहते हैं—

अब्रवीन्नास्मि शक्रस्य यमस्य वरुणस्य च।
धनदेन न मे सख्यं … … ॥
जातिरेव मम त्वेषा वानरोऽहमिहागतः॥
दर्शने राक्षसेन्द्रस्य तदिदं दुर्लभं मया।
वनं राक्षसराजस्य दर्शनार्थे विनाशितम्॥
ततस्ते राक्षसाः प्राप्ता बलिनो युद्धकाङ्क्षिणः।
रक्षणार्थं च देहस्य प्रतियुद्धा मया रणे॥
अस्त्रपाशैर्न शक्योऽहं बद्धुं देवासुरैरपि।
… … …
राजानं द्रष्टुकामेन मयास्त्रमनुवर्तितम्॥
(सुन्दर० ५०। १२–१७)

'मैं इन्द्र, यम, वरुण आदि अन्य किसी देवताका भेजा हुआ नहीं हूँ, न मेरी कुबेरके साथ मित्रता है। मैं जन्मसे ही वानर हूँ, राक्षसराज रावणको देखनेके लिये ही मैं यहाँ आया हूँ तथा रावणसे मिलनेके उद्देश्यसे ही मैंने वह दुर्लभ बगीचा उजाड़ा है। तुम्हारे बली राक्षस मुझसे लड़नेके लिये गये, तब अपने शरीरकी रक्षाके लिये मैंने उनका मुकाबला किया। देवता या असुर—कोई भी किसी प्रकार मुझे अस्त्रोंके द्वारा बाँध नहीं सकता। राक्षसराजको देखनेके लिये ही मैंने यह बन्धन स्वीकार किया है।'

इसके बाद संक्षेपमें श्रीरामकी समस्त कथाका वर्णन करते हुए, उनकी सुग्रीवके साथ मित्रता होने और वालीके मारे जानेकी सब बातें कहकर यह बतलाया कि 'मैं सीताकी खबर लेनेके लिये आया हूँ।'

इसके बाद आपने बड़ी युक्तियोंसे रावणको भगवान् श्रीरामके बल, पराक्रम, प्रभाव और ऐश्वर्यकी बातें सुनाकर बहुत कुछ समझानेकी चेष्टा की। रामचरितमानसमें श्रीहनुमान्जी कहते हैं—

बिनती करउँ जोरि कर रावन। सुनहु मान तजि मोर सिखावन॥

× × × ×

जाकें डर अति काल डेराई। जो सुर असुर चराचर खाई॥
तासों बयरु कबहुँ नहिं कीजै। मोरे कहें जानकी दीजै॥
प्रनतपाल रघुनायक करुनासिंधु खरारि।
गएँ सरन प्रभु राखिहैं तव अपराध बिसारि॥
राम चरन पंकज उर धरहू। लंकाँ अचल राज तुम्ह करहू॥

× × × ×

सुनु दसकंठ कहउँ पन रोपी। बिमुख राम त्राता नहिं कोपी॥

× × × ×

मोह मूल बहु सूल प्रद त्यागहु तम अभिमान।
भजहु राम रघुनायक कृपासिंधु भगवान॥

भगवान् श्रीरामका प्रभाव दिखलाकर बहुत कुछ समझानेके बाद अध्यात्मरामायणमें भी यही कहा है—

विसृज्य मौर्ख्यं हृदि शत्रुभावनां
भजस्व रामं शरणागतप्रियम्।
सीतां पुरस्कृत्य सपुत्रबान्धवो
रामं नमस्कृत्य विमुच्यसे भयात्॥
(४।४।२३)

'रावण! तुम हृदयमें स्थित शत्रुभावनारूप मूर्खताका त्याग करके शरणागतप्रिय श्रीरामका भजन करो। श्रीसीताजीको आगे करके अपने पुत्र और बन्धु-बान्धवोंसहित भगवान् श्रीरामकी शरणमें जा पड़ो, उन्हें नमस्कार करो। ऐसा करके तुम भयसे मुक्त हो जाओगे।'

इस प्रकार श्रीहनुमान्जीने रावणको उसके हितकी बहुत-सी बातें कहीं, परन्तु उसे वे बहुत ही बुरी लगीं। वह हनुमान्जीपर क्रोध करके कहने लगा—'अरे बंदर! तुम निर्भयकी भाँति कैसे मेरे सामने बक रहे हो! तुम बंदरोंमें नीच हो। मैं अभी तुम्हें मार डालूँगा।' इस प्रकार उसने श्रीहनुमान्जीको बहुत-सी खोटी-खरी बातें कहकर राक्षसोंको हुक्म दिया कि 'इसे मार डालो।' यह सुनते ही बहुत-से राक्षस श्रीहनुमान्जीको मारनेके लिये उद्यत हुए। उस समय विभीषणने रावणको समझाया। रामचरितमानसमें इसका यों वर्णन आता है—

नाइ सीस करि बिनय बहूता। नीति बिरोध न मारिअ दूता॥
आन दंड कछु करिअ गोसाँई। सबहीं कहा मंत्र भल भाई॥

यह सुनकर रावणने कहा—

कपि कें ममता पूँछ पर सबहि कहउँ समुझाइ।
तेल बोरि पट बाँधि पुनि पावक देहु लगाइ॥
पूँछ हीन बानर तहँ जाइहि। तब सठ निज नाथहि लइ आइहि॥
जिन्ह कै कीन्हिसि बहुत बड़ाई। देखउँ मैं तिन्ह कै प्रभुताई॥

अध्यात्मरामायणमें लिखा है—

यह सुनकर हनुमान्जीने मन-ही-मन सोचा कि अब काम बन गया। उधर राक्षसोंने रावणकी आज्ञा पाकर तुरंत ही हनुमान्जीकी पूँछपर बहुत-से वस्त्र घी

और तेलमें भिगो-भिगोकर बाँध दिये, पूँछके अग्रभागमें थोड़ी आग लगा दी और शहरमें फिराकर एवं डोंडी पिटवाकर लोगोंको सुनाने लगे कि 'यह चोर है, इसलिये इसे यह दण्ड दिया गया है।' कुछ दूर जानेपर हनुमान्‌जीने अपने शरीरको संकुचित कर तुरंत ही समस्त बन्धनोंसे मुक्त होकर पर्वताकार रूप धारण कर लिया और समस्त लङ्का ज़ला डाली।

उत्प्लुत्योत्प्लुत्य सन्दीप्तपुच्छेन महता कपिः।
ददाह लङ्कामखिलां साट्टप्रासादतोरणाम्॥
हा तात पुत्र नाथेति क्रन्दमानाः समन्ततः।
व्याप्ताः प्रासादशिखरेऽप्यारूढा दैत्ययोषितः॥
(५।४।४२-४३)

"एक घरसे दूसरे घरपर छलाँग मारते हुए श्रीहनुमान्‌जीने अपनी जलती हुई बड़ी पूँछसे अटारी, महल और तोरणोंके सहित समस्त लङ्काको जला दिया। उस समय दैत्योंकी स्त्रियाँ चारों ओर महलोंके शिखरोंपर चढ़ी हुई 'हा तात!' 'हा पुत्र!' हा नाथ!'—इस प्रकार पुकार-पुकारकर रो रही थीं।"

रामचरितमानसमें लिखा है—

निबुकि चढ़ेउ कपि कनक अटारीं। भईं सभीत निसाचर नारीं॥
× × × ×
जारा नगरु निमिष एक माहीं। एक बिभीषन कर गृह नाहीं॥
× × × ×
उलटि पलटि लंका सब जारी। कूदि परा पुनि सिंधु मझारी॥
पूँछ बुझाइ खोइ श्रम धरि लघु रूप बहोरि।
जनकसुता कें आगे ठाढ़ भयउ कर जोरि॥

इस प्रकार श्रीजानकीजीके पास पहुँचकर श्रीहनुमान्‌जीने उन्हें प्रणाम किया और लौटकर श्रीरामके पास जानेके लिये आज्ञा माँगी। तब माता सीताने कहा कि 'हनुमान्! तुम्हें देखकर मैं अपने दुःखको कुछ भूल गयी थी; अब तुम भी जा रहे हो तो बताओ, अब मैं भगवान् श्रीरामकी कथा सुने बिना कैसे रह सकूँगी?' अध्यात्मरामायणमें उस समय श्रीहनुमान्‌जीके वचन इस प्रकार हैं—

यद्येवं देवि मे स्कन्धमारोह क्षणमात्रतः।
रामेण योजयिष्यामि मन्यसे यदि जानकि॥
(५।५।६)

'देवि! यदि ऐसी बात है और आप स्वीकार करें तो मेरे कंधेपर चढ़ जाइये; मैं एक क्षणमें ही आपको श्रीरामसे मिला दूँगा।'

वाल्मीकीय रामायणमें और भी विस्तृत वर्णन है। वहाँ हनुमान्‌जीके इस प्रस्तावपर श्रीजनकनन्दिनी कहती हैं—'हनुमान्! मैं स्वेच्छासे किसी पुरुषको कैसे स्पर्श कर सकती हूँ। श्रीरामजी वानरोंके साथ यहाँ आकर रावणको युद्धमें मारकर मुझे ले जायँ, इसीमें उनकी शोभा है। इसलिये तुम जाओ, मैं किसी तरह कुछ दिन प्राण धारण करूँगी।'

इसके बाद रामचरितमानसमें हनुमान्‌जीके वचन इस प्रकार हैं—

मातु मोहि दीजे कछु चीन्हा। जैसें रघुनायक मोहि दीन्हा॥

तब सीताने अपनी चूडामणि हनुमान्‌को दी, उसे पाकर हनुमान्‌जी बड़े प्रसन्न हुए। उसके बाद सीताने वह सब प्रसङ्ग भी हनुमान्‌जीको सुनाया, जिस प्रकार जयन्तने कौवेका रूप धारण करके चोंच मारी थी और भगवान् श्रीरामने उसपर क्रोध किया था।

इस प्रकार श्रीहनुमान्‌जी सीताका सन्देश लेकर, उनको प्रणाम करके वहाँसे लौटे। उनके मनमें श्रीरामचन्द्रजीके दर्शनोंकी बड़ी उतावली हो रही थी। इसलिये वे बड़े वेगसे पहाड़पर चढ़ रहे थे। उस समय उनके पैरोंकी धमकसे पर्वतकी शिलाएँ चूर-चूर होती जा रही थीं। सबसे ऊँचे शिखरपर चढ़कर श्रीहनुमान्‌जीने अपना शरीर बढ़ाया और समुद्रसे पार

होकर उत्तरी किनारेपर जानेका विचार किया। पर्वतसे उछलकर वे वायुकी भाँति आकाशमें जा पहुँचे। वह पर्वत हनुमान्जीके पैरोंसे दबाये जानेके कारण बड़ी आवाज करता हुआ अपने ऊपर रहनेवाले वृक्ष और प्राणियोंके सहित जमीनमें धँस गया।

श्रीहनुमान्जी आकाशमार्गसे आगे बढ़ते हुए उत्तर-तटके पास पहुँचकर बड़े जोरसे गर्जे, जिससे समस्त दिशाएँ गूँज उठीं। उसे सुनकर हनुमान्जीसे मिलनेके लिये समस्त वानर उत्साहित हो उठे। जाम्बवान्के हृदयमें बड़ी प्रसन्नता हुई, वे सबसे कहने लगे—'हनुमान्जी सब प्रकारसे अपना कार्य सिद्ध करके आ रहे हैं। अन्यथा इनकी ऐसी गर्जना नहीं हो सकती।'

इतनेमें ही अत्यन्त वेगशाली पर्वताकार श्रीहनुमान्जी महेन्द्र-पर्वतके शिखरपर कूद पड़े। उस समय सभी वानर बड़े प्रसन्न हुए और महात्मा हनुमान्जीको चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये। हनुमान्जीने जाम्बवान् आदि बड़ोंको प्रणाम किया तथा अन्य वानरोंसे प्रेमपूर्वक मिले। संक्षेपमें ही सीताजीसे मिलने और लङ्का जला डालनेका सारा प्रसङ्ग उन लोगोंसे कह सुनाया। वाल्मीकीय रामायणमें इस प्रसङ्गका भी बड़े विस्तारसे वर्णन हुआ है।

समस्त वानरोंके सहित श्रीहनुमान्जी वहाँसे चलकर किष्किन्धा पहुँचे। वहाँ सुग्रीवके मधुवनमें आनन्दपूर्वक सब वानरोंने अङ्गदकी आज्ञा लेकर मधुपान किया। रक्षकोंने आकर वानरराज सुग्रीवके पास इसकी शिकायत की, उस समय लक्ष्मणके पूछनेपर सुग्रीवने कहा—'भाई लक्ष्मण! इन सब बातोंसे मुझे तनिक भी सन्देह नहीं रहा कि हनुमान्ने ही भगवती सीताका दर्शन किया है। वानरश्रेष्ठ हनुमान्में कार्य सिद्ध करनेकी शक्ति, बुद्धि, उद्योग, पराक्रम और शास्त्रीय ज्ञान—सभी कुछ हैं।' इसके अतिरिक्त उन्होंने और भी बहुत-सी ऐसी बातें कहीं, जिनसे श्रीहनुमान्जीका प्रभाव स्पष्ट व्यक्त होता है।

फिर सुग्रीवने तुरंत ही सब वानरोंके साथ हनुमान्जीको अपने पास बुला लिया और वे उनका कुशल-समाचार जानकर बड़े प्रसन्न हुए। सब मिलकर श्रीरामजीके पास आये। उस समय श्रीरामचरितमानसमें हनुमान्जीके महत्त्वका वर्णन करते हुए जाम्बवान्ने कहा है—

नाथ पवनसुत कीन्हि जो करनी। सहसहुँ मुख न जाइ सो बरनी॥

इसके बाद श्रीहनुमान्जीने भगवान्के चरणोंमें प्रणाम किया और श्रीरामने हनुमान्को हृदयसे लगाया। तब हनुमान्जीने कहा—'देवी सीता पातिव्रत्यके कठोर नियमोंका पालन करती हुई शरीरसे कुशल हैं, मैं उनके दर्शन कर आया हूँ।' हनुमान्जीके ये अमृतके समान वचन सुनकर श्रीराम और लक्ष्मणको बड़ा हर्ष हुआ। भगवान्के मनका भाव जानकर हनुमान्जीने उन्हें जिस प्रकार श्रीजानकीजीके दर्शन हुए थे, वह समस्त प्रसङ्ग सुनाकर उनकी दी हुई चूडामणि भगवान्को अर्पण कर दी। उस मणिको लेकर भगवान् श्रीरामने हृदयसे लगा लिया और उसे देख-देखकर विरहमें व्याकुल होने लगे।

रामचरितमानसमें सीताका सन्देश देते हुए हनुमान्जीने श्रीसीताजीके प्रेमकी बात इस प्रकार कही है—

नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन निज पद जंत्रित जाहिं प्रान केहिं बाट॥

अन्तमें यहाँतक कह दिया—

सीता कै अति बिपति बिसाला। बिनहिं कहें भलि दीनदयाला॥

अध्यात्मरामायणमें इसका वर्णन इस प्रकार है। सीताके समाचार सुनाते हुए हनुमान्जी कहते हैं—

अभिज्ञां देहि मे देवि यथा मां विश्वसेद्विभुः ॥
इत्युक्ता सा शिरोरत्नं चूडापाशे स्थितं प्रियम् ।
दत्त्वा काकेन यद्वृत्तं चित्रकूटगिरौ पुरा ॥
तदप्याहाश्रुपूर्णाक्षी कुशलं ब्रूहि राघवम् ।
लक्ष्मणं ब्रूहि मे किञ्चिद् दुरुक्तं भाषितं पुरा ॥
तत्क्षमस्वाज्ञभावेन भाषितं कुलनन्दन ।
तारयेन्मां यथा रामस्तथा कुरु कृपान्वितः ॥

× × ×

ततः प्रस्थापितो राम त्वत्समीपमिहागतः ।
तदागमनवेलायामशोकवनिकां प्रियाम् ॥
उत्पाट्य राक्षसांस्तत्र बहून् हत्वा क्षणादहम् ।
रावणस्य सुतं हत्वा रावणेनापि भाष्य च ॥
लङ्कामशेषतो दग्ध्वा पुनरप्यगमं क्षणात् ।
(५ । ५ । ५२—५९)

"आते समय मैंने सीतासे कहा कि 'देवि ! मुझे कोई ऐसी निशानी दीजिये, जिससे श्रीरघुनाथजी मेरा बिश्वास कर लें ।' मेरे इस प्रकार कहनेपर उन्होंने अपने केशपाशमें स्थित अपनी प्रिय चूडामणि मुझे दी । पहले चित्रकूटपर काकके साथ जो घटना हुई थी, वह सब सुनायी तथा नेत्रोंमें जल भरकर कहा कि श्रीरघुनाथजीसे मेरी कुशल कहना और लक्ष्मणसे कहना—'कुलनन्दन ! मैंने पहले तुमसे जो कुछ कठोर वचन कहे थे, उन अज्ञानवश कहे हुए वचनोंके लिये मुझे क्षमा करना तथा जिस प्रकार श्रीरघुनाथजी कृपा करके मेरा उद्धार करें, वैसी चेष्टा करना ।' उनका यह सँदेसा लेकर उनका भेजा हुआ मैं आपके पास चला आया । आते समय मैंने रावणकी प्यारी अशोकवाटिका उजाड़ दी तथा एक क्षणमें ही बहुत-से राक्षस मार डाले । रावणके पुत्र अक्षयकुमारको भी मारा और रावणसे वार्तालाप कर लङ्काको सब ओरसे जलाकर फिर तुरंत ही यहाँ चला आया ।"

श्रीहनुमान्‌जीसे सीताके सब समाचार सुनकर श्रीराम बड़े प्रसन्न हुए और कहने लगे—

हनुमंस्ते कृतं कार्यं देवैरपि सुदुष्करम् ।
उपकारं न पश्यामि तव प्रत्युपकारिणः ॥
इदानीं ते प्रयच्छामि सर्वस्वं मम मारुते ।
इत्यालिङ्‌ग्य समाकृष्य गाढं वानरपुङ्गवम् ॥
सार्द्रनेत्रो रघुश्रेष्ठः परां प्रीतिमवाप सः ।
(अध्यात्म० ५ । ५ । ६०—६२)

"हनुमान् ! तुमने जो कार्य किया है, वह देवताओंसे भी होना कठिन है । मैं इसके बदलेमें तुम्हारा क्या उपकार करूँ, यह नहीं जानता । मैं अभी तुम्हें अपना सर्वस्व देता हूँ ।' यह कहकर रघुश्रेष्ठ श्रीरामने वानरश्रेष्ठ हनुमान्‌को खींचकर गाढ आलिङ्गन किया । उनके नेत्रोंमें प्रेमाश्रु भर आये और वे प्रेममें मग्न हो गये ।"

श्रीहनुमान्‌जीके बल, पराक्रम, कार्यकौशल, साहस और पवित्र प्रेमका इस प्रकरणमें सभी रामायणोंमें बड़ा ही सुन्दर वर्णन मिलता है । वाल्मीकीय रामायणके युद्धकाण्डमें भी श्रीहनुमान्‌जीके प्रभावका बड़ा सुन्दर वर्णन है; यहाँ उसका दिग्दर्शनमात्र कराया जाता है ।

एक दिन भयानक युद्धमें रावणके प्रधान-प्रधान सेनापति मारे गये, राक्षसलोग हताश हो गये । पुत्र और भाइयोंके मारे जानेका समाचार सुनकर रावणको बड़ी चिन्ता हुई । यह देखकर मेघनादको बड़ा क्रोध आया, वह पिताके सामने अपने बल-पौरुषका वर्णन करके उसे धैर्य देकर भयानक युद्ध करनेके लिये युद्धक्षेत्रमें आया । वहाँ पहुँचकर उसने बड़ा ही घमासान युद्ध किया तथा बहुत-से वानरोंको प्राणहीन कर दिया । उसके ब्रह्मास्त्रके प्रभावसे श्रीराम और लक्ष्मण भी मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़े । बचे हुए प्रधान-प्रधान रीछ और वानर चिन्तामग्न हो गये। तब विभीषणने सबको धैर्य दिया और वे हनुमान्‌को साथ लेकर जहाँ जाम्बवान् पड़ा था, वहाँ गये । वहाँ जाकर विभीषणने जाम्बवान्‌का हाल पूछा, तब

जाम्बवान् अपनी पीड़ाका वर्णन करते हुए कहने लगे कि 'मैं तुम्हें केवल आवाजसे ही पहचान सका हूँ, देखनेकी शक्ति मुझमें नहीं है । तुम सबसे पहले मुझे यह बताओ कि वानरश्रेष्ठ हनुमान्के प्राण बचे हैं या नहीं ।' इसपर विभीषणने कहा—'ऋक्षराज ! आपने श्रीराम और लक्ष्मणको छोड़कर पहले केवल हनुमान्जीकी कुशल कैसे पूछी ? राजा सुग्रीव, अङ्गद तथा श्रीराम और लक्ष्मणपर भी आपने उतना स्नेह प्रकट नहीं किया जितना गाढ़ प्रेम आपका पवनकुमारके प्रति लक्षित हो रहा है । इसका क्या कारण है ?'

तब जाम्बवान् बोले—

शृणु नैर्ऋतशार्दूल यस्मात्पृच्छामि मारुतिम् ॥
अस्मिञ्जीवति वीरे तु हतमप्यहतं बलम् ।
हनूमत्युज्झितप्राणे जीवन्तोऽपि मृता वयम् ॥

'राक्षसराज ! इसका कारण यह है कि यदि वीरवर हनुमान् जीवित हों तो यह मरी हुई सेना भी जी सकती है और यदि उनके प्राण निकल गये हों तो हम जीते हुए भी मृतकतुल्य ही हैं ।'

इसके बाद श्रीहनुमान्जीने उनको प्रणाम किया । हनुमान्की आवाज सुनकर जाम्बवान्में नया जीवन आ गया । उन्होंने हनुमान्को संजीवनी ओषधिके लक्षण बताकर हिमालयपर भेजा । उनके आज्ञानुसार हनुमान्जीने वहाँ जाकर ओषधिकी खोज की, पर ओषधि लुप्त हो जानेके कारण मिली नहीं । तब आप उस पर्वतको ही उखाड़कर ले आये और समस्त वानर-सेनाको पुनः प्राण-दान दिया तथा श्रीराम और लक्ष्मण भी स्वस्थ हो गये, इत्यादि ।

जब रावणद्वारा छोड़ी हुई अमोघ शक्ति श्रीलक्ष्मणजीने विभीषणजीकी रक्षाके लिये अपने ऊपर ले ली और मानुषी लीला करनेके लिये आप मूर्च्छित हो गये, तब रावण श्रीलक्ष्मणके पास जाकर उन्हें उठाने लगा; परन्तु समस्त जगत्के आधारभूत श्रीलक्ष्मणको वह कैसे उठा सकता था । उस समय हनुमान्जीने रावणकी छातीमें एक घूँसा मारा, जिससे रावण घुटनोंके बल पृथ्वीपर गिर पड़ा । इधर हनुमान्जी लक्ष्मणको उठाकर भगवान् श्रीरामके पास ले गये ।

अध्यात्मरामायणमें लिखा है—

ग्रहीतुकामं सौमित्रिं रावणं वीक्ष्य मारुतिः ॥
आजघानोरसि क्रुद्धो वज्रकल्पेन मुष्टिना ।
तेन मुष्टिप्रहारेण जानुभ्यामपतद्भुवि ॥
(६ । ६ । १२-१३)

इस समय भी श्रीहनुमान्जी द्रोण-पर्वतपर ओषधि लानेके लिये गये और उसी तरह पर्वतको उखाड़ लाये थे । इस प्रसङ्गका वर्णन करते हुए सभी रामायणोंमें श्रीहनुमान्जीका अद्भुत बल, पौरुष, बुद्धिकौशल और प्रभाव दिखाया गया है । (क्रमशः)

* * *

थकित जीवन

आज जगका थकित जीवन !
आह, अस्थिर हो उठा है—विजयसे भी दीनतर नर,
और पथको खो चुका है—लक्ष्यहीन प्रमत्त बनकर !
एक है उद्वेल व्यापक विकल सकल समष्टिका मन !
भोग ही उद्देश हैं अब, और वह भी रक्त-लथपथ
फँस चुका है विष-विषमता-कीचमें यह विश्वका रथ ;
आज संग्रहणीय तृण हैं—और हैं उच्छेद्य जन-तन !
सो चुकी है शक्ति उस तव गानकी, हे दिव्य गायक !
किन्तु क्या तुम भी सजग अब हो नहीं, हे जगन्नायक ?
क्यों नहीं तव गूँजती है शंखध्वनि तम-मान-मर्दन !
अब नहीं—तब फिर भला, कब गान-गीता जग सुनेगा ?
पाञ्चजन्य प्रमत्त ही क्या कर-कमलमें सिर धुनेगा ?
'चक्र' चमके हो चमत्कृत, फिर उठे भव, भुवन-मोहन !!

—सुदर्शन सिंह

अमृत और विष

देवता अमृत पीते हैं, वे विष नहीं खाते । इससे वे अमर होते हैं । इसके विपरीत असुर अमृत नहीं पीते, विष ही खाते हैं; इससे वे मर जाते हैं । तब तुम अमृत ही पियो, विष कभी न खाओ ।

अमृत और विष संसारमें दोनों ही वर्तमान हैं । इनमेंसे अमृतको चुनना और विषको त्यागना—यह तुम्हारा काम है । यदि तुम देवता बनना चाहते हो तो अमृत चुनो; किन्तु यदि असुर बनना चाहते हो तो विष चुन लो ।

अमृत कौन-सा है और विष कौन-सा है, यह निर्णय तुम्हारा विवेक करेगा । यदि वह जाग्रत् है तो वह तुम्हें अमृतको अमृत और विषको विष बता देगा; किन्तु यदि वह प्रसुप्त है तो वह तुम्हें अमृतको विष और विषको अमृत बताकर मृत्युकी गोदमें सुला देगा ।

संयम अमृत है और भोग विष—यह जाग्रत् विवेकका निर्णय है । तुम इस निर्णयको जीवनका मार्गदर्शक ध्रुव-तारा बना लो

—अज्ञात

पतित-पावन

(लेखक—श्रीहरिश्चन्द्रजी अष्ठाना 'प्रेम')

पाप किया था मैंने--आज फिर ! और भी कई बार किया था । कितनी ही बार मैंने अपने भगवान्‌के सम्मुख शपथ खायी थी कि अब फिर पाप नहीं करूँगा । कितना ही रोया था और कितनी ही बार क्षमा माँगी थी । कितनी बार प्रार्थना की थी कि 'भगवन् ! मुझमें बल नहीं है; आप कुछ अपना बल दो, जिससे मैं इस अमृत-से लगनेवाले विषकी घूँटसे बच सकूँ । प्रभो ! तुमने कहा भी था कि 'आत्म-संयम करो, मैं बल दूँगा ।' फिर क्यों नहीं दिया ? क्या मैंने ग्रहण नहीं किया ? छिः, कितना मूर्ख हूँ मैं ! भगवन् ! रुष्ट हो गये हो तुम ? मैंने अपने वादोंको ठुकरा दिया, इसीसे—प्रायश्चित्त केवल शब्दोंका एक आडम्बर रहा; नहीं तो, आज फिर क्यों मैंने पाप किया । प्रभो ! मैंने भूल की । आप ही मुझे शरण न देंगे तो मैं कहाँ किसके शरण जाऊँगा ? यदि आपका आसरा खो दूँगा तो सदाके लिये हताश हो जाऊँगा । आपके ही आसरे लुढ़कता-पुढ़कता मैं उस अनन्त चोटीपर पहुँचनेकी आशा रखता हूँ । दयालु हैं न प्रभो, आप ! अत्यन्त दयालु ! दयालु न होते तो थप्पड़ मारकर एक क्षणमें ही ठीक न कर देते ? मेरे पापोंपर आप केवल मुसकरा देते हैं । मेरी पीठपर थपकी देकर कह देते हैं 'वत्स ! फिर प्रयत्न करो ।' आप दीनबन्धु, दीनानाथ हैं--पतित-पावन हैं । प्रभो ! इस बार फिर क्षमा करो--क्षमा तो करोगे ही । प्रभो ! मेरी मूढ़ता मुझसे हर लो--मेरी अज्ञानताका नाश कर दो । मुझे शक्ति दो, जिससे मैं अपनेपर विजय पा सकूँ । नहीं दोगे ? मुझे स्वयं ही प्रयत्न करना होगा । अच्छा प्रभो ! रोशनी तो दिखाओगे ही । मेरा आधार नष्ट न होने पाये, मेरे प्रभो ! मेरी आशा न टूटने पाये, मेरे विश्वासमें ठेस न लगे । यह तो करोगे ही ! आप हँसते हैं--प्रभो ! आज मैं फिर प्रायश्चित्त करता हूँ । आपके चरणोंकी शपथ लेकर कहता हूँ कि अब पाप नहीं करूँगा--मैं सत्य कहता हूँ, विश्वास कीजिये । प्रभो ! कुविचार आते ही मैं आपके सम्मुख आ जाऊँगा--फिर शान्त हुए बिना यहाँसे नहीं हटूँगा । मैं अब प्रतिज्ञा करता हूँ । प्रभो ! मैं बेबस हूँ, मुझे सहारा दीजिये । शत्रु किस मार्गसे आहिस्ता-आहिस्ता कब आ जाता है, पता भी तो नहीं चलता । पाप हो ही जाता है । मैं जानता हूँ, प्रभो ! रोनेसे कुछ लाभ नहीं; पर रोये बिना रहा भी तो नहीं जाता । यही मेरा प्रायश्चित्त है--ग्लानिसे मेरा हृदय फटा जाता है, कितना झूठा हूँ मैं ! वादे करता हूँ तोड़नेके लिये ! बाहरसे कितना साज-बाज—साधु-ज्ञानी, समाजमें मुखिया ! छिः, अंदरसे वास्तवरूप—दुराचारी, पापी, झूठा और अत्यन्त ही दुर्बल !

आज प्रभुके सामने मैं फिर घंटों रोया हूँ ! अपना बोझ तो अवश्य ही हल्का किया, आन्तरिक सूक्ष्मता-सी प्रतीत हुई। कुछ ज्योति दीख पड़ी । पापका प्रायश्चित्त है--भावनासे कर्तव्य ऊँचा है । आज मैंने कर्तव्यपर फिर पैर रखा । 'पतित-पावन'--बस, इसी नामके आसरे तो मैं जी रहा हूँ, इसीके सहारे तो मैं आगे बढ़ूँगा ।

मैंने आज भोग नहीं चढ़ाया, घंटी नहीं बजायी, शङ्ख नहीं छुआ और भगवान्‌की आरती भी नहीं उतारी । हाथ नहीं उठते थे । किन हाथोंसे भगवान्‌की पूजा करूँ ! आँख उठानेका भी साहस नहीं हुआ । जी-भरकर अश्रुजलसे मैंने अपने भगवान्‌के पाद-पद्म पखारे, अपने हृदयकी कालिमा धो डाली, प्रणाम किया, चरण छुए और पूजागृहसे उठा !

सायङ्कालकी धुँधली ज्योतिमें मैं यमुना-तटकी ओर चल दिया--यमुनाकी गोदमें मातृस्नेह-सी सान्त्वना पाता था । इसीसे चला उस ओर--उस शून्य निर्जन स्थानपर, जहाँ प्रकृतिकी प्रत्येक वस्तु ही मूक वाणीसे बातें करती थी। यमुनाकी लहरें थीं--न कहीं अटकती थीं, न कुछ सोचने-विचारनेके लिये ठहरती ही थीं। माँकी गोदमें खेलती हुई बस, आगे ही बढ़ती चली जाती थीं—सागरसे मिलने । अपनी छोटी-सी हस्तीको गुम कर देनेके लिये इतना उत्साह !

एक पीपलके वृक्षके नीचे मैं बैठा-बैठा बीते समयकी उधेड़-बुनमें लगा था । चन्द्रमाका प्रकाश धीरे-धीरे फैलने लगा । चन्द्रमा शान्त था, और प्रतिबिम्ब---लहरोंमें भूला हुआ अत्यन्त विचलित—यह सोचते-सोचते मैं इसी धारा-प्रवाहमें बह चला और भगवान्‌की यादमें पुकार उठा--

प्रभु तुम अपनो बिरद सँभारो ।
अधम-उधारण नाम धरायो, अब मत नाथ ! बिसारो ॥
मोसों अधिक अधम को जगमें, पापिनमें सरदारो ।
ढूँढ-ढूँढ जम अघ अति कीन्हे, गिनत न आवै पारो ॥
मेरे अघको लिखत-लिखावत चित्रगुप्त पचि हारो ।
तोउ न आयो अन्त अघनको, छोड़ी करम बिचारो ॥
अब तो अधम अनेक उधारे, मोसों पल्लो डारो ।
राखो लाज नाम अपनेकी, मत खोओ पतियारो ॥

एक ओर यमुना बह रही थी और एक मैं नेत्रोंसे नीर बहा रहा था—सिसकियाँ बँधी हुई थीं और मैं गाता जा रहा था ।

मैंने देखा--यमुनाकी उस चाँदनी-सी निर्मल रेतीपर भगवान्‌का दिव्यस्वरूप और उनके साथ थे भक्तशिरोमणि नारदजी ! धीरे-धीरे वे मेरी ही ओर बढ़ते आ रहे थे । नारदजीने पूछा—'भगवन् ! संसारमें कितने मर रहे हैं, आप अब दया कीजिये ।' प्रभु बोले—'नारद ! मेरे लिये मरनेवाले कितने हैं, फिर जान देनेवाले तो बहुत हैं--मैं तो प्रसन्न हूँ उससे, जो मेरे लिये जीवित रहता है । अपनी शरणमें आये हुएको मैं चोरोंकी भाँति ढूँढता हूँ । उनके अवगुणोंकी चोरी करता हूँ और उन्हें गुणोंसे भरपूर करता हूँ । वे सोते हैं, मैं जागता हूँ; मैं मणि नहीं चाहता, बलिदान नहीं भोगता, थोड़ा-सा मनुष्यका प्रेम माँगता हूँ । संसारमें मनुष्य प्रेमको लुटाता-बखेरता चलता है; परन्तु मुझे प्रेम देनेवाले कितने हैं, नारद ? फिर भी मनुष्य जीवनकी काली रातोंमें मैं उनके पापकी चोरी करता हूँ—यह मेरा प्रेम है उनके प्रति !' नारदजीकी वीणा गूँज उठी--'धन्य प्रभु !' मेरी ओर दिखाकर प्रभु बोले--नारद ! देखते हो इसको—मैं इससे प्रसन्न हूँ । पाप करता है, पापका प्रायश्चित्त करता है; उठनेका प्रयत्न तो करता है । जो गिरता नहीं, वह चलना ही क्या सीखेगा । इसकी सहायता करो, नारद !

'यह तो पापी है, भगवन्!' नारदजी बोले,'चलिये, साधु-समाजमें चलिये । गोपियोंमें रास कीजिये । कहाँ आ पड़े आप !' भगवान् मुसकरा दिये—बोले, 'नारद ! प्रत्येक पापीका भविष्य है, जैसे हर संतका एक भूत था । ज़रा गहराईसे देखो—अन्तस्तलकी ओर निहारो ! प्रत्येक मानवात्मामें ईश्वरके दर्शन करोगे । यदि नारद ! कोई किसीमें कुछ अच्छाई ही नहीं पाता तो वह सूक्ष्मदर्शी नहीं है । जानते हो, नारद ! एक गिरते हुए मनुष्यके पतित जीवनका ही ध्यान करनेसे हम उसको पापकी जंज़ीरोंसे और जकड़ देते हैं; और यदि हम उसके उस भविष्यका ध्यान करें जब कि वह उन्नतिकी ओर बढ़ा चला जाता होगा, तो हम उसके एक उज्ज्वल भविष्यके लिये सुगम मार्गका द्वार खोल देते हैं । किसीसे घृणा न करना । प्रत्येक जीव ब्रह्ममय है । प्रत्येक आत्मामें विश्वकी ज्योति है । बादलका टुकड़ा सूर्यको कितने समयतक छिपा सकता है, नारद !' नारद हाथ जोड़कर बोले—'सब समझा, प्रभो ! आप करुणासिन्धु, जगत्पति, दीनबन्धु, दीनानाथ—मुख्य तो यह कि आप चोर हैं । बुद्धि हर लेते हैं, मन हर लेते हैं--क्रोध और कामके तो आप डाकू ही हैं । धन्य प्रभो ! आप-से चोरको बड़ा-सा प्रणाम । वीणा बजी—

व्रजे प्रसिद्धं नवनीतचौरं गोपाङ्गनानां च दुकूलचौरम् ।
अनेकजन्मार्जितपापचौरं चौराग्रगण्यं पुरुषं नमामि ॥

भगवान् मुसकरा दिये ।

अबतक मैं उसे दिव्य ज्योतिमें चकाचौंध हुआ सुध-बुध बिसारे सुनता रहा; ज़रा होश ठिकाने हुए तो भगवान्‌को अपने निकट ही पाया। भगवान्‌के चरणोंमें मैंने साष्टाङ्ग दण्डवत् किया। जीनेका साहस हुआ—नेत्रोंमें जल था। हृदयमें अग्नि, मनमें उल्लास था और जीवनमें हर्ष था—आशा थी ।

भगवान्‌ने कहा 'कौन' और धीरे-से उठा लिया ! देखकर मुसकरा दिये । कितना प्रेम था उस मुसकराहटमें, कितनी आत्मीयता—ऐसा लगा जैसे मैं खो गया । फिर सिरपर हाथ रखकर मेरे भगवान् बोले—

बीती ताहि बिसारि दे, आगेकी सुधि लेइ ।
जो बन आवे सहज़में ताहीमें चित देइ ॥

घावको बार-बार खोलकर देखने-कुरेदनेसे घाव अच्छा नहीं होता। मानवजीवनमें भूल तो होती ही है;परन्तु भूल जानेके पश्चात् फिर भूल करना पाप है । उसका प्रायश्चित्त है—दृढ प्रतिज्ञा। 'मेरी शरणमें रह—मेरा स्मरण कर। पाप धुल जायगा । आशा और पूर्ण विश्वाससे प्रयत्न करता रह ।'

करत-करत अभ्यासके जड़मति होत सुजान ।
रसरी आवत जात ते पत्थर परत निसान ॥

'गीताका पाठ निरन्तर करना—मनमें चञ्चलताका प्रवेश हो तो गीता उठा लेना । दिलमें कमजोरी मालूम हो—निराशाके बादल यदि घेर लें तो पढ़ना—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥*
(९ । ३२)

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥†
(१८ । ६६)

बोले—'अच्छा, जा; साहससे फिर जीवन-संग्रामके कार्यक्षेत्रमें कार्य कर ।'

कितना माधुर्य था इन वचनोंमें ! मैंने चरणोंमें सिर नवाया । भगवान्‌ने आशीर्वाद दिया और चल दिये। एक क्षणमें ही तो वे आँखोंसे ओझल हो गये। भगवान्‌की चरण-रज लेकर मैं वहीं यमुना-रेतीपर बैठ गया।—गीताके श्लोकोंको गाता रहा । कितना आनन्द था—कितनी शान्ति थी इनमें । आज भी यही श्लोक मेरे जीवनकी ज्योति बनकर मुझे राह दिखाते हैं—मैं इन्हींके सहारे चलता हूँ । अपने उज्ज्वल भविष्यपर पूर्ण विश्वास है—भगवान्‌की शरणमें जो हूँ।

ऐसे अपूर्व यमुना-तटके वातावरणमें अपना सारा संसार ही बदला हुआ था—सुखमय, शान्तिमय ! माँ यमुने ! तेरी गोदमें कितना आनन्द ! कहीं घुँघरू बज उठे—कौन राधे ! हाँ, श्रीमती ही तो गाती आ रही थीं । विरहसे पीडित कुछ गाती चली आ रही थीं। सखियाँ घेरे हुए कितना ही समझा रही थीं, परन्तु राधाजी प्रीतमकी यादमें बेहाल थीं।

प्रभूके सँग मैं क्यों न गई री ।
सँग जाती, सोना बन जाती,
अब माटीके मोल भई री ॥ प्रभू०॥
जो प्रभु प्राणाधार हमारे,
तिनकी शरण मैं क्यों न गई री ।
प्राणोंके प्राणका छोड़, सखी !
मैं माया-जालमें उलझ रही री ॥ प्रभू०॥
सारको छोड़ असारसे लिपटी,
डग-डगमें गति मंद भई री ।
प्रभु मेरे स्वामी, मैं दासी प्रभूकी,
स्वामी न भूले, मैं भूल रही री ॥ प्रभू०॥

एक सखी बोली—'राधे ! प्रिये ! कन्हैया तो तुमसे आँखमिचौनी खेल रहे हैं। तुम तो क्षणभरमें ही बेचैन हो जाती हो । चलो—आगे चलो ।' राधा बोलीं—

बहुत बेर भइ, प्रभु नहीं आये ।
प्राण बिना सखि ! राधा कैसे जिये—प्रभु तो बिसराये ॥

दूसरी सखी बोली—प्रिये राधे ! तुम तो उनके लिये बावली हो रही हो—वे नहीं आते तो उन्हें हृदयसे निकाल दो । स्वयं ठिकाना ढूँढ़ते आयेंगे ।

एक सखी हँसती हुई बोली—

उरमें माखनचोर गड़े ।
अब कैसे निकसे मेरी आली ! तिरछे आन अड़े ॥

सब ठहाका मारकर हँस दीं—इतनेमें कुछ दूर एक वृक्षपरसे बाँसुरीकी मधुरी तान कानोंमें पड़ी। राधाने चकित

---

* नीच कुलोद्भव अथवा नारी, वणिक् शूद्रतक भी हे पार्थ !
मेरा आश्रय करके पाते उत्तमगति, हों सकल कृतार्थ ॥
(श्रीकृष्णविज्ञान ९ । ३२)

† सब धर्मोंको तजकर आ जा शरण एक मेरी बेरोक ।
मैं तुझको सारे पापोंसे मुक्त करूँगा, मत कर शोक ॥
(श्रीकृष्णविज्ञान १८ । ६६)

होकर उस ओर एक क्षण देखा और बेतहाशा दौड़ीं । मैं देखता ही रह गया ।--राधा ! कितना असीम प्रेम है तुम्हारा । धन्य हो राधे ! मेरा प्रणाम । तेल-बत्ती सुरक्षित रखकर रोशनी नहीं हो सकती, जलना तो पड़ेगा ही ।

मैं उठा । धीरे-धीरे रेतीको उड़ाता हुआ यमुनाके तटपर एक बड़ी-सी शिलापर जा बैठा । लहरोंसे खेलने लगा । सोच रहा था--कितना अभाव है मुझमें । मैं देख रहा था--लहरें सागरसे मिलनेको कितनी उतावली थीं! कितनी प्रगाढ़ प्रीति थी । बही चली जा रही थीं—दिन हो, रात हो, उजेला हो, अँधेरा हो, हर समय एक ही धुन । बस, प्रीतमकी ओर बढ़ते ही जाना । कितना मैला गन्ध साथ लिये बही जा रही थीं, पर किसीको कुछ भान-आभास नहीं । धुनकी पक्की--सागरकी गोदमें न वहाँ छोटी-छोटी लहरें और न इनका लाया हुआ मैला गन्ध । कुछ पता नहीं--सागर सब अपना लेता है । मैं सोच रहा था—यदि इतनी ही प्रीति मेरी प्रभु-चरणोंमें हो और ऐसी ही धुन हो, फिर पाप ? प्रभुके अथाह प्रेमसागरमें फिर मेरे किञ्चित्-से पापकी क्या हस्ती । कुछ नहीं ! बस—

मन-मन्दिरमें प्रीति बसा ले, ओ मूरख ! भोले-भाले ।
दिलकी दुनिया कर ले रोशन, अपने घरमें ज्योति जगा ले॥

यही गुनगुनाता मैं भावावेशमें बह चला और उसी शिलापर निद्रादेवीकी गोदमें लेट गया !

किसीकी आवाज कानोंमें पड़ी--'ओ सोनेवाले ! उठ ।'

'जवानीमें अदमके वास्ते सामान कर, मुसाफ़िर !'
'मुसाफ़िर शबसे उठते हैं जो जाना दूर होता है ।'

मेरी नींद टूट गयी । आँख खुली तो एक मस्त साधुको सामने खड़े पाया । वे हँसकर बोले—

हँसके दुनियामें मरा कोई, कोई रोके मरा ।
ज़िन्दगी पाई मगर उसने, जो कुछ होके मरा ॥
जी उठा मरनेसे वह, जिसकी प्रभूपर थी नज़र ।
जिसने दुनियाहीको पाया, वह सभी खोके मरा ॥

मेरे कंधोंपर ज़ोरकी थपकी दी उन्होंने । कहा--'सुनते हो फ़कीरोंकी बात ?'

यह हाल हुआ उसके फ़कीरोंसे हवेदा ।
आलूदये दुनिया जो है, बेगाना है उसका ॥

जितनी मस्तीसे वे आये थे, उतनी ही मस्तीसे गुनगुनाते हुए चल दिये ।

अपनी खुदी ही परदा है दीदारके लिये ।
वरना कोई नक़ाब नहीं यारके लिये ॥

थोड़ी देर मैं उनकी ओर देखता रहा--फिर उठा; यमुना-जलसे मुँह धोया । पौ फटनेहीवाली थी, मैंने घरकी राह पकड़ी ।

सुबह हुई, दिन हुआ । फिर वही दफ़तर, वही मनुष्यसे मनुष्यका झगड़ा । ज़रके लिये, ज़मीनके लिये वही मुकद्दमे । वही पुराना जीवन; परन्तु अब शान्ति है, राग नहीं है । जीवनमें माधुर्यका आभास है । आशाका दीपक जल उठा है । जब कभी टिमटिमाने लगता है—गीता उठा लेता हूँ, बत्ती जला देता हूँ । दीपकका प्रकाश फिर फैल जाता है । 'पतित-पावन' नामने मुझे बचा लिया । प्रभुके शब्द अब भी मेरे कानोंमें गूँजते हैं । विश्वास दृढ़ है कि उन्नतिके शिखरपर अवश्य ही पहुँचूँगा । इसी आशा और अभिलाषासे जीता हूँ । यह मेरी आस पूरी होगी, न भगवन् ? अवश्य !

युगल-किशोर

(रचयिता—श्रीआत्माराम देवकर)

कहाँ वे विश्व-सुखद चितचोर ?
पीत चौतनी सिरपर सोहत, कुंचित कच घनघोर ।
हँसि-हँसि पूछत फिरत सखन सँग, देखत पुर चहुँ ओर ॥
भाल विशाल तिलकवर, गजमणि माल पुरट पट डोर ।
चितवन मृदुल, मनोहर श्रुति, शुचि कुंडल-द्युति छबि-छोर ॥
कल कपोल, भुजदण्ड शुण्डगज, हरि-शावक कर जोर ।
उमगत प्रेम-पयोनिधि, जहँ-जहँ विहरत युगल-किशोर ॥
मोहक मधुर साँवरी मूरति नाचत लखि मन मोर ।
वारौं कोटि काम मुख-शशि पै थकि-थकि जात चकोर ॥

भगवत्तत्त्व

(लेखक--साधु रामसुखदासजी)

पराकृतनमद्बन्धं परब्रह्म नराकृति ।
सौन्दर्यसारसर्वस्वं वन्दे नन्दात्मजं महः ॥

(श्रीमधुसूदन सरस्वती)

सत-चित-सुखमय अचल सम
रहत सकल थित राम ।
अलख अगुन अरु गुन सहित
नित प्रति करउँ प्रनाम ॥ १ ॥
जनम-करम-अघहर अमल
श्रवन-सुखद गुनगाथ ।
मम तन मन जन बचन सब
तव अरपन जदुनाथ ॥ २ ॥
सुर नर मुनिबर चर अचर
सब कर हित करनार ।
तिन कर गुन गन कछु कहत
लघु जन मति अनुसार ॥ ३ ॥
गुन तव, मन तव, बचन तव,
तन तव, सब तव, ईस ।
सरन सुखद तव पद कमल
इक रति करु बखसीस ॥ ४ ॥

परमात्माका वास्तविक तत्त्व समझनेके लिये न तो कोई दृष्टान्त ठीक तरहसे लागू होता है और न कोई युक्ति ही । परमात्माका निर्गुण, सगुण, निराकार, साकार आदि रूपोंसे जो वर्णन किया जाता है, उससे उनका वास्तविक स्वरूप तो अलग ही रह जाता है, पूरा वर्णन हो ही नहीं पाता । क्योंकि वाणी, मन, बुद्धि और युक्तियाँ सभी कुछ मायिक हैं, प्रकृतिके कार्य हैं और जड़ हैं; अतः वे उस चिन्मय परमात्माको समझानेमें असमर्थ हैं । जितने दृष्टान्त और युक्तियाँ कहीं जाती हैं, वे सब परमात्माके यथार्थ स्वरूपको समझकर मन-बुद्धि उनकी ओर लग जायँ--इसीलिये कही जाती हैं । परमात्माके स्वरूपके वर्णनमें तो देवताओं और ऋषियोंके भी मन-बुद्धि और वाणी कुण्ठित हो जाते हैं, फिर वहाँ साधारण मनुष्योंके मन-बुद्धि कैसे पहुँच सकते हैं ।

यह भगवत्तत्त्वका विषय बहुत ही गूढ और रहस्यमय है । इसे अवश्य जानना चाहिये । मनुष्यजन्म इसीलिये मिला है । इस तत्त्वको जाननेसे ही यह जन्म सार्थक होता है तथा इसे जान लेनेपर मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है, फिर उसे कुछ भी जानना अथवा करना बाकी नहीं रहता—'यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥' (गीता ७ । २) यह विषय इतना दुर्विज्ञेय होनेपर भी भगवान् और महापुरुषोंकी कृपासे सहज ही जाना जा सकता है । उस कृपाकी प्राप्तिके लिये कुतर्क छोड़कर महात्माओंसे सरलतापूर्वक इस तत्त्वको समझनेकी चेष्टा करनी चाहिये तथा उनकी आज्ञाके अनुसार अपने कर्तव्यपालनमें तत्पर हो जाना चाहिये । ऐसा करनेसे ही मनुष्य इस दुर्विज्ञेय तत्त्वको समझकर अपने देवदुर्लभ मानव-जन्मको अनायास ही सफल बना सकता है ।

अब नीचे एक यन्त्र लिखा जाता है । इसकी सहायतासे अपनी वृत्तियोंको भगवान्की ओर लगाकर इस गूढ तत्त्वको कुछ समझा जा सकता है ।

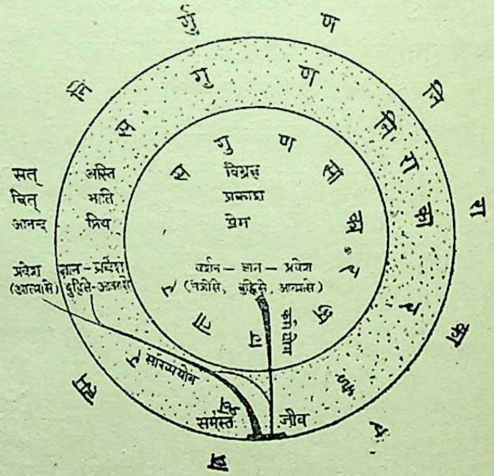

वैसे तो परमात्माके स्वरूप अनन्त हैं; पर समझनेके लिये यहाँ तीन रूप बतलाये जाते हैं--(१) निर्गुण निराकार, (२) सगुण निराकार और (३) सगुण साकार । परमात्मा निर्गुण भी हैं, सगुण भी हैं तथा सगुण-निर्गुण दोनों हैं और वे इन सबसे भिन्न भी हैं ।

परमात्माका निर्गुण तत्त्व मन-वाणीका अविषय है ।

निर्गुण निराकार-तत्त्व

वह सत्-असत्से विलक्षण है । भगवान्ने गीतामें कहा है--

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥
(१३ । १२)

'जो जानने योग्य है तथा जिसको जानकर मनुष्य परमानन्दको प्राप्त होता है, उसको भलीभाँति कहूँगा । वह आदिरहित ब्रह्म न सत् ही कहा जाता है न असत् ही ।'

उस परमात्माको असीम, अपार, अनन्त बतलाया जाता है । पर उसे असीम और आदि-अन्तसे रहित भी देश-कालको स्वीकार करके ही कहा जाता है । किन्तु परमात्मा देश-कालसे परिच्छिन्न नहीं है । वास्तवमें वह देश, काल, वस्तुसे सर्वथा अतीत है । वहाँ वाणी नहीं पहुँच सकती । इसलिये उसे इन नामोंसे कहना देश-कालको लेकर केवल सङ्केतमात्र कराना है । उसे निर्गुण-निराकार कहा जाता है । वहाँ सत्त्व, रज, तम आदि कोई गुण नहीं हैं; उसकी कोई आकृति नहीं है, न कोई नाम ही है । वह तो इन गुणोंसे सर्वथा अतीत और नाम-रूपसे रहित ही है । उसका कोई वर्णन नहीं कर सकता । उसे सच्चिदानन्द कहते हैं--यह लक्षण है । ब्रह्म कहते हैं—यह नाम है । निर्गुण निराकार कहते हैं--यह रूप है । पर यह कैसा रूप है ? अरूपता ही रूप है । इसका इसी तरह वर्णन किया जाता है । वास्तवमें तो निर्गुण-निराकारका वर्णन हो ही नहीं सकता । जो कुछ भी वर्णन किया जाता है, वह सगुणको लेकर ही किया जाता है; केवल लक्ष्य निर्गुणका रहता है । क्योंकि वर्णन करनेकी सामग्रियाँ--इन्द्रिय, वाणी, मन, बुद्धि आदि सब मायिक ही हैं । उस परमात्माके तत्त्वको समझानेके लिये शास्त्रकारोंने दो तरहके विशेषण दिये हैं-- (१) विधायक और (२) निषेधक । विधायक विशेषण उन्हें कहते हैं, जो परमात्माके स्वरूपके साक्षात् द्योतक होते हैं; पर वे भी परमात्माके अनिर्देश्य होनेके कारण तटस्थ ही रह जाते हैं । और निषेधक विशेषण उन्हें कहते हैं जो परमात्मामें आकार, गुण, विनाश, क्रिया, पदार्थ, देश, काल आदिका अभाव बतलाते हैं । परमात्माके सत्, चित्, आनन्द आदि 'विधेय' विशेषण कहे जाते हैं और निराकार, निर्गुण, अव्यय, अविनाशी, अक्रिय, अचल, अद्वैत, अप्रमेय, असीम, अपार, अनादि, अनन्त आदि 'निषेधक' विशेषण कहे जाते हैं । वास्तवमें परमात्माका निर्गुण स्वरूप लक्षण और विशेषणोंसे रहित ही है । यह कहना भी समझनेके लिये ही है; तथापि उस निर्गुण परमात्माके यथार्थ तत्त्वका बुद्धिसे लक्ष्य करानेके लिये ये विशेषण ही काम दे सकते हैं । इनके सिवा बुद्धिको परमात्माके नजदीक पहुँचानेके लिये अन्य कोई सहारा नहीं है । इसीलिये इनका वर्णन किया जाता है ।

सत्-तत्त्व

सत् क्या है--जो हरदम रहे, हर वस्तुमें रहे और हर जगह रहे । भगवान्ने भी कहा है-- 'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः' (गीता २ । २०)-'यह आत्मा अज, नित्य, शाश्वत और पुराण है ।' पर शब्दोंके द्वारा इसे कैसे समझाया जाय । आखिर कोई भी समझायेगा तो हमारी भाषाका आश्रय लेकर ही हमें समझा सकता है । इसी तरह श्रुति भगवती भी देश-कालको लेकर ही उसका लक्ष्य कराती है । श्रुति कहती है—

'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्'-इत्यादि
(छा० उ० २ । १)

एकम्,एव,अद्वितीयम्—इन तीन शब्दोंसे उस परमात्माको क्रमशः सजातीय, विजातीय और स्वगत भेदोंसे रहित बतलाया गया है । मनुष्य सब मनुष्यरूपसे एक होते हुए भी व्यक्तिरूपसे अलग-अलग हैं--यह सजातीय भेद है । मनुष्य और वृक्ष—इनमें सजातीयता नहीं है, ये एक-दूसरेसे भिन्न हैं—यह विजातीय भेद है । 'यह मेरा हाथ है, यह मेरा पैर है' इस प्रकार अवयवोंका भेद स्वगत भेद है । परमात्मा इन सब भेदोंसे रहित है । ये भेद प्रकृतिमें हैं, परमात्मा प्रकृतिसे अत्यन्त परे है ।

जिसमें कोई विकार नहीं, भेद नहीं, जो घटता-बढ़ता नहीं, जिसका कभी क्षरण नहीं होता, जिसका कभी कहीं किञ्चिन्मात्र भी अभाव या परिवर्त्तन नहीं होता, जो सदा सर्वत्र सर्वथा एकरस, एकरूप और परिपूर्ण रहता है और जिसमें कभी तनिक भी विकारकी सम्भावना नहीं होती, वह 'सत्' है ।

उस परमात्माके सिवा जो कुछ भी लौकिक या अलौकिक पदार्थ देखने, सुनने और समझनेमें आते हैं, उन सभीके संबन्धमें विचार करनेपर यह प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि एक समयमें ये वस्तुएँ नहीं थीं और किसी समय ये सब नहीं रहेंगी तथा एक देशमें होते हुए भी दूसरे देशमें उन वस्तुओंका अभाव मालूम होता है एवं वस्तुका भेद तो प्रत्यक्ष है ही । परन्तु सत्-स्वरूप परमात्मामें देश, काल, वस्तुका अत्यन्त अभाव होनेके कारण उसके देश-काल, वस्तुनिमित्तक अभावकी कभी सम्भावना

भी नहीं हो सकती और स्वरूपसे तो वह परमात्मा सत् यानी नित्य विद्यमान है ही। इसीलिये इसे 'सत्' कहते हैं। इस 'सत्' तत्त्वका वर्णन गीताके दूसरे अध्यायके १२, १३, १७, २३, २४, २५; ८ वें अध्यायके २०; १२ वें अध्यायके ३; और १३ वेंके २७ वें श्लोकोंमें विशेषरूपसे किया गया है।

चित्-तत्त्व

'चित्' से चेतन, बोध, ज्ञान, समझना चाहिये। चेतन वह है, जहाँ जडताकी कभी किसी तरह भी जरा भी सम्भावना नहीं है। वह चेतन तो केवल चिन्मय बोधस्वरूप ही है। जड वस्तुका अत्यन्त अभाव होनेके कारण उसमें ज्ञातापनका आरोप भी नहीं हो सकता। ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय, द्रष्टा-दर्शन-दृश्य और प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय आदि भाव भी जिससे स्वाभाविक ही प्रकाशित होते हैं, ऐसा वह चेतन केवल एक दीप्तिमात्र ही है। लोकमें प्राण और चेष्टायुक्त जीवोंको चेतन कहते हैं तथा जिसमें प्राण और क्रिया नहीं होती, उसे जड कहते हैं; पर परमात्मामें क्रिया और प्राणके सम्बन्धसे होनेवाली चेतनता नहीं है, उसमें तो केवल चिति—जाननामात्र ही है। तात्पर्य यह कि वहाँ जडता, अज्ञान, मोह, अन्धकार आदि कुछ भी नहीं हैं; केवल चेतनतामात्र ही है तथा वह भी स्वाभाविक, स्वतः ही है।

उस चित्तत्त्वको समझनेके लिये एक बात कही जाती है। संसारमें दो पदार्थ हैं—(१) दीखनेवाला और (२) देखनेवाला। देखनेवाला चेतन है, दीखनेवाला जड है। देखनेवाला द्रष्टा है, दीखनेवाला दृश्य है। दृश्य दृश्य ही रहता है और द्रष्टा द्रष्टा ही। घट-पट आदि संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाले नेत्र हैं। घट-पटादिमें परिवर्तन होता है, उनका परस्पर भेद भी है; कभी उनका प्रकाश होता है तो कभी अप्रकाश। किन्तु नेत्रोंमें कोई भेद न रहते हुए भी प्रकाशनशक्ति है। नेत्र भी मनके द्वारा प्रकाश्य हैं। नेत्रोंमें भी अन्धता, कमजोरी, तेजी आदि धर्म रहते हैं; उन धर्मोंको मन एकरूपसे देखता है। नेत्रोंके विकारोंसे मनमें विकार नहीं आता; क्योंकि नेत्र प्रकाश्य हैं और मन उनका प्रकाशक है। मनसे भी आगे बुद्धितत्त्व है, वह एक रहता हुआ ही मनकी सङ्कल्प-विकल्प आदि अनेक वृत्तियोंको निर्विकाररूपसे प्रकाशित करता है। इसलिये बुद्धि प्रकाशक और मन प्रकाश्य है। इसी तरह बुद्धिमें भी अज्ञता, विज्ञता आदि अनेक धर्म रहते हैं। अतः बुद्धि दृश्य और आत्मा द्रष्टा है; क्योंकि बुद्धि और बुद्धिगत विज्ञता, अज्ञता आदि धर्म निर्विकार आत्मासे ही प्रकाशित होते हैं और आत्मा किसीसे भी प्रकाशित नहीं होता अर्थात् वह मन, बुद्धि, इन्द्रिय, शरीर आदि किसीका भी विषय नहीं होता। इसलिये वास्तविक द्रष्टा यही है। इसमें भी यह समझनेकी बात है कि आत्माकी द्रष्टा-संज्ञा दृश्यको लेकर ही है। अगर दृश्य न हो तो आत्माकी द्रष्टा-संज्ञा भी नहीं रहती, बल्कि एक चेतनमात्र ही रह जाता है। वह फिर एकदेशीय नहीं रहता; क्योंकि वहाँ दृश्यका—देश, काल, वस्तुका सर्वथा अभाव है। वही परिपूर्ण 'चित्' तत्त्व कहा जाता है। इस चित् तत्त्वका वर्णन गीतामें ५वें अध्यायके २४; ८ वें अध्यायके ८-९; १३ वें अध्यायके १७, ३३ और १५ वें अध्यायके १५ वें श्लोकोंमें मुख्यतासे किया गया है।

आनन्दतत्त्व

परमात्माका आनन्दस्वरूप भी एक अवर्णनीय तत्त्व है। वह निरतिशय सुखस्वरूप है। वह आनन्द सातिशय नहीं है। जिसकी हद होती है, उसे सातिशय कहते हैं। वह आनन्द असीम है। वह अनुभवमें आनेवाला आनन्द नहीं है, वह तो स्वतः ही है। वह परमात्मा स्वतः सुखरूप सुख है। वह सुख मन-वाणीका विषय नहीं है। वह तो ऐसा सुख है, जिसके प्रतिद्वन्द्वी दुःख, अशान्ति, विक्षेप आदिकी कहीं किञ्चिन्मात्र भी सम्भावना नहीं है। मनुष्यको अपने इष्ट पदार्थकी प्राप्ति होनेपर जो मनमें एक प्रकारके आनन्दका अनुभव होता है, उससे अनन्तगुना आनन्द सच्चे वैराग्य, सत्सङ्ग और भजनके अभ्याससे प्राप्त होता है। उसकी अपेक्षा भी परमात्मध्यान-जनित आनन्द बहुत ही विलक्षण है। परन्तु परमात्माका स्वरूपभूत आनन्द तो फिर भी अलग ही रह जाता है। वह आनन्द किसी तरह भी समझा या समझाया नहीं जा सकता। वह आनन्द-ही-आनन्द है। वह आनन्द अपरिमित, असीम, अपार, अनन्त, एकरस, परिपूर्ण, सम, निर्विकार और घन है। उस आनन्दमें अन्य किसीकी किसी भी समय किञ्चिन्मात्र भी गुंजाइश नहीं है, वह केवल आनन्द-ही-आनन्द है। यह कहना भी देश, काल, वस्तुको लेकर ही है। वास्तविक आनन्द तो देश, काल, वस्तुसे सर्वथा असम्बद्ध परमात्म-स्वरूप ही है। इस 'आनन्द' तत्त्वका वर्णन गीतामें ५ वें अध्यायके २१, २४; ६ ठे अध्यायके २१, २७, २८ और १४वें अध्यायके २७ वें श्लोकोंमें मुख्यतासे किया गया है।

सत्-चित्-आनन्दकी एकता

ये सत्, चित्, आनन्द विशेषण परमात्माके द्योतक हैं, वस्तुतः उसके वाचक नहीं और न ये कोई उससे अलग उसके भिन्न-भिन्न विशेषण ही हैं। उसी एक भगवत्तत्त्वको समझानेके लिये ही शास्त्रोंमें ऋषि-महात्माओंने इन विशेषणोंका वर्णन किया है। वह परमात्मतत्त्व हर समय, हर जगह, हर वस्तुमें एकरस अपरिवर्तितरूपसे विद्यमान रहनेके कारण 'सत्' कहा जाता है। वह नित्य विद्यमान सत्तत्त्व ही अपने-आपको जानता है, इसलिये उसे 'चेतन' कहते हैं। वह सत्तत्त्व ही स्वयंप्रकाश एवं स्वयं ज्ञानस्वरूप है, इसलिये चेतन उसका कोई अलग विशेषण नहीं है। वह स्वयं ही चित्स्वरूप है। उसमें दुःख, अशान्ति आदिकी कभी भी सम्भावना नहीं है और उसमें सुखकी कमी अथवा अभाव कभी नहीं होता—इसलिये वही 'आनन्द' है। इसी तरह 'चेतन' तत्त्व ही नित्य विद्यमान रहनेके कारण 'सत्' और परम सुखरूप होनेसे 'आनन्द' है। तथा 'आनन्द' भी एक परिपूर्ण आनन्द है, अतः 'सत्' तत्त्व उससे कोई अलग वस्तु नहीं और वह आनन्द केवल ज्ञानस्वरूप होनेसे 'चेतन' तत्त्व भी उससे कोई अलग चीज नहीं; क्योंकि परमात्माका ज्ञान होनेसे परमशान्ति तत्काल हो जाती है (गीता ४। ३९) तथा किसी भी विषयको हम जितना-जितना समझते हैं, उतना-उतना आनन्द उसे जाननेके साथ ही हमें मिलता जाता है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि जानना और आनन्द–दो चीजें नहीं, एक ही हैं। इसी प्रकार सात्त्विक आनन्द बहुत बढ़ जानेसे उस तत्त्वका ज्ञान भी अपने-आप ही हो जाता है (गीता २। ६५); क्योंकि वह आनन्द ही ज्ञानस्वरूप है। वहाँ उस ज्ञान-आनन्दकी सत्ता होनेसे वह स्वतःसिद्ध तो है ही। एवं परमात्माकी सत्ताका दृढ़ निश्चय हो जानेपर भय, अशान्ति आदि सब मिटकर साधकको परम आनन्द और परम शान्तिकी प्राप्ति हो जाती है और वह शीघ्र ही परमात्माका यथार्थ तत्त्व जान जाता है। इसीलिये सच्चिदानन्दस्वरूपसे निर्गुण निराकार परब्रह्म परमात्माका ही वर्णन किया जाता है।

सगुण निराकार तत्त्व

सच्चिदानन्दघन निर्गुण पूर्णब्रह्म परमात्माके किसी एक अंशमें प्रकृति है, उस प्रकृतिसे युक्त होनेसे ही उस पूर्णब्रह्म परमात्माको सगुण चेतन सृष्टिकर्त्ता ईश्वर कहते हैं। वही आदि पुरुष, पुरुषोत्तम, मायाविशिष्ट ईश्वर आदि नामोंसे कहा जाता है। प्रकृतिको लेकर ही उसमें समस्त जीवोंकी स्थिति है। प्रकृति उस परमात्माकी एक अलौकिक दिव्य शक्ति है। उस शक्तिको लेकर ही परमात्मा सम्पूर्ण सृष्टिका सृजन, पालन और संहार किया करते हैं। वे ही मायापति परमात्मा परिपूर्ण सर्वान्तर्यामी सच्चिदानन्दस्वरूप होते हुए भी वस्तुओंमें अस्ति, भाति और प्रियरूपसे प्रतीत होते हैं।

अग्निकी सत्ता विचार करनेपर सभी जगह सामान्यरूपसे प्रतीत होती है; परन्तु उसमें दाहिका और प्रकाशिका शक्तियाँ समय-समयपर ही प्रकट होती हैं। काठ, दियासलाई आदि सबमें एक सत्ता ही प्रतीत होती है; चन्द्रमामें सत्ता और प्रकाश दोनों प्रत्यक्ष दीखते हैं और सूर्यमें सत्ता, प्रकाश तथा दाह—तीनों प्रकटरूपसे दीखते हैं। इसी प्रकार भूत, भौतिक, जड, चेतन, स्थावर, जङ्गम—सभीमें परमात्माकी सत्ता तो सामान्यरूपसे प्रतीत हो रही है; पर चितिशक्तिका प्रकाश विशेषतासे प्राणियोंमें ही देखा जाता है, जड वस्तुओंमें नहीं। एवं आनन्दकी प्रतीति तो ज्ञानी महात्माओंमें ही विशेषरूपसे प्रकट है, अन्य जगह वह लुप्त ही है। तमोगुणके कार्य जड पदार्थोंमें भी सत्ता तो प्रकट है, किन्तु तमोगुणकी अधिकता होनेके कारण वहाँ चिदंश और आनन्दांश तिरोहित हैं। तथा सजीव प्राणियोंमें सत्ता और चेतनता प्रत्यक्ष दीखते हुए भी अज्ञतारूप तमोगुण और चञ्चलतारूप रजोगुणकी अधिकताके कारण वहाँ आनन्दांश तिरोहित है। जहाँ साधनके द्वारा रजोगुण एवं तमोगुणका अंश दूर कर दिया जाता है, उन महात्मा पुरुषोंमें तो सत्-चित्-आनन्दघन परब्रह्म परमात्माका स्वरूप प्रकटरूपसे विद्यमान है।

अस्ति-तत्त्व

संसारमें जो जड पदार्थोंकी सत्ता दीख रही है, उनका होना सिद्ध हो रहा है, वह उस परमात्मासे ही है। उनको द्योतन करनेवाला सत्-तत्त्व ही पदार्थोंके सम्बन्धसे 'सत्' की अपेक्षा स्थूल होनेसे अस्तिस्वरूपसे कहा जाता है।

संसारमें जितनी भी जड वस्तुएँ हैं, वे सब उत्पन्न होती हैं, बीचमें सत्तारूपसे दीखती हैं, बढ़ती हैं, परिवर्तित होती हैं, क्षीण होती हैं और नष्ट हो जाती हैं। उन उत्पत्ति-विनाशशील सम्पूर्ण वस्तुओंमें जो एक सत्ता प्रतीत होती है, वही अस्तिरूपसे कही जाती है। यहाँ यह समझनेकी बात है कि किसी एक पदार्थको लेकर जो उसकी उत्पत्तिके

बाद उसका अस्तित्व दीखता है, वह तो उस पदार्थके नष्ट होनेपर नष्ट हो जाता है; क्योंकि वह विकार है। पर उन पदार्थोंका अभाव हो जानेपर भी सब वस्तुओंमें सामान्य रीतिसे जो एक होना प्रतीत होता है, वह होना ही असली अस्तिस्वरूप है। वह अस्तिस्वरूप नित्य विद्यमान रहता है। जैसे 'यह मनुष्य है', 'यह पक्षी है', 'यह देश है'—इन सबमें है अनुस्यूत है। वस्त्रमें धागा सर्वत्र एक है। मिट्टीके बरतनोंमें मिट्टी सबमें एक है। इसी तरह यह अस्तित्व सबमें अनुस्यूत है। यह सर्वत्र व्यापक है, परिपूर्ण है। 'यहाँ घड़ा नहीं है' इस प्रकार वस्तुका अभाव होनेपर जहाँ 'नहीं है' ऐसा कहा जाता है, वहाँ भी है तो है ही। ऐसे ही पदार्थोंका अभाव होनेपर भी उनका अस्तित्व वैसे ही वर्तमान रहता है।

इसलिये जो भी उत्पत्ति-विनाशवाली वस्तुएँ हैं, उन सबमें जो सत्ता प्रतीत होती है, वह वस्तुतः उन वस्तुओंका आधार है; पर देखनेमें ऐसा प्रतीत होता है कि वह चीज पहले है और बादमें उसकी सत्ता है। यही तो परमात्माकी दिव्य प्रकृतिकी अविद्या—मायाशक्तिका विलक्षण परदा है।

भाति-तत्त्व

जो सम्पूर्ण वस्तुओंकी प्रतीति होती है, वस्तुएँ दीखती हैं, उनका अनुभव होता है—यह भाति है। भूत, भविष्यत्, वर्तमान—सबमें सत्ता प्रतीत हो रही है। एक पदार्थका होना सत्ता है और उसका दीखना, अनुभव होना भाति है। विदेशकी वस्तुएँ यहाँ नहीं दीखतीं; पर 'वहाँ वह चीज है' इस प्रकार सामान्य भाव तो बुद्धिमें आता ही है तथा साथ ही उन वस्तुओंका अज्ञातपना भी प्रतीत हो ही रहा है। जिससे सम्पूर्ण वस्तुओंकी प्रतीति होती है, वस्तुएँ प्रकाशित होती हैं, उसे भाति-तत्त्व कहते हैं। यह परमात्माका निर्गुण चित्-तत्त्व ही मायाके सम्बन्धसे प्रकाशरूपसे प्रतीत हो रहा है। यह प्रकाश महत्तत्त्वके मिश्रणसे सामान्य ज्ञानस्वरूप है, जिसमें घट-पटादि समस्त पदार्थोंका भान हो रहा है। पदार्थोंका ज्ञान-अज्ञान, लौकिक प्रकाश और अन्धकारका ज्ञान, वस्तुओंका भाव-अभाव, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—इन अवस्थाओंका ज्ञान-अज्ञान—ये सभी जिस एक तत्त्वसे प्रकाशित हो रहे हैं, समझनेमें आ रहे हैं, वह निर्गुण परमात्माका चित्-तत्त्व ही महत्तत्त्वको लेकर भातिरूपसे कहा जाता है। वह भाति-तत्त्व महत्तत्त्वका सम्बन्ध होनेके कारण चित् तत्त्वकी अपेक्षा स्थूल है।

इसमें भी अस्तिकी भाँति वस्तुओंका ज्ञान वस्तुओंके बाद प्रतीत होता है; पर वास्तवमें वस्तुओंके ज्ञान और अज्ञान—दोनोंको ही यह भाति-तत्त्व सामान्यरूपसे निरन्तर प्रकाशित कर रहा है। यही सगुण परमात्माका 'भाति' रूप है।

प्रिय-तत्त्व

संसारके पदार्थ मनको अच्छे लगते हैं, यह अच्छा लगना ही 'प्रिय' है। वस्तुमात्रमें ही एक प्रियता प्रतीत हो रही है; क्योंकि उपयोगी होनेके कारण वह किसी-न-किसीके लिये प्रिय है ही। कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है, चाहे वह निकृष्ट-से-निकृष्ट ही क्यों न हो, जो किसी एकको भी प्रिय न हो। पदार्थोंमें जो यह सुन्दरता, प्रियता और आकर्षण हैं, वे सब वास्तवमें परमात्मासे ही हैं परन्तु दीखते हैं पदार्थोंमें। यही मायाशक्तिके आवरणकी विलक्षणता है। वस्तुतः पदार्थोंमें सुन्दरता, प्रियता और आकर्षण नहीं है। सारे पदार्थ उस परमात्मामें ही अध्यारोपित हैं और उस परमात्माका आनन्दस्वरूप ही मायाशक्तिके साथ मिला हुआ होनेसे पदार्थमात्रमें प्रियरूपसे अनुभूत होता है।

अस्ति, भाति, प्रियकी एकता

संसारमें यावन्मात्र जो भी वस्तुएँ प्रतीत हो रही हैं, उनमें परस्पर भेद होनेपर भी अस्ति, भाति, प्रियरूपका उनमें एक रूपसे अनुभव हो रहा है। वस्तुगत भेद होनेपर भी अस्ति, भाति, प्रिय तत्त्वका भेद नहीं है। वस्तुगत अस्तितत्त्व ही प्रतीत हो रहा है और वास्तवमें वही प्रियरूप है और भाति यानी प्रतीतिमात्रमें जो एक आनन्दकी अनुभूति होती है, यही प्रियता है; वहाँ भी अस्तित्व तो है ही। जहाँ प्रियता है, वहाँ भी प्रतीति और अस्तित्व मौजूद ही हैं। अतः अस्ति, भाति, प्रिय—ये तीनों कोई अलग-अलग विशेषण या शक्तिविशेष नहीं हैं; किन्तु वह सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही प्रकृतिको लेकर अस्ति-भाति-प्रियरूपसे प्रतीत हो रहा है। इसके अन्तर्गत दीखनेवाले नाम-रूप आकारवाले संसारकी उपेक्षा करके इसके आधारस्वरूप सच्चिदानन्दघन परमात्माकी उपासना करनेसे साधक कृतकृत्य हो जाता है।

सगुण-साकारतत्त्व

वे निर्गुण-सगुण सच्चिदानन्दघन सर्वव्यापी पूर्णब्रह्म परमात्मा वास्तवमें जन्म-मृत्युसे सर्वथा रहित होनेपर भी जब आवश्यकता समझते हैं, तब अपनी दिव्य प्रकृतिको लेकर सगुण साकाररूपसे प्रकट होते हैं (गीता ४ । ६)। वे परम दयालु भगवान् अपने प्रेमी भक्तोंका उद्धार करने, उनके इच्छानुसार उन्हें दर्शन देकर, उनके साथ लीला करके उन्हें परम आनन्दित करने, अपने दर्शन आदिके द्वारा लोगोंके समस्त पापोंका समूल विनाश करने, अपने दिव्य गुण, प्रभाव, नाम, रूप, लीला, धाम, तत्त्व और रहस्यका विस्तार करके उनके श्रवण, मनन, पठन, चिन्तन, कीर्तन आदिके द्वारा सम्पूर्ण लोगोंके लिये आत्मोद्धारका मार्ग खोल देने, दुष्ट-दुराचारी मनुष्योंकी बुरी आदत छुड़ाने और उन्हें दण्ड देकर अथवा मारकर पापोंसे मुक्त करनेके लिये लीलाविग्रह धारण करते हैं। वे वेदशास्त्रानुकूल आचरणके द्वारा धर्मका महत्त्व दिखलाकर; अपनी अलौकिक अप्रतिम दिव्य प्रभावशालिनी वाणीके द्वारा धर्मके तत्त्वका उपदेश देकर; सम्पूर्ण मनुष्योंके अन्तःकरणमें वेद, शास्त्र, धर्म, परलोक, महात्मा और अपनेपर श्रद्धा उत्पन्न कराकर; सदाचार, सद्गुण और सद्भावोंमें विश्वास-प्रेम उत्पन्न कराकर तथा लोगोंको उन्हें दृढ़तासे धारण कराकर संसार-सागरसे उनका उद्धार करनेके लिये राम, कृष्ण, नृसिंह आदि स्वरूपोंसे प्रकट होते हैं (गीता ४ । ८)।

भगवान्का अवतार-विग्रह दिव्य, अलौकिक और अद्भुत होता है। वे परमात्मा मायाके वशमें होकर जन्म नहीं लेते किन्तु अपनी विद्यामयी प्रकृतिको अपने वशीभूत करके योगमायासे प्रकट होते हैं। यह भगवान्का प्रकट होना जीवोंके जन्मकी अपेक्षा बहुत ही विलक्षण और दिव्य है। जगत्के सभी चराचर जीव अपने गुण, कर्म, स्वभावके वशमें होकर प्रारब्धानुसार सुख-दुःखादि भोग भोगनेके लिये जन्म लेते हैं; परन्तु परमात्मा किसीके भी वशमें न होकर अपनी इच्छासे केवल जीवोंपर अहैतुकी कृपा करके ही अवतरित होते हैं। इस प्रकार ईश्वरका प्रकट होना भगवान्की लीला है और जीवोंका जन्म लेना दुःखमय है। भगवान् प्रकट होनेमें सर्वथा स्वतन्त्र हैं और जीव जन्म लेनेमें सर्वथा परतन्त्र हैं। ईश्वरके अवतरित होनेमें केवल उनकी अहैतुकी कृपा ही कारण है और जीवोंके जन्ममें हेतु उनके शुभाशुभ कर्म हैं।

विग्रह-तत्त्व

वे सर्वत्र परिपूर्ण सत्स्वरूप परमात्मा ही दिव्य विग्रहरूपमें प्रकट होते हैं। भगवान्का वह दिव्य विग्रह अलौकिक, अद्भुत और विलक्षण है (गीता ४ । ९) और वे परमात्मा अपनी पूर्ण शक्तिको लेकर ही प्रकट होते हैं। उनका साकार विग्रह एक देशमें प्रकट दीखनेपर भी वे वास्तवमें न तो दूसरे देशसे हट जाते हैं और न एक देशमें सीमाबद्ध ही हो जाते हैं। वे जीवकी तरह शरीरधारी नहीं होते। उनके विग्रहमें देह-देहीभाव नहीं है; उनका वह विग्रह दिव्य चिन्मयस्वरूप ही है, जिसका यथार्थ अनुभव भक्तोंको होता है, दूसरोंको नहीं।

चिदानंदमय देह तुम्हारी । बिगत बिकार जान अधिकारी ॥

भगवान्ने भी कहा है—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥
(गीता ७ । २५)

'अपनी योगमायासे छिपा हुआ मैं सबके प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिये यह अज्ञानी जनसमुदाय मुझे जन्मरहित अविनाशी परमात्मा नहीं जानता अर्थात् मुझको जन्मने-मरनेवाला समझता है।'

जीवोंके शरीर तो अनित्य, पापमय, रोगग्रस्त, लौकिक, विकारी, पाञ्चभौतिक और रज-वीर्यसे उत्पन्न होते हैं और परमात्माका वह साकार विग्रह नित्य, पाप-पुण्यसे रहित, अनामय, अप्राकृत, विकाररहित, विशुद्ध, परम दिव्य और प्रेममय होता है। जीवोंकी अपेक्षा तो देवताओंका शरीर भी दिव्य होता है; परन्तु भगवान्का स्वरूप उससे भी अतिदिव्य विलक्षण होता है, जिसका देवतालोग भी दर्शन चाहते हैं (गीता ११ । ५२)।

भगवान् श्रीराम तथा श्रीकृष्ण जब इस धरातलपर अवतरित हुए, उस समय वे माता कौसल्या और देवकीके गर्भसे नहीं उत्पन्न हुए। पहले उनको अपने शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी स्वरूपका दर्शन देकर फिर वे ही माताकी प्रार्थनासे बालकरूपमें लीला करने लगे।

श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

भए प्रगट कृपाला दीनदयाला कौसल्या हितकारी ।
हरषित महतारी मुनि मन हारी अद्भुत रूप बिचारी ॥

लोचन अभिरामा तनु घनस्यामा निज आयुध भुज चारी ।
भूषन बनमाला नयन बिसाला सोभासिंधु खरारी ॥

श्रीभागवतकार लिखते हैं—

इत्युक्त्वाऽऽसीद्धरिस्तूष्णीं भगवानात्ममायया ।
पित्रोः संपश्यतोः सद्यो बभूव प्राकृतः शिशुः ॥
(श्रीमद्भा० १० । ३ । ४६)

'यह कहकर भगवान् श्रीहरि चुप हो गये और माता-पिताके देखते-देखते अपनी मायासे तुरंत ही एक साधारण बालक बन गये ।'

जब भगवान् श्रीराम परमधाम पधारने लगे थे, उस समय वे अन्तर्धान हुए थे; मनुष्य-देहकी भाँति उनका देह यहाँ नहीं रहा, वे उसी शरीरसे वैकुण्ठ धाममें चले गये ।

श्रीवाल्मीकिरामायणमें लिखा है—

पितामहवचः श्रुत्वा विनिश्चित्य महामतिः ।
विवेश वैष्णवं तेजः सशरीरः सहानुजः ॥
(उत्तरकाण्ड ११० । १२)

'महामति भगवान्ने पितामह ब्रह्माजीके वचन सुनकर और तदनुसार निश्चय कर तीनों भाइयोंसहित अपने उसी शरीरसे भगवान् विष्णुके तेजमें प्रवेश किया ।'

इसी तरह भगवान् श्रीकृष्णके लिये भी ऐसे ही वचन मिलते हैं ।

श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

लोकाभिरामां स्वतनुं धारणाध्यानमङ्गलम् ।
योगधारणयाऽऽग्नेय्यादग्ध्वा धामाविशत् स्वकम् ॥
(११ । ३१ । ६)

'धारणा और ध्यानके लिये अति मङ्गलरूप अपनी लोकाभिरामा मोहिनी मूर्तिको योग-धारणाजनित अग्निके द्वारा भस्म किये विना ही भगवान्ने अपने धाममें प्रवेश किया ।'

भगवान्के द्वारा सृष्टिका सृजन, पालन, संहार आदि तथा अपने अवतारलीला आदि जितने भी कर्म होते हैं वे सभी परम दिव्य, उज्ज्वल, प्रकाशमय, आनन्दमय, विशुद्ध एवं अलौकिक होते हैं । भगवान्के समान कर्म साधारण मनुष्य तो कर ही क्या सकता है, ऋषि-मुनि, देवता और महात्मा भी नहीं कर सकते । जीवन्मुक्त और कारक पुरुषोंकी भी क्रियाएँ भगवान्की-जैसी नहीं होतीं । भगवान्के कर्म इन सभीकी अपेक्षा अत्यन्त विलक्षण और अद्भुत होते हैं; वैसे कर्म चाहे कोई कितना भी शक्तिशाली क्यों न हो, नहीं कर सकता । कारण यह है कि औरोंमें शक्ति, विद्या, प्रभाव, ऐश्वर्य आदि परिमित होते हैं और वे भी भगवान्के दिये हुए तथा उस सर्वशक्तिस्रोतके अंशमात्रसे ही प्रकाशित होते हैं । अतः उन सर्वैश्वर्यसम्पन्न अमित प्रभावशाली भगवान्के कर्म उन सबकी अपेक्षा सब प्रकारसे विलक्षण, दिव्य और अद्भुत होते हैं ।

भगवान्में अज्ञता, जडता, भूल, आलस्य, प्रमाद, असावधानी, भ्रम आदि किसी भी दोषकी तनिक भी सम्भावना न होने तथा ज्ञान, चेतनता, सावधानी और विज्ञता आदिके स्वाभाविक ही अविचलरूपसे नित्य विद्यमान रहनेके कारण उनके कर्म अत्यन्त ही उज्ज्वल होते हैं ।

इसलिये उनके लीला-कर्मोंका तथा गीतादि परम रहस्यमय उपदेशोंका संसारमें जितना ही श्रवण, मनन, पठन, कथन, कीर्तन आदिके द्वारा विस्तार किया जाता है, उतना ही प्राणीमात्रके हृदयमें अज्ञान, अन्धकार, जडता आदिका विनाश होकर परम दिव्य प्रकाशमय ज्ञानका साम्राज्य छा जाता है । जब लोगोंके हृदयमें भी उनके लीलाकर्म और उपदेशके श्रवणादिसे इतना दिव्य प्रकाश छा जाता है, तब फिर उनके स्वयं परम दिव्य प्रकाशमय होनेमें तो सन्देह ही क्या है ।

वे प्रेममय भगवान् जिनके साथ जो कुछ भी व्यवहार करते हैं, उसमें निष्काम प्रेम और अहैतुकी कृपा भरी रहनेके कारण जिनके साथ व्यवहार किया जाता है, वे प्राणी परम आह्लादित हो जाते हैं । भगवान् जिस ओर देखते हैं, वह सारी दिशा प्रेम और आनन्दमय बन जाती है । उनकी देखी हुई वस्तुओंमें, उनकी क्रीडा-भूमिमें इतना आनन्द और प्रेम भर जाता है कि हजारों-लाखों वर्षोंतक उनमें लोगोंको परम लाभ होता रहता है । भावुक प्रेमी भक्त उन लीलास्थलियोंमें निवास करते हैं और जन्म-मरणादि सांसारिक दुःखोंसे सर्वथा मुक्त होकर उस परमानन्दका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं ।

जो भगवान्के अनुकूल होकर उनसे प्रेम रखते हुए श्रद्धा-बुद्धिसे उनके दर्शनादि करते हैं, उनके आनन्दलाभमें तो

कहना ही क्या है; जो द्वेषभावसे भगवान्‌से विरोध रखकर विपरीत आचरणोंमें ही लगे रहते हैं, उनको भी भगवान् दयापरवश हो अपने हाथोंसे मारकर अपना परम दिव्य आनन्दमय धाम प्रदान करते हैं। उनकी मारने आदि क्रियाओंमें भी परम कल्याण भरा रहता है; इसलिये उनकी क्रियामात्र ही आनन्दमय है।

लालने ताडने मातुर्नाकारुण्यं यथार्भके ।
तद्वदेव महेशस्य नियन्तुर्गुणदोषयोः ॥

'जिस प्रकार माताकी बालकपर उसके पालन करने और ताड़ना देनेमें—कहीं भी अकृपा नहीं होती, उसी प्रकार गुण-दोषोंपर नियन्त्रण करनेवाले परमेश्वरकी कहीं किसीपर अकृपा नहीं होती।'

भगवान्‌के सभी कर्म निःस्वार्थभावसे होते हैं, उनमें कहीं जरा भी स्वार्थ नहीं होता। केवल प्राणियोंपर अकारण करुणा करनेके लिये ही वे निःस्वार्थभावसे कर्मोंका आचरण किया करते हैं। उनको अपने लिये कुछ भी कर्तव्य अथवा प्राप्तव्य नहीं होता, तो भी वे लोकसंग्रहार्थ—जगत्‌के हितके लिये ही कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं। भगवान् गीतामें स्वयं कहते हैं—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥
(३।२२)

'अर्जुन! मुझे इन तीनों लोकोंमें न तो कुछ कर्तव्य है और न कोई भी प्राप्त करनेयोग्य वस्तु अप्राप्त है, तो भी मैं कर्ममें ही बर्तता हूँ।'

भगवान्‌के कर्मोंमें अपना निजी कोई स्वार्थ या कामना नहीं होती। उनके कर्म निर्मल, पापरहित होते हैं। उनके उपदेश, भाव और आचरणोंका अनुकरण करनेसे पापी-से-पापी भी परम विशुद्ध, तरन-तारन बन जाता है। इसलिये भगवान्‌के कर्म परम विशुद्ध और निर्विकार होते हैं।

भगवान्‌के कर्म अलौकिक होते हैं। जहाँ देवताओंकी भी कल्पना नहीं पहुँच पाती और जो बिल्कुल असम्भव होते हैं, उन कर्मोंको भी वे सम्भव कर दिखाते हैं। उनकी तो माया ही अघटनघटनापटीयसी है; फिर उन मायाके एकमात्र अधीश्वर परमात्माके कर्म सर्वथा अलौकिक हों, इसमें कहना ही क्या है।

जैसे सर्वत्र परिपूर्ण सामान्य अग्नि साधनोंसे साकाररूपमें प्रकट हो जाता है, उसी प्रकार वह सर्वत्र अस्तिरूपसे प्रतीत होनेवाला निर्गुण सत्तत्व ही कृपा और प्रेमके वश होकर दिव्य विग्रहरूपमें प्रकट होता है। [शेष फिर]

* * *

दीनता

मो सम पतित न और गुसाईं !
औगुन मोते अजहुँ न छूटत, भली, तजी अब ताईं ॥
जनम-जनम योंही भ्रमि आयो, कपि-गुंजाकी नाईं।
परसत सीत जात नहिं क्योंहू, लै लै निकट बनाईं ॥
मोह्यो जाइ कनक-कामिनिसों, ममता मोह बढ़ाई।
रसना स्वादु मीन ज्यों उरझी, सूझत नहिं फंदाई ॥
सोवत मुदित भयो सुपनेमें, पाई निधि जो पराई।
जागि पर्‍यो कछु हाथ न आयो, यह जगकी प्रभुताई ॥
परसे नाहिं चरन गिरिधरके, बहुत करी अनिआई।
सूर पतितकों ठौर और नहिं, राखि लेहु सरनाई ॥

——सूरदासजी

परमार्थ-पत्रावली

(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

आपका कृपापत्र प्राप्त हुआ। आप मुझसे अपने संशयकी निवृत्ति कराना चाहते हैं और साथ ही रामचरितमानसके शब्दोंमें यह भी लिखते हैं—'तौ प्रभु हरहु मोर अग्याना।' किन्तु आपको मेरे लिये इस प्रकारके शब्द नहीं लिखने चाहिये। मैं न तो 'प्रभु' कहलानेका अधिकारी हूँ और न किसीका अज्ञान दूर करनेकी ही मुझमें शक्ति है। मैं तो एक साधारण वैश्य-बालक हूँ। अवश्य ही बाल-विनयके रूपमें आपके प्रश्नोंका उत्तर अपनी बुद्धिके अनुसार देनेकी चेष्टा करता हूँ। यदि इससे आपका कुछ भी समाधान हुआ तो मुझे संतोष होगा।

(१) आपने श्रीरामचरितमानसकी प्रशंसामें जो कुछ लिखा, वह ठीक ही है। आपका यह भी लिखना ठीक है कि 'रामचरितमानसके एक-दूसरेसे भिन्न अनेकों संस्करण छप चुके हैं और सभी अपनी-अपनी दृष्टिसे ठीक हैं। ऐसी दशामें किसके सम्बन्धमें यह कहा जाय कि वह ठीक गोस्वामीजीकी प्रतिके अनुसार है?' क्षेपकोंने तो इस प्रश्नको और भी जटिल बना दिया है। आपने लिखा कि 'यदि कोई इन क्षेपकोंके सहित रामचरितमानसका पाठ करता है तो क्या उसे रामचरितमानसके पाठका फल नहीं मिलेगा?' इसका उत्तर यह है कि अपनी समझसे जो शुद्ध-से-शुद्ध क्षेपकरहित संस्करण हो, उसीका पाठ करना चाहिये। यद्यपि क्षेपकसहित पाठ करनेमें कोई हानि तो नहीं प्रतीत होती, तथापि जहाँ अपने मनमें यह निश्चय हो कि अमुक पाठ क्षेपक है, वहाँ उसका पाठ न करना ही अच्छा है; क्योंकि उससे पाठ खण्डित तो हो ही जाता है। क्षेपक-पाठ चाहे शास्त्रसम्मत ही क्यों न हों, वे तुलसीदासजीकी कृति न होनेके कारण रामचरितमानसके अङ्ग तो हो नहीं सकते। ऐसी दशामें जो रामचरितमानसका पाठ करना चाहते हैं, वे रामचरितमानसके बाहरकी चीजका पाठ उसके साथ क्यों करेंगे। आशा है यह बात सहज ही आपकी समझमें आ जायगी।

रही यह बात कि क्षेपक जोड़नेवालोंने न्याय किया या अन्याय, तो इसका भी उत्तर स्पष्ट ही है। जो बात किसी ग्रन्थमें है ही नहीं, उसे अपनी ओरसे उसमें जोड़ देना और उसे ग्रन्थकारकी ही रचना कहकर प्रसिद्ध करना न्यायसंगत कैसे कहा जा सकता है। स्वामीकी दृष्टिमें उनका यह अपराध क्षम्य है या अक्षम्य, इसे तो स्वामी ही जानें; मैं इस विषयमें क्या कह सकता हूँ। इतनी बात इस सम्बन्धमें अवश्य कही जा सकती है कि यदि कोई अपने अपराधको अपराध समझकर उसे प्रभुसे क्षमा कराना चाहे तो उसे वे अवश्य क्षमा कर देते हैं, चाहे उसका वह अपराध दूसरोंकी दृष्टिमें कितना ही अक्षम्य क्यों न हो।

(२) दूसरी बात आपने यह लिखी है कि 'गीता, भागवत तथा रामचरितमानस आदि ग्रन्थोंमें केवल अधिकारियोंको ही इन ग्रन्थोंको सुनानेकी आज्ञा दी गयी है; ऐसी स्थितिमें यत्र-तत्र सर्वसाधारणके सामने इन ग्रन्थोंकी कथा कहना तथा इन्हें मुद्रित एवं प्रकाशित कराके थोड़े मूल्यपर जनसाधारणके हाथों बेचना और इस प्रकार अधिकारी-अनधिकारी——सबके लिये सुलभ बना देना कहाँतक ठीक है और ऐसा करनेसे क्या इन ग्रन्थोंका आदर होनेकी अपेक्षा अनादर अधिक नहीं होता?' आपका ऐसा लिखना शास्त्रीय दृष्टिसे बिल्कुल यथार्थ है। वास्तवमें इन ग्रन्थोंका उपदेश तथा प्रवचन अधिकारी भक्तोंके सामने ही होना चाहिये

और अधिकारी लोगोंके हाथोंमें ही इन ग्रन्थोंको देना भी चाहिये। परन्तु वर्तमान युग नास्तिकताका युग है। इस युगमें इन ग्रन्थोंका साधारण-सा प्रेमी भी इनका अधिकारी ही माना जाना चाहियें। वैसे अधिकारी जिनका शास्त्रोंमें उल्लेख मिलता है, इस युगमें मिलने बहुत ही कठिन हैं।

दूसरी बात यह है कि आप जानते हैं वर्तमान युग प्रचारका युग है। इस समय सब लोग अपना-अपना प्रचार करनेमें लगे हुए हैं। कोई भी इस मामलेमें पीछे नहीं रहना चाहता। ऐसे समयमें जब चारों ओर प्रचारकी धूम मची है, हमलोगोंके लिये इस दिशामें पीछे-रहना बुद्धिमानी नहीं कहा जा सकता। इस युगमें प्रचारके सबसे बड़े साधन हैं—प्रेस और व्याख्यान-मञ्च। सब लोग इन साधनोंका अधिक-से-अधिक उपयोग कर रहे हैं। ऐसी दशामें हमलोग भी यदि उक्त साधनोंका उपयोग न करें तो इसका परिणाम यह होगा कि जगत्‌में दूसरे-दूसरे सिद्धान्तों तथा ग्रन्थोंका तो यथेष्ट प्रचार होगा और हम अपने सिद्धान्तों तथा धर्मग्रन्थोंको जगत्‌के सामने नहीं रख सकेंगे, जिससे हमीं लोग घाटेमें रहेंगे; इसलिये वर्तमान परिस्थितिको देखते हुए इन ग्रन्थोंका जनसाधारणमें प्रचार हानिकारक नहीं कहा जा सकता।

(२)

आपका कृपापत्र मिला। आपने लिखा कि 'मैं अपने एक सम्बन्धीके यहाँ मुनीम हूँ। वे सदासे मेरे साथ बड़े प्रेम और सहानुभूतिका बर्ताव करते रहे हैं। इस समय उनका फर्म घाटेमें है, इसलिये वे अपने एक व्यापारीका रुपया मार लेनेकी नीयतसे मुझसे नकली जमा-खर्च करनेका आग्रह कर रहे हैं; ऐसी स्थितिमें मुझे क्या करना चाहिये?' इस विषयमें मैं तो स्पष्ट कहूँगा कि आपको उनकी बात नहीं माननी चाहिये। उनकी बात न मानकर आप स्वयं ही इस पापसे नहीं बचेंगे, उन्हें भी एक भारी अनर्थसे बचा लेंगे। कैसे आश्चर्यकी बात है! व्यापारी भाई रात-दिन देखते हैं कि अनेकों कार्य-कुशल और लाखोंकी सम्पत्ति रखनेवाले व्यापारी बात-की-बातमें दीवालिये हो जाते हैं और बहुत-से भोले-भाले भाई कर्जसे दबे होनेपर भी कुछ ही दिनोंमें मालामाल हो जाते हैं। यह देखकर भी उन्हें प्रारब्धपर विश्वास नहीं होता और अपनी बुद्धिमानीपर भरोसा करके बेईमानी और धोखेबाजी करनेसे नहीं चूकते। भाई! मिलेगा तो वही' जो तुम्हें मिलना है। व्यर्थ पापका बोझा अपने सिरपर लादकर नरकका सामान क्यों करते हो। यह बात निश्चित है कि धन आदि लौकिक सुख भी पुण्यके ही परिणाम हैं, पापका फल तो सर्वदा दुःख ही है। इसलिये किसी दुःखसे बचनेके लिये पाप करना तो दुःखको और भी बढ़ाना है। ऐसे पापकर्मसे रोकनेमें जो पुरुष सहायता करता है, वह तो सच्चा शुभचिन्तक है। इसलिये इस पापकर्मको न करनेके कारण यदि आपको अपने मालिकके रोषका पात्र भी होना पड़े तो कोई चिन्ता नहीं। आपका कर्त्तव्य उन्हें नरकमें जानेसे बचाना ही है। देखिये, प्रह्लादजीने तो अन्याययुक्त होनेके कारण अपने पिताकी भी बात नहीं मानी; फिर आपको अपने मालिककी ऐसी बात माननेकी सलाह कैसे दी जा सकती है। अतः इस समय मोहको दूर रखकर अपने सच्चे कर्तव्यका ही पालन करना चाहिये।

(३)

आपका कृपापत्र मिला। आपने मुझसे जो प्रश्न पूछे हैं, वे बड़े गूढ़ हैं। अपनी बुद्धिके अनुसार मैं उनके उत्तर नीचे लिखता हूँ। यदि इनसे आपका कुछ सन्तोष हो सका तो बड़ी प्रसन्नताकी बात होगी।

(१) आपने पूछा कि सुषुप्ति-कालमें सच्चिदानन्दांश आत्मा किस रूपमें अपनेको अनुभव करता है, सो उस समय तो अन्तःकरण अपने कारणभूत अज्ञानमें लीन रहता है। आत्माका स्वभाव है कि वह अन्तः-

करणकी वृत्तियोंके अनुरूप ही प्रतीत होता है। अतः अविद्यासे आवृत होनेके कारण उस समय उसका अविद्याविशिष्ट रूप ही अनुभवमें आता है। वह उसका वास्तविक स्वरूप नहीं है।

(२) सम्पूर्ण जगत्का निमित्त और उपादान कारण ब्रह्म ही है, इसमें सन्देह नहीं। अतः आत्मा-अनात्मा—सब कुछ वस्तुतः सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही है। जड जगत् भी परमात्माका ही स्वरूप है। अतः धातु या पत्थरकी प्रतिमाओंमें भगवद्बुद्धि रखकर उनकी उपासना करना उचित ही है। वह भगवत्-साक्षात्कारका एक बड़ा ही सुलभ साधन है।

(३) वैष्णवलोग तो अर्चाविग्रहोंको साक्षात् भगवत्स्वरूप ही मानते हैं। शाङ्कर-सिद्धान्तमें भी भगवद्भक्ति आत्मसाक्षात्कारका एक परम्परा-साधन मानी गयी है। अतः उपासनाका अङ्ग होनेके कारण उस सम्प्रदायमें भी अर्चाविग्रहोंका बड़ा आदर है। इस सम्प्रदायके मठोंमें भी पञ्चदेवोंकी उपासना होती है।

(४) गीताका जो चरम सिद्धान्त है, वह निश्चय ही संसारके सब धर्मोंको मान्य है। वे भी किसी-न-किसी रूपमें उसीको अपना अन्तिम ध्येय मानते हैं। गीताने 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' इस श्लोकसे जिस परधर्मकी चर्चा की है, वह तो आत्माकी अपेक्षासे अनात्मधर्म या एक वर्णकी अपेक्षासे वर्णान्तरका धर्म समझना चाहिये। गीताका चरम सिद्धान्त किसी भी व्यक्ति या जातिका धर्म नहीं है। अतः उसे केवल हिंदू-सनातनधर्मका भी अङ्ग नहीं कह सकते। वह तो वह वस्तु है, जिसके लिये संसारके सारे धर्मपथ प्रवृत्त हुए हैं और जो सभीका गन्तव्य स्थान है। अतः उसे केवल सनातनधर्मका अङ्ग समझकर आपने जो पूछा है कि संसारके अन्य धर्मोंके सामने गीताके इस श्लोकके अनुसार हिंदू सनातनधर्मका क्या स्थान है, वह प्रश्न ही नहीं बनता।

(५) आपका यह विचार बहुत ठीक है कि यह स्थिति मनुष्यको चाहे किसी भी धर्म, सम्प्रदाय या अवस्थामें प्राप्त हो जाय, उसका अवश्य कल्याण हो जायगा। ईसाई, मुसलमान आदि अन्यधर्मावलम्बी भी अपनी पद्धतिके अनुसार उपासना करते हुए यदि इस उच्चतम पदका साक्षात्कार कर लें तो वे अवश्य मुक्त हो जायँगे। इस पदकी प्राप्तिके लिये हिंदू होना ही अनिवार्य नहीं है।

(४)

आपका कृपापत्र मिला। उत्तर देनेमें बहुत देरी हो गयी, कृपया क्षमा कीजियेगा। आपने अपनी शङ्काएँ लिखते हुए बहुत संकोच प्रकट किया है, किन्तु इसमें संकोचकी क्या बात है। मैं तो इसे आपकी बड़ी कृपा मानता हूँ, क्योंकि इसी बहाने मुझे कुछ भगवच्चर्चा करनेका अवसर मिल जाता है। आपने जो-जो बातें पूछी हैं, उनके उत्तर मैं संक्षेपमें नीचे लिखता हूँ—

(१) यह ठीक है कि प्रकटरूपसे भजन करनेकी अपेक्षा गुप्तरूपसे मन-ही-मन भगवान्का नाम जपना अधिक अच्छा है; परन्तु सब लोग ऐसा कर नहीं सकते। जिन्हें मानसिक जपका अभ्यास नहीं होता, वे प्रायः उसमें असफल ही रहते हैं। इसलिये आरम्भमें तो जोर-जोरसे भगवन्नामकीर्तन करना और मालासे जप करना ही आवश्यक है। साधकको दूसरोंके हँसी-मजाक या कहने-सुननेपर ध्यान नहीं देना चाहिये। यह मजाक तो थोड़े दिनोंमें ही समाप्त हो सकता है। कुछ मनचले मित्रलोग भी आरम्भमें ही ऐसा विघ्न उपस्थित करते हैं, पीछे वे भी शान्त हो जाते हैं। जो लोग वास्तवमें भजनकी आवश्यकता

समझते हैं, वे ऐसे विघ्नोंकी परवा नहीं करते । आप मन-ही-मन भगवान्का नाम लेते हैं, यह भी ठीक ही है । यदि भगवद्दर्शनके लिये आपकी लालसा दिनों-दिन बढ़ रही है तो और क्या चाहिये । भगवान्के दर्शनोंके बिना जीवन भार मालूम होने लगे, तभी वे दर्शन देते हैं । अतः इस लालसाको आप खूब बढ़ाइये ।

(२) आप एक साथ ही राम-सीता, राधे-कृष्ण, विष्णु-गोविन्द—इन सब नामोंका जप करते हैं, यह ठीक है । यद्यपि तत्त्वतः भगवान्के विभिन्न रूपोंमें कोई भेद नहीं है, तथापि यदि आप उनका दर्शन करना चाहते हैं तो जिस रूपमें आप उन्हें देखनेकी लालसा रखते हों उसीसे सम्बन्ध रखनेवाले नामोंका जप करना अधिक श्रेयस्कर होगा । उनमें भी यदि केवल एक ही नामको जपा जाय तो और भी अच्छा होगा ।

(५)

मई मासमें ही आपके दो कृपापत्र मिले । मुझमें तो ऐसी कोई सामर्थ्य नहीं है जो किसीको शरणमें ले सकूँ । आपको मेरे लेख प्रिय लगते हैं, यह आपके ही प्रेम और श्रद्धाकी बात है । आपका अनुराग भगवान्के साकारस्वरूपकी अपेक्षा निराकारमें अधिक है, तो इसमें कोई आपत्ति नहीं है; किन्तु निश्चय यही रहना चाहिये कि भगवान् साकार भी हैं और निराकार भी । भगवान्को किसी एक ही रूपमें बाँध देना भूल है । वे तो सब कुछ हैं और सबसे परे भी हैं । अतः उन्हें किसी एक ही रूप या नियममें नहीं बाँधा जा सकता ।

आपने पूछा कि 'भगवान् तो अनन्त स्वतन्त्र परमात्मा हैं, वे प्रेमबन्धनमें कैसे बँधें ?' सो उनका यह अद्भुत स्वभाव है । वे परम स्वतन्त्र होते हुए भी भक्तोंके अधीन हैं और पूर्णकाम होते हुए भी तरह-तरहकी लीलाएँ करते हैं । उनसे प्रेम करनेका एक ही उपाय है, वह यह कि उन्हींके हो जाओ । हम अज्ञानवश अपने सांसारिक सम्बन्धोंमें फँसे हुए हैं और इन मोहमय सम्बन्धोंके कारण ही प्रभुको भूले हुए हैं । यदि किसी प्रकार हमारे अंदर यह विवेक जाग्रत् हो जाय कि संसारके सारे सम्बन्ध हमारे माने हुए और मिथ्या हैं, हमारे सच्चे सखा और सम्बन्धी तो श्रीहरि ही हैं, तो हमारा सारा जीवन उन्हींके लिये हो जायगा । आज हम स्त्री, पुत्र और धनादिके लिये ही अपनी सारी शक्ति नष्ट कर रहे हैं । यदि प्रभुसे नाता जुड़ जाय तो हमारी वह शक्ति उन्हींकी ओर लग जायगी । फिर हम जो कुछ करेंगे उन्हींके लिये करेंगे, जहाँ देखेंगे उन्हींको देखेंगे और अपना सब कुछ उन्हींके चरणोंपर निछावर कर देंगे । इस प्रकार जब हम सर्वत्र भगवद्दृष्टि और भगवत्कर्मके द्वारा श्रीभगवान्को ही आत्मसमर्पण कर देंगे तो प्रभु ही हमारे सर्वस्व हो जायँगे । उनकी तो यह बात ही है कि उन्हें जो जिस प्रकार भजता है, वे भी उसे उसी प्रकार भजते हैं । अतः जब हम उन्हें आत्मसमर्पण करेंगे, तब वे भी अपनेको हमारे अधीन कर देंगे । इस प्रकार अनन्यभावसे प्रभुको आत्मसमर्पण करना ही उन्हें अपने अधीन करनेका प्रधान साधन है, इसीके द्वारा वे अनन्त और स्वतन्त्र परमात्मा भक्तके प्रेमबन्धनमें बँधते हैं ।

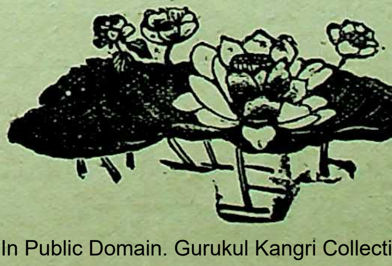

श्रीभगवान्के परिकर-परिच्छद-परिवार और उनका परमपद

(लेखक—पण्डित श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, एम्० ए०, आचार्य, शास्त्री, साहित्यरत्न)

(१)

श्रीभगवान्के परिकर, परिच्छद और परिवारका उल्लेख शास्त्रोंमें मिलता है। परिकरसे तात्पर्य है उस दिव्य आसन अथवा सिंहासनका, जिसपर श्रीभगवान् विराजमान हैं। उपनिषद्में इसे अमितौजा नामक पर्यङ्क कहा गया है। परिकरका अर्थ पर्यङ्क है—

परिकरः पर्यङ्कपरिवारयोः।

(अमरकोष)

श्रीमद्भागवतमें लिखा है कि परतत्त्व भगवान् नारायण अपने जगद्वन्द्य सिंहासनपर विराजते हैं—

अध्यर्हणीयासनमास्थितं परम्।

(२ । ९ । १६)

अनन्त शेषजी भी श्रीभगवान्की विश्रामशय्या हैं—

मृणालगौरायतशेषभोगपर्यङ्क एकं पुरुषं शयानम्।

(श्रीमद्भा० ३ । ८ । २३)

अतः शेष भी उनके परिकर हैं।

ये शेषशायी भगवान् क्षीरसागरमें निवास करते हैं—

स्वभूः स्वयम्भूः प्रथमो महत्यर्णवे।

(यजुर्वेद २३ । ६३)

इन्हीं मधुरमूर्त्ति देवाधिदेवके नाभिह्रदसे विश्वविलासका आद्य कमल विकसित हुआ था—

अजस्य नाभावध्येकमर्पितं
यस्मिन् विश्वा भुवनानि तस्थुः।

(ऋग्वेद १० । ८२ । ६ तथा यजुर्वेद १७ । ३०)

श्रुतिके इस मन्त्रको स्मृति इस प्रकार कह रही है—

अजस्य नाभावध्येकं यस्मिन् विश्वं प्रतिष्ठितम्।
पुष्करं पुष्कराक्षस्य तस्मै पद्मात्मने नमः॥

(महाभारत, शान्तिपर्व ४७ । ५८)

इसी कमलपर परब्रह्म नारायणने सर्वप्रथम ब्रह्माजीको उत्पन्न किया था—

(अ) ब्रह्म ह ब्रह्माणं पुष्करे ससर्ज।

(गोपथब्राह्मण, पूर्वभाग, प्रथम प्रपाठक, मन्त्र १६)

(आ) यन्नाभिजातादरविन्दकोशाद्
ब्रह्माऽऽविरासीद् यत एष लोकः।

(श्रीमद्भा० १० । ४० । १)

(२)

वसनालङ्कारको परिच्छद कहते हैं। श्रीभगवान्को पीताम्बर प्रिय है। किरीट, कुण्डल, केयूर, कङ्कण, कौस्तुभ, काञ्ची, हार, वनमाला, वैजयन्ती, नूपुर आदि उनके परिच्छद हैं।

किरीट, कुण्डल, हार और कौस्तुभका निर्देश इस प्रकार है—

विद्युत्क्षिपन्मकरकुण्डलमण्डनार्ह-
गण्डस्थलोन्नसमुखं मणिमत्किरीटम्।
दोर्दण्डषण्डविवरे हरता परार्ध्य-
हारेण कन्धरगतेन च कौस्तुभेन॥

(श्रीमद्भा० ३ । १५ । ४१)

काञ्ची, कङ्कण, पीताम्बर और वनमालाका निर्देश—

पीतांशुके पृथुनितम्बिनि विस्फुरन्त्या
काञ्च्यालिभिर्विरुतया वनमालया च।
वल्गुप्रकोष्ठवलयं विनतासुतांसे
विन्यस्तहस्तमितरेण धुनानमब्जम्॥

(श्रीमद्भा० ३ । १५ । ४०)

सब ऋतुओंके कुसुमोंसे सुसज्जित, मध्यमें कदम्ब-पुष्पसे विलसित, चरणपर्यन्त आनेवाली मालाको वनमाला कहते हैं—

आपादलम्बिनी माला सर्वर्तुकुसुमोज्ज्वला।
मध्ये स्थूलकदम्बाढ्या वनमालेति कीर्त्तिता॥

नूपुर और अङ्गुलीयकका निर्देश—

विभूषितं मेखलयाङ्गुलीयकै-
र्महाधनैर्नूपुरकङ्कणादिभिः।

(श्रीमद्भा० २ । २ । ११)

केयूरका निर्देश—

स्फुरत्किरीटकेयूरहारकौस्तुभभूषण। ('जितन्ते' स्तोत्र)

मुक्ता, माणिक्य, मरकत, हीरक और इन्द्रनीलमणि—इन पाँचों रत्नोंसे बनी हुई आजानुलम्बिनी माला वैजयन्ती कहलाती है।

किरीटादिकी पुरुषाकृतिमत्ताका निर्देश सात्वतसंहिता आदि पाञ्चरात्रग्रन्थोंमें किया गया है। वे श्रीविग्रहपर अलंकाररूपमें एवं श्रीविग्रहसे पृथक् होकर परिवाररूपमें रहते हैं।

(३)

परिवारका अर्थ है आस-पास रहनेवाले। किरीटादिके अतिरिक्त पाञ्चजन्य, सुदर्शन, कौमोदकी, कमल, शार्ङ्ग, नन्दक आदि श्रीभगवान्के परिवार हैं। शङ्खादिका निर्देश श्रुति इस प्रकार कर रही है—

यत्र तद् विष्णुर्महीयते नराणामधिपतिः, यत्र शङ्खचक्रगदाधरस्मरणं मुक्तिश्च तत्र मामसृतं कृधि।

(ऋक्परिशिष्ट ७। ५। २८)

ये सभी आयुध मूर्त्तिमान् होकर भगवान्की परिचर्यामें निरत रहते हैं—

चक्रादिभिर्मूर्त्तिधरैर्निजायुधैः……
निषेव्यमाणं परमेष्ठिनां पतिम्।

(श्रीमद्भा० १०। ८९। ५७)

ये दिव्य आयुध ज्ञानमय हैं, सच्चिदानन्दरूप हैं, जैसा कि निम्नाङ्कित वचनोंसे सूचित है—

(अ) **कृताञ्जलिं ब्रह्ममयेन कम्बुना**
पस्पर्श बालं कृपया कपोले।

(श्रीमद्भा० ४। ९। ४)

(आ) **खड्गाय विद्यामयविग्रहाय ते**
सुमङ्गलं मङ्गलमस्तु ते विभो।

(विष्णुचित्तकृत सुमङ्गलस्तोत्र)

गरुडजी श्रीभगवान्के प्रिय वाहन हैं—

विष्णोः क्रमोऽसि। (यजुर्वेद १२। ५)

और श्रुति इनका निर्देश इस प्रकार कर रही है—

सुपर्णोऽसि गरुत्माँस्त्रिवृत्ते शिरो गायत्रं चक्षुर्बृहद्रथन्तरे पक्षौ। स्तोम आत्मा छन्दांस्यङ्गानि यजूंषि नाम। साम ते तनूर्वामदेव्यं यज्ञायज्ञियं पुच्छं धिष्ण्याः शफाः।

(यजुर्वेद १२। ४)

इन वचनोंमें गरुडजीके गात्रकी वेदमयता प्रतिपादित है। तैत्तिरीय आरण्यकमें इनकी आराधनाके लिये इनकी गायत्री इस प्रकार दी है—

तत्पुरुषाय विद्महे सुपर्णपक्षाय धीमहि तन्नो गरुडः प्रचोदयात्॥

(१०। १)

विनताके यहाँ इनका अवतार हुआ था, अतएव ये वैनतेय कहलाते हैं। इनको सोमरस समर्पित करते हुए कहा जाता है—

वैनतेय सोमं पिब। (श्रीसूक्त)

इनका दूसरा नाम तार्क्ष्य भी है। इस नामसे इनकी स्तुतिका श्रुतिमें इस प्रकार निर्देश है—

मनसा च तार्क्ष्यं प्रयतपाणिः
शरणं प्रपद्ये स्वस्ति संबाधेष्वभयं नो अस्तु।

(ऋक्परिशिष्ट ४। ३। ७)

गजेन्द्रके उद्धारके लिये श्रीभगवान् गरुडजीपर ही बैठकर गये थे—

छन्दोमयेन गरुडेन समुह्यमान-
श्चक्रायुधोऽभ्यगमदाशु यतो गजेन्द्रः।

(श्रीमद्भा० ८। ३। ३१)

श्रीभगवान्का दूसरा वाहन रथ है, जिसके अश्वप्रवर हैं—शैव्य, सुग्रीव, मेघपुष्प और बलाहक—

तत्राश्वाः शैव्यसुग्रीवमेघपुष्पबलाहकाः।

(श्रीमद्भा० १०। ८९। ४९)

—और सारथि हैं दारुक।

इनके भी भगवदिच्छासे अवतार होते हैं। श्रीकृष्ण-बलरामजीके लिये दो रथ दिव्यधामसे मथुरामें आये थे—

एवं ध्यायति गोविन्द आकाशात् सूर्यवर्चसौ।
रथावुपस्थितौ सद्यः ससूतौ सपरिच्छदौ॥

(श्रीमद्भा० १०। ५०। ११)

इन्हींमेंसे एक दिव्य रथपर विराजमान होकर श्रीकृष्ण-भगवान् अर्जुनको साथ लेकर श्रीभूमापुरुषके लोकमें गये थे—

इति सम्भाष्य भगवानर्जुनेन सहेश्वरः।
दिव्यं स्वरथमास्थाय प्रतीचीं दिशमाविशत्॥

(श्रीमद्भा० १०। ८९। ४७)

पुनः यह रथ द्वारकासे दिव्यधामको ही चला गया था—

इति ब्रुवति सूते वै रथो गरुडलाञ्छनः।
खमुत्पपात राजेन्द्र साश्वध्वज उदीक्षतः॥
तमन्वगच्छन् दिव्यानि विष्णुप्रहरणानि च।

(श्रीमद्भा० ११। ३०। ४४-४५)

परिवारमें पार्षद भी हैं। इनकी संख्या सोलह है, जैसा कि श्रीमद्भागवतके—

प्रतीच्यां दिश्यभूदाविः शङ्खचक्रगदाधरः।

आत्मतुल्यैः षोडशभिर्विना श्रीवत्सकौस्तुभौ ।
पर्युपासितमुन्निद्रशरदम्बुरुहेक्षणम् ॥
(६ । ९ । २८-२९)

—इस वचनसे विदित होता है । इन पार्षदोंका आकार भगवत्तुल्य है । अन्तर केवल श्रीवत्स और कौस्तुभका है । ये दोनों चिह्न श्रीभगवान्‌के ही होते हैं, पार्षदोंके नहीं । इनके नाम ये हैं--

विष्वक्सेन, जय, विजय, बल, प्रबल, नन्द, सुनन्द, भद्र, सुभद्र, चण्ड, प्रचण्ड, कुमुद, कुमुदाक्ष, शील, सुशील और सुषेण ।

ये सब नित्यमुक्त हैं । इनका पारिभाषिक नाम सूरि है । श्रुतिमें इनका निर्देश इस प्रकार है--

तद् विष्णोः परमं पदम् ।
सदा पश्यन्ति सूरयः ।
दिवीव चक्षुराततम् ॥
(अथर्ववेद ७ । २६ । ७)

इनके अतिरिक्त सभी मुक्तात्माएँ जगत्‌के माता-पिता श्रीलक्ष्मीनारायण भगवान्‌के परिवार हैं ।

(४)

नित्यविभूति, परम व्योम, त्रिपाद्विभूति, महाविभूति, सनातन आकाश, दिव्य स्थान, परम स्थान, पर स्थान, परा गति, अनामय पद, शाश्वत पद, ब्रह्मलोक, ब्रह्मपुर, वैकुण्ठ—ये सब परमपदके पर्याय हैं ।

परमपद अनादि है; क्योंकि वह कभी बनता नहीं है । नित्य होनेके कारण उसका उदय और अस्त नहीं होता । वह नित्योदित है । छान्दोग्य उपनिषद्‌ने स्पष्ट ही उसे अकृत (अ= नहीं+कृत= रचित) बताया है—

धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ।
ब्रह्मलोकमभि सम्भवामि ॥ (८ । १३ । १)

परमपद त्रिगुणात्मिका जड प्रकृतिका बना हुआ नहीं है । वह तो चेतन है, स्वयंप्रकाश है । वह शुद्ध सत्ता वा शुद्ध सत्त्व है । वह सत्त्व रजोगुण और तमोगुणका सहवर्त्ती यह सत्त्वगुण नहीं है, प्रत्युत इससे विलक्षण है । प्राकृत सत्त्व जड सत्ता है और अप्राकृत सत्त्व अजड सत्ता है । जड पदार्थ परतःप्रकाश होता है और अजड स्वयंप्रकाश । परमपद अथवा नित्यविभूति स्वयंप्रकाश सत्ता है—

स्वसत्ताभासकं सत्त्वं गुणसत्त्वाद् विलक्षणम् ।

अतएव उसकी ज्ञानादि--षड्‌गुणविलास—मयता स्वयंसिद्ध है । ब्रह्मतन्त्रमें इस रहस्यको इन शब्दोंमें प्रकट किया है--

लोकं वैकुण्ठनामानं दिव्यं षाड्गुण्यसंयुतम् ।
अवैष्णवानामप्राप्यं गुणत्रयविवर्जितम् ॥

ऋग्वेदके 'क्षयन्त मस्य रजसः पराके' (७।१००।५) में रजस् शब्दका अर्थ त्रिगुणमयी प्रकृति है, क्योंकि सत्त्व और तमस्‌के बिना केवल रजोगुण नहीं रह सकता । तीन गुणवाली इस प्रकृतिके मण्डलसे परे दिव्य धाम है और वहीं श्रीभगवान् निवास करते हैं ।

श्रीभगवान्‌की वासभूमि होनेके कारण दिव्य धामका यद्यपि व्यतिरेक-विभक्तिसे शास्त्रमें निर्देश है यथा--

तद् विष्णोः परमं पदम् ।

—तथापि वह भगवान्‌के ही स्वरूपमें अन्तर्निहित है । नित्यविभूति भगवान्‌की अपनी ही महिमा है, जैसा कि छान्दोग्यका वचन है—

स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठितः ?
स्वे महिम्नि ।

इसी प्रकार ब्रह्मतन्त्रमें कहा गया है--

स्वे महिम्नि स्थितं देवं निर्विकारं निरंजनम् ।

श्रीमद्भागवतमें भगवल्लोकको ब्रह्म ही बताया है--

इति सञ्चिन्त्य भगवान् महाकारुणिको हरिः ।
दर्शयामास लोकं स्वं गोपानां तमसः परम् ॥
सत्यं ज्ञानमनन्तं यद् ब्रह्मज्योतिः सनातनम् ।
यद्धि पश्यन्ति मुनयो गुणापाये समाहिताः ॥
(१० । २८ । १४-१५)

नित्यविभूतिके सद्भावमें श्रुति और स्मृतिके वचन प्रमाण हैं । नीचे कुछ वचन दिग्दर्शनार्थ दिये जाते हैं—

परमपद—

(अ) तद्विष्णोः परमं पदम् ।
सदा पश्यन्ति सूरयः ॥
(यजुर्वेद ६ । ५)

अर्थात् भक्तजन श्रीविष्णुभगवान्‌के उस परमपदका सदा दर्शन करते हैं ।

(आ) विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः ।
(ऋग्वेद १ । १५४ । ५)

अर्थात् श्रीविष्णुभगवान्‌के परमपदमें माधुरीका निर्झर है ।

(इ) परमं पदमवभाति भूरि ।
(ऋग्वेद १ । १५४ । ६)

अर्थात् वह परमपद अत्यन्त प्रकाशमान है ।

(ई) कार्याणां कारणं पूर्वं वचसां वाच्यमुत्तमम् ।
योगिनां परमां सिद्धिं परमं ते पदं विदुः ॥
(ब्रह्मतन्त्र)

अर्थात् परमपद समस्त कार्योंके भी पूर्व विराजमान कारण है, सब वाणियोंका सर्वोत्तम वाच्य है और योगियोंकी परमा सिद्धि है ।

(उ) स तु तत्पदमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ।
(काठक १ । ३ । ९)

अर्थात् विज्ञान-सारथि साधक श्रीविष्णुके उस परमपदको प्राप्त करता है ।

परमव्योम—

(अ) स्थिताय परमे व्योम्नि भूयो भूयो नमो नमः ।
(ब्रह्मतन्त्र)

अर्थात् मैं परम व्योममें विराजमान श्रीभगवान्को बार-बार प्रणाम करता हूँ ।

(आ) यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् ।
सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता ॥
(तैत्तिरीय २ । १ । १)

अर्थात् जो परमव्योमनिवासी परमात्माको जान लेता है, वह उनके साथ उन्हींके-से कल्याणगुणोंको प्राप्त करता है ।

त्रिपाद्—

त्रिपादस्यामृतं दिवि । (सामवेद, मन्त्र ६१९)

अर्थात् श्रीभगवान्की एकपाद्-विभूति यहाँ है और त्रिपाद्-विभूति उस प्रकाशमान लोकमें है ।

महाविभूति—

महाविभूतिसंस्थाय नमस्ते पुरुषोत्तम ।
(ब्रह्मतन्त्र)

अर्थात् हे पुरुषोत्तम ! महाविभूतिमें निवास करनेवाले आपको मैं प्रणाम करता हूँ ।

सनातन आकाश—

तच्चाकाशं सनातनम् । (रामायण)

अर्थात् वह पद सनातन आकाश है ।

दिव्यस्थान—

दिव्यं स्थानमजरं चाप्रमेयं
दुर्विज्ञेयं चागमैर्गम्यमाद्यम् ।
(महाभारत)

अर्थात् वह दिव्य स्थान आद्य (अनादि), अजर और अप्रमेय है । अन्य उपायोंसे दुर्विज्ञेय है किन्तु आगम अर्थात् पाञ्चरात्र संहिताओंद्वारा ज्ञेय है ।

परमस्थान—

एकान्तिनः सदा ब्रह्मध्यायिनो योगिनो हि ये ।
तेषां तत् परमं स्थानं यद् वै पश्यन्ति सूरयः ॥
(विष्णुपुराण)

अर्थात् ब्रह्मचिन्तक, योगाभ्यासी और एकान्तभावसे भगवदुपासक उसी परमस्थानको प्राप्त होते हैं, जिसका दर्शन नित्यमुक्त सूरि निरन्तर करते रहते हैं ।

परस्थान—

(अ) ब्रह्मणः सदनादूर्ध्वं परं स्थानं प्रचक्षते ।
देवा अपि यन्न पश्यन्ति सर्वतेजोमयं शुभम् ॥
अत्यर्कानलदीप्तं तत् स्थानं विष्णोर्महात्मनः ।
स्थानमेतन्महाभाग ध्रुवमक्षयमव्ययम् ॥
(महाभारत, वनपर्व)

अर्थात् ब्रह्माजीके सत्यलोकसे भी परे परस्थान है, जिसके दर्शनमें देवगण भी असमर्थ हैं । वह पवित्र, सूर्य और अग्निसे भी अधिक प्रकाशमान, निश्चल, अक्षय और अव्यय स्थान परमात्मा श्रीविष्णुका धाम है ।

(आ) योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् । (गीता ८ । २८)

अर्थात् योगी पुरुष आद्य परस्थानको प्राप्त करता है ।

परमागति—

स याति परमां गतिम् । (गीता ८ । १३)

परागति—

ततो याति परां गतिम् । (गीता ६ । ४५)

अर्थात् योगी अन्तमें परा गतिको जाता है ।

अनामयपद—

पदं गच्छन्त्यनामयम् । (गीता २ । ५१)

अर्थात् मुक्तात्माएँ अनामय पदको जाती हैं ।

शाश्वतपद—

मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ।
(गीता १८ । ५६)

अर्थात् भगवत्कृपासे भक्त जीव शाश्वत, अव्यय पद पाता है ।

ब्रह्मलोक—

तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोकः । (प्रश्नोपनिषद् १ । १६)

अर्थात् तपस्वी, ब्रह्मचर्यव्रती, सत्यनिष्ठ, निश्छल, निष्प्रपञ्च जीव ब्रह्मलोकके अधिकारी हैं। इस ब्रह्मलोकके तरुवर-सरोवरादिविलसित पुरी, सभा और वेश्मके वर्णनमें निम्नाङ्कित वचन मननीय हैं--

(अ) तदश्वत्थः सोमसवनः। (छान्दोग्य ८।५।३)
(आ) इल्यो वृक्षः। (कौषीतकी)
(इ) ऐरं मदीयं सरः। (छान्दोग्य ८।५।३)
(ई) तदपराजिता पूर्ब्रह्मणः। (८।५।३)
(उ) प्रजापतेः सभाम्। (८।१४।१)
(ऊ) वेश्म प्रपद्ये। (८।१४।१)

ब्रह्मपुर—

दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येषः। (मुण्डक २।२।७)

अर्थात् यह परमात्मा दिव्य ब्रह्मपुरमें है।

वैकुण्ठ—

(अ) त एकदा भगवतो वैकुण्ठस्यामलात्मनः।
ययुर्वैकुण्ठनिलयं सर्वलोकनमस्कृतम्॥
यत्र चाद्यः पुमानास्ते भगवाञ्शब्दगोचरः।
(श्रीमद्भा० ३।१५।१३, १५)

अर्थात् ब्रह्माजीके मानस पुत्र सनकादि एक दिन निखिलहेयप्रत्यनीक श्रीभगवान् वैकुण्ठके सर्वलोकनमस्कृत वैकुण्ठधामको गये, जहाँ श्रुतिप्रतिपाद्य आद्यपुरुष श्रीविष्णु विराजमान रहते हैं।

(आ) ततो निराशो दुर्वासाः पदं भगवतो ययौ।
वैकुण्ठाख्यं यदध्यास्ते श्रीनिवासः श्रिया सह॥
(श्रीमद्भा० ९।४।६०)

अर्थात् (महाराज अम्बरीषके रक्षणमें दत्तचित्त सुदर्शन-चक्रके त्राससे भयभीत दुर्वासाको जब कहीं आश्वासन न मिला) तब वे निराश होकर श्रीभगवान्के वैकुण्ठनामक परमपदमें पहुँचे, जहाँ श्रीविष्णुभगवान् लक्ष्मीजीके साथ निवास करते हैं।

(इ) ततो वैकुण्ठमगमद् भास्वरं तमसः परम्।
यत्र नारायणः साक्षान्न्यासिनां परमा गतिः।
शान्तानां न्यस्तदण्डानां यतो नावर्तते गतः॥
(श्रीमद्भा० १०।८८।२५–२६)

अर्थात् (अपने ही वरदानसे बढ़े हुए वृकासुरसे संत्रस्त होकर देवाधिदेव शिवजी आत्मरक्षाके विषयमें निराश होकर) वैकुण्ठधाममें गये, जो बड़ा प्रकाशमान है, प्रकृतिसे परे है; जहाँ शान्तचित्त, न्यस्तदण्ड संन्यासियोंकी परमगति श्रीमन्नारायण निवास करते हैं और जहाँसे कर्मवश पुनरावृत्ति नहीं हुआ करती।

'भूले हुए जीवके प्रति'

कैसे तुम आ नैहरवा भुलानी ?
सइयाँका कहना कबहुँ नहिं मानी।
काम कियो नित निज-मन-मानी,
पियाकी सुध काहे बिसरानी ?
टेढ़ी चाल अजहुँ तज मूरख,
चार दिनाकी यह जिंदगानी।
मद-माती इठलात फिरतिफा,
गोरी, का तेरे हियमें समानी ?
गुन-ढँगसों जो पियाको रिझावै,
'करीम' वही है सखी सयानी।

—करीमबख्श

नवधा भक्ति

कीर्तन

[कहानी]

(लेखक-श्री'चक्र')

जसु तुम्हार मानस बिमल हंसिनि जीहा जासु ।
मुकताहल गुन गन चुनइ राम बसहु हियँ तासु ॥

बबूलोंकी अच्छी हरियाली है । उनकी पंक्ति सटी हुई और सघन है । भले उनके नीचे कोई विश्राम न कर सके, पर नेत्रोंको बड़ी अच्छी लगती है वह हरी-हरी रेखा । झड़बेरियोंके झुरमुट प्रकृति-बालिकाने यत्र-तत्र बिखेर दिये हैं और खेतोंकी मेंड़ोंपर पत्थर रखे हैं । उन्हें खेतोंसे चुनकर अलग किया गया है । जाड़ेमें किसी गरीबके पैरकी भाँति खेतोंकी काली मिट्टी शतशः विदीर्ण हो रही है । छोटे-छोटे काले पाषाण उनमें बिखरे पड़े हैं, कौन चुन पायेगा इन्हें ।

उस झोंपड़ेके समीपसे यह सब आप देख सकते हैं । गाँव कुछ बड़ा नहीं होगा । उसमें चालीसके लगभग घर हैं—और वे भी सब कच्चे । कुछपर खपरैलें हैं और कुछपर फूस । यह एक झोंपड़ा सबसे अलग दक्खिन ओर क्यों है ? है तो स्वच्छ, लिपा-पुता और आकर्षक । गाँव है ब्राह्मणोंका, उसमें एक-दो घर कुर्मी भी हैं और सम्भवतः एकाध घर कोष्ठी भी । यह चाण्डालका झोंपड़ा है ।

चाण्डालका झोंपड़ा ? इतना स्वच्छ, लिपा-पुता ! और उसकी दीवालपर गेरूसे क्या लिखा है—'गोविन्द, नारायण, विट्ठल, पाण्डुरंग !' सामने तुलसी-चबूतरा और गेंदोंके पेड़ । तुलसीजीपर पुष्प चढ़ाये गये जान पड़ते हैं । घरमें बालक नहीं, तभी तो इतनी शान्ति है । बच्चे होते तो बाहर अवश्य आ जाते । घरमें किसीके बोलनेतकका शब्द क्यों नहीं होता ?

झोंपड़ा बड़ा नहीं है । एक या दो कोठरियाँ होंगी उसमें । अवश्य ही एक छोटा आँगन है । झाँककर देखनेसे सब कुछ नहीं, तो भी बहुत कुछ देखा जा सकता है । एक गाय बँधी है, सिरसे पैरतक काली । उसे अच्छी सेवा मिलती होगी, यह उसका शरीर कह रहा है । गलेमें एक फूलोंकी माला पड़ी है । दूध-जैसा उज्ज्वल बछड़ा उसके समीप शान्त खड़ा है । दूध उसने पी लिया होगा, नहीं तो पीता नहीं ? ऐसे सुघर, सजे बछड़े मैंने कम देखे हैं । अपने गलेकी माला उसे अच्छी नहीं लगती । फूलोंसे उसे प्रेम नहीं । रह-रहकर गर्दन हिलाता है उसे निकालनेको । वह फुदकता क्यों नहीं ? क्या देख रहा है ?

एक काला-कलूटा आदमी लोटा है पेटके बल हाथ फैलाकर । वह सम्भवतः गो-माताको प्रणाम कर रहा है । हड्डीके ढाँचेपर मढ़ा हुआ काला चमड़ा । स्नायुजाल बाहर आ जानेको उतावले हैं । कमरमें एक मैली, फटी कछनी है । दोनों हाथोंके समीप जो गायके पैरोंके पास-तक लंबे फैले हैं, कुछ फूल बिखरे हैं । गो-माता बड़े प्रेमसे अपने चतुष्पादको छोड़कर इस द्विपाद वत्सका मस्तक चाट रही हैं । बछड़ा बड़े आश्चर्यसे देख रहा है उसे । वह समझ नहीं पाता कि वह भी उसे चाटे या केवल चौकड़ी भरते हुए बार-बार सूँघे ।

'यह चाण्डालका घर है ।' यह बात विस्मृत हो गयी । घरके सामने जो चबूतरा था, मैं उसपर चढ़ आया था और मेरी भीतर जानेकी इच्छा हो रही थी । 'उसके काममें बाधा होगी' इसी विचारसे मैं ठिठक रहा था । पूजा समाप्त हो गयी । उसने धीरेसे हाथ समेटे, घुटनोंके बल बैठकर फिर एक बार गायके खुरोंपर मस्तक रख हाथसे वहाँकी धूल नेत्रोंमें लगाकर उसने बछड़ेके पैरोंके पास सिर रखा । अब उस चञ्चलने सिर सूँघा और उछल

पड़ा। हाथसे पैर छूनेका अवसर दिया नहीं उसने। अब उसके पास जाना व्यर्थ था। उछल रहा था वह तो। दरवाजेकी ओर उस काले आदमीने देखा नहीं। उसने केवल हाथ फैलाकर एक जोड़ी करतालें उठायीं। वे आड़में रखी थीं। वह तो उछल-उछलकर नाचने लगा—आकाशकी ओर मुख करके दोनों हाथ उठाये करतालकी लयमें कीर्तनके स्वरसे आँगन गूँज उठा। बछड़ा फुदकना भूल गया और गाय एकटक उसे देखने लगी।

'गोविन्द हरि नारायण, विट्ठल पाण्डुरंग!'

× × ×

'उस दिन मुझे सबसे अधिक कष्ट हुआ प्रणाम करनेसे। यों अनेकों लोग प्रणाम करते हैं। जब कोई प्रणाम करता है, यदि वह अवस्थामें बहुत छोटा न हुआ तो बहुत बुरा लगता है। अच्छा होता यदि प्रणाम करनेके बदले उसने गाली दी होती या चपत मारी होती।' ऐसा क्यों होता है, कह नहीं सकता। जब उस बुड्ढेका कीर्तन समाप्त हुआ, उसकी दृष्टि द्वारकी ओर गयी। पृथ्वीपर सिर रखकर उसने कहा 'महाराज!' वह समझ ही नहीं पाता था कि क्यों एक सफेदपोश उसके झोंपड़ेपर आया है। वह डर गया था।

'वह क्या करे?' समझ नहीं पाता था। समीप जाय तो छाया पड़ जायगी, बैठनेके लिये कहनेका साहस वह करे कैसे? वहींसे बोला, 'क्या आज्ञा है, सरकार?'

'इधर आओ!' मैंने संकेत किया और वह आकर पाँच हाथ दूर खड़ा रहा। मैं पृथ्वीपर बैठ गया और मेरे संकेतपर वह भी पृथ्वीपर हाथ जोड़े बैठ रहा। सभ्यताके नाते मैंने पूछ लिया था कि 'तुम्हारे किसी काममें बाधा तो नहीं पड़ेगी?' प्रश्न व्यर्थ था। वह एक उच्चवर्णके पुरुषसे कैसे कह सकता था कि 'अमुक काम करना है।' मेरे प्रश्नोंके उत्तरमें उसने बताया कि उसने बचपनमें एक ईसाई पाठशालामें कुछ पढ़ा है। उसके पास एक भजनोंकी पोथी है और वह उसे अच्छी प्रकार पढ़ लेता है।

आजसे दस वर्ष पहलेकी बात है। शहरमें एक बुआजी आये थे। बड़ी प्रसिद्धि थी उनकी। वह भी उनके दर्शनोंको गया था। उस नन्ही नदीके किनारे बड़े मैदानमें उनका कीर्तन हो रहा था। सबसे दूर, एक कोनेमें वह खड़ा था। उसे कुछ भी सुनायी नहीं पड़ा। भीड़ बहुत थी और लोगोंको वह छू सकता न था। दूर खड़ा था। केवल बुआजीके दर्शन कर सका था। उनके हाथ करताल लिये आकाशमें उठे थे और वे आकाशकी ओर देखते नाचते थे। बीचमें खड़े होकर कुछ कहते भी थे। इतना देख सका, यही क्या कम सौभाग्य था उसका।

उसी दिन उसने ये करतालें खरीदी थीं। ठाकुरजी तो चाण्डालके घर प्रतिष्ठित हो नहीं सकते थे। वह तुलसीजी और गो-माताकी पूजा करता है। खजूरके पत्ते काटकर झाड़ू बना लेता है और बाँसकी टोकरियाँ बनाता है। बाँस टोकरियाँ बेचकर खरीद लेता है। इतनेसे उसका पेट भर जाता है। उसकी स्त्रीको मरे बीस वर्ष हो गये। फिर दूसरी नहीं लाया। कामसे बचे समयमें अब वह अपनी करतालें लेकर भजन गाता है।

पूछनेपर इतना और भी ज्ञात हो गया कि गो-माता केवल पूजाके लिये हैं। दूधसे उसे कोई मतलब नहीं। वह तो उनके प्यारे बछड़ेकी वस्तु है। उसका काम उनकी सेवा करना है और जहाँतक उसकी शक्ति है, वह उनकी सेवामें कोई त्रुटि नहीं करता।

एक ही इच्छा है उसमें। एक बार पण्ढरपुर जाना चाहता है। मन्दिरमें तो जा सकेगा नहीं। केवल कलश और गरुड़-स्तम्भके दर्शन करेगा। इतनेके लिये उसकी लालसा मचल उठी है। वर्षोंसे वह दो पैसे जुटानेमें लगा है। पता नहीं कब उस लोकका बुलावा आ जाय, इसी वर्ष जायगा वह। मार्गमें टोकरियाँ और झाड़ू बनाकर पेट भर लेगा, पर गो-माताका क्या हो? वह इसी उलझनमें था। अभी चल दे दो-चार दिनमें तो

आषाढ़ी एकादशीतक पहुँच जायगा । मेरा मन भारी हो गया था । मैंने गाय रखनेकी प्रस्तावना की । बहुत कुछ हिदायतें देकर उसने उसी समय गाय खोल दी । मेरे पीछे चल पड़ा वह उनको लेकर ।

× × ×

हाथोंमें करतालें, बगलमें झंडा और झोलेमें बाँस काटने-छीलनेकी 'बाँकी' ! आजतक ऐसा पण्ढरपुरका यात्री किसीने नहीं देखा था । अभी तो यात्रा प्रारम्भ होनेको तीन महीने हैं और यह एकाकी चाण्डाल ! लोगोंने बड़े कौतुकसे देखा उसे । यह करेगा क्या वहाँ जाकर ! दर्शन तो होनेके नहीं । कानोंकान समाचार फैलने लगा ।

अब उसे भूख कम लगती है । दो-तीन दिनपर कहीं बनाता है । रात्रिको जो गाँव दिखायी पड़ा, उसके बाहर कहीं पानीकी सुविधा देखकर अपना गैरिक झंडा गाड़ देता है । गर्मीके दिन हैं, रात्रिमें ओढ़नेको कुछ चाहिये नहीं । दिनकी धूप तो सदासे सहता आया है । कभी-कभी तीसरे-चौथे दिन वह विश्राम करता है दिनको भी । उस दिन खजूरके पत्ते काटता है, झाड़ू बनाता है और बेचता है । इन्हीं पैसोंसे उसके कई दिन कट जाते हैं । यात्रामें बाँसकी खटखट उसने की नहीं ।

उसे गिरकर मूर्च्छित होना नहीं आता । हाथ-पैर बचाकर गिरना सीखे भी तो क्या लाभ । उसे क्या मंचपर या भीड़में कीर्तन करना है । उसकी करतालकी ध्वनि नीरव पहाड़ियोंमें टकराकर लौट आती है । उसका 'गोविन्द, हरि, विट्ठल' मार्गके टीलों, बबूलके वृक्षों, बेरकी झाड़ियों और काले खेतोंपर घूमकर, ढेलेके नीचे दुबले पतिंगोंको सावधान करके, बबूलपरकी चिड़ियोंको चहकाकर, मार्गमें चरती गायों और उनके चरवाहोंको चौंकाकर उस नीले नभ-मार्गसे सीधे कहीं चली जाती है । सम्भवतः पण्ढरपुर । जहाँ वह ईंटपर खड़ा देवता मुसकरा रहा है, उसीके समीप ।

नेत्रोंसे दो धाराएँ अवश्य झरती रहती हैं । उसे पता नहीं रहता कि वह खड़ा है, चल रहा है या नाच रहा है । ऊपरके उस नीले पर्देपर उसकी भीतर घुसी छोटी-छोटी निस्तेज आँखें कुछ देखती हैं, पता नहीं क्या । उसके इस कीर्तनको देखने और सुननेवाला कोई नहीं । कोई होता तो वह ऐसा नृत्यमय कीर्तन शायद ही कर पाता ।

साधारण मानव सुने या न सुने, पर सभी तो साधारण नहीं होते । भक्तमण्डली चौंकी । योगीजी अपने व्याघ्रचर्मसे उठे । उन्होंने न तो ऊपर मृगचर्म डाला और न त्रिशूल लिया, जैसा वे सदा नीचे उतरते समय करते हैं । पैदल पहाड़ीसे नीचेकी ओर झपटे । मार्ग छोड़ दिया उन्होंने । चिलम जली नहीं थी । एकने उसे हाथमें लेकर खड़े-खड़े दम लगाया और फिर डाल दिया । धूनी छोड़कर सब नीचे उतरने लगे । वे मार्गसे उतर रहे थे । पाँच भक्तोंकी मण्डली थी वहाँ ।

पहाड़ीके ठीक नीचेसे पण्ढरपुरका मार्ग जाता है । योगीजी ऊपर रहते हैं । नीचेसे एक ध्वनि पहुँची और उसने बलात् उस साधकको खींचा । एक नंगा काला आदमी करताल उठाये नाच रहा है । बगलमें झंडा गिरकर एक पेड़के सहारे टिका खड़ा है । कंधेपर झोली है । एक क्षण योगीजी रुके और फिर वे दुगुने वेगसे उधर झपटे । मार्गसे भक्त-मण्डली चिल्ला रही थी— 'वह चाण्डाल है !' वे लोग इस यात्राका वर्णन सुन चुके थे । योगीजीने सुना नहीं । वे दण्डवत् उसके आगे गिर पड़े ।

उसके नेत्र ऊपर थे । पैर हाथपर पड़ते ही ध्यान टूटा । चौंककर पीछे हट गया । 'गुरुदेव !' योगीजी रो रहे थे । झपटकर उन्होंने दोनों पैर भुजाओंमें कस लिये । वह स्तब्ध खड़ा था । भक्तोंने देखा और समझा योगीजी पागल हो गये । 'मैं अब नहीं छोड़ता इन चरणोंको ! आज ही रात्रिमें तो पाण्डुरङ्गने मुझे कहा है ।' उसकी समझमें कुछ आया नहीं । भक्तमण्डली खिसक चली ।

जीवनमें आज ही उसे ऐसी विपत्तिमें पड़ना पड़ा था । वह कुछ भी समझ पाता नहीं था । चाण्डाल बतानेपर भी उसे छुटकारा नहीं मिला । यह साधु उसके पैर पकड़े है ! इस पापसे कैसे छूटेगा वह । उधर

योगिराजको, जब वे रोते-रोते दुखी होकर सो गये थे, रात्रिमें स्वप्नमें भगवान्ने कहा था कि 'कल पहाड़ीके नीचें मेरा एक प्यारा भक्त इधरसे कीर्तन करता आयेगा, उसके साथ पण्ढरपुर आओ।' अन्तमें योगीजीके साथ चलनेकी बात उसने मान ली, इस शर्तपर कि वे आगे-आगे चलेंगे।

× × ×

वह भीड़, उतना बड़ा जनसमुदाय! कैसे गरुड़स्तम्भके दर्शन होंगे। योगीजी उसे किसी भी भाँति जनसमूहमें ले जानेको राजी न कर सके। मार्गमें वह प्रायः आपेमें नहीं रहा है। उसे पकड़कर लाये हैं योगीजी। जंगलके कन्द वे खोद लाते थे और कभी भूनकर और कभी कच्चा दोनों खा लेते थे। वह तो अपने कीर्तनमें इतना मग्न हो गया कि खजूरके पत्ते काटनेकी स्मृति ही न रही। वस्तुतः जब कन्द मिल जाते थे तब वह क्यों उधर ध्यान देने लगा।

एकादशीको यों ही भीड़ होती है। इस देवशयनीको तो पूरा वारकरी-सम्प्रदाय आता ही है, दूसरे भक्तवृन्द भी आते हैं। सड़कपर शरीर छिला जाता है। नगरके बाहर ही दोनोंने अपने झंडे गाड़ दिये। निश्चय हुआ कि रात्रिमें जब भीड़ कुछ घटेगी, दर्शन हो जायँगे। कलश-दर्शन तो हो ही गये, गरुड़स्तम्भ दूरसे भी दीख जाय तो पर्याप्त है। भीड़ तो रात्रिभर रहेगी ही।

जबसे कलश दृष्टि पड़ा, वह आपेमें है नहीं। उसकी करताल बंद नहीं होती और न उसके पैर रुकते। उसे न कुछ सुनायी पड़ता और न कुछ दीखता। वह अपने कीर्तनमें मस्त है और योगीजी उसकी सम्हालमें। रात बढ़ती जाती है, पर भीड़ भी सड़कपर बढ़ती जाती है। उसके घटनेके कोई लक्षण नहीं।

'आपलोग दर्शन करने नहीं चलेंगे?' दो बजे रात्रिको ये लंबे गौरवर्ण पीताम्बरधारी पुरुष हैं कौन जो सेवकके साथ पूछने आये हैं? योगीजी चकित थे। सेवकके हाथमें लालटैन थी। इस भीड़में दूसरेको पूछनेवाला कहाँसे निकल सकता है कोई। 'आइये चलें।' उन्होंने आग्रह किया।

वह तो आपेमें था नहीं। योगीजीने एक कंधा पकड़ा और खींच ले चले। 'जहाँतक भीड़ न मिले, वहाँतक पहुँचनेमें तो कोई बाधा नहीं। आगे देखा जायगा।' उन्हें रुकना नहीं पड़ा। काईकी भाँति भीड़ हटती जाती थी और उनके लिये स्थान बनता जाता था।

'हमें आगे नहीं जाना है।' योगीजी गरुड़स्तम्भके पास रुक गये। 'हमारे गुरुदेव चाण्डाल हैं!' उन्होंने कहकर उसकी ओर संकेत किया। वह ज्यों-का-त्यों नाच रहा था।

'आप तो आ सकते हैं!' वे भद्रपुरुष मुसकराये।

'मैं श्रीगुरुचरणोंसे आगे नहीं जा सकूँगा।' योगीजीने गम्भीरतासे उत्तर दिया। उन्होंने कुछ कहा नहीं। खुलकर हँस पड़े और मन्दिरमें चले गये।

नाचते-नाचते पैर लड़खड़ाये। योगीजी न सम्हालते तो गरुड़स्तम्भसे सिर टकरा जाता और······। फिर भी वह गिरा और कुछ चोट भी आ ही गयी।

'यह क्या?' योगीजी चौंके। 'भगवान्की मूर्ति गरुड़स्तम्भसे तो दीखती नहीं थी। वे पहले भी पण्ढरपुर आ चुके हैं। नेत्र धोखा देते हैं या वे ही भूल रहे हैं?' सामने ही कमरपर हाथ रखे ईंटोंपर खड़े रुक्माई और विठोबाकी पुष्पसज्जित मूर्तियाँ स्पष्ट हैं। कह नहीं सकते—वे मन्दिरमें हैं, बरामदेमें या प्राङ्गणमें? यह देखनेका अवकाश किसे था।

योगीजीने देखा—उसने पृथ्वीपर मस्तक रखा। दोनों मूर्तियोंके दक्षिण कर लंबे फैले आशीर्वाद देने और वह दृश्य अदृश्य हो गया। वे तो नगरके बाहर उसी बबूलके नीचे खड़े हैं और वह नाच-नाचकर गा रहा है 'रुक्माई-विट्ठल!'

तब क्या वे सो रहे थे? अब भी हाथमें वह गेंदेका पुष्प है, जो उन्होंने उठाया था और मस्तकमें प्रणाम करते समय लगा जल सूखा नहीं है। उन्होंने अपने गुरुदेवके श्रीचरणोंमें मस्तक रख दिया।

सत्सङ्गके बिखरे वाक्य

(संग्रहकर्त्ता—एक सत्सङ्गी)

[गताङ्कसे आगे]

४१ स्पष्टवादी बननेके बहाने किसीका जी दुखानेवाली बात कभी न कहो ।

४२ सुख-दु:ख दोनों ही क्षणभङ्गुर हैं । इनके मोहमें मत फँसो । चन्द्रमाकी शुभ्र ज्योत्स्नासे सुशोभित शरदाकाश और घनघटाओंसे घिरा हुआ नभोमण्डल, दोनों ही क्षणिक हैं ।

४३ दिन सदा एक-से नहीं जाते, उतार-चढ़ाव जगत्का स्वभाव ही है ।

४४ कर्मोंका स्वभाव ही है—स्वाँग बदलते रहना ! स्वाँगके अनुसार ही तो क्रिया होगी न ?

४५ तारीफके लिये मत तरसो, खुशामदसे खुश मत होओ । खुशामद चाहनेवालेका सौभाग्य शीघ्र ही शान्त हो जाता है ।

४६ सरल बनो, कपटकी बात छोड़ दो; जीवनमें सीधापन लाओ । सन्तोष धारण करो । याद रखो, भगवान्को सरलता और सन्तोष बहुत प्रिय हैं ।

४७ अच्छी हालतके बन्धुका विश्वास मत करो । धन-मानकी सेवामें तो सभी जुट जाते हैं । विपद्का बन्धु ही सच्चा बन्धु है ।

४८ तुम्हारे पास भगवान्की दयासे जो कुछ है, उसीपर सन्तोष करो । 'देख पराई चोपड़ी मत ललचावे जीव ।'

४९ लोगोंको कुछ भी कहने दो, वे तो कहेंगे ही । अपने सन्मार्गसे कभी पैर मत हटाओ !

५० जब संसारी लोग तुम्हें भाग्यवान् और भगवान्का कृपापात्र बतलायें, तब चौकन्ने हो जाओ । संसारी लोग अपनी बुद्धिके काँटेपर ही तो भाग्य और भगवान्की कृपाको तौलते हैं ? उनका काँटा पत्थर तौलता है, हीरा नहीं । वे भोगीको भाग्यवान् और भगवान्का कृपापात्र मानते हैं, और विषय-विरागी भगवदनुरागीको अभागा तथा भगवान्का कोपभाजन !

५१ बुरा कर्म करनेवाला ही गुप्त पथपर चलता है, अपने पापोंको छिपानेकी चेष्टा करता है ।

५२ अपनेको न नीच समझो और न सबसे ऊँचा ! चुपचाप अपनी राह चलते रहो ।

५३ किसीकी सेवा करके उसे गिनाओ मत । नहीं तो तुम्हारी सेवा राखमें घी डालनेके समान व्यर्थ ही जायगी और सेव्य भगवान् तुमसे छिप जायँगे ।

५४ जो नहीं मिलनेका, ऐसे आकाशकुसुमकी आशा मत करो । साध्यकी ही साधना सहज हितकारी होती है ।

५५ कीर्ति कभी दीर्घकालतक नहीं ठहरती ! सम्मानका बोझ भी ऐसा ही है ।

५६ कीर्ति और सम्मानपर काले धब्बे लगते ही हैं । चन्द्रमामें भी कलङ्क होता है ।

५७ इसलिये कीर्ति-कथा सुनकर घमंड मत करो, और निन्दा सुनकर घबराओ मत !

५८ जो देता है, वही लेता है । चीज उसकी उसीकी रहती है । फिर मिलनेपर फूलना और जानेपर रोना दोनों ही प्रमाद हैं ।

५९ धरा और धनकी सुन्दरतापर मत रीझो, शरीर और रूपके लावण्यके लिये मत ललचाओ । इस प्रापञ्चिक झूठी सुन्दरता और लावण्यके परे एक ऐसा नित्य सत्य सौन्दर्य और लावण्य है, जो सदा चेतन

रहता है; वह है श्रीकृष्णकी शोभा ! उसीपर रीझो और उसीके लिये सदा ललचाओ ।

६० अज्ञानी मनुष्य ही अहंकारका गुलाम है; बुद्धिमान् तो विनयी होता है ।

६१ अहंकार प्रचण्ड निदाघका मध्याह्न है और विनय वसन्तकी सन्ध्या !

६२ जो कुछ करना चाहते हो, पहलेसे ही उसका ढिंढोरा मत पीटो ! काम होनेपर आप ही सब जान जायँगे।

६३ जिसके कार्यसे हरि सन्तुष्ट होते हैं, असलमें वही सत्-कर्मी है ।

६४ तुमने जो कुछ शुभ किया है, उसे भगवान्‌ने देखा ही है; फिर अपने मुँहसे उसकी बड़ाई क्यों बघारते हो ।

६५ सुख चाहते हो तो दूसरोंको सुख दो और दुःख चाहते हो तो दुःखका दान करो । जो दोगे, वही अनन्तगुना होकर तुम्हें वापस मिल जायगा ।

६६ रोग-वियोगसे घबराओ मत । सभी लीलाओंमें प्रियतम प्रभुकी मधुर हँसीका दर्शन करो और सदा सुखी रहो !

६७ ऐसा मत मानो कि मैं अपनी साधनासे—अपने परिश्रम-पुरुषार्थके बलसे संसार-सागरसे तर जाऊँगा। इस प्रकारकी धारणामें अहङ्कारका बड़ा भय है। भगवान्‌की असीम अनुकम्पापर विश्वास रक्खो, उनका आश्रय ग्रहण करो और साधन-भजन उन्हींकी प्रीतिके लिये करो । फिर कोई शङ्का या भय नहीं है ।

६८ जिस साधनमें अहङ्कार है—अपनेमें उच्चबुद्धि और दूसरोंके प्रति नीच बुद्धि है, वह साधक नहीं है। पर एक पापी, जो पापसे छुटकारा पानेके लिये छटपटाता है और प्रतिक्षण भगवान्‌से प्रार्थना करता है, सच्चा साधक है ।

६९ पापसे मुक्त होनेका साधन है तीव्र अनुताप। यह अनुताप ही भगवत्-साधनका पूर्वरूप है । अनुताप हुए बिना असली साधनाका उदय नहीं होता।

७० भगवान् नित्य कल्याणमय और कृपामय हैं। वे अपनी सहज करुणासे—स्वभावसुलभ विरदसे चाहे जिसको, चाहे जब, चाहे जैसा महत्त्व और विशेषत्व प्रदान कर देते हैं । 'मसकहिं करहिं बिरंचि प्रभु ।'

७१ ऐसा करनेमें कोई हेतु नहीं है । उनकी स्वरूपभूता कृपा और कल्याणमयतासे अपने-आप ही ऐसा हुआ करता है ।

७२ किसी दूसरेका न तो दोष देखो, न कभी किसीकी निन्दा करो । संसारमें निर्दोष कौन है ! पहले यह देखो कि तुम्हारे अंदर कोई दोष है या नहीं। यदि है तो पहले उनसे घृणा करो, उनके लिये अनुताप करो ।

७३ दूसरेको सुधारनेकी चिन्ता मत करो, अपनेको सुधारो । जब तुम निर्दोष हो जाओगे, तब सारा जगत् ही तुमको निर्दोष दीखने लगेगा ।

७४ पर-दोष देखनेकी आदत पड़ जानेपर सर्वथा निर्दोषमें भी दोष दीखने लगते हैं । असलमें वह अपने दोषोंकी ही छायामूर्त्ति है ।

७५ आनन्द और शान्ति ही जीवन है और निरानन्द तथा अशान्ति ही मृत्यु है । जीवनको अपनाओ, मृत्युको नहीं ।

७६ आनन्द और शान्ति प्रेमसे मिलते हैं, द्वेषसे नहीं । प्रेम पवित्र, मधुर, नित्य, प्रतिक्षण वर्द्धमान और आनन्दमय है । प्रेम ही जीवका सच्चा जीवन है। जहाँ प्रेम है, वहीं आनन्द है ।

७७ सत् और चित्‌के साथ ही आनन्दका संयोग है । सच्चिदानन्द हैं भगवान् । इसीलिये भगवान् ही आनन्दनिकेतन और आनन्दस्वरूप हैं ।

७८ सच्चा साधु वही है, जिसके मनमें भगवच्चिन्तनके सिवा अन्य कोई चिन्ता कभी आती ही नहीं ।

७९ बाहरका एकान्त सच्चा एकान्त नहीं है । मनकी निर्जनता ही एकान्त है ।

८० जीभका मौन ही सच्चा मौन नहीं हैं । मनको मौन बनाओ, वही सच्चा मौन है ।

८१ मनका मौन है—जगत्-चिन्तनका सर्वथा अभाव और भगवान्का नित्य मनन ।

८२ मनुष्यमें ऐसा कोई भी गुरुत्व नहीं है, जिसके लिये वह गौरव करे । गौरव करनेकी कोई बात है तो वह भगवान्के गौरवसे ही है ।

८३ जबतक मनुष्य अपने मिथ्या-गौरवका त्याग नहीं करता, तबतक उसमें सच्चे गौरवकी कोई बात आती ही नहीं ।

८४ भगवान् ही जीवमात्रमें स्थित हैं, भगवान् ही सबके अधिष्ठान हैं, भगवान् ही सबके आत्मा हैं—यह समझकर भगवान्की सेवाके भावसे जो जीवोंकी सेवा करता है, उसका प्रत्येक कार्य भगवद्भजन ही है ।

८५ सेवक किस बातका और कैसे अभिमान करे । वह तो स्वामीके इशारेपर, स्वामीकी शक्तिसे ही नाचता है ।

८६ जो सच्चा सेवक है, वह जिधर देखता है उधर ही उसे अपने करुणामय स्वामीका मुसकराता हुआ मुखड़ा दीखता है ।

८७ सेवकका कार्य है—नम्रता और विनयके साथ स्वामीकी सेवा करना । जब घट-घटमें उसे अपने स्वामीके ही दर्शन होते हैं, तब वह नम्रता और विनयका त्याग करके अभिमान कैसे करे ।

८८ सेवक तो सदा यही चाहता है कि मैं नरम-नरम धूलिकण ही बना रहूँ, जिससे स्वामीका चरणस्पर्श सदा मिलता रहे । इसीमें सेवकका गौरव है ।

८९ जो अपनेको सेवक भी मानता है और अभिमान भी करता है, वह सेवक नहीं—ठगाया हुआ है ।

९० साधनाकी जड़ है—विश्वास और श्रद्धा । जिसमें विश्वास और श्रद्धा नहीं है, वह महापुरुषोंका अनुकरण करने जाकर भी कोरा ही रहता है ।

९१ विश्वास और श्रद्धा ही अप्रकट भगवान्को प्रकट करवाते हैं । प्रह्लादने अटल विश्वाससे ही भगवान् नृसिंहदेवको खंभेसे प्रकट किया था ।

९२ विश्वाससे साक्षात्कार, विनयसे उन्नति, सत्यसे समता, प्रेमसे आनन्द, धैर्यसे शान्ति, वैराग्यसे ज्ञान, समर्पणसे भक्ति और निर्भरतासे भगवत्कृपा प्राप्त होती है ।

९३ भगवान्में विश्वास न करनेवाले, मिथ्यावादी, कृपण और निर्दय—इन चारोंका सङ्ग महान् अनिष्टकी उत्पत्ति करता है ।

९४ मौतको सोते समय सिरहाने और जागते समय सामने समझकर काम करो ।

९५ मौतसे डरो मत; परन्तु वह तुम्हारा आलिङ्गन करे, इसके पहले-पहले ही अपने कामको पूरा कर लो ।

९६ छोटे-से-छोटे पापके प्रति भी ध्यान रखो और उसे निकालनेकी चेष्टा करो । पापको सहना और उसपर दया करना भी बड़ा पाप है ।

९७ पापका बीज ही बुरा है । बीज रहेगा तो अनुकूल अवसर पाकर अङ्कुर निकलेगा ही ।

९८ बस, तुम तो भगवान्के बन जाओ । और कुछ भी मत करो । भगवान्को छोड़कर कुछ भी करने जाना अपनेको विपत्तिके जालमें फँसाना है ।

९९ काम शुरू करते ही उसके फलके लिये परेशान मत होओ । बीज डालते रहो, समयपर अङ्कुर प्रकट होगा ही ।

१०० कर्मसे भी भावका दर्जा ऊँचा है । भाव पवित्र होनेपर तुच्छ-से-तुच्छ कर्म भी महान् बन जाता है ।

१०१ तुम्हारी जैसी कामना होगी, वैसे ही कर्म

होंगे और कर्मानुसार ही उनका फल भी मिलेगा।

१०२ तुम्हारी इच्छा यदि शुभ है तो भगवान् उसका फल शुभ देंगे ही—यह निर्भ्रान्त सत्य है।

१०३ भगवान्‌का साक्षात्कार ही चरम और परम शुभ है।

१०४ भगवद्दर्शन, भगवत्प्रेम और भगवत्-बोधकी कामना वस्तुतः कामना नहीं है।

१०५ अपने सारे कार्य भगवान्‌की सेवा समझकर करते रहो। फिर परम सत्यस्वरूप भगवत्-प्रकाशकी निर्मल ज्योतिसे तुम्हारा हृदय चमक उठेगा। तुम्हारी किसी चेष्टाके बिना ही, तुम्हारे अनजानमें ही तुम्हारा ज्ञान सत्यके प्रकाशसे प्रकाशित हो जायगा।

१०६ भक्ति और सेवामें आडम्बर व्यर्थ है। जहाँ निर्बाध और सम्पूर्ण आत्मनिवेदन नहीं है, वहाँ सेवाके निर्मल स्वरूपका प्रकाश नहीं होता। वहाँ तो बाहरी दिखावा ही रहेगा।

१०७ तुम जिसकी सेवा करना चाहते हो, तुम्हारा मन तो पड़ा रहेगा सदा उसके पास। फिर बिना मनके आडम्बर कैसे बनेगा।

१०८ किसी कामनासे भगवान्‌में प्रेम करना असली प्रेम नहीं है। वे तुम्हारे हैं, तुम उनके हो। 'प्रेम क्यों करते हो ?' 'इसलिये कि रहा नहीं जाता।' 'कोई कारण भी होगा ?' 'कारणका पता नहीं।' बस, यही असली प्रेम है।

१०९ जहाँ प्रेम प्रेमके लिये ही होता है—बिना किये ही होता है, किसी चाहकी जहाँ कल्पना भी नहीं है, वहीं निर्मल अहैतुक प्रेम प्रकट होता है।

११० यथार्थ सुन्दर और मधुर वही है जो सत् है, चेतन है, आनन्दरूप है; नित्य है, निर्मल है, निरतिशय है।

१११ मन जब सारे असत् प्रपञ्चोंसे हटकर इस 'सुन्दर' के लिये छटपटाता है तब उसके सामने उस अव्यक्त नित्य सुन्दर, नित्य मधुरका तुरंत प्रादुर्भाव हो जाता है।

११२ वह है सभी जगहपर छिपा हुआ। प्रेमभरी व्याकुलता ही उसे प्रकट करनेमें समर्थ है।

११३ भगवान्‌को प्राप्त करनेका सबसे सरल साधन है—तीव्र व्याकुलता। उसके लिये हमारे प्राण जितना ही अधिक करुण-क्रन्दन करेंगे, उतना ही वह हमारे समीप आयेगा।

११४ हमारा काम है, एकमात्र कर्त्तव्य है—व्याकुल हृदयसे नित्य उनका स्मरण करना, उन्हें पुकारना!

११५ भगवान् सर्वसमर्थ होते हुए भी व्याकुल हृदयकी करुण पुकार सहनेमें असमर्थ हो जाते हैं और बाध्य होकर उन्हें प्रकट होना ही पड़ता है। भूमितलमें भगवान्‌के अवतारका यही प्रधान कारण है।

११६ प्रायश्चित्त, तप, दान, व्रत आदि जितने भी पापनाशक साधन हैं—श्रीकृष्णका स्मरण सबसे श्रेष्ठ है। श्रीहरिके एक बारके स्मरणमात्रसे ही सारे पाप-ताप; सारी नरक-यन्त्रणाएँ निर्मूल हो जाती हैं।

११७ कर्मणा मनसा वाचा यः कृतः पापसञ्चयः।
सोऽप्यशेषः क्षयं याति स्मृत्वा कृष्णाङ्घ्रिपङ्कजम्॥

कर्म, मन और वाणीसे किये हुए समस्त पापोंका सञ्चय श्रीकृष्ण-चरण-कमलोंका स्मरण करते ही अशेषरूपसे क्षय हो जाता है।

११८ कलिकालकुसर्पस्य तीक्ष्णदंष्ट्रस्य मा भयम्।
गोविन्दनामदावेन दग्धो यास्यति भस्मताम्॥

'कलिकालरूपी तीखी दाढ़ोंवाले कराल सर्पका कुछ भी भय मत करो। गोविन्दनामरूपी दावानलसे दग्ध होकर वह राखका ढेर हो जायगा।'

११९ जगत्‌में अध्ययन और उपदेश करना सहज है। बड़ा कठिन है भागवत-जीवन बनाना।

१२० चुपचाप भगवदनुकूल आचरण करनेसे ही भागवत-जीवन सम्पन्न होता है। अनुकूल आचरणमें उनकी अहैतुकी कृपाका आश्रय करना चाहिये।

अपने हितैषी बनो

(लेखक—प्रो० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, लिट्०)

निज जीवनके प्रति जैसी हमारी व्यक्तिगत भावना, दृष्टिकोण तथा कल्पना होगी, उसीके अनुसार हमारा मार्ग भी मृदु अथवा कर्कश होगा। यदि एक व्यक्ति सुखी एवं समृद्ध है तो इसका प्रधान कारण यह है कि वह सदा-सर्वदा शुभ भावनामें निवास करता है। यदि कोई व्यक्ति क्लान्त है तो इसका विशिष्ट कारण यह है कि वह मनकी वैज्ञानिक क्रियाको चिन्ता, सन्देह, कृशताके कुत्सित चिन्तनमें ही समाप्त कर देता है। सुख तथा दुःख, समृद्धि तथा कृशता, उदारता एवं सङ्कीर्णता मानव-स्वभावकी उत्कृष्ट एवं निकृष्ट दो भूमिकाएँ हैं। इन दोनोंकी प्रतीति अधिकांशमें मनुष्यके व्यक्तिगत आदर्शों, विचारधारा, मानसिक दृष्टिकोण, वातावरण तथा शिक्षा-दीक्षापर निर्भर है। एक व्यक्ति आशावादके स्फूर्तिदायक वातावरणमें जन्म लेता है, उत्साह और दृढ़ताकी शुभ्र शिक्षा प्राप्त करता है, उत्कृष्ट विचार-धारामें तन्मय रहता है और श्रद्धापूर्वक अपने उज्ज्वल भविष्यपर दृढ़ विश्वास रखता है। दूसरा व्यक्ति सन्देहान्वित और शङ्काशील मनसे अपना जीवन-नाटक प्रारम्भ करता है, वह प्रतिकूल प्रसङ्गोंमें लिप्त रहता है, उसका जीवन-पुष्प अर्द्ध-विकसित अवस्थामें ही मुरझाने लगता है, अयोग्य एवं अभद्र वृत्तियों तथा अनिष्ट विचारोंसे ग्रस्त होनेके कारण वह सदैव खिन्न एवं क्षुब्ध बना रहता है। सद्भावनाके नियमोंका यथोचित रीतिसे पालन न करनेके कारण उसकी आत्मा मलिन, सङ्कीर्ण एवं अनुदार हो जाती है। अपने मानसिक प्रवाहको अनन्त शक्तिके महासागरकी ओर प्रवाहित करने या न करनेपर उसकी आत्मिक पूर्णता, उसका सौभाग्य, सच्ची समृद्धि और आत्मिक वैभव निर्भर है।

मनुष्यकी शिक्षा, प्राकृत अभिलाषा, संस्कार एवं कल्पना-राज्यपर उसका भविष्य ऐश्वर्य निर्भर है। मनुष्य! तू महान् है, उत्कृष्ट तत्त्वोंका स्वामी है, ईश्वरके दैवी उद्देश्यकी सिद्धिके लिये इस आनन्द-निकेतन मानव-सृष्टिमें आया है। तू सफलताके लिये, पूर्ण विजयके निमित्त, सुख-स्वास्थ्यके हेतु निर्मित किया गया है और इससे तुझे कोई विहीन नहीं कर सकता। शक्तिसागर परमात्माकी यह इच्छा कदापि नहीं है कि तू अपनी परिस्थितिके हाथका कठपुतला ही बना रहे। अपने आस-पासकी दशाका गुलाम बना रहे। ऐ अक्षय, अनन्त, अविनाशी आत्मा! तू तुच्छ नहीं, महान् है। तुझे किसी अशक्तताका अनुभव नहीं करना है। तू अनन्त शक्तिका बृहत् पुञ्ज है। जिन साधनोंको लेकर तू अवतीर्ण हुआ है, वे अचूक हैं। तेरी अद्भुत मानसिक शक्तियाँ तेरी सेविकाएँ हैं। तू जो कुछ चाहेगा, वे अवश्य प्रदान करेंगी। तू उनपर पूर्ण श्रद्धा रख, वे तुझे उत्तमोत्तम वस्तुएँ प्रदान करेंगी। तू साक्षात् पारस है; जिस वस्तुको स्पर्श करेगा, अपनी आत्माकी शक्तियोंद्वारा अवश्य स्वर्णवत् कर देगा। तेरा मन 'कल्पवृक्ष' है। वह तेरी आज्ञाओंका पालन करेगा। तू तो अमृतस्वरूप है। तेरी तेजस्विनी बुद्धि प्रतिबन्धके इस पारसे उस पार प्रविष्ट हो जायगी।' इस प्रकारकी स्फूर्ति-दायक शिक्षा पाया हुआ युवक संसारका सञ्चालन करता है। उसके दर्शनमात्रसे मृतप्राय व्यक्तियोंमें नवजीवनका सञ्चार होता है। संसार ऐसे व्यक्तिका मार्ग स्वयं साफ कर देता है। दुनियामें वे अपनी अभिरुचि, आत्मश्रद्धाका प्रकाश करते हैं।

संसारकी विद्याओंमें वही विद्या सर्वोपरि है, जो हमें पोषक-शक्तिका सञ्चय करना सिखाती है तथा जीवनको स्थायी सफलतासे विभूषित करती है।

एक दूसरा युवक है, जिसे इस विद्याका तनिक भी ज्ञान नहीं है और जिसके कारण उसका सामर्थ्य क्षय हो चुका है। जो निषेधात्मक वायुमण्डलमें–दुःख, लाचारी, सङ्कीर्णताके सङ्कुचित मनःक्षेत्रमें बड़ा हुआ है। ऐसा व्यक्ति अपने विचार भी अत्यन्त कमजोर रखता है। वह मन-ही-मन कहता है कि 'मैं बेकार हूँ, निर्बल हूँ। समृद्धि! तू मुझसे दूर रह। मैं इस योग्य नहीं कि तुझे प्राप्त कर सकूँ। मेरा जीवन वेदना, लाचारी और शङ्काका जीवन है। मैं नाचीज़ हूँ, तुच्छ हूँ, क्षुद्र हूँ।' जो व्यक्ति ऐसी शिक्षा पाकर संसारमें प्रवेश करता है, उसका सर्वनाश दूर नहीं है। मनको सङ्कीर्ण रखनेसे विचारोंमें वास्तविक शक्ति उत्पन्न नहीं होती। उसके संशय-भय, उसके आत्मविश्वासकी न्यूनता, उसकी डरपोक और निषेधात्मक शिक्षा-दीक्षा उसकी कार्यशक्तिको पङ्गु बना देते हैं।

आन्तरिक प्रदेशमें नैसर्गिक रीतिसे चलनेवाली

आध्यात्मिक क्रियाकी ओर मानस नेत्र एकाग्र रखनेसे विचारोंमें यथार्थता उत्पन्न हो सकती है । बलात्कारसे अथवा अत्यन्त आग्रहसे या केवल ऊपरसे की हुई क्रियाएँ मनको बलवान् नहीं बना सकतीं । शक्तिशाली मन एक शक्ति अथवा सामर्थ्य है—क्योंकि आन्तरिक मनमें जो कुछ भी अमर्यादित है, उसे यह बाहर प्रकाशित करता है ।

विश्वमें सबसे अधिक महान् कार्य अपने वास्तविक स्वरूपको पहचानना है । मनुष्यका शरीर कदाचित् लघु प्रतीत होता है, परन्तु उसका मन विश्वका एक महान् आश्चर्य है ।

'आत्मबन्धो ! तुम एक अल्पज्ञ जीव—एक निःसत्त्व परमाणु नहीं हो । तुम हाड़-मांसके शरीर ही नहीं हो, जीव ही नहीं हो, क्षुद्र या संकुचित नहीं हो; वरन् आत्मा—महान् आत्मा—परम आत्मा हो। तुममें दैवी अंश विद्यमान है । पूर्णता भरी हुई है । तुम दैवी सम्पत्तिके उत्तराधिकारी हो । तुम्हारी अद्भुतता और विशालता सर्वोच्च हैं । तुम ईश्वरकी सर्वोत्कृष्ट विभूति हो ।'

तुम्हें चाहिये कि तुम अपनी भावनामें परिवर्तन करो । अपनी हीनत्वकी भावनापर विजय प्राप्त करनेके लिये मनके विभिन्न व्यापार देखनेवाले द्रष्टा बनो । सर्वप्रथम अन्तःकरणमें जमी हुई निम्न प्रवृत्तिका उन्मूलन करो । फिर तुम जितना भी उच्च सोच सकते हो, जितना उत्कृष्ट आदर्श समुपस्थित कर सकते हो, जितना निर्मल हितकारक प्रकाश उद्भासित कर सकते हो, उतना करो । जैसे-जैसे तुम हितकी भावनापर चित्त एकाग्र करोगे, वैसे-वैसे तुम मनके सामर्थ्योंको प्रकट करोगे और विशेषरूपसे महान् बनते जाओगे । हितैषी विचारोंपर आरूढ़ रहनेसे, उनका आविष्करण करनेसे मनुष्यकी अभिवृद्धि होती है । तुम चाहे संसारमें किसी भी स्थितिमें क्यों न हो, हितैषिता सदैव कल्याणकारी है । जब तुम अपने अन्तस्तम प्रदेशमें पूर्णरूपसे शुभ भावना जाग्रत् कर लोगे, विद्युत्-वेगसे प्रवाहित होनेवाली मनकी क्रियाको हितैषिताकी दिव्य ज्योतिसे देदीप्यमान कर सकोगे तब तुम्हें पूर्णज्ञान तथा अपूर्व शान्तिका अनुभव होगा । हितैषिताकी भावनाद्वारा जितने अंशोंमें हम अपने जीवनका विकास कर सकेंगे, उतने ही अंशोंमें उसका यथार्थ उपयोग भी कर सकेंगे ।

जो मनुष्य अपने अन्तःकरणकी निकृष्ट भावनाओंको तिलाञ्जलि देकर उच्च आत्मप्रदेशमें प्रविष्ट हो जाता है, वह अपने हृदयमें प्रवाहित होनेवाले गुप्त सामर्थ्यके अवरुद्ध स्रोतको पुनः तीव्र कर देता है । विचारोंको उत्पन्न करनेवाली कल्पना-शक्ति मनकी सृजन-शक्ति है—यदि हमें उच्च विचारोंका निर्माण करना है और विशेष विशाल वस्तुओंकी रचना करना है तो हमें अपनी कल्पना-शक्तिको निर्मल, हितकारक तथा उदार बना लेनी चाहिये । यह अवस्था शनैः-शनैः अभ्याससे प्राप्त होती है । जब-जब अनिष्ट मनोवेग चित्तको व्याकुल करते हैं, तब-तब द्रष्टा मनसे पृथक् होकर दुष्कामनाओंके प्रवाहपर अपने ज्ञानचक्षु स्थिर करता है, दुर्विचार-शृङ्खला टूट जाती है और समस्त मानस व्यथाओंका अन्त हो जाता है ।

तीव्र प्रवाहमें प्रवाहित क्षुद्र तिनकेकी तरह बहावमें यों ही बह जानेके लिये तुम नहीं बने हो । तुम महान् पिताके महान् पुत्र हो । तुम्हें पुष्ट हाथ-पैर प्राप्त हैं, जिनके द्वारा तुम स्व-पथ-निर्माण करते हो । तुम्हें उत्कृष्ट मानसिक एवं आध्यात्मिक शक्तियाँ उपलब्ध हैं, जिनसे तुम अपना लक्ष्य निश्चित कर सकते हो । तुम स्वयं अपने भाग्यकी रचना करते हो । भाग्यचक्रकी ऋजु अथवा कुटिल गतिमें तुम्हारा अपना ही उत्तरदायित्व निहित है । तुम जो बोते हो, वही काटते हो । अपनी उन्नतिके पर्वतपर तुम्हें खुद अपनी सहायतासे चढ़ना है । तुम्हारे मस्तिष्कमें जिस अद्भुत प्रतिभाके बीज पड़े हैं, उन्हें स्वयं ही उद्योगके बलसे तुम्हें अङ्कुरित, पल्लवित एवं पुष्पित करना है । अपनी आत्माको तुम्हें स्वयं ही जाग्रत् करना है । मनोविकारोंके तूफ़ानसे तुम स्वयं ही अपने-आपको मुक्त कर सकते हो । जबतक तुम निज आत्मतेजको प्रकट नहीं कर लेते, तबतक बाहरकी कोई शक्ति तुम्हारी सहायता न करेगी ।

संसारके अन्य उत्कृष्ट शक्तिसम्पन्न महापुरुषोंने जो अद्भुत कार्य किये हैं, उन-जैसे कार्योंका सम्पादन करना कदापि दुष्कर नहीं है । विचार करो, सोचो—तुम किस बातमें पिछड़ रहे हो ? तुम्हें ज्ञात होना चाहिये कि परमेश्वरने सबको समान शक्तियाँ प्रदान की हैं । ऐसा नहीं कि किसीमें अधिक या न्यून हों । परमेश्वर किसीके साथ अन्याय नहीं करता । सब शक्तियाँ तुम्हारे शरीरमें विद्यमान हैं । तुम उन्हें जाग्रत् करनेका कष्ट नहीं करते । किसी विशेष शक्तिसे कार्य न लेकर हम उसे कुण्ठित कर डालते हैं । दूसरी ओर किसी विशेष दिशामें अपनी शक्तिका प्रवाह मोड़कर हम उसे अधिक परिपुष्ट एवं विकसित कर लेते हैं । निज शक्तियोंको जाग्रत्

तथा विकसित कर लेना अथवा उन्हें शिथिल, पङ्गु, निश्चेष्ट बना डालना स्वयं तुम्हारे ही हाथमें है। स्मरण रखो, संसारकी प्रत्येक उत्कृष्ट वस्तुपर—हर एक प्रतिभासम्पन्न, आश्चर्यचकित कर देनेवाली वस्तुपर तुम्हारा जन्मसिद्ध अधिकार है। यदि तुम अपने मनके गुप्त महान् सामर्थ्योंको जाग्रत् कर लो और लक्ष्यकी ओर प्रयत्न, उद्योग और उत्साहपूर्ण आग्रहसे अग्रसर होना सीख लो तो जैसे चाहो आत्मनिर्माण कर सकते हो। मनुष्य जिस वस्तुकी आकाङ्क्षा करता है—उसके मनमें जिन महत्त्वाकाङ्क्षाओंका उदय होता है और जो आशापूर्ण तरङ्गें उठती हैं, वे अवश्य पूर्ण हो सकती हैं—यदि वह दृढ़ निश्चयद्वारा अपनी प्रतिभाको जाग्रत् कर ले।

अतएव प्रतिज्ञा कर लीजिये कि चाहे जो कुछ हो, आप एक कार्य अवश्यमेव करेंगे। वह यही कि अपनी शक्तियोंको ऊँची-से-ऊँची बनायेंगे, प्रत्येक दिन अपनी योग्यता, अपनी विलक्षणतामें अभिवृद्धि करते रहेंगे, आत्मामें जो ईश्वरीय गुण विद्यमान हैं, उनपरसे अविद्या (Ignorance) का आवरण उठाते रहेंगे और इस प्रकार अपने यथार्थ स्वरूपसे पूर्ण परिचित हो जायँगे।

नवीन भावनाकी सृष्टि कर लेना ही आत्मप्रतीतिके मार्गमें नया कदम उठाना है। तुम अपने विचारोंमें परिवर्तन करो अर्थात् निज अन्तःकरणकी स्थायी वृत्तिको बदल दो। अभीतक तुमने जिन सङ्कीर्णता—सीमाबन्धनकी सङ्कुचित भावनाओंमें अपना जीवन व्यतीत किया है, उनके स्थानपर समृद्धिकी नव भावनाएँ दृढ़ करो। नये विचार, नवीन भावनाएँ, नया दृष्टिकोण तुम्हें कहाँ प्राप्त हो सकेगा? उसके लिये सर्वप्रथम अपने मनको टटोलो। अपने आपसे स्वयं प्रश्न करो, गम्भीरतापूर्वक विचार करो, चिन्तन करो। हमारी हार्दिक अभिलाषाएँ हमारे उत्पादक अन्तर्बलको उत्तेजित करती हैं। वे हमारी शक्तियोंको परिपुष्ट करती हैं। अपनी आन्तरिक महत्त्वाकाङ्क्षाओंको स्पन्दन देनेसे वे स्वयं ही हमें प्रशस्त मार्ग दिखा देती हैं। उत्तम पुस्तकोंका अध्ययन करो, उनमें अपने प्रश्नोंके उत्तर खोजो। सत्सङ्ग करो और ऐसे व्यक्तियोंसे शङ्का-निवारण करो, जो मनकी उच्च भूमिकामें निवास करते हैं। परमेश्वरकी अनन्त शक्तिकी छायामें जीवन-वृक्षको विकसित करो। जीवनकी सबसे उत्कृष्ट भावनामें रमण करो। जीवनके जिस स्थलमें पड़े हो, उससे असन्तुष्ट हो जाओ। अपनी लाचारीकी, निर्धनताकी, मूर्खताकी परिस्थितिको तिलाञ्जलि दे दो और जीवनको स्वतन्त्रताकी सुमधुर सुगन्धसे सुवासित करो। विचारोंको ऊँचा उठाओ। मनोमन्दिरके प्रवेशद्वारको दिव्य और उत्कृष्ट वस्तुओंके लिये खोल दो।

निशाना मारते समय निशानची कुछ आगेको मारते हैं, तब वह यथार्थ स्थानपर लगता है। तुम अपने जीवनको जैसा निर्माण करना चाहते हो, उसकी सर्वोत्कृष्ट प्रतिमा, सबसे उत्तम स्वरूप, अच्छे-से-अच्छा नमूना अपने सम्मुख रक्खो और फिर सूईकी तरह अपने आदर्शकी पूर्तिमें लग जाओ।

अनेक पुरुष तनिक-सी प्रतिकूलता उपस्थित होते ही अस्त-व्यस्त हो जाते हैं। उन्हें स्मरण रखना चाहिये कि विकट स्थिति, प्रतिकूलताके अवसर, दरिद्रता एवं विघ्न आदि कारणोंसे ही मानवजातिको उन्नतिकी उत्तेजना मिली है। ऐसे ही प्रसङ्गोंमें मनुष्यका असामान्य पराक्रम (Extraordinary resolution) प्रकट हुआ है। स्थूल दृष्टिसे तो ऐसे प्रसङ्ग अनिष्ट जान पड़ते हैं, किन्तु वस्तुतः इन्हींसे मनुष्यका बड़ा भारी हितसाधन होता है। सामान्य प्रसङ्ग और साधारण जीवनसे मनुष्यकी आन्तरिक शक्तियोंका विकास नहीं होता। यदि मनुष्यको प्रतिघातकी उत्तेजनाके अवसर न मिलें तो गुप्त शक्तियाँ कदापि प्रकट न हों। ये शक्तियाँ इतने गहन स्तरमें निवास करती हैं कि सामान्य कारणोंसे उनपर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। उनके लिये ऐसे कारण अपेक्षित हैं, जो मर्मस्थानपर चोट करें।

मैंने अनेक व्यक्ति ऐसे देखे हैं जिनमें अनेक प्रकारकी योग्यताएँ एवं शक्तियाँ हैं, किन्तु वे जहाँ-के-तहाँ पड़े हैं। तिलभर भी आगे नहीं बढ़े। उन्होंने अपनी शक्तियोंका प्रकाश नहीं किया। उन्हें उनका यथार्थ ज्ञान भी नहीं है। जिस प्रकार व्यायामद्वारा हम निज शरीरके प्रत्येक अवयवको बलवान् बना सकते हैं—निर्बल और पतले-दुबले हाथ-पैर सबल और दृढ़ बनाये जा सकते हैं, निर्बल फेफड़े भी बलवान् बन सकते हैं और कमजोर यकृत् (Liver) की भी जठराग्नि तीव्र कर सकते हैं, उसी प्रकार हम अपने मनमें निवास करनेवाली तर्कशक्ति, तुलनाशक्ति, स्मरणशक्ति, लेखनशक्ति, काव्यशक्ति, उद्योगशक्ति, इच्छाशक्ति आदि

सैकड़ों शक्तियोंका विकास कर सकते हैं। यदि हम हितैषिताकी भावनाको लेकर अग्रसर हों और उनके अनुकूल सङ्गति और परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दें तो अवश्य ही हममें विलक्षण परिवर्तन हो जायगा। यदि मनुष्य हमेशा अपने सम्बन्धमें आशापूर्ण, शुभसूचक भाव रक्खें, सदैव उन्हीं हितकर भावनाओंको मनोमन्दिरमें आने दें, तो उन्हें अपनी कार्य-शक्तिकी वृद्धि होती प्रतीत होगी। जहाँ मनुष्यने सौभाग्यशाली शुभ चित्रोंको देखनेकी आदत बना ली कि उसके विपरीत परिणामवाली आदत स्वयं नष्ट होने लगेगी। यदि हमारे देशके नवयुवक उक्त प्रकारकी शुभ दृष्टिका अभ्यास कर लें तो मैं निश्चयपूर्वक कहता हूँ हमारी अपूर्व अभिवृद्धि होगी।

आप चाहे जो कार्य हाथमें लें, आप चाहे किसी भी दिशामें अग्रसर हो रहे हों, आपने निज जीवनके विषयमें चाहे जो आदर्श स्थापित किया हो, सफलताके लिये केवल एक बातपर विशेष ध्यान रखिये। सदा-सर्वदा हमारा हित ही होगा, हमारा लाभ, हमारी विजय, हमारी सिद्धि ही होगी--ऐसी भावनापर विचार दृढ़ रखनेसे हमारी आधी लड़ाई फतह हो जाती है। उच्चाभिलाषा सर्वप्रथम आत्म-प्रेरणाके रूपमें परिणत होती है, तदुपरान्त उसे सिद्धिका स्वरूप प्राप्त होता है। इस प्रसङ्गमें निश्चयात्मक प्रकृतिसे बड़ा लाभ होता है। निश्चयात्मक प्रकृतिवालेकी चित्त भी और पट्ट भी। उसमें वह शक्ति रहती है कि चारों ओरसे उसकी विजय-ही-विजय है। इससे मनुष्य मनचाहा कार्य सरलतापूर्वक कर सकता है। जो अपने आत्मविश्वासको खो देते हैं, उनकी निश्चयात्मक प्रकृति निषेधार्थक प्रकृतिमें परिवर्तित हो जाती है। उनकी निर्णय करनेकी शक्तिका भी ह्रास हो जाता है। अतएव, प्रत्येक परिस्थितिमें अपने आदर्शोंपर दृढ़ रहो। अपने शरीरको, आत्माको, मनको परिपुष्ट और पूर्ण करते रहो, उसमें दिव्यता लाते रहो, आनन्द, उत्साह और तेजकी वर्षा करते रहो। यही सब विद्याओंमें सर्वशिरोमणि विद्या है।

हित-प्रेरक सङ्कल्प—

प्रतिदिन रात्रिमें निद्रासे पूर्व एकान्त स्थानमें शान्तचित्त होकर बैठ जाओ। शरीरको निष्क्रिय कर लो और मनको सब विचारोंसे हटाकर हितप्रेरक सङ्कल्पोंपर चित्त एकाग्र करो। निःशङ्क भावसे कहो—

'मैं अब अनुभव करने लगा हूँ कि मेरा असत् चिन्तन कितना भयङ्कर शत्रु है। मैंने अपने विषयमें तुच्छ विचार रखकर अपने साथ बड़ा अत्याचार किया है। मेरा आत्मा ईश्वरसे अभिन्न है। ईश्वर सर्वत्र वर्तमान हैं। साक्षात् आनन्दस्वरूप, सच्चिदानन्दरूप ईश्वर मेरे अन्तरमें वर्तमान हैं। मेरा हृदय सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप ॐका परम पवित्र मन्दिर है। अतः उसमें भय, चिन्ता एवं दुष्ट मनोविकार क्योंकर प्रलय मचा सकते हैं। ईश्वर तो पूर्ण निर्भय, निःसङ्ग एवं सर्वथा निष्पाप हैं। मैं उनका बालक हूँ; अतः मैं भी पूर्ण निर्भय हूँ, पूर्ण निःसङ्ग और निष्पाप हूँ। मेरे अंदर सम्पूर्ण जगत्के प्रेरक तथा प्राण विश्वव्यापी ॐकार विराज रहे हैं। मैं आज अपनी मोहनिद्रासे जाग गया हूँ। आज मुझे अपने ईश्वरत्वका सम्यक् ज्ञान हुआ है। ॐ

मैं जान गया हूँ कि ईश्वर परम वीर्यवान् हैं, पूर्ण भाग्यवान् तथा असीम सामर्थ्यवान् हैं। मैं उनका अपना हूँ। मैं भी परम वीर्यवान् हूँ, पूर्ण भाग्यवान् हूँ, उसी प्रकार सामर्थ्यवान् हूँ। आज मैंने अपनी निकृष्ट भावनाओंको बहिष्कृत कर दिया है। अब मैं भयभीत नहीं होता, हानिसे विचलित नहीं हो जाता, संसारकी तंग गलियाँ मुझे अशान्त कदापि नहीं कर सकतीं। ॐ

ईश्वर पूर्ण निष्काम, निर्विषय तथा निर्विकार हैं। मेरी आत्मामें वही दिव्य प्रवाह प्रवाहित हो रहा है, वही तत्त्व मुझे भी जीवन प्रदान कर रहे हैं। मैं भी पूर्ण निष्काम, निर्विषय एवं निर्विकार हूँ। ॐ

संसारकी कोई दुष्ट शक्ति मुझे सत्यमार्गसे विचलित नहीं कर सकती। मेरी शक्ति अनन्त है। मुझमें वह बल है कि जो चाहूँ कर सकता हूँ; जिस वस्तुकी इच्छा करूँ, वह मुझे प्राप्त हो सकती है। संसारको मेरी आज्ञा अक्षर-अक्षर माननी होगी। अब मैं खूब सँभल गया हूँ। मन तथा इन्द्रियोंकी शक्तियोंसे पूर्ण परिचित हो गया हूँ। प्रेमस्वरूप, शान्तिस्वरूप एवं सच्चिदानन्दरूप परमेश्वर मेरा रक्षक है। आज मेरे जीवनका नवीन पृष्ठ खुल रहा है। ॐ

कुटिल और असत्य शिक्षा

(इतिहासका ग्रेजुएट)

'कल्याण'के दिसम्बर १९४३ तथा जनवरी और मार्च, १९४४ के अङ्कोंमें 'सिद्धान्त'-सम्पादक पं० गङ्गाशङ्करजी मिश्र, एम्० ए० का 'शिक्षा' शीर्षक और मार्चके अङ्कमें श्रीउमराव सिंहजी रावत, एम्० ए० का 'सृष्टिका सर्वप्रथम स्रोत एवं आर्योंका मूलस्थान' शीर्षक--ऐसे दो लेख निकले हैं। हमारा दोनों ही लेखकोंसे ऐकमत्य है, यद्यपि हमारे आधार प्रधानतया शास्त्र हैं; और यह लेख अपने-अपने अंशमें दोनों ही लेखोंकी पुष्टिके लिये है। शिक्षाके सम्बन्धमें हमारा यह मत है कि दुनियाकी परिस्थिति और परस्पर व्यवहारकी दृष्टिसे अंग्रेजी शिक्षा आवश्यक है और इससे कुछ लाभ भी हैं, अन्यथा वर्तमान शिक्षा कुटिलता और असत्यताभरी और सर्वथा सर्वनाशकारिणी है—जिसको पूर्णतासे हम अलग ही लेखमें दिखला सकते हैं। रावत महाशयके लेखके सम्बन्धमें हमारा यह मत है कि शिक्षाकी भाँति वर्त्तमान इतिहास भी कुटिलता और असत्यताभरे हैं। दोनोंके प्रमाणमें हम कुछ अनुभवोंको लिखते हैं--

जबसे पाश्चात्त्य ईसाई जातियोंका भाग्योदय हुआ है, पृथ्वीमें कोई देश ऐसा नहीं है जहाँ इनमेंसे किसी-न-किसीका अधिकार न हो। अर्थात् जो देश अथवा प्रजा साक्षात्-रूपसे इनकी सत्ताके अधीन नहीं हैं और स्वतन्त्र कहलाते हैं, उनके भी कई परोक्ष प्रकारोंसे भाग्यविधाता ये ही हैं (अन्यथा ईराकके--अथवा ईरानके, यदि हम भूलते हों—बेचारे आठ वर्षके राजकुमारको अंग्रेजीमें ब्रॉडकास्ट क्यों करना पड़े ?) इन्होंने भूमण्डलभरमें सब विषयोंमें ऐसी नयी विचारशैली, विद्या, कला और लौकिक सामग्री उत्पन्न और प्रचारित की है जैसी पहले कभी देखी अथवा सुनी नहीं गयी थी, मानो ईश्वरके बराबरके दूसरे सृष्टिकर्त्ता ये हैं। उसका एक सामूहिक नाम अंग्रेजीमें Civilization (सिविलाइज़ेशन) है--जिसके आजकल हिन्दीमें प्रचरित नाम 'सभ्यता' और 'संस्कृति'—दोनों न सर्वांशमें वाचक हैं और न उपयुक्त ही हैं। इस सिविलाइज़ेशनके मूल प्रत्यक्षवाद (अथवा जड--भौतिकवाद) और Science (विज्ञान) हैं और परम प्रयोजन अथवा पुरुषार्थ केवल अर्थ और काम—यह द्विवर्ग है। इनकी इस अद्भुत सृष्टिको हम 'विश्वामित्रीय सृष्टि' कह सकते हैं, यदि परिणामके विचारसे यह शब्द पाणिनिके 'अकः सवर्णे दीर्घः' (विश्व+अमित्र) इस सूत्रसे बनाया जाय, न कि 'मित्रे चर्षौ' (विश्व+ मित्र) इस सूत्रसे। यही सृष्टि पहले विश्वव्यापी संग्रामद्वारा रंग ला चुकी है और यही वर्त्तमान संग्रामद्वारा ला रही है। एक पक्ष पहले भी कहता था और अब भी कहता है कि हम इसी सृष्टि (सिविलाइज़ेशन) की रक्षाके लिये लड़ रहे हैं। अब देखना यह है कि उस अनादि-अनन्त स्रष्टाको अपनी सृष्टिकी कुशलके लिये फिर भी श्रीनारदको भेजनेकी आवश्यकता होती है अथवा नहीं।

अब इस विश्वामित्रीय सृष्टिका स्वरूप-प्रभुओंके अधीन परदेशकी शिक्षामें भी देखिये। प्राचीन प्रभुलोग प्रजाके शारीरक विजयमात्रसे सन्तुष्ट हो जाते थे और वह शारीरक विजय इसीसे सिद्ध हो जाती है कि समय-समयपर प्रभुओंकी सर्वशक्तिमत्ता और अपनी निर्बलता और असहायता व्यावहारिक रूपमें प्रजाकी दृष्टि और अनुभवमें आती रहे। परन्तु नवीन प्रभुओंके द्विवर्गीय पुरुषार्थकी सीमा कहाँ ? इसलिये अपनी सत्ताकी नींव शेषभगवान्के सिरपर लगानेके लिये, प्रजाके अन्तःकरणपर भी विजय स्थापित न किया तो क्या किया ? प्रजाकी जातिविशिष्ट बुद्धि अर्थात् विचारशैली सर्वांशमें ऐसी पलट दी जाय कि वह सर्वथा प्रभुओंकी इच्छाके अनुकूल हो जाय और उसको अहितमें हित और हितमें अहित दिखायी दे। उदाहरणके तौरपर (१) वह अपने ही महापुरुषों और महिमाकी वस्तुओंको दोषभरी और तुच्छ दृष्टिसे देखने लग जाय, ताकि उसमें किसी प्रकारका अभिमान उत्पन्न न होने पावे--जो कि द्वेषभाव उत्पन्न करता है; (२) उसका देशादि अपनी वस्तुओंपरसे आत्मीयभाव जाता रहे--जो कि अभिमानके अतिरिक्त, ईर्ष्या और संहति (एकता) उत्पन्न करता है; (३) उसकी अपने धर्म और शास्त्रोंपर ऐसी दोषबुद्धि 'बुद्धिभेद' और अश्रद्धा उत्पन्न हो जाय कि उसकी सभी आध्यात्मिक शक्ति (Inspiration) नष्ट हो जाय--जिससे वह प्रभुओंकी सत्ताको खटका पहुँचानेवाले किसी पुरुषार्थके योग्य न रहे; (४) प्रजाके भिन्न-भिन्न अंशोंमें परस्पर ऐसा द्वेषभाव उत्पन्न हो और फैल जाय कि उनमें प्रभुसत्ताके विरुद्ध कभी संहति न होने पावे; वे फूटसे सदा निर्बल रहें; और परस्पर

ही एक दूसरेको सिर न उठाने दें और दबोच दें। ऐसे कई प्रकार हैं, जिनसे प्रजाकी बुद्धि फेरकर प्रभुओंका ऊपर लिखा प्रयोजन सिद्ध किया जा सकता है। इसका सर्वव्यापी और मुख्य साधन शिक्षा ही हो सकती है।

इसीलिये अंग्रेजी आदि पाश्चात्त्य भाषा और शास्त्राभासोंकी ही नहीं, अपितु संस्कृत, अरबी, फारसी आदि प्राचीन और हिंदी-उर्दू आदि वर्तमान देशभाषा और शास्त्रोंकी—सब शिक्षा, साक्षात् और अनेक परोक्ष प्रकारोंसे, प्रभुओं अथवा उन्हींके अर्थक्रीत अथवा साँचेमें ढले हुए भारतीयोंके हाथमें है; और परिस्थिति ऐसी है कि यह किसीकी शक्ति नहीं कि भिन्न प्रकारकी शिक्षाका प्रचार कर सके। अंग्रेजी भाषाकी प्रधानता और सर्वव्यापिता इसीलिये रहती है कि (१) प्रभुओंको अधिक-से-अधिक राज्यपद अपने अधिकारमें लेने और (२) अनुकरणप्रिय प्रजामें भोग-विलास और फैशनकी प्रवृत्तिद्वारा, अपने व्यापारको अधिकाधिक फैलानेका अवकाश मिले; (३) प्रजाके मनकी कोई बात और कार्य प्रभुओंसे गुप्त न रहे; (४) और यह अटल नियम है कि जो जिसकी भाषा सीखता है, उसके संस्कार और मनोवृत्ति उसीके-से होते हैं और वह उसीका अनुवर्त्ती होता है—जैसा कि महामना सर जान उडरफ Sir John Woodroffe (Arthur Avalon), अपनी Seed of a Race पुस्तकमें कह गये हैं। जब कि प्रजाके दर्शनशास्त्रतक ऐसे कुप्रकारसे और कुरूपमें लिखे और सिखाये जाते हैं कि उनपर दोषदृष्टि, बुद्धिभेद और अश्रद्धा हुए बिना न रहें, तो यह मूर्ख भी समझ सकता है कि राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र और इतिहास-जैसे विषय तो—जिनसे सत्ताके प्रति प्रजाके दुर्भाव उत्पन्न होनेका विशेष खटका होना चाहिये—कैसे शुद्ध और सत्य रूपमें सिखलाये जा सकते हैं?

परन्तु हमारा दुर्भाग्य देखिये कि हम प्रभुओंको ऐसे मनचाहे अन्धशिष्य मिल गये कि उनकी विश्वामित्रीय सृष्टिको ऐसा आत्मसात् (assimilate) कर लिया कि मानो हम उसीके जीव थे। फिर तो प्रभुओंको कुछ विशेष चिन्ता और यत्न ही करनेकी आवश्यकता नहीं रही और हमीं उस सृष्टिके स्वतन्त्ररूपसे पोषक, सहायक और प्रचारक बन रहे हैं। 'हम' से हमारा तात्पर्य अधिकांश अंग्रेजी-पढ़े भाइयोंसे है—जिनका ईश्वर रुपया, वेद पाश्चात्त्य जातिका वचन, धर्मशास्त्र अंग्रेजी कानून और मत स्वेच्छाचार है। अच्छा होता, यदि इन बड़ी-बड़ी डिग्रीधारियोंके सिरमें विद्याके नामपर खाली भूसा भरा रहता—जिससे अधिक सार हम उस विद्यामें नहीं देखते; परन्तु दुर्भाग्य तो यह है कि वह भूसा भी नहीं, किन्तु हलाहल है—जो उनका और उनके भाइयोंका सर्वनाश करनेवाला है। प्रमाण और तर्क—ये दो भूत इनकी बुद्धिपर ऐसे छाये रहते हैं कि सत्य और परिणामके विचारका तो उसमें प्रवेश ही नहीं हो सकता, चाहे कोई कितनी ही सिरपच्ची इनके साथ करे; प्रत्युत वही इनकी दृष्टिमें मूर्ख बनता है—मानो प्रमाण और तर्कका ठेका तो इन्हींने ले रक्खा है। इसलिये यदि कोई हमसे पूछे कि इस देश, आर्यजाति, आर्यधर्म और आर्यत्वके सबसे बढ़कर अनिष्टकारी कौन हैं, तो हम कहेंगे—ये हैं। और यदि कोई पूछे कि तो फिर इन चारोंका उद्धार कौन करेगा, तो हम कहेंगे कि कम-से-कम ये तो नहीं कर सकते, प्रत्युत दिनोंदिन चारोंको पातालमें ही पहुँचायँगे। हमारे इस मतकी सत्यता तो तब जान पड़े जब हम किसी लंबे लेखद्वारा कार्य-कारणसम्बन्धसे इनकी बुद्धि और आचरणका विवेचन करें। न्यायके नाते इतना हम अवश्य कहेंगे कि ये भी उस परिस्थितिके विवश हैं—जिसके उत्पन्न करनेवाले और हैं और बहुत कुछ अंशमें निर्दोष इसलिये हैं कि इनकी बुद्धि भी जन्मसे ही उन्हींके गिरवी रखी हुई होती है।

यह वाङ्मुख बाँधकर हम कुछ उदाहरणोंसे दिग्दर्शन कराते हैं कि पाश्चात्त्य विद्वानोंने हमारे दर्शनादि शास्त्रोंपर किस कुप्रकारसे और कुरूपमें ग्रन्थ और इतिहास-लेखकोंने किस कुटिलता और असत्यताके साथ प्राचीन समयके इतिहास लिखे हैं। मध्य और वर्तमान कालके इतिहासोंकी कुटिलता और असत्यता तो इतनी स्पष्ट है कि विस्तारके भयसे हमने उनका एक ही उदाहरण दिया है—

(१)

हमको अब भी आश्चर्य हुआ करता है कि पहले-पहले Christian Literature Societies (ईसाई धर्मग्रन्थ-प्रचारक संस्थाएँ) किस बित्तेपर Pice papers और Tracts पुस्तिकाओंद्वारा आर्योंके धर्म, शास्त्र, अवतार, आचार्य, महापुरुष और ब्राह्मण-जातिको पानी पी-पीकर गालियाँ दिया करती थीं। कदाचित् तबतक वे न जानने पायी होंगी कि हमारे चतुर्थ वर्णकी ज्ञातियोंमें जो संत हुए हैं, उनके चेले बातों-ही-बातोंमें बाइबलसे ऊँचा तत्त्व पादरियोंको सिखला सकते हैं।

सरकारी शिक्षालयोंकी Readers (अंग्रेजी पाठ्य-पुस्तिकाओं)में ऐसे-ऐसे उपदेश दिये जाते थे कि—आभूषण बनाने और पहनने, सोना-चाँदी और रुपया धरतीमें गाड़ने और विवाहादि उत्सवों और मृत्युके अवसरोंकी जेवनारोंमें रुपया बिगाड़नेकी रीतियोंको छोड़ो—अर्थात् धनको मत छिपाओ, अपने बड़े-बड़े कामोंमें मत खर्च करो और सबको प्रकट कर दो, ताकि प्रभु इच्छानुसार बहुत कुछ भागको टैक्स, व्यापार आदिके द्वारा आत्मसमर्पण करा सकें। वर्षोंसे वैसा हो भी गया।

जवानीके आरम्भ और मध्यका विवाह गुड्डे-गुड्डियोंका खेल बतलाया जाता था और उपदेश दिया जाता था कि जवानी समाप्त हो जानेपर अर्थात् ५०-६० वर्षकी पूर्णायुमें, जब यमराजका परवाना आधे रास्ते पहुँच जाय, विवाह करो। इस शिक्षा और परिस्थिति—दोनोंने वर्षोंसे वैसा भी कर दिखलाया।

पहले-पहले पौराणिक अर्थात् वर्तमान हिंदूधर्म और उसके शास्त्रोंकी छीछालेदर की जाती थी। शिक्षा और परिस्थिति—दोनोंने यज्ञादि कर्मकाण्डोंको नामशेष कर ही दिया। परन्तु जब उपनिषद् और दर्शनोंकी चर्चा छिड़ी, तब क्या करते? सबसे बढ़कर चक्षुशूल सर्वदर्शनशिरोमणि अद्वैतवेदान्त ठहरा।

यहाँ भी तुलना और इतिहासात्मक समालोचनाके नामपर Divide and rule (फोड़ो और शासन करो) वाली नीति लगायी गयी और हमारे गुरु भी पाश्चिमात्य ही बने। (१) उपनिषदोंका एक दूसरेसे, (२) व्याससूत्रोंका उपनिषदों और अन्य आर्ष वेदान्ताचार्योंके मतोंसे, (३) शाङ्करभाष्यका व्याससूत्रों, तीनों प्रस्थानोंके भाष्यों, शङ्करके पूर्ववर्त्ती और समकालीन आचार्यों और द्वैतसम्प्रदायोंके मतोंसे सिर फुड़ाया गया, अर्थात् विरोध दिखलाया गया; प्रत्येककी पूर्ववर्त्तिता, परवर्त्तिता अर्थात् प्राचीनता, अर्वाचीनता तथा उसके आधारपर प्रामाणिकता, अप्रामाणिकताकी जाँच की गयी; और इस प्रकारकी ऐतिहासिक शङ्काएँ खड़ी कीं गयीं कि (१) ब्रह्मसूत्र, महाभारत और भागवतादि पुराणोंके रचयिता वेदव्यास एक ही हैं अथवा भिन्न-भिन्न; (२) भिन्न-भिन्न हैं तो कौन किसका रचयिता है; (३) वेदव्यासके इतने नाम मिलते हैं, उनमेंसे कौन-कौन इन तीनोंके रचयिता हैं; (४) भगवद्गीताके श्रीकृष्ण कौन हैं और भागवतके कौन इत्यादि-इत्यादि। सूत्र-भाष्यादिके तात्पर्य, विरोध, प्राचीनता-अर्वाचीनता और प्रामाणिकता-अप्रामाणिकताके निर्णयका आधार भी पाश्चात्त्य गुरुओंकी कल्पना ही ठहरी—जिनका अद्वैतवेदान्तपर कटाक्ष और द्वैतसम्प्रदायोंपर पक्षपात स्पष्ट है। इस प्रकार जो अनेक दर्शन, मत और ग्रन्थोंमें परस्पर विरोध-ही-विरोध और शङ्का-ही-शङ्काएँ दिखलायी जायँ, तो जिज्ञासु अथवा विद्यार्थीकी बुद्धि क्यों न डावाँडोल हो और किसपर उसकी श्रद्धा हो! वह तो 'इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः' होना ही चाहिये और उसकी दृष्टिमें अपने दर्शनोंकी क्या महिमा रह सकती है—जो कि वादपाण्डित्य दिखलानेमात्रकी वस्तु नहीं, किन्तु आत्मोद्धारके लिये परम श्रद्धाके साथ श्रवण-मनन-निदिध्यासनपूर्वक अनुभव करनेकी वस्तु हैं।

संस्कृत भाषा और इसके एक-एक शास्त्र ऐसे पूर्णताकी सीमातक नियमबद्ध, व्यवस्थित और त्रिकालके लिये निश्चित हैं कि इसी कारण लोहेके चने हैं और इसके शास्त्र और ग्रन्थोंकी गम्भीरता और विस्तार देखो तो मानो महासागर अथवा हिमालय फैला हुआ है। प्राचीन समयमें भी जो पण्डित होते थे, उनको भी सारी उम्र गुरु और संस्कारपरम्परा और सात्त्विकी चर्याके साथ सरस्वतीसाधनाके तौरपर विद्याभ्यास करना पड़ता था। तब संस्कृत भाषा और शास्त्रोंपर उनका अधिकार हो पाता था। एक-दो दर्जन पाश्चात्त्य विद्वानोंने वेद और दर्शनादि संस्कृत शास्त्रोंपर पाश्चात्त्य भाषाओंमें ग्रन्थ लिखे हैं और संस्कृत ग्रन्थोंका सम्पादन किया है। यह सत्य है कि इन लोगोंने हमारे पण्डितों और कोशोंकी सहायतासे जर्मनी, इँगलैंड आदिमें संस्कृत शास्त्रोंको समझनेके लिये बड़े-बड़े कोश बना लिये हैं और हमारे ही पण्डितोंकी सहायतासे कई संस्कृत ग्रन्थोंका उत्तम अनुवाद भी किया है—जैसे डा० थीबो और वेनिसने स्वर्गवासी म० म० उ० श्रीगङ्गाधर और राममिश्र शास्त्रियोंकी सहायतासे ब्रह्मसूत्रोंके शाङ्करभाष्य, श्रीभाष्य और वेदान्त-सिद्धान्तमुक्तावलीका। और हमारे ही कई अंग्रेजीके विद्वान् संस्कृतज्ञ भक्तोंने इनमेंसे किसीको पं० मोक्षमूलर भट्ट और किसीको 'याज्ञवल्क्य' आदि भी बना दिया है। परन्तु आजतक हमारे देखनेमें इनमेंसे किसीकी बनायी न संस्कृत गद्यकी एक पङ्क्ति और न अनुष्टुप् श्लोक देखनेमें आया; और आया है तो एक अनुष्टुप् श्लोकमात्र आया है—जिसका छन्द भी लँगड़ा और साहबका कोश-ज्ञान भी ऐसा विलक्षण कि Stein नामको 'स्तेन' बनाते हुए उसका अर्थ भी न जाना। न इन लोगोंके परम्परागत संस्कृत-शिक्षा, संस्कार और आचरण। इस प्रकार हलदी लगी न फिटकरी; फिर इन लोगोंका हमारे शास्त्रोंपर विचार,

परीक्षा और निर्णय करनेका अधिकार कहाँसे आ गया और इनके निर्णय अभ्रान्त और प्रामाणिक भी कैसे हो सकते हैं ?

पर धन्य है हमारे विश्वामित्रीय सृष्टिके जीवोंको, जिनकी बुद्धिमें हमारे ऋषि और आचार्योंकी अपेक्षा ये लोग अधिक प्रामाणिक हैं—अथवा यों समझिये कि—

उभावप्यश्रुतग्रन्थावुभावपि जडात्मकौ ।
अहो मोहस्य माहात्म्यं यदेकः शिष्यताङ्गतः ॥

गुरु-चेले दोनोंहीने गुरुसे ग्रन्थ पढ़े नहीं और दोनों ही जडबुद्धि ठहरे । फिर आश्चर्यकी बात है कि उनमेंसे एक चेला कैसे हो गया । यह माया अज्ञानकी ही है । एक बेर बंगालके गवर्नर लार्ड रोनल्डशेने, चाहे किसी कूट राजनैतिक अभिप्रायसे क्यों न हो, कलकत्ता यूनिवर्सिटीके रेक्टरकी अवस्थामें सत्य बात कही थी कि—भारतीय दर्शन-जैसे श्रेष्ठ दर्शनोंके रहते, मेरी समझमें नहीं आता कि यहाँके ग्रेजुएटोंको योरोपियन दर्शन क्यों सिखलाये जाते हैं—इसपर वहाँके और बाहरके बड़े-बड़े ग्रेजुएट चिल्लाने लगे कि—हमें तो एट्लाण्टिक महासागरका विष ही चाहिये, भारत-महासागरका अमृत नहीं; यह तो हमारी अन्धश्रद्धाओंको अमर कर देगा । फिर भी यदि अमृत ही देना चाहो तो विषके साथ मिलाकर दीजिये (ताकि सदा अधजिये और अधमुए ही रहें)—तात्पर्य यह कि निरीश्वर और निराध्यात्मिक पाश्चात्त्य दर्शन ऐसी दोषदृष्टि, अश्रद्धा और नास्तिकता उत्पन्न कर दे कि भारतीय आस्तिकदर्शन ऊसर धरतीपर बरसनेके बराबर ही हो जाय ।

हमारे पाश्चात्त्य गुरुओं और इतिहासलेखकोंकी यह नीति विशेषकर रहती है कि जहाँतक हो सके, हमारे महापुरुष, शास्त्र और ग्रन्थोंका समय ईसवीमें रखना, पहले नहीं और उसमें भी नीचे-से-नीचे; जहाँ और कोई गति न हो वहाँ ईसवीसे पूर्व निकट-से-निकट, न कि दूर—ताकि प्राचीनताके कारण जो प्रामाणिकता और महिमाकी बुद्धि और अभिमान होता है, वह न होने पावे । यही कारण है कि पाणिनि, आदि शङ्कराचार्य, कालिदास आदिके समयको नीचे-से-नीचे घसीटकर डाल दिया गया है—जो स्पष्ट कुटिलताभरा असत्य है ।

फिर हमारे सभी आस्तिकदर्शन और धर्मका उच्छेद ही कर देनेके लिये एक प्रतिद्वन्द्वी भी खड़ा कर दिया गया है । वह है बौद्धधर्म, जिसमें एक आचरणपद्धतिविशेषके अतिरिक्त—जो भी हमारे ही धर्मका अंशमात्र है—कुछ भी नहीं है और हमारे धर्मका अधिक सारभाग, जो उसने छोड़ दिया, वह भी अपनी निर्मूल कल्पनाके आधारपर ही छोड़ दिया । चाहे इसमें बाइबलसे अधिक सार हो और अर्थहरता और हिंसाशील पाश्चात्त्य जातियोंका इससे उद्धार हो सके, पर हमारे लिये तो यह उपयुक्त नहीं है ।

(२)

अब कुछ इतिहासपर दृष्टि दीजिये । आर्योंकी प्राचीनता और श्रेष्ठताका प्रमाण तो प्राचीन आर्यशास्त्रादिमें ही विद्यमान है । पाश्चात्त्य जातियोंकी प्राचीनता और श्रेष्ठताका कोई प्राचीन प्रमाण नहीं । इसलिये आर्यप्रजाका विरोध दूर करने और बराबरका अधिकार प्राप्त करनेके लिये, पाश्चात्त्य जातियोंको भी आर्य बना दिया और हम आदि आर्योंको Indo-Aryan कहकर अपने ही घरमें अपनी तरह पाहुना बना दिया—जैसे कि हमारे चतुर्थ और पञ्चम वर्णोंकी ज्ञातियाँ आजकल प्रथम और द्वितीय वर्णोंहीसे अपनी-अपनी उत्पत्ति निकाला करती हैं । जर्मनी तो इतना ढीठ निकला कि आर्यत्वका ठेका खुल्लमखुल्ला अकेला ही ले बैठा और हमारा स्वास्तीकतक उड़ा लिया । अब आर्योंकी मूल उत्पत्ति कहाँसे रक्खी जाय ? इस देशमें रक्खी जाती है, तो यहाँवालोंको अभिमान होता है और अपनेको नीचा देखना पड़ता है । पाश्चात्त्य देशोंमें रखते हैं तो वे प्राचीन नहीं और पक्षपातके सन्देहसे कोई माने भी नहीं । इसलिये तटस्थ मध्य एशियामें रख दिया । इससे भारतवासियोंको कई प्रकारके सङ्केत करनेका अवकाश मिल गया—अर्थात् (१) जैसे तुम वहाँसे यहाँ आये, हम वहाँसे पश्चिम जाकर यहाँ आये; (२) पहले तुमने यहाँ आकर राज्य किया, अब हम यहाँ आकर करते हैं; (३) जैसे तुमने यहाँकी आदिम जातियोंको अपने अधीन किया, अब हमने तुम सबको किया । इसलिये तुम-हम कोई और नहीं; और जो तुमने किया, सो ही हमने किया; इसलिये तुम्हारा हमारी सत्तासे द्वेष अथवा विरोध करनेका कोई कारण नहीं ।

यहाँकी जो-जो वस्तु भद्दी हो, वह तो यहींके लोगोंकी बनायी; परन्तु जो-जो सूक्ष्म और सुन्दर कारीगरीकी हो, वह बाहरवालेकी ही बनायी—यह दिखलाना भी पाश्चात्त्य इतिहासलेखक सत्यनारायणोंकी नीति होनी ही चाहिये । ताजबीबीका रोजा दुनियाँकी Seven Wonders (सात अद्भुत वस्तुओं) मेंसे ठहरा और उसके बनानेवाले यहाँके उस्ताद और कारीगरोंके सिवा और हो भी कैसे सकते हैं और इसका Master Architect (मुख्य उस्ता) उस्ताद ईशा

और उसका लड़का मुहम्मदशरीफ दृढ प्रमाणोंसे सिद्ध ही हैं—जिनमेंसे पहलेको हजार मासिक वेतन मिलता था। तथापि इसको स्वीकार करनेसे यहाँवालोंको अभिमान हो सकता है—जो राजनैतिक दृष्टिसे अनिष्ट है। यूरोपियन लोग तो पेट भरनेके लिये मुगलोंके समयमें आया ही करते थे। इन्हींमें दो पिटभरू—स्पेनका पादरी Father Manrique और वेनिस (इटली) का Geronimo Veroneo भी थे। झट, झूठे मैन्रीकके लेखके आधारपर वैरोनियोको ताजका Designer नक्शा बनानेवाला बना दिया—जिसका इलाहाबाद यूनिवर्सिटीके डा० ईश्वरीप्रसादने अपनी History of India पृष्ठ ८८०–८८२में खण्डन कर दिया है।

अब हम इतिहासलेखकोंकी कुटिल नीतिको लेकर कुछ प्रश्न करते हैं। संवत् किसी सत्य घटनापर ही चला करता है और निर्मूल नहीं होता है और निर्मूल भी यदि मान लिया जाय, तो उसके अविच्छिन्न सैकड़ों हजारों वर्षोंतक व्यवहारमें आ जानेसे उसमें न्यूनाधिकता कर देना अथवा उसको उड़ा देना कैसे बन सकता है। पहले युधिष्ठिरसंवत्, उसके एक वर्ष पीछे कलिसंवत् और युधिष्ठिर अथवा कलिसंवत् ३०४५–६ के लगभग विक्रमसंवत् चला। फिर इन संवतोंके पहले-पहले वर्षमें युधिष्ठिर-शासन, कलिप्रवेश और विक्रमकी सत्तामें क्यों सन्देह किया जाता है—जिसके प्रमाण शास्त्र और इतने वर्षोंके व्यवहार हैं और इनको अप्रामाणिक क्यों माना जाता है। इँगलैंड आदि पाश्चात्त्यदेशोंमें भी एक सम्प्रदाय है, जो ईसाकी असत्ता और बाइबलकी कृत्रिमता सिद्ध करता है। उसके ग्रन्थोंके आधारपर हम भी ईसवीको निर्मूल क्यों न मान लें? यदि विक्रमसंवत् १में उज्जैनके विक्रमादित्यनामक चक्रवर्ती राजाके होनेके ऐसे प्रमाण नहीं मिलते—जैसे शिलालेख, सिक्के, स्मृति-स्तम्भादि, तो न मिलें; पर उसको परदेशी, अथवा चार शताब्दी नीचे घसीटकर गुप्तवंशीय दूसरा चन्द्रगुप्त बनानेका उपाय क्यों किया जाता है? भोजप्रबन्ध और 'नवरत्न'वाले श्लोककी अप्रामाणिक आख्यायिकाओंके आधारपर हमारे ईसवीसे बहुत पहलेके महाकवि कालिदासको ५वीं शताब्दी ईसवीके पूर्वार्द्धका क्यों माना जाता है? इत्यादि-इत्यादि।

यदि पाश्चात्त्य इतिहास-लेखक कहें और उनके 'पर-प्रत्ययनेयबुद्धि' भारतीय भाई उनकी हाँ-में-हाँ मिलावें कि 'हम तो प्रमाणपर चलते हैं; प्रमाण न मिलें, तो कैसे किसी बातको मान सकते हैं; जितने प्रमाण उपलब्ध हैं, उनके अनुसार हमारे निर्णय हैं, जो विशेष प्रमाण मिलनेपर ही बदल सकते हैं।' तो हम पूछते हैं कि—क्या प्रमाणोंको तुम्हीं समझते हो और क्या तुम्हारे माने हुए प्रमाण ही प्रमाण हो सकते हैं? क्या हमारे शास्त्र प्रमाण नहीं? V. A. Smith आदि पाश्चात्त्य इतिहास-लेखक भी पीछे राजवंशावली आदि अंशोंमें वायुपुराणादिको अधिक प्रामाणिक मानने लग गये थे। पर पहले क्यों नहीं मानते थे? पहलेके अप्रमाण पीछे कैसे प्रमाण बन गये? हम भी तुम्हारे प्रमाणोंको अप्रमाण मान सकते हैं। इस देशमें तो प्रथम तत्त्वदृष्टिसे संसारको नश्वर माननेके कारण इतिहास और चरित्र लिखनेकी रुचि और परिपाटी ही रही नहीं है। कल-परसोंकी पाश्चात्त्य जातियाँ तो इसी लोकको सब कुछ समझती हैं, इसलिये उनमें इतिहास और चरित्र लिखनेकी रुचि और रीति होनी ही चाहिये। दूसरे इस देशमें इतने राज्योपप्लव हो चुके हैं कि जो इतिहासकी सामग्री होगी, वह भी बहुत कुछ नष्ट हो गयी। इसलिये बहुत कुछ इतिहासको तो तुमने परमदुर्लभ प्रमाणोंके अभावमें ही उड़ा दिया; बचे-खुचे प्रमाणोंपर तुमने अपनी कुटिल नीति और कल्पनाके अनुसार इतिहासका अपूर्ण ढाँचामात्र गढ़ लिया। वह भी जब Provisional विशेष प्रमाणोंकी अनुपलब्धिमें ही वर्त्तमानकालमात्रके लिये मान्य और उपयोगी है, तो उसकी सदाके लिये निश्चितता, सत्यता और प्रामाणिकता भी क्या रही?

तुम जो परमदुर्लभ प्रमाणोंको ही प्रमाण मानते हो—इसीकी विडम्बना अंग्रेजी कानून और प्रिवी कौन्सिलसे लेकर स्मालकॉजेज कोर्टसतकके न्यायमें दिखायी देती है—जहाँ चोरको दण्डमात्र (चोरीका माल दिलाना नहीं) और घातकको फाँसी तभी मिल सकती है, जब सामान्यतः परम दुर्लभ प्रमाण उनके विरुद्ध मिल सकें, मानो चोर साक्षी कर और रसीद देकर चोरी किया करते हैं और घातक साक्षियोंको इकट्ठा कर मनुष्योंके शरीरमें हथियार घुसेड़ा करते हैं। ऐसे प्रमाणोंपर तो ५, १० प्रतिशत ही न्याय हो सकता है; शेष तो समझ लो कि क्या होता है। परन्तु कोई उपाय नहीं। इसी प्रकारके प्रमाणोंके अभावमें जो तुम प्राचीन समयका इतिहास लिखते हो, वह भी ९० प्रतिशत इतिहासका संहार और शेष भाग इतिहासाभास ही हो सकता है।

आगे जो हमारे आदि शङ्कराचार्यादि महापुरुषोंका समय निर्णय करनेका प्रसङ्ग आवे, तो यह लेख उनके काँटे हटानेके तौरपर मान लिया जाय।

* * *

गृहस्थाश्रम और पवित्र आचरण

(लेखक—डा० मुहम्मद हाफ़िज़ सय्यद एम्० ए०, पी०-एच्० डी०, डी० लिट्)

हिंदू-धर्म

प्रत्येक आर्यको गृहस्थाश्रममें प्रवेश करना ही पड़ेगा, यह धार्मिक व्यवस्था प्राचीन कालमें कुछ यों ही, अकारण, न थी। विवाह करके तथा प्रजोत्पत्तिद्वारा उसे जीवनमें एक बहुत आवश्यक पदार्थ-पाठ मिलता था। विवाह करके जबतक उसे दो-एक सन्तान नहीं हो जातीं थी, तबतक वह अपूर्ण या अधकचरा समझा जाता था। मनुका कथन है कि पुरुष उसकी पत्नी और सन्तान मिलाकर ही एक पूरा मनुष्य है। एकाकी जीवनमें पारिवारिक जीवनकी न वह दिव्य सुखानुभूति ही है, जो जीवनके रेशे-रेशेको रससे सराबोर कर देती है और न उसमें दायित्वका वह भाव ही है, जो जीवनको उत्साह एवं प्रेरणासे भरकर उसमें एक नूतन स्फूर्त्ति एवं चेतनाकी विद्युल्लहर लहरा देता है।

यदि दूसरोंके प्रति आदरभाव, आत्मदमन, आत्मत्याग, अपने प्रियके प्रति निःस्वार्थ सेवा आदि सद्गुण वस्तुतः सद्गुण एवं शुभ आचरण समझे जाते हैं तो अवश्य ही पारिवारिक जीवन इनके लिये पोषण प्रदान करता है और वहाँ ये खूब फूलते-फलते हैं। प्रत्येक गृहस्थको उपर्युक्त सद्गुणोंके अर्जनके लिये पर्याप्त अवसर मिलता है और सच तो यह है कि इन सद्गुणोंके बिना मनुष्यका नैतिक एवं चारित्रिक विकास हो ही नहीं सकता।

कुँआरा आदमी बराबर अपनी ही भलाईकी बात सोचा करता है, वह अपने-आपमें घिरा हुआ है, रात-दिन बस, अपनी ही फ़िक्र है। वही आदमी जब शादी कर लेता है तब अपने-आपके सम्बन्धमें सोचना छोड़कर अपनी अपेक्षा अपनी पत्नी और बच्चेके सुख-दुःखके बारेमें अधिक ध्यान रखने लगता है। अपने आराम-सुखकी अपेक्षा अपने परिवारके सुख-आरामका विशेष खयाल करता है। अस्तु, पारिवारिक जीवनमें ही उसे पग-पगपर आत्मनिग्रहकी शिक्षा मिलती है और यहीं वह निःस्वार्थ होना सीखता है।

पूर्णतः सुसंस्कृत एवं संतुलित जीवनमें ज्ञान, भाव एवं संकल्पका पूरा-पूरा समन्वय होता है। इनमेंसे किसी एकका ही एकाङ्गी विकास हुआ तो वह व्यर्थ-सा है।

एक औसत मनुष्य क्रमशः अपना प्रेम अपने परिवारसे फैलाकर अपने पड़ोसीको प्यार करे और फिर उसे और फैलाता हुआ अपने नगर, देश और राष्ट्रसे प्रेम करे—ऐसा शास्त्रका निर्देश है। अपने सम्बन्धियों और पड़ोसियोंकी उपेक्षा कर जो व्यक्ति रात-दिन अपने छोटे-से परिवारके भरण-पोषणमें ही रचा-पचा रहता है, वह पापका भागी होता है। उसे इतना तो समझ ही लेना होगा कि वह जीवनमें जहाँ जिस देश-कालमें है, वहाँके प्रत्येक प्राणीसे उसका अभेद्य सम्बन्ध है और उनसे पृथक् उसका एकाकी विकास सम्भव नहीं।

भगवान् बुद्धके उपदेशोंमें सबसे सुन्दर उपदेश वह है, जिसमें उन्होंने एक आदर्श गृहस्थके सरल-निश्छल पारिवारिक जीवनकी प्रशंसा की है—परिवारके सदस्योंके प्रति, सम्बन्धियों एवं हित-नातोंके प्रति, मित्रों और अतिथियोंके प्रति शुद्ध प्रेमाचरणकी प्रशंसा की है। जबतक अधकचरी जवानी रहती है, तभीतक भाव अस्पष्ट, विचार अव्यक्त तथा कर्तव्य एवं दायित्वकी भावना दुर्बल-सी रहती है; परन्तु जैसे-जैसे वह गृहस्थ-जीवनमें प्रवेश करता जाता है, तैसे-तैसे उसे जीवनके अधिकाधिक अनुभव प्राप्त होते जाते हैं और वह यह अनुभव करता है कि आदर्श गृहस्थ-जीवनसे बढ़कर आनन्द कहीं है ही नहीं; और प्रवृत्तिपथके पथिकके लिये आदर्श गृहस्थ-जीवन ही चरम लक्ष्य है;—और जीवनके क्रमशः उच्चतर स्तरपर जहाँ उसके अन्तस्का अधिकाधिक विकास होता जाता है, वह पारिवारिक जीवनके असीम सौन्दर्य एवं अतुल आनन्दको समझने लगता है।

गृहस्थ ब्रह्मचारीसे श्रेष्ठ है, वह वानप्रस्थसे भी श्रेष्ठ है—और तो और, वह संन्यासीसे भी श्रेष्ठ है; क्योंकि वह सबका भरण-पोषण करता है, उन्हें शारीरिक एवं मानसिक आहार पहुँचाता है—मनुने ऐसा कहा है।

केवल गृहस्थ जीविकोपार्जनका अधिकारी है; इसीसे वह अन्याश्रमों (ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ, संन्यास) का आश्रय है।

जैसे सभी जीवधारी प्राणधारणके लिये वायुका आश्रय लेते हैं, ठीक उसी प्रकार अन्य सभी आश्रमोंके लोग गृहस्थका आश्रय लेते हैं; अतएव गृहस्थ इन सबमें श्रेष्ठ है। क्योंकि वह सबको शारीरिक तथा मानसिक आहार पहुँचाता है। जैसे सभी नदी-नाले समुद्रका ही आश्रय लेते हैं, उसी प्रकार सभी आश्रमोंके लोग गृहस्थाश्रमका ही आश्रय

लेते हैं। ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी—सभी गृहस्थके यहाँ ही जन्म लेते हैं और इन सबमें गृहस्थ ही सबसे श्रेष्ठ है, ऐसा वेदों और स्मृतियोंका प्रमाण है।

संयम और श्रमका विधान सबके लिये था। लौकिक बातोंमें ब्राह्मण संतोषवृत्तिसे रहे, परन्तु अनवरतरूपसे वेदानुशीलन करता रहे और सबके लाभके लिये ज्ञानका अर्जन करे। क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अपना-अपना कर्तव्य अलसभावसे करते रहें। परन्तु चारों वर्णोंके लोग गृहस्थाश्रममें प्रवेश करें ही और राष्ट्रोत्थानमें भाग लें——ऐसा शास्त्रोंका विधान है। गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेमें इन्द्रियोंकी संतुष्टि हेतु न हो, हेतु हो सन्तानोत्पत्ति। गृहस्थाश्रमसे विरत होनेका एक निश्चित समय था। अतिका सर्वत्र वर्जन था।

यह लोगोंमें एक भ्रान्त धारणा बनी हुई है कि मनुके हृदयमें नारी जातिके प्रति आदरका भाव नहीं था। फिर भी आजतक——इस महान् सभ्यता (?) के युगमें भी ऐसा कोई महापुरुष नहीं हुआ, जो मनुके बनाये नियमोंमें कुछ संशोधन-परिवर्तन करे——श्रद्धामें उपाध्यायकी अपेक्षा आचार्यका पद दसगुना ऊँचा है, पिताका पद सौ आचार्योंसे ऊँचा है, परन्तु श्रद्धाभक्तिमें माताका स्थान पितासे सहस्रगुना ऊँचा है; क्योंकि शिक्षकके नाते वह सर्वश्रेष्ठ है।

एक आधुनिक ईसाई पादरीने कहा है कि पहले सात सालके लिये मुझे एक बच्चेको दे दो——फिर तुम चाहे उसके साथ जो भी करो, कुछ प्रभाव न पड़ेगा। वह जानता है कि पहले सात सालतक बच्चेके मस्तिष्कपर जो प्रभाव पड़ता है, वह अमिट होता है। इसीलिये मनुने कहा है कि शिक्षकके नाते माता गुरुकी अपेक्षा लाखोंगुना श्रेष्ठ है। भारतकी प्राचीन संस्कृति नारीका इतना सम्मान करती है; परन्तु यह नारीके मातृरूपका सम्मान करती है, न कि आजकी तितलियोंका जो घर-द्वारके पचड़ेसे अलग अपनी मौजमें यहाँसे वहाँ उड़ा करती हैं और 'रोमांस'की खोजमें रहती हैं।

पंद्रहवीं शताब्दीमें श्रीवल्लभाचार्यजीका आविर्भाव हुआ। वे वैष्णवमतके संस्थापक थे। उनका आदेश है कि शरीरको तपानेकी आवश्यकता नहीं, कारण कि इसमें परमात्माका निवास है। मनुष्य इस संसारमें कर्म करनेके लिये आया है। सृष्टिका रचयिता क्रियाशक्तिका मूल उत्स है। ब्रह्म क्रियाशक्तिका ही दूसरा नाम है और शरीर धारण करनेका एकमात्र उद्देश्य है कि मनुष्य पवित्र संकल्प और पवित्र भावनासे प्रेरित होकर शुभ कर्म करता रहे। यह सारा विश्व स्पृहणीय वस्तुओंसे भरा हुआ है और प्रत्येक वस्तुमें स्वयं ईश्वर ही विद्यमान है; वही प्रत्येक स्पृहणीय पदार्थमेंसे आकर्षण एवं सौन्दर्य बिखेरता हुआ अपनी ओर हमें खींचता रहता है। संसारमें ऐसी कोई वस्तु है ही नहीं, जिसमें ईश्वरका निवास न हो और संसारकी समस्त स्पृहणीय वस्तुओंके पर्देमें वही छिपा बैठा है। इन सब वस्तुओंको देखकर हमारे हृदयमें स्पृहा या इच्छाका उदय होता है। यदि इन इच्छाओंका कोई अर्थ न होता तो हम कहीं मरुभूमिमें पैदा हुए होते, जहाँ हृदयको खींचनेवाली कोई चीज होती ही नहीं; परन्तु संसारमें हमें ऐसी चीजें देखनेमें आती हैं, जिनसे या तो हमारे मनमें स्पृहा जगती है या वितृष्णा। परन्तु इतना ही नहीं। हम जिन चीजोंको चाहने लगते हैं, उनकी प्राप्तिमें कठिनाई आनेपर हम देखते हैं कि हमारे भीतर विचारशक्तिका उदय होता है। हम चाहते हैं कि या तो इन कठिनाइयोंको पार किया जाय या इनसे बच निकला जाय। इस प्रकार समस्त विचारके पीछे इच्छाशक्तिकी मुख्यता होती है। इन सुन्दर स्पृहणीय पदार्थोंकी सृष्टि कर प्रभुने अवश्य कुछ सोचा होगा और इनकी प्राप्तिमें जो कठिनाई है, उसके द्वारा जो हमारी विचारशक्तिको प्रेरणा मिलती है उसमें भी प्रभुका हाथ अवश्य ही है। इच्छा और विचारके द्वारा ही क्रियाशक्ति सञ्चालित होती है। अस्तु, हम देखते हैं कि इन सबके मूलमें प्रभुका संकल्प भी है कि संसारमें क्रियाशक्ति उच्छिन्न न होने पाये——क्योंकि अकर्मकी अपेक्षा कर्मको श्रेष्ठ बतलाया गया है——(गीता ३।८)। इस प्रकार इच्छा और संकल्पके द्वारा मनुष्य कर्म करनेके लिये बाध्य होता है।

तो फिर क्या कारण है कि भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कर्मपर इतना जोर दिया है? गीताके तीसरे अध्यायमें हम कर्मयोगकी विशद व्याख्या पाते हैं——इस अध्यायका नाम ही 'कर्मयोग' है। भगवान्ने कहा है कि सम्पूर्ण प्राणी अन्नसे उत्पन्न होते हैं। अन्नकी उत्पत्ति वृष्टिसे होती है, वृष्टि यज्ञसे होती है और यज्ञ कर्मसे उत्पन्न होता है। इस प्रकार सबके मूलमें कर्म है। इतना ही नहीं, योगीके लिये भी कर्म अनिवार्य माना गया है (गीता ६।३)। योगका अर्थ है 'समत्व'। परन्तु क्या इस समत्वका मतलब है अकर्मण्यता? भगवान्में स्थित हुआ मनुष्य सब कर्मोंको अच्छी तरह करे——यही बार-बार भगवान्का आदेश है। इतना ही नहीं,

भगवान् तो कहते हैं कि जिस प्रकार अज्ञानीजन कर्ममें आसक्त होकर कर्म करते हैं, ज्ञानी उसी प्रकार अनासक्त होकर लोकसंग्रहके लिये कर्म करता चले। नहीं तो ज्ञानियोंके कर्मसे निवृत्त हो जानेपर अज्ञानियोंकी बुद्धिमें भ्रम उत्पन्न हो सकता है और वह कर्मोंमें अश्रद्धा कर बैठेंगा।

और भगवत्कर्मका क्या आधार, क्या प्रेरणा होगी? भगवान् कहते हैं 'मुझे तीनों लोकोंमें कुछ भी करना-धरना नहीं है और न कोई ऐसी वस्तु ही है, जिसे मुझे प्राप्त करना है; फिर भी मैं कर्ममें ही बर्तता हूँ; क्योंकि यदि मैं सावधान हुआ कर्म न करूँ तो सब लोग मेरी देखा-देखी कर्म करना छोड़ बैठें और ये सब लोक भ्रष्ट हो जायँ और मैं वर्णसंकरका करनेवाला होऊँ तथा समस्त प्रजाको मारनेवाला बनूँ।'

वस्तुतः समस्त सत्कर्मका मूल यही है। सत्कर्म करना भगवत्कर्ममें सहयोग प्रदान करना है—यही सर्वोत्तम पथ है और हमारी समस्त शिक्षा-दीक्षा, समस्त प्रयत्न और चेष्टाओंका लक्ष्य भी यही होना चाहिये—भगवत्कार्यमें सहयोग प्रदान करना।

बौद्ध-धर्म

आचरण और विचार दोनों ही प्रकारसे अशोक कर्ममय जीवनका समर्थक था। उसके प्रथम स्तूपमें लिखा मिलता है—'क्या छोटा, क्या बड़ा—सभी प्रयत्नवान् बनें।' उसके समस्त पिछले स्तूपोंमें कर्मको महत्त्व दिया गया है। धर्मके जिन सिद्धान्तोंपर उसने जोर दिया है, वे मुख्यतः मानवीय हैं और उसमें नागरिक जीवनपर विशेष ध्यान है। हाँ, उसमें पशुजीवनके प्रति दयाका भाव मुख्य अवश्य है। एक स्थानपर वह अपने उपदेशोंका सारांश देते हुए कहता है—'दया, सत्कर्म, करुणा, उदारता, सत्य और पवित्रता'। अष्टविध मार्गमें 'सत्प्रयत्न'की मुख्यता है और इसकी साधनामें अथक कर्मका विधान है। अस्तु, वहाँ भी लौकिक जीवनकी लक्ष्यप्राप्तिके लिये कर्मकी प्रधानता ही मानी गयी है।

समाज-सेवा

प्रायः लोग कह बैठते हैं कि हिंदूलोग स्वार्थी होते हैं। वे अपनी निजी मुक्तिके पीछे ही लगे रहते हैं। जगत्के कल्याण और दुःखनिवृत्तिके लिये अथवा सामाजिक, राजनैतिक तथा नैतिक उत्थानके लिये वे कुछ भी प्रयत्न नहीं करते। परन्तु सच तो सर्वथा इस कथनके विपरीत है। भारतीय दर्शनकी समस्त शाखाएँ आत्मा और परमात्माकी एकता स्वीकार करती हैं। उनके आचार्य समस्त भूतोंके प्रति आत्मवत् प्रेम और सेवाका भाव रखनेका आदेश करते हैं। जैसे शरीरके एक अङ्गपर चोट पहुँचती है तो दूसरे सभी अङ्गोंको कष्ट होता है, उसी प्रकार एक व्यक्तिके प्रति किया गया अपमान या पहुँचाया हुआ कष्ट विश्वात्माके प्रति किया गया अपमान है, विश्वात्माको पहुँचाया गया कष्ट है। अपने अहङ्कार और स्वार्थको जीते विना मनुष्य पूर्णताको प्राप्त नहीं कर सकता; और अहङ्कार तथा स्वार्थको जीतनेका एकमात्र अचूक उपाय है—सेवा।

समाजके प्रति हम सभीका कुछ न-कुछ कर्त्तव्य है। परिवार, राष्ट्र और देशके प्रति हम ऋणी हैं। हमारा जो कुछ विकास होता है, उसमें हमारे स्वजनों तथा पड़ोसियोंका बहुत बड़ा हाथ होता है। जबतक मनुष्य इस ऋणसे मुक्त नहीं हो जाता, इस ऋणको पाई-पाई चुका नहीं देता, तबतक वह जीवन-मरणके चक्करसे छुट्टी नहीं पा सकता। कर्मद्वारा ऋण चुकाये विना मुक्ति कहाँ?

इसके अतिरिक्त भगवान्के साथ योगका एक मार्ग कर्मयोग भी है। बहुधा लोग ऐसा समझ बैठते हैं और अवश्य ही गलत समझ बैठे हैं कि भगवत्प्राप्तिके लिये संसारको छोड़ बैठना बहुत जरूरी है और कर्मोंसे मुँह मोड़ लेना अनिवार्य है। यदि कोई आदमी कर्मद्वारा भगवान्की उपासना करना चाहता है तो उसे कर्मके द्वारा ही भगवान्की प्राप्ति होगी; उसे कर्म छोड़नेकी आवश्यकता नहीं। दूसरोंके जीवनमें हिस्सा बटाये बिना, उसके सुख-दुःखमें भाग लिये बिना हम आध्यात्मिक अनुभूतिके मार्गमें आगे नहीं बढ़ सकते।

नैतिक महत्त्व

प्राचीन भारतीय परम्पराके अनुसार सदाचारका सरल अर्थ है—पवित्र सम्बन्ध-निर्वाह। विकासके भिन्न-भिन्न स्तरोंपर स्थित भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंकी मानसिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक स्थितियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं—वे संस्मृति एवं विकासकी एक ही सीढ़ीपर तो रहते नहीं, अतएव उनके कर्त्तव्य तथा दायित्वमें भी भेद पड़ना अनिवार्य ही है। उनके विचार, भाव, आदर्श और जीवन तथा जगत्के प्रति दृष्टिकोण अलग-अलग होते हैं; इसलिये सबको एक ही नियमकी लाठीसे नहीं हाँका जा सकता।

संसारमें सभी वस्तुएँ सापेक्ष होती हैं—उसी प्रकार

नीतिके नियम भी हैं--जो नियम एक शिशुके लिये है वह तरुणके लिये नहीं, जो तरुणके लिये है वह वृद्धके लिये नहीं। एक असभ्य जंगली आदमीमें कोई दोषविशेष देखकर हम उसे क्षमा कर सकते हैं या उसकी ओर ध्यान भी नहीं देते; पर वही दोष किसी दार्शनिक या सुविज्ञ पुरुषमें देखकर हम दंग रह जाते हैं--कारण कि दोनों विकासके दो विभिन्न स्तरोंपर स्थित हैं। इस प्रकारका भेद बहुत ही प्राचीन कालसे चला आता है--ऐसा इतिहाससे सिद्ध है। भारतीय नीतिशास्त्रकारोंने इस अधिकार-भेदको बराबर माना है और ऐसा मानकर ही उन्होंने भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंके लिये भिन्न-भिन्न आचार निर्धारित किया है।

जहाँ एक ही समग्र जीवनके हम अङ्ग हैं, वहाँ यह आवश्यक है कि समस्त अङ्ग परस्पर संघटित होकर कार्य करें; क्योंकि विरोध या विघटनसे कलह या क्लेशका जन्म होता है। संघटन एवं समन्वयमें ही शान्ति तथा आनन्दका उदय होता है। और जहाँ हम यह जान जाते हैं कि समग्र जीवन एक ही है (भगवान् श्रीकृष्ण गीतामें कहते हैं--मेरे एक अंशमें यह समस्त विश्व स्थित है) उसी समय हम यह समझ जायँगे कि अंश अपने अंशीको पाकर ही पूर्ण हो सकता है। और पूर्णताकी ओर हमारी इस प्रगतिमें समन्वय एवं संघटनकी शक्तियाँ सहज ही सहायक हो जाती हैं और उसी अवस्थामें सच्चा आनन्द तथा सच्ची शान्ति प्राप्त होती भी है।

मनुष्यके बनाये हुए नियम मनुष्यके द्वारा बदले जा सकते हैं--इसमें अस्वाभाविक-जैसी वस्तु क्या है? यह तो सर्वथा एक कृत्रिम व्यापार है। परन्तु प्राकृतिक नियम तो हमारे-आपके बनाये हुए नहीं हैं न? प्राकृतिक नियमोंका तो हमें सावधानीसे अध्ययन करना चाहिये और जानना चाहिये कि वस्तुतः उनका सही-सही उपयोग क्या है और इस प्रकारके अध्ययन-अनुशीलनमें हमें ऋषियों या आप्त पुरुषोंसे बहुत बड़ी सहायता मिलती है। इन ऋषियोंने अपने अंदर प्रकृतिके नाना विधानोंका उद्घाटन किया था, आत्माका आत्माके भीतर साक्षात्कार किया था। अस्तु, वे कह सकते थे कि प्रकृतिके किन-किन नियमोंका हम कतई उल्लङ्घन कर नहीं सकते। हम मनुष्यकृत नियमोंको तोड़ सकते हैं परन्तु प्राकृतिक नियमोंकी अवहेलनामात्र कर सकते हैं। परन्तु इस अवहेलनाका अर्थ है—दुःख और इस प्रकार अवहेलना करते रहनेपर दुःख-पर-दुःख जब आने लगते हैं तब हम विवश होकर अन्तमें उन उल्लङ्घनीय प्राकृतिक नियम-विधानोंके आगे अपनेको समर्पित कर देते हैं।

यह हुई हमारी संस्थापना। अब इसके बाद? प्रकृति बराबर समसे विषमकी ओर चलती रहती है। दर्शन या धर्मकी पारिभाषिक शैलीमें कहना चाहें तो यों कह सकते हैं कि हमारे अंदर जो दिव्य चित्कण है, वह अपनी विराटताको पानेके लिये विकल है। यही है समस्त गतियोंका मूल कारण। इस प्रकार हम 'एक' से ही निकलकर उसी 'एक' की ओर निरन्तर चले जा रहे हैं--यात्राका आनन्द लेते हुए। इस वृत्तको ऋषियोंने दो टुकड़ोंमें बाँटा था--प्रवृत्ति और निवृत्ति। प्रवृत्तिमार्गमें हमारे अंदरका चित्कण इस विश्व-व्यापारमें प्रवेश करता हुआ, ग्रहण करता हुआ और ग्रहण किये हुएको आत्मसात् करता हुआ अपने-आपको विकसित करता चलता है, फैलाता-पसारता चलता है। यात्राका यह अंश जब समाप्त हो चलता है, जब काफी अनुभव हो चुकता है तब लौट चलनेका समय आता है और यही है--निवृत्तिमार्ग। इस प्रकार जन्म और मृत्युके अनेकानेक चक्रोंसे भरे हुए मनुष्यके समग्र जीवनको हम दो खण्डमें विभाजित कर सकते हैं—वे हैं प्रवृत्तिका मार्ग और निवृत्तिका मार्ग।

इतना तो स्पष्ट हो गया होगा कि प्रवृत्तिके पथसे निवृत्तिका पथ पृथक् है, भिन्न है। परन्तु सही और गलतका हमारा मापदण्ड अक्षुण्ण रहता है; क्योंकि भगवत्सङ्कल्पके साथ अभेदका अर्थ है 'सही' और विभेदका अर्थ है 'गलत'। भिन्न-भिन्न पथोंपर चलनेवाले पथिकोंके कार्य-कलापमें भले ही भेद हो—प्रवृत्ति पथमें वह ग्रहण करता चलेगा, निवृत्तिपथमें वह लुटाता चलेगा--परन्तु दोनोंमें ही भगवत्सङ्कल्पकी पूर्त्ति होती रहेगी और दोनोंमें ही उसके अंदरके चित्कणका नित्य-निरन्तर विकास होता चलेगा; क्योंकि यह तो उसका जन्मसिद्ध अधिकार है।

अब हम हिंदूधर्मके वर्ण और आश्रमोंको लेते हैं। वर्ण और आश्रमकी यह दुहरी लड़ी कितनी सुन्दर, कितनी भव्य है। एकके बिना दूसरी अधूरी है। वर्ण और आश्रमको सन्तुलित कर देनेपर हम देखते हैं कि वर्णोंमें जो शूद्रका स्थान है, आश्रमोंमें ब्रह्मचारीका वही पद है। ब्रह्मचारीको आज्ञापालन, सेवा, कर्तव्यपरायणतामें दक्ष होना चाहिये। ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करते हुए विद्याभ्यास करना चाहिये।

ब्रह्मचर्याश्रमके समयको पूरा कर वह गृहस्थाश्रममें प्रवेश करता है--वहाँ उसकी तुलना वैश्यसे की जा सकती है।

दूसरे सभी आश्रमवाले अपनी जीविकाके लिये उसीपर निर्भर करते हैं । वह सबका भरण-पोषण करता है । गृहस्थाश्रमके समयको पारकर और जीवनका बहुत-सा अनुभव प्राप्त कर वह वानप्रस्थाश्रममें प्रवेश करता है और इस आश्रममें प्रवेश करनेके बाद वह तमाम लोकव्यापारसे विरत हो जाता है, अपनेसे छोटी उम्रके लोगोंको नेक सलाह देता है, संसारके समस्त व्यापार अपनेसे पीछे आनेवालोंपर छोड़कर वह निश्चिन्त हो जाता है । उसका कर्म क्षत्रियके कर्मसे मिलता-जुलता है । इसके बाद आता है संन्यासाश्रम, जिसका वर्णतः समानान्तर है—ब्राह्मण । संन्यासी जीवनका समस्त अनुभव प्राप्त कर समस्त लोक-व्यापारको तिलाञ्जलि दे देता है और 'उस पार' की तैयारी करने लगता है ।

हिंदुओंकी विचार-परम्परामें विकासका यह सुव्यवस्थित पथ कितना सुचिन्तित था ।* किसी भी देश या राष्ट्रने जीवनकी इतनी सुव्यापक व्यवस्था नहीं बनायी । इसमें कहीं भी नुक्ताचीनीकी गुंजाइश है ही नहीं । वर्ण और आश्रमकी इस दोहरी लड़ीमें कहीं कोई शङ्का या प्रश्न उठता ही नहीं और कोई भी ऐसा प्रश्न है ही नहीं जिसका उत्तर इसमें अपने-आप न दिया जा चुका हो। इसके सम्यक् अनुशीलनसे हम देश, काल और स्थितिकी एकता अच्छी तरह समझ पाते हैं और यह समझ पाते हैं कि किसी भी समयविशेषमें किसी भी सत्कर्मविशेषके सम्पादनके लिये यह जानना अनिवार्य है कि वह मनुष्य विकासकी किस सीढ़ीपर है । गीता कहती है कि अच्छी प्रकार आचरण किये हुए दूसरेके धर्मसे गुणरहित भी अपना धर्म अति उत्तम है । अपने धर्ममें मरना भी कल्याणकारक है और दूसरेका धर्म भयको देनेवाला है ।

मनुष्य जिस आश्रममें है उसके पूर्व आश्रमसे यह पता चलेगा कि वह जीवनमें कहाँ है, विकासके किस स्तरमें है और वर्त्तमान आश्रमसे पता चलेगा कि धर्माचरण करते हुए उसे किस दिशामें बढ़ना है । यह दुहरा उद्देश्य प्रत्येक आश्रमके साथ लगा हुआ है । उदाहरणके लिये एक औसत आदमीको लीजिये । वह ब्रह्मचारीका जीवन आरम्भ करता है—यह है छात्रका जीवन । छात्रका क्या कर्त्तव्य है ? मनुने कहा है कि छात्रके सामने तीन प्रकारके मनुष्य होते हैं—बड़े, समवयस्क और छोटे । इसीके अनुसार उसका उनके प्रति कर्तव्य होगा । प्रवृत्तिमार्गका पथिक बराबर यथाशक्ति ग्रहण करता, धारण करता चलता है । कुछ लोग कह बैठते हैं—हमें निष्काम भावसे कर्म करते जाना चाहिये । यह ठीक है, पर निवृत्तिमार्गवालोंके लिये । निष्काम भाव पूरा-पूरा तबतक नहीं आ सकता, जबतक आप उसमें भी कर्मके प्रति उतना ही उत्साह रखें जितना सकाम भाव होनेपर रखते । इसकी प्रक्रिया तो जरा देखिये । हमारे आचारशास्त्रको पाश्चात्य पण्डितों, विशेषतः पादरियोंने बहुत ही गलत समझा है—वे एकदम निग्रहपर जोर देते हैं । भारतीय आचारशास्त्र क्रमशः और शनैः-शनैः निग्रह अथवा संयमको स्वीकार करता है । एक झटकेमें जिस संयम या व्रतको स्वीकार किया जाता है, वह एक झटकेमें हवा ही हो जाता है, कपूरकी तरह उड़ जाता है ।

इस संसारमें तो सभी वस्तुएँ और सभी गुण सापेक्ष हैं । हम संसारमें सर्वथा अकेले नहीं हैं; हमारे चारों ओर जो विश्व फैला हुआ है, उससे हम सम्बद्ध हैं, संलग्न हैं । उसे हम कैसे तोड़ फेंकें ? हमारे चारों तरफ जो कुछ है, उस सबके साथ हमारा सम्बन्ध है—मनुष्योंके साथ, पशु जगत्के साथ, उद्भिज्ज जगत्के साथ, खनिज जगत्के साथ । हम इनमेंसे किसीके भी साथ अपना सम्बन्ध-विच्छेद नहीं कर सकते; क्योंकि हम स्वयं भी तो इसके एक अङ्ग हैं । इसलिये प्रवृत्तिमार्गकी पहली सीढ़ीपर जो खड़ा है, उसका क्या धर्म हो ? ('इस' धर्म शब्दको हम Duty (ड्यूटी) शब्दसे नहीं समझ सकते ।) हाँ, तो प्रवृत्तिमार्गमें चलता हुआ एक औसत आदमी यदि फलकी इच्छा छोड़ बैठे तो परिणाम क्या होगा ? वह सब काम-काज छोड़ बैठेगा; क्योंकि उसकी प्रवृत्तिके लिये प्रेरणा ही क्या रही ? वह काहिल और सुस्त हो बैठेगा । भूख लगनेपर आदमी अन्नके लिये चेष्टा करता है । भूख न लगे तो फिर अन्नके लिये चेष्टा क्यों करे ? आवश्यकता ही क्रियाकी जननी होती है । आवश्यकता हो ही नहीं तो चेष्टा क्यों हो ? और फिर मनुष्य काष्ठवत् होकर निश्चेष्ट, निष्क्रिय हो जायगा ।

भगवान्ने इतना सुन्दर संसार हमारे आसपास क्यों रच दिया ? इसलिये कि वह हमारे भीतरके दिव्य तत्त्वोंको विकसित करना चाहता है ।* माँ अपने प्यारे शिशुको चलना कैसे सिखलाती है ? क्या उसे पृथ्वीकी गतिका ज्ञान कराकर, महान् सिद्धान्तोंका विवरण देकर ? नहीं, वह बच्चेके सामने खिलौना रख देती है और उस खिलौनेको लेनेके लिये शिशु आगे बढ़ता है और इस प्रकार वह चलना

---

* देखिये Hindu Philosophers on Evolution by D. Balkrishna

* देखिये Evolution of Life and Form

सीख जाता है। यदि खिलौना न होता तो शिशु कोई प्रयत्न करता ही नहीं। और फिर उसे चलना क्योंकर आता? ठीक ऐसा ही भगवान् हमारे साथ करता है। हमारे सामने वह अर्थ, यश, प्रतिष्ठा, प्रभुत्व आदिके खिलौने फेंकता रहता है। और ठीक उस बच्चेकी तरह हम भी इन खिलौनोंको पकड़नेके लिये बढ़ते हैं; और इस प्रकार हमारा शनैः-शनैः विकास होता है। हम अपनी अभीप्सित वस्तुके लिये प्रयत्न करते हैं, योजनाएँ बनाते हैं और यथाशक्ति निरन्तर उद्योग करते जाते हैं। अपनी अभीप्सित वस्तु पाकर थोड़ी देरके लिये हमें शान्ति मिलती है। हम क्षणभरके लिये ठहर जाते हैं और फिर आगे बढ़ते हैं। यही है भगवान्का ढंग अपने बच्चोंको सिखलानेका। जब लोक-हितके लिये भी हमारे भीतर उतनी ही तीव्र वासना हो जाय, जितनी अपने हितके लिये है, तब समझना चाहिये कि हम स्वार्थसे ऊपर उठ रहे हैं। उसके पहलेतक तो फलेच्छा लगी ही रहती है। फलकी लालसाका प्रलोभन फेंककर भगवान् हमें कर्ममें प्रवृत्त करते रहते हैं और आगे चलकर जैसे-जैसे हमारा विकास होता जाता है, फलकी लालसा मिटती जाती है।

क्या जड, क्या चेतन—कोई भी तो ऐसी वस्तु नहीं, जिसमें परमात्मा न हो। सर्वत्र 'उसी'का प्रेम छलक रहा है। जहाँ कहीं भी और जो कुछ भी सौन्दर्य एवं आकर्षण हम देखते या पाते हैं,वह प्रभुका ही तो है और उस सौन्दर्य या आकर्षणके द्वारा प्रभु हमारी आत्माको अपनी ओर आकृष्ट करते रहते हैं। इस प्रकार हमारी आत्मिक शक्तियोंका प्रस्फुटन एवं विकास होता रहता है। इसलिये मनुष्य जबतक प्रवृत्ति-मार्गपर है, उसके हृदयमें इच्छाओंकी बाढ़ बनी रहनी चाहिये, ताकि उसकी उन्नति एवं विकास न रुके।

किसी भी कर्मकी अच्छाई-बुराई इस बातपर निर्भर करती है कि हम कहाँ हैं और किधर जा रहे हैं। कर्म तो राहकी एक मंजिल है, ऊपर चढ़नेकी एक सीढ़ी भर है। यदि हम सीढ़ीसे उतर रहे हैं तो अवश्य ही नीचे जा रहे हैं; पर फिर भी जो हमसे और नीचे है, उससे तो ऊपर ही हैं। और विकासके पथमें चलनेवालेको तो बस, चलना-ही-चलना है, आगे बढ़ते ही जाना है। परन्तु ऐसा न मान लेना चाहिये कि मेरी भूल सबकी भूल है। क्योंकि सम्भव है हम विकासके पथमें उनसे आगे हों। हिंदू आचारशास्त्र इस विषयमें बहुत स्पष्ट हैं।

परन्तु निवृत्ति-मार्गमें आते ही आचारशास्त्र क्या बदल जाते हैं? जो व्यक्ति 'घर'की ओर, भगवान्की ओर जा रहा है उसे बाह्य जगत्की ओर अब क्यों देखना है? अब तो उसका एकमात्र कर्त्तव्य रह जाता है—उन ऋणोंको चुका देना, जो उसने अपने जन्म-जन्मान्तरसे प्रवृत्तिमार्गमें चलते-चलते किये हैं। पिछले कई जन्मोंसे उसने बहुत-सा ऋण कर लिया है। आज जब वह 'घर'की ओर लौट रहा है, यह उचित है कि वह सब ऋण चुका दे। यही है उसका त्यागमय जीवन, आत्माका बन्धनोंसे मुक्त जीवन। इसलिये जिसने वानप्रस्थ आश्रममें प्रवेश कर संन्यासकी तैयारी कर ली है, अब उसे संसारके किसी व्यक्ति या व्यापारसे क्या प्रयोजन? उसका अब किसीपर कुछ अधिकार नहीं रहा।*

ये हैं हिन्दूधर्मके प्रमुख आचारशास्त्र, जिनका हममेंसे व्यक्तिगत तथा सामूहिकरूपमें सबपर अनुशासन चलता है। उनका पूर्वापर पूरा-पूरा विचार किये बिना हम जान ही नहीं सकते कि उनमें कहीं-कहीं परस्पर विरोध क्यों मिलता है। आचारशास्त्र और अध्यात्मशास्त्र अन्योन्याश्रित हैं। भारतीय दृष्टिकोणसे देखनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि शुद्ध आचारके बिना अध्यात्मकी प्राप्ति असंभव है।

अब यह प्रश्न यहाँ सहज ही उठता है कि आखिर हम सदाचारी बनें तो क्यों? क्या इस प्रश्नके उत्तरकी अपेक्षा है? हमारा अन्तर और बाह्य एक-सा होना चाहिये। अन्तर ही बाहर झलक पड़ता है। हमारे प्राचीन शास्त्र कहते हैं कि मनुष्यका अन्तरतम प्रकाश, जीवन एवं प्रेमसे लबालब भरा है। वह सत्स्वरूप है, करुणावरुणालय है, चिद्घन है, न्यायमय है, संतुलित है, मुक्त है, एकलय है, बलमय है, शान्त है, पवित्र है। अन्तरकी इन वृत्तियोंका बाहर भी प्रकाश पड़ना चाहिये। इन्हें क्रियारूपमें प्रकाशित होना चाहिये, जीवनमें इन्हें व्यवहारतः उतारना चाहिये। तभी तो अंदरका सत्य बाहर प्रकट होकर पूर्णता प्राप्त करेगा। आध्यात्मिक ज्योति प्राप्त करनेके लिये आचरणकी पवित्रताका यही मूल और महत्त्व है। इसीलिये तो हमारे सभी अध्यात्मशास्त्र आचारपर इतना जोर देते हैं और इसीलिये उनमें बड़े विस्तारसे आत्मसंयम एवं आत्मदमनका उल्लेख मिलता है, जिनका पालन करना आध्यात्मिक विकासके लिये सर्वथा अनिवार्य माना गया है। नाना

---

* देखिये—Laws of Manu by Bhagawandas

प्रकारके धार्मिक व्रत-उपवास, यम-नियम, जप-तप, पूजा-पाठ, अनुष्ठान और जागरणका विधान सभी धर्मोंने माना है ताकि साधक प्रमादको जीत सके, अपनी इच्छा और वासनाको जीत सके, अपने भाव और विचारपर काबू रख सके, अपनी शारीरिक कुप्रवृत्तियोंका दमन कर सके। इस प्रकार बाहरके समस्त आवरण हट जानेपर आत्माका प्रकाश और सौन्दर्य फूट पड़ेगा। यही है समस्त आचारका चरम लक्ष्य।

आचारकी इतनी महत्ताका एक और भी कारण है। वह है आत्माकी एकता—आत्मतत्त्वकी अखण्डता। उसी एकके तो हम अङ्ग हैं। घट-घटमें वही 'एक' ही तो रम रहा है। यहाँ 'दूसरा' है ही कौन ? अपनेसे भिन्न और कौन है ? दूसरेको चोट पहुँचाना अपनेको ही चोट पहुँचाना है। किसी अजनबीको यदि हमने धोखा दिया तो अपनेको ही तो दिया। कारण, आत्मा तो एक है, अखण्ड है। भली और बुरी वृत्तियाँ एक दूसरेपर प्रभाव डालती रहती हैं। इसीलिये तो हमारे शास्त्रोंका आदेश है कि सबकी सेवा करो, फलकी चिन्ता छोड़कर सदा शुभकार्योंमें संलग्न रहो।

मनुष्यकी समग्र चेतना तो 'एक' है; अस्तु, आचारको अध्यात्मसे हम पृथक् कर भी कैसे सकते हैं ? आचरणरहित बुद्धि धूर्तताके सिवा क्या है ? आचारसे रहित साधु साधु कैसा ? और इसी प्रकार सदाचार भी बुद्धिसम्मत होना चाहिये और उसके द्वारा हमारे अंदर सच्ची साधुताका विकास होना चाहिये। संक्षेपमें यों कहा जा सकता है कि तत्त्वज्ञान, सदाचार और आत्मदर्शन आध्यात्मिक विकासके अविभेद्य साधन हैं—तीन नामोंसे पुकारे जानेपर भी वे हैं 'एक' ही वस्तुके तीन रूपान्तर। सद्ज्ञानके साथ सदाचारका होना अनिवार्य है, तभी ज्ञान ज्ञान है।

कठोपनिषद् (३।७।३) में यह प्रसङ्ग आया है कि जो अविज्ञानवान् है, अमनस्क है तथा अशुचि है, वह लक्ष्यको कदापि नहीं पा सकता। जो विज्ञानवान् है, समनस्क है, सदा शुचि है, वह अपने लक्ष्यको अवश्यमेव प्राप्त कर लेगा।

अन्तमें ज्ञान शुभ और अशुभको लाँघ जाता है और वहाँ ज्ञानीको शास्त्राचारका बन्धन नहीं रहता—वह 'सु' और 'कु'से परे चला जाता है। वह शुभ और अशुभ दोनोंपर विजय पा लेता है—उसे अब शुभाशुभ कर्म नहीं बाँधते। (बृहदारण्यक० ४।४।२२)

इस प्रकारकी मुक्तिके लिये पहले असत्से मुक्त होकर सत्में प्रवेश होना चाहिये; क्योंकि जहाँतक सत्-असत्का ज्ञान शेष है, वहाँतक तो असत्से मुक्त होना ही होगा। ज्ञानके पूर्ण प्रकाशमें सत्-असत्का भेद स्वयं मिट जाता है। छान्दोग्य उपनिषद् (७।२।१) में यह आया है कि वाणी ही तो धर्म-अधर्म, सत्य-अनृतका भेद बताती है। वाणी न होती तो इनके भेदका कैसे पता चलता ? वाणी ही तो धर्म-अधर्म, सत्य-असत्य, प्रिय-अप्रियका पता देती है।

ब्रह्मज्ञानीका जिस सत्यलोक या ब्रह्मलोकमें प्रवेश होता है, वहाँ प्रिय-अप्रिय, शुभ-अशुभका कोई भेद है ही नहीं; क्योंकि भेद तो अविद्याजन्य है, ज्ञानमें भेद कहाँ ? इसलिये वहाँ आचारके 'सु' और 'कु' की भी गति नहीं है। छान्दोग्य उपनिषद् (८।४।१-२) में उस स्थितिका वर्णन है—'उस पुलसे न दिन पार करता है न रात, न जरा पार करती है न मृत्यु और न शोक, न सुकृत पार करता है न दुष्कृत। इस पुलको पार कर ब्रह्मज्ञानी पुरुष ब्रह्मलोकमें प्रवेश करता है, जहाँ न गर्मी है न सर्दी; वहीं उसका चिरन्तन वास होता है।

जबतक हृदयमें कामका गंध भी है, तबतक आत्माकी उपलब्धि नहीं हो सकती। सभी उपनिषदोंकी इसमें एक राय है। जबतक मनुष्य कामासक्त है, तबतक उसकी आत्माको ऐसे बादल ढँके रहते हैं जिन्हें हटाना उसके वशकी बात नहीं। वह दुर्बल हो, सदोष हो, भूलें करता हो; परन्तु यदि सावचेत और सावधान है और देख रहा है कि इन भूलोंके कारण वह गिर रहा है और सावधान होकर जब वह इनपर विजय पा लेता है, तभी वह 'कामजयी' कहा जा सकता है। मुक्तिका मन्दिर ऐसोंके लिये ही खुलता है।

['कल्याण-कल्पतरु'से अनूदित]

* * *

वर्तमान

(लेखक—श्रीरामानन्दजी ब्रह्मचारी)

रणचण्डीका वर्तमान नृत्य, जिसकी घोरताका पार पाना असम्भव-सा दीख रहा है, उसी रमणीय रामकी आनन्दमयी लीला है। इसके भीतर भी ताण्डवका आनन्दमय तार है! जिस व्यक्तिने उस विश्वजनीन* लयमें लीनता लाभ की है, अपने सीमित व्यक्तित्वकी सीमाओंका अतिक्रमण कर परतत्त्वसे सम्पर्क स्थापित किया और उस अन्तिम स्थिरतामें स्थितिका लाभ लूटा है, वह इस बातको स्पष्ट प्रतीत कर सकता है। मृत्यु तथा जीवन, सुख तथा दुःख, शीत और उष्ण तथा मानापमानमें वह उस 'सम'को प्रतीत करता है। वह 'सम' आनन्द, शान्ति तथा स्थिरताका सोता है। ज्ञान उसीका दूसरा नाम है। अक्षर उसीको कहते हैं। पराभक्ति उसीका आश्रय लेकर परमपुरुषकी ओर बढ़ती है।

एक व्यक्तिका घोड़ा मर जाता है। व्यक्ति दुखी होता है। 'नयां खरीदना होगा और रकम लगेगी, अन्यथा काम नहीं चलनेका'। चील, कौवे, कुत्ते और गीदड़ फूले नहीं समाते कि खूब पेटभर मांस-भोजन होगीं। उस मृत्युमें अनेकानेक जीवाणुओंकी सृष्टि होती है। कई-एकका पेट पलता है। तो इस घोड़ेकी मृत्युको हम दुःख कहें अथवा सुख कहें? इसे हर्षप्रद घटना कहना चाहिये अथवा शोकप्रद?

मैंने यह एक उदाहरण दिया है। इससे स्पष्ट है कि व्यक्तिगत दृष्टिकोण अतीव सीमित है। सत् अर्थात् जो है—जो घटता है—उसका एक ही दृष्टिकोणसे दर्शन हो पाता है। इस सीमितताका कारण हमारे राग-द्वेष, काम-क्रोध तथा लोभ-मोह रहा करते हैं। हमारे भाव हमारे व्यक्तित्वकी सीमाओंको निर्धारित करते हैं—हमें एक दायरेमें बाँध देते हैं। जैसे-जैसे व्यक्ति इनसे ऊपर उठता है, वैसे-वैसे ही वह दूसरोंके दृष्टिकोणपर अपनेको स्थित करनेके योग्य हो जाता है और उन्हींकी-सी अनुभूति प्राप्त कर सकता है। यही वास्तविक सहानुभूति है। राग-द्वेषादि व्यक्तिगत भावों (Personal Emotions) का अभाव तथा सहानुभूतिकी वृद्धि साथ-साथ चलते हैं।

सहानुभूतिके विकाससे व्यक्तिका दृष्टिकोण विस्तृत होता चला जाता है। सत्को वह अधिकाधिक पहचाननेके योग्य होता चला जाता है। इसका प्रभाव स्वभावतः उसके हृदयपर पड़ता है। वह दुःख तथा सुखसे परे होता चला जाता है। राग-द्वेषादि भी शान्त होने लगते हैं। दूसरे शब्दोंमें, सहानुभूतिका विकास और राग-द्वेषादि परस्पर प्रभाव डालनेवाले अतिनिकट सम्बन्धी हैं।

मानुषिक विकासमें पहली बड़ी समस्या तो यही है कि हम अपने पड़ोसियोंसे सहानुभूति प्राप्त करें। इतनेमात्रसे हम जिसे सुख तथा दुःख समझते हैं, उसमें बड़ा अन्तर हो जायगा। हमारे कई सुख सुख नहीं रहेंगे और कई दुःख सुखरूपमें परिवर्तित नहीं होंगे तो कम-से-कम दुःखमय नहीं रहेंगे। वह लाभ, जिससे हमारे पड़ोसीको हानि होती है, हमारे लिये सुखमय नहीं होगा और वह हानि, जिससे हमारे पड़ोसीको लाभ होता है, दुःखमय नहीं रहेगी। यदि सहानुभूतिसे ऐसा नहीं होता तो वह वास्तविक नहीं, केवलमात्र वाचनिक है। वह विकासका चिह्न कदापि नहीं!

पड़ोसीसे हमारी सहानुभूति ग्राम, नगर, जाति तथा देशतक फैलती है। हम इनके सुख-दुःखको वास्तवमें

---

* Cosmic Rythm:

अनुभव करने लगते हैं। इससे हमारे सुख-दुःखमें महान् परिवर्तन हो जाता है। एक कदम और, फिर हमारी सहानुभूति मनुष्यमात्रसे हो जाती है। किसी भी घटनाके सुखित्व अथवा दुःखित्वका निर्णय करते समय हमारा दृष्टिकोण मनुष्यमात्रसे सम हो जाता है। मेरी समझमें यह मानुषी विकासकी सीमा नहीं है। यहाँ हम अध्यात्ममें गाढ़ प्रवेश कर जाते हैं।

वह व्यक्ति, जो अपने दृष्टिकोणको और भी बढ़ाता है और 'सर्व' के साथ सहानुभूति कर सकता है वह विश्वजनीन दर्शनको लाभ करता है। इसीको अंगरेजीमें Cosmic Vision कहा जाता है। वास्तविकरूपसे सत्को वह समझ सकता है। वह राग-द्वेषसे, काम-क्रोधसे तथा लोभ-मोहसे परे हो जाता है। उसके व्यक्तिगत भाव सदाके लिये निर्व्यक्तित्व (Impersonality) में लीन हो जाते हैं। वह व्यक्ति होते हुए भी व्यक्ति नहीं रहता। उसका 'अहं' सदाके लिये 'सर्व'में लीन हो जाता है। 'समं ब्रह्म'को वह प्रतीत करता है। ऐसा व्यक्ति उस विश्वजनीन-लयमें लीनता लाभ कर उसके छिपे आनन्दका रसास्वादन करता है।

'रसो वै सः। रसं हि लब्ध्वा आनन्दी भवति। आनन्दात् खल्विमानि भूतानि जायन्ते।'

क्रियात्मक सहानुभूति, जिसका दूसरा नाम प्रेमसेवा है, आध्यात्मिक उन्नतिका आवश्यक साधन है। तुच्छ 'अहं'को सर्वमय करनेका उत्तम साधन तथा परमपदकी सीढ़ी है। ऐहिक जीवनको भी क्लेशमुक्त तथा आनन्दसम्पन्न इसीसे किया जाता है। इसीसे वर्तमानमें छिपे हुए सत्को पहचाना जाता है!

'अपनो भगति दे भगवान'

अपनी भगति दे भगवान।
कोटि लालच जो दिखावहु, नाहिनै रुचि आन॥
जरत ज्वाला, गिरत गिरि ते, स्वकर काटत सीस।
देखि साहस सकुच मानत, राखि सकत न ईस॥
कामना करि, कोपि कबहूँ करत कर पसु-घात।
सिंह-सावक जात गृह तजि, इन्द्र अधिक डरात॥
जा दिना तें जनमु पायों, यहै मेरी रीति।
बिषय बिष हठि खात नाहीं, डरत करत अनीति॥
थके किंकर जूथ जम के, टारे टरत न नेक।
नरक-कूपनि जाइ जमपुर पर्‍यो बार अनेक॥
महा माचल मारिबे की सकुच नाहिन मोहिं।
पर्‍यो हौं पन किये द्वारे, लाज पन की तोहिं॥
नाहिनै काँचो कृपानिधि! करौ कहा रिसाइ।
सूर तबहुँ न द्वार छाँड़ै, डारिहौ कढ़राइ॥

—सूरदासजी

कल्याणके नियम

उद्देश्य–भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचार-समन्वित लेखोंद्वारा जनताको कल्याणके पथपर पहुँचानेका प्रयत्न करना इसका उद्देश्य है।

नियम

(१) भगवद्भक्ति, भक्तचरित, ज्ञान, वैराग्य आदिका प्रतिपादन करनेवाले, ईश्वरपरक, कल्याणमार्गमें सहायक, अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत आक्षेपरहित लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयोंके लेख भेजनेका कोई सज्जन कष्ट न करें। लेखोंको घटाने-बढ़ाने और छापने अथवा न छापनेका अधिकार सम्पादकको है। अमुद्रित लेख बिना माँगे लौटाये नहीं जाते। **लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदाता नहीं हैं।**

(२) इसका डाकव्ययसहित अग्रिम वार्षिक मूल्य भारतवर्षमें ४≡) और भारतवर्षसे बाहरके लिये ६॥=) (१० शिलिंग) नियत है। **बिना अग्रिम मूल्य प्राप्त हुए पत्र प्रायः नहीं भेजा जाता।**

(३) 'कल्याण'का वर्ष अक्टूबरसे आरम्भ होकर सितम्बरमें समाप्त होता है। अतः ग्राहक अक्टूबरसे ही बनाये जायँगे। वर्षके किसी भी महीनेमें ग्राहक बनाये जा सकते हैं, किन्तु अक्टूबरके अङ्कके बाद निकले हुए तबतकके सब अङ्क उन्हें लेने होंगे। 'कल्याण'के बीचके किसी अङ्कसे ग्राहक नहीं बनाये जाते; छः या तीन महीनेके लिये भी ग्राहक नहीं बनाये जाते।

(४) इसमें व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी दरमें प्रकाशित नहीं किये जाते।

(५) कार्यालयसे 'कल्याण' दो-तीन बार जाँच करके प्रत्येक ग्राहकके नामसे भेजा जाता है। यदि किसी मासका अङ्क समयपर न पहुँचे तो अपने जिलेके पोस्ट-सुपरिण्टेण्डेंट साहबके दफ्तरमें शिकायत करनी चाहिये। वहाँसे जो उत्तर मिले, वह हमें भेज देना चाहिये। डाकघरका जवाब शिकायती पत्रके साथ न आनेसे दूसरी प्रति बिना मूल्य मिलनेमें अड़चन हो सकती है।

(६) पता बदलनेकी सूचना कम-से-कम १५ दिन पहले कार्यालयमें पहुँच जानी चाहिये। **लिखते समय ग्राहक-संख्या, पुराना और नया नाम-पता साफ-साफ लिखना चाहिये।** महीने-दो-महीनोंके लिये बदलवाना हो, तो अपने पोस्टमास्टरको ही लिखकर प्रबन्ध कर लेना चाहिये। पता-बदलीकी सूचना न मिलनेपर अङ्क पुराने पतेसे चले जानेकी अवस्थामें दूसरी प्रति बिना मूल्य न भेजी जा सकेगी।

आवश्यक सूचनाएँ

(७) 'कल्याण'में किसी प्रकारका कमीशन या 'कल्याण'की किसीको एजेन्सी देनेका नियम नहीं है।

(८) पुराने अङ्क, फाइलें तथा विशेषाङ्क कम या रियायती मूल्यमें नहीं दिये जाते।

(९) ग्राहकोंको अपना नाम-पता स्पष्ट लिखनेके साथ-साथ **ग्राहक-संख्या** अवश्य लिखनी चाहिये।

(१०) पत्रके उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजना आवश्यक है।

(११) ग्राहकोंको चंदा मनीआर्डरद्वारा भेजना चाहिये; वी० पी० भेजनी बंद कर दी गयी है। बिलसे भेजनेका नियम नहीं है।

(१२) प्रेस-विभाग और कल्याण-विभागको अलग-अलग समझकर अलग-अलग पत्र-व्यवहार करना और रुपया आदि भेजना चाहिये। **'कल्याण'के साथ पुस्तकें और चित्र नहीं भेजे जा सकते।** प्रेससे १) से कमकी वी० पी० प्रायः नहीं भेजी जाती।

(१३) चालू वर्षके विशेषाङ्कके बदले पिछले वर्षोंके विशेषाङ्क नहीं दिये जाते।

(१४) मनीआर्डरके कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, ग्राहक-नम्बर, पूरा पता आदि सब बातें साफ-साफ लिखनी चाहिये।

(१५) प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र, ग्राहक होनेकी सूचना, मनीआर्डर आदि **व्यवस्थापक "कल्याण" गोरखपुरके** नामसे और सम्पादन-विभागसे सम्बन्ध रखनेवाले पत्रादि **सम्पादक "कल्याण" गोरखपुरके** नामसे भेजने चाहिये।

(१६) स्वयं आकर ले जाने या एक साथ एकसे अधिक अङ्क रजिस्ट्रीसे या रेलसे मँगानेवालोंसे चंदा कुछ कम नहीं लिया जाता।

व्यवस्थापक–**कल्याण, गोरखपुर**

Regd. No. A. 175.

'नंदके नँदनपर लगन लगी रहै'

सुंदर सुजान पर, मंद मुसुकान पर,
बाँसुरी की तान पर ठौरन ठगी रहै।
मूरति बिसाल पर, कंचन की माल पर,
खंजन-सी चाल पर खौरन खगी रहै॥
भौंहें धनु मैन पर, लोने जुग नैन पर,
सुद्ध रस बैन पर 'वाहिद' पगी रहै।
चंचल वा तन पर, साँवरे बदन पर,
नंदके नँदन पर लगन लगी रहै॥

* * *

११-८-१९४४

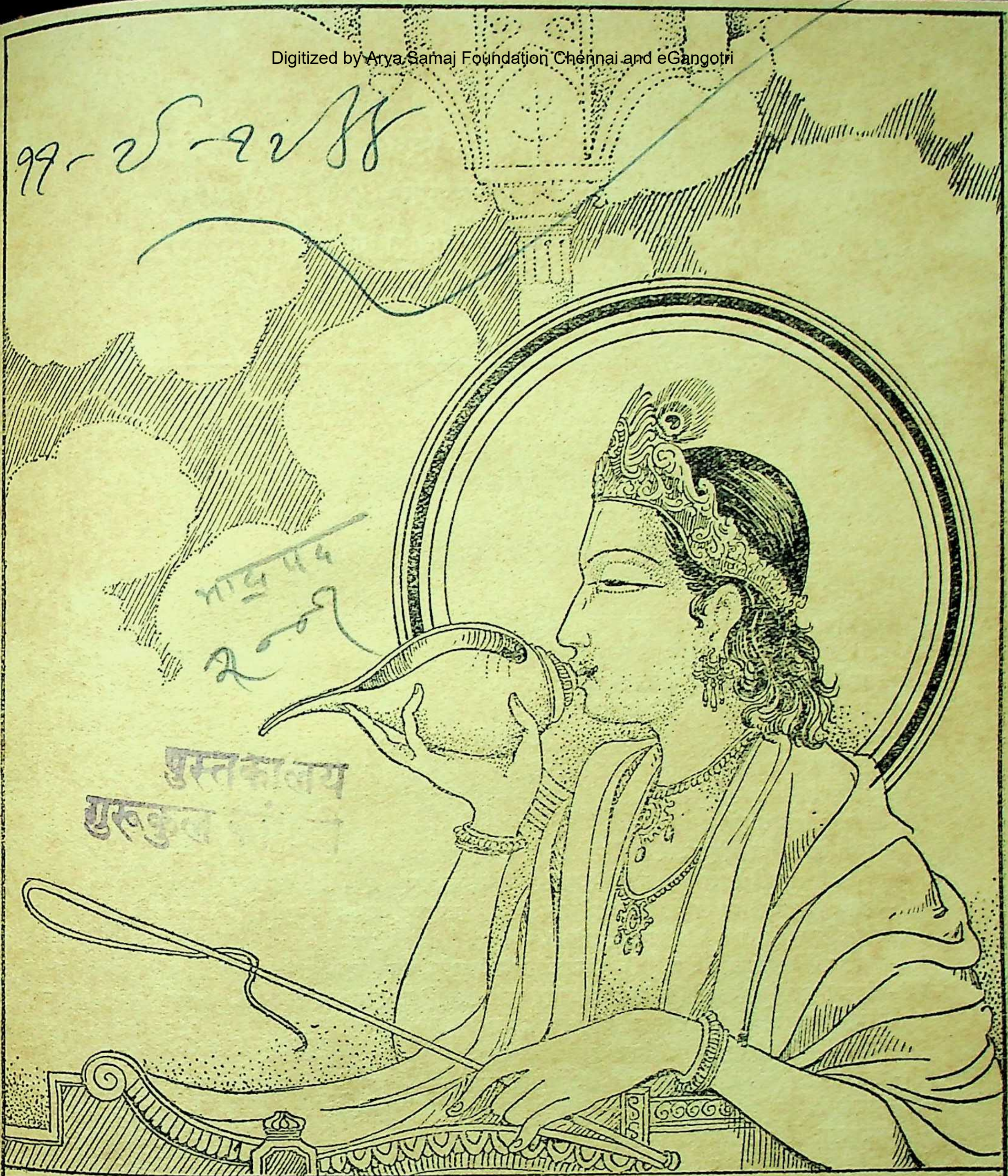

भाद्रपद
२००१

पुस्तकालय
गुरुकुल

वर्ष १८

कल्याण

अङ्क १२

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ आगारा ॥

[संस्करण ५५६००]

विषय-सूची

कल्याण सितम्बर सन् १९४४ की

विषय ... पृष्ठ-संख्या
१–ध्यान [कविता] (पाण्डेय श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम') ... ११७७
२–प्रभु-स्तवन [कविता] (अनुवादक—श्रीमुंशीरामजी शर्मा एम्० ए०, 'सोम') ... ११७८
३–हमारा कर्त्तव्य (श्रीमज्जगद्गुरु शङ्कराचार्य अनन्तश्रीविभूषित ज्योतिष्पीठाधीश्वर श्रीब्रह्मानन्द सरस्वतीजी महाराज) ... ११७९
४–याचना [कविता] (श्रीसुदर्शनसिंहजी) ... ११८२
५–संत-वाणी (एक महात्माका प्रसाद) ... ११८३
६–भव-भ्रान्त पथिकके प्रति [कविता] ('नेह') ... ११८७
७–आदर्श भक्त हनुमान् (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ... ११८८
८–नवधा भक्ति [कहानी] (श्री 'चक्र') ... ११९२
९–'आत्मानं विद्धि' (प्रो० श्रीजगन्नाथप्रसादजी मिश्र, एम्० ए०, बी० एल्०) ... ११९७
१०–श्रीराधावरकी झाँकी [कविता] (भक्तकवि फ़रहत) ... १२०१
११–भगवत्तत्त्व (साधु रामसुखदासजी) ... १२०२
१२–सत्सङ्ग और दुःसङ्ग ... १२१०
१३–अपनी खोज तथा अमृतत्वकी प्राप्तिका उपाय (श्रीविश्वबन्धुजी 'सत्यार्थी') ... १२११
१४–तू अपने आपको समझ (डाक्टर श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, डी० लिट्०) ... १२१५
१५–गीताके कर्मयोगकी महत्ता (डाक्टर श्रीकैलासनाथजी काटजू एम्०ए०,एल्-एल्०डी०) ... १२१६
१६–राम और शूर्पणखा (श्रीकलिन्दजी शास्त्री, बी० ए०) ... १२१९
१७–नवीन मनोविज्ञान और योग (पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम्० ए०, बी० टी०) ... १२२२
१८–श्रीकृष्ण-कृपा [कविता] (कविवर घनआनंद-कृत अप्रकाशित 'कृपाकन्द-निबन्ध'से) ... १२२५
१९–परमार्थ-पत्रावली (श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र) ... १२२६
२०–चरणोंमें—[कविता] (श्रीमंगलबिहारीजी पाण्डेय) ... १२२७
२१–भक्त-गाथा (पं० श्रीअक्षयचन्द्रजी शर्मा साहित्यरत्न) ... १२२८
२२–कामके पत्र ... १२३२
२३–भगवन्नाम-संकीर्तनका महत्त्व (पूज्य श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी) ... १२३५
२४–मानस-प्रचारकी एक योजना (कुँ० श्रीनिवासदासजी पोद्दार) ... १२३८
२५–प्रेमकी अनन्यता [कविता] (श्रीसूरदासजी) ... १२३९
२६–गीताप्रेमियोंसे निवेदन (संयोजक–श्रीगीता-परीक्षा-समिति, गोरखपुर) ... १२४०

वार्षिक मूल्य
भारतमें ५≡)
विदेशमें ७||=)
(शिलिङ्ग ११½)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें ।)
विदेशमें ।≤)
(८ पेंस)

Edited by H. P. Poddar and C. L. Goswami, M. A., Sastri
Printed and Published by Ghanshyamdas Jalan at the Gita Press, Gorakhpur, U. P. (India)

श्रीहरिः

पुराने और नये ग्राहकोंकी सेवामें नम्र निवेदन

(१) यह अठारहवें वर्षका अन्तिम अङ्क है। इस अङ्कमें सभी पुराने ग्राहकोंका चंदा पूरा हो जायगा।

(२) उन्नीसवें वर्षका पहला अङ्क 'संक्षिप्त पद्मपुराणाङ्क' होगा। पद्मपुराण महर्षि वेदव्यास-रचित पुराणोंमेंसे एक प्रधान पुराण है और सभी सम्प्रदायोंमें आदरणीय है। इसमें बड़ी ही रोचक, शिक्षाप्रद, भक्तिभावमयी और सदाचार बढ़ानेवाली सुन्दर-सुन्दर कथाएँ हैं। इस विशेषाङ्कमें पद्मपुराणके चुने हुए प्रारम्भिक खण्डों (सम्भवतः सृष्टिखण्ड और भूमिखण्ड) का सरल हिंदीमें अनुवाद होगा। शेष अंशका संक्षिप्त हिंदी-अनुवाद अगले अङ्कोंमें प्रतिमास छपता रहेगा। विशेषाङ्ककी पृष्ठ-संख्या ३६० होगी, साथ ही आर्टपेपरपर छपे हुए १० सुन्दर रंगीन चित्र होंगे, सादे लाइन चित्र भी रहेंगे। मासिक अङ्ककी पृष्ठ-संख्या ४८ होगी और प्रत्येकमें एक रंगीन चित्र भी रहेगा।

(३) सरकारी कागज-नियन्त्रणके कारण न तो हम विशेषाङ्क ही अधिक पृष्ठोंका दे सकते हैं और न साधारण अङ्कोंकी ही पृष्ठ-संख्या बढ़ा सकते हैं। टाइटल पेज, चित्र एवं लेखोंको लेकर कुल ९७८ पृष्ठ सालभरमें छापने हैं, जिनको उपर्युक्त प्रकारसे विशेषाङ्क और साधारण मासिक अङ्कोंमें बाँट दिया गया है। विशेषाङ्क-सहित 'कल्याण'के प्रकाशनकी सरकारने इस तरह अनुमति दी है।

(४) अठारहवें वर्षमें पृष्ठ-संख्या इस प्रकार रही है—

	लेख-पृष्ठ	टाइटल-पृष्ठ	चित्र रंगीन
विशेषाङ्क—	५३६	४	१४
मासिक २ से १२—	७०४	४४	११
	१२४०	४८	२५=५० पृष्ठ=कुल १३३८

उन्नीसवें वर्षमें पृष्ठ-संख्या इस प्रकार रहेगी—

	लेख-पृष्ठ	टाइटल-पृष्ठ	चित्र रंगीन
विशेषाङ्क—	३६०	४	१०
मासिक २ से १२—	५२८	४४	११
	८८८	४८	२१=४२ पृष्ठ=कुल ९७८

इनके अतिरिक्त कुछ सूचीके पृष्ठ अलग भी रहेंगे।

उपर्युक्त अङ्कोंसे पता लगता है कि पृष्ठ-संख्या चालू वर्षकी अपेक्षा अगले सालमें बहुत नहीं घटेगी तो भी वार्षिक मूल्यमें १) घटाकर ५≡) की जगह ४≡) कर दिया गया है। हमें आशा है कि हमारे पुराने ग्राहक इससे विशेष प्रसन्न होंगे और नये ग्राहक भी विशेषरूपमें बनेंगे।

(५) युद्ध अभी चल ही रहा है और आवश्यक सामग्रियोंके जुटानेमें कठिनाइयाँ भी बढ़ती जा रही हैं। ऐसी हालतमें यदि कोई विशेष परिस्थिति आ जाय और अगले अङ्क ग्राहकोंकी सेवामें न पहुँचाये जा सकें तो जितने अङ्क उनको मिल जायँ, उतनेमें ही कीमत पूरी समझ लेनी चाहिये।

(६) जिन महानुभावोंने ग्राहक बनाये हैं और बना रहे हैं, उनके हम हृदयसे कृतज्ञ हैं। सम्भव है, अङ्क बहुत शीघ्र समाप्त हो जायँ, इसलिये ग्राहक बननेवालोंको बहुत जल्दी रुपये मनीआर्डरसे भेज देने चाहिये। मनीआर्डर-फार्म गत अङ्कमें भेजा जा चुका है।

(७) डाकके नियमानुसार 'कल्याण'के अङ्कोंके साथ कोई अन्य चीज नहीं भेजी जा सकती; अतः पुस्तक या चित्रके लिये गीताप्रेसके नाम अलग आर्डर देना चाहिये।

(८) ग्राहक महानुभावोंसे निवेदन है कि मनीआर्डर-कूपनमें अपना ग्राहक-नंबर अवश्य लिखनेकी कृपा करें। नये ग्राहक हों तो 'नया' शब्द लिख दें। नाम-पता, डाकखाना लिखना कभी भी न भूलें और स्पष्ट अक्षरोंमें साफ-साफ तथा पूरा लिखें।

(९) सजिल्द विशेषाङ्क देनेकी इस साल आवश्यकता नहीं है; क्योंकि संक्षिप्त पद्मपुराण पूरा हो जानेपर ही जिल्द बँधवाना ठीक होगा; इसलिये सजिल्द अङ्क बनानेकी व्यवस्था नहीं की गयी है। कोई सज्जन सजिल्दका चंदा भेजनेका कष्ट न करें। यदि किसीका जिल्दका पैसा आवेगा तो मनीआर्डर फीस काटकर लौटा दिया जायगा।

(१०) बहुत-से ग्राहकोंका कहना है कि 'हम दूसरे कामोंमें फँसे रहनेके कारण मनीआर्डरसे रुपये भेजना भूल जाते हैं। पर ग्राहक बनना चाहते हैं। वी० पी० से अङ्क मिलता नहीं, इससे हमें दुःख होता है।' इसलिये विचार किया जा रहा है कि अङ्क बचें तो आगे चलकर वी० पी० से भेज दिये जायँ। परन्तु ग्राहकोंके लिये इसका भरोसा न करके मनीआर्डरसे ही ४≡) भेज देना अच्छा है; क्योंकि जिनके रुपये आ जायँगे उनको तो अङ्क मिल ही जायगा। वी० पी० तो अङ्क बचनेपर ही जा सकेगी। हाँ, जिन सज्जनोंको ग्राहक नहीं रहना हो, वे कृपापूर्वक पहलेसे एक कार्ड लिखकर सूचना दे दें। ताकि यदि वी० पी० भेजनेका अवसर आवे तो व्यर्थका नुकसान न उठाना पड़े।

व्यवस्थापक—

'कल्याण' गोरखपुर

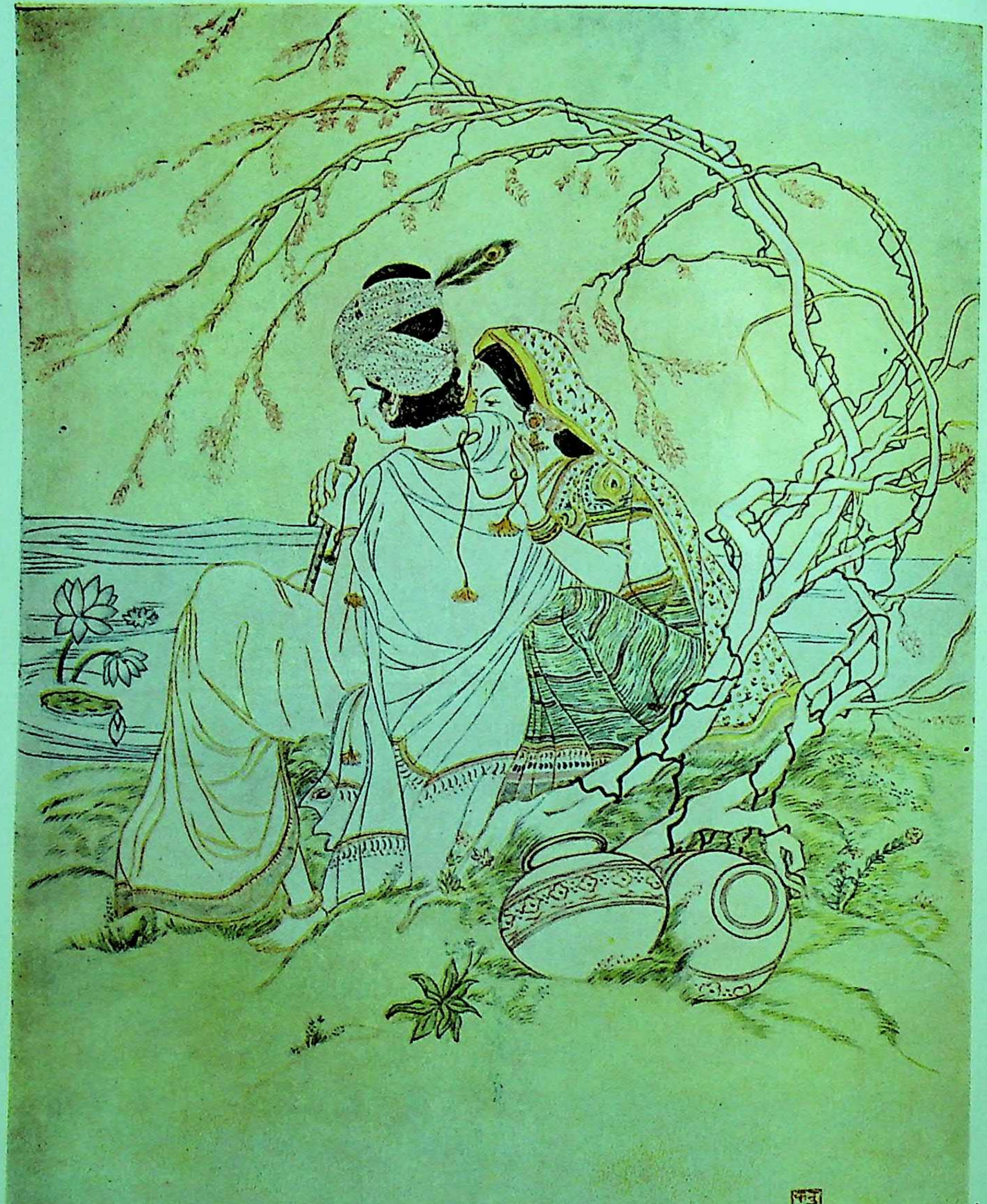

तन्मयता

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूणमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

रामाय रामभद्राय रामचन्द्राय वेधसे ।
रघुनाथाय नाथाय सीतायाः पतये नमः ॥

वर्ष १८ } गोरखपुर, सितम्बर १९४४, सौर भाद्रपद २००१ { संख्या १२
पूर्ण संख्या २१६

ध्यान

कुञ्जन मैं रसरंग तरंग लै गंग-सी अंग-बिभा बिलसै री।
त्यौं घनस्याम की प्यारी प्रभा मिलि कारी कलिंदजा-सी हुलसै री॥
छाई छटा ब्रज बीच प्रयाग की पेखत पाप-अनी झुलसै री।
या छबि राधा-मुकुंदको सुंदर मो मन-मंदिर मध्य लसै री॥

'राम'

प्रभु-स्तवन

(अनुवादक—श्रीमुंशीरामजी शर्मा 'सोम', एम्० ए०)

अग्निः शुचिव्रततमः शुचिर्विप्रः शुचिः कविः ।
शुची रोचत आहुतः ॥

(ऋक्० ८ । ४४ । २१)

आत्मदेवसे बढ़कर पावन भाव न जगमें कोई और ।
इसको छूकर ही बनते हैं अन्य यहाँ पावन-सिरमौर ॥
जबतक आत्मदेव रमते हैं, तबतक पावन विमल शरीर ।
निकल गये, फिर महा मलिन है इसकी माटी, इसका नीर ॥
धन्य-धन्य है, इस आत्मासे निकल रहा जो पावन ज्ञान ।
धन्य-धन्य है, इस आत्मासे निकल रहा जो कविता-ज्ञान ॥
यह ज्ञानी, यह कवि खिल उठता आहुति पाकर परम पवित्र ।
इसकी दीप्ति-दीप्तिमें चमकें पावनताके चारु चरित्र ॥
इस पवित्र छबिपर न्योछावर भूतलकी शोभा सौ बार ।
दर्शनीय यह, वर्णनीय यह, चिन्तनीय छवि-राशि अपार ॥

बृहन्निदिध्म एषां भूरि शस्तं पृथुः स्वरुः ।
येषामिन्द्रो युवा सखा ॥

(ऋक्० ८ । ४५ । २)

जो सर्वदा युवा है, है नित्य शक्तिशाली ।
वह इन्द्र बन गया है, जिनका विकास-माली ॥
प्रभुको सखा बनाकर निर्द्वन्द्व वे विचरते ।
महती प्रदीप्त ज्वाला—ज्ञानाग्निमें चमकते ॥
वे बार-बार प्रभुके स्तुति-गीत नित्य गाते ।
निज यज्ञ-यूपको यों जगमें बड़ा बनाते ॥
झंडा यहाँ उन्हींका जाज्वल्यमान सविता ।
गाते सभी उन्हींकी चिरवन्द्य कीर्ति-कविता ॥

हमारा कर्तव्य

(लेखक— श्रीमज्जगद्गुरु शङ्कराचार्य अनन्तश्रीविभूषित ज्योतिष्पीठाधीश्वर श्रीब्रह्मानन्द सरस्वतीजी महाराज)

सबसे पहले मनुष्योंको अपना धर्म जानना चाहिये। धर्मपर चलनेसे ही सुख मिलता है तथा धर्मके विपरीत चलनेसे दुःख और सङ्कट प्राप्त होते हैं। यदि प्रत्येक प्राणी स्वधर्मानुसार अपना-अपना सुधार करनेपर तुल जाय, तो सारे समाज और देशका कल्याण अनायास ही हो जायगा; क्योंकि समाजके सुधारका प्रारम्भ व्यक्तियोंके सुधारसे होता है। इसीकी कमी भी है। दूसरोंको तरह-तरहकी विरुद्ध बातें सिखानेवाले बहुत मिलेंगे, किन्तु स्वयं अपने आचरणको पवित्र कर सन्मार्गपर चलनेवाले थोड़े ही होते हैं। संसारमें किसी भी कामको बिगाड़ देना सरल है किन्तु बनाना कठिन होता है। पाप करना बहुत सरल है, किन्तु पुण्यको प्राप्त करना बहुत कठिन होता है। किसी बातपर भ्रम पैदा कर देना आसान है, किन्तु उसकी सचाई ठीक समझाना बहुत कठिन है। शङ्का करना सरल होता है, किन्तु समाधान बड़ा कठिन है। आचरण बड़ी जल्दी बिगड़ सकते हैं, किन्तु उनके सुधरनेमें बड़ा समय लगता है। भले आदमी उन्हीं कामोंको करते हैं, जो कि कठिन कहे जाते हैं। मनके बहावमें बहना वीरता वा बहादुरी नहीं, बहादुरी तो मनके जीतनेमें है। इसलिये अपने मनको सुबुद्धिद्वारा जीतकर धर्मके जाननेका उद्योग करके धर्मात्मा बनना चाहिये। इसके लिये सबसे पहले अपने पिता-पितामह आदिके द्वारा आचरण किये हुए सन्मार्गपर चलना होगा। तदनन्तर धर्मशास्त्र और विद्वान् पुरुष एवं विवेकी महात्माओंद्वारा धर्मसम्बन्धी बातें जाननी चाहिये तथा उनका भलीभाँति आचरण करना चाहिये। यदि प्रमादवश ऐसा न हुआ, तो अमूल्य मनुष्य-जीवन व्यर्थ ही गया जानो।

भिन्न-भिन्न संग्रह-ग्रन्थोंमें धर्मके अनेक तरहके लक्षण पाये जाते हैं। बुद्धिमान् एवं विद्वान् मनुष्य उनकी सङ्गति मिलाकर लाभ उठाते हैं, शङ्काशील प्राणी सन्देहमें ही लटके रहते हैं। सरल स्वभावके जिज्ञासु लोग अपने-अपने गुरुके मुखसे प्राप्त उपदेशसे ही धर्म-ज्ञान प्राप्त करके अपना सुधार कर लेते हैं।

यह संसार स्वभावसे ही गमनशील है—सकल पदार्थोंको अपनी ओर खींचता है, बदलनेकी कोशिश करता है; किन्तु धर्म प्रत्येक पदार्थके अंदर बैठा हुआ उसके स्वरूपकी रक्षा करता है। वह उसे संसारके वेगयुक्त प्रवाहमें बहने नहीं देता बल्कि धारण किये रहता है। इसीसे उसका नाम 'धर्म' अर्थात् धारण करनेवाला है। वह सकल प्रजाको अपने स्वरूपमें सुरक्षित रखकर धारण किये रहता है; इसीसे वेद इस प्रकार उसका वर्णन करते हैं—

धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति। धर्मेण पापमपनुदति धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम्। तस्माद्धर्मं परमं वदन्ति।

अग्नि और सूर्यका धर्म प्रकाश और गर्मी है। यदि वह प्रकाश और गर्मीसे रहित है, तो न वह अग्नि है और न सूर्य ही। इसी प्रकार मनुष्यका धर्म मनुष्यता है। वह मनुष्यता धृति, क्षमा, अहिंसा, सत्य, पवित्रता आदिसे ही सम्पादित होती है। अथवा यों समझना चाहिये कि जिस तत्त्वके कारण मनुष्य अनन्त कालसे समर्थ होते हुए भी पशुओंकी तरह आचरण नहीं कर सकता या अपनेको अन्य जीवोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ और सभ्य मानता है, उस तत्त्वका नाम 'मनुष्यता' अथवा 'मानव-धर्म' है। उसीके आचरणसे इस लोकमें उन्नति और परलोकमें परम कल्याण प्राप्त होता है—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

धर्म सभीका होता है। पशु अपने धर्मपर चलते हैं। पृथ्वी, सूर्य, वायु, मेघ आदि अपने-अपने धर्मपर दृढ़ हैं। मनुष्यको भी अपने धर्मपर चलना चाहिये। इसीको समझानेकी चेष्टा की जा रही है। प्रकाश एक वस्तु है, किन्तु आश्रय-भेदसे वह अनेक प्रकारका प्रतीत होता है। सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, अग्नि, गैस, लालटेन, दीपक, टार्च, लकड़ी, बारूद आदि आधारोंके भेदसे वह भिन्न-भिन्न तरहका प्रतीत होता है। इसी प्रकार सनातन परमात्माके द्वारा विश्वकी प्रतिष्ठाके लिये रचा हुआ धर्म भी एक ही है; किन्तु वह सामान्य-विशेषादिभेदसे तथा अनेकविध देश, काल, व्यक्तिके भेदसे अनेक प्रकारका है। सरलतासे समझनेके लिये मानव सनातन-धर्मके चार भेद पहले ठीक जान लेने चाहिये; वे हैं—सामान्यधर्म, विशेषधर्म, सम्प्रदायधर्म और आपद्धर्म। जिसका पालन मनुष्यमात्रको समानभावसे

करना चाहिये, उसे 'सामान्यधर्म' कहते हैं । सामान्यधर्मके पालन एवं आचरण करनेके सभी अधिकारी हैं । स्त्री-पुरुष, आर्य-अनार्य, भारतीय-वैदेशिक, बाल-वृद्ध, विप्र-अन्त्यज आदि सभीके लिये वह समान है । उसीको मनुने दस प्रकारका बतलाया है—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

अर्थात् धैर्यको धारण करना धर्मका पालन करना है और धैर्य न रखना ही भीरुता या चञ्चलता है, पाप है । खाने-पीने, चलने-बोलने, सुख-दुःख, युद्ध, अपमान आदि सभी परिस्थितियोंमें जो धीरजसे काम करते हैं, वे धर्मका पालन करते हैं । सामर्थ्यवान्का अपने दोष या अपराधपर पश्चात्ताप करनेवालेको त्राण देना 'क्षमा' है । मनको वशमें रखना यहाँपर 'दम' कहा गया है । चोरी न करना, इन्द्रियोंको वशमें रखना—ये मनुष्यमात्रके सनातन धर्म हैं । अपने शरीर, वस्त्र, भोजन, निवासस्थान आदि सकल पदार्थोंको साफ, सुन्दर, पवित्र रखना शुचिता या 'शौच' कहलाता है । बुद्धिको बढ़ानेके उपाय करना, अपने-अपने जीवनोपयोगी विविध विद्याओंको सीखना, सत्य बोलना, क्रोध न करना—ये सब सनातन मानव-धर्म हैं । इनके विपरीत चलना अधर्म है । मनुष्योंको सबसे पहले सामान्यधर्मके पालनका ही अभ्यास करना चाहिये; तदनन्तर आस्तिकता, ईश्वर-भक्ति, बड़ोंका आदर करना, आतिथ्य आदि धर्म भी स्वयमेव प्राप्त होने लगते हैं ।

देश, जाति, काल एवं व्यक्तिविशेषकी स्वाभाविक परिस्थितिके अनुसार जो धर्म हैं, उन्हें 'विशेष धर्म' कहते हैं । जैसे भारत देशका वर्णाश्रमधर्म, भूटान और चीनका किम्पुरुषधर्म, प्राकृतिक ऋतु आदिकी अपूर्णतावाले देशोंके तादृश विभिन्न म्लेच्छधर्म दैशिक विशेष धर्म हैं । स्त्री, पुरुष, आर्य, यवन, हूण, खश, किरात आदिके विभिन्न जातीय विशेष धर्म हैं । सत्ययुग, त्रेता, द्वापर, कलियुग, दिन, रात्रि, प्रभात, सायङ्काल आदि काल-व्यवस्थाके विभिन्न विशेष धर्म होते हैं । व्यक्तिविशेषद्वारा पालनीय धर्म भी सनातनधर्म ही है । राजधर्म, प्रजाधर्म, गुरुका धर्म, शिष्यका धर्म, पिताका धर्म, पत्नीका धर्म, सेवक, स्वामी, बाल, वृद्ध आदि सबके विशेष धर्म होते हैं । किसी समयविशेषमें किसी विशिष्ट महापुरुषद्वारा तत्कालीन लाभके लिये प्रचारित मत सम्प्रदाय-धर्म कहलाता है । सम्प्रदाय-धर्म पूर्वोक्त सामान्य धर्म और विशेष धर्मका बाधक नहीं होना चाहिये, अन्यथा वह धर्म-कोटिमें नहीं आ सकता । लिखा है—

धर्मं यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुधर्म तत् ।
अविरोधी तु यो धर्मः स धर्मो मुनिपुङ्गव ॥

चौथा आपद्धर्म है । विशेष आपत्ति-कालमें किये जानेवाले वे आचरण, जो कि आपत्तिके चले जानेपर विविध प्रायश्चित्तोंद्वारा शुद्ध किये जा सकते हैं, 'आपद्धर्म' कहलाते हैं । इसमें भी विशेष ध्यान रहे कि वह आपद्धर्म नहीं कहलायेगा, जिससे रक्त और स्वरूप ही बिगड़ता हो । आजकल लोग अपने परम्परागत सदाचारोंकी उपेक्षा करनेके लिये समयाभाव एवं आपद्धर्म कह देते हैं, किन्तु विविध प्रकारसे समयको वृथा नष्ट करते रहते हैं । ऐसा नहीं होना चाहिये । पूर्वोक्त प्रकारसे मनुष्य जब धर्मके सभी सामान्य-विशेष रूपोंका पालन करता है, तभी धर्मात्मा आर्य कहलाता है ।

इस समय पहली बात तो कलियुग है; दूसरी बात यह है कि धर्मप्रधान शासन-प्रणालीका एकान्त अभाव है । अर्थ-काम-प्रधान नीतिका सभी देशोंमें ताण्डव नृत्य है । उसी प्रकारकी शिक्षा-दीक्षा तथा सारा वायुमण्डल बन चुका है । यह भी एक समय है । समयपर अर्थात् कालचक्रपर बलात्कार नहीं किया जा सकता । दिनके अनन्तर रात्रि और रात्रिके अनन्तर दिन होता ही है । उनकी निश्चित घड़ियाँ भी विधाताके विधानमें नियत हैं । किन्तु रात्रि होते हुए भी प्रकाशका प्रेमी मनुष्य विविध उपायोंद्वारा अन्धकारको हटानेका प्रयत्न करता ही है । इसी प्रकार धर्मके प्रेमी लोग धर्मकी रक्षा और अधर्मके निराकरणपर तुले ही रहते हैं; क्योंकि जितनी भी अव्यवस्था, अशान्ति और अनर्थ है, सबका मूल एकमात्र अधर्म ही है । उसके निवारणके लिये धर्मकी मात्राको बढ़ाना होगा; साथ ही सर्वशक्तिमान्, सर्वेश्वर, निर्बलके बल, अशरणशरण परमात्माकी कृपाका बल प्राप्त करना ही होगा । यह भी न भूलना चाहिये कि यह मनुष्यजीवन अलभ्य एवं अमूल्य है । इस समय यदि जीवने इससे लाभ न उठाया, तो वह सदाके लिये पछताता रहेगा । प्रमाद और आलस्य, स्वार्थ और अविवेक, राग और द्वेषके वशीभूत होकर यदि प्राणी अपने अमूल्य अवसरको खो दे, तो वह उसकी भयङ्कर

भूल होगी। इसलिये अपने स्वरूपकी रक्षा करते हुए उपस्थित परिस्थितियोंका सामना करना ही चाहिये।

माना कि पेटका सवाल सबसे पहला है, किन्तु उसकी बाधाका कारण ठीक जान लेना उससे पहले आवश्यक है। देशके किसी भागमें अकाल क्यों आया? उत्तरमें यही कहना होगा कि अवर्षण, अतिवर्षण, युद्ध आदिके कारण। और अवर्षण आदि सङ्कट क्यों उपस्थित हुए? इसका एकमात्र यही उत्तर है कि अदृष्ट बुरा आ गया था। अदृष्ट पिछले कर्मोंसे बनता है। इसलिये अब सावधान होकर ऐसे कर्म करने होंगे, जिनसे बुरा अदृष्ट आगेको न बने और पिछले अदृष्टके प्रभावको हटानेके लिये सर्वशक्तिमान् तथा अदृष्टपर प्रभाव डाल सकनेवाले भगवान्का आश्रय लिया जाय।

आज सारे संसारमें युद्धके कारण त्राहि-त्राहि मची हुई है, किन्तु किसी अखबारमें लेख लिख देनेसे या सभाओंमें प्रस्ताव पास कर देनेसे वह बंद नहीं हो सकता। इन सभी लड़नेवाली शक्तियोंको भी एक बड़ी अदृष्ट शक्ति नचा रही है। देखना है कि परिणाम क्या होता है। यदि आप भविष्यमें उस परिणामको अपने अनुकूल चाहते हो, तो सबसे पहले पूर्ण श्रद्धाके साथ सुबुद्धि देनेवाले सर्वशक्तिमान् भगवान्का आश्रय लो, धार्मिक बनो, राग-द्वेषकी भावनाएँ छोड़ो, सत्य-अहिंसा आदि उत्तम गुणोंके आधारपर राष्ट्रका सङ्गठन करो। सङ्गठनके लिये प्राचीन सुदृढ़ भित्तिके आधारपर ही काम करना होगा। सनातन धार्मिक दुर्गने नैतिक पराधीनता होनेपर भी धर्मके छत्रको अटल रखा है। हमारे भारतीय राष्ट्रकी आत्मापर धर्मका ही अमर शासन सदैव बना रहा है और आशा है, आगे भी रहेगा। इसीने नौ सौ वर्षोंसे नैतिक पराधीनता होते हुए भी हिंदू-जातिके अस्तित्वको बचाया है। ध्यान रहे कि नैतिक पराधीनता जिस प्रकार आयी है, उसी प्रकार चली भी जायगी; किन्तु यदि धर्म चला गया, तो फिर वह राष्ट्र अपने स्वरूपको ही भूल जायगा। ऐसी दशामें फिर किसका स्वराज्य और किसका स्वदेश।

इस समय हमारे देशसे सामान्य धर्म ही लुप्त हो गया है। सत्य, शौच, दया, दान, अहिंसा, अचौर्य आदि मिटते जा रहे हैं। विशेष धर्मोंकी बात तो दूर है। जिसके जीमें जैसा आता है, वह वैसा ही बोलता और करता है। शिक्षा इस प्रकारकी प्रवृत्त हो गयी है, जो नैतिक पराधीनताकी शृङ्खलाओंको मजबूत बनाते हुए आत्मिक दासताकी ओर हमारे बालकोंको ले जा रही है। देश और समाजके कल्याणके लिये नित्य नये आन्दोलन उठाये जाते हैं किन्तु अधूरे ही रह जाते हैं। इसका मूल कारण धर्मकी उपेक्षा है।

भारतदेश संसारका पथ-प्रदर्शक रहा है। इस समय राजनैतिक पराधीनताके कारण इसकी सब देशोंसे अधिक शोचनीय दशा है। भविष्यमें भी इसपर अधिक विपत्तियोंकी सम्भावना है। इसके चारों ओर युद्धाग्निकी लपटें उठ रही हैं। यह स्वयं आन्तर और बाह्य उपद्रवोंसे जर्जर हो चुका है। परस्परके मतभेदों, कलहों एवं विघटनोंसे निर्बल और निःश्रीक होता जा रहा है। इसके पास इस समय कोई निश्चित योजना नहीं है। सन्धि-विग्रहादि किसी भी आत्मरक्षणोपयोगी कार्योंमें यह स्वतन्त्र नहीं है; फिर भी यह यदि सङ्गठित होकर कार्य करे तो बहुत कुछ कर सकता है। सङ्गठन भी तभी हो सकता है, जब परम्परागत धार्मिक विश्वासों एवं भिन्न सम्प्रदायोंकी उपासना-पद्धतिके भेदोंमें न उलझकर नैतिक दृष्टि-बिन्दु एक बनाया जाय। इसके लिये जातीय, धार्मिक तथा साम्प्रदायिक सहिष्णुताकी आवश्यकता है। यदि एक दूसरेको पथभ्रष्ट या बुरा बतलाते हुए आन्तरिक कलहोंमें उलझते ही रहे, तो न कभी सङ्गठन हो सकता है और न देशको कोई आशाप्रद मार्ग ही मिल सकता है। धर्म-मर्यादाओंको छोड़कर तथा समाजके अङ्ग-प्रत्यङ्गोंमें असन्तोष पैदा करके कदाचित् कोई लाभ हो भी जाय, तो वह स्थायी नहीं हो सकता।

राष्ट्रीय स्वतन्त्रताका प्रश्न सबसे बड़ा है और उचित भी है। सभी स्वतन्त्रता चाहते हैं, तब भारतीय राष्ट्र ही क्यों पराधीन रहे। किन्तु यह चाहनेमात्रसे नहीं हो सकता। इसके लिये प्रत्येक राष्ट्रको उत्तम चारित्र्य, नैतिक सङ्गठन तथा अत्यन्त धर्मानुरागद्वारा पूर्ण योग्यताका सम्पादन कर लेना चाहिये; तदनन्तर उसका स्वराज्य उसको स्वयमेव प्राप्त हो सकता है। इस समयकी परिस्थिति बिल्कुल बदली हुई है। लोग अपने-अपने न्यायोचित कर्मोंको छोड़कर केवल नौकरीके लिये मारे-मारे फिरते हैं। सभी नौकर दूकानदार बनना चाहते हैं। मदरसोंमें भरती होते ही बालकोंके हृदयोंमें नौकर बननेकी भावना उत्पन्न हो जाती है। अब तो लड़कियाँ भी नौकरानी बननेकी लालसासे घरकी रानी बननेकी इच्छाको भूलती जा रही हैं। सभी

ओर सङ्घर्षकी मात्रा बढ़ती चली जा रही है। हर एक व्यक्ति, समाज या राष्ट्र थोड़े-से परिश्रमसे अधिक-से-अधिक दाम और आराम चाहता है, परिश्रम नहीं चाहता। श्रम और शिल्पके द्वारा समाजकी सेवा करनेवाले शूद्रवर्गकी आजीविकाओंका अपहरण हो चुका है। भाँति-भाँतिकी मशीनों और विधर्मियोंने उनकी रोटीको छीना है। कंगाली और बेरोजगारीसे वे दलित हो गये हैं। उनकी आजकी वास्तविक माँग उनकी आजीविका ही है। किन्तु उसकी ओर ध्यान नहीं दिया जाता, प्रत्युत उनको विदेशी मनोवृत्तिवाले लोग यह कहकर पथभ्रष्ट करनेकी कोशिश करते हैं कि उन्हें हिंदूधर्ममें घृणाकी दृष्टिसे देखा जाता है। उन्हें बतला देना चाहिये कि सनातनधर्मानुसार अपने धर्मपर ठीक चलनेवाला एक शूद्र तथा एक ब्राह्मण समान पुण्यके भागी होते हैं। ज्येष्ठ-कनिष्ठ सभी समाजके अङ्ग हैं। अपने-अपने स्वरूप तथा शास्त्रोक्त अधिकारानुसार सबको काम करना चाहिये।

वर्तमान कम-दोषोंके मूलपर जब हम विचार करते हैं, तब यही विदित होता है कि सबको भुलानेवाली यह वैदेशिक शिक्षा-पद्धति ही है; इसलिये शिक्षा-प्रणालीका सुधार करना अत्यावश्यक है। पहले तो भारतीय विविध विद्याओंका प्रचार करना होगा, तदनन्तर वैदेशिक विद्याओं और कलाओंको भी भारतीय साँचेमें ढालकर सिखलाना होगा। इस समय प्रत्येक शिक्षालयमें धर्मशिक्षा अनिवार्य होनी चाहिये। उचित तो यही है कि प्राचीन प्रणालीसे शिक्षालयोंकी पुनः स्थापना हो। विद्वत्समाजमें अन्योऽन्य सम्मान, सहयोग, विश्वास तथा सौहार्दकी मनोवृत्ति बढ़नी चाहिये। विद्वानोंके सङ्गठनसे सम्पूर्ण समाजका सङ्गठन हो सकता है। धर्मसम्बन्धी कार्योंमें सकल समाजको उत्साहपूर्वक सम्मिलित होना चाहिये, द्विजत्वप्राप्तिके साधनस्वरूप संस्कारोंपर बहुत ध्यान देना चाहिये। इस समय बड़ी सावधानीके साथ अपनी सभ्यताकी रक्षा करनी चाहिये। प्रजाको सकल कल्याणकारी धर्मकी ओर प्रेरित करना हमारा कर्तव्य है और उसका पालन करके अपने जीवनको सफल करना प्रजाका कर्तव्य है। तदनुसार सबका कल्याण होगा।

('सिद्धान्त')

(अ० भा० धर्मसङ्घके विशेषाधिवेशन, कानपुरमें दिये हुए भाषणका सार)

* * *

याचना

माँगूँगा न भुक्ति-मुक्ति, माँगूँगा न भोग-योग; देना मुझे कसकभरी पीड़ाका व्यवहार।
करना मत किसीकी कृपाका पात्र तुम्हें छोड़, देना मत किसीकी प्रशंसाका व्यर्थ भार॥
करना मत किसीके मृदु जीवनका कण्टक मुझे, करना मत किसीकी भोली आशाका आधार।
करना मत किसीके भी उत्पीड़न-योग्य मुझे, मारा न जाय किसी दुर्बलका अधिकार॥
मेरा स्वत्व, मेरा सुख देखूँ न छीना किसने, मेरा सर्वस्व रहे सबहीका उपहार।
मुझको सताकर हँस पाये कोई क्षण एक; ऐसे क्षणोंसे बने जीवन सब, सरकार!
कोई न जाने मुझे, कोई न माने मुझे, कोई न पूछे मेरे मानसका समाचार।
जगतीके पाप परिणाम मैं भोगूँ, और पावें सब सुख-शान्ति मेरे पुण्य-अधिकार॥
दे यदि सकें तो दे दें और यह इतना प्रभु, छूटे तन सुरसरि-तट कहते जय जगदाधार।
कोई न रोये-धोये, कोई न कष्ट पाये; पेट उससे भर लेवें प्राणी भी दो चार॥

—सुदर्शन सिंह

संत-वाणी

(एक महात्माका प्रसाद)

(१)

स्वाभाविक आवश्यकताकी पूर्ति तथा इच्छाओंकी निवृत्ति करना ही मानव-जीवनका मुख्य उद्देश्य है । जब आवश्यकता इच्छाओंको खाकर सजीव तथा सबल हो जाती है, तब आवश्यकता-पूर्तिकी शक्ति अपने-आप आ जाती है । प्राणी आवश्यकताओंकी पूर्ति तथा इच्छाओंकी निवृत्तिमें सर्वदा स्वतन्त्र है, और भोगोंको सुरक्षित तथा नित्य बनानेमें सर्वदा परतन्त्र है । मानव-जीवनमें उपभोगका स्थान केवल भोगके यथार्थ ज्ञानके लिये है, क्योंकि भोगका यथार्थ ज्ञान होनेपर भोगसे अरुचि अपने-आप हो जाती है । भोगसे अरुचि होते ही भोग-वासनाका अन्त हो जाता है । भोग-वासनाओंका अन्त होते ही प्रेमपात्र (नित्यजीवन) की आवश्यकता जाग्रत् हो जाती है । नित्यजीवनकी आवश्यकता जाग्रत् होते ही वासनाशून्यता, निर्वैरता, निर्भयता, समता, मुदिता आदि अलौकिक दिव्य गुण अपने-आप उत्पन्न हो जाते हैं ।

प्रयत्न दोषोंकी निवृत्तिके लिये किया जाता है । दोषोंकी निवृत्ति होते ही गुण अपने-आप उत्पन्न होते हैं । निवृत्ति उसीकी होती है, जो अस्वाभाविक (artificial) हो । दोष दोषीका बनाया हुआ खिलौना है । इसी कारण उसकी निवृत्ति हो जाती है । दोष उसी समयतक जीवित रहता है, जबतक दोषी स्वयं अपनी दृष्टिसे उसे देख नहीं पाता । अर्थात् निर्बलताओंको देखनेपर निर्बलताएँ भाग जाती हैं । ज्यों-ज्यों निर्बलताओंका ज्ञान होता है, त्यों-त्यों बलकी आवश्यकता जाग्रत् होती जाती है । ज्यों-ज्यों बलकी आवश्यकता जाग्रत् होती जाती है, त्यों-त्यों निर्बलताएँ बलमें विलीन होती जाती हैं । अतः अपनी निर्बलताओंको अपनी दृष्टिसे देखनेका प्रयत्न करना निर्बलताओंको मिटानेके लिये परम अनिवार्य है ।

प्रत्येक प्राणी कल्पतरुकी छायामें निवास करता है । अतः उन्नतिसे निराश होनेके लिये वर्तमान जीवनमें कोई स्थान ही नहीं है; क्योंकि वर्तमान अनित्यजीवन नित्य-जीवनकी आवश्यकता है, और कुछ नहीं । आवश्यकता तथा आवश्यक-तत्त्वमें वस्तुतः जातीय एकता है, तथा मानी हुई भिन्नता है । यदि ऐसा न होता तो आवश्यकताकी पूर्ति कदापि नहीं हो सकती थी । पूर्ति उसीकी होती है, जिससे जातीय एकता हो और निवृत्ति उसीकी होती है, जिससे मानी हुई एकता हो । आवश्यकतासे जातीय एकता और इच्छाओंसे मानी हुई एकता है । इसी कारण आवश्यकताकी पूर्ति और इच्छाओंकी निवृत्ति परम अनिवार्य है । इच्छाओंकी उत्पत्ति प्रमादसे होती है, प्रमाद स्वीकृतिमात्रको ही सत्ता मान लेनेसे होता है । इच्छाओंके बादल छा जानेपर आवश्यकता ढक-सी जाती है । इच्छाएँ आवश्यकताको मिटा नहीं पातीं, परन्तु आवश्यकता इच्छाओंको खा लेती है । इस दृष्टिसे आवश्यकता स्वाभाविक और इच्छाएँ अस्वाभाविक सिद्ध होती हैं । आवश्यकता कबसे उत्पन्न हुई, किसीको पता नहीं; किन्तु उसकी पूर्ति होनेपर आवश्यकताकी सत्ता शेष नहीं रहती । प्रेमी आवश्यकता है और प्रेमपात्र आवश्यक-तत्त्व है । प्रेमी तथा प्रेमपात्रके मिलनके लिये किसी तीसरेकी सहायताकी आवश्यकता नहीं होती । अर्थात् प्रेमी स्वतन्त्रतापूर्वक प्रेमपात्रसे मिल सकता है । प्रेमी तथा प्रेमपात्रमें यही अन्तर है कि प्रेमी प्रेमपात्रको विषयासक्तिके कारण भूलने लगता है, परन्तु प्रेमपात्र प्रेमीको कभी भी नहीं भूलता । प्रेम-

पात्र तो प्रेमीको अपनानेके लिये निरन्तर प्रतीक्षा करता है। जिस कालमें प्रेमी प्रेमी हो जाता है, बस उसी कालमें प्रेमपात्र प्रेमीको अपना लेता है । अर्थात् प्रेमी तथा प्रेमपात्रमें दूरी उसी समयतक रहती है, जबतक प्रेमी प्रेमी नहीं हो पाता । जब प्रेमी सद्भावपूर्वक प्रेमपात्रका हो जाता है, तब प्रेमपात्र प्रेमीकी सभी निर्बलताओंको खा लेता है; क्योंकि दुखीका दुःख दुःखहारी भगवान्का भोजन है । प्रेमी प्रेमपात्रसे अपनत्व करता है और प्रेमपात्र प्रेमीसे प्रेम करता है । अपनत्वके बलसे प्रेमी प्रेमपात्रको पाता है । जिसमें आवश्यकता है; वह प्रेम नहीं कर सकता, केवल अपनत्व कर सकता है । प्रेम एकमात्र प्रेमपात्र ही कर सकता है; क्योंकि प्रेमपात्र सब प्रकारसे समर्थ तथा पूर्ण है । प्रेमीको अपनाना प्रेमपात्रका स्वाभाविक पवित्र माधुर्य है । प्रेम वही कर सकता है, जो देता है, लेता नहीं । प्रेमी केवल गुणोंके बलसे प्रेमपात्रके दिव्य गुणोंको पाता है किन्तु अपनत्वके बलसे प्रेमपात्र तथा गुण दोनोंको ही पाता है । अपनत्वका बल सभी बलोंसे श्रेष्ठ बल है । अपनत्व हो जानेपर कुछ भी करना शेष नहीं रहता । अपनत्वका हो जाना ही भक्तियोगकी दृष्टिसे परम पुरुषार्थ है । अपनत्व भाव है, अतः उसे प्राणी स्वतन्त्रतापूर्वक कर सकता है ।

आनन्दघन भगवान्से अपनत्व करनेके लिये परतन्त्रता लेशमात्र भी नहीं है । विषयोंसे अपनत्व करनेके लिये स्वतन्त्रता लेशमात्र भी नहीं है । विषयोंसे सम्बन्ध करनेमें जो स्वतन्त्रताकी झलक माळूम होती है, वह विषयोंका राग मिटानेके लिये प्रेमपात्रकी कृपामात्र है; क्योंकि जिस रागको प्राणी विचारसे नहीं मिटा पाता, उसको जानकारीके द्वारा मिटानेके लिये भगवान् विषयोंकी पूर्तिका अवसर देते हैं । साधारण प्राणी विषय-इच्छाकी पूर्तिके रसमें फँसकर आनन्दघन भगवान्से विमुख होनेका प्रयत्न करते हैं । अनित्य जीवनकी प्रत्येक परिस्थिति सदुपयोग करनेके लिये मिली है । परिस्थितियोंका सदुपयोग करते ही परिस्थितियोंसे सम्बन्धविच्छेद हो जाता है । परिस्थितियोंसे सम्बन्धविच्छेद होते ही प्रेमपात्रसे स्वतः सम्बन्ध हो जाता है । परिस्थितियोंमें जीवनबुद्धि करना भारी भूल है ।

× × × ×

(२)

जीवनकी प्रत्येक घटना कुछ-न-कुछ अर्थ रखती है । विचारशील अर्थको अपनाते हैं, घटनाको भूल जाते हैं । अर्थके अपनाते ही उन्नति हो जाती है । वियोग संयोगकी अपेक्षा सबल तथा स्वतन्त्र है । अतः उसके अपना लेनेमें ही प्राणीका विशेष हित है । जो प्राणी वियोगको नहीं अपनाते, वे बेचारे नित्ययोग (वियोगके अभाव), नित्यजीवन, नित्यरस नहीं पाते, जो प्राणीकी स्वाभाविक आवश्यकता (want) है । विषय-इच्छाओंके जालमें फँसा हुआ प्राणी संयोगकी दासता स्वीकार करता है, उस दासताकी निवृत्तिके लिये वियोग-भगवान् कृपा करते हैं । अतः वियोगको अपना लेना परम अनिवार्य है । मानव-जीवनमें विषय-प्रवृत्तिका स्थान केवल विषय-सत्ताकी वास्तविकता जाननेमात्रके लिये ही है । अर्थात् जिस रागको प्राणी विचारसे नहीं निकाल सकता, उस रागकी निवृत्तिके लिये धर्मानुसार प्रवृत्ति की जाती है । प्रवृत्ति मानवजीवनका उद्देश्य नहीं है; परन्तु विषयासक्तिके कारण जब प्राणी उस प्रवृत्तिको ही मानव-जीवनका उद्देश्य मान लेता है, तब निवृत्ति सिखानेके लिये वियोगभगवान् विवश हो जाते हैं । अतः हमलोगोंको वियोगभगवान्का हृदयसे पूजन करना चाहिये ।

(३)

जिस प्रकार सूर्यके उदय होनेपर अन्धकार शेष नहीं रहता, उसी प्रकार भगवान्का हो जानेपर प्रमाद शेष नहीं रहता । प्रमाद उस समयतक जीवित रहता है, जबतक प्राणी उनका नहीं हो जाता अथवा प्रमादको प्रमाद नहीं जानता । आपने लिखा है कि छायाकी

भाँति प्रमाद साथ ही लगा है। गहराईसे देखिये, छाया कब दिखायी देती है? जब देखनेवालेका मुँह सूर्यकी ओर नहीं होता। सूर्यकी ओर मुँह होनेपर छाया किसीको नहीं दिखायी देती। यद्यपि छायाकी ओर देखनेपर भी छाया प्राप्त नहीं होती, क्योंकि छाया देखनेवालेसे आगे रहती है, तथापि देखनेका राग छायासे सम्बन्ध-विच्छेद नहीं होने देता। देखनेका राग छायाकी सत्ता स्वीकार करनेपर होता है। छायाकी सत्ता अपनी वास्तविक सत्ताके न जाननेसे जीवित रहती है। जिसको अपनी सत्ताका ज्ञान हो जाता है, उसकी छायामें सत्ताबुद्धि शेष नहीं रहती। यह नियम है कि जिसमें सत्ता-बुद्धि नहीं होती, उसमें राग नहीं होता। रागके बिना प्रमाद जीवित नहीं रहता। रागका अभाव अनुरागसे होता है। अत्यन्त अनुराग बढ़ जानेपर राग करनेवाला स्वभाव प्रेमपात्रके अनुरागमें विलीन हो जाता है। अनुरागके उत्पन्न न होनेपर निर्जीव राग भी जीवित रागकी भाँति विघ्न करता है। अतः रागको राग समझनेके लिये तो विचारकी आवश्यकता है; परन्तु रागका अभाव करनेके लिये अनुरागकी आवश्यकता है। विचार रागको मृतक बनाता है। अनुराग उस मृतक रागको खा जाता है। अनुरागके बिना विचार मस्तिष्कका रोग है और विचारके बिना अनुराग हृदयकी पीड़ा है। अनुराग तथा विचार दोनोंसे ही रागका अभाव होता है; हाँ, यह अवश्य है कि योग्यता-भेदसे किसीको विचारके पश्चात् अनुराग और किसीको अनुरागके पश्चात् विचार अपने-आप आता है। यदि विचार अनुरागमें नहीं बदला तो समझना चाहिये कि अपूर्ण विचार था और यदि अनुराग विचारमें नहीं बदला तो अपूर्ण अनुराग था। विचारकी पूर्णता अनुरागमें और अनुरागकी पूर्णता विचारमें निहित है। विचार तथा अनुरागका भेद प्रारम्भिक है, अन्तिम नहीं।

(४)

योग्यता, ईमानदारी तथा परिश्रमसे शक्ति प्राप्त होती है। प्राणी जितना कर सकता है एवं जितना जानता है, उसके अनुरूप जीवन होनेपर ही वह आवश्यकताकी पूर्ति एवं इच्छाओंकी निवृत्ति कर सकता है। बड़े आश्चर्यकी बात यही है कि प्राणी जो कर सकता है, वह नहीं करता अथवा उसकी अनुभूति तथा कर्ममें भेद रहता है। जिसकी क्रिया-शक्ति निजी ज्ञानमें ही विलीन होती रहती है, वह सुगमतापूर्वक सत्यको पा लेता है। ज्ञान और कर्ममें भेद रखना ही अकर्त्तव्य है। अकर्त्तव्य निकल जानेपर कर्त्तव्य अपने-आप आ जाता है। अपने कर्त्तव्यका ज्ञान प्रत्येक कर्तामें विद्यमान रहता है। कर्त्तव्य-पालन करनेपर कर्ताकी सत्ता लक्ष्यमें विलीन हो जाती है और फिर कुछ करना शेष नहीं रहता।

(५)

वर्तमान परिस्थितिका सदुपयोग करनेपर परिस्थिति विलीन-सी हो जाती है, अर्थात् उससे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर प्रेमी अपनेमें आनन्दघन प्रेमपात्रकी स्थापना कर अचिन्त हो जाता है। अचिन्तता ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होती जाती है त्यों-त्यों द्रष्टा, दर्शन, दृश्य—त्रिपुटीका अभाव होता जाता है। त्रिपुटीका अभाव होते ही प्रेमपात्रसे भिन्न सत्ता शेष नहीं रहती, अर्थात् प्रेमी अभेद आनन्द पाकर कृतकृत्य हो जाता है। विश्व अपनी एक अवस्थासे भिन्न और कुछ नहीं मालूम होता, वियोगका भय शेष नहीं रहता। प्रेमपात्रका हो जानेपर सभी प्रवृत्तियाँ निवृत्तिमें विलीन होती हैं, अर्थात् स्वाभाविक निवृत्ति आ जाती है। स्वाभाविक निवृत्ति आनेपर प्रेमपात्रकी प्रतीक्षा उत्पन्न होती है। प्रतीक्षाकी अग्निमें सभी विकार अपने-आप जल जाते हैं; क्योंकि सत्यकी आवश्यकता असत्यको खा जाती है।

व्यर्थ चेष्टा न होने पाये। प्रत्येक प्रवृत्ति अभिनयके भावसे की जाय। अभिनयके अन्तमें सावधानीपूर्वक अपनेमें ही अपने प्रेमपात्रका अनुभव करनेका प्रयत्न किया जाय। मानव-जीवनमें हार स्वीकार करनेके लिये कोई स्थान नहीं है। सब प्रकारसे सद्भावपूर्वक उनका हो जानेपर भय तथा चिन्ता शेष नहीं रह जाते।

(६)

जब प्राणी अपनी दृष्टिसे अपने दोष देखने लगता है, तब उसके सभी दोष अपने-आप निवृत्त हो जाते हैं—यह सिद्धान्त निर्विवाद सत्य है। अपने दोष देखनेकी दृष्टि उत्पन्न होना भगवान्की विशेष कृपा है। प्रेमी हो जानेपर प्रेमपात्र प्रेमी हो ही जाते हैं, यह निःसन्देह सत्य है। जीवनमें हार स्वीकार करनेके लिये कोई स्थान नहीं है; क्योंकि आवश्यकताकी पूर्ति तथा इच्छाओंकी निवृत्तिमें प्राणी सर्वदा स्वतन्त्र है। जब प्राणी अकर्तव्यको कर्तव्य मान लेता है, तब बेचारा परतन्त्रताके जालमें फँस जाता है। कर्तव्य पालन करनेके लिये लेशमात्र भी परतन्त्रता नहीं है। परतन्त्रता प्राणीका बनाया हुआ दोष है, जिसे वह स्वतन्त्रतापूर्वक मिटा सकता है। जब प्राणी स्वाभाविकताको त्याग अस्वाभाविकको स्वाभाविक बनानेका प्रयत्न करता है, तब बेचारा परतन्त्रतामें फँस जाता है। गहराईसे देखिये—संयोग अस्वाभाविक है और वियोग स्वाभाविक है; क्योंकि संयोग प्रयत्न करनेपर भी नहीं रहता और वियोग बिना प्रयत्न ही आ जाता है। जो प्राणी संयोगकी दासताका त्याग नहीं करता और वियोगको नहीं अपनाता, वह बेचारा नित्ययोग, नित्यजीवन एवं नित्यरस नहीं पाता। वियोगकी अग्नि संयोगरूप लकड़ीको निरन्तर जलाती रहती है। यह नियम है कि जब लकड़ी शेष नहीं रहती, तब अग्नि अपने-आप शान्त हो जाती है। अतः जो विचारशील संयोगमें ही वियोगका अनुभव कर लेते हैं, वे वर्तमानमें ही नित्य-योग पाकर कृतकृत्य हो जाते हैं।

(७)

निःसन्देह त्याग कल्पतरुके समान फल अवश्य देता है; परन्तु किसी आवेशमें आकर जो त्याग किया जाता है, उसका निर्मल फल नहीं होता। स्वाभाविक—अपने-आपसे हो जानेवाला त्याग सर्वोत्कृष्ट त्याग है। स्वाभाविक त्याग आ जानेपर निरभिमानता, निर्वैरता एवं पवित्र प्रेम स्वयं उत्पन्न हो जाते हैं। पवित्र प्रेम किसीसे किया नहीं जाता। जिस प्रकार सूर्यसे स्वतः प्रकाश निकलता है, उसी प्रकार प्रेमीके जीवनसे स्वयं प्रेमरूपी प्रकाश फैलता है।

त्याग तथा प्रेम—ये दोनों एक ही वस्तु हैं। दृष्टि-भेदसे दो प्रकारके प्रतीत होते हैं। इन दोनोंका आधार यथार्थ ज्ञान है।

ज्ञानके बिना त्याग एवं प्रेम, जीवनका स्वरूप नहीं होते। साधारण प्राणी त्याग तथा प्रेमको अभ्यास समझते हैं। अभ्यास बिना कर्तापनके भावके कदापि नहीं हो सकता; क्योंकि प्रत्येक अभ्यासका आरम्भ किसी-न-किसी प्रकारकी कामनाके आधारपर होता है। अतः कामनायुक्त प्राणी बेचारा त्याग तथा प्रेमका आस्वादन नहीं कर पाता।

जिस प्रकार पका हुआ फल अपने-आप डालसे टूट जाता है, उसी प्रकार स्वधर्मनिष्ठ प्राणी अपने-आप राग-द्वेषसे छूट जाता है। राग-द्वेषरहित प्राणी सभी स्थानोंपर त्याग और प्रेमको पा सकता है; किन्तु राग-द्वेषयुक्त प्राणी हिमालयकी कन्दरामें भी त्याग तथा प्रेमको नहीं पाता। त्याग एवं प्रेमके बिना प्रेम-पात्रसे अभेद कदापि नहीं हो सकता। सभी दोष अपने बनाये हुए हैं। अपनेको प्राणी सदा साथ ही रखता है। अतः अपना सुधार करनेपर ही बाह्य परिस्थिति अनुकूल हो सकती है।

अपना सुधार करनेके लिये वर्तमान परिस्थितिका सदुपयोग परम अनिवार्य है।

वर्तमान परिस्थितिका सदुपयोग वही प्राणी कर सकता है, जो केवल अपनी ओर देखता है। साधारण प्राणियोंको दूसरोंके कर्तव्य दिखायी देते रहते हैं; परन्तु

विचारशीलको केवल अपना ही कर्तव्य दिखायी देता है; क्योंकि क्षणभङ्गुर परिवर्तनशील जीवनमें दूसरोंके कर्त्तव्य देखनेका अवकाश कहाँ । हाँ, यह परम सत्य है कि कर्तव्यनिष्ठ प्राणीसे स्वाभाविक कर्त्तव्यपरायणता बिना ही प्रयत्न जन-समाजमें फैलती है । देखिये, लकड़ी स्वयं जलकर दूसरोंको जलाती है, किसीको जलना सिखाती नहीं । दूसरोंके सुधार एवं सिखानेकी बात सीमित गुणोंका अभिमान एवं अपनी योग्यताका परिचय देना है । हाँ, जिस प्राणीका हृदय विश्वके दुःखसे अपने ही दुःखके समान दुखी है, वह प्राणी ज्यों-ज्यों अपनी उन्नति करता जाता है त्यों-ही-त्यों विश्वसेवा भी उसके जीवनसे होती जाती है ।

आनन्दघन भगवान् सभी प्राणियोंकी रुचि पूर्ण करते हैं; परन्तु हमें कर्तव्यनिष्ठ होना चाहिये । हमारी निर्बलताएँ इसलिये नहीं मिटतीं कि हम सद्भावपूर्वक प्रार्थना नहीं करते ।

हम सद्भावपूर्वक प्रार्थना इसलिये नहीं कर पाते कि हमको जो योग्यता प्राप्त है, उसका हम ईमानदारीके साथ उपयोग नहीं करते । अपनेको बचाकर निर्जीव यन्त्रकी भाँति की हुई प्रार्थना उसी प्रकार सार्थक नहीं होती, जिस प्रकार बिना भूखके भोजन । कर्तव्यनिष्ठ प्राणीमें निर्बलताओंके मिटानेके लिये सद्भावपूर्वक प्रार्थना अपने-आप उत्पन्न होती और सार्थक भी होती है ।

* * *

भव-भ्रान्त पथिकके प्रति

अरे मानव ! तू कितना भ्रान्त हो रहा भवाटवीमें, मूढ ।
सुलझनी सरल नहीं है यहाँ विश्वकी अजब पहेली गूढ ॥
बनाता मनः-राजप्रासाद, व्यर्थ क्यों करता मन-मन सृष्टि ।
लगाता कितने उपवन रम्य, खूब है तेरी कल्पित दृष्टि ॥
कभी वापी या सुन्दर फूल बनाता मन-उपवनके बीच ।
आप ही मृदु रमणीके संग विहरता मन-ही-मन तू नीच ॥
कभी लोने-से शिशुकी मिष्ट-मिष्ट वाणीका लेता स्वाद ।
कभी होता सुख-सिन्धु-निमग्न, नहीं पाता किञ्चित् अवसाद ॥
सोचता—'मैं हूँगा श्रीमान्, बहुत-से होंगे मेरे भृत्य ।
अतुल-श्री-कीर्त्ति-नमित संसार करेगा मेरे सम्मुख नृत्य ॥
मुझे समझेंगे सब गुणवान, रूप-बल-विद्या-धनका धाम ।
अमित शुभ-कर्मोंसे विख्यात जगतमें होगा मेरा नाम ॥
सुखी मैं होऊँगा परिपूर्ण और मेरा कल्पित संसार—
धन्य होगा; जगतीतल मध्य धन्य मैं, धन्य-धन्य बहुबार ॥'
न जाने ऐसे कितने भाव सृजन करता है तू दिन-रात ।
किन्तु जाने किस दिन वह काल करेगा तेरे सिरपर घात ॥
अतः मृगजलकी आशा त्याग, देख आनन्द-सिन्धुकी ओर ।
व्यर्थ क्यों तू अपने ही अर्थ, मूढ़ ! बनता है महाकठोर ।
न होंगी मनकी साधें पूर्ण, न अब भी कर उनमें अनुराग ।
अरे ओ विश्व-बटोही भ्रान्त ! शीघ्र अब जाग, जाग रे, जाग ॥

—'नेह'

आदर्श भक्त हनुमान्

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

[गताङ्कसे आगे]

रामचरितमानसमें मेघनादकी शक्तिसे श्रीलक्ष्मणजीके मूर्छित होनेकी बात आती है । वहाँ हनुमान्जी ही जाम्बवान्के कहनेसे पहले घरसहित सुषेणको उठाकर लाये हैं, फिर सुषेणके कहनेसे संजीवनी लाने गये हैं और पर्वतको उखाड़ लाये हैं । श्रीहनुमान्जीका सेवाभाव बड़ा ही विचित्र था । इनकी सेवाके कारण भगवान् श्रीरामने अपनेको ऋणी माना । माता सीताने भी वही बात कही । लक्ष्मण और समस्त वानरोंके प्राण बचे । इसी प्रकार विरह-व्याकुल भरतको श्रीरामचन्द्रजीके आनेकी सूचना देकर उनके प्राण बचानेका काम भी श्रीहनुमान्जीने ही किया ।

रामचरितमानसका वर्णन है—

राम बिरह सागर महँ भरत मगन मन होत ।
बिप्र रूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत ॥

वहाँ श्रीहनुमान्जी भरतकी प्रेम-दशा देखकर कहते हैं—

जासु बिरहँ सोचहु दिन राती । रटहु निरंतर गुन गन पाँती ॥
रघुकुल तिलक सुजन सुख दाता । आयउ कुसल देव मुनि त्राता

इस प्रकार श्रीरामके आनेका कुशल-समाचार सुनते ही श्रीभरतजीमें नये जीवनका सञ्चार हो आया । उनके पूछनेपर अपना परिचय देते हुए हनुमान्जी कहते हैं—

मारुत सुत मैं कपि हनुमाना । नामु मोर सुनु कृपानिधाना ॥
दीनबंधु रघुपति कर किंकर । × × ×

कितना विनयभाव है ! यह बात सुनते ही भरतजी उठकर बड़े हर्ष और आदरके साथ उनसे मिले । अपने आनन्दका वर्णन करते हुए अन्तमें यहाँतक कह दिया—

नाहिन तात उरिन मैं तोही । अब प्रभु चरित सुनावहु मोही ॥

इस प्रकार श्रीहनुमान्जीने सबकी सेवा की, जिसके कारण सभीने अपनेको उनका ऋणी माना । भगवान् श्रीरामके राज्यसिंहासनपर आरूढ़ हो जानेके बाद भी आप सदा उनकी सेवामें ही रहे । अन्य सब वानर और राक्षस अपने-अपने घर लौट गये, पर श्रीहनुमान्जी नहीं गये । भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने जब अश्वमेध यज्ञ किया था, उस समय श्रीहनुमान्जी भी घोड़ेकी रक्षाके लिये शत्रुघ्नके साथ गये थे ।

पद्मपुराणके पातालखण्डमें रामाश्वमेधयज्ञकी कथाका विस्तृत वर्णन है । वहाँ भी श्रीहनुमान्जीके महत्त्वका बड़ा सुन्दर वर्णन आता है । जब श्रीरामाश्वमेधका घोड़ा अनेक देशोंमें भ्रमण करता हुआ राजा सुबाहुकी राजधानी चक्राङ्का नगरीके पास पहुँचा, तब राजाके पुत्र दमनने उस घोड़ेको पकड़ लिया । उस राजाके और भी कई पुत्र और भाई बड़े शूरवीर थे तथा वह स्वयं भी बड़ा ही वीर योद्धा था । वहाँ दोनों ओरसे बड़ा भयानक युद्ध हुआ । अन्तमें राजा सुबाहुके साथ श्रीहनुमान्जीका भयानक युद्ध हुआ । उसमें कपिवर हनुमान्जीने बार-बार राजाको व्यथित किया, उसके रथको घोड़ोंसहित चूर्ण कर डाला और बड़े जोरसे राजाकी छातीमें एक लात मारी । उसके लगते ही राजा सुबाहु मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा । श्रीहनुमान्जीके पदाघातसे उसका मोह नष्ट हो गया । उसके मनमें श्रीरामकी भक्ति प्रकट हो गयी । वह स्वप्नमें देखता है—

रामचन्द्रस्त्वयोध्यायां सरयूतीरमण्डपे ।
ब्राह्मणैर्याज्ञिकश्रेष्ठैर्बहुभिः परिवारितः ॥
तत्र ब्रह्मादयो देवास्तत्र ब्रह्माण्डकोटयः ।
कृतप्राञ्जलयस्तं वै स्तुवन्ति स्तुतिभिर्मुहुः ॥

(२८ । ४९-५०)

'अयोध्यापुरीमें सरयू नदीके तीरपर श्रीरामचन्द्रजी यज्ञमण्डपके भीतर विराजमान हैं । यज्ञ करानेवालोंमें श्रेष्ठ अनेकों ब्राह्मण उन्हें घेरकर बैठे हुए हैं । करोड़ों ब्रह्माण्डोंके ब्रह्मादि देवता और अन्य प्राणी हाथ जोड़े खड़े हैं और बारंबार श्रीरामकी स्तुति कर रहे हैं'—इत्यादि ।

इस प्रकारका अद्भुत स्वप्न देखते ही राजाको श्रीराम-तत्त्वका ज्ञान हो गया । वह तुरंत ही मूर्च्छासे उठा और शत्रुघ्नके चरणोंकी ओर पैदल ही चल पड़ा । युद्ध बंद करनेकी घोषणा करते हुए उसने अपने पुत्र और बन्धु-बान्धवोंसे कहा—

एष रामः परं ब्रह्म कार्यकारणतः परम् ।
चराचरजगत्स्वामी न मानुषवपुर्धरः ॥
एतद्धि ब्रह्मविज्ञानमधुना ज्ञातवानहम् ।

× × ×

'ये श्रीरामचन्द्रजी कार्य और कारणसे परे साक्षात् परब्रह्म हैं । ये चराचर जगत्के स्वामी हैं । मानव-शरीर धारण करनेपर भी ये वास्तवमें मनुष्य नहीं हैं । इनको इस रूपमें जान लेना ही ब्रह्मज्ञान है । इस तत्त्वको मैं अब समझ पाया हूँ ।' इतना कहकर उसने अपने पुत्रोंसे असिताङ्ग मुनिके द्वारा अपनेको शाप प्राप्त होनेकी सब कथा कह सुनायी और घोड़ेको लेकर अपने बन्धु-बान्धवोंके सहित शत्रुघ्नजीकी शरणमें जा पड़ा । वहाँ उसने कृतज्ञता प्रकट करते हुए श्रीहनुमान्जीके विषयमें कहा है—

क्वासौ हनूमान् रामस्य चरणाम्भोजषट्पदः ।
यत्प्रसादादहं प्राप्स्ये राजराजस्य दर्शनम् ॥
साधूनां सङ्गमे किं किं प्राप्यते न महीतले ।
यत्प्रसादादहं मूढो ब्रह्मशापमतीतरम् ॥
(२९ । ३२-३३)

'श्रीरामके चरण-कमलोंके मधुकर हनुमान् कहाँ हैं, उन्हींकी कृपासे मैं राजाधिराज श्रीरामचन्द्रजीका दर्शन करूँगा । साधुसङ्ग मिल जानेपर इस पृथ्वीपर मनुष्यको क्या-क्या नहीं मिल जाता । मैं महामूढ़ था, किन्तु सत्सङ्गके प्रभावसे आज घोर ब्रह्मशापसे मेरा उद्धार हो गया ।'

उसके बाद अनेक देशोंको विजय करते-करते जब यज्ञका घोड़ा राजा सत्यवान्के नगरसे आगे जा रहा था, उस समय विद्युन्माली नामके राक्षसने रास्तेमें उस घोड़ेको चुरा लिया और अपने सैनिक राक्षसोंके सहित विमानमें बैठकर आकाशमें जाकर प्रकट हुआ । वहाँ उस राक्षसके साथ शत्रुघ्नकी सेनाका बड़ा भयङ्कर युद्ध हुआ । उस समय श्रीहनुमान्जीने उस राक्षसके साथ युद्धमें अपना पराक्रम दिखलानेकी जो प्रतिज्ञा की है, उससे इस बातका पता लगता है कि श्रीहनुमान्जी भगवान् रामपर कितना भरोसा रखते थे । वे भगवान् श्रीरामकी कृपाके भरोसेपर अपनी अद्भुत शक्ति मानते थे । उन्होंने पहले जैसी प्रतिज्ञा की, उसी प्रकार युद्धमें भी अपना अद्भुत पराक्रम दिखाया । वे आकाशमें जाकर विमानपर शत्रुपक्षके महान् दैत्योंको नखोंसे विदीर्ण करके मौतके घाट उतारने लगे । किन्हींको पूँछसे मार डाला, किन्हींको पैरोंसे कुचल डाला और किन्हींको हाथोंसे चीर डाला । जब क्रोधमें भरकर राक्षसराज विद्युन्मालीने अत्यन्त तेजस्वी भयानक त्रिशूलका प्रहार किया, तब उसे हनुमान्जीने अपने मुँहमें पकड़ लिया और दाँतोंसे चबाकर चूर-चूर कर डाला तथा उस दैत्यराजको थप्पड़ोंकी मारसे व्याकुल कर दिया । इसके बाद श्रीशत्रुघ्नजीने विद्युन्माली और वज्रदंष्ट्रको मार गिराया । बचे-खुचे राक्षस उनकी शरणमें आ गये ।

वहाँसे जाकर वे आरण्यक मुनिसे मिले । इसके बाद वह घोड़ा देवपुरके पास पहुँचा, वहाँ राजा वीरमणि और उसके पुत्रोंसे शत्रुघ्नकी सेनाका बड़ा भयंकर युद्ध हुआ । राजा वीरमणि भगवान् शङ्करका परम भक्त था । अतः वहाँ उसकी सहायताके लिये

स्वयं भगवान् शङ्कर भी अपने गणोंके सहित रणक्षेत्रमें युद्ध करनेके लिये पधारे थे। उस भयानक युद्धमें जब राजकुमार पुष्कल मारे गये और शत्रुघ्न भी मूर्च्छित हो गये, उस समय श्रीहनुमान्‌जीने अद्भुत पराक्रम दिखाया। साक्षात् भगवान् शङ्करके साथ उन्होंने घोर युद्ध किया तथा सारथि और घोड़ोंके सहित शिवजीके रथको चूर-चूर कर डाला। जब भगवान् शिवजी नन्दीपर सवार होकर युद्ध करने लगे, तब श्रीहनुमान्‌जीने शालवृक्षका प्रहार करके शिवजीको व्याकुल कर दिया। अब भगवान् शङ्करने उनपर अपना त्रिशूल चलाया। हनुमान्‌जीने उसे पकड़ लिया और क्षणभरमें तोड़कर तिल-तिल कर डाला। नाना प्रकारके प्रहारोंसे शिवजीको व्यथित करके अन्तमें भूतनाथ भगवान् शिवको अपनी पूँछमें लपेट लिया। यह देखकर नन्दी भयभीत हो गये। इस प्रकार जब हनुमान्‌जीने शिवजीको अत्यन्त व्याकुल कर दिया, तब हनुमान्‌जीके युद्धसे प्रसन्न होकर शङ्कर कहने लगे—'श्रीरघुनाथजीके सेवक हनुमान्! तुम धन्य हो। आज तुमने महान् पराक्रम कर दिखाया। इससे मुझे बड़ा संतोष हुआ। अतः तुम मुझसे वर माँगो।'

इसपर हनुमान्‌जीने हँसकर निर्भय वाणीसे कहा—'महेश्वर! रघुनाथजीकी कृपासे मुझे सब कुछ प्राप्त है; तथापि आपकी प्रसन्नताके लिये मैं यही वर माँगता हूँ कि जबतक मैं द्रोण-पर्वतपर जाकर औषध ले आऊँ, तबतक आप अपने गणोंसहित हमारे पक्षके मरे हुए वीरोंके शरीरोंकी रक्षा करते रहें। उन्हें कोई खण्ड-खण्ड न करने पाये।' शिवजीने उनकी माँग स्वीकार कर ली। उसके बाद हनुमान्‌जी जिस प्रकार लङ्कापुरीमें संजीवनी बूटी लाये थे, उसी प्रकार तुरंत ही संजीवनी बूटी ले आये। पहले राजकुमार पुष्कलको जिलाया, उसके बाद शत्रुघ्नकी मूर्च्छा दूर की और समस्त वीरोंको जीवन-दान दिया। इस प्रकार उस भयानक युद्धमें श्रीहनुमान्‌जीके ही पराक्रमसे सबके प्राण बचे। अन्तमें वहाँ भगवान् श्रीराम स्वयं पधारे। भगवान् शिवजीने राजा वीरमणिको समझाकर श्रीरामका भक्त बना दिया।

इसके बाद वह घोड़ा अनेक देश-देशान्तरोंमें घूमता हुआ राजा सुरथसे रक्षित कुण्डलनगरके पास पहुँचा। राजा सुरथ भगवान् रामका परम भक्त था। उसने भगवान् श्रीरामके दर्शनार्थ उनके घोड़ेको पकड़ लिया। वहाँपर राजा सुरथके साथ शत्रुघ्नका बड़ा ही भयङ्कर युद्ध हुआ। उस युद्धमें जब राजा सुरथका पुत्र चम्पक राजकुमार पुष्कलको बाँधकर अपने नगरमें ले जाने लगा, उस समय शत्रुघ्नकी प्रेरणासे श्रीहनुमान्‌जी वहाँ गये। जाते ही उन्होंने रथसे चम्पकको उठा लिया और वे उसे लेकर आकाशमें चले गये। वह आकाशमें ही हनुमान्‌जीसे बाहुयुद्ध करने लगा। राजकुमार चम्पकका अद्भुत पराक्रम देखकर हँसते-हँसते हनुमान्‌जीने उसका पैर पकड़ लिया और उसे सौ बार घुमाकर हाथीके हौदेपर दे मारा। राजकुमार गिरते ही मूर्च्छित हो गया।

अपने पुत्रको मूर्च्छित हुआ देख राजा सुरथ स्वयं हनुमान्‌जीसे युद्ध करनेके लिये आये। उन्होंने श्रीहनुमान्‌जीके बल और पराक्रमकी तथा रामभक्तिकी सच्चे हृदयसे प्रशंसा की और साथ ही यह प्रतिज्ञा भी की कि 'मैं तुम्हें बाँधकर अपने नगरमें ले जाऊँगा।' उसकी बातका उत्तर देते हुए श्रीहनुमान्‌जीने कहा कि 'राजन्! आप श्रीरघुनाथजीके चरणोंका चिन्तन करनेवाले हैं और मैं भी उन्हींका सेवक हूँ। यदि आप मुझे बाँध लेंगे तो मेरे स्वामी मुझे बलपूर्वक छुड़ा लेंगे। वीर! तुम अपनी प्रतिज्ञा पूरी करो। जो श्रीरामचन्द्रजीका स्मरण करते हैं, उन्हें कभी दुःख नहीं होता।'

इस प्रकार बातचीत होनेके बाद राजा सुरथके

साथ हनुमान्‌जीका भयङ्कर युद्ध हुआ । हनुमान्‌जीने उस युद्धमें राजा सुरथके एक-एक करके उन्चास रथ तोड़ डाले । राजाकी समस्त सेना व्याकुल हो गयी और स्वयं राजाको भी बड़ा आश्चर्य हुआ । राजाने श्रीहनुमान्‌जीके बलकी भूरि-भूरि प्रशंसा की । राजाने पाशुपतास्त्रसे हनुमान्‌जीको बाँधनेकी चेष्टा की । एक बार लोगोंने समझा कि हनुमान् बँध गये । परन्तु श्रीहनुमान्‌जीने अपने मनमें भगवान् श्रीरामका स्मरण करके क्षणमात्रमें उस अस्त्रके बन्धनको तोड़ डाला । राजाने ब्रह्मास्त्र चलाया तो उसे भी श्रीहनुमान्‌जी निगल गये । अन्तमें राजाने भगवान् रामका स्मरण करके श्रीरामास्त्रको अपने धनुष्पर चढ़ाया और उसका प्रयोग करके हनुमान्‌जीसे कहा कि 'कपिश्रेष्ठ ! अब तुम बँध गये ।' हनुमान्‌जीने कहा—'राजन् ! तुमने मुझे मेरे स्वामी श्रीरामके ही शस्त्रसे बाँधा है, दूसरे किसी प्राकृत शस्त्रसे नहीं । इसलिये मैं उसका आदर करता हूँ ! अब तुम मुझे अपने नगरमें ले जा सकते हो ।'

राजा सुरथके साथ जो हनुमान्‌जीकी बातें हुईं, उनमें अद्भुत प्रेम भरा है । श्रीहनुमान्‌जीको भला, कौन बाँध सकता है । वे तो स्वयं अपनी इच्छासे ही भगवान्‌के परम भक्त सुरथकी प्रतिज्ञा सत्य करनेके लिये और अपने स्वामीके अस्त्रका सम्मान रखनेके लिये बँध गये ।

इसके बाद वहाँ श्रीहनुमान्‌जीके बुलानेपर स्वयं भगवान् श्रीरामचन्द्रजी पधारे और उन्होंने राजा सुरथको दर्शन देकर उसे कृतार्थ किया । इस प्रकार पद्मपुराणके पातालखण्डमें श्रीहनुमान्‌जीके महत्त्वका बड़ा ही सुन्दर वर्णन है । यहाँ वह बहुत ही संक्षेपमें लिखा गया है ।

परम धाम पधारते समय भगवान् श्रीरामचन्द्रजी कपिवर श्रीहनुमान्‌जीको जगत्‌का कल्याण करनेके लिये यहीं रहनेकी आज्ञा दे गये । वाल्मीकीय रामायणमें श्रीराम परम धाम पधारते समय हनुमान्‌जीसे कहते हैं—

मत्कथाः प्रचरिष्यन्ति यावल्लोके हरीश्वर ।
तावद् रमस्व सुप्रीतो मद्वाक्यमनुपालयन् ॥
(उत्तर० १०८ । ३३)

'वानरश्रेष्ठ ! संसारमें जबतक मेरी कथाओंका प्रचार रहे, तबतक तुम भी मेरी आज्ञाका पालन करते हुए प्रसन्नतापूर्वक विचरते रहो ।' महात्मा रामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर हनुमान्‌जीको बड़ा हर्ष हुआ और उन्होंने कहा—

यावत्तव कथा लोके विचरिष्यति पावनी ।
तावत्स्थास्यामि मेदिन्यां तवाज्ञामनुपालयन् ॥
(उत्तर० १०८ । ३५)

'प्रभो ! संसारमें जबतक आपकी पावन कथाका प्रचार रहेगा, तबतक आपके आदेशका पालन करता हुआ मैं इस पृथ्वीपर ही रहूँगा ।'

द्वापर युगमें श्रीहनुमान्‌जीने भीमसेन और अर्जुनको भी दर्शन दिये थे । कलियुगमें भी आपके प्रकट होनेकी कई कथाएँ मिलती हैं । आपके गुण, प्रभाव और माहात्म्यका बड़ा विस्तार है । यहाँ बहुत ही संक्षेपमें उसका दिग्दर्शनमात्र कराया गया है । इस लेखसे श्रीहनुमान्‌जीके अतुलित गुणोंका चिन्तन करके लाभ उठाना चाहिये । उन्हें आदर्श बनाकर अखण्ड ब्रह्मचर्य, अटल भगवद्भक्ति, वीरता, धीरता, बल-पौरुष, साहस और बुद्धिमानी आदि गुण धारण करनेकी चेष्टा करनी चाहिये ।

नवधा भक्ति

स्मरण

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

निदरहिं सरित सिंधु सर भारी ।
रूप बिंदु जल होहिं सुखारी ॥
तिन्ह कें हृदय सदन सुखदायक ।
बसहु बंधु सिय सह रघुनायक ॥

'नहीं, वह ऋषि नहीं, मुनि नहीं और न तपस्वी ही है !' देवर्षिकी कर्पूरोज्ज्वल अँगुलियाँ वीणाके तारोंपर अब भी हिल रही थीं, यद्यपि तन्त्री मूक थी । खड़ाऊँ बार-बार उस मृदुल स्वर्णासनपर हिलती जाती थी, मानो कह रही हो कि अब यहाँ अधिक नहीं रुका जा सकता । 'वह एक सुसम्पन्न ब्राह्मणकुमार है और अपने शरीरको सुखाना नहीं पसंद करता । अच्छे भवनमें अच्छे ढंगसे रहता है ।' वे उठ खड़े हुए ।

अप्सराओंने खड़ी होकर अञ्जलि बाँधकर मस्तक झुकाये । वे सब अबतक पुष्पोंके निम्नास्तरणपर मूक बैठी थीं । देवेन्द्र द्वारतक पहुँचानेके लिये पादपीठसे उठे । देवर्षिके सिंहासनपर बैठनेपर उनके लिये वहीं आसन मिलता है । सो कुछ नहीं—देवर्षि सीधे आकाशमें हो रहे । उन्होंने अप्सराओंकी ओर दृष्टि नहीं डाली और इन्द्रकी बिदाईका उत्तर नहीं दिया । अवश्य ही झूमकर झुकते हुए पारिजातकी चोटीसे दो पुष्प लेकर वीणा सजा ली गयी थी ।

सुधर्मा-सभा स्तब्ध थी । अमरावतीपति उदास होकर सिंहासनासीन हुए । पुष्प-वलय-वेष्टित वामभुजा सिंहासनके पृष्ठ-देशपर फैल गयी और इन्द्राणीने देखा कि उनके स्वामीका कमलमुख सुगन्धित निःश्वासोंको छोड़ता हुआ झुक गया है । अपने आसनसे देवता तनिक उचककर, गर्दन घुमाये उधर ही देख रहे थे और नर्तकियोंके वाद्य मूक थे । वे उस पाटलारुण आस्तरणपर स्वयं भी मूकचित्र हो रही थीं ।

'मार !' स्वर्गाधीशने पुकारा और बड़े स्नेहसे उस पुष्प-पुरुषको अपने ही आसनपर बैठा लिया । उसके वस्त्र और मालाएँ मल्लिकाकी मादक परागसे निर्मित थीं । एक हाथमें आम्र-मञ्जरी और कंधेपर कमलोंकी एक धनुषाकृति माला । विश्वका वह सर्वश्रेष्ठ योद्धा अपने सैनिक वेषमें ही आया था ।

'उर्वशी, तिलोत्तमा, घृताची—इनमेंसे चाहे जिसे पसंद कर लो ।' देवेन्द्रका स्वर सुधर्माकी रत्नमयी भित्तियोंमें साकार प्रतिबिम्बित हो गया । 'सबको ले जाओ नहीं तो ! बहुत सावधानीसे काम करना ! आज यह नयी उलझन समाप्त कर देनी है !' वे युद्ध-परामर्श दे रहे थे ।

'कहाँ है वह तपोवन ?' मदनने मुसकराते हुए एक स्निग्ध माधुरी बिखेर दी । सभा झूम उठी । 'शाकद्वीप जाना है या जम्बूमें कहीं हिमालयकी तराईमें ?' स्वरोंमें उपेक्षा थी ।

'जम्बूद्वीपमें भारतवर्षसे तुम परिचित हो ।' देवताओंने देखा कि मकरध्वज चौंक पड़ा एक क्षणको । वह इस रण-भूमिकी दुरूहतासे परिचित है । यहीं उसे नर-नारायणसे मुँहकी खानी पड़ी थी और मुरलीमनोहरका पुत्र बनकर वह अपने अपराधसे क्षमा पा सका था । यहाँके मर्त्य तपस्वियोंने अनेकों बार उसे अपमानित किया है । सहसा भारतके नामने उसे चौंका दिया । उसी समय उसने अपनेको सम्हाला । 'वहाँके तपोवनमें वसन्तको भेजना है ?'

स्वरमें उत्साह नहीं था और जान-बूझकर उसने अपने जानेकी बात नहीं कही थी ।

'तपोवन नहीं—नगरमें ! नर्मदाके किनारे उनके उद्गमसे आगे जो पहला नगर पड़ता है, वहीं । एक सुन्दर सदन है, चारों ओर वाटिका है और सामने कृत्रिम निर्झर है । नगरका सर्वश्रेष्ठ सौध है वह ।' देवेन्द्रने युद्धक्षेत्रका मानचित्र बतलाया । 'वसन्तके अकेले जानेसे काम न होगा । अब मानव अनवसरके पुष्प-पल्लवोंसे डरता है । वहाँकी ऋतु एवं स्थानके अनुसार व्यवस्था करनी होगी । अप्सराओंको उसी प्रान्तके वेषमें जाना चाहिये । तुम आगे जाओ तो अच्छा हो ।' पूरे निर्देश मिल गये ।

'वहाँ कोई साधु ठहरे हैं ?' मदनने पूछा यों ही था । साधु उसके सहज वश हो जाते हैं और गृहस्थ··· कई बार व्यर्थ सिर मारा है उसने ।

'कहीं धोखा न खा जाना ।' उसे सावधान किया गया । 'नगरके सुसम्पन्न विप्रकुमारके यहाँ जाना है । एक राजकुमारों-जैसे कोमल सजीले युवकके यहाँ, जो उस सौधका स्वामी है और अविवाहित है ।' कुछ धैर्य हुआ कामको ।

'क्या भय है फिर ऐसे मानवसे ?' देवताओंने एक दूसरेका मुख देखा । वे वाणीसे मूक होते हुए भी संकल्पोंसे बातें कर रहे थे । 'क्यों एक तुच्छके लिये स्वर्गका सौन्दर्य धरापर उतरे और यहाँ शून्य हो ?' हृदयोंमें प्रश्नोंकी झड़ी लगी थी ।

'आपलोग कोलाहल न करें ।' सुरपति घबरा उठे सुरोंके संकल्प-विकल्पसे । 'देवर्षिने बताया है कि वह घंटों अपने उपवनकी मालतीकुञ्जमें बैठकर ध्यान करता है । मोटरोंकी भों-भों उसे जगा नहीं पाती और अपनी एकमात्र बहिनकी मृत्युने उसे क्षुब्ध नहीं किया । प्रभुकी इच्छा—कहकर वह निश्चिन्त हो गया ।' भयके लिये इतना पर्याप्त था । पता नहीं वह किस देवताका स्थान अपने आराध्यसे माँगे । सुरोंने भयको अपने समीप देख लिया ।

'केवल हेमलताको ले जाना चाहता हूँ ।' मदनने एक ऐसी पुतली छाँटी, जो अभीतक कभी पृथ्वीकी वायुमें नहीं पहुँची थी ।

'अच्छा, उसके अनुभवहीन अल्हड़पनसे सहायता लेना चाहते हो ? कोई उस लोककी अनुभविनी होती तो अधिक अच्छा होता, पर तुम्हारी इच्छा ।' देवेन्द्रको कोई आपत्ति नहीं थी । स्वर्ग सौन्दर्यशून्य होने नहीं जा रहा था । मदनको इतनी भीड़ नहीं पसंद थी युद्ध-क्षेत्रमें । एक ही सधा सैनिक पर्याप्त है ।

'विधाता तुम्हारे अनुकूल रहें ।' पुष्पायुधने उठकर मस्तक झुकाया और सुरेशने उसे हृदयसे लगा लिया । देवता सम्मानमें खड़े हो गये थे और सुन्दरियाँ भी । अप्सराओंने हेमलताको अङ्कमाला दी और उर्वशीने जल्दी-जल्दी कुछ आवश्यक सूचनाएँ । सुरपतिने पीठ थपथपा दी ।

× × ×

(२)

'उफ्, पता नहीं कौन-से राक्षस छिपे बैठे थे । मेरे हाथको उन्होंने अपने नन्हे शस्त्रोंसे छेद डाला । उसी समय पैरमें भी एक तीर घुस गया । रक्त-ही-रक्त बह रहा था ।' हेमलता अबतक भी नहीं समझ पायी थी कि गुलाब तोड़ते समय किस असुराधिपके शस्त्र उसके हाथमें लगे थे । पैरके तीरको उसने देखा था । वह उसके नख-जितना बड़ा था ।

'मैं चीख पड़ी, वह ध्यान छोड़कर दौड़ा आया । उसने कहा था कि काँटा चुभ गया है बेलका । यह बेल कौन-सा असुर है, बहिन ?' उस बेचारीने स्वर्गमें काहेको काँटे देखे थे । वह झल्ला रही थी 'पृथ्वीके

असुर स्त्रियोंपर भी प्रहार करते हैं । छिः !' असुरोंने कभी स्वर्गकी परियोंको मारा नहीं है अबतक ।

'उसे जगाकर तुम्हारे पासतक लानेके लिये कहीं मदनने ही तो वे अस्त्र नहीं प्रयोग किये थे ?' बात ठिकानेकी थी । हेमलताने कठोर दृष्टिसे घूरा मदनको । 'क्यों रुष्ट होती हो, विजय कैसे मिलती उसपर ?' उर्वशीने चुटकी ली ।

'मेरी विजयपर तुम्हें ईर्ष्या होती है ?' हेमलताने हँसते हुए ही पूछा—'तुम भी तो कई बार पृथ्वीपर गयी हो । तुम्हें क्या कोई सुयोग्य भाई नहीं मिला ?' उसकी आँखें गौरवसे चमक रही थीं ।

'भाई ? तो तुम भाई ढूँढ़ने गयी थीं वहाँ ?' उर्वशी चौंकी ।

'ढूँढ़ने तो नहीं गयी थी; पर ले वही आयी ।' हेमलता निराश नहीं, प्रसन्न थी । 'हम अप्सराओंके लिये यहीं क्या वरोंकी कमी है जो उस पवित्र लोकमें भी वही गिद्धकी भाँति मांस ही देखें । वहाँ बड़े पवित्र गौरवशाली भाई और पिता प्राप्य हैं, जो यहाँ स्वप्नमें भी दुर्लभ हैं ।' उसके स्वरमें उल्लास था ।

'तो तुम उनकी प्राप्तिके लिये फिर यात्रा करना चाहती हो ?' कुढ़कर उर्वशीने पूछा ।

'मैं प्रसन्न हूँगी ।' उसने सरलतासे कहा । 'यदि सुरपति आज्ञा दें तो इस बार अवश्य कोई धर्म-पिता बनाकर लौटूँगी । न भी जा सकूँ तो भी मैंने एक सफल यात्रा कर ली है । तुम एक बार और हो आओ ।' वह व्यङ्ग नहीं, सरल आग्रह कर रही थी ।

'वह भाई तुम्हें ही मुबारक हो ।' उर्वशीने व्यङ्ग किया, 'देवरक्षार्थ उसे जीतने गयी थीं आप ।' स्वरोंमें बेधक विष था ।

'जीत ही तो आयी हूँ ।' उसने हँसकर कहा । 'मेरा भाई अपनी बहिनके घर आकर न तो बसना चाहेगा और न यहाँका कुछ लेगा ही । आशा तो नहीं, पर यदि वह दो-चार दिनके लिये आ जाय तो सत्कारमें भयका कारण मुझे नहीं दीखता ।' उसके स्वरोंमें न कम्प था न संकोच ।

'तुममें यह परिवर्तन कैसे हुआ ?' उर्वशीने पूछा । 'तुम गयी तो मदनके साथ दूसरी भावनासे थीं ।' मदन सुरपतिके सम्मुख हाथ जोड़े, मुँह लटकाये लज्जित खड़ा था और सुरेश सिर झुकाये कुछ सोच रहे थे ।

'आकाशमें बादल थे । वर्षा हो रही थी और वायुका वेग प्रबल था । पता नहीं क्यों, वसन्तके बदले मदनने पावस और शिशिरको सहायक बनाया था इस यात्रामें ।' हेमलताके स्वरमें कोई विशेषता नहीं थी । जैसे वह एक कहानी सुना रही हो । 'मेरी रंगीन साड़ी जलसे भीग गयी और सारा शरीर काँपने लगा । यहाँ जो एक मीठी सिहरन कभी-कभी होती है, वैसी नहीं । सब शरीर कम्पायमान था । दाँत परस्पर अनवरत संघर्ष कर रहे थे । बड़ा कष्ट था । तुमने जाते समय कहा तो था कि पृथ्वीपर अनेक प्रकारके रोग होते हैं । पता नहीं, यह कौन-सा रोग था । तुमने कहा था कि कोई रोग हम दिव्याङ्गनाओंको नहीं होते वहाँ जाकर भी; पर मुझे यह रोग हो गया । दूसरा कोई उपाय तो था नहीं, तुमने दवा बतायी भी नहीं थी, पुष्प लेने चली ।' दिव्याङ्गनाएँ आनन्दकी सिहरनको पुष्प सूँघकर दूर कर लेती हैं इच्छा होनेपर ।

'उस असुरके अस्त्र हाथमें लगे पुष्प-वृक्ष छूते ही । जानती कि यह असुरोंका है तो उधर न जाती । एक बाण पैरमें घुस गया । मैं चीखकर गिर पड़ी । कभी-कभी मर्त्यलोकके किसी भक्तकी चीख सुरेशके पास आती है, उससे भी करुण चीख थी मेरी ।' उसके नेत्र भर आये थे और रोमाञ्च भी हो गया था ।

'डरो मत बहिन !' मेरे नेत्र बंद हो गये थे । मैंने नेत्र खोलकर देखा तो एक गौरवर्ण सुन्दर युवक

मेरे पैरको हाथमें पकड़े बैठा था ।' हेमलताके नेत्र भर आये । 'उसकी पीताम्बरकी धोती भीग चली थी और कौशेय उत्तरीय भी । घुँघराली अलकोंसे मुक्ता टपकने लगे थे । विशाल भालपर बड़ी-बड़ी बूँदें चमक रही थीं । उसने पैरमेंसे वह तीर, जिसे वह बेलका काँटा कह रहा था, अपनी अँगुलियोंसे पकड़कर खींच लिया ।' उसने पैरका वह स्थान दिखाया, जहाँ अब भी एक लाल चिह्न था ।

'उसीके कंधेका सहारा लेकर मैं एक कमरेमें गयी । उसने यह कौशेय वस्त्र दिया बदलनेको और ऊनी कम्बल मेरे ऊपर डाल दिया । उस भारने कम्प देनेवाले रोगको दूर कर दिया कुछ देरमें और उसके एक सेवकने कवोष्ण दुग्ध-पान कराया मुझे ।' कृतज्ञताके भारसे वे स्वर दब चुके थे । 'परिचय पूछा उसने बहिन कहकर । मैंने इधर-उधर देखा, मदन पहले ही भाग चुका था—सच-सच कह दिया । हँसा वह ।' वह चुप हो गयी ।

'कुछ कहा नहीं उसने ?' उर्वशीने पूछा ।

''केवल इतना ही उसने उत्तर दिया 'देवराजकी कृपा—मुझे एक देवी बहिन मिली । जबतक जी चाहे भाईके घर तुम रहो और जब जाना हो, बताकर जाना ।' उसे दुःख है कि उसे वहाँ रहनेकी आज्ञा नहीं थी और न कोई उपहार लानेकी । भाईके आग्रहको तोड़कर उसे आना ही पड़ा । यहाँ आकर भी वह दुःख विस्मृत हो नहीं सका है ।

'तुम भाग्यशालिनी हो ।' उर्वशीने एक दीर्घ निःश्वास ली ।

× × ×

(३)

उसने बचपनसे मातृचरणोंमें बैठकर सीखा है श्यामसुन्दरका ध्यान करना । माँके पास न तो कोई मूर्ति थी न चित्र, पर वे एक शुकसागरकी पुस्तक खोलकर उसे कभी-कभी सुनाया करती थीं—'हृदयमें—बायीं छातीसे ढाई पसली नीचे एक हृदय है, इस कमल-जैसा । उसपर सूर्य हैं । उनके ऊपर चन्द्रमा बिछे हैं और चन्द्रमाके ऊपर अग्नि प्रकाशित है । उस अग्निके बीचमें पीताम्बर पहने शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी मेघसुन्दर भगवान् विराजमान हैं ।' प्रभुके सौन्दर्य, तेज और आभूषणोंका वे एक-एक कर वर्णन करतीं । गद्गद हो उठतीं श्रीअङ्गोंका वर्णन करते समय । नेत्र झरने लगते ।

बालक चन्द्रशेखरको वह वर्णन बहुत प्रिय लगता ।

वह कभी-कभी तो दिनमें दो-तीन बार मालीसे बगीचेके तालाबसे कमलका फूल तुड़वाता बड़ा-सा और माँके समीप लेकर पहुँचता । 'अम्मा ! इसपर भगवान् कहाँ खड़े होते हैं ? बड़े नन्हे भगवान् हैं ।' माता प्यारसे पुत्रको समझाती और वह बायीं ओर छातीसे दो-तीन पसली नीचे उस फूलको चिपकाकर देखता । अभीसे वहाँ भीतर कमल देखनेका प्रयास उसने प्रारम्भ कर दिया है । बगीचेकी मालती-कुञ्जमें वह कई बार नेत्र बंद कर दो-चार मिनट बैठता है ।

'माँ ! हृदयमें जो कमल है, वह तो नीचे मुख करके सो रहा है । जैसे अपने बगीचेके कमल शामको सो जाते हैं । उसमें क्या भगवान् बंद पड़े हैं ?' बालकके सरल शुद्ध मनने कुछ ही महीनोंमें कमलका साक्षात्कार कर लिया था ।

'उसे रोज-रोज खूब देखोगे तो जाग जायगा ऊपर मुख करके और धीरे-धीरे भगवान् भी उसपर आ विराजेंगे ।' माताको उस दिन अपार हर्ष हुआ ।

कमलने ऊपर मुख किया, जगा और उसकी कर्णिकापर सूर्य, चन्द्र एवं अग्नि भी क्रमशः बिछ गये । इतनेमें माताने उसे छोड़ दिया । पिता पहले ही परलोक जा चुके थे, माता भी चल बसीं । पंद्रह वर्षके बालकको इतने बड़े भवन, उपवन और सम्पत्तिका स्वामी बनना पड़ा । माताने विवाह किया नहीं, कुछ

सोचकर और अब पुत्रने आनेवालोंसे स्पष्ट 'ना' कर दी। व्यापार चलता है, जमीदारी होती है और वह सबका दक्षतासे सञ्चालन करता है।

उसके भगवान् पीताम्बर पहनते हैं—वह भी पहनता है। अपनी लंबी-घुँघराली अलकोंमें वह भी चमेलीके फूल ही खोंसता है। गोरोचनका तिलक करता है और सोनेकी खूँटी लगी चन्दनकी खड़ाऊँ पहनता है। खाने-पहननेके लिये नगर-प्रसिद्ध शौकीन है। नगर-प्रसिद्ध धनी भी तो है। सुवर्ण-पात्र उसके यहाँ नहीं व्यवहृत होंगे तो होंगे कहाँ।

मालती-कुञ्जमें चन्दनकी चौकीपर कुशासनके ऊपर व्याघ्रचर्म रेशमसे ढका सदा बिछा रहता है। उसीपर वह नियमित प्रातः-सायं और बहुधा रात्रिमें भी आ बैठता है। रहनेके लिये उसने उपवनका प्रासाद ही पसंद किया है। कहीं बाहर तो जाता ही नहीं।

अग्निके मध्यमें एक और उज्ज्वल ज्योति, एक अस्पष्ट आकृति, लाल-लाल कोमल चरण और शत-शतचन्द्रसमुज्ज्वल नख-पङ्क्ति। धीरे-धीरे सम्पूर्ण आकृति प्रकट हो गयी और उस दिन वह 'उस मुखकी मुसकान' पर लट्टू हो रहा था। एक चीखने ध्यान भङ्ग किया और वर्षामें वह बाहर निकल पड़ा।

अप्सरा तो अप्सरा ही थी; पर उस अन्तः-सौन्दर्यके सम्मुख? छिः, इन कूड़ोंमें क्या आकर्षण रखा है। उसने मानव-कर्तव्यका पालन किया था। अतिथिका सत्कार कर्तव्य है और उसे तो 'बहिन' कह चुका था वह। उसकी समझमें नहीं आ रहा था कि क्यों देवराज इतनी भीरु मनोवृत्तिके हैं। अन्तमें उसने संकल्पोंको बंद किया और आसनपर जा बैठा। आकाश स्वच्छ हो गया है और धूप चमकने लगी है पर अभी कीचड़ सूखा नहीं है। आज चित्त दूकान जाने योग्य है भी नहीं।

भीतरके पट खुलनेके बाद बंद नहीं होते और आज उसने उन्हें खोल दिया है। धीरे-धीरे उस मन्द मुसकान और 'कृपा-विलोकन'ने उसे आत्मविस्मृत कर दिया।' 'अहं' जब 'त्वं' में डूबने ही जा रहा था—सहसा वह चौंका। वह मूर्ति हृदयमें थी नहीं। अपने-आप नेत्र खुल गये।

वह अन्तःसौन्दर्य बाहर आकर अवर्ण्य हो गया था। उसे स्मरण नहीं रहा कि मुझे चौकीसे उठकर किसीको आसन देना है। वह स्तब्ध बैठा रहा और हृदयधन हँसते हुए सामने खड़े रहे।

'देवेन्द्र तुमसे क्षमा चाहते हैं और तुम्हारी बहिन फिर आयी है दर्शन करने।' उस नीलजलदने अपनी गम्भीर वाणीमें कहा।

'भैया!' हेमलताकी अञ्जलिके पुष्पोंके साथ सुरपतिका किरीट पैरोंपर झुक गया। उसने देखा—उन दोनोंके नेत्र भरे हैं। हड़बड़ाकर उठा। सहसा बिजलीकी घंटी बज उठी। भोजनका समय हो जानेपर भगवान्‌को भोग लगाकर रसोइया यह घंटी बजा देता है, जिसमें मालिकको सूचना हो जाय। किसीको आज्ञा नहीं कि चन्द्रशेखरके रहते मालतीकुञ्जमें आये।

'यहाँ तो कोई भी नहीं है।' वह चौंका। नेत्र मले अपने। पर वह सो नहीं रहा था। वह चौकीके पास खड़ा है और चौकीपर तथा नीचे ये जो पुष्प बिखरे हैं? जिनकी अद्भुत गन्धसे कुञ्ज भर गयी है और जिनसे सुन्दर फूल उसने कभी देखे ही नहीं थे? 'ये इस लोकके पुष्प तो हैं नहीं। इन्हें यहाँ लायेगा भी कौन। तो क्या सचमुच स्वयं प्रभु पधारे थे?' एक-दो क्षण वह खड़ा रहा और फिर चौकीके ठीक सामने पृथ्वीपर गिरकर छोटे शिशुकी भाँति फूट-फूटकर रोने लगा।

बिजलीकी घंटी फिर बजी, फिर बजी; पर उसे सुने कौन।

* * *

'आत्मानं विद्धि'

(लेखक—प्रो० श्रीजगन्नाथप्रसादजी मिश्र, एम्० ए०, बी० एल्०)

पाश्चात्त्य सभ्यता प्रधानतः विज्ञानकी ही देन है । विज्ञानकी बदौलत ही पाश्चात्त्य सभ्यता आज महिमाशालिनी बनी हुई है । इस विज्ञानके बलपर ही यूरोपने जगत्को जीता है और अपनी सभ्यताका विश्वव्यापी प्रचार किया है । साहित्य, संस्कृति, कला, दर्शन आदिके क्षेत्रमें यद्यपि यूरोपके दान किसी प्रकार भी हीन या तुच्छ नहीं कहे जा सकते, फिर भी इन सब क्षेत्रोंमें पूर्व उसकी समता करनेका दावा कर सकता है । किन्तु विज्ञानकी उपेक्षा करके पूर्वने अपने जातीय जीवनको किस प्रकार अभिशापग्रस्त बना लिया, इसका अनुभव आज वह प्रतिक्षण कर रहा है । जातीय जीवनमें धर्म एवं अध्यात्म-चर्चाकी भी प्रयोजनीयता है; किन्तु इस प्रयोजनीयताको एकान्तरूपमें स्वीकार करके जीवन एवं बहिर्जगत्की उपेक्षा करना, आत्माको ही सब कुछ मानकर अनित्य शरीरके प्रति वैराग्यमूलक मनोवृत्ति धारण करना जातीय जीवनके लिये कितना सांघातिक सिद्ध हो सकता है—इसका ज्वलंत प्रमाण भारतवर्षकी पराधीनता है । यदि भारतवर्ष जीवनके प्रति, बहिर्जगत्के दैनन्दिन व्यवहारोंके प्रति उदासीनभाव धारण नहीं करता, यदि ज्ञान एवं अध्यात्मके साथ-साथ वह शक्ति एवं शौर्यकी, प्रेमके साथ-साथ पौरुषकी भी उपासना करता तो आज वह इस प्रकार पराधीन एवं परवश बनकर विशृङ्खलित जीवन व्यतीत नहीं करता । जगत् एवं जीवनकी महत्ता तथा जीवन धारण करनेकी कलाको भूलकर भारतवर्षने उस सत्यको अस्वीकार कर दिया, जो सत्य उसकी समस्त साधनाओंका मूल उत्स था । भारतवर्षने आत्माको प्राधान्य दिया था अवश्य, किन्तु यह इसलिये कि उसे इस देहजीवनमें ही सत्य एवं सार्थक बनाया जाय । इस जीवनमें ही सत्यकी उपलब्धि करके, सब प्रकारके भय, दुःख एवं दुर्बलताओंपर विजय प्राप्त करके जीवनके परिपूर्ण आनन्दका उपभोग किया जाय । इस दैहिक जीवनमें ही विदेह बनकर, मृत्युञ्जय बनकर अनन्त जीवनका आस्वादन किया जाय । यही भारतका प्रकृत जीवन-दर्शन था, मनुष्योचित जीवन धारण करनेकी उसकी विशिष्ट कला थी । इस सत्य, सबल एवं सतेज जीवन-दर्शनको भूलकर जबसे उसने मोहमूलक वैराग्यका, मिथ्याज्ञानमूलक अध्यात्मका आश्रय ग्रहण किया, तभीसे उसके ऊपर विपत्तिकी छाया घनीभूत होने लगी । 'जगत्की सत्तासे विच्छिन्न तुम्हारी सत्ता व्यक्तिपरिच्छिन्नमात्र नहीं है बल्कि उस अनन्त सत्ताके साथ ओतप्रोतभावसे जड़ित है । तुम केवल व्यष्टि ही नहीं हो, समष्टि भी हो और तुममें अनन्त सत्य, अनन्त शिव एवं अनन्त सुन्दरका आभास है—इस आदर्शको ग्रहण करके तुम जीवनको रूपान्तरित कर सकते हो और उस अनन्त सत्य, अनन्त शिव एवं अनन्त सुन्दरको अपने जीवनमें चरितार्थ कर सकते हो।' यही भारतवर्षकी प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृतिका, उसकी अध्यात्म-साधनाका मूल तत्त्व था—चरम आदर्श था । किन्तु एक समय भारतने जिस प्रकार आत्माको स्वीकार करके और देहकी उपेक्षा करके, परजीवनको चरम सत्य और इह-जीवनको अनित्य एवं मिथ्या समझकर, अध्यात्मको जीवन-सर्वस्व और भौतिक जीवनको तुच्छ एवं अवज्ञेय समझकर भयंकर भूल की थी, उसी प्रकारकी भूल आज पाश्चात्त्य जगत् भी देह-जीवनके भोगको ही सार-सर्वस्व समझकर और विज्ञान-देवताके चरणोंमें अपनी समस्त श्रद्धाञ्जलियाँ अर्पित करके कर रहा है । जडवादी यूरोपने विज्ञान-लक्ष्मीकी एकान्त निष्ठापूर्वक आराधना करके जीवनके सभी क्षेत्रोंमें आशातीत उन्नति की है । प्रकृतिके रहस्योंको आयत्त करके, उसके जीवन-रहस्योंका उद्घाटन करके यूरोपने मनुष्यकी सुख-समृद्धिमें, उसके भोगैश्वर्यमें अभूतपूर्व वृद्धि की है । विज्ञानलक्ष्मीके आशिर्वादोंको प्राप्त करके उसने मानव-जीवनको सुखी एवं सम्पन्न बनाया है, उसकी भोगाकाङ्क्षाओंमें वृद्धि करके उनकी पूर्त्तिके लिये इन्धन जुटाये हैं और मनुष्यकी समस्त कर्म-प्रचेष्टाओंको—धर्म, नीति, विज्ञान, कला आदिको उसकी आदिम प्रवृत्तियोंको चरितार्थ करनेमें नियोजित किया है । प्रकृतिके अजस्र दानोंको आजके सभ्य मनुष्यने विकसित एवं परिपूर्ण किया है—मनुष्यत्वके विकासके लिये नहीं, बल्कि इसलिये कि वह मोहान्ध बनकर महानाशकी विध्वंस-लीलामें पैशाचिक उल्लास प्राप्त कर सके । अवश्य ही इसके लिये कोई विज्ञानको ही दोषी नहीं ठहरा सकता । मनुष्यने अपनी आदिम प्रवृत्तिके वशवर्त्ती होकर विज्ञानके आशिर्वादोंको अभिशापमें परिणत कर दिया है और विज्ञानद्वारा उपलब्ध सत्यको ही एकमात्र सत्य समझकर जीवनके परम सत्यको भुला दिया है । भौतिक जगत्के

उपादानोंके सम्बन्धमें साङ्गोपाङ्ग ज्ञान प्राप्त करके मनुष्यने प्रायः उसके प्रत्येक रहस्यको आयत्त कर लिया है। किन्तु आश्चर्यकी बात तो यह कि बाह्य जगत्के सम्बन्धमें इतना व्यापक ज्ञान प्राप्त करके भी स्वयं अपने सम्बन्धमें मनुष्यका ज्ञान अब भी शैशवावस्थामें ही है। मनुष्यका केवल व्यष्टिरूप ही नहीं है, बल्कि समष्टिरूप भी है और उसके इन दोनों स्वरूपोंकी उपलब्धि करने तथा बाह्य जगत्के साथ उसके सम्बन्धका यथार्थ निरूपण करनेकी अभीतक कोई सहज बोधगम्य प्रणाली आविष्कृत नहीं हो सकी है। मनुष्य सब कुछ जानकर भी अपनेको नहीं जान सका है। तभी तो विज्ञानने उसे यन्त्र-मानवके रूपमें परिणत कर दिया है, जिससे वह अनवरत रूपमें यन्त्रके उत्पादनोंका उपभोग करता रहे। किन्तु मनुष्य तो इस प्रकार केवल यन्त्रका क्रीत दास बनकर नहीं रह सकता। वह केवल जटिल प्राणीमात्र नहीं है कि विज्ञानके कौशलद्वारा उसका विश्लेषण किया जा सके; बल्कि मानव-जातिकी प्रवृत्तियों, आकाङ्क्षाओं एवं अनुभूतियोंका वह प्रतीक भी है। विज्ञानद्वारा हम मनुष्य-देहके विभिन्न अङ्गोंका ज्ञान प्राप्त कर सके हैं सही किन्तु उसकी अखण्ड सत्ताके सम्बन्धमें हमारा ज्ञान नहींके बराबर है।

गत दो सौ वर्षोंके अंदर विज्ञानकी एकनिष्ठ भावसे साधना करके यूरोपने जीवन एवं समाजको समुन्नत किया है। विज्ञानकी आराधना करके उसने चटुला बुद्धिपर भरोसा करना सीखा है। अपनी बुद्धिके अहंकारमें उसने भोगवाद, अनीश्वरवाद एवं सन्देहवादको जन्म दिया है। यही कारण है कि आजका सभ्य मनुष्य सब प्रकारकी श्रद्धा एवं विश्वासको खोकर घोर सन्देहवादी बन गया है। आन्तरिक श्रद्धाद्वारा किसी वस्तुको ग्रहण करनेकी उसमें प्रवृत्ति नहीं रह गयी है। बाह्य ऐश्वर्यसे मण्डित होनेपर भी उसकी आत्माका दैन्य आज प्रत्यक्ष हो रहा है। उसके अन्तरमें आज हाहाकार मचा हुआ है। अशान्त, आकुल अन्तरको लेकर वह शान्तिका सन्धान कर रहा है; किन्तु शान्ति उसके जीवनसे दूर—बहुत दूर होती जा रही है। पाश्चात्त्य सभ्यताके इस अधःपतनको देखकर आज यूरोपके बड़े-बड़े मनीषी एवं चिन्तावीर पाश्चात्त्य जगत्को चेतावनी दे रहे हैं। अमेरिकाके विख्यात प्राणिशास्त्रवेत्ता तथा नोबेल पुरस्कार-विजेता **Dr. Alexis Carrel** ने पाश्चात्त्य सभ्यताकी इस शोचनीय अधोगतिका उल्लेख करते हुए अपनी पुस्तक "Man, The Unknown" में लिखा है:—

"The environment born of our intelligence and our inventions is adjusted neither to our station nor to our shape. We are unhappy, we are degenerate morally and mentally. The groups and the nations in which industrial civilization has attained its highest development are precisely those which are becoming weaker, and whose return to barbarism is the most rapid. But they do not realize it." अर्थात् हमारी बुद्धि एवं हमारे आविष्कारोंने हमारे लिये जैसे वायुमण्डलकी सृष्टि कर दी है, वह न तो हमारी दैहिक गठनके अनुरूप है न आकृतिके अनुरूप। हम सुखी नहीं हैं। मानसिक एवं नैतिक दृष्टिसे हमारा पतन हो रहा है। जिन जातियोंमें औद्योगिक सभ्यताका उच्चतम विकास हुआ है, वे ही जातियाँ दुर्बल होती जा रही हैं। बर्बरताकी ओर वे बड़ी शीघ्रतासे जा रही हैं। किन्तु वे इस बातको समझ नहीं रही हैं। सारांश यह कि वर्तमान सभ्यताने हमारे अस्तित्वके लिये कुछ ऐसी परिस्थितियोंकी सृष्टि कर दी है, जिनमें जीवन धारण करना ही असम्भव हो रहा है। आधुनिक सभ्यताकी इस दुर्गतिका कारण यह है कि वह हमारे जीवनके उपयुक्त नहीं है। मानवप्रकृतिका यथार्थ ज्ञान प्राप्त किये बिना ही इसका निर्माण किया गया है। वैज्ञानिक आविष्कारोंकी खामख्यालियों, मनुष्यकी लालसाओं एवं भ्रान्तियों, उनके सिद्धान्तों एवं वासनाओंसे इसका जन्म हुआ है। यद्यपि मानवीय प्रयत्नोंद्वारा यह निर्मित हुई है, फिर भी हमारी आकृति एवं आकार-प्रकारके साथ इसका सामञ्जस्य नहीं हो सका है।

आधुनिक सभ्यताके आशिर्वादोंका मनुष्यने आनन्दपूर्वक स्वागत किया है। इस सभ्यताको ग्रहण करके उसने प्राचीन जीवन-प्रणालीका सर्वथा विसर्जन कर दिया है। अब उसके लिये जीवन-धारण अधिक आरामप्रद और सुखजनक बन गया है। वह अच्छे घरोंमें रहने लगा है, अच्छा भोजन खाने लगा है और सब प्रकारके बन्धनों एवं विधि-निषेधोंसे मुक्त होकर स्वच्छन्द एवं स्वाधीन जीवन व्यतीत करने लगा है। वह अब सहज ही अपनी यौन क्षुधाकी तृप्ति कर सकता है, कामोत्तेजनाके साधनोंको जुटा सकता है। उसके स्वास्थ्यमें भी उन्नति हुई है। पुष्टिकर भोजन एवं व्यायामद्वारा उसने

अपने शरीरकी गठनमें तथा शक्तिमें वृद्धि की है। किन्तु यह सब होनेपर भी वह अपने पूर्वजोंकी अपेक्षा अधिक दीर्घजीवी नहीं हो रहा है। हमारे पूर्वज जिस प्रकार सर्दी-गर्मी सहन करते थे, जितना कठोर परिश्रम करते थे, उतना आजके व्यायामवीर नहीं कर सकते। अपने सुकुमार स्नायुमण्डलको लेकर आधुनिक सभ्य, शिक्षित युवक बड़े-बड़े नगरोंकी जीवन-प्रणालीको सहन करनेमें सर्वथा असमर्थ हो रहे हैं। प्रतिदिनकी कठिनाइयों और झंझटोंके बीच अतिशय व्यस्त जीवन व्यतीत करते हुए वे सहज ही भग्न-स्वास्थ्य बन जाते हैं। एक ओर यदि बच्चोंकी मृत्यु-संख्यामें ह्रास हो रहा है तो दूसरी ओर स्नायविक एवं मानसिक रोगोंमें वृद्धि हो रही है। पागलोंकी संख्यामें वृद्धि हो रही है, स्नायविक विकारग्रस्त तथा दुर्बल बुद्धिवाले मनुष्योंकी संख्या बढ़ रही है। संक्रामक रोगोंके निवारणके लिये ही अबतक चिकित्सकों एवं स्वास्थ्यविद्याविशारदोंने विशेष ध्यान दिया है। किन्तु सभ्यताके लिये मानसिक अधःपतन जितना विपज्जनक है, उतने संक्रामक रोग नहीं।

बच्चों एवं नवयुवकोंकी शिक्षामें आज असंख्य धन व्यय किया जा रहा है फिर भी श्रेष्ठ बुद्धिसम्पन्न मनुष्योंकी संख्यामें वृद्धि नहीं हो रही है। पढ़ने-लिखनेके साधनोंमें अभूतपूर्व वृद्धि हुई है। लोगोंमें पढ़ने-लिखनेका शौक भी पहलेकी अपेक्षा बहुत बढ़ गया है। साहित्य, कला, विज्ञान आदि विषयोंमें दिलचस्पी लेनेवाले लोगोंकी संख्या बढ़ गयी है। किन्तु इस सबका परिणाम क्या हुआ है? डा० अलेक्सस कैरलके शब्दोंमें "Modern civilization seems to be incapable of producing people endowed with imagination, intelligence, and courage. In practically every country there is a decrase in the intellectual and moral calibre of those who carry the responsibility of public affairs............And we realize that, despite the immense hopes which humanity has placed in modern civilization, such a civilization has failed in developing men of sufficient intelligence and audacity to guide it along the dangerous road on which it is stumbling." अर्थात् आधुनिक सभ्यताने इस प्रकारके मनुष्योंको उत्पन्न नहीं किया है जो कल्पनाशक्ति, बोधशक्ति एवं साहससे सम्पन्न हों। प्रायः प्रत्येक देशमें ऐसा देखा जाता है कि जो लोग सार्वजनिक क्षेत्रोंमें उत्तरदायित्वपूर्ण पदोंपर कार्य कर रहे हैं, उनमें बौद्धिक एवं नैतिक योग्यताका ह्रास हो रहा है।······ और हमलोग अब इस बातको अच्छी तरह अनुभव करने लगे हैं कि यद्यपि मानव-जातिने आधुनिक सभ्यतापर बड़ी-बड़ी आशाएँ लगा रखी थीं, फिर भी आधुनिक सभ्यता इस प्रकारके बुद्धिमान् एवं साहसिक मनुष्योंको उत्पन्न करनेमें असफल रही है, जो मानव-जातिको विपज्जनक मार्गसे हटाकर उसे सच्चा मार्ग दिखा सकें।' आधुनिक सभ्य मनुष्य जीवनकी व्यावहारिक दिशामें अधिक सक्रिय एवं सुदक्ष हो गया है सही, किन्तु उसकी मानसिक दुर्बलता इतनी बढ़ गयी है, जिससे वह सहज ही परिस्थितिके प्रभावमें पड़ जाता है। अपनी चारित्रिक दुर्बलताके कारण वह अपनी बोध-शक्तिको भी खो बैठा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्तमान यान्त्रिक सभ्यताकी बदौलत हमारी परिस्थितियोंमें जो परिवर्तन हुए हैं, उनका हमारे जीवनपर गहरा असर पड़ा है। उनसे जिस प्रकारके फलोंकी हमने आशा की थी, वैसे फल हमें नहीं प्राप्त हो रहे हैं। हमारी जीवन-प्रणालीमें, रहन-सहनमें, खान-पानमें, शिक्षामें तथा बौद्धिक वातावरणमें जिस प्रकारकी उन्नति हुई है, वर्तमान सभ्यताने हमारे लिये उसके अनुकूल परिणामोंकी सृष्टि नहीं की है। और ऐसा क्यों हुआ है?

इसलिये कि मानव-जीवनके साथ, मनुष्यके मन, शरीर और हृदयके साथ सामञ्जस्य रखकर विज्ञानकी उन्नति नहीं हुई है। विज्ञानने हमारी वास्तविक प्रकृतिका ज्ञान प्राप्त किये बिना ही सभ्यताकी वर्तमान इमारत खड़ी की है। विज्ञानकी उन्नति किसी क्रम या योजनाके आधारपर न होकर आकस्मिक कारणोंके आधारपर हुई है। समय-समयपर जो प्रतिभाशाली पुरुष पैदा हुए हैं, उनके ही मनके झुकाव अथवा जिज्ञासामूलक बुद्धिके अनुसार विज्ञानकी उन्नति हुई है। इस उन्नतिके मूलमें मनुष्यकी दशाओंमें सुधार करनेकी प्रेरणा बिल्कुल नहीं रही है। एक प्रकारकी असाधारण अन्तर्दृष्टि, सूक्ष्म तर्कशक्ति अथवा दैवी घटनाद्वारा परिचालित होकर विज्ञानी लोग काम कर रहे हैं। वे स्वयं नहीं जानते कि वे किधर जा रहे हैं। समय-समयपर ऐसी बहुत-सी बातें जो साधारण मनुष्योंके लिये प्रत्यक्ष नहीं होतीं, उनके मानस चक्षुके सामने स्पष्ट हो उठती हैं। इस

प्रकार उनके द्वारा जो आविष्कार होते हैं, उन आविष्कारोंके परिणाम क्या होंगे—इस सम्बन्धमें उनके मनमें पहलेसे न तो किसी प्रकारकी धारणा ही होती है और न वहाँतक उनकी दृष्टि ही पहुँचती है और उनके आविष्कारोंके परिणामने ही संसारमें युगान्तर उपस्थित कर दिया है और हमारी सभ्यताका आज जो रूप है, उसका निर्माण किया है ।

विज्ञानके ऐश्वर्यके कुछ अंशमात्रको ही हमने ग्रहण किया है । और अंशविशेषको ग्रहण करनेमें हमने मानव-जातिके बृहत्तर साधनोंपर ध्यान न देकर अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियोंका अनुसरण किया है । लोगोंको कम-से-कम प्रयाससे अधिक-से-अधिक सुविधाएँ प्राप्त हों, गतिवेग, परिवर्तन एवं आरामजन्य आनन्दकी उपलब्धि हो तथा हम अपने-आपको भूले रहें—यही बातें आधुनिक आविष्कारोंकी सफलताकी कसौटी समझी जाती हैं । किन्तु यातायातके द्रुत साधन, तार, टेलीफोन, आधुनिक व्यवसाय-प्रणाली, लिखने और हिसाब करनेवाली मशीनें तथा इसी तरहकी घरेलू काम करनेवाली अन्य मशीनोंके फलस्वरूप हमारे जीवनके छन्दमें जो अतिशय गतिवृद्धि हुई है, उसे हम किस प्रकार सहन करेंगे—यह प्रश्न किसीने अपने आपसे नहीं किया है । विज्ञानके जितने नूतन आविष्कार मनुष्यको सुविधाजनक और आरामप्रद प्रतीत हुए हैं, मनुष्यने उन्हें ग्रहण किया है । किन्तु मनुष्यपर उनका क्या प्रभाव पड़ सकता है, इसपर किसीने विचार नहीं किया है ।

औद्योगिक जीवनके गठनमें कल-कारखानोंका प्रभाव उनमें काम करनेवाले श्रमजीवियोंके शरीर एवं मनपर क्या पड़ सकता है, इसकी ओर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया जाता । आधुनिक उद्योग-धंधोंका गठन केवल इस बातपर ध्यान रखकर किया जाता है कि कम-से-कम खर्चमें अधिक-से-अधिक उत्पादन हो, जिससे व्यक्तिविशेष या थोड़े-से व्यक्ति अधिक-से-अधिक धनोपार्जन कर सकें । कल-कारखानोंमें जो लोग मशीन चलाते हैं, वहाँके कृत्रिम वातावरणमें जीवन व्यतीत करते हैं, उनके तथा उनके वंशजोंपर इस सबका क्या प्रभाव पड़ता है—इसपर विचार किये बिना ही आँख मूँदकर हम कल-कारखानोंका विस्तार करते चले जा रहे हैं । शहरोंमें गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ बनायी जाती हैं—केवल इस बातपर खयाल रखकर कि प्रतिवर्ग फुट जमीनपर अधिक-से-अधिक आमदनी हो सके । इन मकानोंमें झुंड-के-झुंड लोग एक साथ रहते हैं । एक ओर तो वे नागरिक जीवनकी समस्त सुख-सुविधाओंका उपभोग करते हैं और दूसरी ओर वे जीवनकी आवश्यकताओंसे वञ्चित रह जाते हैं । दैत्याकार विशाल मकान, अन्धकारपूर्ण तंग गलियाँ, धूल, धुआँ, गैससे भरी हुई सड़कें, ट्राम, बस और मोटरगाड़ियोंके कर्णविदारक शब्द और लोगोंकी अविराम भीड़-भक्कर—बस, यही हमारे नगरोंका आधुनिक रूप है । इनका निर्माण नगरनिवासियोंके हितोंपर ध्यान रखकर थोड़े ही किया जाता है ।

सच पूछा जाय तो हमारी जीवन-प्रणाली आज व्यवसायियोंकी विज्ञापनबाजीद्वारा बहुत कुछ प्रभावित हो रही है । विज्ञापन देनेवाले एकमात्र अपने स्वार्थपर ध्यान रखकर विज्ञापनबाजी करते हैं, जनताके स्वार्थपर ध्यान रखकर नहीं । खाद्य पदार्थोंके सम्बन्धमें झूठे विज्ञापन किये जाते हैं। दवाइयोंके विज्ञापनमें अपार धन खर्च किया जाता है । स्वास्थ्य-रक्षाके लिये अथवा शक्ति-वृद्धिके लिये जिन सब दवाओंके विज्ञापन किये जाते हैं, उनमें अधिकांश प्रायः निरर्थक और बहुधा हानिप्रद होती हैं । फिर भी आज ये ही सब चीजें सभ्य मनुष्यके जीवनमें आवश्यक हो रही हैं । इस प्रकार लोभी और चालाक मनुष्योंने अपने मालकी खपतके लिये जनताको इस तरह भुलावेमें डाल रखा है, ताकि वह उनके मालको खरीदती रहे और आधुनिक जगत्में इस प्रकारके लोभी, स्वार्थी और चतुर लोगोंका ही बोलबाला है ।

सारांश यह कि जहाँ जड पदार्थोंके सम्बन्धमें विज्ञानने अपार उन्नति की है, वहाँ चेतन पदार्थोंके सम्बन्धमें वह अभी प्रारम्भिक अवस्थामें ही है । वैज्ञानिक आविष्कारोंके प्रयोगोंने भौतिक एवं मानसिक जगत्को रूपान्तरित कर दिया है । इनका प्रभाव हमपर गभीर रूपमें पड़ा है । उनका दुष्प्रभाव हमारे ऊपर इसलिये पड़ रहा है कि हमारी प्रकृतिपर विचार किये बिना ही ये आविष्कार किये गये हैं । हम अपनी प्रकृतिके सम्बन्धमें सर्वथा अज्ञानी बने हुए हैं और यही कारण है कि यन्त्र, भौतिक विज्ञान और रसायनशास्त्रने हमारी परम्परागत जीवन-प्रणालीमें विक्षिप्त रूपसे परिवर्तन ला दिया है।

सब प्रकारकी उन्नतियोंका एक ही मानदण्ड, एक ही कसौटी होनी चाहिये । वह कसौटी है—मनुष्यकी सर्वाङ्गीण उन्नति, उसके मनुष्यत्वका परिपूर्ण विकास, उसके व्यक्तित्वका व्यापक विस्तार । किन्तु इस दृष्टिसे विचार करनेपर हमें

यही अनुभव होता है कि मनुष्यने अपनी बुद्धि, प्रतिभा एवं सूक्ष्म तर्कशक्तिद्वारा जिस जगत्की सृष्टि की है, उस जगत्में वह स्वयं प्रवासी-सा बना हुआ है, अपनेको बेगाना मालूम कर रहा है। इस जगत्को स्वयं अपने लिये, अपने मन-प्राणोंके अनुकूल सुव्यवस्थित करनेमें वह अक्षम हो रहा है; क्योंकि वह स्वयं अपने-आपको नहीं जानता, अपनी प्रकृतिसे वह परिचित नहीं। इस प्रकार जडविज्ञानने चेतन-विज्ञानकी उपेक्षा करके जो प्रकाण्ड उन्नति की है, वह उन्नति ही आज मानवताके लिये सबसे बड़ी विपत्ति हो रही है और इसी उन्नतिके अभिशापसे आज विश्वमानवता अभिशप्त हो रही है। जडविज्ञानने हमारे चतुर्दिक् जिस प्रकारकी परिस्थितियोंकी सृष्टि कर दी है, वे हमारी मूल प्रकृतिके प्रतिकूल हैं और उन प्रतिकूल परिस्थितियोंसे आत्मरक्षा करनेमें हम इसलिये असमर्थ हो रहे हैं कि हममें नैतिक एवं मानसिक बलका अभाव है। इसलिये सच तो यह है कि सभ्यताने हमारे अस्तित्वके लिये कुछ ऐसी अवस्थाओंकी सृष्टि कर दी है, जिनमें हमारे लिये जीवनधारण करना ही असम्भव हो रहा है। अपनी मानसिक दुर्बलताके कारण हम परिस्थितियोंके दास बने हुए हैं और जडविज्ञानकी तुलनामें जीवन-विज्ञानकी दिशामें इतने पिछड़े हुए हैं कि उससे हमारी निदारुण क्षति हो रही है। तो इसका उपाय क्या है? उपाय यही है कि मनुष्य अपनेको जाने—'Know thyself,' 'आत्मानं विद्धि'। स्वयं अपने-आपको न जानकर, अपने स्वरूपको न पहचानकर मनुष्य सब कुछ जाननेकी चेष्टा कर रहा है। यही उसके जीवनकी सबसे बड़ी ट्रेजिडी है, वह अपने आपको जानकर, अपनी प्रकृतिका सम्यक् ज्ञान प्राप्त करके ही यह समझ सकता है कि आधुनिक जीवन-प्रणाली उसके शरीरको, उसके मन-प्राणको, उसकी अन्तश्चेतनाको किस रूपमें प्रभावित कर रही है। और यह जानकर ही वह अपनी परिस्थितियोंके अनुकूल अपनेको उपयोगी बनाना सीख सकता है और आवश्यकता पड़नेपर अपनी परिस्थितियोंको परिवर्तित भी कर सकता है। मनुष्यको जब अपनी वास्तविक प्रकृतिका, अपनी अन्तर्निहित शक्तियोंका ज्ञान हो जायगा और उन शक्तियोंको किस प्रकार वास्तवमें परिणत किया जा सकता है—यह वह जान जायगा, तब वह अपनी शारीरिक दुर्बलताको, अपने नैतिक एवं मानसिक असुस्थताको स्पष्टरूपमें समझ सकेगा। बिना इसके वह अपनी शारीरिक एवं आत्मिक प्रक्रियाओंके अमिट नियमोंको नहीं जान सकता और न सद्-असद्में, वैध एवं अवैधमें भेद कर सकता है। मनुष्य आज स्वाभाविक जीवन व्यतीत नहीं कर रहा है, आधुनिक सभ्यताने उसके जीवन-धारणकी स्वाभाविक दशाओंको विनष्ट कर दिया है, उसके चतुर्दिक् एक कृत्रिम वातावरणकी सृष्टि कर दी है, जो उसकी अन्तःप्रकृतिके अनुकूल नहीं है; इसलिये मनुष्यके लिये आज मानव-विज्ञान अन्य सब विज्ञानोंकी अपेक्षा अधिक आवश्यक हो गया है। और यह मानव-विज्ञान है—दृष्टिको अन्तर्मुखी करो, अपने आपको जानो—'आत्मानं विद्धि।'

* * *

'श्रीराधावरकी झाँकी'

बंसी मुखसों लगाय ठाढ़े श्रीराधावर,
मधुर-मधुर बजत धुन सुन सब गोपी बेहाल।
थिरक-थिरक नाचै, मानों घन बिच दामिनि चमकै,
कारे मतवारे रतनारे दृग लटक चाल।
सीस मुकुट चमकै, मकराकृत कुंडल दमकै,
'फ़रहत' अति प्यारी घुँघरारी अलक, तिलक भाल॥

—भक्त कवि फ़रहत

* * *

भगवत्तत्त्व

(लेखक—साधु रामसुखदासजी)

[गताङ्कसे आगे]

प्रकाश-तत्त्व

भगवान्‌के विग्रहका प्रकाश दिव्य होता है । वह निर्गुण सर्वव्यापी चिन्मयस्वरूप ही स्थूलरूपसे प्रकाशरूपमें आता है । वह प्रकाश प्राकृत नेत्रोंका विषय नहीं होता, दिव्य चक्षुसे ही देखा जा सकता है । भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है—

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥

(गीता ११ । ८)

'परन्तु मुझको तू अपने इन प्राकृत नेत्रोंद्वारा देखनेमें निःसन्देह समर्थ नहीं है, इसीसे मैं तुझे दिव्य—अलौकिक चक्षु देता हूँ; उससे तू मेरी ईश्वरीय योगशक्तिको देख ।'

यद्यपि अवतारके समय भगवान्‌का विग्रह सबके सामने होनेसे सभीको उनके दर्शन होते हैं, तथापि उनको दर्शन होते हैं योगमायासमावृत साधारण मनुष्यरूपके ही, दिव्यरूपके नहीं ।

भगवान्‌का वह दिव्य प्रकाश सूर्य, चन्द्रमा आदिके प्रकाशसे अत्यन्त महान् और विलक्षण होता है । सञ्जयने गीतामें कहा है—

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥

(११ । १२)

'आकाशमें हज़ार सूर्योंके एक साथ उदय होनेसे उत्पन्न जो प्रकाश हो, वह भी उस विश्वरूप परमात्माके प्रकाशके सदृश कदाचित् ही हो ।'

जैसा सूर्यका प्रकाश होता है, भगवान्‌के विग्रहका भी उसी तरहका प्रकाश होता है; किन्तु उसमें तीक्ष्णता, उष्णता और दुर्निरीक्ष्यता नहीं होती । भगवान्‌के विग्रहके प्रकाशमें तेजी सूर्यसे भी बहुत अधिक होती है, किन्तु सूर्यके प्रकाशकी तरह उसमें तीक्ष्णता नहीं होती । वह तो चन्द्रमाके प्रकाशकी तरह—नहीं, उससे भी अत्यन्त विलक्षण—सौम्य, शान्त, शीतल और नेत्राकर्षक होता है । वास्तवमें वह सूर्य-चन्द्रमाके प्रकाशकी तरह नहीं है और न उसे सूर्य-चन्द्रमा प्रकाशित ही कर सकते हैं । भगवान्‌का प्रकाश इन सब प्रकाशोंसे अत्यन्त विलक्षण होता है । भगवान् कहते हैं—

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥

(गीता १५ । ६)

'जिस परमपदको प्राप्त होकर मनुष्य लौटकर संसारमें नहीं आते, उस स्वयंप्रकाश परमपदको न सूर्य प्रकाशित कर सकता है न चन्द्रमा और न अग्नि ही । वही मेरा परमधाम है ।'

वास्तवमें सूर्य, चन्द्रमा आदि भी तो भगवान्‌के प्रकाशसे ही प्रकाशित होते हैं । तब वे उसे कैसे प्रकाशित कर सकते हैं; क्योंकि उनमें जो तेज है, वह भी तो भगवान्‌का ही तेज है ।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥

(गीता १५ । १२)

'सूर्यमें स्थित जो तेज सम्पूर्ण जगत्‌को प्रकाशित करता है तथा जो तेज चन्द्रमामें है और जो अग्निमें है, उसको तू मेरा ही तेज जान ।'

सूर्य-चन्द्रमाका प्रकाश तो पार्थिव पदार्थोंसे आवृत हो जाता है, उसमें छाया भी पड़ती है । परन्तु भगवद्विग्रहका प्रकाश, चाहे पहाड़ भी उसके बीचमें क्यों न आ जाय, आवृत नहीं होता और न उसमें छाया ही पड़ती है । वह प्रकाश दिव्य, चिन्मय होता है और सूर्य-चन्द्रका प्रकाश भौतिक होता है ।

चितिशक्ति स्वयं आत्मस्वरूप है । वह बुद्धितत्त्वसे जाननेपर ज्ञानरूपसे प्रतीत होती है और वही नेत्रोंसे देखनेपर प्रकाशरूपसे प्रकट दीखने लगती है । तत्त्वतः चिति, भाति और प्रकाश एक ही वस्तु हैं ।

प्रेम-तत्त्व

वे निर्गुण आनन्दमय सर्वत्र परिपूर्ण परमात्मा ही प्रेमरूपसे साकार विग्रहके रूपमें प्रकट होते हैं। परमात्माका प्रेम बड़ा विलक्षण है। परमात्माका दिव्य विग्रह प्रेममय होता है, जिसके दर्शन करनेसे खर-दूषण एवं जरासन्ध-जैसे विरोधी जीवोंके भी चित्त उस ओर जबरन् खिंच जाते हैं । उनके उस प्रेममय विग्रहमें विलक्षण आकर्षण होता है । जहाँ भगवान्‌की कथा होती है, लीला-विग्रह आदिका वर्णन होता है, वहाँ भी प्रेम, आनन्द और शान्तिकी बाढ़-सी आ जाती है; सर्वत्र परम शान्तिमय वातावरण छा जाता है । उस वर्णनको सुनकर श्रद्धालु प्रेमियोंका हृदय प्रेमसे तर हो जाता है, उनके नेत्रोंमें आँसुओंकी धारा बहने लगती है, कण्ठ गद्गद हो जाता है, वाणी रुक जाती है और समस्त अङ्ग पुलकित हो उठते हैं । इस प्रकार भक्त प्रेममें मतवाले हो जाते हैं। व्रजरस-रसिक श्रीनन्ददासजी कहते हैं—

कृष्ण नाम जब ते मैं श्रवन सुन्यो री आली,
भूली री भवन हौं तो बावरी भई री ।

जब उनकी कथा-वार्ता सुननेसे ही इतना असर पड़ता है, तब वे स्वयं कितने प्रेममय हैं—इसका अनुभव तो परम प्रेमास्पद भगवान्‌के दर्शन पाये हुए सच्चे प्रेमी भक्त ही कर सकते हैं; पर वे भी उस प्रेमका वर्णन करनेमें अपनेको असमर्थ ही पाते हैं । प्रेमका स्वरूप वर्णन करते हुए श्रीनारदजी कहते हैं—

'अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम् ।' 'मूकास्वादनवत् ।' 'प्रकाशते क्वापि पात्रे ।' 'गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्द्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम् ।'

(नारदभक्तिसूत्र ५१ से ५४)

'प्रेमका स्वरूप अनिर्वचनीय है । गूँगेके स्वादकी भाँति उसका वर्णन नहीं हो सकता । ऐसा प्रेम किसी योग्य पात्र (प्रेमी) में ही प्रकट होता है । यह प्रेम गुणरहित है, कामनारहित है, प्रतिक्षण बढ़ता रहता है, विच्छेदरहित है, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर है और अनुभवरूप है ।'

जो इस प्रेमके तत्त्वको जान जाता है, वह स्वयं प्रेममय बन जाता है । उसे प्रेम-ही-प्रेम दीखता है, प्रेममय भगवान्‌के सिवा उसे अन्य कोई वस्तु नजर ही नहीं आती ।

यह भगवत्प्रेम वाणीका विषय नहीं है । संसारमें स्त्री, पुत्र, धन, शरीर, मान, बड़ाई आदिमें जो प्रेम देखनेमें आता है वह तो प्रेम ही नहीं है, राग है । राग और प्रेममें महान् अन्तर होता है । राग रजोगुणी है और प्रेम गुणातीत है, गुणोंके दायरेसे परेकी वस्तु है । रागमें अपनी इन्द्रियोंकी तृप्ति और अपना स्वार्थ रहता है, प्रेममें केवल प्रेमास्पदका आनन्द, उसकी प्रसन्नता और अपने स्वार्थका सर्वथा त्याग रहता है । रागके विषय जड, भोगरूप पदार्थ होते हैं; परन्तु प्रेमके विषय साक्षात् चिन्मय परमात्मा होते हैं, जड पदार्थ नहीं । जीवोंसे जो प्रेम किया जाता है, उसका विषय भी चेतन ही होता है; क्योंकि प्रेम स्वयं चिन्मय है । पर जहाँ केवल जड शरीरकी ओर आकर्षण होकर प्रेम होता है, वह प्रेम नहीं, वह तो राग ही कहलाता है। पर वह भी यदि स्वार्थत्यागपूर्वक केवल उसके हितके लिये ही किया जाता है तो प्रेम ही कहा जाता है । किन्तु महापुरुषोंसे जो प्रेम किया जाता है, वह यदि शरीरमें आकर्षण होकर भी होता है तो भी, वह शरीर अन्य जीवोंकी अपेक्षा विलक्षण होने तथा प्रेम करनेवालेमें अपना लौकिक स्वार्थ न होनेके कारण, वह प्रेम ही माना जाता है । उसका ध्येय पारमार्थिक सत्य वस्तु है; अतः वह प्रेम शरीरको लेकर होनेपर भी दोषी नहीं है । तथा भगवान्‌में जो कामनासिद्धिके लिये प्रेम किया जाता है, वह होनेपर जड वस्तुओंकी प्राप्तिके लिये ही है तो भी भगवान्‌से सम्बन्ध होनेके कारण मुक्तिप्रद ही होता है । भगवान्‌ने कहा है—'मद्भक्ता यान्ति मामपि' (गीता ७ । २३)—मेरे भक्त मुझे चाहे जिस भावसे भजें, अन्तमें वे मुझे ही प्राप्त होते हैं ।' और उनकी कामना भी पूर्ण हो जाती है अथवा मिट जाती है । मतलब यह है कि एक ओर महात्माओंका शरीर प्राकृत होनेपर भी उनसे निःस्वार्थ प्रेम करनेवालेका ध्येय चेतन है तथा दूसरी ओर भगवान्‌से सकाम प्रेम करनेवालेका ध्येय जड पदार्थ होनेपर भी भगवान्‌का विग्रह चेतनस्वरूप है । ऐसी स्थितिमें अर्थात् एक अंशमें कमी रहनेपर भी दोनों ही जगह चेतनका सम्बन्ध होनेसे वह प्रेम ही कहा जाता है और उससे निःसन्देह कल्याण हो जाता है । पर असली प्रेम तो वह है जो जडतारहित, ज्ञानपूर्ण, निष्कलङ्क, निःस्वार्थ, परमशुद्ध और केवल प्रेमके लिये ही होता है । वह प्रेम रागकी समाप्ति होनेके बाद जाग्रत् होता है और वैराग्यकी ऊँची-से-ऊँची स्थिति होनेपर आरम्भ होता है ।

वह प्रेम रसमय, आनन्दमय, प्रकाशमय, त्यागरूप, दिव्य और परम शान्तिरूप है । उसमें दुःख, विक्षेप, जलन, चिन्ता, उद्वेग, भय आदिका लेश भी नहीं होता । प्रेम और

भगवान् वस्तुतः दो वस्तु नहीं, एक ही हैं। ऐसा होनेपर भी भगवान्‌के दर्शन होनेपर प्रेम हो ही जाय, यह सर्वत्र अबाधित नियम नहीं है; पर प्रेम होनेपर तो भगवान् मिल ही जाते हैं। इसलिये प्रेमकी कीमत भगवान् भी नहीं हैं, बल्कि भगवान्‌की ही कीमत प्रेम है। अतः प्रेम भगवान्‌से भी बढ़कर है। इसीलिये दिव्य प्रेमप्राप्त भगवद्भक्त भगवान्‌के दर्शनोंकी भी परवा नहीं करते, बल्कि भगवान् ही उन भक्तोंकी खुशामद किया करते हैं।

प्रेम बड़ी ही अलौकिक वस्तु है। वह द्वैत-अद्वैत, भेद-अभेद—सबसे निराला, विलक्षण, अलौकिक तत्त्व है। प्रेम और आनन्द वस्तुतः एक ही वस्तु हैं। क्योंकि प्रेम होनेपर ही आनन्द होता है और जहाँ आनन्द होता है, वहीं प्रेम होता है।

सबकी एकता

सत्‌रूप परमात्माकी जो सत्ता है, जो सामान्यरूपसे सर्वत्र सर्वदा परिपूर्ण है, वही कृपापरवश हो भक्तोंपर अनुग्रह करनेके लिये श्रीविग्रह-रूपसे प्रकट होती है और जो सामान्य चिन्मय ज्ञानस्वरूप परमात्मा है, वही श्रीविग्रहके प्रकाशरूपसे प्रकट होता है तथा जो निरतिशय आनन्दघन परमात्मा है, वही श्रीविग्रहमें प्रेमरूपसे प्रकट होता है। जैसे सत्, चित्, आनन्द—ये तीनों शब्दतः अलग-अलग होनेपर भी वस्तुतः एक ही हैं और परमात्माके स्वरूप ही हैं, उसके विशेषण या उपाधि नहीं, उसी प्रकार साकार परमात्मा, उसका प्रकाश तथा प्रेम भी भिन्न-भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं।

प्रेम हरी को रूप है, त्यों हरि प्रेमस्वरूप।
एक होय दोमें लसै, ज्यों सूरज अरु धूप॥

तत्त्व-विवेचन

इस प्रकार परमात्माके सच्चिदानन्दघन निर्गुण निराकार, अस्ति-भाति-प्रियरूप सगुण निराकार, दिव्य विग्रह, प्रकाश और प्रेममय सगुण-साकार स्वरूपका तथा उन सबकी एकताका कुछ संकेत कराया गया। अब इनकी एकताके प्रतिपादक गीताके निम्न श्लोककी कुछ व्याख्या की जाती है।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥
(४।६)

भगवान् कहते हैं—'मैं अजन्मा और अविनाशीस्वरूप होते हुए भी तथा समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ।'

इस श्लोकमें भगवान्‌ने छः बातें कही हैं—तीन अपने स्वरूपके सम्बन्धमें, दो प्रकृतिके सम्बन्धमें और एक अवतार लेनेके सम्बन्धमें। ये क्रमशः इस प्रकार हैं—

मैं (१) अजन्मा होते हुए भी, (२) अविनाशी-स्वरूप होते हुए भी, (३) समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी, (४) अपनी प्रकृतिको अधीन करके, (५) अपनी योगमायासे, (६) प्रकट होता हूँ।

इन छहोंमेंसे 'अजन्मा' और 'अविनाशी होते हुए भी'—ये दो तो निर्गुण निराकारके तथा 'समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी'—यह सगुण निराकारका, एवं 'अपनी प्रकृतिको अधीन करके'—यह भगवान्‌के श्रीविग्रहके तत्त्वका द्योतक है। 'प्रकट होता हूँ'—इससे अपने साकाररूपसे प्रकट होनेकी बात कही है। इस प्रकार साकाररूपसे प्रकट होनेपर भी अभक्त उन्हें नहीं जान पाते; क्योंकि भगवान् योगमायासमावृत रहते हैं—यह बात भगवान्‌ने 'अपनी योगमायासे'—इस पदसे व्यक्त की है।

भगवान् अज अर्थात् जन्मरहित रहते हुए ही जन्म लेते हैं अर्थात् प्रकट होते हैं। जन्म लेनेपर भी भगवान्‌के 'अज'-पनेमें कभी किञ्चिन्मात्र भी कमी नहीं आती। भगवान् अव्ययात्मा यानी परिवर्तन, क्षय, विनाश आदि विकारोंसे सर्वथा रहित होते हुए ही लोगोंके सामनेसे अन्तर्धान हो जाते हैं; किन्तु अन्तर्धान हो जानेपर भी उनका अभाव नहीं हो जाता। इसी प्रकार प्राणिमात्रके एकमात्र महान् शासक—ईश्वर रहते हुए ही वे देशविशेषमें माता-पिताकी आज्ञाका पालन करनेवाले नाम-रूप-विशिष्ट मनुष्य बन जाते हैं; परन्तु मनुष्य बन जानेपर भी उनके शासकत्वमें कोई भी कमी नहीं आती। वे ही भगवान् अपनी प्रकृतिको अधीन करके प्रकट होते हैं; किन्तु इस प्रकार प्रकट होनेपर भी वे प्रकृतिके परतन्त्र नहीं हो जाते, बल्कि प्रकृति तो उनके अनुकूल चलनेवाली उनकी दासी ही बनी रहती है। वे अपनी योगमायाके द्वारा प्रकट होते हैं अर्थात् अपने ऊपर योगमायाका परदा रखकर प्रकट होते हैं, जिससे भगवान्‌की भक्तिसे रहित मूढ़लोग उन्हें नहीं जान पाते; परन्तु प्रेमी भक्तोंके लिये वह परदा नहीं रहता, वे तो उनके चिन्मय स्वरूपका ही दर्शन करते हैं।

इस श्लोकमें भगवान्ने अपने निर्गुण निराकार, सगुण निराकार एवं सगुण साकार स्वरूपकी एकता की है। भगवान् श्रीकृष्ण बतलाते हैं कि वह निर्गुण सच्चिदानन्दघन सर्वव्यापी परमात्मा मैं ही हूँ और मैं ही समय-समयपर साकार-रूपमें प्रकट होता हूँ। गीतामें कहा है—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥
(१४।२७)

'उस अविनाशी परब्रह्मका और अमृतका तथा नित्य-धर्मका और अखण्ड एकरस आनन्दका आश्रय मैं हूँ।'

यहाँ भगवान्ने अपने जिन-जिन रूपोंका वर्णन किया है, उनमेंसे अगर एक भी रूपके तत्त्वका ज्ञान हो जाय तो मनुष्य जीवन्मुक्त और कृतकृत्य हो जाता है। भगवान्ने गीतामें अपने किसी भी रूपके जाननेवालेको असम्मूढ—ज्ञानवान् और न जाननेवालेको मूढ बतलाया है। यह बात नीचे लिखे उद्धरणोंसे स्पष्ट हो जाती है।

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥
(गीता १०।३)

यहाँ भगवान्ने अपने 'अज'—जन्मरहित रूपको जाननेवालेका सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त होना बतलाया है तथा उसे सब मनुष्योंमें असम्मूढ—ज्ञानवान् बतलाया है।

मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्।
(गीता ७।२५)

यहाँ भगवान्ने अपनेको 'अज' न जाननेवालेको मूढ कहा है।

यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥
यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥
(गीता १५।१७, १९)

यहाँ भगवान्ने 'अव्यय' स्वरूपके जाननेवालेको असम्मूढ—ज्ञानवान् और सर्ववित् बतलाया है।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥
(गीता ७।२४-२५)

इन श्लोकोंमें 'अव्यय' स्वरूपके न जाननेवालेको बुद्धिहीन और मूढ कहा गया है।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥
(गीता ५।२९)

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥
(गीता १०।३)

यहाँ 'सर्वलोकमहेश्वर' रूपके जाननेवालेको शान्तिकी प्राप्ति बतलायी है और उसे असम्मूढ कहा गया है।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥
(गीता ९।११-१२)

यहाँ 'भूतमहेश्वर' रूपको न जाननेवालेको मूढ बतलाया है। और उनका बन्धन कहा है (१६।५)।

यहाँ एक बात ध्यान देनेकी है कि प्रकृति और माया—ये दो अलग-अलग तत्त्व हैं। प्रकृति परमात्माकी एक नित्य दिव्य शक्ति है और उस प्रकृतिके ही एक अविद्यामय अंशको अज्ञान या माया कहते हैं, जो प्रकृतिके कार्यरूप तीनों गुणोंवाली है। ज्ञानमार्गी इस प्रकृतिको विद्या कहते हैं और इस ब्रह्मविद्या—अध्यात्मविद्या (गीता १०।३२) का अवलम्बन लेकर अविद्याका नाश करके परमात्मतत्त्वका साक्षात्कार करते हैं तथा भक्तजन इसे भगवान्की भक्ति—दैवी सम्पत्ति कहते हैं, जिसका आश्रय लेकर वे भगवान्के दर्शन करते हैं। वही भगवान्की ओर ले जानेवाली भगवान्की दैवी प्रकृति है।

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥
(गीता ९।१३)

इसमें परमात्माकी दैवी प्रकृतिका आश्रय लेनेवालोंको महात्मा बतलाया है।

दैवी माया तो बन्धनकारक, दुस्तर, मोहित करनेवाली और परमात्माकी ओरसे दूर ले जानेवाली है। इसे ही अविद्या कहते हैं।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥
दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
(गीता ७ । १३-१४)

इस मायाका आश्रय लेनेवाले उस अव्यय परमात्माको नहीं जान पाते।

गीतामें खोज करनेपर यह बात सुस्पष्ट हो जाती है कि यह माया गुणमयी है। गुण मायासे उत्पन्न नहीं हैं। इनको तो भगवान्ने प्रकृतिसे उत्पन्न बतलाया है। यथा—

कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः। (३ । ५)
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्। (१३ । १९)
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्। (१३ । २१)
सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः। (१४ । ५)
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः। (१८ । ४०)

भगवान्ने मायाको गुणमयी बतलाया है, न कि प्रकृतिको। 'मयट्' प्रत्यय विकारार्थमें भी होता है, इसलिये यहाँ मायाको गुणोंका विकार माना है। प्रकृति तो मायासे क्या, गुणोंसे भी परेकी वस्तु है। इसीलिये भगवान् प्रकृतिको अधीन करके लीला-विग्रह धारण करते हुए भी मायिक या गुणमय नहीं हो जाते। वे तो सदा सर्वथा दिव्य, अमायिक, गुणातीत ही रहते हैं। पर मायाका परदा लेकर प्रकट होनेके कारण साधारण जीव उन्हें नहीं जान पाते और भगवान्को अपने समान ही मानने लगते हैं (गीता ७। २४; ९। ११)।

इस प्रकार माया और प्रकृति—ये दो अलग-अलग तत्त्व हैं और इनमें बड़ा भारी अन्तर है।

यहाँ यह बात समझनेकी है कि सगुण साकार परमात्मा अज, अव्यय और गुणातीत हैं। भगवान्का दिव्य विग्रह प्रकृतिजन्य तीनों गुणोंके अंदर नहीं है। भगवान्ने कहा है—

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥
(७ । १३)

'गुणोंके कार्यरूप सात्त्विक, राजस और तामस—इन तीनों प्रकारके भावोंसे यह सब संसार—प्राणिसमुदाय मोहित हो रहा है, इसीलिये इन तीनों गुणोंसे परे मुझ अविनाशी परमात्माको नहीं जानता।'

सगुण साकार भगवान् इन तीनों गुणोंसे अत्यन्त परे हैं। जब उनकी उपासना करनेसे ही मनुष्य गुणातीत हो जाता है, तब फिर वे स्वयं तीनों गुणोंसे परे हैं—इसमें तो सन्देह ही क्या है। भगवान् कहते हैं—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
(१४ । २६)

'जो पुरुष अव्यभिचारी भक्तियोगके द्वारा मुझको निरन्तर भजता है, वह इन तीनों गुणोंको भलीभाँति लाँघकर सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त होनेके योग्य बन जाता है।'

यदि साकार भगवान् तीनों गुणोंके अंदर होते तो उनकी उपासना करनेसे मनुष्य गुणातीत कैसे हो सकता। अतः भगवान्का दिव्य विग्रह मायिक नहीं है। यदि मायिक होता तो आत्मनिष्ठ ज्ञानीजनोंका उसमें आकर्षण क्योंकर होता। तत्त्वज्ञानी जनकजीका भी मन भगवान् श्रीराम और लक्ष्मणके स्वरूपको देखकर आकर्षित हो जाता है। गोस्वामी तुलसीदासजीने उनकी स्थितिका वर्णन करते हुए कहा है—

मूरति मधुर मनोहर देखी।
भयउ बिदेहु बिदेहु बिसेषी॥
प्रेम मगन मनु जानि नृपु करि बिबेकु धरि धीर।
बोलेउ मुनि पद नाइ सिरु गदगद गिरा गभीर॥
सहज बिराग रूप मनु मोरा।
थकित होत जिमि चंद चकोरा॥
इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा।
बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥
पुनि पुनि प्रभुहि चितव नरनाहू।
पुलक गात उर अधिक उछाहू॥

एक बार सनकादि ऋषि वैकुण्ठमें जा रहे थे, वहाँ भगवान्के द्वारपाल जय-विजयने उन्हें भीतर जानेसे रोका। तब सनकादिने उनको तीन जन्मोंतक राक्षस होनेका शाप दे दिया। भगवान् अपने अनुचरोंद्वारा श्रेष्ठ पुरुषोंका अपमान हुआ जानकर स्वयं लक्ष्मीसहित वहाँ पधारे। उस समय भगवान्-

के दर्शनसे उनकी जो दशा हुई, वह बड़ी विलक्षण थी । भागवतकार लिखते हैं—

तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्द-
किञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्दवायुः ।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां
संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः ॥
(३ । १५ । ४३)

'प्रणाम करनेपर उन कमलनेत्र भगवान्के चरणकमलके परागसे मिली हुई तुलसी-मञ्जरीकी हवाने उनके नासिका-छिद्रोंमें प्रवेश कर उन अक्षर परमात्मामें नित्य स्थित रहनेवाले ज्ञानी महात्माओंके भी चित्त और शरीरको क्षुब्ध कर दिया ।'

जिनका मन 'सहज विरागरूप' था, जिन्हें 'दुःखदोषानुदर्शनम्' की साधनापूर्वक वैराग्य करना नहीं पड़ता था, उन जनक और सनकादिकोंका चित्त भी भगवान्की ओर खिंच जाता है ! वे विलक्षण प्रेमार्णव भगवान् मायिक कैसे हो सकते हैं ।

इस निर्गुण और सगुण तत्त्वकी एकता बतलानेवाले श्लोकमें 'अपि' और 'सन्' पदोंके दो बार देनेका यह स्वारस्य है कि निर्गुण निराकार, सगुण निराकार और सगुण साकार वस्तुतः एक ही तत्त्व हैं । इनमें अनेकता तो साधकोंके दृष्टिभेदके ही कारण दीखती है । परमात्माका जो ध्यान, चिन्तन, धारणा, भावना और ज्ञान किया जाता है, वह सब मन-बुद्धिके द्वारा ही किया जाता है और परमात्मा वस्तुतः मन-बुद्धिसे अतीत हैं । अतः वृत्तिके द्वारा जो कुछ भी निश्चय किया जाता है, उससे परमात्मा वास्तवमें परे ही रह जाते हैं । इसलिये मन-बुद्धिसे पकड़ा हुआ परमात्माका कोई भी स्वरूप वास्तविक नहीं, कल्पित ही है । यद्यपि मन-बुद्धि परमात्माके यथार्थ स्वरूपतक नहीं पहुँच पाते, तथापि परमात्मा तो सर्वातीत होते हुए साधककी कल्पनामें भी मौजूद हैं ही; क्योंकि वे देश, काल, वस्तु, भाव और धारणा—सभीमें अविच्छिन्न रूपसे सदा ही विद्यमान हैं । तथा परमात्माकी प्राप्तिके लिये साधन करनेवाले पुरुषका लक्ष्य परमात्मा होनेके कारण उनके परम भावको समझकर सगुण, निर्गुण, साकार, निराकार किसी भी रूपकी कैसी भी भावना क्यों न की जाय, उसका भी फल परमात्माकी प्राप्ति ही होता है । अतः परमात्माकी प्राप्तिके उद्देश्यसे जो कुछ भी साधन किया जाता है, उसका फल वस्तुतः सत्यस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति ही होनेके कारण सभी साधन वस्तुतः सत्य ही हैं, कल्पित नहीं ।

परमात्मा सर्वत्र सर्वदा विद्यमान हैं, किन्तु लक्ष्य परमात्मा न रहनेके कारण ही मनुष्य शान्तिलाभसे वञ्चित रहता है । यदि उसका लक्ष्य परमात्मा हो जाय तो किसी भी शास्त्रोक्त उपायसे परम शान्तिकी प्राप्ति हो सकती है । किसी भी मार्गसे चला जाय, वास्तविक परमात्माकी प्राप्तिके बाद तो प्राप्त पुरुषोंकी स्थितिमें किञ्चिन्मात्र भी अन्तर नहीं होता, परन्तु साधनकालमें उपायभेदके कारण अन्तर रहता है तथा साधनकी अन्तिम सीमाकी प्राप्तिमें भी भेद रहता है । नीचे इस विषयमें कुछ लिखा जाता है ।

दर्शन, ज्ञान, प्रवेशका प्रकरण

सगुण साकार भगवान्की अनन्य भक्ति करनेवाले भक्तोंको परमात्माके दर्शन, उनका तत्त्वज्ञान और उनके स्वरूपकी प्राप्ति—तीनों होते हैं । भगवान्ने कहा है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥
(११ । ५४)

'परंतप अर्जुन ! अनन्य भक्तिके द्वारा इस प्रकार चतुर्भुज रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ ।'

सगुण निराकारकी उपासनाकी दो प्रणालियाँ होती हैं । एक तो परमात्मा सब जगह परिपूर्ण हैं और मैं उनका दास हूँ—इस प्रकारके भेद-भावपूर्वक की जाती है । यथा—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत ।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत ॥

दूसरी प्रणालीमें अभेदभाव रहता है, जिसका स्वरूप यह है कि सब परमात्मा ही है, मैं कोई उससे अलग वस्तु नहीं।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥
(१३ । ३०)

इन दोनोंमें भेद-प्रणालीसे चलनेवाला साधनकालमें भेद मानकर सिद्धिकालमें साध्यको अपनेसे अभिन्न भी मान सकता है और भिन्न भी । भिन्न माननेवाला तो उपर्युक्त सगुण साकारकी उपासनाके मार्गसे परमात्माके दर्शन कर तथा तत्त्वसे जानकर उन्हें प्राप्त कर लेता है और सिद्धिकालमें साध्यको अपनेसे अभिन्न माननेवाला परमात्माके स्वरूपको तत्त्वतः जानकर निर्गुण निराकारको प्राप्त हो जाता है । उसे साकार विग्रहकी भावना तथा दर्शनकी इच्छा न रहनेके कारण उनके दर्शन नहीं होते ।

सगुण साकारकी प्राप्तिमें नेत्रोंसे दर्शन, बुद्धिसे ज्ञान और

आत्मासे प्राप्ति—तीनों होते हैं और सगुण निराकारकी प्राप्तिमें केवल बुद्धिसे ज्ञान और आत्मासे प्राप्ति—दो ही होते हैं तथा मन-बुद्धिका विषय न होनेसे निर्गुण निराकारकी तो उपासना ही नहीं बन सकती, वहाँ तो केवल आत्मासे प्राप्ति ही होती है ।

साधनका आरम्भ सगुण-निराकारसे ही होता है ।

अभेद-भेदमार्ग-का वर्णन

साधनके मुख्य भेद दो ही हैं—अभेदोपासना और भेदोपासना अथवा यों कहें कि अभेद और भेदमार्ग ।

निर्गुण निराकारका उद्देश्य रखकर अभेदभावसे उपासना करनेमें मुख्य साधन है—एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही सर्वत्र सदा परिपूर्ण है, उसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है; सम्पूर्ण पदार्थ, क्रिया, भाव, व्यक्ति सभी मृगतृष्णाकी अथवा स्वप्नकी सृष्टिकी तरह केवल मायामय ही हैं—इस प्रकारकी वृत्तिको हर समय अटल बनाये रखना । यह भाव यदि बुद्धिमें अच्छी तरह न बैठें तो वह सच्चिदानन्दघन परमात्मा सर्वत्र सदा परिपूर्ण है—इस प्रकार परमात्माकी सत्ताको ही प्रधान लक्ष्य बनाकर साधन किया जा सकता है ।

सगुण उपासनामें भेदभाव ही मुख्य है और भेदभावमें ऊँची-सी-ऊँची स्थिति परमात्माके साकार स्वरूपके साक्षात् दर्शन होना है । इसके लिये निरन्तर साकार इष्टदेवके नामका जप और उनके स्वरूपका चिन्तन करना ही मुख्य साधन है । यदि साकार रूप ध्यानमें न आये, तो भी परम प्रेममय परम दयालु भगवान् सदा सर्वत्र विराजमान हैं, वे मेरे साथ चलते हैं, मेरे साथ प्रत्येक कार्य करते हैं और मुझे अपने आज्ञानुसार चलते देखकर प्रसन्न होते रहते हैं तथा बड़ी ही कृपादृष्टिसे मुझे देख रहे हैं, मैं इस प्रकार उनकी कृपादृष्टिमें रहकर ही सदा प्रसन्न रहता हुआ उन्हींके आज्ञानुसार चलता हूँ—इस तरह भगवान्की सत्ताको लक्ष्य बनाकर भी साधन किया जा सकता है ।

भेद-अभेद दोनों ही उपासनाएँ परमात्माकी सत्ताकी प्रधानता रखकर ही होती हैं, अतः ये सगुण निराकारसे ही आरम्भ होती हैं । अभेदोपासनामें तो ज्यों-ज्यों दूसरी विजातीय—प्रकृतिकी सत्ता हटती जाती है और जीव-ब्रह्मका भेद मिटता जाता है तथा वृत्तियाँ सूक्ष्म होती चली जाती हैं, त्यों-ही-त्यों वह उपासना ऊँची—श्रेष्ठ मानी जाती है । सगुण साकारकी उपासनामें ज्यों-ज्यों भगवान्का विग्रहात्मक रूप ध्यानमें आने लगता है, अर्थात् वृत्तियाँ विशेषरूपसे भगवदाकार बनती जाती हैं, जितना ही भगवान्का स्वरूप वृत्ति और इन्द्रियोंका विषय होता चला जाता है, उतनी ही वह उपासना ऊँची—श्रेष्ठ मानी जाती है ।

निर्गुण निराकारको लक्ष्य करके अभेदोपासना करनेवाले पुरुषकी उपासानकी पूर्णता होनेपर उसकी दृष्टिमें एक सच्चिदानन्दघन बोधस्वरूप परमात्मा ही रह जाते हैं । परमात्माके सिवा अन्य किसी भी वस्तुका संकल्प भी नहीं रहता । उसके ज्ञानमें अपनी तथा संसारकी सत्ता परमात्मासे भिन्न नहीं रहती । ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय—सभी एक परमात्मस्वरूप ही बन जाते हैं । तब वह कृतकृत्य हो जाता है ।

सगुण साकारकी उपासनाकी पूर्णता होनेपर भक्तको नेत्रोंसे भगवान्के दिव्य स्वरूपका साक्षात् दर्शन होता है, वह उनके विग्रहकी दिव्य गन्धका अनुभव करता है, उसमें भक्तोंके वे समस्त लक्षण घटने लग जाते हैं, जो भगवान्ने स्वयं गीता अध्याय १२ में श्लोक १३ से १९ तक कहे हैं । तथा भगवान्के प्रत्यक्ष मिलनके समय जो भी घटनाएँ होती हैं, वे बादमें भी सत्य ही प्रमाणित होती हैं—जैसे ध्रुवजीको शङ्ख छुआनेपर समस्त शास्त्रोंका ज्ञान हो जाना आदि ।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी अध्याय ३ श्लोक ३ में परमात्माकी प्राप्तिके दो स्वतन्त्र मार्ग बतलाये हैं—(१) सांख्यनिष्ठा और (२) योगनिष्ठा । ये दोनों ही मार्ग एक-दूसरेसे पूर्व-पश्चिमकी भाँति अत्यन्त भिन्न हैं; किन्तु ऐसा होनेपर भी दोनोंके द्वारा प्रापणीय वस्तु एक ही है (गीता ५ । ४-५)। सांख्ययोगी परमात्मासे अपनी कोई अलग सत्ता नहीं मानता तथा प्रकृतिसे उत्पन्न गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं—ऐसा समझकर मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाली समस्त क्रियाओंमें कर्तापनके अभिमानसे सर्वथा रहित होकर एक सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही अभिन्नभावसे नित्य स्थित रहता है । किन्तु कर्मयोगी साधनकालमें कर्म, कर्मफल, परमात्मा और अपनेको भिन्न-भिन्न मानकर फल और आसक्तिका त्याग करके भगवान्की आज्ञाके अनुसार भगवान्के लिये ही समस्त कर्मोंका आचरण करता है । इसलिये ये दोनों मार्ग एक-दूसरेसे सर्वथा भिन्न हैं ।

इस प्रकार एक-दूसरेसे सर्वथा भिन्न होनेके कारण एक पुरुष एक समयमें ही दोनोंका अनुष्ठान एक साथ नहीं कर सकता । हाँ, किसीकी रुचि हो तो पहले कर्मयोगका साधन करके फिर सांख्ययोगका साधन कर सकता है; परन्तु सांख्ययोग योगनिष्ठाका अङ्ग नहीं बन सकता, क्योंकि सांख्ययोगमें अभेददृष्टि रहती है । यदि किसी सांख्ययोगका साधन करनेवालेकी रुचि और मत बदल जायँ और

वह उस साधनको छोड़कर योगनिष्ठाका साधन करने लगे तो बात दूसरी है ।

उपसंहार

परमात्मा वास्तवमें भेद-अभेद दोनोंसे रहित हैं । परमात्मा निर्गुण भी हैं, सगुण भी हैं; निराकार भी हैं; साकार भी हैं; व्यक्त भी हैं, अव्यक्त भी हैं और इन सबसे रहित तथा विलक्षण भी हैं । जहाँ मन-बुद्धि नहीं पहुँच सकते, परमात्मा वहाँ भी हैं और परमात्माको लक्ष्य बनाकर मन-बुद्धिसे हम जिस किसी भी स्वरूपकी धारणा करते हैं, परमात्मा वहाँ भी हैं ही । इसलिये कोई भी मनुष्य परमात्माके इस तत्त्वको समझकर परमात्माकी प्राप्तिके लिये उनके किसी भी रूपको लक्ष्य बनाकर साधन करता है तो उसे परमात्माकी प्राप्ति अवश्य हो जाती है तथा प्राप्ति होनेके बाद ही वह उनके असली स्वरूपको समझता है । पर वहाँ यह कहना भी नहीं बन सकता; क्योंकि वह स्थिति देश, काल, वस्तुसे अतीत है और वहाँ ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेयकी त्रिपुटी नहीं है । पर यदि कोई यह समझे कि पहले परमात्माके इस तत्त्वको पूर्ण-रीतिसे जान लिया जाय और पीछे उपासना की जाय तो यह नहीं हो सकता; क्योंकि पूर्णरूपसे परमात्माका तत्त्व जान लेना तो उनकी प्राप्तिके बाद ही होता है, पहले तो शास्त्रों एवं महात्माओंके वचनोंपर विश्वास करके मन-बुद्धिके द्वारा वैसा ही मान लेना पड़ता है । इसीको शास्त्रोंमें श्रद्धा कहा है तथा श्रद्धा-विश्वासपूर्वक की गयी उपासना ही साधकको वास्तविक तत्त्व पूर्णतः समझानेमें समर्थ होती है ।

इसलिये साधकको भेद, अभेद या यों कहें कि भक्ति, ज्ञान—इनमेंसे किसी भी एक मार्गको पकड़कर श्रद्धा और तत्परताके साथ उसे तय करनेमें जल्दी-से-जल्दी लग जाना चाहिये । यह मानव-शरीर बहुत ही दुर्लभ है और इससे वह काम सिद्ध हो सकता है, जो देवयोनिमें भी आसानीसे नहीं हो सकता । परन्तु यह शरीर है अनित्य, इसलिये जल्दी ही सावधान होकर साधनमें लग जाना चाहिये । क्योंकि पारमार्थिक साधनके बिना केवल स्त्री-पुत्र, धन-जन, जमीन-मकान एवं भोग-सामग्रीके संग्रह और उपभोगमें ही समय बरबाद हो जाता है, जिससे पूर्वके पुण्य तथा पुण्यसे प्राप्त आयु तो नष्ट होती ही है, साथ ही आसक्ति और स्वार्थ रहनेके कारण न्याय-अन्यायका कोई खयाल न रहनेसे मनुष्य चौरासी लाख योनियों तथा नरककी प्राप्ति करानेवाले बड़े भारी पापोंको भी बटोरता रहता है, जिससे वह सदाके लिये दुखी बन जाता है । भोगोंके उपभोगसे आयु नष्ट होती है, समय बरबाद होता है, अन्तःकरणमें भोगोंके संस्कार जमते हैं, आदत बिगड़ जाती है, धन नष्ट होता है, पुण्य क्षीण होते हैं, शरीर निर्बल और रोगी हो जाता है, भोगोंमें ही रचे-पचे रहनेके कारण धर्मसञ्चय नहीं हो पाता और अन्यायसे भोग भोगनेपर तो पापोंका बोझ भी बढ़ता है । अतः इन असत् भोग-पदार्थोंकी ओर लक्ष्य न रखकर दुःख, अशान्ति, बन्धन, अल्पता, भय, उद्वेग, चिन्ता, शोक, जलन, ह्रास आदिसे सर्वथा रहित 'सत्' स्वरूप परमानन्दमय परमात्माकी प्राप्तिके लिये शीघ्राति-शीघ्र अपना सारा बल लगाकर प्रयत्न करना चाहिये; क्योंकि यह शरीर अनित्य है, न जाने कब प्राण चले जायँ । और यदि साधन न किया गया तो ऐसा मौका पुनः मिलना बहुत ही कठिन है । यह सुदुर्लभ मानव-शरीर और यह कलियुगका समय प्राप्त होनेपर भी जो मनुष्य सावधान नहीं होता, वह महान् हानि उठाता है । श्रुति कहती है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥
(केन० २ । ५)

'यदि इस मनुष्य-शरीरमें ही उस परमात्मतत्त्वको जान लिया तो सत्य है यानी उत्तम है; और यदि इस जन्ममें उसको नहीं जाना तो महान् हानि है । धीर पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें परमात्माका चिन्तन कर, परमात्माको समझकर इस देहको छोड़ अमृतस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं ।'

इसलिये मनुष्यको उचित है कि उस परमात्मतत्त्वको जाननेके लिये महापुरुषोंकी शरण लेकर सरल हृदयसे श्रद्धा-पूर्वक पूछकर उस तत्त्वको समझे और सब सन्देहोंका समाधान करके किंकर्तव्यविमूढताको सर्वथा छोड़कर उनके कहनेके अनुसार परमात्माकी प्राप्तिके लिये तत्पर हो जाय । श्रुति-भगवती घोषणा करती है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।
(कठ० १ । ३ । १४)

'उठो, जागो और श्रेष्ठ पुरुषोंको प्राप्त कर इस तत्त्वको जानो ।'

॥ हरिः ॐ तत्सत् ॥

सत्सङ्ग और दुःसङ्ग

सच्चा मित्र उसीको समझना चाहिये, जिसके समीप होनेसे श्रीकृष्णके सम्बन्धकी बातचीत करनेमें मनका उत्साह बढ़ता है; पर जो लोग असंख्य सांसारिक बन्धनोंको ही बढ़ाने और दृढ़ करनेकी चेष्टा किया करते हैं, वे 'मित्र' नामके भी योग्य नहीं हैं।

मनुष्य जब दुःसङ्गमें पड़ जाते हैं तब, प्रायः इच्छा न रहते हुए भी, प्रमाद कर बैठते हैं। सदा सत्सङ्ग पानेकी इच्छा करो; कोई चीज़ ऐसी नहीं, जो इच्छा करनेसे न मिले या जो अप्राप्य हो। इसलिये मेरी यह विनय है कि सत्सङ्ग मिले या न मिले, सत्सङ्गकी ही इच्छा करते रहो; और तब तुम आप ही यह देखोगे कि श्रीकृष्ण, जिनका संकल्प सदा पूरा हो, तुम्हारी इच्छा पूर्ण करेंगे। तब तुम एक क्षणमें स्वराट्, सम्राट् बन जाओगे और सदाके लिये तृप्त हो जाओगे। इस बातको सच मानो कि श्रीकृष्णके सङ्गमें भी जो लाभ दुर्लभ है, वह साधु-सङ्गमें अति सुलभ है। साधु अपना सब कुछ श्रीकृष्णके चरणोंमें उत्सर्ग किये हुए रहते हैं, इसीलिये श्रीकृष्णने भी उनका मान इतना बढ़ाया है। इसलिये मैं कहता हूँ, साधु-सङ्ग और साधु-सेवाको अपने जीवनका प्रधान लक्ष्य बना लो।

निश्चय कर लो कि जो लोग सांसारिक बातोंमें ही सदा सर्वथा लिप्त रहते हैं, उनका सङ्ग हम नहीं करेंगे और अपने हृदयकी सम्पूर्ण व्याकुलताके साथ भगवान्के भक्तोंको ही ढूँढा करेंगे।

अपने हृदयके अनुकूल साथी न मिले तो अकेले ही बने रहो।

'संसारके (संसारी) मित्रों' को सांसारिक प्रेम ही दान करो, पर 'हृदयके मित्रों'के लिये हार्दिक प्रेम बढ़ाते चलो। जिन्होंने 'हृदयेश्वर' के स्नेहका आस्वादन किया है और जो उनका कथन करनेमें प्रसन्न होते और रमते हैं, वे ही 'सच्चे मित्र' हैं। और जो लोग केवल तुम्हारे सांसारिक सुख-दुःखमें ही तुम्हारे साथ सहानुभूति रखते हैं, वे 'लौकिक मित्र' हैं। इसलिये यह ध्यानमें रहे कि जो चीज़ जिसकी नहीं है, उसे मत दो; उससे कोई भी सुखी न होगा।

बुरेका सङ्ग कभी विचारमें भी न आने दो और बुरे कर्मों और बुरे साथियोंको सदा सावधानीके साथ दूर ही रखो। चाहे इसके लिये तुम्हारे बड़े-से-बड़े प्रेमी भी तुम्हारे ऊपर दबाव क्यों न डालें।

बुरी बात-चीत, बुरे साथी—इन सबसे सदा बचो। सङ्ग उन्हींका करो, जिनके समीप होनेसे श्रीकृष्णका कथन श्रवण करनेमें मनका उत्साह बढ़ता है।*

* * *

---

* महात्मा हरनाथ इस युगके प्रसिद्ध महापुरुष थे। समस्त भारतमें उनके भक्त फैले हुए हैं। बम्बईमें 'हरनाथ-मिशन' उनके उपदेशोंका बड़ी सुन्दरताके साथ प्रचार कर रही है। उपर्युक्त लेख उसीके द्वारा प्रकाशित 'हरशिक्षामृत'का एक अध्याय है। जिनको महात्मा हरनाथके उपदेशोंसे लाभ उठाना हो, वे 'दी हरनाथ मिशन', ३६१ हार्नबी रोड, फोर्ट बम्बईको पत्र लिखें; वहाँसे वे अंगरेजी, गुजराती और हिन्दीका हरनाथ-साहित्य प्राप्त कर सकते हैं।

—सम्पादक

अपनी खोज तथा अमृतत्वकी प्राप्तिका उपाय

(लेखक—श्रीविश्वबन्धुजी 'सत्यार्थी')

अहो ! मैं संसारके त्रितापसे झुलसा जा रहा हूँ । आधिभौतिक ताप मेरे शरीरको जला रहा है, आधिदैविकका भय मेरुपर्वत-जैसा मेरे ऊपर लदा है । आध्यात्मिक तापसे मेरा मन बेचैन है । विषयोंकी तृष्णा अलग खींचती है; उनके बियोगका दुःख असह्य हो रहा है । क्या करूँ, कुछ वश नहीं चलता । किसकी शरणमें जाऊँ ? कौन मेरा रक्षक है ? चलूँ, एकान्तमें बैठकर विचार तो करूँ । अरे ! मैं क्या शरीर हूँ ? मैं तो शरीरका देखनेवाला शरीरसे भिन्न ही हूँ । मैं क्या इन्द्रियगण हूँ ? अहो ! मैं तो प्रत्येक इन्द्रियका ज्ञाता तथा स्वामी हूँ । मैं क्या मन हूँ ? नहीं-नहीं, मैं तो मनको जहाँ चाहे वहाँ भेज सकता हूँ; मैं तो मनका प्रेरक हूँ । अरे ! मैं क्या बुद्धि हूँ ? बुद्धि तो मुझको प्रत्यक्ष प्रतीत हो रही है, अच्छे-बुरेकी पहचान इसीके द्वारा होती है । तो फिर मैं क्या हूँ ? यह शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि पञ्चभूतोंके सत्त्व-रज-तम अंशको लेकर बने हुए हैं । कहीं इन्हीं पाँचों तत्त्वोंके मिश्रणसे तो मैं एक नयी चीज़ पैदा नहीं हो गया हूँ ? नहीं-नहीं, कदापि नहीं; मैं तो पञ्चभूतोंका अर्थात् आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वीका ज्ञाता हूँ । ये पाँचों तो जड हैं, इनमें ज्ञान है ही नहीं; जब कारण ही जड है तो कार्य कहाँसे ज्ञाता, चैतन्य हो जायगा । निश्चय ही मैं तो इन सबसे पृथक् हूँ । अहो ! मैं तो पञ्चभूतोंके परमाणुओंका भी द्रष्टा हूँ, ज्ञाता हूँ, जाननेवाला हूँ; इसलिये मैं परमाणुओंसे भी सूक्ष्मतम हूँ । ये पञ्चभूत परिवर्तनशील हैं । यह मेरा शरीर भी पञ्चभूतोंसे उत्पन्न होनेके कारण परिवर्तनशील है । परन्तु मैं परमाणुओंसे भी सूक्ष्म होनेके कारण अपरिवर्तनशील हूँ । कहते हैं, परमाणु नित्य हैं; इसमें नैयायिकादि शास्त्रज्ञोंका भी विरोध नहीं है । पाश्चात्त्य विज्ञानवेत्ता कान्ट आदि भी परमाणुसे आगे परिवर्तन स्वीकार नहीं करते; किन्तु मैं तो परमाणुओंसे भी सूक्ष्म हूँ; अतः मैं अपरिवर्तनशील और नित्य हूँ । मेरा कभी अभाव नहीं होता । मुझको न शस्त्र छेद सकते हैं न अग्नि जला सकती है, न जल गला सकता है और न हवा उड़ा सकती है । मैं तो नित्य, अविनाशी हूँ । गीतामें श्रीकृष्णभगवान्ने अर्जुनके प्रति कहा है—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥

(२ । २३-२४)

इस आत्माको न शस्त्र छेद सकते हैं न अग्नि जला सकती है, न जल गला सकता है और न हवा सुखा सकती है । यह आत्मा किसीसे भी छेदा नहीं जा सकता, न जलाया जा सकता है, न गलाया जा सकता है और न सुखाया जा सकता है । यह आत्मा नित्य, सर्वव्यापक, स्थिरस्वभाव, अचल और सदासे रहनेवाला है ।

अहाहा ! मैं कहाँ भूला हुआ भटक रहा था । मैं तो शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धिको ही अपना आपा मान रहा था । शरीरके दुःखसे दुखी हो रहा था । वास्तवमें यह मेरी भूल ही थी । मैं तो शरीरसे भिन्न, नित्य और अपरिवर्तनशील हूँ ।

अब मेरा आधिभौतिक और आधिदैविक ताप तो कुछ शान्त हो गया; परन्तु मेरे अंदर यह जिज्ञासा उठ खड़ी हुई है कि यह शरीर किसने बनाया है । यह तो बड़ा ही अद्भुत है । इसमें आँखें कैसी चमकीली बनायी गयी हैं, जो बाहरकी सभी वस्तुओंका अवलोकन करती हैं । शरीरके भीतर तो न जाने कैसा अद्भुत यन्त्र लगाया गया है कि बिना अग्नि जलाये ही भोजन पच जाता है और उसका रस बनकर खून, मांस, मज्जा, अस्थि आदिके रूपमें परिणत हो जाता है तथा अनुपयोगी भाग शरीरसे बाहर निकल जाता है । इसका बनानेवाला कौन है ? मेरे माता-पिताने भी इसे नहीं बनाया । मैं स्वयं तो बना ही कैसे सकता हूँ । मुझको तो कुछ पता ही नहीं । और यह संसार किसने रचा है ? यह तो बड़ा ही सुन्दर है; इसमें सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्रगण कैसी विलक्षण चीजें हैं, जो नित्यप्रति ठीक समयपर उदय होते हैं । ये सदा ही किसीके नियन्त्रणमें बँधे हुए हैं तथा समयसे एक क्षण भी इधर-उधर नहीं हो सकते । कैसा सुहावना पवन बह रहा है ! इसकी अद्भुतता तो अलौकिक ही है । जगह-जगह नदियाँ बह रही हैं, पर्वतोंपर कलकल-ध्वनि करते सोते बह रहे हैं । धन्य है इस रचनाको ! ऐसी सुन्दर रचना किसने की है ?

परन्तु इस प्रश्नका उत्तर भी विशेष कठिन नहीं है। रात-दिन इसका उत्तर किसी-न-किसीके मुखसे सुनायी देता रहता है 'कि संसारको जगत्पिता जगदीश्वर परमात्माने रचा है, जीवोंके शरीर भी उसीने बनाये हैं।' ठीक है, युक्तिसे भी सिद्ध हो गया कि जिसने हमारे शरीर और इस संसारका निर्माण किया है, वह जगत्पिता परमात्मा जीवसे भिन्न ही है।

किसी-किसीका कहना है कि संसार किसीने नहीं बनाया, यह स्वयं ही बन गया है। जैसे मिश्रीकी डली तोड़ी जाय तो त्रिकोणकी आकृतिके चिकने-चिकने दाने बिना बनाये ही बन जाते हैं, उसी प्रकार संसार भी स्वयं बन गया है। परन्तु ऐसा कहना निर्मूल है, मिश्रीके दानोंका निर्माण तो मिश्री बनाते समय ही हो जाता है।

निश्चय ही इस जगत्को जगत्पिता परमात्माने बनाया है। श्रुति भी यही प्रमाणित कर रही है—

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः॥
एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी॥

(मुण्डक० २। १। २-३)

वह ब्रह्म निश्चय ही प्रकाशमान, मूर्तिरहित पुरुष, बाहर-भीतर रहनेवाला, अजन्मा, प्राणरहित, मनोहीन, श्रेष्ठ और अक्षरसे भी परात्पर है। इस ब्रह्मसे ही प्राण उत्पन्न होता है और इसीसे मन, इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, तेज, जल और समस्त विश्वको धारण करनेवाली पृथ्वी उत्पन्न होती है।

श्रीमद्भागवतमें भी कहा है—

अस्राक्षीद् भगवान् विश्वं गुणमय्याऽऽत्ममायया।
तया संस्थापयत्येतद्भूयः प्रत्यपिधास्यति॥

(३। ७। ४)

'श्रीभगवान्‌ने अपनी त्रिगुणात्मिका मायाके द्वारा संसारकी रचना की है, उस मायाके द्वारा ही इसकी स्थापना अर्थात् पालन करते हैं और उसीसे संहार भी करेंगे।'

वेदान्तदर्शनमें भी लिखा है—

जन्माद्यस्य यतः ॥ (१। १। २)

'सम्पूर्ण जगत्‌का जन्म, स्थिति, प्रलय जिस सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् कारणरूप परमेश्वरसे होते हैं, वही ब्रह्म है।'

वेदमन्त्रमें भी आता है—

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवञ्च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः॥

(ऋग्वेद १०। १९१। ३)

'परमेश्वरने पूर्वकल्पके समान ही सूर्य-चन्द्र, दिव्यलोक, पृथ्वी और अन्तरिक्षादि लोकोंकी रचना की।'

इस प्रकार सृष्टिके रचयिताका तो पता लग गया। परन्तु मेरे हृदयमें तो पहलेसे भी अधिक खलबली पैदा हो गयी। मेरी व्याकुलता पहलेसे भी हजारगुनी बढ़ गयी। जिस परमपिता जगदीश्वरने संसारको बनाया है, न जाने वह कैसा अलौकिक होगा! जब संसार ही इतना अद्भुत है कि इसकी सौन्दर्य-छटाका वर्णन नहीं हो सकता, तब फिर उस परमात्माकी अलौकिकताका क्या ठिकाना होगा।

हाय! मैं अबोध किसकी शरण जाऊँ, किस प्रकार अपने स्वामी परमपिताके दर्शन करूँ? संसारमें मेरा कौन है? इस प्रकारकी जिज्ञासा कोई नयी बात नहीं है; इसका होना तो वेदसे भी प्रमाणित है। अथर्ववेदमें वर्णन आया है—

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्। सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखं स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः।

(अथर्व० १०। ७। १०)

'ऋचाएँ (ऋग्वेद) जिससे निकली हैं, यजुर्वेद जिससे उत्पन्न हुआ है, सामवेद जिसके रोमोंके सदृश है और अथर्ववेद जिसका मुख है, बताओ, वह ईश्वर कौन है?'

हे प्राणनाथ! जगत्पिता जगदीश्वर! मैं तुम्हारी ही शरण हूँ। प्रभो! आपके सिवा ऐसा कौन दयालु है, जो अंधे, बहरे, गूँगेको हृदयसे लगाये। मनुष्यकी तो सामर्थ्य ही क्या है जो तुम्हारा भेद समझ सके। करुणासिन्धो! अपना पता तो आप ही दे सकते हैं। नाथ! यह कोई मेरे मनकी कल्पना नहीं है। स्वयं आपने अपने श्रीमुखसे श्रुतिके द्वारा कहा है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम्॥

(कठ० १। २। २३)

'यह परमात्मा कहने-सुननेसे प्राप्त होने योग्य नहीं है;

न बुद्धिसे इसको प्राप्त किया जा सकता है न बहुत-से शास्त्रोंके ज्ञानसे । जिसके ऊपर प्रभुकी परम कृपा होती है, उसीको यह प्राप्त होने योग्य है और उसीको ये जगत्पिता परमात्मा अपना स्वरूप दिखा देते हैं ।'

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी भी कहते हैं—

तुम्हरिहि कृपाँ तुम्हहि रघुनंदन । जानहिं भगत भगत उर चंदन ॥

अतः नाथ ! मैं आपकी शरण हूँ । करुणासिन्धो ! आपकी करुणाका स्रोत निरन्तर अविच्छिन्नरूपसे प्रवाहित हो रहा है । मुझ-जैसे मलिनहृदय पुरुष उसका अनुभव नहीं कर सकते । जिनका हृदय आपका गुणानुवाद करते-करते निर्मल हो गया है, वे ही आपकी करुणाका अनुभव कर सकते हैं । जैसा कि श्रीवाल्मीकि मुनिजीने भगवान् श्रीरामसे कहा है—

काम कोह मद मान न मोहा । लोभ न छोभ न राग न द्रोहा ॥
जिन्ह कें कपट दंभ नहिं माया । तिन्ह के हृदयँ बसहु रघुराया ॥
सब के प्रिय सब के हितकारी । दुख सुख सरिस प्रसंसा गारी ॥
कहहिं सत्य प्रिय बचन बिचारी । जागत सोवत सरन तुम्हारी ॥
तुम्हहि छाड़ि गति दूसरि नाहीं । राम बसहु तिन्ह के मन माहीं ॥
जननी सम जानहिं पर नारी । धनु पराव बिष तें बिष भारी ॥
जे हरषहिं पर संपति देखी । दुखित होहिं पर बिपति बिसेषी ॥
जिन्हहि राम तुम्ह प्रानपिआरे । तिन्ह के मन सुभ सदन तुम्हारे ॥
गुन तुम्हार समुझइ निज दोसा । जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसा ॥

प्रभो ! उपर्युक्त गुण मुझ-जैसे तुच्छ व्यक्तिमें कैसे मिल सकते हैं, ये तो आपकी कृपाके ऊपर ही निर्भर हैं । कहा भी है—

यह गुन साधन तें नहिं होई । तुम्हरी कृपाँ पाव कोइ कोई ॥

अब तो सब प्रकार आप ही रक्षक हैं । आपने श्रीमुखसे गीतामें कहा है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥
(१८ । ६६)

'सारे धर्मोंको छोड़कर मेरी शरणमें आ जा; मैं तुझे सब पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू चिन्ता न कर ।'

प्राणनाथ ! धन्य है, आपके इस अनुग्रहका क्या ठिकाना है । आपकी असीम कृपा है । प्रभो ! जो आपकी शरणमें आ गये, उन्हें तो आपने अपनेमें ही मिला लिया । उनको तो आपने समस्त तापोंसे मुक्त कर दिया । आप स्वयं अमृतस्वरूप हैं, आपको प्राप्त होकर वे भी अमृतस्वरूप बन गये ।

सो जानइ जेहि देहु जनाई । जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई ॥

श्रुतियोंमें भी स्पष्ट वर्णन आया है—

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति ।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम ॥
(कठ० २ । १ । १५)

'जिस प्रकार शुद्ध जलमें डाला हुआ शुद्ध जल तद्रूप हो जाता है, इसी प्रकार परमात्माको जाननेवालेका आत्मा भी परमात्मरूप ही हो जाता है ।'

अन्यत्र और भी ऐसा ही लिखा है—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे-
ऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥

'जिस प्रकार बहती हुई नदियाँ समुद्रमें पहुँचकर नाम-रूपको छोड़ समुद्ररूप ही हो जाती हैं, वैसे ही परमात्माके प्राप्त होनेपर भक्त भी अपने नाम-रूपकी सत्तासे छूटकर परमात्मस्वरूप हो जाता है ।'

सच है, बिना प्रभुकी शरणमें आये जीवका उद्धार नहीं हो सकता । जो प्राणी नित्य-सुख, जीवन्मुक्ति, प्रभु-प्राप्ति चाहते हैं, उनको सर्वस्वका त्याग कर प्रभुकी शरणमें चले जाना चाहिये; तभी उन्हें अमृतत्वकी प्राप्ति हो सकती है ।

प्रभुकी असीम करुणा और जीवकी उद्दण्डता दोनों ही एक-एकसे बढ़कर हैं । फिर भी प्रभुके सम्मुख होते ही इस जीवकी उद्दण्डताका पता भी नहीं लगता । जिस प्रकार प्रकाशके होते ही अन्धकार नष्ट हो जाता है, ठीक उसी प्रकार प्रभुकी दृष्टि पड़ते ही इसकी समस्त उद्दण्डता और अविद्या छिन्न-भिन्न हो जाती है ।

प्रभु अव्यभिचारिणी भक्तिके भूखे हैं, बिना अव्यभिचारिणी भक्तिके वे रीझते ही नहीं—जैसा कि उन्होंने स्वयं कहा है—

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥
(गीता १३ । १०)

यही बड़ी कठिन बात है । मन निरन्तर प्रभुके भजन-ध्यानमें नहीं लगता । बहुत कुछ इच्छा होनेपर भी निरन्तर चिन्तन नहीं होता, अपि तु यह कभी-कभी प्रभुको छोड़कर विषयोंका चिन्तन करने लगता है ।

भगवान्के प्रिय सखा अर्जुनने भी ऐसा ही प्रश्न पूछा था । सम्भव है, उन्होंने इतर जीवोंके कल्याणके निमित्त ही वह प्रश्न पूछा हो; उन्हें स्वयं कुछ पूछनेकी आवश्यकता न रही हो । किन्तु यह ऐसी गोपनीय बात है, जो श्रद्धासे ही स्वीकार की जा सकती है । प्रत्यक्षमें तो यह प्रश्न श्रीअर्जुनका ही है । अर्जुन श्रीकृष्णभगवान्से पूछते हैं—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥

(गीता ३ । ३६)

'कृष्ण ! इच्छा न होनेपर भी—यह जाननेपर भी कि विषय दुःखके घर और क्षणिक हैं, न जाने किसकी प्रेरणासे यह जीव पाप करनेपर उतारू हो जाता है, मानो इसे किसीने बलात्कारसे उधर लगा दिया हो ।'

प्रश्न तो बड़ा ही सुन्दर है । यह स्थिति प्रत्येक जिज्ञासु भक्तके सम्मुख उपस्थित होती है । अवश्य यह प्रश्न अर्जुनका ही है; परन्तु वे तो उपलक्षणमात्र ही हैं, उन्होंने तो हम-जैसे जीवोंके कल्याणके लिये ही ऐसा पूछा है ।

अब करुणा-सिन्धु श्रीभगवान् इसका कैसा सुन्दर उत्तर देते हैं—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥
धूमेनाव्रियते वह्निर्यथाऽऽदर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥
आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥
तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥
इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥

(३ । ३७–४३)

श्रीकृष्णभगवान् कहते हैं—अर्जुन ! रजोगुणसे उत्पन्न काम—इच्छा, जो कि क्रोधका घर है, कभी तृप्त न होनेवाला और पापरूप है । इसे तुम अपना वैरी ही समझो । जिस प्रकार धुएँसे अग्नि, मैलसे दर्पण और जेरसे गर्भ ढका रहता है, उसी प्रकार इस कामनासे ज्ञान ढका हुआ है । भैया ! इसीसे ज्ञान ढका हुआ है, इसलिये यह काम ज्ञानियोंका नित्य वैरी है; इसकी तृप्ति अग्निकी तरह कभी नहीं होती । जिस प्रकार घी डालनेसे अग्नि प्रचण्ड हो जाती है, उसी प्रकार भोग भोगनेसे वासनाएँ और भी प्रबल हो जाती हैं । अब इस कामना अथवा वासनाके जीतनेका उपाय बतलाते हैं । जिस प्रकार शत्रुके जीतनेके लिये यह मालूम करना आवश्यक है कि शत्रु किस जगह रहता है, ताकि उसी स्थानपर कब्जा किया जाय, उसी तरह इस कामका स्थान इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि हैं । यह इन्हीं मन, इन्द्रियों और बुद्धिके द्वारा जिज्ञासुके ज्ञानको ढककर मोहमें फँसाये रहता है । इसलिये भगवान् कहते हैं कि सर्वप्रथम इन्द्रियोंको नियममें रखकर ज्ञान-विज्ञानके नाश करनेवाले इस कामको मारो । इन्द्रियोंसे भी बलवान् मन है और मनसे भी बढ़कर बुद्धि है । इसलिये इन्द्रियाँ, मन और बुद्धिसे परे आत्मतत्त्वको समझकर, इन तीनोंके ऊपर कब्जा करके कामरूप शत्रुको मार डालो ।

यह भय मत करो कि इन्द्रियाँ, मन और बुद्धिको वशमें करनेसे तुम्हारी कोई हानि हो जायगी । तुम तो नित्य ही इन तीनोंसे पृथक् हो ।

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः ।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥

(कठ० १ । ३ । ९)

'पवित्र बुद्धि जिसका सारथि है और मन जिसका वशीभूत है, वही भगवान्के परमधाम—मोक्षके मार्गको तय कर सकता है ।'

अतः अपने स्वरूपको पहचानकर समस्त कामनाओंका परित्याग करनेपर ही तीनों प्रकारके ताप शान्त हो सकते हैं और तभी परब्रह्मकी प्राप्ति सम्भव है ।

तू अपने आपको समझ

(लेखक—डाक्टर श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, डी० लिट्०)

मानव-जगत्का एक विशाल भाग इस कारण अधोगतिको प्राप्त हो रहा है कि उसे जो कार्य सम्पादन करना चाहिये, वह नहीं करता । अहो ! शोक है कि हम पूर्ण परिपक्व और बुद्धिमान् होकर भी उस मार्गका अनुसरण नहीं करते, जो कल्याणकारी है और जो जीवनमें सुखकी वृद्धि कर सकता है । थोड़े-से मोहके चक्रमें फँसकर हम अयोग्य कार्योंकी ओर प्रेरित होते हैं, उन्हें ही वास्तविक उन्नतिका मूल समझ अपने वास्तविक स्वरूपको भूले रहते हैं । माया-मोहका जाल हमें अविवेककी गलियोंमें इधर-उधर भटकाया करता है । इसी भोग और ऐश्वर्यमें हम निज जीवनकी इतिश्री कर देते हैं । कभी गहराईमें उतरकर आत्म-तत्त्वपर विचार नहीं करते । उफ् ! यह हमारी कैसी मूढ़ता है !

अनेक व्यक्ति इसी कारण उन्नति नहीं कर सके; क्योंकि उन्होंने अपने-आपको समझनेका प्रयत्न नहीं किया । वे स्वयं ही एक विषम प्रहेलिका बने हुए हैं । उन्होंने स्वयं अपनेको ऐसे बन्धनोंसे जकड़ रखा है कि इधर-उधर हिलने-डुलने, फैलनेके सब अवसर खो दिये हैं । वे अपने चारों ओर ऐसी दीवारें खड़ी किये हुए हैं कि उन्हें उन्मुक्त वायु उपलब्ध नहीं होती । मानवकी सृष्टि करनेवाली महान् शक्तिने प्रत्येक व्यक्तिके अन्तरमें एक ऐसी निगूढ़ इच्छाकी रचना की है, जिसका अनुसरण करनेसे वह अपने लक्ष्यपर शीघ्र पहुँच सकता है । यदि हम अत्यन्त एकाग्र होकर श्रद्धा-सहित इसे श्रवण करनेका प्रयत्न करें तो यह ईश्वरीय इच्छा स्फुरणके रूपमें हमें अवश्य प्रतीत होगी, सम्पद्में, विपद्में तथा प्रतिकूलताओंसे आबद्ध रहनेपर हमारी रक्षा करेगी और सदा-सर्वदा सन्मार्ग प्रदर्शित करती रहेगी । अन्तरात्माकी दिव्य प्रेरणामें बड़ा भारी बल है, जो भौतिक अवस्थाओंकी किञ्चित् भी परवा नहीं करता । जो व्यक्ति संसारके भोग-विलासकी प्रेरणाका तिरस्कार कर परमेश्वरको सर्वत्र उपस्थित मानता हुआ अन्तःप्रेरणाके मार्गपर आरूढ़ रहता है, उसे सहारेके लिये किसीका हाथ पकड़ने या टेकनेके लिये लाठी माँगनेकी आवश्यकता नहीं है ।

सफल जीवन व्यतीत करनेके अभिलाषीको तीन तत्त्वोंका अध्ययन करना अपेक्षित है । ईश्वरको प्रत्यक्ष करनेके हेतु उसे प्राचीन धर्मग्रन्थ, सृष्टि और अध्यात्म-की खोज करनी चाहिये । अपने-आपको पहचाननेके लिये उसे अपनी आत्मा, मनोवृत्तियाँ, स्वभाव तथा विचारोंका निरीक्षण करना चाहिये तथा अपने निकटवर्ती व्यक्तियोंसे स्नेह करनेके लिये समभाव उत्पन्न करनेवाली पुस्तकोंका पठन-पाठन करना चाहिये । इस प्रकारके अध्ययनसे आशा, विश्वास तथा उत्कृष्ट मानस स्थिति प्रकट होगी । इन तीनों विषयोंमें अपना अध्ययन सबसे अधिक महत्त्वका है । इसी कारण प्राचीन ग्रीक लोगोंने Know Thyself (अपने आपको पहचानो) —इसपर विशेष ज़ोर दिया है ।

जीवनमें अनेक बार ऐसे विषम अवसर उपस्थित होते हैं, जब मनुष्य यह निश्चय नहीं कर पाता कि क्या करे, किस ओर प्रवृत्त हो । ऐसे अवसरपर अन्तरात्माकी प्रेरणा ही सच्चे पथ-प्रदर्शकका कार्य करती है । जो मूढ़ व्यक्ति अपनी इस दिव्य शक्तिको जाग्रत् नहीं करते वरन् अन्तर्ध्वनि होते ही उसका गला घोंट देते हैं, उनमें यह निस्तेज हो जाती है । ऐसे मनुष्यका कोई स्वतन्त्र विचार नहीं होता, उनका विकास भी रुक-सा जाता है । साधारणतः खा-पकाकर ही वे जीवन-लीला समाप्त कर दिया करते हैं । वे उसी नारकीय स्थितिमें पड़े रहते हैं, जिसमें वे जन्म लेते हैं ।

हे अविनाशी आत्माओ ! तुम्हारे जीवनका ध्येय केवल खा-पकाकर जीवनकी इतिश्री कर देना ही नहीं है । तुम इस अस्थि-चर्मयुक्त शरीरमें प्रतीत होनेवाले क्षणिक आवेशोंके झमेलोंमें फँसे रहनेके लिये नहीं बने हो । तुम इस चञ्चल एवं अस्थिर मनकी छीना-झपटीमें लगे

रहनेके हेतु पृथ्वीपर नहीं आये हो। तुम्हारा जन्म स्वेच्छानुसार निरङ्कुश होकर विषय-वाटिकामें विचरनेके लिये नहीं हुआ है। तुम अपनी इन्द्रियोंके दास नहीं हो। तुम्हारी आदतें तुम्हें अपने हाथका खिलौना नहीं बना सकतीं। निम्न प्रवृत्तियोंमें इतनी शक्ति नहीं कि वे तुम्हारे ऊपर शासन कर सकें। प्रकृतिने तुम्हें यथेष्ट साधन अपनी अभीष्ट-सिद्धिके लिये प्रदान किये हैं। तुम जितने उच्च बनना चाहो, बन सकते हो। अपनेको दीन-हीन माननेसे तुम अपने उज्ज्वल भविष्यको कालिमामय बनाते हो। उठो, जाग जाओ और निज महत्ताको पहचानो। अपना अध्ययन करो। मनसे अलग होकर निरन्तर अपने मनके कार्योंको सूक्ष्म रीतिसे देखो। यह मनकी उछल-कूद ही तुम्हें अस्त-व्यस्त करती है——

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥
(गीता ६। ३४)

विचारोंको उत्पन्न करनेवाली कल्पनाशक्ति मनकी सर्जनशक्ति है——यदि तुम्हें उत्कृष्ट, स्वस्थ एवं दिव्यविचारका सर्जन करना है और विशेष विशाल वस्तुओंकी रचना करनी है, तो तुम्हें अपनी कल्पना-शक्तिको निर्मल, हितकारक तथा विस्तृत बना लेना चाहिये। जब तुम स्वयं अपने विषयमें खोज करने निकलो तो आत्मतत्त्वको समझनेमें, खोजनेमें और प्राप्त करनेमें तत्परतापूर्वक जुट जाओ। तुम दैवी अंशयुक्त हो——सत्, चित्, आनन्द हो। अपने असली स्वरूपको हृदयङ्गम करो। निष्फलता, आधि-व्याधियाँ अधिकांशमें निम्न विचारों, दूषित कल्पनाओंके ही फल हैं। अतएव अपने वास्तविक स्वरूपकी खोज करते समय कल्पना-शक्तिको पूर्णरूपसे निरामय रखनेके हेतु तुम्हें भय, क्रोध, तिरस्कार, शङ्का तथा अन्य दुविधामय मानसिक स्थितियोंका परित्याग करना होगा।

गीताके कर्मयोगकी महत्ता

(लेखक——डाक्टर कैलासनाथजी काटजू एम्० ए०, एल्-एल्० डी०)

गत साठ वर्षोंके भीतर हिंदू-समाजमें आश्चर्यजनक परिवर्तन हुआ है। इसके पूर्व हिंदू-समाजपर चारों ओरसे आक्रमण हो रहे थे। सबसे बड़ी दुर्घटना तो यह थी कि आधुनिक शिक्षित हिंदुओंकी दृष्टिमें ही हिंदूधर्म एक तुच्छ, तत्त्वहीन धर्म होकर गिर गया था; परन्तु ईश्वरकी कृपासे हिंदुओंकी आँखें खुलीं——वे समझने लगे कि उनका धर्म——जो वास्तवमें सनातन है, जिसने अनन्त कालसे हिंदूजातिकी मान-मर्यादाको बना रखा है——हम सबके लिये एक बड़े गौरवकी चीज है। गिरती हुई हिंदूजातिको प्रोत्साहित करनेमें आर्य-समाज, थियासाफिकल सोसाइटी और स्वामी विवेकानन्दद्वारा स्थापित रामकृष्ण-मिशनने बड़ा भाग लिया। इन्होंने हिंदूधर्मका झंडा विदेशोंमें ही नहीं फहराया वरं हिंदूजातिमें तीव्र जागृति उत्पन्न कर दी। यह सब ठीक है, लेकिन मेरे विचारमें जो एक नये जीवनकी लहर हम समस्त भारतवर्षमें——हिमालयसे कन्याकुमारीतक, जगन्नाथपुरीसे द्वारकातक——उठती हुई पाते हैं, वह सब श्रीकृष्णभगवान्की असीम कृपाका फल है। श्रीकृष्णभगवान्ने भगवद्गीतामें वचन दिया है कि युग-युगमें जब-जब आवश्यकता होती है और मनुष्य-जाति संकटमें पड़ती है तब-तब मैं प्रकट होकर उसका उद्धार करता हूँ——

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥

इस बार श्रीकृष्णभगवान्ने स्वयं किसी अवताररूपमें जन्म भले ही न लिया हो; परन्तु उनका भगवद्गीतारूपी उपदेश वर्तमान समयके लिये मानो एक अवतार है। मैं समझता हूँ कि हिंदूजातिके सारे इतिहासमें कभी श्रीमद्भगवद्गीताका इतना प्रचार नहीं हुआ, जितना इस समय हो रहा है। गीता सदासे

वेदों और उपनिषदोंका सार मानी गयी है । पर वह अबतक ब्राह्मणोंकी ही पूँजी थी । इस अटूट कोषकी कुंजी उन्हींके कब्जेमें थी । साधारण हिंदूजाति भिखारीकी तरह ऐसे अनमोल मोती कहाँसे पाती । पर अब तो गीताके सैकड़ों अनुवाद हो गये हैं और वह देशकी प्रत्येक भाषामें लोगोंको सुलभतासे प्राप्त है और अपने अमृतरससे प्यासोंकी प्यास बुझा रही है ।

निस्सन्देह गत चालीस वर्षोंमें गीताकी लाखों प्रतियाँ बिक गयी होंगी । हर हिंदू घरमें गीताकी प्रति मिलती है । दुःख और दर्दमें, आपत्ति और सङ्कटके समय प्रत्येक हिंदू इस प्रकार गीताकी शरणमें जाता है, जैसे बालक अपनी माँके पास ।

हिंदूजाति पहले बड़ी बिखरी हुई मालूम होती थी और सदा यह भय बना रहता था कि विदेशी सभ्यताका जो उसपर प्रहार हुआ है, उससे वह आच्छन्न न हो जाय । लेकिन गीताने हिंदूजातिको वास्तवमें बचा लिया और जैसे मनके एक सूतमें पिरोये हुए दीखते हैं, वैसे ही गीता समस्त हिंदूजातिके लिये एक सूतका काम देती है । हिंदुओंको सङ्गठित करने और रखनेमें गीताने चमत्कारिक कार्य किया ।

अब प्रश्न यह उठता है कि गीताका कौन-सा उपदेश इस समयमें हमको अपनी ओर जोरसे खींचता है और हमारे हृदयोंमें नयी स्फूर्ति सञ्चालित करता है । यों तो गीतामें सभी बातें मिलती हैं, सभी मार्ग बताये गये हैं और अधिकारके अनुसार सभी ठीक हैं । भगवान्ने कहा है कि इन सब मार्गोंपर श्रद्धा तथा दृढ़तासे चलनेवाले उसीके पास निःसन्देह पहुँचते हैं । ज्ञान-मार्ग, भक्ति-मार्ग और कर्म-मार्ग—सभी अच्छे हैं । वे प्रत्येकको अपने स्वभावानुकूल अच्छे लगते हैं और उसकी उन्नतिका कारण बनते हैं । विद्वानोंका यह भी कहना है कि भगवान्ने किसी एक मार्गको श्रेष्ठ और सबसे उत्तम नहीं बताया है । हर मार्ग अच्छा है—समय और कालको देखकर । कुरुक्षेत्रकी संग्राम-भूमिमें अर्जुनको उपदेश हुआ कि तू युद्ध कर, अपने स्वभावका कर्म कर । उस समय भक्ति-योग या ज्ञान-योगद्वारा अर्जुनकी और देशकी भलाई नहीं थी । भक्ति-योगका क्या कहना, और ज्ञान-योग तो भगवान्ने स्वयं ही कहा है कि दुर्लभ है, परन्तु है बहुत ही ऊँची चीज । दोनों ही अच्छे हैं और आत्माको शान्ति देनेवाले हैं । परन्तु साधारण विचारसे और साधारण दृष्टिमें मनुष्यजातिको उनसे अधिक लाभ होता दिखायी नहीं देता । भक्तोंका सत्सङ्ग और ज्ञानीके दर्शन स्वयं ही दुखी मनुष्यको सन्तोष देनेवाले होते हैं । परन्तु जो हमारे सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक कष्ट हैं, वे उनसे मिटते नहीं ।

गीताका जो उपदेश इस समय नयी जागृति पैदा कर रहा है, वह उसका कर्मयोगका उपदेश है । हिंदूजातिकी नैया बड़े भँवरोंमें चट्टानोंके भीतर पड़ गयी है । गीताने उसको बचा लिया है, पर अब भी वह मझधारमें है । चारों ओर घनान्धकार-सा मालूम होता है । हर तरफ प्रबल ऊँची-ऊँची लहरें उठ रही हैं, जो मानो हमको डुबा देंगी । किनारा अभी दूर है । नज़रोंसे ओझल मालूम पड़ता है । राजनीतिक स्थितिकी तो क्या चर्चा करूँ । अपने देशमें अपना राज्य ही नहीं और जब अपना राज्य ही नहीं तो धर्मका प्रचार, धर्मकी सेवा कैसे पूरी हो । आर्थिक स्थिति शोचनीय—भाई-बहिनोंको पूरा खाना तक नहीं मिलता, यह तो दरिद्रताका हाल है । मालूम नहीं हमारे पिछले कर्म कैसे थे, जिनका आज हमलोग फल भोग रहे हैं । ऐसी दुर्घटनामें कृष्णभगवान्की यही ध्वनि हमारे कानोंमें गूँजती है कि तू युद्ध कर, कर्म कर, इसीमें तेरी रक्षा है, इसीमें तेरा यश है, यह तो यज्ञ है । कुरुक्षेत्रका संग्राम नहीं, पर इस समय तो हिंदूजाति वास्तवमें उससे भी घोर संग्रामका मुकाबला कर रही है । इसी कारण हर हिंदूको, जो आँख और कान

रखता है, देशका हाल सुनने और देखनेके लिये उसको इस समय कर्मयोग ही सबसे श्रेष्ठ और उचित दिखायी देता है। महात्मा गांधीका सम्मान, जो हर हिंदूके हृदयमें है, इसी कारण है कि हम उनको आदर्श कर्मयोगी मानते हैं। कर्म कैसा होना चाहिये ? प्राणीमात्रके हितके लिये, अपने निजी स्वार्थके लिये नहीं। बस, कर्म किये जाओ, फलका भोक्ता तो ईश्वर है——

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥

मेरे विचारमें ये गीताके उपदेश पूजनीय हैं। हर हिंदूको अपनी शक्तिके अनुसार इनका अनुसरण करना चाहिये। हमारे पण्डित, विद्वान् एवं स्वामी-संन्यासियोंको हिंदू-जनता अपना गुरु और नेता मानती है; उन सबका धर्म मेरी तुच्छ दृष्टिमें इस समय यही है कि वे हिंदू-जातिको कर्म-मार्गकी ओर लगायें। भगवान्‌की सेवा सभी प्रकारसे होती है——राम-नामका जप करनेसे, मन्दिरोंमें सेवा, पूजा-पाठ करनेसे और कर्ममार्गद्वारा मनुष्य-जातिकी सेवा करनेसे।

हर मनुष्यमें श्रीकृष्णभगवान् साक्षात् वर्तमान हैं। प्रत्येक मनुष्यकी निष्काम सेवा करना स्वयं भगवान्‌की भक्तिसे सेवा करना है। और मनुष्यकी सेवा करनेमें अपने देशकी सेवा होती है और इस देश-सेवासे हमारे सम्पूर्ण सङ्कट कटेंगे, हमारा खोया हुआ राज हमारे हाथ आयेगा।

कोई यह न समझे कि कर्म-मार्गका रास्ता सहल है——नहीं, वह बड़ा ही कठिन है। कर्म तो सभी करते हैं और कर्म किये बिना कोई क्षणभर भी नहीं रह सकता; परन्तु कर्म निष्काम होना चाहिये, दूसरोंके हितके लिये। ऐसा कर्म करना आसान नहीं; उसके लिये बड़े संयम-नियमकी आवश्यकता है। ईश्वरकी बहुत उपासनाकी दरकार है, जिससे बुद्धि सन्मार्गकी ओर लगे और मनुष्य अपने स्वार्थके फंदोंसे मुक्त हो जाय। इसके लिये अपनी जीवन-चर्याको बदलना पड़ता है। भक्तोंके गुण गीताके बारहवें अध्यायमें भगवान्‌ने वर्णन किये हैं; जिनमें वैसे गुण हैं, उन्हींको निष्काम कर्म करनेकी प्रेरणा होती है। एक दिन या एक वर्षमें मनुष्यका स्वभाव नहीं बदलता, बल्कि लगातार कई जन्मोंके बड़े यत्नोंसे मनुष्यकी तबीअत उधर आकर्षित होती है और जिन जालोंसे वह जकड़ा हुआ है, उनसे वह निकल पड़ता है। हाँ, यदि मनुष्य दृढ़ताके साथ कर्ममार्गपर चलनेकी ठान ले और उधर ही मुख मोड़कर आकाङ्क्षाके साथ पग उठाता जाय तो अवश्य इस जन्ममें या अगले जन्मोंमें अपने मनोरथको सिद्ध करेगा और कर्मयोगीकी स्थितिको प्राप्त होगा। पूर्ण कर्मयोगी बनना तो किसी तपस्वीके लिये ही सम्भव है और उस अवस्थाको प्राप्त करनेके लिये मनुष्यको घर-बारका मोह छोड़ना, सन्तान और कुटुम्बकी शृङ्खलाओंको काटना आवश्यक हो जाता है। पर कोई भी गृहस्थाश्रममें रहकर यदि इस मार्गपर दृढ़ताके साथ चलना आरम्भ कर दे तो अवश्य उसकी भलाई होगी।

हमारे देशमें हर तरहकी समितियाँ और सम्प्रदाय बने हैं। देशमें अब ऐसी समिति, ऐसे संघकी आवश्यकता है, जो लोगोंमें प्रचार करे कि गीताकी शरणमें आओ और कर्मयोगद्वारा मुक्तिकी चेष्टा करो। 'कल्याण' हमारे देशमें बहुत वर्षोंसे एक समृद्धिशाली कार्य कर रहा है। लाखों घरोंमें उसकी पहुँच है। मैं नम्रतापूर्वक 'कल्याण'के पाठकोंसे निवेदन करूँगा कि जो मैंने ऊपर लिखा है, उसपर विचार करें। और कर्मयोगको अपने जीवनका आदर्श बनायें। बहुत-से सज्जनोंका यह विचार है कि गीताके और कर्मयोगके प्रचारके लिये कोई विशेष साधन करने चाहिये। इस विषयमें कुछ योजना भी हुई है। जो पाठक इसमें उत्साह रखते हों, वे कृपा करके मुझसे पत्रव्यवहार करें। मैं उनका बहुत अनुगृहीत होऊँगा।

राम और शूर्पणखा

(लेखक—श्रीकलिन्दजी शास्त्री; बी० ए०)

पञ्चवटीके मनोरम प्राङ्गणके बीच एक सुन्दर पर्णकुटीर है । उसके सामने ही एक विशाल शिला-खण्ड है, जिसपर सौन्दर्यके सजीव प्रतीक भगवान् राम, उनके वाम भागमें भगवती जानकी तथा दाहिनी ओर कुछ दूरीपर धनुर्धर लक्ष्मण विराजमान हैं । राम भक्तिके अमृतस्वरूप उपदेशद्वारा अनुज लक्ष्मण तथा प्राणेश्वरी सीताके हृदय-सुमनोंको प्रफुल्लित कर रहे हैं । भक्तिके साथ-ही-साथ वे ज्ञान एवं विरागकी गुप्त कथाओंका भी प्रकथन करते जा रहे हैं । इन रहस्यात्मक कथाओंके दिव्य प्रभावसे पञ्चवटीका सारा प्रदेश आनन्द-निकेतन बन रहा है——खग-कुलके कलरवसे आकाश-प्रदेश गूँज रहा है, लतिकाएँ अपने मनोऽनुकूल पादपोंकी रमणीय शाखाओंपर लहलहा रही हैं, समस्त वनस्पतियाँ फल-फूलोंसे सुसज्जित हो वसन्तका मधुर राग अलाप रही हैं । यहीं पञ्चवटीके प्रख्यात अभिनयका प्रथम दृश्य समाप्त होता है ।

द्वितीय दृश्यके प्रारम्भमें एक नूतन स्त्री-पात्रका प्रवेश होता है । लङ्केश्वर रावणकी भगिनी शूर्पणखा स्वेच्छानुसार घूमती-घामती पञ्चवटीके मनोहर प्रदेशमें आकर कोटि-काम-विजयी राम एवं लक्ष्मणके माधुर्य-मण्डित रूपका अवलोकन करती है । दिव्य सौन्दर्यपर दृष्टिपात करते ही उसकी समस्त स्त्री-सुलभ दुर्बलताएँ प्रकट हो उठती हैं । कामके शत-शत शरोंका सम्मिलित प्रहार उसके हृदयको क्षणमात्रमें ही क्षत-विक्षत कर डालता है——उसका राक्षसीय कठोर मन भी एक बार मानवीयताका चोगा पहन नारीकी विवशतासे आक्रान्त हो रो उठता है, लज्जाका चिरसंगी आवरण सहसा गिर जाता है । वह तत्काल ही अद्भुत मायाद्वारा अपने स्वाभाविक रूपका आश्चर्यजनक परिष्कार करती है तथा विविध वस्त्रालङ्कारोंसे विभूषित हो 'रति'के अजेय रूप-दर्पको भी जीत लेती है ।

फिर क्या था, वह इस प्रकार अनुपम सौन्दर्य-बलसे आशान्वित हो अनेक व्यामोहक विभ्रमोंके साथ उक्त शिला-खण्डकी ओर धीरे-धीरे बढ़ती है और रामके निकट जाते ही मधुरताके साथ मुसकराकर अपने गुप्त हार्दिक भावको सांकेतिक रीतिसे व्यक्त करती है । किन्तु 'भाववश्य' भगवान् भला, इस वञ्चकताकी ओर अकारण ही क्यों उन्मुख होने लगे ।

उधर बेचारी शूर्पणखा रामकी ओरसे कोई संकेत न पाकर अपना बचा-खुचा साहस भी खो बैठती है तथा अन्तमें अधीर हो कह उठती है——

'तुम्ह सम पुरुष न मो सम नारी ।'

पुरुष-जातिमें रामके सौन्दर्यकी अद्वितीयता तथा स्त्रीजातिमें अपने लावण्यकी अनुपमताका कथन कर वह रामके समक्ष प्रणयका स्पष्ट प्रस्ताव उपस्थित करती है, परन्तु भगवान् अब भी मौन हैं ।

फिर शूर्पणखा उक्त प्रस्तावकी क्रियात्मकतामें ही ब्रह्माके मनोरथकी भी पूर्ति बतलाती हुई कहती है——

'यह सँजोग बिधि रचा बिचारी ।'

अर्थात् पुरुष-वर्गमें रामको अनन्यसाधारण रूप प्रदान करने तथा स्त्री-वर्गमें शूर्पणखाको सर्वश्रेष्ठ सौन्दर्य-दान करनेका अर्थ यही है कि ब्रह्माने इन दोनों व्यक्तियोंका परस्पर दाम्पत्य-सम्बन्ध स्थिर करना चाहा है ।

शूर्पणखाकी यह उक्ति 'तुम्ह सम पुरुष न मो सम नारी' किसी प्रबल प्रमाणके अभावमें सत्य नहीं मानी जा सकती थी; इसलिये वह फिर कहती है——

मम अनुरूप पुरुष जग माहीं ।
देखेउँ खोजि लोक तिहुँ नाहीं ॥

और फलस्वरूप—

'ताते अब लगि रहेउँ कुमारी ।'

शूर्पणखाने उपर्युक्त कथनद्वारा यह तो बतला ही दिया कि त्रिलोकीमें रामके अतिरिक्त अन्य कोई पुरुष उसके अनुरूप नहीं है । किन्तु साथ-ही-साथ उसने इस बातका भी संकेत किया कि यदि राम कहीं उसकी प्रणय-प्रार्थना अस्वीकार कर बैठे, तो यह ध्रुव है कि उसकी सम्पूर्ण जीवन-यात्रा अविवाहित रूपमें ही व्यतीत होगी; क्योंकि वह किसी भी अननुरूप व्यक्तिसे दाम्पत्य-सम्बन्ध स्थापित न कर सकेगी ।

अब भगवान्के समक्ष एक विकट समस्या उपस्थित होती है । वे किसीके सत्य प्रेमका तिरस्कार नहीं कर सकते । उन्हें किसी भी रूपमें कोई प्राप्त कर सकता है । नारदकी बतलायी हुई एकादश आसक्तियोंमें 'कान्तासक्ति' का भी उल्लेख है । प्रेमी भगवान्को कान्त या कान्ताके रूपमें भी देख सकता है । शूर्पणखा यदि रामको कान्तरूपमें प्राप्त करना चाहती है तो यह उसकी कोई अनुचित कामना नहीं है । राम एकपत्नीव्रती होनेकी दुहाई देकर भी उक्त प्रणय-प्रार्थनाकी अवहेलना नहीं कर सकते; क्योंकि समस्त चराचरका अधिकार है कि वह भगवान्को जिस रूपमें देखना चाहे, देखे । फिर उनके एक पत्नीव्रती होनेका बहाना कैसा । यदि राम किसी एक ही व्यक्तिको स्वकीय मानकर शेष जीवोंके लिये अपना दरवाज़ा बंद कर लें, तब तो असंख्य भक्तोंके दिव्य मनोरथ सर्वदाके लिये प्रसुप्त ही रह जायँ ।

इधर लीलाधारी भगवान्के नेत्रोंके सामने शूर्पणखाका वास्तविक चित्र भी झूल रहा है । उन्हें यह भलीभाँति विदित है कि शूर्पणखाकी सारी उक्तियाँ अनर्गल हैं । उन्हें यह भी ज्ञात है कि उसका रोम-रोम वञ्चकता और मलिनताका अक्षय आगार है और उसमें क्षणिक मोहकी मादकताका ही एकाधिकार है । किन्तु यह सब कुछ जान-बूझकर भी वे उसके प्रेमका स्पष्ट अपमान कैसे कर सकते हैं; क्योंकि शूर्पणखाका सच्चा रूप तो केवल उन्हींको विदित है । संसारके समक्ष तो उसका केवल प्रेमरूप ही व्यक्त है । भला, संसार उसकी मायाका अद्भुत इतिहास क्या जाने ।

हर तरहसे सोच-विचार कर अन्तमें भगवान्ने संसारकी रङ्गभूमिपर शूर्पणखाके प्रेमकी कृत्रिमताका ही खुला प्रदर्शन उचित समझा । गोसाईंजीके शब्दोंमें—

सीतहि चितइ कही प्रभु बाता ।
अहै कुमार मोर लघु भ्राता ॥

रामने सीताकी ओर देखते हुए शूर्पणखाकी सारी उक्तियोंका एक ही वाक्यमें उत्तर दे दिया—'शूर्पणखे ! मैं तो सपत्नीक हूँ, किन्तु मेरा छोटा भाई लक्ष्मण पत्नी-विहीन है ।' इतना सुनना था कि शूर्पणखाकी सारी युक्तियाँ फीकी पड़ गयीं, उसके समस्त शस्त्रास्त्र कुंद हो चले और उसके नेत्रोंके सामने सापत्न्य-जीवनका दुःखमय दृश्य नाच उठा । सीताके लावण्यमय मुखपर उसने एक गहरी दृष्टि डाली । उसे यह विश्वास न हो सका कि वह सम्पूर्ण रामको अपने अनुपम सौन्दर्यद्वारा खरीद सकेगी । उसकी भावी सौत सीता भी उससे कुछ कम सुन्दर न थी । ऐसी दशामें रामके मनोमोहक माधुर्य-रसपर शूर्पणखाका ही एकाधिपत्य असम्भव था । इसके अतिरिक्त नारी-जाति स्वभावतयां सापत्न्य-जीवनसे घृणा करती है; शूर्पणखा भी नारी थी ।

एक बात और थी—शूर्पणखाका ध्यान रामने

एक ऐसे युवककी ओर आकृष्ट करा दिया था, जो रूप-वैभवमें किसीसे न्यून न था। उसे जब एक निरुपाधिक कुमारके साथ स्वच्छन्द विहार करनेका सुअवसर प्राप्त है तो वह सकण्टक जीवनके लिये लालायित क्यों हो। लक्ष्मणके सम्पूर्ण अङ्गोंपर उसने एक लोभभरी दृष्टि दौड़ायी। वह उनके लोकोत्तर रूप-माधुर्यका अवलोकन कर कृतकृत्य हो चली और आनन्दमय भावी दाम्पत्य-जीवनकी कोमल कल्पनामें विभोर हो उठी। उसने सोचा कि सौतके साथ दिन-रात झगड़ते रहनेसे तो कुमार लक्ष्मणके अलौकिक यौवन-रसका निष्कण्टक आस्वादन करना ही उत्तम है। फिर क्या था, वह रामसे विमुख हो लक्ष्मणकी ओर बढ़ चली।

ज्यों ही शूर्पणखाने रामका परित्याग कर लक्ष्मणकी ओर प्रस्थान किया, त्यों ही उसकी प्रणय-परीक्षा समाप्त हो चली। लक्ष्मणकी ओर उन्मुख हो उस अभागिनीने अपनी समस्त पूर्वोक्तियोंपर एकाएक पानी फेर दिया। उसके सारे पूर्वकथन—'तुम्ह सम पुरुष न मोसम नारी।' 'मम अनुरूप पुरुष जग माहीं। देखेउँ खोजि लोक तिहुँ नाहीं॥' तथा 'मन माना कछु तुम्हहि निहारी' इत्यादि वायुके एक हल्के-से झोंकेमें ही विलीन हो गये; उसका रामके प्रति प्रेमाधिकार सर्वदाके लिये दुष्प्राप्य हो चला। वह यदि केवल रामपर ही आसक्त होती, यदि उसकी आसक्तिमें स्थैर्य होता और यदि वह किसी प्रकारकी वणिग्वृत्तिके चक्करमें न आती तो यह निश्चय था कि भगवान्का अमृतोपम सहवास उसे मिल जाता, उसकी राक्षसीय भावना परिमार्जित हो देवत्वमें बदल जाती और वह 'दुर्गन्धा' से 'योजनगन्धा' बन जाती।

प्रेमकी सारी महत्ता केवल अनन्यतामें है। प्रेमी केवल एक आत्मा, एक हृदय और एक रूपका चिन्तन करता है; उसके व्यापार केवल एकके लिये होते हैं, उसकी मस्तिष्क-धारा केवल एक क्षेत्रमें प्रवाहित होती है और उसकी स्मृतियाँ केवल एक ही रूपमें उलझी रहती हैं—

एक भरोसो एक बल एक आस बिस्वास।
एक राम घनस्याम हित चातक तुलसीदास॥

जिस प्रेममें एकता नहीं, अनेकता है, वह प्रेम नहीं, व्यवसाय है। शूर्पणखाने व्यापार-चातुरीद्वारा भगवान्को प्राप्त करनेका दुस्साहस किया; किन्तु सत्यके अत्यन्ताभावमें भला, उसकी कोरी चातुरी कहाँतक सफल हो सकती थी। चातुर्य भौतिक सिद्धि-पथमें सहायक माना जा सकता है, किन्तु प्रेमके दिव्य मार्गमें वह सर्वदा घातक ही सिद्ध हुआ है। यही कारण है कि प्रेमका ढोंग रचनेवाली शूर्पणखा अन्तमें अपने नाक-कानसे भी वञ्चित कर दी जाती है, ताकि वह पुनः सौन्दर्य-प्रभावसे किसी अन्य पुरुषको छलनेका प्रयास न करे।

नवीन मनोविज्ञान और योग

(लेखक—पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम्० ए०, बी० टी०)

नवीन मनोविज्ञानने जो मनके स्वरूपपर प्रकाश डाला है, उससे भारतवर्षके योग-शास्त्रके सिद्धान्तोंकी मौलिकता प्रमाणित होती है। नवीन मनोविज्ञानके कथनानुसार हमारा प्रत्येक क्षणका अनुभव--चाहे वह प्रिय हो या अप्रिय, भला हो अथवा बुरा, अपने संस्कार मनपर अङ्कित कर जाता है। मन उस चलचित्रके सदृश है, जिसमें चलते-फिरते, बोलते, हँसते-रोते सब लोगोंके तथा स्थिर और गतिमान् सब पदार्थोंके चित्र बनते जाते हैं। ये चित्र सदा मनमें अङ्कित रहते हैं और हमारे व्यक्तित्वके बननेके कारण होते हैं। हमारा कोई भी अनुभव व्यर्थ नहीं जाता। हमारे बहुत-से अनुभव प्रयत्न करनेपर हमें स्मरण होते हैं और बहुत-से स्मृति-पटलपर नहीं आते; किन्तु स्मरण होनेवाले और स्मरण न होनेवाले सभी अनुभव हमारे मानसिक फिल्ममें विद्यमान रहते हैं। एक बार जो फिल्म बन जाती है, वह हमारे मनके किसी अदृश्य भागमें गुप्त रहती है। समय आनेपर यह फिल्म पुनः प्रकाशित होती है।

हमारे अनुभव दो प्रकारके होते हैं--प्रिय और अप्रिय। अपने अप्रिय अनुभवोंको हम भुला देनेकी चेष्टा करते हैं; किन्तु इन अप्रिय अनुभवोंके संस्कार हमारी इस चेष्टासे नष्ट नहीं होते, वे और भी अधिक दृढ़तासे मनपर अङ्कित हो जाते हैं। फिल्मके संस्कारोंमें और मनके संस्कारोंमें एक मौलिक भेद है। फिल्मके संस्कार अप्रकाशित अवस्थामें रहकर स्वयं कुछ कार्य नहीं करते। वे जबतक चित्र-पटके ऊपर प्रकाशित नहीं किये जाते, जैसे-के-तैसे निष्क्रिय अवस्थामें बने रहते हैं। किन्तु मनकी फिल्मके संस्कार क्रियमाण होते हैं। वे मनके अदृश्य भागमें रहकर भी कुछ-न-कुछ काम करते रहते हैं। वे सदा अपने-आप प्रकाशित होनेके लिये सचेष्ट रहते हैं तथा उनके प्रकाशित होनेमें बाधा डालनेवाली सत्ताके कार्यमें विघ्न डालते रहते हैं। इन संस्कारोंको जितना ही अधिक चेतन मनमें आनेसे रोका जाता है, ये उतने ही प्रयत्नके साथ चेतन मनपर आनेकी कोशिश करते हैं एवं ये शुभ और अशुभ संस्कार वासनाका रूप धारण कर लेते हैं। सभी वासनाओं (इच्छाओं) का मूल कारण मनका वातावरणके समीप आना है। अर्थात् हमारे मानसिक संस्कारोंके ऊपर हमारी इच्छा निर्भर रहती है।

जब हमारा चेतन मन किसी इच्छाको प्रयत्नपूर्वक प्रकाशित होनेसे दबाता है तो वह रूपान्तरित होकर प्रकाशित होती है। प्रत्येक वासना एक मानसिक शक्ति है। यह शक्ति जितनी ही दबायी जाती है, उसका बल उतना ही अधिक बढ़ जाता है और वह उतनी ही प्रबलताके साथ प्रकाशित होनेकी चेष्टा करती है। वह अपने प्रकाशनके लिये एक नये संस्कारका निर्माण कर लेती है। साङ्केतिक चेष्टाएँ, बीमारियाँ, अनर्गल बकना, स्वप्न, दिवा-स्वप्न, हिस्टीरिया तथा अनेक प्रकारकी विक्षिप्तता दबी हुई वासनाके प्रकाशित होनेके प्रयत्न-स्वरूप होती हैं। जब मनुष्य अपनी हार्दिक इच्छाके प्रतिकूल कोई कार्य करता है, तो उसके जीवनकी सरलता नष्ट हो जाती है और उसमें अनेक प्रकारकी विक्षिप्तता और शारीरिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

मनोविश्लेषण-विज्ञानने मनके तथा शरीरके रोगोंसे मुक्त होनेका उपाय बताया है। मनोविश्लेषण मानसिक चेष्टाओंका अध्ययन करके, उसके स्वप्नोंको जानकर व्यक्तिकी दबी हुई वासनाकी खोज करता है। इसी दबी वासनाको जब विक्षिप्त व्यक्तिके चेतनापर ले आया जाता है और उससे इसे स्वीकार करा लिया जाता है तो रोगका अन्त हो जाता है। फ्रायड महाशयके मनोविश्लेषणद्वारा चिकित्साका प्रधान कार्य मनकी दबी वासनाओंको रोगीकी चेतनाके समक्ष लानामात्र था; इसके लिये वे रोगीकी साङ्केतिक चेष्टाओं एवं स्वप्नोंका अध्ययन करते थे और सम्मोहन आदिके द्वारा दबी वासनाको जाननेकी चेष्टा करते थे। यह वासना जब रोगीके चेतन मनके समक्ष लायी जाती थी और उससे स्वीकार करायी जाती थी, तो उसके रोगका अन्त हो जाता था। फ्रायडकी इस विधिको रेचन-विधि (केथासिस) कहा जाता है।

होमर लेन महाशयने फ्रायडकी रेचनविधिसे काम तो लिया, किन्तु उन्होंने स्वास्थ्य-लाभ करनेके लिये मानसिक रेचनको पर्याप्त न समझा। मानसिक रेचन रोग (वासना) से मुक्त होनेका एक उपाय है; किन्तु स्थायी मानसिक स्वास्थ्यके लिये उन्होंने स्वास्थ्यवर्द्धक औषध देना उतना ही आवश्यक समझा, जितना कि रेचन। यह स्वास्थ्यवर्द्धक औषध मनमें नये सत्संस्कारोंको जमाना है। बुरे संस्कारोंका प्रतिकार भले संस्कारोंसे होता है। हम साधारण चिकित्सामें

देखते हैं कि बहुत-से जटिल रोगोंमें रेचन व्यर्थ ही नहीं, हानिकारक होता है और स्वास्थ्य-लाभके लिये स्वास्थ्यवर्द्धक ओषधियाँ देना आवश्यक होता है। ये ओषधियाँ अज्ञातरूपसे कार्य करती हैं और रोगीको मानसिक स्वास्थ्य प्रदान करनेमें समर्थ होती हैं। इसी तरह नये शुभ संस्कारोंका दृढ़ करना पुराने संस्कारोंका, जो रोगके रूपमें उद्भूत होते हैं, विनाशक होता है। होमर लेन महाशयकी इस प्रक्रियाको पुनः-शिक्षाकी प्रक्रिया (रि-एजुकेशन) कहा गया है। इस प्रक्रियाके द्वारा होमर लेनने बड़े-बड़े जटिल रोगियोंको उनके शारीरिक और मानसिक रोगोंसे मुक्त किया है।

इस तरह हम देखते हैं कि मनोविश्लेषण-विज्ञानने मानसिक रोगोंसे उन्मुक्त होनेके दो उपाय बताये हैं—एक अपनी वासनाओंकी आत्म-स्वीकृति और दूसरी नये शुभ संस्कारोंका दृढ़ करना। चित्त-विश्लेषण-विज्ञानने यह दर्शानेकी चेष्टा नहीं की है कि मनुष्य मानसिक यन्त्रणाकी सम्भावनासे सर्वथा कैसे मुक्त हो। स्वयं फ्रायड महाशयका इस विषयमें निष्कर्ष निराशात्मक है। उन्होंने अपनी 'डिसकन्टेन्ट्स ऑफ सिविलीजेशन' नामक पुस्तकमें यह दर्शाया है कि मनुष्य किसी प्रकार स्थायी शान्ति नहीं प्राप्त कर सकता। यदि वह अपनी पाशविक प्रकृतियोंका दमन करता है तो वह सभ्य भले ही कहा जाय; किन्तु उसके आन्तरिक मनमें असन्तोष रहता है, जिसके कारण अनेक रोगोंकी उत्पत्ति होती है। और यदि वह अपनी पाशविक इच्छाओंको बिना रोके मनमानी करने दे तो समाजमें किसी प्रकारका नियम न रहे; मनुष्य-समाज पशु-समाज-जैसा बर्बर हो जाय। सभ्यताका विकास प्राकृतिक इच्छाओंकी रुकावटसे होता है; सभ्यता वासनाओंके शोधका परिणाम है। पर वासनाओंके दमनसे मानसिक रोगोंकी उत्पत्ति भी होती है।

वासनाओंका पूर्णतः शोध करना सम्भव नहीं। ऐसी अवस्थामें मनुष्य असन्तोषसे किसी प्रकार भी नहीं बच सकता।

नवीन मनोविज्ञान जिस ध्येयकी प्राप्तिमें अपनी कमीकी अनुभूति करता है, योग उस ध्येयके प्राप्त करनेका योग्य साधन बताता है। नवीन मनोविज्ञान और योगमें कई बातोंमें समता है और कईमें विषमता है। नवीन मनोविज्ञानका ध्येय मानसिक चिकित्सा है, इसी तरह योगका ध्येय भी मानसिक चिकित्सा है। जिस प्रकार नवीन मनोविज्ञान मनकी खोज करता है, उसी प्रकार योग भी मनकी खोज करता है और जिस प्रकार नवीन मनोविज्ञानके पण्डित स्वास्थ्य-लाभके लिये अपनी वासनाओंकी आत्मस्वीकृति (रेचन) को तथा पुनः-शिक्षाको आवश्यक समझता है। पर दोनोंकी स्वास्थ्य-लाभकी प्रक्रियामें भौतिक भेद भी है। इनकी ओर ध्यान आकर्षित करना आवश्यक है।

नवीन मनोविज्ञान मानसिक स्वास्थ्य-लाभकी डाक्टरी विधि है। डाक्टर अपनेसे अतिरिक्त दूसरे रोगियोंकी चिकित्सामें कुशल होता है, वह अपने आपकी चिकित्सामें उतना कुशल नहीं होता। इसी तरह चित्त-विश्लेषक दूसरोंके चित्त-विश्लेषणमें जितनी कुशलता दिखाता है, आत्मज्ञानमें उतनी कुशलता नहीं दिखाता। योग आत्मज्ञानकी चेष्टाका नाम है। चित्त-विश्लेषक दूसरोंके मनके अध्ययनद्वारा अपने मनको जानता है। योगी अपने मनको समझकर दूसरेके मनकी गति-विधिका अनुमान करता है। नवीन मनोवैज्ञानिक पर-चिकित्सामें दत्तचित्त होता है। पर योगीके समक्ष एक ही रोगी है, जिसकी उसे भली प्रकारसे चिकित्सा करनी है और वह रोगी आप ही है। चित्त-विश्लेषककी दृष्टि बहिर्मुखी होती है जैसी कि प्रत्येक वैज्ञानिककी दृष्टि होती है। इसके प्रतिकूल योगीकी दृष्टि अन्तर्मुखी होती है, जो दार्शनिक दृष्टि है।

मनोविश्लेषक रोगके निदानके अध्ययनमें ही अधिक समय लगाता है; उसकी चिकित्सामें उतना समय नहीं लगाता। यह दृष्टि पाश्चात्य चिकित्सा-शास्त्रकी दृष्टि है; प्राच्य चिकित्सा-शास्त्रमें निदानके अध्ययनपर उतना जोर नहीं दिया जाता, जितना कि चिकित्सापर दिया जाता है। आयुर्वैदिक उपचारसे कितने ही रोग बिना निदानके सम्पूर्णतः समझे गये ही नष्ट हो जाते हैं। वैद्य कभी-कभी रोगको नहीं जानता, रोगके कारणको जानता है और वह इस कारणको हटानेकी चेष्टा करता है। कितने ही मनोविश्लेषक रोगसे रोगीको मुक्त करनेमें असमर्थ इसलिये होते हैं कि वे निदानका ही अध्ययन किया करते हैं।

मनोविश्लेषण-विज्ञान और योगकी दृष्टिका एक भेद यह है कि जहाँ मनोविश्लेषण रोगकी चिकित्सापर अपना ध्यान केन्द्रित करता है, योग रोगकी रोकपर ध्यान केन्द्रित करता है। रोगका रोकना उसकी चिकित्सासे कहीं अच्छा है। इस सिद्धान्तको ध्यानमें रखकर योग मनुष्योंको ऐसी

शिक्षा देता है; जिससे उन्हें मानसिक रोग उत्पन्न ही न हों । सभी मानसिक एवं शारीरिक रोगोंका कारण मनके कुसंस्कार होते हैं । कुसंस्कार प्रबल वासनाएँ बन जाते हैं, जिनके कारण अनेक रोगोंकी उत्पत्ति होती है । संस्कारोंकी प्रबलता बाह्य विषयोंमें रुचि रखनेके कारण होती है । जिस पदार्थमें जितनी अधिक रुचि दर्शायी जाती है, उसके संस्कार मनपर उतने ही प्रबल होते हैं । यह अमिट मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है । रुचिकी उत्पत्ति विषयोंके चिन्तनसे होती है; जिस विषयका हम जितना चिन्तन करते हैं, उसमें उतनी ही अधिक रुचि हो जाती है । यदि हम बाह्य विषयोंमें अपनी रुचि मिटाना चाहते हैं तो हमें अन्तर्मुखी होना पड़ेगा ।

योग मनुष्योंको सुखी बनानेका एक ही मार्ग बताता है । यह मार्ग विषय-विरत होना है । अभ्यास और वैराग्यके द्वारा मनुष्य अन्तर्मुखी होता है । हमारा मन बार-बार बाह्य विषयोंपर जाता है, उसे हमें बार-बार रोकना पड़ेगा । योगकी शिक्षाके अनुसार किसी विषयसे ममता जोड़ना अपने आपके लिये दुःखकी सृष्टि करना है । बार-बार बाह्य विषयोंका चिन्तन उनमें प्रीति उत्पन्न करता है, प्रीति होनेपर उन्हें पानेकी इच्छा उत्पन्न होती है । इच्छाके अतृप्त रहनेपर अनेक मानसिक रोग उत्पन्न होते हैं, मनुष्यकी बुद्धि नष्ट हो जाती है और उसके सुखका अन्त हो जाता है ।

योग नवीन मनोविज्ञानकी चिकित्साकी प्रक्रियाको अपनाता है । पर नवीन मनोविज्ञानकी विधि अधिकतर विश्लेषणात्मक है । डाक्टर होमर लेनको छोड़कर किसी भी चित्त-विश्लेषकने सृजनात्मक विधिका प्रयोग नहीं किया । फ्रायड महाशयने रेचन-विधि मात्रका ही प्रयोग किया । योग इस विधिको उतना लाभदायक नहीं समझता, जितना कि सृजनात्मक विधिको समझता है, जिसे डाक्टर होमर लेनने 'पुनःशिक्षा' के नामसे संकेत किया है । उस विधिकी उपयोगिता विश्लेषणात्मक विधिकी उपयोगितासे कहीं अधिक है । एक तरहसे देखा जाय तो योगकी विधि मनोविश्लेषकोंकी विधिसे कहीं सरल है । इसका अभ्यास कोई भी व्यक्ति कर सकता है और उसका फल हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष देख सकता है ।

प्रत्येक मानसिक ग्रन्थि किसी दुर्वासना वा दुर्भावनाके कारण उत्पन्न होती है । योग आदेश करता है कि इन दुर्भावनाओंके संस्कारोंके नष्ट करनेके लिये मनुष्यको प्रति भावना करनी चाहिये । आध्यात्मिक शान्तिके उपार्जनके लिये मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षाका अभ्यास करना आवश्यक है । ईर्ष्या, क्रोध और वैरजनित मानसिक ग्रन्थियोंका प्रतीकार मैत्री, करुणा और मुदिता भावनाके अभ्याससे होता है । उपेक्षा अहंकार-विनाशक है । पदार्थोंमें दोष-दृष्टि तथा उनकी नश्वरतापर विचार काम और लोभको नष्ट करते हैं । इस तरह हमारी अनेक मानसिक ग्रन्थियाँ विना चेतनाके समक्ष आप ही नष्ट हो जाती हैं ।

मनोविश्लेषण-विज्ञानके द्वारा अस्थायी रोगकी निवृत्ति होती है । योगके द्वारा मनुष्यके स्थायी रोगकी निवृत्ति होती है । सम्पूर्ण मानव-समाज क्लान्तचित्त रहता है । जब किसी विशेष व्यक्तिका मानसिक क्लेश अत्यधिक बढ़ जाता है, तब वह शारीरिक और मानसिक रोगोंके रूपमें उपस्थित होता है । पर जिन लोगोंको हम स्वस्थ समझते हैं, वे भी पूर्णतया रोगसे मुक्त नहीं हैं । वे अभी रोगी नहीं होते, पर उनके मनमें रोगकी तैयारी होती रहती है । मनुष्यका वास्तविक रोग मानसिक रोग है । यह रोग कभी व्यक्त होता है और कभी मनुष्यके अव्यक्त मनमें ही रहता है । जब यह रोग व्यक्त होता है, तब हम मनुष्यको रोगी कहते हैं । पर रोगका इस प्रकार व्यक्त होना वास्तविक रोगके लक्षणोंका दर्शन मात्र है । मानसिक तथा शारीरिक चिकित्सक प्रायः बाहरी रोगोंका उपचार ही किया करते हैं, इस प्रकारका उपचार रोगके लक्षणोंका उपचार करना है । योगी रोगकी जड़को नष्ट करनेकी चेष्टा करता है । उसकी चिकित्साका परिणाम तुरंत नहीं दिखायी देता; पर उसकी चिकित्सा स्थायी लाभ पहुँचाती है ।

मनुष्य अपने दृष्टिकोणको बदलकर ही स्थायी शान्ति लाभ कर सकता है । हमारा सुख हमारे अंदर है । इस सुखकी खोज आत्मासे बाहर की जाती है । यही मनोवृत्ति अनेकों प्रकारके मानसिक क्लेशोंका मूल कारण है । इस मनोवृत्तिके बदलनेपर स्थायी शान्तिकी प्राप्ति होती है । मनुष्यके मानसिक तथा शारीरिक रोग उसे आत्मचिन्तनके लिये बाध्य करते हैं । यदि मनुष्य अपने-आप ही आध्यात्मिक चिन्तनमें लग जाय तो उसे रोग ही न हों ।

यौगिक और नवीन मनोविज्ञानकी चिकित्साके परिणाम भी विरोधी हैं । एक मनुष्यको स्वावलम्बी बनाता है और दूसरा परावलम्बी । दूसरोंद्वारा की जानेवाली चिकित्सा आत्मविश्वासको शिथिल करती है; अपने-आप की गयी चिकित्सा आत्मविश्वासको दृढ़ करती है ।

श्रीकृष्ण-कृपा

[कविवर घनआनंदकृत अप्रकाशित 'कृपाकन्द-निबन्ध' से]

(१)

हरि ! तुम सौं पहिचानि को, मोहि लगाव न लेस[1] ।
इहिं उमंग फूल्यौ रहौं, बसौं कृपाके देस ॥

(२)

स्याम-सुजान[2]-हियें बसियै रहै नैननि त्यौं लसियै भरि भाइनि[3] ।
बैननि बीच बिलास करै मुसक्यान-सखी सौं रची[4] चित-चाइनि ॥
है बस जाके सदा घनआनँद ऐसी रसाल महा सुखदाइनि ।
चेरी भई मति मेरी निहारिकै सील-सरूप कृपा ठकुराइनि ॥

(३)

मोसे अनपहचानकौं, पहचानै हरि ! कौन ।
कृपा-कान मधि नैन ज्यौं, त्यौं पुकार मधि मौन[5] ॥

(४)

फीके सवाद परे सब ही अब ऐसो कछू रसपान कृपा को ।
नीरस मानि कहै न लहै गति, मोहि मिल्यौ मन मान कृपा को[6] ॥
रीझनि लै भिजियौ हियरा घनआनँद-स्याम-सुजान-कृपाकौं[7] ।
मोल लियौ बिन मोल, अमोल है प्रेम-पदारथ दान कृपा को ॥

(५)

सुख-सुदेसको राज लहि, भरा अमर अवनीस[8] ।
कृपा कृपानिधिकी सदा, छत्र हमारे सीस ॥

---

[1] अर्थात् मैं पहचाने जानेके योग्य नहीं हूँ । [2] चतुर-चूडामणि । [3] भावोंसे भरकर । [4] हिल-मिलकर । [5] जिस प्रकार आपके नेत्रोंमें कृपाके कान लगे हुए हैं, उसी प्रकार मेरी पुकार मौनमें है । [6] मुग्ध हुए मनको जबसे कृपाका मान प्राप्त हुआ है, तबसे वह मोक्षको नीरस मानकर उसे न माँगता है और न मिलनेपर लेता ही है । [7] कुशल-शिरोमणि श्रीकृष्णकी कृपाके आनन्दमय मेघने रीझिरूपी वृष्टिके द्वारा मेरे हृदयको रससिक्त कर दिया है । [8] हम अमर नरेश हो गये ।

परमार्थ-पत्रावली

(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

सादर हरिस्मरण । आपका २२ जूनका कृपापत्र मिला । आज-कल बुद्धिवादका युग है, इसका आपके ऊपर भी प्रभाव पड़ा है तथा इससे आपको खेद भी है—यह मालूम हुआ । यह सब होते हुए भी आप ईश्वरमें विश्वास रखते हैं, नित्य प्रति २५,००० प्रणव-मन्त्रका जप और गीतापाठ एवं सत्सङ्गादि भी करते हैं—यह बड़ी प्रसन्नताकी बात है । आपका आचार और मूर्त्तिपूजनमें विश्वास नहीं है, तथापि आप उसका विरोध नहीं करते—यह बहुत अच्छा है । लोकमें सब साधन सबके लिये नहीं होते । तथापि कोई साधन अपने लिये उपयोगी न होनेपर भी दूसरोंके लिये बहुत लाभदायक हो सकता है । इसलिये उसका विरोध नहीं करना चाहिये ।

आप लिखते हैं कि मेरा सच्चा झगड़ा साकार-निराकारका है । यह ठीक है कि कई बार भगवन्मूर्त्तिका दर्शन अपनी भावनाके अनुसार भी होता है; तथापि ऐसा नहीं समझना चाहिये कि भगवान्‌का कोई साकार स्वरूप है ही नहीं । यदि आप सूक्ष्मतासे विचार करेंगे तो संसारमें ऐसा एक भी पदार्थ नहीं है, जो साकार-निराकार उभयरूप न हो । साकारका अर्थ है इन्द्रियग्राह्य और निराकारका अर्थ है इन्द्रियातीत । वास्तवमें सभी इन्द्रियगोचर पदार्थ कारणावस्थामें इन्द्रियातीत हैं । देखिये, रसतन्मात्रा ही जल और बरफ बन जाती है । जिस समय वह बर्फके रूपमें है, उस समय भी उसमें सूक्ष्मरूपसे रसतन्मात्रताका अभाव नहीं है । हमारी नेत्रेन्द्रिय स्थूल है, इसलिये उसका उसे स्थूलरूप ही दिखायी देता है । इसी प्रकार जो पर्वत-वृक्षादि अत्यन्त स्थूल जान पड़ते हैं, मूलतः वे गन्धादि तन्मात्राओंके ही परिणत रूप हैं । इस प्रकार सारा स्थूल प्रपञ्च मूलतः इस समय भी पञ्च भूततन्मात्रोंके सिवा और कुछ नहीं है । इस बातको आप स्वप्नके दृष्टान्तसे अच्छी तरह समझ सकते हैं । स्वप्नावस्थामें सब पदार्थ स्थूल-से जान पड़ते हैं, परन्तु वास्तवमें वे मनःकल्पित होनेके कारण सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म हैं । वहाँ भी वे स्वप्न-परिकल्पित इन्द्रियोंके विषय होनेके कारण स्थूल जान पड़ते हैं । इस प्रकार जैसे स्वप्नावस्थाके पदार्थ स्थूल दिखायी देते हुए भी उसी कालमें सूक्ष्म भी हैं, उसी प्रकार जाग्रत् पदार्थ भी एक ही कालमें स्थूल भी हैं और सूक्ष्म भी । ये सूक्ष्मतन्मात्र भी मूलतः अहंकार तथा महत्तत्त्वके क्रमसे अव्यक्त प्रकृति ही हैं ।

इस प्रकार जब ये बाह्य और जड पदार्थ भी एक ही कालमें साकार और निराकार—उभयरूप हैं, तब इन सबके परमकारण सर्वसमर्थ श्रीभगवान् एक ही साथ साकार-निराकार—उभयरूप क्यों नहीं हो सकते । वास्तवमें तो इस दृश्यप्रपञ्चके रूपमें भी वे ही स्थित हैं । यह विश्वब्रह्माण्ड उन्हींका आधिभौतिक स्वरूप है, तथा इसमें उन्हींका स्वभाव प्रतिफलित हो रहा है । अतः वे साकार भी हैं, निराकार भी हैं और साकार-निराकारसे विलक्षण भी हैं ।

(२)

आपका १० जूनका कृपापत्र मिला । आपने जो प्रश्न किये हैं, उनके विषयमें मेरा जैसा विचार है नीचे लिखता हूँ—

(१) विद्यार्थीकी दिनचर्याके विषयमें पूछा, सो उसे ब्राह्ममुहूर्त्तमें प्रायः ५ बजेके लगभग शय्या त्याग देनी चाहिये । सूर्योदयसे पूर्व शौच, स्नान, सन्ध्यादिसे निवृत्त हो लेना चाहिये । यदि विद्यार्थी शूद्रवर्णका हो अथवा त्रिवर्णमें होनेपर भी उसका यज्ञोपवीत-संस्कार न हुआ हो तो उसे सन्ध्योपासन न करके केवल भगवन्नाम-जप करना चाहिये । द्विजातीय विद्यार्थीके लिये भी सन्ध्योपासनके पश्चात् गायत्री और भगवन्नामका जप करना आवश्यक है । इस प्रकार नित्यकर्मसे निवृत्त होकर व्यायाम और दुग्धपान करना चाहिये । फिर दोपहरतक अथवा पाठशालाका जैसा समय-विभाग हो, उसके अनुसार पाठ पढ़ना चाहिये । इसी बीचमें सुविधाके अनुसार भोजन भी कर लेना चाहिये । सायंकालमें खुली हवामें कुछ खेल खेलने भी बहुत जरूरी हैं । सायंकालमें स्नानके बाद सायंसन्ध्या करनी चाहिये । फिर ब्यालू करके पढ़े हुए पाठका अभ्यास करनेके अनन्तर दस बजेके लगभग सो जाना चाहिये । अपने पाठ्यक्रमके सिवा विद्यार्थियोंको गीतादि धार्मिक ग्रन्थोंका भी स्वाध्याय करना चाहिये तथा प्रातःकाल उठनेपर नित्यप्रति माता, पिता एवं अन्य गुरुजनोंको प्रणाम करना चाहिये ।

(२) ब्रह्मचर्य-पालन विद्यार्थियोंका प्रधान कर्त्तव्य है । इस अवस्थामें ब्रह्मचर्यको नष्ट करना तो अपने जीवनको ही बरबाद करना है । ब्रह्मचर्य-रक्षाके लिये नीचे लिखे नियमोंका विशेष रूपसे पालन करना चाहिये—

१. स्त्रियोंके संसर्गसे सब प्रकार दूर रहे । उनकी ओर देखना या उनसे हँसी-मजाक करना भी खतरेसे खाली नहीं है ।

२. सब प्रकारके कुसङ्गसे दूर रहना चाहिये । नाटक-सिनेमा देखना, स्त्रियोंके विषयमें चर्चा करना अथवा स्त्रियासक्त पुरुषोंसे मिलना भी इस व्रतमें बहुत घातक हैं ।

३. सब तरहकी शौकीनीसे दूर रहे । बढ़िया-बढ़िया वस्त्रोंका शौक, सिरपर केशविन्यास करना अथवा पान-सिगरेट आदि व्यवहार करना इसमें बहुत हानिकारक हैं ।

४. ब्रह्मचारीका आहार-विहार बहुत सात्त्विक होना चाहिये । मिर्च, खटाई, चाट, मिठाई आदिसे उसे दूर रहना चाहिये ।

५. जहाँतक बने, कभी खाली न रहे । खाली मस्तिष्कमें अनेक प्रकारके कुविचार घर कर लेते हैं; अतः उसे सर्वदा सत्सङ्ग, स्वाध्याय, सद्विचार और सेवादि सत्कार्योंमें लगे रहना चाहिये ।

(३) सात्त्विक आहारका विवरण श्रीगीताजीमें इस प्रकार दिया है—

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥
(१७ । ८)

अर्थात् जो पदार्थ आयु, मनोबल, शरीरिक शक्ति, सुख और रुचिकी वृद्धि करनेवाले, तथा सरस, चिकने, स्थायी शक्ति देनेवाले और प्रिय हों, वे सात्त्विक पुरुषोंको अच्छे लगते हैं । इस प्रकार घी, दूध, ताजे फल, गेहूँ, चावल, मूँग तथा शाक-तरकारी आदि जो सुपाच्य और शक्तिवर्धक पदार्थ हैं, इस कोटिमें आ सकते हैं ।

(४) यदि पढ़नेमें मन न लगे तो भी नियमपूर्वक पढ़ते ही रहना चाहिये । जो काम नियमपूर्वक किया जाता है, उसमें धीरे-धीरे मन भी लगने ही लगता है । अतः नियमपूर्वक अभ्यास करना ही मनके लगनेका एकमात्र साधन है ।

(५) आपने 'जो मम चरन सकहि सठ टारी । फिरहिं राम सीता मैं हारी ॥' इस चौपाईका उल्लेख करते हुए पूछा कि अंगदजीको रावणके सामने ऐसी बात कहनेका क्या अधिकार था, सो इसका सीधा अर्थ तो यह है कि यदि कोई दुष्ट मेरे पैरको उठा सकेगा तो राम और सीता तो लौट ही जायँगे; हाँ, मैं हार जाऊँगा । ऐसा कहनेमें तो कोई अधिकारका प्रश्न है ही नहीं । यदि इसका ऐसा अर्थ समझा जाय कि श्रीरामजी लौट जायँगे और मैं सीताजीको हार जाऊँगा, तो इसमें श्रीअंगदजीका दृढ़ आत्मविश्वास ही कारण था । उन्हें निश्चय था कि कोई भी राक्षस मेरा पैर उठा नहीं सकेगा; इसीसे उन्होंने ऐसी बड़ी बात कह डाली ।

आपके प्रश्नोंके उत्तरमें ऊपर जो कुछ लिखा गया है, संभव है उससे आपको कुछ सन्तोष हो सकेगा ।

'चरणोंमें'

तुम्हारे चरणोंमें घनश्याम ।
हों अर्पित मेरे सुख दुख औ भले बुरे सब काम ॥
ठोकरें जगकी खाकर नाथ ! जभी मैं आऊँ तेरे पास ।
आँसुओंसे भीगे मम नेत्र, तुझीसे तव पावें विश्वास ।
व्यथित मेरे उरका कंपन, तुझीमें प्रभु पावे आराम ॥ तुम्हारे० ॥
पिघलकर मेरे दुखसे देव ! मुझे दो जब तुम सुखका भार ।
कीर्ति या मदसे तव पथभ्रष्ट, क्षुद्र मेरा मन हो सविकार ।
वेदनाकी डोरीसे खींच, बुला लें चरण चारु सुखधाम ॥ तुम्हारे० ॥
तुम्हारे पद-रजका कञ्चन, मुझे दो हे दीनोंके नाथ !
तुम्हारी भक्ति-कामिनीका, गहूँ मैं लालायित हो हाथ ।
पानकर तव रूपासव नाथ ! मुदित मैं होऊँ पूरणकाम ॥ तुम्हारे० ॥

—मंगलबिहारी पाण्डेय

भक्त-गाथा

भक्तदेवी फूलीबाई

(लेखक—पं० श्रीअक्षयचन्द्रजी शर्मा साहित्यरत्न)

मारवाड़ वीरताके लिये विश्व-विश्रुत है। यहाँकी वीर-प्रसू भूमिमें अनेकों संत-महात्माओंने भी अपनी इहलोक-लीला की है, इसका अभी बहुत कम परिचय हो पाया है। यहाँके सिकता-समूहके नीचे भक्तिकी वेगवती सरिता उन्मादिनीकी तरह लहराकर लुप्तप्राय हो गयी है। यहाँके जिन भक्तोंका संसारको थोड़ा-सा परिचय मिला है, वे संख्यामें थोड़े होते हुए भी गुण-गरिमामें महान् हैं। महाराजा मानसिंहके मनोहर भजन और मेवाड़की मन्दाकिनी महामनस्विनी मीराके प्रेम-मदसे परिपूर्ण पद आज भी घर-घरमें गूँज रहे हैं। भक्तदेवी फूलीबाईका चरित्र भी भक्तोंके इतिहासमें अपना गौरव-पूर्ण विशिष्ट स्थान रखता है। फूलीबाईके चारु चरित्रका जितना अंश ज्ञात है, वही उसके चरित्रकी उच्चता, निर्भरता, निष्ठा और निश्चयका पूरा परिचय देनेके लिये पर्याप्त है।

जोधपुरके सुविख्यात नरेश महाराजा जसवन्तसिंह-जीके शासन-कालमें फूलीबाईकी साधना फूली-फली थी। महाराजा जसवन्तसिंह अपने समयके सबसे प्रतापी हिंदू-नरेश थे। वे उच्चकोटिके साहित्य-मर्मज्ञ और तत्त्व-ज्ञानसम्पन्न व्यक्ति थे। 'अपरोक्ष-सिद्धान्त', 'अनुभव-प्रकाश' तथा 'आनन्द-विलास' आदि आपकी प्रसिद्ध आध्यात्मिक कृतियाँ हैं। महाराजाका शासन-काल सं० १६९५ से १७३५ तक था, फूलीबाई भी इस बीचमें मौजूद थी। फूलीबाईकी जन्म-निधन-तिथि अज्ञात है। फूलीबाई मारवाड़के एक छोटेसे गाँवमें पैदा हुई थी। उसका लालन-पालन नानाके घर माँझवास नामक गाँवमें हुआ था। वह कृषक-बालिका थी। उसका बचपन खेतोंमें ही बीता।

एक दिन फूलीबाई 'भाता' (खेतको लेजाया जाने-वाला भोजन) लिये हुए खेतकी ओर जा रही थी। भगाँणा गाँवके सुप्रसिद्ध संत ज्ञानीजी उधरसे आ रहे थे। ज्ञानीजीने कृषक-कन्याकी ओर ध्यानसे देखा और उसके हृदयमें सोती हुई आध्यात्मिक भावनाको परखा। उनकी आँखोंके सामने फूलीबाईका भावी भव्य रूप झूलने लगा। ज्ञानीजीने कहा, 'बाई! मैं भूखा हूँ। मुझे थोड़ा भोजन चाहिये।' फूलीबाई रुकी, उसने श्रद्धासे मस्तक झुकाया और बड़ी भक्तिके साथ भोजन सामने रख दिया। ज्ञानीजीने भोजन करते हुए फूलीके सिरपर प्यारसे हाथ फेरा और राम-नामके अमृत-रसका उपदेश दिया। फूलीबाईने कृतज्ञतासे अपना सिर झुका लिया। वह 'राम-नाम' गुरु-मन्त्रको पाकर कृतकृत्य हो गयी। उसका हृदय जिसकी खोजमें बेचैन था, वह मानो आज वरदानरूपमें उसे मिल गया। फूलीबाईने तभीसे ज्ञानीजीको अपना आध्यात्मिक गुरु स्वीकार किया। उनके हाथों भगवद्-भजनकी रखी हुई चिनगारी फूलीकी सतत-साधना और अनन्य-भावनासे सुलग उठी, उसकी ज्वालामें कलुष-कल्मष जलकर छार हो गयें। फूलीका जीवन कुन्दनकी तरह जगमगा उठा।

उसके बाद फूलीबाई अपना समय एकान्त-चिन्तन और भगवद्-भजनमें व्यतीत करने लगी। उसका हृदय सांसारिक सुखों और भोगोंसे भागने लगा। फूलीबाई विवाहके योग्य हो गयी; पर नानाको न उसमें बाल-सुलभ चपलता दिखायी दी और न किशोरावस्थाके सुख-स्वप्नोंकी मादकता। नानाने विवाह करनेका निश्चय किया। फूलीने इसमें किसी प्रकारकी भी अनुरक्ति नहीं दिखायी। चुपचाप सगाई कर दी गयी और एक दिन बारात भी गाँवकी सीमापर आ गयी। फूली यह सुनकर भीत मृगीकी तरह चकित-विस्मित हो गयी। उसके हृदयमें विचार-मन्थन चलने लगा। उसने मन-ही-मन कहा—

'जानी आया गोरवे, फूली कियो बिचार।
सब संताँरो साहिबो, सो मेरो भरतार॥'

फूलीके हृदयमें तरह-तरहके संकल्प-विकल्प उठने लगे। उसने सोचा—मैं इस मुर्देसे क्या विवाह करूँ ! यह तो आज है, कल मर जायगा। फिर चिर-वैधव्य ! 'अमर-पुरुष'से ही विवाह क्यों न किया जाय। अन्तमें फूलीने 'अमर-पुरुष'से विवाह करनेका निश्चय किया। नानाको उसने स्पष्ट कह दिया कि मैं विवाह नहीं करूँगी। नानाने समझाया-बुझाया, पर फूलीने एक न सुनी। फूलीको उसके पूर्व-संस्कारोंने बल-संबल दिया। फूलीने स्पष्ट कहा—

'फूली कयो कुँवारी परणै, मैं तो पारब्रह्म पति शरणै।'

—'विवाह तो कुमारीका होता है। मेरा पति तो परब्रह्म है; फिर मैं दूसरा विवाह कैसे करूँ !'

इस तर्कके सामने नानाको झुकना पड़ा। उसने झुँझलाकर पूछा—बता, तेरा पति कहाँ है ? फूलीने उत्तर दिया—

'फूलीको परमेसर ऐसो, बेद-पुराण न जाणै कैसो।
जनम मरणमें नाहिन प्यारो, सो है फूलीको भरतारो॥'

फूलीने हिमालय-सी दृढ़ता दिखायी। बरात लौट गयी। गाँव-गाँवमें यह चर्चा फैल गयी। फूली अपने घरका काम-काज करती और अपना समय 'संत-समागम'में बिताने लगी। यहाँ राजमहिषी मीराँकी तरह 'संतन ढिग बैठ-बैठ' लोक-लाज खोनेकी न कोई विशेष आशङ्का थी और न भय-भीति। संतोंसे उसने बहुत कुछ पाया। दूर-दूरतक फूलीका नाम फैल गया। वह अपने-आपमें डूब गयी; उसे जो कुछ आत्म-रस मिला, उसके द्वारा उसके अध्यात्मका द्वार खुल गया। दूर-दूरसे चलकर साधुओंके दल-के-दल फूलीबाईके दर्शनके लिये आते। वह सबका यथोचित स्वागत-सत्कार करती।

एक बार एक साधु-मण्डली फूलीबाईका दर्शन कर काबुलकी ओर जा निकली। महाराजा जसवन्तसिंह भी उस समय उधर ही ससैन्य विचर रहे थे। महाराजाका पता लगनेपर साधुओंने आपसमें कानाफूँसी करनी शुरू की। वे आपसमें कहने लगे—'महाराजासे बातें न करना। ये फूलीबाईके देशके हैं। निःसन्देह कोई बड़े तत्त्व-ज्ञानी होंगे।'

'आप आप मत बोलियो, जसवँत बडो नरेस।
इण राजाका राज वाँ, जाँ फूलीको देस॥'

महाराजाने साधुओंको सादर पास बुलाया। फूलीबाईकी अनन्य भक्ति-भावनाका परिचय पाकर महाराजा बड़े प्रसन्न हुए और दर्शनके लिये लालायित हो गये। मौका पाकर मारवाड़की ओर चल पड़े। जोधपुर न जाकर सीधे 'माँझवास' पहुँचे। गाँवके किनारे फौजने डेरा डाल दिया। महाराजा पैदल फूलीबाईसे मिलने चल पड़े। फूलीबाई उस समय गृह-कार्यमें व्यस्त थी। वह गायोंके बाड़ेमें गोबर एकत्र कर रही थी और उससे थेपड़ी थाप (कण्डे बना) रही थी। महाराजा वहीं पहुँचे। महाराजाकी ओर उसने उड़ती नज़रसे देखा और फिर अपने काममें ऐसे लग गयी जैसे कुछ भी न हुआ हो। महाराजा पास आकर खड़े हो गये। जमीन ऊँची-नीची, गोबरसे भरी हुई और गंदी—महाराजाने एक दृष्टि डाली। वे पूर्ववत् चित्र-से खड़े रहे। इतनेमें अचानक गोबरका एक छींटा महाराजाके सुन्दर रत्नोंसे जगमग कौशेय वस्त्रोंपर आ लगा। वे सिकुड़े-सिमटे, झुँझलाये-से, ताड़ित-से होकर विस्फारित आँखोंसे फूलीकी ओर घूरने लगे। महाराजाका हाथ कपड़ोंसे दागको छुड़ानेमें लग गया। ठीक अवसर पाकर फूलीने अपनी गर्दन ऊपर उठाई और बोली—

रजोगुण तो नहिं गयो, आयो करण समाज॥
ऊँचो पीछो कहा करै, निहचल कर लै मन्न।
झुग्गो सिरकी पागड़ी, माटी मिलसी तन्न॥
माटी सूँ ही ऊपज्यो, फिर माटी हुय जाय।
फूली कहै राजा सुनो, करल्यो भजन-उपाय॥
स्वान-काग-जंबुक भखै, जल-बल होसी खेह।
ऐसी गंदी देह कूँ, ऊँचो करियो केह॥

—'बस इसी बल-बूतेपर मुझसे मिलने आये थे ?

'अब भी तुममें राजकीय रजोगुणी संस्कार प्रबल हैं। यह नाशवान् शरीर—-इसको क्या ऊँचा-नीचा कर रहे हो। अपने मनको वशमें करो। यह तुम्हारा चोगा, यह तुम्हारे मस्तकका मुकुट और यह तुम्हारा शरीर–ये सब एक दिन मिट्टीमें मिल जायँगे। फिर भी इनके प्रति इतना ममत्व! तुम मिट्टीसे बने हो, एक दिन मिट्टीमें ही मिल जाओगे। भजन करो—उबरनेका उपाय यही है। यह शरीर एक दिन जल-बलकर राख हो जायगा। कुत्ते, कौए और सियार इसको खा जायँगे। इतना गंदा शरीर—-फिर भी इतनी सार-सँभाल!'

फूलीके व्यंग्य वचनोंने महाराजाके पुस्तकीय अध्यात्म-ज्ञानपर तीव्र कशाघात किया। अपनेको सँभालते हुए महाराजाने एक और परीक्षा ली। फूलीकी बातें अनसुनी करते हुए महाराजाने भोलेपनके साथ पूछा—'फूली! तुम्हारा नाम फूली क्यों है?' भला, यह भी कोई प्रश्न था और इसका उत्तर भी क्या कुछ हो सकता है? पर फूलीने उत्तर दिया—'महाराज! जबतक साँस है, तबतक फूली तो क्या, पता नहीं और कितने ही नाम होंगे। जिस दिन इस शरीरसे छुटकारा मिलेगा, उस दिन तो एक ही नाम होगा—पूर्ण।'

महाराजा बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने फूलीबाईसे 'धर्म-बहिन' बननेके लिये कहा। पाँच मुहरें निकालकर देनेको आगे हाथ बढ़ाया। फूलीको जैसे मालूम हुआ—ये स्वर्णमुद्राएँ उसकी दीनताका उपहास है और उसकी निर्लोभताको एक जबर्दस्त चुनौती है। फूलीने कहा—

'महाराज! यह सब कुछ नहीं होगा। हमारा सम्बन्ध तो केवल भक्तिका है। आप मेरे घर आये हैं, मेरा ही रूखा-सूखा आतिथ्य स्वीकार कीजिये। मैं दीन-हीन जाटनी आपका राजसी आतिथ्य करनेमें असमर्थ हूँ। फिर भी, आपको मेरा प्रेम-परोसा भोजन स्वीकार करना होगा।

'दोय-दोय डबरा राबड़ी, दोय-दोय सोगर (बाजरेके रोट) राज।
रुच-रुच जीमो प्रीत सूँ, घर फूलीके आज॥'

महाराजा फूलीके प्रेमभरे आतिथ्यको न टाल सके। महाराजा सोचते थे—-यह दीन जाटनी हमारा आतिथ्य कैसे कर सकेगी। उस समय एक चमत्कार हुआ।

'जेता माणस तेती फूली, पातल-पातल पुरसै थूली।
राजा जसवँत इत-उत झाँकै, या साधाँ पत साहब राखै॥'

राजा जसवन्तसिंहजीका मुकुट-मण्डित मस्तक उस जाटनीके चरणोंमें झुक गया। महाराजाने हाथ जोड़कर प्रार्थना की, "बाई! आजसे तुम मेरी 'धर्म-बहिन' हो। मेरे साथ चलकर राजमहलोंको पवित्र करो तथा रानियोंका अपने अमृतभरे उपदेशोंसे उद्धार करो।"

महाराजा जसवन्तसिंह जोधपुर पहुँचे। फूलीबाईके आनेका संवाद राजमहलोंमें फैल गया। महल सजाये गये। रानियाँ वस्त्राभूषणोंसे सज-धजकर स्वागतके लिये तैयार थीं। इतनेमें साधारण गँवारू वेषमें एक स्त्री सीढ़ियोंसे होती महलोंमें घुसती दिखायी दी। रानियाँ चकित रह गयीं; वे सोचने लगीं, क्या इसीके स्वागत-सत्कारका इतना समारोह! उनका सिर चकराने लगा। एक गँवार जाटनी, ऊँचा-ऊँचा घुटनोंतक घाघरा, बाल जटाओंकी तरह उलझकर इधर-उधर बिखरे हुए—-जिनमें न कंघी न तेल। फूलीबाई निडर-निःसंकोच वानरीकी तरह उछलकर रानियोंके बीच बैठ गयी। फूलीने पहले-पहल यह राजकीय सज-धज देखी थी, पर वह चकित नहीं हुई। फूलीकी आँखोंने इस वैभवके पीछे छिपे हुए नाशके कङ्कालको देखा, इसलिये वह इस चमक-दमकसे अभिभूत नहीं हुई। रानियाँ उसको आँख फाड़कर देखने लगीं।

फूलीने समझाना शुरू किया—

'टगमग-टगमग थे काँई जोवो,
जनम अमोलक थे क्यूँ खोवो ॥'
'गहणो-गाँठो तनकी सोभा, काया काचो भाँडो ।
फूली कहै थे राम भजो नित, और उपाधी छाँडो ॥'
'राम भजो हे राणियाँ, कह्यो हमारो मान ।
भजन बिना भवमें सभी, सूकर स्वान समान ॥'
'चेतन भाँडो फूटसी, कहा कीजै सिणगार ।
इण त्रिषणा रे कारणै, फेरा फिरौ अपार ॥'
'क्या इंदर क्या राजवी, क्या सूकर क्या स्वान ।
फूली तीन्यूँ लोकमें, कामी एक समान ॥'
'राम सबद साँचो सदा, और सबद सब कूड़ ।
फूली कहै इण सबद बिन, पड़सी सिरपर धूड़ ॥'
'सायर ऊपर सिला तिराणी,
फूलीका पति सुणज्यो राणी ॥'

पर, फूलीके इन अनुभवभरे उपदेशोंको सौन्दर्य-सुरा और विलास-वारुणीके अथाह सागरमें डूबी हुई वे रानियाँ न समझ सकीं । फूली निराश हो गयी, उसे अपना श्रम बिना बीज ही खेतमें हल चलानेके समान निष्फल मालूम हुआ ।

'राम न बोलै राणियाँ, फूली कियो बिचार ।
उलट चलौ घर आपणे, लखै न सारा सार ॥'

फूलीबाई खिन्न होकर घर जानेको प्रस्तुत हो गयी । महाराजा जसवन्तसिंहजीको मालूम हुआ तो वे दौड़े आये । फूलीबाईसे स्नेहभरे अनुरोधके साथ रुकनेको कहा । महाराजा सांख्य-दर्शनके पारदर्शी विद्वान् थे, पर अनुभव-ज्ञानके सामने उसका मूल्य दो कौड़ी भी नहीं ! कबीरने इसी अनुभवपर तो शब्दके पण्डितोंको ललकारा था । फूलीबाई ठहर गयी । उपयुक्त पात्रको पाकर उसका हृदय फूल उठा । फूलीबाईने कुछ दिन रहकर ज्ञानोपदेश दिया । फूलीके उपदेशोंका सार गोस्वामी तुलसीदासजीके शब्दोंमें शास्त्र-वेद-विलोडितसे 'नवनीत'के समान निकलनेवाले 'राम-नाम'के रूपमें ही था ।

'राम बिना केहि कामको, सांख्य-जोग अभ्यास ।
फूली परमानंद बिन, कुण पूरैलो आस ॥'

फूलीको सिद्धिमें न विश्वास था और न वह उसकी महत्ता ही मानती थी—

'कोइ कंचन कर देत है, धरती अंबर दोय ।
फूली तो मानै नहीं, राम नाम बिन कोय ॥'

जप-तपको फूलीबाईने राम-भजन बिना व्यर्थ ही बतलाया है—

'बिना बीज हल फेरियाँ, फल नहीं पावै कोय ।'

राम-नामके बिना तीर्थ-भ्रमण भी किसी कामका नहीं—

'भ्रमको भूल्यो तीरथ जावै, भटका खाय उलट घर आवै ।
भ्रमको भूल्यो सेव करावै, अंतकाल पत्थर हो ज्यावै ॥'

अन्तमें फूलीबाईने राजासे सौ बातोंकी एक बात यह कही—

'सौ बाताँकी एक ही, सुन ले राजा बीर ।
सुरत तारमें पोयलै, राम-नामका हीर ॥'

फूलीके अनुभवभरे उपदेशोंसे राजाने ज्ञानका प्रकाश पाया । उनके ग्रन्थ-ज्ञानका दंभ दूर हो गया ।

सचमुच, धन्य है उस देशको, जहाँ फूलीने अपनी भक्ति-साधना की । ऐसे ही संत-महात्माओंके पावन चरित्र युग-युगतक अमर रहकर ज्ञानका प्रकाश फैलाते रहते हैं ।

अन्तमें हम भी 'फूलीबाई'के चारु चरित्रको पद्य-बद्ध कर गानेवाले संत कृष्णदासके शब्दोंमें कहेंगे—

'धन धन फूली देस घर, धन वह शहर मुकाम ।
जसवँतको संसय मिट्यो, निरभै पायो राम ॥'

कामके पत्र

(१)

किसीको दुःख पहुँचाकर सुखी मत होओ !

तुम्हारा पत्र मिला, समाचार जाने। इस समय सारा जगत् युद्धमय हो रहा है। जहाँ शस्त्रास्त्रोंसे प्रत्यक्ष लड़ाई नहीं हो रही है, वहाँ भी आज मानवका मन, उसकी चेष्टाएँ और उसके प्रयत्न सभी युद्धसे संश्लिष्ट हैं। तमाम वातावरण कलहपूर्ण है। ऐसी अवस्थामें यदि तुम्हारे यहाँ कलह हो तो इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं। पर तुमको चाहिये कि तुम सदा सावधान रहो और अपने आपको बचाये रखो। कठिन होनेपर भी बचे रहना असम्भव नहीं है। दृढ़ निश्चय और सावधानीकी आवश्यकता है।

किसीको दुःख पहुँचाकर अथवा किसीको दुखी देखकर सुखका अनुभव करना बहुत बड़ी भूल है। मैं तो ऐसा ही मानता हूँ कि दण्डसे अपराध घटते नहीं। अपराधोंका नाश होता है हृदय-परिवर्तनसे, और हृदय-परिवर्तन होता है प्रेमसे। भगवान्के नियमोंमें जो दण्ड है, वह नामसे 'दण्ड' होनेपर भी असलमें है 'प्रेम' ही; क्योंकि उसमें एकमात्र दण्डनीयके हितकी आकाङ्क्षा है। 'भगवान्के दण्ड' का किसी अंशमें अनुमान लगाना हो तो अपनी सन्तानको स्नेहमयी माताके द्वारा दिये जानेवाले दण्डसे लगाना चाहिये। माताका हृदय स्नेहसे सना होता है। वह कभी बच्चोंको डाँटती-मारती है तो इसी नीयतसे कि उनका हित हो और मारनेपर जब बच्चा रोने लगता है तब माँका हृदय भी पिघल जाता है। वह भी रोने लगती है, क्योंकि उससे बच्चेका दुःख देखा नहीं जाता। इसी प्रकार भगवान्के दण्डविधानमें भी उनका प्रेम और उनकी सहज दया भरी रहती है। यों भी कहा जा सकता है कि भगवान्के यहाँ 'दण्ड' है ही नहीं। वहाँ तो प्रेम-ही-प्रेम है, सौहार्द-ही-सौहार्द है। इसीसे भगवान्ने अपनेको प्राणीमात्रका (पापी-पुण्यात्मा, नीच-ऊँच—सभीका) 'सुहृद्' बतलाया है—'सुहृदं सर्वभूतानाम्'। अतएव दण्ड ही हो, हितकी नीयतसे होना चाहिये। हम आजकल जिसे 'दण्ड' कहते हैं, वह तो यथार्थमें द्वेषका परिणाम है। हम वस्तुतः अपराधीका सुधार नहीं करते, हम तो उसे दण्ड पाते देखकर—दुःखमें पड़े देखकर प्रसन्न होते हैं। हमें जो दूसरेके दुःखमें, उसके अहितमें प्रसन्नता होती है—यह प्रत्यक्ष विद्वेष है। द्वेष चाहता है—दुःख, कष्ट, अमङ्गल और विनाश; प्रेम चाहता है—सुख, समृद्धि, मङ्गल और जीवन! इसीसे द्वेषी मनुष्यको किसीके दुःख, अहित और विनाशमें सुख होता है और इसके विपरीत प्रेमीको किसीके सुख, उत्कर्ष, हित और जीवनमें सुख होता है। तुम प्रेमी बनो, द्वेषी नहीं। फिर किसीके द्वारा भी तुम्हारा अहित नहीं होगा और तुम्हें दुःख नहीं पहुँचेगा। क्योंकि मनुष्यको वही वस्तु अनन्तगुण होकर वापस मिलती है, जो वह देता है। एक ही बीजके असंख्य फल होते हैं।

भक्त अद्वेष्टा, मित्र और दयालु होता है

फिर जो पुरुष भगवान्की भक्ति प्राप्त करना चाहता है, उसके लिये तो भगवान्की वाणीका बहुत भारी महत्त्व होना चाहिये। भगवान्ने श्रीमद्भगवद्गीतामें भक्तके लक्षणोंका वर्णन करते हुए सबसे पहले कहा है—

'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।'

भक्त समस्त प्राणियोंके प्रति 'अद्वेष्टा' होता है, सबका 'मित्र' होता है और जहाँ दुःख देखता है, वहाँ तो उसकी करुणाकी सरितामें बाढ़ ही आ जाती है। जहाँ व्यवहारमें 'विरोध' का एक्टिंग करना पड़े, वहाँ भी द्वेष तो होना ही नहीं चाहिये। द्वेषका पता लगता है परिणामसे! तुमने जिसका विरोध किया, उसका अहित होनेपर—उसपर संकट पड़नेपर यदि तुम्हें प्रसन्नता या उपेक्षा भी होती है तो समझना चाहिये कि तुम भगवत्प्रीत्यर्थ या कर्तव्यकी दृष्टिसे केवल अभिनय (एक्टिंग) नहीं कर रहे थे, तुम्हारे मनमें द्वेष था। द्वेष न होता तो तुम्हें उसके अहितमें प्रसन्नता तो होती ही नहीं, उपेक्षा भी नहीं होती। क्योंकि भक्तके नाते तुम तो उसका हित ही करना चाहते थे। किसीके अहितकी तो तुम्हारे मनमें कल्पना भी नहीं होनी चाहिये, इसीसे भगवान्ने प्राणिमात्रके साथ मैत्रीभावसे बर्तनेकी आज्ञा दी है। मित्र भी मित्रके शत्रुको शत्रु मान लेता है, इसलिये 'दयालुता' की भी आवश्यकता है। दया मित्र-शत्रुका भेद नहीं करती। वह तो ऐसी वृत्ति है जो किसीका भी दुःख नहीं सहन कर सकती। अतएव भक्तके लिये सर्वथा 'अद्वेष्टा', 'मित्र' और 'दयापरायण' होना अनिवार्य है।

तुम इसी आदर्शको सामने रखकर आचरण करनेकी चेष्टा करो, फिर कलहका तुमपर कोई प्रभाव नहीं होगा।

धन-लिप्साका परिणाम संहार

तुम्हारा यह लिखना सर्वथा सत्य है कि 'आजकल धनकी लिप्सा बहुत बढ़ गयी है और इससे मनुष्य भगवान् तथा धर्मको भूल रहे हैं।' भौतिक सभ्यतामें, जिसका लक्ष्य केवल ऐहिक सुख है, ऐसा हुआ ही करता है। गीतोक्त असुर मानवका यही तो स्वरूप है। इसी मनोवृत्तिका परिणाम यूरोपका महान् संग्राम है और इसी मनोवृत्तिने लोककल्याणेच्छु विज्ञानको आज लोकसंहारमें लगा दिया है। अवश्य ही इसका अन्तिम परिणाम बुरा नहीं होगा, यह निश्चय है। यह तो समष्टि-शरीरका आपरेशन है, जो उसे निर्विकार—विशुद्ध करनेके लिये हो रहा है; परन्तु जबतक पूरी विशुद्धि नहीं होगी, तबतक महामारी, महायुद्ध, दैवी उपद्रव, दुःख, कष्ट, संहार, नरककी यातना, आसुरी योनियोंकी पीड़ा आदिके रूपमें आपरेशनका काम तो चलता ही रहेगा। अवश्य ही जो व्यक्ति चक्कीकी कीलीसे चिपट रहनेवाले अनाजके दानेकी तरह भगवान्का आश्रय पकड़ लेगा, वह इस आपरेशनसे बच जायगा।

धनकी दौड़में धर्मपर अविश्वास

भगवान्को प्राप्त करनेके अनेक साधन हैं—एक ही लक्ष्यतक पहुँचनेके अनेकों विभिन्न मार्ग हैं और अधिकारीभेदसे उनका होना अनिवार्य है; परन्तु सबका लक्ष्य एक 'सत्य' की प्राप्ति है। इसलिये उनमें बाहरी विरोध दीखनेपर भी असलमें कोई विरोध नहीं है। केवल साधनोंकी भिन्नता है—मार्गका भेद है। इसलिये कभी-कभी उनमें जो भ्रमवश द्वेष-सा दिखायी देता है, वह तो सत्सङ्गादिके द्वारा भ्रमका नाश होते ही नष्ट हो जाता है; परन्तु आजकलके लोगोंमें तो किसी भी धर्मपर—साधन-मार्गपर आस्था नहीं है, उनका तो लक्ष्य ही स्थिर नहीं है। उनके हृदयोंमें तो अनवरत केवल भोगोंकी—अर्थाकाङ्क्षाकी आग धधक रही है। वे लगातार एक-दूसरेसे आगे बढ़नेमें लगे हैं, और इसी दौड़में वे अपने असली लक्ष्यको भूलकर जहाँ-तहाँ भटक रहे हैं। इस दौड़का ही परिणाम है भगवान्की सत्तामें अविश्वास, भगवान्की अनावश्यकताका बोध, शास्त्र और धर्मकी अवहेलना, शास्त्र और शास्त्र माननेवालोंका उपहास, सच्चे साधु-संतोंकी अवज्ञा, मनमाना आचरण, धर्मध्वजीपन!

कपट-दम्भ भी बढ़ रहे हैं।

तुम्हारा यह लिखना भी ठीक है कि 'पहलेकी अपेक्षा इस समय धर्मकी चर्चा, गीताका प्रचार, हरिनाम-कीर्तन आदि बहुत बढ़ गये हैं।' यों तो गीता और हरिकीर्तनका प्रचार किसी भी नीयतसे हो, अन्तमें उसका परिणाम अच्छा ही होगा। और कलियुगमें केवल हरिनाम ही जीवोंके कल्याणका एकमात्र साधन रहेगा। इसलिये युगधर्मके अनुसार भी ऐसा होना ठीक ही है। परन्तु ज़रा गहरी नज़रसे देखोगे तो पता लगेगा कि धर्म-चर्चा आदिके साथ-ही-साथ कपट, दम्भ, छल, धोखेबाजी, बेईमानी, नीच कामना और धन-मानकी दुर्जर दुराकाङ्क्षा आदिका प्रवाह भी बहुत अधिक बढ़ गया है। कहनी और करनीमें, वाणी और हृदयमें बहुत बड़ा अन्तर पड़ गया है। स्वाँग बढ़े हैं, असलियत घटी है। सरल श्रद्धा तो मर-सी गयी है। इसीसे वास्तविक फल भी कम ही दिखायी पड़ता है। आज कहीं तो आस्तिकताके नामपर नास्तिकताका प्रचार हो रहा है और कहीं मरुभूमिकी मरीचिकाके सदृश प्रेमभक्तिके मिथ्या हाव-भाव दिखाकर सरलहृदय नर-नारियोंकी श्रद्धाभक्तिका दुरुपयोग किया जा रहा है। सचमुच इस समय बड़ा ही दुर्दिन है!

सभीको भगवान्की आवश्यकता है।

एक बात निश्चय समझ रखो कि कोई किसी भी क्षेत्रमें हो—ज्ञानी हो, भक्त हो, कर्मयोगी हो, योगी हो, बैरागी हो, धनी हो, दरिद्र हो अथवा पापी-दुराचारी हो—सबके अभीष्ट तो एकमात्र नित्य परमानन्दघन भगवान् ही हैं। इसीलिये उन रसिकशेखर प्रभुकी जबतक प्राप्ति नहीं होती, तबतक जीवको कहीं तृप्तिका बोध नहीं होता। जगत्की ऊँची-से-ऊँची स्थितिमें भी वह किसी अपूर्णताका, किसी कमीका अनुभव करता है। अनित्य और अपूर्णसे उसकी तृप्ति होती ही नहीं। इसीलिये वह सदा उससे आगे बढ़नेकी कोशिश करता रहता है। यह नित्य और पूर्ण सुख, नित्य और पूर्ण प्रेम, नित्य और पूर्ण स्वातन्त्र्य, नित्य और पूर्ण ऐश्वर्य एवं नित्य और पूर्ण जीवनकी अच्युत चाह इसी बातको सिद्ध करती है कि वह नित्य निरञ्जन, पूर्ण सुखमय, प्रेममय, स्वतन्त्रतामय, ऐश्वर्यमय, अमृतमय सच्चिदानन्दघन भगवान्को ही चाहता है—चाहे वह उनका नाम-रूप वाणीसे न बता सके और अपूर्ण वाणीसे पूर्णका पूर्ण व्याख्यान हो भी नहीं सकता। इस प्रकार पूर्ण भगवान्की

चाह होनेपर भी मनुष्य मोहवश भगवान्‌को भूलकर अनित्य धन, जन, तन, जमीन, मकान, पद, अधिकार, ऐश्वर्य, राज्य, वैभव, कीर्ति, यश आदिकी कामना करने लगता है और अनवरत उसकी पूर्तिके लिये प्रयत्न करता है । कामना नहीं पूर्ण होती तब दुखी होता है और कहीं पूर्ण होती है तो कामनाका क्षेत्र और बढ़ जाता है; इससे उसका अतृप्तिजन्य दुःख और भी बढ़ जाता है । संसारकी कोई भी वस्तु कामनाकी आगको बुझा नहीं सकती । कामनाके विशाल अग्निकुण्डमें ज्यों-ज्यों काम्य वस्तुकी आहुतियाँ पड़ती हैं, त्यों-ही-त्यों वह अधिक-से-अधिक भड़कती है । इस प्रकार कामनाकी आगमें जलता हुआ और लगातार निराशाके थपेड़े खाता हुआ भी प्राणी बीच-बीचमें काम्य वस्तुकी प्राप्ति होनेपर एक रसका आस्वादन करता है और मान लेता है कि इसी रसकी पूर्णतासे वह नित्य सुखी हो जायगा । इसीलिये बार-बार विषय-रसकी इच्छा करता है और उसीकी प्राप्तिके लिये प्रयत्नशील रहता है । यह जो अनित्य और अपूर्णकी इच्छा है, यही बन्धन है । यह बन्धन तब कटना शुरू होता है, जब अनित्य और अपूर्णकी इच्छाओंसे विरति और नित्य और पूर्णकी एकान्त इच्छा जाग्रत् होने लगती है । नित्य और पूर्णकी प्राप्तिके बाद फिर स्वाभाविक ही कोई इच्छा शेष नहीं रहती, न नयी ही पैदा होती है; क्योंकि पूर्णसे पूर्णताको प्राप्त पुरुषमें कभी 'अभावका भाव' और 'भावका अभाव' होता ही नहीं । वह स्वयं ही स्वरूपगत नित्य और पूर्ण हो जाता है ।

यह जो नित्य और पूर्णकी अनन्य इच्छा है, यही जीव-जीवनकी अनन्य परमावश्यकता है, यही उसका परम अर्थ है, जिसके लिये वह अज्ञातरूपमें भी सदा तड़पा करता है । इस परमार्थकी सिद्धि ही परम सिद्धि है । हृदयमें जब यह आवश्यकता जाग्रत् हो जाती है, तब उसे इसको छोड़कर, जैसे डूबते हुए प्राणीको ऊपर उतरानेकी बातके सिवा कोई बात नहीं सुहाती और जैसे प्याससे मरते हुएको जलके सिवा और कोई चीज नहीं सुहाती, वैसे ही कोई भी चीज़ नहीं सुहाती । उसको उस समय सुख-दुःख, मित्र-शत्रु, धन-दरिद्रता, कीर्ति-अकीर्ति किसीकी भी चाह और परवा नहीं रहती । वह तो एकमात्र अपने प्राणधन—जिसके लिये उसका चित्त एकान्त व्याकुल हो उठा है, प्रेममय प्रभुके लिये तड़पता है और पछाड़ खाता है । ऐसी अवस्थामें वे नित्य-प्राप्त, नित्य-सङ्गी, नित्य-सुहृद् प्रभु उसके सामने, जैसे वह चाहता है वैसे ही, उसीके इच्छानुसार भाव-भेषमें प्रकट हो जाते हैं और उसे अपने दिव्य बाहुपाशमें बाँधकर, हृदयसे लगाकर, उसके मस्तकपर हाथ फेरकर, सिर सूँघकर, प्रेमाश्रुओंसे उसके मस्तकका अभिसिञ्चनकर, उसके प्रेमाश्रु-वारिसे अपने चरणपद्मोंको पखरवाकर कृतार्थ कर देते हैं ।

भगवान्‌का सौहार्द

भगवान् तो रोज़ ही आते हैं । दिन-रातमें न मालूम कितनी बार आते हैं । हमें उनकी आवश्यकता नहीं । इसीलिये हम उन्हें कह देते हैं—'फिर कभी आना, अभी फुरसत नहीं है ।' भगवान् जब कभी हमारे मनमें स्मृतिके रूपमें पधारते हैं, तब हम उस स्मृतिको पकड़ क्यों नहीं रखते ? इसीलिये कि हमारे सामने उस समय कोई दूसरा जरूरी काम होता है । हम उनकी अवहेलना करते हैं । वे तिरस्कृत होकर चले जाते हैं, परन्तु फिर आते हैं—फिर-फिरकर आते हैं; फिर भी हम उनका आदर नहीं करते । तब भी वे तो हमें नहीं छोड़ते—नहीं छोड़ना चाहते । हमारे भूल जानेपर भी वे हमें नहीं भूल सकते । हमारे तिरस्कार करनेपर भी वे हमारा आदर ही करते हैं । हमारे छोड़नेपर भी वे हमें नहीं छोड़ते, हमारे दुत्कारकर निकाल देनेपर भी वे बार-बार आकर अपनी मधुर झाँकी दिखाना चाहते हैं । छिप-छिपकर झाँकते हैं, नववधूकी तरह; व्याकुल होकर दौड़ते हैं, स्नेहमयी जननीकी तरह । इसीलिये तो वे भगवान् हैं । 'भोग' हमारे बुलानेपर भी नहीं आते और हमारे न चाहनेपर भी, लाखों खुशामद करनेपर भी धक्का और धोखा देकर चले जाते हैं, और 'भगवान्' बिना बुलाये ही आते हैं और न चाहनेपर भी, अपमान करनेपर भी, धक्का और धोखा देनेपर भी नहीं जाते । यह सहज कृपा-शक्ति ही—जो उनमें कभी अकृपा करनेकी ताक़त पैदा नहीं होने देती—उनकी भगवत्ता है । इतनेपर भी हम उनकी आवश्यकता महसूस नहीं करते—यह हमारा कितना अभाग्य है ।

परन्तु वे तो तब भी नहीं छोड़ते । जब किसी भी उपायसे हम उनकी ओर नहीं ताकते, तब कृपापरवश होकर वे दुःखके—भयानक दुःखके रूपमें हमारे सामने प्रकट होते हैं और हमारे अंदर अपनी आवश्यकता जगाकर हमें अपना लेते हैं । इसीलिये तो भक्तगण भगवान्‌से दुःखका वरदान माँगा करते हैं ।

पत्र बहुत लंबा हो गया । तुम्हारी बहुत-सी बातोंका उत्तर इसमें आ गया है । अब फिर कभी । 'तुम्हारा'

भगवन्नाम-संकीर्तनका महत्त्व

(लेखक—पूज्य श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी*)

भगवन्नाम-कीर्तनमें कोई शर्त नहीं, शर्त मानना तो करनेवालोंका निजी विश्वास है। बहुत-से लोग कहते हैं—जब भगवन्नाम-कीर्तनसे ही सब कुछ हो सकता है, जब वह सर्वश्रेष्ठ है, तब हम फिर और कार्य क्यों करें ? सन्ध्यावन्दन या निज धर्मकी क्या आवश्यकता है ? यह बात तो ठीक है, समस्त साधनोंका फल श्रीभगवान्में प्रेम होना ही है । जिसे सचमुच भगवन्नाममें पूर्ण अनुराग हो गया, उसे फिर दूसरा कोई भी कर्म करनेकी आवश्यकता नहीं; किन्तु आपका पूर्ण अनुराग अभी है कहाँ ? आप केवल भगवन्नाम लेते कहाँ हैं ! आपका तो अभी स्त्रीमें, पशुमें, पुत्र-पुत्रियोंमें, जाति-बिरादरीमें अनुराग है । आप दूसरोंके पुत्रोंसे अपने पुत्रोंपर अधिक स्नेह करते हैं । लड़के-लड़कियोंका विवाह भी अपनी जाति-बिरादरीमें, अपने अनुरूप कुलमें, बड़ी प्रतिष्ठा और मान-मर्यादाके साथ करना चाहते हैं । दुनियाभरकी इधर-उधरकी बातें करते हैं । जब ये सब करते हैं, तब स्वधर्मानुष्ठान भी करना चाहिये । जब इन सबसे विराग हो जाय, एकमात्र भगवन्नामसे ही अनुराग हो, भगवन्नामका ही उच्चारण करें, तब फिर सचमुच आपको भगवन्नाम-कीर्तनको छोड़कर और कुछ नहीं करना चाहिये । स्वधर्मपालन आपेक्षिक धर्म है; क्योंकि सबके कर्तव्य पृथक्-पृथक् हैं । भगवन्नाम-कीर्तनको इनकी अपेक्षा नहीं । उसे तो जो भी लेगा, वही पार होगा ।

कुछ लोग कहते हैं कि 'जो अपने धर्मको छोड़कर केवल कृष्ण-कृष्ण कहते रहते हैं, वे भगवान्के द्वेषी हैं; क्योंकि भगवान्का अवतार ही धर्म-संस्थापनके लिये होता है ।† अतः ऐसे लोगोंके भगवन्नामसे कुछ फल नहीं होता । उनका पतन होता है ।' जिस श्लोकका ये उद्धरण देते हैं, उसका कभी यह भाव नहीं है कि स्वधर्म-पालन न करनेवालोंका कीर्तन करना निष्फल है । उसका मतलब इतना ही है कि जान-बूझकर तुम अपने धर्मको मत छोड़ो; क्योंकि यह तो स्वेच्छाचार हो जायगा । तुम यदि चौबीस घंटे भगवन्नाम-कीर्तन ही कर सको, तब तो भले ही और किसी धर्माचरणकी आवश्यकता नहीं । किन्तु यदि आपने भगवन्नामके बहाने अपना धर्म छोड़ दिया और अधर्ममें प्रवृत्त हो गये तो फिर आपके मुँहसे 'कृष्ण-कृष्ण' निकलना भी बंद हो जायगा; क्योंकि अधर्माचरण करनेवालोंके मुखसे कभी भगवान्का नाम निकल ही नहीं सकता । हाँ, यदि हमसे विवशतासे स्वधर्मका पालन न हो, हम स्वधर्म-पालनमें असमर्थ हो जायँ और केवल भगवन्नाम-कीर्तनका ही आश्रय ले लें, तो हमारा पतन न होगा; किन्तु जो सकाम कर्मोंका तो आचरण करता रहे और भगवन्नाम न ले, उसका पतन तो अवश्यम्भावी है । रामःनाम अंक है, और साधन शून्य हैं । जैसे किसीने किसीसे ९००) रुपये लिये और किसीने ९ के अंकको मिटा दिया, तो उसे कुछ भी न मिलेगा । किन्तु यदि किसीने शून्यको मिटा दिया तो कम-से-कम ९) तो उसे अवश्य मिल ही जायँगे । ठीक इसी बातको लक्ष्य करके नारदजीने भगवान् वेदव्यासजीसे कहा है—

'व्यासजी ! आपने सकाम कर्मोंकी प्रशंसा करके बड़ा ही बुरा काम किया । क्योंकि जो कर्ममें स्वभावसे ही आसक्त हैं, उनके सामने फिर कर्मकी ही प्रशंसा करना उन्हें अपने लक्ष्यसे च्युत करना है; क्योंकि फिर वे लोग कर्मके निषेधपरक वाक्योंको सत्य नहीं मानते । आप सोचिये, जो प्राणी स्वधर्म छोड़कर श्रीहरिके चरणारविन्दका समाश्रयण करता है, वह कदाचित् अपक्व होनेसे पतित भी हो जाय तो भी क्या उसकी कहींपर—शूद्रादि योनियोंमें भी—कुगति हो सकती है ! कभी नहीं । और जो श्रीहरिकी उपेक्षा कर केवल स्वधर्ममें निरत हैं, उन्होंने स्वधर्ममात्रसे क्या स्वार्थ-सम्पादन किया ! अर्थात् कुछ नहीं ।'‡

क्योंकि भगवन्नाम तो इकाई है, और समस्त साधन शून्य हैं । यदि भगवन्नाम लेते हुए सब साधन किये जायँ तो

---

* पिछले फाल्गुन मासमें प्रयागमें त्रिवेणी-तटपर महासंकीर्तन-यज्ञका विराट् आयोजन हुआ था, जिसका कार्य-विवरण हालमें ही ब्रह्मचर्याश्रम झूँसी (प्रयाग)के श्रीरामजी ब्रह्मचारीने प्रकाशित किया है । पू० ब्रह्मचारीजीके उपदेशका यह अंश उसीमेंसे उद्धृत किया गया है । —सम्पादक

† अपहाय निजं कर्म कृष्ण कृष्णेति वादिनः । ते हरेर्द्वेषिणः पापा धर्मार्थं जन्म यद्धरेः ॥

‡ जुगुप्सितं धर्मकृतेऽनुशासतः स्वभावरक्तस्य महान् व्यतिक्रमः । यद्वाक्यतो धर्म इतीतरः स्थितो न मन्यते तस्य निवारणं जनः ॥
त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरेर्भजन्नपक्वोऽथ पतेत् ततो यदि । यत्र क्व वाभद्रमभूदमुष्य किं को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः ॥

भगवन्नामके कारण उनका फल है, उनकी सार्थकता है । मुख्य भगवन्नाम है । जान-बूझकर स्वधर्म त्यागनेकी शास्त्रकारोंने कहीं आज्ञा नहीं दी है; किन्तु यदि असमर्थतासे, प्रकृतिवश, भूलमें, ये कर्म न हो सकें तो केवल भगवन्नामसे सभी सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं । भगवन्नाम कभी किसी हालतमें भी व्यर्थ नहीं जाता। इसीलिये भागवतकारने जोर देकर कहा है—

'वर्णाश्रमधर्मके आचरण, तप, शास्त्र-श्रवण आदिमें जो महान् परिश्रम किया जाता है, उसका फल इतना ही है कि उससे यश और श्रीकी प्राप्ति होती है । किन्तु भगवान् श्रीधरके चरणोंकी निरन्तर स्मृति तो श्रीहरिके गुणानुवादके श्रवण-कीर्तन आदिसे ही रह सकती है । वह भगवान् कृष्णचन्द्रजीके चरणारविन्दोंकी सदा रहनेवाली स्मृति सम्पूर्ण अमङ्गलोंको नष्ट कर देती है, शान्तिका विस्तार करती है तथा चित्तकी शुद्धि, ईश्वरभक्ति और अनुभव, ज्ञान तथा वैराग्यके सहित तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति करा देती है ।'*

मेरी प्रार्थना है कि जो लोग भगवन्नामका पूर्वपक्ष स्थापन करनेके लिये महिमा गाकर अन्तमें उत्तरपक्षमें उसका खण्डन करनेके लिये किन्तु, परन्तु, लेकिन आदि लगाकर दस तरहकी शर्त लगाते हैं कि यदि ऐसा न करोगे तो तुम्हारा नाम-स्मरण निरर्थक जायगा, तुम नरकमें जाओगे, वे भूल करते हैं, नामके सम्बन्धमें बड़ा भारी अपराध करते हैं । जो नामके माहात्म्यमें अर्थवाद मानकर नामकी और स्वधर्मपालनकी एकता करते हैं, वे अक्षम्य अपराध करते हैं । स्वधर्मपालनपर ज़ोर दीजिये, ठीक है; किन्तु उसके साथ भगवन्नामकी तुलना न कीजिये, उसके सामने इसका महत्त्व न घटाइये ।

कुछ लोगोंका कहना है—भगवन्नाम बहुत बड़ी चीज है, उसके हम अधिकारी नहीं । नामका कीर्तन करो, किन्तु नामापराधोंको बचाकर कीर्तन करो । जो लोग नामापराध करते हुए कीर्तन करते हैं, उन्हें महान् पाप लगता है ।

यह भी छिपे शब्दोंमें एक प्रकारसे भगवन्नाम-कीर्तनका विरोध ही है । इसके स्पष्ट मानी हैं कि ये जो सर्वसाधारण लोग आजकल कीर्तन कर रहे हैं, बड़ा पाप कर रहे हैं । सबसे पहले उन्हें नामापराधोंका अध्ययन करना चाहिये । वे जब समझ लें कि अब हमसे नामापराध न होगा, तब भगवन्नाम-कीर्तन करें । नहीं तो उनका पतन होगा । यह तो वैसी ही बात रही जैसे कोई कहे—पहले तैरना सीख लो, तब पानीमें उतरना; नहीं तो डूब जाओगे । पानीमें बिना उतरे तैरना कैसे आ सकता है ।

पहले आप नामापराधोंको ही समझ लें । शास्त्रोंमें प्रधानतया दस नामापराध गिनाये हैं—१. सज्जन पुरुषोंकी निन्दा करना, २. जो न सुनना चाहें, ऐसे असत् पुरुषोंको नाम-माहात्म्य सुनाना, ३. शिव और विष्णुमें भेद-बुद्धि, ४. श्रुतिकी आज्ञा न मानना, ५. शास्त्रोंकी आज्ञा न मानना, ६. आचार्योंके वाक्योंमें अविश्वास, ७. नाम-माहात्म्यको अर्थवाद मानना, ८. नामका आश्रय लेकर शास्त्रविहित कर्म-धर्मोंका त्याग, ९. शास्त्रनिषिद्ध कर्मोंका आचरण और १०. नामजपकी अन्य धर्मोंसे बराबरी करना, तुलना करना । ये ही दस नामापराध हैं ।*

भगवन्नाम-जापकको इन अपराधोंसे बचकर ही भगवन्नाम-जप और कीर्तन करना चाहिये । ठीक है, यह तो सर्वसम्मत बात है । नामका आश्रय लेनेवालेको भरसक सभी प्रकारके दोषोंसे बचना ही चाहिये । जो लोग भगवन्नामकी आड़ लेकर पाप करते हैं, उनका लक्ष्य न तो भगवन्नाम लेना ही है और न भगवन्नाम-माहात्म्यपर उनका विश्वास ही है । उनका उद्देश्य तो पाप करना और पापको छिपाना है । उनके लिये भगवन्नाम शास्त्र नहीं है । वे भगवन्नामको ढाल बनाकर अपने पापोंको छिपाते हैं । वे तो पापी हैं, किन्तु उन पापियोंका लिया हुआ नाम भी व्यर्थ नहीं जाता । भगवन्नाम तो अमोघ है । जो जान-बूझकर पापोंमें प्रवृत्त होते हैं, उन पापियोंसे साधकोंकी क्या तुलना ? किन्तु जो भगवन्नाम अपने पापोंके नाशके लिये लेते हैं, कृपा करके उनके साथ आप यह शर्त न लगायें कि जबतक तुम नामापराधोंसे न बच सको तबतक नाम-संकीर्तनके तुम अधिकारी नहीं ।

अरे ! महाराज ! हम पग-पगपर पाप कर रहे हैं । कौन ऐसा है, जो क्षणभर भी पापोंसे बच सके । हम अपने

---

* यशः श्रियामेव परिश्रमः परो वर्णाश्रमाचारतपःश्रुतादिषु ।
अविस्मृतिः श्रीधरपादपद्मयोर्गुणानुवादश्रवणादिभिर्हरेः ॥
अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः क्षिणोत्यभद्राणि शमं तनोति च ।
सत्त्वस्य शुद्धिं परमात्मभक्तिं ज्ञानं च विज्ञानविरागयुक्तम् ॥
(श्रीमद्भा० १२ । १२ । ५३-५४)

* सन्निन्दासति नामवैभवकथा श्रीशेशयोर्भेदधी-
रश्रद्धा श्रुतिशास्त्रदैशिकगिरां नाम्न्यर्थवादभ्रमः ।
नामास्तीति निषिद्धवृत्तिविहितत्यागो हि धर्मान्तरैः
साम्यं नामजपे शिवस्य च हरेर्नामापराधा दश ॥

हृदयपर हाथ रखकर देखें—दिनमें कितने पाप करते हैं, दूसरोंकी कीर्तिको सुनकर, दूसरोंकी प्रतिष्ठाको देखकर हम जल-भुन जाते हैं । कितनी हममें अहंमन्यता है, हम अभिमानमें आकर कितने लोगोंका अपमान कर बैठते हैं । मनसे, वचनसे कितने पाप करते हैं। आप दूसरोंके सामने अपने पाप छिपा सकते हैं, किन्तु अन्तर्यामी प्रभु तो घट-घटकी जानते हैं । हम पापके पुतले हैं, स्वाँस-स्वाँसपर हमसे पाप बनता है । जहाँ दूसरोंके दोष-गुण-चिन्तनतकको पाप कहा है, वहाँ हम खुलकर दूसरोंकी निन्दा करते हैं। हमारे एक पाप है ? नहीं,अनन्त पाप हैं। कौन प्राणी दूधका धुला है । उस परब्रह्म परमात्माके सामने हम सभी पापी हैं, सभी अपराधी हैं । ऐसी दशामें हमें सिवा भगवान्के और कोई सहारा नहीं, कोई बल नहीं, कोई भरोसा नहीं । इसपर भी आप यह शर्त लगा दें कि स्वधर्मानुष्ठानपूर्वक नामापराधोंसे बचकर ही जो भगवन्नाम-कीर्तन करेगा, उसीको फल मिलेगा, शेष सभी नरकको जायँगे । तब हमें कहाँ सहारा मिलेगा ? कौन इस परीक्षामें पास हो सकेगा ? तब तो भगवन्नामकी इतनी महिमा, इतनी सरलता, इतनी सार्वभौमिकता व्यर्थ है । फिर नाम सरल साधन कहाँ रहा ? हम पतितोंका तो फिर कहीं सहारा ही नहीं, कोई अवलम्ब ही नहीं, यह तो हमें और ढकेलना है । हम तो बड़ी उत्सुकतासे भगवान्की पतित-पावनताकी ख्याति सुनकर आपके दरवाज़ेपर आये थे—

पूर्वं कृतानि दुरितानि मया तु यानि
स्मृत्वाखिलानि हृदयं परिकम्पते मे ।
ख्याता च ते पतितपावनता तु यस्मात्
तस्मात् त्वमेव शरणं मम दीनबन्धो ॥*

फिर आप अधम-उद्धारण कहाँ रहे ? फिर आपकी शरणागतवत्सलताका क्या मूल्य ? फिर किस मुँहसे हम आपके दरबारकी ओर पग बढ़ा सकते हैं ?

का मुख लै बिनती करौं, लाज लगत है मोय ।
तुम देखत अवगुन किये, कैसे भाऊँ तोय ॥

हे मेरे मालिक ! जब तुम भी नीच और पापियोंकी इतनी अवहेलना करोगे, तब हमलोगोंको दूसरा अवलम्ब कहाँ है ?

नीचोऽपि पापवलितोऽपि विनिन्दितोऽपि
ब्रूयात् तवाहमिति यस्तु किलैकवारम् ।
तं यच्छसीश निजलोकमिति व्रतं ते
तस्मात् त्वमेव शरणं मम दीनबन्धो ॥†

हम जान-बूझकर पापके लिये पाप नहीं करते । हृदयसे हम तुम्हें ही चाहते हैं, किन्तु प्रकृतिवश हम पापमें प्रवृत्त हो जाते हैं । यह अपराध तो है ही, किन्तु यह सब आपकी कृपाके बिना—आपकी दयाके बिना मिट नहीं सकता ।

नाम-माहात्म्यमें तो हमने ऐसा ही सुना है । अजामिलने स्वधर्मका त्याग किया था—स्वधर्मका, स्वकर्मका, स्ववर्ण तथा स्व-आश्रमका, सभीका उसने त्याग किया था। सदाचार, लोक-लाज, कुल-परिवार—सभीको उसने त्यागा, नीचवृत्ति ग्रहण की । उसने इन पापोंसे हटनेका प्रयत्न न किया हो सो भी बात नहीं । जहाँतक उसके बुद्धि-बलने साथ दिया, भरसक वह अपनेको रोकता रहा ।‡ किन्तु प्रकृतिने उसे अवश कर दिया । वह पापमें प्रवृत्त हुआ । अन्तमें भूलसे पुत्रके नामके बहाने उसके मुखसे अवशतामें चार अक्षरवाला 'नारायण' नाम निकल गया । बस, इतनेसे ही वह पार हो गया । आपके नामकी इतनी कृपालुता जब याद आ जाती है, तब हमारा रोम-रोम प्रफुल्लित हो जाता है—फिर आपकी ओर बढ़नेका सांहस होता है । तब सोचते हैं प्रभु पतित-पावन हैं, अशरणशरण हैं, भक्तवत्सल हैं, दीनबन्धु हैं, कृपाके सागर हैं, पतितोद्धारक और विरह-संहारी हैं, हम पापी भी हैं तो उन्हींके हैं ।

* * *

---

* प्रभो ! पहले जो-जो पाप मैंने किये हैं, उन सबको स्मरण करके मेरा हृदय काँपने लगता है; किन्तु जब आपकी पतित-पावनताका स्मरण होता है, तब हृदयमें एक प्रकारका ढाढ़स बँधता है । इसलिये दीनबन्धो ! मैं आपकी शरण हूँ ।

† यद्यपि मैं नीच हूँ, पापपङ्कमें फँसा हूँ, निन्दित हूँ, तथापि आपकी एक प्रतिज्ञा है कि 'जो एक बार भी आर्त होकर कहता है कि मैं तुम्हारा हूँ, उसे तुम अपना लोक दे देते हो ।' इसी आश्वासनपर प्रभो ! मैं आपकी शरणमें आनेका साहस करता हूँ ।

‡ स्तम्भयन्नात्मनाऽऽत्मानं यावत्सत्वं यथाश्रुतम् । न शशाक समाधातुं मनो मदनवेपितम् ॥ (श्रीमद्भा० ६ । १ । ६२)

मानस-प्रचारकी एक योजना

(लेखक—श्रीयुत कुँ० श्रीनिवासदासजी पोद्दार)

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीकी रामचरितमानस एक उच्च कोटिका काव्य ही नहीं, साक्षात् श्रीरामका विग्रह ही है। भगवान्‌के चार विग्रह माने गये हैं; यथा—

रामस्य नाम रूपं च लीला धाम परात्परम्।
एतच्चतुष्टयं नित्यं सच्चिदानन्दविग्रहम्॥

अर्थात् नाम, रूप, लीला और धाम—ये चार श्रीरामचन्द्रजीके सच्चिदानन्दमय विग्रह हैं। श्रीरामायण उनका लीला-विग्रह है। इसका निरूपण इस प्रकार किया गया है—

बालकांड प्रभु पाय, अजोध्या कटि मन मोहै।
उदर बन्यो आरन्य, हृदय किष्किंधा सोहै॥
सुन्दर ग्रीव मुखारबिंद लंका कहँ गायो।
जेहि महँ रावन आदि निसाचर सभी समायो॥
उत्तर मस्तक मानि हरि, एहि बिधि तुलसीदास भनु।
आदि-अंत लौं देखिये, श्रीमन्मानस राम तनु॥

इसीसे श्रीगोसाईंजीने इसे 'संकर मानस राजमराला' की उपाधिसे विभूषित किया है।

जब इस कलिकालमें धार्मिकताका ह्रास होने लगा और ऋषि-मुनिप्रणीत वर्णाश्रमधर्म विकृत हो गया, तब ब्रह्मचर्य और वानप्रस्थ आश्रमोंका तो प्रायः लोप ही हो गया। इन दोके अभावसे लोग संन्यासके भी अधिकारी नहीं रहे। रह गया केवल गृहस्थाश्रम, सो जो लोग ब्रह्मचर्याश्रमके नियमोंका पालन नहीं कर सकते थे, वे सच्चे गृहस्थ भी कैसे हो सकते थे। वास्तवमें सच्चे गृहस्थ तो ब्रह्मचारी ही हो सकते हैं। इस प्रकार जब श्रीभगवान्‌ने वैदिक धर्मकी ऐसी दुर्दशा देखी, तब उन्होंने इस पुण्यभूमि भारतमें इस ग्रन्थरूपमें ही अवतार लिया। सच पूछा जाय तो लोगोंके मस्तिष्ककी दुर्बलताके कारण उनमें संस्कृत विद्याका ह्रास देखकर स्वयं प्रभुने ही गोसाईंजीके हृदयमें बैठकर इस अमूल्य ग्रन्थकी रचना की है। यह बात श्रीगोसाईंजीने इन शब्दोंमें व्यक्त की है—

भाषाबद्ध करबि मैं सोई। मेरें मन प्रबोध जेहिं होई॥

यहाँ जो 'प्रबोध' शब्द आया है, इसका प्रयोग सर्वदा दूसरेके द्वारा बोध करानेके अर्थमें ही होता है। आगे यही बात और भी स्पष्ट शब्दोंमें कहते हैं—'तस कहिहउँ हियँ हरि के प्रेरें।' इस प्रकार श्रीगोस्वामीजी इसे स्पष्ट ही प्रभुकी प्रेरणा बताकर स्वयं केवल लेखक ही बनते हैं।

अतः जिस प्रकार गीताजी आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रके मुखका प्रसाद है, उसी प्रकार श्रीमानसजी भी गोसाईंजीकी लेखनीसे अभिव्यक्त हुए सर्वान्तर्यामी श्रीरामके ही वाक्य हैं, जिन्हें सर्वसाधारणके उद्धारके लिये प्रभुने भाषामें ही व्यक्त किया है। अर्वाचीन भारतके निर्माता लोकमान्य महात्मा तिलक कहते हैं—'यदि भारतको सुखी बनाना है तो सब मत-मतान्तरोंकी नदियोंको एक ही मार्गमें बहा दो, वह श्रीगीता और तुलसीकृत रामायण ही हैं।' इस प्रकार अर्वाचीन और नवीन सभी विचारक श्रीरामचरितमानसकी प्रशंसा करते हैं। पाश्चात्त्य विद्वानोंने भी मुक्तकण्ठसे इसकी उपयोगिता स्वीकार की है। साहित्यमें इतना ऊँचा ग्रन्थ संसारकी किसी भी भाषामें शायद ही मिले। इसमें राजनीति, धर्मनीति, समाजनीति, गृह-शिक्षा और अध्यात्म-ज्ञानका तो मानो भंडार ही भरा है। प्रेमका तो इसे उमड़ता हुआ समुद्र ही कह सकते हैं। जो एक बार सचेत होकर इसमें डुबकी लगाता है, वह श्रीसीतारामजीके प्रेमामृतमें सराबोर हो जाता है और उसके नेत्रोंसे प्रेमाश्रुओंकी धारा बहने लगती है। श्रीगोस्वामीजी कहते हैं—

पुलक गात हियँ श्रीरघुबीरू। जीहँ नाम जपु लोचन नीरू॥

और यह तो निश्चित सिद्धान्त है कि हमारे हृदयमें भगवच्चरणोंका प्रेम उमड़ता रहे तो हमारे समस्त पाप-ताप नष्ट हो जायँगे और हम लौकिक एवं पारलौकिक दोनों प्रकारकी उन्नति कर सकेंगे। परन्तु यह तभी हो सकता है जब श्रीरामचरितमानसमें हमारा स्नेह हो और हम सचेत होकर रात-दिन इसमें लगे रहें। यदि आरम्भिक अवस्थामें ही इसका पूरा-पूरा अभ्यास किया जाय तो वह रंग ऐसा गहरा चढ़ेगा, जो किसी प्रकार भी धोनेसे नहीं छुट सकेगा। इसलिये हिंदू-जातिकी सच्ची संस्कृति और समाजकी सुव्यवस्थाके लिये यह बहुत आवश्यक है कि हम अपने बालकोंके हृदयोंको श्रीरामचरितमानसके परम पुनीत रंगमें

रँग दें । इसके लिये मैंने एक योजना बनायी है । उसकी रूप-रेखा नीचे दी जाती है—

१. प्रत्येक ग्राममें एक रामायणसमिति स्थापित होनी चाहिये । वह अपने गाँवकी पाठशालाओंमें रामायणकी शिक्षा अनिवार्य करानेका प्रयत्न करे । इसके लिये उसे पारितोषिकोंकी भी व्यवस्था करनी चाहिये । जो बालक कम-से-कम श्रीरामचरितमानसकी दस पंक्तियाँ कण्ठस्थ करें, उनकी प्रतिमास परीक्षा ली जाय और उनमें जो कम-से-कम तीन सौ पंक्तियाँ शुद्ध सुना दें, उनमेंसे प्रत्येकको कम-से-कम २) पारितोषिक दिया जाय । इस प्रकार प्रतिमास उत्साहित होनेसे कई बालक पूरी रामायण कण्ठस्थ कर लेंगे ।

२. दूसरा काम यह भी हो सकता है कि जहाँ सम्भव हो, कुछ बालकोंके माता-पिताकी लिखित अनुमति लेकर उनके भोजन-वस्त्रादिका प्रबन्ध किया जाय और फिर नियमित रूपसे उन्हें प्रातःकाल चार बजे जगाकर नित्य-कर्मादिसे निवृत्त हो जानेपर रामायणका पाठ कराया जाय । पहले गुरुजी एक पंक्ति बोलें और उसके बाद सब बालक उसे दुहरावें । इस प्रकार नित्य नवाह्नपारायण कराकर उन्हें भोजन-विश्रामादिका अवकाश दिया जाय और उसके बाद श्रीमानसजीका अर्थ समझाया जाय । इस क्रममें बीचमें अनध्याय भी आ सकते हैं । किन्तु जो बालक या युवक इस प्रकार अभ्यास करें, उनका यही क्रम प्रायः चार वर्ष चलना चाहिये । इस प्रकार सवा सौ पारायण करनेसे उन्हें रामायण प्रायः कण्ठस्थ हो जायगी ।

३. इन कार्योंके लिये प्रत्येक ग्राममें राजकीय सहायता एवं जनताके चंदेसे प्रबन्ध होना चाहिये । देशी नरेशोंसे मेरी विशेष रूपसे प्रार्थना है कि वे अपने राज्योंमें ऐसी पाठशालाएँ स्थापित करें, जिनमें प्रातःकाल ग्यारह बजेतक भी मानसजीका पूर्वोक्त विधिसे पारायण हो और दोपहर बाद अन्य विषयोंकी शिक्षा दी जाय तथा रात्रिमें कुछ भजन-कीर्तन हो । इससे बालकोंके ब्रह्मचर्य-पालन और चरित्रगठनमें बड़ी सहायता मिलेगी । स्कूल एवं पाठशालाओंके सञ्चालकगण तो सहजमें ही ऐसी व्यवस्था कर सकते हैं । अतः इस विषयपर गम्भीरतापूर्वक विचार होनेकी आवश्यकता है ।

प्रेमकी अनन्यता

नाहिंन रह्यो हियमें ठौर ।
नंद-नंदन अछत कैसे, आनिये उर और ॥
चलत चितवत दिवस जागत, स्वप्न सोवत रात ।
हृदयतें वह स्याम मूरति, छिन न इत उत जात ॥
कहत कथा अनेक ऊधो! लोक लाज दिखात ।
कहा करौं तन-प्रेम-पूरन, घट न सिंधु समात ॥
स्यामगात सरोज आनन, ललित गति मृदु हास ।
सूर ऐसे रूप कारन, मरत लोचन प्यास ॥

—सूरदासजी

गीताप्रेमियोंसे निवेदन

गीता-प्रेमियोंको विदित है कि जनतामें श्रीगीताजीके पठन-पाठनका अधिकाधिक प्रचार करने तथा गीताशास्त्रमें लोगोंकी अभिरुचि बढ़ानेके लिये श्रीगीता-परीक्षा-समिति नामकी एक संस्था गत १७ वर्षोंसे काम कर रही है, जिसका कार्यालय पहले बरहजमें था और आजकल गोरखपुरमें है । उक्त समितिके द्वारा प्रतिवर्ष निश्चित तिथियोंमें प्रथमा, मध्यमा और उत्तमा——तीन परीक्षाएँ होती हैं, जिनमें भारतके विभिन्न प्रान्तोंसे हजारों परीक्षार्थी सम्मिलित होते हैं और हजारों ही उत्तीर्ण होते हैं । परीक्षाएँ समितिके द्वारा स्वीकृत केन्द्रोंमें होती हैं, जिनकी नामावली नीचे दी जाती है । परीक्षाओंके सञ्चालनके लिये प्रत्येक केन्द्रमें समितिकी ओरसे स्थानीय व्यवस्थापक नियुक्त हैं, जो निःशुल्करूपसे समितिकी सेवा करते हैं । समिति उन सभी कार्यकर्ताओंके प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करती है ।

इधर कुछ वर्षोंसे हमें इस प्रकारके प्रमाण मिल रहे हैं, जिनसे यह पता चलता है कि कुछ केन्द्रोंमें परीक्षाओंका सञ्चालन ठीक तरहसे नहीं होता, जिसके कारण परीक्षार्थियोंकी जाँच सम्यक्‌रूपसे नहीं हो पाती । किन्हीं-किन्हीं केन्द्रोंमें परीक्षार्थी उत्तर लिखते समय एक-दूसरेकी नकल करते हैं—इसका भी प्रमाण हमें मिला है । इस अव्यवस्थाको दूर करनेके लिये तथा परीक्षाओंका सञ्चालन सुव्यवस्थितरूपसे हो—इसके लिये यह आवश्यक है कि उन-उन केन्द्रोंमें जितने भी गीताके प्रेमी गण्य-मान्य महानुभाव हैं, उनका सद्भावपूर्ण एवं सुसंगठित सक्रिय सहयोग हमें प्राप्त हो । इसके लिये हम निम्नलिखित स्थानोंके गीता-प्रेमी महानुभावोंसे प्रार्थना करते हैं कि वे अपने-अपने स्थानमें गीताकी परीक्षाओंके सुव्यवस्थित सञ्चालन और निरीक्षणका भार लें और अपने नाम-पते शीघ्र-से-शीघ्र हमारे पास भेजें, ताकि परीक्षाकी व्यवस्थाके लिये समिति उनसे पत्रव्यवहार करे । इस वर्षकी परीक्षाएँ आगामी अक्टूबर मासकी २८, २९ तारीखको होंगी । केन्द्रोंके विशेष निरीक्षकोंका चुनाब अभीसे हो जाना आवश्यक है, ताकि समयपर परीक्षाओंकी व्यवस्था ठीक हो सके । आशा है, सभी गीता-प्रेमी महानुभाव गीता-प्रचारके इस पुनीत कार्यमें हमारा हाथ बँटाकर गीता-माता एवं भगवान् श्रीकृष्णके प्रति अपने कर्तव्यका पालन करेंगे । कहना न होगा कि गीताजीके प्रचार-कार्यमें किसी भी रूपमें सहयोग देना भगवान्‌की बहुत बड़ी सेवा है और भगवान्‌को प्रसन्न करनेका सुलभ साधन है ।

संयोजक—
श्रीगीता-परीक्षा-समिति
गोरखपुर (यू० पी०)

केन्द्रोंकी नामावली

मथुरा, औरइया, तालबेहट, नागपुर, मोरीजा, भग्गू, नवागढ़, मीरपुर, गुलजारबाग (पटना), बैना, मछरिया, कोटा, मंगारी, सहजनवाँ, कानपुर (नवाबगंज), डीडवाना, श्रीनगर (गढवाल), कुबेरनाथ, दारागंजप्रयाग, लक्ष्मणझूला, कानपुर (धनकुट्टी), धामपुर, महू, काशी (गोलाबाग, औसानगंज), उदयभानपुर, जशपुरनगर, अलीगढ़, गोवर्धन, मुनीकी रेती, खैर, रुद्रप्रयाग, बीसलपुर, कन्नौज, शान्तिसदन, भटनावर, शाहपुरपट्टी, बैराढ़ी, राजापुर (बाँदा), मौलासर, नोखामंडी, कोंच, बिलासपुर, अकबरपुर, काशीपुर, अंकोला, कानपुर (महेश्वरीमुहाल) नदीहा, बरौनी, कनखल, वड़नगर, धामनगाँव, बड़का राजपुर, तारानगर, बड़कागाँव, कासगंज, पोहरी, छपरा, नैमिषारण्य, बैजनाथ (भरद्वाजाश्रम), अलीगढ़, रायपुर (सी. पी.), सोहाँव, बाबई, बरेली, बन्धु छपरा, बड़गाँव (गोंडा), लैन्सडाउन, चाँपा, उज्जैन, फूप, कारंजही, कमलपुरा, महेश्वर, अकोला, बस्ती (भदेश्वरनाथ), पड़रौना, सूरजपुर, डालीगंज लखनऊ, रठगाँव, गोलागोकरणनाथ, चूरू, सहसवान, निम्बीजोधान, अयोध्या (फैजाबाद), सोंठी, मुरादाबाद, बड़वानी, मैनपुरी, गभाना, अमौली, लुखराड़ा, मैनपुरा, सीतापुर, बरसिंहा, सोन्धानी, काशी, युद्धनगर, भरतपुर, खिल्चीपुर, खड़गपुर, धनछुहाँ, बछना, पूना, अतरौली, खजुरहट, अहेरीपुर, ऋषिकेश, हरद्वार, लक्ष्मणगढ़, बाँरा, सेवती, लखनऊ, वैश्यकाँटी, झोंकर, नरसिंहपुर, केन्दुआर, कसरावद, रायपुर (होशंगाबाद), तमकुही रोड, मनियारी, इंगोहरा, हरसोला, शिवपुरी, छापर, लालगंज (मुज़फ्फरपुर), लालगंज (आज़मगढ़), जैगोपालगंज, मंझरिया ।

श्रीहरिः

कल्याण

[भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचार-सम्बन्धी सचित्र मासिक पत्र]

वर्ष १८

सं० २०००-२००१ की

निबन्ध-सूची, कविता-सूची
तथा
चित्र-सूची

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार] * [प्रकाशक—घनश्यामदास जालान

कल्याण-कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर

प्रति संख्या ।)

वार्षिक मूल्य ५≡)
विदेशोंके लिये ७।≡)

श्रीहरिः

कल्याणके अठारहवें वर्षकी लेख-सूची

क्रम-संख्या	विषय	लेखक	पृष्ठ-संख्या
१	अपनी खोज तथा अमृतत्वकी प्राप्तिका उपाय	(श्रीविश्वबन्धुजी 'सत्यार्थी')	१२११
२	अपनेसे नीचेवालोंकी ओर देखो	(प्रोफेसर श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, डी०लिट्०)	९११
३	अपने हितैषी बनो	(,, ,, ,,)	११५९
४	अमृत और विष	(अज्ञात)	११३०
५	'आत्मानं विद्धि'	(प्रो० श्रीजगन्नाथप्रसादजी मिश्र, एम्० ए०, बी० एल्०)	११९७
६	आदर्श भक्त हनुमान्	(श्रीजयदयालजी गोयन्दका)	१०५६, ११२४, ११८८
७	आदिकवि वाल्मीकि	(पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय, एम्० ए०, साहित्याचार्य)	१२
८	आध्यात्मिक उन्नति	(श्रीरामानन्दजी ब्रह्मचारी)	८८२
९	आध्यात्मिक उन्नतिका आधार	(पं० श्रीरामजी उपाध्याय, एम्० ए०, साहित्यरत्न)	५६०
१०	आध्यात्मिक लाल	(श्रीभोलानाथजी महाराज)	६०२
११	आनन्दधामकी खोज	(श्रीविश्वबन्धुजी 'सत्यार्थी')	१०८१
१२	आनन्द ब्रह्मचर्यकी पीठ	(श्रीवृजमोहनजी मिहिर)	८२१
१३	ईश्वर-भक्तिका ज्वलन्त उदाहरण	(पं० श्रीलज्जाशङ्करजी झा, एम्० ए०)	६४७
१४	उदार बनो	(श्रीरामावतारजी विद्याभास्कर)	१०००
१५	उनकी क्रीड़ा	(श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)	१०१७
१६	उनकी बान	(श्रीविष्णुनारायणजी मेहरोत्रा)	८००
१७	उसने क्या कहा ?	(श्रीईश्वरचन्द्रजी तिवारी)	७७७
१८	एक कन्याको मृत्युके समय शङ्करजीके दर्शन		५७४
१९	एक भक्तकी भगवान्से बातचीत	(रायसाहेब श्रीकृष्णलालजी बाफणा)	७८३
२०	एक सतीका संक्षिप्त आदर्श चरित्र	(पं० श्रीभवानीशरणजी त्रिपाठी साहित्यरत्न)	११०२
२१	एक संतकी झोलीसे	(प्रेषिका—बहिन गुरुप्यारी)	५४३
२२	एकान्त-साधना	(श्रीपार्वतीनन्दनजी शर्मा)	५६९
२३	ऐसे पिय जान न दीजै हो !	(पं० श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)	६२९
२४	कामके पत्र		५६२, ६९७, ७६७, ८२५, ११०६, १२३२
२५	काल-प्रभाव	(स्वामी कृष्णानन्दजी महाराज)	६६७
२६	काल-प्रभावमें शङ्का-समाधान	(,, ,, ,,)	१०७२
२७	किशनगढ़में सती		५५५
२८	कुटिल और असत्य शिक्षा	(इतिहासका ग्रेजुएट)	११६३
२९	क्या ईश्वर-साक्षात्कार भी एक वैज्ञानिक सत्य नहीं ?	(पं० श्रीधर्मदेवजी शास्त्री, दर्शनकेशरी, पञ्चतीर्थ)	५८८
३०	क्या बताऊँ	(पं० श्रीचन्द्रशेखरजी पाण्डेय एम्० ए०)	८७१
३१	गीताका तीसरा अध्याय	(पं० श्रीमुरलीधरजी शर्मा, बी० ए०, बी० एल्०)	६५०, ७६१, ८०७, ८७६, ९४६
३२	गीताके कर्मयोगकी महत्ता	(डाक्टर कैलासनाथजी काटजू एम्० ए०, एल्-एल्० डी०)	१२१६
३३	गीता-तत्त्व-चिन्तन	(श्रीशुकदेवप्रसादजी वर्मा)	१०४०
३४	गीता-प्रेमियोंसे निवेदन	(संयोजक—श्रीगीता-परीक्षा-समिति, गोरखपुर)	१२४०

३५ गृहस्थाश्रम और पवित्र आचरण ··· (डा० मुहम्मद हाफिज सय्यद एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० लिट्०) ··· ११६८
३६ गोरक्षा और भगवान् बुद्ध ··· (श्री 'मधुप') ··· ··· ९७१
३७ गोरक्षाकी परम आवश्यकता और उसके कुछ उपाय (लाला श्रीहरिदेवसहायजी) ··· ··· १०२४
३८ चद्दरसे ज्ञान-वैराग्य आदिकी शिक्षा ··· (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ··· ··· ८९०
३९ जीवनकी प्रयोगशाला ··· (पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम्० ए०, बी० टी०) ··· ५९१
४० जीवित मानव [कहानी] ··· (श्री 'चक्र') ··· ··· ९६७
४१ डाकूको उपदेश ··· (बहिन ओपल मैक्काय) ··· ··· १०९१
४२ तुम स्वयं ही अपने मित्र और स्वयं ही अपने शत्रु हो (डाक्टर श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, डी०लिट्०) ९५१
४३ तू अपने आपको समझ ··· (,, ,, ,, ,,) १२१५
४४ देवीभक्ता श्रीहरिकुँअरके जीवनकी एक झाँकी (पं० श्रीमूलशङ्करजी शास्त्री, वेदान्ताचार्य) ··· ६९३
४५ धनकी अन्धपूजा ··· ··· (श्रीरमणलाल वसंतलाल देसाई) ··· ११०८
४६ नवधा भक्ति [कहानी] ··· ··· (श्री 'चक्र') ··· १०६७, ११५१, ११९२
४७ नवीन मनोविज्ञान और योग ··· (पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम्० ए०, बी० टी०) ··· १२२२
४८ नामतत्त्व व कबीर साहब ··· (पं० श्रीपरशुरामजी चतुर्वेदी एम्० ए०, एल्-एल्० बी०) ७८८
४९ नाम-साधन [हिमालयनिवासी श्रीमत्परमहंस ··· ··· ··· ···
श्रीरामानन्दजी महाराजके उपदेश] ··· (प्रेषक—श्री एस्०-एस्०, आजगाँवकर,बी०ए०,एल्-एल्०बी०) ५४४
५० निवेदन और क्षमा-प्रार्थना ··· (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ··· ··· ५३५
५१ पगली [कहानी] ··· (पं० श्रीकृष्णानन्दजी अग्निहोत्री) ··· ··· ५७९
५२ पतित-पावन ··· (श्रीहरिश्चन्द्रजी अष्ठाना 'प्रेम') ··· ११३०
५३ पथिक ··· (श्रीसत्यप्रकाशजी किरण) ··· ५८६
५४ परमार्थ-पत्रावली ··· (श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र) ७७९, १००४, ११४२, १२२६
५५ परीक्षा [कहानी] ··· (श्री 'चक्र') ··· ६५६
५६ पुरोहित—ऐतिहासिक विवेचन ··· (पं० श्रीवासुदेवजी उपाध्याय, एम्० ए०) ··· ७८५
५७ पूजा [कहानी] ··· (श्री 'चक्र') ··· १०२२
५८ प्रभुका खेल ··· ('शान्त') ··· ८१९
५९ प्रभुकी अहैतुकी कृपा [कहानी] ··· (मुखिया श्रीविद्यासागरजी) ··· १०८९
६० प्रसन्नता ··· (पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम्० ए०, बी० टी०) ··· ६८८
६१ प्राचीन इतिहासमें गौओंका स्थान ··· (श्रीधर्मलालसिंहजी) ··· ६३१
६२ ब्रह्मज्ञानीकी दृष्टि ··· (स्वामी श्रीकृष्णानन्दजी महाराज) ··· ५४०
६३ बालप्रश्नोत्तरी ··· (श्रीहनुमानप्रसादजी गोयल, बी० ए०, एल्-एल्० बी०) ··· ५९६
६४ भक्त-गाथा ··· (पं० श्रीअक्षयचन्द्रजी शर्मा साहित्यरत्न) ··· १२२८
६५ भगवत्कृपा ··· (श्रीसुधांशुभूषणदेव शर्मा, एम्० ए०) ··· ९०१
६६ भगवत्तत्त्व ··· (साधु रामसुखदासजी) ··· ११३४, १२०२
६७ भगवन्नाम-कीर्तन ··· ··· (साहित्यवाचस्पति सेठ श्रीकन्हैयालालजी पोद्दार) ··· ६३५
६८ भगवन्नाम-संकीर्तनका महत्त्व ··· (पूज्य श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी) ··· ··· १२३५
६९ भगवान् रामकी लोकप्रियताका एक प्रधान कारण (पं० श्रीधर्मदेवजी शास्त्री, दर्शनकेसरी, पञ्चतीर्थ) ··· ९७४
७० भगवान् श्रीरामके दर्शन प्राप्त करनेका उपाय (श्रीशिवप्रसादजी) ··· ··· ९६२
७१ भरतका आदर्श चरित्र ··· ··· (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ··· ··· ६१०

७२ भर्तृहरिनिर्वेद ... ... (पं० श्रीविष्णुदत्तजी शर्मा बी० ए०) ... ९३४
७३ भीख ... ... (श्रीवसिष्ठ) ... ७५६, ९४०
७४ भूला पथिक ... ... (श्रीपरमानन्दजी जोशी) १०८२
७५ मधुर तान ... ... (पं० श्रीकृष्णगोपालजी शर्मा 'विशारद') ... ५७५
७६ मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीराम ... ... (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ५१६
७७ मातृ-सेवा ... ... (पं० श्रीवेणीरामजी शर्मा गौड, वेदाचार्य, वेदरत्न, काव्यतीर्थ) ६४४
७८ मानव ... ... (श्रीनारायणजी वियोगी) ५५७
७९ मानवकी सर्वोत्कृष्ट प्रवृत्ति ... (श्रीसम्पतकुमारजी) १०५१
८० 'मानस' के सप्त प्रश्न ... ... (श्रीमहेश्वरप्रसादजी) ७४०
८१ मानस-प्रचारकी एक योजना ... (श्रीयुत कुँ० श्रीनिवासदासजी पोद्दार) ... १२३८
८२ 'मानस' में सेवा-भावका निरूपण ... (श्रीमहेश्वरप्रसादजी) १०७५
८३ मानस-शङ्का-समाधान ... ... (रायसाहब पं० श्रीअयोध्याप्रसादजी पाठक) ... ६९०
८४ मूर्ति या छबिमें भगवान् ... (रायसाहेब श्रीकृष्णलालजी बाफणा, बी० ए०) ... ८८६
८५ राम और शूर्पणखा ... ... (श्रीकलिन्दजी शास्त्री बी० ए०) १२१९
८६ राम-सेवक श्रीलक्ष्मण ... ... (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ६७१
८७ रामायण-कालीन संस्कृति ... ... (श्रीशान्तिकुमार नानूराम व्यास, बी० ए०) ... २८
८८ रामायणकी मर्म-वाणी ... ... (श्रीयुत अक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय एम्० ए०) ... ६
८९ रामावतार और कृष्णावतारके कार्यक्रममें ... ...
विभिन्नताएँ ... ... (स्वामी श्रीकृष्णानन्दजी चक्रवर्ती) ११
९० लङ्कायुद्ध और राजनीति ... (डा० श्रीहरिहरनाथजी हुक्कू, एम्० ए०, डी० लिट्०) ५८४
९१ 'वनस्पति' की बला ... ... (श्रीमुरलीधरजी दिनोदिया, बी० ए०, एल्-एल्० बी०) ५९४
९२ वर्तमान ... ... (श्रीरामानन्दजी ब्रह्मचारी) ११७५
९३ वर्तमान परिस्थिति और हमारा कर्त्तव्य ... (श्रीमज्जगद्गुरु शङ्कराचार्य अनन्तश्रीविभूषित ज्योतिष्पीठा-
धीश्वर श्रीब्रह्मानन्द सरस्वतीजी महाराज) ... ९२६
९४ वर्तमान समयके षट् रिपु ... ... (श्रीअगरचन्दजी नाहटा) ११०४
९५ बाल्मीकिके राम ... ... (साहित्यरत्न पं० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, एम्० ए०,
आचार्य, शास्त्री) ३४
९६ वाल्मीकीय रामायण ... ... (श्रीताराचन्द्रजी पाण्ड्या) २३
९७ वाल्मीकीय रामायणका संक्षिप्त माहात्म्य ४१
९८ बाल्मीकीय रामायणपर एक दृष्टि ... (पाण्डेय श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री) ... ३५
९९ वाल्मीकि-रामायणकी अद्वितीयता ... (पं० श्रीरामनिवासजी शर्मा) ३२
१०० विचार ... ... (श्रीकृष्णलालजी वर्मा) १०८६
१०१ विचार-धारा ... ... (स्वामीजी श्रीशङ्करतीर्थ यतिजी महाराज) ८५९, ९३०
१०२ विजयी कौन ? दुनिया किसकी ? ... (डाक्टर श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, डी० लिट्०) १०९९
१०३ विरह-सागरका चतुर नाविक ... (पं० श्रीगोविन्दप्रसादजी मिश्र) ८६५
१०४ विषयासक्तिका मूल—विषय-चिन्तन ... (श्रीविश्वबन्धुजी 'सत्यार्थी') ५६८
१०५ वेदान्तशिरोमणि स्वामीजी श्रीरामानुजाचार्यजी
महाराजके उपदेश ... ... (प्रेषक—भक्त रामशरणदासजी) ९९०
१०६ व्रत-परिचय ... ... (पं० श्रीहनूमानजी शर्मा) ... ७१७, ९१३, ९७५

१०७ शिक्षा … … (पं० श्रीगङ्गाशङ्करजी मिश्र, एम्० ए०) ६५९, ७१३, ८१२
१०८ शुभाशुभकी परख … … (श्रीअरिन्दम बी० ए०) … … ५७०
१०९ शैव-आगम अथवा प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र … (पं० श्रीबलजिन्नाथजी शास्त्री, बी० ए०) … ६२५
११० श्रीभगवन्नाम-जपके लिये प्रार्थना … (नाम-जप-विभाग कल्याण-कार्यालय, गोरखपुर) … ६६४
१११ श्रीभगवान्का अप्राकृत आकार … (पं० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, एम्० ए०, आचार्य, शास्त्री, साहित्यरत्न) … … … ९९३
११२ श्रीभगवान्के दिव्य गुण … (,, ,,) … १०६५
११३ श्रीभगवान्के परिकर-परिच्छद-परिवार और … उनका परमपद … … (,, ,,) … ११४६
११४ श्रीमद्वाल्मीकीय रामायणकी वेद-मूलकता … (श्रीमन्मध्वसम्प्रदायाचार्य, दार्शनिकसार्वभौम, साहित्य- … दर्शनाद्याचार्य, तर्करत्न न्यायरत्न गोस्वामी श्रीदामोदरजी शास्त्री) ३
११५ श्रीमद्वाल्मीकीय रामायणके कुछ महान् आदर्श (गोस्वामी श्रीछबीलेवल्लभजी) … … २५
११६ श्रीमध्वाचार्यका द्वैतवाद … … (पं० श्रीकृष्णदेवजी उपाध्याय, एम्० ए०, साहित्यरत्न) ६८०
११७ श्रीरामके दासानुदास श्रीशत्रुघ्न … (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) … … ७३६
११८ सचाईका पुरस्कार … … (पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम्० ए०, बी० टी०) … ६२३
११९ सत्य सूत्र … … (श्रीरामावतारजी विद्याभास्कर) … … ९०५
१२० सत्सङ्ग और दुःसङ्ग … … … … … १२१०
१२१ सत्सङ्गके बिखरे वाक्य … … (संग्रहकर्त्ता—एक सत्सङ्गी) ७०६, ७५०, ८३३, ९५५, ११०९, … … … … … … ११५५
१२२ समस्त हिंदू भाइयोंसे आवश्यक निवेदन … (श्रीगङ्गाशङ्करजी मिश्र, एम्० ए०, सम्पादक 'सिद्धान्त') ८३०
१२३ सरल पथ … … (न्याय-वेदान्ताचार्य स्वामी श्रीरामपदार्थदासजी महाराज) ४
१२४ साधु-दर्शन और सत्प्रसङ्ग … … (महामहोपाध्याय पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम्०ए०) ६०६, ७३३
१२५ सामयिक चेतावनी … … (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) … … ५४७
१२६ साहित्यमें श्रीमद्वाल्मीकि-रामायणकी विशेषता (देवर्षिभट्ट पं० श्रीमथुरानाथजी शास्त्री, साहित्याचार्य, … साहित्य-वारिधि, कविरत्न) … … १८
१२७ सीताजीका आदर्श जीवन … … (श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दका) … … ५२५
१२८ सुख-शान्तिकी प्राप्ति कैसे हो ? … (प्रेषक—भक्त श्रीरामशरणदासजी) … … १०५४
१२९ सुदामाका स्वागत [कहानी] … (श्री'चक्र') … … … ८४१
१३० सूर और तुलसी … … (श्रीशम्भुप्रसादजी बहुगुना, एम्० ए०) … ८४७
१३१ सृष्टिका सर्वप्रथम स्रोत एवं आर्योंका मूल स्थान भारतवर्ष … … (श्रीउमरावसिंहजी रावत, एम्० ए०) … ८५२
१३२ संकीर्तन … … (श्रीसाकेतधामनिवासी श्रीबिन्दु ब्रह्मचारीजी महाराज) … ८७२
१३३ संकीर्तनमें अन्तःक्रिया … … (रायबहादुर पंड्या श्रीबैजनाथजी बी० ए०) … ८९७
१३४ संक्षिप्त रामायण … … (संग्राहक—स्वामी श्रीप्रेमपुरीजी) … … ३१
१३५ संक्षिप्त वाल्मीकीय रामायण (अनुवाद) … … पृष्ठ ४३ से ५१५ तक
    बालकाण्ड … … … … ४३—८७
    अयोध्याकाण्ड … … … … ८९—१७८
    अरण्यकाण्ड … … … … १७९—२२९
    किष्किन्धाकाण्ड … … … … २३१—२८३

सुन्दरकाण्ड ... ... २८५—३३४
युद्धकाण्ड ... ... ३३५—४४८
उत्तरकाण्ड ... ... ४४९—५१५
१३६ सङ्गका फल ... ... (पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय, एम्० ए०,साहित्याचार्य) ... ६१९
१३७ संत-वाणी ... ... (एक महात्माका प्रसाद) ... ५३८, ६६६, ७३१, ७९५, ९२३, ९८७, १११५, ११८३
१३८ स्त्रियोंके लिये कल्याणके कुछ घरेलू प्रयोग ... (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ८०२
१३९ हम अपने बनें ... (श्रीब्रजमोहनजी मिहिर) ६३९
१४० हमारा कर्त्तव्य ... ... (श्रीमज्जगद्गुरु शङ्कराचार्य अनन्तश्रीविभूषित ज्योतिष्पीठाधीश्वर श्रीब्रह्मानन्द सरस्वतीजी महाराज) ... ११७९
१४१ हमारा कल्याण ... ... (श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा) ५७६
१४२ हमारी निधि ... (साहित्यरञ्जन पं० श्रीविजयानन्दजी त्रिपाठी) ... १६
१४३ हंसवाहना सरस्वती आजकल मयूरवाहना कैसे हो गयीं ? (देवर्षि भट्ट श्रीमथुरानाथजी शास्त्री, साहित्याचार्य) १०९५
१४४ हिंदूधर्म—उसका शरीर और आत्मा ... (श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय, एम्० ए०) ... १११७

पद्य-सूची

१ 'अन्तर्यामीसे' ... ... (श्रीहोमवती देवी) ७३२
२ 'अपनी भगति दे भगवान' (सं०) ... (श्रीसूरदासजी) ११७६
३ अभिलाषा ... ... (श्री-सेविका विद्यावती गुप्त 'स्नेहलता') ... ५२४
४ अमर-तराना ... ... ('अलख-निरंजन') ५९३
५ आदिकविके प्रति ... ... (पाण्डेय श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम') ... ३१
६ आँख-मिचौनी ... ... ('अनन्य' विशारद) ९०४
७ कौतुक ही कपि कुधर लियो है (सं०) ... (श्रीतुलसीदासजी) १११३
८ गजेन्द्र-मोक्ष ... ... (श्रीजगदीशशरणसिंहजी बी० ए०) ... ८६९
९ चरणोंमें— ... ... (श्रीमंगलबिहारी पाण्डेय) १२२७
१० चेतावनी (सं०) ... ... (श्रीनारायण स्वामी) अङ्क ३ टाइटल चौथा पेज
११ चेतावनी ... ... (प्रो० श्रीमुरलीधरजी श्रीवास्तव्य) ... ९५४
१२ जगदम्बे ! ... ... (श्रीरामसहायजी शर्मा 'मराल') ... ५४६
१३ जानकीकी खोज (सं०) ... (श्रीसूरदासजी) ७९३
१४ टूटी आशा ... ... (श्रीत्रिदण्डी) १०७१
१५ तदाकारता [गीत] ... ... (श्रीशिवनारायणजी वर्मा) ९५०
१६ थकित जीवन ... ... (श्रीसुदर्शनसिंहजी) ११२९
१७ दर्शनोल्लास ... ... (काजी असरफ महमूद) ९३९
१८ दीनता (सं०) ... ... (श्रीसूरदासजी) ११४१
१९ दुःख-सुखके हेतु ... ... (श्रीसुगनचन्दजी 'फर्स्टक्लास मैजिस्ट्रेट') ... ९१०
२० ध्यान ... ... (पाण्डेय श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम') ... ११७७
२१ 'नंदके नँदनपर लगन लगी रहै' (सं०) ... (वाहिद) अङ्क ११ टाइटल चौथा पेज

२२ प्रतीक्षा … … ('नेह') … … … १०१६
२३ प्रबोध … … (कविभूषण श्रीजगदीशजी) … … ७३९
२४ प्रभु-वन्दना … … (पाण्डेय श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम') … ६०५
२५ प्रभु-स्तवन … … (अनुवादक—प्रो० श्रीमुंशीरामजी शर्मा एम्० ए, 'सोम') ७३०, ७९४, ८५८, ९२२, ९८६, १०५०, १११४, ११७८
२६ प्रेमकी अनन्यता (सं०) … (श्रीसूरदासजी) … … … १२३९
२७ प्रेम-प्रादुर्भाव … … (श्रीचन्द्रावती गुप्ता) … … ६१८
२८ बलिदान [कहानी] … … (पं० श्रीनन्दकिशोरजी झा, काव्यतीर्थ) … ८८८
२९ बालकृष्णका ध्यान (सं०) … (श्रीसूरदासजी) … … १०४९
३० भक्तकी निष्कृति [गीत] … (श्रीशिवनारायणजी वर्मा) … … ८४६
३१ भक्तकी साधना [गद्य-काव्य] … (श्रीछैलविहारीजी गुप्त 'छैल') … … ५८२
३२ भव-भ्रान्त पथिकके प्रति … ('नेह') … … … ११८७
३३ 'भूले हुए जीवके प्रति' (सं०) … (करीमवख्श) … … … ११५०
३४ 'मन मेरे !' … … (बहिन गायत्रीदेवी बाजोरिया) … … ९८९
३५ मर्यादापुरुष हे राम ! … (डाँगी सूरजचन्दजी शुक्र) … … २४
३६ मित्रवत्सलता (सं०) … … (श्रीसूरदासजी) … … ८५७
३७ मिलनोत्तर प्रार्थना (सं०) … (श्रीमीराबाई) … … … ६०१
३८ मुरलीका टोना (सं०) … (श्रीसूरदासजी) … … … ९८५
३९ मैथिलीको आश्वासन … (श्रीमैथिलीशरणजी गुप्त) … … ५३४
४० मोहनको भरमाना (सं०) … (श्रीसूरदासजी) … … … ६६५
४१ मंगल-झाँकी … … (श्रीपरमेश्वरीलालजी सन्थालिया) … … ८८५
४२ याचना … … (श्रीसुदर्शनसिंहजी) … … ११८२
४३ युगल-किशोर … … (श्रीआत्माराम देवकर) … … ११३३
४४ रासलीला (सं०) … … (श्रीसूरदासजी) … … ७२९
४५ वन्द्य-विभूति … … (साहित्य-सम्राट् पं० श्रीअयोध्यासिंहजी उपाध्याय 'हरिऔध') १७
४६ वरदान … … (श्रीमहावीरसिंहजी 'वीर') … … ७०५
४७ वही होली [गीत] … … (श्रीशिवनारायणजी वर्मा) … … ७७६
४८ विजयी राम (सं०) … … (गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी) … … ५३७
४९ श्रीकृष्ण-कीर्तनका सुख (सं०) … (श्रीसूरदासजी) … … ९२१
५० श्रीकृष्णकृपा … … [कविवर घनआनन्दकृत अप्रकाशित 'कृपाकन्द-निबन्ध'से] १२२५
५१ श्रीराधावरकी झाँकी (सं०) … (भक्त कवि फ़रहत) … … १२०१
५२ श्रीराम-नाम-महिमा (सं०) … (श्रीतुलसीदासजी) … … १०८०
५३ श्रीराम-स्तवन … … (साहित्यरत्न त्रिवेदी अखिलेश शर्मा) … ९२५
५४ सर्व-समर्पण (सं०) … … (श्रीललितकिशोरीजी) … … ६४३
५५ सेवा-कुञ्ज … … (श्रीजगन्नाथप्रसादजी, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०) … १०३८
५६ संत-लक्षण (सं०) … … (श्रीनारायणस्वामी) अङ्क ५ टाइटल चौथा पेज
५७ स्नेह-सूत्र … … (कविरत्न पं० श्रीगणपतराजजी पुरोहित, 'सज्जन') … ७१२
५८ हृदय-बोध … … (समर्थ स्वामी श्रीरामदासके 'मनांचेश्लोक' का अनुवाद) १०८७
५९ होरी … … (प्रेषक—पं० विष्णुदत्तजी शर्मा बी० ए०) … ७४८

सङ्कलित

६० धर्म ही जीवका सच्चा बान्धव है ··· (मनुस्मृति ४ । २३९–२४२) अङ्क ९ टाइटल चौथा पेज
६१ मनुष्यका कर्त्तव्य ··· (पद्मपुराण) ··· ,, ७ ,, ,, ,,
६२ मनुष्यका परमधर्म ··· (श्रीमद्भागवत १ । २ । ६–८) ,, १० ,, ,, ,,
६३ मनुष्योंके तीस धर्म ··· (श्रीमद्भागवत ७ । ११ । ८–१२) ,, ८ ,, ,, ,,
६४ श्रीकृष्ण और उनकी भक्ति ··· (श्रीनिम्बार्क मुनि) ··· ,, ४ ,, ,, ,,
६५ श्रीरामायण-महिमा तथा मुनि-वन्दना ··· (श्रीरामायणतिलक) ··· २
६६ श्रीवृन्दावन-महिमा ··· (श्रीवृन्दावनमहिमामृत) अङ्क ६ टाइटल चौथा पेज
६७ श्रीहनुमद्वन्दना ··· (श्रीरामायण-तिलक) ,, २ ,, ,, ,,
६८ सत्यकी महिमा ··· (पद्मपु० सृष्टि० १८ । ३९६–४०४) ,, १२ ,, ,, ,,

76171

पुस्तकालय
110356
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

चित्र-सूची

तिरंगे

१ अयोध्या-प्रतिगमन ··· मुखपृष्ठ
२ आभूषणोंकी पहचान ··· २३६
३ जानकीजीका चूडामणि-दान ··· ३१४
४ जाम्बवान्का हनुमान्को प्रोत्साहन ··· २८२
५ तन्मयता ··· ११७७
६ तपोवनके दिव्य पथिक ··· १८५
७ देवसभामें भगवान् विष्णु ··· ५४
८ प्रजापालक राम ··· ५१६
९ बालकृष्णका बाल-हठ ··· ६६५
१० महारास ··· ७२९
११ मीरापर कृपा ··· ६०१
१२ मुरलीकी मोहनी ··· ९८५
१३ बनवासी राम ··· १
१४ विरह-विनोद ··· ७९३
१५ विराध-वध ··· १७९
१६ शबरीके अतिथि ··· २२८
१७ श्रीकमला ··· १०४९
१८ श्रीचैतन्यका नाम-संकीर्तन ··· ९२१
१९ श्रीरामका राज्याभिषेक ··· ४४६
२० श्रीहनुमान्की सेवा-चातुरी और भरतजीका अस्त्र-कौशल ··· १११३
२१ समर-विजयी श्रीराम ··· ५३७
२२ समुद्रपर शासन ··· ३५१
२३ सीताजीको चीरदान और वसिष्ठजीका विरोध ··· १२२
२४ सीताजीको वाल्मीकिका आश्वासन ··· ४८९
२५ सुदामाके तन्दुल ··· ८५७

इकरंगे

२६ कौसल्याका भरतको आश्वासन ··· १५०
२७ परशुरामका तेजोहरण ··· ८६
२८ पर्वताकार मारुति ··· ३१२
२९ भक्त और भगवान्की भेंट ··· २३१
३० भरतका मारुतिसे मिलाप ··· ४४४
३१ लव-कुशकी रामायण-शिक्षा ··· ४८
३२ वानरोंका सम्पातिसे समागम ··· २७७
३३ श्रीरामके चरणोंमें भरत ··· १६४
३४ श्रीरामके द्वारा राक्षस-वधकी प्रतिज्ञा ··· १८३
३५ सीताका वनवासके लिये विसर्जन ··· ४८८
३६ सुरसाके मुखमें हनुमान्जी ··· २८७

कल्याणके नियम

उद्देश्य—भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचार-समन्वित लेखोंद्वारा जनताको कल्याणके पथपर पहुँचानेका प्रयत्न करना इसका उद्देश्य है।

नियम

(१) भगवद्भक्ति, भक्तचरित, ज्ञान, वैराग्य आदिका प्रतिपादन करनेवाले, ईश्वरपरक, कल्याणमार्गमें सहायक, अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत आक्षेपरहित लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयोंके लेख भेजनेका कोई सज्जन कष्ट न करें। लेखोंको घटाने-बढ़ाने और छापने अथवा न छापनेका अधिकार सम्पादकको है। अमुद्रित लेख बिना माँगे लौटाये नहीं जाते। **लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदाता नहीं हैं।**

(२) इसका डाकव्ययसहित अग्रिम वार्षिक मूल्य अगले वर्षसे भारतवर्षमें ४≡) और भारतवर्षसे बाहरके लिये ६।।=) (१० शिलिंग) नियत है। **बिना अग्रिम मूल्य प्राप्त हुए पत्र प्रायः नहीं भेजा जाता।**

(३) 'कल्याण'का वर्ष अक्टूबरसे आरम्भ होकर सितम्बरमें समाप्त होता है। अतः ग्राहक अक्टूबरसे ही बनाये जायँगे। वर्षके किसी भी महीनेमें ग्राहक बनाये जा सकते हैं, किन्तु अक्टूबरके अङ्कके बाद निकले हुए तबतकके सब अङ्क उन्हें लेने होंगे। 'कल्याण'के बीचके किसी अङ्कसे ग्राहक नहीं बनाये जाते; छः या तीन महीनेके लिये भी ग्राहक नहीं बनाये जाते।

(४) इसमें व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी दरमें प्रकाशित नहीं किये जाते।

(५) कार्यालयसे 'कल्याण' दो-तीन बार जाँच करके प्रत्येक ग्राहकके नामसे भेजा जाता है। यदि किसी मासका अङ्क समयपर न पहुँचे तो अपने जिलेके पोस्ट-सुपरिण्टेण्डेंट साहबके दफ्तरमें शिकायत करनी चाहिये। वहाँसे जो उत्तर मिले, वह हमें भेज देना चाहिये। डाकघरका जवाब शिकायती पत्रके साथ न आनेसे दूसरी प्रति बिना मूल्य मिलनेमें अड़चन हो सकती है।

(६) पता बदलनेकी सूचना कम-से-कम १५ दिन पहले कार्यालयमें पहुँच जानी चाहिये। **लिखते समय ग्राहक-संख्या, पुराना और नया नाम-पता साफ-साफ लिखना चाहिये।** महीने-दो-महीनोंके लिये बदलवाना हो, तो अपने पोस्टमास्टरको ही लिखकर प्रबन्ध कर लेना चाहिये। पता-बदलीकी सूचना न मिलनेपर अङ्क पुराने पतेसे चले जानेकी अवस्थामें दूसरी प्रति बिना मूल्य न भेजी जा सकेगी।

आवश्यक सूचनाएँ

(७) 'कल्याण'में किसी प्रकारका कमीशन या 'कल्याण'की किसीको एजेन्सी देनेका नियम नहीं है।

(८) पुराने अङ्क, फाइलें तथा विशेषाङ्क कम या रियायती मूल्यमें नहीं दिये जाते।

(९) ग्राहकोंको अपना नाम-पता स्पष्ट लिखनेके साथ-साथ **ग्राहक-संख्या** अवश्य लिखनी चाहिये।

(१०) पत्रके उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजना आवश्यक है।

(११) ग्राहकोंको चंदा मनीआर्डरद्वारा भेजना चाहिये; वी० पी० भेजनी बंद कर दी गयी है। बिलसे भेजनेका नियम नहीं है।

(१२) प्रेस-विभाग और कल्याण-विभागको अलग-अलग समझकर अलग-अलग पत्र-व्यवहार करना और रुपया आदि भेजना चाहिये। **'कल्याण'के साथ पुस्तकें और चित्र नहीं भेजे जा सकते।** प्रेससे १) से कमकी वी० पी० प्रायः नहीं भेजी जाती।

(१३) चालू वर्षके विशेषाङ्कके बदले पिछले वर्षोंके विशेषाङ्क नहीं दिये जाते।

(१४) मनीआर्डरके कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, ग्राहक-नम्बर, पूरा पता आदि सब बातें साफ-साफ लिखनी चाहिये।

(१५) प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र, ग्राहक होनेकी सूचना, मनीआर्डर आदि **व्यवस्थापक "कल्याण" गोरखपुरके** नामसे और सम्पादन-विभागसे सम्बन्ध रखनेवाले पत्रादि **सम्पादक "कल्याण" गोरखपुरके** नामसे भेजने चाहिये।

(१६) स्वयं आकर ले जाने या एक साथ एकसे अधिक अङ्क रजिस्ट्रीसे या रेलसे मँगानेवालोंसे चंदा कुछ कम नहीं लिया जाता।

व्यवस्थापक—**कल्याण, गोरखपुर**

110358

सत्यकी महिमा

सत्ये प्रतिष्ठिता लोका धर्मः सत्ये प्रतिष्ठितः । उदधिः सत्यवाक्येन मर्यादां न विलङ्घति ॥
विष्णवे पृथिवीं दत्त्वा बलिः पातालमास्थितः । छद्मनापि बलिर्बद्धः सत्यवाक्येन तिष्ठति ॥
प्रवर्द्धमानः शैलेन्द्रः शतशृङ्गः समुच्छ्रितः । सत्येन संस्थितो विन्ध्यः प्रबन्धं नातिवर्तते ॥
स्वर्गो मोक्षस्तथा धर्मः सर्वे वाचि प्रतिष्ठिताः । यस्तां लोपयते वाचमशेषं तेन लोपितम् ॥
अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम् । अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते ॥

सत्यं साधु तपः श्रुतं च परमं क्लेशादिभिर्वर्जितं
साधूनां निकषं सतां कुलधनं सर्वाश्रयाणां वरम् ।
स्वाधीनं च सुदुर्लभं च जगतः साधारणं भूषणं
यन्म्लेच्छोऽप्यभिधाय गच्छति दिवं तत्त्यज्यते वा कथम् ॥

सत्यके आधारपर सारे लोक टिके हुए हैं, धर्मकी स्थिति भी सत्यमें ही है। सत्यभाषणके कारण ही समुद्र अपनी मर्यादाको नहीं छोड़ता। राजा बलि वामन-भगवान्‌को पृथ्वीका दान देकर स्वयं पातालमें रहने लगे और छलपूर्वक बाँधे जानेपर भी सत्यपर डटे रहे। गिरिराज विन्ध्य अपनी सौ चोटियोंके साथ बढ़ते-बढ़ते बहुत ऊँचे हो गये थे [यहाँतक कि उन्होंने सूर्यका मार्ग भी रोक लिया था]; किन्तु सत्यमें बँध जानेके कारण ही वे अपना नियम नहीं तोड़ते। स्वर्ग, मोक्ष तथा धर्म सब सत्यमें ही प्रतिष्ठित हैं। जो अपने वचनका लोप करता है, उसने मानो सबका लोप कर दिया। एक हजार अश्वमेध यज्ञ और सत्यभाषण—ये दोनों यदि तराजूपर रखे जायँ तो एक हजार अश्वमेध यज्ञोंसे सत्यका ही पलड़ा भारी रहेगा। सत्य ही उत्तम तप है, सत्य ही उत्कृष्ट शास्त्रज्ञान है। सत्यभाषणमें किसी प्रकारका क्लेश नहीं है। सत्य ही साधु पुरुषोंकी परखके लिये कसौटी है। वही सत्पुरुषोंकी वंश-परम्परागत सम्पत्ति है। सम्पूर्ण आश्रयोंमें सत्यका आश्रय ही श्रेष्ठ है। वह अत्यन्त दुर्लभ होते हुए भी उसका पालन करना अपने हाथमें है। सत्य सम्पूर्ण जगत्‌के लिये आभूषण-रूप है। जिस सत्यका उच्चारण करके म्लेच्छ भी स्वर्गमें पहुँच जाता है, उसका परित्याग कैसे किया जा सकता है।

(पद्मपुराण, सृष्टि० १८ । ३९६, ३९९—४०३)

Compiled
1999-2000